श्रीहरिः

श्रीमन्महर्षि वेदव्यासप्रणीत

महाभारत

(तृतीय खण्ड)

[उद्योगपर्व और भीष्मपर्व]

(सचित्र, सरल हिंदी-अनुवादसहित)



अनुवादक—

पण्डित रामनारायणदत्त शास्त्री पाण्डेय 'राम'

मुद्रक तथा प्रकाशक
हनुमानप्रसाद पोद्दार
गीताप्रेस, गोरखपुर

इस खण्डका मूल्य १२॥) साढ़े बारह रुपया
पूरा महाभारत सटीक (छः जिल्दोंमें) मूल्य ६५)

पता—गीताप्रेस, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)

॥ श्रीहरिः ॥

उद्योगपर्व

(सैन्यनिर्याणपर्व)

(उलूकदूतागमनपर्व)

(रथातिरथसंख्यानपर्व)

(अम्बोपाख्यानपर्व)

चित्र-सूची

(रंगीन)

(सादा)

॥ श्रीहरिः ॥

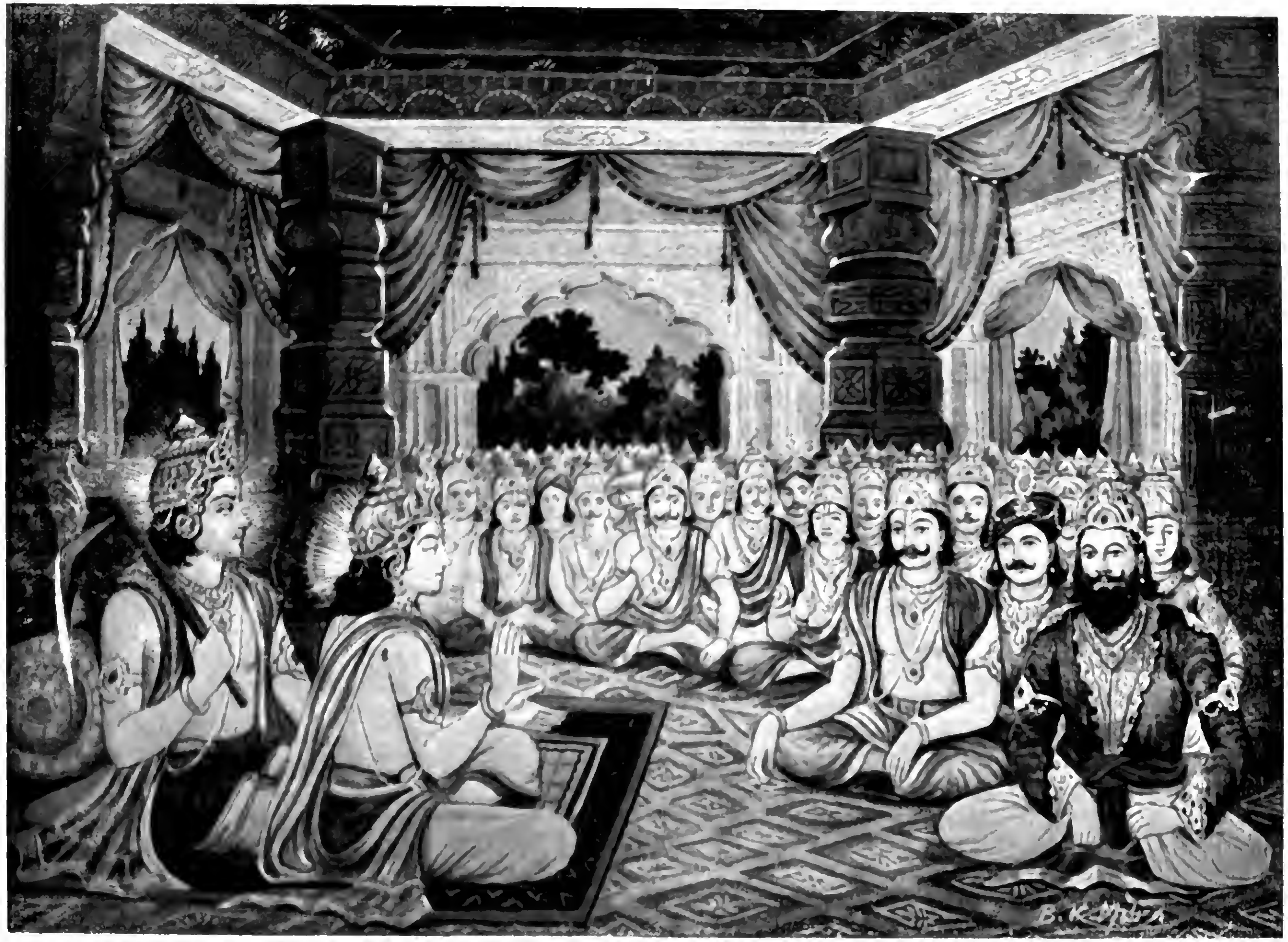
भीष्मपर्व

(भीष्मवधपर्व)

चित्र-सूची

(तिरंगा)





विराटकी राजसभामें श्रीकृष्णका भाषण

ॐ

श्रीपरमात्मने नमः

श्रीमहाभारतम्

उद्योगपर्व

(सेनोद्योगपर्व)

प्रथमोऽध्यायः

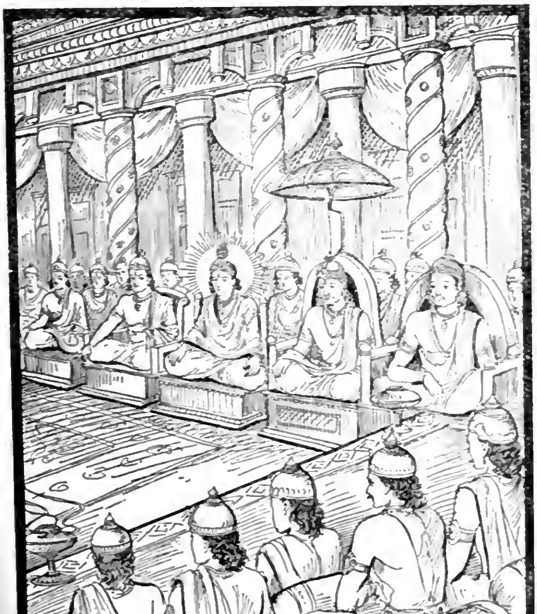
राजा विराटकी सभामें भगवान् श्रीकृष्णका भाषण

नारायणं नमस्कृत्य नरं चैव नरोत्तमम् ।
देवीं सरस्वतीं व्यासं ततो जयमुदीरयेत् ॥

अन्तर्यामी नारायणस्वरूप भगवान् श्रीकृष्ण, (उनके नित्य सखा) नरस्वरूप नरश्रेष्ठ अर्जुन, (उनकी लीला प्रकट करनेवाली) भगवती सरस्वती और (उन लीलाओंका संकलन करनेवाले) महर्षि वेदव्यासको नमस्कार करके जय (महाभारत) का पाठ करना चाहिये ॥

वैशम्पायन उवाच

कृत्वा विवाहं तु कुरुप्रवीरा-
स्तदाभिमन्योर्मुदिताः स्वपक्षाः ।
विश्रम्य रात्रावुषसि प्रतीताः
सभां विराटस्य ततोऽभिजग्मुः ॥ १ ॥



वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! उस समय अभिमन्युका विवाह करके कुरुवीर पाण्डव तथा उनके अपने पक्षके लोग (यादव-पाञ्चाल आदि) अत्यन्त आनन्दित हुए । रात्रिमें विश्राम करके वे प्रातःकाल जगे और (नित्यकर्म करके) विराटकी सभामें उपस्थित हुए ॥ १ ॥

सभा तु सा मत्स्यपतेः समृद्धा
मणिप्रवेकोत्तमरत्नचित्रा ।
न्यस्तासना माल्यवती सुगन्धा
तामभ्ययुस्ते नरराजवृद्धाः ॥ २ ॥

मत्स्यदेशके अधिपति विराटकी वह सभा अत्यन्त समृद्धिशालिनी थी । उसमें मणियों (मोती-मूँगे आदि) की खिड़कियाँ और झालरें लगी थीं । उसके फर्श और दीवारोंमें उत्तम-उत्तम रत्नों (हीरे-पन्ने आदि) की पच्चीकारी की गयी थी । इन सबके कारण उसकी विचित्र शोभा हो रही थी । उस सभाभवनमें यथायोग्य स्थानोंपर आसन लगे हुए थे, जगह-जगह मालाएँ लटक रही थीं और सब ओर सुगन्ध फैल रही थी । वे श्रेष्ठ नरपतिगण उसी सभामें एकत्र हुए ॥ २ ॥

अथासनान्याविशतां पुरस्ता-
दुभौ विराटद्रुपदौ नरेन्द्रौ ।
वृद्धौ च मान्यौ पृथिवीपतीनां
पित्रा समं रामजनार्दनौ च ॥ ३ ॥

वहाँ सबसे पहले राजा विराट और द्रुपद आसनपर विराजमान हुए; क्योंकि वे दोनों समस्त भूपतियोंमें वृद्ध और माननीय थे । तत्पश्चात् अपने पिता वसुदेवके साथ बलराम और श्रीकृष्णने भी आसन ग्रहण किये ॥ ३ ॥

पाञ्चालराजस्य समीपतस्तु
शिनिप्रवीरः सहरौहिणेयः ।
मत्स्यस्य राज्ञस्तु सुसंनिकृष्टौ
जनार्दनश्चैव युधिष्ठिरश्च ॥ ४ ॥

पाञ्चालराज द्रुपदके पास शिनिवंशके श्रेष्ठ वीर सात्यकि तथा रोहिणीनन्दन बलरामजी बैठे थे और मत्स्यराज विराटके अत्यन्त निकट श्रीकृष्ण तथा युधिष्ठिर विराजमान थे ॥ ४ ॥

सुताश्च सर्वे द्रुपदस्य राज्ञो
भीमार्जुनौ माद्रवतीसुतौ च ।
प्रद्युम्नसाम्बौ च युधि प्रवीरौ
विराटपुत्रैश्च सहाभिमन्युः ॥ ५ ॥
सर्वे च शूराः पितृभिः समाना
वीर्येण रूपेण बलेन चैव ।
उपाविशन् द्रौपदेयाः कुमाराः
सुवर्णचित्रेषु वरासनेषु ॥ ६ ॥

राजा द्रुपदके सब पुत्र, भीमसेन, अर्जुन, नकुल, सहदेव, युद्धवीर प्रद्युम्न और साम्ब, विराटके पुत्रोंसहित अभिमन्यु तथा द्रौपदीके सभी पुत्र सुवर्णजटित सुन्दर सिंहासनोंपर आसपास ही बैठे थे । द्रौपदीके पाँचों पुत्र पराक्रम, सौन्दर्य और बलमें अपने पिता पाण्डवोंके ही समान थे । वे सबके सब शूरवीर थे ॥ ५-६ ॥

तथोपविष्टेषु महारथेषु
विराजमानाभरणाम्बरेषु ।
रराज सा राजवती समृद्धा
ग्रहैरिव द्यौर्विमलैरुपेता ॥ ७ ॥

इस प्रकार चमकीले आभूषणों तथा सुन्दर वस्त्रोंसे विभूषित उन समस्त महारथियोंके बैठ जानेपर राजाओंसे भरी हुई वह समृद्धिशालिनी सभा ऐसी शोभा पा रही थी; मानो उज्ज्वल ग्रह-नक्षत्रोंसे भरा आकाश जगमगा रहा हो ॥७॥

ततः कथास्ते समवाययुक्ताः
कृत्वा विचित्राः पुरुषप्रवीराः ।
तस्थुर्मुहूर्तं परिचिन्तयन्तः
कृष्णं नृपास्ते समुदीक्षमाणाः ॥ ८ ॥

तदनन्तर उन शूरवीर पुरुषोंने समाजमें जैसी बातचीत करनी उचित है, वैसी ही विविध प्रकारकी विचित्र बातें कीं । फिर वे सब नरेश भगवान् श्रीकृष्णकी ओर देखते हुए दो घड़ीतक कुछ सोचते हुए चुप बैठे रहे ॥ ८ ॥

कथान्तमासाद्य च माधवेन
संघट्टिताः पाण्डवकार्यहेतोः ।
ते राजसिंहाः सहिता ह्यश्रृण्वन्
वाक्यं महार्थं सुमहोदयं च ॥ ९ ॥

भगवान् श्रीकृष्णने पाण्डवोंके कार्यके लिये ही उन श्रेष्ठ राजाओंको संगठित किया था । जब उन सब लोगोंकी बात-चीत बंद हो गयी, तब वे सिंहके समान पराक्रमी नरेश एक साथ श्रीकृष्णके सारगर्भित तथा श्रेष्ठ फल देनेवाले वचन सुनने लगे ॥ ९ ॥

श्रीकृष्ण उवाच

सर्वैर्भवद्भिर्विदितं यथायं
युधिष्ठिरः सौबलेनाक्षवत्याम् ।
जितो निकृत्यापहृतं च राज्यं
वनप्रवासे समयः कृतश्च ॥ १० ॥

श्रीकृष्णने भाषण देना प्रारम्भ किया—उपस्थित सुहृद्गण ! आप सब लोगोंको यह मालूम ही है कि सुबलपुत्र शकुनिने द्यूतसभामें किस प्रकार कपट करके धर्मात्मा युधिष्ठिरको परास्त किया और इनका राज्य छीन लिया है । उस जूएमें यह शर्त रख दी गयी थी कि जो हारे, वह बारह वर्षोंतक वनवास और एक वर्षतक अज्ञातवास करे ॥ १० ॥

शक्तैर्विजेतुं तरसा महीं च
सत्ये स्थितैः सत्यरथैर्यथावत् ।
पाण्डोः सुतैस्तद् व्रतमुग्ररूपं
वर्षाणि षट् सप्त च चीर्णमग्र्यैः ॥ ११ ॥

पाण्डव सदा सत्यपर आरूढ़ रहते हैं । सत्य ही इनका रथ (आश्रय) है । इनमें वेगपूर्वक समस्त भूमण्डलको जीत लेनेकी शक्ति है तथापि इन वीराग्रगण्य पाण्डुकुमारोंने सत्यका खयाल करके तेरह वर्षोंतक वनवास और अज्ञातवासके उस कठोर व्रतका धैर्यपूर्वक पालन किया है, जिसका स्वरूप बड़ा ही उग्र है ॥ ११ ॥

त्रयोदशश्चैव सुदुस्तरोऽयं
मज्ञायमानैर्भवतां समीपे ।
क्लेशानसह्यान् विविधान् सहद्भि-
र्महात्मभिश्चापि वने निविष्टम् ॥ १२ ॥

इस तेरहवें वर्षको पार करना बहुत ही कठिन था, परंतु इन महात्माओंने आपके पास ही अज्ञातरूपसे रहकर भाँति-भाँतिके असह्य क्लेश सहते हुए यह वर्ष बिताया है, इसके अतिरिक्त बारह वर्षोंतक ये वनमें भी रह चुके हैं ॥

एतैः परप्रेष्यनियोगयुक्तै-
रिच्छद्भिराप्तं स्वकुलेन राज्यम् ।
एवंगते धर्मसुतस्य राज्ञो
दुर्योधनस्यापि च यद्धितं स्यात् ॥ १३ ॥
तच्चिन्तयध्वं कुरुपुङ्गवानां
धर्म्यं च युक्तं च यशस्करं च ।
अधर्मयुक्तं न च कामयेत
राज्यं सुराणामपि धर्मराजः ॥ १४ ॥

अपनी कुलपरम्परासे प्राप्त हुए राज्यकी अभिलाषासे ही इन वीरोंने अबतक अज्ञातावस्थामें दूसरोंकी सेवामें संलग्न रहकर तेरहवाँ वर्ष पूरा किया है । ऐसी परिस्थितिमें जिस उपायसे धर्मपुत्र युधिष्ठिर तथा राजा दुर्योधनका भी हित हो, उसका आपलोग विचार करें । आप कोई ऐसा मार्ग ढूँढ़ निकालें, जो इन कुरुश्रेष्ठ वीरोंके लिये धर्मानुकूल, न्यायोचित तथा यशकी वृद्धि करनेवाला हो । धर्मराज युधिष्ठिर यदि

धर्मके विरुद्ध देवताओंका भी राज्य प्राप्त होता हो, तो उसे लेना नहीं चाहेंगे ॥ १३-१४ ॥

धर्मार्थयुक्तं तु महीपतित्वं
ग्रामेऽपि कस्मिंश्चिदयं बुभूषेत् ।
पित्र्यं हि राज्यं विदितं नृपाणां
यथापकृष्टं धृतराष्ट्रपुत्रैः ॥ १५ ॥

किसी छोटेसे गाँवका राज्य भी यदि धर्म और अर्थके अनुकूल प्राप्त होता हो, तो ये उसे लेनेकी इच्छा कर सकते हैं। आप सभी नरेशोंको यह विदित ही है कि धृतराष्ट्रके पुत्रोंने पाण्डवोंके पैतृक राज्यका किस प्रकार अपहरण किया है ॥ १५ ॥

मिथ्योपचारेण यथा ह्यनेन
कृच्छ्रं महत् प्राप्तमसह्यरूपम् ।
न चापि पार्थो विजितो रणे तैः
स्वतेजसा धृतराष्ट्रस्य पुत्रैः ॥ १६ ॥

कौरवोंके इस मिथ्या व्यवहार तथा छल-कपटके कारण पाण्डवोंको कितना महान् और असह्य कष्ट भोगना पड़ा है, यह भी आपलोगोंसे छिपा नहीं है। धृतराष्ट्रके उन पुत्रोंने अपने बल और पराक्रमसे कुन्तीपुत्र युधिष्ठिरको किसी युद्धमें पराजित नहीं किया था (छलसे ही इनका राज्य छीना) ॥ १६ ॥

तथापि राजा सहितः सुहृद्भि-
रभीप्सतेऽनामयमेव तेषाम् ।
यत् तु स्वयं पाण्डुसुतैर्विजित्य
समाहृतं भूमिपतीन् प्रपीड्य ॥ १७ ॥
तत् प्रार्थयन्ते पुरुषप्रवीराः
कुन्तीसुता माद्रवतीसुतौ च ।
बालास्त्विमे तैर्विविधैरुपायैः
सम्प्रार्थिता हन्तुममित्रसंघैः ॥ १८ ॥
राज्यं जिहीर्षद्भिरसद्भिरुग्रैः
सर्वं च तद् वो विदितं यथावत् ।

तथापि सुहृदोंसहित राजा युधिष्ठिर उनकी भलाई ही चाहते हैं। पाण्डवोंने दूसरे-दूसरे राजाओंको युद्धमें जीतकर उन्हें पीड़ित करके जो धन स्वयं प्राप्त किया था, उसीको कुन्ती और माद्रीके ये वीर पुत्र माँग रहे हैं। जब पाण्डव बालक थे—अपना हित-अहित कुछ नहीं समझते थे, तभी इनके राज्यको हर लेनेकी इच्छासे उन उग्र प्रकृतिके दुष्ट शत्रुओंने संघबद्ध होकर भाँति-भाँतिके षड्यन्त्रोंद्वारा इन्हें मार डालनेकी पूरी चेष्टा की थी; ये सब बातें आपलोग अच्छी तरह जानते होंगे ॥

तेषां च लोभं प्रसमीक्ष्य वृद्धं
धर्मज्ञतां चापि युधिष्ठिरस्य ॥ १९ ॥
सम्बन्धितां चापि समीक्ष्य तेषां
मतिं कुरुध्वं सहिताः पृथक् च ।
इमे च सत्येऽभिरताः सदैव
तं पालयित्वा समयं यथावत् ॥ २० ॥

अतः सभी सभासद् कौरवोंके बढ़े हुए लोभको, युधिष्ठिरकी धर्मज्ञताको तथा इन दोनोंके पारस्परिक सम्बन्धको देखते हुए अलग-अलग तथा एक रायसे भी कुछ निश्चय करें। ये पाण्डवगण सदा ही सत्यपरायण होनेके कारण पहले की हुई प्रतिज्ञाका यथावत् पालन करके हमारे सामने उपस्थित हैं ॥ १९-२० ॥

अतोऽन्यथा तैरुपचर्यमाणा
हन्युः समेतान् धृतराष्ट्रपुत्रान् ।
तैर्विप्रकारं च निशम्य कार्ये
सुहृज्जनास्तान् परिवारयेयुः ॥ २१ ॥

यदि अब भी धृतराष्ट्रके पुत्र इनके साथ विपरीत व्यवहार ही करते रहेंगे—इनका राज्य नहीं लौटायेंगे, तो पाण्डव उन सबको मार डालेंगे। कौरवलोग पाण्डवोंके कार्यमें विघ्न डाल रहे हैं और उनकी बुराईपर ही तुले हुए हैं; यह बात निश्चितरूपसे जान लेनेपर सुहृदों और सम्बन्धियोंको उचित है कि वे उन दुष्ट कौरवोंको (इस प्रकार अत्याचार करनेसे) रोकें ॥ २१ ॥

युद्धेन बाधेयुरिमांस्तथैव
तैर्बाध्यमाना युधि तांश्च हन्युः ।
तथापि नेमेऽल्पतया समर्था-
स्तेषां जयायेति भवेन्मतं वः ॥ २२ ॥

यदि धृतराष्ट्रके पुत्र इस प्रकार युद्ध छेड़कर इन पाण्डवोंको सतायेंगे, तो उनके बाध्य करनेपर ये भी डटकर युद्धमें उनका सामना करेंगे और उन्हें मार गिरायेंगे। सम्भव है, आपलोग यह सोचते हों कि ये पाण्डव अल्पसंख्यक होनेके कारण उनपर विजय पानेमें समर्थ नहीं हैं ॥ २२ ॥

समेत्य सर्वे सहिताः सुहृद्भि-
स्तेषां विनाशाय यतेयुरेव ।
दुर्योधनस्यापि मतं यथाव-
न्न ज्ञायते किं नु करिष्यतीति ॥ २३ ॥

तथापि ये सब लोग अपने हितैषी सुहृदोंके साथ मिलकर शत्रुओंके विनाशके लिये प्रयत्न तो करेंगे ही। (अतः इन्हें आपलोग दुर्बल न समझें) युद्धका भी निश्चय कैसे किया जाय; क्योंकि, दुर्योधनके भी मतका अभी ठीक-ठीक पता नहीं है कि वह क्या करेगा ? ॥ २३ ॥

अज्ञायमाने च मते परस्य
किं स्यात् समारभ्यतमं मतं वः ।
तस्मादितो गच्छतु धर्मशीलः
शुचिः कुलीनः पुरुषोऽप्रमत्तः ॥ २४ ॥

शत्रुपक्षका विचार जाने बिना आपलोग कोई ऐसा

निश्चय कैसे कर सकते हैं ? जिसे अवश्य ही कार्यरूपमें परिणत किया जा सके। अतः मेरा विचार है कि यहाँसे कोई धर्मशील, पवित्रात्मा, कुलीन और सावधान पुरुष दूत बनकर वहाँ जाय ॥ २४ ॥

दूतः समर्थः प्रशमाय तेषां
राज्यार्धदानाय युधिष्ठिरस्य।

वह दूत ऐसा होना चाहिये, जो उनके जोश तथा रोषको शान्त करनेमें समर्थ हो और उन्हें युधिष्ठिरको इनका आधा राज्य दे देनेके लिये विवश कर सके ॥ २४½ ॥

निशम्य वाक्यं तु जनार्दनस्य
धर्मार्थयुक्तं मधुरं समं च ॥ २५ ॥
समाददे वाक्यमथाग्रजोऽस्य
सम्पूज्य वाक्यं तदतीव राजन् ॥ २६ ॥

राजन्! भगवान् श्रीकृष्णका धर्म और अर्थसे युक्त, मधुर एवं उभयपक्षके लिये समानरूपसे हितकर वचन सुनकर उनके बड़े भाई बलरामजीने उस भाषणकी भूरि-भूरि प्रशंसा करके अपना वक्तव्य आरम्भ किया ॥ २५-२६ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि सेनोद्योगपर्वणि पुरोहितयाने प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत सेनोद्योगपर्वमें (द्रुपदके) पुरोहितकी यात्राविषयक पहला अध्याय पूरा हुआ ॥ १ ॥

द्वितीयोऽध्यायः

बलरामजीका भाषण

बलदेव उवाच

श्रुतं भवद्भिर्गदपूर्वजस्य
वाक्यं यथा धर्मवदर्थवच्च।
अजातशत्रोश्च हितं हितं च
दुर्योधनस्यापि तथैव राज्ञः ॥ १ ॥

बलदेवजी बोले—सज्जनो ! गदाग्रज श्रीकृष्णने जो कुछ धर्मानुकूल तथा अर्थशास्त्रसम्मत सम्भाषण किया है, उसे आप सब लोगोंने सुना है। इसीमें अजातशत्रु युधिष्ठिर-का भी हित है तथा ऐसा करनेसे ही राजा दुर्योधनकी भलाई है ॥ १ ॥

अर्धं हि राज्यस्य विसृज्य वीराः
कुन्तीसुतास्तस्य कृते यतन्ते।
प्रदाय चार्धं धृतराष्ट्रपुत्रः
सुखी सहास्माभिरतीव मोदेत् ॥ २ ॥

वीर कुन्तीकुमार आधा राज्य छोड़कर केवल आधेके लिये ही प्रयत्नशील हैं। दुर्योधन भी पाण्डवोंको आधा राज्य देकर हमारे साथ स्वयं भी सुखी और प्रसन्न होगा ॥ २ ॥

लब्ध्वा हि राज्यं पुरुषप्रवीराः
सम्यक्प्रवृत्तेषु परेषु चैव।
ध्रुवं प्रशान्ताः सुखमाविशेयु-
स्तेषां प्रशान्तिश्च हितं प्रजानाम् ॥ ३ ॥

पुरुषोंमें श्रेष्ठ वीर पाण्डव आधा राज्य पाकर दूसरे पक्षकी ओरसे अच्छा बर्ताव होनेपर अवश्य ही शान्त (लड़ाई-झगड़ेसे दूर) रहकर कहीं सुखपूर्वक निवास करेंगे। इससे कौरवोंको शान्ति मिलेगी और प्रजावर्गका भी हित होगा ॥

दुर्योधनस्यापि मतं च वेत्तुं
वक्तुं च वाक्यानि युधिष्ठिरस्य।
प्रियं च मे स्याद् यदि तत्र कश्चिद्
व्रजेच्छमार्थं कुरुपाण्डवानाम् ॥ ४ ॥

यदि दुर्योधनका भी विचार जाननेके लिये, युधिष्ठिरके संदेशको उसके कानोंतक पहुँचानेके लिये तथा कौरव-पाण्डवों-में शान्ति स्थापित करनेके लिये कोई दूत जाय, तो यह मेरे लिये बड़ी प्रसन्नताकी बात होगी ॥ ४ ॥

स भीष्ममामन्त्र्य कुरुप्रवीरं
वैचित्रवीर्यं च महानुभावम्।
द्रोणं सपुत्रं विदुरं कृपं च
गान्धारराजं चससूतपुत्रम् ॥ ५ ॥
सर्वे च येऽन्ये धृतराष्ट्रपुत्रा
बलप्रधाना निगमप्रधानाः।
स्थिताश्च धर्मेषु तथा स्वकेषु
लोकप्रवीराः श्रुतकालवृद्धाः ॥ ६ ॥
एतेषु सर्वेषु समागतेषु
पौरेषु वृद्धेषु च संगतेषु।
ब्रवीतु वाक्यं प्रणिपातयुक्तं
कुन्तीसुतस्यार्थकरं यथा स्यात् ॥ ७ ॥

वह दूत वहाँ जाकर कुरुवंशके श्रेष्ठ वीर भीष्म, महानुभाव धृतराष्ट्र, द्रोण, अश्वत्थामा, विदुर, कृपाचार्य, शकुनि, कर्ण तथा दूसरे सब धृतराष्ट्र पुत्र, जो शक्तिशाली, वेदज्ञ, स्वधर्मनिष्ठ, लोकप्रसिद्ध वीर, विद्यावृद्ध और वयोवृद्ध हैं, उन सबको आमन्त्रित करे और इन सबके आ जाने एवं नागरिकों तथा बड़े-बूढ़ोंके सम्मिलित होनेपर वह दूत विनयपूर्वक प्रणाम करके ऐसी बात कहे, जिससे युधिष्ठिरके प्रयोजनकी सिद्धि हो ॥५-७॥

सर्वास्ववस्थासु च ते न कोप्या
ग्रस्तो हि सोऽर्थो बलमाश्रितैस्तैः।

प्रियाभ्युपेतस्य युधिष्ठिरस्य
द्यूते प्रसक्तस्य हृतं च राज्यम् ॥ ८ ॥

किसी भी दशामें कौरवोंको उत्तेजित या कुपित नहीं करना चाहिये, क्योंकि उन्होंने बलवान् होकर ही पाण्डवोंके राज्यपर अधिकार जमाया है। (युधिष्ठिर भी सर्वथा निर्दोष नहीं हैं, क्योंकि) ये जूएको प्रिय मानकर उसमें आसक्त हो गये थे। तभी इनके राज्यका अपहरण हुआ है ॥ ८ ॥

निवार्यमाणश्च कुरुप्रवीरः
सर्वैः सुहृद्भिर्ह्ययमप्यतज्ज्ञः।
स दीव्यमानः प्रतिदीव्य चैनं
गान्धारराजस्य सुतं मताक्षम् ॥ ९ ॥
हित्वा हि कर्णं च सुयोधनं च
समाह्वयद् देवितुमाजमीढः।
दुरोदरास्तत्र सहस्रशोऽन्ये
युधिष्ठिरो यान् विषहेत जेतुम् ॥ १० ॥
उत्सृज्य तान् सौबलमेव चायं
समाह्वयत् तेन जितोऽक्षवत्याम्।

अजमीढवंशी कुरुश्रेष्ठ युधिष्ठिर जूएका खेल नहीं जानते थे। इसीलिये समस्त सुहृदोंने इन्हें मना किया था, (परंतु इन्होंने किसीकी बात नहीं मानी।) दूसरी ओर गान्धारराजका पुत्र शकुनि जूएके खेलमें निपुण था। यह जानते हुए भी ये उसीके साथ बारंबार खेलते रहे। इन्होंने कर्ण और दुर्योधनको छोड़कर शकुनिको ही अपने साथ जूआ खेलनेके लिये ललकारा था। उस सभामें दूसरे भी हजारों जुआरी मौजूद थे, जिन्हें युधिष्ठिर जीत सकते थे। परंतु उन सबको छोड़कर इन्होंने सुबलपुत्रको ही बुलाया। इसीलिये उस जूएमें इनकी हार हुई ॥ ९–१०½ ॥

स दीव्यमानः प्रतिदेवनेन
अक्षेषु नित्यं तु पराङ्मुखेषु ॥ ११ ॥
संरम्भमाणो विजितः प्रसह्य
तत्रापराधः शकुनेर्न कश्चित्।

जब ये खेलने लगे और प्रतिपक्षीकी ओरसे फेंके हुए पासे जब बराबर इनके प्रतिकूल पड़ने लगे, तब ये और भी रोषावेशमें आकर खेलने लगे। इन्होंने हठपूर्वक खेल जारी रक्खा और अपनेको हराया, इसमें शकुनिका कोई अपराध नहीं है ॥ ११½ ॥

तस्मात् प्रणम्यैव वचो ब्रवीतु
वैचित्रवीर्यं बहुसामयुक्तम् ॥ १२ ॥
तथा हि शक्यो धृतराष्ट्रपुत्रः
स्वार्थे नियोक्तुं पुरुषेण तेन।

इसलिये जो दूत यहाँसे भेजा जाय, वह धृतराष्ट्रको प्रणाम करके अत्यन्त विनयके साथ सामनीतियुक्त वचन कहे। ऐसा करनेसे ही धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधनको वह पुरुष अपने प्रयोजनकी सिद्धिमें लगा सकता है ॥ १२½ ॥

अयुद्धमाकाङ्क्षत कौरवाणां
साम्नैव दुर्योधनमाह्वयध्वम् ॥ १३ ॥
साम्ना जितोऽर्थोऽर्थकरो भवेत
युद्धेऽनयो भविता नेह सोऽर्थः ॥ १४ ॥

कौरव-पाण्डवोंमें परस्पर युद्ध हो, ऐसी आकाङ्क्षा न करो—ऐसा कोई कदम न उठाओ। सन्धि या समझौतेकी भावनासे ही दुर्योधनको आमन्त्रित करो। मेल-मिलापसे समझा-बुझाकर जो प्रयोजन सिद्ध किया जाता है, वही परिणाममें हितकारी होता है। युद्धमें तो दोनों पक्षकी ओरसे अन्याय अर्थात् अनीतिका ही बर्ताव किया जाता है और अन्यायसे इस जगत्में किसी प्रयोजनकी सिद्धि नहीं हो सकती ॥ १३-१४ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवं ब्रुवत्येव मधुप्रवीरे
शिनिप्रवीरः सहसोत्पपात।
तच्चापि वाक्यं परिनिन्द्य तस्य
समाददे वाक्यमिदं समन्युः ॥ १५ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! मधुवंशके प्रमुख वीर बलदेवजी इस प्रकार कह ही रहे थे कि शिनिवंशके श्रेष्ठ शूरमा सात्यकि सहसा उछलकर खड़े हो गये। उन्होंने कुपित होकर बलभद्रजीके भाषणकी कड़ी आलोचना करते हुए इस प्रकार कहना आरम्भ किया ॥ १५ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि सेनोद्योगपर्वणि बलदेववाक्ये द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत सेनोद्योगपर्वमें बलदेववाक्यविषयक दूसरा अध्याय पूरा हुआ ॥ २ ॥

तृतीयोऽध्यायः

सात्यकिके वीरोचित उद्गार

सात्यकिरुवाच

यादृशः पुरुषस्यात्मा तादृशं सम्प्रभाषते।
यथारूपोऽन्तरात्मा ते तथारूपं प्रभाषसे ॥ १ ॥

सात्यकिने कहा—बलरामजी! मनुष्यका जैसा

हृदय होता है, वैसी ही बात उसके मुखसे निकलती है। आपका भी जैसा अन्तःकरण है, वैसा ही आप भाषण दे रहे हैं॥ १॥

सन्ति वै पुरुषाः शूराः सन्ति कापुरुषास्तथा।
उभावेतौ दृढौ पक्षौ दृश्येते पुरुषान् प्रति॥ २॥

संसारमें शूर-वीर पुरुष भी हैं और कापुरुष (कायर) भी। पुरुषोंमें ये दोनों पक्ष निश्चितरूपसे देखे जाते हैं॥२॥

एकस्मिन्नेव जायेते कुले क्लीबमहाबलौ।
फलाफलवती शाखे यथैकस्मिन् वनस्पतौ॥ ३॥

जैसे एक ही वृक्षमें कोई शाखा फलवती होती है और कोई फलहीन। इसी प्रकार एक ही कुलमें दो प्रकारकी संतान उत्पन्न होती है, एक नपुंसक और दूसरी महान् बलशाली॥ ३॥



नाभ्यसूयामि ते वाक्यं ब्रुवतो लाङ्गलध्वज।
ये तु शृण्वन्ति ते वाक्यं तानसूयामि माधव॥ ४॥

अपनी ध्वजामें हलका चिह्न धारण करनेवाले मधुकुल-रत्न! आप जो कुछ कह रहे हैं, उसमें मैं दोष नहीं निकाल रहा हूँ, जो लोग आपकी बातें चुप-चाप सुन रहे हैं, उन्हीं-को मैं दोषी मानता हूँ॥ ४॥

कथं हि धर्मराजस्य दोषमल्पमपि ब्रुवन्।
लभते परिषन्मध्ये व्याहर्तुमकुतोभयः॥ ५॥

भला, कोई भी मनुष्य भरी सभामें निर्भय होकर धर्म-राज युधिष्ठिरपर थोड़ा-सा भी दोषारोपण करे, तो वह कैसे बोलनेका अवसर पा सकता है?॥ ५॥

समाहूय महात्मानं जितवन्तोऽक्षकोविदाः।
अनक्षज्ञं यथाश्रद्धं तेषु धर्मजयः कुतः॥ ६॥

महात्मा युधिष्ठिर जूआ खेलना नहीं जानते थे, तो भी जूएके खेलमें निपुण धूर्तोंने उन्हें अपने घर बुलाकर अपने विश्वासके अनुसार हराया अथवा जीता है। यह उनकी धर्मपूर्वक विजय कैसे कही जा सकती है?॥ ६॥

यदि कुन्तीसुतं गेहे क्रीडन्तं भ्रातृभिः सह।
अभिगम्य जयेयुस्ते तत् तेषां धर्मतो भवेत्।
समाहूय तु राजानं क्षत्रधर्मरतं सदा॥ ७॥
निकृत्या जितवन्तस्ते किं नु तेषां परं शुभम्।
कथं प्रणिपतेच्चायमिह कृत्वा पणं परम्॥ ८॥

यदि भाइयोंसहित कुन्तीनन्दन युधिष्ठिर अपने घरपर जूआ खेलते होते और ये कौरव वहाँ जाकर उन्हें हरा देते, तो यह उनकी धर्मपूर्वक विजय कही जा सकती थी। परंतु उन्होंने सदा क्षत्रियधर्ममें तत्पर रहनेवाले राजा युधिष्ठिरको बुलाकर छल और कपटसे उन्हें पराजित किया है। क्या यही उनका परम कल्याणमय कर्म कहा जा सकता है? ये राजा युधिष्ठिर अपनी वनवासविषयक प्रतिज्ञा तो पूर्ण ही कर चुके हैं, अब किस लिये उनके आगे मस्तक झुकायें— क्यों प्रणाम अथवा विनय करें?॥ ७-८॥

वनवासाद् विमुक्तस्तु प्राप्तः पैतामहं पदम्।
यद्ययं परवित्तानि कामयेत युधिष्ठिरः॥ ९॥
एवमप्ययमत्यन्तं परान् नार्हति याचितुम्।

वनवासके बन्धनसे मुक्त होकर अब ये अपने बाप-दादोंके राज्यको पानेके न्यायतः अधिकारी हो गये हैं। यदि युधिष्ठिर अन्यायसे भी अपना धन, अपना राज्य लेनेकी इच्छा करें, तो भी अत्यन्त दीन बनकर शत्रुओंके सामने हाथ फैलाने या भीख माँगनेके योग्य नहीं हैं॥ ९½॥

कथं च धर्मयुक्तास्ते न च राज्यं जिहीर्षवः॥ १०॥
निवृत्तवासान् कौन्तेयान् य आहुर्विदिता इति।

कुन्तीके पुत्र वनवासकी अवधि पूरी करके जब लौटे हैं, तब कौरव यह कहने लगे हैं कि हमने तो इन्हें समय पूर्ण होनेसे पहले ही पहचान लिया है। ऐसी दशामें यह कैसे कहा जाय कि कौरव धर्ममें तत्पर हैं और पाण्डवोंके राज्यका अपहरण नहीं करना चाहते हैं॥ १०½॥

अनुनीता हि भीष्मेण द्रोणेन विदुरेण च॥ ११॥
न व्यवस्यन्ति पाण्डूनां प्रदातुं पैतृकं वसु।

वे भीष्म, द्रोण और विदुरके बहुत अनुनय-विनय करनेपर भी पांण्डवोंको उनका पैतृक धन वापस देनेका]

निश्चय अथवा प्रयास नहीं कर रहे हैं ॥ ११½ ॥

अहं तु ताञ्छितैर्बाणैरनुनीय रणे बलात् ॥ १२ ॥
पादयोः पातयिष्यामि कौन्तेयस्य महात्मनः ।

मैं तो रणभूमिमें पैने बाणोंसे उन्हें बलपूर्वक मनाकर महात्मा कुन्तीनन्दन युधिष्ठिरके चरणोंमें गिरा दूँगा ॥१२½॥

अथ ते न व्यवस्यन्ति प्रणिपाताय धीमतः ॥ १३ ॥
गमिष्यन्ति सहामात्या यमस्य सदनं प्रति ।

यदि वे परम बुद्धिमान् युधिष्ठिरके चरणोंमें गिरनेका निश्चय नहीं करेंगे, तो अपने मन्त्रियोंसहित उन्हें यमलोककी यात्रा करनी पड़ेगी ॥ १३½ ॥

न हि ते युयुधानस्य संरब्धस्य युयुत्सतः ॥ १४ ॥
वेगं समर्थाः संसोढुं वज्रस्येव महीधराः ।

जैसे बड़े-बड़े पर्वत भी वज्रका वेग सहन करनेमें समर्थ नहीं हैं, उसी प्रकार युद्धकी इच्छा रखनेवाले और क्रोधमें भरे हुए मुझ सात्यकिके प्रहार-वेगको सहन करनेकी सामर्थ्य उनमेंसे किसीमें भी नहीं है ॥ १४½ ॥

को हि गाण्डीवधन्वानं कश्च चक्रायुधं युधि ॥ १५ ॥
मां चापि विषहेत् क्रुद्धं कश्च भीमं दुरासदम् ।
यमौ च दृढधन्वानौ यमकालोपमद्युती ।
विराटद्रुपदौ वीरौ यमकालोपमद्युती ॥ १६ ॥
को जिजीविषुरासादेद् धृष्टद्युम्नं च पार्षतम् ।

कौरवदलमें ऐसा कौन है, जो जीवनकी इच्छा रखते हुए भी युद्धभूमिमें गाण्डीवधन्वा अर्जुन, चक्रधारी भगवान् श्रीकृष्ण, क्रोधमें भरे हुए मुझ सात्यकि, दुर्धर्ष वीर भीमसेन, यम और कालके समान तेजस्वी दृढ़ धनुर्धर नकुल-सहदेव, यम और कालको भी अपने तेजसे तिरस्कृत करनेवाले वीरवर विराट और द्रुपदका तथा द्रुपदकुमार धृष्टद्युम्नका भी सामना कर सकता है ? ॥ १५-१६½ ॥

पञ्चैतान् पाण्डवेयांस्तु द्रौपद्याः कीर्तिवर्धनान् ॥१७॥
समप्रमाणान् पाण्डूनां समवीर्यान् मदोत्कटान् ।
सौभद्रं च महेष्वासममरैरपि दुःसहम् ॥ १८ ॥
गदप्रद्युम्नसाम्बांश्च कालसूर्यानलोपमान् ।

द्रौपदीकी कीर्ति बढ़ानेवाले ये पाँचों पाण्डवकुमार अपने पिताके समान ही डील-डौलवाले, वैसे ही पराक्रमी तथा उन्हींके समान रणोन्मत्त शूरवीर हैं । महान् धनुर्धर सुभद्राकुमार अभिमन्युका वेग तो देवताओंके लिये भी दुःसह है । गद, प्रद्युम्न और साम्ब—ये काल, सूर्य और अग्निके समान अजेय हैं—इन सबका सामना कौन कर सकता है ? ॥ १७-१८½ ॥

ते वयं धृतराष्ट्रस्य पुत्रं शकुनिना सह ॥ १९ ॥
कर्णं चैव निहत्याजावभिषेक्ष्याम पाण्डवम् ।

हमलोग शकुनिसहित धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधनको तथा कर्णको भी युद्धमें मारकर पाण्डुनन्दन युधिष्ठिरका राज्याभिषेक करेंगे ॥ १९½ ॥

नाधर्मो विद्यते कश्चिच्छत्रून् हत्वाऽऽततायिनः ॥ २० ॥
अधर्म्यमयशस्यं च शात्रवाणां प्रयाचनम् ।

आततायी शत्रुओंका वध करनेमें कोई पाप नहीं है । शत्रुओंके सामने याचना करना ही अधर्म और अपयशकी बात है ॥ २०½ ॥

हृद्गतस्तस्य यः कामस्तं कुरुध्वमतन्द्रिताः ॥ २१ ॥
निसृष्टं धृतराष्ट्रेण राज्यं प्राप्नोतु पाण्डवः ।
अद्य पाण्डुसुतो राज्यं लभतां वा युधिष्ठिरः ॥ २२ ॥
निहता वा रणे सर्वे स्वप्स्यन्ति वसुधातले ॥ २३ ॥

अतः पाण्डुपुत्र युधिष्ठिरके मनमें जो अभिलाषा है, उसीकी आपलोग आलस्य छोड़कर सिद्धि करें । धृतराष्ट्र राज्य लौटा दें और पाण्डुपुत्र युधिष्ठिर उसे ग्रहण करें । अब पाण्डुनन्दन युधिष्ठिरको राज्य मिल जाना चाहिये, अन्यथा समस्त कौरव युद्धमें मारे जाकर रणभूमिमें सदाके लिये सो जायँगे ॥ २१—२३ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि सेनोद्योगपर्वणि सात्यकिक्रोधवाक्ये तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत सेनोद्योगपर्वमें सात्यकिका क्रोधपूर्ण वचनसम्बन्धी तीसरा अध्याय पूरा हुआ ॥ ३ ॥

चतुर्थोऽध्यायः

राजा द्रुपदकी सम्मति

द्रुपद उवाच

एवमेतन्महाबाहो भविष्यति न संशयः ।
न हि दुर्योधनो राज्यं मधुरेण प्रदास्यति ॥ १ ॥
अनुवर्त्स्यति तं चापि धृतराष्ट्रः सुतप्रियः ।
भीष्मद्रोणौ च कार्पण्यान्मौर्ख्याद् राधेयसौबलौ ॥ २ ॥

(सात्यकिकी बात सुनकर) द्रुपदने कहा—महाबाहो ! तुम्हारा कहना ठीक है । इसमें संदेह नहीं कि ऐसा ही होगा; क्योंकि दुर्योधन मधुर व्यवहारसे राज्य नहीं देगा । अपने उस पुत्रके प्रति आसक्त रहनेवाले धृतराष्ट्र भी उसीका अनुसरण करेंगे । भीष्म और द्रोणाचार्य दीनतावश तथा

कर्ण और शकुनि मूर्खतावश दुर्योधनका साथ देंगे ॥ १-२ ॥

बलदेवस्य वाक्यं तु मम ज्ञाने न युज्यते ।
एतद्धि पुरुषेणाग्रे कार्यं सुनयमिच्छता ॥ ३ ॥
न तु वाच्यो मृदुवचो धार्तराष्ट्रः कथंचन ।
न हि मार्दवसाध्योऽसौ पापबुद्धिर्मतो मम ॥ ४ ॥

बलदेवजीका कथन मेरी समझमें ठीक नहीं जान पड़ता । मैं जो कुछ कहने जा रहा हूँ, वही सुनीतिकी इच्छा रखनेवाले पुरुषको सबसे पहले करना चाहिये । धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधनसे मधुर अथवा नम्रतापूर्ण वचन कहना किसी प्रकार उचित नहीं है । मेरा ऐसा मत है कि वह पापपूर्ण विचार रखनेवाला है, अतः मृदु व्यवहारसे वशमें आनेवाला नहीं है ॥ ३-४ ॥

गर्दभे मार्दवं कुर्याद् गोषु तीक्ष्णं समाचरेत् ।
मृदु दुर्योधने वाक्यं यो ब्रूयात् पापचेतसि ॥ ५ ॥

जो पापात्मा दुर्योधनके प्रति मृदु वचन बोलेगा, वह मानो गदहेके प्रति कोमलतापूर्ण व्यवहार करेगा और गायोंके प्रति कठोर बर्ताव ॥ ५ ॥

मृदुं वै मन्यते पापो भाषमाणमशक्तिकम् ।
जितमर्थं विजानीयादबुधो मार्दवे सति ॥ ६ ॥

पापी एवं मूर्ख मनुष्य मृदु वचन बोलनेवालेको शक्तिहीन समझता है और कोमलताका बर्ताव करनेपर यह मानने लगता है कि मैंने इसके धनपर विजय पा ली ॥ ६ ॥

एतच्चैव करिष्यामो यत्नश्च क्रियतामिह ।
प्रस्थापयाम मित्रेभ्यो बलान्युद्योजयन्तु नः ॥ ७ ॥

(हम आपके सामने जो प्रस्ताव ला रहे हैं;) इसीको सम्पन्न करेंगे और इसीके लिये यहाँ प्रयत्न किया जाना चाहिये । हमें अपने मित्रोंके पास यह संदेश भेजना चाहिये कि वे हमारे लिये सैन्य-संग्रहका उद्योग करें ॥ ७ ॥

शल्यस्य धृष्टकेतोश्च जयत्सेनस्य वा विभो ।
केकयानां च सर्वेषां दूता गच्छन्तु शीघ्रगाः ॥ ८ ॥

भगवन् ! हमारे शीघ्रगामी दूत शल्य, धृष्टकेतु, जयत्सेन और समस्त केकयराजकुमारोंके पास जायँ ॥ ८ ॥

स च दुर्योधनो नूनं प्रेषयिष्यति सर्वशः ।
पूर्वाभिपन्नाः सन्तश्च भजन्ते पूर्वचोदनम् ॥ ९ ॥

निश्चय ही दुर्योधन भी सबके यहाँ संदेश भेजेगा । श्रेष्ठ राजा जब किसीके द्वारा पहले सहायताके लिये निमन्त्रित हो जाते हैं, तब प्रथम निमन्त्रण देनेवालेकी ही सहायता करते हैं ॥

तत् त्वरध्वं नरेन्द्राणां पूर्वमेव प्रचोदने ।
महद्धि कार्यं वोढव्यमिति मे वर्तते मतिः ॥ १० ॥

अतः सभी राजाओंके पास पहले ही अपना निमन्त्रण पहुँच जाय; इसके लिये शीघ्रता करो । मैं समझता हूँ, हम सब लोगोंको महान् कार्यका भार वहन करना है ॥ १० ॥

शल्यस्य प्रेष्यतां शीघ्रं ये च तस्यानुगा नृपाः ।
भगदत्ताय राज्ञे च पूर्वसागरवासिने ॥ ११ ॥

राजा शल्य तथा उनके अनुगामी नरेशोंके पास शीघ्र दूत भेजे जायँ । पूर्व समुद्रके तटवर्ती राजा भगदत्तके पास भी दूत भेजना चाहिये ॥ ११ ॥

अमितौजसे तथोग्राय हार्दिक्यायान्धकाय च ।
दीर्घप्रज्ञाय शूराय रोचमानाय वा विभो ॥ १२ ॥

भगवन् ! इसी प्रकार अमितौजा, उग्र, हार्दिक्य (कृतवर्मा), अन्धक, दीर्घप्रज्ञ तथा शूरवीर रोचमानके पास भी दूतोंको भेजना आवश्यक है ॥ १२ ॥

आनीयतां बृहन्तश्च सेनाबिन्दुश्च पार्थिवः ।
सेनजित् प्रतिविन्ध्यश्च चित्रवर्मा सुवास्तुकः ॥ १३ ॥
बाह्लीको मुञ्जकेशश्च चैद्याधिपतिरेव च ।
सुपार्श्वश्च सुबाहुश्च पौरवश्च महारथः ॥ १४ ॥
शकानां पह्लवानां च दरदानां च ये नृपाः ।
सुरारिश्च नदीजश्च कर्णवेष्टश्च पार्थिवः ॥ १५ ॥
नीलश्च वीरधर्मा च भूमिपालश्च वीर्यवान् ।
दुर्जयो दन्तवक्त्रश्च रुक्मी च जनमेजयः ॥ १६ ॥
आषाढो वायुवेगश्च पूर्वपाली च पार्थिवः ।
भूतितेजा देवकश्च एकलव्यः सहात्मजैः ॥ १७ ॥
कारूषकाश्च राजानः क्षेमधूर्तिश्च वीर्यवान् ।
काम्बोजा ऋषिका ये च पश्चिमानूपकाश्च ये ॥ १८ ॥
जयत्सेनश्च काश्यश्च तथा पञ्चनदा नृपाः ।
क्राथपुत्रश्च दुर्धर्षः पार्वतीयाश्च ये नृपाः ॥ १९ ॥
जानकिश्च सुशर्मा च मणिमान् योतिमत्सकः ।
पांशुराष्ट्राधिपश्चैव धृष्टकेतुश्च वीर्यवान् ॥ २० ॥
तुण्डश्च दण्डधारश्च बृहत्सेनश्च वीर्यवान् ।
अपराजितो निषादश्च श्रेणिमान् वसुमानपि ॥ २१ ॥
बृहद्बलो महौजाश्च बाहुः परपुरञ्जयः ।
समुद्रसेनो राजा च सह पुत्रेण वीर्यवान् ॥ २२ ॥
उद्भवः क्षेमकश्चैव वाटधानश्च पार्थिवः ।
श्रुतायुश्च दृढायुश्च शाल्वपुत्रश्च वीर्यवान् ॥ २३ ॥
कुमारश्च कलिङ्गानामीश्वरो युद्धदुर्मदः ।
एतेषां प्रेष्यतां शीघ्रमेतद्धि मम रोचते ॥ २४ ॥

बृहन्तको भी बुलाया जाय । राजा सेनाबिन्दु, सेनजित्, प्रतिविन्ध्य, चित्रवर्मा, सुवास्तुक, बाह्लीक, मुञ्जकेश, चैद्यराज सुपार्श्व, सुबाहु, महारथी पौरव, शकनरेश, पह्लवराज तथा दरददेशके नरेश भी निमन्त्रित किये जाने चाहिये । सुरारि, नदीज, भूपाल कर्णवेष्ट, नील, वीरधर्मा, पराक्रमी भूमिपाल, दुर्जय दन्तवक्त्र, रुक्मी, जनमेजय, आषाढ, वायुवेग, राजा

पूर्वपाली, भूरितेजा, देवक, पुत्रोंसहित एकलव्य, करूष-देशके बहुत-से नरेश, पराक्रमी क्षेमधूर्ति, काम्बोजनरेश, ऋषिकदेशके राजा, पश्चिम द्वीपवासी नरेश, जयत्सेन, काश्य, पञ्चनद प्रदेशके राजा, दुर्धर्ष क्राथपुत्र, पर्वतीय नरेश, राजा जनकके पुत्र, सुशर्मा, मणिमान्, यौतिमत्सक, पांशुराज्यके अधिपति, पराक्रमी धृष्टकेतु, तुण्ड, दण्डधार, वीर्यशाली बृहत्सेन, अपराजित, निषादराज, श्रेणिमान्, वसुमान्, बृहद्बल, महौजा, शत्रुनगरीपर विजय पानेवाले बाहु, पुत्रसहित पराक्रमी राजा समुद्रसेन, उद्धव, क्षेमक, राजा वाटधान, श्रुतायु, दृढायु, पराक्रमी शाल्वपुत्र, कुमार तथा युद्धदुर्मद कलिङ्गराज—इन सबके पास शीघ्र ही रण-निमन्त्रण भेजा जाय; मुझे यही ठीक जान पड़ता है ॥ १३–२४ ॥

अयं च ब्राह्मणो विद्वान् मम राजन् पुरोहितः।
प्रेष्यतां धृतराष्ट्राय वाक्यमस्मै प्रदीयताम् ॥ २५ ॥

मत्स्यराज ! ये मेरे पुरोहित विद्वान् ब्राह्मण हैं, इन्हें धृतराष्ट्रके पास भेजिये और वहाँके लिये उचित संदेश दीजिये ॥ २५ ॥

यथा दुर्योधनो वाच्यो यथा शान्तनवो नृपः।
धृतराष्ट्रो यथा वाच्यो द्रोणश्च रथिनां वरः ॥ २६ ॥

दुर्योधनसे क्या कहना है ? शान्तनुनन्दन भीष्मजीसे किस प्रकार बातचीत करनी है ? धृतराष्ट्रको क्या संदेश देना है ? तथा रथियोंमें श्रेष्ठ द्रोणाचार्यसे किस प्रकार वार्तालाप करना है ? यह सब उन्हें समझा दीजिये ॥ २६ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि सेनोद्योगपर्वणि द्रुपदवाक्ये चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत सेनोद्योगपर्वमें द्रुपदवाक्यविषयक चौथा अध्याय पूरा हुआ ॥ ४ ॥

पञ्चमोऽध्यायः

भगवान् श्रीकृष्णका द्वारकागमन, विराट और द्रुपदके संदेशसे राजाओंका पाण्डवपक्षकी ओरसे युद्धके लिये आगमन

वासुदेव उवाच

उपपन्नमिदं वाक्यं सोमकानां धुरंधरे।
अर्थसिद्धिकरं राज्ञः पाण्डवस्यामितौजसः ॥ १ ॥

(तत्पश्चात् भगवान्) श्रीकृष्णने कहा—सभासदो ! सोमकवंशके धुरंधर वीर महाराज द्रुपदने जो बात कही है, वह उन्हींके योग्य है। इसीसे अमिततेजस्वी पाण्डुनन्दन राजा युधिष्ठिरके अभीष्ट कार्यकी सिद्धि हो सकती है ॥ १ ॥

एतच्च पूर्वं कार्यं नः सुनीतमभिकाङ्क्षताम्।
अन्यथा ह्याचरन् कर्म पुरुषः स्यात् सुबालिशः ॥ २ ॥

हमलोग सुनीतिकी इच्छा रखनेवाले हैं; अतः हमें सबसे पहले यही कार्य करना चाहिये। जो अवसरके विपरीत आचरण करता है, वह मनुष्य अत्यन्त मूर्ख माना जाता है ॥ २ ॥

किं तु सम्बन्धकं तुल्यमस्माकं कुरुपाण्डुषु।
यथेष्टं वर्तमानेषु पाण्डवेषु च तेषु च ॥ ३ ॥

परंतु हमलोगोंका कौरवों और पाण्डवोंसे एक-सा सम्बन्ध है। पाण्डव और कौरव दोनों ही हमारे साथ यथा-योग्य अनुकूल बर्ताव करते हैं ॥ ३ ॥

ते विवाहार्थमानीता वयं सर्वे तथा भवान्।
कृते विवाहे मुदिता गमिष्यामो गृहान् प्रति ॥ ४ ॥

इस समय हम और आप सब लोग विवाहोत्सवमें निमन्त्रित होकर आये हैं। विवाहकार्य सम्पन्न हो गया; अतः अब हम प्रसन्नतापूर्वक अपने-अपने घरोंको लौट जायँगे ॥ ४ ॥

भवान् वृद्धतमो राज्ञां वयसा च श्रुतेन च।
शिष्यवत् ते वयं सर्वे भवामेह न संशयः ॥ ५ ॥

आप समस्त राजाओंमें अवस्था तथा शास्त्रज्ञान दोनों ही दृष्टियोंसे सबकी अपेक्षा बड़े हैं। इसमें संदेह नहीं कि हम सब लोग आपके शिष्यके समान हैं ॥ ५ ॥

भवन्तं धृतराष्ट्रश्च सततं बहु मन्यते।
आचार्ययोः सखा चासि द्रोणस्य च कृपस्य च ॥ ६ ॥

राजा धृतराष्ट्र भी सदा आपको विशेष आदर देते हैं, आचार्य द्रोण और कृप दोनोंके आप सखा हैं ॥ ६ ॥

स भवान् प्रेषयत्वद्य पाण्डवार्थकरं वचः।
सर्वेषां निश्चितं तन्नः प्रेषयिष्यति यद् भवान् ॥ ७ ॥

अतः आप ही आज पाण्डवोंकी कार्यसिद्धिके अनुकूल संदेश भेजिये। आप जो भी संदेश भेजेंगे, वह हम सब लोगोंका निश्चित मत होगा ॥ ७ ॥

यदि तावच्छमं कुर्यान्न्यायेन कुरुपुङ्गवः।
न भवेत् कुरुपाण्डूनां सौभ्रात्रेण महान् क्षयः ॥ ८ ॥

यदि कुरुश्रेष्ठ दुर्योधन न्यायके अनुसार शान्ति स्वीकार करेगा, तो कौरव और पाण्डवोंमें परस्पर बन्धुजनोचित सौहार्दवश महान् संहार न होगा ॥ ८ ॥

अथ दर्पान्वितो मोहान्न कुर्याद् धृतराष्ट्रजः।
अन्येषां प्रेषयित्वा च पश्चादस्मान् समाह्वये ॥ ९ ॥

यदि धृतराष्ट्र-पुत्र दुर्योधन मोहवश घमंडमें आकर हमारा प्रस्ताव न स्वीकार करे, तो आप दूसरे राजाओंको युद्धका निमन्त्रण भेजकर सबके बाद हमलोगोंको आमन्त्रित कीजियेगा ॥ ९ ॥

ततो दुर्योधनो मन्दः सहामात्यः सबान्धवः।
निष्ठामापत्स्यते मूढः क्रुद्धे गाण्डीवधन्वनि ॥ १० ॥

फिर तो गाण्डीवधन्वा अर्जुनके कुपित होनेपर मन्द-बुद्धि मूढ दुर्योधन अपने मन्त्रियों और बन्धुजनोंके साथ सर्वथा नष्ट हो जायगा ॥ १० ॥

वैशम्पायन उवाच

ततः सत्कृत्य वार्ष्णेयं विराटः पृथिवीपतिः।
गृहान् प्रस्थापयामास सगणं सहबान्धवम् ॥ ११ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तदनन्तर राजा विराटने सेवकवृन्द तथा बान्धवोंसहित वृष्णिकुल-नन्दन भगवान् श्रीकृष्णका सत्कार करके उन्हें द्वारका जानेके लिये विदा किया ॥ ११ ॥

द्वारकां तु गते कृष्णे युधिष्ठिरपुरोगमाः।
चक्रुः सांग्रामिकं सर्वं विराटश्च महीपतिः ॥ १२ ॥

श्रीकृष्णके द्वारका चले जानेपर युधिष्ठिर आदि पाण्डव तथा राजा विराट युद्धकी सारी तैयारियाँ करने लगे ॥ १२ ॥

ततः सम्प्रेषयामास विराटः सह बान्धवैः।
सर्वेषां भूमिपालानां द्रुपदश्च महीपतिः ॥ १३ ॥

बन्धुओंसहित राजा विराट तथा महाराज द्रुपदने मिलकर सब राजाओंके पास युद्धका निमन्त्रण भेजा ॥ १३ ॥

वचनात् कुरुसिंहानां मत्स्यपाञ्चालयोश्च ते।
समाजग्मुर्महीपालाः सम्प्रहृष्टा महाबलाः ॥ १४ ॥

कुरुकुलके सिंह पाण्डव, मत्स्यनरेश विराट तथा पाञ्चालराज द्रुपदके संदेशसे (दूर-दूरके) महाबली नरेश बड़े हर्ष और उत्साहमें भरकर वहाँ आने लगे ॥ १४ ॥

तच्छ्रुत्वा पाण्डुपुत्राणां समागच्छन्महद् बलम्।
धृतराष्ट्रसुताश्चापि समानिन्युर्महीपतीन् ॥ १५ ॥

पाण्डवोंके यहाँ विशाल सेना एकत्र हो रही है; यह सुनकर धृतराष्ट्रके पुत्रोंने भी भूमिपालोंको बुलाना आरम्भ कर दिया ॥ १५ ॥

समाकुला मही राजन् कुरुपाण्डवकारणात्।
तदा समभवत् कृत्स्ना सम्प्रयाणे महीक्षिताम् ॥ १६ ॥
संकुला च तदा भूमिश्चतुरङ्गबलान्विता।

राजन् ! इस प्रकार कौरवों तथा पाण्डवोंके उद्देश्यसे दूर-दूरके नरेश अपनी सेना लेकर प्रस्थान करने लगे। इनकी चतुरङ्गिणी सेनासे सारी पृथ्वी व्याप्त हुई-सी जान पड़ने लगी ॥ १६½ ॥

बलानि तेषां वीराणामागच्छन्ति ततस्ततः ॥ १७ ॥
चालयन्तीव गां देवीं सपर्वतवनामिमाम्।

चारों ओरसे उन वीरोंके जो सैनिक आ रहे थे, वे पर्वतों और वनोंसहित इस सारी पृथ्वीको प्रकम्पित-सी कर रहे थे ॥ १७½ ॥

ततः प्रज्ञावयोवृद्धं पाञ्चाल्यः स्वपुरोहितम्।
कुरुभ्यः प्रेषयामास युधिष्ठिरमते स्थितः ॥ १८ ॥

तदनन्तर पाञ्चालनरेशने युधिष्ठिरकी सम्मतिके अनुसार बुद्धि और अवस्थामें भी बढ़े-चढ़े अपने पुरोहितको कौरवोंके पास भेजा ॥ १८ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि सेनोद्योगपर्वणि पुरोहितयाने पञ्चमोऽध्यायः ॥ ५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत सेनोद्योगपर्वमें पुरोहित-प्रस्थानविषयक पाँचवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ५ ॥

षष्ठोऽध्यायः

द्रुपदका पुरोहितको दौत्यकर्मके लिये अनुमति देना तथा पुरोहितका हस्तिनापुरको प्रस्थान

द्रुपद उवाच

भूतानां प्राणिनः श्रेष्ठाः प्राणिनां बुद्धिजीविनः।
बुद्धिमत्सु नराः श्रेष्ठा नरेष्वपि द्विजातयः ॥ १ ॥

राजा द्रुपदने (पुरोहितसे) कहा—पुरोहितजी ! समस्त भूतोंमें प्राणधारी श्रेष्ठ हैं। प्राणधारियोंमें भी बुद्धिजीवी श्रेष्ठ हैं। बुद्धिजीवी प्राणियोंमें भी मनुष्य और मनुष्योंमें भी ब्राह्मण श्रेष्ठ माने गये हैं ॥ १ ॥

द्विजेषु वैद्याः श्रेयांसो वैद्येषु कृतबुद्धयः।
कृतबुद्धिषु कर्तारः कर्तृषु ब्रह्मवादिनः ॥ २ ॥

ब्राह्मणोंमें विद्वान्, विद्वानोंमें सिद्धान्तके जानकार, सिद्धान्तके ज्ञाताओंमें भी तदनुसार आचरण करनेवाले पुरुष तथा उनमें भी ब्रह्मवेत्ता श्रेष्ठ हैं ॥ २ ॥



स भवान् कृतबुद्धीनां प्रधान इति मे मतिः।
कुलेन च विशिष्टोऽसि वयसा च श्रुतेन च ॥ ३ ॥

मेरा ऐसा विश्वास है कि आप सिद्धान्तवेत्ताओंमें प्रमुख हैं। आपका कुल तो श्रेष्ठ है ही, अवस्था तथा शास्त्र-ज्ञानमें भी आप बढ़े-चढ़े हैं ॥ ३ ॥

प्रज्ञया सदृशश्चासि शुक्रेणाङ्गिरसेन च।
विदितं चापि ते सर्वं यथावृत्तः स कौरवः ॥ ४ ॥

आपकी बुद्धि शुक्राचार्य और बृहस्पतिके समान है। दुर्योधनका आचार-विचार जैसा है, वह सब भी आपको ज्ञात ही है ॥ ४ ॥

पाण्डवश्च यथावृत्तः कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः।
धृतराष्ट्रस्य विदिते वञ्चिताः पाण्डवाः परैः ॥ ५ ॥

कुन्तीपुत्र पाण्डुनन्दन युधिष्ठिरका आचार-विचार भी आपलोगोंसे छिपा नहीं है। धृतराष्ट्रकी जानकारीमें शत्रुओंने पाण्डवोंको ठगा है ॥ ५ ॥

विदुरेणानुनीतोऽपि पुत्रमेवानुवर्तते।
शकुनिर्बुद्धिपूर्वं हि कुन्तीपुत्रं समाह्वयत् ॥ ६ ॥
अनक्षज्ञं मताक्षः सन् क्षत्रवृत्ते स्थितं शुचिम्।

विदुरजीके अनुनय-विनय करनेपर भी धृतराष्ट्र अपने पुत्रका ही अनुसरण करते हैं। शकुनिने स्वयं जूएके खेलमें प्रवीण होकर यह जानते हुए भी कि युधिष्ठिर जूएके खिलाड़ी नहीं हैं, वे क्षत्रियधर्मपर चलनेवाले शुद्धात्मा पुरुष हैं, उन्हें समझ-बूझकर जूएके लिये बुलाया ॥ ६½ ॥

ते तथा वञ्चयित्वा तु धर्मराजं युधिष्ठिरम् ॥ ७ ॥
न कस्याञ्चिदवस्थायां राज्यं दास्यन्ति वै स्वयम्।

उन सबने मिलकर धर्मराज युधिष्ठिरको ठगा है। अब वे किसी भी अवस्थामें स्वयं राज्य नहीं लौटायेंगे ॥ ७½ ॥

भवांस्तु धर्मसंयुक्तं धृतराष्ट्रं ब्रुवन् वचः ॥ ८ ॥
मनांसि तस्य योधानां ध्रुवमावर्तयिष्यति।

परंतु आप राजा धृतराष्ट्रसे धर्मयुक्त बातें कहकर उनके योद्धाओंका मन निश्चय ही अपनी ओर फेर लेंगे ॥ ८½ ॥

विदुरश्चापि तद् वाक्यं साधयिष्यति तावकम् ॥ ९ ॥
भीष्मद्रोणकृपादीनां भेदं संजनयिष्यति।

विदुरजी भी वहाँ आपके वचनोंका समर्थन करेंगे तथा आप भीष्म, द्रोण एवं कृपाचार्य आदिमें भेद उत्पन्न कर देंगे ॥ ९½ ॥

अमात्येषु च भिन्नेषु योधेषु विमुखेषु च ॥ १० ॥
पुनरेकत्रकरणं तेषां कर्म भविष्यति।

जब मन्त्रियोंमें फूट पड़ जायगी और योद्धा भी विमुख होकर चल देंगे, तब उनका (प्रधान) कार्य होगा—पुनः नूतन सेनाका संग्रह और संगठन ॥ १०½ ॥

एतस्मिन्नन्तरे पार्थाः सुखमेकाग्रबुद्धयः ॥ ११ ॥
सेनाकर्म करिष्यन्ति द्रव्याणां चैव संचयम्।

इसी बीचमें एकाग्रचित्तवाले कुन्तीकुमार अनायास ही सेनाका संगठन और द्रव्यका संग्रह कर लेंगे ॥ ११½ ॥

विद्यमानेषु च स्वेषु लम्बमाने तथा त्वयि ॥ १२ ॥
न तथा ते करिष्यन्ति सेनाकर्म न संशयः।

जब वहाँ हमारे स्वजन उपस्थित रहेंगे और आप भी वहाँ रहकर लौटनेमें विलम्ब करते रहेंगे, तब निःसंदेह वे सैन्य-संग्रहका कार्य उतने अच्छे ढंगसे नहीं कर सकेंगे ॥ १२½ ॥

एतत् प्रयोजनं चात्र प्राधान्येनोपलभ्यते ॥ १३ ॥
संगत्या धृतराष्ट्रश्च कुर्याद् धर्म्यं वचस्तव।

वहाँ आपके जानेका यही प्रयोजन प्रधानरूपसे दिखायी देता है। यह भी सम्भव है कि आपकी संगतिसे धृतराष्ट्रका मन बदल जाय और वे आपकी धर्मानुकूल बात स्वीकार कर लें ॥

स भवान् धर्मयुक्तश्च धर्म्यं तेषु समाचरन् ॥ १४ ॥
कृपालुषु परिक्लेशान् पाण्डवीयान् प्रकीर्तयन्।
वृद्धेषु कुलधर्मं च ब्रुवन् पूर्वैरनुष्ठितम् ॥ १५ ॥
विभेत्स्यति मनांस्येषामिति मे नात्र संशयः।

आप धर्मपरायण तो हैं ही; वहाँ धर्मानुकूल बर्ताव करते हुए कौरवकुलमें जो कृपालु वृद्ध पुरुष हैं, उनके समक्ष पूर्वपुरुषोंद्वारा आचरित कुलधर्मका प्रतिपादन एवं पाण्डवोंके क्लेशोंका वर्णन कीजियेगा। इस प्रकार आप उनका मन दुर्योधनकी ओरसे फोड़ लेंगे, इसमें मुझे कोई संशय नहीं है ॥ १४-१५½ ॥

न च तेभ्यो भयं तेऽस्ति ब्राह्मणो ह्यसि वेदवित् ॥
दूतकर्मणि युक्तश्च स्थविरश्च विशेषतः ।

आपको उनसे कोई भय नहीं है; क्योंकि आप वेदवेत्ता ब्राह्मण हैं। विशेषतः दूतकर्ममें नियुक्त और वृद्ध हैं ॥ १६½ ॥

स भवान् पुष्ययोगेन मुहूर्तेन जयेन च ।
कौरवेयान् प्रयात्वाशु कौन्तेयस्यार्थसिद्धये ॥ १७ ॥

अतः आप पुष्य नक्षत्रसे युक्त जय नामक मुहूर्तमें कुन्तीनन्दन युधिष्ठिरके कार्यकी सिद्धिके लिये कौरवोंके पास शीघ्र जाइये ॥

वैशम्पायन उवाच

तथानुशिष्टः प्रययौ द्रुपदेन महात्मना ।
पुरोधा वृत्तसम्पन्नो नगरं नागसाह्वयम् ॥ १८ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! महामना राजा द्रुपदके द्वारा इस प्रकार अनुशासित होकर सदाचार सम्पन्न पुरोहितने हस्तिनापुरको प्रस्थान किया ॥ १८ ॥

शिष्यैः परिवृतो विद्वान् नीतिशास्त्रार्थकोविदः ।
पाण्डवानां हितार्थाय कौरवान् प्रति जग्मिवान् ॥ १९ ॥

वे विद्वान् तथा नीतिशास्त्र और अर्थशास्त्रके विशेषज्ञ थे। वे पाण्डवोंके हितके लिये शिष्योंके साथ कौरवोंकी (राजधानीकी) ओर गये थे ॥ १९ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि सेनोद्योगपर्वणि पुरोहितयाने षष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत सेनोद्योगपर्वमें पुरोहितप्रस्थानविषयक छठा अध्याय पूरा हुआ ॥ ६ ॥

सप्तमोऽध्यायः

श्रीकृष्णका दुर्योधन तथा अर्जुन दोनोंको सहायता देना

वैशम्पायन उवाच

पुरोहितं ते प्रस्थाप्य नगरं नागसाह्वयम् ।
दूतान् प्रस्थापयामासुः पार्थिवेभ्यस्ततस्ततः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जयमेजय ! पुरोहितको हस्तिनापुर भेजकर पाण्डवलोग यत्र-तत्र राजाओंके यहाँ अपने दूतोंको भेजने लगे ॥ १ ॥

प्रस्थाप्य दूतानन्यत्र द्वारकां पुरुषर्षभः ।
स्वयं जगाम कौरव्यः कुन्तीपुत्रो धनंजयः ॥ २ ॥

अन्य सब स्थानोंमें दूत भेजकर कुरुकुलनन्दन कुन्तीपुत्र नरश्रेष्ठ धनंजय स्वयं द्वारकापुरीको गये ॥ २

गते द्वारवतीं कृष्णे बलदेवे च माधवे ।
सह वृष्ण्यन्धकैः सर्वैर्भोजैश्च शतशस्तदा ॥ ३ ॥
सर्वमागमयामास पाण्डवानां विचेष्टितम् ।
धृतराष्ट्रात्मजो राजा गूढैः प्रणिहितैश्चरैः ॥ ४ ॥

जब मधुकुलनन्दन श्रीकृष्ण और बलभद्र सैकड़ों वृष्णि, अन्धक और भोजवंशी यादवोंको साथ ले द्वारकापुरीकी ओर चले थे, तभी धृतराष्ट्रपुत्र राजा दुर्योधनने अपने नियुक्त किये हुए गुप्तचरोंसे पाण्डवोंकी सारी चेष्टाओंका पता लगा लिया था ॥ ३-४ ॥

स श्रुत्वा माधवं यान्तं सदश्वैरनिलोपमैः ।
बलेन नातिमहता द्वारकामभ्ययात् पुरीम् ॥ ५ ॥

जब उसने सुना कि श्रीकृष्ण विराटनगरसे द्वारकाको जा रहे हैं, तब वह वायुके समान वेगवान् उत्तम अश्वों तथा एक छोटी-सी सेनाके साथ द्वारकापुरीकी ओर चल दिया ॥ ५ ॥

तमेव दिवसं चापि कौन्तेयः पाण्डुनन्दन ।
आनर्तनगरीं रम्यां जगामाशु धनंजयः ॥ ६ ॥

कुन्तीकुमार पाण्डुनन्दन अर्जुनने भी उसी दिन शीघ्रतापूर्वक रमणीय द्वारकापुरीकी ओर प्रस्थान किया ॥ ६ ॥

तौ यात्वा पुरुषव्याघ्रौ द्वारकां कुरुनन्दनौ ।
सुप्तं ददृशतुः कृष्णं शयानं चाभिजग्मतुः ॥ ७ ॥

कुरुवंशका आनन्द बढ़ानेवाले उन दोनों नरवीरोंने द्वारकामें पहुँचकर देखा, श्रीकृष्ण शयन कर रहे हैं। तब वे दोनों सोये हुए श्रीकृष्णके पास गये ॥ ७ ॥

ततः शयाने गोविन्दे प्रविवेश सुयोधनः ।
उच्छीर्षतश्च कृष्णस्य निषसाद वरासने ॥ ८ ॥

श्रीकृष्णके शयनकालमें पहले दुर्योधनने उनके भवनमें प्रवेश किया और उनके सिरहानेकी ओर रखे हुए एक श्रेष्ठ सिंहासनपर बैठ गया ॥ ८ ॥

ततः किरीटी तस्यानुप्रविवेश महामनाः ।
पश्चाच्चैव स कृष्णस्य प्रह्वोऽतिष्ठत् कृताञ्जलिः ॥ ९ ॥

तत्पश्चात् महामना किरीटधारी अर्जुनने श्रीकृष्णके शयनागारमें प्रवेश किया। वे बड़ी नम्रतासे हाथ जोड़े हुए श्रीकृष्णके चरणोंकी ओर खड़े रहे ॥ ९ ॥

प्रतिबुद्धः स वार्ष्णेयो ददर्शाग्रे किरीटिनम् ।
स तयोः स्वागतं कृत्वा यथावत् प्रतिपूज्य तौ ॥ १० ॥
तदागमनजं हेतुं पप्रच्छ मधुसूदनः ।
ततो दुर्योधनः कृष्णमुवाच प्रहसन्निव ॥ ११ ॥

जागनेपर वृष्णिकुलभूषण श्रीकृष्णने पहले अर्जुनको ही देखा। मधुसूदनने उन दोनोंका यथायोग्य आदर-सत्कार



दुर्योधन और अर्जुनका श्रीकृष्णसे युद्धके लिये सहायता माँगना

करके उनसे उनके आगमनका कारण पूछा । तब दुर्योधनने भगवान् श्रीकृष्णसे हँसते हुए-से कहा—॥ १०-११ ॥

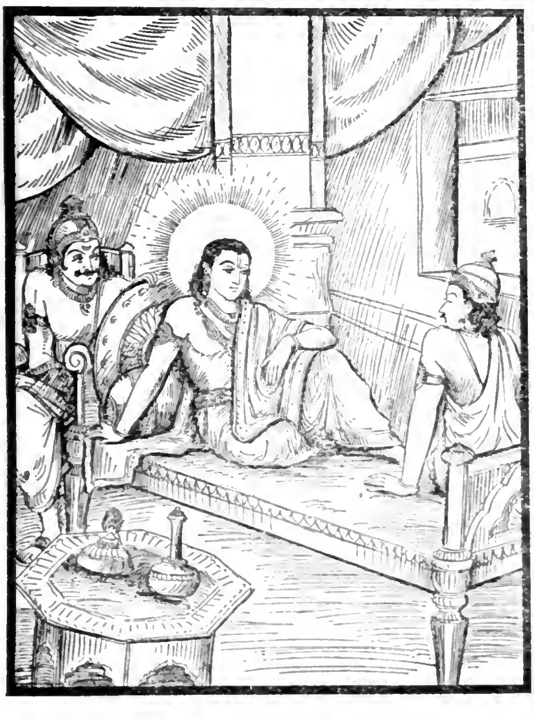
विग्रहेऽस्मिन् भवान् साह्यं मम दातुमिहार्हति ।
समं हि भवतः सख्यं मम नैवार्जुनेऽपि च ॥ १२ ॥
तथा सम्बन्धकं तुल्यमस्माकं त्वयि माधव ।
अहं चाभिगतः पूर्वं त्वामद्य मधुसूदन ॥ १३ ॥
पूर्वं चाभिगतं सन्तो भजन्ते पूर्वसारिणः ।
त्वं च श्रेष्ठतमो लोके सतामद्य जनार्दन ।
सततं सम्मतश्चैव सद्वृत्तमनुपालय ॥ १४ ॥

'माधव ! (पाण्डवोंके साथ हमारा) जो युद्ध होनेवाला है, उसमें आप मुझे सहायता दें । आपकी मेरे तथा अर्जुनके साथ एक-सी मित्रता है एवं हमलोगोंका आपके साथ सम्बन्ध भी समान ही है और मधुसूदन ! आज मैं ही आपके पास पहले आया हूँ । पूर्वपुरुषोंके सदाचारका अनुसरण करनेवाले श्रेष्ठ पुरुष पहले आये हुए प्रार्थीकी ही सहायता करते हैं । जनार्दन ! आप इस समय संसारके सत्पुरुषोंमें सबसे श्रेष्ठ हैं और सभी सर्वदा आपको सम्मानकी दृष्टिसे देखते हैं । अतः आप सत्पुरुषोंके ही आचारका पालन करें' १२-१४ ॥

कृष्ण उवाच

भवानभिगतः पूर्वमत्र मे नास्ति संशयः ।
दृष्टस्तु प्रथमं राजन् मया पार्थो धनंजयः ॥ १५ ॥

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—राजन् ! इसमें संदेह नहीं कि आप ही मेरे यहाँ पहले आये हैं, परंतु मैंने पहले कुन्तीनन्दन अर्जुनको ही देखा है ॥ १५ ॥



तव पूर्वाभिगमनात् पूर्वं चाप्यस्य दर्शनात् ।
साहाय्यमुभयोरेव करिष्यामि सुयोधन ॥ १६ ॥

सुयोधन ! आप पहले आये हैं और अर्जुनको मैंने पहले देखा है; इसलिये मैं दोनोंकी ही सहायता करूँगा ॥ १६ ॥

प्रवारणं तु बालानां पूर्वं कार्यमिति श्रुतिः ।
तस्मात् प्रवारणं पूर्वमर्हः पार्थो धनंजयः ॥ १७ ॥

शास्त्रकी आज्ञा है कि पहले बालकोंको ही उनकी अभीष्ट वस्तु देनी चाहिये; अतः अवस्थामें छोटे होनेके कारण पहले कुन्तीपुत्र अर्जुन ही अपनी अभीष्ट वस्तु पानेके अधिकारी हैं ॥

मत्संहननतुल्यानां गोपानामर्बुदं महत् ।
नारायणा इति ख्याताः सर्वे संग्रामयोधिनः ॥ १८ ॥

मेरे पास दस करोड़ गोपोंकी विशाल सेना है, जो सबके सब मेरे-जैसे ही बलिष्ठ शरीरवाले हैं । उन सबकी 'नारायण' संज्ञा है । वे सभी युद्धमें डटकर लोहा लेनेवाले हैं ॥ १८ ॥

ते वा युधि दुराधर्षा भवन्त्वेकस्य सैनिकाः ।
अयुध्यमानः संग्रामे न्यस्तशस्त्रोऽहमेकतः ॥ १९ ॥

एक ओर तो वे दुर्धर्ष सैनिक युद्धके लिये उद्यत रहेंगे और दूसरी ओरसे अकेला मैं रहूँगा; परंतु मैं न तो युद्ध करूँगा और न कोई शस्त्र ही धारण करूँगा ॥ १९ ॥

आभ्यामन्यतरं पार्थ यत् ते हृद्यतरं मतम् ।
तद् वृणीतां भवानग्रे प्रवार्यस्त्वं हि धर्मतः ॥ २० ॥

अर्जुन ! इन दोनोंमेंसे कोई एक वस्तु, जो तुम्हारे मनको अधिक प्रिय जान पड़े, तुम पहले चुन लो; क्योंकि धर्मके अनुसार पहले तुम्हें ही अपनी मनचाही वस्तु चुननेका अधिकार है ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तस्तु कृष्णेन कुन्तीपुत्रो धनंजयः ।
अयुध्यमानं संग्रामे वरयामास केशवम् ॥ २१ ॥
नारायणममित्रघ्नं कामाज्जातमजं नृषु ।
सर्वक्षत्रस्य पुरतो देवदानवयोरपि ॥ २२ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! श्रीकृष्णके ऐसा कहनेपर कुन्तीकुमार धनंजयने संग्रामभूमिमें युद्ध न करनेवाले उन भगवान् श्रीकृष्णको ही (अपना सहायक) चुना, जो साक्षात् शत्रुहन्ता नारायण हैं और अजन्मा होते हुए भी स्वेच्छासे देवता, दानव तथा समस्त क्षत्रियोंके सम्मुख मनुष्योंमें अवतीर्ण हुए हैं ॥ २१-२२ ॥

दुर्योधनस्तु तत् सैन्यं सर्वमावरयत् तदा ।
सहस्राणां सहस्रं तु योधानां प्राप्य भारत ॥ २३ ॥
कृष्णं चापहृतं ज्ञात्वा सम्प्राप परमां मुदम् ।
दुर्योधनस्तु तत् सैन्यं सर्वमादाय पार्थिवः ॥ २४ ॥
ततोऽभ्ययाद् भीमबलो रौहिणेयं महाबलः ।

सर्वं चागमने हेतुं स तस्मै संन्यवेदयत्।
प्रत्युवाच ततः शौरिर्धार्तराष्ट्रमिदं वचः ॥ २५ ॥

जनमेजय ! तब दुर्योधनने वह सारी सेना माँग ली, जो अनेक सहस्र सैनिकोंकी सहस्रों टोलियोंमें संगठित थी। उन योद्धाओंको पाकर और श्रीकृष्णको ठगा गया समझकर राजा दुर्योधनको बड़ी प्रसन्नता हुई। उसका बल भयंकर था। वह सारी सेना लेकर महाबली रोहिणीनन्दन बलरामजीके पास गया और उसने उन्हें अपने आनेका सारा कारण बताया। तब शूरवंशी बलरामजीने धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधनको इस प्रकार उत्तर दिया॥ २३–२५ ॥

बलदेव उवाच

विदितं ते नरव्याघ्र सर्वं भवितुमर्हति।
यन्मयोक्तं विराटस्य पुरा वैवाहिके तदा ॥ २६ ॥

बलदेवजी बोले—पुरुषसिंह ! पहले राजा विराटके यहाँ विवाहोत्सवके अवसरपर मैंने जो कुछ कहा था, वह सब तुम्हें मालूम हो गया होगा ॥ २६ ॥

निगृह्योक्तो हृषीकेशस्त्वदर्थं कुरुनन्दन।
मया सम्बन्धकं तुल्यमिति राजन् पुनः पुनः ॥ २७ ॥
न च तद् वाक्यमुक्तं वै केशवं प्रत्यपद्यत।
न चाहमुत्सहे कृष्णं विना स्थातुमपि क्षणम् ॥ २८ ॥

कुरुनन्दन ! तुम्हारे लिये मैंने श्रीकृष्णको बाध्य करके कहा था कि हमारे साथ दोनों पक्षोंका समानरूपसे सम्बन्ध है। राजन् ! मैंने वह बात बार-बार दुहरायी, परंतु श्रीकृष्णको जँची नहीं और मैं श्रीकृष्णको छोड़कर एक क्षण भी अन्यत्र कहीं ठहर नहीं सकता ॥ २७-२८ ॥

नाहं सहायः पार्थस्य नापि दुर्योधनस्य वै।
इति मे निश्चिता बुद्धिर्वासुदेवमवेक्ष्य ह ॥ २९ ॥

अतः मैं श्रीकृष्णकी ओर देखकर मन-ही-मन इस निश्चयपर पहुँचा हूँ कि मैं न तो अर्जुनकी सहायता करूँगा और न दुर्योधनकी ही ॥ २९ ॥

जातोऽसि भारते वंशे सर्वपार्थिवपूजिते।
गच्छ युध्यस्व धर्मेण क्षात्रेण पुरुषर्षभ ॥ ३० ॥

पुरुषरत्न ! तुम समस्त राजाओंद्वारा सम्मानित भरतवंशमें उत्पन्न हुए हो। जाओ, क्षत्रिय-धर्मके अनुसार युद्ध करो ॥ ३० ॥

वैशम्पायन उवाच

इत्येवमुक्तस्तु तदा परिष्वज्य हलायुधम्।
कृष्णं चापहृतं ज्ञात्वा युद्धान्मेने जितं जयम् ॥ ३१ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! बलभद्रजीके ऐसा कहनेपर दुर्योधनने उन्हें हृदयसे लगाया और श्रीकृष्णको ठगा गया जानकर युद्धसे अपनी निश्चित विजय समझ ली ॥ ३१ ॥

सोऽभ्ययात् कृतवर्माणं धृतराष्ट्रसुतो नृपः।
कृतवर्मा ददौ तस्य सेनामक्षौहिणीं तदा ॥ ३२ ॥

तदनन्तर धृतराष्ट्रपुत्र राजा दुर्योधन कृतवर्माके पास गया। कृतवर्माने उसे एक अक्षौहिणी सेना दी ॥ ३२ ॥

स तेन सर्वसैन्येन भीमेन कुरुनन्दनः।
वृतः परिययौ हृष्टः सुहृदः सम्प्रहर्षयन् ॥ ३३ ॥

उस सारी भयंकर सेनाके द्वारा घिरा हुआ कुरुनन्दन दुर्योधन अपने सुहृदोंका हर्ष बढ़ाता हुआ बड़ी प्रसन्नताके साथ हस्तिनापुरको लौट गया ॥ ३३ ॥

ततः पीताम्बरधरो जगत्स्रष्टा जनार्दनः।
गते दुर्योधने कृष्णः किरीटिनमथाब्रवीत्।
अयुध्यमानः कां बुद्धिमास्थायाहं वृतस्त्वया ॥ ३४ ॥

दुर्योधनके चले जानेपर पीताम्बरधारी जगत्स्रष्टा जनार्दन श्रीकृष्णने अर्जुनसे कहा—'पार्थ ! मैं तो युद्ध करूँगा नहीं; फिर तुमने क्या सोच-समझकर मुझे चुना है ?' ॥ ३४ ॥

अर्जुन उवाच

भवान् समर्थस्तान् सर्वान् निहन्तुं नात्र संशयः।
निहन्तुमहमप्येकः समर्थः पुरुषर्षभ ॥ ३५ ॥

अर्जुन बोले—भगवन् ! आप अकेले ही उन सबको नष्ट करनेमें समर्थ हैं, इसमें तनिक भी संशय नहीं है। पुरुषोत्तम ! (आपकी ही कृपासे) मैं भी अकेला ही उन सब शत्रुओंका संहार करनेमें समर्थ हूँ ॥ ३५ ॥

भवांस्तु कीर्तिमाँल्लोके तद् यशस्त्वां गमिष्यति।
यशसां चाहमप्यर्थी तस्मादसि मया वृतः ॥ ३६ ॥

परंतु आप संसारमें यशस्वी हैं। आप जहाँ भी रहेंगे, वह यश आपका ही अनुसरण करेगा। मुझे भी यशकी इच्छा है ही; इसीलिये मैंने आपका वरण किया है ॥ ३६ ॥

सारथ्यं तु त्वया कार्यमिति मे मानसं सदा।
चिररात्रेप्सितं कामं तद् भवान् कर्तुमर्हति ॥ ३७ ॥

मेरे मनमें बहुत दिनोंसे यह अभिलाषा थी कि आपको अपना सारथि बनाऊँ—अपने जीवनरथकी बागडोर आपके हाथोंमें सौंप दूँ। मेरी इस चिरकालिक अभिलाषाको आप पूर्ण करें ॥ ३७ ॥

वासुदेव उवाच

उपपन्नमिदं पार्थ यत् स्पर्धसि मया सह।
सारथ्यं ते करिष्यामि कामः सम्पद्यतां तव ॥ ३८ ॥

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—पार्थ ! तुम जो (शत्रुओं-

पर विजय पानेमें) मेरे साथ स्पर्धा रखते हो, यह तुम्हारे लिये ठीक ही है। मैं तुम्हारा सारथ्य करूँगा। तुम्हारा यह मनोरथ पूर्ण हो ॥ ३८ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवं प्रमुदितः पार्थः कृष्णेन सहितस्तदा ।
वृतो दशार्हप्रवरैः पुनरायाद् युधिष्ठिरम् ॥ ३९ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! इस प्रकार (अपनी इच्छा पूर्ण होनेसे) प्रसन्न हुए अर्जुन श्रीकृष्णके सहित मुख्य-मुख्य दशार्हवंशी यादवोंसे घिरे हुए पुनः युधिष्ठिरके पास आये ॥ ३९ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि सेनोद्योगपर्वणि कृष्णसारथ्यस्वीकारे सप्तमोऽध्यायः ॥ ७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत सेनोद्योगपर्वमें श्रीकृष्णका सारथ्यस्वीकारविषयक सातवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ७ ॥

अष्टमोऽध्यायः

शल्यका दुर्योधनके सत्कारसे प्रसन्न हो उसे वर देना और युधिष्ठिरसे मिलकर उन्हें आश्वासन देना

वैशम्पायन उवाच

शल्यः श्रुत्वा तु दूतानां सैन्येन महता वृतः ।
अभ्ययात् पाण्डवान् राजन् सह पुत्रैर्महारथैः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! पाण्डवोंके दूतोंके मुखसे उनका संदेश सुनकर राजा शल्य अपने महारथी पुत्रोंके साथ विशाल सेनासे घिरकर पाण्डवोंके पास चले ॥ १ ॥

तस्य सेनानिवेशोऽभूदध्यर्धमिव योजनम् ।
तथा हि विपुलां सेनां बिभर्ति स नरर्षभः ॥ २ ॥

नरश्रेष्ठ शल्य इतनी अधिक सेनाका भरण-पोषण करते थे कि उसका पड़ाव पड़नेपर आधी योजन भूमि घिर जाती थी ॥ २ ॥

अक्षौहिणीपती राजन् महावीर्यपराक्रमः ।
विचित्रकवचाः शूरा विचित्रध्वजकार्मुकाः ॥ ३ ॥
विचित्राभरणाः सर्वे विचित्ररथवाहनाः ।
विचित्रस्रग्धराः सर्वे विचित्राम्बरभूषणाः ॥ ४ ॥
स्वदेशवेषाभरणा वीराः शतसहस्रशः ।
तस्य सेनाप्रणेतारो बभूवुः क्षत्रियर्षभाः ॥ ५ ॥

राजन् ! महान् बलवान् और पराक्रमी शल्य अक्षौहिणी सेनाके स्वामी थे। सैकड़ों और हजारों वीर क्षत्रियशिरोमणि उनकी विशाल वाहिनीका संचालन करनेवाले सेनापति थे। वे सब-के-सब शौर्य-सम्पन्न, अद्भुत कवच धारण करनेवाले तथा विचित्र ध्वज एवं धनुषसे सुशोभित थे। उन सबके अङ्गोंमें विचित्र आभूषण शोभा दे रहे थे। सभीके रथ और वाहन विचित्र थे। सबके गलेमें विचित्र मालाएँ सुशोभित थीं। सबके वस्त्र और अलङ्कार अद्भुत दिखायी देते थे। उन सबने अपने-अपने देशकी वेष-भूषा धारण कर रक्खी थी ॥

व्यथयन्निव भूतानि कम्पयन्निव मेदिनीम् ।
शनैर्विश्रामयन् सेनां स ययौ येन पाण्डवः ॥ ६ ॥

राजा शल्य समस्त प्राणियोंको व्यथित और पृथ्वीको कम्पित-से करते हुए अपनी सेनाको धीरे-धीरे विभिन्न स्थानोंपर ठहराकर विश्राम देते हुए उस मार्गपर चले, जिससे पाण्डुनन्दन युधिष्ठिरके पास शीघ्र पहुँच सकते थे ॥ ६ ॥

ततो दुर्योधनः श्रुत्वा महात्मानं महारथम् ।
उपायान्तमभिद्रुत्य स्वयमानर्च भारत ॥ ७ ॥

भरतनन्दन ! उन्हीं दिनों दुर्योधनने महारथी एवं महामना राजा शल्यका आगमन सुनकर स्वयं आगे बढ़कर (मार्गमें ही) उनका सेवा-सत्कार प्रारम्भ कर दिया ॥ ७ ॥

कारयामास पूजार्थं तस्य दुर्योधनः सभाः ।
रमणीयेषु देशेषु रत्नचित्राः स्वलंकृताः ॥ ८ ॥

दुर्योधनने राजा शल्यके स्वागत-सत्कारके लिये रमणीय प्रदेशोंमें बहुत-से सभाभवन तैयार कराये; जिनकी दीवारोंमें रत्न जड़े हुए थे। उन भवनोंको सब प्रकारसे सजाया गया था ॥ ८ ॥

शिल्पिभिर्विविधैश्चैव क्रीडास्तत्र प्रयोजिताः ।
तत्र वस्त्राणि माल्यानि भक्ष्यं पेयं च सत्कृतम् ॥ ९ ॥

नाना प्रकारके शिल्पियोंने उनमें अनेकानेक क्रीडा-विहारके स्थान बनाये थे। वहाँ भाँति-भाँतिके वस्त्र, मालाएँ, खाने-पीनेके सामान तथा सत्कारकी अन्यान्य वस्तुएँ रक्खी गयी थीं ॥ ९ ॥

कूपाश्च विविधाकारा मनोहर्षविवर्धनाः ।
वाप्यश्च विविधाकारा औदकानि गृहाणि च ॥ १० ॥

अनेक प्रकारके कुएँ तथा भाँति-भाँतिकी बावड़ियाँ बनायी गयी थीं, जो हृदयके हर्षको बढ़ा रही थीं। बहुत-से ऐसे गृह बने थे, जिनमें जलकी विशेष सुविधा सुलभ की गयी थी ॥ १० ॥

स ताः सभाः समासाद्य पूज्यमानो यथामरः ।
दुर्योधनस्य सचिवैर्देशे देशे समन्ततः ॥ ११ ॥

सब ओर विभिन्न स्थानोंमें बने हुए उन सभाभवनोंमें पहुँचकर राजा शल्य दुर्योधनके मन्त्रियोंद्वारा देवताओंकी भाँति पूजित होते थे ॥ ११ ॥

आजगाम सभामन्यां देवावसथवर्चसम् ।
स तत्र विषयैर्युक्तः कल्याणैरतिमानुषैः ॥ १२ ॥

इस तरह (यात्रा करते हुए) शल्य किसी दूसरे सभाभवनमें गये, जो देवमन्दिरोंके समान प्रकाशित होता था। वहाँ उन्हें अलौकिक कल्याणमय भोग प्राप्त हुए ॥ १२ ॥

मेनेऽभ्यधिकमात्मानमवमेने पुरंदरम् ।
पप्रच्छ स ततः प्रेष्यान् प्रहृष्टः क्षत्रियर्षभः ॥ १३ ॥

उस समय उन क्षत्रियशिरोमणि नरेशने अपने-आपको सबसे अधिक सौभाग्यशाली समझा। उन्हें देवराज इन्द्र भी अपनेसे तुच्छ प्रतीत हुए। उस समय अत्यन्त प्रसन्न होकर उन्होंने सेवकोंसे पूछा—॥ १३ ॥

युधिष्ठिरस्य पुरुषाः केऽत्र चक्रुः सभा इमाः ।
आनीयन्तां सभाकाराः प्रदेयार्हा हि मे मताः ॥ १४ ॥

'युधिष्ठिरके किन आदमियोंने ये सभाभवन बनाये हैं। उन सबको बुलाओ। मैं उन्हें पुरस्कार देनेके योग्य मानता हूँ ॥ १४ ॥

प्रसादमेषां दास्यामि कुन्तीपुत्रोऽनुमन्यताम् ।
दुर्योधनाय तत् सर्वं कथयन्ति स्म विस्मिताः ॥ १५ ॥

'मैं इन सबको अपनी प्रसन्नताके फलस्वरूप कुछ पुरस्कार दूँगा, कुन्तीनन्दन युधिष्ठिरको भी मेरे इस व्यवहार-का अनुमोदन करना चाहिये।' यह सुनकर सब सेवकोंने विस्मित हो दुर्योधनसे वे सारी बातें बतायीं ॥ १५ ॥

सम्प्रहृष्टो यदा शल्यो दिदित्सुरपि जीवितम् ।
गूढो दुर्योधनस्तत्र दर्शयामास मातुलम् ॥ १६ ॥

जब हर्षमें भरे हुए राजा शल्य (अपने प्रति किये गये उपकारके बदले)प्राणतक देनेको तैयार हो गये, तब गुप्तरूपसे वहीं छिपा हुआ दुर्योधन मामा शल्यके सामने गया ॥ १६ ॥

तं दृष्ट्वा मद्रराजश्च ज्ञात्वा यत्नं च तस्य तम् ।
परिष्वज्याब्रवीत् प्रीत इष्टोऽर्थो गृह्यतामिति ॥ १७ ॥

उसे देखकर तथा उसीने यह सारी तैयारी की है, यह जानकर मद्रराजने प्रसन्नतापूर्वक दुर्योधनको हृदयसे लगा लिया और कहा—'तुम अपनी अभीष्ट वस्तु मुझसे माँग लो' ॥ १७ ॥

दुर्योधन उवाच

सत्यवाग् भव कल्याण वरो वै मम दीयताम् ।
सर्वसेनाप्रणेता वै भवान् भवितुमर्हति ॥ १८ ॥

दुर्योधनने कहा—कल्याणस्वरूप महानुभाव ! आपकी बात सत्य हो। आप मुझे अवश्य वर दीजिये। मैं चाहता हूँ कि आप मेरी सम्पूर्ण सेनाके अधिनायक हो जायँ ॥१८॥

(यथैव पाण्डवास्तुभ्यं तथैव भवते ह्यहम् ।
अनुमान्यं च पाल्यं च भक्तं च भज मां विभो ॥

आपके लिये जैसे पाण्डव हैं, वैसा ही मैं हूँ। प्रभो ! मैं आपका भक्त होनेके कारण आपके द्वारा समादृत और पालित होने योग्य हूँ। अतः मुझे अपनाइये ॥

शल्य उवाच

एवमेतन्महाराज यथा वदसि पार्थिव ।
एवं ददामि ते प्रीत एवमेतद् भविष्यति ॥)

शल्यने कहा—महाराज ! तुम्हारा कहना ठीक है। भूपाल ! तुम जैसा कहते हो, वैसा ही वर तुम्हें प्रसन्नतापूर्वक देता हूँ। यह ऐसा ही होगा—मैं तुम्हारी सेनाका अधिनायक बनूँगा ॥

वैशम्पायन उवाच

कृतमित्यब्रवीच्छल्यः किमन्यत् क्रियतामिति ।
कृतमित्येव गान्धारिः प्रत्युवाच पुनः पुनः ॥ १९ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! उस समय शल्यने दुर्योधनसे कहा—'तुम्हारी यह प्रार्थना तो स्वीकार कर ली। अब और कौन-सा कार्य करूँ ?' यह सुनकर गान्धारीनन्दन दुर्योधनने बार-बार यही कहा कि मेरा तो सब काम आपने पूरा कर दिया ॥ १९ ॥

शल्य उवाच

गच्छ दुर्योधन पुरं स्वकमेव नरर्षभ ।
अहं गमिष्ये द्रष्टुं वै युधिष्ठिरमरिंदमम् ॥ २० ॥

शल्य बोले—नरश्रेष्ठ दुर्योधन ! अब तुम अपने नगर-को जाओ। मैं शत्रुदमन युधिष्ठिरसे मिलने जाऊँगा ॥२०॥



दृष्ट्वा युधिष्ठिरं राजन् क्षिप्रमेष्ये नराधिप ।
अवश्यं चापि द्रष्टव्यः पाण्डवः पुरुषर्षभः ॥ २१ ॥

नरेश्वर ! मैं युधिष्ठिरसे मिलकर शीघ्र ही लौट आऊँगा। पाण्डुपुत्र नरश्रेष्ठ युधिष्ठिरसे मिलना भी अत्यन्त आवश्यक है ॥ २१ ॥

दुर्योधन उवाच

क्षिप्रमागम्यतां राजन् पाण्डवं वीक्ष्य पार्थिव ।
त्वय्यधीनाः स्म राजेन्द्र वरदानं स्मरस्व नः ॥ २२ ॥

दुर्योधनने कहा—राजन् ! पृथ्वीपते ! पाण्डुनन्दन युधिष्ठिरसे मिलकर आप शीघ्र चले आइये । राजेन्द्र ! हम आपके ही अधीन हैं । आपने हमें जो वरदान दिया है, उसे याद रखियेगा ॥ २२ ॥

शल्य उवाच

क्षिप्रमेष्यामि भद्रं ते गच्छस्व स्वपुरं नृप ।
परिष्वज्य तथान्योन्यं शल्यदुर्योधनावुभौ ॥ २३ ॥

शल्य बोले—नरेश्वर ! तुम्हारा कल्याण हो । तुम अपने नगरको जाओ । मैं शीघ्र आऊँगा ।

ऐसा कहकर राजा शल्य तथा दुर्योधन दोनों एक दूसरेसे गले मिलकर विदा हुए ॥ २३ ॥

स तथा शल्यमामन्त्र्य पुनरायात् स्वकं पुरम् ।
शल्यो जगाम कौन्तेयानाख्यातुं कर्म तस्य तत् ॥ २४ ॥

इस प्रकार शल्यसे आज्ञा लेकर दुर्योधन पुनः अपने नगरको लौट आया और शल्य कुन्तीकुमारोंसे दुर्योधनकी वह करतूत सुनानेके लिये युधिष्ठिरके पास गये ॥ २४ ॥

उपप्लव्यं स गत्वा तु स्कन्धावारं प्रविश्य च ।
पाण्डवानथ तान् सर्वान् शल्यस्तत्र ददर्श ह ॥ २५ ॥

विराटनगरके उपप्लव्य नामक प्रदेशमें जाकर वे पाण्डवोंकी छावनीमें पहुँचे और वहाँ उन सब पाण्डवोंसे मिले ॥ २५ ॥

समेत्य च महाबाहुः शल्यः पाण्डुसुतैस्तदा ।
पाद्यमर्घ्यं च गां चैव प्रत्यगृह्णाद् यथाविधि ॥ २६ ॥

पाण्डुपुत्रोंसे मिलकर महाबाहु शल्यने उनके द्वारा विधिपूर्वक दिये हुए पाद्य, अर्घ्य और गौको ग्रहण किया ॥ २६ ॥

ततः कुशलपूर्वं हि मद्रराजोऽरिसूदनः ।
प्रीत्या परमया युक्तः समाश्लिष्यद् युधिष्ठिरम् ॥ २७ ॥
तथा भीमार्जुनौ हृष्टौ स्वस्रीयौ च यमावुभौ ।

तत्पश्चात् शत्रुसूदन मद्रराज शल्यने कुशल-प्रश्नके अनन्तर बड़ी प्रसन्नताके साथ राजा युधिष्ठिरको हृदयसे लगाया। इसी प्रकार उन्होंने हर्षमें भरे हुए दोनों भाई भीमसेन और अर्जुनको तथा अपनी बहिनके दोनों जुड़वे पुत्रों—नकुल-सहदेवको भी गले लगाया ॥ २७½ ॥

(द्रौपदी च सुभद्रा च अभिमन्युश्च भारत ।
समेत्य च महाबाहुं शल्यं पाण्डुसुतस्तदा ॥
कृताञ्जलिरदीनात्मा धर्मात्मा शल्यमब्रवीत् ।

भारत ! तदनन्तर द्रौपदी, सुभद्रा तथा अभिमन्युने महाबाहु शल्यके पास आकर उन्हें प्रणाम किया । उस समय उदारचेता धर्मात्मा पाण्डुपुत्र युधिष्ठिरने दोनों हाथ जोड़कर शल्यसे कहा ॥

युधिष्ठिर उवाच

स्वागतं तेऽस्तु वै राजन्नेतदासनमास्यताम् ॥

युधिष्ठिर बोले—राजन् ! आपका स्वागत है । इस आसनपर विराजिये ॥

वैशम्पायन उवाच

ततो न्यषीदच्छल्यश्च काञ्चने परमासने ।
कुशलं पाण्डवोऽपृच्छच्छल्यं सर्वसुखावहम् ॥
स तैः परिवृतः सर्वैः पाण्डवैर्धर्मचारिभिः ।)
आसने चोपविष्टस्तु शल्यः पार्थमुवाच ह ॥ २८ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तब राजा शल्य सुवर्णके श्रेष्ठ सिंहासनपर विराजमान हुए । उस समय पाण्डुनन्दन युधिष्ठिरने सबको सुख देनेवाले शल्यसे कुशल-समाचार पूछा । उन समस्त धर्मात्मा पाण्डवोंसे घिरकर आसनपर बैठे हुए राजा शल्य कुन्तीकुमार युधिष्ठिरसे इस प्रकार बोले—॥ २८ ॥

कुशलं राजशार्दूल कच्चित् ते कुरुनन्दन ।
अरण्यवासाद् दिष्ट्यासि विमुक्तो जयतां वर ॥ २९ ॥

'नृपतिश्रेष्ठ कुरुनन्दन ! तुम कुशलसे तो हो न ! विजयी वीरोंमें श्रेष्ठ नरेश ! यह बड़े सौभाग्यकी बात है कि तुम वनवासके कष्टसे छुटकारा पा गये ॥ २९ ॥

सुदुष्करं कृतं राजन् निर्जने वसता त्वया ।
भ्रातृभिः सह राजेन्द्र कृष्णया चानया सह ॥ ३० ॥

'राजन् ! तुमने अपने भाइयों यथा इस द्रुपदकुमारी कृष्णाके साथ निर्जन वनमें निवास करके अत्यन्त दुष्कर कार्य किया है ॥ ३० ॥

अज्ञातवासं घोरं च वसता दुष्करं कृतम् ।
दुःखमेव कुतः सौख्यं भ्रष्टराज्यस्य भारत ॥ ३१ ॥

'भारत ! भयंकर अज्ञातवास करके तो तुमलोगोंने और भी दुष्कर कार्य सम्पन्न किया है । जो अपने राज्यसे वञ्चित हो गया हो, उसे तो कष्ट ही उठाना पड़ता है, सुख कहाँसे मिल सकता है ? ॥ ३१ ॥

दुःखस्यैतस्य महतो धार्तराष्ट्रकृतस्य वै।
अवाप्स्यसि सुखं राजन् हत्वा शत्रून् परंतप ॥ ३२ ॥

'शत्रुओंको संताप देनेवाले नरेश ! दुर्योधनके दिये हुए इस महान् दुःखके अन्तमें अब तुम शत्रुओंको मारकर सुखके भागी होओगे ॥ ३२ ॥

विदितं ते महाराज लोकतन्त्रं नराधिप।
तस्माल्लोभकृतं किंचित् तव तात न विद्यते ॥ ३३ ॥

'महाराज ! नरेश्वर ! तुम्हें लोकतन्त्रका सम्यक् ज्ञान है। तात ! इसीलिये तुममें लोभजनित कोई भी बर्ताव नहीं है॥ ३३ ॥

राजर्षीणां पुराणानां मार्गमन्विच्छ भारत।
दाने तपसि सत्ये च भव तात युधिष्ठिर॥ ३४ ॥

'भारत ! प्राचीन राजर्षियोंके मार्गका अनुसरण करो। तात युधिष्ठिर ! तुम सदा दान, तपस्या और सत्यमें ही संलग्न रहो॥ ३४ ॥

क्षमा दमश्च सत्यं च अहिंसा च युधिष्ठिर।
अद्भुतश्च पुनर्लोकस्त्वयि राजन् प्रतिष्ठितः ॥ ३५ ॥

'राजा युधिष्ठिर ! क्षमा, इन्द्रियसंयम, सत्य, अहिंसा तथा अद्भुत लोक—ये सब तुममें प्रतिष्ठित हैं ॥ ३५ ॥

मृदुर्वदान्यो ब्रह्मण्यो दाता धर्मपरायणः।
धर्मास्ते विदिता राजन् बहवो लोकसाक्षिकाः॥ ३६ ॥

'महाराज ! तुम कोमल, उदार, ब्राह्मणभक्त, दानी तथा धर्मपरायण हो। संसार जिनका साक्षी है, ऐसे बहुत-से धर्म तुम्हें ज्ञात हैं॥ ३६ ॥

सर्वं जगदिदं तात विदितं ते परंतप।
दिष्ट्या कृच्छ्रमिदं राजन् पारितं भरतर्षभ ॥ ३७ ॥

'तात ! परंतप ! तुम्हें इस सम्पूर्ण जगत्का तत्त्व ज्ञात है। भरतश्रेष्ठ नरेश ! तुम इस महान् संकटसे पार हो गये, यह बड़े सौभाग्यकी बात है ॥ ३७ ॥

दिष्ट्या पश्यामि राजेन्द्र धर्मात्मानं सहानुगम्।
निस्तीर्णं दुष्करं राजंस्त्वां धर्मनिचयं प्रभो ॥ ३८ ॥

'राजेन्द्र ! तुम धर्मात्मा एवं धर्मकी निधि हो। राजन् ! तुमने भाइयोंसहित अपनी दुष्कर प्रतिज्ञा पूरी कर ली है और इस अवस्थामें मैं तुम्हें देख रहा हूँ; यह मेरा अहोभाग्य है' ॥ ३८ ॥

वैशम्पायन उवाच

ततोऽस्याकथयद् राजा दुर्योधनसमागमम्।
तच्च शुश्रूषितं सर्वं वरदानं च भारत ॥ ३९ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—भारत ! तदनन्तर राजा शल्यने दुर्योधनके मिलने, सेवा-शुश्रूषा करने और उसे अपने वरदान देनेकी सारी बातें कह सुनायीं ॥ ३९ ॥

युधिष्ठिर उवाच

सुकृतं ते कृतं राजन् प्रहृष्टेनान्तरात्मना।
दुर्योधनस्य यद् वीर त्वया वाचा प्रतिश्रुतम् ॥ ४० ॥

युधिष्ठिर बोले—वीर महाराज ! आपने प्रसन्नचित्त होकर जो दुर्योधनको उसकी सहायताका वचन दे दिया, वह अच्छा ही किया ॥ ४० ॥

एकं त्विच्छामि भद्रं ते क्रियमाणं महीपते।
राजन्नकर्तव्यमपि कर्तुमर्हसि सत्तम ॥ ४१ ॥
मम त्ववेक्षया वीर शृणु विज्ञापयामि ते।
भवानिह च सारथ्ये वासुदेवसमो युधि ॥ ४२ ॥

परंतु पृथ्वीपते ! आपका कल्याण हो । मैं आपके द्वारा अपना भी एक काम कराना चाहता हूँ । साधु-शिरोमणे ! वह न करने योग्य होनेपर भी मेरी ओर देखते हुए आपको अवश्य करना चाहिये। वीरवर ! सुनिये; मैं वह कार्य आपको बता रहा हूँ। महाराज ! आप इस भूतल-पर संग्राममें सारथिका काम करनेके लिये वसुदेवनन्दन भगवान् श्रीकृष्णके समान माने गये हैं ॥ ४१-४२ ॥

कर्णार्जुनाभ्यां सम्प्राप्ते द्वैरथे राजसत्तम।
कर्णस्य भवता कार्यं सारथ्यं नात्र संशयः ॥ ४३ ॥

नृपशिरोमणे ! जब कर्ण और अर्जुनके द्वैरथयुद्धका अवसर प्राप्त होगा, उस समय आपको ही कर्णके सारथिका काम करना पड़ेगा; इसमें तनिक भी संशय नहीं है ॥ ४३ ॥

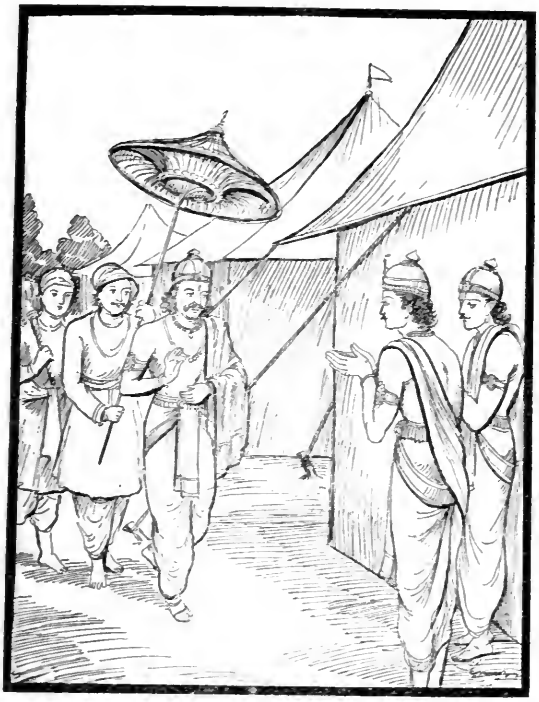
तत्र पाल्योऽर्जुनो राजन् यदि मत्प्रियमिच्छसि।
तेजोवधश्च ते कार्यः सौतेरस्मज्जयावहः ॥ ४४ ॥
अकर्तव्यमपि ह्येतत् कर्तुमर्हसि मातुल।

राजन् ! यदि आप मेरा प्रिय करना चाहते हैं, तो उस युद्धमें आपको अर्जुनकी रक्षा करनी होगी। आपका कार्य इतना ही होगा कि आप कर्णका उत्साह भङ्ग करते रहें । वही कर्णसे हमें विजय दिलानेवाला होगा। मामाजी ! मेरेलिये यह न करनेयोग्य कार्य भी करें ॥ ४४½ ॥

शल्य उवाच

शृणु पाण्डव ते भद्रं यद् ब्रवीषि महात्मनः।
तेजोवधनिमित्तं मां सूतपुत्रस्य सङ्गमे ॥ ४५ ॥
अहं तस्य भविष्यामि संग्रामे सारथिर्ध्रुवम्।
वासुदेवेन हि समं नित्यं मां स हि मन्यते ॥ ४६ ॥

शल्य बोले—पाण्डुनन्दन ! तुम्हारा कल्याण हो। तुम मेरी बात सुनो ! युद्धमें महामना सूतपुत्र कर्णके तेज और उत्साहको नष्ट करनेके लिये तुम जो मुझसे अनुरोध करते हो, वह ठीक है । यह निश्चय है कि मैं उस युद्धमें उसका सारथि होऊँगा। स्वयं कर्ण भी सदा मुझे सारथिकर्ममें भगवान् श्रीकृष्णके समान समझता है ॥ ४५-४६ ॥



तस्याहं कुरुशार्दूल प्रतीपमहितं वचः।
ध्रुवं संकथयिष्यामि योद्धुकामस्य संयुगे ॥ ४७ ॥
यथा स हृतदर्पश्च हृततेजाश्च पाण्डव।
भविष्यति सुखं हन्तुं सत्यमेतद् ब्रवीमि ते ॥ ४८ ॥

कुरुश्रेष्ठ ! जब कर्ण रणभूमिमें अर्जुनके साथ युद्धकी इच्छा करेगा, उस समय मैं अवश्य ही उसके प्रतिकूल अहितकर वचन बोलूँगा, जिससे उसका अभिमान और तेज नष्ट हो जायगा और वह युद्धमें सुखपूर्वक मारा जा सकेगा। पाण्डुनन्दन ! मैं तुमसे यह सत्य कहता हूँ।४७-४८।

एवमेतत् करिष्यामि यथा तात त्वमात्थ माम्।
यच्चान्यदपि शक्ष्यामि तत् करिष्यामि ते प्रियम् ॥ ४९ ॥

तात ! तुम मुझसे जो कुछ कह रहे हो, यह अवश्य पूर्ण करूँगा, इसके सिवा और भी जो कुछ मुझसे हो सकेगा, तुम्हारा वह प्रिय कार्य अवश्य करूँगा ॥ ४९ ॥

यच्च दुःखं त्वया प्राप्तं द्यूते वै कृष्णया सह।
परुषाणि च वाक्यानि सूतपुत्रकृतानि वै ॥ ५० ॥
जटासुरात् परिक्लेशः कीचकाच्च महाद्युते।
द्रौपद्याधिगतं सर्वं दमयन्त्या यथाशुभम् ॥ ५१ ॥
सर्वं दुःखमिदं वीर सुखोदर्कं भविष्यति।
नात्र मन्युस्त्वया कार्यो विधिर्हि बलवत्तरः ॥ ५२ ॥

महातेजस्वी वीरवर युधिष्ठिर ! तुमने द्यूतसभामें द्रौपदीके साथ जो दुःख उठाया है, सूतपुत्र कर्णने तुम्हें जो कठोर बातें सुनायी हैं तथा पूर्वकालमें दमयन्तीने जैसे अशुभ (दुःख) भोगा था, उसी प्रकार द्रौपदीने जटासुर तथा कीचकसे जो महान् क्लेश प्राप्त किया है, यह सभी दुःख भविष्यमें तुम्हारे लिये सुखके रूपमें परिवर्तित हो जायगा। इसके लिये तुम्हें खेद नहीं करना चाहिये; क्योंकि विधाताका विधान अति प्रबल होता है ५०-५२ ॥

दुःखानि हि महात्मानः प्राप्नुवन्ति युधिष्ठिर।
देवैरपि हि दुःखानि प्राप्तानि जगतीपते ॥ ५३ ॥

युधिष्ठिर ! महात्मा पुरुष भी समय-समयपर दुःख पाते हैं । पृथ्वीपते ! देवताओंने भी बहुत दुःख उठाये हैं ॥ ५३ ॥

इन्द्रेण श्रूयते राजन् सभार्येण महात्मना।
अनुभूतं महद् दुःखं देवराजेन भारत ॥ ५४ ॥

भरतवंशी नरेश ! सुना जाता है कि पत्नीसहित महामना देवराज इन्द्रने भी महान् दुःख भोगा है ॥ ५४ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि सेनोद्योगपर्वणि शल्यवाक्ये अष्टमोऽध्यायः ॥ ८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत सेनोद्योगपर्वमें शल्यवाक्यविषयक आठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ८ ॥

नवमोऽध्यायः

इन्द्रके द्वारा त्रिशिराका वध, वृत्रासुरकी उत्पत्ति, उसके साथ इन्द्रका युद्ध तथा देवताओंकी पराजय

युधिष्ठिर उवाच

कथमिन्द्रेण राजेन्द्र सभार्येण महात्मना।
दुःखं प्राप्तं परं घोरमेतदिच्छामि वेदितुम् ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—राजेन्द्र ! पत्नीसहित महामना इन्द्रने कैसे अत्यन्त भयंकर दुःख प्राप्त किया था ? यह मैं जानना चाहता हूँ ॥ १ ॥

शल्य उवाच

शृणु राजन् पुरावृत्तमितिहासं पुरातनम्।
सभार्येण यथा प्राप्तं दुःखमिन्द्रेण भारत ॥ २ ॥

शल्यने कहा—भरतवंशी नरेश ! यह पूर्वकालमें घटित पुरातन इतिहास है। पत्नीसहित इन्द्रने जिस प्रकार महान् दुःख प्राप्त किया था, वह बताता हूँ, सुनो ॥ २ ॥

त्वष्टा प्रजापतिर्ह्यासीद् देवश्रेष्ठो महातपाः।
स पुत्रं वै त्रिशिरसमिन्द्रद्रोहात् किलासृजत् ॥ ३ ॥

त्वष्टा नामसे प्रसिद्ध एक प्रजापति थे, जो देवताओंमें

श्रेष्ठ और महान् तपस्वी माने जाते थे । कहते हैं, उन्होंने इन्द्रके प्रति द्रोहबुद्धि हो जानेके कारण ही एक तीन सिरवाला पुत्र उत्पन्न किया ॥ ३ ॥

ऐन्द्रं स प्रार्थयत् स्थानं विश्वरूपो महाद्युतिः ।
तैस्त्रिभिर्वदनैर्घोरैः सूर्येन्दुज्वलनोपमैः ॥ ४ ॥

उस महातेजस्वी बालकका नाम था विश्वरूप । वह सूर्य, चन्द्रमा तथा अग्निके समान तेजस्वी एवं भयंकर अपने उन तीनों मुखोंद्वारा इन्द्रका स्थान पानेकी प्रार्थना करता था ॥४॥

वेदानेकेन सोऽधीते सुरामेकेन चापिबत् ।
एकेन च दिशः सर्वाः पिबन्निव निरीक्षते ॥ ५ ॥

वह अपने एक मुखसे वेदोंका स्वाध्याय करता, दूसरेसे सुरा पीता और तीसरेसे सम्पूर्ण दिशाओंकी ओर इस प्रकार देखता था, मानो उन्हें पी जायगा ॥ ५ ॥

स तपस्वी मृदुर्दान्तो धर्मे तपसि चोद्यतः ।
तपस्तस्य महत् तीव्रं सुदुश्चरमरिंदम ॥ ६ ॥

शत्रुदमन ! त्वष्टाका वह पुत्र कोमल स्वभाववाला, तपस्वी, जितेन्द्रिय तथा धर्म और तपस्याके लिये सदा उद्यत रहनेवाला था । उसका बड़ा भारी तीव्र तप दूसरोंके लिये अत्यन्त दुष्कर था ॥ ६ ॥

तस्य दृष्ट्वा तपोवीर्यं सत्यं चामिततेजसः ।
विषादमगमच्छक्र इन्द्रोऽयं मा भवेदिति ॥ ७ ॥

उस अमिततेजस्वी बालकका तपोबल तथा सत्य देखकर इन्द्रको बड़ा दुःख हुआ । वे सोचने लगे, 'कहीं यह इन्द्र न हो जाय ॥ ७ ॥

कथं सज्जेच्च भोगेषु न च तप्येन्महत् तपः ।
विवर्धमानस्त्रिशिराः सर्वं हि भुवनं ग्रसेत् ॥ ८ ॥

'क्या उपाय किया जाय, जिससे यह भोगोंमें आसक्त हो जाय और भारी तपस्यामें प्रवृत्त न हो; क्योंकि यह वृद्धिको प्राप्त हुआ त्रिशिरा तीनों लोकोंको अपना ग्रास बना लेगा' ।८।

इति संचिन्त्य बहुधा बुद्धिमान् भरतर्षभ ।
आज्ञापयत् सोऽप्सरसस्त्वष्टृपुत्रप्रलोभने ॥ ९ ॥

भरतश्रेष्ठ ! इस तरह बहुत सोच-विचार करके बुद्धिमान् इन्द्रने त्वष्टाके पुत्रको लुभानेके लिये अप्सराओंको आज्ञा दी— ॥ ९ ॥

यथा स सज्जेत् त्रिशिराः कामभोगेषु वै भृशम् ।
क्षिप्रं कुरुत गच्छध्वं प्रलोभयत मा चिरम् ॥ १० ॥

'अप्सराओ ! जिस प्रकार त्रिशिरा कामभोगोंमें अत्यन्त आसक्त हो जाय, शीघ्र वैसा ही यत्न करो । जाओ, उसे लुभाओ, विलम्ब न करो ॥ १० ॥

शृङ्गारवेषाः सुश्रोण्यो हारैर्युक्ता मनोहरैः ।
हावभावसमायुक्ताः सर्वाः सौन्दर्यशोभिताः ॥ ११ ॥
प्रलोभयत भद्रं वः शमयध्वं भयं मम ।
अस्वस्थं ह्यात्मनाऽऽत्मानं लक्षयामि वराङ्गनाः ।
भयं तन्मे महाघोरं क्षिप्रं नाशयताबलाः ॥ १२ ॥

'सुन्दरियो ! तुम सब शृङ्गारके अनुरूप वेष धारण करके मनोहर हारोंसे विभूषित, हाव-भावसे संयुक्त तथा सौन्दर्यसे सुशोभित हो विश्वरूपको लुभाओ । तुम्हारा कल्याण हो, मेरे भयको शान्त करो । वराङ्गनाओ ! मैं अपने आपको अस्वस्थचित्त देख रहा हूँ, अतः अबलाओ ! तुम मेरे इस अत्यन्त घोर भयका शीघ्र निवारण करो' ॥ ११-१२ ॥

अप्सरस ऊचुः

तथा यत्नं करिष्यामः शक्र तस्य प्रलोभने ।
यथा नावाप्स्यसि भयं तस्माद् बलनिषूदन ॥ १३ ॥

अप्सराएँ बोलीं—शक्र ! बलनिषूदन ! हमलोग विश्वरूपको लुभानेके लिये ऐसा यत्न करेंगी, जिससे उनकी ओरसे आपको कोई भय नहीं प्राप्त होगा ॥ १३ ॥

निर्दहन्निव चक्षुर्भ्यां योऽसावास्ते तपोनिधिः ।
तं प्रलोभयितुं देव गच्छामः सहिता वयम् ॥ १४ ॥
यतिष्यामो वशे कर्तुं व्यपनेतुं च ते भयम् ।

देव ! जो तपोनिधि विश्वरूप अपने दोनों नेत्रोंसे सबको दग्ध करते हुए-से विराज रहे हैं, उन्हें प्रलोभनमें डालनेके लिये हम सब अप्सराएँ एक साथ जा रही हैं । वहाँ उन्हें वशमें करने तथा आपके भयको दूर हटानेके लिये हम पूर्ण प्रयत्न करेंगी ॥ १४½ ॥

शल्य उवाच

इन्द्रेण तास्त्वनुज्ञाता जग्मुस्त्रिशिरसोऽन्तिकम् ।
तत्र ता विविधैर्भावैर्लोभयन्त्यो वराङ्गनाः ॥ १५ ॥
नित्यं संदर्शयामासुस्तथैवाङ्गेषु सौष्ठवम् ।
नाभ्यगच्छत् प्रहर्षं ताः स पश्यन् सुमहातपाः ॥ १६ ॥
इन्द्रियाणि वशे कृत्वा पूर्वसागरसंनिभः ।

शल्य बोले—राजन् ! इन्द्रकी आज्ञा पाकर वे सब अप्सराएँ त्रिशिराके समीप गयीं । वहाँ उन



सुन्दरियोंने भाँति-भाँतिके हाव-भावोंद्वारा उन्हें लुभानेका प्रयत्न किया तथा प्रतिदिन विश्वरूपको अपने अङ्गोंके सौन्दर्यका दर्शन कराया। तथापि वे महातपस्वी महर्षि उन सबको देखते हुए हर्ष आदि विकारोंको नहीं प्राप्त हुए; अपितु वे इन्द्रियोंको वशमें करके पूर्वसागरके समान शान्तभावसे बैठे रहे ॥ १५-१६½ ॥

तास्तु यत्नं परं कृत्वा पुनः शक्रमुपस्थिताः ॥ १७ ॥
कृताञ्जलिपुटाः सर्वा देवराजमथाब्रुवन्।
न स शक्यः सुदुर्धर्षो धैर्याच्चालयितुं प्रभो ॥ १८ ॥
यत् ते कार्यं महाभाग क्रियतां तदनन्तरम्।

वे सब अप्सराएँ (त्रिशिराको विचलित करनेका) पूरा प्रयत्न करके पुनः देवराज इन्द्रकी सेवामें उपस्थित हुईं और हाथ जोड़कर बोलीं—'प्रभो ! वे त्रिशिरा बड़े दुर्धर्ष तपस्वी हैं, उन्हें धैर्यसे विचलित नहीं किया जा सकता। महाभाग ! अब आपको जो कुछ करना हो, उसे कीजिये' ॥ १७–१८½ ॥

सम्पूज्याप्सरसः शक्रो विसृज्य च महामतिः ॥ १९ ॥
चिन्तयामास तस्यैव वधोपायं युधिष्ठिर।

युधिष्ठिर ! तब परम बुद्धिमान् इन्द्रने अप्सराओंका आदर-सत्कार करके उन्हें विदा कर दिया और वे त्रिशिराके वधका उपाय सोचने लगे ॥ १९½ ॥

स तूष्णीं चिन्तयन् वीरो देवराजः प्रतापवान् ॥ २० ॥
विनिश्चितमतिर्धीमान् वधे त्रिशिरसोऽभवत्।

प्रतापी वीर बुद्धिमान् देवराज इन्द्र चुपचाप सोचते हुए त्रिशिराके वधके विषयमें एक निश्चयपर पहुँच गये ॥ २०½ ॥

वज्रमस्य क्षिपाम्यद्य स क्षिप्रं न भविष्यति ॥ २१ ॥
शत्रुः प्रवृद्धो नोपेक्ष्यो दुर्बलोऽपि बलीयसा।

(उन्होंने सोचा—) 'आज मैं त्रिशिरापर वज्रका प्रहार करूँगा; जिससे वह तत्काल नष्ट हो जायगा। बलवान् पुरुषको दुर्बल होनेपर भी बढ़ते हुए अपने शत्रुकी उपेक्षा नहीं करनी चाहिये' ॥ २१½ ॥

शास्त्रबुद्ध्या विनिश्चित्य कृत्वा बुद्धिं वधे दृढाम् ॥ २२ ॥
अथ वैश्वानरनिभं घोररूपं भयावहम्।
मुमोच वज्रं संक्रुद्धः शक्रस्त्रिशिरसं प्रति ॥ २३ ॥
स पपात हतस्तेन वज्रेण दृढमाहतः।
पर्वतस्येव शिखरं प्रणुन्नं मेदिनीतले ॥ २४ ॥

शास्त्रयुक्त बुद्धिसे त्रिशिराके वधका दृढ़ निश्चय करके क्रोधमें भरे हुए इन्द्रने अग्निके समान तेजस्वी, घोर एवं भयंकर वज्रको त्रिशिराकी ओर चला दिया। उस वज्रकी गहरी चोट खाकर त्रिशिरा मरकर पृथ्वीपर गिर पड़े, मानो वज्रके आघातसे टूटा हुआ पर्वतका शिखर भूतलपर पड़ा हो ॥ २२–२४ ॥

तं तु वज्रहतं दृष्ट्वा शयानमचलोपमम्।
न शर्म लेभे देवेन्द्रो दीपितस्तस्य तेजसा ॥ २५ ॥

त्रिशिराको वज्रके प्रहारसे प्राणशून्य होकर पर्वतकी भाँति पृथ्वीपर पड़ा देखकर भी देवराज इन्द्रको शान्ति नहीं मिली। वे उनके तेजसे संतप्त हो रहे थे ॥ २५ ॥

हतोऽपि दीप्ततेजाः स जीवन्निव हि दृश्यते।
घातितस्य शिरांस्याजौ जीवन्तीवाद्भुतानि वै ॥ २६ ॥

क्योंकि वे मारे जानेपर भी अपने तेजसे उद्दीप्त होकर जीवित-से दिखायी देते थे। युद्धमें मारे हुए त्रिशिराके तीनों सिर जीते-जागते-से अद्भुत प्रतीत हो रहे थे ॥ २६ ॥

ततोऽतिभीतगात्रस्तु शक्र आस्ते विचारयन्।
अथाजगाम परशुं स्कन्धेनादाय वर्धकिः ॥ २७ ॥

इससे अत्यन्त भयभीत हो इन्द्र भारी सोच-विचारमें पड़ गये। इसी समय एक बढ़ई कंधेपर कुल्हाड़ी लिये उधर आ निकला ॥ २७ ॥

तदरण्यं महाराज यत्रास्तेऽसौ निपातितः।
स भीतस्तत्र तक्षाणं घटमानं शचीपतिः ॥ २८ ॥
अपश्यदब्रवीच्चैनं सत्वरं पाकशासनः।
क्षिप्रं छिन्धि शिरांस्यस्य कुरुष्व वचनं मम ॥ २९ ॥

महाराज ! वह बढ़ई उसी वनमें आया, जहाँ त्रिशिराको मार गिराया गया था। डरे हुए शचीपति इन्द्रने वहाँ अपना काम करते हुए बढ़ईको देखा। देखते ही पाकशासन इन्द्रने तुरंत उससे कहा—'बढ़ई ! तू शीघ्र इस शवके तीनों

मस्तकोंके टुकड़े-टुकड़े कर दे। मेरी इस आज्ञाका पालन कर' ॥ २८-२९ ॥

तक्षोवाच

महास्कन्धो भृशं ह्येष परशुर्न भविष्यति।
कर्तुं चाहं न शक्ष्यामि कर्म सद्भिर्विगर्हितम् ॥ ३० ॥

बढ़ईने कहा—इसके कंधे तो बड़े भारी और विशाल हैं। मेरी यह कुल्हाड़ी इसपर काम नहीं देगी और इस प्रकार किसी प्राणीकी हत्या करना तो साधु पुरुषों-द्वारा निन्दित पापकर्म है, अतः मैं इसे नहीं कर सकूँगा ॥ ३० ॥

इन्द्र उवाच

मा भैस्त्वं शीघ्रमेतद् वै कुरुष्व वचनं मम।
मत्प्रसादाद्धि ते शस्त्रं वज्रकल्पं भविष्यति ॥ ३१ ॥

इन्द्रने कहा—बढ़ई ! तू भय न कर। शीघ्र मेरी इस आज्ञाका पालन कर। मेरे प्रसादसे तेरी यह कुल्हाड़ी वज्रके समान हो जायगी ॥ ३१ ॥

तक्षोवाच

कं भवन्तमहं विद्यां घोरकर्माणमद्य वै।
एतदिच्छाम्यहं श्रोतुं तत्त्वेन कथयस्व मे ॥ ३२ ॥

बढ़ईने पूछा—आज इस प्रकार भयानक कर्म करने-वाले आप कौन हैं, यह मैं कैसे समझूँ ? मैं आपका परिचय सुनना चाहता हूँ। यह यथार्थरूपसे बताइये ॥ ३२ ॥

इन्द्र उवाच

अहमिन्द्रो देवराजस्तक्षन् विदितमस्तु ते।
कुरुष्वैतद् यथोक्तं मे तक्षन् मात्र विचारय ॥ ३३ ॥

इन्द्रने कहा—बढ़ई ! तुझे मालूम होना चाहिये कि मैं देवराज इन्द्र हूँ। मैंने जो कुछ कहा है, उसे शीघ्र पूरा कर। इस विषयमें कुछ विचार न कर ॥ ३३ ॥

तक्षोवाच

क्रूरेण नापत्रपसे कथं शक्रेह कर्मणा।
ऋषिपुत्रमिमं हत्वा ब्रह्महत्याभयं न ते ॥ ३४ ॥

बढ़ईने कहा—देवराज ! इस क्रूर कर्मसे आपको यहाँ लज्जा कैसे नहीं आती है ? इस ऋषिकुमारकी हत्या करनेसे जो ब्रह्महत्याका पाप लगेगा, क्या उसका भय आपको नहीं है ? ॥ ३४ ॥

शक्र उवाच

पश्चाद् धर्मं चरिष्यामि पावनार्थं सुदुश्चरम्।
शत्रुरेष महावीर्यो वज्रेण निहतो मया ॥ ३५ ॥

इन्द्रने कहा—यह मेरा महान् शक्तिशाली शत्रु था, जिसे मैंने वज्रसे मार डाला है। इसके बाद ब्रह्महत्यासे अपनी शुद्धि करनेके लिये मैं किसी ऐसे धर्मका अनुष्ठान करूँगा, जो दूसरोंके लिये अत्यन्त दुष्कर हो ॥ ३५ ॥

अद्यापि चाहमुद्विग्नस्तक्षन्नस्माद् बिभेमि वै।
क्षिप्रं छिन्धि शिरांसि त्वं करिष्येऽनुग्रहं तव ॥ ३६ ॥

बढ़ई ! यद्यपि यह मारा गया है, तो भी अभीतक मुझे इसका भय बना हुआ है। तू शीघ्र इसके मस्तकोंके टुकड़े-टुकड़े कर दे। मैं तेरे ऊपर अनुग्रह करूँगा ॥ ३६ ॥

शिरः पशोस्ते दास्यन्ति भागं यज्ञेषु मानवाः।
एष तेऽनुग्रहस्तक्षन् क्षिप्रं कुरु मम प्रियम् ॥ ३७ ॥

मनुष्य हिंसाप्रधान तामस यज्ञोंमें पशुका सिर तेरे भागके रूपमें देंगे। बढ़ई ! यह तेरे ऊपर मेरा अनुग्रह है। अब तू जल्दी मेरा प्रिय कार्य कर ॥ ३७ ॥

शल्य उवाच

एतच्छ्रुत्वा तु तक्षा स महेन्द्रवचनात् तदा।
शिरांस्यथ त्रिशिरसः कुठारेणाच्छिनत् तदा ॥ ३८ ॥

शल्य कहते हैं—राजन् ! यह सुनकर बढ़ईने उस समय महेन्द्रकी आज्ञाके अनुसार कुठारसे त्रिशिराके तीनों सिरोंके टुकड़े-टुकड़े कर दिये ॥ ३८ ॥

निकृत्तेषु ततस्तेषु निष्क्रामन्नण्डजास्त्वथ।
कपिञ्जलास्तित्तिराश्च कलविङ्काश्च सर्वशः ॥ ३९ ॥

कट जानेपर उनके अंदरसे तीन प्रकारके पक्षी बाहर निकले, कपिञ्जल, तीतर और गौरैये ॥ ३९ ॥

येन वेदानधीते स्म पिबते सोममेव च।
तस्माद् वक्त्राद् विनिश्चेरुः क्षिप्रं तस्य कपिञ्जलाः ॥ ४० ॥

जिस मुखसे वे वेदोंका पाठ करते तथा केवल सोमरस पीते थे, उससे शीघ्रतापूर्वक कपिञ्जल पक्षी बाहर निकले थे ॥ ४० ॥

येन सर्वा दिशो राजन् पिबन्निव निरीक्षते।
तस्माद् वक्त्राद् विनिश्चेरुस्तित्तिरास्तस्य पाण्डव ॥ ४१ ॥

युधिष्ठिर ! जिसके द्वारा वे सम्पूर्ण दिशाओंको इस प्रकार देखते थे, मानो पी जायँगे, उस मुखसे तीतर पक्षी निकले ॥ ४१ ॥

यत् सुरापं तु तस्यासीद् वक्त्रं त्रिशिरसस्तदा।
कलविङ्काः समुत्पेतुः श्येनाश्च भरतर्षभ ॥ ४२ ॥

भरतश्रेष्ठ ! त्रिशिराका जो मुख सुरापान करनेवाला था उससे गौरैये तथा बाज नामक पक्षी प्रकट हुए ॥ ४२ ॥

ततस्तेषु निकृत्तेषु विज्वरो मघवानथ।
जगाम त्रिदिवं हृष्टस्तक्षापि स्वगृहान् ययौ ॥ ४३ ॥

उन तीनों सिरोंके कट जानेपर इन्द्रकी मानसिक चिन्ता दूर हो गयी। वे प्रसन्न होकर स्वर्गको लौट गये तथा बढ़ई भी अपने घर चला गया ॥ ४३ ॥

(तक्षापि स्वगृहं गत्वा नैव शंसति कस्यचित्।
अथैनं नाभिजानन्ति वर्षमेकं तथागतम् ॥
अथ संवत्सरे पूर्णे भूताः पशुपतेः प्रभो।
समाक्रोशन्त मघवान् नः प्रभुर्ब्रह्महा इति ॥
तत इन्द्रो व्रतं घोरमाचरत् पाकशासनः।
तपसा च स संयुक्तः सह देवैर्मरुद्गणैः ॥
समुद्रेषु पृथिव्यां च वनस्पतिषु स्त्रीषु च।
विभज्य ब्रह्महत्यां च तान् वरैरप्ययोजयत् ॥
वरदस्तु वरं दत्त्वा पृथिव्यै सागराय च।
वनस्पतिभ्यः स्त्रीभ्यश्च ब्रह्महत्यां नुनोद ताम् ॥
ततस्तु शुद्धो भगवान् देवैर्लोकैश्च पूजितः।
इन्द्रस्थानमुपातिष्ठत् पूज्यमानो महर्षिभिः ॥)

उस बढ़ईने भी अपने घर जाकर किसीसे कुछ नहीं कहा। तदनन्तर इन्द्रने ऐसा काम किया है, यह एक वर्ष-तक किसीको मालूम नहीं हुआ। युधिष्ठिर ! वर्ष पूर्ण होनेपर भगवान् पशुपतिके भूतगण यह हल्ला मचाने लगे कि हमारे स्वामी इन्द्र ब्रह्महत्यारे हैं। तब पाकशासन इन्द्रने ब्रह्महत्यासे मुक्ति पानेके लिये कठिन व्रतका आचरण किया। वे देवताओं तथा मरुद्गणोंके साथ तपस्यामें संलग्न हो गये। उन्होंने समुद्र, पृथ्वी, वृक्ष तथा स्त्रीसमुदायको अपनी ब्रह्महत्या बाँटकर उन सबको अभीष्ट वरदान दिया। इस प्रकार वरदायक इन्द्रने पृथ्वी, समुद्र, वनस्पति तथा स्त्रियोंको वर देकर उस ब्रह्महत्याको दूर किया। तदनन्तर शुद्ध होकर भगवान् इन्द्र देवताओं, मनुष्यों तथा महर्षियोंसे पूजित होते हुए अपने इन्द्रपदपर आसीन हुए ॥

मेने कृतार्थमात्मानं हत्वा शत्रुं सुरारिहा।
त्वष्टा प्रजापतिः श्रुत्वा शक्रेणाथ हतं सुतम् ॥ ४४ ॥
क्रोधसंरक्तनयन इदं वचनमब्रवीत्।

दैत्योंका संहार करनेवाले इन्द्रने शत्रुको मारकर अपने आपको कृतार्थ माना। इधर त्वष्टा प्रजापतिने जब यह सुना कि इन्द्रने मेरे पुत्रको मार डाला है, तब उनकी आँखें क्रोधसे लाल हो गयीं और वे इस प्रकार बोले ॥ ४४½ ॥

त्वष्टोवाच

तप्यमानं तपो नित्यं क्षान्तं दान्तं जितेन्द्रियम्।
विनापराधेन यतः पुत्रं हिंसितवान् मम ॥ ४५ ॥

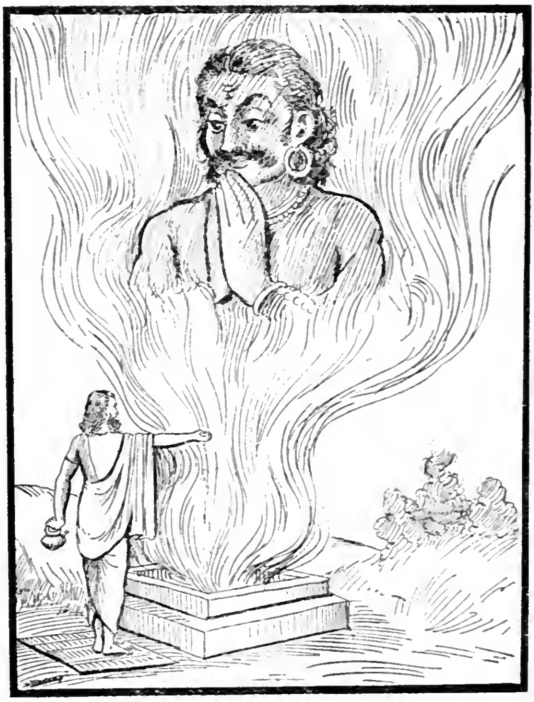
त्वष्टाने कहा—मेरा पुत्र सदा क्षमाशील, संयमी और जितेन्द्रिय रहकर तपस्यामें लगा हुआ था, तो भी इन्द्रने बिना किसी अपराधके उसकी हत्या की है ॥ ४५ ॥

तस्माच्छक्रविनाशाय वृत्रमुत्पादयाम्यहम्।
लोकाः पश्यन्तु मे वीर्यं तपसश्च बलं महत् ॥ ४६ ॥

अतः मैं भी देवेन्द्रके विनाशके लिये वृत्रासुरको उत्पन्न करूँगा। आज संसारके लोग मेरा पराक्रम तथा मेरी तपस्याका महान् बल देखें ॥ ४६ ॥

स च पश्यतु देवेन्द्रो दुरात्मा पापचेतनः।
उपस्पृश्य ततः क्रुद्धस्तपस्वी सुमहायशाः ॥ ४७ ॥
अग्नौ हुत्वा समुत्पाद्य घोरं वृत्रमुवाच ह।
इन्द्रशत्रो विवर्धस्व प्रभावात् तपसो मम ॥ ४८ ॥

साथ ही वह पापात्मा और दुरात्मा देवेन्द्र भी मेरा महान् तपोबल देख ले। ऐसा कहकर क्रोधमें भरे हुए तपस्वी एवं महायशस्वी त्वष्टाने आचमन करके अग्निमें आहुति दे घोर रूपवाले वृत्रासुरको उत्पन्न करके उससे कहा—'इन्द्र-



शत्रो ! तू मेरी तपस्याके प्रभावसे खूब बढ़ जा' ॥ ४७-४८ ॥

सोऽवर्धत दिवं स्तब्ध्वा सूर्यवैश्वानरोपमः।
किं करोमीति चोवाच कालसूर्य इवोदितः ॥ ४९ ॥

उनके इतना कहते ही सूर्य और अग्निके समान तेजस्वी वृत्रासुर सारे आकाशको आक्रान्त करके बहुत बड़ा हो गया। वह ऐसा जान पड़ता था, मानो प्रलयकालका सूर्य उदित हुआ हो। उसने पूछा—'पिताजी ! मैं क्या करूँ ?' ॥४९॥

शक्रं जहीति चाप्युक्तो जगाम त्रिदिवं ततः।
ततो युद्धं समभवद् वृत्रवासवयोर्महत् ॥ ५० ॥

तब त्वष्टाने कहा—'इन्द्रको मार डालो।' उनके ऐसा कहनेपर वृत्रासुर स्वर्गलोकमें गया। तदनन्तर वृत्रासुर तथा इन्द्रमें बड़ा भारी युद्ध छिड़ गया ॥ ५० ॥

संक्रुद्धयोर्महाघोरं प्रसक्तं कुरुसत्तम।
ततो जग्राह देवेन्द्रं वृत्रो वीरः शतक्रतुम् ॥ ५१ ॥

अपावृत्याक्षिपद् वक्त्रे शक्रं कोपसमन्वितः।
ग्रस्ते वृत्रेण शक्रे तु सम्भ्रान्तास्त्रिदिवेश्वराः ॥ ५२ ॥

कुरुश्रेष्ठ ! वे दोनों क्रोधमें भरे हुए थे। उनमें अत्यन्त घोर संग्राम होने लगा। तदनन्तर कुपित हुए वीर वृत्रासुरने शतक्रतु इन्द्रको पकड़ लिया और मुँह बाकर उन्हें उसके भीतर डाल लिया। वृत्रासुरके द्वारा इन्द्रके ग्रस लिये जानेपर सम्पूर्ण श्रेष्ठ देवता घबरा गये ॥ ५१-५२ ॥

असृजंस्ते महासत्त्वा जृम्भिकां वृत्रनाशिनीम्।
विजृम्भमाणस्य ततो वृत्रस्यास्यादपावृतात् ॥ ५३ ॥
स्वान्यङ्गान्यभिसंक्षिप्य निष्क्रान्तो बलनाशनः।
ततः प्रभृति लोकस्य जृम्भिका प्राणसंश्रिता ॥ ५४ ॥

तब उन महासत्त्वशाली देवताओंने जँभाईकी सृष्टि की, जो वृत्रासुरका नाश करनेवाली थी। जँभाई लेते समय जब वृत्रासुरने अपना मुख फैलाया, तब बलनाशक इन्द्र अपने अङ्गोंको समेटकर बाहर निकल आये। तभीसे सब लोगोंके प्राणोंमें जृम्भाशक्तिका निवास हो गया ॥ ५३-५४ ॥

जहृषुश्च सुराः सर्वे शक्रं दृष्ट्वा विनिःसृतम्।
ततः प्रववृते युद्धं वृत्रवासवयोः पुनः ॥ ५५ ॥

इन्द्रको उसके मुखसे निकला हुआ देख सब देवता बड़े प्रसन्न हुए। तदनन्तर वृत्रासुर तथा इन्द्रमें पुनः युद्ध होने लगा ॥ ५५ ॥

संरब्धयोस्तदा घोरं सुचिरं भरतर्षभ।
यदा व्यवर्धत रणे वृत्रो बलसमन्वितः ॥ ५६ ॥
त्वष्टुस्तेजोबलाविद्धस्तदा शक्रो न्यवर्तत।
निवृत्ते च तदा देवा विषादमगमन् परम् ॥ ५७ ॥

भरतश्रेष्ठ ! क्रोधमें भरे हुए उन दोनों वीरोंका वह भयानक संग्राम बहुत देरतक चलता रहा। वृत्रासुर त्वष्टाके तेज और बलसे व्याप्त हो जब युद्धमें अधिक बलशाली हो बढ़ने लगा, तब इन्द्र युद्धसे विमुख हो गये। इन्द्रके विमुख होनेपर सब देवताओंको बड़ा दुःख हुआ ॥ ५६-५७ ॥

समेत्य सह शक्रेण त्वष्टुस्तेजोविमोहिताः।
आमन्त्रयन्त ते सर्वे मुनिभिः सह भारत ॥ ५८ ॥
किं कार्यमिति वै राजन् विचिन्त्य भयमोहिताः।
जग्मुः सर्वे महात्मानं मनोभिर्विष्णुमव्ययम्।
उपविष्टा मन्दराग्रे सर्वे वृत्रवधेप्सवः ॥ ५९ ॥

भारत ! त्वष्टाके तेजसे मोहित हुए सब देवता देवराज इन्द्र तथा ऋषियोंसे मिलकर सलाह करने लगे कि अब हमें क्या करना चाहिये ? राजन् ! भयसे मोहित हुए सब देवता बहुत देरतक सोच-विचार करके मन-ही-मन अविनाशी परमात्मा भगवान् विष्णुकी शरणमें गये और वे वृत्रासुरके वधकी इच्छासे मन्दराचलके शिखरपर ध्यानस्थ होकर बैठ गये ॥ ५८-५९ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि सेनोद्योगपर्वणि इन्द्रविजये नवमोऽध्यायः ॥ ९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत सेनोद्योगपर्वमें इन्द्रविषयक नवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ९ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ६ श्लोक मिलाकर कुल ६५ श्लोक हैं)

दशमोऽध्यायः

इन्द्रसहित देवताओंका भगवान् विष्णुकी शरणमें जाना और इन्द्रका उनके आज्ञानुसार वृत्रासुरसे संधि करके अवसर पाकर उसे मारना एवं ब्रह्महत्याके भयसे जलमें छिपना

इन्द्र उवाच

सर्वं व्याप्तमिदं देवा वृत्रेण जगदव्ययम्।
न ह्यस्य सदृशं किंचित् प्रतिघाताय यद् भवेत् ॥ १ ॥

इन्द्र बोले—देवताओ ! वृत्रासुरने इस सम्पूर्ण जगत्को आक्रान्त कर लिया है। इसके योग्य कोई ऐसा अस्त्र-शस्त्र नहीं है, जो इसका विनाश कर सके ॥ १ ॥

समर्थो ह्यभवं पूर्वमसमर्थोऽस्मि साम्प्रतम्।
कथं नु कार्यं भद्रं वो दुर्धर्षः स हि मे मतः ॥ २ ॥

पहले मैं सब प्रकारसे सामर्थ्यशाली था; किंतु इस समय असमर्थ हो गया हूँ। आपलोगोंका कल्याण हो। बताइये, कैसे क्या काम करना चाहिये ? मुझे तो वृत्रासुर दुर्जय प्रतीत हो रहा है ॥ २ ॥

तेजस्वी च महात्मा च युद्धे चामितविक्रमः।
ग्रसेत् त्रिभुवनं सर्वं सदेवासुरमानुषम् ॥ ३ ॥

वह तेजस्वी और महाकाय है। युद्धमें उसके बल-पराक्रमकी कोई सीमा नहीं है। वह चाहे तो देवता, असुर और मनुष्योंसहित सम्पूर्ण त्रिलोकीको अपना ग्रास बना सकता है ॥ ३ ॥

तस्माद् विनिश्चयमिमं शृणुध्वं त्रिदिवौकसः।
विष्णोः क्षयमुपागम्य समेत्य च महात्मना।
तेन सम्मन्त्र्य वेत्स्यामो वधोपायं दुरात्मनः ॥ ४ ॥

अतः देवताओ ! इस विषयमें मेरे इस निश्चयको सुनो। हमलोग भगवान् विष्णुके धाममें चलें और उन परमात्मासे मिलकर उन्हींसे सलाह करके उस दुरात्माके वधका उपाय जानें ॥ ४ ॥

शल्य उवाच

एवमुक्ते मघवता देवाः सर्षिगणास्तदा।
शरण्यं शरणं देवं जग्मुर्विष्णुं महाबलम्॥ ५ ॥

शल्य बोले—राजन्! इन्द्रके ऐसा कहनेपर ऋषियों-सहित सम्पूर्ण देवता सबके शरणदाता अत्यन्त बलशाली भगवान् विष्णुकी शरणमें गये ॥ ५ ॥

ऊचुश्च सर्वे देवेशं विष्णुं वृत्रभयार्दिताः।
त्रयो लोकास्त्वया क्रान्तास्त्रिभिर्विक्रमणैः पुरा॥ ६ ॥

वे सबके सब वृत्रासुरके भयसे पीड़ित थे। उन्होंने देवेश्वर भगवान् विष्णुसे इस प्रकार कहा—'प्रभो! आपने पूर्वकालमें अपने तीन डगोंद्वारा सम्पूर्ण त्रिलोकीको माप लिया था ॥६॥



अमृतं चाहृतं विष्णो दैत्याश्च निहता रणे।
बलिं बद्ध्वा महादैत्यं शक्रो देवाधिपः कृतः॥ ७ ॥

'विष्णो! आपने ही (मोहिनी अवतार धारण करके) दैत्योंके हाथसे अमृत छीना एवं युद्धमें उन सबका संहार किया तथा महादैत्य बलिको बाँधकर इन्द्रको देवताओंका राजा बनाया ॥ ७ ॥

त्वं प्रभुः सर्वदेवानां त्वया सर्वमिदं ततम्।
त्वं हि देवो महादेव सर्वलोकनमस्कृतः॥ ८ ॥

'आप ही सम्पूर्ण देवताओंके स्वामी हैं। आपसे ही यह समस्त चराचर जगत् व्याप्त है। महादेव! आप ही अखिल-विश्ववन्दित देवता हैं ॥ ८ ॥

गतिर्भव त्वं देवानां सेन्द्राणाममरोत्तम।
जगद् व्याप्तमिदं सर्वं वृत्रेणासुरसूदन॥ ९ ॥

सुरश्रेष्ठ! आप इन्द्रसहित सम्पूर्ण देवताओंके आश्रय हों। असुरसूदन! वृत्रासुरने इस सम्पूर्ण जगत्को आक्रान्त कर लिया है ॥ ९ ॥

विष्णुरुवाच

अवश्यं करणीयं मे भवतां हितमुत्तमम्।
तस्मादुपायं वक्ष्यामि यथासौ न भविष्यति॥ १० ॥

भगवान् विष्णु बोले—देवताओ! मुझे तुमलोगोंका उत्तम हित अवश्य करना है। अतः तुम सबको एक उपाय बताऊँगा, जिससे वृत्रासुरका अन्त होगा ॥ १० ॥

गच्छध्वं सर्षिगन्धर्वा यत्रासौ विश्वरूपधृक्।
साम तस्य प्रयुञ्जध्वं तत एनं विजेष्यथ॥ ११ ॥

तुमलोग ऋषियों और गन्धर्वोंके साथ वहीं जाओ, जहाँ विश्वरूपधारी वृत्रासुर विद्यमान है। तुमलोग उसके साथ संधि कर लो, तभी उसे जीत सकोगे ॥ ११ ॥

भविष्यति जयो देवाः शक्रस्य मम तेजसा।
अदृश्यश्च प्रवेक्ष्यामि वज्रे ह्यस्यायुधोत्तमे॥ १२ ॥

देवताओ! मेरे तेजसे इन्द्रकी विजय होगी। मैं इनके उत्तम आयुध वज्रमें अदृश्यभावसे प्रवेश करूँगा ॥ १२ ॥

गच्छध्वमृषिभिः सार्धं गन्धर्वैश्च सुरोत्तमाः।
वृत्रस्य सह शक्रेण सन्धिं कुरुत मा चिरम्॥ १३ ॥

देवेश्वरगण! तुमलोग ऋषियों तथा गन्धर्वोंके साथ जाओ और इन्द्रके साथ वृत्रासुरकी संधि कराओ। इसमें विलम्ब न करो ॥ १३ ॥

शल्य उवाच

एवमुक्ते तु देवेन ऋषयस्त्रिदशास्तथा।
ययुः समेत्य सहिताः शक्रं कृत्वा पुरःसरम्॥ १४ ॥

शल्य कहते हैं—राजन्! भगवान् विष्णुके ऐसा कहनेपर ऋषि तथा देवता एक साथ मिलकर देवेन्द्रको आगे करके वृत्रासुरके पास गये ॥ १४ ॥

समीपमेत्य च यदा सर्व एव महौजसः।
तं तेजसा प्रज्वलितं प्रतपन्तं दिशो दश॥ १५ ॥
ग्रसन्तमिव लोकांस्त्रीन् सूर्याचन्द्रमसौ यथा।
ददृशुस्ते ततो वृत्रं शक्रेण सह देवताः॥ १६ ॥

समस्त महाबली देवता जब वृत्रासुरके समीप आये, तब वह अपने तेजसे प्रज्वलित होकर दसों दिशाओंको तपा रहा था, मानो सूर्य और चन्द्रमा अपना प्रकाश बिखेर रहे हों। इन्द्रके साथ सम्पूर्ण देवताओंने वृत्रासुरको देखा। वह ऐसा जान पड़ता था, मानो तीनों लोकोंको अपना ग्रास बना लेगा ॥

ऋषयोऽथ ततोऽभ्येत्य वृत्रमूचुः प्रियं वचः ।
व्याप्तं जगदिदं सर्वं तेजसा तव दुर्जय ॥ १७ ॥

उस समय वृत्रासुरके पास आकर ऋषियोंने उससे यह प्रिय वचन कहा—'दुर्जय वीर ! तुम्हारे तेजसे यह सारा जगत् व्याप्त हो रहा है ॥ १७ ॥

न च शक्नोषि निर्जेतुं वासवं बलिनां वर ।
युध्यतोश्चापि वां कालो व्यतीतः सुमहानिह ॥ १८ ॥

'बलवानोंमें श्रेष्ठ वृत्र ! इतनेपर भी तुम इन्द्रको जीत नहीं सकते । तुम दोनोंको युद्ध करते बहुत समय बीत गया है ॥ १८ ॥

पीड्यन्ते च प्रजाः सर्वाः सदेवासुरमानुषाः ।
सख्यं भवतु ते वृत्र शक्रेण सह नित्यदा ॥ १९ ॥

'देवता, असुर तथा मनुष्योंसहित सारी प्रजा इस युद्धसे पीड़ित हो रही है । अतः वृत्रासुर ! हम चाहते हैं कि इन्द्रके साथ तुम्हारी सदाके लिये मैत्री हो जाय ॥ १९ ॥

अवाप्स्यसि सुखं त्वं च शक्रलोकांश्च शाश्वतान् ।
ऋषिवाक्यं निशम्याथ वृत्रः स तु महाबलः ॥ २० ॥
उवाच तानृषीन् सर्वान् प्रणम्य शिरसासुरः ।
सर्वे यूयं महाभागा गन्धर्वाश्चैव सर्वशः ॥ २१ ॥
यद् ब्रूथ तच्छ्रुतं सर्वं ममापि शृणुतानघाः ।
संधिः कथं वै भविता मम शक्रस्य चोभयोः ।
तेजसोर्हि द्वयोर्देवाः सख्यं वै भविता कथम् ॥ २२ ॥

'इससे तुम्हें सुख मिलेगा और इन्द्रके सनातन लोकोंपर भी तुम्हारा अधिकार रहेगा ।' ऋषियोंकी यह बात सुनकर महाबली वृत्रासुरने उन सबको मस्तक झुकाकर प्रणाम किया और इस प्रकार कहा—'महाभाग देवताओ ! महर्षियो तथा गन्धर्वो ! आप सब लोग जो कुछ कह रहे हैं, वह सब मैंने सुन लिया । निष्पाप देवगण ! अब मेरी भी बात आपलोग सुनें । मुझमें और इन्द्रमें संधि कैसे होगी ? दो तेजस्वी पुरुषोंमें मैत्रीका सम्बन्ध किस प्रकार स्थापित होगा ?' ॥ २०—२२ ॥

ऋषय ऊचुः

सकृत् सतां संगतं लिप्सितव्यं
ततः परं भविता भव्यमेव ।
नातिक्रामेत् सत्पुरुषेण संगतं
तस्मात् सतां संगतं लिप्सितव्यम् ॥ २३ ॥

ऋषि बोले—एक बार साधु पुरुषोंकी संगतिकी अभिलाषा अवश्य रखनी चाहिये । साधु पुरुषोंका सङ्ग प्राप्त होनेपर उससे परम कल्याण ही होगा । साधु पुरुषोंके सङ्गकी अवहेलना नहीं करनी चाहिये । अतः संतोंका सङ्ग मिलनेकी अवश्य इच्छा करे ॥ २३ ॥

दृढं सतां संगतं चापि नित्यं
ब्रूयाच्चार्थं ह्यर्थकृच्छ्रेषु वीरः ।
महार्थवत् सत्पुरुषेण संगतं
तस्मात् सन्तं न जिघांसेत धीरः ॥ २४ ॥

सज्जनोंका सङ्ग सुदृढ़ एवं चिरस्थायी होता है । धीर संत-महात्मा संकटके समय हितकर कर्तव्यका ही उपदेश देते हैं । साधु पुरुषोंका सङ्ग महान् अभीष्ट वस्तुओंका साधक होता है । अतः बुद्धिमान् पुरुषको चाहिये कि वह सज्जनोंको नष्ट करनेकी इच्छा न करे ॥ २४ ॥

इन्द्रः सतां सम्मतश्च निवासश्च महात्मनाम् ।
सत्यवादी ह्यनिन्द्यश्च धर्मवित् सूक्ष्मनिश्चयः ॥ २५ ॥

इन्द्र सत्पुरुषोंके सम्माननीय हैं । महात्मा पुरुषोंके आश्रय हैं । वे सत्यवादी, अनिन्दनीय, धर्मज्ञ तथा सूक्ष्म बुद्धिवाले हैं ॥

तेन ते सह शक्रेण संधिर्भवतु नित्यदा ।
एवं विश्वासमागच्छ मा तेऽभूद् बुद्धिरन्यथा ॥ २६ ॥

ऐसे इन्द्रके साथ तुम्हारी सदाके लिये संधि हो जाय । इस प्रकार तुम उनका विश्वास प्राप्त करो । तुम्हें इसके विपरीत कोई विचार नहीं करना चाहिये ॥ २६ ॥

शल्य उवाच

महर्षिवचनं श्रुत्वा तानुवाच महाद्युतिः ।
अवश्यं भगवन्तो मे माननीयास्तपस्विनः ॥ २७ ॥

शल्य कहते हैं—राजन् ! महर्षियोंकी यह बात सुनकर महातेजस्वी वृत्रने उनसे कहा—'भगवन् ! आप-जैसे तपस्वी महात्मा अवश्य ही मेरे लिये सम्माननीय हैं ॥ २७ ॥

ब्रवीमि यदहं देवास्तत् सर्वं क्रियते यदि ।
ततः सर्वं करिष्यामि यदूचुर्मां द्विजर्षभाः ॥ २८ ॥

'देवताओ ! मैं अभी जो कुछ कह रहा हूँ, वह सब यदि आपलोग स्वीकार कर लें, तो इन श्रेष्ठ ब्रह्मर्षियोंने मुझे जो आदेश दिये हैं, उन सबका मैं अवश्य पालन करूँगा ॥

न शुष्केण न चार्द्रेण नाश्मना न च दारुणा ।
न शस्त्रेण न चास्त्रेण न दिवा न तथा निशि ॥ २९ ॥
वध्यो भवेयं विप्रेन्द्राः शक्रस्य सह दैवतैः ।
एवं मे रोचते सन्धिः शक्रेण सह नित्यदा ॥ ३० ॥

'विप्रवरो ! मैं देवताओंसहित इन्द्रके द्वारा न सूखी वस्तुसे, न गीली वस्तुसे, न पत्थरसे, न लकड़ीसे; न शस्त्रसे, न अस्त्रसे; न दिनमें और न रातमें ही मारा जाऊँ । इस शर्तपर देवेन्द्रके साथ सदाके लिये मेरी संधि हो, तो मैं उसे पसंद करता हूँ' ॥ २९-३० ॥

बाढमित्येव ऋषयस्तमूचुर्भरतर्षभ ।
एवंवृत्ते तु संधाने वृत्रः प्रमुदितोऽभवत् ॥ ३१ ॥

भरतश्रेष्ठ ! तब ऋषियोंने उससे 'बहुत अच्छा' कहा। इस प्रकार संधि हो जानेपर वृत्रासुरको बड़ी प्रसन्नता हुई ॥

युक्तः सदाभवच्चापि शक्रो हर्षसमन्वितः।
वृत्रस्य वधसंयुक्तानुपायाननवचिन्तयत् ॥ ३२ ॥

इन्द्र भी हर्षमें भरकर सदा उससे मिलने लगे, परंतु वे वृत्रके वधसम्बन्धी उपायोंको ही सोचते रहते थे ॥ ३२ ॥

छिद्रान्वेषी समुद्विग्नः सदा वसति देवराट्।
स कदाचित् समुद्रान्ते समपश्यन्महासुरम् ॥ ३३ ॥

वृत्रासुरके छिद्रकी (उसे मारनेके अवसरकी) खोज करते हुए देवराज इन्द्र सदा उद्विग्न रहते थे । एक दिन उन्होंने समुद्रके तटपर उस महान् असुरको देखा ॥ ३३ ॥

संध्याकाल उपावृत्ते मुहूर्ते चातिदारुणे।
ततः संचिन्त्य भगवान् वरदानं महात्मनः ॥ ३४ ॥
संध्येयं वर्तते रौद्रा न रात्रिर्दिवसं न च।
वृत्रश्चावश्यवध्योऽयं मम सर्वहरो रिपुः ॥ ३५ ॥
यदि वृत्रं न हन्म्यद्य वञ्चयित्वा महासुरम्।
महाबलं महाकायं न मे श्रेयो भविष्यति ॥ ३६ ॥

उस समय अत्यन्त दारुण संध्याकालका मुहूर्त उपस्थित था। भगवान् इन्द्रने परमात्मा श्रीविष्णुके वरदानका विचार करके सोचा—'यह भयंकर संध्या उपस्थित है, इस समय न रात है, न दिन है, अतः अभी इस वृत्रासुरका अवश्य वध कर देना चाहिये; क्योंकि यह मेरा सर्वस्व हर लेनेवाला शत्रु है । यदि इस महाबली, महाकाय और महान् असुर वृत्रको धोखा देकर मैं अभी नहीं मार डालता हूँ, तो मेरा भला न होगा' ॥ ३४–३६ ॥

एवं संचिन्तयन्नेव शक्रो विष्णुमनुस्मरन्।
अथ फेनं तदापश्यत् समुद्रे पर्वतोपमम् ॥ ३७ ॥

इस प्रकार सोचते हुए ही इन्द्र भगवान् विष्णुका बार-बार स्मरण करने लगे । इसी समय उनकी दृष्टि समुद्रमें उठते हुए पर्वताकार फेनपर पड़ी ॥ ३७ ॥

नायं शुष्को न चार्द्रोऽयं न च शस्त्रमिदं तथा।
एनं क्षेप्स्यामि वृत्रस्य क्षणादेव नशिष्यति ॥ ३८ ॥

उसे देखकर इन्द्रने मन-ही-मन यह विचार किया कि यह न सूखा है न आर्द्र, न अस्त्र है न शस्त्र, अतः इसीको वृत्रासुरपर छोड़ूँगा, जिससे वह क्षणभरमें नष्ट हो जायगा ॥ ३८ ॥

सवज्रमथ फेनं तं क्षिप्रं वृत्रे निसृष्टवान्।
प्रविश्य फेनं तं विष्णुरथ वृत्रं व्यनाशयत् ॥ ३९ ॥

यह सोचकर इन्द्रने तुरंत ही वृत्रासुरपर वज्रसहित फेनका प्रहार किया । उस समय भगवान् विष्णुने उस



फेनमें प्रवेश करके वृत्रासुरको नष्ट कर दिया ॥ ३९ ॥

निहते तु ततो वृत्रे दिशो वितिमिराऽभवन्।
प्रववौ च शिवो वायुः प्रजाश्च जहृषुस्तथा ॥ ४० ॥

वृत्रासुरके मारे जानेपर सम्पूर्ण दिशाओंका अन्धकार दूर हो गया, शीतल-सुखद वायु चलने लगी और सम्पूर्ण प्रजामें हर्ष छा गया ॥ ४० ॥

ततो देवाः सगन्धर्वा यक्षरक्षोमहोरगाः।
ऋषयश्च महेन्द्रं तमस्तुवन् विविधैः स्तवैः ॥ ४१ ॥

तदनन्तर देवता, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस, महानाग तथा ऋषि भाँति-भाँतिके स्तोत्रोंद्वारा महेन्द्रकी स्तुति करने लगे ॥ ४१ ॥

नमस्कृतः सर्वभूतैः सर्वभूतान्यसान्त्वयत्।
हत्वा शत्रुं प्रहृष्टात्मा वासवः सह दैवतैः ॥ ४२ ॥

शत्रुको मारकर देवताओंसहित इन्द्रका हृदय हर्षसे भर गया । समस्त प्राणियोंने उन्हें नमस्कार किया और उन्होंने उन सबको सान्त्वना दी ॥ ४२ ॥

विष्णुं त्रिभुवनश्रेष्ठं पूजयामास धर्मवित्।
ततो हते महावीर्ये वृत्रे देवभयंकरे ॥ ४३ ॥
अनृतेनाभिभूतोऽभूच्छक्रः परमदुर्मनाः।
त्रैशीर्षयाभिभूतश्च स पूर्वं ब्रह्महत्यया ॥ ४४ ॥

तत्पश्चात् धर्मज्ञ देवराजने तीनों लोकोंके श्रेष्ठ आराध्य-देव भगवान् विष्णुका पूजन किया । इस प्रकार देवताओं-

को भय देनेवाले महापराक्रमी वृत्रासुरके मारे जानेपर विश्वासघातरूपी असत्यसे अभिभूत होकर इन्द्र मन-ही मन बहुत दुखी हो गये । त्रिशिराके वधसे उत्पन्न हुई ब्रह्महत्याने तो उन्हें पहलेसे ही घेर रक्खा था ॥ ४३-४४ ॥

सोऽन्तमाश्रित्य लोकानां नष्टसंज्ञो विचेतनः ।
न प्राज्ञायत देवेन्द्रस्त्वभिभूतः स्वकल्मषैः ॥ ४५ ॥

वे सम्पूर्ण लोकोंकी अन्तिम सीमापर जाकर बेसुध और अचेत होकर रहने लगे । वहाँ अपने ही पापोंसे पीड़ित हुए देवेन्द्रका किसीको पता न चला ॥ ४५ ॥

प्रतिच्छन्नोऽवसच्चाप्सु चेष्टमान इवोरगः ।
ततः प्रणष्टे देवेन्द्रे ब्रह्महत्याभयार्दिते ॥ ४६ ॥
भूमिः प्रध्वस्तसंकाशा निर्वृक्षा शुष्ककानना ।
विच्छिन्नस्रोतसो नद्यः सरांस्यनुदकानि च ॥ ४७ ॥

वे जलमें विचरनेवाले सर्पकी भाँति पानीमें ही छिपकर रहने लगे । ब्रह्महत्याके भयसे पीड़ित होकर जब देवराज इन्द्र अदृश्य हो गये, तब यह पृथ्वी नष्ट-सी हो गयी । यहाँके वृक्ष उजड़ गये, जंगल सूख गये, नदियोंका स्रोत छिन्न-भिन्न हो गया और सरोवरोंका जल सूख गया ॥ ४६-४७ ॥

संक्षोभश्चापि सत्त्वानामनावृष्टिकृतोऽभवत् ।
देवाश्चापि भृशं त्रस्तास्तथा सर्वे महर्षयः ॥ ४८ ॥

सब जीवोंमें अनावृष्टिके कारण क्षोभ उत्पन्न हो गया । देवता तथा सम्पूर्ण महर्षि भी अत्यन्त भयभीत हो गये ॥ ४८ ॥

अराजकं जगत् सर्वमभिभूतमुपद्रवः ।
ततो भीताऽभवन् देवाः को नो राजा भवेदिति ॥ ४९ ॥
दिवि देवर्षयश्चापि देवराजविनाकृताः ।
न स्म कश्चन देवानां राज्ये वै कुरुते मतिम् ॥ ५० ॥

सम्पूर्ण जगत्में अराजकताके कारण भारी उपद्रव होने लगे । स्वर्गमें देवराज इन्द्रके न होनेसे देवता तथा देवर्षि भी भयभीत होकर सोचने लगे—'अब हमारा राजा कौन होगा ?' देवताओंमेंसे कोई भी स्वर्गका राजा बननेका विचार नहीं करता था ॥ ४९-५० ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि सेनोद्योगपर्वणि वृत्रवधे इन्द्रविजयो नाम दशमोऽध्यायः ॥ १० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत सेनोद्योगपर्वमें वृत्रवधके प्रसंगमें इन्द्रविजयविषयक दसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १० ॥

एकादशोऽध्यायः

देवताओं तथा ऋषियोंके अनुरोधसे राजा नहुषका इन्द्रके पदपर अभिषिक्त होना एवं काम-भोगमें आसक्त होना और चिन्तामें पड़ी हुई इन्द्राणीको बृहस्पतिका आश्वासन

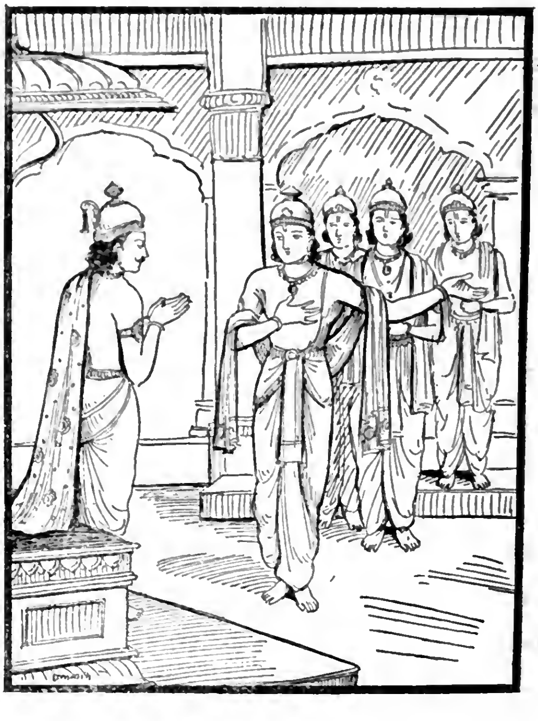
शल्य उवाच

ऋषयोऽथाब्रुवन् सर्वे देवाश्च त्रिदिवेश्वराः ।
अयं वै नहुषः श्रीमान् देवराज्येऽभिषिच्यताम् ॥ १ ॥
तेजस्वी च यशस्वी च धार्मिकश्चैव नित्यदा ।

शल्य कहते हैं—युधिष्ठिर ! इस प्रकार (स्वर्गमें अराजकता हो जानेपर) ऋषियों, सम्पूर्ण देवताओं एवं देवेश्वरोंने परस्पर मिलकर कहा—'ये जो श्रीमान् नहुष हैं, इन्हींको देवराजके पदपर अभिषिक्त किया जाय; क्योंकि ये तेजस्वी, यशस्वी तथा नित्य-निरन्तर धर्ममें तत्पर रहनेवाले हैं' ॥ १½ ॥

ते गत्वा त्वब्रुवन् सर्वे राजा नो भव पार्थिव ॥ २ ॥
स तानुवाच नहुषो देवानृषिगणांस्तथा ।
पितृभिः सहितान् राजन् परीप्सन् हितमात्मनः ॥ ३ ॥

ऐसा निश्चय करके वे सब लोग राजा नहुषके पास जाकर बोले—'पृथिवीपते ! आप हमारे राजा होइये'—राजन् ! तब नहुषने पितरोंसहित उन देवताओं तथा ऋषियोंसे अपने हितकी इच्छासे कहा—॥ २-३ ॥



दुर्बलोऽहं न मे शक्तिर्भवतां परिपालने ।
बलवाञ्जायते राजा बलं शक्रे हि नित्यदा ॥ ४ ॥

'मैं तो दुर्बल हूँ, मुझमें आपलोगोंकी रक्षा करनेकी शक्ति नहीं है । बलवान् पुरुष ही राजा होता है । इन्द्रमें ही बलकी नित्य सत्ता है' ॥ ४ ॥

तमब्रुवन् पुनः सर्वे देवा ऋषिपुरोगमाः ।
अस्माकं तपसा युक्तः पाहि राज्यं त्रिविष्टपे ॥ ५ ॥
परस्परभयं घोरमस्माकं हि न संशयः ।
अभिषिच्यस्व राजेन्द्र भव राजा त्रिविष्टपे ॥ ६ ॥

यह सुनकर सम्पूर्ण देवता तथा ऋषि पुनः उनसे बोले—'राजेन्द्र ! आप हमारी तपस्यासे संयुक्त हो स्वर्गके राज्यका पालन कीजिये । हमलोगोंमें प्रत्येकको एक-दूसरेसे घोर भय बना रहता है, इसमें संशय नहीं है । अतः आप अपना अभिषेक कराइये और स्वर्गके राजा होइये ॥ ५-६ ॥

देवदानवयक्षाणामृषीणां रक्षसां तथा ।
पितृगन्धर्वभूतानां चक्षुर्विषयवर्तिनाम् ॥ ७ ॥
तेज आदास्यसे पश्यन् बलवांश्च भविष्यसि ।
धर्मं पुरस्कृत्य सदा सर्वलोकाधिपो भव ॥ ८ ॥

'देवता, दानव, यक्ष, ऋषि, राक्षस, पितर, गन्धर्व और भूत—जो भी आपके नेत्रोंके सामने आ जायँगे, उन्हें देखते ही आप उनका तेज हर लेंगे और बलवान् हो जायँगे, अतः सदा धर्मको सामने रखते हुए आप सम्पूर्ण लोकोंके अधिपति होइये ॥ ७-८ ॥

ब्रह्मर्षींश्चापि देवांश्च गोपायस्व त्रिविष्टपे ।
अभिषिक्तः स राजेन्द्र ततो राजा त्रिविष्टपे ॥ ९ ॥

'आप स्वर्गमें रहकर ब्रह्मर्षियों तथा देवताओंका पालन कीजिये ।' युधिष्ठिर ! तदनन्तर राजा नहुषका स्वर्गमें इन्द्रके पदपर अभिषेक हुआ ॥ ९ ॥

धर्मं पुरस्कृत्य तदा सर्वलोकाधिपोऽभवत् ।
सुदुर्लभं वरं लब्ध्वा प्राप्य राज्यं त्रिविष्टपे ॥ १० ॥
धर्मात्मा सततं भूत्वा कामात्मा समपद्यत ।

धर्मको आगे रखकर उस समय राजा नहुष सम्पूर्ण लोकोंके अधिपति हो गये । वे परम दुर्लभ वर पाकर स्वर्गके राज्यको हस्तगत करके निरन्तर धर्मपरायण रहते हुए भी कामभोगमें आसक्त हो गये ॥ १०½ ॥

देवोद्यानेषु सर्वेषु नन्दनोपवनेषु च ॥ ११ ॥
कैलासे हिमवत्पृष्ठे मन्दरे श्वेतपर्वते ।
सह्ये महेन्द्रे मलये समुद्रेषु सरित्सु च ॥ १२ ॥
अप्सरोभिः परिवृतो देवकन्यासमावृतः ।
नहुषो देवराजोऽथ क्रीडन् बहुविधं तदा ॥ १३ ॥
शृण्वन् दिव्या बहुविधाः कथाः श्रुतिमनोहराः ।
वादित्राणि च सर्वाणि गीतं च मधुरस्वनम् ॥ १४ ॥

देवराज नहुष सम्पूर्ण देवोद्यानोंमें, नन्दनवनके उपवनोंमें, कैलासमें, हिमालयके शिखरपर, मन्दराचल, श्वेतगिरि, सह्य, महेन्द्र तथा मलयपर्वतपर एवं समुद्रों और सरिताओंमें, अप्सराओं तथा देवकन्याओंके साथ भाँति-भाँतिकी क्रीडाएँ करते थे, कानों और मनको आकर्षित करनेवाली नाना प्रकारकी दिव्य कथाएँ सुनते थे तथा सब प्रकारके वाद्यों और मधुर स्वरसे गाये जानेवाले गीतोंका आनन्द लेते थे ॥ ११–१४ ॥

विश्वावसुर्नारदश्च गन्धर्वाप्सरसां गणाः ।
ऋतवः षट् च देवेन्द्रं मूर्तिमन्त उपस्थिताः ॥ १५ ॥

विश्वावसु, नारद, गन्धर्वों और अप्सराओंके समुदाय तथा छहों ऋतुएँ शरीर धारण करके देवेन्द्रकी सेवामें उपस्थित होती थीं ॥ १५ ॥

मारुतः सुरभिर्वाति मनोज्ञः सुखशीतलः ।
एवं च क्रीडतस्तस्य नहुषस्य दुरात्मनः ॥ १६ ॥
सम्प्राप्ता दर्शनं देवी शक्रस्य महिषी प्रिया ।

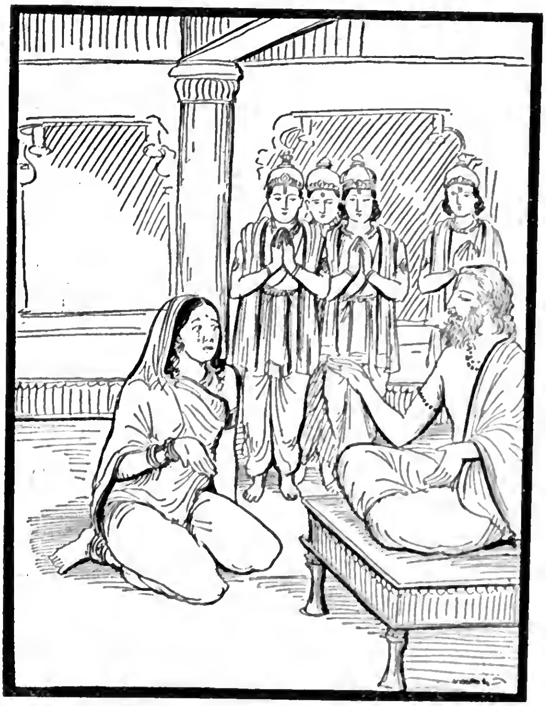
उनके लिये वायु मनोहर, सुखद, शीतल और सुगन्धित होकर बहते थे । इस प्रकार क्रीडा करते हुए दुरात्मा राजा नहुषकी दृष्टि एक दिन देवराज इन्द्रकी प्यारी महारानी शचीपर पड़ी ॥ १६½ ॥

स तां संदृश्य दुष्टात्मा प्राह सर्वान् सभासदः ॥ १७ ॥
इन्द्रस्य महिषी देवी कस्मान्मां नोपतिष्ठति ।
अहमिन्द्रोऽस्मि देवानां लोकानां च तथेश्वरः ॥ १८ ॥
आगच्छतु शची मह्यं क्षिप्रमद्य निवेशनम् ।

उन्हें देखकर दुष्टात्मा नहुषने समस्त सभासदोंसे कहा—'इन्द्रकी महारानी शची मेरी सेवामें क्यों नहीं उपस्थित होतीं ? मैं देवताओंका इन्द्र हूँ और सम्पूर्ण लोकोंका अधीश्वर हूँ । अतः शचीदेवी आज मेरे महलमें शीघ्र पधारें' ॥ १७-१८½ ॥

तच्छ्रुत्वा दुर्मना देवी बृहस्पतिमुवाच ह ॥ १९ ॥
रक्ष मां नहुषाद् ब्रह्मंस्त्वामस्मि शरणं गता ।
सर्वलक्षणसम्पन्नां ब्रह्मंस्त्वं मां प्रभाषसे ॥ २० ॥
देवराजस्य दयितामत्यन्तं सुखभागिनीम् ।
अवैधव्येन युक्तां चाप्येकपत्नीं पतिव्रताम् ॥ २१ ॥

यह सुनकर शचीदेवी मन-ही-मन बहुत दुखी हुई और बृहस्पतिसे बोलीं—'ब्रह्मन् ! मैं आपकी शरणमें आयी हूँ, आप नहुषसे मेरी रक्षा कीजिये। विप्रवर ! आप मुझसे कहा



करते हैं कि तुम समस्त शुभ लक्षणोंसे सम्पन्न, देवराज इन्द्रकी प्राणवल्लभा, अत्यन्त सुखभागिनी, सौभाग्यवती, एकपत्नी और पतिव्रता हो ॥ १९–२१ ॥

उक्तवानसि मां पूर्वमृतां तां कुरु वै गिरम्।
नोक्तपूर्वं च भगवन् वृथा ते किंचिदीश्वर ॥ २२ ॥
तस्मादेतद् भवेत् सत्यं त्वयोक्तं द्विजसत्तम।

'भगवन्! आपने पहले जो वैसी बातें कही हैं, अपनी उन वाणियोंको सत्य कीजिये। देवगुरो! आपके मुखसे पहले कभी कोई व्यर्थ या असत्य वचन नहीं निकला है, अतः द्विजश्रेष्ठ! आपका यह पूर्वोक्त वचन भी सत्य होना चाहिये' ॥ २२½ ॥

बृहस्पतिरथोवाच शक्राणीं भयमोहिताम् ॥ २३ ॥
यदुक्तासि मया देवि सत्यं तद् भविता ध्रुवम्।
द्रक्ष्यसे देवराजानमिन्द्रं शीघ्रमिहागतम् ॥ २४ ॥
न भेतव्यं च नहुषात् सत्यमेतद् ब्रवीमि ते।
समानयिष्ये शक्रेण न चिराद् भवतीमहम् ॥ २५ ॥

यह सुनकर बृहस्पतिने भयसे व्याकुल हुई इन्द्राणीसे कहा—'देवि! मैंने तुमसे जो कुछ कहा है, वह सब अवश्य सत्य होगा। तुम शीघ्र ही देवराज इन्द्रको यहाँ आया हुआ देखोगी। नहुषसे तुम्हें डरना नहीं चाहिये। मैं सच्ची बात कहता हूँ, थोड़े ही दिनोंमें तुम्हें इन्द्रसे मिला दूँगा' ॥ २३–२५ ॥

अथ शुश्राव नहुषः शक्राणीं शरणं गताम्।
बृहस्पतेरङ्गिरसश्चुक्रोध स नृपस्तदा ॥ २६ ॥

जब राजा नहुषने सुना कि इन्द्राणी अङ्गिराके पुत्र बृहस्पतिकी शरणमें गयी है, तब वे बहुत कुपित हुए ॥ २६ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि सेनोद्योगपर्वणि इन्द्राणीभये एकादशोऽध्यायः ॥ ११ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत सेनोद्योगपर्वमें इन्द्राणी-भयविषयक ग्यारहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ११ ॥

द्वादशोऽध्यायः

देवता-नहुष-संवाद, बृहस्पतिके द्वारा इन्द्राणीकी रक्षा तथा इन्द्राणीका नहुषके पास कुछ समयकी अवधि माँगनेके लिये जाना

शल्य उवाच

क्रुद्धं तु नहुषं दृष्ट्वा देवा ऋषिपुरोगमाः।
अब्रुवन् देवराजानं नहुषं घोरदर्शनम् ॥ १ ॥

शल्य कहते हैं—युधिष्ठिर! देवराज नहुषको क्रोधमें भरे हुए देख देवतालोग ऋषियोंको आगे करके उनके पास गये। उस समय उनकी दृष्टि बड़ी भयंकर प्रतीत होती थी। देवताओं तथा ऋषियोंने कहा—॥ १ ॥

देवराज जहि क्रोधं त्वयि क्रुद्धे जगद् विभो।
त्रस्तं सासुरगन्धर्वं सकिंनरमहोरगम् ॥ २ ॥

'देवराज! आप क्रोध छोड़ें। प्रभो! आपके कुपित होनेसे असुर, गन्धर्व, किन्नर और महानागगणोंसहित सम्पूर्ण जगत् भयभीत हो उठा है ॥ २ ॥

जहि क्रोधमिमं साधो न कुप्यन्ति भवद्विधाः।
परस्य पत्नी सा देवी प्रसीदस्व सुरेश्वर ॥ ३ ॥

'साधो! आप इस क्रोधको त्याग दीजिये। आप-जैसे श्रेष्ठ पुरुष दूसरोंपर कोप नहीं करते हैं। अतः प्रसन्न होइये। सुरेश्वर! शची देवी दूसरे इन्द्रकी पत्नी हैं ॥ ३ ॥

निवर्तय मनः पापात् परदाराभिमर्शनात्।
देवराजोऽसि भद्रं ते प्रजा धर्मेण पालय ॥ ४ ॥

'परायी स्त्रियोंका स्पर्श पापकर्म है। उससे मनको हटा लीजिये। आप देवताओंके राजा हैं। आपका कल्याण हो। आप धर्मपूर्वक प्रजाका पालन कीजिये' ॥ ४ ॥

एवमुक्तो न जग्राह तद्वचः काममोहितः।
अथ देवानुवाचेदमिन्द्रं प्रति सुराधिपः॥ ५॥

उनके ऐसा कहनेपर भी काममोहित नहुषने उनकी बात नहीं मानी। उस समय देवेश्वर नहुषने इन्द्रके विषयमें देवताओंसे इस प्रकार कहा—॥ ५॥

अहल्या धर्षिता पूर्वमृषिपत्नी यशस्विनी।
जीवतो भर्तुरिन्द्रेण स वः किं न निवारितः॥ ६॥

'देवताओ! जब इन्द्रने पूर्वकालमें यशस्विनी ऋषि-पत्नी अहल्याका उसके पति गौतमके जीते-जी सतीत्व नष्ट किया था, उस समय आपलोगोंने उन्हें क्यों नहीं रोका?॥ ६॥

बहूनि च नृशंसानि कृतानीन्द्रेण वै पुरा।
वैधर्म्याण्युपधाश्चैव स वः किं न निवारितः॥ ७॥

'प्राचीन कालमें इन्द्रने बहुत-से क्रूरतापूर्ण कर्म किये हैं। अनेक अधार्मिक कृत्य तथा छल कपट उनके द्वारा हुए हैं। उन्हें आपलोगोंने क्यों नहीं रोका था?॥ ७॥

उपतिष्ठतु देवी मामेतदस्या हितं परम्।
युष्माकं च सदा देवाः शिवमेवं भविष्यति॥ ८॥

'शची देवी मेरी सेवामें उपस्थित हों। इसीमें इनका परम हित है तथा देवताओ! ऐसा होनेपर ही सदा तुम्हारा कल्याण होगा'॥ ८॥

देवा ऊचुः

इन्द्राणीमानयिष्यामो यथेच्छसि दिवस्पते।
जहि क्रोधमिमं वीर प्रीतो भव सुरेश्वर॥ ९॥

देवता बोले—स्वर्गलोकके स्वामी वीर देवेश्वर! आपकी जैसी इच्छा है, उसके अनुसार हमलोग इन्द्राणीको आपकी सेवामें ले आयेंगे। आप यह क्रोध छोड़िये और प्रसन्न होइये॥ ९॥

शल्य उवाच

इत्युक्त्वा तं तदा देवा ऋषिभिः सह भारत।
जग्मुर्बृहस्पतिं वक्तुमिन्द्राणीं चाशुभं वचः॥ १०॥

शल्यने कहा—युधिष्ठिर! नहुषसे ऐसा कहकर उस समय सब देवता ऋषियोंके साथ इन्द्राणीसे यह अशुभ वचन कहनेके लिये बृहस्पतिजीके पास गये॥ १०॥

जानीमः शरणं प्राप्तामिन्द्राणीं तव वेश्मनि।
दत्ताभयां च विप्रेन्द्र त्वया देवर्षिसत्तम॥ ११॥

उन्होंने कहा—'देवर्षिप्रवर! विप्रेन्द्र! हमें पता लगा है कि इन्द्राणी आपकी शरणमें आयी हैं और आपके ही भवनमें रह रही हैं। आपने उन्हें अभय-दान दे रक्खा है॥ ११॥

ते त्वां देवाः सगन्धर्वा ऋषयश्च महाद्युते।
प्रसादयन्ति चेन्द्राणी नहुषाय प्रदीयताम्॥ १२॥

'महाद्युते! अब ये देवता, गन्धर्व तथा ऋषि आपको इस बातके लिये प्रसन्न करा रहे हैं कि आप इन्द्राणीको राजा नहुषकी सेवामें अर्पण कर दीजिये॥ १२॥

इन्द्राद् विशिष्टो नहुषो देवराजो महाद्युतिः।
वृणोत्विमं वरारोहा भर्तृत्वे वरवर्णिनी॥ १३॥

'इस समय महातेजस्वी नहुष देवताओंके राजा हैं। अतः इन्द्रसे बढ़कर हैं। सुन्दर रूप-रंगवाली शची इन्हें अपना पति स्वीकार कर लें'॥ १३॥

एवमुक्ता तु सा देवी बाष्पमुत्सृज्य सस्वनम्।
उवाच रुदती दीना बृहस्पतिमिदं वचः॥ १४॥

'देवताओंके यह बात कहनेपर शची देवी आँसू बहाती हुई फूट-फूटकर रोने लगीं और दीनभावसे बृहस्पतिजीको सम्बोधित करके इस प्रकार बोलीं—॥ १४॥

नाहमिच्छामि नहुषं पतिं देवर्षिसत्तम।
शरणागतास्मि ते ब्रह्मंस्त्रायस्व महतो भयात्॥ १५॥

'देवर्षियोंमें श्रेष्ठ ब्राह्मणदेव! मैं नहुषको अपना पति बनाना नहीं चाहती; इसीलिये आपकी शरणमें आयी हूँ। आप इस महान् भयसे मेरी रक्षा कीजिये'॥ १५॥

बृहस्पतिरुवाच

शरणागतं न त्यजेयमिन्द्राणि मम निश्चयः।
धर्मज्ञां सत्यशीलां च न त्यजेयमनिन्दिते॥ १६॥

बृहस्पतिने कहा—इन्द्राणी! मैं शरणागतका त्याग नहीं कर सकता, यह मेरा दृढ़ निश्चय है। अनिन्दिते! तुम धर्मज्ञ और सत्यशील हो; अतः मैं तुम्हारा त्याग नहीं करूँगा॥ १६॥

नाकार्यं कर्तुमिच्छामि ब्राह्मणः सन् विशेषतः।
श्रुतधर्मा सत्यशीलो जानन् धर्मानुशासनम्॥ १७॥
नाहमेतत् करिष्यामि गच्छध्वं वै सुरोत्तमाः।
अस्मिंश्चार्थे पुरा गीतं ब्रह्मणा श्रूयतामिदम्॥ १८॥

विशेषतः ब्राह्मण होकर मैं यह न करने योग्य कार्य नहीं कर सकता। मैंने धर्मकी बातें सुनी हैं और सत्यको अपने स्वभावमें उतार लिया है। शास्त्रोंमें जो धर्मका उपदेश किया है, उसे भी जानता हूँ; अतः मैं यह पापकर्म नहीं करूँगा! सुरश्रेष्ठगण! आपलोग लौट जायँ। इस विषयमें ब्रह्माजीने पूर्वकालमें जो गीत गाया था, वह इस प्रकार है, सुनिये॥ १७-१८॥

न तस्य बीजं रोहति रोहकाले
न तस्य वर्षं वर्षति वर्षकाले।
भीतं प्रपन्नं प्रददाति शत्रवे
न स त्रातारं लभते त्राणमिच्छन्॥ १९॥

'जो भयभीत होकर शरणमें आये हुए प्राणीको उसके शत्रुके हाथमें दे देता है, उसका बोया हुआ बीज समयपर नहीं जमता है। उसके यहाँ ठीक समयपर वर्षा नहीं होती और वह जब कभी अपनी रक्षा चाहता है, तो उसे कोई रक्षक नहीं मिलता है ॥ १९ ॥

मोघमन्नं विन्दति चाप्यचेताः
स्वर्गाल्लोकाद् भ्रश्यति नष्टचेष्टः।
भीतं प्रपन्नं प्रददाति यो वै
न तस्य हव्यं प्रतिगृह्णन्ति देवाः॥ २० ॥

'जो भयभीत शरणागतको शत्रुके हाथमें सौंप देता है, वह दुर्बलचित्त मानव जो अन्न ग्रहण करता है, वह व्यर्थ हो जाता है। उसके सारे उद्यम नष्ट हो जाते हैं और वह स्वर्गलोकसे नीचे गिर जाता है। इतना ही नहीं, देवता-लोग उसके दिये हुए हविष्यको स्वीकार नहीं करते हैं ॥२०॥

प्रमीयते चास्य प्रजा ह्यकाले
सदा विवासं पितरोऽस्य कुर्वते।
भीतं प्रपन्नं प्रददाति शत्रवे
सेन्द्रा देवाः प्रहरन्त्यस्य वज्रम्॥ २१ ॥

'उसकी संतान अकालमें ही मर जाती है। उसके पितर सदा नरकमें निवास करते हैं। जो भयभीत शरणागतको शत्रुके हाथमें दे देता है, उसपर इन्द्र आदि देवता वज्रका प्रहार करते हैं' ॥ २१ ॥

एतदेवं विजानन् वै न दास्यामि शचीमिमाम्।
इन्द्राणीं विश्रुतां लोके शक्रस्य महिषीं प्रियाम् ॥ २२ ॥

इस प्रकार ब्रह्माजीके उपदेशके अनुसार शरणागतके त्यागसे होनेवाले अधर्मको मैं निश्चितरूपसे जानता हूँ; अतः जो सम्पूर्ण विश्वमें इन्द्रकी पत्नी तथा देवराजकी प्यारी पटरानीके रूपमें विख्यात हैं; उन्हीं इन शचीदेवीको मैं नहुषके हाथमें नहीं दूँगा ॥ २२ ॥

अस्या हितं भवेद् यच्च मम चापि हितं भवेत्।
क्रियतां तत् सुरश्रेष्ठा न हि दास्याम्यहं शचीम्॥ २३ ॥

श्रेष्ठ देवताओ ! जो इनके लिये हितकर हो, जिससे मेरा भी हित हो, वह कार्य आपलोग करें। मैं शचीको कदापि नहीं दूँगा ॥ २३ ॥

शल्य उवाच

अथ देवाः सगन्धर्वा गुरुमाहुरिदं वचः।
कथं सुनीतं नु भवेन्मन्त्रयस्व बृहस्पते ॥ २४ ॥

शल्य कहते हैं—राजन् ! तब देवताओं तथा गन्धर्वोंने गुरुसे इस प्रकार कहा—'बृहस्पते ! आप ही सलाह दीजिये कि किस उपायका अवलम्बन करनेसे शुभ परिणाम होगा ?' ॥ २४ ॥

बृहस्पतिरुवाच

नहुषं याचतां देवी किंचित् कालान्तरं शुभा।
इन्द्राणी हितमेतद्धि तथास्माकं भविष्यति ॥ २५ ॥

बृहस्पतिजीने कहा—देवगण ! शुभलक्षणा शची देवी नहुषसे कुछ समयकी अवधि माँगें। इसीसे इनका और हमारा भी हित होगा ॥ २५ ॥

बहुविघ्नः सुराः कालः कालः कालं नयिष्यति।
गर्वितो बलवांश्चापि नहुषो वरसंश्रयात् ॥ २६ ॥

देवताओ ! समय अनेक प्रकारके विघ्नोंसे भरा होता है। इस समय नहुष आपलोगोंके वरदानके प्रभावसे बलवान् और गर्वीला हो गया है। काल ही उसे कालके गालमें पहुँचा देगा ॥ २६ ॥

शल्य उवाच

ततस्तेन तथोक्ते तु प्रीता देवास्तथाब्रुवन्।
ब्रह्मन् साध्विदमुक्तं ते हितं सर्वदिवौकसाम् ॥ २७ ॥

शल्य कहते हैं—राजन् ! उनके इस प्रकार सलाह देनेपर देवता बड़े प्रसन्न हुए और इस प्रकार बोले—'ब्रह्मन् ! आपने बहुत अच्छी बात कही है। इसीमें सम्पूर्ण देवताओंका हित है ॥ २७ ॥

एवमेतद् द्विजश्रेष्ठ देवी चेयं प्रसाद्यताम्।
ततः समस्ता इन्द्राणीं देवाश्चाग्निपुरोगमाः।
ऊचुर्वचनमव्यग्रा लोकानां हितकाम्यया ॥ २८ ॥

'द्विजश्रेष्ठ ! इसी बातके लिये शचीदेवीको राजी कीजिये।' तदनन्तर अग्नि आदि सब देवता इन्द्राणीके पास जा समस्त लोकोंके हितके लिये शान्तभावसे इस प्रकार बोले ॥ २८ ॥

देवा ऊचुः

त्वया जगदिदं सर्वं धृतं स्थावरजङ्गमम्।
एकपत्न्यसि सत्या च गच्छस्व नहुषं प्रति ॥ २९ ॥
क्षिप्रं त्वामभिकामश्च विनशिष्यति पापकृत्।
नहुषो देवि शक्रश्च सुरैश्वर्यमवाप्स्यति ॥ ३० ॥

देवता बोले—देवि ! यह समस्त चराचर जगत् तुमने ही धारण कर रक्खा है, क्योंकि तुम पतिव्रता और सत्य-परायणा हो। अतः तुम नहुषके पास चलो। देवेश्वरि ! तुम्हारी कामना करनेके कारण पापी नहुष शीघ्र नष्ट हो जायगा और इन्द्र पुनः अपने देवसाम्राज्यको प्राप्त कर लेंगे ॥ २९-३० ॥

एवं विनिश्चयं कृत्वा इन्द्राणी कार्यसिद्धये।
अभ्यगच्छत सव्रीडा नहुषं घोरदर्शनम् ॥ ३१ ॥

अपनी कार्य-सिद्धिके लिये ऐसा निश्चय करके इन्द्राणी

भयंकर दृष्टिवाले नहुषके पास बड़े संकोचके साथ गयी ॥

दृष्ट्वा तां नहुषश्चापि वयोरूपसमन्विताम् ।
समहृष्यत दुष्टात्मा कामोपहतचेतनः ॥ ३२ ॥

नयी अवस्था और सुन्दर रूपसे सुशोभित इन्द्राणीको देखकर दुष्टात्मा नहुष बहुत प्रसन्न हुआ । कामभावनासे उसकी बुद्धि मारी गयी थी ॥ ३२ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि सेनोद्योगपर्वणि इन्द्राणीकालावधियाचने द्वादशोऽध्यायः ॥ १२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत सेनोद्योगपर्वमें इन्द्राणीकी नहुषसे समययाचनासे सम्बन्ध रखनेवाला बारहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १२ ॥

त्रयोदशोऽध्यायः

नहुषका इन्द्राणीको कुछ कालकी अवधि देना, इन्द्रका ब्रह्महत्यासे उद्धार तथा शचीद्वारा रात्रिदेवीकी उपासना

शल्य उवाच

अथ तामब्रवीद् दृष्ट्वा नहुषो देवराट् तदा ।
त्रयाणामपि लोकानामहमिन्द्रः शुचिस्मिते ॥ १ ॥
भजस्व मां वरारोहे पतित्वे वरवर्णिनि ।

शल्य कहते हैं—युधिष्ठिर ! उस समय देवराज नहुषने इन्द्राणीको देखकर कहा—'शुचिस्मिते ! मैं तीनों लोकोंका स्वामी इन्द्र हूँ । उत्तम रूप-रंगवाली सुन्दरी ! तुम मुझे अपना पति बना लो' ॥ १½ ॥

एवमुक्ता तु सा देवी नहुषेण पतिव्रता ॥ २ ॥
प्रावेपत भयोद्विग्ना प्रवाते कदली यथा ।
प्रणम्य सा हि ब्रह्माणं शिरसा तु कृताञ्जलिः ॥ ३ ॥
देवराजमथोवाच नहुषं घोरदर्शनम् ।
कालमिच्छाम्यहं लब्धुं त्वत्तः कंचित् सुरेश्वर॥ ४ ॥

नहुषके ऐसा कहनेपर पतिव्रता देवी शची भयसे उद्विग्न हो तेज हवामें हिलनेवाले केलेके वृक्षकी भाँति काँपने लगीं । उन्होंने मस्तक झुकाकर ब्रह्माजीको प्रणाम किया और भयंकर दृष्टिवाले देवराज नहुषसे हाथ जोड़कर कहा—'देवेश्वर ! मैं आपसे कुछ समयकी अवधि लेना चाहती हूँ ॥ २–४ ॥

न हि विज्ञायते शक्रः किं वा प्राप्तः क वा गतः ।
तत्त्वमेतत् तु विज्ञाय यदि न ज्ञायते प्रभो ॥ ५ ॥
ततोऽहं त्वामुपस्थास्ये सत्यमेतद् ब्रवीमि ते ।
एवमुक्तः स इन्द्राण्या नहुषः प्रीतिमानभूत् ॥ ६ ॥

'अभी यह पता नहीं है कि देवेन्द्र किस अवस्थामें पड़े हैं ? अथवा कहाँ चले गये हैं ? प्रभो ! इसका ठीक-ठीक पता लगानेपर यदि कोई बात मालूम नहीं हो सकी, तो मैं आपकी सेवामें उपस्थित हो जाऊँगी । यह मैं आपसे सत्य कहती हूँ !' इन्द्राणीके ऐसा कहनेपर नहुषको बड़ी प्रसन्नता हुई ॥ ५-६ ॥

नहुष उवाच

एवं भवतु सुश्रोणि यथा मामिह भाषसे ।
ज्ञात्वा चागमनं कार्यं सत्यमेतदनुस्मरेः ॥ ७ ॥

नहुष बोले—सुन्दरी ! तुम मुझसे यहाँ जैसा कह रही हो ऐसा ही हो । इसके अनुसार पता लगाकर तुम्हें मेरे पास आ जाना चाहिये; इस सत्यको सदा याद रखना ॥ ७ ॥

नहुषेण विसृष्टा च निश्चक्राम ततः शुभा ।
बृहस्पतिनिकेतं च सा जगाम यशस्विनी ॥ ८ ॥

नहुषसे बिदा लेकर शुभलक्षणा यशस्विनी शची उस स्थानसे निकली और पुनः बृहस्पतिजीके भवनमें चली गयी ॥ ८ ॥

तस्याः संश्रुत्य च वचो देवाश्चाग्निपुरोगमाः ।
चिन्तयामासुरेकाग्राः शक्रार्थं राजसत्तम ॥ ९ ॥

नृपश्रेष्ठ ! इन्द्राणीकी बात सुनकर अग्नि आदि सब देवता एकाग्रचित्त होकर इन्द्रकी खोज करनेके लिये आपसमें विचार करने लगे ॥ ९ ॥

देवदेवेन सङ्गम्य विष्णुना प्रभविष्णुना ।
ऊचुश्चैनं समुद्विग्ना वाक्यं वाक्यविशारदाः ॥ १० ॥

फिर बातचीतमें कुशल देवगण सम्पूर्ण जगत्की उत्पत्तिके कारणभूत देवाधिदेव भगवान् विष्णुसे मिले और भयसे उद्विग्न हो उनसे इस प्रकार बोले—॥ १० ॥



ब्रह्मवध्याभिभूतो वै शक्रः सुरगणेश्वरः।
गतिश्च नस्त्वं देवेश पूर्वजो जगतः प्रभुः ॥ ११ ॥

'देवेश्वर ! देवसमुदायके स्वामी इन्द्र ब्रह्महत्यासे अभिभूत होकर कहीं छिप गये हैं । भगवन् ! आप ही हमारे आश्रय और सम्पूर्ण जगत्के पूर्वज तथा प्रभु हैं ॥ ११ ॥

रक्षार्थं सर्वभूतानां विष्णुत्वमुपजग्मिवान्।
त्वद्वीर्यनिहते वृत्रे वासवो ब्रह्महत्यया ॥ १२ ॥
वृतः सुरगणश्रेष्ठ मोक्षं तस्य विनिर्दिश।

'आपने समस्त प्राणियोंकी रक्षाके लिये विष्णुरूप धारण किया है । यद्यपि वृत्रासुर आपकी ही शक्तिसे मारा गया है तथापि इन्द्रको ब्रह्महत्याने आक्रान्त कर लिया है । सुरगणश्रेष्ठ ! अब आप ही उनके उद्धारका उपाय बताइये' ॥१२½॥

तेषां तद् वचनं श्रुत्वा देवानां विष्णुरब्रवीत् ॥ १३ ॥
मामेव यजतां शक्रः पावयिष्यामि वज्रिणम्।
पुण्येन हयमेधेन मामिष्ट्वा पाकशासनः ॥ १४ ॥
पुनरेष्यति देवानामिन्द्रत्वमकुतोभयः।
स्वकर्मभिश्च नहुषो नाशं यास्यति दुर्मतिः ॥ १५ ॥
किंचित् कालमिदं देवा मर्षयध्वमतन्द्रिताः।

देवताओंकी यह बात सुनकर भगवान् विष्णु बोले— 'इन्द्र यज्ञोंद्वारा केवल मेरी ही आराधना करें, इससे मैं वज्रधारी इन्द्रको पवित्र कर दूँगा । पाकशासन इन्द्र पवित्र अश्वमेध यज्ञके द्वारा मेरी आराधना करके पुनः निर्भय हो देवेन्द्र-पदको प्राप्त कर लेंगे और खोटी बुद्धिवाला नहुष अपने कर्मोंसे ही नष्ट हो जायगा । देवताओ ! तुम आलस्य छोड़कर कुछ कालतक और यह कष्ट सहन करो'।१३–१५½॥

श्रुत्वा विष्णोः शुभां सत्यां वाणींताममृतोपमाम्॥१६॥
ततः सर्वे सुरगणाः सोपाध्यायाः सहर्षिभिः।
यत्र शक्रो भयोद्विग्नस्तं देशमुपचक्रमुः ॥ १७ ॥

भगवान् विष्णुकी यह शुभ, सत्य तथा अमृतके समान मधुर वाणी सुनकर गुरु तथा महर्षियोंसहित सब देवता उस स्थानपर गये, जहाँ भयसे व्याकुल हुए इन्द्र छिपकर रहते थे ॥ १६-१७ ॥

तत्राश्वमेधः सुमहान् महेन्द्रस्य महात्मनः।
ववृते पावनार्थं वै ब्रह्महत्यापहो नृप ॥ १८ ॥

नरेश्वर ! वहाँ महात्मा महेन्द्रकी शुद्धिके लिये एक महान् अश्वमेध यज्ञका अनुष्ठान हुआ, जो ब्रह्महत्याको दूर करनेवाला था ॥ १८ ॥

विभज्य ब्रह्महत्यां तु वृक्षेषु च नदीषु च।
पर्वतेषु पृथिव्यां च स्त्रीषु चैव युधिष्ठिर ॥ १९ ॥

युधिष्ठिर ! इन्द्रने वृक्ष, नदी, पर्वत, पृथ्वी और स्त्रीसमुदायमें ब्रह्महत्याको बाँट दिया ॥ १९ ॥

संविभज्य च भूतेषु विसृज्य च सुरेश्वरः।
विज्वरो धूतपाप्मा च वासवोऽभवदात्मवान्॥ २० ॥

इस प्रकार समस्त भूतोंमें ब्रह्महत्याका विभाजन करके देवेश्वर इन्द्रने उसे त्याग दिया और स्वयं मनको वशमें करके वे निष्पाप तथा निश्चिन्त हो गये ॥ २० ॥

अकम्पन्नहुषं स्थानाद् दृष्ट्वा बलनिषूदनः।
तेजोघ्नं सर्वभूतानां वरदानाच्च दुःसहम् ॥ २१ ॥

परंतु बल नामक दानवका नाश करनेवाले इन्द्र जब अपना स्थान ग्रहण करनेके लिये स्वर्गलोकमें आये, तब उन्होंने देखा—नहुष देवताओंके वरदानसे अपनी दृष्टिमात्रसे समस्त प्राणियोंके तेजको नष्ट करनेमें समर्थ और दुःसह हो गया है । यह देखकर वे काँप उठे ॥ २१ ॥

ततः शचीपतिर्देवः पुनरेव व्यनश्यत।
अदृश्यः सर्वभूतानां कालाकाङ्क्षी चचार ह ॥ २२ ॥

तदनन्तर शचीपति इन्द्रदेव पुनः सबकी आँखोंसे ओझल हो गये तथा अनुकूल समयकी प्रतीक्षा करते हुए समस्त प्राणियोंसे अदृश्य रहकर विचरने लगे ॥ २२ ॥

प्रणष्टे तु ततः शक्रे शची शोकसमन्विता।
हा शक्रेति तदा देवी विललाप सुदुःखिता ॥ २३ ॥

इन्द्रके पुनः अदृश्य हो जानेपर शची देवी शोकमें डूब गयीं और अत्यन्त दुखी हो 'हा इन्द्र ! हा इन्द्र' कहती हुई विलाप करने लगीं ॥ २३ ॥

यदि दत्तं यदि हुतं गुरवस्तोषिता यदि।
एकभर्तृत्वमेवास्तु सत्यं यद्यस्ति वा मयि ॥ २४ ॥

तत्पश्चात् वे इस प्रकार बोलीं—'यदि मैंने दान दिया हो, होम किया हो, गुरुजनोंको संतुष्ट रक्खा हो तथा मुझमें सत्य विद्यमान हो, तो मेरा पातिव्रत्य सुरक्षित रहे ।२४।

पुण्यां चेमामहं दिव्यां प्रवृत्तामुत्तरायणे।
देवीं रात्रिं नमस्यामि सिध्यतां मे मनोरथः ॥ २५ ॥

'उत्तरायणके दिन जो यह पुण्य एवं दिव्य रात्रि आ रही है, उसकी अधिष्ठात्री देवी रात्रिको मैं नमस्कार करती हूँ, मेरा मनोरथ सफल हो' ॥ २५ ॥

प्रयता च निशां देवीमुपातिष्ठत तत्र सा।
पतिव्रतात्वात् सत्येन सोपश्रुतिमथाकरोत् ॥ २६ ॥
यत्रास्ते देवराजोऽसौ तं देशं दर्शयस्व मे।
इत्याहोपश्रुतिं देवीं सत्यं सत्येन दृश्यते ॥ २७ ॥

ऐसा कहकर शचीने मन और इन्द्रियोंको संयममें रखकर रात्रि देवीकी उपासना की । पतिव्रता तथा सत्यपरा-

यणा होनेके कारण उन्होंने उपश्रुति नामवाली रात्रिदेवीका आवाहन किया और उनसे कहा—'देवि ! जहाँ देवराज इन्द्र हों, वह स्थान मुझे दिखाइये। सत्यका सत्यसे ही दर्शन होता है' ॥ २६-२७ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि सेनोद्योगपर्वणि उपश्रुतियाचने त्रयोदशोऽध्यायः ॥ १३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत सेनोद्योगपर्वमें उपश्रुतिसे प्रार्थनाविषयक तेरहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १३ ॥

चतुर्दशोऽध्यायः

उपश्रुति देवीकी सहायतासे इन्द्राणीकी इन्द्रसे भेंट

शल्य उवाच

अथैनां रूपिणी साध्वीमुपातिष्ठदुपश्रुतिः।
तां वयोरूपसम्पन्नां दृष्ट्वा देवीमुपस्थिताम् ॥ १ ॥
इन्द्राणी सम्प्रहृष्टात्मा सम्पूज्यैनामथाब्रवीत्।
इच्छामि त्वामहं ज्ञातुं का त्वं ब्रूहि वरानने ॥ २ ॥

शल्य कहते हैं—युधिष्ठिर ! तदनन्तर उपश्रुति देवी मूर्तिमती होकर साध्वी शचीदेवीके पास आयीं। नूतन वय तथा मनोहर रूपसे सुशोभित उपश्रुति देवीको उपस्थित हुई देख इन्द्राणीका मन प्रसन्न हो गया। उन्होंने उनका पूजन करके कहा—'सुमुखि ! मैं आपको जानना चाहती हूँ, बताइये, आप कौन हैं ?' ॥ १–२ ॥

उपश्रुतिरुवाच

उपश्रुतिरहं देवि तवान्तिकमुपागता।
दर्शनं चैव सम्प्राप्ता तव सत्येन भाविनि ॥ ३ ॥

उपश्रुति बोलीं—देवि ! मैं उपश्रुति हूँ और तुम्हारे पास आयी हूँ। भामिनि ! तुम्हारे सत्यसे प्रभावित होकर मैंने तुम्हें दर्शन दिया है ॥ ३ ॥

पतिव्रता च युक्ता च यमेन नियमेन च।
दर्शयिष्यामि ते शक्रं देवं वृत्रनिषूदनम् ॥ ४ ॥

तुम पतिव्रता होनेके साथ ही यम और नियमसे संयुक्त हो, अतः मैं तुम्हें वृत्रासुरनिषूदन इन्द्रदेवका दर्शन कराऊँगी ॥ ४ ॥

क्षिप्रमन्वेहि भद्रं ते द्रक्ष्यसे सुरसत्तमम्।
ततस्तां प्रहितां देवीमिन्द्राणी सा समन्वगात् ॥ ५ ॥

तुम्हारा कल्याण हो। तुम शीघ्र मेरे पीछे-पीछे चली आओ। तुम्हें सुरश्रेष्ठ देवराजके दर्शन होंगे। ऐसा कहकर उपश्रुति देवी वहाँसे चल दीं; फिर इन्द्राणी भी उनके पीछे हो लीं ॥ ५ ॥

देवारण्यान्यतिक्रम्य पर्वतांश्च बहूंस्ततः।
हिमवन्तमतिक्रम्य उत्तरं पार्श्वमागमत् ॥ ६ ॥
समुद्रं च समासाद्य बहुयोजनविस्तृतम्।
आससाद महाद्वीपं नानाद्रुमलतावृतम् ॥ ७ ॥

देवताओंके अनेकानेक वन, बहुत-से पर्वत तथा हिमालयको लाँघकर उपश्रुति देवी उसके उत्तर भागमें जा पहुचीं। तदनन्तर अनेक योजनोंतक फैले हुए समुद्रके पास पहुँचकर उन्होंने एक महाद्वीपमें प्रवेश किया, जो नाना प्रकारके वृक्षों और लताओंसे सुशोभित था ॥ ६-७ ॥

तत्रापश्यत् सरो दिव्यं नानाशकुनिभिर्वृतम्।
शतयोजनविस्तीर्णं तावदेवायतं शुभम् ॥ ८ ॥

वहाँ एक दिव्य सरोवर दिखायी दिया, जिसमें अनेक प्रकारके जल-पक्षी निवास करते थे। वह सुन्दर सरोवर सौ योजन लंबा और उतना ही चौड़ा था ॥ ८ ॥

तत्र दिव्यानि पद्मानि पञ्चवर्णानि भारत।
षट्पदैरुपगीतानि प्रफुल्लानि सहस्रशः ॥ ९ ॥

भारत ! उसके भीतर सहस्रों कमल खिले हुए थे, जो पाँच रंगके दिखायी देते थे। उनपर मँडराते हुए भौंरे गुनगुना रहे थे ॥ ९ ॥

सरसस्तस्य मध्ये तु पद्मिनी महती शुभा।
गौरेणोन्नतनालेन पद्मेन महता वृता ॥ १० ॥

उक्त सरोवरके मध्यभागमें एक बहुत बड़ी सुन्दर कमलिनी थी, जिसे एक ऊँची नालवाले गौर वर्णके विशाल कमलने घेर रक्खा था ॥ १० ॥

पद्मस्य भित्त्वा नालं च विवेश सहिता तया।
बिसतन्तुप्रविष्टं च तत्रापश्यच्छतक्रतुम् ॥ ११ ॥

उपश्रुति देवीने उस कमलनालको चीरकर इन्द्राणी-सहित उस कमलके भीतर प्रवेश किया और वहीं एक तन्तुमें घुसकर छिपे हुए शतक्रतु इन्द्रको देखा ॥ ११ ॥

तं दृष्ट्वा च सुसूक्ष्मेण रूपेणावस्थितं प्रभुम्।
सूक्ष्मरूपधरा देवी बभूवोपश्रुतिश्च सा ॥ १२ ॥

अत्यन्त सूक्ष्म रूपसे अवस्थित भगवान् इन्द्रको वहाँ देखकर देवी उपश्रुति तथा इन्द्राणीने भी सूक्ष्म रूप धारण कर लिया ॥ १२ ॥

इन्द्रं तुष्टाव चेन्द्राणी विश्रुतैः पूर्वकर्मभिः।
स्तूयमानस्ततो देवः शचीमाह पुरन्दरः ॥ १३ ॥

इन्द्राणीने पहलेके विख्यात कर्मोंका बखान करके इन्द्रदेवका स्तवन किया । अपनी स्तुति सुनकर इन्द्रदेवने शचीसे कहा—॥ १३ ॥



किमर्थमसि सम्प्राप्ता विज्ञातश्च कथं त्वहम् ।
ततः सा कथयामास नहुषस्य विचेष्टितम् ॥ १४ ॥

'देवि ! तुम किसलिये यहाँ आयी हो और तुम्हें कैसे मेरा पता लगा है ?' तब इन्द्राणीने नहुषकी कुचेष्टाका वर्णन किया ॥ १४ ॥

इन्द्रत्वं त्रिषु लोकेषु प्राप्य वीर्यसमन्वितः ।
दर्पाविष्टश्च दुष्टात्मा मामुवाच शतक्रतो ॥ १५ ॥
उपतिष्ठेति स क्रूरः कालं च कृतवान् मम ।
यदि न त्रास्यसि विभो करिष्यति स मां वशे ॥ १६ ॥

'शतक्रतो ! तीनों लोकोंके इन्द्रका पद पाकर नहुष बल-पराक्रमसे सम्पन्न हो घमंडमें भर गया है। उस दुष्टात्माने मुझसे भी कहा है कि तू मेरी सेवामें उपस्थित हो । उस क्रूर नरेशने मेरे लिये कुछ समयकी अवधि दी है । प्रभो ! यदि आप मेरी रक्षा नहीं करेंगे तो वह पापी मुझे अपने वशमें कर लेगा ॥ १५-१६ ॥

एतेन चाहं सम्प्राप्ता द्रुतं शक्र तवान्तिकम् ।
जहि रौद्रं महाबाहो नहुषं पापनिश्चयम् ॥ १७ ॥

'महाबाहु इन्द्र ! इसी कारण मैं शीघ्रतापूर्वक आपके निकट आयी हूँ । पापपूर्ण विचार रखनेवाले उस भयानक नहुषको आप मार डालिये ॥ १७ ॥

प्रकाशयात्मनाऽऽत्मानं दैत्यदानवसूदन ।
तेजः समाप्नुहि विभो देवराज्यं प्रशाधि च ॥ १८ ॥

'दैत्यदानवसूदन प्रभो ! अब आप अपने आपको प्रकाशमें लाइये, तेज प्राप्त कीजिये और देवताओंके राज्यका शासन अपने हाथमें लीजिये' ॥ १८ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि सेनोद्योगपर्वणि इन्द्राणीन्द्रस्तवे चतुर्दशोऽध्यायः ॥ १४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत सेनोद्योगपर्वमें इन्द्राणीद्वारा इन्द्रकी स्तुतिविषयक चौदहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १४ ॥

पञ्चदशोऽध्यायः

इन्द्रकी आज्ञासे इन्द्राणीके अनुरोधपर नहुषका ऋषियोंको अपना वाहन बनाना तथा बृहस्पति और अग्निका संवाद

शल्य उवाच

एवमुक्तः स भगवाञ्छच्या तां पुनरब्रवीत् ।
विक्रमस्य न कालोऽयं नहुषो बलवत्तरः ॥ १ ॥

शल्य कहते हैं—युधिष्ठिर ! शचीदेवीके ऐसा कहनेपर भगवान् इन्द्रने पुनः उनसे कहा—'देवि ! यह पराक्रम करनेका समय नहीं है । आजकल नहुष बहुत बलवान् हो गया है ॥ १ ॥

विवर्धितश्च ऋषिभिर्हव्यकव्यैश्च भाविनि ।
नीतिमत्र विधास्यामि देवि तां कर्तुमर्हसि ॥ २ ॥

'भामिनि ! ऋषियोंने हव्य और कव्य देकर उसकी शक्तिको बहुत बढ़ा दिया है । अतः मैं यहाँ नीतिसे काम लूँगा । देवि ! तुम उसी नीतिका पालन करो ॥ २ ॥

गुह्यं चैतत् त्वया कार्यं नाख्यातव्यं शुभे क्वचित् ।
गत्वा नहुषमेकान्ते ब्रवीहि च सुमध्यमे ॥ ३ ॥
ऋषियानेन दिव्येन मामुपैहि जगत्पते ।
एवं तव वशे प्रीता भविष्यामीति तं वद ॥ ४ ॥

'शुभे ! तुम्हें गुप्तरूपसे यह कार्य करना है । कहीं (भी इसे) प्रकट न करना । सुमध्यमे ! तुम एकान्तमें नहुषके पास जाकर कहो, जगत्पते ! आप दिव्य ऋषियानपर बैठकर मेरे पास आइये । ऐसा होनेपर मैं प्रसन्नतापूर्वक आपके वशमें हो जाऊँगी' ॥ ३-४ ॥

इत्युक्ता देवराजेन पत्नी सा कमलेक्षणा ।
एवमस्त्वित्यथोक्त्वा तु जगाम नहुषं प्रति ॥ ५ ॥

देवराजके इस प्रकार आदेश देनेपर उनकी कमलनयनी पत्नी शची 'एवमस्तु' कहकर नहुषके पास गयीं ॥ ५ ॥

नहुषस्तां ततो दृष्ट्वा सस्मितो वाक्यमब्रवीत् ।
स्वागतं ते वरारोहे किं करोमि शुचिस्मिते ॥ ६ ॥

उन्हें देखकर नहुष मुसकराया और इस प्रकार बोला—'वरारोहे ! तुम्हारा स्वागत है । शुचिस्मिते ! कहो, तुम्हारी क्या सेवा करूँ ? ॥ ६ ॥

भक्तं मां भज कल्याणि किमिच्छसि मनस्विनि ।
तव कल्याणि यत् कार्यं तत् करिष्ये सुमध्यमे ॥ ७ ॥

'कल्याणि ! मैं तुम्हारा भक्त हूँ, मुझे स्वीकार करो । मनस्विनि ! तुम क्या चाहती हो ? सुमध्यमे ! तुम्हारा जो भी कार्य होगा, उसे मैं सिद्ध करूँगा ॥ ७ ॥

न च व्रीडा त्वया कार्या सुश्रोणि मयि विश्वसेः ।
सत्येन वै शपे देवि करिष्ये वचनं तव ॥ ८ ॥

'सुश्रोणि ! तुम्हें मुझसे लज्जा नहीं करनी चाहिये । मुझपर विश्वास करो । देवि ! मैं सत्यकी शपथ खाकर कहता हूँ, तुम्हारी प्रत्येक आज्ञाका पालन करूँगा' ॥ ८ ॥

इन्द्राण्युवाच

यो मे कृतस्त्वया कालस्तमाकाङ्क्षे जगत्पते ।
ततस्त्वमेव भर्ता मे भविष्यसि सुराधिप ॥ ९ ॥

इन्द्राणी बोलीं—जगत्पते ! आपके साथ जो मेरी शर्त हो चुकी है, उसे मैं पूर्ण करना चाहती हूँ । सुरेश्वर ! फिर तो आप ही मेरे पति होंगे ॥ ९ ॥

कार्यं च हृदि मे यत् तद् देवराजावधारय ।
वक्ष्यामि यदि मे राजन् प्रियमेतत् करिष्यसि ॥ १० ॥
वाक्यं प्रणयसंयुक्तं ततः स्यां वशगा तव ।

देवराज ! मेरे हृदयमें एक कार्यकी अभिलाषा है, उसे बताती हूँ, सुनिये । राजन् ! यदि आप मेरे इस प्रिय कार्यको पूर्ण कर देंगे, प्रेमपूर्वक कही हुई मेरी यह बात मान लेंगे तो मैं आपके अधीन हो जाऊँगी ॥ १०½ ॥

इन्द्रस्य वाजिनो वाहा हस्तिनोऽथ रथास्तथा ॥ ११ ॥
इच्छाम्यहमथापूर्वं वाहनं ते सुराधिप ।
यन्न विष्णोर्न रुद्रस्य नासुराणां न रक्षसाम् ॥ १२ ॥

सुरेश्वर ! पहले जो इन्द्र थे, उनके वाहन हाथी, घोड़े तथा रथ आदि रहे हैं, परंतु आपका वाहन उनसे सर्वथा विलक्षण—अपूर्व हो, ऐसी मेरी इच्छा है । वह वाहन ऐसा होना चाहिये, जो भगवान् विष्णु, रुद्र, असुर तथा राक्षसोंके भी उपयोगमें न आया हो ॥ ११-१२ ॥

वहन्तु त्वां महाभागा ऋषयः संगता विभो ।
सर्वे शिबिकया राजन्नेतद्धि मम रोचते ॥ १३ ॥

प्रभो ! महाभाग सप्तर्षि एकत्र होकर शिबिकाद्वारा आपका वहन करें । राजन् ! यही मुझे अच्छा लगता है ॥

नासुरेषु न देवेषु तुल्यो भवितुमर्हसि ।
सर्वेषां तेज आदत्से स्वेन वीर्येण दर्शनात् ।
न ते प्रमुखतः स्थातुं कश्चिच्छक्नोति वीर्यवान् ॥ १४ ॥

आप अपने पराक्रमसे तथा दृष्टिपात करनेमात्रसे सबका तेज हर लेते हैं । देवताओं तथा असुरोंमें कोई भी आपकी समानता करनेवाला नहीं है । कोई कितना ही शक्तिशाली क्यों न हो, आपके सामने ठहर नहीं सकता है ॥ १४ ॥

शल्य उवाच

एवमुक्तस्तु नहुषः प्राहृष्यत तदा किल ।
उवाच वचनं चापि सुरेन्द्रस्तामनिन्दिताम् ॥ १५ ॥

शल्य कहते हैं—युधिष्ठिर ! इन्द्राणीके ऐसा कहनेपर देवराज नहुष बड़े प्रसन्न हुए और उस सती-साध्वी देवीसे इस प्रकार बोले ॥ १५ ॥

नहुष उवाच

अपूर्वं वाहनमिदं त्वयोक्तं वरवर्णिनि ।
दृढं मे रुचितं देवि त्वद्वशोऽस्मि वरानने ॥ १६ ॥

नहुषने कहा—सुन्दरि ! तुमने तो यह अपूर्व वाहन बताया । देवि ! मुझे भी वही सवारी अधिक पसंद है । सुमुखि ! मैं तुम्हारे वशमें हूँ ॥ १६ ॥

न ह्यल्पवीर्यो भवति यो वाहान् कुरुते मुनीन् ।
अहं तपस्वी बलवान् भूतभव्यभवत्प्रभुः ॥ १७ ॥

जो ऋषियोंको भी अपना वाहन बना सके, उस पुरुषमें थोड़ी शक्ति नहीं होती है । मैं तपस्वी, बलवान् तथा भूत, भविष्य और वर्तमान—तीनों कालोंका स्वामी हूँ ॥ १७ ॥

मयि क्रुद्धे जगन्न स्यान्मयि सर्वं प्रतिष्ठितम् ।
देवदानवगन्धर्वाः किन्नरोरगराक्षसाः ॥ १८ ॥
न मे क्रुद्धस्य पर्याप्ताः सर्वे लोकाः शुचिस्मिते ।
चक्षुषा यं प्रपश्यामि तस्य तेजो हराम्यहम् ॥ १९ ॥

मेरे कुपित होनेपर यह संसार मिट जायगा । मुझपर ही सब कुछ टिका हुआ है । शुचिस्मिते ! यदि मैं क्रोधमें भर जाऊँगा तो यह देवता, दानव, गन्धर्व, किन्नर, नाग, राक्षस और सम्पूर्ण लोक मेरा सामना नहीं कर सकते हैं । मैं अपनी आँखसे जिसको देख लेता हूँ, उसका तेज हर लेता हूँ ॥

तस्मात् ते वचनं देवि करिष्यामि न संशयः ।
सप्तर्षयो मां वक्ष्यन्ति सर्वे ब्रह्मर्षयस्तथा ।
पश्य माहात्म्ययोगं मे ऋद्धिं च वरवर्णिनि ॥ २० ॥

अतः देवि ! मैं तुम्हारी आज्ञाका पालन करूँगा, इसमें संशय नहीं है । सम्पूर्ण सप्तर्षि और ब्रह्मर्षि मेरी पालकी

ढोयेंगे। वरवर्णिनि ! मेरे माहात्म्य तथा समृद्धिको तुम प्रत्यक्ष देख लो ॥ २० ॥

शल्य उवाच

एवमुक्त्वा तु तां देवीं विसृज्य च वराननाम्।
विमाने योजयित्वा च ऋषीन् नियममास्थितान्॥२१॥
अब्रह्मण्यो बलोपेतो मत्तो मदबलेन च।
कामवृत्तः स दुष्टात्मा वाहयामास तानृषीन् ॥ २२ ॥

शल्य कहते हैं—राजन् ! सुन्दर मुखवाली शची देवीसे ऐसा कहकर नहुषने उन्हें विदा कर दिया और यम-नियमका पालन करनेवाले बड़े-बड़े ऋषि-मुनियोंका अपमान करके अपनी पालकीमें जोत दिया। वह ब्राह्मणद्रोही नरेश बल पाकर उन्मत्त हो गया था। मद और बलसे गर्वित हो स्वेच्छाचारी दुष्टात्मा नहुषने उन महर्षियोंको अपना वाहन बनाया ॥ २१-२२ ॥

नहुषेण विसृष्टा च बृहस्पतिमथाब्रवीत्।
समयोऽल्पावशेषो मे नहुषेणेह यः कृतः ॥ २३ ॥

उधर नहुषसे विदा लेकर इन्द्राणी बृहस्पतिके यहाँ गयीं और इस प्रकार बोलीं—'देवगुरो ! नहुषने मेरे लिये जो समय निश्चित किया है, उसमें थोड़ा ही शेष रह गया है ॥

शक्रं मृगय शीघ्रं त्वं भक्तायाः कुरु मे दयाम्।
बाढमित्येव भगवान् बृहस्पतिरुवाच ताम् ॥ २४ ॥

'आप शीघ्र इन्द्रका पता लगाइये। मैं आपकी भक्त हूँ। मुझपर दया कीजिये।' तब भगवान् बृहस्पतिने 'बहुत अच्छा' कहकर उनसे इस प्रकार कहा—॥ २४ ॥

न भेतव्यं त्वया देवि नहुषाद् दुष्टचेतसः।
न ह्येष स्थास्यति चिरं गत एष नराधमः ॥ २५ ॥

'देवि ! तुम दुष्टात्मा नहुषसे डरो मत। यह नराधम अब अधिक समयतक यहाँ ठहर नहीं सकेगा। इसे गया हुआ ही समझो ॥ २५ ॥

अधर्मज्ञो महर्षीणां वाहनाच्च ततः शुभे।
इष्टिं चाहं करिष्यामि विनाशायास्य दुर्मतेः ॥ २६ ॥
शक्रं चाधिगमिष्यामि मा भैस्त्वं भद्रमस्तु ते।

'शुभे ! यह पापी धर्मको नहीं जानता। अतः महर्षियोंको अपना वाहन बनानेके कारण शीघ्र नीचे गिरेगा। इसके सिवा मैं भी इस दुर्बुद्धि नहुषके विनाशके लिये एक यज्ञ करूँगा। साथ ही इन्द्रका भी पता लगाऊँगा। तुम डरो मत। तुम्हारा कल्याण होगा' ॥ २६½ ॥

ततः प्रज्वाल्य विधिवज्जुहाव परमं हविः ॥ २७ ॥
बृहस्पतिर्महातेजा देवराजोपलब्धये।
हुत्वाग्निं सोऽब्रवीद् राजञ्छक्रमन्विष्यतामिति ॥२८॥

तदनन्तर महातेजस्वी बृहस्पतिने देवराजकी प्राप्तिके लिये विधिपूर्वक अग्निको प्रज्वलित करके उसमें उत्तम हविष्यकी आहुति दी। राजन् ! अग्निमें आहुति देकर उन्होंने अग्निदेवसे कहा—'आप इन्द्रदेवका पता लगाइये' ॥



तस्माच्च भगवान् देवः स्वयमेव हुताशनः।
स्त्रीवेषमद्भुतं कृत्वा तत्रैवान्तरधीयत ॥ २९ ॥

उस हवनकुण्डसे साक्षात् भगवान् अग्निदेव प्रकट होकर अद्भुत स्त्रीवेष धारण करके वहीं अन्तर्धान हो गये ॥ २९ ॥

स दिशः प्रदिशश्चैव पर्वतानि वनानि च।
पृथिवीं चान्तरिक्षं च विचिन्त्याथ मनोगतिः।
निमेषान्तरमात्रेण बृहस्पतिमुपागमत् ॥ ३० ॥

मनके समान तीव्र गतिवाले अग्निदेव सम्पूर्ण दिशाओं, विदिशाओं, पर्वतों और वनोंमें तथा भूतल और आकाशमें भी इन्द्रकी खोज करके पलभरमें बृहस्पतिके पास लौट आये ॥

अग्निरुवाच

बृहस्पते न पश्यामि देवराजमिह क्वचित्।
आपः शेषाः सदा चापः प्रवेष्टुं नोत्सहाम्यहम् ॥३१॥

अग्निदेव बोले—बृहस्पते ! मैं देवराजको तो इस संसारमें कहीं नहीं देख रहा हूँ; केवल जल शेष रह गया है, जहाँ उनकी खोज नहीं की है। परंतु मैं कभी भी जलमें प्रवेश करनेका साहस नहीं कर सकता ॥ ३१ ॥

न मे तत्र गतिर्ब्रह्मन् किमन्यत् करवाणि ते।
तमब्रवीद् देवगुरुरपो विश महाद्युते ॥ ३२ ॥

ब्रह्मन् ! जलमें मेरी गति नहीं है। इसके सिवा तुम्हारा

दूसरा कौन कार्य मैं करूँ ? तब देवगुरुने कहा—'महाद्युते ! आप जलमें भी प्रवेश कीजिये' ॥ ३२ ॥

अग्निरुवाच

नापः प्रवेष्टुं शक्ष्यामि क्षयो मेऽत्र भविष्यति ।
शरणं त्वां प्रपन्नोऽस्मि स्वस्ति तेऽस्तु महाद्युते ॥ ३३ ॥

अग्निदेव बोले—मैं जलमें नहीं प्रवेश कर सकूँगा; क्योंकि उसमें मेरा विनाश हो जायगा । महातेजस्वी बृहस्पते ! मैं तुम्हारी शरणमें आया हूँ । तुम्हारा कल्याण हो । (मुझे जलमें जानेके लिये न कहो) ॥ ३३ ॥

अद्भ्योऽग्निर्ब्रह्मतः क्षत्रमश्मनो लोहमुत्थितम् ।
तेषां सर्वत्रगं तेजः स्वासु योनिषु शाम्यति ॥ ३४ ॥

जलसे अग्नि, ब्राह्मणसे क्षत्रिय तथा पत्थरसे लोहेकी उत्पत्ति हुई है । इनका तेज सर्वत्र काम करता है । परंतु अपने कारणभूत पदार्थोंमें आकर बुझ जाता है ॥ ३४ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि सेनोद्योगपर्वणि बृहस्पत्यग्निसंवादे पञ्चदशोऽध्यायः ॥ १५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत सेनोद्योगपर्वमें बृहस्पति-अग्निसंवादविषयक पंद्रहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥१५॥

षोडशोऽध्यायः

बृहस्पतिद्वारा अग्नि और इन्द्रका स्तवन तथा बृहस्पति एवं लोकपालोंकी इन्द्रसे बातचीत

बृहस्पतिरुवाच

त्वमग्ने सर्वदेवानां मुखं त्वमसि हव्यवाट् ।
त्वमन्तः सर्वभूतानां गूढश्चरसि साक्षिवत् ॥ १ ॥

बृहस्पति बोले—अग्निदेव ! आप सम्पूर्ण देवताओंके मुख हैं । आप ही देवताओंको हविष्य पहुँचानेवाले हैं । आप समस्त प्राणियोंके अन्तःकरणमें साक्षीकी भाँति गूढ़भावसे विचरते हैं ॥ १ ॥

त्वामाहुरेकं कवयस्त्वामाहुस्त्रिविधं पुनः ।
त्वया त्यक्तं जगच्चेदं सद्यो नश्येद्धुताशन ॥ २ ॥

विद्वान् पुरुष आपको एक बताते हैं । फिर वे ही आपको तीन प्रकारका कहते हैं । हुताशन ! आपके त्याग देनेपर यह सम्पूर्ण जगत् तत्काल नष्ट हो जायगा ॥ २ ॥

कृत्वा तुभ्यं नमो विप्राः स्वकर्मविजितां गतिम् ।
गच्छन्ति सह पत्नीभिः सुतैरपि च शाश्वतीम्॥ ३ ॥

ब्राह्मणलोग आपकी पूजा और वन्दना करके अपनी पत्नियों तथा पुत्रोंके साथ अपने कर्मोंद्वारा प्राप्त चिरस्थायी स्वर्गीय सुख लाभ करते हैं ॥ ३ ॥

त्वमेवाग्ने हव्यवाहस्त्वमेव परमं हविः ।
यजन्ति सत्रैस्त्वामेव यज्ञैश्च परमाध्वरे ॥ ४ ॥

अग्ने ! आप ही हविष्यको वहन करनेवाले देवता हैं । आप ही उत्कृष्ट हवि हैं । याज्ञिक विद्वान् पुरुष बड़े-बड़े यज्ञोंमें अवान्तर सत्रों और यज्ञोंद्वारा आपकी ही आराधना करते हैं ॥

सृष्ट्वा लोकांस्त्रीनिमान् हव्यवाह
प्राप्ते काले पचसि पुनः समिद्धः ।
त्वं सर्वस्य भुवनस्य प्रसूति-
स्त्वमेवाग्ने भवसि पुनः प्रतिष्ठा॥ ५ ॥

हव्यवाहन ! आप ही सृष्टिके समय इन तीनों लोकोंको उत्पन्न करके प्रलयकाल आनेपर पुनः प्रज्वलित हो इन सबका संहार करते हैं ! अग्ने ! आप ही सम्पूर्ण विश्वके उत्पत्तिस्थान हैं और आप ही पुनः इसके प्रलयकालमें आधार होते हैं ॥ ५ ॥

त्वामग्ने जलदानाहुर्विद्युतश्च मनीषिणः ।
दहन्ति सर्वभूतानि त्वत्तो निष्क्रम्य हेतयः ॥ ६ ॥

अग्निदेव ! मनीषी पुरुष आपको ही मेघ और विद्युत् कहते हैं । आपसे ही ज्वालाएँ निकलकर सम्पूर्ण भूतोंको दग्ध करती हैं ॥ ६ ॥

त्वय्यापो निहिताः सर्वास्त्वयि सर्वमिदं जगत् ।
न तेऽस्त्यविदितं किंचित् त्रिषु लोकेषु पावक ॥ ७ ॥

पावक ! आपमें ही सारा जल संचित है । आपमें ही यह सम्पूर्ण जगत् प्रतिष्ठित है । तीनों लोकोंमें कोई ऐसी वस्तु नहीं है, जो आपको ज्ञात न हो ॥ ७ ॥

स्वयोनिं भजते सर्वो विशस्वापोऽविशङ्कितः ।
अहं त्वां वर्धयिष्यामि ब्राह्मैर्मन्त्रैः सनातनैः ॥ ८ ॥

समस्त पदार्थ अपने-अपने कारणमें प्रवेश करते हैं । अतः आप भी निःशङ्क होकर जलमें प्रवेश कीजिये । मैं सनातन वेदमन्त्रोंद्वारा आपको बढ़ाऊँगा ॥ ८ ॥

एवं स्तुतो हव्यवाट् स भगवान् कविरुत्तमः ।
बृहस्पतिमथोवाच प्रीतिमान् वाक्यमुत्तमम् ।
दर्शयिष्यामि ते शक्रं सत्यमेतद् ब्रवीमि ते ॥ ९ ॥

इस प्रकार स्तुति की जानेपर हविष्य वहन करनेवाले श्रेष्ठ एवं सर्वज्ञ भगवान् अग्निदेव प्रसन्न होकर बृहस्पतिसे यह उत्तम वचन बोले—'ब्रह्मन् ! मैं आपको इन्द्रका दर्शन कराऊँगा, यह मैं आपसे सत्य कह रहा हूँ' ॥ ९ ॥

शल्य उवाच

प्रविश्यापस्ततो वह्निः ससमुद्राः सपल्वलाः ।
आससाद सरस्तच्च गूढो यत्र शतक्रतुः ॥ १० ॥

शल्य कहते हैं—युधिष्ठिर ! तदनन्तर अग्निदेवने छोटे गड्ढेसे लेकर बड़े-से-बड़े समुद्रतकके जलमें प्रवेश करके पता लगाते हुए क्रमशः उस सरोवरमें जा पहुँचे, जहाँ इन्द्र छिपे हुए थे॥ १० ॥

अथ तत्रापि पद्मानि विचिन्वन् भरतर्षभ।
अपश्यत् स तु देवेन्द्रं बिसमध्यगतं स्थितम्॥ ११॥

भरतश्रेष्ठ ! उसमें भी कमलोंके भीतर खोज करते हुए अग्निदेवने एक कमलके नालेमें बैठे हुए देवेन्द्रको देखा॥

आगत्य च ततस्तूर्णं तमाचष्ट बृहस्पतेः।
अणुमात्रेण वपुषा पद्मतन्त्वाश्रितं प्रभुम्॥ १२॥

वहाँसे तुरंत लौटकर अग्निदेवने बृहस्पतिको बताया कि भगवान् इन्द्र सूक्ष्म शरीर धारण करके एक कमलनालका आश्रय लेकर रहते हैं॥ १२॥

गत्वा देवर्षिगन्धर्वैः सहितोऽथ बृहस्पतिः।
पुराणैः कर्मभिर्देवं तुष्टाव बलसूदनम्॥ १३॥

तब बृहस्पतिजीने देवर्षियों और गन्धर्वोंके साथ वहाँ जाकर बलसूदन इन्द्रके पुरातन कर्मोंका वर्णन करते हुए उनकी स्तुति की—॥ १३ ॥

महासुरो हतः शक्र नमुचिर्दारुणस्त्वया।
शम्बरश्च बलश्चैव तथोभौ घोरविक्रमौ॥ १४॥

'इन्द्र ! आपने अत्यन्त भयंकर नमुचिनामक महान् असुरको मार गिराया है। शम्बर और बल दोनों भयंकर पराक्रमी दानव थे; परंतु उन्हें भी आपने मार डाला॥१४॥

शतक्रतो विवर्धस्व सर्वाञ्छत्रून् निषूदय।
उत्तिष्ठ शक्र सम्पश्य देवर्षींश्च समागतान्॥ १५॥

'शतक्रतो! आप अपने तेजस्वी स्वरूपसे बढ़िये और समस्त शत्रुओंका संहार कीजिये। इन्द्रदेव! उठिये और यहाँ पधारे हुए देवर्षियोंका दर्शन कीजिये॥ १५॥

महेन्द्र दानवान् हत्वा लोकास्त्रातास्त्वया विभो।
अपां फेनं समासाद्य विष्णुतेजोऽतिबृंहितम्।
त्वया वृत्रो हतः पूर्वं देवराज जगत्पते॥ १६॥

'प्रभो महेन्द्र ! आपने कितने ही दानवोंका वध करके समस्त लोकोंकी रक्षा की है। जगदीश्वर देवराज ! भगवान् विष्णुके तेजसे अत्यन्त शक्तिशाली बने हुए समुद्रफेनको लेकर आपने पूर्वकालमें वृत्रासुरका वध किया॥ १६॥

त्वं सर्वभूतेषु शरण्य ईड्य-
स्त्वया समं विद्यते नेह भूतम्।
त्वया धार्यन्ते सर्वभूतानि शक्र
त्वं देवानां महिमानं चकर्थ॥ १७॥

'आप सम्पूर्ण भूतोंमें स्तवन करने योग्य और सबके शरणदाता हैं। आपकी समानता करनेवाला जगत्में दूसरा कोई प्राणी नहीं है। शक्र! आप ही सम्पूर्ण भूतोंको धारण करते हैं और आपने ही देवताओंकी महिमा बढ़ायी है॥ १७॥

पाहि सर्वांश्च लोकांश्च महेन्द्र बलमाप्नुहि।
एवं संस्तूयमानश्च सोऽवर्धत शनैः शनैः॥ १८॥

'महेन्द्र! आप शक्ति प्राप्त कीजिये और सम्पूर्ण लोकोंकी रक्षा कीजिये।' इस प्रकार स्तुति की जानेपर देवराज इन्द्र धीरे-धीरे बढ़ने लगे॥ १८॥

स्वं चैव वपुरास्थाय बभूव स बलान्वितः।
अब्रवीच्च गुरुं देवो बृहस्पतिमवस्थितम्॥ १९॥

अपने पूर्व शरीरको प्राप्त करके वे बल-पराक्रमसे सम्पन्न हो गये। तत्पश्चात् इन्द्रने वहाँ खड़े हुए अपने गुरु बृहस्पतिसे कहा—॥ १९॥

किं कार्यमवशिष्टं वो हतस्त्वाष्ट्रो महासुरः।
वृत्रश्च सुमहाकायो यो वै लोकाननाशयत्॥ २०॥

'ब्रह्मन् ! त्वष्टाका पुत्र विशालकाय महासुर वृत्र, जो सम्पूर्ण लोकोंका विनाश कर रहा था, मेरेद्वारा मारा गया; अब आपलोगोंका कौन-सा बचा हुआ कार्य करूँ?'।२०।

बृहस्पतिरुवाच

मानुषो नहुषो राजा देवर्षिगणतेजसा।
देवराज्यमनुप्राप्तः सर्वान् नो बाधते भृशम्॥ २१॥

बृहस्पति बोले—देवेन्द्र ! मनुष्य-लोकका राजा नहुष देवर्षियोंके प्रभावसे देवताओंका राज्य पा गया है, जो हम सब लोगोंको बड़ा कष्ट दे रहा है॥ २१॥

इन्द्र उवाच

कथं च नहुषो राज्यं देवानां प्राप दुर्लभम्।
तपसा केन वा युक्तः किंवीर्यो वा बृहस्पते॥ २२॥
(तत् सर्वं कथयध्वं मे यथेन्द्रत्वमुपेयिवान्।)

इन्द्र बोले—बृहस्पते ! नहुषने देवताओंका दुर्लभ राज्य कैसे प्राप्त किया ? वह किस तपस्यासे संयुक्त है ? अथवा उसमें कितना बल और पराक्रम है ? उसे किस प्रकार इन्द्रपदकी प्राप्ति हुई है ? ये सारी बातें आप सब लोग मुझे बताइये॥ २२॥

बृहस्पतिरुवाच

देवा भीताः शक्रमकामयन्त
त्वया त्यक्तं महदैन्द्रं पदं तत्।
तदा देवाः पितरोऽथर्षयश्च
गन्धर्वमुख्याश्च समेत्य सर्वे॥ २३॥

गत्वाब्रुवन् नहुषं तत्र शक्र
त्वं नो राजा भव भुवनस्य गोप्ता।
तानब्रवीन्नहुषो नास्ति शक्त
आप्याययध्वं तपसा तेजसा माम्॥ २४ ॥

शक्र ! आपने जब उस महान् इन्द्र-पदका परित्याग कर दिया, तब देवतालोग भयभीत होकर दूसरे किसी इन्द्रकी कामना करने लगे। तब देवता, पितर, ऋषि तथा मुख्य गन्धर्व—सब मिलकर राजा नहुषके पास गये। शक्र ! वहाँ उन्होंने नहुषसे इस प्रकार कहा—'आप हमारे राजा होइये और सम्पूर्ण विश्वकी रक्षा कीजिये।' यह सुनकर नहुषने उनसे कहा—'मुझमें इन्द्र बननेकी शक्ति नहीं है, अतः आपलोग अपने तप और तेजसे मुझे आप्यायित (पुष्ट) कीजिये' ॥ २३-२४ ॥

एवमुक्तैर्वर्धितश्चापि देवै
राजाभवन्नहुषो घोरवीर्यः।
त्रैलोक्ये च प्राप्य राज्यं महर्षीन्
कृत्वा वाहान् याति लोकान् दुरात्मा॥२५॥

उसके ऐसा कहनेपर देवताओंने उसे तप और तेजसे बढ़ाया। फिर भयंकर पराक्रमी राजा नहुष स्वर्गका राजा बन गया। इस प्रकार त्रिलोकीका राज्य पाकर वह दुरात्मा नहुष महर्षियोंको अपना वाहन बनाकर सब लोकोंमें घूमता है ॥ २५ ॥

तेजोहरं दृष्टिविषं सुघोरं
मा त्वं पश्येर्नहुषं वै कदाचित्।
देवाश्च सर्वे नहुषं भृशार्ता
न पश्यन्ते गूढरूपाश्चरन्तः ॥ २६ ॥

वह देखनेमात्रसे सबका तेज हर लेता है। उसकी दृष्टिमें भयंकर विष है। वह अत्यन्त घोर स्वभावका हो गया है। तुम नहुषकी ओर कभी देखना नहीं। सब देवता भी अत्यन्त पीडित हो गूढरूपसे विचरते रहते हैं; परंतु नहुषकी ओर कभी देखते नहीं हैं ॥ २६ ॥

शल्य उवाच

एवं वदत्यङ्गिरसां वरिष्ठे
बृहस्पतौ लोकपालः कुबेरः।
वैवस्वतश्चैव यमः पुराणो
देवश्च सोमो वरुणश्चाजगाम ॥ २७ ॥

शल्य कहते हैं—राजन् ! अङ्गिराके पुत्रोंमें श्रेष्ठ बृहस्पति जब ऐसा कह रहे थे, उसी समय लोकपाल कुबेर, सूर्यपुत्र यम, पुरातन देवता चन्द्रमा तथा वरुण भी वहाँ आ पहुँचे ॥ २७ ॥

ते वै समागम्य महेन्द्रमूचु-
र्दिष्ट्या त्वाष्ट्रो निहतश्चैव वृत्रः।
दिष्ट्या च त्वां कुशलिनमक्षतं च
पश्यामो वै निहतारिं च शक्र ॥ २८ ॥

वे सब देवराज इन्द्रसे मिलकर बोले—'शक्र ! बड़े सौभाग्यकी बात है कि आपने त्वष्टाके पुत्र वृत्रासुरका वध किया। हमलोग आपको शत्रुका वध करनेके पश्चात् सकुशल और अक्षत देखते हैं, यह भी बड़े आनन्दकी बात है' ॥ २८ ॥

स तान् यथावच्च हि लोकपालान्
समेत्य वै प्रीतमना महेन्द्रः।
उवाच चैनान् प्रतिभाष्य शक्रः
संचोदयिष्यन्नहुषस्यान्तरेण ॥ २९ ॥

उन लोकपालोंसे यथायोग्य मिलकर महेन्द्रको बड़ी प्रसन्नता हुई। उन्होंने उन सबको सम्बोधित करके राजा नहुषके भीतर बुद्धिभेद उत्पन्न करनेके लिये प्रेरणा देते हुए कहा— ॥ २९ ॥

राजा देवानां नहुषो घोररूप-
स्तत्र साह्यं दीयतां मे भवद्भिः।
ते चाब्रुवन् नहुषो घोररूपो
दृष्टीविषस्तस्य बिभीम ईश ॥ ३० ॥

'इन देवताओंका राजा नहुष बड़ा भयंकर हो रहा है। उसे स्वर्गसे हटानेके कार्यमें आपलोग मेरी सहायता करें।' यह सुनकर उन्होंने उत्तर दिया—'देवेश्वर ! नहुष तो बड़ा भयंकर रूपवाला है। उसकी दृष्टिमें विष है। अतः हमलोग उससे डरते हैं ॥ ३० ॥

त्वं चेद् राजानं नहुषं पराजये-
स्ततो वयं भागमर्हाम शक्र।
इन्द्रोऽब्रवीद् भवतु भवानपां पति-
र्यमः कुबेरश्च मयाभिषेकम् ॥ ३१ ॥
सम्प्राप्नुवन्त्वद्य सहैव दैवतै
रिपुं जयाम तं नहुषं घोरदृष्टिम्।
ततः शक्रं ज्वलनोऽप्याह भागं
प्रयच्छ मह्यं तव साह्यं करिष्ये।
तमाह शक्रो भविताग्ने तवापि
चेन्द्राग्न्योर्वै भाग एको महाक्रतौ ॥ ३२ ॥

'शक्र ! यदि आप हमारी सहायतासे राजा नहुषको पराजित करनेके लिये उद्यत हैं तो हम भी यज्ञमें भाग पानेके अधिकारी हों।' इन्द्रने कहा—'वरुणदेव ! आप जलके स्वामी हों, यमराज और कुबेर भी मेरे द्वारा अपने-अपने पदपर अभिषिक्त हों। देवताओंसहित हम सब लोग भयंकर दृष्टिवाले अपने शत्रु नहुषको परास्त करेंगे। तब अग्निने भी इन्द्रसे कहा—'प्रभो ! मुझे भी भाग दीजिये, मैं आपकी

सहायता करूँगा।' तब इन्द्रने उनसे कहा—'अग्निदेव ! महायज्ञमें इन्द्र और अग्निका एक सम्मिलित भाग होगा, जिसपर तुम्हारा भी अधिकार रहेगा' ॥ ३१-३२ ॥

शल्य उवाच

एवं संचिन्त्य भगवान् महेन्द्रः पाकशासनः।
कुबेरं सर्वयक्षाणां धनानां च प्रभुं तथा ॥ ३३ ॥

शल्य कहते हैं—राजन् ! इस प्रकार सोच-विचारकर पाकशासन भगवान् महेन्द्रने कुबेरको सम्पूर्ण यक्षों तथा धनका अधिपति बना दिया ॥ ३३ ॥

वैवस्वतं पितृणां च वरुणं चाप्यपां तथा।
आधिपत्यं ददौ शक्रः संचिन्त्य वरदस्तथा ॥ ३४ ॥

इसी प्रकार वरदायक इन्द्रने खूब सोच-समझकर वैवस्वत यमको पितरोंका तथा वरुणको जलका स्वामित्व प्रदान किया ॥ ३४ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि सेनोद्योगपर्वणि इन्द्रवरुणादिसंवादे षोडशोऽध्यायः ॥ १६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत सेनोद्योगपर्वमें इन्द्रवरुणादिसंवादविषयक सोलहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १६ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका ½ श्लोक मिलाकर कुल ३४½ श्लोक हैं)

सप्तदशोऽध्यायः

अगस्त्यजीका इन्द्रसे नहुषके पतनका वृत्तान्त बताना

शल्य उवाच

अथ संचिन्तयानस्य देवराजस्य धीमतः।
नहुषस्य वधोपायं लोकपालैः सदैवतैः ॥ १ ॥
तपस्वी तत्र भगवानगस्त्यः प्रत्यदृश्यत।
सोऽब्रवीदर्च्य देवेन्द्रं दिष्ट्या वै वर्धते भवान् ॥ २ ॥
विश्वरूपविनाशेन वृत्रासुरवधेन च।
दिष्ट्याद्य नहुषो भ्रष्टो देवराज्यात् पुरंदर।
दिष्ट्या हतारिं पश्यामि भवन्तं बलसूदन ॥ ३ ॥

शल्य कहते हैं—युधिष्ठिर ! जिस समय बुद्धिमान् देवराज इन्द्र देवताओं तथा लोकपालोंके साथ बैठकर नहुषके वधका उपाय सोच रहे थे, उसी समय वहाँ तपस्वी भगवान् अगस्त्य दिखायी दिये। उन्होंने देवेन्द्रकी पूजा करके कहा—'सौभाग्यकी बात है कि आप विश्वरूपके विनाश तथा वृत्रासुरके वधसे निरन्तर अभ्युदयशील हो रहे हैं। बलसूदन पुरंदर ! यह भी सौभाग्यकी ही बात है कि आज नहुष देवताओंके राज्यसे भ्रष्ट हो गये। बलसूदन ! सौभाग्यसे ही मैं आपको शत्रुहीन देख रहा हूँ ॥ १—३ ॥

इन्द्र उवाच

स्वागतं ते महर्षेऽस्तु प्रीतोऽहं दर्शनात् तव।
पाद्यमाचमनीयं च गामर्घ्यं च प्रतीच्छ मे ॥ ४ ॥

इन्द्र बोले—महर्षे ! आपका स्वागत है, आपके दर्शनसे मुझे बड़ी प्रसन्नता मिली है, आपकी सेवामें यह पाद्य, अर्घ्य, आचमनीय तथा गौ समर्पित है। आप मेरी दी हुई ये सब वस्तुएँ ग्रहण कीजिये ॥ ४ ॥

शल्य उवाच

पूजितं चोपविष्टं तमासने मुनिसत्तमम्।
पर्यपृच्छत देवेशः प्रहृष्टो ब्राह्मणर्षभम् ॥ ५ ॥
एतदिच्छामि भगवन् कथ्यमानं द्विजोत्तम।
परिभ्रष्टः कथं स्वर्गान्नहुषः पापनिश्चयः ॥ ६ ॥

शल्य कहते हैं—युधिष्ठिर ! मुनिश्रेष्ठ अगस्त्य जब पूजा ग्रहण करके आसनपर विराजमान हुए, उस समय देवेश्वर इन्द्रने अत्यन्त प्रसन्न होकर उन विप्रशिरोमणिसे पूछा—'भगवन् ! द्विजश्रेष्ठ ! मैं आपके शब्दोंमें यह सुनना चाहता हूँ कि पापपूर्ण विचार रखनेवाला नहुष स्वर्गसे किस प्रकार भ्रष्ट हुआ है ?' ॥ ५-६ ॥

अगस्त्य उवाच

शृणु शक्र प्रियं वाक्यं यथा राजा दुरात्मवान्।
स्वर्गाद् भ्रष्टो दुराचारो नहुषो बलदर्पितः ॥ ७ ॥

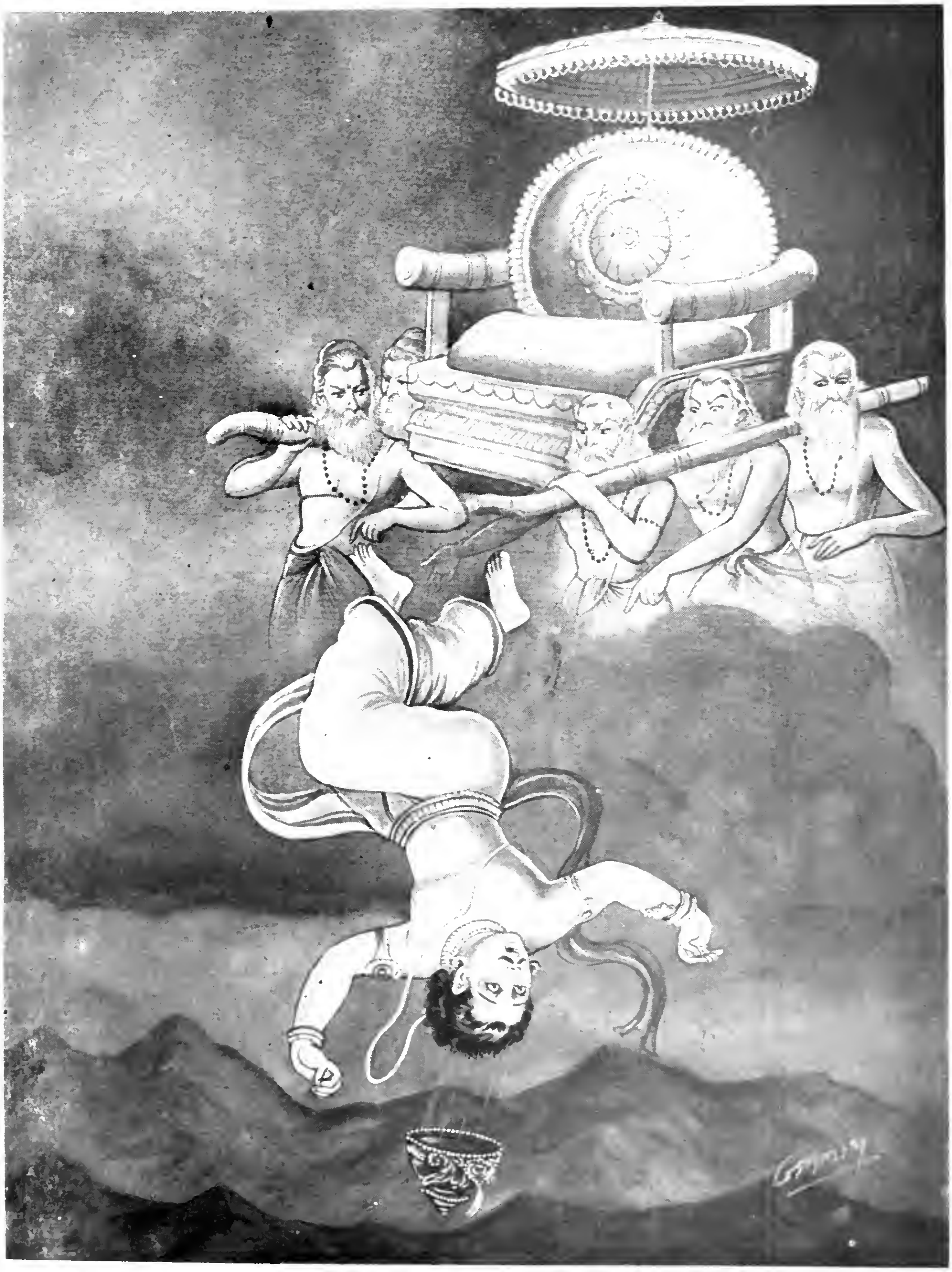
अगस्त्यजीने कहा—इन्द्र ! बलके घमंडमें भरा हुआ दुराचारी और दुरात्मा राजा नहुष जिस प्रकार स्वर्गसे भ्रष्ट हुआ है, वह प्रिय समाचार सुनो ॥ ७ ॥

श्रमार्ताश्च वहन्तस्तं नहुषं पापकारिणम्।
देवर्षयो महाभागास्तथा ब्रह्मर्षयोऽमलाः ॥ ८ ॥

महाभाग देवर्षि तथा निर्मल अन्तःकरणवाले ब्रह्मर्षि पापाचारी नहुषका बोझ ढोते-ढोते परिश्रमसे पीड़ित हो गये थे ॥ ८ ॥

पप्रच्छुर्नहुषं देव संशयं जयतां वर।
य इमे ब्रह्मणा प्रोक्ता मन्त्रा वै प्रोक्षणे गवाम् ॥ ९ ॥
एते प्रमाणं भवत उताहो नेति वासव।
नहुषो नेति तानाह तमसा मूढचेतनः ॥ १० ॥

विजयी वीरोंमें श्रेष्ठ इन्द्र ! उस समय उन महर्षियोंने नहुषसे एक संदेह पूछा—'देवेन्द्र ! गौओंके प्रोक्षणके विषयमें जो ये मन्त्र वेदमें बताये गये हैं, इन्हें आप प्रामाणिक मानते हैं या नहीं।' नहुषकी बुद्धि तमोमय अज्ञानके कारण



नहुषका स्वर्गसे पतन

किंकर्तव्यविमूढ़ हो रही थी। उसने महर्षियोंको उत्तर देते हुए कहा—'मैं इन वेदमन्त्रोंको प्रमाण नहीं मानता'।९-१०।

ऋषय ऊचुः

अधर्मे सम्प्रवृत्तस्त्वं धर्मं न प्रतिपद्यसे।
प्रमाणमेतदस्माकं पूर्वं प्रोक्तं महर्षिभिः॥ ११॥

ऋषिगण बोले—तुम अधर्ममें प्रवृत्त हो रहे हो, इसलिये धर्मका तत्त्व नहीं समझते हो। पूर्वकालमें महर्षियोंने इन सब मन्त्रोंको हमारे लिये प्रमाणभूत बताया है॥ ११॥

अगस्त्य उवाच

ततो विवदमानः स मुनिभिः सह वासव।
अथ मामस्पृशन्मूर्ध्नि पादेनाधर्मपीडितः॥ १२॥

अगस्त्यजी कहते हैं—इन्द्र! तब नहुष मुनियोंके साथ विवाद करने लगा और अधर्मसे पीड़ित होकर उस पापीने मेरे मस्तकपर पैरसे प्रहार किया॥ १२॥

तेनाभूद्धततेजाश्च निःश्रीकश्च महीपतिः।
ततस्तं तमसाऽऽविग्नमवोचं भृशपीडितम्॥ १३॥

इससे उसका सारा तेज नष्ट हो गया। वह राजा श्रीहीन हो गया। तब तमोगुणमें डूबकर अत्यन्त पीड़ित हुए नहुषसे मैंने इस प्रकार कहा—॥ १३॥

यस्मात् पूर्वैः कृतं राजन् ब्रह्मर्षिभिरनुष्ठितम्।
अदुष्टं दूषयसि मे यच्च मूर्ध्न्यस्पृशः पदा॥ १४॥
यच्चापि त्वमृषीन् मूढ ब्रह्मकल्पान् दुरासदान्॥ १५॥
वाहान् कृत्वा वाहयसि तेन स्वर्गाद्धतप्रभः।
ध्वंस पाप परिभ्रष्टः क्षीणपुण्यो महीतले॥ १६॥

'राजन्! पूर्वकालके ब्रह्मर्षियोंने जिसका अनुष्ठान किया है—जिसे प्रमाणभूत माना है, उस निर्दोष वेदमतको जो तुम सदोष बताते हो—उसे अप्रामाणिक मानते हो, इसके सिवा तुमने जो मेरे सिरपर लात मारी है तथा पापात्मा मूढ़! जो तुम ब्रह्माजीके समान दुर्धर्ष तेजस्वी ऋषियोंको वाहन बनाकर उनसे अपनी पालकी ढुलवा रहे हो, इससे तेजोहीन हो गये हो। तुम्हारा पुण्य क्षीण हो गया है। अतः स्वर्गसे भ्रष्ट होकर तुम पृथ्वीपर गिरो॥ १४—१६॥

दशवर्षसहस्राणि सर्परूपधरो महान्।
विचरिष्यसि पूर्णेषु पुनः स्वर्गमवाप्स्यसि॥ १७॥

'वहाँ दस हजार वर्षोंतक तुम महान् सर्पका रूप धारण करके विचरोगे और उतने वर्ष पूर्ण हो जानेपर पुनः स्वर्गलोक प्राप्त कर लोगे'॥ १७॥



एवं भ्रष्टो दुरात्मा स देवराज्यादरिंदम।
दिष्ट्या वर्धामहे शक्र हतो ब्राह्मणकण्टकः॥ १८॥

शत्रुदमन शक्र! इस प्रकार दुरात्मा नहुष देवताओंके राज्यसे भ्रष्ट हो गया। ब्राह्मणोंका कण्टक मारा गया। सौभाग्यकी बात है कि अब हमलोगोंकी वृद्धि हो रही है॥ १८॥

त्रिविष्टपं प्रपद्यस्व पाहि लोकाञ्छचीपते।
जितेन्द्रियो जितामित्रः स्तूयमानो महर्षिभिः॥ १९॥

शचीपते! अब आप अपनी इन्द्रियों और शत्रुओंपर विजय पा गये हैं। महर्षिगण आपकी स्तुति करते हैं, अतः आप स्वर्गलोकमें चलें और तीनों लोकोंकी रक्षा करें॥ १९॥

शल्य उवाच

ततो देवा भृशं तुष्टा महर्षिगणसंवृताः।
पितरश्चैव यक्षाश्च भुजगा राक्षसास्तथा॥ २०॥
गन्धर्वा देवकन्याश्च सर्वे चाप्सरसां गणाः।
सरांसि सरितः शैलाः सागराश्च विशाम्पते॥ २१॥

शल्य कहते हैं—युधिष्ठिर! तदनन्तर महर्षियोंसे घिरे हुए देवता, पितर, यक्ष, नाग, राक्षस, गन्धर्व, देवकन्याएँ तथा समस्त अप्सराएँ बहुत प्रसन्न हुईं। सरिताएँ, सरोवर, शैल और समुद्र भी बहुत संतुष्ट हुए॥ २०-२१॥

उपागम्याब्रुवन् सर्वे दिष्ट्या वर्धसि शत्रुहन्।
हतश्च नहुषः पापो दिष्ट्यागस्त्येन धीमता।
दिष्ट्या पापसमाचारः कृतः सर्पो महीतले॥ २२॥

वे सब लोग इन्द्रके पास आकर बोले—'शत्रुहन्!

आपका अभ्युदय हो रहा है, यह सौभाग्यकी बात है। बुद्धिमान् अगस्त्यजीने पापी नहुषको मार डाला और उस पापाचारीको पृथ्वीपर सर्प बना दिया, यह भी हमारे लिये बड़े हर्ष तथा सौभाग्यकी बात है ॥ २२ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि सेनोद्योगपर्वणि इन्द्रागस्त्यसंवादे नहुषभ्रंशे सप्तदशोऽध्यायः ॥ १७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत सेनोद्योगपर्वमें इन्द्र और अगस्त्यके संवादके प्रसङ्गमें नहुषके पतनसे सम्बन्ध रखनेवाला सत्रहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १७ ॥

अष्टादशोऽध्यायः

इन्द्रका स्वर्गमें जाकर अपने राज्यका पालन करना, शल्यका युधिष्ठिरको आश्वासन देना और उनसे विदा लेकर दुर्योधनके यहाँ जाना

शल्य उवाच

ततः शक्रः स्तूयमानो गन्धर्वाप्सरसां गणैः ।
ऐरावतं समारुह्य द्विपेन्द्रं लक्षणैर्युतम् ॥ १ ॥
पावकः सुमहातेजा महर्षिश्च बृहस्पतिः ।
यमश्च वरुणश्चैव कुबेरश्च धनेश्वरः ॥ २ ॥
सर्वैर्देवैः परिवृतः शक्रो वृत्रनिषूदनः ।
गन्धर्वैरप्सरोभिश्च यातस्त्रिभुवनं प्रभुः ॥ ३ ॥

शल्य कहते हैं--युधिष्ठिर ! तत्पश्चात् वृत्रासुरको मारनेवाले भगवान् इन्द्र गन्धर्वों और अप्सराओंके मुखसे अपनी स्तुति सुनते हुए उत्तम लक्षणोंसे युक्त गजराज ऐरावतपर आरूढ़ हो महान् तेजस्वी अग्निदेव, महर्षि बृहस्पति, यम, वरुण, धनाध्यक्ष कुबेर, सम्पूर्ण देवता, गन्धर्वगण तथा अप्सराओंसे घिरकर स्वर्गलोकको चले।१-३।

स समेत्य महेन्द्राण्या देवराजः शतक्रतुः ।
मुदा परमया युक्तः पालयामास देवराट् ॥ ४ ॥

सौ यज्ञोंका अनुष्ठान करनेवाले देवराज इन्द्र अपनी महारानी शचीसे मिलकर अत्यन्त आनन्दित हो स्वर्गका पालन करने लगे ॥ ४ ॥

ततः स भगवांस्तत्र अङ्गिराः समदृश्यत ।
अथर्ववेदमन्त्रैश्च देवेन्द्रं समपूजयत् ॥ ५ ॥

तदनन्तर वहाँ भगवान् अङ्गिराने दर्शन दिया और अथर्ववेदके मन्त्रोंसे देवेन्द्रका पूजन किया ॥ ५ ॥

ततस्तु भगवानिन्द्रः संहृष्टः समपद्यत ।
वरं च प्रददौ तस्मै अथर्वाङ्गिरसे तदा ॥ ६ ॥

इससे भगवान् इन्द्र उनपर बहुत प्रसन्न हुए और उन्होंने उस समय अथर्वाङ्गिरसको यह वर दिया—॥ ६ ॥

अथर्वाङ्गिरसो नाम वेदेऽस्मिन् वै भविष्यति ।
उदाहरणमेतद्धि यज्ञभागं च लप्स्यसे ॥ ७ ॥

'ब्रह्मन् ! आप इस अथर्ववेदमें अथर्वाङ्गिरस नामसे विख्यात होंगे और आपको यज्ञभाग भी प्राप्त होगा। इस विषयमें मेरा यह वचन ही उदाहरण (प्रमाण) होगा'।७।

एवं सम्पूज्य भगवानथर्वाङ्गिरसं तदा ।
व्यसर्जयन्महाराज देवराजः शतक्रतुः ॥ ८ ॥

महाराज युधिष्ठिर ! इस प्रकार देवराज भगवान् इन्द्रने उस समय अथर्वाङ्गिरसकी पूजा करके उन्हें विदा कर दिया।८।

सम्पूज्य सर्वांस्त्रिदशानृषींश्चापि तपोधनान् ।
इन्द्रः प्रमुदितो राजन् धर्मेणापालयत् प्रजाः ॥ ९ ॥

राजन् ! इसके बाद सम्पूर्ण देवताओं तथा तपोधन महर्षियोंकी पूजा करके देवराज इन्द्र अत्यन्त प्रसन्न हो धर्मपूर्वक प्रजाका पालन करने लगे ॥ ९ ॥

एवं दुःखमनुप्राप्तमिन्द्रेण सह भार्यया ।
अज्ञातवासश्च कृतः शत्रूणां वधकाङ्क्षया ॥ १० ॥

युधिष्ठिर ! इस प्रकार पत्नीसहित इन्द्रने बारंबार दुःख उठाया और शत्रुओंके वधकी इच्छासे अज्ञातवास भी किया ॥

नात्र मन्युस्त्वया कार्यो यत् क्लिष्टोऽसि महावने ।
द्रौपद्या सह राजेन्द्र भ्रातृभिश्च महात्मभिः ॥ ११ ॥

राजेन्द्र ! तुमने अपने महामना भाइयों तथा द्रौपदीके साथ महान् वनमें रहकर जो क्लेश सहन किया है, उसके लिये तुम्हें अनुताप नहीं करना चाहिये ॥ ११ ॥

एवं त्वमपि राजेन्द्र राज्यं प्राप्स्यसि भारत ।
वृत्रं हत्वा यथा प्राप्तः शक्रः कौरवनन्दन ॥ १२ ॥

भरतवंशी कुरुकुलनन्दन महाराज ! जैसे इन्द्रने वृत्रासुरको मारकर अपना राज्य प्राप्त किया था, इसी प्रकार तुम भी अपना राज्य प्राप्त करोगे ॥ १२ ॥

दुराचारश्च नहुषो ब्रह्मद्विट् पापचेतनः ।
अगस्त्यशापाभिहतो विनष्टः शाश्वतीःसमाः ॥ १३ ॥
एवं तव दुरात्मानः शत्रवः शत्रुसूदन ।
क्षिप्रं नाशं गमिष्यन्ति कर्णदुर्योधनादयः ॥ १४ ॥

शत्रुसूदन ! दुराचारी, ब्राह्मणद्रोही और पापात्मा नहुष जिस प्रकार अगस्त्यके शापसे ग्रस्त होकर अनन्त वर्षोंके लिये

नष्ट हो गया, इसी प्रकार तुम्हारे दुरात्मा शत्रु कर्ण और दुर्योधन आदि शीघ्र ही विनाशके मुखमें चले जायँगे ॥ १३-१४ ॥

ततः सागरपर्यन्तां भोक्ष्यसे मेदिनीमिमाम्।
भ्रातृभिः सहितो वीर द्रौपद्या च सहानया ॥ १५ ॥

वीर ! तत्पश्चात् तुम अपने भाइयों तथा इस द्रौपदीके साथ समुद्रोंसे घिरे हुए इस समस्त भूमण्डलका राज्य भोगोगे ॥

उपाख्यानमिदं शक्रविजयं वेदसम्मितम्।
राज्ञा व्यूढेष्वनीकेषु श्रोतव्यं जयमिच्छता ॥ १६ ॥

शत्रुओंकी सेना जब मोर्चा बाँधकर खड़ी हो, उस समय विजयकी अभिलाषा रखनेवाले राजाको यह 'इन्द्रविजय' नामक वेदतुल्य उपाख्यान अवश्य सुनना चाहिये ॥ १६ ॥

तस्मात् संश्रावयामि त्वां विजयं जयतां वर।
संस्तूयमाना वर्धन्ते महात्मानो युधिष्ठिर ॥ १७ ॥

अतः विजयी वीरोंमें श्रेष्ठ युधिष्ठिर ! मैंने तुम्हें यह 'इन्द्र-विजय' नामक उपाख्यान सुनाया है; क्योंकि जब महात्मा देवताओंकी स्तुति-प्रशंसा की जाती है, तब वे मानवकी उन्नति करते हैं ॥ १७ ॥

क्षत्रियाणामभावोऽयं युधिष्ठिर महात्मनाम्।
दुर्योधनापराधेन भीमार्जुनबलेन च ॥ १८ ॥

युधिष्ठिर ! दुर्योधनके अपराधसे तथा भीमसेन और अर्जुनके बलसे यह महामना क्षत्रियोंके संहारका अवसर उपस्थित हो गया है ॥ १८ ॥

आख्यानमिन्द्रविजयं य इदं नियतः पठेत्।
धूतपाप्मा जितस्वर्गः परत्रेह च मोदते ॥ १९ ॥

जो पुरुष नियमपरायण हो इस इन्द्रविजयनामक उपाख्यानका पाठ करता है, वह पापरहित हो स्वर्गपर विजय पाता तथा इहलोक और परलोकमें भी सुखी होता है ॥ १९ ॥

न चारिजं भयं तस्य नापुत्रो वा भवेन्नरः।
नापदं प्राप्नुयात् कांचिद् दीर्घमायुश्च विन्दति।
सर्वत्र जयमाप्नोति न कदाचित् पराजयम् ॥ २० ॥

वह मनुष्य कभी संतानहीन नहीं होता; उसे शत्रुजनित भय नहीं सताता, उसपर कोई आपत्ति नहीं आती, वह दीर्घायु होता है, उसे सर्वत्र विजय प्राप्त होती है तथा कभी उसकी पराजय नहीं होती है ॥ २० ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमाश्वासितो राजा शल्येन भरतर्षभ।
पूजयामास विधिवच्छल्यं धर्मभृतां वरः ॥ २१ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं— भरतश्रेष्ठ जनमेजय ! शल्यके इस प्रकार आश्वासन देनेपर धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ युधिष्ठिरने उनका विधिपूर्वक पूजन किया ॥ २१ ॥

श्रुत्वा तु शल्यवचनं कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः।
प्रत्युवाच महाबाहुर्मद्रराजमिदं वचः ॥ २२ ॥

शल्यकी बात सुनकर कुन्तीपुत्र महाबाहु युधिष्ठिर मद्रराजसे यह वचन बोले— ॥ २२ ॥

भवान् कर्णस्य सारथ्यं करिष्यति न संशयः।
तत्र तेजोवधः कार्यः कर्णस्यार्जुनसंस्तवैः ॥ २३ ॥

'मामाजी ! जब अर्जुनके साथ कर्णका युद्ध होगा, उस समय आप कर्णका सारथ्य करेंगे, इसमें संशय नहीं है। उस समय आप अर्जुनकी प्रशंसा करके कर्णके तेज और उत्साहका नाश करें (यही मेरा अनुरोध है)' ॥ २३ ॥

शल्य उवाच

एवमेतत् करिष्यामि यथा मां सम्प्रभाषसे।
यच्चान्यदपि शक्ष्यामि तत् करिष्याम्यहं तव ॥ २४ ॥

शल्य बोले—राजन् ! तुम जैसा कह रहे हो, ऐसा ही करूँगा और भी (तुम्हारे हितके लिये) जो कुछ मुझसे हो सकेगा, वह सब तुम्हारे लिये करूँगा ॥ २४ ॥

वैशम्पायन उवाच

ततस्त्वामन्त्र्य कौन्तेयाञ्छल्यो मद्राधिपस्तदा।
जगाम सबलः श्रीमान् दुर्योधनमरिंदम ॥ २५ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—शत्रुदमन जनमेजय ! तदनन्तर समस्त कुन्तीकुमारोंसे विदा लेकर श्रीमान् मद्रराज शल्य अपनी सेनाके साथ दुर्योधनके यहाँ चले गये ॥ २५ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि सेनोद्योगपर्वणि शल्यगमने अष्टादशोऽध्यायः ॥ १८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत सेनोद्योगपर्वमें शल्यगमनविषयक अठारहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १८ ॥

एकोनविंशोऽध्यायः

युधिष्ठिर और दुर्योधनके यहाँ सहायताके लिये आयी हुई सेनाओंका संक्षिप्त विवरण

वैशम्पायन उवाच

युयुधानस्ततो वीरः सात्वतानां महारथः।
महता चतुरङ्गेण बलेनागाद् युधिष्ठिरम् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तदनन्तर सात्वतवंशके महारथी वीर युयुधान (सात्यकि) विशाल चतुरङ्गिणी सेना साथ लेकर युधिष्ठिरके पास आये ॥ १ ॥

तस्य योधा महावीर्या नानादेशसमागताः।
नानाप्रहरणा वीराः शोभयाञ्चक्रिरे बलम् ॥ २ ॥

उनके सैनिक बड़े पराक्रमी वीर थे। विभिन्न देशोंसे उनका आगमन हुआ था। वे भाँति-भाँतिके अस्त्र-शस्त्र लिये उस सेनाकी शोभा बढ़ा रहे थे ॥ २ ॥

परश्वधैर्भिन्दिपालैः शूलतोमरमुद्गरैः।
परिघैर्यष्टिभिः पाशैः करवालैश्च निर्मलैः ॥ ३ ॥
खड्गकार्मुकनिर्व्यूहैः शरैश्च विविधैरपि।
तैलधौतैः प्रकाशद्भिस्तदशोभत वै बलम् ॥ ४ ॥

फरसे, भिन्दिपाल, शूल, तोमर, मुद्गर, परिघ, यष्टि, पाश, निर्मल तलवार, खड्ग[1], धनुषसमूह तथा भाँति-भाँतिके बाण आदि अस्त्र-शस्त्र तेलमें धुले होनेके कारण चमचमा रहे थे, जिनसे वह सेना सुशोभित हो रही थी ॥ ३-४ ॥



तस्य मेघप्रकाशस्य सौवर्णैः शोभितस्य च।
बभूव रूपं सैन्यस्य मेघस्येव सविद्युतः ॥ ५ ॥

सात्यकिकी वह सेना (हाथियोंके समूहके कारण तथा काली वर्दी पहननेसे) मेघोंके समान काली दिखायी देती थी। सैनिकोंके सुनहरे आभूषणोंसे सुशोभित हो वह ऐसी जान पड़ती थी, मानो बिजलियोंसहित मेघोंकी घटा छा रही हो ॥ ५ ॥

अक्षौहिणी तु सा सेना तदा यौधिष्ठिरं बलम्।
प्रविश्यान्तर्दधे राजन् सागरं कुनदी यथा ॥ ६ ॥

राजन्! वह एक अक्षौहिणी सेना युधिष्ठिरकी विशाल वाहिनीमें समाकर उसी प्रकार विलीन हो गयी, जैसे कोई छोटी नदी समुद्रमें मिल गयी हो ॥ ६ ॥

तथैवाक्षौहिणीं गृह्य चेदीनामृषभो बली।
धृष्टकेतुरुपागच्छत् पाण्डवानमितौजसः ॥ ७ ॥

इसी प्रकार महाबली चेदिराज धृष्टकेतु अपनी एक अक्षौहिणी सेना साथ लेकर अमित तेजस्वी पाण्डवोंके पास आये ॥ ७ ॥

मागधश्च जयत्सेनो जारासन्धिर्महाबलः।
अक्षौहिण्यैव सैन्यस्य धर्मराजमुपागमत् ॥ ८ ॥

मागध वीर जयत्सेन और जरासंधका महाबली पुत्र सहदेव—ये दोनों एक अक्षौहिणी सेनाके साथ धर्मराज युधिष्ठिरके पास आये थे ॥ ८ ॥

तथैव पाण्ड्यो राजेन्द्र सागरानूपवासिभिः।
वृतो बहुविधैर्योधैर्युधिष्ठिरमुपागमत् ॥ ९ ॥

राजेन्द्र! इसी प्रकार समुद्रतटवर्ती जलप्राय देशके निवासी अनेक प्रकारके सैनिकोंसे घिरे हुए पाण्ड्यनरेश युधिष्ठिरके पक्षमें पधारे थे ॥ ९ ॥

तस्य सैन्यमतीवासीत् तस्मिन् बलसमागमे।
प्रेक्षणीयतरं राजन् सुवेषं बलवत् तदा ॥ १० ॥

राजन्! उस सैन्य-समागमके समय युधिष्ठिरकी सुन्दर वेष-भूषासे विभूषित तथा प्रबल सेना, जिसकी संख्या बहुत अधिक थी, देखने ही योग्य जान पड़ती थी ॥ १० ॥

द्रुपदस्याप्यभूत् सेना नानादेशसमागतैः।
शोभिता पुरुषैः शूरैः पुत्रैश्चास्य महारथैः ॥ ११ ॥

द्रुपदकी सेना तो वहाँ पहलेसे ही उपस्थित थी, जो विभिन्न देशोंसे आये हुए शूरवीर पुरुषों तथा द्रुपदके महारथी पुत्रोंसे सुशोभित थी ॥ ११ ॥

तथैव राजा मत्स्यानां विराटो वाहिनीपतिः।
पर्वतीयैर्महीपालैः सहितः पाण्डवानियात् ॥ १२ ॥

इसी प्रकार मत्स्यनरेश सेनापति विराट भी पर्वतीय राजाओंके साथ पाण्डवोंकी सहायताके लिये प्रस्तुत थे ॥ १२ ॥

इतश्चेतश्च पाण्डूनां समाजग्मुर्महात्मनाम्।
अक्षौहिण्यस्तु सप्तैता विविधध्वजसंकुलाः ॥ १३ ॥
युयुत्समानाः कुरुभिः पाण्डवान् समहर्षयन्।

महात्मा पाण्डवोंके पास इधर-उधरसे सात अक्षौहिणी सेनाएँ एकत्र हुई थीं, जो नाना प्रकारकी ध्वजा-पताकाओंसे व्याप्त दिखायी देती थीं। ये सब सेनाएँ कौरवोंसे युद्ध करनेकी इच्छा रखकर पाण्डवोंका हर्ष बढ़ाती थीं ॥ १३½ ॥

तथैव धार्तराष्ट्रस्य हर्षं समभिवर्धयन् ॥ १४ ॥

---

१. 'खड्ग' दुधारी तलवारको कहते हैं।

भगदत्तो महीपालः सेनामक्षौहिणीं ददौ ।
तस्य चीनैः किरातैश्च काञ्चनैरिव संवृतम् ॥ १५ ॥
बभौ बलमनाधृष्यं कर्णिकारवनं यथा ।

इसी प्रकार राजा भगदत्तने दुर्योधनका हर्ष बढ़ाते हुए उसे एक अक्षौहिणी सेना प्रदान की । सुनहरे शरीरवाले चीन और किरात देशके योद्धाओंसे भरी हुई भगदत्तकी दुर्धर्ष सेना (खिले हुए) कनेरके जंगल-सी जान पड़ती थी ॥ १४-१५½ ॥

तथा भूरिश्रवाः शूरः शल्यश्च कुरुनन्दन ॥ १६ ॥
दुर्योधनमुपायातावक्षौहिण्या पृथक् पृथक् ।

कुरुनन्दन ! इसी प्रकार शूरवीर भूरिश्रवा तथा राजा शल्य पृथक्-पृथक् एक-एक अक्षौहिणी सेना साथ लेकर दुर्योधनके पास आये ॥ १६½ ॥

कृतवर्मा च हार्दिक्यो भोजान्धककुकुरैः सह ॥ १७ ॥
अक्षौहिण्यैव सेनाया दुर्योधनमुपागमत् ।

हृदिकपुत्र कृतवर्मा भी भोज, अन्धक तथा कुकुरवंशी वीरोंके साथ एक अक्षौहिणी सेना लेकर दुर्योधनके पास आया ॥ १७½ ॥

तस्य तैः पुरुषव्याघ्रैर्वनमालाधरैर्बलम् ॥ १८ ॥
अशोभत यथा मत्तैर्वनं प्रक्रीडितैर्गजैः ।

उन वनमालाधारी पुरुषसिंहोंसे कृतवर्माकी सेना उसी प्रकार सुशोभित हुई, जैसे क्रीडापरायण मतवाले हाथियोंसे कोई (विशाल) वन शोभा पा रहा हो ॥ १८½ ॥

जयद्रथमुखाश्चान्ये सिन्धुसौवीरवासिनः ॥ १९ ॥
आजग्मुः पृथिवीपालाः कम्पयन्त इवाचलान् ।

जयद्रथ आदि अन्य राजा, जो सिन्धु और सौवीरदेशके निवासी थे, पर्वतोंको कँपाते हुए-से दुर्योधनके पास आये ॥

तेषामक्षौहिणी सेना बहुला विबभौ तदा ॥ २० ॥
विधूयमानो वातेन बहुरूप इवाम्बुदः ।

उनकी वह एक अक्षौहिणी विशाल सेना उस समय हवासे उड़ाये जाते हुए अनेक रूपवाले मेघके समान प्रतीत होती थी ॥ २०½ ॥

सुदक्षिणश्च काम्बोजो यवनैश्च शकैस्तथा ॥ २१ ॥
उपाजगाम कौरव्यमक्षौहिण्या विशाम्पते ।
तस्य सेनासमावायः शलभानामिवाबभौ ॥ २२ ॥
स च सम्प्राप्य कौरव्यं तत्रैवान्तर्दधे तदा ।

राजन् ! कम्बोजनरेश सुदक्षिण भी यवनों और शकोंके साथ एक अक्षौहिणी सेना लिये दुर्योधनके पास आया । उसका सैन्य-समूह टिड्डियोंके दल-सा जान पड़ता था । वह सारा सैन्य-समुदाय कौरव-सेनामें आकर विलीन हो गया ॥

तथा माहिष्मतीवासी नीलो नीलायुधैः सह ॥ २३ ॥
महीपालो महावीर्यैर्दक्षिणापथवासिभिः ।

इसी प्रकार माहिष्मती पुरीके निवासी राजा नील भी दक्षिण देशके रहनेवाले श्यामवर्णके शस्त्रधारी महापराक्रमी सैनिकोंके साथ दुर्योधनके पक्षमें आये ॥ २३½ ॥

आवन्त्यौ च महीपालौ महाबलसुसंवृतौ ॥ २४ ॥
अक्षौहिण्या च कौरव्यं दुर्योधनमुपागतौ ।

अवन्तीदेशके दोनों राजा विन्द और अनुविन्द भी पृथक्-पृथक् एक अक्षौहिणी सेनासे घिरे हुए दुर्योधनके पास आये ॥ २४½ ॥

केकयाश्च नरव्याघ्राः सोदर्याः पञ्च पार्थिवाः ॥ २५ ॥
संहर्षयन्तः कौरव्यमक्षौहिण्या समाद्रवन् ।

केकयदेशके पुरुषसिंह पाँच नरेश, जो परस्पर सगे भाई थे, दुर्योधनका हर्ष बढ़ाते हुए एक अक्षौहिणी सेनाके साथ आ पहुँचे ॥ २५½ ॥

ततस्ततस्तु सर्वेषां भूमिपानां महात्मनाम् ॥ २६ ॥
तिस्रोऽन्याः समवर्तन्त वाहिन्यो भरतर्षभ ।

भरतश्रेष्ठ ! तदनन्तर इधर-उधरसे समस्त महामना नरेशोंकी तीन अक्षौहिणी सेनाएँ और आ पहुँचीं ॥ २६½ ॥

एवमेकादशावृत्ताः सेना दुर्योधनस्य ताः ॥ २७ ॥
युयुत्समानाः कौन्तेयान् नानाध्वजसमाकुलाः ।

इस प्रकार दुर्योधनके पास सब मिलाकर ग्यारह अक्षौहिणी सेनाएँ एकत्र हो गयीं, जो भाँति-भाँतिकी ध्वजा-पताकाओंसे सुशोभित थीं और कुन्तीकुमारोंसे युद्ध करनेका उत्साह रखती थीं ॥ २७½ ॥

न हास्तिनपुरे राजन्नवकाशोऽभवत् तदा ॥ २८ ॥
राज्ञां स्वबलमुख्यानां प्राधान्येनापि भारत ।

राजन् ! दुर्योधनकी अपनी सेनाके जो प्रधान-प्रधान राजा थे, उनके भी ठहरनेके लिये हस्तिनापुरमें स्थान नहीं रह गया था ॥ २८½ ॥

ततः पञ्चनदं चैव कृत्स्नं च कुरुजाङ्गलम् ॥ २९ ॥
तथा रोहितकारण्यं मरुभूमिश्च केवला ।
अहिच्छत्रं कालकूटं गङ्गाकूलं च भारत ॥ ३० ॥
वारणं वाटधानं च यामुनश्चैव पर्वतः ।
एष देशः सुविस्तीर्णः प्रभूतधनधान्यवान् ॥ ३१ ॥

इसलिये भारत ! पञ्चनद प्रदेश, सम्पूर्ण कुरुजाङ्गल देश, रोहितकवन (रोहतक), समस्त मरुभूमि, अहिच्छत्र, कालकूट, गङ्गातट, वारण, वाटधान तथा यामुनपर्वत—यह प्रचुर धन-धान्यसे सम्पन्न सुविस्तृत प्रदेश कौरवोंकी सेनासे भलीभाँति घिर गया ॥

बभूव कौरवेयाणां बलेनातीव संवृतः ।

तत्र सैन्यं तथा युक्तं ददर्श स पुरोहितः ॥ ३२ ॥
यः स पाञ्चालराजेन प्रेषितः कौरवान् प्रति ॥ ३३ ॥

पाञ्चालराज द्रुपदने अपने जिन पुरोहित ब्राह्मणको कौरवोंके पास भेजा था, उन्होंने वहाँ पहुँचकर उस विशाल सेनाके जमावको देखा ॥ ३२-३३ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि सेनोद्योगपर्वणि पुरोहितसैन्यदर्शने एकोनविंशोऽध्यायः ॥ १९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत सेनोद्योगपर्वमें पुरोहितके द्वारा सैन्यदर्शनविषयक उन्नीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १९ ॥

(संजययानपर्व)

विंशोऽध्यायः

द्रुपदके पुरोहितका कौरवसभामें भाषण

वैशम्पायन उवाच

स च कौरव्यमासाद्य द्रुपदस्य पुरोहितः।
सत्कृतो धृतराष्ट्रेण भीष्मेण विदुरेण च ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तदनन्तर द्रुपदके पुरोहित कौरवनरेशके पास पहुँचकर राजा धृतराष्ट्र, भीष्म तथा विदुरजीद्वारा सम्मानित हुए ॥ १ ॥

सर्वं कौशल्यमुक्त्वाऽऽदौ पृष्ट्वा चैवमनामयम्।
सर्वसेनाप्रणेतॄणां मध्ये वाक्यमुवाच ह ॥ २ ॥

उन्होंने पहले (अपने पक्षके लोगोंका) सारा कुशल-समाचार बताकर धृतराष्ट्र आदिके स्वास्थ्यका समाचार पूछा, फिर सम्पूर्ण सेनानायकोंके समक्ष इस प्रकार कहा— ॥ २ ॥

सर्वैर्भवद्भिर्विदितो राजधर्मः सनातनः।
वाक्योपादानहेतोस्तु वक्ष्यामि विदिते सति ॥ ३ ॥

'आप सब लोग सनातन राजधर्मको अच्छी तरह जानते हैं। जाननेपर भी स्वयं इसलिये कुछ कह रहा हूँ कि अन्तमें कुछ आपलोगोंके मुखसे भी सुननेका अवसर मिले ॥ ३ ॥

धृतराष्ट्रश्च पाण्डुश्च सुतावेकस्य विश्रुतौ।
तयोः समानं द्रविणं पैतृकं नात्र संशयः ॥ ४ ॥
धृतराष्ट्रस्य ये पुत्राः प्राप्तं तैः पैतृकं वसु।
पाण्डुपुत्राः कथं नाम न प्राप्ताः पैतृकं वसु ॥ ५ ॥

'राजा धृतराष्ट्र तथा पाण्डु दोनों एक ही पिताके सुविख्यात पुत्र हैं। पैतृक सम्पत्तिमें दोनोंका समान अधिकार है, इसमें तनिक भी संशय नहीं है। धृतराष्ट्रके जो पुत्र हैं, उन्होंने तो पैतृक धन प्राप्त कर लिया, परंतु पाण्डवोंको वह पैतृक सम्पत्ति क्यों न प्राप्त हो ? ॥ ४-५ ॥

एवंगते पाण्डवेयैर्विदितं वः पुरा यथा।
न प्राप्तं पैतृकं द्रव्यं धृतराष्ट्रेण संवृतम् ॥ ६ ॥

'धृतराष्ट्रने सारा धन अपने अधिकारमें कर लिया; इसलिये पाण्डुपुत्रोंको पैतृक धन नहीं मिला है, यह बात आपलोग पहलेसे ही जानते हैं ॥ ६ ॥

प्राणान्तिकैरप्युपायैः प्रयतद्भिरनेकशः।
शेषवन्तो न शकिता नेतुं वै यमसादनम् ॥ ७ ॥

'उसके बाद दुर्योधन आदि धृतराष्ट्र-पुत्रोंने प्राणान्तकारी उपायोंद्वारा अनेक बार पाण्डवोंको नष्ट करनेका प्रयत्न किया; परंतु इनकी आयु शेष थी, इसलिये वे इन्हें यमलोक न पहुँचा सके ॥ ७ ॥

पुनश्च वर्धितं राज्यं स्वबलेन महात्मभिः।
छद्मनापहृतं क्षुद्रैर्धार्तराष्ट्रैः ससौबलैः ॥ ८ ॥

'फिर महात्मा पाण्डवोंने अपने बाहुबलसे नूतन राज्यकी प्रतिष्ठा करके उसे बढ़ा लिया; परंतु शकुनिसहित क्षुद्र धृतराष्ट्रपुत्रोंने जूएमें छल-कपटका आश्रय ले उसका हरण कर लिया ॥ ८ ॥

तदप्यनुमतं कर्म यथायुक्तमनेन वै।
वासिताश्च महारण्ये वर्षाणीह त्रयोदश ॥ ९ ॥

'तत्पश्चात् धृतराष्ट्रने भी उस द्यूतकर्मका अनुमोदन किया और उन्होंने जैसा आदेश दिया, उसके अनुसार पाण्डव महान् वनमें तेरह वर्षोंतक* निवास करनेके लिये विवश हुए ॥ ९ ॥

सभायां क्लेशितैर्वीरैः सहभार्यैस्तथा भृशम्।
अरण्ये विविधाः क्लेशाः सम्प्राप्तास्तैः सुदारुणाः ॥ १० ॥

'पत्नीसहित वीर पाण्डवोंको कौरव-सभामें भारी क्लेश पहुँचाया गया तथा वनमें भी उन्हें नाना प्रकारके भयंकर कष्ट भोगने पड़े ॥ १० ॥

तथा विराटनगरे योन्यन्तरगतैरिव।
प्राप्तः परमसंक्लेशो यथा पापैर्महात्मभिः ॥ ११ ॥

'इतना ही नहीं, दूसरी योनिमें पड़े हुए पापियोंकी तरह विराटनगरमें भी इन महात्माओंको महान् क्लेश सहन करना पड़ा है ॥ ११ ॥

* बारह वर्षका वनवास एवं एक वर्षका अज्ञातवास दोनों मिलाकर तेरह वर्ष समझने चाहिये।

ते सर्वे पृष्ठतः कृत्वा तत् सर्वं पूर्वकिल्बिषम् ।
सामैव कुरुभिः सार्धमिच्छन्ति कुरुपुङ्गवाः ॥ १२ ॥

'पहलेके किये हुए इन सब अत्याचारोंको भुलाकर वे कुरुश्रेष्ठ पाण्डव अब भी इन कौरवोंके साथ मेल-जोल ही रखना चाहते हैं ॥ १२ ॥

तेषां च वृत्तमाज्ञाय वृत्तं दुर्योधनस्य च ।
अनुनेतुमिहार्हन्ति धार्तराष्ट्रं सुहृज्जनाः ॥ १३ ॥

'पाण्डवोंके आचार-व्यवहारको तथा दुर्योधनके बर्तावको जानकर (उभयपक्षका हित चाहनेवाले) सुहृदोंका यह कर्तव्य है कि वे दुर्योधनको समझावें ॥ १३ ॥

न हि ते विग्रहं वीराः कुर्वन्ति कुरुभिः सह ।
अविनाशेन लोकस्य काङ्क्षन्ते पाण्डवाः स्वकम् ॥ १४ ॥

'वीर पाण्डव कौरवोंके साथ युद्ध नहीं कर रहे हैं, वे जनसंहार किये बिना ही अपना राज्य पाना चाहते हैं ॥ १४ ॥

यश्चापि धार्तराष्ट्रस्य हेतुः स्याद् विग्रहं प्रति ।
स च हेतुर्न मन्तव्यो बलीयांसस्तथा हि ते ॥ १५ ॥

'दुर्योधन जिस हेतुको सामने रखकर युद्धके लिये उत्सुक है, उसे यथार्थ नहीं मानना चाहिये; क्योंकि पाण्डव इन कौरवोंसे अधिक बलिष्ठ हैं ॥ १५ ॥

अक्षौहिण्यश्च सप्तैव धर्मपुत्रस्य संगताः ।
युयुत्समानाः कुरुभिः प्रतीक्षन्तेऽस्य शासनम् ॥ १६ ॥

'धर्मपुत्र युधिष्ठिरके पास सात अक्षौहिणी सेनाएँ भी एकत्र हो गयी हैं, जो कौरवोंके साथ युद्धकी अभिलाषा रखकर उनके आदेशभरकी प्रतीक्षा कर रही हैं ॥ १६ ॥

अपरे पुरुषव्याघ्राः सहस्राक्षौहिणीसमाः ।
सात्यकिर्भीमसेनश्च यमौ च सुमहाबलौ ॥ १७ ॥

'इसके सिवा सात्यकि, भीमसेन तथा महाबली नकुल-सहदेव आदि जो दूसरे पुरुषसिंह वीर हैं, वे अकेले हजार अक्षौहिणी सेनाओंके समान हैं ॥ १७ ॥

एकादशैताः पृतना एकतश्च समागताः ।
एकतश्च महाबाहुर्बहुरूपी धनंजयः ॥ १८ ॥

'ये कौरवोंकी ग्यारह अक्षौहिणी सेनाएँ एक ओरसे आवें और दूसरी ओर केवल अनेक रूपधारी[1] महाबाहु अर्जुन हों, तो वे अकेले ही इन सबके लिये पर्याप्त हैं ॥ १८ ॥

यथा किरीटी सर्वाभ्यः सेनाभ्यो व्यतिरिच्यते ।
एवमेव महाबाहुर्वासुदेवो महाद्युतिः ॥ १९ ॥

'जैसे किरीटधारी अर्जुन अकेले ही इन सब सेनाओंसे बढ़कर हैं, उसी प्रकार महातेजस्वी महाबाहु श्रीकृष्ण भी हैं ॥ १९ ॥

बहुलत्वं च सेनानां विक्रमं च किरीटिनः ।
बुद्धिमत्त्वं च कृष्णस्य बुद्ध्वा युध्येत को नरः ॥ २० ॥

'युधिष्ठिरकी सेनाओंके बाहुल्य, किरीटधारी अर्जुनके पराक्रम तथा भगवान् श्रीकृष्णकी बुद्धिमत्ताको जान लेनेपर कौन मनुष्य पाण्डवोंके साथ युद्ध कर सकता है ? ॥ २० ॥

ते भवन्तो यथाधर्मं यथासमयमेव च ।
प्रयच्छन्तु प्रदातव्यं मा वः कालोऽत्यगादयम् ॥ २१ ॥

'अतः आपलोग अपने धर्म और पहले की हुई प्रतिज्ञाके अनुसार पाण्डवोंको उनका आधा राज्य, जो उन्हें मिलना ही चाहिये, दे दीजिये । कहीं ऐसा न हो कि यह सुन्दर अवसर आपलोगोंके हाथसे निकल जाय' ॥ २१ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि सञ्जययानपर्वणि पुरोहितयाने विंशोऽध्यायः ॥ २० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत संजययानपर्वमें पुरोहितकी यात्राविषयक बीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २० ॥

एकविंशोऽध्यायः

भीष्मके द्वारा द्रुपदके पुरोहितकी बातका समर्थन करते हुए अर्जुनकी प्रशंसा करना, इसके विरुद्ध कर्णके आक्षेपपूर्ण वचन तथा धृतराष्ट्रद्वारा भीष्मकी बातका समर्थन करते हुए दूतको सम्मानित करके विदा करना

वैशम्पायन उवाच

तस्य तद् वचनं श्रुत्वा प्रज्ञावृद्धो महाद्युतिः ।
सम्पूज्यैनं यथाकालं भीष्मो वचनमब्रवीत् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! पुरोहितकी

---

१. यहाँ अनेक रूपधारी शब्दका यह तात्पर्य है कि अर्जुन इतने वेगसे युद्ध करते थे कि वे रणभूमिमें अनेक-से दिखायी देते थे । द्रोणपर्वके ८९ वें अध्यायमें युद्धके प्रसंगमें ऐसा वर्णन भी मिलता है—

अयं पार्थः कुतः पार्थ एष पार्थ इति प्रभो । तव सैन्येषु योधानां पार्थभूतमिवाभवत् ॥
अन्योन्यमपि चाजघ्नुरात्मानमपि चापरे । पार्थभूतममन्यन्त जगत् कालेन मोहिताः ॥

महाराज ! आपके सैनिकोंको सब ओर अर्जुन-ही-अर्जुन दिखायी देते थे । वे बार-बार 'अर्जुन यह है, अर्जुन कहाँ है ? अर्जुन वह खड़ा है' इस प्रकार चिल्ला उठते थे । इस भ्रममें पड़कर उनमेंसे कोई-कोई तो आपसमें और कोई अपनेपर ही प्रहार कर बैठते थे । उस समय कालके वशीभूत हो वे सारे संसारको अर्जुनमय ही देखने लगे थे ।

यह बात सुनकर बुद्धिमें बढ़े-चढ़े महातेजस्वी भीष्मने समयके अनुरूप उनकी पूजा करके इस प्रकार कहा—॥ १ ॥

दिष्ट्या कुशलिनः सर्वे सह दामोदरेण ते ।
दिष्ट्या सहायवन्तश्च दिष्ट्या धर्मे च ते रताः ॥ २ ॥

'ब्रह्मन्! सब पाण्डव भगवान् श्रीकृष्णके साथ सकुशल हैं, यह सौभाग्यकी बात है। उनके बहुतसे सहायक हैं और वे धर्ममें भी तत्पर हैं, यह और भी सौभाग्य तथा हर्षका विषय है॥ २॥

दिष्ट्या च संधिकामास्ते भ्रातरः कुरुनन्दनाः ।
दिष्ट्या न युद्धमनसः पाण्डवाः सह बान्धवैः ॥ ३ ॥

'कुरुकुलको आनन्दित करनेवाले पाँचों भाई पाण्डव सन्धिकी इच्छा रखते हैं, यह सौभाग्यका विषय है। वे अपने बन्धु-बान्धवोंके साथ युद्धमें मन नहीं लगा रहे हैं, यह भी सौभाग्यकी बात है॥ ३॥

भवता सत्यमुक्तं तु सर्वमेतन्न संशयः ।
अतितीक्ष्णं तु ते वाक्यं ब्राह्मण्यादिति मे मतिः ॥ ४ ॥

'आपने जितनी बातें कही हैं, वे सब सत्य हैं; इसमें संशय नहीं है। परंतु आपकी बातें बड़ी तीखी हैं। यह तीक्ष्णता ब्राह्मण-स्वभावके कारण ही है, ऐसा मुझे प्रतीत होता है॥ ४॥

असंशयं क्लेशितास्ते वने चेह च पाण्डवाः ।
प्राप्ताश्च धर्मतः सर्वे पितुर्धनमसंशयम् ॥ ५ ॥

'निःसंदेह पाण्डवोंको वनमें और यहाँ भी कष्ट उठाना पड़ा है। उन्हें धर्मतः अपनी सारी पैतृक सम्पत्ति पानेका अधिकार प्राप्त हो चुका है; इसमें भी कोई संशय नहीं है।५।

किरीटी बलवान् पार्थः कृतास्त्रश्च महारथः ।
को हि पाण्डुसुतं युद्धे विषहेत धनंजयम् ॥ ६ ॥

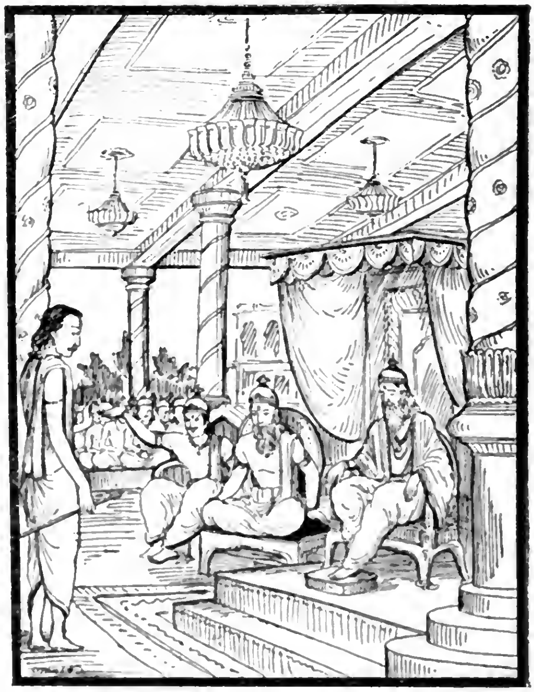
कुन्तीपुत्र किरीटधारी महारथी अर्जुन बलवान् तथा अस्त्रविद्यामें निपुण हैं। कौन ऐसा वीर है, जो युद्धमें पाण्डुपुत्र अर्जुनका वेग सह सके ?॥ ६॥

अपि वज्रधरः साक्षात् किमुतान्ये धनुर्भृतः ।
त्रयाणामपि लोकानां समर्थ इति मे मतिः ॥ ७ ॥

'साक्षात् वज्रधारी इन्द्र भी युद्धमें उनका सामना नहीं कर सकते; फिर दूसरे धनुर्धरोंकी बात ही क्या है? मेरा तो ऐसा विश्वास है कि अर्जुन तीनों लोकोंका सामना करनेमें समर्थ हैं'॥ ७॥

भीष्मे ब्रुवति तद् वाक्यं धृष्टमाक्षिप्य मन्युना ।
दुर्योधनं समालोक्य कर्णो वचनमब्रवीत् ॥ ८ ॥

भीष्मजी इस प्रकार कह ही रहे थे कि कर्णने दुर्योधनकी ओर देखकर क्रोधसे धृष्टतापूर्वक आक्षेप करते हुए (भीष्मजीके कथनकी अवहेलना करके) यह बात कही—॥८॥



न तत्राविदितं ब्रह्मँल्लोके भूतेन केनचित् ।
पुनरुक्तेन किं तेन भाषितेन पुनः पुनः ॥ ९ ॥

'ब्रह्मन्! इस लोकमें जो घटना बीत चुकी है, वह किसीको अज्ञात नहीं है, उसको दोहरानेसे या बारंबार उसपर भाषण देनेसे क्या लाभ है?॥ ९॥

दुर्योधनार्थे शकुनिर्द्यूते निर्जितवान् पुरा ।
समयेन गतोऽरण्यं पाण्डुपुत्रो युधिष्ठिरः ॥ १० ॥

'पहलेकी बात है, शकुनिने दुर्योधनके लिये पाण्डुपुत्र युधिष्ठिरको द्यूत-क्रीडामें परास्त किया था और वे उस जूएकी शर्तके अनुसार वनमें गये थे॥ १०॥

स तं समयमाश्रित्य राज्यं नेच्छति पैतृकम् ।
बलमाश्रित्य मत्स्यानां पञ्चालानां च मूर्खवत्॥ ११ ॥

'युधिष्ठिर उस शर्तका पालन करके अपना पैतृक राज्य चाहते हों, ऐसी बात नहीं है। वे तो मूर्खोंकी भाँति मत्स्य और पाञ्चाल देशकी सेनाके भरोसे राज्य लेना चाहते हैं॥ ११॥

दुर्योधनो भयाद् विद्वन् न दद्यात् पादमन्ततः ।
धर्मतस्तु महीं कृत्स्नां प्रदद्याच्छत्रवेऽपि च ॥ १२ ॥

'विद्वन्! दुर्योधन किसीके भयसे अपने राज्यका आधा कौन कहे चौथाई भाग भी नहीं देंगे; परंतु धर्मानुसार तो वे शत्रुको भी समूची पृथ्वीतक दे सकते हैं॥ १२॥

यदि काङ्क्षन्ति ते राज्यं पितृपैतामहं पुनः ।
यथाप्रतिज्ञं कालं तं चरन्तु वनमाश्रिताः ॥ १३ ॥

यदि पाण्डव अपने बाप-दादोंका राज्य लेना चाहते हैं तो पूर्व-प्रतिज्ञाके अनुसार उतने समयतक पुनः वनमें निवास करें ॥ १३ ॥

ततो दुर्योधनस्याङ्के वर्तन्तामकुतोभयाः ।
अधार्मिकीं तु मा बुद्धिं मौर्ख्यात् कुर्वन्तु केवलात् ॥ १४ ॥

तत्पश्चात् वे दुर्योधनके आश्रयमें निर्भय होकर रह सकते हैं। केवल मूर्खतावश वे अपनी बुद्धिको अधर्मपरायण न बनावें। १४।

अथ ते धर्ममुत्सृज्य युद्धमिच्छन्ति पाण्डवाः ।
आसाद्येमान् कुरुश्रेष्ठान् स्मरिष्यन्ति वचो मम ॥ १५ ॥

यदि पाण्डव धर्मको त्यागकर युद्ध ही करना चाहते हैं तो इन कुरुश्रेष्ठ वीरोंसे भिड़नेपर मेरी बात याद करेंगे ॥ १५ ॥

भीष्म उवाच

किं नु राधेय वाचा ते कर्म तत् स्मर्तुमर्हसि ।
एक एव यदा पार्थः षड्रथाञ्जितवान् युधि ॥ १६ ॥

भीष्मजी बोले—राधानन्दन ! तू जो इस प्रकार बढ़-बढ़कर बातें बनाता है, इससे क्या होगा ? तुझे पार्थका वह पराक्रम याद करना चाहिये, जब कि विराटनगरके युद्धमें उन्होंने अकेले ही सम्पूर्ण सेनासहित छः अतिरथियोंको जीत लिया था ॥ १६ ॥

बहुशो जीयमानस्य कर्म दृष्टं तदैव ते ।
न चेदेवं करिष्यामो यदयं ब्राह्मणोऽब्रवीत् ।
ध्रुवं युधि हतास्तेन भक्षयिष्याम पांसुकान् ॥ १७ ॥

तेरा पराक्रम तो उसी समय देखा गया था, जब कि अनेक बार उनके सामने जाकर तुझे परास्त होना पड़ा । इन ब्राह्मणदेवताने जो कुछ कहा है, यदि हमलोग तदनुसार कार्य नहीं करेंगे तो यह निश्चय है कि युद्धमें पाण्डुनन्दन अर्जुनके हाथसे आहत होकर हमें धूल खानी पड़ेगी ॥ १७ ॥

वैशम्पायन उवाच

धृतराष्ट्रस्ततो भीष्ममनुमान्य प्रसाद्य च ।
अवभर्त्स्य च राधेयमिदं वचनमब्रवीत् ॥ १८ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तदनन्तर धृतराष्ट्रने कर्णको डाँटकर भीष्मजीका सम्मान किया और उन्हें राजी करके इस प्रकार कहा—॥ १८ ॥

अस्मद्धितं वाक्यमिदं भीष्मः शान्तनवोऽब्रवीत् ।
पाण्डवानां हितं चैव सर्वस्य जगतस्तथा ॥ १९ ॥

'शान्तनुनन्दन भीष्मने हमारे लिये यह हितकर बात कही है । इसमें पाण्डवोंका तथा सम्पूर्ण जगत्का भी हित है ॥ १९ ॥

चिन्तयित्वा तु पार्थेभ्यः प्रेषयिष्यामि संजयम् ।
स भवान् प्रति यात्वद्य पाण्डवानेव मा चिरम् ॥ २० ॥

'ब्रह्मन् ! अब मैं कुछ सोच-विचारकर पाण्डवोंके पास संजयको भेजूँगा । आप पुनः पाण्डवोंके पास ही पधारें, विलम्ब न करें' ॥ २० ॥

स तं सत्कृत्य कौरव्यः प्रेषयामास पाण्डवान् ।
सभामध्ये समाहूय संजयं वाक्यमब्रवीत् ॥ २१ ॥

तदनन्तर राजा धृतराष्ट्रने उन ब्राह्मणका सत्कार करके उन्हें पाण्डवोंके पास वापस भेजा और सभामें संजयको बुलाकर यह बात कही ॥ २१ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि संजययानपर्वणि पुरोहितयाने एकविंशोऽध्यायः ॥ २१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत संजययानपर्वमें पुरोहितकी यात्राविषयक इक्कीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २१ ॥

द्वाविंशोऽध्यायः

धृतराष्ट्रका संजयसे पाण्डवोंके प्रभाव और प्रतिभाका वर्णन करते हुए उसे संदेश देकर पाण्डवोंके पास भेजना

धृतराष्ट्र उवाच

प्राप्तानाहुः संजय पाण्डुपुत्रा-
नुपप्लव्ये तान् विजानीहि गत्वा ।
अजातशत्रुं च सभाजयेथा
दिष्ट्याऽऽनद्ध स्थानमुपस्थितस्त्वम् ॥ १ ॥

धृतराष्ट्रने कहा—संजय ! लोग कहते हैं कि पाण्डव उपप्लव्य नामक स्थानमें आ गये हैं । तुम वहाँ जाकर उनका समाचार जानो । अजातशत्रु युधिष्ठिरसे आदरपूर्वक मिलकर कहना, सौभाग्यकी बात है कि आप सन्नद्ध होकर अपने योग्य स्थानपर आ पहुँचे हैं ॥ १ ॥

सर्वान् वदेः संजय स्वस्तिमन्तः
कृच्छ्रं वासमतद्‌र्हान् निरुष्य ।
तेषां शान्तिर्विद्यतेऽस्मासु शीघ्रं
मिथ्यापेतानामुपकारिणां सताम् ॥ २ ॥

संजय ! सब पाण्डवोंसे कहना कि हमलोग सकुशल हैं। पाण्डवलोग मिथ्यासे दूर रहनेवाले, परोपकारी तथा साधुपुरुष हैं। वे वनवासका कष्ट भोगनेयोग्य नहीं थे, तो भी उन्होंने वनवासका नियम पूरा कर लिया है। इतनेपर भी हमारे ऊपर उनका क्रोध शीघ्र ही शान्त हो गया है ॥ २ ॥

नाहं क्वचित् संजय पाण्डवानां
मिथ्यावृत्तिं काञ्चन जात्वपश्यम्।
सर्वां श्रियं ह्यात्मवीर्येण लब्धां
पर्याकार्षुः पाण्डवा मह्यमेव ॥ ३ ॥

संजय ! मैंने कभी कहीं पाण्डवोंमें थोड़ी-सी भी मिथ्या वृत्ति नहीं देखी है। पाण्डवोंने अपने पराक्रमसे प्राप्त हुई सारी सम्पत्ति मेरे ही अधीन कर दी थी ॥ ३ ॥

दोषं ह्येषां नाध्यगच्छं परीच्छन्
नित्यं कंचिद् येन गर्हेय पार्थान्।
धर्मार्थाभ्यां कर्म कुर्वन्ति नित्यं
सुखप्रिये नानुरुध्यन्ति कामात् ॥ ४ ॥

मैंने सदा ढूँढ़ते रहनेपर भी कुन्तीपुत्रोंका कोई ऐसा दोष नहीं देखा है, जिससे उनकी निन्दा करूँ। वे सदा धर्म और अर्थके लिये ही कर्म करते हैं, कामनावश मानसिक प्रीति और स्त्री-पुत्रादि प्रिय वस्तुओंमें नहीं फँसते हैं—काम-भोगमें आसक्त होकर धर्मका परित्याग नहीं करते हैं ॥ ४ ॥

धर्मं शीतं क्षुत्पिपासे तथैव
निद्रां तन्द्रीं क्रोधहर्षौ प्रमादम्।
धृत्या चैव प्रज्ञया चाभिभूय
धर्मार्थयोगात् प्रयतन्ति पार्थाः ॥ ५ ॥

पाण्डव घाम-शीत, भूख-प्यास, निद्रा-तन्द्रा, क्रोध-हर्ष तथा प्रमादको धैर्य एवं विवेकपूर्ण बुद्धिके द्वारा जीतकर धर्म और अर्थके लिये ही प्रयत्नशील बने रहते हैं ॥ ५ ॥

त्यजन्ति मित्रेषु धनानि काले
न संवासाज्जीर्यति तेषु मैत्री।
यथार्हमानार्थकरा हि पार्था-
स्तेषां द्वेष्टा नास्त्याजमीढस्य पक्षे ॥ ६ ॥
अन्यत्र पापाद् विषमान्मन्दबुद्धे-
र्दुर्योधनात् क्षुद्रतराच्च कर्णात्।
(पुत्रो मह्यं मृत्युवशं जगाम
दुर्योधनः संजय रागबुद्धिः।
भागं हर्तुं घटते मन्दबुद्धि-
र्महात्मनां संजय दीप्ततेजसाम् ॥)
तेषां हीमौ हीनसुखप्रियाणां
महात्मनां संजनयतो हि तेजः ॥ ७ ॥

वे समय पड़नेपर मित्रोंको उनकी सहायताके लिये धन देते हैं। दीर्घकालिक प्रवाससे भी उनकी मैत्री क्षीण नहीं होती है। कुन्तीके पुत्र सबका यथायोग्य सत्कार करनेवाले हैं। अजमीढवंशी हम कौरवोंके पक्षमें पापी, बेईमान तथा मन्दबुद्धि दुर्योधन एवं अत्यन्त क्षुद्र स्वभाववाले कर्णको छोड़कर दूसरा कोई भी उनसे द्वेष रखनेवाला नहीं है। संजय ! मेरा पुत्र दुर्योधन कालके अधीन हो गया है; क्योंकि उसकी बुद्धि रागसे दूषित है। वह मूर्ख अत्यन्त तेजस्वी महात्मा पाण्डवोंके स्वत्वको दबा लेनेकी चेष्टा कर रहा है। केवल दुर्योधन और कर्ण ही सुख और प्रियजनोंसे बिछुड़े हुए महामना पाण्डवोंके मनमें क्रोध उत्पन्न करते रहते हैं ॥ ६-७ ॥

उत्थानवीर्यः सुखमेधमानो
दुर्योधनः सुकृतं मन्यते तत्।
तेषां भागं यच्च मन्येत बालः
शक्यं हर्तुं जीवतां पाण्डवानाम् ॥ ८ ॥

दुर्योधन आरम्भमें ही पराक्रम दिखानेवाला है, (अन्ततक उसे निभा नहीं सकता;) क्योंकि वह सुखमें ही पलकर बड़ा हुआ है। वह इतना मूर्ख है कि पाण्डवोंके जीते-जी उनका भाग हर लेना सरल समझता है। इतना ही नहीं, वह इस कुकर्मको उत्तम कर्म भी मानने लगा है ॥ ८ ॥

यस्यार्जुनः पदवीं केशवश्च
वृकोदरः सात्यकोऽजातशत्रोः।
माद्रीपुत्रौ सृंजयाश्चापि यान्ति
पुरा युद्धात् साधु तस्य प्रदानम् ॥ ९ ॥

अर्जुन, भगवान् श्रीकृष्ण, भीमसेन, सात्यकि, नकुल, सहदेव और सम्पूर्ण सृञ्जयवंशी वीर जिनके पीछे चलते हैं, उन युधिष्ठिरको युद्धके पहले ही उनका राज्यभाग दे देनेमें भलाई है ॥ ९ ॥

स ह्येवैकः पृथिवीं सव्यसाची
गाण्डीवधन्वा प्रणुदेद् रथस्थः।
तथा जिष्णुः केशवोऽप्यप्रधृष्यो
लोकत्रयस्याधिपतिर्महात्मा ॥ १० ॥
तिष्ठेत कस्तस्य मर्त्यः पुरस्ताद्
यः सर्वलोकेषु वरेण्य एकः।
पर्जन्यघोषान् प्रवपञ्छरौघान्
पतङ्गसङ्घानिव शीघ्रवेगान् ॥ ११ ॥

गाण्डीवधारी सव्यसाची अर्जुन रथमें बैठकर अकेले ही सारी पृथ्वीको जीत सकते हैं। इसी प्रकार विजयशील एवं दुर्धर्ष महात्मा श्रीकृष्ण भी तीनों लोकोंको जीतकर उनके अधिपति हो सकते हैं। जो समस्त लोकोंमें एकमात्र सर्वश्रेष्ठ वीर हैं, जो मेघ-गर्जनाके समान गम्भीर शब्द करनेवाले तथा टिड्डियोंके दलकी भाँति तीव्र वेगसे चलनेवाले बाण-समूहोंकी वर्षा करते हैं, उन वीरवर अर्जुनके सामने कौन मनुष्य ठहर सकता है ? ॥ १०-११ ॥

दिशं ह्युदीचीमपि चोत्तरान् कुरून्
गाण्डीवधन्वैकरथो जिगाय।
धनं चैषामाहरत् सव्यसाची
सेनानुगान् द्रविडांश्चैव चक्रे ॥१२॥

गाण्डीव धनुष धारण करके एकमात्र रथपर आरूढ़ हो सव्यसाची अर्जुनने न केवल उत्तर दिशापर विजय पायी थी, अपितु उत्तर कुरुदेशको भी जीत लिया था और उन सबकी धन-सम्पत्ति जीतकर ले आये थे। उन्होंने द्रविडोंको भी जीतकर अपनी सेनाका अनुगामी बनाया था॥ १२॥

यश्चैव देवान् खाण्डवे सव्यसाची
गाण्डीवधन्वा प्रजिगाय सेन्द्रान्।
उपाहरत् पाण्डवो जातवेदसे
यशो मानं वर्धयन् पाण्डवानाम् ॥१३॥

गाण्डीव धनुष धारण करनेवाले पाण्डुपुत्र सव्यसाची अर्जुन वे ही हैं, जिन्होंने खाण्डववनमें इन्द्रसहित सम्पूर्ण देवताओंपर विजय पायी थी और पाण्डवोंके यश तथा सम्मानकी वृद्धि करते हुए अग्निदेवको वह वन उपहारके रूपमें अर्पित किया था॥

गदाभृतां नास्ति समोऽत्र भीमा-
द्धस्त्यारोहो नास्ति समश्च तस्य।
रथेऽर्जुनादाहुरहीनमेनं
बाह्वोर्बलेनायुतनागवीर्यम् ॥१४॥

गदाधारियोंमें इस भूतलपर भीमसेनके समान दूसरा कोई नहीं है और न उनके-जैसा कोई हाथीसवार ही है। रथमें बैठकर युद्ध करनेकी कलामें भी वे अर्जुनसे कम नहीं बताये जाते हैं और बाहुबलमें तो वे दस हजार हाथियोंके समान शक्तिशाली हैं॥ १४॥

सुशिक्षितः कृतवैरस्तरस्वी
दहेत् क्षुद्रांस्तरसा धार्तराष्ट्रान्।
सदात्यमर्षी न बलात् स शक्यो
युद्धे जेतुं वासवेनापि साक्षात् ॥१५॥

अस्त्र-विद्यामें उन्हें अच्छी शिक्षा मिली है। वे बड़े वेगशाली वीर हैं। उनके साथ मेरे पुत्रोंने वैर ठान रक्खा है और वे सदा अत्यन्त अमर्षमें भरे रहते हैं; अतः यदि युद्ध हुआ तो भीमसेन मेरे क्षुद्र स्वभाववाले पुत्रोंको वेगपूर्वक (अपनी कोपाग्निसे) जलाकर भस्म कर देंगे। साक्षात् इन्द्र भी उन्हें युद्धमें बलपूर्वक परास्त नहीं कर सकते॥ १५॥

सुचेतसौ बलिनौ शीघ्रहस्तौ
सुशिक्षितौ भ्रातरौ फाल्गुनेन।
श्येनौ यथा पक्षिपूगान् रुजन्तौ
माद्रीपुत्रौ शेषयेतां न शत्रून् ॥१६॥

माद्रीनन्दन नकुल और सहदेव भी शुद्धचित्त और बलवान् हैं। अस्त्र-संचालनमें उनके हाथोंकी फुर्ती देखने ही योग्य है। स्वयं अर्जुनने अपने उन दोनों भाइयोंको युद्धकी अच्छी शिक्षा दी है। जैसे दो बाज पक्षियोंके समुदायको (सर्वथा) नष्ट कर देते हैं। इसी प्रकार वे दोनों भाई शत्रुओंसे भिड़कर उन्हें जीवित नहीं छोड़ सकते॥ १६॥

एतद् बलं पूर्णमस्माकमेवं
यत् सत्यं तान् प्राप्य नास्तीति मन्ये।
तेषां मध्ये वर्तमानस्तरस्वी
धृष्टद्युम्नः पाण्डवानामिहैकः ॥१७॥
सहामात्यः सोमकानां प्रबर्हः
संत्यक्तात्मा पाण्डवार्थे श्रुतो मे।
अजातशत्रुं प्रसहेत कोऽन्यो
येषां स स्यादग्रणीर्वृष्णिसिंहः ॥१८॥

यह ठीक है कि हमारी सेना सब प्रकारसे परिपूर्ण है तथापि मेरा यह विश्वास है कि यह पाण्डवोंका सामना पड़नेपर नहींके बराबर है। पाण्डवोंके पक्षमें धृष्टद्युम्न नामसे प्रसिद्ध एक बलवान् योद्धा है, जो सोमकवंशका श्रेष्ठ राजकुमार है। मैंने सुना है, उसने पाण्डवोंके लिये मन्त्रियोंसहित अपने शरीरको निछावर कर दिया है। जिन अजातशत्रु युधिष्ठिरके अगुआ अथवा नेता वृष्णिवंशके सिंह भगवान् श्रीकृष्ण हैं, उनका वेग दूसरा कौन सह सकता है?॥ १७-१८॥

सहोषितश्चरितार्थो वयःस्थो
मात्स्येयानामधिपो वै विराटः।
स वै सपुत्रः पाण्डवार्थे च शश्वद्
युधिष्ठिरं भक्त इति श्रुतं मे ॥१९॥

मत्स्यदेशके राजा विराट भी अपने पुत्रोंके साथ पाण्डवोंकी सहायताके लिये सदा उद्यत रहते हैं। मैंने सुना है कि वे युधिष्ठिरके बड़े भक्त हैं। कारण यह है कि अज्ञातवासके समय वे युधिष्ठिरके साथ एक वर्ष रहे हैं और युधिष्ठिरके द्वारा उनके गोधनकी रक्षा हुई है। अवस्थामें वृद्ध होनेपर भी वे युद्धमें नौजवान-से जान पड़ते हैं॥ १९॥

अवरुद्धा रथिनः केकयेभ्यो
महेष्वासा भ्रातरः पञ्च सन्ति।
केकयेभ्यो राज्यमाकाङ्क्षमाणा
युद्धार्थिनश्चानुवसन्ति पार्थान् ॥२०॥

केकयदेशसे बाहर निकाले हुए पाँच भाई केकयराजकुमार महान् धनुर्धर एवं रथी वीर हैं। वे पाण्डवोंके सहयोगसे केकयदेशके राजाओंसे पुनः अपना राज्य लेना चाहते हैं, इसलिये उनकी ओरसे युद्ध करनेकी इच्छा रखकर उन्हींके साथ रह रहे हैं॥ २०॥

सर्वांश्च वीरान् पृथिवीपतीनां
समागतान् पाण्डवार्थे निविष्टान्।

शूरानहं भक्तिमतः शृणोमि
प्रीत्या युक्तान् संश्रितान् धर्मराजम् ॥२१॥

मैं यह भी सुनता हूँ कि राजाओंमें जितने वीर हैं, वे सब पाण्डवोंकी सहायताके लिये आकर उनकी छावनीमें रहते हैं। वे सब-के-सब शौर्यसम्पन्न, युधिष्ठिरके प्रति भक्ति रखनेवाले, प्रसन्नचित्त एवं धर्मराजके आश्रित हैं ॥ २१ ॥

गिर्याश्रया दुर्गनिवासिनश्च
योधाः पृथिव्यां कुलजातिशुद्धाः।
म्लेच्छाश्च नानायुधवीर्यवन्तः
समागताः पाण्डवार्थे निविष्टाः ॥२२॥

पर्वतोंपर रहनेवाले, दुर्गम भूमिमें निवास करनेवाले एवं समतल भूमिके निवासी योद्धा, जो कुल और जातिकी दृष्टिसे बहुत शुद्ध हैं, वे तथा म्लेच्छ भी नाना प्रकारके अस्त्र-शस्त्र एवं बल-पराक्रमसे सम्पन्न हो पाण्डवोंकी सहायताके लिये आये हैं और उनके शिविरमें निवास करते हैं ॥ २२ ॥

पाण्ड्यश्च राजा समितीन्द्रकल्पो
योधप्रवीरैर्बहुभिः समेतः।
समागतः पाण्डवार्थे महात्मा
लोकप्रवीरोऽप्रतिवीर्यतेजाः ॥२३॥

पाण्ड्यदेशके महामना राजा, जो संसारके सुविख्यात वीर, अनुपम पराक्रम और तेजसे सम्पन्न तथा युद्धमें देवराज इन्द्रके समान हैं, पाण्डवोंकी सहायताके लिये बहुत-से प्रमुख योद्धाओंके साथ पधारे हैं ॥ २३ ॥

अस्त्रं द्रोणादर्जुनाद् वासुदेवात्
कृपाद् भीष्माद् येन वृतं शृणोमि।
यं तं कार्ष्णिप्रतिममाहुरेकं
स सात्यकिः पाण्डवार्थे निविष्टः ॥२४॥

जिसने द्रोणाचार्य, अर्जुन, श्रीकृष्ण, कृपाचार्य तथा भीष्मसे भी अस्त्रविद्या सीखी है तथा जिस एकमात्र वीरको श्रीकृष्णपुत्र प्रद्युम्नके समान पराक्रमी बताया जाता है, वह सात्यकि भी, सुनता हूँ, पाण्डवोंकी सहायताके लिये आकर टिका हुआ है ॥ २४ ॥

उपाश्रिताश्चेदिकरूषकाश्च
सर्वोद्योगैर्भूमिपालाः समेताः।
तेषां मध्ये सूर्यमिवातपन्तं
श्रिया वृतं चेदिपतिं ज्वलन्तम् ॥२५॥
अस्तम्भनीयं युधि मन्यमानो
ज्यां कर्षतां श्रेष्ठतमं पृथिव्याम्।
सर्वोत्साहं क्षत्रियाणां निहत्य
प्रसह्य कृष्णस्तरसा सम्ममर्द ॥२६॥

(युधिष्ठिरके राजसूययज्ञमें) चेदि और करूषदेशके भूपाल सब प्रकारकी तैयारीसे संगठित होकर आये थे। उन सबके बीचमें चेदिराज शिशुपाल अपनी दिव्य शोभासे तपते हुए सूर्यकी भाँति प्रकाशित हो रहा था। युद्धमें उसके वेगको रोकना असम्भव था। धनुषकी प्रत्यञ्चा खींचनेवाले भूमण्डलके सभी योद्धाओंमें शिशुपाल एक श्रेष्ठतम वीर था। यह सब समझकर भगवान् श्रीकृष्णने वहाँ चेदिदेशीय क्षत्रियोंके सम्पूर्ण उत्साहको नष्ट करके हठपूर्वक बड़े वेगसे शिशुपालको मार डाला ॥ २५-२६ ॥

यशोमानौ वर्धयन् पाण्डवानां
पुराभिनच्छिशुपालं समीक्ष्य।
यस्य सर्वे वर्धयन्ति स्म मानं
करूषराजप्रमुखा नरेन्द्राः ॥२७॥

करूषराज आदि सब नरेश जिसका सम्मान बढ़ाते थे, उस शिशुपालकी ओर दृष्टिपात करके पाण्डवोंके यश और मानकी वृद्धिके उद्देश्यसे श्रीकृष्णने उसे पहले ही मार डाला ॥

तमसह्यं केशवं तत्र मत्वा
सुग्रीवयुक्तेन रथेन कृष्णम्।
सम्प्राद्रवंश्चेदिपतिं विहाय
सिंहं दृष्ट्वा क्षुद्रमृगा इवान्ये ॥२८॥

सुग्रीव आदि घोड़ोंसे जुते हुए रथपर आरूढ़ होनेवाले श्रीकृष्णको असह्य मानकर चेदिराज शिशुपालके सिवा दूसरे भूपाल उसी प्रकार पलायन कर गये, जैसे सिंहको देखते ही जंगलके क्षुद्र पशु भाग जाते हैं॥ २८ ॥

यस्तं प्रतीपस्तरसा प्रत्युदीया-
दाशंसमानो द्वैरथे वासुदेवम्।
सोऽशेत कृष्णेन हतः परासु-
र्वातेनेवोन्मथितः कर्णिकारः ॥२९॥

जिसने द्वैरथ-युद्धमें विजयकी आशा रखकर भगवान् श्रीकृष्णका विरोधी हो बड़े वेगसे उनपर धावा किया, वह शिशुपाल श्रीकृष्णके हाथसे मारा जाकर प्राणशून्य हो सदाके लिये इस प्रकार धरतीपर सो गया, मानो कनेरका वृक्ष हवाके वेगसे उखड़कर धराशायी हो गया हो ॥ २९ ॥

पराक्रमं मे यदवेदयन्त
तेषामर्थे संजय केशवस्य।
अनुस्मरंस्तस्य कर्माणि विष्णो-
र्गावल्गणे नाधिगच्छामि शान्तिम्॥३०॥

संजय ! पाण्डवोंके लिये किये हुए श्रीकृष्णके उस पराक्रमका वृत्तान्त मेरे गुप्तचरोंने मुझे बताया था। गावल्गणे! श्रीहरिके उन वीरोचित कर्मोंको बारंबार याद करके मुझे शान्ति नहीं मिल रही है ॥ ३० ॥

न जातु ताञ्छत्रुरन्यः सहेत
येषां स स्यादग्रणीर्वृष्णिसिंहः।
प्रवेपते मे हृदयं भयेन
श्रुत्वा कृष्णावेकरथे समेतौ ॥ ३१ ॥

जिनके अग्रगामी वृष्णिसिंह भगवान् वासुदेव हैं, उन पाण्डवोंका आक्रमण कभी भी दूसरा कोई शत्रु नहीं सह सकता। श्रीकृष्ण और अर्जुन दोनों एक रथपर एकत्र हो गये हैं, यह सुनकर तो मेरा हृदय भयसे काँप उठता है॥

न चेद् गच्छेत् संगरं मन्दबुद्धि-
स्ताभ्यां लभेच्छर्म तदा सुतो मे।
नो चेत् कुरून् संजय निर्दहेता-
मिन्द्राविष्णू दैत्यसेनां यथैव ॥ ३२ ॥

संजय! यदि मेरा मन्दबुद्धि पुत्र उन दोनोंसे युद्ध करनेके लिये न जाय, तभी वह कल्याणका भागी हो सकता है। अन्यथा वे दोनों वीर कौरवोंको उसी प्रकार भस्म कर देंगे, जैसे इन्द्र और विष्णु दैत्यसेनाका संहार कर डालते हैं॥

मतो हि मे शक्रसमो धनंजयः
सनातनो वृष्णिवीरश्च विष्णुः।
धर्मारामो ह्रीनिषेवस्तरस्वी
कुन्तीपुत्रः पाण्डवोऽजातशत्रुः ॥ ३३ ॥
दुर्योधनेन निकृतो मनस्वी
नो चेत् क्रुद्धः प्रदहेद् धार्तराष्ट्रान्।
नाहं तथा ह्यर्जुनाद् वासुदेवाद्
भीमाद् वाहं यमयोर्वा बिभेमि ॥३४॥
यथा राज्ञः क्रोधदीप्तस्य सूत
मन्योरहं भीततरः सदैव।
महातपा ब्रह्मचर्येण युक्तः
संकल्पोऽयं मानसस्तस्य सिद्ध्येत् ॥ ३५ ॥

मुझे तो अर्जुन इन्द्रके समान प्रतीत होते हैं और वृष्णिवीर श्रीकृष्ण सनातन विष्णु जान पड़ते हैं। कुन्तीनन्दन-पाण्डुपुत्र युधिष्ठिर धर्माचरणमें ही सुख मानते हैं। वे लज्जाशील और बलशाली हैं। उनके मनमें किसीके प्रति कभी शत्रुभाव नहीं पैदा हुआ है। नहीं तो वे मनस्वी युधिष्ठिर दुर्योधनके द्वारा छल कपटके शिकार होनेपर क्रोध करके मेरे सभी पुत्रोंको जलाकर भस्म कर देते। संजय! मैं अर्जुन, भगवान् श्रीकृष्ण, भीमसेन तथा नकुल-सहदेवसे भी उतना नहीं डरता, जितना कि क्रोधसे तमतमाये हुए राजा युधिष्ठिरके कोपसे। उनके रोषसे मैं सदा ही अत्यन्त भयभीत रहता हूँ; क्योंकि वे महान् तपस्वी और ब्रह्मचर्यसे सम्पन्न हैं, इसलिये उनके मनमें जो संकल्प होगा, वह सिद्ध होकर ही रहेगा॥ ३३—३५ ॥

तस्य क्रोधं संजयाहं समीक्ष्य
स्थाने जानन् भृशमस्म्यद्य भीतः।
स गच्छ शीघ्रं प्रहितो रथेन
पाञ्चालराजस्य चमूनिवेशनम् ॥ ३६ ॥
अजातशत्रुं कुशलं स्म पृच्छेः
पुनः पुनः प्रीतियुक्तं वदेस्त्वम्।
जनार्दनं चापि समेत्य तात
महामात्रं वीर्यवतामुदारम् ॥ ३७ ॥
अनामयं मद्वचनेन पृच्छे-
र्धृतराष्ट्रः पाण्डवैः शान्तिमीप्सुः।
न तस्य किंचिद् वचनं न कुर्यात्
कुन्तीपुत्रो वासुदेवस्य सूत ॥ ३८ ॥

संजय! मैं उनके क्रोधको देखकर और उसे उचित जानकर आज बहुत डरा हुआ हूँ। मेरेद्वारा भेजे हुए तुम



रथपर बैठकर शीघ्र ही पाञ्चालराज द्रुपदकी छावनीमें जाकर वहाँ अत्यन्त प्रेमपूर्वक अजातशत्रु युधिष्ठिरसे वार्तालाप करना और बारंबार उनका कुशल-मङ्गल पूछना। तात! तुम बलवानोंमें श्रेष्ठ महाभाग भगवान् श्रीकृष्णसे भी मिलकर मेरी ओरसे उनका कुशल-समाचार पूछना और यह बताना कि धृतराष्ट्र पाण्डवोंके साथ शान्तिपूर्ण बर्ताव चाहते हैं। सूत! कुन्तीकुमार युधिष्ठिर भगवान् श्रीकृष्णकी कोई भी बात टाल नहीं सकते॥

प्रियश्चैषामात्मसमश्च कृष्णो
विद्वांश्चैषां कर्मणि नित्ययुक्तः।
समानीतान् पाण्डवान् सृंजयांश्च
जनार्दनं युयुधानं विराटम् ॥ ३९ ॥
अनामयं मद्वचनेन पृच्छेः
सर्वांस्तथा द्रौपदेयांश्च पञ्च।
यद् यत् तत्र प्राप्तकालं परेभ्य-
स्त्वं मन्येथा भारतानां हितं च।
तद् भाषेथाः संजय राजमध्ये
न मूर्च्छयेद् यन्न च युद्धहेतुः ॥ ४० ॥

क्योंकि श्रीकृष्ण इनको आत्माके समान प्रिय हैं। श्रीकृष्ण विद्वान् हैं और सदा पाण्डवोंके हितके कार्यमें लगे रहते हैं। संजय! तुम वहाँ एकत्र हुए पाण्डवों तथा सृञ्जयवंशी क्षत्रियोंसे और श्रीकृष्ण, सात्यकि, राजा विराट एवं द्रौपदीके पाँचों पुत्रोंसे भी मेरी ओरसे स्वास्थ्यका समाचार पूछना। इसके सिवा जैसा अवसर हो और जिसमें तुम्हें भरतवंशियोंका हित प्रतीत हो, वैसी बातें पाण्डवपक्षके लोगोंसे कहना। राजाओंके बीचमें ऐसा कोई वचन न कहना, जो उनके क्रोधको बढ़ावे तथा युद्धका कारण बने ॥ ३९-४० ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि संजययानपर्वणि धृतराष्ट्रसंदेशे द्वाविंशोऽध्यायः ॥ २२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत संजययानपर्वमें धृतराष्ट्रसंदेशविषयक बाईसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २२ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका १ श्लोक मिलाकर कुल ४१ श्लोक हैं)

त्रयोविंशोऽध्यायः

संजयका युधिष्ठिरसे मिलकर उनकी कुशल पूछना एवं युधिष्ठिरका संजयसे कौरवपक्षका कुशल-समाचार पूछते हुए उससे सारगर्भित प्रश्न करना

वैशम्पायन उवाच

राज्ञस्तु वचनं श्रुत्वा धृतराष्ट्रस्य संजयः।
उपप्लव्यं ययौ द्रष्टुं पाण्डवानमितौजसः॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! राजा धृतराष्ट्रकी बात सुनकर संजय अमित तेजस्वी पाण्डवोंसे मिलनेके लिये उपप्लव्य गया ॥ १ ॥

स तु राजानमासाद्य कुन्तीपुत्रं युधिष्ठिरम्।
अभिवाद्य ततः पूर्वं सूतपुत्रोऽभ्यभाषत ॥ २ ॥

वहाँ पहले कुन्तीपुत्र राजा युधिष्ठिरके पास जाकर सूतपुत्र संजयने उन्हें प्रणाम किया और उनसे बातचीत प्रारम्भ की ।२।

गावल्गणिः संजयः सूतसूनु-
रजातशत्रुमवदत् प्रतीतः।
दिष्ट्या राजंस्त्वामरोगं प्रपश्ये
सहायवन्तं च महेन्द्रकल्पम् ॥ ३ ॥

गवल्गणनन्दन सूतपुत्र संजयने प्रसन्न होकर अजातशत्रु राजा युधिष्ठिरसे कहा—'राजन्! बड़े सौभाग्यकी बात है कि आज मैं देवराज इन्द्रके समान आपको अपने सहायकोंके साथ स्वस्थ एवं सकुशल देख रहा हूँ ॥ ३ ॥

अनामयं पृच्छति त्वाऽऽम्बिकेयो
वृद्धो राजा धृतराष्ट्रो मनीषी।
कच्चिद् भीमः कुशली पाण्डवाग्र्यो
धनंजयस्तौ च माद्रीतनूजौ ॥ ४ ॥

'वृद्ध एवं बुद्धिमान् अम्बिकानन्दन महाराज धृतराष्ट्रने आपका कुशल-समाचार पूछा है। भीमसेन, पाण्डवप्रवर अर्जुन तथा वे दोनों माद्रीकुमार नकुल-सहदेव कुशलसे तो हैं न? ॥४॥

कच्चित् कृष्णा द्रौपदी राजपुत्री
सत्यव्रता वीरपत्नी सपुत्रा।
मनस्विनी यत्र च वाञ्छसि त्व-
मिष्टान् कामान् भारत स्वस्तिकामः ॥ ५ ॥

'सत्यव्रतका पालन करनेवाली वीरपत्नी द्रुपदकुमारी राजपुत्री मनस्विनी कृष्णा अपने पुत्रोंसहित कुशलपूर्वक है न? भारत! इनके सिवा आप जिन-जिनके कल्याणकी इच्छा रखते हैं तथा जिन अभीष्ट-भोगोंको बनाये रखना चाहते हैं, वे आत्मीय जन तथा धन-वैभव-वाहन आदि भोगोपकरण सकुशल हैं न?' ॥ ५ ॥

युधिष्ठिर उवाच

गावल्गणे संजय स्वागतं ते
प्रीयामहे ते वयं दर्शनेन।
अनामयं प्रतिजाने तवाहं
सहानुजैः कुशली चास्मि विद्वन् ॥ ६ ॥

युधिष्ठिर बोले—गवल्गणकुमार संजय! तुम्हारा स्वागत है। तुम्हें देखकर हमें बड़ी प्रसन्नता हुई है। विद्वन्! मैं अपने भाइयोंसहित कुशलसे हूँ तथा तुम्हें अपने आरोग्यकी सूचना दे रहा हूँ ॥ ६ ॥

चिरादिदं कुशलं भारतस्य
श्रुत्वा राज्ञः कुरुवृद्धस्य सूत।
मन्ये साक्षाद् दृष्टमहं नरेन्द्रं
दृष्ट्वैव त्वां संजय प्रीतियोगात् ॥ ७ ॥

सूत! कुरुकुलके वृद्ध पुरुष भरतनन्दन महाराज धृतराष्ट्रका यह कुशल-समाचार दीर्घकालके बाद सुनकर और प्रेमपूर्वक तुम्हें भी देखकर मैं यह अनुभव करता हूँ कि आज मुझे साक्षात् महाराज धृतराष्ट्रका ही दर्शन हुआ है।७।

पितामहो नः स्थविरो मनस्वी
महाप्राज्ञः सर्वधर्मोपपन्नः।
स कौरव्यः कुशली तात भीष्मो
यथापूर्वं वृत्तिरस्त्यस्य कच्चित् ॥ ८ ॥

तात! मनस्वी, परम ज्ञानी तथा समस्त धर्मोंके ज्ञानसे सम्पन्न हमारे बूढ़े पितामह कुरुवंशी भीष्मजी तो कुशलसे

हैं न ? हमलोगोंपर उनका स्नेहभाव तो पूर्ववत् घना हुआ है न ? ॥ ८ ॥

कच्चिद् राजा धृतराष्ट्रः सपुत्रो
वैचित्रवीर्यः कुशली महात्मा ।
महाराजो बाह्लिकः प्रातिपेयः
कच्चिद् विद्वान् कुशली सूतपुत्र ॥ ९ ॥

संजय ! क्या अपने पुत्रोंसहित विचित्रवीर्यनन्दन महामना राजा धृतराष्ट्र सकुशल हैं ? प्रतीपके विद्वान् पुत्र महाराज बाह्लीक तो कुशलपूर्वक हैं न ? ॥ ९ ॥

स सोमदत्तः कुशली तात कच्चिद्
भूरिश्रवाः सत्यसंधः शलश्च ।
द्रोणः सपुत्रश्च कृपश्च विप्रो
महेष्वासाः कच्चिदेतेऽप्यरोगाः ॥ १० ॥

तात ! सोमदत्त, भूरिश्रवा, सत्यप्रतिज्ञ शल, पुत्रसहित द्रोणाचार्य और विप्रश्रेष्ठ कृपाचार्य—ये महाधनुर्धर वीर स्वस्थ तो हैं न ? ॥ १० ॥

सर्वे कुरुभ्यः स्पृहयन्ति संजय
धनुर्धरा ये पृथिव्यां प्रधानाः ।
महाप्राज्ञाः सर्वशास्त्रावदाता
धनुर्भृता मुख्यतमाः पृथिव्याम् ॥ ११ ॥

संजय ! क्या पृथ्वीके ये महान् धनुर्धर, जो परम बुद्धिमान्, समस्त शास्त्रोंके ज्ञानसे उज्ज्वल तथा भूमण्डलके धनुर्धरोंमें प्रधान हैं, कौरवोंसे स्नेह-भाव रखते हैं ? ॥ ११ ॥

कच्चिन्मानं तात लभन्त एते
धनुर्भृतः कच्चिदेतेऽप्यरोगाः ।
येषां राष्ट्रे निवसति दर्शनीयो
महेष्वासः शीलवान् द्रोणपुत्रः ॥ १२ ॥

तात ! जिनके राष्ट्रमें दर्शनीय, शीलवान् तथा महाधनुर्धर द्रोणपुत्र अश्वत्थामा निवास करता है, उन कौरवोंके बीच क्या पूर्वोक्त धनुर्धर विद्वान् आदर पाते हैं ? क्या ये कौरव भी नीरोग हैं ? ॥ १२ ॥

वैश्यापुत्रः कुशली तात कच्चि-
न्महाप्राज्ञो राजपुत्रो युयुत्सुः ।
कर्णोऽमात्यः कुशली तात कच्चित्
सुयोधनो यस्य मन्दो विधेयः ॥ १३ ॥

तात ! क्या राजा धृतराष्ट्रकी वैश्यजातीय पत्नीके पुत्र महाज्ञानी राजकुमार युयुत्सु सकुशल हैं ? संजय ! मूढ दुर्योधन सदा जिसकी आज्ञाके अधीन रहता है, वह मन्त्री कर्ण भी कुशलपूर्वक है न ? ॥ १३ ॥

स्त्रियो वृद्धा भारतानां जनन्यो
महानस्यो दासभार्याश्च सूत ।
वध्वः पुत्रा भागिनेया भगिन्यो
दौहित्रा वा कच्चिदप्यव्यलीकाः ॥ १४ ॥

सूत ! भरतवंशियोंकी माताएँ, बड़ी-बूढ़ी स्त्रियाँ, रसोई बनानेवाली सेविकाएँ, दासियाँ, बहुएँ, पुत्र, भानजे, बहिनें और पुत्रियोंके पुत्र—ये सभी निष्कपटभावसे रहते हैं न ? ॥ १४ ॥

कच्चिद् राजा ब्राह्मणानां यथावत्
प्रवर्तते पूर्ववत् तात वृत्तिम् ।
कच्चिद् दायान् मामकान् धार्तराष्ट्रो
द्विजातीनां संजय नोपहन्ति ॥ १५ ॥

तात ! क्या राजा दुर्योधन पहलेकी भाँति ब्राह्मणोंको जीविका देनेमें यथोचित रीतिसे तत्पर रहता है ? संजय ! मैंने ब्राह्मणोंको वृत्तिके रूपमें जो गाँव आदि दिये थे, उन्हें वह छीनता तो नहीं है ? ॥ १५ ॥

कच्चिद् राजा धृतराष्ट्रः सपुत्र
उपेक्षते ब्राह्मणातिक्रमान् वै ।
स्वर्गस्य कच्चिन्न तथा वर्त्मभूता-
मुपेक्षते तेषु सदैव वृत्तिम् ॥ १६ ॥

पुत्रोंसहित राजा धृतराष्ट्र ब्राह्मणोंके प्रति किये गये अपराधोंकी उपेक्षा तो नहीं करते ? ब्राह्मणोंको जो सदा वृत्ति दी जाती है, वह स्वर्गलोकमें पहुँचनेका मार्ग है; अतः राजा उस वृत्तिकी उपेक्षा या अवहेलना तो नहीं करते हैं ? ॥ १६ ॥

एतज्ज्योतिश्चोत्तमं जीवलोके
शुक्लं प्रजानां विहितं विधात्रा ।
ते चेद् दोषं न नियच्छन्ति मन्दाः
कृत्स्नो नाशो भविता कौरवाणाम् ॥ १७ ॥

ब्राह्मणोंको दी हुई जीविकावृत्तिकी रक्षा परलोकको प्रकाशित करनेवाली उत्तम ज्योति है और इस जीव-जगत्‌में वह उज्ज्वल यशका विस्तार करनेवाली है। यह नियम विधाताने ही प्रजाके हितके लिये रच रक्खा है। यदि मन्द-बुद्धि कौरव लोभवश ब्राह्मणोंकी जीविकावृत्तिके अपहरण-रूप दोषको काबूमें नहीं रक्खेंगे तो कौरवकुलका सर्वथा विनाश हो जायगा ॥ १७ ॥

कच्चिद् राजा धृतराष्ट्रः सपुत्रो
बुभूषते वृत्तिममात्यवर्गे ।
कच्चिन्न भेदेन जिजीविषन्ति
सुहृद्रूपा दुर्हृदश्चैकमत्यात् ॥ १८ ॥

क्या पुत्रोंसहित राजा धृतराष्ट्र मन्त्रिवर्गको भी जीवन-निर्वाहके योग्य वृत्ति देनेकी इच्छा रखते हैं ? कहीं ऐसा तो नहीं होता कि वे भेदसे जीविका चलाना चाहते हों (शत्रुओंने उन्हें फोड़ लिया हो और वे उन्हींके दिये हुए धनसे जीवन-

निर्वाह करना चाहते हों) । वे सुहृद्के रूपमें रहते हुए भी एकमत होकर शत्रु तो नहीं बन गये हैं ? ॥ १८ ॥

कच्चिन्न पापं कथयन्ति तात
ते पाण्डवानां कुरवः सर्व एव ।
द्रोणः सपुत्रश्च कृपश्च वीरो
नास्मासु पापानि वदन्ति कच्चित्॥ १९ ॥

तात संजय ! कहीं सब कौरव मिलकर पाण्डवोंके किसी दोषकी चर्चा तो नहीं करते हैं ? पुत्रसहित द्रोणाचार्य और वीर कृपाचार्य हमलोगोंपर किन्हीं दोषोंका आरोप तो नहीं करते हैं ? ॥ १९ ॥

कच्चिद् राज्ये धृतराष्ट्रं सपुत्रं
समेत्याहुः कुरवः सर्व एव ।
कच्चिद् दृष्ट्वा दस्युसङ्घान् समेतान्
स्मरन्ति पार्थस्य युधां प्रणेतुः॥ २० ॥

क्या कभी सब कौरव एकत्र हो पुत्रसहित धृतराष्ट्रके पास जाकर हमें राज्य देनेके विषयमें कुछ कहते हैं ? क्या राज्यमें लुटेरोंके दलोंको देखकर वे कभी संग्रामविजयी अर्जुनको भी याद करते हैं ? ॥ २० ॥

मौर्वीभुजाग्रप्रहितान् स तात
दोधूयमानेन धनुर्गुणेन ।
गाण्डीवनुन्नान् स्तनयित्नुघोषा-
नजिह्मगान् कच्चिदनुस्मरन्ति ॥ २१ ॥

संजय ! प्रत्यञ्चाको बारंबार हिलाकर और कानोंतक खींचकर अँगुलियोंके अग्रभागसे जिनका संधान किया जाता है तथा जो गाण्डीव धनुषसे छूटकर मेघकी गर्जनाके समान सनसनाते हुए सीधे लक्ष्यतक पहुँच जाते हैं, अर्जुनके उन बाणोंको कौरवलोग बराबर याद करते हैं न ? ॥ २१ ॥

न चापश्यं कंचिदहं पृथिव्यां
योधं समं वाधिकमर्जुनेन ।
यस्यैकषष्टिर्निशितास्तीक्ष्णधाराः
सुवाससः सम्मतो हस्तवापः ॥ २२ ॥

मैंने इस पृथ्वीपर अर्जुनसे बढ़कर या उनके समान दूसरे किसी योद्धाको नहीं देखा है; क्योंकि जब वे एक बार अपने हाथोंसे धनुषपर शर-संधान करते हैं, तब उससे सुन्दर पंख और पैनी धारवाले इकसठ तीखे बाण प्रकट होते हैं ॥ २२ ॥

गदापाणिर्भीमसेनस्तरस्वी
प्रवेपयञ्छत्रुसङ्घाननीके ।
नागः प्रभिन्न इव नड्वलेषु
चंक्रम्यते कच्चिदेनं स्मरन्ति ॥ २३ ॥

जैसे मस्तकसे मदकी धारा बहानेवाला गजराज सरकंडोंसे भरे हुए स्थानोंमें निर्भय विचरता है, उसी प्रकार वेगशाली वीर भीमसेन हाथमें गदा लिये रणभूमिमें शत्रुसमुदायको कम्पित करते हुए विचरण करते हैं । क्या कौरवलोग उन्हें भी कभी याद करते हैं ? ॥ २३ ॥

माद्रीपुत्रः सहदेवः कलिङ्गान्
समागतानजयद् दन्तकूरे ।
वामेनास्यन् दक्षिणेनैव यो वै
महाबलं कच्चिदेनं स्मरन्ति ॥ २४ ॥

जिसमें दाँत पीसकर अस्त्र-शस्त्र चलाये जाते हैं, उस भयंकर युद्धमें माद्रीनन्दन सहदेवने दाहिने और बायें हाथसे बाणोंकी वर्षा करके अपना सामना करनेके लिये आये हुए कलिङ्गदेशीय योद्धाओंको परास्त किया था । क्या इस महाबली वीरको भी कौरव कभी याद करते हैं ? ॥ २४ ॥

पुरा जेतुं नकुलः प्रेषितोऽयं
शिबींस्त्रिगर्तान् संजय पश्यतस्ते।
दिशं प्रतीचीं वशमानयन्मे
माद्रीसुतं कच्चिदेनं स्मरन्ति ॥ २५ ॥

संजय ! पहले राजसूययज्ञमें तुम्हारे सामने ही शिबि और त्रिगर्त देशके वीरोंको जीतनेके लिये इस नकुलको भेजा गया था; परंतु इसने सारी पश्चिम दिशाको जीतकर मेरे अधीन कर दिया । क्या कौरव इस वीर माद्रीकुमारका भी स्मरण करते हैं ? ॥ २५ ॥

पराभवो द्वैतवने य आसीद्
दुर्मन्त्रिते घोषयात्रागतानाम् ।
यत्र मन्दाञ्छत्रुवशं प्रयाता-
नमोचयद् भीमसेनो जयश्च ॥ २६ ॥

कर्णकी खोटी सलाहके अनुसार घोषयात्रामें गये हुए धृतराष्ट्रपुत्रोंकी द्वैतवनमें जो पराजय हुई थी, उसमें वे सभी मन्दबुद्धि कौरव शत्रुओंके अधीन हो गये थे । उस समय भीमसेन और अर्जुनने ही उन्हें बन्धनसे मुक्त किया था ।२६।

अहं पश्चादर्जुनमभ्यरक्षं
माद्रीपुत्रौ भीमसेनोऽप्यरक्षत् ।
गाण्डीवधन्वा शत्रुसङ्घानुदस्य
स्वस्त्यागमत् कच्चिदेनं स्मरन्ति॥ २७ ॥

उस युद्धमें मैंने पीछे रहकर यत्नके द्वारा अर्जुनकी रक्षा की थी और भीमसेनने नकुल तथा सहदेवका संरक्षण किया था । गाण्डीवधारी अर्जुनने शत्रुओंके समुदायको मार गिराया था और स्वयं सकुशल लौट आये थे । क्या कौरव कभी उनकी याद करते हैं ? ॥ २७ ॥

न कर्मणा साधुनैकेन नूनं
सुखं शक्यं वै भवतीह संजय ।
सर्वात्मना परिजेतुं वयं चे-
न्न शक्नुमो धृतराष्ट्रस्य पुत्रम् ॥ २८ ॥

संजय ! यदि हम धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधनको सभी उपायोंसे नहीं जीत सकते तो केवल एक अच्छे व्यवहारसे ही उसे सुखपूर्वक जीतना हमारे लिये निश्चय ही सम्भव नहीं है ॥ २८ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि संजययानपर्वणि युधिष्ठिरप्रश्ने त्रयोविंशोऽध्यायः ॥ २३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत संजययानपर्वमें युधिष्ठिरप्रश्नविषयक तेईसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २३ ॥

चतुर्विंशोऽध्यायः

संजयका युधिष्ठिरको उनके प्रश्नोंका उत्तर देते हुए उन्हें राजा धृतराष्ट्रका संदेश सुनानेकी प्रतिज्ञा करना

संजय उवाच

यथाऽऽत्थ मे पाण्डव तत् तथैव
कुरून् कुरुश्रेष्ठ जनं च पृच्छसि ।
अनामयास्तात मनस्विनस्ते
कुरुश्रेष्ठान् पृच्छसि पार्थ यांस्त्वम् ॥ १ ॥

संजय बोला—कुरुश्रेष्ठ पाण्डुनन्दन ! आपने मुझसे जो कुछ कहा है, वह बिल्कुल ठीक है । कौरवों तथा अन्य लोगोंके विषयमें आप जो कुछ पूछ रहे हैं, वह बताता हूँ, सुनिये । तात ! कुन्तीनन्दन ! आपने जिन श्रेष्ठ कुरुवंशियोंके कुशल-समाचार पूछे हैं, वे सभी मनस्वी पुरुष स्वस्थ और सानन्द हैं ॥ १ ॥

सन्त्येव वृद्धाः साधवो धार्तराष्ट्रे
सन्त्येव पापाः पाण्डव तस्य विद्धि ।
दद्याद् रिपुभ्योऽपि हि धार्तराष्ट्रः
कुतो दायाँल्लोपयेद् ब्राह्मणानाम् ॥ २ ॥

पाण्डव ! धृतराष्ट्र-पुत्र दुर्योधनके पास जैसे बहुत-से पापी रहते हैं, उसी प्रकार उसके यहाँ साधुस्वभाववाले वृद्ध पुरुष भी रहते ही हैं । आप इस बातको सत्य समझें । दुर्योधन तो शत्रुओंको भी धन देता है, फिर वह ब्राह्मणोंकी जीविकाका लोप तो कर ही कैसे सकता है ? ॥ २ ॥

यद् युष्माकं वर्तते सौनधर्म्य-
मद्रुग्धेषु द्रुग्धवत् तन्न साधु ।
मित्रध्रुक् स्याद् धृतराष्ट्रः सपुत्रो
युष्मान् द्विषन् साधुवृत्तानसाधुः ॥ ३ ॥

आपलोगोंने दुर्योधनके प्रति कभी द्रोहका भाव नहीं रक्खा है, तो भी वह आपके प्रति जो क्रूरतापूर्ण व्यवहार करता है—द्रोही पुरुषोंके समान ही आचरण करता है, (दुर्योधनके लिये) यह उचित नहीं है । आप-जैसे साधु-स्वभाव लोगोंसे द्वेष करनेपर तो पुत्रोंसहित राजा धृतराष्ट्र असाधु और मित्रद्रोही ही समझे जायँगे ॥ ३ ॥

न चानुजानाति भृशं च तप्यते
शोचत्यन्तः स्थविरोऽजातशत्रो ।
शृणोति हि ब्राह्मणानां समेत्य
मित्रद्रोहः पातकेभ्यो गरीयान् ॥ ४ ॥

अजातशत्रो ! राजा धृतराष्ट्र अपने पुत्रोंको आपसे द्वेष करनेकी आज्ञा नहीं देते; बल्कि आपके प्रति उनके द्रोहकी बात सुनकर वे मन-ही-मन अत्यन्त संतप्त होते तथा शोक किया करते हैं ? क्योंकि वे अपने यहाँ पधारे हुए ब्राह्मणोंसे मिलकर सदा उनसे यही सुना करते हैं कि मित्रद्रोह सब पापोंसे बढ़कर है ॥ ४ ॥

स्मरन्ति तुभ्यं नरदेव संयुगे
युद्धे च जिष्णोश्च युधां प्रणेतुः ।
समुत्क्रुष्टे दुन्दुभिशङ्खशब्दे
गदापाणिं भीमसेनं स्मरन्ति ॥ ५ ॥

नरदेव ! कौरवगण युद्धकी चर्चा चलनेपर आपको तथा वीराग्रणी अर्जुनको भी स्मरण करते हैं । युद्धकालमें जब दुन्दुभि और शङ्खकी ध्वनि गूँज उठती है, उस समय उन्हें गदापाणि भीमसेनकी बहुत याद आती है ॥ ५ ॥

माद्रीसुतौ चापि रणाजिमध्ये
सर्वा दिशः सम्पतन्तौ स्मरन्ति ।
सेनां वर्षन्तौ शरवर्षैरजस्रं
महारथौ समरे दुष्प्रकम्पौ ॥ ६ ॥

समराङ्गणमें जिन्हें हराना तो दूरकी बात है, विचलित या कम्पित करना भी अत्यन्त कठिन है; जो शत्रुसेनापर निरन्तर बाणोंकी वर्षा करते हैं और संग्राममें सम्पूर्ण दिशाओंमें आक्रमण करते हैं, उन महारथी माद्रीकुमार नकुल-सहदेवको भी कौरव सदा याद करते हैं ॥ ६ ॥

न त्वेव मन्ये पुरुषस्य राज-
न्ननागतं ज्ञायते यद् भविष्यम् ।
त्वं चेत् तथा सर्वधर्मोपपन्नः
प्राप्तः क्लेशं पाण्डव कृच्छ्ररूपम् ।

त्वमेवैतत् कृच्छ्रगतश्च भूयः
समीकुर्याः प्रज्ञयाजातशत्रो ॥ ७ ॥

पाण्डुनन्दन महाराज युधिष्ठिर ! मेरा यह विश्वास है कि मनुष्यका भविष्य जबतक वह सामने नहीं आता, किसीको ज्ञात नहीं होता; क्योंकि आप-जैसे सर्वधर्मसम्पन्न पुरुष भी अत्यन्त भयंकर क्लेशमें पड़ गये। अजातशत्रो ! संकटमें पड़नेपर भी आप ही अपनी बुद्धिसे विचारकर इस झगड़ेकी शान्तिके लिये पुनः कोई सरल उपाय ढूँढ़ निकालिये ॥

न कामार्थं संत्यजेयुर्हि धर्मं
पाण्डोः सुताः सर्व एवेन्द्रकल्पाः।
त्वमेवैतत् प्रज्ञयाजातशत्रो
समीकुर्या येन शर्माप्नुयुस्ते ॥ ८ ॥
धार्तराष्ट्राः पाण्डवाः सृंजयाश्च
ये चाप्यन्ये संनिविष्टा नरेन्द्राः।

पाण्डुके सभी पुत्र इन्द्रके समान पराक्रमी हैं। वे किसी भी स्वार्थके लिये कभी धर्मका त्याग नहीं करते। अतः अजातशत्रो ! आप ही इस समस्याको हल कीजिये, जिससे धृतराष्ट्रके सभी पुत्र, पाण्डव, सृंजयवंशी क्षत्रिय तथा अन्य नरेश, जो आकर सेनाकी छावनीमें टिके हुए हैं, कल्याणके भागी हों ॥

यन्माब्रवीद् धृतराष्ट्रो निशाया-
मजातशत्रो वचनं पिता ते ॥ ९ ॥
सहामात्यः सहपुत्रश्च राजन्
समेत्य तां वाचमिमां निबोध ॥ १० ॥

महाराज युधिष्ठिर ! आपके ताऊ धृतराष्ट्रने रातके समय मुझसे आपलोगोंके लिये जो संदेश कहा था, उसे आप मन्त्रियों और पुत्रोंसहित मेरे इन शब्दोंमें सुनिये ॥ ९-१० ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि संजययानपर्वणि संजयवाक्ये चतुर्विंशोऽध्यायः ॥ २४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत संजययानपर्वमें संजयवाक्यविषयक चौबीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २४ ॥

पञ्चविंशोऽध्यायः

संजयका युधिष्ठिरको धृतराष्ट्रका संदेश सुनाना एवं अपनी ओरसे भी शान्तिके लिये प्रार्थना करना

युधिष्ठिर उवाच

समागताः पाण्डवाः सृंजयाश्च
जनार्दनो युयुधानो विराटः।
यत् ते वाक्यं धृतराष्ट्रानुशिष्टं
गावल्गणे ब्रूहि तत् सूतपुत्र ॥ १ ॥

युधिष्ठिर बोले—गवल्गणकुमार सूतपुत्र संजय ! यहाँ पाण्डव, सृंजय, भगवान् श्रीकृष्ण, सात्यकि तथा राजा विराट—सब एकत्र हुए हैं। राजा धृतराष्ट्रने तुम्हारे द्वारा जो संदेश भेजा है, उसे कहो ॥ १ ॥

संजय उवाच

अजातशत्रुं च वृकोदरं च
धनंजयं माद्रवतीसुतौ च।
आमन्त्रये वासुदेवं च शौरिं
युयुधानं चेकितानं विराटम् ॥ २ ॥
पञ्चालानामधिपं चैव वृद्धं
धृष्टद्युम्नं पार्षतं याज्ञसेनिम्।
सर्वे वाचं शृणुतेमां मदीयां
वक्ष्यामि यां भूतिमिच्छन् कुरूणाम् ॥ ३ ॥

संजय बोला—मैं अजातशत्रु युधिष्ठिर, भीमसेन, अर्जुन, नकुल, सहदेव, भगवान् श्रीकृष्ण, सात्यकि, चेकितान, विराट, पाञ्चालदेशके बूढ़े नरेश द्रुपद तथा उनके पुत्र पृषतवंशी धृष्टद्युम्नको भी आमन्त्रित करता हूँ। मैं कौरवोंकी भलाई चाहता हुआ जो कुछ कह रहा हूँ, मेरी उस वाणीको आप सब लोग सुनें ॥ २-३ ॥



शमं राजा धृतराष्ट्रोऽभिनन्द-
न्नयोजयत् त्वरमाणो रथं मे।
सभ्रातृपुत्रस्वजनस्य राज्ञ-
स्तद्रोचतां पाण्डवानां शमोऽस्तु ॥ ४ ॥



संजयकी श्रीकृष्ण एवं पाण्डवोंसे भेंट

राजा धृतराष्ट्र शान्तिका आदर करते हैं (युद्ध नहीं चाहते)। उन्होंने बड़ी उतावलीके साथ मेरे लिये शीघ्रतापूर्वक रथ तैयार कराया और मुझे यहाँ भेजा। मैं चाहता हूँ कि भाई, पुत्र तथा स्वजनोंसहित राजा धृतराष्ट्रका यह शान्तिसंदेश पाण्डवोंको रुचिकर प्रतीत हो और दोनों पक्षोंमें सन्धि स्थापित हो जाय॥४॥

सर्वैर्धर्मैः समुपेतास्तु पार्थाः
संस्थानेन मार्दवेनार्जवेन।
जाताः कुले ह्यनृशंसा वदान्या
ह्रीनिषेवाः कर्मणां निश्चयज्ञाः॥ ५ ॥

कुन्तीके पुत्रो! आपलोग अपने दिव्य शरीर, दयालु एवं कोमल स्वभाव और सरलता आदि गुणों तथा सम्पूर्ण धर्मोंसे युक्त हैं। आपलोगोंका उत्तम कुलमें जन्म हुआ है। आपलोगोंमें क्रूरताका सर्वथा अभाव है। आपलोग उदार, लज्जाशील और कर्मोंके परिणामको जाननेवाले हैं॥ ५॥

न युज्यते कर्म युष्मासु हीनं
सत्त्वं हि वस्तादृशं भीमसेनाः।
उद्भासते ह्यञ्जनबिन्दुवत् त-
च्छुभ्रे वस्त्रे यद् भवेत् किल्बिषं वः॥ ६ ॥

भयंकर सैन्यसंग्रह करनेवाले पाण्डवो! आपलोगोंमें ऐसा सत्त्वगुण भरा है कि आपके द्वारा कोई नीच कर्म बन ही नहीं सकता। यदि आपलोगोंमें कोई दोष होता तो वह सफेद वस्त्रमें काले दागकी भाँति चमक उठता (छिप नहीं सकता)॥ ६॥

सर्वक्षयो दृश्यते यत्र कृत्स्नः
पापोदयो निरयोऽभावसंस्थः।
कस्तत् कुर्याज्जातु कर्म प्रजानन्
पराजयो यत्र समो जयश्च॥ ७ ॥

जिसमें सबका विनाश दिखायी देता है, जिससे पूर्णतः पापका उदय होता है, जो नरकका हेतु है, जिसके अन्तमें अभाव ही हाथ लगता है और जिसमें जय तथा पराजय दोनों समान हैं, उस युद्ध-जैसे कठोर कर्मके लिये कौन समझदार मनुष्य कभी उद्योग करेगा ?॥ ७॥

ते वै धन्या यैः कृतं ज्ञातिकार्यं
ते वै पुत्राः सुहृदो बान्धवाश्च।
उपक्रुष्टं जीवितं संत्यजेयु-
र्यतः कुरूणां नियतो वैभवः स्यात्॥ ८ ॥

जिन्होंने जाति और कुटुम्बके हितकर कार्योंका साधन किया है, वे धन्य हैं। वे ही पुत्र, मित्र तथा बान्धव कहलाने योग्य हैं। कौरवोंको चाहिये कि वे निन्दित जीवनका परित्याग कर दें, जिससे कौरवकुलका अभ्युदय अवश्यम्भावी हो॥ ८॥

ते चेत् कुरूननुशिष्याथ पार्था
निर्णीय सर्वान् द्विषतो निगृह्य।
समं वस्तज्जीवितं मृत्युना स्याद्
यज्जीवध्वं ज्ञातिवधे न साधु॥ ९ ॥

कुन्तीकुमारो! यदि आपलोग समस्त कौरवोंको निश्चित रूपसे अपना शत्रु मानकर उन्हें दण्ड देंगे, कैद करेंगे अथवा उनका वध कर डालेंगे तो उस दशामें आपका जो जीवन होगा, वह आपके द्वारा कुटुम्बीजनोंका वध होनेके कारण अच्छा नहीं समझा जायगा। वह निन्दित जीवन तो मृत्युके समान ही होगा॥ ९॥

को ह्येव युष्मान् सह केशवेन
सचेकितानान् पार्षतबाहुगुप्तान्।
ससात्यकीन् विषहेत प्रजेतुं
लब्ध्वापि देवान् सचिवान् सहेन्द्रान्॥ १० ॥

भगवान् श्रीकृष्ण, चेकितान और सात्यकि आपलोगोंके सहायक हैं। आपलोग महाराज द्रुपदके बाहुबलसे सुरक्षित हैं। ऐसी दशामें इन्द्रसहित समस्त देवताओंको अपने सहायकके रूपमें पाकर भी कौन ऐसा मनुष्य होगा, जो आपलोगोंको जीतनेका साहस करेगा ?॥ १०॥

को वा कुरून् द्रोणभीष्माभिगुप्ता-
नश्वत्थाम्ना शल्यकृपादिभिश्च।
रणे विजेतुं विषहेत राजन्
राधेयगुप्तान् सह भूमिपालैः॥ ११ ॥

राजन्! इसी प्रकार द्रोणाचार्य, भीष्म, अश्वत्थामा, शल्य, कृपाचार्य आदि वीरों तथा अन्य राजाओंसहित कर्णके द्वारा सुरक्षित कौरवोंको युद्धमें जीतनेका साहस कौन कर सकता है ?॥ ११॥

महद् बलं धार्तराष्ट्रस्य राज्ञः
को वै शक्तो हन्तुमक्षीयमाणः।
सोऽहं जये चैव पराजये च
निःश्रेयसं नाधिगच्छामि किंचित्॥ १२ ॥

राजा दुर्योधनके पास विशाल वाहिनी एकत्र हो गयी है। कौन ऐसा वीर है, जो स्वयं क्षीण न होकर उस सेनाका विनाश कर सके ? मैं तो इस युद्धमें किसी भी पक्षकी जय हो या पराजय, कोई कल्याणकी बात नहीं देखता हूँ॥ १२॥

कथं हि नीचा इव दौष्कुलेया
निर्धर्मार्थं कर्म कुर्युश्च पार्थाः।
सोऽहं प्रसाद्य प्रणतो वासुदेवं
पञ्चालानामधिपं चैव वृद्धम्॥ १३ ॥
कृताञ्जलिः शरणं वः प्रपद्ये
कथं स्वस्ति स्यात् कुरुसृंजयानाम्।

न ह्येवमेवं वचनं वासुदेवो
धनंजयो वा जातु किंचिन्न कुर्यात् ॥ १४ ॥

भला ! कुन्तीके पुत्र नीच कुलमें उत्पन्न हुए दूसरे अधम मनुष्योंके समान ऐसा (निन्दित) कर्म कैसे कर सकते हैं ? जिससे न तो धर्मकी सिद्धि होनेवाली है और न अर्थकी ही। यहाँ भगवान् श्रीकृष्ण हैं तथा वृद्ध पाञ्चालराज द्रुपद भी उपस्थित हैं। मैं इन सबको प्रणाम करके प्रसन्न करना चाहता हूँ, हाथ जोड़कर आपलोगोंकी शरणमें आया हूँ। आप स्वयं विचार करें कि कुरु तथा सृंजय-वंशका कल्याण कैसे हो ? मुझे विश्वास है कि भगवान् श्रीकृष्ण अथवा अर्जुन इस प्रकार प्रार्थनापूर्वक कही हुई मेरी किसी भी बातको ठुकरा नहीं सकते ॥ १३-१४ ॥

प्राणान् दद्याद् याचमानः कुतोऽन्य-
देतद् विद्वन् साधनार्थं ब्रवीमि।
एतद् राज्ञो भीष्मपुरोगमस्य
मतं यद् वः शान्तिरिहोत्तमा स्यात् ॥ १५ ॥

इतना ही नहीं, मेरे माँगनेपर अर्जुन अपने प्राणतक दे सकते हैं फिर दूसरी किसी वस्तुके लिये तो कहना ही क्या है ? विद्वान् राजा युधिष्ठिर ! मैं संधि-कार्यकी सिद्धिके लिये ही यह सब कह रहा हूँ। भीष्म तथा राजा धृतराष्ट्रको भी यही अभिमत है और इसीसे आप सब लोगोंको उत्तम शान्ति प्राप्त हो सकती है ॥ १५ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि संजययानपर्वणि संजयवाक्ये पञ्चविंशोऽध्यायः ॥ २५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत संजययानपर्वमें संजयवाक्यविषयक पचीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २५ ॥

षड्विंशोऽध्यायः

युधिष्ठिरका संजयको इन्द्रप्रस्थ लौटानेसे ही शान्ति होना सम्भव बतलाना

युधिष्ठिर उवाच

कां नु वाचं संजय मे शृणोषि
युद्धैषिणीं येन युद्धाद् बिभेषि।
अयुद्धं वै तात युद्धाद् गरीयः
कस्तल्लब्ध्वा जातु युद्ध्येत सूत ॥ १ ॥

युधिष्ठिर बोले—संजय ! तुमने मेरी कौन-सी ऐसी बात सुनी है, जिससे मेरी युद्धकी इच्छा व्यक्त हुई है, जिसके कारण तुम युद्धसे भयभीत हो रहे हो ? तात ! युद्ध करनेकी अपेक्षा युद्ध न करना ही श्रेष्ठ है। सूत ! युद्ध न करनेका अवसर पाकर भी कौन मनुष्य कभी युद्धमें प्रवृत्त होगा ? ॥ १ ॥

अकुर्वतश्चेत् पुरुषस्य संजय
सिद्ध्येत् संकल्पो मनसा यं यमिच्छेत्।
न कर्म कुर्याद् विदितं ममैत-
दन्यत्र युद्धाद् बहु यल्लघीयः ॥ २ ॥

संजय ! यदि कर्म न करनेपर पुरुषका संकल्प सिद्ध हो जाता—वह मनसे जिस-जिस वस्तुको चाहता, वह-वह उसे मिल जाती तो कोई भी मनुष्य कर्म नहीं करता, यह बात मुझे अच्छी तरह मालूम है। युद्ध किये बिना यदि थोड़ा भी लाभ प्राप्त होता हो तो उसे बहुत समझना चाहिये ॥ २ ॥

कुतो युद्धं जातु नरोऽवगच्छेत्
को देवशप्तो हि वृणीत युद्धम्।
सुखैषिणः कर्म कुर्वन्ति पार्था
धर्मादहीनं यच्च लोकस्य पथ्यम् ॥ ३ ॥

मनुष्य कभी भी किसलिये युद्धका विचार करेगा ? किसे देवताओंने शाप दे रक्खा है, जो जान-बूझकर युद्धका वरण करेगा ? कुन्तीके पुत्र सुखकी इच्छा रखकर वही कर्म करते हैं, जो धर्मके विपरीत न हो तथा जिससे सब लोगोंका भला होता हो ॥ ३ ॥

धर्मोदयं सुखमाशंसमानाः
कृच्छ्रोपायं तत्त्वतः कर्म दुःखम्।
सुखं प्रेप्सुर्विजिघांसुश्च दुःखं
य इन्द्रियाणां प्रीतिरसानुगामी ॥ ४ ॥

हमलोग वही सुख चाहते हैं, जो धर्मकी प्राप्ति करानेवाला हो। जो इन्द्रियोंको प्रिय लगनेवाले विषय-रसका अनुगामी होता है, वह सुखको पाने और दुःखको नष्ट करनेकी इच्छासे कर्म करता है; परंतु वास्तवमें उसका सारा कर्म दुःखरूप ही है; क्योंकि वह कष्टदायक उपायोंसे ही साध्य है ॥ ४ ॥

कामाभिध्या स्वशरीरं दुनोति
यया प्रमुक्तो न करोति दुःखम्।
यथेध्यमानस्य समिद्धतेजसो
भूयो बलं वर्धते पावकस्य ॥ ५ ॥
कामार्थलाभेन तथैव भूयो
न तृप्यते सर्पिषेवाग्निरिद्धः।

विषयोंका चिन्तन अपने शरीरको पीड़ा देता है। जो विषय-चिन्तनसे सर्वथा मुक्त है, वह कभी दुःखका अनुभव नहीं करता। जैसे प्रज्वलित अग्निमें ईंधन डालनेसे उसका बल बहुत अधिक बढ़ जाता है, उसी प्रकार विषयभोग और धनका लाभ होनेसे मनुष्यकी तृष्णा और अधिक बढ़ जाती है। घीसे शान्त न होनेवाली प्रज्वलित अग्निकी भाँति मानव कभी विषयभोग और धनसे तृप्त नहीं होता है ॥ ५½ ॥

सम्पश्येमं भोगचयं महान्तं
सहास्माभिर्धृतराष्ट्रस्य राज्ञः ॥ ६ ॥

हमलोगोंसहित राजा धृतराष्ट्रके पास यह भोगोंकी विशाल राशि संचित हो गयी है। परंतु देखो (इतनेपर भी उनकी तृप्ति नहीं होती) ॥ ६ ॥

नाश्रेयानीश्वरो विग्रहाणां
नाश्रेयान् वै गीतशब्दं शृणोति।
नाश्रेयान् वै सेवते माल्यगन्धान्
न चाप्यश्रेयाननुलेपनानि ॥ ७ ॥
नाश्रेयान् वै प्रावारान् संविवस्ते
कथं त्वस्मान् सम्प्रणुदेत् कुरुभ्यः।
अत्रैव स्यादबुधस्यैव कामः
प्रायः शरीरे हृदयं दुनोति ॥ ८ ॥

जो पुण्यात्मा नहीं है, वह संग्राममें विजयी नहीं होता। जो पुण्यात्मा नहीं है, वह अपना यशोगान नहीं सुनता। जिसने पुण्य नहीं किया है, वह मालाएँ और गन्ध नहीं धारण कर सकता। जो पुण्यात्मा नहीं है, वह चन्दन आदि अवलेपनका भी उपयोग नहीं कर सकता। जिसने पुण्य नहीं किया है, वह अच्छे कपड़े नहीं धारण करता। यदि राजा धृतराष्ट्र पुण्यवान् न होते, तो हमलोगोंको कुरुदेशसे दूर कैसे कर देते? तथापि यह भोगतृष्णा अज्ञानी दुर्योधन आदिके ही योग्य है, जो प्रायः (सभीके) शरीरोंके भीतर अन्तःकरणको पीड़ा देती रहती है ॥ ७-८ ॥

स्वयं राजा विषमस्थः परेषु
सामस्थ्यमन्विच्छति तन्न साधु।
यथाऽऽत्मनः पश्यति वृत्तमेव
तथा परेषामपि सोऽभ्युपैतु ॥ ९ ॥

राजा धृतराष्ट्र स्वयं तो विषम-बर्तावमें लगे हुए हैं; परंतु दूसरोंमें समतापूर्ण बर्ताव देखना चाहते हैं, यह अच्छी बात नहीं है। वे जैसा अपना बर्ताव देखते हैं, वैसा ही दूसरोंका भी देखें ॥ ९ ॥

आसन्नमग्निं तु निदाघकाले
गम्भीरकक्षे गहने विसृज्य।
यथा विवृद्धं वायुवशेन शोचेत्
क्षेमं मुमुक्षुः शिशिरव्यपाये ॥ १० ॥
प्राप्तैश्वर्यो धृतराष्ट्रोऽद्य राजा
लालप्यते संजय कस्य हेतोः।
प्रगृह्य दुर्बुद्धिमनार्जवे रतं
पुत्रं मन्दं मूढममन्त्रिणं तु ॥ ११ ॥

संजय! जैसे कोई मनुष्य शिशिर ऋतु बीतनेपर ग्रीष्म-ऋतुकी दोपहरीमें बहुत घास-फूससे भरे हुए गहन वनमें आग लगा दे और जब हवा चलनेसे वह आग सब ओर फैलकर अपने निकट आ जाय, तब उसकी ज्वालासे अपने आपको बचानेके लिये वह कुशल-क्षेमकी इच्छा रखकर बार-बार शोक करने लगे, उसी प्रकार आज राजा धृतराष्ट्र सारा ऐश्वर्य अपने अधिकारमें करके खोटी बुद्धिवाले, उद्दण्ड, भाग्यहीन, मूर्ख और किसी अच्छे मन्त्रीकी सलाहके अनुसार न चलनेवाले अपने पुत्र दुर्योधनका पक्ष लेकर अब किस लिये (दीनकी भाँति) विलाप करते हैं? ॥ १०-११ ॥

अनाप्तवच्चाप्ततमस्य वाचः
सुयोधनो विदुरस्यावमत्य।
सुतस्य राजा धृतराष्ट्रः प्रियैषी
सम्बुध्यमानो विशतेऽधर्ममेव ॥ १२ ॥

अपने पुत्र दुर्योधनका प्रिय चाहनेवाले राजा धृतराष्ट्र अपने सबसे अधिक विश्वासपात्र विदुरजीके वचनोंको अविश्वसनीय-से समझकर उनकी अवहेलना करके जान-बूझकर अधर्मके ही पथका आश्रय ले रहे हैं ॥ १२ ॥

मेधाविनं ह्यर्थकामं कुरूणां
बहुश्रुतं वाग्मिनं शीलवन्तम्।
स तं राजा धृतराष्ट्रः कुरुभ्यो
न सस्मार विदुरं पुत्रकाम्यात् ॥ १३ ॥

बुद्धिमान्, कौरवोंके अभीष्टकी सिद्धि चाहनेवाले, बहुश्रुत विद्वान्, उत्तम वक्ता तथा शीलवान् विदुरजीका भी राजा धृतराष्ट्रने कौरवोंके हितके लिये पुत्रस्नेहकी लालसासे आदर नहीं किया ॥ १३ ॥

मानघ्नस्यासौ मानकामस्य चेर्षोः
संरम्भिणश्चार्थधर्मातिगस्य।
दुर्भाषिणो मन्युवशानुगस्य
कामात्मनो दौर्हृदैर्भावितस्य ॥ १४ ॥
अनेयस्याश्रेयसो दीर्घमन्यो-
र्मित्रद्रुहः संजय पापबुद्धेः।
सुतस्य राजा धृतराष्ट्रः प्रियैषी
प्रपश्यमानः प्राजहाद् धर्मकामौ ॥ १५ ॥

संजय! दूसरोंका मान मिटाकर अपना मान चाहनेवाले, ईर्ष्यालु, क्रोधी, अर्थ और धर्मका उल्लङ्घन करनेवाले, कटुवचन बोलनेवाले, क्रोध और दीनताके वशवर्ती, कामात्मा (भोगासक्त), पापियोंसे प्रशंसित, शिक्षा देनेके अयोग्य, भाग्यहीन, अधिक क्रोधी, मित्रद्रोही तथा पापबुद्धि पुत्र दुर्योधनका प्रिय चाहनेवाले

राजा धृतराष्ट्रने समझते हुए भी धर्म और कामका परित्याग किया है ॥ १४-१५ ॥

तदैव मे संजय दीव्यतोऽभू-
न्मतिः कुरूणामागतः स्यादभावः।
काव्यां वाचं विदुरो भाषमाणो
न विन्दते यद् धार्तराष्ट्रात् प्रशंसाम् ॥ १६ ॥

संजय ! जिस समय मैं जूआ खेल रहा था, उसी समयकी बात है, विदुरजी शुक्रनीतिके अनुसार युक्तियुक्त वचन कह रहे थे, तो भी दुर्योधनकी ओरसे उन्हें प्रशंसा नहीं प्राप्त हुई । तभी मेरे मनमें यह विचार उत्पन्न हुआ था कि सम्भवतः कौरवोंका विनाशकाल समीप आ गया है ॥ १६ ॥

क्षत्तुर्यदा नान्ववर्तन्त बुद्धिं
कृच्छ्रं कुरून् सूत तदाभ्याजगाम।
यावत् प्रज्ञामन्ववर्तन्त तस्य
तावत् तेषां राष्ट्रवृद्धिर्बभूव ॥ १७ ॥

सूत ! जबतक कौरव विदुरजीकी बुद्धिके अनुसार बर्ताव करते और चलते थे, तबतक सदा उनके राष्ट्रकी वृद्धि ही होती रही । जबसे उन्होंने विदुरजीसे सलाह लेना छोड़ दिया, तभीसे उनपर विपत्ति आ पड़ी है ॥ १७ ॥

तदर्थलुब्धस्य निबोध मेऽद्य
ये मन्त्रिणो धार्तराष्ट्रस्य सूत ।
दुःशासनः शकुनिः सूतपुत्रो
गावल्गणे पश्य सम्मोहमस्य ॥ १८ ॥

गवल्गणपुत्र संजय ! धनके लोभी दुर्योधनके जो-जो मन्त्री हैं, उनके नाम आज तुम मुझसे सुन लो । दुःशासन, शकुनि तथा सूतपुत्र कर्ण—ये ही उसके मन्त्री हैं । उसका मोह तो देखो ॥ १८ ॥

सोऽहं न पश्यामि परीक्षमाणः
कथं स्वस्ति स्यात् कुरुसृंजयानाम् ।
आत्तैश्वर्यो धृतराष्ट्रः परेभ्यः
प्रव्राजिते विदुरे दीर्घदृष्टौ ॥ १९ ॥
आशंसते वै धृतराष्ट्रः सपुत्रो
महाराज्यमसपत्नं पृथिव्याम् ।
तस्मिञ्छमः केवलं नोपलभ्यः
सर्वं स्वकं मद्गते मन्यतेऽर्थम् ॥ २० ॥

मैं बहुत सोचने-विचारनेपर भी कोई ऐसा उपाय नहीं देखता, जिससे कुरु तथा सृंजयवंश दोनोंका कल्याण हो । धृतराष्ट्र हम शत्रुओंसे ऐश्वर्य छीनकर दूरदर्शी विदुरको देशसे निर्वासित करके अपने पुत्रोंसहित भूमण्डलका निष्कण्टक साम्राज्य प्राप्त करनेकी आशा लगाये बैठे हैं । ऐसे लोभी नरेशके साथ केवल संधि ही बनी रहेगी, (युद्ध आदिका अवसर नहीं आयेगा) यह सम्भव नहीं जान पड़ता; क्योंकि हमलोगोंके वन चले जानेपर वे हमारे सारे धनको अपना ही मानने लगे हैं ॥ १९-२० ॥

यत् तत् कर्णो मन्यते पारणीयं
युद्धे गृहीतायुधमर्जुनं वै ।
आसंश्च युद्धानि पुरा महान्ति
कथं कर्णो नाभवद् द्वीप एषाम् ॥ २१ ॥

कर्ण जो ऐसा समझता है कि युद्धमें धनुष उठाये हुए अर्जुनको जीत लेना सहज है, वह उसकी भूल है । पहले भी तो बड़े-बड़े युद्ध हो चुके हैं । उनमें कर्ण इन कौरवोंका आश्रयदाता क्यों न हो सका ? ॥ २१ ॥

कर्णश्च जानाति सुयोधनश्च
द्रोणश्च जानाति पितामहश्च ।
अन्ये च ये कुरवस्तत्र सन्ति
यथार्जुनान्नास्त्यपरो धनुर्धरः ॥ २२ ॥

अर्जुनसे बढ़कर दूसरा कोई धनुर्धर नहीं है—इस बातको कर्ण जानता है, दुर्योधन जानता है, आचार्य द्रोण और पितामह भीष्म जानते हैं तथा अन्य जो-जो कौरव वहाँ रहते हैं, वे सब भी जानते हैं ॥ २२ ॥

जानन्त्येतत् कुरवः सर्व एव
ये चाप्यन्ये भूमिपालाः समेताः ।
दुर्योधने राज्यमिहाभवद् यथा
अरिंदमे फाल्गुने विद्यमाने ॥ २३ ॥

समस्त कौरव तथा वहाँ एकत्र हुए अन्य भूपाल भी इस बातको जानते हैं कि शत्रुदमन अर्जुनके उपस्थित रहते हुए दुर्योधनने किस उपायसे पाण्डवोंका राज्य प्राप्त किया (अर्थात् उन्होंने अपनी वीरतासे नहीं, अपितु छलपूर्वक जूएके द्वारा ही हमारा राज्य लिया) ॥ २३ ॥

तेनानुबन्धं मन्यते धार्तराष्ट्रः
शक्यं हर्तुं पाण्डवानां ममत्वम् ।
किरीटिना तालमात्रायुधेन
तद्वेदिना संयुगं तत्र गत्वा ॥ २४ ॥

राज्य आदिपर जो पाण्डवोंका ममत्व है, उसे हर लेना क्या दुर्योधन सरल समझता है ? इसके लिये उसे उन किरीटधारी अर्जुनके साथ युद्धभूमिमें उतरना पड़ेगा, जो चार हाथ लंबा धनुष धारण करते हैं और धनुर्वेदके प्रकाण्ड विद्वान् हैं ॥ २४ ॥

गाण्डीवविस्फारितशब्दमाजा-
वशृण्वाना धार्तराष्ट्रा ध्रियन्ते ।
क्रुद्धं न चेदीक्षते भीमसेनं
सुयोधनो मन्यते सिद्धमर्थम् ॥ २५ ॥

धृतराष्ट्रके पुत्र तभीतक जीवित हैं, जबतक कि वे युद्धमें गाण्डीव धनुषका टंकारघोष नहीं सुन रहे हैं। दुर्योधन जबतक क्रोधमें भरे हुए भीमसेनको नहीं देख रहा है, तभीतक अपने राज्यप्राप्तिसम्बन्धी मनोरथको सिद्ध हुआ समझे ॥

इन्द्रोऽप्येतन्नोत्सहेत् तात हर्तु-
मैश्वर्यं नो जीवति भीमसेने ।
धनंजये नकुले चैव सूत
तथा वीरे सहदेवे सहिष्णौ ॥ २६ ॥

तात संजय! जबतक भीमसेन, अर्जुन, नकुल तथा सहनशील वीर सहदेव जीवित हैं, तबतक इन्द्र भी हमारे ऐश्वर्यका अपहरण नहीं कर सकता ॥ २६ ॥

स चेदेतां प्रतिपद्येत बुद्धिं
वृद्धो राजा सह पुत्रेण सूत ।
एवं रणे पाण्डवकोपदग्धा
न नश्येयुः संजय धार्तराष्ट्राः ॥ २७ ॥

सूत! यदि राजा धृतराष्ट्र अपने पुत्रोंके साथ यह अच्छी तरह समझ लेंगे कि पाण्डवोंको राज्य न देनेमें कुशल नहीं है तो धृतराष्ट्रके सभी पुत्र समराङ्गणमें पाण्डवोंकी क्रोधाग्निसे दग्ध होकर नष्ट होनेसे बच जायँगे ॥ २७ ॥

जानासि त्वं क्लेशमस्मासु वृत्तं
त्वां पूजयन् संजयाहं क्षमेयम् ।
यच्चास्माकं कौरवैर्भूतपूर्वं
या नो वृत्तिर्धार्तराष्ट्रे तदाऽऽसीत् ॥ २८ ॥

संजय! हमलोगोंको कौरवोंके कारण पहले कितना क्लेश उठाना पड़ा है, यह तुम भलीभाँति जानते हो तथापि मैं तुम्हारा आदर करते हुए उनके सब अपराधोंको क्षमा कर सकता हूँ। दुर्योधन आदि कौरवोंने पहले हमारे साथ कैसा बर्ताव किया है और उस समय हमलोगोंका उनके साथ कैसा बर्ताव रहा है, यह भी तुमसे छिपा नहीं है ॥ २८ ॥

अद्यापि तत् तत्र तथैव वर्ततां
शान्तिं गमिष्यामि यथा त्वमात्थ ।
इन्द्रप्रस्थे भवतु ममैव राज्यं
सुयोधनो यच्छतु भारताग्र्यः ॥ २९ ॥

अब भी वह सब कुछ पहलेके ही समान हो सकता है। जैसा तुम कह रहे हो, उसके अनुसार मैं शान्ति धारण कर लूँगा। परंतु इन्द्रप्रस्थमें पूर्ववत् मेरा ही राज्य रहे और भरतवंशशिरोमणि सुयोधन मेरा वह राज्य मुझे लौटा दे ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि संजययानपर्वणि युधिष्ठिरवाक्ये षड्विंशोऽध्यायः ॥ २६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत संजययानपर्वमें युधिष्ठिरवाक्यविषयक छब्बीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २६ ॥

सप्तविंशोऽध्यायः

संजयका युधिष्ठिरको युद्धमें दोषकी सम्भावना बतलाकर उन्हें युद्धसे उपरत करनेका प्रयत्न करना

संजय उवाच

धर्मनित्या पाण्डव ते विचेष्टा
लोके श्रुता दृश्यते चापि पार्थ ।
महास्रावं जीवितं चाप्यनित्यं
सम्पश्य त्वं पाण्डव मा व्यनीनशः ॥ १ ॥

संजय बोला—पाण्डुनन्दन! आपकी प्रत्येक चेष्टा सदा धर्मके अनुसार ही होती है। कुन्तीकुमार! आपकी वह धर्मयुक्त चेष्टा लोकमें तो विख्यात है ही, देखनेमें भी आ रही है। यद्यपि यह जीवन अनित्य है तथापि इससे महान् सुयशकी प्राप्ति हो सकती है। पाण्डव! आप जीवनकी उस अनित्यतापर दृष्टिपात करें और अपनी कीर्तिको नष्ट न होने दें ॥ १ ॥

न चेद् भागं कुरवोऽन्यत्र युद्धात्
प्रयच्छेरंस्तुभ्यमजातशत्रो ।
भैक्षचर्यामन्धकवृष्णिराज्ये
श्रेयो मन्ये न तु युद्धेन राज्यम् ॥ २ ॥

अजातशत्रो! यदि कौरव युद्ध किये बिना आपको राज्यका भाग न दें, तो भी अन्धक और वृष्णिवंशी क्षत्रियोंके राज्यमें भीख माँगकर जीवन-निर्वाह कर लेना मैं आपके लिये श्रेष्ठ समझता हूँ, परंतु युद्ध करके राज्य लेना अच्छा नहीं समझता ॥

अल्पकालं जीवितं यन्मनुष्ये
महास्रावं नित्यदुःखं चलं च ।
भूयश्च तद् यशसो नानुरूपं
तस्मात् पापं पाण्डव मा कृथास्त्वम् ॥ ३ ॥

मनुष्यका जो यह जीवन है, वह बहुत थोड़े समयतक रहनेवाला है। इसको क्षीण करनेवाले महान् दोष इसे प्राप्त होते रहते हैं। यह सदा दुःखमय और चञ्चल है। अतः पाण्डुनन्दन! आप युद्धरूपी पाप न कीजिये। वह आपके सुयश-के अनुरूप नहीं है ॥ ३ ॥

कामा मनुष्यं प्रसृजन्त एते
धर्मस्य ये विघ्नमूलं नरेन्द्र ।
पूर्वं नरस्तान् मतिमान् प्रणिघ्नन्-
ल्लोके प्रशंसां लभतेऽनवद्याम् ॥ ४ ॥

नरेन्द्र ! जो धर्माचरणमें विघ्न डालनेकी मूल कारण हैं, वे कामनाएँ प्रत्येक मनुष्योंको अपनी ओर खींचती हैं। अतः बुद्धिमान् मनुष्य पहले उन कामनाओंको नष्ट करता है, तदनन्तर जगत्में निर्मल प्रशंसाका भागी होता है ॥ ४ ॥

निबन्धनी ह्यर्थतृष्णेह पार्थ
तामिच्छतां बाध्यते धर्म एव।
धर्मं तु यः प्रवृणीते स बुद्धः
कामे गृध्नो हीयतेऽर्थानुरोधात् ॥ ५ ॥

कुन्तीनन्दन ! इस संसारमें धनकी तृष्णा ही बन्धनमें डालनेवाली है। जो धनकी तृष्णामें फँसता है, उसका धर्म भी नष्ट हो जाता है। जो धर्मका वरण करता है, वही ज्ञानी है। भोगोंकी इच्छा करनेवाला मनुष्य तो धनमें आसक्त होनेके कारण धर्मसे भ्रष्ट हो जाता है ॥ ५ ॥

धर्मं कृत्वा कर्मणां तात मुख्यं
महाप्रतापः सवितेव भाति।
हीनो हि धर्मेण महीमपीमां
लब्ध्वा नरः सीदति पापबुद्धिः ॥ ६ ॥

तात ! धर्म, अर्थ और काम तीनोंमें धर्मको प्रधान मानकर तदनुसार चलनेवाला पुरुष महाप्रतापी होकर सूर्यकी भाँति चमक उठता है; परंतु जो धर्मसे हीन है और जिसकी बुद्धि पापमें ही लगी हुई है, वह मनुष्य इस सारी पृथ्वीको पाकर भी कष्ट ही भोगता रहता है ॥ ६ ॥

वेदोऽधीतश्चरितं ब्रह्मचर्यं
यज्ञैरिष्टं ब्राह्मणेभ्यश्च दत्तम्।
परं स्थानं मन्यमानेन भूय
आत्मा दत्तो वर्षपूगं सुखेभ्यः ॥ ७ ॥

आपने परलोकपर विश्वास करके वेदोंका अध्ययन, ब्रह्मचर्यका पालन एवं यज्ञोंका अनुष्टान किया है तथा ब्राह्मणोंको दान दिया है और अनन्त वर्षोंतक वहाँके सुख भोगनेके लिये अपने-आपको भी समर्पित कर दिया है ॥ ७ ॥

सुखप्रिये सेवमानोऽतिवेलं
योगाभ्यासे यो न करोति कर्म।
वित्तक्षये हीनसुखोऽतिवेलं
दुःखं शेते कामवेगप्रणुन्नः ॥ ८ ॥

जो मनुष्य भोग तथा प्रिय (पुत्रादि) का निरन्तर सेवन करते हुए योगाभ्यासोपयोगी कर्मका सेवन नहीं करता, वह धनका क्षय हो जानेपर सुखसे वञ्चित हो कामवेगसे अत्यन्त विक्षुब्ध होकर सदा दुःखशय्यापर शयन करता रहता है ॥

एवं पुनर्ब्रह्मचर्याप्रसक्तो
हित्वा धर्मं यः प्रकरोत्यधर्मम्।
अश्रद्दधत् परलोकाय मूढो
हित्वा देहं तप्यते प्रेत्य मन्दः ॥ ९ ॥

जो ब्रह्मचर्यपालनमें प्रवृत्त न हो धर्मका त्याग करके अधर्मका आचरण करता है तथा जो मूढ़ परलोकपर विश्वास नहीं रखता है, वह मन्दभाग्य मानव शरीर त्यागनेके पश्चात् परलोकमें बड़ा कष्ट पाता है ॥ ९ ॥

न कर्मणां विप्रणाशोऽस्त्यमुत्र
पुण्यानां वाप्यथवा पापकानाम्।
पूर्वं कर्तुर्गच्छति पुण्यपापं
पश्चात् त्वेनमनुयात्येव कर्ता ॥ १० ॥

पुण्य अथवा पाप किन्हीं भी कर्मोंका परलोकमें नाश नहीं होता है। पहले कर्ताके पुण्य और पाप परलोकमें जाते हैं, फिर उन्हींके पीछे-पीछे कर्ता जाता है ॥ १० ॥

न्यायोपेतं ब्राह्मणेभ्योऽथ दत्तं
श्रद्धापूतं गन्धरसोपपन्नम्।
अन्वाहार्येषूत्तमदक्षिणेषु
तथारूपं कर्म विख्यायते ते ॥ ११ ॥

लोकमें आपके कर्म इस रूपमें विख्यात हैं कि आपने उत्तम दक्षिणायुक्त वृद्धिश्राद्ध आदिके अवसरोंपर ब्राह्मणोंको न्यायोपार्जित प्रचुर धन एवं श्रद्धासहित उत्तम गन्धयुक्त, सुस्वादु एवं पवित्र अन्नका दान किया है ॥ ११ ॥

इह क्षेत्रे क्रियते पार्थ कार्यं
न वै किंचित् क्रियते प्रेत्य कार्यम्।
कृतं त्वया पारलौक्यं च कर्म
पुण्यं महत् सद्भिरतिप्रशस्तम् ॥ १२ ॥

कुन्तीनन्दन ! इस शरीरके रहते हुए ही कोई भी सत्कर्म किया जा सकता है। मरनेके बाद कोई कार्य नहीं किया जा सकता। आपने तो परलोकमें सुख देनेवाला महान् पुण्यकर्म किया है, जिसकी साधु पुरुषोंने भूरि-भूरि प्रशंसा की है ॥ १२ ॥

जहाति मृत्युं च जरां भयं च
न क्षुत्पिपासे मनसोऽप्रियाणि।
न कर्तव्यं विद्यते तत्र किंचि-
दन्यत्र वै चेन्द्रियप्रीणनाद्धि ॥ १३ ॥

(पुण्यात्मा) मनुष्य (स्वर्गलोकमें जाकर) मृत्यु, बुढ़ापा तथा भय त्याग देता है। वहाँ उसे मनके प्रतिकूल भूख-प्यासका कष्ट भी नहीं सहन करना पड़ता है । परलोकमें इन्द्रियोंको सुख पहुँचानेके सिवा दूसरा कोई कर्तव्य नहीं रह जाता है * ॥

एवंरूपं कर्मफलं नरेन्द्र
मात्रावहं हृदयस्य प्रियेण।

* देवयोनि भोगयोनि है, कर्मयोनि नहीं। उसमें नवीन कर्म करनेके लिये देवता बाध्य नहीं हैं।

स क्रोधजं पाण्डव हर्षजं च
लोकावुभौ मा प्रहासीश्चिराय ॥ १४ ॥

नरेन्द्र ! इस प्रकार हृदयको प्रिय लगनेवाले विषयसे कर्मफलकी प्रार्थना नहीं करनी चाहिये। पाण्डुनन्दन ! आप क्रोधजनित नरक और हर्षजनित स्वर्ग—इन दोनों लोकोंमें कभी न जायँ (अपितु सनातन मोक्ष-सुखके लिये निष्काम कर्म अथवा ज्ञानयोगका ही साधन करें) ॥ १४ ॥

अन्तं गत्वा कर्मणां मा प्रजह्याः
सत्यं दमं चार्जवमानृशंस्यम्।
अश्वमेधं राजसूयं तथेज्याः
पापस्यान्तं कर्मणो मा पुनर्गाः ॥ १५ ॥

इस तरह (ज्ञानाग्निके द्वारा) कर्मोंको दग्ध करके सत्य, दम, आर्जव (सरलता) तथा अनृशंसता (दया) इन सद्गुणोंका कभी त्याग न करें। अश्वमेध, राजसूय और अन्य यज्ञोंको भी न छोड़ें; परंतु युद्ध-जैसे पापकर्मके निकट फिर कभी न जायँ ॥ १५ ॥

तच्चेदेवं द्वेषरूपेण पार्थाः
करिष्यध्वं कर्म पापं चिराय।
निवसध्वं वर्षपूगान् वनेषु
दुःखं वासं पाण्डवा धर्म एव ॥ १६ ॥

कुन्तीकुमारो ! यदि आपलोगोंको राज्यके लिये चिरस्थायी विद्वेषके रूपमें युद्धरूप पापकर्म ही करना है, तब तो मैं यही कहूँगा कि आप बहुत वर्षोंतक दुःखमय वनवासका ही कष्ट भोगते रहें। पाण्डवो ! वह वनवास ही आपके लिये धर्मरूप होगा ॥ १६ ॥

अप्रव्रज्येमा स्म हित्वाऽऽपुरस्ता-
दात्माधीनं यद् बलं ह्येतदासीत्।
नित्यं च वश्याः सचिवास्तवेमे
जनार्दनो युयुधानश्च वीरः ॥ १७ ॥

पहले (द्यूतक्रीडाके समय ही) हमलोग बलपूर्वक इन्हें अपने वशमें रखकर वनमें गये बिना ही यहाँ रह सकते थे; क्योंकि आज जो सेना एकत्र हुई है, यह पहले भी अपने ही लोगोंके अधीन थी और ये भगवान् श्रीकृष्ण तथा वीरवर सात्यकि सदासे ही आपलोगोंके (प्रेमके कारण) वशीभूत एवं आपके सहायक रहे हैं ॥ १७ ॥

मत्स्यो राजा रुक्मरथः सपुत्रः
प्रहारिभिः सह वीरैर्विराटः।
राजानश्च ये विजिताः पुरस्तात्
त्वामेव ते संश्रयेयुः समस्ताः ॥ १८ ॥

प्रहार करनेमें कुशल वीर सैनिकों तथा पुत्रोंके साथ सुवर्णमय रथसे सुशोभित मत्स्यदेशके राजा विराट तथा दूसरे भी बहुत-से नरेश, जिन्हें पहले आपलोगोंने युद्धमें जीता था, वे सब-के-सब संग्राममें आपका ही पक्ष लेते ॥ १८ ॥

महासहायः प्रतपन् बलस्थः
पुरस्कृतो वासुदेवार्जुनाभ्याम्।
वरान् हनिष्यन् द्विषतो रङ्गमध्ये
व्यनेष्यथा धार्तराष्ट्रस्य दर्पम् ॥ १९ ॥

उस समय आप महान् सहायकोंसे सम्पन्न और बलशाली थे, आप श्रीकृष्ण तथा अर्जुनके आगे-आगे चलकर शत्रुओंपर आक्रमण कर सकते थे। समराङ्गणमें अपने महान् शत्रुओंका संहार करते हुए आप दुर्योधनके घमंडको चूर-चूर कर सकते थे ॥ १९ ॥

बलं कस्माद् वर्धयित्वा परस्य
निजान् कस्मात् कर्शयित्वा सहायान्।
निरुष्य कस्मात् वर्षपूगान् वनेषु
युयुत्ससे पाण्डव हीनकालम् ॥ २० ॥

पाण्डुनन्दन ! फिर क्या कारण है कि आपने शत्रुकी शक्तिको बढ़नेका अवसर दिया ? किसलिये अपने सहायकोंको दुर्बल बनाया और क्यों बारह वर्षोंतक वनमें निवास किया ? फिर आज जब वह अनुकूल अवसर बीत चुका है, आपको युद्ध करनेकी इच्छा क्यों हुई है ? ॥ २० ॥

अप्राज्ञो वा पाण्डव युध्यमानो-
ऽधर्मज्ञो वा भूतिमथोऽभ्युपैति।
प्रज्ञावान् वा बुध्यमानोऽपि धर्मं
संरम्भाद् वा सोऽपि भूतेरपैति॥ २१ ॥

पाण्डुकुमार ! अज्ञानी अथवा पापी मनुष्य भी युद्ध करके सम्पत्ति प्राप्त कर लेता है और बुद्धिमान् अथवा धर्मज्ञ पुरुष भी दैवी बाधाके कारण पराजित होकर ऐश्वर्यसे हाथ धो बैठता है ॥ २१ ॥

नाधर्मे ते धीयते पार्थ बुद्धि-
र्न संरम्भात् कर्म चकर्थ पापम्।
आत्थ किं तत् कारणं यस्य हेतोः
प्रज्ञाविरुद्धं कर्म चिकीर्षसीदम् ॥ २२ ॥

कुन्तीनन्दन ! आपकी बुद्धि कभी अधर्ममें नहीं लगती तथा आपने क्रोधमें आकर भी कभी पाप कर्म नहीं किया है, तो बताइये, कौन-सा ऐसा (प्रबल) कारण है, जिसके लिये अब आप अपनी बुद्धिके विरुद्ध यह युद्ध-जैसा पापकर्म करना चाहते हैं ?

अव्याधिजं कटुकं शीर्षरोगि
यशोमुषं पापफलोदयं वा।
सतां पेयं यन्न पिबन्त्यसन्तो
मन्युं महाराज पिब प्रशाम्य ॥ २३ ॥

महाराज ! जो विना व्याधिके ही उत्पन्न होता है, स्वादमें कडुआ है; जिसके कारण सिरमें दर्द होने लगता है, जो यशका नाशक और पापरूप फलको प्रकट करनेवाला है, जो सज्जन पुरुषोंके ही पीने योग्य है, जिसे असाधु पुरुष नहीं पीते हैं, उस क्रोधको आप पी लीजिये और शान्त हो जाइये ॥ २३ ॥

पापानुबन्धं को नु तं कामयेत
क्षमैव ते ज्यायसी नोत भोगाः ।
यत्र भीष्मः शान्तनवो हतः स्याद्
यत्र द्रोणः सहपुत्रो हतः स्यात् ॥ २४ ॥

जो पापकी जड़ है, उस क्रोधकी इच्छा कौन करेगा ? आपकी दृष्टिमें तो क्षमा ही सबसे श्रेष्ठ वस्तु है, वे भोग नहीं, जिनके लिये शान्तनुनन्दन भीष्म तथा पुत्रसहित आचार्य द्रोणकी हत्या की जाय ॥ २४ ॥

कृपः शल्यः सौमदत्तिर्विकर्णो
विविंशतिः कर्णदुर्योधनौ च ।
एतान् हत्वा कीदृशं तत् सुखं स्याद्
यद् विन्देथास्तदनु ब्रूहि पार्थ ॥ २५ ॥

कुन्तीनन्दन ! ऐसा कौन-सा सुख हो सकता है, जिसे आप कृपाचार्य, शल्य, भूरिश्रवा, विकर्ण, विविंशति, कर्ण तथा दुर्योधन—इन सबका वध करके पाना चाहते हैं, कृपया बताइये ॥ २५ ॥

लब्ध्वापीमां पृथिवीं सागरान्तां
जरामृत्यू नैव हि त्वं प्रजह्याः ।
प्रियाप्रिये सुखदुःखे च राज-
न्नेवं विद्वान् नैव युद्धं कुरु त्वम् ॥ २६ ॥

राजन् ! समुद्रपर्यन्त इस सारी पृथ्वीको पाकर भी आप जरा-मृत्यु, प्रिय-अप्रिय तथा सुख-दुःखसे पिण्ड नहीं छुड़ा सकते । आप इन सब बातोंको अच्छी तरह जानते हैं; अतः मेरी प्रार्थना है कि आप युद्ध न करें ॥ २६ ॥

अमात्यानां यदि कामस्य हेतो-
रेवं युक्तं कर्म चिकीर्षसि त्वम् ।
अपक्रामेः स्वं प्रदायैव तेषां
मा गास्त्वं वै देवयानात् पथोऽद्य ॥ २७ ॥

यदि आप अपने मन्त्रियोंकी इच्छासे ही ऐसा पापमय युद्ध करना चाहते हैं तो अपना सर्वस्व उन मन्त्रियोंको ही देकर वानप्रस्थ ग्रहण कर लीजिये; परंतु अपने कुटुम्बका वध करके देवयानमार्गसे भ्रष्ट न होइये ॥ २७ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि संजययानपर्वणि संजयवाक्ये सप्तविंशोऽध्यायः ॥ २७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत संजययानपर्वमें संजयवाक्यविषयक सत्ताईसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २७ ॥

अष्टाविंशोऽध्यायः

संजयको युधिष्ठिरका उत्तर

युधिष्ठिर उवाच

असंशयं संजय सत्यमेतद्
धर्मो वरः कर्मणां यत् त्वमात्थ ।
ज्ञात्वा तु मां संजय गर्हयेस्त्वं
यदि धर्मं यद्यधर्मं चरेयम् ॥ १ ॥

युधिष्ठिर बोले—संजय ! सब प्रकारके कर्मोंमें धर्म ही श्रेष्ठ है । यह जो तुमने कहा है, वह बिल्कुल ठीक है । इसमें रत्तीभर भी संदेह नहीं है; परंतु मैं धर्म कर रहा हूँ या अधर्म, इस बातको पहले अच्छी तरह जान लो; फिर मेरी निन्दा करना ॥ १ ॥

यत्राधर्मो धर्मरूपाणि धत्ते
धर्मः कृत्स्नो दृश्यतेऽधर्मरूपः ।
बिभ्रद् धर्मो धर्मरूपं तथा च
विद्वांसस्तं सम्प्रपश्यन्ति बुद्ध्या ॥ २ ॥

कहीं तो अधर्म ही धर्मका रूप धारण कर लेता है, कहीं पूर्णतया धर्म ही अधर्म दिखायी देता है तथा कहीं धर्म अपने वास्तविक स्वरूपको ही धारण किये रहता है । विद्वान् पुरुष अपनी बुद्धिसे विचार करके उसके असली रूपको देख और समझ लेते हैं ॥ २ ॥

एवं तथैवापदि लिङ्गमेतद्
धर्माधर्मौ नित्यवृत्ती भजेताम् ।
आद्यं लिङ्गं यस्य तस्य प्रमाण-
मापद्धर्मं संजय तं निबोध ॥ ३ ॥

इस प्रकार जो यह विभिन्न वर्णोंका अपना-अपना लक्षण (लिङ्ग) (जैसे ब्राह्मणके लिये अध्ययनाध्यापन आदि, क्षत्रियके लिये शौर्य आदि तथा वैश्यके लिये कृषि आदि) है, वह ठीक उसी प्रकार उस-उस वर्णके लिये धर्मरूप है और वही दूसरे वर्णके लिये अधर्मरूप है । इस प्रकार यद्यपि धर्म और अधर्म

सदा सुनिश्चितरूपसे रहते हैं तथापि आपत्तिकालमें वे दूसरे वर्णके लक्षणको भी अपना लेते हैं। प्रथम वर्ण ब्राह्मणका जो विशेष लक्षण (याजन और अध्यापन आदि) है, वह उसीके लिये प्रमाणभूत है (क्षत्रिय आदिको आपत्तिकालमें भी याजन और अध्यापन आदिका आश्रय नहीं लेना चाहिये)। संजय ! आपद्धर्मका क्या स्वरूप है, उसे तुम (शास्त्रके वचनोंद्वारा) जानो ॥ ३ ॥

लुप्तायां तु प्रकृतौ येन कर्म
निष्पादयेत् तत् परीप्सेद् विहीनः।
प्रकृतिस्थश्चापदि वर्तमान
उभौ गर्ह्यौ भवतः संजयैतौ ॥ ४ ॥

प्रकृति (जीविकाके साधन) का सर्वथा लोप हो जानेपर जिस वृत्तिका आश्रय लेनेसे (जीवनकी रक्षा एवं) सत्कर्मोंका अनुष्ठान हो सके, जीविकाहीन पुरुष उसे अवश्य अपनानेकी इच्छा करे। संजय ! जो प्रकृतिस्थ (स्वाभाविक स्थितिमें स्थित) होकर भी आपद्धर्मका आश्रय लेता है, वह (अपनी लोभवृत्तिके कारण) निन्दनीय होता है तथा जो आपत्तिग्रस्त होनेपर भी (उस समयके अनुरूप शास्त्रोक्त साधनको अपनाकर) जीविका नहीं चलाता है, वह (जीवन और कुटुम्बकी रक्षा न करनेके कारण) गर्हणीय होता है। इस प्रकार ये दोनों तरहके लोग निन्दाके पात्र होते हैं ॥ ४ ॥

अविनाशमिच्छतां ब्राह्मणानां
प्रायश्चित्तं विहितं यद् विधात्रा।
सम्पश्येथाः कर्मसु वर्तमानान्
विकर्मस्थान् संजय गर्हयेस्त्वम्॥ ५ ॥

सूत ! (जीविकाका मुख्य साधन न होनेपर ब्राह्मणोंका नाश न हो जाय, ऐसी इच्छा रखनेवाले विधाताने जो (उनके लिये अन्य वर्णोंकी वृत्तिसे जीविका चलाकर अन्तमें) प्रायश्चित्त करनेका विधान किया है, उसपर दृष्टिपात करो। फिर यदि हम आपत्तिकालमें भी (स्वाभाविक) कर्मोंमें ही लगे हों और आपत्तिकाल न होनेपर भी अपने वर्णके विपरीत कर्मोंमें स्थित हो रहे हों तो उस दशामें हमें देखकर तुम (अवश्य) हमारी निन्दा करो ॥ ५ ॥

मनीषिणां सत्त्वविच्छेदनाय
विधीयते सत्सु वृत्तिः सदैव।
अब्राह्मणाः सन्ति तु ये न वैद्याः
सर्वोत्सङ्गं साधु मन्येत तेभ्यः ॥ ६ ॥

मनीषी पुरुषोंको सत्त्व आदिके बन्धनसे मुक्त होनेके लिये सदा ही सत्पुरुषोंका आश्रय लेकर जीवन-निर्वाह करना चाहिये, यह उनके लिये शास्त्रीय विधान है। परंतु जो ब्राह्मण नहीं हैं तथा जिनकी ब्रह्मविद्यामें निष्ठा नहीं है, उन सबके लिये सबके समीप अपने धर्मके अनुसार ही जीविका चलानी चाहिये ॥ ६ ॥

तदध्वानः पितरो ये च पूर्वे
पितामहा ये च तेभ्यः परेऽन्ये।
यज्ञैषिणो ये च हि कर्म कुर्यु-
र्नान्यं ततो नास्तिकोऽस्मीति मन्ये ॥ ७ ॥

यज्ञकी इच्छा रखनेवाले मेरे पूर्व पिता-पितामह आदि तथा उनके भी पूर्वज उसी मार्गपर चलते रहे (जिसकी मैंने ऊपर चर्चा की है) तथा जो कर्म करते हैं, वे भी उसी मार्गसे चलते आये हैं। मैं भी नास्तिक नहीं हूँ, इसलिये उसी मार्गपर चलता हूँ; उसके सिवा दूसरे मार्गपर विश्वास नहीं रखता हूँ ॥ ७ ॥

यत् किंचनेदं वित्तमस्यां पृथिव्यां
यद् देवानां त्रिदशानां परं यत्।
प्राजापत्यं त्रिदिवं ब्रह्मलोकं
नाधर्मतः संजय कामयेयम् ॥ ८ ॥

संजय ! इस धरातलपर जो कुछ भी धन-वैभव विद्यमान है, नित्य यौवनसे युक्त रहनेवाले देवताओंके यहाँ जो धनराशि है, उससे भी उत्कृष्ट जो प्रजापतिका धन है तथा जो स्वर्गलोक एवं ब्रह्मलोकका सम्पूर्ण वैभव है, वह सब मिल रहा हो, तो भी मैं उसे अधर्मसे लेना नहीं चाहूँगा ॥८॥

धर्मेश्वरः कुशलो नीतिमांश्चा-
प्युपासिता ब्राह्मणानां मनीषी।
नानाविधांश्चैव महाबलांश्च
राजन्यभोजाननुशास्ति कृष्णः ॥ ९ ॥
यदि ह्यहं विसृजन् साम गर्ह्यो
नियुध्यमानो यदि जह्यां स्वधर्मम्।
महायशाः केशवस्तद् ब्रवीतु
वासुदेवस्तूभयोरर्थकामः ॥ १० ॥

यहाँ धर्मके स्वामी, कुशल नीतिज्ञ, ब्राह्मण-भक्त और मनीषी भगवान् श्रीकृष्ण बैठे हैं, जो नाना प्रकारके महान् बलशाली क्षत्रियों तथा भोजवंशियोंका शासन करते हैं। यदि मैं सामनीति अथवा संधिका परित्याग करके निन्दाका पात्र होता होऊँ या युद्धके लिये उद्यत होकर अपने धर्मका उल्लङ्घन करता होऊँ तो ये महायशस्वी वसुदेवनन्दन भगवान् श्रीकृष्ण अपने विचार प्रकट करें; क्योंकि ये दोनों पक्षोंका हित चाहनेवाले हैं ॥ ९-१० ॥

शैनेयोऽयं चेदयश्चान्धकाश्च
वार्ष्णेयभोजाः कुकुराः सृंजयाश्च।
उपासीना वासुदेवस्य बुद्धिं
निगृह्य शत्रून् सुहृदो नन्दयन्ति ॥ ११ ॥

ये सात्यकि, ये चेदिदेशके लोग, ये अन्धक, वृष्णि, भोज, कुकुर तथा सृंजयवंशके क्षत्रिय इन्हीं भगवान् वासुदेवकी सलाहसे चलकर अपने शत्रुओंको बंदी बनाते और सुहृदोंको आनन्दित करते हैं ॥ ११ ॥

वृष्ण्यन्धका ह्युग्रसेनादयो वै
कृष्णप्रणीताः सर्व एवेन्द्रकल्पाः।
मनस्विनः सत्यपरायणाश्च
महाबला यादवा भोगवन्तः ॥ १२ ॥

श्रीकृष्णकी बतायी हुई नीतिके अनुसार बर्ताव करनेसे वृष्णि और अन्धकवंशके सभी उग्रसेन आदि क्षत्रिय इन्द्रके समान शक्तिशाली हो गये हैं तथा सभी यादव मनस्वी, सत्यपरायण महान् बलशाली और भोगसामग्रीसे सम्पन्न हुए हैं ॥ १२ ॥

काश्यो बभ्रुः श्रियमुत्तमां गतो
लब्ध्वा कृष्णं भ्रातरमीशितारम्।
यस्मै कामान् वर्षति वासुदेवो
ग्रीष्मात्यये मेघ इव प्रजाभ्यः ॥ १३ ॥

(पौण्ड्रक वासुदेवके छोटे भाई) काशीनरेश बभ्रु श्रीकृष्णको ही शासक बन्धुके रूपमें पाकर उत्तम राज्यलक्ष्मीके अधिकारी हुए हैं । भगवान् श्रीकृष्ण बभ्रुके लिये समस्त मनोवाञ्छित भोगोंकी वर्षा उसी प्रकार करते हैं, जैसे वर्षाकालमें मेघ प्रजाओंके लिये जलकी वृष्टि करता है ॥ १३ ॥

ईदृशोऽयं केशवस्तात विद्वान्
विद्धि ह्येनं कर्मणां निश्चयज्ञम् ।
प्रियश्च नः साधुतमश्च कृष्णो
नातिक्रामे वचनं केशवस्य ॥ १४ ॥

तात संजय ! तुम्हें मालूम होना चाहिये कि भगवान् श्रीकृष्ण ऐसे प्रभावशाली और विद्वान् हैं । ये प्रत्येक कर्मका अन्तिम परिणाम जानते हैं । ये हमारे सबसे बढ़कर प्रिय तथा श्रेष्ठतम पुरुष हैं । मैं इनकी आज्ञाका उल्लङ्घन नहीं कर सकता ॥ १४ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि संजययानपर्वणि युधिष्ठिरवाक्ये अष्टाविंशोऽध्यायः ॥ २८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत संजययानपर्वमें युधिष्ठिरवचनसम्बन्धी अट्ठाईसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २८ ॥

एकोनत्रिंशोऽध्यायः

संजयकी बातोंका प्रत्युत्तर देते हुए श्रीकृष्णका उसे धृतराष्ट्रके लिये चेतावनी देना

वासुदेव उवाच

अविनाशं संजय पाण्डवाना-
मिच्छाम्यहं भूतिमेषां प्रियं च ।
तथा राज्ञो धृतराष्ट्रस्य सूत
समाशंसे बहुपुत्रस्य वृद्धिम् ॥ १ ॥



भगवान् श्रीकृष्णने कहा—सूत संजय ! मैं जिस प्रकार पाण्डवोंको विनाशसे बचाना, उनको ऐश्वर्य दिलाना तथा उनका प्रिय करना चाहता हूँ, उसी प्रकार अनेक पुत्रोंसे युक्त राजा धृतराष्ट्रका भी अभ्युदय चाहता हूँ ॥ १ ॥

कामो हि मे संजय नित्यमेव
नान्यद् ब्रूयां तान् प्रति शाम्यतेति ।
राज्ञश्च हि प्रियमेतच्छृणोमि
मन्ये चैतत् पाण्डवानां समक्षम् ॥ २ ॥

सूत ! मेरी भी सदा यही अभिलाषा है कि दोनों पक्षोंमें शान्ति बनी रहे । 'कुन्तीकुमारो ! कौरवोंसे संधि करो, उनके प्रति शान्त बने रहो,' इसके सिवा दूसरी कोई बात मैं पाण्डवोंके सामने नहीं कहता हूँ । राजा युधिष्ठिरके मुँहसे भी ऐसा ही प्रिय वचन सुनता हूँ और स्वयं भी इसीको ठीक मानता हूँ ॥ २ ॥

सुदुष्करस्तत्र शमो हि नूनं
प्रदर्शितः संजय पाण्डवेन ।
यस्मिन् गृद्धो धृतराष्ट्रः सपुत्रः
कस्मादेषां कलहो नावमूर्च्छेत् ॥ ३ ॥



आकाशचारी भगवान् सूर्यदेव

संजय ! जैसा कि पाण्डुनन्दन युधिष्ठिरने प्रकट किया है, राज्यके प्रश्नोंको लेकर दोनों पक्षोंमें शान्ति बनी रहे, यह अत्यन्त दुष्कर जान पड़ता है। पुत्रोंसहित धृतराष्ट्र (इनके स्वत्वरूप) जिस राज्यमें आसक्त होकर उसे लेनेकी इच्छा करते हैं, उसके लिये इन कौरव-पाण्डवोंमें कलह कैसे नहीं बढ़ेगा ? ॥ ३ ॥

न त्वं धर्मं विचरं संजयेह
मत्तश्च जानासि युधिष्ठिराच्च।
अथो कस्मात् संजय पाण्डवस्य
उत्साहिनः पूरयतः स्वकर्म ॥ ४ ॥
यथाऽऽख्यातमावसतः कुटुम्बे
पुरा कस्मात् साधुविलोपमात्थ।
अस्मिन् विधौ वर्तमाने यथाव-
दुच्चावचा मतयो ब्राह्मणानाम् ॥ ५ ॥

संजय ! तुम यह अच्छी तरह जानते हो कि मुझसे और युधिष्ठिरसे धर्मका लोप नहीं हो सकता, तो भी जो उत्साहपूर्वक स्वधर्मका पालन करते हैं तथा शास्त्रोंमें जैसा बताया गया है, उसके अनुसार ही कुटुम्ब (गृहस्थाश्रम) में रहते हैं, उन्हीं पाण्डुकुमार युधिष्ठिरके धर्मलोपकी चर्चा या आशङ्का तुमने पहले किस आधारपर की है ? गृहस्थ-आश्रममें रहनेकी जो शास्त्रोक्त विधि है, उसके होते हुए भी इसके ग्रहण अथवा त्यागके विषयमें वेदज्ञ ब्राह्मणोंके भिन्न-भिन्न विचार हैं ॥ ४-५ ॥

कर्मणाऽऽहुः सिद्धिमेके परत्र
हित्वा कर्म विद्यया सिद्धिमेके।
नाभुञ्जानो भक्ष्यभोज्यस्य तृप्येद्
विद्वानपीह विहितं ब्राह्मणानाम् ॥ ६ ॥

कोई तो (गृहस्थाश्रममें रहकर) कर्मयोगके द्वारा ही परलोकमें सिद्धि लाभ होनेकी बात बताते हैं, *दूसरे लोग कर्मको त्यागकर ज्ञानके द्वारा ही सिद्धि (मोक्ष) का प्रतिपादन करते हैं।

विद्वान् पुरुष भी इस जगत्में भक्ष्य-भोज्य पदार्थोंको भोजन किये बिना तृप्त नहीं हो सकता; अतएव विद्वान् ब्राह्मणके लिये भी क्षुधानिवृत्तके लिये भोजन करनेका विधान है। ६।

* इस प्रकार यद्यपि गृहस्थाश्रममें रहने और संन्यास लेनेका भी शास्त्रद्वारा ही विधान किया गया है, तथापि अन्य आश्रमोंमें प्राप्त होनेवाले ज्ञानकी उपलब्धि तो गृहस्थाश्रममें भी हो सकती है, परंतु गृहस्थ-साध्य यज्ञादि पुण्यकर्म आश्रमान्तरोंमें नहीं हो सकते; अतः सम्पूर्ण धर्मोंकी सिद्धिका स्थान गृहस्थाश्रम ही है।

या वै विद्याः साधयन्तीह कर्म
तासां फलं विद्यते नेतरासाम्।
तत्रेह वै दृष्टफलं तु कर्म
पीत्वोदकं शाम्यति तृष्णयाऽऽर्तः॥ ७ ॥

जो विद्याएँ कर्मका सम्पादन करती हैं, उन्हींका फल दृष्टिगोचर होता है, दूसरी विद्याओंका नहीं। विद्या तथा कर्ममें भी कर्मका ही फल यहाँ प्रत्यक्ष दिखायी देता है। प्याससे पीड़ित मनुष्य जल पीकर ही शान्त होता है (उसे जानकर नहीं; अतः गृहस्थाश्रममें रहकर सत्कर्म करना ही श्रेष्ठ है) ॥ ७ ॥

सोऽयं विधिर्विहितः कर्मणैव
संवर्तते संजय तत्र कर्म।
तत्र योऽन्यत् कर्मणः साधु मन्ये-
न्मोघं तस्यालपितं दुर्बलस्य ॥ ८ ॥

संजय ! ज्ञानका विधान भी कर्मको साथ लेकर ही है; अतः ज्ञानमें भी कर्म विद्यमान है। जो कर्मसे भिन्न कर्मोंके त्यागको श्रेष्ठ मानता है, वह दुर्बल है, उसका कथन व्यर्थ ही है ॥ ८ ॥

कर्मणामी भान्ति देवाः परत्र
कर्मणैवेह प्लवते मातरिश्वा।
अहोरात्रे विदधत् कर्मणैव
अतन्द्रितो नित्यमुदेति सूर्यः ॥ ९ ॥

ये देवता कर्मसे ही स्वर्गलोकमें प्रकाशित होते हैं। वायुदेव कर्मको अपनाकर ही सम्पूर्ण जगत्में विचरण करते हैं तथा सूर्यदेव आलस्य छोड़कर कर्मद्वारा ही दिन-रातका विभाग करते हुए प्रतिदिन उदित होते हैं ॥ ९ ॥

मासार्धमासानथ नक्षत्रयोगा-
नतन्द्रितश्चन्द्रमाश्चाभ्युपैति।
अतन्द्रितो दहते जातवेदाः
समिध्यमानः कर्म कुर्वन् प्रजाभ्यः ॥ १० ॥

चन्द्रमा भी आलस्य त्यागकर (कर्मके द्वारा ही) मास, पक्ष तथा नक्षत्रोंका योग प्राप्त करते हैं; इसी प्रकार जातवेदा (अग्निदेव) भी आलस्यरहित होकर प्रजाके लिये कर्म करते हुए ही प्रज्वलित होकर दाह-क्रिया सम्पन्न करते हैं। १०।

अतन्द्रिता भारमिमं महान्तं
बिभर्ति देवी पृथिवी बलेन।
अतन्द्रिताः शीघ्रमपो वहन्ति
संतर्पयन्त्यः सर्वभूतानि नद्यः ॥ ११ ॥

पृथ्वीदेवी भी आलस्यशून्य हो (कर्ममें तत्पर रहकर ही) बलपूर्वक विश्वके इस महान् भारको ढोती हैं। ये नदियाँ भी आलस्य छोड़कर (कर्मपरायण हो) सम्पूर्ण

प्राणियोंको तृप्त करती हुई शीघ्रतापूर्वक जल बहाया करती हैं ॥ ११ ॥

अतन्द्रितो वर्षति भूरितेजाः
संनादयन्नन्तरिक्षं दिशश्च ।
अतन्द्रितो ब्रह्मचर्यं चचार
श्रेष्ठत्वमिच्छन् बलभिद् देवतानाम् ॥ १२ ॥

जिन्होंने देवताओंमें श्रेष्ठ स्थान पानेकी इच्छासे तन्द्रारहित होकर ब्रह्मचर्य-व्रतका पालन किया था, वे महातेजस्वी बल-सूदन इन्द्र भी आलस्य छोड़कर (कर्मपरायण होकर ही) मेघगर्जनाद्वारा आकाश तथा दिशाओंको गुँजाते हुए समय-समयपर वर्षा करते हैं ॥ १२ ॥

हित्वा सुखं मनसश्च प्रियाणि
तेन शक्रः कर्मणा श्रैष्ठ्यमाप ।
सत्यं धर्मं पालयन्नप्रमत्तो
दमं तितिक्षां समतां प्रियं च ॥ १३ ॥
एतानि सर्वाण्युपसेवमानः
स देवराज्यं मघवान् प्राप मुख्यम् ।
बृहस्पतिर्ब्रह्मचर्यं चचार
समाहितः संशितात्मा यथावत् ॥ १४ ॥
हित्वा सुखं प्रतिरुध्येन्द्रियाणि
तेन देवानामगमद् गौरवं सः ।
तथा नक्षत्राणि कर्मणामुत्र भान्ति
रुद्रादित्या वसवोऽथापि विश्वे ॥ १५ ॥

इन्द्रने सुख तथा मनको प्रिय लगनेवाली वस्तुओंका त्याग करके सत्कर्मके बलसे ही देवताओंमें ऊँची स्थिति प्राप्त की । उन्होंने सावधान होकर सत्य, धर्म, इन्द्रिय-संयम, सहिष्णुता, समदर्शिता तथा सबको प्रिय लगनेवाले उत्तम बर्तावका पालन किया था । इन समस्त सद्गुणोंका सेवन करनेके कारण ही इन्द्रको देवसम्राट्का श्रेष्ठ पद प्राप्त हुआ है । इसी प्रकार बृहस्पतिजीने भी नियमपूर्वक समाहित एवं संयतचित्त होकर सुखका परित्याग करके समस्त इन्द्रियोंको अपने वशमें रखते हुए ब्रह्मचर्यव्रतका पालन किया था । इसी सत्कर्मके प्रभावसे उन्होंने देवगुरु-का सम्मानित पद प्राप्त किया है । आकाशके सारे नक्षत्र सत्कर्मके ही प्रभावसे परलोकमें प्रकाशित हो रहे हैं । रुद्र, आदित्य, वसु तथा विश्वेदेवगण भी कर्मबलसे ही महत्त्वको प्राप्त हुए हैं ॥ १३—१५ ॥

यमो राजा वैश्रवणः कुबेरो
गन्धर्वयक्षाप्सरसश्च सूत ।
ब्रह्मविद्यां ब्रह्मचर्यं क्रियां च
निषेवमाणा ऋषयोऽमुत्र भान्ति ॥ १६ ॥

सूत ! यमराज, विश्रवाके पुत्र कुबेर, गन्धर्व, यक्ष तथा अप्सराएँ भी अपने-अपने कर्मोंके प्रभावसे ही स्वर्गमें विराजमान हैं । ब्रह्मज्ञान तथा ब्रह्मचर्यकर्मका सेवन करने-वाले महर्षि भी कर्मबलसे ही परलोकमें प्रकाशमान हो रहे हैं ॥ १६ ॥

जानन्निमं सर्वलोकस्य धर्मं
विप्रेन्द्राणां क्षत्रियाणां विशां च ।
स कस्मात् त्वं जानतां ज्ञानवान् सन्
व्यायच्छसे संजय कौरवार्थे ॥ १७ ॥

संजय ! तुम श्रेष्ठ ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा सम्पूर्ण लोकों-के इस सुप्रसिद्ध धर्मको जानते हो । तुम ज्ञानियोंमें भी श्रेष्ठ ज्ञानी हो, तो भी तुम कौरवोंकी स्वार्थसिद्धिके लिये क्यों वाग्जाल फैला रहे हो ? ॥ १७ ॥

आम्नायेषु नित्यसंयोगमस्य
तथाश्वमेधे राजसूये च विद्धि ।
संयुज्यते धनुषा वर्मणा च
हस्त्यश्वाद्यै रथशस्त्रैश्च भूयः ॥ १८ ॥
ते चेदिमे कौरवाणामुपाय-
मवगच्छेयुरवधेनैव पार्थाः ।
धर्मत्राणं पुण्यमेषां कृतं स्या-
दार्ये वृत्ते भीमसेनं निगृह्य ॥ १९ ॥

राजा युधिष्ठिरका वेद-शास्त्रोंके साथ स्वाध्यायके रूपमें सदा सम्बन्ध बना रहता है । इसी प्रकार अश्वमेध तथा राजसूय आदि यज्ञोंसे भी इनका सदा लगाव है । ये धनुष और कवचसे भी संयुक्त हैं । हाथी-घोड़े आदि वाहनों, रथों और अस्त्र-शस्त्रोंकी भी इनके पास कमी नहीं है । ये कुन्तीपुत्र यदि कौरवोंका वध किये बिना ही अपने राज्यकी प्राप्तिका कोई दूसरा उपाय जान लेंगे, तो भीमसेनको आग्रहपूर्वक आर्य पुरुषोंके द्वारा आचरित सद्व्यवहारमें लगाकर धर्मरक्षारूप पुण्यका ही सम्पादन करेंगे, तुम ऐसा (भलीभाँति) समझ लो ॥ १८-१९ ॥

ते चेत् पित्र्ये कर्मणि वर्तमाना
आपद्येरन् दिष्टवशेन मृत्युम् ।
यथाशक्त्या पूरयन्तः स्वकर्म
यदप्येषां निधनं स्यात् प्रशस्तम् ॥ २० ॥

पाण्डव अपने बाप-दादोंके कर्म—क्षात्रधर्म (युद्ध आदि) में प्रवृत्त हो यथाशक्ति अपने कर्तव्यका पालन करते हुए यदि दैववश मृत्युको भी प्राप्त हो जायँ तो इनकी वह मृत्यु उत्तम ही मानी जायगी ॥ २० ॥

उताहो त्वं मन्यसे शाम्यमेव
राज्ञां युद्धे वर्तते धर्मतन्त्रम् ।

अयुद्धे वा वर्तते धर्मतन्त्रं
तथैव ते वाचमिमां शृणोमि ॥ २१ ॥

यदि तुम शान्ति धारण करना ही ठीक समझते हो तो बताओ, युद्धमें प्रवृत्त होनेसे राजाओंके धर्मका ठीक-ठीक पालन होता है या युद्ध छोड़कर भाग जानेसे ? क्षत्रिय-धर्मका विचार करते हुए तुम जो कुछ भी कहोगे, मैं तुम्हारी वही बात सुननेको उद्यत हूँ ॥ २१ ॥

चातुर्वर्ण्यस्य प्रथमं संविभाग-
मवेक्ष्य त्वं संजय स्वं च कर्म।
निशम्याथो पाण्डवानां च कर्म
प्रशंस वा निन्द वा या मतिस्ते ॥ २२ ॥

संजय ! तुम पहले ब्राह्मण आदि चारों वर्णोंके विभाग तथा उनमेंसे प्रत्येक वर्णके अपने-अपने कर्मको देख लो। फिर पाण्डवोंके वर्तमान कर्मपर दृष्टिपात करो; तत्पश्चात् जैसा तुम्हारा विचार हो, उसके अनुसार इनकी प्रशंसा अथवा निन्दा करना ॥ २२ ॥

अधीयीत ब्राह्मणो वै यजेत
दद्यादीयात् तीर्थमुख्यानि चैव।
अध्यापयेद् याजयेच्चापि याज्या-
न्प्रतिग्रहान् वा विहितान् प्रतीच्छेत् ॥ २३ ॥

ब्राह्मण अध्ययन, यज्ञ एवं दान करे तथा प्रधान-प्रधान तीर्थोंकी यात्रा करे, शिष्योंको पढ़ावे और यजमानोंका यज्ञ करावे अथवा शास्त्रविहित प्रतिग्रह (दान) स्वीकार करे ॥ २३ ॥

(अधीयीत क्षत्रियोऽथो यजेत
दद्याद् दानं न तु याचेत किंचित्।
न याजयेन्नापि चाध्यापयीत
एष स्मृतः क्षत्रधर्मः पुराणः ॥)

इसी प्रकार क्षत्रिय स्वाध्याय, यज्ञ और दान करे। किसीसे किसी भी वस्तुकी याचना न करे। वह न तो दूसरोंका यज्ञ करावे और न अध्यापनका ही कार्य करे; यही धर्मशास्त्रोंमें क्षत्रियोंका प्राचीन धर्म बताया गया है ॥

तथा राजन्यो रक्षणं वै प्रजानां
कृत्वा धर्मेणाप्रमत्तोऽथ दत्त्वा।
यज्ञैरिष्ट्वा सर्ववेदानधीत्य
दारान् कृत्वा पुण्यकृदावसेद् गृहान् ॥ २४ ॥
स धर्मात्मा धर्ममधीत्य पुण्यं
यदिच्छया व्रजति ब्रह्मलोकम्।

इसके सिवा क्षत्रिय धर्मके अनुसार सावधान रहकर प्रजाजनोंकी रक्षा करे, दान दे, यज्ञ करे, सम्पूर्ण वेदोंका अध्ययन करके विवाह करे और पुण्य कर्मोंका अनुष्ठान करता हुआ गृहस्थाश्रममें रहे। इस प्रकार वह धर्मात्मा क्षत्रिय धर्म एवं पुण्यका सम्पादन करके अपनी इच्छाके अनुसार ब्रह्मलोकको जाता है ॥ २४½ ॥

वैश्योऽधीत्य कृषिगोरक्षपण्यै-
र्वित्तं चिन्वन् पालयन्नप्रमत्तः ॥ २५ ॥
प्रियं कुर्वन् ब्राह्मणक्षत्रियाणां
धर्मशीलः पुण्यकृदावसेद् गृहान्।

वैश्य अध्ययन करके कृषि, गोरक्षा तथा व्यापारद्वारा धनोपार्जन करते हुए सावधानीके साथ उसकी रक्षा करे। ब्राह्मणों और क्षत्रियोंका प्रिय करते हुए धर्मशील एवं पुण्यात्मा होकर वह गृहस्थाश्रममें निवास करे ॥ २५½ ॥

परिचर्या वन्दनं ब्राह्मणानां
नाधीयीत प्रतिषिद्धोऽस्य यज्ञः।
नित्योत्थितो भूतयेऽतन्द्रितः स्या-
देवं स्मृतः शूद्रधर्मः पुराणः ॥ २६ ॥

शूद्र ब्राह्मणोंकी सेवा तथा वन्दना करे, वेदोंका स्वाध्याय न करे। उसके लिये यज्ञका भी निषेध है। वह सदा उद्योगी और आलस्यरहित होकर अपने कल्याणके लिये चेष्टा करे। इस प्रकार शूद्रोंका प्राचीन धर्म बताया गया है ॥ २६ ॥

एतान् राजा पालयन्नप्रमत्तो
नियोजयन् सर्ववर्णान् स्वधर्मे।
अकामात्मा समवृत्तिः प्रजासु
नाधार्मिकाननुरुध्येत कामान् ॥ २७ ॥

राजा सावधानीके साथ इन सब वर्णोंका पालन करते हुए ही इन्हें अपने-अपने धर्ममें लगावे। वह कामभोगमें आसक्त न होकर समस्त प्रजाओंके साथ समानभावसे बर्ताव करे और पापपूर्ण इच्छाओंका कदापि अनुसरण न करे ॥ २७ ॥

श्रेयांस्तस्माद् यदि विद्येत कश्चि-
दभिज्ञातः सर्वधर्मोपपन्नः।
स तं द्रष्टुमनुशिष्यात् प्रजानां
न चैतद् बुध्येदिति तस्मिन्नसाधुः ॥ २८ ॥

यदि राजाको यह ज्ञात हो जाय कि उसके राज्यमें कोई सर्वधर्मसम्पन्न श्रेष्ठ पुरुष निवास करता है तो वह उसीको प्रजाके गुण-दोषका निरीक्षण करनेके लिये नियुक्त करे तथा उसके द्वारा पता लगवावे कि मेरे राज्यमें कोई पापकर्म करनेवाला तो नहीं है ॥ २८ ॥

यदा गृध्येत् परभूतौ नृशंसो
विधिप्रकोपाद् बलमाददानः।
ततो राज्ञामभवद् युद्धमेतत्
तत्र जातं वर्म शस्त्रं धनुश्च ॥ २९ ॥

जब कोई क्रूर मनुष्य दूसरेकी धन-सम्पत्तिमें लालच रखकर उसे ले लेनेकी इच्छा करता है और विधाताके कोपसे

(परपीडनके लिये) सेना-संग्रह करने लगता है, उस समय राजाओंमें युद्धका अवसर उपस्थित होता है। इस युद्धके लिये ही कवच, अस्त्र-शस्त्र और धनुषका आविष्कार हुआ है ॥ २९ ॥

इन्द्रेणैतद् दस्युवधाय कर्म
उत्पादितं वर्म शस्त्रं धनुश्च ॥ ३० ॥

स्वयं देवराज इन्द्रने ऐसे लुटेरोंका वध करनेके लिये कवच, अस्त्र-शस्त्र और धनुषका आविष्कार किया है॥ ३० ॥

तत्र पुण्यं दस्युवधेन लभ्यते
सोऽयं दोषः कुरुभिस्तीव्ररूपः ।
अधर्मज्ञैर्धर्ममबुध्यमानैः
प्रादुर्भूतः संजय साधु तन्न ॥ ३१ ॥

(राजाओंको) लुटेरोंका वध करनेसे पुण्यकी प्राप्ति होती है । संजय ! कौरवोंमें यह लुटेरेपनका दोष तीव्ररूपसे प्रकट हो गया है, जो अच्छा नहीं है। वे अधर्मके तो पूरे पण्डित हैं; परंतु धर्मकी बात बिल्कुल नहीं जानते ॥ ३१ ॥

तत्र राजा धृतराष्ट्रः सपुत्रो
धर्म्यं हरेत् पाण्डवानामकस्मात् ।
नावेक्षन्ते राजधर्मं पुराणं
तदन्वयाः कुरवः सर्व एव ॥ ३२ ॥

राजा धृतराष्ट्र अपने पुत्रोंके साथ मिलकर सहसा पाण्डवोंके धर्मतः प्राप्त उनके पैतृक राज्यका अपहरण करनेको उतारू हो गये हैं। अन्य समस्त कौरव भी उन्हींका अनुसरण कर रहे हैं। वे प्राचीन राजधर्मकी ओर नहीं देखते हैं ॥३२॥

स्तेनो हरेद् यत्र धनं ह्यदृष्टः
प्रसह्य वा यत्र हरेत दृष्टः ।
उभौ गर्ह्यौ भवतः संजयैतौ
किं वै पृथक्त्वं धृतराष्ट्रस्य पुत्रे ॥ ३३ ॥

चोर छिपा रहकर धन चुरा ले जाय अथवा सामने आकर डाका डाले, दोनों ही दशाओंमें वे चोर-डाकू निन्दाके ही पात्र होते हैं । संजय ! तुम्हीं कहो, धृतराष्ट्र-पुत्र दुर्योधन और उन चोर-डाकुओंमें क्या अन्तर है ?॥३३॥

सोऽयं लोभान्मन्यते धर्ममेतं
यमिच्छति क्रोधवशानुगामी ।
भागः पुनः पाण्डवानां निविष्ट-
स्तं नः कस्मादाददीरन् परे वै ॥ ३४ ॥

दुर्योधन क्रोधके वशीभूत हो उसके अनुसार चलनेवाला है और वह लोभसे राज्यको ले लेना चाहता है। इसे वह धर्म मान रहा है; परंतु वह तो पाण्डवोंका भाग है, जो कौरवोंके यहाँ धरोहरके रूपमें रक्खा गया है । संजय ! हमारे उस भागको हमसे शत्रुता रखनेवाले कौरव कैसे ले सकते हैं ? ॥ ३४ ॥

अस्मिन् पदे युध्यतां नो वधोऽपि
श्लाघ्यः पित्र्यं परराज्याद् विशिष्टम् ।
एतान् धर्मान् कौरवाणां पुराणा-
नाचक्षीथाः संजय राजमध्ये ॥ ३५ ॥

सूत ! इस राज्यभागकी प्राप्तिके लिये युद्ध करते हुए हमलोगोंका वध हो जाय तो वह भी हमारे लिये स्पृहणीय ही है । बाप-दादोंका राज्य पराये राज्यकी अपेक्षा श्रेष्ठ है । संजय ! तुम राजाओंकी मण्डलीमें राजाओंके इन प्राचीन धर्मोंका कौरवोंके समक्ष वर्णन करना ॥ ३५ ॥

एते मदान्मृत्युवशाभिपन्नाः
समानीता धार्तराष्ट्रेण मूढाः ।
इदं पुनः कर्म पापीय एव
सभामध्ये पश्य वृत्तं कुरूणाम् ॥ ३६ ॥

दुर्योधनने जिन्हें युद्धके लिये बुलवाया है, वे मूर्ख राजा बलके मदसे मोहित होकर मौतके फंदेमें फँस गये हैं। संजय ! भरी सभामें कौरवोंने जो यह अत्यन्त पापपूर्ण कर्म किया था, उनके इस दुराचारपर दृष्टि डालो ॥ ३६ ॥

प्रियां भार्यां द्रौपदीं पाण्डवानां
यशस्विनीं शीलवृत्तोपपन्नाम् ।
यदुपैक्षन्त कुरवो भीष्ममुख्याः
कामानुगेनोपरुद्धां व्रजन्तीम् ॥ ३७ ॥

पाण्डवोंकी प्यारी पत्नी यशस्विनी द्रौपदी जो शील और सदाचारसे सम्पन्न है, रजस्वला-अवस्थामें सभाके भीतर लायी जा रही थी, परंतु भीष्म आदि प्रधान कौरवोंने भी उसकी ओरसे उपेक्षा दिखायी ॥ ३७ ॥

तं चेत् तदा ते सकुमारवृद्धा
अवारयिष्यन् कुरवः समेताः ।
मम प्रियं धृतराष्ट्रोऽकरिष्यत्
पुत्राणां च कृतमस्याभविष्यत् ॥ ३८ ॥

यदि बालकसे लेकर बूढ़ेतक सभी कौरव उस समय दुःशासनको रोक देते तो राजा धृतराष्ट्र मेरा अत्यन्त प्रिय कार्य करते तथा उनके पुत्रोंका भी प्रिय मनोरथ सिद्ध हो जाता ॥ ३८ ॥

दुःशासनः प्रातिलोम्यान्निनाय
सभामध्ये श्वशुराणां च कृष्णाम् ।
सा तत्र नीता करुणं व्यपेक्ष्य
नान्यं क्षत्तुर्नाथमवाप किंचित् ॥ ३९ ॥

दुःशासन मर्यादाके विपरीत द्रौपदीको सभाके भीतर श्वशुरजनोंके समक्ष घसीट ले गया । द्रौपदीने वहाँ जाकर कातर-

भावसे चारों ओर करुणदृष्टि डाली; परंतु उसने वहाँ विदुरजीके सिवा और किसीको अपना रक्षक नहीं पाया ॥ ३९ ॥

कार्पण्यादेव सहितास्तत्र भूपा
नाशक्नुवन् प्रतिवक्तुं सभायाम् ।
एकः क्षत्ता धर्म्यमर्थं ब्रुवाणो
धर्मबुद्ध्या प्रत्युवाचाल्पबुद्धिम् ॥ ४० ॥

उस समय सभामें बहुत-से भूपाल एकत्रित थे, परंतु अपनी कायरताके कारण वे उस अन्यायका प्रतिवाद न कर सके । एकमात्र विदुरजीने अपना धर्म समझकर मन्दबुद्धि दुर्योधनसे धर्मानुकूल वचन कहकर उसके अन्यायका विरोध किया ॥ ४० ॥

अबुद्ध्वा त्वं धर्ममेतं सभाया-
मथेच्छसे पाण्डवस्योपदेष्टुम् ।
कृष्णा त्वेतत् कर्म चकार शुद्धं
सुदुष्करं तत्र सभां समेत्य ॥ ४१ ॥
येन कृच्छ्रात् पाण्डवानुज्जहार
तथाऽऽत्मानं नौरिव सागरौघात् ।
यत्राब्रवीत् सूतपुत्रः सभायां
कृष्णां स्थितां श्वशुराणां समीपे ॥ ४२ ॥
न ते गतिर्विद्यते याज्ञसेनि
प्रपद्य दासी धार्तराष्ट्रस्य वेश्म ।
पराजितास्ते पतयो न सन्ति
पतिं चान्यं भाविनि त्वं वृणीष्व ॥ ४३ ॥

संजय ! द्यूतसभामें जो अन्याय हुआ था, उसे भुलाकर तुम पाण्डुनन्दन युधिष्ठिरको धर्मका उपदेश देना चाहते हो । द्रौपदीने उस दिन सभामें जाकर अत्यन्त दुष्कर और पवित्र कार्य किया कि उसने पाण्डवों तथा अपनेको महान् संकटसे बचा लिया; ठीक उसी तरह, जैसे नौका समुद्रकी अगाध जलराशिमें डूबनेसे बचा लेती है । उस सभामें कृष्णा श्वशुरजनोंके समीप खड़ी थी, तो भी सूतपुत्र कर्णने उसे अपमानित करते हुए कहा—'याज्ञसेनि ! अब तेरे लिये दूसरी गति नहीं है, तू दासी बनकर दुर्योधनके महलमें चली जा । पाण्डव जूएमें अपनेको हार चुके हैं, अतः अब वे तेरे पति नहीं रहे । भाविनि ! अब तू किसी दूसरेको अपना पति वरण कर ले' ॥ ४१–४३ ॥

यो बीभत्सोर्हृदये प्रोत आसी-
दस्थिच्छिन्दन् मर्मघाती सुघोरः ।
कर्णाच्छरो वाङ्मयस्तिग्मतेजाः
प्रतिष्ठितो हृदये फाल्गुनस्य ॥ ४४ ॥

कर्णके मुखसे निकला हुआ वह अत्यन्त घोर कटुवचन-रूपी बाण मर्मपर चोट पहुँचानेवाला था । वह कानके रास्तेसे भीतर जाकर हड्डियोंको छेदता हुआ अर्जुनके हृदयमें धँस गया । तीखी कसक पैदा करनेवाला वह वाग्बाण आज भी अर्जुनके हृदयमें गड़ा हुआ है (और इनके कलेजेको साल रहा है) ॥ ४४ ॥

कृष्णाजिनानि परिधित्समानान्
दुःशासनः कटुकान्यभ्यभाषत् ।
एते सर्वे षण्ढतिला विनष्टाः
क्षयं गता नरकं दीर्घकालम् ॥ ४५ ॥

जिस समय पाण्डव वनमें जानेके लिये कृष्णमृगचर्म धारण करना चाहते थे, उस समय दुःशासनने उनके प्रति कितनी ही कड़वी बातें कहीं—'ये सब-के-सब हीजड़े अब नष्ट हो गये, चिरकालके लिये नरकके गर्तमें गिर गये' ॥

गान्धारराजः शकुनिर्निकृत्या
यदब्रवीद् द्यूतकाले स पार्थम् ।
पराजितो नन्दनः किं तवास्ति
कृष्णया त्वं दीव्य वै याज्ञसेन्या ॥ ४६ ॥

गान्धारराज शकुनिने द्यूतक्रीड़ाके समय कुन्तीनन्दन युधिष्ठिरसे शठतापूर्वक यह बात कही थी कि अब तो तुम अपने छोटे भाईको भी हार गये, अब तुम्हारे पास क्या है ? इसलिये इस समय तुम द्रुपदनन्दिनी कृष्णाको दाँवपर रखकर जूआ खेलो ॥ ४६ ॥

जानासि त्वं संजय सर्वमेतद्
द्यूते वाक्यं गर्ह्यमेवं यथोक्तम् ।
स्वयं त्वहं प्रार्थये तत्र गन्तुं
समाधातुं कार्यमेतद् विपन्नम् ॥ ४७ ॥

संजय ! (कहाँतक गिनाऊँ,) जूएके समय जितने और जैसे निन्दनीय वचन कहे गये थे, वे सब तुम्हें ज्ञात हैं, तथापि इस बिगड़े हुए कार्यको बनानेके लिये मैं स्वयं हस्तिनापुर चलना चाहता हूँ ॥ ४७ ॥

अहापयित्वा यदि पाण्डवार्थं
शमं कुरूणामपि चेच्छकेयम् ।
पुण्यं च मे स्याच्चरितं महोदयं
मुच्येरंश्च कुरवो मृत्युपाशात् ॥ ४८ ॥

यदि पाण्डवोंका स्वार्थ नष्ट किये बिना ही मैं कौरवोंके साथ इनकी संधि करानेमें सफल हो सका तो मेरेद्वारा यह परम पवित्र और महान् अभ्युदयका कार्य सम्पन्न हो जायगा तथा कौरव भी मौतके फंदेसे छूट जायँगे ॥ ४८ ॥

अपि मे वाचं भाषमाणस्य काव्यां
धर्मारामामर्थवतीमहिंस्राम् ।
अवेक्षेरन् धार्तराष्ट्राः समक्षं
मां च प्राप्तं कुरवः पूजयेयुः ॥ ४९ ॥

मैं वहाँ जाकर शुक्रनीतिके अनुसार धर्म और अर्थसे युक्त ऐसी बातें कहूँगा, जो हिंसावृत्तिको दबानेवाली होंगी। क्या धृतराष्ट्रके पुत्र मेरी उन बातोंपर विचार करेंगे ? क्या कौरवगण अपने सामने उपस्थित होनेपर मेरा सम्मान करेंगे ?

अतोऽन्यथा रथिना फाल्गुनेन
भीमेन चैवाहवदंशितेन।
परासिक्तान् धार्तराष्ट्रांश्च विद्धि
प्रदह्यमानान् कर्मणा स्वेन पापान् ॥ ५० ॥

संजय ! यदि ऐसा नहीं हुआ—कौरवोंने इसके विपरीत भाव दिखाया तो समझ लो कि रथपर बैठे हुए अर्जुन और युद्धके लिये कवच धारण करके तैयार हुए भीमसेनके द्वारा पराजित होकर धृतराष्ट्रके वे सभी पापात्मा पुत्र अपने ही कर्मदोषसे दग्ध हो जायँगे ॥ ५० ॥

पराजितान् पाण्डवेयांस्तु वाचो
रौद्रा रूक्षा भाषते धार्तराष्ट्रः।
गदाहस्तो भीमसेनोऽप्रमत्तो
दुर्योधनं स्मारयिता हि काले ॥ ५१ ॥

द्यूतके समय जब पाण्डव हार गये थे, तब दुर्योधनने उनके प्रति बड़ी भयानक और कड़वी बातें कही थीं; अतः सदा सावधान रहनेवाले भीमसेन युद्धके समय गदा हाथमें लेकर दुर्योधनको उन बातोंकी याद दिलायेंगे ॥ ५१ ॥

सुयोधनो मन्युमयो महाद्रुमः
स्कन्धः कर्णः शकुनिस्तस्य शाखाः।
दुःशासनः पुष्पफले समृद्धे
मूलं राजा धृतराष्ट्रोऽमनीषी ॥५२॥

दुर्योधन क्रोधमय विशाल वृक्षके समान है, कर्ण उस वृक्षका स्कन्ध, शकुनि शाखा और दुःशासन समृद्ध फल-पुष्प है। अज्ञानी राजा धृतराष्ट्र ही इसके मूल (जड़) हैं ॥ ५२ ॥

युधिष्ठिरो धर्ममयो महाद्रुमः
स्कन्धोऽर्जुनो भीमसेनोऽस्य शाखाः।
माद्रीपुत्रौ पुष्पफले समृद्धे
मूलं त्वहं ब्रह्म च ब्राह्मणाश्च ॥ ५३ ॥

युधिष्ठिर धर्ममय विशाल वृक्ष हैं। अर्जुन (उस वृक्षके) स्कन्ध, भीमसेन शाखा और माद्रीनन्दन नकुल-सहदेव इसके समृद्ध फल-पुष्प हैं। मैं, वेद और ब्राह्मण ही इस वृक्षके मूल (जड़) हैं ॥ ५३ ॥

वनं राजा धृतराष्ट्रः सपुत्रो
व्याघ्रास्ते वै संजय पाण्डुपुत्राः।
सिंहाभिगुप्तं न वनं विनश्येत्
सिंहो न नश्येत वनाभिगुप्तः ॥ ५४ ॥

संजय ! पुत्रोंसहित राजा धृतराष्ट्र एक वन हैं और पाण्डव उस वनमें निवास करनेवाले व्याघ्र हैं। सिंहोंसे रक्षित वन नष्ट नहीं होता एवं वनमें रहकर सुरक्षित सिंह नष्ट नहीं होता, उस वनका उच्छेद न करो ॥ ५४ ॥

निर्वनो वध्यते व्याघ्रो निर्व्याघ्रं छिद्यते वनम्।
तस्माद् व्याघ्रो वनं रक्षेद् वनं व्याघ्रं च पालयेत्॥ ५५ ॥

क्योंकि वनसे बाहर निकला हुआ व्याघ्र मारा जाता है और बिना व्याघ्रके वनको सब लोग आसानीसे काट लेते हैं। अतः व्याघ्र वनकी रक्षा करे और वन व्याघ्रकी ॥ ५५ ॥

लताधर्मा धार्तराष्ट्राः शालाः संजय पाण्डवाः।
न लता वर्धते जातु महाद्रुममनाश्रिता ॥ ५६ ॥

संजय ! धृतराष्ट्रके पुत्र लताओंके समान हैं और पाण्डव शाल-वृक्षोंके समान। कोई भी लता किसी महान् वृक्षका आश्रय लिये बिना कभी नहीं बढ़ती है (अतः पाण्डवोंका आश्रय लेकर ही धृतराष्ट्रपुत्र बढ़ सकते हैं) ॥ ५६ ॥

स्थिताः शुश्रूषितुं पार्थाः स्थिता योद्धुमरिंदमाः।
यत् कृत्यं धृतराष्ट्रस्य तत् करोतु नराधिपः ॥ ५७ ॥

शत्रुओंका दमन करनेवाले कुन्तीपुत्र धृतराष्ट्रकी सेवा करनेके लिये भी उद्यत हैं और युद्धके लिये भी। अब राजा धृतराष्ट्रका जो कर्तव्य हो, उसका वे पालन करें ॥ ५७ ॥

स्थिताः शमे महात्मानः पाण्डवा धर्मचारिणः।
योधाःसमर्थास्तद् विद्वन्नाचक्षीथा यथातथम् ॥ ५८ ॥

विद्वान् संजय ! धर्मका आचरण करनेवाले महात्मा पाण्डव शान्तिके लिये भी तैयार हैं और युद्ध करनेमें भी समर्थ हैं। इन दोनों अवस्थाओंको समझकर तुम राजा धृतराष्ट्रसे यथार्थ बातें कहना ॥ ५८ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि संजययानपर्वणि कृष्णवाक्ये एकोनत्रिंशोऽध्यायः ॥ २९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत संजययानपर्वमें श्रीकृष्णवाक्यसम्बन्धी उनतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २९ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका १ श्लोक मिलाकर कुल ५९ श्लोक हैं)

त्रिंशोऽध्यायः

संजयकी विदाई तथा युधिष्ठिरका संदेश

संजय उवाच

आमन्त्रये त्वां नरदेवदेव
गच्छाम्यहं पाण्डव स्वस्ति तेऽस्तु।
कच्चिन्न वाचा वृजिनं हि किंचि-
दुच्चारितं मे मनसोऽभिषङ्गात्॥ १॥

संजयने कहा—नरदेवदेव पाण्डुनन्दन! आपका कल्याण हो। अब मैं आपसे विदा लेता और हस्तिनापुरको जाता हूँ। कहीं ऐसा तो नहीं हुआ कि मैंने मानसिक आवेगके कारण वाणीद्वारा कोई ऐसी बात कह दी हो, जिससे आपको कष्ट हुआ हो? ॥ १॥

जनार्दनं भीमसेनार्जुनौ च
माद्रीसुतौ सात्यकिं चेकितानम्।
आमन्त्र्य गच्छामि शिवं सुखं वः
सौम्येन मां पश्यत चक्षुषा नृपाः॥ २॥

भगवान् श्रीकृष्ण, भीमसेन, अर्जुन, नकुल, सहदेव, सात्यकि तथा चेकितानसे भी आज्ञा लेकर मैं जा रहा हूँ। आपलोगोंको सुख और कल्याणकी प्राप्ति हो। राजाओ! आप मेरी ओर स्नेहपूर्ण दृष्टिसे देखें॥ २॥

युधिष्ठिर उवाच

अनुज्ञातः संजय स्वस्ति गच्छ
न नः स्मरस्यप्रियं जातु विद्वन्।
विद्मश्च त्वां ते च वयं च सर्वे
शुद्धात्मानं मध्यगतं सभास्थम्॥ ३॥

युधिष्ठिर बोले—संजय! मैं तुम्हें जानेकी अनुमति देता हूँ। तुम्हारा कल्याण हो। अब तुम जाओ। विद्वन्! तुम कभी हमलोगोंका अनिष्ट-चिन्तन नहीं करते हो। इसलिये कौरव तथा हमलोग सभी तुम्हें शुद्धचित्त एवं मध्यस्थ सदस्य समझते हैं॥ ३॥

आप्तो दूतः संजय सुप्रियोऽसि
कल्याणवाक् शीलवांस्तृप्तिमांश्च।
न मुह्येस्त्वं संजय जातु मत्या
न च क्रुद्ध्येरुच्यमानो दुरुक्तैः॥ ४॥

संजय! तुम विश्वसनीय दूत और हमारे अत्यन्त प्रिय हो। तुम्हारी बातें कल्याणकारिणी होती हैं। तुम शीलवान् और संतोषी हो। तुम्हारी बुद्धि कभी मोहित नहीं होती और कटु वचन सुनकर भी तुम कभी क्रोध नहीं करते हो॥ ४॥

न मर्मगां जातु वक्तासि रूक्षां
नोपश्रुतिं कटुकां नोत मुक्ताम्।
धर्मारामामर्थवतीमहिंस्रा-
मेतां वाचं तव जानीम सूत॥ ५॥

सूत! तुम्हारे मुखसे कभी कोई ऐसी बात नहीं निकलती, जो कड़वी होनेके साथ ही मर्मपर आघात करनेवाली हो। तुम नीरस और अप्रासङ्गिक बात भी नहीं बोलते। हम अच्छी तरह जानते हैं कि तुम्हारा यह कथन धर्मानुकूल होनेके कारण मनोहर, अर्थयुक्त तथा हिंसाकी भावनासे रहित है॥ ५॥

त्वमेव नः प्रियतमोऽसि दूत
इहागच्छेद् विदुरो वा द्वितीयः।
अभीक्ष्णदृष्टोऽसि पुरा हि नस्त्वं
धनंजयस्यात्मसमः सखासि॥ ६॥

संजय! तुम्हीं हमारे अत्यन्त प्रिय हो। जान पड़ता है, दूसरे विदुरजी ही (दूत बनकर) यहाँ आ गये हैं। पहले भी तुम हमसे बारंबार मिलते रहे हो और धनंजयके तो तुम अपने आत्माके समान प्रिय सखा हो॥ ६॥

इतो गत्वा संजय क्षिप्रमेव
उपातिष्ठेथा ब्राह्मणान् ये तदर्हाः।
विशुद्धवीर्यांश्चरणोपपन्नाः
कुले जाताः सर्वधर्मोपपन्नाः॥ ७॥

संजय! यहाँसे जाकर तुम शीघ्र ही जो आदर और सम्मानके योग्य हैं, उन विशुद्ध शक्तिशाली, ब्रह्मचर्यपालन-पूर्वक वेदोंके स्वाध्यायमें संलग्न, कुलीन तथा सर्वधर्मसम्पन्न ब्राह्मणोंको हमारी ओरसे प्रणाम कहना॥ ७॥

स्वाध्यायिनो ब्राह्मणा भिक्षवश्च
तपस्विनो ये च नित्या वनेषु।
अभिवाद्या वै मद्वचनेन वृद्धा-
स्तथेतरेषां कुशलं वदेथाः॥ ८॥

स्वाध्यायशील ब्राह्मणों, संन्यासियों तथा सदा वनमें निवास करनेवाले तपस्वी मुनियों एवं बड़े-बूढ़े लोगोंसे हमारी ओरसे प्रणाम कहना और दूसरे लोगोंसे भी कुशल-समाचार पूछना॥ ८॥

पुरोहितं धृतराष्ट्रस्य राज्ञ-
स्तथाऽऽचार्यानृत्विजो ये च तस्य।
तैश्च त्वं तात सहितैर्यथार्हं
संगच्छेथाः कुशलेनैव सूत॥ ९॥

तात! संजय! राजा धृतराष्ट्रके पुरोहित, आचार्य तथा उनके ऋत्विजोंसे भी (उनके साथ भेंट होनेपर) तुम

(हमारी ओरसे) कुशल-मङ्गलका समाचार पूछते हुए ही मिलना ॥ ९ ॥

(ततोऽव्यग्रस्तन्मनाः प्राञ्जलिश्च
कुर्या नमो मद्वचनेन तेभ्यः ।)

तदनन्तर शान्तभावसे उन्हींकी ओर मनकी वृत्तियोंको एकाग्र करके हाथ जोड़कर मेरे कहनेसे उन सबको प्रणाम निवेदन करना ॥

अश्रोत्रिया ये च वसन्ति वृद्धा
मनस्विनः शीलबलोपपन्नाः ।
आशंसन्तोऽस्माकमनुस्मरन्तो
यथाशक्ति धर्ममात्रां चरन्तः ॥ १० ॥
श्लाघस्व मां कुशलिनं स्म तेभ्यो
ह्यनामयं तात पृच्छेर्जघन्यम् ।

तात ! जो अश्रोत्रिय (शूद्र) वृद्ध पुरुष मनस्वी तथा शील और बलसे सम्पन्न हैं एवं हस्तिनापुरमें निवास करते हैं, जो यथाशक्ति कुछ धर्मका आचरण करते हुए हमलोगोंके प्रति शुभ कामना रखते हैं और बारंबार हमें याद करते हैं, उन सबसे हमलोगोंका कुशल-समाचार निवेदन करना । तत्पश्चात् उनके स्वास्थ्यका समाचार पूछना ॥ १०½ ॥

ये जीवन्ति व्यवहारेण राष्ट्रे
पशूंश्च ये पालयन्तो वसन्ति ॥ ११ ॥
(कृषीवला बिभ्रति ये च लोकं
तेषां सर्वेषां कुशलं स्म पृच्छेः) ।

जो कौरव-राज्यमें व्यापारसे जीविका चलाते हैं, पशुओंका पालन करते हुए निवास करते हैं तथा जो खेती करके सब लोगोंका भरण-पोषण करते हैं, उन सब वैश्योंका भी कुशल-समाचार पूछना ॥ ११ ॥

आचार्य इष्टो नयगो विधेयो
वेदानभीप्सन् ब्रह्मचर्यं चचार ।
योऽस्त्रं चतुष्पात् पुनरेव चक्रे
द्रोणः प्रसन्नोऽभिवाद्यस्त्वयासौ ॥ १२ ॥

जिन्होंने वेदोंकी शिक्षा प्राप्त करनेके लिये पहले ब्रह्मचर्यका पालन किया । तत्पश्चात् मन्त्र, उपचार, प्रयोग तथा संहार—इन चार पादोंसे युक्त अस्त्रविद्याकी शिक्षा प्राप्त की; वे सबके प्रिय, नीतिज्ञ, विनयी तथा सदा प्रसन्नचित्त रहनेवाले आचार्य द्रोण भी हमारे अभिवादनके योग्य हैं, तुम उनसे भी मेरा प्रणाम कहना ॥ १२ ॥

अधीतविद्यश्चरणोपपन्नो
योऽस्त्रं चतुष्पात् पुनरेव चक्रे ।
गन्धर्वपुत्रप्रतिमं तरस्विनं
तमश्वत्थामानं कुशलं स्म पृच्छेः ॥ १३

जो वेदाध्ययनसम्पन्न तथा सदाचारयुक्त हैं, जिन्होंने चारों पादोंसे युक्त अस्त्रविद्याकी शिक्षा पायी है, जो गन्धर्वकुमारके समान वेगशाली वीर हैं, उन आचार्यपुत्र अश्वत्थामाका भी कुशल-समाचार पूछना ॥ १३ ॥

शारद्वतस्यावसथं स्म गत्वा
महारथस्यात्मविदां वरस्य ।
त्वं मामभीक्ष्णं परिकीर्तयन् वै
कृपस्य पादौ संजय पाणिना स्पृशेः ॥ १४ ॥

संजय ! तदनन्तर आत्मवेत्ताओंमें श्रेष्ठ महारथी कृपाचार्यके घर जाकर बारंबार मेरा नाम लेते हुए अपने हाथसे उनके दोनों चरणोंका स्पर्श करना ॥ १४ ॥

यस्मिञ्शौर्यमानृशंस्यं तपश्च
प्रज्ञा शीलं श्रुतिसत्त्वे धृतिश्च ।
पादौ गृहीत्वा कुरुसत्तमस्य
भीष्मस्य मां तत्र निवेदयेथाः ॥ १५ ॥

जिनमें वीरत्व, दया, तपस्या, बुद्धि, शील, शास्त्रज्ञान, सत्त्व और धैर्य आदि सद्गुण विद्यमान हैं, उन कुरुश्रेष्ठ पितामह भीष्मके दोनों चरण पकड़कर मेरा प्रणाम निवेदन करना ॥ १५ ॥

प्रज्ञाचक्षुर्यः प्रणेता कुरूणां
बहुश्रुतो वृद्धसेवी मनीषी ।
तस्मै राज्ञे स्थविरायाभिवाद्य
आचक्षीथाः संजय मामरोगम् ॥ १६ ॥

संजय ! जो कौरवगणोंके नेता, अनेक शास्त्रोंके ज्ञाता, बड़े-बूढ़ोंके सेवक और बुद्धिमान् हैं, उन वृद्ध नरेश प्रज्ञाचक्षु धृतराष्ट्रको मेरा प्रणाम निवेदन करके यह बताना कि युधिष्ठिर नीरोग और सकुशल है ॥ १६ ॥

ज्येष्ठः पुत्रो धृतराष्ट्रस्य मन्दो
मूर्खः शठः संजय पापशीलः ।
यस्यापवादः पृथिवीं याति सर्वां
सुयोधनं कुशलं तात पृच्छेः ॥ १७ ॥

तात संजय ! जो धृतराष्ट्रका ज्येष्ठ पुत्र, मन्दबुद्धि, मूर्ख, शठ और पापाचारी है तथा जिसकी निन्दा सारी पृथ्वीमें फैल रही है, उस सुयोधनसे भी मेरी ओरसे कुशल-मङ्गल पूछना ॥ १७ ॥

भ्राता कनीयानपि तस्य मन्द-
स्तथाशीलः संजय सोऽपि शश्वत् ।
महेष्वासः शूरतमः कुरूणां
दुःशासनः कुशलं तात वाच्यः ॥ १८ ॥

तात संजय ! जो दुर्योधनका छोटा भाई है तथा उसीके समान मूर्ख और सदा पापमें संलग्न रहनेवाला है, कुरुकुलके उस महाधनुर्धर एवं विख्यात वीर दुःशासनसे भी कुशल पूछकर मेरा कुशल-समाचार कहना ॥ १८ ॥

यस्य कामो वर्तते नित्यमेव
नान्यः शमाद् भारतानामिति स्म ।
स बाह्लिकानामृषभो मनीषी
त्वयाभिवाद्यः संजय साधुशीलः ॥ १९ ॥

संजय ! भरतवंशियोंमें परस्पर शान्ति बनी रहे, इसके सिवा दूसरी कोई कामना जिनके हृदयमें कभी नहीं होती है, जो बाह्लिकवंशके श्रेष्ठ पुरुष हैं, उन साधु स्वभाववाले बुद्धिमान् बाह्लीकको भी तुम मेरा प्रणाम निवेदन करना ॥

गुणैरनेकैः प्रवरैश्च युक्तो
विज्ञानवान् नैव च निष्ठुरो यः ।
स्नेहादमर्षं सहते सदैव
स सोमदत्तः पूजनीयो मतो मे ॥ २० ॥

जो अनेक श्रेष्ठ गुणोंसे विभूषित और ज्ञानवान् हैं, जिनमें निष्ठुरताका लेशमात्र भी नहीं है, जो स्नेहवश सदा ही हमलोगोंका क्रोध सहन करते रहते हैं, वे सोमदत्त भी मेरे लिये पूजनीय हैं ॥ २० ॥

अर्हत्तमः कुरुषु सौमदत्तिः
स नो भ्राता संजय मत्सखा च ।
महेष्वासो रथिनामुत्तमोऽर्हः
सहामात्यः कुशलं तस्य पृच्छेः ॥ २१ ॥

संजय ! सोमदत्तके पुत्र भूरिश्रवा कुरुकुलमें पूज्यतम पुरुष माने गये हैं। वे हमलोगोंके निकट सम्बन्धी और मेरे प्रिय सखा हैं। रथी वीरोंमें उनका बहुत ऊँचा स्थान है। वे महान् धनुर्धर तथा आदरणीय वीर हैं। तुम मेरी ओरसे मन्त्रियोंसहित उनका कुशल-समाचार पूछना ॥ २१ ॥

ये चैवान्ये कुरुमुख्या युवानः
पुत्राः पौत्रा भ्रातरश्चैव ये नः ।
यं यमेषां मन्यसे येन योग्यं
तत् तत् प्रोच्यानामयं सूत वाच्याः ॥ २२ ॥

संजय ! इनके सिवा और भी जो कुरुकुलके प्रधान नवयुवक हैं, जो हमारे पुत्र, पौत्र और भाई लगते हैं, इनमेंसे जिस-जिसको तुम जिस व्यवहारके योग्य समझो, उससे वैसी ही बात कहकर उन सबसे बताना कि पाण्डव-लोग स्वस्थ और सानन्द हैं ॥ २२ ॥

ये राजानः पाण्डवायोधनाय
समानीता धार्तराष्ट्रेण केचित् ।
वशातयः शाल्वकाः केकयाश्च
तथाम्बष्ठा ये त्रिगर्ताश्च मुख्याः ॥ २३ ॥
प्राच्योदीच्या दक्षिणात्याश्च शूरा-
स्तथा प्रतीच्याः पर्वतीयाश्च सर्वे ।
अनृशंसाः शीलवृत्तोपपन्ना-
स्तेषां सर्वेषां कुशलं सूत पृच्छेः ॥ २४ ॥

दुर्योधनने हम पाण्डवोंके साथ युद्ध करनेके लिये जिन-जिन राजाओंको बुलाया है । वे वशाति, शाल्व, केकय, अम्बष्ठ तथा त्रिगर्तदेशके प्रधान वीर, पूर्व, उत्तर, दक्षिण और पश्चिम दिशाके शौर्यसम्पन्न योद्धा तथा समस्त पर्वतीय नरेश वहाँ उपस्थित हैं। वे लोग दयालु तथा शील और सदाचारसे सम्पन्न हैं। संजय ! तुम मेरी ओरसे उन सबका कुशल-मङ्गल पूछना ॥ २३-२४ ॥

हस्त्यारोहा रथिनः सादिनश्च
पदातयश्चार्यसङ्घा महान्तः ।
आख्याय मां कुशलिनं स्म नित्य-
मनामयं परिपृच्छेः समग्रान् ॥ २५ ॥

जो हाथीसवार, रथी, घुड़सवार, पैदल तथा बड़े-बड़े सज्जनोंके समुदाय वहाँ उपस्थित हैं, उन सबसे मुझे सकुशल बताकर उनका भी आरोग्य-समाचार पूछना ॥ २५ ॥

तथा राज्ञो ह्यर्थयुक्तानमात्यान्
दौवारिकान् ये च सेनां नयन्ति ।
आयव्ययं ये गणयन्ति नित्य-
मर्थांश्च ये महतश्चिन्तयन्ति ॥ २६ ॥

जो राजाके हितकर कार्योंमें लगे हुए मन्त्री, द्वारपाल, सेनानायक, आय-व्ययनिरीक्षक तथा निरन्तर बड़े-बड़े कार्यों एवं प्रश्नोंपर विचार करनेवाले हैं, उनसे भी कुशल-समाचार पूछना ॥ २६ ॥

वृन्दारकं कुरुमध्येष्वमूढं
महाप्रज्ञं सर्वधर्मोपपन्नम् ।
न तस्य युद्धं रोचते वै कदाचिद्
वैश्यापुत्रं कुशलं तात पृच्छेः ॥ २७ ॥

तात ! जो समस्त कौरवोंमें श्रेष्ठ, महाबुद्धिमान् ज्ञानी तथा सब धर्मोंसे सम्पन्न है, जिसे कौरव और पाण्डवोंका युद्ध कभी अच्छा नहीं लगता, उस वैश्यापुत्र युयुत्सुका भी मेरी ओरसे कुशल-मङ्गल पूछना ॥ २७ ॥

निकर्तने देवने योऽद्वितीय-
श्छन्नोपधः साधुदेवी मताक्षः ।
यो दुर्जयो देवरथेन संख्ये
स चित्रसेनः कुशलं तात वाच्यः ॥ २८ ॥

तात ! जो धनके अपहरण और द्यूतक्रीड़ामें अद्वितीय है, छलको छिपाये रखकर अच्छी तरहसे जूआ खेलता है, पासे फेंकनेकी कलामें प्रवीण है तथा जो युद्धमें दिव्य रथारूढ़ वीरके लिये भी दुर्जय है, उस चित्रसेनसे भी कुशल-समाचार पूछना और बताना ॥ २८ ॥

गान्धारराजः शकुनिः पर्वतीयो
निकर्तने योऽद्वितीयोऽक्षदेवी ।
मानं कुर्वन् धार्तराष्ट्रस्य सूत
मिथ्याबुद्धेः कुशलं तात पृच्छेः ॥ २९ ॥

तात संजय ! जो जूआ खेलकर पराये धनका अपहरण करनेकी कलामें अपना सानी नहीं रखता तथा दुर्योधनका सदा सम्मान करता है, उस मिथ्याबुद्धि पर्वतनिवासी गान्धारराज शकुनिकी भी कुशल पूछना ॥ २९ ॥

यः पाण्डवानेकरथेन वीरः
समुत्सहत्यप्रधृष्यान् विजेतुम् ।
यो मुह्यतां मोहयिताद्वितीयो
वैकर्तनः कुशलं तस्य पृच्छेः ॥ ३० ॥

जो अद्वितीय वीर एकमात्र रथकी सहायतासे अजेय पाण्डवोंको भी जीतनेका उत्साह रखता है तथा जो मोहमें पड़े हुए धृतराष्ट्रके पुत्रोंको और भी मोहित करनेवाला है, उस वैकर्तन कर्णकी भी कुशल पूछना ॥ ३० ॥

स एव भक्तः स गुरुः स भर्ता
स वै पिता स च माता सुहृच्च ।
अगाधबुद्धिर्विदुरो दीर्घदर्शी
स नो मन्त्री कुशलं तं स्म पृच्छेः ॥ ३१ ॥

अगाधबुद्धि दूरदर्शी विदुरजी हमलोगोंके प्रेमी, गुरु, पालक, पिता-माता और सुहृद् हैं, वे ही हमारे मन्त्री भी हैं ! संजय ! तुम मेरी ओरसे उनकी भी कुशल पूछना ॥ ३१ ॥

वृद्धाः स्त्रियो याश्च गुणोपपन्ना
ज्ञायन्ते नः संजय मातरस्ताः ।
ताभिः सर्वाभिः सहिताभिः समेत्य
स्त्रीभिर्वृद्धाभिरभिवादं वदेथाः ॥ ३२ ॥

संजय ! राजघरानेमें जो सद्गुणवती वृद्धा स्त्रियाँ हैं, वे सब हमारी माताएँ लगती हैं । उन सब वृद्धा स्त्रियोंसे एक साथ मिलकर तुम उनसे हमारा प्रणाम निवेदन करना ॥ ३२ ॥

कच्चित् पुत्रा जीवपुत्राः सुसम्यग्
वर्तन्ते वो वृत्तिमनृशंसरूपाः ।
इति स्मोक्त्वा संजय ब्रूहि पश्चा-
दजातशत्रुः कुशली सपुत्रः ॥ ३३ ॥

संजय ! उन बड़ी-बूढ़ी स्त्रियोंसे इस प्रकार कहना—'माताओ ! आपके पुत्र आपके साथ उत्तम बर्ताव करते हैं न ? उनमें क्रूरता तो नहीं आ गयी है ? उन सबके दीर्घायु पुत्र हो गये हैं न ?' इस प्रकार कहकर पीछे यह बताना कि आपका बालक अजातशत्रु युधिष्ठिर पुत्रोंसहित सकुशल है ॥ ३३ ॥

या नो भार्याः संजय वेत्थ तत्र
तासां सर्वासां कुशलं तात पृच्छेः ।
सुसंगुप्ताः सुरभयोऽनवद्याः
कच्चिद् गृहानावसथाप्रमत्ताः ॥ ३४ ॥
कच्चिद् वृत्तिं श्वशुरेषु भद्राः
कल्याणीं वर्तध्वमनृशंसरूपाम् ।
यथा च वः स्युः पतयोऽनुकूला-
स्तथा वृत्तिमात्मनः स्थापयध्वम् ॥ ३५ ॥

तात संजय ! हस्तिनापुरमें हमारे भाइयोंकी जो स्त्रियाँ हैं, उन सबको तो तुम जानते ही हो । उन सबकी कुशल पूछना और कहना क्या तुमलोग सर्वथा सुरक्षित रहकर निर्दोष जीवन बिता रही हो ? तुम्हें आवश्यक सुगन्ध आदि प्रसाधन-सामग्रियाँ प्राप्त होती हैं न ? तुम घरमें प्रमादशून्य होकर रहती हो न ? भद्र महिलाओ ! क्या तुम अपने श्वशुरजनोंके प्रति क्रूरतारहित कल्याणकारी बर्ताव करती हो तथा जिस प्रकार तुम्हारे पति अनुकूल बने रहें, वैसे व्यवहार और सद्भावको अपने हृदयमें स्थान देती हो ? ॥ ३४-३५ ॥

या नः स्नुषाः संजय वेत्थ तत्र
प्राप्ताः कुलेभ्यश्च गुणोपपन्नाः ।
प्रजावत्यो ब्रूहि समेत्य ताश्च
युधिष्ठिरो वोऽभ्यवदत् प्रसन्नः ॥ ३६ ॥

संजय ! तुम वहाँ उन स्त्रियोंको भी जानते हो, जो हमारी पुत्रवधुएँ लगती हैं, जो उत्तम कुलोंसे आयी हैं तथा सर्वगुणसम्पन्न और संतानवती हैं । वहाँ जाकर उनसे कहना, 'बहुओ ! युधिष्ठिर प्रसन्न होकर तुमलोगोंका कुशल-समाचार पूछते थे' ॥ ३६ ॥

कन्याः स्वजेथाः सदनेषु संजय
अनामयं मद्वचनेन पृष्ट्वा ।
कल्याणा वः सन्तु पतयोऽनुकूला
यूयं पतीनां भवतानुकूलाः ॥ ३७ ॥

संजय ! राजमहलमें जो छोटी-छोटी बालिकाएँ हैं, उन्हें हृदयसे लगाना और मेरी ओरसे उनका आरोग्य-समाचार पूछकर उन्हें कहना—'पुत्रियो ! तुम्हें कल्याणकारी पति प्राप्त हों और वे तुम्हारे अनुकूल बने रहें । साथ ही तुम भी पतियोंके अनुकूल बनी रहो' ॥ ३७ ॥

अलंकृता वस्त्रवत्यः सुगन्धा
अबीभत्साः सुखिता भोगवत्यः ।
लघु यासां दर्शनं वाक् च लघ्वी
वेशस्त्रियः कुशलं तात पृच्छेः ॥ ३८ ॥

तात संजय ! जिनका दर्शन मनोहर और बातें मनको प्रिय लगनेवाली होती हैं, जो वेश-भूषासे अलङ्कृत, सुन्दर वस्त्रोंसे सुशोभित, उत्तम सुगन्ध धारण करनेवाली, घृणित व्यवहारसे रहित, सुखशालिनी और भोग-सामग्रीसे सम्पन्न हैं, उन वेश (शृङ्गार) धारण करानेवाली स्त्रियोंकी भी कुशल पूछना ॥ ३८ ॥

दास्यः स्युर्या ये च दासाः कुरूणां
तदाश्रया बहवः कुब्जखञ्जाः ।
आख्याय मां कुशलिनं स्म तेभ्यो-
ऽप्यनामयं परिपृच्छेर्जघन्यम् ॥ ३९ ॥

कौरवोंके जो दास-दासियाँ हों तथा उनके आश्रित जो बहुतसे कुबड़े और लँगड़े मनुष्य रहते हों, उन सबसे मुझे सकुशल बताकर अन्तमें मेरी ओरसे उनकी भी कुशल पूछना ॥ ३९ ॥

कच्चिद् वृत्तिं वर्तते वै पुराणीं
कच्चिद् भोगान् धार्तराष्ट्रो ददाति ।
अङ्गहीनान् कृपणान् वामनान् वा
यानानृशंस्यो धृतराष्ट्रो बिभर्ति ॥ ४० ॥

(और कहना—) क्या राजा धृतराष्ट्र दयावश जिन अङ्गहीनों, दीनों और बौने मनुष्योंका पालन करते हैं, उन्हें दुर्योधन भरण-पोषणकी सामग्री देता है ? क्या वह उनकी प्राचीन जीविका-वृत्तिका निर्वाह करता है ? ॥ ४० ॥

अन्धांश्च सर्वान् स्थविरांस्तथैव
हस्त्याजीवा बहवो येऽत्र सन्ति ।
आख्याय मां कुशलिनं स्म तेभ्यो-
ऽप्यनामयं परिपृच्छेर्जघन्यम् ॥ ४१ ॥

हस्तिनापुरमें जो बहुत-से हाथीवान हैं तथा जो अन्धे और बूढ़े हैं, उन सबको मेरी कुशल बताकर अन्तमें मेरी ओरसे उनके भी आरोग्य आदिका समाचार पूछना ॥ ४१ ॥

मा भैष्ट दुःखेन कुजीवितेन
नूनं कृतं परलोकेषु पापम् ।
निगृह्य शत्रून् सुहृदोऽनुगृह्य
वासोभिरन्नेन च वो भरिष्ये ॥ ४२ ॥

साथ ही उन्हें आश्वासन देते हुए मेरा यह संदेश सुना देना । तुम्हें जो दुःख प्राप्त होता है अथवा कुत्सित जीवन बिताना पड़ता है, इसके कारण तुमलोग भयभीत न होना । निश्चय ही यह दूसरे जन्मोंमें किये हुए पापका फल प्रकट हुआ है । मैं कुछ ही दिनोंमें अपने शत्रुओंको कैद करके हितैषी सुहृदोंपर अनुग्रह करते हुए अन्न और वस्त्रद्वारा तुमलोगोंका भरण-पोषण करूँगा ॥ ४२ ॥

सन्त्येव मे ब्राह्मणेभ्यः कृतानि
भावीन्यथो नो बत वर्तयन्ति ।
तान् पश्यामि युक्तरूपांस्तथैव
तामेव सिद्धिं श्रावयेथा नृपं तम् ॥ ४३ ॥

राजा दुर्योधनसे कहना, मैंने कुछ ब्राह्मणोंके लिये वार्षिक जीविका-वृत्तियाँ नियत कर रक्खी थीं, किंतु खेद है कि तुम्हारे कर्मचारीगण उन्हें ठीकसे नहीं चला रहे हैं ! मैं उन ब्राह्मणोंको पुनः पूर्ववत् उन्हीं वृत्तियोंसे युक्त देखना चाहता हूँ । तुम किसी दूतके द्वारा मुझे यह समाचार सुना दो कि उन वृत्तियोंका अब यथावत्‌रूपसे पालन होने लगा है ॥ ४३ ॥

ये चानाथा दुर्बलाः सर्वकाल-
मात्मन्येव प्रयतन्तेऽथ मूढाः ।
तांश्चापि त्वं कृपणान् सर्वथैव
ह्यस्मद्वाक्यात् कुशलं तात पृच्छेः ॥ ४४ ॥

संजय ! जो अनाथ, दुर्बल एवं मूर्खजन सदा अपने शरीरका पोषण करनेके लिये ही प्रयत्न करते हैं, तुम मेरे कहनेसे उन दीनजनोंके पास भी जाकर सब प्रकारसे उनका कुशल-समाचार पूछना ॥ ४४ ॥

ये चाप्यन्ये संश्रिता धार्तराष्ट्रान्
नानादिग्भ्योऽभ्यागताः सूतपुत्र ।
दृष्ट्वा तांश्चैवार्हतश्चापि सर्वान्
सम्पृच्छेथाः कुशलं चाव्ययं च ॥ ४५ ॥

सूतपुत्र ! इनके सिवा विभिन्न दिशाओंमें आये हुए दूसरे-दूसरे लोग धृतराष्ट्रपुत्रोंका आश्रय लेकर रहते हैं । उन सब माननीय पुरुषोंसे भी मिलकर उनकी कुशल और क्या वे जीवित बचे रहेंगे, इस सम्बन्धमें भी प्रश्न करना ॥

एवं सर्वानागताभ्यागतांश्च
राज्ञो दूतान् सर्वदिग्भ्योऽभ्युपेतान् ।
पृष्ट्वा सर्वान् कुशलं तांश्च सूत
पश्चादहं कुशली तेषु वाच्यः ॥ ४६ ॥

इस प्रकार वहाँ सब दिशाओंसे पधारे हुए राजदूतों तथा अन्य सब अभ्यागतोंसे कुशल-मङ्गल पूछकर अन्तमें उनसे मेरा कुशल-समाचार भी निवेदन करना ॥ ४६ ॥

न हीदृशाः सन्त्यपरे पृथिव्यां
ये योधका धार्तराष्ट्रेण लब्धाः ।
धर्मस्तु नित्यो मम धर्म एव
महाबलः शत्रुनिबर्हणाय ॥ ४७ ॥

यद्यपि दुर्योधनने जिन योद्धाओंका संग्रह किया है, वैसे वीर इस भूमण्डलमें दूसरे नहीं हैं, तथापि धर्म ही नित्य है और मेरे पास शत्रुओंका नाश करनेके लिये धर्मका ही सबसे महान् बल है ॥ ४७ ॥

इदं पुनर्वचनं धार्तराष्ट्रं
सुयोधनं संजय श्रावयेथाः ।
यस्ते शरीरे हृदयं दुनोति
कामः कुरूनसपत्नोऽनुशिष्याम् ॥ ४८ ॥
न विद्यते युक्तिरेतस्य काचि-
न्नैवंविधाः स्याम यथा प्रियं ते ।
ददस्व वा शक्रपुरीं ममैव
युध्यस्व वा भारतमुख्य वीर ॥ ४९ ॥

संजय ! दुर्योधनको तुम मेरी यह बात पुनः सुना देना—'तुम्हारे शरीरके भीतर मनमें जो यह अभिलाषा उत्पन्न हुई है कि मैं कौरवोंका निष्कण्टक राज्य करूँ, वह तुम्हारे हृदयको पीड़ामात्र दे रही है। उसकी सिद्धिका कोई उपाय नहीं है। हम ऐसे पौरुषहीन नहीं हैं कि तुम्हारा यह प्रिय कार्य होने दें। भरतवंशके प्रमुख वीर ! तुम इन्द्रप्रस्थपुरी फिर मुझे ही लौटा दो अथवा युद्ध करो' ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि संजययानपर्वणि युधिष्ठिरसंदेशे त्रिंशोऽध्यायः ॥ ३० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत संजययानपर्वमें युधिष्ठिरसंदेशविषयक तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३० ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका १ श्लोक मिलाकर कुल ५० श्लोक हैं)

एकत्रिंशोऽध्यायः

युधिष्ठिरका मुख्य-मुख्य कुरुवंशियोंके प्रति संदेश

युधिष्ठिर उवाच

उत सन्तमसन्तं वा बालं वृद्धं च संजय ।
उताबलं बलीयांसं धाता प्रकुरुते वशे ॥ १ ॥

युधिष्ठिर बोले—संजय ! साधु-असाधु, बालक-वृद्ध तथा निर्बल एवं बलिष्ठ—सबको विधाता अपने वशमें रखता है ॥ १ ॥

उत बालाय पाण्डित्यं पण्डितायोत बालताम् ।
ददाति सर्वमीशानः पुरस्ताच्छुक्रमुच्चरन् ॥ २ ॥

वही सबका नियन्ता है और प्राणियोंके पूर्वजन्मके कर्मोंके अनुसार उन्हें सब प्रकारका फल देता है। वही मूर्खको विद्वान् और विद्वान्को मूर्ख बना देता है ॥ २ ॥

बलं जिज्ञासमानस्य आचक्षीथा यथातथम् ।
अथ मन्त्रं मन्त्रयित्वा याथातथ्येन हृष्टवत् ॥ ३ ॥

दुर्योधन अथवा धृतराष्ट्र यदि मेरे बल और सेनाका समाचार पूछें तो तुम उन्हें सब ठीक-ठीक बता देना। जिससे वे प्रसन्न होकर आपसमें सलाह करके यथार्थरूपसे अपने कर्तव्यका निश्चय कर सकें ॥ ३ ॥

गावल्गणे कुरून् गत्वा धृतराष्ट्रं महाबलम् ।
अभिवाद्योपसंगृह्य ततः पृच्छेरनामयम् ॥ ४ ॥

संजय ! तुम कुरुदेशमें जाकर मेरी ओरसे महाबली धृतराष्ट्रको प्रणाम करके उनके दोनों पैर पकड़ लेना और उनसे स्वास्थ्यका समाचार पूछना ॥ ४ ॥

ब्रूयाश्चैनं त्वमासीनं कुरुभिः परिवारितम् ।
तवैव राजन् वीर्येण सुखं जीवन्ति पाण्डवाः ॥ ५ ॥

तत्पश्चात् कौरवोंसे घिरकर बैठे हुए इन महाराज धृतराष्ट्रसे कहना—'राजन् ! पाण्डवलोग आपकी ही सामर्थ्यसे सुखपूर्वक जीवन बिता रहे हैं ॥ ५ ॥

तव प्रसादाद् बालास्ते प्राप्ता राज्यमरिंदम ।
राज्ये तान् स्थापयित्वाग्रे नोपेक्षस्व विनश्यतः ॥ ६ ॥

'शत्रुदमन नरेश ! जब वे बालक थे, तब आपकी ही कृपासे उन्हें राज्य मिला था। पहले उन्हें राज्यपर बिठाकर अब अपने ही आगे उन्हें नष्ट होते देख उपेक्षा न कीजिये' ॥

सर्वमप्येतदेकस्य नालं संजय कस्यचित् ।
तात संहत्य जीवामो द्विषतां मा वशं गमः ॥ ७ ॥

संजय ! उन्हें यह भी बताना कि 'तात ! यह सारा राज्य किसी एकके ही लिये पर्याप्त हो, ऐसी बात नहीं है। हम सब लोग मिलकर एक साथ रहकर सुखपूर्वक जीवन-निर्वाह करें, इसके विपरीत करके आप शत्रुओंके वशमें न पड़ें' ॥७॥

तथा भीष्मं शान्तनवं भारतानां पितामहम् ।
शिरसाभिवदेथास्त्वं मम नाम प्रकीर्तयन् ॥ ८ ॥
अभिवाद्य च वक्तव्यस्ततोऽस्माकं पितामहः ।
भवता शान्तनोर्वंशो निमग्नः पुनरुद्धृतः ॥ ९ ॥
स त्वं कुरु तथा तात स्वमतेन पितामह ।
यथा जीवन्ति ते पौत्राः प्रीतिमन्तः परस्परम् ॥ १० ॥

इसी तरह भरतवंशियोंके पितामह शान्तनुनन्दन भीष्मजीको भी मेरा नाम लेते हुए सिर झुकाकर प्रणाम करना और प्रणामके पश्चात् हमारे उन पितामहसे इस प्रकार कहना—'दादाजी ! आपने शान्तनुके डूबते हुए वंशका पुनरुद्धार किया था। अब फिर अपनी बुद्धिसे विचार करके कोई ऐसा काम

कीजिये, जिससे आपके सभी पौत्र परस्पर प्रेमपूर्वक जीवन बिता सकें' ॥ ८-१० ॥

तथैव विदुरं ब्रूयाः कुरूणां मन्त्रधारिणम् ।
अयुद्धं सौम्य भाषस्व हितकामो युधिष्ठिरे ॥ ११ ॥

संजय ! इसी प्रकार कौरवोंके मन्त्री विदुरजीसे कहना—'सौम्य ! आप युद्ध न होनेकी ही सलाह दें; क्योंकि आप युधिष्ठिरका हित चाहनेवाले हैं' ॥ ११ ॥

अथ दुर्योधनं ब्रूया राजपुत्रममर्षणम् ।
मध्ये कुरूणामासीनमनुनीय पुनः पुनः ॥ १२ ॥

तदनन्तर कौरवोंकी सभामें बैठे हुए अमर्षमें भरे रहनेवाले राजकुमार दुर्योधनसे बार-बार अनुनय-विनय करके कहना—॥ १२ ॥

अपापां यदुपैक्षस्त्वं कृष्णामेतां सभागताम् ।
तद् दुःखमतितिक्षाम मा वधिष्म कुरूनिति ॥ १३ ॥

'तुमने द्रौपदीको विना किसी अपराधके सभामें बुलाकर जो उसका तिरस्कार किया, उस दुःखको हमलोगोंने इसलिये चुपचाप सह लिया है कि हमें कौरवोंका वध न करना पड़े ॥ १३ ॥

एवं पूर्वापरान् क्लेशानतितिक्षन्त पाण्डवाः ।
बलीयांसोऽपि सन्तो यत् तत् सर्वं कुरवो विदुः ॥ १४ ॥

इसी प्रकार पाण्डवोंने अत्यन्त बलिष्ठ होते हुए भी जो (तुम्हारे दिये हुए) पहले और पीछेके सभी क्लेशोंको सहन किया है, उसे सब कौरव जानते हैं ॥ १४ ॥

यन्नः प्राव्राजयः सौम्य अजिनैः प्रतिवासितान् ।
तद् दुःखमतितिक्षाम मा वधिष्म कुरूनिति ॥ १५ ॥

सौम्य ! तुमने हमलोगोंको मृगछाला पहनाकर जो वनमें निर्वासित कर दिया, उस दुःखको भी हम इसलिये सह लेते हैं कि हमें कौरवोंका वध न करना पड़े ॥ १५ ॥

यद् कुन्तीं समतिक्रम्य कृष्णां केशेष्वधर्षयत् ।
दुःशासनस्तेऽनुमते तच्चास्माभिरुपेक्षितम् ॥ १६ ॥

तुम्हारी अनुमतिसे दुःशासनने माता कुन्तीकी उपेक्षा करके जो द्रौपदीके केश पकड़ लिये, उस अपराधकी भी हमने इसीलिये उपेक्षा कर दी है ॥ १६ ॥

अथोचितं स्वकं भागं लभेमहि परंतप ।
निवर्तय परद्रव्याद् बुद्धिं गृद्धां नरर्षभ ॥ १७ ॥

परंतप ! परंतु अब हम अपना उचित भाग निश्चय ही लेंगे । नरश्रेष्ठ ! तुम दूसरोंके धनसे अपनी लोभयुक्त बुद्धि हटा लो ॥ १७ ॥

शान्तिरेवं भवेद् राजन् प्रीतिश्चैव परस्परम् ।
राज्यैकदेशमपि नः प्रयच्छ शममिच्छताम् ॥ १८ ॥

राजन् ! इस प्रकार हमलोगोंमें परस्पर शान्ति एवं प्रीति बनी रह सकती है । हम शान्ति चाहते हैं; भले ही तुम हमें राज्यका एक हिस्सा ही दे दो ॥ १८ ॥

अविस्थलं वृकस्थलं माकन्दीं वारणावतम् ।
अवसानं भवत्वत्र किंचिदेकं च पञ्चमम् ॥ १९ ॥

अविस्थल, वृकस्थल, माकन्दी, वारणावत तथा पाँचवाँ कोई भी एक गाँव दे दो । इसीपर युद्धकी समाप्ति हो जायगी॥

भ्रातॄणां देहि पञ्चानां पञ्च ग्रामान् सुयोधन ।
शान्तिर्नोऽस्तु महाप्राज्ञ ज्ञातिभिः सह संजय ॥ २० ॥

'सुयोधन ! हम पाँच भाइयोंको पाँच गाँव दे दो ।' महाप्राज्ञ संजय ! ऐसा हो जानेपर अपने कुटुम्बीजनोंके साथ हमलोगोंकी शान्ति बनी रहेगी ॥ २० ॥

भ्राता भ्रातरमन्वेतु पिता पुत्रेण युज्यताम् ।
स्मयमानाः समायान्तु पञ्चालाः कुरुभिः सह ॥ २१ ॥
अक्षतान् कुरुपाञ्चालान् पश्येयमिति कामये ।
सर्वे सुमनसस्तात शाम्याम भरतर्षभ ॥ २२ ॥

'भाई भाईसे मिले और पिता पुत्रसे मिले । पाञ्चालदेशीय क्षत्रिय कुरुवंशियोंके साथ मुसकराते हुए मिलें । मेरी यही कामना है कि कौरवों तथा पाञ्चालोंको अक्षतशरीर देखूँ । तात ! भरतश्रेष्ठ दुर्योधन ! हम सब लोग प्रसन्नचित्त होकर शान्त हो जायँ, ऐसी चेष्टा करो' ॥ २१-२२ ॥

अलमेव शमायास्मि तथा युद्धाय संजय ।
धर्मार्थयोरलं चाहं मृदवे दारुणाय च ॥ २३ ॥

संजय ! मैं शान्ति रखनेमें भी समर्थ हूँ और युद्ध करनेमें भी । धर्म और अर्थके विषयका भी मुझे ठीक-ठीक ज्ञान है । मैं समयानुसार कोमल भी हो सकता हूँ और कठोर भी ॥ २३ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि संजययानपर्वणि युधिष्ठिरसंदेशे एकत्रिंशोऽध्यायः ॥ ३१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत संजययानपर्वमें युधिष्ठिरसंदेशविषयक इकतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३१ ॥

द्वात्रिंशोऽध्यायः

अर्जुनद्वारा कौरवोंके लिये संदेश देना, संजयका हस्तिनापुर जा धृतराष्ट्रसे मिलकर उन्हें युधिष्ठिरका कुशल-समाचार कहकर धृतराष्ट्रके कार्यकी निन्दा करना

वैशम्पायन उवाच

(धर्मराजस्य तु वचः श्रुत्वा पार्थो धनंजयः ।
उवाच संजयं तत्र वासुदेवस्य शृण्वतः ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! धर्मराज युधिष्ठिरकी बात सुनकर कुन्तीपुत्र अर्जुनने भगवान् श्रीकृष्णके सुनते हुए वहाँ संजयसे इस प्रकार कहा ।

अर्जुन उवाच

पितामहं शान्तनवं धृतराष्ट्रं च संजय ।
द्रोणं सपुत्रं शल्यं च महाराजं च बाह्लिकम् ॥
विकर्णं सोमदत्तं च शकुनिं चापि सौबलम् ।
विविंशतिं चित्रसेनं जयत्सेनं च संजय ॥
भगदत्तं तथा चैव शूरं रणकृतां वरम् ॥
ये चाप्यन्ये कुरवस्तत्र सन्ति
राजानश्चेद् भूमिपालाः समेताः ।
युयुत्सवः पार्थिवाः सैन्धवाश्च
समानीता धार्तराष्ट्रेण सूत ॥
यथान्यायं कुशलं वन्दनं च
समागमे मद्वचनेन वाच्याः ।
ततो ब्रूयाः संजय राजमध्ये
दुर्योधनं पापकृतां प्रधानम् ॥

अर्जुन बोले—संजय ! शान्तनुनन्दन पितामह भीष्म, धृतराष्ट्र, पुत्रसहित द्रोणाचार्य, महाराज शल्य, बाह्लीक, विकर्ण, सोमदत्त, सुबलपुत्र शकुनि, विविंशति, चित्रसेन, जयत्सेन तथा योद्धाओंमें श्रेष्ठ शूरवीर भगदत्त—इन सबसे और दूसरे भी जो कौरव वहाँ रहते हैं, युद्धकी इच्छासे जो-जो राजा वहाँ एकत्र हुए हैं तथा दुर्योधनने जिन-जिन भूमिपालों और सिंधु-देशीय वीरोंको बुला रक्खा है, उन सबसे भी यथोचित रीतिसे मिलकर मेरी ओरसे कुशल और अभिवादन कहना । तत्पश्चात् राजाओंकी मण्डलीमें पापियोंके सिरमौर दुर्योधनको मेरा संदेश सुना देना ॥

वैशम्पायन उवाच

एवं प्रतिष्ठाप्य धनंजयस्तं
ततोऽर्थवद् धर्मवच्चैव पार्थः ।
उवाच वाक्यं स्वजनप्रहर्षं
वित्रासनं धृतराष्ट्रात्मजानाम् ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! इस प्रकार कुन्ती-पुत्र धनंजयने संजयको जानेकी अनुमति देकर अर्थ और धर्मसे युक्त बात कही, जो स्वजनोंको हर्ष देनेवाली तथा धृतराष्ट्रके पुत्रोंको भयभीत करनेवाली थी ॥

अर्जुनेन समादिष्टस्तथेत्युक्त्वा तु संजयः ।
पार्थानामन्त्रयामास केशवं च यशस्विनम् ॥)

अर्जुनके इस प्रकार आदेश देनेपर संजयने 'तथास्तु' कहकर उसे शिरोधार्य किया । तत्पश्चात् उसने अन्य कुन्ती-कुमारों तथा यशस्वी भगवान् श्रीकृष्णसे जानेकी अनुमति माँगी ॥

अनुज्ञातः पाण्डवेन प्रययौ संजयस्तदा ।
शासनं धृतराष्ट्रस्य सर्वं कृत्वा महात्मनः ॥ १ ॥

पाण्डुनन्दन युधिष्ठिरकी आज्ञा पाकर संजय महामना राजा धृतराष्ट्रके सम्पूर्ण आदेशोंका पालन करके उस समय वहाँसे प्रस्थित हुए ॥ १ ॥

सम्प्राप्य हास्तिनपुरं शीघ्रमेव प्रविश्य च ।
अन्तःपुरं समास्थाय द्वाःस्थं वचनमब्रवीत् ॥ २ ॥

हस्तिनापुर पहुँचकर उन्होंने शीघ्र ही राजभवनमें प्रवेश किया और अन्तःपुरके निकट जाकर द्वारपालसे कहा—॥

आचक्ष्व धृतराष्ट्राय द्वाःस्थ मां समुपागतम् ।
सकाशात् पाण्डुपुत्राणां संजयं मा चिरं कृथाः ॥ ३ ॥

'द्वारपाल ! तुम राजा धृतराष्ट्रको मेरे आनेकी सूचना दो और कहो—'पाण्डवोंके पाससे संजय आया है ।' विलम्ब न करो ॥ ३ ॥

जागर्ति चेदभिवदेस्त्वं हि द्वाःस्थ
प्रविशेयं विदितो भूमिपस्य ।
निवेद्यमत्रात्ययिकं हि मेऽस्ति
द्वाःस्थोऽथ श्रुत्वा नृपतिं जगाम ॥ ४ ॥

'द्वारपाल ! यदि महाराज जागते हों तो तुम उन्हें मेरा प्रणाम कहना । उनकी सूचना मिल जानेपर मैं भीतर प्रवेश करूँगा । मुझे उनसे एक आवश्यक निवेदन करना है ।' यह सुनकर द्वारपाल महाराजके पास गया और इस प्रकार बोला ॥

द्वाःस्थ उवाच

संजयोऽयं भूमिपते नमस्ते
दिदृक्षया द्वारमुपागतस्ते ।
प्राप्तो दूतः पाण्डवानां सकाशात्
प्रशाधि राजन् किमयं करोतु ॥ ५ ॥

द्वारपालने कहा—महाराज ! आपको नमस्कार है । पाण्डवोंके पाससे लौटे हुए दूत संजय आपके दर्शनकी इच्छासे

द्वारपर खड़े हैं । राजन् ! आज्ञा दीजिये, ये संजय क्या करें ? ॥ ५ ॥

धृतराष्ट्र उवाच

आचक्ष्व मां कुशलिनं कल्पमस्मै
प्रवेश्यतां स्वागतं संजयाय ।
न चाहमेतस्य भवाम्यकल्पः
स मे कस्माद् द्वारि तिष्ठेच्च सक्तः ॥ ६ ॥

धृतराष्ट्रने कहा—द्वारपाल ! संजयका स्वागत है । उसे कहो कि मैं सकुशल हूँ, अतः इस समय उससे भेंट करनेको तैयार हूँ । उसे भीतर ले आओ । उससे मिलनेमें मुझे कभी भी अड़चन नहीं होती । फिर वह दरवाजेपर सटकर क्यों खड़ा है ? ॥ ६ ॥

वैशम्पायन उवाच

ततः प्रविश्यानुमते नृपस्य
महद् वेश्म प्राज्ञशूरार्यगुप्तम् ।
सिंहासनस्थं पार्थिवमाससाद
वैचित्रवीर्यं प्राञ्जलिः सूतपुत्रः ॥ ७ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! इस प्रकार राजाकी आज्ञा पाकर सूतपुत्र संजयने बुद्धिमान्, शूरवीर तथा श्रेष्ठ पुरुषोंसे सुरक्षित विशाल राजभवनमें प्रवेश किया और सिंहासनपर बैठे हुए विचित्रवीर्यनन्दन महाराज धृतराष्ट्रके पास जा हाथ जोड़कर कहा ॥ ७ ॥

संजय उवाच

संजयोऽहं भूमिपते नमस्ते
प्राप्तोऽस्मि गत्वा नरदेव पाण्डवान् ।
अभिवाद्य त्वां पाण्डुपुत्रो मनस्वी
युधिष्ठिरः कुशलं चान्वपृच्छत् ॥ ८ ॥

संजय बोला—भूपाल ! आपको नमस्कार है । नरदेव ! मैं संजय हूँ और पाण्डवोंके पास जाकर लौटा हूँ । उदारचित्त पाण्डुपुत्र युधिष्ठिरने आपको प्रणाम करके आपकी कुशल पूछी है ॥ ८ ॥

स ते पुत्रान् पृच्छति प्रीयमाणः
कच्चित् पुत्रैः प्रीयसे नप्तृभिश्च ।
तथा सुहृद्भिः सचिवैश्च राजन्
ये चापि त्वामुपजीवन्ति तैश्च ॥ ९ ॥

उन्होंने बड़ी प्रसन्नताके साथ आपके पुत्रोंका समाचार पूछा है । राजन् ! आप अपने पुत्रों, नातियों, सुहृदों, मन्त्रियों तथा जो आपके आश्रित रहकर जीवननिर्वाह करते हैं, उन सबके साथ आनन्दपूर्वक हैं न ? ॥ ९ ॥

धृतराष्ट्र उवाच

अभिनन्द्य त्वां तात वदामि संजय
अजातशत्रुं च सुखेन पार्थम् ।
कच्चित् स राजा कुशली सपुत्रः
सहामात्यः सानुजः कौरवाणाम् ॥ १० ॥

धृतराष्ट्रने कहा—तात संजय ! मैं तुम्हारा स्वागत करके पूछता हूँ कि कुन्तीनन्दन अजातशत्रु युधिष्ठिर सुखसे हैं न ? क्या कौरवोंके राजा युधिष्ठिर अपने पुत्र, मन्त्री तथा छोटे भाइयोंसहित सकुशल हैं ? ॥ १० ॥

संजय उवाच

सहामात्यः कुशली पाण्डुपुत्रो
बुभूषते यच्च तेऽग्रेऽऽत्मनोऽभूत् ।
निर्णिक्तधर्मार्थकरो मनस्वी
बहुश्रुतो दृष्टिमाञ्छीलवांश्च ॥ ११ ॥

संजयने कहा—पाण्डुपुत्र राजा युधिष्ठिर अपने मन्त्रियोंसहित सकुशल हैं और पहले आपके सामने जो उनका राज्य और धन आदि उन्हें प्राप्त था, उसे पुनः वापस लेना चाहते हैं । वे विशुद्धभावसे धर्म और अर्थका सेवन करनेवाले, मनस्वी, विद्वान्, दूरदर्शी और शीलवान् हैं ॥ ११ ॥

परो धर्मात् पाण्डवस्यानृशंस्यं
धर्मः परो वित्तचयान्मतोऽस्य ।
सुखप्रिये धर्महीनेऽनपार्थेऽ-
नुरुध्यते भारत तस्य बुद्धिः ॥ १२ ॥

भारत ! पाण्डुनन्दन युधिष्ठिरकी दृष्टिमें अन्य धर्मोंकी अपेक्षा दया ही परम धर्म है । वे धनसंग्रहकी अपेक्षा धर्म-पालनको ही श्रेष्ठ मानते हैं । उनकी बुद्धि धर्मविहीन एवं निष्प्रयोजन सुख तथा प्रिय वस्तुओंका अनुसरण नहीं करती है ॥ १२ ॥

परप्रयुक्तः पुरुषो विचेष्टते
सूत्रप्रोता दारुमयीव योषा ।
इमं दृष्ट्वा नियमं पाण्डवस्य
मन्ये परं कर्म दैवं मनुष्यात् ॥ १३ ॥

महाराज ! सूतमें बँधी हुई कठपुतली जिस प्रकार दूसरोंसे प्रेरित होकर ही नृत्य करती है, उसी प्रकार मनुष्य परमात्माकी प्रेरणासे ही प्रत्येक कार्यके लिये चेष्टा करता है । पाण्डुनन्दन युधिष्ठिरके इस कष्टको देखकर मैं यह मानने लगा हूँ कि मनुष्यके पुरुषार्थकी अपेक्षा दैव (ईश्वरीय) विधान ही बलवान् है ॥ १३ ॥

इमं च दृष्ट्वा तव कर्मदोषं
पापोदर्कं घोरमवर्णरूपम् ।
यावत् परः कामयतेऽतिवेलं
तावन्नरोऽयं लभते प्रशंसाम् ॥ १४ ॥

आपका कर्मदोष अत्यन्त भयंकर, अवर्णनीय तथा भविष्यमें पाप एवं दुःखकी प्राप्ति करानेवाला है। इसे भी देखकर मैं इसी निश्चयपर पहुँचा हूँ कि परमात्माका विधान ही प्रधान है। जबतक विधाता चाहता है, तभीतक यह मनुष्य सीमित समयतक ही प्रशंसा पाता है॥ १४॥

अजातशत्रुस्तु विहाय पापं
जीर्णां त्वचं सर्प इवासमर्थाम्।
विरोचतेऽहार्यवृत्तेन वीरो
युधिष्ठिरस्त्वयि पापं विसृज्य॥ १५॥

जैसे सर्प पुरानी केंचुलको, जो शरीरमें ठहर नहीं सकती, उतारकर चमक उठता है, उसी प्रकार अजातशत्रु वीर युधिष्ठिर पापका परित्याग करके और उस पापको आपपर ही छोड़कर अपने स्वाभाविक सदाचारसे सुशोभित हो रहे हैं॥ १५॥

हन्तात्मनः कर्म निबोध राजन्
धर्मार्थयुक्तादार्यवृत्तादपेतम्।
उपक्रोशं चेह गतोऽसि राजन्
भूयश्च पापं प्रसजेदमुत्र॥ १६॥

महाराज! जरा आप अपने कर्मपर तो ध्यान दीजिये। धर्म और अर्थसे युक्त जो श्रेष्ठ पुरुषोंका व्यवहार है, आपका बर्ताव उससे सर्वथा विपरीत है। राजन्! इसीके कारण इस लोकमें आपकी निन्दा हो रही है और पुनः परलोकमें भी आपको पापमय नरकका दुःख भोगना पड़ेगा॥ १६॥

स त्वमर्थं संशयितं विना तै-
राशंससे पुत्रवशानुगोऽस्य।
अधर्मशब्दश्च महान् पृथिव्यां
नेदं कर्म त्वत्समं भारताग्र्य॥ १७॥

भरतवंशशिरोमणे! आप इस समय अपने पुत्रोंके वशमें होकर पाण्डवोंको अलग करके अकेले उनकी सारी सम्पत्ति ले लेना चाहते हैं; पहले तो इसकी सफलतामें ही संदेह है। (और यदि आप सफल हो भी जायँ तो) इस भूमण्डलमें इस अधर्मके कारण आपकी बड़ी भारी निन्दा होगी। अतः यह कार्य कदापि आपके योग्य नहीं है॥ १७॥

हीनप्रज्ञो दौष्कुलेयो नृशंसो
दीर्घं वैरी क्षत्रविद्यास्वधीरः।
एवंधर्मानापदः संश्रयेयु-
र्हीनवीर्यो यश्च भवेदशिष्टः॥ १८॥

जो लोग बुद्धिहीन, नीच कुलमें उत्पन्न, क्रूर, दीर्घकालतक बैरभाव बनाये रखनेवाले, क्षत्रियोचित युद्धविद्यामें अनभिज्ञ, पराक्रमहीन और अशिष्ट होते हैं, ऐसे ही स्वभावके लोगोंपर आपत्तियाँ आती हैं॥ १८॥

कुले जातो बलवान् यो यशस्वी
बहुश्रुतः सुखजीवी यतात्मा।
धर्माधर्मौ ग्रथितौ यो बिभर्ति
स ह्यस्य दिष्टस्य वशादुपैति॥ १९॥

जो कुलीन, बलवान्, यशस्वी, बहुज्ञ विद्वान्, सुखजीवी और मनको वशमें रखनेवाला है तथा जो परस्पर गुँथे हुए धर्म और अधर्मको धारण करता है, वही भाग्यवश अभीष्ट गुण-सम्पत्ति प्राप्त करता है॥ १९॥

कथं हि मन्त्राग्र्यधरो मनीषी
धर्मार्थयोरापदि सम्प्रणेता।
एवं युक्तः सर्वमन्त्रैरहीनो
नरो नृशंसं कर्म कुर्यादमूढः॥ २०॥

आप श्रेष्ठ मन्त्रियोंका सेवन करनेवाले हैं, स्वयं भी बुद्धिमान् हैं, आपत्तिकालमें धर्म और अर्थका उचितरूपसे प्रयोग करते हैं, सब प्रकारकी अच्छी सलाहोंसे भी आप युक्त हैं। फिर आप-जैसे साधनसम्पन्न विद्वान् पुरुष ऐसा क्रूरतापूर्ण कार्य कैसे कर सकते हैं?॥ २०॥

तव ह्यमी मन्त्रविदः समेत्य
समासते कर्मसु नित्ययुक्ताः।
तेषामयं बलवान् निश्चयश्च
कुरुक्षये नियमेनोदपादि॥ २१॥

सदा कर्मोंमें नियुक्त किये हुए ये आपके मन्त्रवेत्ता मन्त्री कर्ण आदि एकत्र होकर बैठक किया करते हैं। इन्होंने (पाण्डवोंको राज्य न देनेका) जो प्रबल निश्चय कर लिया है, यह अवश्य ही कौरवोंके भावी विनाशका कारण बन गया है॥ २१॥

अकालिकं कुरवो नाभविष्यन्
पापेन चेत् पापमजातशत्रुः।
इच्छेज्जातु त्वयि पापं विसृज्य
निन्दा चेयं तव लोकेऽभविष्यत्॥ २२॥

राजन्! यदि अजातशत्रु युधिष्ठिर (आपको ही दोषी ठहराकर) आपपर ही सारे पापों (दोषों) का भार डालकर (आपकी ही भाँति) पापके बदले पाप करनेकी इच्छा कर लें तो सारे कौरव असमयमें ही नष्ट हो जायँ और संसारमें केवल आपकी निन्दा फैल जाय॥ २२॥

किमन्यत्र विषयादीश्वराणां
यत्र पार्थः परलोकं स द्रष्टुम्।
अत्यक्रामत् स तथा सम्मतः स्या-
न्न संशयो नास्ति मनुष्यकारः॥ २३॥

ऐसी कौन-सी वस्तु है, जो लोकपालोंके अधिकारसे बाहर हो? तभी तो अर्जुन (इन्द्रकील पर्वतपर लोकपालोंसे मिलकर

एवं उनसे अस्त्र प्राप्त करके भू और भुवर्लोकको लाँघकर) स्वर्गलोकको देखनेके लिये गये थे। इस प्रकार लोकपालोंद्वारा सम्मानित होनेपर भी यदि उन्हें कष्ट भोगना पड़ता है तो निःसंदेह यह कहा जा सकता है कि दैवबलके सामने मनुष्यका पुरुषार्थ कुछ भी नहीं है ॥ २३ ॥

एतान् गुणान् कर्मकृतानवेक्ष्य
भावाभावौ वर्तमानावनित्यौ।
बलिर्हि राजा पारमविन्दमानो
नान्यत् कालात् कारणं तत्र मेने॥ २४ ॥

ये शौर्य, विद्या आदि गुण अपने पूर्वकर्मके अनुसार ही प्राप्त होते हैं और प्राणियोंकी वर्तमान उन्नति तथा अवनति भी अनित्य हैं। यह सब सोचकर राजा बलिने जब इसका पार नहीं पाया, तब यही निश्चय किया कि इस विषयमें काल (दैव) के सिवा और कोई कारण नहीं है ॥ २४ ॥

चक्षुः श्रोत्रे नासिका त्वक् च जिह्वा
ज्ञानस्यैतान्यायतनानि जन्तोः।
तानि प्रीतान्येव तृष्णाक्षयान्ते
तान्यव्यथो दुःखहीनः प्रणुद्यात्॥ २५ ॥

आँख, कान, नाक, त्वचा तथा जिह्वा—ये पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ समस्त प्राणियोंके रूप आदि विषयोंके ज्ञानके स्थान (कारण) हैं। तृष्णाका अन्त होनेके पश्चात् ये सदा प्रसन्न ही रहती हैं। अतः मनुष्यको चाहिये कि वह व्यथा और दुःखसे रहित हो तृष्णाकी निवृत्तिके लिये उन इन्द्रियोंको अपने वशमें करे ॥ २५ ॥

न त्वेव मन्ये पुरुषस्य कर्म
संवर्तते सुप्रयुक्तं यथावत्।
मातुः पितुः कर्मणाभिप्रसूतः
संवर्धते विधिवद् भोजनेन ॥ २६ ॥

कहते हैं, केवल पुरुषार्थका अच्छे ढंगसे प्रयोग होनेपर भी वह उत्तम फल देनेवाला होता है, जैसे माता-पिताके प्रयत्नसे उत्पन्न हुआ पुत्र विधिपूर्वक भोजनादिद्वारा वृद्धिको प्राप्त होता है; परंतु मैं इस मान्यतापर विश्वास नहीं करता (क्योंकि इस विषयमें दैव ही प्रधान है) ॥ २६ ॥

प्रियाप्रिये सुखदुःखे च राजन्
निन्दाप्रशंसे च भजन्त एव।
परस्त्वेनं गर्हयतेऽपराधे
प्रशंसते साधुवृत्तं तमेव ॥ २७ ॥

राजन् ! इस जगत्में प्रिय-अप्रिय, सुख-दुःख, निन्दा-प्रशंसा—ये मनुष्यको प्राप्त होते ही रहते हैं। इसीलिये लोग अपराध करनेपर अपराधीकी निन्दा करते हैं और जिसका बर्ताव उत्तम होता है, उस साधु पुरुषकी ही प्रशंसा करते हैं ॥ २७ ॥

स त्वां गर्हे भारतानां विरोधा-
दन्तो नूनं भवितायं प्रजानाम्।
नो चेदिदं तव कर्मापराधात्
कुरून् दहेत् कृष्णवर्त्मेव कक्षम्॥ २८ ॥

अतः आप जो भरतवंशमें विरोध फैलाते हैं, इसके कारण मैं तो आपकी निन्दा करता हूँ; क्योंकि इस कौरव-पाण्डव-विरोधसे निश्चय ही समस्त प्रजाओंका विनाश होगा। यदि आप मेरे कथनानुसार कार्य नहीं करेंगे तो आपके अपराधसे अर्जुन समस्त कौरववंशको उसी प्रकार दग्ध कर डालेंगे, जैसे आग घास-फूसके समूहको जला देती है ॥ २८ ॥

त्वमेवैको जातु पुत्रस्य राजन्
वशं गत्वा सर्वलोके नरेन्द्र।
कामात्मनः श्लाघनो द्यूतकाले
नागाः शमं पश्य विपाकमस्य ॥ २९ ॥

राजन् ! महाराज ! समस्त संसारमें एकमात्र आप ही अपने स्वेच्छाचारी पुत्रकी प्रशंसा करते हुए उसके अधीन होकर द्यूतक्रीड़ाके समय जो उसकी प्रशंसा करते थे तथा (राज्यका लोभ छोड़कर) शान्त न हो सके, उसका अब यह भयंकर परिणाम अपनी आँखों देख लीजिये ॥ २९ ॥

अनाप्तानां संग्रहात् त्वं नरेन्द्र
तथाऽऽप्तानां निग्रहाच्चैव राजन्।
भूमिं स्फीतां दुर्बलत्वादनन्ता-
मशक्तस्त्वं रक्षितुं कौरवेय ॥ ३० ॥

नरेन्द्र ! आपने ऐसे लोगों (शकुनि-कर्ण आदि) को इकट्ठा कर लिया है, जो विश्वासके योग्य नहीं हैं तथा विश्वसनीय पुरुषों (पाण्डवों) को आपने दण्ड दिया है, अतः कुरुकुल-नन्दन ! अपनी इस (मानसिक) दुर्बलताके कारण आप अनन्त एवं समृद्धिशालिनी पृथिवीकी रक्षा करनेमें कभी समर्थ नहीं हो सकते ॥ ३० ॥

अनुज्ञातो रथवेगावधूतः
श्रान्तोऽभिपद्ये शयनं नृसिंह।
प्रातः श्रोतारः कुरवः सभाया-
मजातशत्रोर्वचनं समेताः ॥ ३१ ॥

नरश्रेष्ठ ! इस समय रथके वेगसे हिलने-डुलनेके कारण मैं थक गया हूँ, यदि आज्ञा हो तो सोनेके लिये जाऊँ। प्रातःकाल जब सभी कौरव सभामें एकत्र होंगे, उस समय वे अजातशत्रु युधिष्ठिरके वचन सुनेंगे ॥ ३१ ॥

धृतराष्ट्र उवाच

अनुज्ञातोऽस्यावसथं परेहि
प्रपद्यस्व शयनं सूतपुत्र।
प्रातः श्रोतारः कुरवः सभाया-
मजातशत्रोर्वचनं त्वयोक्तम्॥ ३२॥

धृतराष्ट्रने कहा—सूतपुत्र! मैं आज्ञा देता हूँ, तुम अपने घर जाओ और शयन करो। सबेरे सब कौरव सभामें एकत्र हो तुम्हारे मुखसे अजातशत्रु युधिष्ठिरके संदेशको सुनेंगे॥ ३२॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि संजययानपर्वणि धृतराष्ट्रसंजयसंवादे द्वात्रिंशोऽध्यायः॥ ३२॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत संजययानपर्वमें धृतराष्ट्रसंजयसंवादविषयक बत्तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ ३२॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ७½ श्लोक मिलाकर कुल ३९½ श्लोक हैं)

(प्रजागरपर्व)

त्रयस्त्रिंशोऽध्यायः*

धृतराष्ट्र-विदुर-संवाद

वैशम्पायन उवाच

द्वाःस्थं प्राह महाप्राज्ञो धृतराष्ट्रो महीपतिः।
विदुरं द्रष्टुमिच्छामि तमिहानय मा चिरम्॥ १॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! [संजयके चले जानेपर] महाबुद्धिमान् राजा धृतराष्ट्रने द्वारपालसे कहा—'मैं विदुरसे मिलना चाहता हूँ। उन्हें यहाँ शीघ्र बुला लाओ'॥ १॥

प्रहितो धृतराष्ट्रेण दूतः क्षत्तारमब्रवीत्।
ईश्वरस्त्वां महाराजो महाप्राज्ञ दिदृक्षति॥ २॥

धृतराष्ट्रका भेजा हुआ वह दूत जाकर विदुरसे बोला—'महामते! हमारे स्वामी महाराज धृतराष्ट्र आपसे मिलना चाहते हैं'॥ २॥

एवमुक्तस्तु विदुरः प्राप्य राजनिवेशनम्।
अब्रवीद् धृतराष्ट्राय द्वाःस्थ मां प्रतिवेदय॥ ३॥

उसके ऐसा कहनेपर विदुरजी राजमहलके पास जाकर बोले—'द्वारपाल! धृतराष्ट्रको मेरे आनेकी सूचना दे दो'॥

द्वाःस्थ उवाच

विदुरोऽयमनुप्राप्तो राजेन्द्र तव शासनात्।
द्रष्टुमिच्छति ते पादौ किं करोतु प्रशाधि माम्॥ ४॥

द्वारपालने जाकर कहा—महाराज! आपकी आज्ञासे विदुरजी यहाँ आ पहुँचे हैं, वे आपके चरणोंका दर्शन करना चाहते हैं। मुझे आज्ञा दीजिये, उन्हें क्या कार्य बताया जाय?॥ ४॥

धृतराष्ट्र उवाच

प्रवेशय महाप्राज्ञं विदुरं दीर्घदर्शिनम्।
अहं हि विदुरस्यास्य नाकल्पो जातु दर्शने॥ ५॥

धृतराष्ट्रने कहा—महाबुद्धिमान् दूरदर्शी विदुरको भीतर ले आओ, मुझे इस विदुरसे मिलनेमें कभी भी अड़चन नहीं है॥ ५॥

द्वाःस्थ उवाच

प्रविशान्तःपुरं क्षत्तर्महाराजस्य धीमतः।
नहि ते दर्शनेऽकल्पो जातु राजाब्रवीद्धि माम्॥ ६॥

द्वारपाल विदुरके पास आकर बोला—विदुरजी! आप बुद्धिमान् महाराज धृतराष्ट्रके अन्तःपुरमें प्रवेश कीजिये। महाराजने मुझसे कहा है कि मुझे विदुरसे मिलनेमें कभी अड़चन नहीं है॥ ६॥

वैशम्पायन उवाच

ततः प्रविश्य विदुरो धृतराष्ट्रनिवेशनम्।
अब्रवीत् प्राञ्जलिर्वाक्यं चिन्तयानं नराधिपम्॥ ७॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! तदनन्तर विदुर धृतराष्ट्रके महलके भीतर जाकर चिन्तामें पड़े हुए राजासे हाथ जोड़कर बोले—॥ ७॥

विदुरोऽहं महाप्राज्ञ सम्प्राप्तस्तव शासनात्।
यदि किंचन कर्तव्यमयमस्मि प्रशाधि माम्॥ ८॥

'महाप्राज्ञ! मैं विदुर हूँ, आपकी आज्ञासे यहाँ आया हूँ। यदि मेरे करने योग्य कुछ काम हो तो मैं उपस्थित हूँ, मुझे आज्ञा कीजिये'॥ ८॥

धृतराष्ट्र उवाच

संजयो विदुर प्राज्ञो गर्हयित्वा च मां गतः।
अजातशत्रोः श्वो वाक्यं सभामध्ये स वक्ष्यति॥ ९॥

धृतराष्ट्रने कहा—विदुर! बुद्धिमान् संजय आया था, वह मुझे बुरा-भला कहकर चला गया है। कल सभामें वह अजातशत्रु युधिष्ठिरके वचन सुनायेगा॥ ९॥

* इस ३३ वें अध्यायसे प्रारम्भ होकर ४० वें अध्यायतक 'विदुरनीति' है।



विदुर और धृतराष्ट्र

तस्याद्य कुरुवीरस्य न विज्ञातं वचो मया ।
तन्मे दहति गात्राणि तदकार्षीत् प्रजागरम् ॥ १० ॥

आज मैं उस कुरुवीर युधिष्ठिरकी बात न जान सका—यही मेरे अङ्गोंको जला रहा है और इसीने मुझे अबतक जगा रक्खा है ॥ १० ॥

जाग्रतो दह्यमानस्य श्रेयो यदनुपश्यसि ।
तद् ब्रूहि त्वं हि नस्तात धर्मार्थकुशलो ह्यसि ॥ ११ ॥

तात ! मैं चिन्तासे जलता हुआ अभीतक जग रहा हूँ । मेरे लिये जो कल्याणकी बात समझो, वह कहो; क्योंकि हमलोगोंमें तुम्हीं धर्म और अर्थके ज्ञानमें निपुण हो ॥ ११ ॥

यतः प्राप्तः संजयः पाण्डवेभ्यो
न मे यथावन्मनसः प्रशान्तिः ।
सर्वेन्द्रियाण्यप्रकृतिं गतानि
किं वक्ष्यतीत्येव मेऽद्य प्रचिन्ता ॥ १२ ॥

संजय जबसे पाण्डवोंके यहाँसे लौटकर आया है, तबसे मेरे मनको पूर्ण शान्ति नहीं मिलती । सभी इन्द्रियाँ विकल हो रही हैं। कल वह क्या कहेगा, इसी बातकी मुझे इस समय बड़ी भारी चिन्ता हो रही है ॥ १२ ॥

विदुर उवाच

अभियुक्तं बलवता दुर्बलं हीनसाधनम् ।
हृतस्वं कामिनं चोरमाविशन्ति प्रजागराः ॥ १३ ॥

विदुरजी बोले—राजन् ! जिसका बलवान्‌के साथ विरोध हो गया है, उस साधनहीन दुर्बल मनुष्यको, जिसका सब कुछ हर लिया गया है, उसको, कामीको तथा चोरको रातमें नींद नहीं आती ॥ १३ ॥

कच्चिदेतैर्महादोषैर्न स्पृष्टोऽसि नराधिप ।
कच्चिच्च परवित्तेषु गृध्यन् न परितप्यसे ॥ १४ ॥

नरेन्द्र ! कहीं आपका भी इन महान् दोषोंसे सम्पर्क तो नहीं हो गया है ? कहीं पराये धनके लोभसे तो आप कष्ट नहीं पा रहे हैं ? ॥ १४ ॥

धृतराष्ट्र उवाच

श्रोतुमिच्छामि ते धर्म्यं परं नैःश्रेयसं वचः ।
अस्मिन् राजर्षिवंशे हि त्वमेकः प्राज्ञसम्मतः ॥ १५ ॥

धृतराष्ट्रने कहा—विदुर ! मैं तुम्हारे धर्मयुक्त तथा कल्याण करनेवाले सुन्दर वचन सुनना चाहता हूँ; क्योंकि इस राजर्षिवंशमें केवल तुम्हीं विद्वानोंके भी माननीय हो ॥ १५ ॥

विदुर उवाच

(राजा लक्षणसम्पन्नस्त्रैलोक्यस्याधिपो भवेत् ।
प्रेष्यस्ते प्रेषितश्चैव धृतराष्ट्र युधिष्ठिरः ॥

विदुरजी बोले—महाराज धृतराष्ट्र ! श्रेष्ठ लक्षणोंसे



सम्पन्न राजा युधिष्ठिर तीनों लोकोंके स्वामी हो सकते हैं। वे आपके आज्ञाकारी थे, पर आपने उन्हें वनमें भेज दिया ॥

विपरीततरश्च त्वं भागधेये न सम्मतः ।
अर्चिषां प्रक्षयाच्चैव धर्मात्मा धर्मकोविदः ॥

आप धर्मात्मा और धर्मके जानकर होते हुए भी आँखोंकी ज्योतिसे हीन होनेके कारण उन्हें पहचान न सके, इसीसे उनके अत्यन्त विपरीत हो गये और उन्हें राज्यका भाग देनेमें आपकी सम्मति नहीं हुई ॥

आनृशंस्यादनुक्रोशाद् धर्मात् सत्यात् पराक्रमात् ।
गुरुत्वात् त्वयि सम्प्रेक्ष्य बहून् क्लेशांस्तितिक्षते ॥

युधिष्ठिरमें क्रूरताका अभाव, दया, धर्म, सत्य तथा पराक्रम है; वे आपमें पूज्यबुद्धि रखते हैं । इन्हीं सद्गुणोंके कारण वे सोच-विचारकर चुपचाप बहुत-से क्लेश सह रहे हैं ॥

दुर्योधने सौबले च कर्णे दुःशासने तथा ।
एतेष्वैश्वर्यमाधाय कथं त्वं भूतिमिच्छसि ॥

आप दुर्योधन, शकुनि, कर्ण तथा दुःशासन-जैसे अयोग्य व्यक्तियोंपर राज्यका भार रखकर कैसे कल्याण चाहते हैं ? ॥

आत्मज्ञानं समारम्भस्तितिक्षा धर्मनित्यता ।
यमर्थान्नापकर्षन्ति स वै पण्डित उच्यते ॥)

अपने वास्तविक स्वरूपका ज्ञान, उद्योग, दुःख सहनेकी शक्ति और धर्ममें स्थिरता—ये गुण जिस मनुष्यको पुरुषार्थसे च्युत नहीं करते, वही पण्डित कहलाता है ॥

निषेवते प्रशस्तानि निन्दितानि न सेवते ।
अनास्तिकः श्रद्दधान एतत् पण्डितलक्षणम् ॥ १६ ॥

जो अच्छे कर्मोंका सेवन करता और बुरे कर्मोंसे दूर रहता है, साथ ही जो आस्तिक और श्रद्धालु है, उसके वे सद्गुण पण्डित होनेके लक्षण हैं ॥ १६ ॥

क्रोधो हर्षश्च दर्पश्च ह्रीः स्तम्भो मान्यमानिता ।
यमर्थान्नापकर्षन्ति स वै पण्डित उच्यते ॥ १७ ॥

क्रोध, हर्ष, गर्व, लज्जा, उद्दण्डता तथा अपनेको पूज्य समझना—ये भाव जिसको पुरुषार्थसे भ्रष्ट नहीं करते, वही पण्डित कहलाता है ॥ १७ ॥

यस्य कृत्यं न जानन्ति मन्त्रं वा मन्त्रितं परे ।
कृतमेवास्य जानन्ति स वै पण्डित उच्यते ॥ १८ ॥

दूसरे लोग जिसके कर्तव्य, सलाह और पहलेसे किये हुए विचारको नहीं जानते, बल्कि काम पूरा होनेपर ही जानते हैं, वही पण्डित कहलाता है ॥ १८ ॥

यस्य कृत्यं न विघ्नन्ति शीतमुष्णं भयं रतिः ।
समृद्धिरसमृद्धिर्वा स वै पण्डित उच्यते ॥ १९ ॥

सर्दी-गरमी, भय-अनुराग, सम्पत्ति अथवा दरिद्रता—ये जिसके कार्यमें विघ्न नहीं डालते, वही पण्डित कहलाता है ॥ १९ ॥

यस्य संसारिणी प्रज्ञा धर्मार्थावनुवर्तते ।
कामादर्थं वृणीते यः स वै पण्डित उच्यते ॥ २० ॥

जिसकी लौकिक बुद्धि धर्म और अर्थका ही अनुसरण करती है और जो भोगको छोड़कर पुरुषार्थका ही वरण करता है, वही पण्डित कहलाता है ॥ २० ॥

यथाशक्ति चिकीर्षन्ति यथाशक्ति च कुर्वते ।
न किंचिदवमन्यन्ते नराः पण्डितबुद्धयः ॥ २१ ॥

विवेकपूर्ण बुद्धिवाले पुरुष शक्तिके अनुसार काम करनेकी इच्छा रखते हैं और करते भी हैं तथा किसी वस्तुको तुच्छ समझकर उसकी अवहेलना नहीं करते ॥ २१ ॥

क्षिप्रं विजानाति चिरं शृणोति
विज्ञाय चार्थं भजते न कामात् ।
नासम्पृष्टो व्युपयुङ्क्ते परार्थे
तत् प्रज्ञानं प्रथमं पण्डितस्य ॥ २२ ॥

विद्वान् पुरुष किसी विषयको देरतक सुनता है; किंतु शीघ्र ही समझ लेता है, समझकर कर्तव्यबुद्धिसे पुरुषार्थमें प्रवृत्त होता है—कामनासे नहीं, बिना पूछे दूसरेके विषयमें व्यर्थ कोई बात नहीं कहता है । उसका यह स्वभाव पण्डितकी मुख्य पहचान है ॥ २२ ॥

नाप्राप्यमभिवाञ्छन्ति नष्टं नेच्छन्ति शोचितुम् ।
आपत्सु च न मुह्यन्ति नराः पण्डितबुद्धयः ॥ २३ ॥

पण्डितोंकी-सी बुद्धि रखनेवाले मनुष्य दुर्लभ वस्तुकी कामना नहीं करते, खोयी हुई वस्तुके विषयमें शोक करना नहीं चाहते और विपत्तिमें पड़कर घबराते नहीं हैं ॥ २३ ॥

निश्चित्य यः प्रक्रमते नान्तर्वसति कर्मणः ।
अवन्ध्यकालो वश्यात्मा स वै पण्डित उच्यते ॥ २४ ॥

जो पहले निश्चय करके फिर कार्यका आरम्भ करता है, कार्यके बीचमें नहीं रुकता, समयको व्यर्थ नहीं जाने देता और चित्तको वशमें रखता है, वही पण्डित कहलाता है ॥

आर्यकर्मणि रज्यन्ते भूतिकर्माणि कुर्वते ।
हितं च नाभ्यसूयन्ति पण्डिता भरतर्षभ ॥ २५ ॥

भरतकुलभूषण ! पण्डितजन श्रेष्ठ कर्मोंमें रुचि रखते हैं, उन्नतिके कार्य करते हैं तथा भलाई करनेवालोंमें दोष नहीं निकालते ॥ २५ ॥

न हृष्यत्यात्मसम्माने नावमानेन तृप्यते ।
गाङ्गो ह्रद इवाक्षोभ्यो यः स पण्डित उच्यते ॥ २६ ॥

जो अपना आदर होनेपर हर्षके मारे फूल नहीं उठता, अनादरसे संतप्त नहीं होता तथा गङ्गाजीके ह्रद (गहरे गर्त) के समान जिसके चित्तको क्षोभ नहीं होता, वही पण्डित कहलाता है ॥ २६ ॥

तत्त्वज्ञः सर्वभूतानां योगज्ञः सर्वकर्मणाम् ।
उपायज्ञो मनुष्याणां नरः पण्डित उच्यते ॥ २७ ॥

जो सम्पूर्ण भौतिक पदार्थोंकी असलियतका ज्ञान रखनेवाला, सब कार्योंके करनेका ढंग जाननेवाला तथा मनुष्योंमें सबसे बढ़कर उपायका जानकार है, वह मनुष्य पण्डित कहलाता है ॥ २७ ॥

प्रवृत्तवाक् चित्रकथ ऊहवान् प्रतिभानवान् ।
आशु ग्रन्थस्य वक्ता च यः स पण्डित उच्यते ॥ २८ ॥

जिसकी वाणी कहीं रुकती नहीं, जो विचित्र ढंगसे बातचीत करता है, तर्कमें निपुण और प्रतिभाशाली है तथा जो ग्रन्थके तात्पर्यको शीघ्र बता सकता है, वह पण्डित कहलाता है ॥ २८ ॥

श्रुतं प्रज्ञानुगं यस्य प्रज्ञा चैव श्रुतानुगा ।
असम्भिन्नार्यमर्यादः पण्डिताख्यां लभेत सः ॥ २९ ॥

जिसकी विद्या बुद्धिका अनुसरण करती है और बुद्धि विद्याका तथा जो शिष्ट पुरुषोंकी मर्यादाका उल्लङ्घन नहीं करता, वही पण्डितकी संज्ञा पा सकता है ॥ २९ ॥

अश्रुतश्च समुन्नद्धो दरिद्रश्च महामनाः ।
अर्थांश्चाकर्मणा प्रेप्सुर्मूढ इत्युच्यते बुधैः ॥ ३० ॥

बिना पढ़े ही गर्व करनेवाले, दरिद्र होकर भी बड़े-बड़े मनोरथ करनेवाले और बिना काम किये ही धन पानेकी इच्छा रखनेवाले मनुष्यको पण्डितलोग मूर्ख कहते हैं ॥ ३० ॥

स्वमर्थं यः परित्यज्य परार्थमनुतिष्ठति ।
मिथ्या चरति मित्रार्थे यश्च मूढः स उच्यते ॥ ३१ ॥

जो अपना कर्तव्य छोड़कर दूसरेके कर्तव्यका पालन करता है तथा मित्रके साथ असत् आचरण करता है, वह मूर्ख कहलाता है ॥ ३१ ॥

अकामान् कामयति यः कामयानान् परित्यजेत् ।
बलवन्तं च यो द्वेष्टि तमाहुर्मूढचेतसम् ॥ ३२ ॥

जो न चाहनेवालोंको चाहता है और चाहनेवालोंको त्याग देता है तथा जो अपनेसे बलवान्के साथ वैर बाँधता है, उसे मूढ़ विचारका मनुष्य कहते हैं ॥ ३२ ॥

अमित्रं कुरुते मित्रं मित्रं द्वेष्टि हिनस्ति च ।
कर्म चारभते दुष्टं तमाहुर्मूढचेतसम् ॥ ३३ ॥

जो शत्रुको मित्र बनाता और मित्रसे द्वेष करते हुए उसे कष्ट पहुँचाता है तथा सदा बुरे कर्मोंका आरम्भ किया करता है, उसे मूढ़ चित्तवाला कहते हैं ॥ ३३ ॥

संसारयति कृत्यानि सर्वत्र विचिकित्सते ।
चिरं करोति क्षिप्रार्थे स मूढो भरतर्षभ ॥ ३४ ॥

भरतश्रेष्ठ! जो अपने कामोंको व्यर्थ ही फैलाता है, सर्वत्र संदेह करता है तथा शीघ्र होनेवाले काममें भी देर लगाता है, वह मूढ़ है ॥ ३४ ॥

श्राद्धं पितृभ्यो न ददाति दैवतानि न चार्चति ।
सुहृन्मित्रं न लभते तमाहुर्मूढचेतसम् ॥ ३५ ॥

जो पितरोंका श्राद्ध और देवताओंका पूजन नहीं करता तथा जिसे सुहृद् मित्र नहीं मिलता, उसे मूढ चित्तवाला कहते हैं ॥ ३५ ॥

अनाहूतः प्रविशति अपृष्टो बहु भाषते ।
अविश्वस्ते विश्वसिति मूढचेता नराधमः ॥ ३६ ॥

मूढ़ चित्तवाला अधम मनुष्य बिना बुलाये ही भीतर चला आता है, बिना पूछे ही बहुत बोलता है तथा अविश्वसनीय मनुष्यपर भी विश्वास करता है ॥ ३६ ॥

परं क्षिपति दोषेण वर्तमानः स्वयं तथा ।
यश्च क्रुध्यत्यनीशानः स च मूढतमो नरः ॥ ३७ ॥

स्वयं दोषयुक्त बर्ताव करते हुए भी जो दूसरेपर उसके दोष बताकर आक्षेप करता है तथा जो असमर्थ होते हुए भी व्यर्थका क्रोध करता है, वह मनुष्य महामूर्ख है ॥ ३७ ॥

आत्मनो बलमज्ञाय धर्मार्थपरिवर्जितम् ।
अलभ्यमिच्छन् नैष्कर्म्यान्मूढबुद्धिरिहोच्यते ॥ ३८ ॥

जो अपने बलको न समझकर बिना काम किये ही धर्म और अर्थसे विरुद्ध तथा न पाने योग्य वस्तुकी इच्छा करता है, वह पुरुष इस संसारमें मूढ़बुद्धि कहलाता है ॥ ३८ ॥

अशिष्यं शास्ति यो राजन् यश्च शून्यमुपासते ।
कदर्यं भजते यश्च तमाहुर्मूढचेतसम् ॥ ३९ ॥

राजन्! जो अनधिकारीको उपदेश देता और शून्यकी उपासना करता है तथा जो कृपणका आश्रय लेता है, उसे मूढ चित्तवाला कहते हैं ॥ ३९ ॥

अर्थं महान्तमासाद्य विद्यामैश्वर्यमेव वा ।
विचरत्यसमुन्नद्धो यः स पण्डित उच्यते ॥ ४० ॥

जो बहुत धन, विद्या तथा ऐश्वर्यको पाकर भी उद्दण्डतापूर्वक नहीं चलता, वह पण्डित कहलाता है ॥ ४० ॥

एकः सम्पन्नमश्नाति वस्ते वासश्च शोभनम् ।
योऽसंविभज्य भृत्येभ्यः को नृशंसतरस्ततः ॥ ४१ ॥

जो अपनेद्वारा भरण-पोषणके योग्य व्यक्तियोंको बाँटे बिना अकेले ही उत्तम भोजन करता और अच्छा वस्त्र पहनता है, उससे बढ़कर क्रूर कौन होगा? ॥ ४१ ॥

एकः पापानि कुरुते फलं भुङ्क्ते महाजनः ।
भोक्तारो विप्रमुच्यन्ते कर्ता दोषेण लिप्यते ॥ ४२ ॥

मनुष्य अकेला पाप कर (के धन कमा) ता है और (उस धनका) उपभोग बहुत-से लोग करते हैं। उपभोग करनेवाले तो दोषसे छूट जाते हैं, पर उसका कर्ता दोषका भागी होता है ॥ ४२ ॥

एकं हन्यान्न वा हन्यादिषुर्मुक्तो धनुष्मता ।
बुद्धिर्बुद्धिमतोत्सृष्टा हन्याद् राष्ट्रं सराजकम् ॥ ४३ ॥

किसी धनुर्धर वीरके द्वारा छोड़ा हुआ बाण सम्भव है, एकको भी मारे या न मारे। परन्तु बुद्धिमान्‌द्वारा प्रयुक्त की हुई बुद्धि राजाके साथ-साथ सम्पूर्ण राष्ट्रका विनाश कर सकती है ॥ ४३ ॥

एकया द्वे विनिश्चित्य त्रींश्चतुर्भिर्वशे कुरु ।
पञ्च जित्वा विदित्वा षट् सप्त हित्वा सुखी भव ॥ ४४ ॥

एक (बुद्धि) से दो (कर्तव्य और अकर्तव्य) का निश्चय करके चार (साम, दान, भेद, दण्ड) से तीन (शत्रु, मित्र तथा उदासीन) को वशमें कीजिये। पाँच (इन्द्रियों) को जीतकर छः (सन्धि, विग्रह, यान, आसन, द्वैधीभाव और समाश्रयरूप) गुणोंको जानकर तथा सात (स्त्री, जूआ, मृगया, मद्य, कठोर वचन, दण्डकी कठोरता और अन्यायसे धनोपार्जन) को छोड़कर सुखी हो जाइये ॥ ४४ ॥

एकं विषरसो हन्ति शस्त्रेणैकश्च वध्यते ।
सराष्ट्रं सप्रजं हन्ति राजानं मन्त्रविप्लवः ॥ ४५ ॥

१. यहाँ 'उपास्ते'के स्थानपर 'उपासते' यह प्रयोग आर्ष समझना चाहिये।

विषका रस एक (पीनेवाले) को ही मारता है, शस्त्रसे एकका ही वध होता है; किंतु (गुप्त) मन्त्रणाका प्रकाशित होना राष्ट्र और प्रजाके साथ ही राजाका भी विनाश कर डालता है ॥ ४५ ॥

एकः स्वादु न भुञ्जीत एकश्चार्थान् न चिन्तयेत् ।
एको न गच्छेदध्वानं नैकः सुप्तेषु जागृयात् ॥ ४६ ॥

अकेले स्वादिष्ट भोजन न करे, अकेला किसी विषयका निश्चय न करे, अकेला रास्ता न चले और बहुत-से लोग सोये हों तो उनमें अकेला न जागता रहे ॥ ४६ ॥

एकमेवाद्वितीयं तद् यद् राजन् नावबुध्यसे ।
सत्यं स्वर्गस्य सोपानं पारावारस्य नौरिव ॥ ४७ ॥

राजन्! जैसे समुद्रके पार जानेके लिये नाव ही एकमात्र साधन है, उसी प्रकार स्वर्गके लिये सत्य ही एकमात्र सोपान है, दूसरा नहीं; किंतु आप इसे नहीं समझ रहे हैं ॥ ४७ ॥

एकः क्षमावतां दोषो द्वितीयो नोपपद्यते ।
यदेनं क्षमया युक्तमशक्तं मन्यते जनः ॥ ४८ ॥

क्षमाशील पुरुषोंमें एक ही दोषका आरोप होता है, दूसरेकी तो सम्भावना ही नहीं है। वह दोष यह है कि क्षमाशील मनुष्यको लोग असमर्थ समझ लेते हैं ॥ ४८ ॥

सोऽस्य दोषो न मन्तव्यः क्षमा हि परमं बलम् ।
क्षमा गुणो ह्यशक्तानां शक्तानां भूषणं क्षमा ॥ ४९ ॥

किंतु क्षमाशील पुरुषका वह दोष नहीं मानना चाहिये; क्योंकि क्षमा बहुत बड़ा बल है । क्षमा असमर्थ मनुष्योंका गुण तथा समर्थोंका भूषण है ॥ ४९ ॥

क्षमा वशीकृतिर्लोके क्षमया किं न साध्यते ।
शान्तिखड्गः करे यस्य किं करिष्यति दुर्जनः ॥ ५० ॥

इस जगत्में क्षमा वशीकरणरूप है । भला, क्षमासे क्या नहीं सिद्ध होता ? जिसके हाथमें शान्तिरूपी तलवार है, उसका दुष्ट पुरुष क्या कर लेंगे ? ॥ ५० ॥

अतृणे पतितो वह्निः स्वयमेवोपशाम्यति ।
अक्षमावान् परं दोषैरात्मानं चैव योजयेत् ॥ ५१ ॥

तृणरहित स्थानमें गिरी हुई आग अपने-आप बुझ जाती है । क्षमाहीन पुरुष अपनेको तथा दूसरेको भी दोषका भागी बना लेता है ॥ ५१ ॥

एको धर्मः परं श्रेयः क्षमैका शान्तिरुत्तमा ।
विद्यैका परमा तृप्तिरहिंसैका सुखावहा ॥ ५२ ॥

केवल धर्म ही परम कल्याणकारक है, एकमात्र क्षमा ही शान्तिका सर्वश्रेष्ठ उपाय है । एक विद्या ही परम संतोष देनेवाली है और एकमात्र अहिंसा ही सुख देनेवाली है ॥ ५२ ॥

(पृथिव्यां सागरान्तायां द्वाविमौ पुरुषाधमौ ।
गृहस्थश्च निरारम्भः सारम्भश्चैव भिक्षुकः ॥)

समुद्रपर्यन्त इस सारी पृथ्वीमें ये दो प्रकारके अधम पुरुष हैं—अकर्मण्य गृहस्थ और कर्मोंमें लगा हुआ संन्यासी ॥

द्वाविमौ ग्रसते भूमिः सर्पो बिलशयानिव ।
राजानं चाविरोद्धारं ब्राह्मणं चाप्रवासिनम् ॥ ५३ ॥

बिलमें रहनेवाले जीवोंको जैसे साँप खा जाता है, उसी प्रकार यह पृथ्वी शत्रुसे विरोध न करनेवाले राजा और परदेश सेवन न करनेवाले ब्राह्मण—इन दोनोंको खा जाती है ॥ ५३ ॥

द्वे कर्मणी नरः कुर्वन्नस्मिँल्लोके विरोचते ।
अब्रुवन् परुषं किंचिदसतोऽनर्चयंस्तथा ॥ ५४ ॥

जरा भी कठोर न बोलना और दुष्ट पुरुषोंका आदर न करना—इन दो कर्मोंको करनेवाला मनुष्य इस लोकमें विशेष शोभा पाता है ॥ ५४ ॥

द्वाविमौ पुरुषव्याघ्र परप्रत्ययकारिणौ ।
स्त्रियः कामितकामिन्यो लोकः पूजितपूजकः ॥ ५५ ॥

दूसरी स्त्रीद्वारा चाहे गये पुरुषकी कामना करनेवाली स्त्रियाँ तथा दूसरोंके द्वारा पूजित मनुष्यका आदर करनेवाले पुरुष—ये दो प्रकारके लोग दूसरोंपर विश्वास करके चलनेवाले होते हैं ॥ ५५ ॥

द्वाविमौ कण्टकौ तीक्ष्णौ शरीरपरिशोषिणौ ।
यश्चाधनः कामयते यश्च कुप्यत्यनीश्वरः ॥ ५६ ॥

जो निर्धन होकर भी बहुमूल्य वस्तुकी इच्छा रखता और असमर्थ होकर भी क्रोध करता है—ये दोनों ही अपने लिये तीक्ष्ण काँटोंके समान हैं एवं अपने शरीरको सुखानेवाले हैं ॥ ५६ ॥

द्वावेव न विराजेते विपरीतेन कर्मणा ।
गृहस्थश्च निरारम्भः कार्यवांश्चैव भिक्षुकः ॥ ५७ ॥

दो ही अपने विपरीत कर्मके कारण शोभा नहीं पाते—अकर्मण्य गृहस्थ और प्रपञ्चमें लगा हुआ संन्यासी ॥ ५७ ॥

द्वाविमौ पुरुषौ राजन् स्वर्गस्योपरि तिष्ठतः ।
प्रभुश्च क्षमया युक्तो दरिद्रश्च प्रदानवान् ॥ ५८ ॥

राजन् ! ये दो प्रकारके पुरुष स्वर्गके भी ऊपर स्थान पाते हैं—शक्तिशाली होनेपर भी क्षमा करनेवाला और निर्धन होनेपर भी दान देनेवाला ॥ ५८ ॥

न्यायागतस्य द्रव्यस्य बोद्धव्यौ द्वावतिक्रमौ ।
अपात्रे प्रतिपत्तिश्च पात्रे चाप्रतिपादनम् ॥ ५९ ॥

न्यायपूर्वक उपार्जित किये हुए धनके दो ही दुरुपयोग समझने चाहिये—अपात्रको देना और सत्पात्रको न देना ॥ ५९ ॥

द्वावम्भसि निवेष्टव्यौ गले बद्ध्वा दृढां शिलाम्।
धनवन्तमदातारं दरिद्रं चातपस्विनम् ॥ ६० ॥

जो धनी होनेपर भी दान न दे और दरिद्र होनेपर भी कष्ट सहन न कर सके—इन दो प्रकारके मनुष्योंको गलेमें मजबूत पत्थर बाँधकर पानीमें डुबा देना चाहिये ॥ ६० ॥

द्वाविमौ पुरुषव्याघ्र सूर्यमण्डलभेदिनौ।
परिव्राड् योगयुक्तश्च रणे चाभिमुखो हतः ॥ ६१ ॥

पुरुषश्रेष्ठ ! ये दो प्रकारके पुरुष सूर्यमण्डलको भेदकर ऊर्ध्वगतिको प्राप्त होते हैं—योगयुक्त संन्यासी और संग्राममें शत्रुओंके सम्मुख युद्ध करके मारा गया योद्धा ॥ ६१ ॥

त्रयो न्याया मनुष्याणां श्रूयन्ते भरतर्षभ।
कनीयान् मध्यमः श्रेष्ठ इति वेदविदो विदुः ॥ ६२ ॥

भरतश्रेष्ठ ! मनुष्योंकी कार्यसिद्धिके लिये उत्तम, मध्यम और अधम—ये तीन प्रकारके न्यायानुकूल उपाय सुने जाते हैं, ऐसा वेदवेत्ता विद्वान् जानते हैं ॥ ६२ ॥

त्रिविधाः पुरुषा राजन्नुत्तमाधममध्यमाः।
नियोजयेद् यथावत् तांस्त्रिविधेष्वेव कर्मसु ॥ ६३ ॥

राजन् ! उत्तम, मध्यम और अधम—ये तीन प्रकारके पुरुष होते हैं; इनको यथायोग्य तीन ही प्रकारके कर्मोंमें लगाना चाहिये ॥ ६३ ॥

त्रय एवाधुना राजन् भार्या दासस्तथा सुतः।
यत् ते समधिगच्छन्ति यस्य ते तस्य तद् धनम् ॥ ६४ ॥

राजन् ! तीन ही धनके अधिकारी नहीं माने जाते—स्त्री, पुत्र तथा दास । ये जो कुछ कमाते हैं, वह धन उसीका होता है, जिसके अधीन ये रहते हैं ॥ ६४ ॥

हरणं च परस्वानां परदाराभिमर्शनम्।
सुहृदश्च परित्यागस्त्रयो दोषाः क्षयावहाः ॥ ६५ ॥

दूसरेके धनका हरण, दूसरेकी स्त्रीका संसर्ग तथा सुहृद् मित्रका परित्याग—ये तीनों ही दोष (मनुष्यके आयु, धर्म तथा कीर्तिका) क्षय करनेवाले होते हैं ॥ ६५ ॥

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत् त्रयं त्यजेत् ॥ ६६ ॥

काम, क्रोध और लोभ—ये आत्माका नाश करनेवाले नरकके तीन दरवाजे हैं; अतः इन तीनोंको त्याग देना चाहिये ॥ ६६ ॥

वरप्रदानं राज्यं च पुत्रजन्म च भारत।
शत्रोश्च मोक्षणं कृच्छ्रात् त्रीणि चैकं च तत्समम् ॥ ६७ ॥

भारत ! वरदान पाना, राज्यकी प्राप्ति और पुत्रका जन्म—ये तीन एक ओर और शत्रुके कष्टसे छूटना—यह एक ओर; वे तीन और यह एक बराबर ही हैं ॥ ६७ ॥

भक्तं च भजमानं च तवास्मीति च वादिनम्।
त्रीनेतांश्छरणं प्राप्तान् विषमेऽपि न संत्यजेत् ॥ ६८ ॥

भक्त, सेवक तथा मैं आपका ही हूँ, ऐसा कहनेवाले—इन तीन प्रकारके शरणागत मनुष्योंको संकट पड़नेपर भी नहीं छोड़ना चाहिये ॥ ६८ ॥

चत्वारि राज्ञा तु महाबलेन
वर्ज्यान्याहुः पण्डितस्तानि विद्यात्।
अल्पप्रज्ञैः सह मन्त्रं न कुर्या-
न्न दीर्घसूत्रै रभसैश्चारणैश्च ॥ ६९ ॥

थोड़ी बुद्धिवाले, दीर्घसूत्री, जल्दबाज और स्तुति करनेवाले लोगोंके साथ गुप्त सलाह नहीं करनी चाहिये । ये चारों महाबली राजाके लिये त्यागने योग्य बताये गये हैं । विद्वान् पुरुष ऐसे लोगोंको पहचान ले ॥ ६९ ॥

चत्वारि ते तात गृहे वसन्तु
श्रियाभिजुष्टस्य गृहस्थधर्मे।
वृद्धो ज्ञातिरवसन्नः कुलीनः
सखा दरिद्रो भगिनी चानपत्या ॥ ७० ॥

तात ! गृहस्थधर्ममें स्थित आप लक्ष्मीवान्‌के घरमें चार प्रकारके मनुष्योंको सदा रहना चाहिये—अपने कुटुम्बका बूढ़ा, संकटमें पड़ा हुआ उच्च कुलका मनुष्य, धनहीन मित्र और बिना संतानकी बहिन ॥ ७० ॥

चत्वार्याह महाराज साद्यस्कानि बृहस्पतिः।
पृच्छते त्रिदशेन्द्राय तानीमानि निबोध मे ॥ ७१ ॥

महाराज ! इन्द्रके पूछनेपर उनसे बृहस्पतिजीने जिन चारोंको तत्काल फल देनेवाला बताया था, उन्हें आप मुझसे सुनिये— ॥ ७१ ॥

देवतानां च संकल्पमनुभावं च धीमताम्।
विनयं कृतविद्यानां विनाशं पापकर्मणाम् ॥ ७२ ॥

देवताओंका संकल्प, बुद्धिमानोंका प्रभाव, विद्वानोंकी नम्रता और पापियोंका विनाश ॥ ७२ ॥

चत्वारि कर्माण्यभयंकराणि
भयं प्रयच्छन्त्ययथाकृतानि।
मानाग्निहोत्रमुत मानमौनं
मानेनाधीतमुत मानयज्ञः ॥ ७३ ॥

चार कर्म भयको दूर करनेवाले हैं; किंतु वे ही यदि ठीक तरहसे सम्पादित न हों, तो भय प्रदान करते हैं । वे कर्म हैं—आदरके साथ अग्निहोत्र, आदरपूर्वक मौनका पालन, आदरपूर्वक स्वाध्याय और आदरके साथ यज्ञका अनुष्ठान ॥ ७३ ॥

पञ्चाग्नयो मनुष्येण परिचर्याः प्रयत्नतः ।
पिता माताग्निरात्मा च गुरुश्च भरतर्षभ ॥ ७४ ॥

भरतश्रेष्ठ ! पिता, माता, अग्नि, आत्मा और गुरु—मनुष्यको इन पाँच अग्नियोंकी बड़े यत्नसे सेवा करनी चाहिये ॥ ७४ ॥

पञ्चैव पूजयँल्लोके यशः प्राप्नोति केवलम् ।
देवान् पितॄन् मनुष्यांश्च भिक्षूनतिथिपञ्चमान् ॥ ७५ ॥

देवता, पितर, मनुष्य, संन्यासी और अतिथि—इन पाँचोंकी पूजा करनेवाला मनुष्य शुद्ध यश प्राप्त करता है ॥

पञ्च त्वानुगमिष्यन्ति यत्र यत्र गमिष्यसि ।
मित्राण्यमित्रा मध्यस्था उपजीव्योपजीविनः ॥ ७६ ॥

राजन् ! आप जहाँ-जहाँ जायँगे, वहाँ-वहाँ मित्र, शत्रु, उदासीन, आश्रय देनेवाले तथा आश्रय पानेवाले—ये पाँच आपके पीछे लगे रहेंगे ॥ ७६ ॥

पञ्चेन्द्रियस्य मर्त्यस्य छिद्रं चेदेकमिन्द्रियम् ।
ततोऽस्य स्रवति प्रज्ञा दृतेः पात्रादिवोदकम् ॥ ७७ ॥

पाँच ज्ञानेन्द्रियोंवाले पुरुषकी यदि एक भी इन्द्रिय छिद्र (दोष) युक्त हो जाय तो उससे उसकी बुद्धि इस प्रकार बाहर निकल जाती है, जैसे मशकके छेदसे पानी ॥ ७७ ॥

षड् दोषाः पुरुषेणेह हातव्या भूतिमिच्छता ।
निद्रा तन्द्रा भयं क्रोध आलस्यं दीर्घसूत्रता ॥ ७८ ॥

ऐश्वर्य या उन्नति चाहनेवाले पुरुषोंको नींद, तन्द्रा (ऊँघना), डर, क्रोध, आलस्य तथा दीर्घसूत्रता (जल्दी हो जानेवाले काममें अधिक देर लगानेकी आदत) इन छः दुर्गुणोंको त्याग देना चाहिये ॥ ७८ ॥

षडिमान् पुरुषो जह्याद् भिन्नां नावमिवार्णवे ।
अप्रवक्तारमाचार्यमनधीयानमृत्विजम् ॥ ७९ ॥
अरक्षितारं राजानं भार्यां चाप्रियवादिनीम् ।
ग्रामकामं च गोपालं वनकामं च नापितम् ॥ ८० ॥

उपदेश न देनेवाले आचार्य, मन्त्रोच्चारण न करनेवाले होता, रक्षा करनेमें असमर्थ राजा, कटु वचन बोलनेवाली स्त्री, ग्राममें रहनेकी इच्छावाले ग्वाले तथा वनमें रहनेकी इच्छावाले नाई—इन छःको उसी भाँति छोड़ दे, जैसे समुद्रकी सैर करनेवाला मनुष्य छिद्रयुक्त नावका परित्याग कर देता है ॥ ७९-८० ॥

षडेव तु गुणाः पुंसा न हातव्याः कदाचन ।
सत्यं दानमनालस्यमनसूया क्षमा धृतिः ॥ ८१ ॥

मनुष्यको कभी भी सत्य, दान, कर्मण्यता, अनसूया (गुणोंमें दोष दिखानेकी प्रवृत्तिका अभाव), क्षमा तथा धैर्य—इन छः गुणोंका त्याग नहीं करना चाहिये ॥ ८१ ॥

अर्थागमो नित्यमरोगिता च
प्रिया च भार्या प्रियवादिनी च ।
वश्यश्च पुत्रोऽर्थकरी च विद्या
षड् जीवलोकस्य सुखानि राजन् ॥ ८२ ॥

राजन् ! धनकी प्राप्ति, नित्य नीरोग रहना, स्त्रीका अनुकूल तथा प्रियवादिनी होना, पुत्रका आज्ञाके अंदर रहना तथा धन पैदा करानेवाली विद्याका ज्ञान—ये छः बातें इस मनुष्यलोकमें सुखदायिनी होती हैं ॥ ८२ ॥

षण्णामात्मनि नित्यानामैश्वर्यं योऽधिगच्छति ।
न स पापैः कुतोऽनर्थैर्युज्यते विजितेन्द्रियः ॥ ८३ ॥

मनमें नित्य रहनेवाले छः शत्रु—(काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद तथा मात्सर्य) को जो वशमें कर लेता है, वह जितेन्द्रिय पुरुष पापोंसे ही लिप्त नहीं होता, फिर उनसे उत्पन्न होनेवाले अनर्थोंसे युक्त होनेकी तो बात ही क्या है ? ॥ ८३ ॥

षडिमे षट्सु जीवन्ति सप्तमो नोपलभ्यते ।
चौराः प्रमत्ते जीवन्ति व्याधितेषु चिकित्सकाः ॥ ८४ ॥
प्रमदाः कामयानेषु यजमानेषु याजकाः ।
राजा विवदमानेषु नित्यं मूर्खेषु पण्डिताः ॥ ८५ ॥

निम्नाङ्कित छः प्रकारके मनुष्य छः प्रकारके लोगोंसे अपनी जीविका चलाते हैं, सातवेंकी उपलब्धि नहीं होती । चोर असावधान पुरुषसे, वैद्य रोगीसे, कामोन्मत्त स्त्रियाँ कामियोंसे, पुरोहित यजमानोंसे, राजा झगड़नेवालोंसे तथा विद्वान् पुरुष मूर्खोंसे अपनी जीविका चलाते हैं ॥ ८४-८५ ॥

षडिमानि विनश्यन्ति मुहूर्तमनवेक्षणात् ।
गावः सेवा कृषिर्भार्या विद्या वृषलसंगतिः ॥ ८६ ॥

मुहूर्तभर[1] भी देख-रेख न करनेसे गौ, सेवा, खेती, स्त्री, विद्या तथा शूद्रोंसे मेल—ये छः चीजें नष्ट हो जाती हैं ॥८६॥

षडेते ह्यवमन्यन्ते नित्यं पूर्वोपकारिणम् ।
आचार्यं शिक्षिताः शिष्याः कृतदाराश्च मातरम् ॥ ८७ ॥
नारीं विगतकामास्तु कृतार्थाश्च प्रयोजकम् ।
नावं निस्तीर्णकान्तारा आतुराश्च चिकित्सकम् ॥ ८८ ॥

ये छः प्रायः सदा अपने पूर्व उपकारीका सम्मान नहीं करते हैं—शिक्षा समाप्त हो जानेपर शिष्य आचार्यका, विवाहित बेटे माताका, कामवासनाकी शान्ति हो जानेपर पुरुष स्त्रीका, कृतकार्य मनुष्य सहायकका, नदीकी दुर्गम धारा पार कर लेनेवाले पुरुष नावका तथा रोगी पुरुष रोग छूटनेके बाद वैद्यका ॥ ८७-८८ ॥

---

१. 'मुहूर्त' शब्दका अर्थ दो घड़ी होता है । एक घड़ी २४ मिनटकी मानी जाती है ।

आरोग्यमानृण्यमविप्रवासः
सद्भिर्मनुष्यैः सह सम्प्रयोगः।
स्वप्रत्यया वृत्तिरभीतवासः
षड् जीवलोकस्य सुखानि राजन् ॥ ८९ ॥

राजन्! नीरोग रहना, ऋणी न होना, परदेशमें न रहना, अच्छे लोगोंके साथ मेल होना, अपनी वृत्तिसे जीविका चलाना और निर्भय होकर रहना—ये छः मनुष्यलोकके सुख हैं ॥ ८९ ॥

ईर्ष्यी घृणी नसंतुष्टः क्रोधनो नित्यशङ्कितः।
परभाग्योपजीवी च षडेते नित्यदुःखिताः ॥ ९० ॥

ईर्ष्या करनेवाला, घृणा करनेवाला, असंतोषी, क्रोधी, सदा शङ्कित रहनेवाला और दूसरेके भाग्यपर जीवन-निर्वाह करनेवाला—ये छः सदा दुखी रहते हैं ॥ ९० ॥

सप्त दोषाः सदा राज्ञा हातव्या व्यसनोदयाः।
प्रायशो यैर्विनश्यन्ति कृतमूला अपीश्वराः ॥ ९१ ॥
स्त्रियोऽक्षा मृगया पानं वाक्पारुष्यं च पञ्चमम्।
महच्च दण्डपारुष्यमर्थदूषणमेव च ॥ ९२ ॥

स्त्रीविषयक आसक्ति, जूआ, शिकार, मद्यपान, वचनकी कठोरता, अत्यन्त कठोर दण्ड देना और धनका दुरुपयोग करना—ये सात दुःखदायी दोष राजाको सदा त्याग देने चाहिये। इनसे दृढमूल राजा भी प्रायः नष्ट हो जाते हैं ॥ ९१-९२ ॥

अष्टौ पूर्वनिमित्तानि नरस्य विनशिष्यतः।
ब्राह्मणान् प्रथमं द्वेष्टि ब्राह्मणैश्च विरुध्यते ॥ ९३ ॥
ब्राह्मणस्वानि चादत्ते ब्राह्मणांश्च जिघांसति।
रमते निन्दया चैषां प्रशंसां नाभिनन्दति ॥ ९४ ॥
नैनान् स्मरति कृत्येषु याचितश्चाभ्यसूयति।
एतान् दोषान् नरः प्राज्ञो बुध्येद् बुद्ध्वा विसर्जयेत् ॥ ९५ ॥

विनाशके मुखमें पड़नेवाले मनुष्यके आठ पूर्वचिह्न हैं—प्रथम तो वह ब्राह्मणोंसे द्वेष करता है, फिर उनके विरोधका पात्र बनता है, ब्राह्मणोंका धन हड़प लेता है, उनको मारना चाहता है, ब्राह्मणोंकी निन्दामें आनन्द मानता है, उनकी प्रशंसा सुनना नहीं चाहता, यज्ञ-यागादिमें उनका स्मरण नहीं करता तथा कुछ माँगनेपर उनमें दोष निकालने लगता है। इन सब दोषोंको बुद्धिमान् मनुष्य समझे और समझकर त्याग दे ॥ ९३—९५ ॥

अष्टाविमानि हर्षस्य नवनीतानि भारत।
वर्तमानानि दृश्यन्ते तान्येव स्वसुखान्यपि ॥ ९६ ॥
समागमश्च सखिभिर्महांश्चैव धनागमः।
पुत्रेण च परिष्वङ्गः संनिपातश्च मैथुने ॥ ९७ ॥
समये च प्रियालापः स्वयूथ्येषु समुन्नतिः।
अभिप्रेतस्य लाभश्च पूजा च जनसंसदि ॥ ९८ ॥

भारत! मित्रोंसे समागम, अधिक धनकी प्राप्ति, पुत्रका आलिङ्गन, मैथुनमें संलग्न होना, समयपर प्रिय वचन बोलना, अपने वर्गके लोगोंमें उन्नति, अभीष्ट वस्तुकी प्राप्ति और जन-समाजमें सम्मान—ये आठ हर्षके सार दिखायी देते हैं और ये ही अपने लौकिक सुखके भी साधन होते हैं ॥ ९६—९८ ॥

अष्टौ गुणाः पुरुषं दीपयन्ति
प्रज्ञा च कौल्यं च दमः श्रुतं च।
पराक्रमश्चाबहुभाषिता च
दानं यथाशक्ति कृतज्ञता च ॥ ९९ ॥

बुद्धि, कुलीनता, इन्द्रियनिग्रह, शास्त्रज्ञान, पराक्रम, अधिक न बोलना, शक्तिके अनुसार दान और कृतज्ञता—ये आठ गुण पुरुषकी ख्याति बढ़ा देते हैं ॥ ९९ ॥

नवद्वारमिदं वेश्म त्रिस्थूणं पञ्चसाक्षिकम्।
क्षेत्रज्ञाधिष्ठितं विद्वान् यो वेद स परः कविः ॥ १०० ॥

जो विद्वान् पुरुष [आँख, कान आदि] नौ दरवाजेवाले तीन (सत्त्व, रज तथा तमरूपी) खंभोंवाले, पाँच(ज्ञानेन्द्रिय-रूप) साक्षीवाले, आत्माके निवासस्थान इस शरीररूपी गृहको तत्त्वसे जानता है, वह बहुत बड़ा ज्ञानी है ॥ १०० ॥

दश धर्मं न जानन्ति धृतराष्ट्र निबोध तान्।
मत्तः प्रमत्त उन्मत्तः श्रान्तः क्रुद्धो बुभुक्षितः ॥ १०१ ॥
त्वरमाणश्च लुब्धश्च भीतः कामी च ते दश।
तस्मादेतेषु सर्वेषु न प्रसज्जेत पण्डितः ॥ १०२ ॥

महाराज धृतराष्ट्र! दस प्रकारके लोग धर्मके तत्त्वको नहीं जानते, उनके नाम सुनो। नशेमें मतवाला, असावधान, पागल, थका हुआ, क्रोधी, भूखा, जल्दबाज, लोभी, भयभीत और कामी—ये दस हैं। अतः इन सब लोगोंमें विद्वान् पुरुष आसक्त न होवे ॥ १०१-१०२ ॥

अत्रैवोदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्।
पुत्रार्थमसुरेन्द्रेण गीतं चैव सुधन्वना ॥ १०३ ॥

इसी विषयमें असुरोंके राजा प्रह्लादने सुधन्वाके साथ अपने पुत्रके प्रति कुछ उपदेश दिया था। नीतिज्ञलोग उस पुरातन इतिहासका उदाहरण देते हैं ॥ १०३ ॥

यः काममन्यू प्रजहाति राजा
पात्रे प्रतिष्ठापयते धनं च।
विशेषविच्छ्रुतवान् क्षिप्रकारी
तं सर्वलोकः कुरुते प्रमाणम् ॥ १०४ ॥

जो राजा काम और क्रोधका त्याग करता है और सुपात्र-को धन देता है, विशेषज्ञ है, शास्त्रोंका ज्ञाता और कर्तव्यको शीघ्र पूरा करनेवाला है, उस (के व्यवहार और वचनों) को सब लोग प्रमाण मानते हैं ॥ १०४ ॥

जानाति विश्वासयितुं मनुष्यान्
विज्ञातदोषेषु दधाति दण्डम् ।
जानाति मात्रां च तथा क्षमां च
तं तादृशं श्रीर्जुषते समग्रा ॥१०५॥

जो मनुष्योंमें विश्वास उत्पन्न करना जानता है, जिनका अपराध प्रमाणित हो गया है उन्हींको जो दण्ड देता है, जो दण्ड देनेकी न्यूनाधिक मात्रा तथा क्षमाका उपयोग जानता है, उस राजाकी सेवामें सम्पूर्ण सम्पत्ति चली आती है ॥१०५॥

सुदुर्बलं नावजानाति कंचिद्
युक्तो रिपुं सेवते बुद्धिपूर्वम् ।
न विग्रहं रोचयते बलस्थैः
काले च यो विक्रमते स धीरः ॥१०६॥

जो किसी दुर्बलका अपमान नहीं करता, सदा सावधान रहकर शत्रुके साथ बुद्धिपूर्वक व्यवहार करता है, बलवानोंके साथ युद्ध पसंद नहीं करता तथा समय आनेपर पराक्रम दिखाता है, वही धीर है ॥ १०६ ॥

प्राप्यापदं न व्यथते कदाचि-
दुद्योगमन्विच्छति चाप्रमत्तः ।
दुःखं च काले सहते महात्मा
धुरन्धरस्तस्य जिताः सपत्नाः ॥१०७॥

जो धुरन्धर महापुरुष आपत्ति पड़नेपर कभी दुखी नहीं होता, बल्कि सावधानीके साथ उद्योगका आश्रय लेता है तथा समयपर दुःख सहता है, उसके शत्रु तो पराजित ही हैं ॥ १०७ ॥

अनर्थकं विप्रवासं गृहेभ्यः
पापैः सन्धिं परदाराभिमर्शम् ।
दम्भं स्तैन्यं पैशुनं मद्यपानं
न सेवते यश्च सुखी सदैव ॥१०८॥

जो घर छोड़कर निरर्थक विदेशवास, पापियोंसे मेल, परस्त्रीगमन, पाखण्ड, चोरी, चुगलखोरी तथा मदिरापान— इन सबका सेवन नहीं करता, वह सदा सुखी रहता है ॥१०८॥

न संरम्भेणारभते त्रिवर्ग-
माकारितः शंसति तत्त्वमेव ।
न मित्रार्थे रोचयते विवादं
नापूजितः कुप्यति चाप्यमूढः ॥१०९॥
न योऽभ्यसूयत्यनुकम्पते च
न दुर्बलः प्रातिभाव्यं करोति ।
नात्याह किंचित् क्षमते विवादं
सर्वत्र तादृग् लभते प्रशंसाम् ॥११०॥

जो क्रोध या उतावलीके साथ धर्म, अर्थ तथा कामका आरम्भ नहीं करता, पूछनेपर यथार्थ बात ही बतलाता है, मित्रके लिये झगड़ा नहीं पसंद करता, आदर न पानेपर क्रुद्ध नहीं होता, विवेक नहीं खो बैठता, दूसरोंके दोष नहीं देखता, सबपर दया करता है, असमर्थ होते हुए किसीकी जमानत नहीं देता, बढ़कर नहीं बोलता तथा विवादको सह लेता है, ऐसा मनुष्य सब जगह प्रशंसा पाता है ॥१०९-११०॥

यो नोद्धतं कुरुते जातु वेषं
न पौरुषेणापि विकत्थतेऽन्यान् ।
न मूर्च्छितः कटुकान्याह किंचित्
प्रियं सदा तं कुरुते जनो हि ॥१११॥

जो कभी उद्दण्डका-सा वेष नहीं बनाता, दूसरोंके सामने अपने पराक्रमकी श्लाघा भी नहीं करता, क्रोधसे व्याकुल होनेपर भी कटुवचन नहीं बोलता, उस मनुष्यको लोग सदा ही प्यारा बना लेते हैं ॥ १११ ॥

न वैरमुद्दीपयति प्रशान्तं
न दर्पमारोहति नास्तमेति ।
न दुर्गतोऽस्मीति करोत्यकार्यं
तमार्यशीलं परमाहुरार्याः ॥११२॥

जो शान्त हुई वैरकी आगको फिर प्रज्वलित नहीं करता, गर्व नहीं करता, हीनता नहीं दिखाता तथा 'मैं विपत्तिमें पड़ा हूँ' ऐसा सोचकर अनुचित काम नहीं करता, उस उत्तम आचरणवाले पुरुषको आर्यजन सर्वश्रेष्ठ कहते हैं ॥ ११२ ॥

न स्वे सुखे वै कुरुते प्रहर्षं
नान्यस्य दुःखे भवति प्रहृष्टः ।
दत्त्वा न पश्चात् कुरुतेऽनुतापं
स कथ्यते सत्पुरुषार्यशीलः ॥११३॥

जो अपने सुखमें प्रसन्न नहीं होता, दूसरेके दुःखके समय हर्ष नहीं मानता और दान देकर पश्चात्ताप नहीं करता, वह सज्जनोंमें सदाचारी कहलाता है ॥ ११३ ॥

देशाचारान् समयाञ्जातिधर्मान्
बुभूषते यः स परावरज्ञः ।
स यत्र तत्राभिगतः सदैव
महाजनस्याधिपत्यं करोति ॥११४॥

जो मनुष्य देशके व्यवहार, अवसर तथा जातियोंके धर्मोंको तत्त्वसे जानना चाहता है, उसे उत्तम-अधमका विवेक हो जाता है। वह जहाँ कहीं भी जाता है, सदा महान् जनसमूहपर अपनी प्रभुता स्थापित कर लेता है ॥ ११४ ॥

दम्भं मोहं मत्सरं पापकृत्यं
राजद्विष्टं पैशुनं पूगवैरम् ।
मत्तोन्मत्तैर्दुर्जनैश्चापि वादं
यः प्रज्ञावान् वर्जयेत् स प्रधानः ॥११५॥

जो बुद्धिमान् दम्भ, मोह, मात्सर्य, पापकर्म, राजद्रोह, चुगलखोरी, समूहसे वैर और मतवाले, पागल तथा दुर्जनोंसे विवाद छोड़ देता है, वह श्रेष्ठ है ॥ ११५ ॥

दानं होमं दैवतं मङ्गलानि
प्रायश्चित्तान् विविधाँल्लोकवादान् ।
एतानि यः कुरुते नैत्यकानि
तस्योत्थानं देवता राधयन्ति ॥११६॥

जो दान, होम, देवपूजन, माङ्गलिक कर्म, प्रायश्चित्त तथा अनेक प्रकारके लौकिक आचार—इन नित्य किये जाने-योग्य कर्मोंको करता है, देवतालोग उसके अभ्युदयकी सिद्धि करते हैं ॥ ११६ ॥

समैर्विवाहं कुरुते न हीनैः
समैः सख्यं व्यवहारं कथां च ।
गुणैर्विशिष्टांश्च पुरो दधाति
विपश्चितस्तस्य नयाः सुनीताः ॥११७॥

जो अपने बराबरवालोंके साथ विवाह, मित्रता, व्यवहार तथा बातचीत करता है, हीन पुरुषोंके साथ नहीं; और गुणोंमें बढ़े-चढ़े पुरुषोंको सदा आगे रखता है, उस विद्वान्‌की नीति श्रेष्ठ नीति है ॥ ११७ ॥

मितं भुङ्क्ते संविभज्याश्रितेभ्यो
मितं स्वपित्यमितं कर्म कृत्वा ।
ददात्यमित्रेष्वपि याचितः सं-
स्तमात्मवन्तं प्रजहत्यनर्थाः ॥११८॥

जो अपने आश्रित जनोंको बाँटकर थोड़ा ही भोजन करता है, बहुत अधिक काम करके भी थोड़ा सोता है तथा माँगनेपर जो मित्र नहीं है, उन्हें भी धन देता है, उस मनस्वी पुरुषको सारे अनर्थ दूरसे ही छोड़ देते हैं ॥ ११८ ॥

चिकीर्षितं विप्रकृतं च यस्य
नान्ये जनाः कर्म जानन्ति किंचित् ।
मन्त्रे गुप्ते सम्यगनुष्ठिते च
नाल्पोऽप्यस्य च्यवते कश्चिदर्थः॥११९॥

जिसके अपनी इच्छाके अनुकूल और दूसरोंकी इच्छाके विरुद्ध कार्यको दूसरे लोग कुछ भी नहीं जान पाते, मन्त्र गुप्त रहने और अभीष्ट कार्यका ठीक-ठीक सम्पादन होनेके कारण उसका थोड़ा भी काम बिगड़ने नहीं पाता ॥११९॥

यः सर्वभूतप्रशमे निविष्टः
सत्यो मृदुर्मानकृच्छुद्धभावः ।
अतीव स ज्ञायते ज्ञातिमध्ये
महामणिर्जात्य इव प्रसन्नः ॥१२०॥

जो मनुष्य सम्पूर्ण भूतोंको शान्ति प्रदान करनेमें तत्पर, सत्यवादी, कोमल, दूसरोंको आदर देनेवाला तथा पवित्र विचारवाला होता है, वह अच्छी खानसे निकले और चमकते हुए श्रेष्ठ रत्नकी भाँति अपनी जातिवालोंमें अधिक प्रसिद्धि पाता है ॥ १२० ॥

य आत्मनापत्रपते भृशं नरः
स सर्वलोकस्य गुरुर्भवत्युत ।
अनन्ततेजाः सुमनाः समाहितः
स तेजसा सूर्य इवावभासते ॥१२१॥

जो स्वयं ही अधिक लज्जाशील है, वह सब लोगोंमें श्रेष्ठ समझा जाता है । वह अपने अनन्त तेज, शुद्ध हृदय एवं एकाग्रतासे युक्त होनेके कारण कान्तिमें सूर्यके समान शोभा पाता है ॥ १२१ ॥

वने जाताः शापदग्धस्य राज्ञः
पाण्डोः पुत्राः पञ्च पञ्चेन्द्रकल्पाः ।
त्वयैव बाला वर्धिताः शिक्षिताश्च
तवादेशं पालयन्त्याम्बिकेय ॥१२२॥

अम्बिकानन्दन ! (मृगरूपधारी किंदम ऋषिके) शापसे दग्ध राजा पाण्डुके जो पाँच पुत्र वनमें उत्पन्न हुए, वे पाँच इन्द्रोंके समान शक्तिशाली हैं, उन्हें आपने ही बचपनसे पाला और शिक्षा दी है; वे भी आपकी आज्ञाका पालन करते रहते हैं ॥ १२२ ॥

प्रदायैषामुचितं तात राज्यं
सुखी पुत्रैः सहितो मोदमानः ।
न देवानां नापि च मानुषाणां
भविष्यसि त्वं तर्कणीयो नरेन्द्र ॥१२३॥

तात ! उन्हें उनका न्यायोचित राज्यभाग देकर आप अपने पुत्रोंके साथ आनन्दित होते हुए सुख भोगिये । नरेन्द्र ! ऐसा करनेपर आप देवताओं तथा मनुष्योंकी आलोचनाके विषय नहीं रह जायँगे ॥ १२३ ॥

इति श्रीमहभारते उद्योगपर्वणि प्रजागरपर्वणि विदुरनीतिवाक्ये त्रयस्त्रिंशोऽध्यायः ॥ ३३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत प्रजागरपर्वमें विदुरजीके नीतिवाक्य-विषयक तैंतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३३ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ६ श्लोक मिलाकर कुल १२९ श्लोक हैं)

चतुस्त्रिंशोऽध्यायः

धृतराष्ट्रके प्रति विदुरजीके नीतियुक्त वचन

धृतराष्ट्र उवाच

जाग्रतो दह्यमानस्य यत् कार्यमनुपश्यसि ।
तद् ब्रूहि त्वं हि नस्तात धर्मार्थकुशलो ह्यसि ॥ १ ॥

धृतराष्ट्र बोले—तात ! मैं चिन्तासे जलता हुआ अभीतक जाग रहा हूँ; तुम मेरे करनेयोग्य जो कार्य समझो, उसे बताओ; क्योंकि हमलोगोंमें तुम्हीं धर्म और अर्थके ज्ञानमें निपुण हो ॥ १ ॥

त्वं मां यथावद् विदुर प्रशाधि
प्रज्ञापूर्वं सर्वमजातशत्रोः ।
यन्मन्यसे पथ्यमदीनसत्त्व
श्रेयस्करं ब्रूहि तद् वै कुरूणाम्॥ २ ॥

उदारचित्त विदुर ! तुम अपनी बुद्धिसे विचारकर मुझे ठीक-ठीक उपदेश करो। जो बात युधिष्ठिरके लिये हितकर और कौरवोंके लिये कल्याणकारी समझो, वह सब अवश्य बताओ ॥ २ ॥

पापाशङ्की पापमेवानुपश्यन्
पृच्छामि त्वां व्याकुलेनात्मनाहम् ।
कवे तन्मे ब्रूहि सर्वं यथाव-
न्मनीषितं सर्वमजातशत्रोः ॥ ३ ॥

विद्वन् ! मेरे मनमें अनिष्टकी आशङ्का बनी रहती है, इसलिये मैं सर्वत्र अनिष्ट ही देखता हूँ, अतः व्याकुल-हृदयसे मैं तुमसे पूछ रहा हूँ—अजातशत्रु युधिष्ठिर क्या चाहते हैं, सो सब ठीक-ठीक बताओ ॥ ३ ॥

विदुर उवाच

शुभं वा यदि वा पापं द्वेष्यं वा यदि वा प्रियम् ।
अपृष्टस्तस्य तद् ब्रूयाद् यस्य नेच्छेत् पराभवम् ॥ ४ ॥

विदुरजीने कहा—राजन् ! मनुष्यको चाहिये कि वह जिसकी पराजय नहीं चाहता, उसको बिना पूछे भी अच्छी अथवा बुरी, कल्याण करनेवाली या अनिष्ट करनेवाली—जो भी बात हो, बता दे ॥ ४ ॥

तस्माद् वक्ष्यामि ते राजन् हितं यत् स्यात् कुरून् प्रति ।
वचः श्रेयस्करं धर्म्यं ब्रुवतस्तन्निबोध मे ॥ ५ ॥

इसलिये राजन् ! जिससे समस्त कौरवोंका हित हो, मैं वही बात आपसे कहूँगा। मैं जो कल्याणकारी एवं धर्मयुक्त वचन कह रहा हूँ, उन्हें आप ध्यान देकर सुनें ॥ ५ ॥

मिथ्योपेतानि कर्माणि सिध्येयुर्यानि भारत ।
अनुपायप्रयुक्तानि मा स्म तेषु मनः कृथाः ॥ ६ ॥

भारत ! असत् उपायों (अन्यायपूर्वक युद्ध एवं द्यूत) आदिका प्रयोग करके जो कपटपूर्ण कार्य सिद्ध होते हैं, उनमें आप मन मत लगाइये ॥ ६ ॥

तथैव योगविहितं यत् तु कर्म न सिध्यति ।
उपाययुक्तं मेधावी न तत्र ग्लपयेन्मनः ॥ ७ ॥

इसी प्रकार अच्छे उपायोंका उपयोग करके सावधानीके साथ किया गया कोई कर्म यदि सफल न हो तो बुद्धिमान् पुरुषको उसके लिये मनमें ग्लानि नहीं करनी चाहिये ॥ ७ ॥

अनुबन्धानपेक्षेत सानुबन्धेषु कर्मसु ।
सम्प्रधार्य च कुर्वीत न वेगेन समाचरेत् ॥ ८ ॥

किसी प्रयोजनसे किये गये कर्मोंमें पहले प्रयोजनको समझ लेना चाहिये। खूब सोच-विचारकर काम करना चाहिये, जल्दबाजीसे किसी कामका आरम्भ नहीं करना चाहिये ॥८॥

अनुबन्धं च सम्प्रेक्ष्य विपाकं चैव कर्मणाम् ।
उत्थानमात्मनश्चैव धीरः कुर्वीत वा न वा ॥ ९ ॥

धीर मनुष्यको उचित है कि पहले कर्मोंका प्रयोजन, परिणाम तथा अपनी उन्नतिका विचार करके फिर काम आरम्भ करे या न करे ॥ ९ ॥

यः प्रमाणं न जानाति स्थाने वृद्धौ तथा क्षये ।
कोशे जनपदे दण्डे न स राज्येऽवतिष्ठते ॥ १० ॥

जो राजा स्थिति, लाभ, हानि, खजाना, देश तथा दण्ड आदिकी मात्राको नहीं जानता, वह राज्यपर स्थिर नहीं रह सकता ॥ १० ॥

यस्त्वेतानि प्रमाणानि यथोक्तान्यनुपश्यति ।
युक्तो धर्मार्थयोर्ज्ञाने स राज्यमधिगच्छति ॥ ११ ॥

जो इनके प्रमाणोंको उपर्युक्त प्रकारसे ठीक-ठीक जानता है तथा धर्म और अर्थके ज्ञानमें दत्तचित्त रहता है, वह राज्यको प्राप्त करता है ॥ ११ ॥

न राज्यं प्राप्तमित्येव वर्तितव्यमसाम्प्रतम् ।
श्रियं ह्यविनयो हन्ति जरा रूपमिवोत्तमम् ॥ १२ ॥

'अब तो राज्य प्राप्त ही हो गया'—ऐसा समझकर अनुचित बर्ताव नहीं करना चाहिये। उद्दण्डता सम्पत्तिको उसी प्रकार नष्ट कर देती है, जैसे सुन्दर रूपको बुढ़ापा ॥१२॥

भक्ष्योत्तमप्रतिच्छन्नं मत्स्यो बडिशमायसम् ।
लोभाभिपाती ग्रसते नानुबन्धमवेक्षते ॥ १३ ॥

जैसे मछली बढ़िया खाद्य वस्तुसे ढकी हुई लोहेकी

काँटीको लोभमें पड़कर निगल जाती है, उससे होनेवाले परिणामपर विचार नहीं करती (अतएव मर जाती है) ॥

यच्छक्यं ग्रसितुं ग्रस्यं ग्रस्तं परिणमेच्च यत्।
हितं च परिणामे यत् तदाद्यं भूतिमिच्छता ॥ १४ ॥

अतः अपनी उन्नति चाहनेवाले पुरुषको वही वस्तु खानी (या ग्रहण करनी) चाहिये, (जो परिणाममें अनिष्टकर न हो अर्थात्) जो खाने योग्य हो तथा खायी जा सके, खाने (या ग्रहण करने) पर पच सके और पच जानेपर हितकारी हो ॥ १४ ॥

वनस्पतेरपक्वानि फलानि प्रचिनोति यः।
स नाप्नोति रसं तेभ्यो बीजं चास्य विनश्यति ॥ १५ ॥

जो पेड़से कच्चे फलोंको तोड़ता है, वह उन फलोंसे रस तो पाता नहीं, परंतु उस वृक्षके बीजका नाश हो जाता है ॥ १५ ॥

यस्तु पक्वमुपादत्ते काले परिणतं फलम्।
फलाद् रसं स लभते बीजाच्चैव फलं पुनः ॥ १६ ॥

परंतु जो समयपर पके हुए फलको ग्रहण करता है, वह फलसे रस पाता है और उस बीजसे पुनः फल प्राप्त करता है ॥ १६ ॥

यथा मधु समादत्ते रक्षन् पुष्पाणि षट्पदः।
तद्वदर्थान् मनुष्येभ्य आदद्यादविहिंसया ॥ १७ ॥

जैसे भौंरा फूलोंकी रक्षा करता हुआ ही उनके मधुका ग्रहण करता है, उसी प्रकार राजा भी प्रजाजनोंको कष्ट दिये बिना ही उनसे धन ले ॥ १७ ॥

पुष्पं पुष्पं विचिन्वीत मूलच्छेदं न कारयेत्।
मालाकार इवारामे न यथाङ्गारकारकः ॥ १८ ॥

जैसे माली बगीचेमें एक-एक फूल तोड़ता है, उसकी जड़ नहीं काटता, उसी प्रकार राजा प्रजाकी रक्षापूर्वक उनसे कर ले। कोयला बनानेवालेकी तरह जड़से नहीं काटे ॥ १८ ॥

किन्नु मे स्यादिदं कृत्वा किन्नु मे स्यादकुर्वतः।
इति कर्माणि संचिन्त्य कुर्याद् वा पुरुषो न वा ॥ १९ ॥

इसे करनेसे मेरा क्या लाभ होगा और न करनेसे क्या हानि होगी—इस प्रकार कर्मोंके विषयमें भलीभाँति विचार करके फिर मनुष्य (कर्म) करे या न करे ॥ १९ ॥

अनारभ्या भवन्त्यर्थाः केचिन्नित्यं तथागताः।
कृतः पुरुषकारो हि भवेद् येषु निरर्थकः ॥ २० ॥

कुछ ऐसे व्यर्थ कार्य हैं, जो नित्य अप्राप्त होनेके कारण आरम्भ करने योग्य नहीं होते; क्योंकि उनके लिये किया हुआ पुरुषार्थ भी व्यर्थ हो जाता है ॥ २० ॥

प्रसादो निष्फलो यस्य क्रोधश्चापि निरर्थकः।
न तं भर्तारमिच्छन्ति षण्ढं पतिमिव स्त्रियः ॥ २१ ॥

जिसकी प्रसन्नताका कोई फल नहीं और क्रोध भी व्यर्थ है, उसको प्रजा स्वामी बनाना नहीं चाहती—जैसे स्त्री नपुंसकको पति नहीं बनाना चाहती ॥ २१ ॥

कांश्चिदर्थान् नरः प्राज्ञो लघुमूलान् महाफलान्।
क्षिप्रमारभते कर्तुं न विघ्नयति तादृशान् ॥ २२ ॥

जिनका मूल (साधन) छोटा और फल महान् हो, बुद्धिमान् पुरुष उनको शीघ्र ही आरम्भ कर देता है; वैसे कामोंमें वह विघ्न नहीं आने देता ॥ २२ ॥

ऋजु पश्यति यः सर्वं चक्षुषानुपिबन्निव।
आसीनमपि तूष्णीकमनुरज्यन्ति तं प्रजाः ॥ २३ ॥

जो राजा इस प्रकार प्रेमके साथ कोमल दृष्टिसे देखता है, मानो आँखोंसे पीना चाहता है, वह चुपचाप बैठा भी रहे, तो भी प्रजा उससे अनुराग रखती है ॥ २३ ॥

सुपुष्पितः स्यादफलः फलितः स्याद् दुरारुहः।
अपक्वः पक्वसंकाशो न तु शीर्येत कर्हिचित् ॥ २४ ॥

राजा वृक्षकी भाँति अच्छी तरह फूलने (प्रसन्न रहने) पर भी फलसे खाली रहे (अधिक देनेवाला न हो)। यदि फलसे युक्त (देनेवाला) हो तो भी जिसपर चढ़ा न जा सके, ऐसा (पहुँचके बाहर) होकर रहे। कच्चा (कम शक्तिवाला) होनेपर भी पके (शक्तिसम्पन्न) की भाँति अपनेको प्रकट करे। ऐसा करनेसे वह नष्ट नहीं होता ॥ २४ ॥

चक्षुषा मनसा वाचा कर्मणा च चतुर्विधम्।
प्रसादयति यो लोकं तं लोकोऽनुप्रसीदति ॥ २५ ॥

जो राजा नेत्र, मन, वाणी और कर्म—इन चारोंसे प्रजाको प्रसन्न करता है, उसीसे प्रजा प्रसन्न रहती है ॥ २५ ॥

यस्मात् त्रस्यन्ति भूतानि मृगव्याधान्मृगा इव।
सागरान्तामपि महीं लब्ध्वा स परिहीयते ॥ २६ ॥

जैसे व्याधसे हरिन भयभीत होते हैं, उसी प्रकार जिससे समस्त प्राणी डरते हैं, वह समुद्रपर्यन्त पृथ्वीका राज्य पाकर भी प्रजाजनोंके द्वारा त्याग दिया जाता है ॥ २६ ॥

पितृपैतामहं राज्यं प्राप्तवान् स्वेन कर्मणा।
वायुरभ्रमिवासाद्य भ्रंशयत्यनये स्थितः ॥ २७ ॥

अन्यायमें स्थित हुआ राजा बाप-दादोंका राज्य पाकर भी अपने कर्मोंसे उसे इस तरह भ्रष्ट कर देता है, जैसे हवा बादलको छिन्न-भिन्न कर देती है ॥ २७ ॥

धर्ममाचरतो राज्ञः सद्भिश्चरितमादितः।
वसुधा वसुसम्पूर्णा वर्धते भूतिवर्धिनी ॥ २८ ॥

परम्परासे सज्जन पुरुषोंद्वारा किये हुए धर्मका आचरण करनेवाले राजाके राज्यकी पृथ्वी धन-धान्यसे पूर्ण होकर उन्नतिको प्राप्त होती है और उसके ऐश्वर्यको बढ़ाती है ॥

अथ संत्यजतो धर्ममधर्मं चानुतिष्ठतः।
प्रतिसंवेष्टते भूमिरग्नौ चर्माहितं यथा ॥ २९ ॥

जो राजा धर्मको छोड़ता और अधर्मका अनुष्ठान करता है, उसकी राज्यभूमि आगपर रक्खे हुए चमड़ेकी भाँति संकुचित हो जाती है ॥ २९ ॥

य एव यत्नः क्रियते परराष्ट्रविमर्दने।
स एव यत्नः कर्तव्यः स्वराष्ट्रपरिपालने ॥ ३० ॥

दूसरे राष्ट्रोंका नाश करनेके लिये जिस प्रकारका प्रयत्न किया जाता है, उसी प्रकारकी तत्परता अपने राज्यकी रक्षाके लिये करनी चाहिये ॥ ३० ॥

धर्मेण राज्यं विन्देत धर्मेण परिपालयेत्।
धर्ममूलां श्रियं प्राप्य न जहाति न हीयते ॥ ३१ ॥

धर्मसे ही राज्य प्राप्त करे और धर्मसे ही उसकी रक्षा करे; क्योंकि धर्ममूलक राज्यलक्ष्मीको पाकर न तो राजा उसे छोड़ता है और न वही राजाको छोड़ती है ॥ ३१ ॥

अप्युन्मत्तात् प्रलपतो बालाच्च परिजल्पतः।
सर्वतः सारमादद्यादश्मभ्य इव काञ्चनम् ॥ ३२ ॥

निरर्थक बोलनेवाले, पागल तथा बकवाद करनेवाले बच्चेसे भी सब ओरसे उसी भाँति सार बात ग्रहण करनी चाहिये, जैसे पत्थरोंमेंसे सोना लिया जाता है ॥ ३२ ॥

सुव्याहृतानि सूक्तानि सुकृतानि ततस्ततः।
संचिन्वन् धीर आसीत शिलाहारी शिलं यथा ॥ ३३ ॥

जैसे शिलोञ्छवृत्तिसे जीविका चलानेवाला अनाजका एक-एक दाना चुगता रहता है, उसी प्रकार धीर पुरुषको जहाँ-तहाँसे भावपूर्ण वचनों, सूक्तियों और सत्कर्मोंका संग्रह करते रहना चाहिये ॥ ३३ ॥

गन्धेन गावः पश्यन्ति वेदैः पश्यन्ति ब्राह्मणाः।
चारैः पश्यन्ति राजानश्चक्षुर्भ्यामितरे जनाः ॥ ३४ ॥

गौएँ गन्धसे, ब्राह्मणलोग वेदोंसे, राजा गुप्तचरोंसे और अन्य साधारण लोग आँखोंसे देखा करते हैं ॥ ३४ ॥

भूयांसं लभते क्लेशं या गौर्भवति दुर्दुहा।
अथ या सुदुहा राजन् नैव तां वितुदन्त्यपि ॥ ३५ ॥

राजन्! जो गाय बड़ी कठिनाईसे दुहने देती है, वह बहुत क्लेश उठाती है; किंतु जो आसानीसे दूध देती है, उसे लोग कष्ट नहीं देते ॥ ३५ ॥

यदतप्तं प्रणमति न तत् संतापयन्त्यपि।
यच्च स्वयं नतं दारु न तत् संनमयन्त्यपि ॥ ३६ ॥

जो धातु बिना गरम किये मुड़ जाते हैं, उन्हें आगमें नहीं तपाते। जो काठ स्वयं झुका होता है, उसे कोई झुकानेका प्रयत्न नहीं करता ॥ ३६ ॥

एतयोपमया धीरः संनमेत बलीयसे।
इन्द्राय स प्रणमते नमते यो बलीयसे ॥ ३७ ॥

इस दृष्टान्तके अनुसार बुद्धिमान् पुरुषको अधिक बलवान्के सामने झुक जाना चाहिये; जो अधिक बलवान्के सामने झुकता है, वह मानो इन्द्रको प्रणाम करता है ॥ ३७ ॥

पर्जन्यनाथाः पशवो राजानो मन्त्रिबान्धवाः।
पतयो बान्धवाः स्त्रीणां ब्राह्मणा वेदबान्धवाः ॥ ३८ ॥

पशुओंके रक्षक या स्वामी हैं बादल, राजाओंके सहायक हैं मन्त्री, स्त्रियोंके बन्धु (रक्षक) हैं पति और ब्राह्मणोंके बान्धव हैं वेद ॥ ३८ ॥

सत्येन रक्ष्यते धर्मो विद्या योगेन रक्ष्यते।
मृजया रक्ष्यते रूपं कुलं वृत्तेन रक्ष्यते ॥ ३९ ॥

सत्यसे धर्मकी रक्षा होती है, योगसे विद्या सुरक्षित होती है, सफाईसे (सुन्दर) रूपकी रक्षा होती है और सदाचार-से कुलकी रक्षा होती है ॥ ३९ ॥

मानेन रक्ष्यते धान्यमश्वान् रक्षत्यनुक्रमः।
अभीक्ष्णदर्शनं गाश्च स्त्रियो रक्ष्याः कुचैलतः ॥ ४० ॥

भलीभाँति सँभालकर रखनेसे नाजकी रक्षा होती है, फेरनेसे घोड़े सुरक्षित रहते हैं, बारंबार देख-भाल करनेसे गौओंकी तथा मैले वस्त्रोंसे स्त्रियोंकी रक्षा होती है ॥ ४० ॥

न कुलं वृत्तहीनस्य प्रमाणमिति मे मतिः।
अन्त्येष्वपि हि जातानां वृत्तमेव विशिष्यते ॥ ४१ ॥

मेरा ऐसा विचार है कि सदाचारसे हीन मनुष्यका केवल ऊँचा कुल मान्य नहीं हो सकता; क्योंकि नीच कुलमें उत्पन्न मनुष्यका भी सदाचार श्रेष्ठ माना जाता है ॥ ४१ ॥

य ईर्षुः परवित्तेषु रूपे वीर्ये कुलान्वये।
सुखसौभाग्यसत्कारे तस्य व्याधिरनन्तकः ॥ ४२ ॥

जो दूसरोंके धन, रूप, पराक्रम, कुलीनता, सुख, सौभाग्य और सम्मानपर डाह करता है, उसका यह रोग असाध्य है ॥ ४२ ॥

अकार्यकरणाद् भीतः कार्याणां च विवर्जनात्।
अकाले मन्त्रभेदाच्च येन माद्येन्न तत् पिबेत् ॥ ४३ ॥

न करने योग्य काम करनेसे, करने योग्य काममें प्रमाद करनेसे तथा कार्यसिद्धि होनेके पहले ही मन्त्र प्रकट हो जानेसे डरना चाहिये और जिससे नशा चढ़े, ऐसी मादक वस्तु नहीं पीनी चाहिये ॥ ४३ ॥

विद्यामदो धनमदस्तृतीयोऽभिजनो मदः।
मदा एतेऽवलिप्तानामेत एव सतां दमाः॥ ४४॥

विद्याका मद, धनका मद और तीसरा ऊँचे कुलका मद है। ये घमंडी पुरुषोंके लिये तो मद हैं, परंतु ये (विद्या, धन और कुलीनता) ही सज्जन पुरुषोंके लिये दमके साधन हैं॥ ४४॥

असन्तोऽभ्यर्थिताः सद्भिः क्वचित्कार्ये कदाचन।
मन्यन्ते सन्तमात्मानमसन्तमपि विश्रुतम्॥ ४५॥

कभी किसी कार्यमें सज्जनोंद्वारा प्रार्थित होनेपर दुष्टलोग अपनेको प्रसिद्ध दुष्ट जानते हुए भी सज्जन मानने लगते हैं॥ ४५॥

गतिरात्मवतां सन्तः सन्त एव सतां गतिः।
असतां च गतिः सन्तो न त्वसन्तः सतां गतिः॥ ४६॥

मनस्वी पुरुषोंको सहारा देनेवाले संत हैं; संतोंके भी सहारे संत ही हैं, दुष्टोंको भी सहारा देनेवाले संत हैं, पर दुष्टलोग संतोंको सहारा नहीं देते॥ ४६॥

जिता सभा वस्त्रवता मिष्टाशा गोमता जिता।
अध्वा जितो यानवता सर्वं शीलवता जितम्॥ ४७॥

अच्छे वस्त्रवाला सभाको जीतता (अपना प्रभाव जमा लेता) है; जिसके पास गौ है, वह (दूध, घी, मक्खन, खोवा आदि पदार्थोंके आस्वादनसे) मीठे स्वादकी आकाङ्क्षाको जीत लेता है, सवारीसे चलनेवाला मार्गको जीत लेता (तय कर लेता) है और शीलस्वभाववाला पुरुष सबपर विजय पा लेता है॥ ४७॥

शीलं प्रधानं पुरुषे तद् यस्येह प्रणश्यति।
न तस्य जीवितेनार्थो न धनेन न बन्धुभिः॥ ४८॥

पुरुषमें शील ही प्रधान है; जिसका वही नष्ट हो जाता है, इस संसारमें उसका जीवन, धन और बन्धुओंसे कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता॥ ४८॥

आढ्यानां मांसपरमं मध्यानां गोरसोत्तरम्।
तैलोत्तरं दरिद्राणां भोजनं भरतर्षभ॥ ४९॥

भरतश्रेष्ठ! धनोन्मत्त (तामस स्वभाववाले) पुरुषोंके भोजनमें मांसकी, मध्यम श्रेणीवालोंके भोजनमें गोरसकी तथा दरिद्रोंके भोजनमें तेलकी प्रधानता होती है॥ ४९॥

सम्पन्नतरमेवान्नं दरिद्रा भुञ्जते सदा।
क्षुत् स्वादुतां जनयति सा चाढ्येषु सुदुर्लभा॥ ५०॥

दरिद्र पुरुष सदा स्वादिष्ट भोजन ही करते हैं; क्योंकि भूख उनके भोजनमें (विशेष) स्वाद उत्पन्न कर देती है और वह भूख धनियोंके लिये सर्वथा दुर्लभ है॥ ५०॥

प्रायेण श्रीमतां लोके भोक्तुं शक्तिर्न विद्यते।
जीर्यन्त्यपि हि काष्ठानि दरिद्राणां महीपते॥ ५१॥

राजन्! संसारमें धनियोंको प्रायः भोजनको पचानेकी शक्ति नहीं होती, किंतु दरिद्रोंके पेटमें काठ भी पच जाते हैं॥ ५१॥

अवृत्तिर्भयमन्त्यानां मध्यानां मरणाद् भयम्।
उत्तमानां तु मर्त्यानामवमानात् परं भयम्॥ ५२॥

अधम पुरुषोंको जीविका न होनेसे भय लगता है, मध्यम श्रेणीके मनुष्योंको मृत्युसे भय होता है; परंतु उत्तम पुरुषोंको अपमानसे ही महान् भय होता है॥ ५२॥

ऐश्वर्यमदपापिष्ठा मदाः पानमदादयः।
ऐश्वर्यमदमत्तो हि नापतित्वा विबुध्यते॥ ५३॥

यों तो (मादक वस्तुओंके) पीनेका नशा आदि भी नशा ही है, किंतु ऐश्वर्यका नशा तो बहुत ही बुरा है; क्योंकि ऐश्वर्यके मदसे मतवाला पुरुष भ्रष्ट हुए बिना होशमें नहीं आता॥ ५३॥

इन्द्रियैरिन्द्रियार्थेषु वर्तमानैरनिग्रहैः।
तैरयं ताप्यते लोको नक्षत्राणि ग्रहैरिव॥ ५४॥

वशमें न होनेके कारण विषयोंमें रमनेवाली इन्द्रियोंसे यह संसार उसी भाँति कष्ट पाता है, जैसे सूर्य आदि ग्रहोंसे नक्षत्र तिरस्कृत हो जाते हैं॥ ५४॥

यो जितः पञ्चवर्गेण सहजेनात्मकर्षिणा।
आपदस्तस्य वर्धन्ते शुक्लपक्ष इवोडुराट्॥ ५५॥

जो मनुष्य जीवोंको वशमें करनेवाली सहज पाँच इन्द्रियोंसे जीत लिया गया, उसकी आपत्तियाँ शुक्लपक्षके चन्द्रमाकी भाँति बढ़ती हैं॥ ५५॥

अविजित्य य आत्मानममात्यान् विजिगीषते।
अमित्रान् वाजितामात्यः सोऽवशः परिहीयते॥ ५६॥

इन्द्रियोंसहित मनको जीते बिना ही जो मन्त्रियोंको जीतनेकी इच्छा करता है या मन्त्रियोंको अपने अधीन किये बिना शत्रुको जीतना चाहता है, उस अजितेन्द्रिय पुरुषको सब लोग त्याग देते हैं॥ ५६॥

आत्मानमेव प्रथमं द्वेष्यरूपेण यो जयेत्।
ततोऽमात्यानमित्रांश्च न मोघं विजिगीषते॥ ५७॥

जो पहले इन्द्रियोंसहित मनको ही शत्रु समझकर जीत लेता है, उसके बाद यदि वह मन्त्रियों तथा शत्रुओंको जीतनेकी इच्छा करे तो उसे सफलता मिलती है॥ ५७॥

वश्येन्द्रियं जितात्मानं धृतदण्डं विकारिषु।
परीक्ष्य कारिणं धीरमत्यन्तं श्रीर्निषेवते॥ ५८॥

इन्द्रियों तथा मनको जीतनेवाले, अपराधियोंको दण्ड देनेवाले और जाँच-परखकर काम करनेवाले धीर पुरुषकी लक्ष्मी अत्यन्त सेवा करती है॥ ५८॥

रथः शरीरं पुरुषस्य राज-
न्नात्मा नियन्तेन्द्रियाण्यस्य चाश्वाः ।
तैरप्रमत्तः कुशली सदश्वै-
र्दान्तैः सुखं याति रथीव धीरः ॥ ५९ ॥

राजन् ! मनुष्यका शरीर रथ है, बुद्धि सारथि है और इन्द्रियाँ इसके घोड़े हैं । इनको वशमें करके सावधान रहनेवाला चतुर एवं धीर पुरुष काबूमें किये हुए घोड़ोंसे रथीकी भाँति सुखपूर्वक संसारपथका अतिक्रमण करता है ॥ ५९ ॥

एतान्यनिगृहीतानि व्यापादयितुमप्यलम् ।
अविधेया इवादान्ता हयाः पथि कुसारथिम् ॥ ६० ॥

शिक्षा न पाये हुए तथा काबूमें न आनेवाले घोड़े जैसे मूर्ख सारथिको मार्गमें मार गिराते हैं, वैसे ही ये इन्द्रियाँ वशमें न रहनेपर पुरुषको मार डालनेमें भी समर्थ होती हैं ॥ ६० ॥

अनर्थमर्थतः पश्यन्नर्थं चैवाप्यनर्थतः ।
इन्द्रियैरजितैर्बालः सुदुःखं मन्यते सुखम् ॥ ६१ ॥

इन्द्रियोंको वशमें न रखनेके कारण अर्थको अनर्थ और अनर्थको अर्थ समझकर अज्ञानी पुरुष बहुत बड़े दुःखको भी सुख मान बैठता है ॥ ६१ ॥

धर्मार्थौ यः परित्यज्य स्यादिन्द्रियवशानुगः ।
श्रीप्राणधनदारेभ्यः क्षिप्रं स परिहीयते ॥ ६२ ॥

जो धर्म और अर्थका परित्याग करके इन्द्रियोंके वशमें हो जाता है, वह शीघ्र ही ऐश्वर्य, प्राण, धन तथा स्त्रीसे भी हाथ धो बैठता है ॥ ६२ ॥

अर्थानामीश्वरो यः स्यादिन्द्रियाणामनीश्वरः ।
इन्द्रियाणामनैश्वर्यादैश्वर्याद् भ्रश्यते हि सः ॥ ६३ ॥

जो अधिक धनका स्वामी होकर भी इन्द्रियोंपर अधिकार नहीं रखता, वह इन्द्रियोंको वशमें न रखनेके कारण ही ऐश्वर्यसे भ्रष्ट हो जाता है ॥ ६३ ॥

आत्मनाऽऽत्मानमन्विच्छेन्मनोबुद्धीन्द्रियैर्यतैः।
आत्मा ह्येवात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः ॥ ६४ ॥

मन, बुद्धि और इन्द्रियोंको अपने अधीन कर अपनेसे ही अपने आत्माको जाननेकी इच्छा करे; क्योंकि आत्मा ही अपना बन्धु और आत्मा ही अपना शत्रु है ॥ ६४ ॥

बन्धुरात्माऽऽत्मनस्तस्य येनैवात्माऽऽत्मना जितः ।
स एव नियतो बन्धुः स एवानियतो रिपुः ॥ ६५ ॥

जिसने स्वयं अपने आत्माको ही जीत लिया है, उसका आत्मा ही उसका बन्धु है । वही आत्मा जीता गया होनेपर सच्चा बन्धु और वही न जीता हुआ होनेपर शत्रु है ॥ ६५ ॥

क्षुद्राक्षेणेव जालेन झषावपिहितावुरू ।
कामश्च राजन् क्रोधश्च तौ प्रज्ञानं विलुम्पतः ॥ ६६ ॥

राजन् ! जिस प्रकार सूक्ष्म छेदवाले जालमें फँसी हुई दो बड़ी-बड़ी मछलियाँ मिलकर जालको काट डालती हैं, उसी प्रकार ये काम और क्रोध—दोनों विवेकको लुप्त कर देते हैं ॥ ६६ ॥

समवेक्ष्येह धर्मार्थौ सम्भारान् योऽधिगच्छति ।
स वै सम्भृतसम्भारः सततं सुखमेधते ॥ ६७ ॥

जो इस जगत्में धर्म तथा अर्थका विचार करके विजय-साधन-सामग्रीका संग्रह करता है, वही उस सामग्रीसे युक्त होनेके कारण सदा सुखपूर्वक समृद्धिशाली होता रहता है ॥ ६७ ॥

यः पञ्चाभ्यन्तराञ्छत्रूनविजित्य मनोमयान् ।
जिगीषति रिपूनन्यान् रिपवोऽभिभवन्ति तम् ॥ ६८ ॥

जो चित्तके विकारभूत पाँच इन्द्रियरूपी भीतरी शत्रुओंको जीते बिना ही दूसरे शत्रुओंको जीतना चाहता है, उसे शत्रु पराजित कर देते हैं ॥ ६८ ॥

दृश्यन्ते हि महात्मानो बध्यमानाः स्वकर्मभिः ।
इन्द्रियाणामनीशत्वाद् राजानो राज्यविभ्रमैः ॥ ६९ ॥

इन्द्रियोंपर अधिकार न होनेके कारण बड़े-बड़े साधु भी अपने कर्मोंसे तथा राजालोग राज्यके भोगविलासोंसे बँधे रहते हैं ॥ ६९ ॥

असंत्यागात् पापकृतामपापां-
स्तुल्यो दण्डः स्पृशते मिश्रभावात् ।
शुष्केणार्द्रं दह्यते मिश्रभावात्
तस्मात् पापैः सह सन्धिं न कुर्यात् ॥ ७० ॥

पापाचारी दुष्टोंका त्याग न करके उनके साथ मिले रहनेसे निरपराध सज्जनोंको भी उन (पापियों) के समान ही दण्ड प्राप्त होता है, जैसे सूखी लकड़ीमें मिल जानेसे गीली भी जल जाती है; इसलिये दुष्ट पुरुषोंके साथ कभी मेल न करे ॥ ७० ॥

निजानुत्पततः शत्रून् पञ्च पञ्चप्रयोजनान् ।
यो मोहान्न निगृह्णाति तमापद् ग्रसते नरम् ॥ ७१ ॥

जो पाँच विषयोंकी ओर दौड़नेवाले अपने पाँच इन्द्रियरूपी शत्रुओंको मोहके कारण वशमें नहीं करता, उस मनुष्यको विपत्ति ग्रस लेती है ॥ ७१ ॥

अनसूयाऽऽर्जवं शौचं संतोषः प्रियवादिता ।
दमः सत्यमनायासो न भवन्ति दुरात्मनाम् ॥ ७२ ॥

गुणोंमें दोष न देखना, सरलता, पवित्रता, संतोष, प्रिय वचन बोलना, इन्द्रियदमन, सत्यभाषण तथा सरलता—ये गुण दुरात्मा पुरुषोंमें नहीं होते ॥ ७२ ॥

आत्मज्ञानमसंरम्भस्तितिक्षा धर्मनित्यता ।
वाक् चैव गुप्ता दानं च नैतान्यन्त्येषु भारत ॥ ७३ ॥

भारत ! आत्मज्ञान, अक्रोध, सहनशीलता, धर्मपरायणता, वचनकी रक्षा तथा दान—ये गुण अधम पुरुषोंमें नहीं होते ॥ ७३ ॥

आक्रोशपरिवादाभ्यां विहिंसन्त्यबुधा बुधान् ।
वक्ता पापमुपादत्ते क्षममाणो विमुच्यते ॥ ७४ ॥

मूर्ख मनुष्य विद्वानोंको गाली और निन्दासे कष्ट पहुँचाते हैं। गाली देनेवाला पापका भागी होता है और क्षमा करनेवाला पापसे मुक्त हो जाता है ॥ ७४ ॥

हिंसा बलमसाधूनां राज्ञां दण्डविधिर्बलम् ।
शुश्रूषा तु बलं स्त्रीणां क्षमा गुणवतां बलम् ॥ ७५ ॥

दुष्ट पुरुषोंका बल है हिंसा, राजाओंका बल है दण्ड देना, स्त्रियोंका बल है सेवा और गुणवानोंका बल है क्षमा ॥ ७५ ॥

वाक्संयमो हि नृपते सुदुष्करतमो मतः ।
अर्थवच्च विचित्रं च न शक्यं बहु भाषितुम् ॥ ७६ ॥

राजन् ! वाणीका पूर्ण संयम तो बहुत कठिन माना ही गया है; परंतु विशेष अर्थयुक्त और चमत्कारपूर्ण वाणी भी अधिक नहीं बोली जा सकती (इसलिये अत्यन्त दुष्कर होनेपर भी वाणीका संयम करना ही उचित है) ॥ ७६ ॥

अभ्यावहति कल्याणं विविधं वाक् सुभाषिता ।
सैव दुर्भाषिता राजन्ननर्थायोपपद्यते ॥ ७७ ॥

राजन् ! मधुर शब्दोंमें कही हुई बात अनेक प्रकारसे कल्याण करती है; किंतु वही यदि कटु शब्दोंमें कही जाय तो महान् अनर्थका कारण बन जाती है ॥ ७७ ॥

रोहते सायकैर्विद्धं वनं परशुना हतम् ।
वाचा दुरुक्तं बीभत्सं न संरोहति वाक्क्षतम् ॥ ७८ ॥

बाणोंसे बिंधा हुआ तथा फरसेसे काटा हुआ वन भी अंकुरित हो जाता है; किंतु कटु वचन कहकर वाणीसे किया हुआ भयानक घाव नहीं भरता ॥ ७८ ॥

कर्णिनालीकनाराचान् निर्हरन्ति शरीरतः ।
वाक्शल्यस्तु न निर्हर्तुं शक्यो हृदिशयो हि सः ॥ ७९ ॥

कर्णि, नालीक और नाराच नामक बाणोंको शरीरसे निकाल सकते हैं, परंतु कटु वचनरूपी बाण नहीं निकाला जा सकता; क्योंकि वह हृदयके भीतर धँस जाता है ॥ ७९ ॥

वाक्सायका वदनान्निष्पतन्ति
यैराहतः शोचति राज्यहानि ।
परस्य नामर्मसु ते पतन्ति
तान् पण्डितो नावसृजेत् परेभ्यः ॥ ८० ॥

कटु वचनरूपी बाण मुखसे निकलकर दूसरोंके मर्मस्थानपर ही चोट करते हैं; उनसे आहत मनुष्य रात-दिन घुलता रहता है। अतः विद्वान् पुरुष दूसरोंपर उनका प्रयोग न करे ॥ ८० ॥

यस्मै देवाः प्रयच्छन्ति पुरुषाय पराभवम् ।
बुद्धिं तस्यापकर्षन्ति सोऽवाचीनानि पश्यति ॥ ८१ ॥

देवतालोग जिसे पराजय देते हैं, उसकी बुद्धिको पहले ही हर लेते हैं; इससे वह नीच कर्मोंपर ही अधिक दृष्टि रखता है ॥ ८१ ॥

बुद्धौ कलुषभूतायां विनाशे प्रत्युपस्थिते ।
अनयो नयसंकाशो हृदयान्नापसर्पति ॥ ८२ ॥

विनाशकाल उपस्थित होनेपर बुद्धि मलिन हो जाती है; फिर तो न्यायके समान प्रतीत होनेवाला अन्याय हृदयसे बाहर नहीं निकलता ॥ ८२ ॥

सेयं बुद्धिः परीता ते पुत्राणां भरतर्षभ ।
पाण्डवानां विरोधेन न चैनानवबुध्यसे ॥ ८३ ॥

भरतश्रेष्ठ ! आपके पुत्रोंकी वह बुद्धि पाण्डवोंके प्रति विरोधसे व्याप्त हो गयी है; आप इन्हें पहचान नहीं रहे हैं ॥ ८३ ॥

राजा लक्षणसम्पन्नस्त्रैलोक्यस्यापि यो भवेत् ।
शिष्यस्ते शासिता सोऽस्तु धृतराष्ट्र युधिष्ठिरः ॥ ८४ ॥

महाराज धृतराष्ट्र ! जो राजलक्षणोंसे सम्पन्न होनेके कारण त्रिभुवनका भी राजा हो सकता है, वह आपका आज्ञाकारी युधिष्ठिर ही इस पृथ्वीका शासक होने योग्य है ॥ ८४ ॥

अतीत्य सर्वान् पुत्रांस्ते भागधेयपुरस्कृतः ।
तेजसा प्रज्ञया चैव युक्तो धर्मार्थतत्त्ववित् ॥ ८५ ॥

वह धर्म तथा अर्थके तत्त्वको जाननेवाला, तेज और बुद्धिसे युक्त, पूर्ण सौभाग्यशाली तथा आपके सभी पुत्रोंसे बढ़-चढ़कर है ॥ ८५ ॥

अनुक्रोशादानृशंस्याद् योऽसौ धर्मभृतां वरः ।
गौरवात् तव राजेन्द्र बहून् क्लेशांस्तितिक्षति ॥ ८६ ॥

राजेन्द्र ! धर्मधारियोंमें श्रेष्ठ युधिष्ठिर दया, सौम्यभाव तथा आपके प्रति गौरव-बुद्धिके कारण बहुत कष्ट सह रहा है ॥ ८६ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि प्रजागरपर्वणि विदुरनीतिवाक्ये चतुस्त्रिंशोऽध्यायः ॥ ३४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत प्रजागरपर्वमें विदुरजीके नीतिवाक्यविषयक चौंतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३४ ॥

पञ्चत्रिंशोऽध्यायः

विदुरके द्वारा केशिनीके लिये सुधन्वाके साथ विरोचनके विवादका वर्णन करते हुए धृतराष्ट्रको धर्मोपदेश

धृतराष्ट्र उवाच

ब्रूहि भूयो महाबुद्धे धर्मार्थसहितं वचः।
शृण्वतो नास्ति मे तृप्तिर्विचित्राणीह भाषसे॥ १॥

धृतराष्ट्रने कहा—महाबुद्धे ! तुम पुनः धर्म और अर्थसे युक्त बातें कहो। इन्हें सुनकर मुझे तृप्ति नहीं होती। इस विषयमें तुम विलक्षण बातें कह रहे हो॥ १॥

विदुर उवाच

सर्वतीर्थेषु वा स्नानं सर्वभूतेषु चार्जवम्।
उभे त्वेते समे स्यातामार्जवं वा विशिष्यते॥ २॥

विदुरजी बोले—राजन् ! सब तीर्थोंमें स्नान और सब प्राणियोंके साथ कोमलताका बर्ताव—ये दोनों एक समान हैं; अथवा कोमलताके बर्तावका विशेष महत्त्व है॥ २॥

आर्जवं प्रतिपद्यस्व पुत्रेषु सततं विभो।
इह कीर्तिं परां प्राप्य प्रेत्य स्वर्गमवाप्स्यसि॥ ३॥

विभो ! आप अपने पुत्र कौरव, पाण्डव दोनोंके साथ (समानरूपसे) कोमलताका बर्ताव कीजिये। ऐसा करनेसे इस लोकमें महान् सुयश प्राप्त करके मरनेके पश्चात् आप स्वर्गलोकमें जायँगे॥ ३॥

यावत् कीर्तिर्मनुष्यस्य पुण्या लोके प्रगीयते।
तावत् स पुरुषव्याघ्र स्वर्गलोके महीयते॥ ४॥

पुरुषश्रेष्ठ ! इस लोकमें जबतक मनुष्यकी पावन कीर्तिका गान किया जाता है, तबतक वह स्वर्गलोकमें प्रतिष्ठित होता है॥ ४॥

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्।
विरोचनस्य संवादं केशिन्यर्थे सुधन्वना॥ ५॥

इस विषयमें उस प्राचीन इतिहासका उदाहरण दिया करते हैं, जिसमें 'केशिनी' के लिये सुधन्वाके साथ विरोचनके विवादका वर्णन है॥ ५॥

स्वयंवरे स्थिता कन्या केशिनी नाम नामतः।
रूपेणाप्रतिमा राजन् विशिष्टपतिकाम्यया॥ ६॥

राजन् ! एक समयकी बात है, केशिनी नामवाली एक अनुपम सुन्दरी कन्या सर्वश्रेष्ठ पतिको वरण करनेकी इच्छासे स्वयंवर सभामें उपस्थित हुई॥ ६॥

विरोचनोऽथ दैतेयस्तदा तत्राजगाम ह।
प्राप्तुमिच्छंस्ततस्तत्र दैत्येन्द्रं प्राह केशिनी॥ ७॥

उसी समय दैत्यकुमार विरोचन उसे प्राप्त करनेकी इच्छासे वहाँ आया। तब केशिनीने वहाँ दैत्यराजसे इस प्रकार बातचीत की॥ ७॥

केशिन्युवाच

किं ब्राह्मणाः स्विच्छ्रेयांसो दितिजाः स्विद् विरोचन।
अथ केन स्म पर्यङ्कं सुधन्वा नाधिरोहति॥ ८॥

केशिनी बोली—विरोचन ! ब्राह्मण श्रेष्ठ होते हैं या दैत्य ? यदि ब्राह्मण श्रेष्ठ होते हैं तो सुधन्वा ब्राह्मण ही मेरी शय्यापर क्यों न बैठे ? अर्थात् मैं सुधन्वासे ही विवाह क्यों न करूँ ?॥ ८॥

विरोचन उवाच

प्राजापत्यास्तु वै श्रेष्ठा वयं केशिनि सत्तमाः।
अस्माकं खल्विमे लोकाः के देवाः के द्विजातयः॥ ९॥

विरोचनने कहा—केशिनी ! हम प्रजापतिकी श्रेष्ठ संतानें हैं, अतः सबसे उत्तम हैं। यह सारा संसार हमलोगोंका ही है। हमारे सामने देवता क्या हैं ? और ब्राह्मण कौन चीज हैं ?॥ ९॥

केशिन्युवाच

इहैवावां प्रतीक्षाव उपस्थाने विरोचन।
सुधन्वा प्रातरागन्ता पश्येयं वां समागतौ॥ १०॥

केशिनी बोली—विरोचन ! इसी जगह हम दोनों



प्रतीक्षा करें; कल प्रातःकाल सुधन्वा यहाँ आवेगा। फिर मैं तुम दोनोंको एकत्र उपस्थित देखूँगी ॥ १० ॥

विरोचन उवाच

तथा भद्रे करिष्यामि यथा त्वं भीरु भाषसे।
सुधन्वानं च मां चैव प्रातर्द्रष्टासि संगतौ ॥ ११ ॥

विरोचन बोला—कल्याणी ! तुम जैसा कहती हो, वही करूँगा। भीरु ! प्रातःकाल तुम मुझे और सुधन्वाको एक साथ उपस्थित देखोगी ॥ ११ ॥

विदुर उवाच

अतीतायां च शर्वर्यामुदिते सूर्यमण्डले।
अथाजगाम तं देशं सुधन्वा राजसत्तम।
विरोचनो यत्र विभो केशिन्या सहितः स्थितः ॥ १२ ॥

विदुरजी कहते हैं—राजाओंमें श्रेष्ठ धृतराष्ट्र ! इसके बाद जब रात बीती और सूर्यमण्डलका उदय हुआ, उस समय सुधन्वा उस स्थानपर आया, जहाँ विरोचन केशिनीके साथ उपस्थित था ॥ १२ ॥

सुधन्वा च समागच्छत् प्राह्लादिं केशिनीं तथा।
समागतं द्विजं दृष्ट्वा केशिनी भरतर्षभ।
प्रत्युत्थायासनं तस्मै पाद्यमर्घ्यं ददौ पुनः ॥ १३ ॥

भरतश्रेष्ठ ! सुधन्वा प्रह्लादकुमार विरोचन और केशिनीके पास आया। ब्राह्मणको आया देख केशिनी उठ खड़ी हुई और उसने उसे आसन, पाद्य और अर्घ्य निवेदन किया ॥ १३ ॥

सुधन्वोवाच

अन्वालभे हिरण्मयं प्राह्लादे ते वरासनम्।
एकत्वमुपसम्पन्नो न त्वासेऽहं त्वया सह ॥ १४ ॥

सुधन्वा बोला—प्रह्लादनन्दन ! मैं तुम्हारे इस सुवर्णमय सुन्दर सिंहासनको केवल छू लेता हूँ, तुम्हारे साथ इसपर बैठ नहीं सकता; क्योंकि ऐसा होनेसे हम दोनों एक समान हो जायँगे ॥ १४ ॥

विरोचन उवाच

तवार्हते तु फलकं कूर्चं वाप्यथवा बृसी।
सुधन्वन् न त्वमर्होऽसि मया सह समासनम् ॥ १५ ॥

विरोचनने कहा—सुधन्वन् ! तुम्हारे लिये तो पीढ़ा, चटाई या कुशका आसन उचित है; तुम मेरे साथ बराबरके आसनपर बैठने योग्य हो ही नहीं ॥ १५ ॥

सुधन्वोवाच

पितापुत्रौ सहासीतां द्वौ विप्रौ क्षत्रियावपि।
वृद्धौ वैश्यौ च शूद्रौ च न त्वन्यावितरेतरम् ॥ १६ ॥

सुधन्वाने कहा—विरोचन ! पिता और पुत्र एक साथ एक आसनपर बैठ सकते हैं; दो ब्राह्मण, दो क्षत्रिय, दो वृद्ध, दो वैश्य और दो शूद्र भी एक साथ बैठ सकते हैं; किंतु दूसरे कोई दो व्यक्ति परस्पर एक साथ नहीं बैठ सकते ॥

पिता हि ते समासीनमुपासीतैव मामधः।
बालः सुखैधितो गेहे न त्वं किंचन बुध्यसे ॥ १७ ॥

तुम्हारे पिता प्रह्लाद नीचे बैठकर ही उच्चासनपर आसीन हुए मुझ सुधन्वाकी सेवा किया करते हैं। तुम अभी बालक हो, घरमें सुखसे पले हो; अतः तुम्हें इन बातोंका कुछ भी ज्ञान नहीं है ॥

विरोचन उवाच

हिरण्यं च गवाश्वं च यद् वित्तमसुरेषु नः।
सुधन्वन् विपणे तेन प्रश्नं पृच्छाव ये विदुः ॥ १८ ॥

विरोचन बोला—सुधन्वन् ! हम असुरोंके पास जो कुछ भी सोना, गौ, घोड़ा आदि धन है, उसकी मैं बाजी लगाता हूँ; हम-तुम दोनों चलकर जो इस विषयके जानकार हों, उनसे पूछें कि हम दोनोंमें कौन श्रेष्ठ है ? ॥ १८ ॥

सुधन्वोवाच

हिरण्यं च गवाश्वं च तवैवास्तु विरोचन।
प्राणयोस्तु पणं कृत्वा प्रश्नं पृच्छाव ये विदुः ॥ १९ ॥

सुधन्वा बोला—विरोचन ! सुवर्ण, गाय और घोड़ा तुम्हारे ही पास रहें। हम दोनों प्राणोंकी बाजी लगाकर जो जानकार हों, उनसे पूछें ॥ १९ ॥

विरोचन उवाच

आवां कुत्र गमिष्यावः प्राणयोर्विपणे कृते।
न तु देवेष्वहं स्थाता न मनुष्येषु कर्हिचित् ॥ २० ॥

विरोचनने कहा—अच्छा, प्राणोंकी बाजी लगानेके पश्चात् हम दोनों कहाँ चलेंगे ? मैं तो न देवताओंके पास जा सकता हूँ और न कभी मनुष्योंसे ही निर्णय करा सकता हूँ ॥ २० ॥

सुधन्वोवाच

पितरं ते गमिष्यावः प्राणयोर्विपणे कृते।
पुत्रस्यापि स हेतोर्हि प्रह्लादो नानृतं वदेत् ॥ २१ ॥

सुधन्वा बोला—प्राणोंकी बाजी लग जानेपर हम दोनों तुम्हारे पिताके पास चलेंगे। [मुझे विश्वास है कि] प्रह्लाद अपने बेटेके (जीवनके) लिये भी झूठ नहीं बोल सकते हैं ॥ २१ ॥

विदुर उवाच

एवं कृतपणौ क्रुद्धौ तत्राभिजग्मतुस्तदा।
विरोचनसुधन्वानौ प्रह्लादो यत्र तिष्ठति ॥ २२ ॥

विदुरजी कहते हैं—राजन्! इस तरह बाजी लगाकर परस्पर क्रुद्ध हो विरोचन और सुधन्वा दोनों उस समय वहाँ गये, जहाँ प्रह्लाद थे ॥ २२ ॥

प्रह्लाद उवाच

इमौ तौ सम्प्रदृश्येते याभ्यां न चरितं सह।
आशीविषाविव क्रुद्धावेकमार्गाविहागतौ ॥ २३ ॥

प्रह्लादने (मन-ही-मन) कहा—जो कभी भी एक साथ नहीं चले थे, वे ही दोनों ये सुधन्वा और विरोचन आज साँपकी तरह क्रुद्ध होकर एक ही राहसे आते दिखायी देते हैं ॥ २३ ॥

किं वै सहैवं चरथो न पुरा चरथः सह।
विरोचनैतत् पृच्छामि किं ते सख्यं सुधन्वना ॥ २४ ॥

[फिर प्रकटरूपमें विरोचनसे कहा—] विरोचन! मैं तुमसे पूछता हूँ, क्या सुधन्वाके साथ तुम्हारी मित्रता हो गयी है? फिर कैसे एक साथ आ रहे हो? पहले तो तुम दोनों कभी एक साथ नहीं चलते थे ॥ २४ ॥

विरोचन उवाच

न मे सुधन्वना सख्यं प्राणयोर्विपणावहे।
प्रह्लाद तत्त्वं पृच्छामि मा प्रश्नमनृतं वदेः ॥ २५ ॥

विरोचन बोला—पिताजी! सुधन्वाके साथ मेरी मित्रता नहीं हुई है। हम दोनों प्राणोंकी बाजी लगाते आ रहे हैं। मैं आपसे यथार्थ बात पूछता हूँ। मेरे प्रश्नका झूठा उत्तर न दीजियेगा ॥ २५ ॥

प्रह्लाद उवाच

उदकं मधुपर्कं वाप्यानयन्तु सुधन्वने।
ब्रह्मन्नभ्यर्चनीयोऽसि श्वेता गौः पीवरी कृता ॥ २६ ॥

प्रह्लादने कहा—सेवको! सुधन्वाके लिये जल और मधुपर्क भी लाओ। [फिर सुधन्वासे कहा—] ब्रह्मन्! तुम मेरे पूजनीय अतिथि हो, मैंने तुम्हें दान करनेके लिये खूब मोटी-ताजी सफेद गौ रख रक्खी है ॥ २६ ॥

सुधन्वोवाच

उदकं मधुपर्कं च पथिष्वेवार्पितं मम।
प्रह्लाद त्वं तु मे तथ्यं प्रश्नं प्रब्रूहि पृच्छतः।
किं ब्राह्मणाः स्विच्छ्रेयांस उताहो स्विद् विरोचनः ॥ २७ ॥

सुधन्वा बोला—प्रह्लाद! जल और मधुपर्क तो मुझे मार्गमें ही मिल गया है। तुम तो जो मैं पूछ रहा हूँ, उस प्रश्नका ठीक-ठीक उत्तर दो—ब्राह्मण श्रेष्ठ हैं अथवा विरोचन? ॥ २७ ॥

प्रह्लाद उवाच

पुत्र एको मम ब्रह्मंस्त्वं च साक्षादिहास्थितः।
तयोर्विवदतोः प्रश्नं कथमस्मद्विधो वदेत् ॥ २८ ॥

प्रह्लाद बोले—ब्रह्मन्! मेरे एक ही पुत्र है और इधर तुम स्वयं उपस्थित हो; भला, तुम दोनोंके विवादमें मेरे-जैसा मनुष्य कैसे निर्णय दे सकता है? ॥ २८ ॥

सुधन्वोवाच

गां प्रदद्यास्त्वौरसाय यद्वान्यत् स्यात् प्रियं धनम्।
द्वयोर्विवदतोस्तथ्यं वाच्यं च मतिमंस्त्वया ॥ २९ ॥

सुधन्वा बोला—मतिमन्! तुम्हारे पास गौ तथा दूसरा जो कुछ भी प्रिय धन हो, वह सब अपने औरस पुत्र विरोचनको दे दो; परंतु हम दोनोंके विवादमें तो तुम्हें ठीक-ठीक उत्तर देना ही चाहिये ॥ २९ ॥

प्रह्लाद उवाच

अथ यो नैव प्रब्रूयात् सत्यं वा यदि वानृतम्।
एतत् सुधन्वन् पृच्छामि दुर्विवक्ता स्म किं वसेत् ॥ ३० ॥

प्रह्लादने कहा—सुधन्वन्! अब मैं तुमसे यह बात पूछता हूँ—जो सत्य न बोले अथवा असत्य निर्णय करे, ऐसे दुष्ट वक्ताकी क्या स्थिति होती है? ॥ ३० ॥

सुधन्वोवाच

यां रात्रिमधिविन्ना स्त्री यां चैवाक्षपराजितः।
यां च भाराभितप्ताङ्गो दुर्विवक्ता स्म तां वसेत् ॥ ३१ ॥

सुधन्वा बोला—सौतवाली स्त्री, जूएमें हारे हुए जुआरी और भार ढोनेसे व्यथित शरीरवाले मनुष्यकी रातमें जो स्थिति होती है, वही स्थिति उल्टा न्याय देनेवाले वक्ताकी भी होती है ॥ ३१ ॥

नगरे प्रतिरुद्धः सन् बहिर्द्वारे बुभुक्षितः।
अमित्रान् भूयसः पश्येद् यः साक्ष्यमनृतं वदेत् ॥ ३२ ॥

जो झूठा निर्णय देता है, वह राजा नगरमें कैद होकर बाहरी दरवाजेपर भूखका कष्ट उठाता हुआ बहुत-से शत्रुओं-को देखता है ॥ ३२ ॥

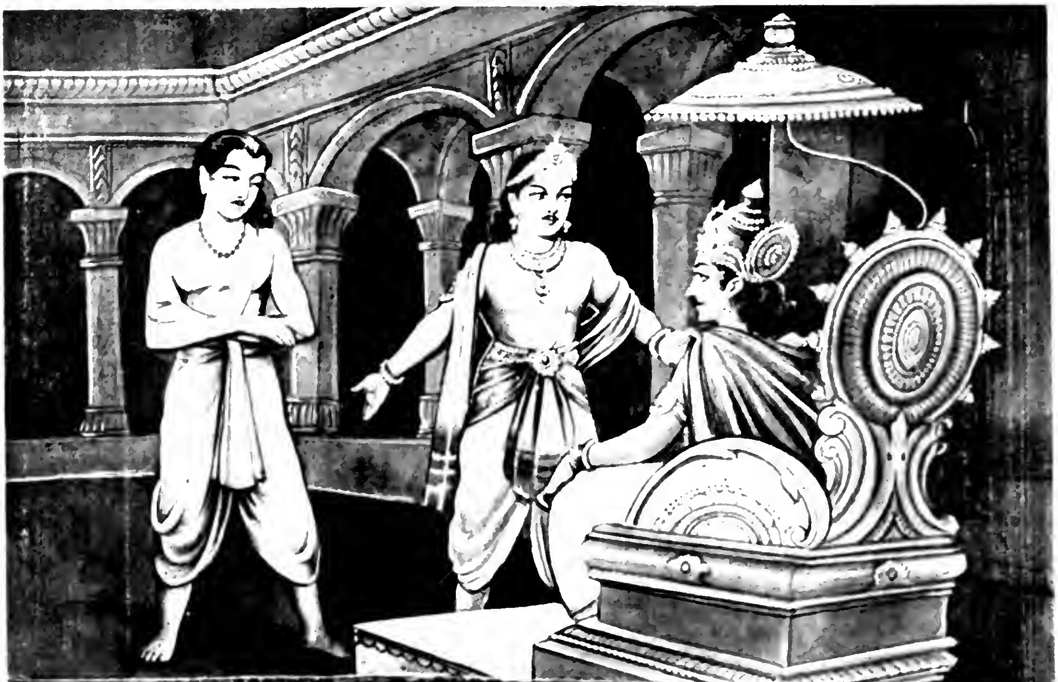
पञ्च पश्वनृते हन्ति दश हन्ति गवानृते।
शतमश्वानृते हन्ति सहस्रं पुरुषानृते ॥ ३३ ॥

(अपने स्वार्थके वशीभूत हो) पशुके लिये झूठ बोलनेसे पाँच, गौके लिये झूठ बोलनेपर दस, घोड़ेके लिये असत्य-भाषण करनेपर सौ पीढ़ियोंको और मनुष्यके लिये झूठ बोलनेपर एक हजार पीढ़ियोंको मनुष्य नरकमें गिराता है ॥

हन्ति जातानजातांश्च हिरण्यार्थेऽनृतं वदन्।
सर्वं भूम्यनृते हन्ति मा स्म भूम्यनृतं वदेः ॥ ३४ ॥

सुवर्णके लिये झूठ बोलनेवाला अपनी भूत और भविष्य सभी पीढ़ियोंको नरकमें गिराता है। पृथ्वी तथा स्त्रीके लिये झूठ कहनेवाला तो अपना सर्वनाश ही कर लेता है; इसलिये तुम भूमि या स्त्रीके लिये कभी झूठ न बोलना ॥ ३४ ॥

प्रह्लादजीका न्याय





आत्रेय मुनि और साध्यगण

प्रह्लाद उवाच

मत्तः श्रेयानङ्गिरा वै सुधन्वा त्वद्विरोचन।
मातास्य श्रेयसी मातुस्तस्मात् त्वं तेन वै जितः॥ ३५॥

प्रह्लादने कहा—विरोचन! सुधन्वाके पिता अङ्गिरा



मुझसे श्रेष्ठ हैं, सुधन्वा तुमसे श्रेष्ठ है, इसकी माता तुम्हारी मातासे श्रेष्ठ है; अतः तुम आज सुधन्वाके द्वारा जीते गये॥ ३५॥

विरोचन सुधन्वायं प्राणानामीश्वरस्तव।
सुधन्वन् पुनरिच्छामि त्वया दत्तं विरोचनम्॥ ३६॥

विरोचन! अब सुधन्वा तुम्हारे प्राणोंका स्वामी है। सुधन्वन्! अब यदि तुम दे दो तो मैं विरोचनको पाना चाहता हूँ॥ ३६॥

सुधन्वोवाच

यद् धर्ममवृणीथास्त्वं न कामादनृतं वदीः।
पुनर्ददामि ते पुत्रं तस्मात् प्रह्लाद दुर्लभम्॥ ३७॥

सुधन्वा बोला—प्रह्लाद! तुमने धर्मको ही स्वीकार किया है, स्वार्थवश झूठ नहीं कहा है; इसलिये अब तुम्हारे इस दुर्लभ पुत्रको फिर तुम्हें दे रहा हूँ॥ ३७॥

एष प्रह्लाद पुत्रस्ते मया दत्तो विरोचनः।
पादप्रक्षालनं कुर्यात् कुमार्याः संनिधौ मम॥ ३८॥

प्रह्लाद! तुम्हारे इस पुत्र विरोचनको मैंने पुनः तुम्हें दे दिया; किंतु अब यह कुमारी केशिनीके निकट चलकर मेरे पैर धोवे॥ ३८॥

विदुर उवाच

तस्माद् राजेन्द्र भूम्यर्थे नानृतं वक्तुमर्हसि।
मा गमः ससुतामात्यो नाशं पुत्रार्थमब्रुवन्॥ ३९॥

विदुरजी कहते हैं—इसलिये राजेन्द्र! आप पृथ्वीके लिये झूठ न बोलें। बेटेके स्वार्थवश सच्ची बात न कहकर पुत्र और मन्त्रियोंके साथ विनाशके मुखमें न जायँ॥ ३९॥

न देवा दण्डमादाय रक्षन्ति पशुपालवत्।
यं तु रक्षितुमिच्छन्ति बुद्ध्या संविभजन्ति तम्॥ ४०॥

देवतालोग चरवाहोंकी तरह डंडा लेकर किसीका पहरा नहीं देते। वे जिसकी रक्षा करना चाहते हैं, उसे उत्तम बुद्धिसे युक्त कर देते हैं॥ ४०॥

यथा यथा हि पुरुषः कल्याणे कुरुते मनः।
तथा तथास्य सर्वार्थाः सिद्ध्यन्ते नात्र संशयः॥ ४१॥

मनुष्य जैसे-जैसे कल्याणमें मन लगाता है, वैसे-ही-वैसे उसके सारे अभीष्ट सिद्ध होते हैं—इसमें तनिक भी संदेह नहीं है॥ ४१॥

नैनं छन्दांसि वृजिनात् तारयन्ति
मायाविनं मायया वर्तमानम्।
नीडं शकुन्ता इव जातपक्षा-
श्छन्दांस्येनं प्रजहत्यन्तकाले॥ ४२॥

कपटपूर्ण व्यवहार करनेवाले मायावीको वेद पापोंसे मुक्त नहीं करते; किंतु जैसे पंख निकल आनेपर चिड़ियोंके बच्चे घोंसला छोड़ देते हैं, उसी प्रकार वेद भी अन्तकालमें उस (मायावी) को त्याग देते हैं॥ ४२॥

मद्यपानं कलहं पूगवैरं
भार्यापत्योरन्तरं ज्ञातिभेदम्।
राजद्विष्टं स्त्रीपुंसयोर्विवादं
वर्ज्यान्याहुर्यश्च पन्थाः प्रदुष्टः॥ ४३॥

शराब पीना, कलह, समूहके साथ वैर, पति-पत्नीमें भेद पैदा करना, कुटुम्बवालोंमें भेदबुद्धि उत्पन्न करना, राजाके साथ द्वेष, स्त्री और पुरुषमें विवाद और बुरे रास्ते—ये सब त्याग देनेयोग्य बताये गये हैं॥ ४३॥

सामुद्रिकं वणिजं चोरपूर्वं
शलाकधूर्तं च चिकित्सकं च।
अरिं च मित्रं च कुशीलवं च
नैतान् साक्ष्ये त्वधिकुर्वीत सप्त॥ ४४॥

हस्तरेखा देखनेवाला, चोरी करके व्यापार करनेवाला, जुआरी, वैद्य, शत्रु, मित्र और नर्तक—इन सातोंको कभी भी गवाह न बनावे॥ ४४॥

मानाग्निहोत्रमुत मानमौनं
मानेनाधीतमुत मानयज्ञः।
एतानि चत्वार्यभयंकराणि
भयं प्रयच्छन्त्ययथाकृतानि॥ ४५॥

आदरके साथ अग्निहोत्र, आदरपूर्वक मौनका पालन, आदरपूर्वक स्वाध्याय और आदरके साथ यज्ञका अनुष्ठान—

ये चार कर्म भयको दूर करनेवाले हैं; किंतु वे ही यदि ठीक तरहसे सम्पादित न हों तो भय प्रदान करनेवाले होते हैं ॥

अगारदाही गरदः कुण्डाशी सोमविक्रयी ।
पर्वकारश्च सूची च मित्रध्रुक् पारदारिकः ॥ ४६ ॥
भ्रूणहा गुरुतल्पी च यश्च स्यात् पानपो द्विजः ।
अतितीक्ष्णश्च काकश्च नास्तिको वेदनिन्दकः ॥ ४७ ॥
स्रुवप्रग्रहणो व्रात्यः कीनाशश्चात्मवानपि ।
रक्षेत्युक्तश्च यो हिंस्यात् सर्वे ब्रह्महभिः समाः॥ ४८ ॥

घरमें आग लगानेवाला, विष देनेवाला, जारज संतानकी कमाई खानेवाला, सोमरस बेचनेवाला, शस्त्र बनानेवाला, चुगली करनेवाला, मित्रद्रोही, परस्त्रीलम्पट, गर्भकी हत्या करनेवाला, गुरुस्त्रीगामी, ब्राह्मण होकर शराब पीनेवाला, अधिक तीखे स्वभाववाला, कौएकी तरह काँय-काँय करनेवाला, नास्तिक, वेदकी निन्दा करनेवाला, ग्रामपुरोहित, व्रात्य[1], क्रूर तथा शक्तिमान् होते हुए भी 'मेरी रक्षा करो', इस प्रकार कहनेवाले शरणागतका जो वध करता है—ये सब-के-सब ब्रह्महत्यारोंके समान हैं ॥ ४६–४८ ॥

तृणोल्कया ज्ञायते जातरूपं
वृत्तेन भद्रो व्यवहारेण साधुः ।
शूरो भयेष्वर्थकृच्छ्रेषु धीरः
कृच्छ्रेष्वापत्सु सुहृदश्चारयश्च ॥ ४९ ॥

जलती हुई आगसे सुवर्णकी पहचान होती है, सदाचारसे सत्पुरुषकी, व्यवहारसे श्रेष्ठ पुरुषकी; भय प्राप्त होनेपर शूरकी, आर्थिक कठिनाईमें धीरकी और कठिन आपत्तिमें शत्रु एवं मित्रकी परीक्षा होती है ॥ ४९ ॥

जरा रूपं हरति हि धैर्यमाशा
मृत्युः प्राणान् धर्मचर्यामसूया ।
क्रोधः श्रियं शीलमनार्यसेवा
ह्रियं कामः सर्वमेवाभिमानः ॥ ५० ॥

बुढ़ापा (सुन्दर) रूपको, आशा धीरताको, मृत्यु प्राणोंको, असूया (गुणोंमें दोष देखनेका स्वभाव) धर्माचरणको, क्रोध लक्ष्मीको, नीच पुरुषोंकी सेवा सत्स्वभावको, काम लज्जाको और अभिमान सर्वस्वको नष्ट कर देता है ॥ ५० ॥

श्रीर्मङ्गलात् प्रभवति प्रागल्भ्यात् सम्प्रवर्धते ।
दाक्ष्यात् तु कुरुते मूलं संयमात् प्रतितिष्ठति ॥ ५१ ॥

शुभ कर्मोंसे लक्ष्मीकी उत्पत्ति होती है, प्रगल्भतासे वह बढ़ती है, चतुरतासे जड़ जमा लेती है और संयमसे सुरक्षित रहती है ॥ ५१ ॥

अष्टौ गुणाः पुरुषं दीपयन्ति
प्रज्ञा च कौल्यं च दमः श्रुतं च ।
पराक्रमश्चाबहुभाषिता च
दानं यथाशक्ति कृतज्ञता च ॥ ५२ ॥

आठ गुण पुरुषकी शोभा बढ़ाते हैं—बुद्धि, कुलीनता, दम, शास्त्रज्ञान, पराक्रम, बहुत न बोलना, यथाशक्ति दान देना और कृतज्ञ होना ॥ ५२ ॥

एतान् गुणांस्तात महानुभावा-
नेको गुणः संश्रयते प्रसह्य ।
राजा यदा सत्कुरुते मनुष्यं
सर्वान् गुणानेष गुणो विभाति॥ ५३ ॥

तात ! एक गुण ऐसा है, जो इन सभी महत्त्वपूर्ण गुणोंपर हठात् अधिकार जमा लेता है । जिस समय राजा किसी मनुष्यका सत्कार करता है, उस समय यह एक ही गुण (राजसम्मान) सभी गुणोंसे बढ़कर शोभा पाता है ॥ ५३ ॥

अष्टौ नृपेमानि मनुष्यलोके
स्वर्गस्य लोकस्य निदर्शनानि ।
चत्वार्येषामन्ववेतानि सद्भि-
श्चत्वारि चैषामनुयान्ति सन्तः ॥ ५४ ॥

राजन् ! मनुष्यलोकमें ये आठ गुण स्वर्गलोकका दर्शन करानेवाले हैं; इनमेंसे चार तो संतोंके साथ नित्य सम्बद्ध हैं—उनमें सदा विद्यमान रहते हैं और चारका सज्जन पुरुष अनुसरण करते हैं ॥ ५४ ॥

यज्ञो दानमध्ययनं तपश्च
चत्वार्येतान्यन्ववेतानि सद्भिः ।
दमः सत्यमार्जवमानृशंस्यं
चत्वार्येतान्यनुयान्ति सन्तः ॥ ५५ ॥

यज्ञ, दान, शास्त्रोंका अध्ययन और तप—ये चार सज्जनोंके साथ नित्य सम्बद्ध हैं; और इन्द्रियनिग्रह, सत्य, सरलता तथा कोमलता—इन चारोंका संतलोग अनुसरण करते हैं ॥ ५५ ॥

इज्याध्ययनदानानि तपः सत्यं क्षमा घृणा ।
अलोभ इति मार्गोऽयं धर्मस्याष्टविधः स्मृतः ॥ ५६ ॥

यज्ञ, अध्ययन, दान, तप, सत्य, क्षमा, दया और निर्लोभता—ये धर्मके आठ प्रकारके मार्ग बताये गये हैं ॥

तत्र पूर्वचतुर्वर्गो दम्भार्थमपि सेव्यते ।
उत्तरश्च चतुर्वर्गो नामहात्मसु तिष्ठति ॥ ५७ ॥

इनमेंसे पहले चारोंका तो कोई (दम्भी पुरुष भी) दम्भके लिये सेवन कर सकता है, परंतु अन्तिम चार तो जो महात्मा नहीं हैं, उनमें रह ही नहीं सकते ॥ ५७ ॥

१. यज्ञोपवीतहीन पिताका पुत्र, उपनयन-संस्कारका समय व्यतीत होनेपर भी यज्ञोपवीतरहित, विवाहित होनेपर भी यज्ञोपवीत-हीन—ये तीन प्रकारके 'व्रात्य' कहे गये हैं ।

न सा सभा यत्र न सन्ति वृद्धा
न ते वृद्धा ये न वदन्ति धर्मम् ।
नासौ धर्मो यत्र न सत्यमस्ति
न तत् सत्यं यच्छलेनाभ्युपेतम् ॥ ५८ ॥

जिस सभामें बड़े-बूढ़े नहीं, वह सभा नहीं; जो धर्मकी बात न कहें, वे बूढ़े नहीं; जिसमें सत्य नहीं, वह धर्म नहीं और जो कपटसे पूर्ण हो, वह सत्य नहीं है ॥ ५८ ॥

सत्यं रूपं श्रुतं विद्या कौल्यं शीलं बलं धनम् ।
शौर्यं च चित्रभाष्यं च दशेमे स्वर्गयोनयः ॥ ५९ ॥

सत्य, विनयकी मुद्रा, शास्त्रज्ञान, विद्या, कुलीनता, शील, बल, धन, शूरता और चमत्कारपूर्ण बात कहना—ये दस स्वर्गके हेतु हैं ॥ ५९ ॥

पापं कुर्वन् पापकीर्तिः पापमेवाश्नुते फलम् ।
पुण्यं कुर्वन् पुण्यकीर्तिः पुण्यमत्यन्तमश्नुते ॥ ६० ॥

पापकीर्तिवाला निन्दित मनुष्य पापाचरण करता हुआ पापके फलको ही प्राप्त करता है और पुण्य कीर्तिवाला (प्रशंसित) मनुष्य पुण्य करता हुआ अत्यन्त पुण्यफलका ही उपभोग करता है ॥ ६० ॥

तस्मात् पापं न कुर्वीत पुरुषः शंसितव्रतः ।
पापं प्रज्ञां नाशयति क्रियमाणं पुनः पुनः ॥ ६१ ॥

इसलिये प्रशंसित व्रतका आचरण करनेवाले पुरुषको पाप नहीं करना चाहिये; क्योंकि बारंबार किया हुआ पाप बुद्धिको नष्ट कर देता है ॥ ६१ ॥

नष्टप्रज्ञः पापमेव नित्यमारभते नरः ।
पुण्यं प्रज्ञां वर्धयति क्रियमाणं पुनः पुनः ॥ ६२ ॥

जिसकी बुद्धि नष्ट हो जाती है, वह मनुष्य सदा पाप ही करता रहता है। इसी प्रकार बारंबार किया हुआ पुण्य बुद्धिको बढ़ाता है ॥ ६२ ॥

वृद्धप्रज्ञः पुण्यमेव नित्यमारभते नरः ।
पुण्यं कुर्वन् पुण्यकीर्तिः पुण्यं स्थानं स्म गच्छति।
तस्मात् पुण्यं निषेवेत पुरुषः सुसमाहितः ॥ ६३ ॥

जिसकी बुद्धि बढ़ जाती है, वह मनुष्य सदा पुण्य ही करता है। इस प्रकार पुण्यकर्मा मनुष्य पुण्य करता हुआ पुण्यलोकको ही जाता है। इसलिये मनुष्यको चाहिये कि वह सदा एकाग्रचित्त होकर पुण्यका ही सेवन करे ॥ ६३ ॥

असूयको दन्दशूको निष्ठुरो वैरकृच्छठः ।
स कृच्छ्रं महदाप्नोति न चिरात् पापमाचरन् ॥ ६४ ॥

गुणोंमें दोष देखनेवाला, मर्मपर आघात करनेवाला, निर्दयी, शत्रुता करनेवाला और शठ मनुष्य पापका आचरण करता हुआ शीघ्र ही महान् कष्टको प्राप्त होता है ॥ ६४ ॥

अनसूयुः कृतप्रज्ञः शोभनान्याचरन् सदा ।
न कृच्छ्रं महदाप्नोति सर्वत्र च विरोचते ॥ ६५ ॥

दोषदृष्टिसे रहित शुद्ध बुद्धिवाला पुरुष सदा शुभकर्मोंका अनुष्ठान करता हुआ महान् सुखको प्राप्त होता है और सर्वत्र उसका सम्मान होता है ॥ ६५ ॥

प्रज्ञामेवागमयति यः प्राज्ञेभ्यः स पण्डितः ।
प्राज्ञो ह्यवाप्य धर्मार्थौ शक्नोति सुखमेधितुम् ॥ ६६ ॥

जो बुद्धिमान् पुरुषोंसे सद्बुद्धि प्राप्त करता है, वही पण्डित है; क्योंकि बुद्धिमान् पुरुष ही धर्म और अर्थको प्राप्तकर अनायास ही अपनी उन्नति करनेमें समर्थ होता है ॥ ६६ ॥

दिवसेनैव तत् कुर्याद् येन रात्रौ सुखं वसेत् ।
अष्टमासेन तत् कुर्याद् येन वर्षाः सुखं वसेत्॥ ६७ ॥

दिनभरमें ही वह कार्य कर ले, जिससे रातमें सुखसे रह सके और आठ महीनोंमें वह कार्य कर ले, जिससे वर्षाके चार महीने सुखसे व्यतीत कर सके ॥ ६७ ॥

पूर्वे वयसि तत् कुर्याद् येन वृद्धः सुखं वसेत् ।
यावज्जीवेन तत् कुर्याद् येन प्रेत्य सुखं वसेत् ॥ ६८ ॥

पहली अवस्थामें वह काम करे, जिससे वृद्धावस्थामें सुखपूर्वक रह सके और जीवनभर वह कार्य करे, जिससे मरनेके बाद भी (परलोकमें) सुखसे रह सके ॥ ६८ ॥

जीर्णमन्नं प्रशंसन्ति भार्यां च गतयौवनाम् ।
शूरं विजितसंग्रामं गतपारं तपस्विनम् ॥ ६९ ॥

सज्जन पुरुष पच जानेपर अन्नकी, (निष्कलङ्क) यौवन बीत जानेपर स्त्रीकी, संग्राम जीत लेनेपर शूरकी और संसारसागरको पार कर लेनेपर तपस्वीकी प्रशंसा करते हैं ॥ ६९ ॥

धनेनाधर्मलब्धेन यच्छिद्रमपिधीयते ।
असंवृतं तद् भवति ततोऽन्यदवदीर्यते ॥ ७० ॥

अधर्मसे प्राप्त हुए धनके द्वारा जो दोष छिपाया जाता है, वह तो छिपता नहीं; (परंतु दोष छिपानेके कारण) उससे भिन्न और नया दोष प्रकट हो जाता है ॥ ७० ॥

गुरुरात्मवतां शास्ता शास्ता राजा दुरात्मनाम्।
अथ प्रच्छन्नपापानां शास्ता वैवस्वतो यमः ॥ ७१ ॥

अपने मन और इन्द्रियोंको वशमें करनेवाले शिष्योंके शासक गुरु हैं, दुष्टोंके शासक राजा हैं और छिपे-छिपे पाप करनेवालोंके शासक सूर्यपुत्र यमराज हैं॥ ७१ ॥

ऋषीणां च नदीनां च कुलानां च महात्मनाम् ।
प्रभवो नाधिगन्तव्यः स्त्रीणां दुश्चरितस्य च ॥ ७२ ॥

ऋषि, नदी, वंश एवं महात्माओंका तथा स्त्रियोंके दुश्चरित्रका उत्पत्तिस्थान नहीं जाना जा सकता ॥ ७२ ॥

द्विजातिपूजाभिरतो दाता ज्ञातिषु चार्जवी ।
क्षत्रियः शीलभाग् राजंश्चिरं पालयते महीम् ॥ ७३ ॥

राजन् ! ब्राह्मणोंकी सेवा-पूजामें संलग्न रहनेवाला, दाता, कुटुम्बीजनोंके प्रति कोमलताका वर्ताव करनेवाला और शीलवान् राजा चिरकालतक पृथ्वीका पालन करता है ॥ ७३ ॥

सुवर्णपुष्पां पृथिवीं चिन्वन्ति पुरुषास्त्रयः ।
शूरश्च कृतविद्यश्च यश्च जानाति सेवितुम् ॥ ७४ ॥

शूर, विद्वान् और सेवाधर्मको जाननेवाले—ये तीन प्रकारके मनुष्य पृथ्वीरूप लतासे सुवर्णरूपी पुष्पका संचय करते हैं ॥

बुद्धिश्रेष्ठानि कर्माणि बाहुमध्यानि भारत ।
तानि जङ्घाजघन्यानि भारप्रत्यवराणि च ॥ ७५ ॥

भारत ! बुद्धिसे विचारकर किये हुए कर्म श्रेष्ठ होते हैं, बाहुबलसे किये जानेवाले कर्म मध्यम श्रेणीके हैं, जङ्घासे किये जानेवाले कार्य अधम हैं और भार ढोनेका काम महान् अधम है ॥ ७५ ॥

दुर्योधनेऽथ शकुनौ मूढे दुःशासने तथा ।
कर्णे चैश्वर्यमाधाय कथं त्वं भूतिमिच्छसि ॥ ७६ ॥

राजन् ! अब आप दुर्योधन, शकुनि, मूर्ख दुःशासन तथा कर्णपर राज्यका भार रखकर उन्नति कैसे चाहते हैं ?॥

सर्वैर्गुणैरुपेतास्तु पाण्डवा भरतर्षभ ।
पितृवत् त्वयि वर्तन्ते तेषु वर्तस्व पुत्रवत् ॥ ७७ ॥

भरतश्रेष्ठ ! पाण्डव तो सभी उत्तम गुणोंसे सम्पन्न हैं और आपमें पिताका-सा भाव रखकर वर्ताव करते हैं; आप भी उनपर पुत्रभाव रखकर उचित वर्ताव कीजिये ॥ ७७ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि प्रजागरपर्वणि विदुरनीतिवाक्ये पञ्चत्रिंशोऽध्यायः ॥ ३५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत प्रजागरपर्वमें विदुरजीके नीतिवाक्यविषयक पैंतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३५ ॥

षट्त्रिंशोऽध्यायः

दत्तात्रेय और साध्य देवताओंके संवादका उल्लेख करके महाकुलीन लोगोंका लक्षण बतलाते हुए विदुरका धृतराष्ट्रको समझाना

विदुर उवाच

अत्रैवोदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
आत्रेयस्य च संवादं साध्यानां चेति नः श्रुतम् ॥ १ ॥

विदुरजी कहते हैं—राजन् ! इस विषयमें लोग दत्तात्रेय और साध्यदेवताओंके संवादरूप इस प्राचीन इतिहासका उदाहरण दिया करते हैं; यह मेरा भी सुना हुआ है ॥ १ ॥

चरन्तं हंसरूपेण महर्षिं संशितव्रतम् ।
साध्या देवा महाप्राज्ञं पर्यपृच्छन्त वै पुरा ॥ २ ॥

प्राचीन कालकी बात है, उत्तम व्रतवाले महाबुद्धिमान् महर्षि दत्तात्रेयजी हंस (परमहंस) रूपसे विचर रहे थे; उस समय साध्यदेवताओंने उनसे पूछा ॥ २ ॥

साध्या ऊचुः

साध्या देवा वयमेते महर्षे
दृष्ट्वा भवन्तं न शक्नुमोऽनुमातुम् ।
श्रुतेन धीरो बुद्धिमांस्त्वं मतो नः
काव्यां वाचं वक्तुमर्हस्युदाराम् ॥ ३ ॥



साध्य बोले—महर्षे ! हम सब लोग साध्यदेवता हैं, केवल आपको देखकर हम आपके विषयमें कुछ अनुमान नहीं कर सकते । हमें तो आप शास्त्रज्ञानसे युक्त, धीर एवं बुद्धिमान् जान पड़ते हैं; अतः हमलोगोंको अपनी विद्वत्तापूर्ण उदार वाणी सुनानेकी कृपा करें ॥ ३ ॥

हंस उवाच

एतत् कार्यममराः संश्रुतं मे
धृतिः शमः सत्यधर्मानुवृत्तिः।
ग्रन्थिं विनीय हृदयस्य सर्वं
प्रियाप्रिये चात्मसमं नयीत ॥ ४ ॥

परमहंसने कहा—साध्यदेवताओ! मैंने सुना है कि धैर्य-धारण, मनोनिग्रह तथा सत्य-धर्मोंका पालन ही कर्तव्य है; इसके द्वारा पुरुषको चाहिये कि हृदयकी सारी गाँठ खोलकर प्रिय और अप्रियको अपने आत्माके समान समझे ॥ ४ ॥

आक्रुश्यमानो नाक्रोशेन्मन्युरेव तितिक्षतः।
आक्रोष्टारं निर्दहति सुकृतं चास्य विन्दति ॥ ५ ॥

दूसरोंसे गाली सुनकर भी स्वयं उन्हें गाली न दे। (गालीको) सहन करनेवालेका रोका हुआ क्रोध ही गाली देनेवालेको जला डालता है और उसके पुण्यको भी ले लेता है ॥ ५ ॥

नाक्रोशी स्यान्नावमानी परस्य
मित्रद्रोही नोत नीचोपसेवी।
न चाभिमानी न च हीनवृत्तो
रूक्षां वाचं रुषतीं वर्जयीत ॥ ६ ॥

दूसरोंको न तो गाली दे और न उनका अपमान करे, मित्रोंसे द्रोह तथा नीच पुरुषोंकी सेवा न करे, सदाचारसे हीन एवं अभिमानी न हो, रूखी तथा रोषभरी वाणीका परित्याग करे ॥ ६ ॥

मर्माण्यस्थीनि हृदयं तथासून्
रूक्षा वाचो निर्दहन्तीः पुंसाम्।
तस्माद् वाचमुषतीं रूक्षरूपां
धर्मारामो नित्यशो वर्जयीत ॥ ७ ॥

इस जगत्‌में रूखी बातें मनुष्योंके मर्मस्थान, हड्डी, हृदय तथा प्राणोंको दग्ध करती रहती हैं; इसलिये धर्मानुरागी पुरुष जलानेवाली रूखी बातोंका सदाके लिये परित्याग कर दे ॥ ७ ॥

अरुन्तुदं परुषं रूक्षवाचं
वाक्कण्टकैर्वितुदन्तं मनुष्यान्।
विद्यादलक्ष्मीकतमं जनानां
मुखे निबद्धां निर्ऋतिं वै वहन्तम् ॥ ८ ॥

जिसकी वाणी रूखी और स्वभाव कठोर है, जो मर्मस्थानपर आघात करता और वाग्बाणोंसे मनुष्योंको पीड़ा पहुँचाता है, उसे ऐसा समझना चाहिये कि वह मनुष्योंमें महादरिद्र है और वह अपने मुखमें दरिद्रता अथवा मौतको बाँधे हुए ढो रहा है ॥ ८ ॥

परश्चेदेनमभिविध्येत बाणै-
र्भृशं सुतीक्ष्णैरनलार्कदीप्तैः।
स विध्यमानोऽप्यतिदह्यमानो
विद्यात् कविः सुकृतं मे दधाति ॥ ९ ॥

यदि दूसरा कोई इस मनुष्यको अग्नि और सूर्यके समान दग्ध करनेवाले अत्यन्त तीखे वाग्बाणोंसे बहुत चोट पहुँचावे तो वह विद्वान् पुरुष चोट खाकर अत्यन्त वेदना सहते हुए भी ऐसा समझे कि वह मेरे पुण्योंको पुष्ट कर रहा है ॥ ९ ॥

यदि सन्तं सेवति यद्यसन्तं
तपस्विनं यदि वा स्तेनमेव।
वासो यथा रङ्गवशं प्रयाति
तथा स तेषां वशमभ्युपैति ॥ १० ॥

जैसे वस्त्र जिस रंगमें रँगा जाय, वैसा ही हो जाता है, उसी प्रकार यदि कोई सज्जन, असज्जन, तपस्वी अथवा चोरकी सेवा करता है तो वह उन्हींके वशमें हो जाता है—उसपर उन्हींका रंग चढ़ जाता है ॥ १० ॥

अतिवादं न प्रवदेन्न वादयेत्
योऽनाहतः प्रतिहन्यान्न घातयेत्।
हन्तुं च यो नेच्छति पापकं वै
तस्मै देवाः स्पृहयन्त्यागताय ॥ ११ ॥

जो स्वयं किसीके प्रति बुरी बात नहीं कहता, दूसरोंसे भी नहीं कहलाता, बिना मार खाये स्वयं न तो किसीको मारता है और न दूसरोंसे ही मरवाता है, मार खाकर भी अपराधीको जो मारना नहीं चाहता, (स्वर्गमें) देवता भी उसके आगमनकी बाट जोहते रहते हैं ॥ ११ ॥

अव्याहृतं व्याहृताच्छ्रेय आहुः
सत्यं वदेद् व्याहृतं तद् द्वितीयम्।
प्रियं वदेद् व्याहृतं तत् तृतीयं
धर्मं वदेद् व्याहृतं तच्चतुर्थम् ॥ १२ ॥

बोलनेसे न बोलना ही अच्छा बताया गया है, (यह वाणीकी प्रथम विशेषता है और यदि बोलना ही पड़े तो) सत्य बोलना वाणीकी दूसरी विशेषता है यानी मौनकी अपेक्षा भी अधिक लाभप्रद है। (सत्य और) प्रिय बोलना वाणीकी तीसरी विशेषता है। यदि सत्य और प्रियके साथ ही धर्मसम्मत भी कहा जाय, तो वह वचनकी चौथी विशेषता है। (इनमें उत्तरोत्तर श्रेष्ठता है) ॥ १२ ॥

यादृशैः संनिविशते यादृशांश्चोपसेवते।
यादृगिच्छेच्च भवितुं तादृग् भवति पूरुषः ॥ १३ ॥

मनुष्य जैसे लोगोंके साथ रहता है, जैसे लोगोंकी सेवा करता है और जैसा होना चाहता है, वैसा ही हो जाता है ॥

यतो यतो निवर्तते ततस्ततो विमुच्यते।
निवर्तनाद्धि सर्वतो न वेत्ति दुःखमण्वपि ॥ १४ ॥

मनुष्य जिन-जिन विषयोंसे मनको हटाता जाता है, उन-उनसे उसकी मुक्ति होती जाती है; इस प्रकार यदि सब ओरसे निवृत्ति हो जाय तो उसे लेशमात्र दुःखका भी कभी अनुभव नहीं होता ॥ १४ ॥

न जीयते चानुजिगीषतेऽन्यान्
न वैरकृच्चाप्रतिघातकश्च ।
निन्दाप्रशंसासु समस्वभावो
न शोचते हृष्यति नैव चायम् ॥ १५ ॥

जो न तो स्वयं किसीसे जीता जाता, न दूसरोंको जीतनेकी इच्छा करता है, न किसीके साथ वैर करता और न दूसरोंको चोट पहुँचाना चाहता है, जो निन्दा और प्रशंसामें समानभाव रखता है, वह हर्ष-शोकसे परे हो जाता है ॥

भावमिच्छति सर्वस्य नाभावे कुरुते मनः ।
सत्यवादी मृदुर्दान्तो यः स उत्तमपूरुषः ॥ १६ ॥

जो सबका कल्याण चाहता है, किसीके अकल्याणकी बात मनमें भी नहीं लाता, जो सत्यवादी, कोमल और जितेन्द्रिय है, वह उत्तम पुरुष माना गया है ॥ १६ ॥

नानर्थकं सान्त्वयति प्रतिज्ञाय ददाति च ।
रन्ध्रं परस्य जानाति यः स मध्यमपूरुषः ॥ १७ ॥

जो झूठी सान्त्वना नहीं देता, देनेकी प्रतिज्ञा करके दे ही देता है, दूसरोंके दोषोंको जानता है, वह मध्यम श्रेणीका पुरुष है ॥ १७ ॥

दुःशासनस्तूपहतोऽभिशस्तो
नावर्तते मन्युवशात् कृतघ्नः ।
न कस्यचिन्मित्रमथो दुरात्मा
कलाश्चैता अधमस्येह पुंसः ॥ १८ ॥

जिसका शासन अत्यन्त कठोर हो, जो अनेक दोषोंसे दूषित हो, कलङ्कित हो, जो क्रोधवश किसीकी बुराई करनेसे नहीं हटता हो, दूसरोंकेद्वारा किये हुए उपकारको नहीं मानता हो, जिसकी किसीके साथ मित्रता नहीं हो तथा जो दुरात्मा हो—ये अधम पुरुषके भेद हैं ॥ १८ ॥

न श्रद्दधाति कल्याणं परेभ्योऽप्यात्मशङ्कितः ।
निराकरोति मित्राणि यो वै सोऽधमपूरुषः ॥ १९ ॥

जो अपने ही ऊपर संदेह होनेके कारण दूसरोंसे भी कल्याण होनेका विश्वास नहीं करता, मित्रोंको भी दूर रखता है, वह अवश्य ही अधम पुरुष है ॥ १९ ॥

उत्तमानेव सेवेत प्राप्तकाले तु मध्यमान् ।
अधमांस्तु न सेवेत य इच्छेद् भूतिमात्मनः ॥ २० ॥

जो अपनी ऐश्वर्यवृद्धि चाहता है, वह उत्तम पुरुषोंकी ही सेवा करे, समय आ पड़नेपर मध्यम पुरुषोंकी भी सेवा कर ले, परंतु अधम पुरुषोंकी सेवा कदापि न करे ॥ २० ॥

प्राप्नोति वै वित्तमसद्बलेन
नित्योत्थानात् प्रज्ञया पौरुषेण ।
न त्वेव सम्यग् लभते प्रशंसां
न वृत्तमाप्नोति महाकुलानाम् ॥ २१ ॥

मनुष्य दुष्ट पुरुषोंके बलसे, निरन्तरके उद्योगसे, बुद्धिसे तथा पुरुषार्थसे धन भले ही प्राप्त कर ले; परंतु इससे उत्तम कुलीन पुरुषोंके सम्मान और सदाचारको वह पूर्णरूपसे कदापि नहीं प्राप्त कर सकता ॥ २१ ॥

धृतराष्ट्र उवाच

महाकुलेभ्यः स्पृहयन्ति देवा
धर्मार्थनित्याश्च बहुश्रुताश्च ।
पृच्छामि त्वां विदुर प्रश्नमेतं
भवन्ति वै कानि महाकुलानि ॥ २२ ॥

धृतराष्ट्रने कहा—विदुर ! धर्म और अर्थके अनुष्ठानमें परायण एवं बहुश्रुत देवता भी उत्तम कुलमें उत्पन्न पुरुषोंकी इच्छा करते हैं। इसलिये मैं तुमसे यह प्रश्न करता हूँ कि महान् (उत्तम) कुलीन कौन हैं ? ॥ २२ ॥

विदुर उवाच

तपो दमो ब्रह्मवित्तं वितानाः
पुण्या विवाहाः सततान्नदानम् ।
येष्वेवैते सप्त गुणा वसन्ति
सम्यग्वृत्तास्तानि महाकुलानि ॥ २३ ॥

विदुरजी बोले—राजन्! जिनमें तप, इन्द्रियसंयम, वेदोंका स्वाध्याय, यज्ञ, पवित्र विवाह, सदा अन्नदान और सदाचार—ये सात गुण वर्तमान हैं, उन्हें महान् (उत्तम) कुलीन कहते हैं ॥

येषां हि वृत्तं व्यथते न योनि-
श्चित्तप्रसादेन चरन्ति धर्मम् ।
ते कीर्तिमिच्छन्ति कुले विशिष्टां
त्यक्तानृतास्तानि महाकुलानि ॥ २४ ॥

जिनका सदाचार शिथिल नहीं होता, जो अपने दोषोंसे माता-पिताको कष्ट नहीं पहुँचाते, प्रसन्न चित्तसे धर्मका आचरण करते हैं तथा असत्यका परित्याग कर अपने कुलकी विशेष कीर्ति चाहते हैं, वे ही महान् कुलीन हैं ॥ २४ ॥

अनिज्यया कुविवाहैर्वेदस्योत्सादनेन च ।
कुलान्यकुलतां यान्ति धर्मस्यातिक्रमेण च ॥ २५ ॥

यज्ञ न होनेसे, निन्दित कुलमें विवाह करनेसे, वेदका त्याग और धर्मका उल्लङ्घन करनेसे उत्तम कुल भी अधम हो जाते हैं ॥ २५ ॥

देवद्रव्यविनाशेन ब्रह्मस्वहरणेन च ।
कुलान्यकुलतां यान्ति ब्राह्मणातिक्रमेण च ॥ २६ ॥

देवताओंके धनका नाश, ब्राह्मणके धनका अपहरण और ब्राह्मणोंकी मर्यादाका उल्लङ्घन करनेसे उत्तम कुल भी अधम हो जाते हैं ॥ २६ ॥

ब्राह्मणानां परिभवात् परिवादाच्च भारत।
कुलान्यकुलतां यान्ति न्यासापहरणेन च ॥ २७ ॥

भारत ! ब्राह्मणोंके अनादर और निन्दासे तथा धरोहर रक्खी हुई वस्तुको छिपा लेनेसे अच्छे कुल भी निन्दनीय हो जाते हैं ॥ २७ ॥

कुलानि समुपेतानि गोभिः पुरुषतोऽर्थतः।
कुलसंख्यां न गच्छन्ति यानि हीनानि वृत्ततः ॥ २८ ॥

गौओं, मनुष्यों और धनसे सम्पन्न होकर भी जो कुल सदाचारसे हीन हैं, वे अच्छे कुलोंकी गणनामें नहीं आ सकते ॥ २८ ॥

वृत्ततस्त्वविहीनानि कुलान्यल्पधनान्यपि।
कुलसंख्यां च गच्छन्ति कर्षन्ति च महद् यशः ॥ २९ ॥

थोड़े धनवाले कुल भी यदि सदाचारसे सम्पन्न हैं तो वे अच्छे कुलोंकी गणनामें आ जाते हैं और महान् यश प्राप्त करते हैं ॥ २९ ॥

वृत्तं यत्नेन संरक्षेद् वित्तमेति च याति च।
अक्षीणो वित्ततः क्षीणो वृत्ततस्तु हतो हतः ॥ ३० ॥

सदाचारकी रक्षा यत्नपूर्वक करनी चाहिये; धन तो आता और जाता रहता है। धन क्षीण हो जानेपर भी सदाचारी मनुष्य क्षीण नहीं माना जाता; किंतु जो सदाचारसे भ्रष्ट हो गया, उसे तो नष्ट ही समझना चाहिये ॥ ३० ॥

गोभिः पशुभिरश्वैश्च कृष्या च सुसमृद्धया।
कुलानि न प्ररोहन्ति यानि हीनानि वृत्ततः ॥ ३१ ॥

जो कुल सदाचारसे हीन हैं, वे गौओं, पशुओं, घोड़ों तथा हरी-भरी खेतीसे सम्पन्न होनेपर भी उन्नति नहीं कर पाते ॥ ३१ ॥

मा नः कुले वैरकृत् कश्चिदस्तु
राजामात्यो मा परस्वापहारी।
मित्रद्रोही नैकृतिकोऽनृती वा
पूर्वाशी वा पितृदेवातिथिभ्यः ॥ ३२ ॥

हमारे कुलमें कोई वैर करनेवाला न हो, दूसरोंके धनका अपहरण करनेवाला राजा अथवा मन्त्री न हो और मित्रद्रोही, कपटी तथा असत्यवादी न हो। इसी प्रकार माता-पिता, देवता एवं अतिथियोंको भोजन करानेसे पहले भोजन करनेवाला भी न हो ॥ ३२ ॥

यश्च नो ब्राह्मणान् हन्याद् यश्च नो ब्राह्मणान् द्विषेत्।
न नः स समितिं गच्छेद् यश्च नो निर्वपेत् पितॄन् ॥ ३३ ॥

हमलोगोंमेंसे जो ब्राह्मणोंकी हत्या करे, ब्राह्मणोंके साथ द्वेष करे तथा पितरोंको पिण्डदान एवं तर्पण न करे, वह हमारी सभामें न प्रवेश करे ॥ ३३ ॥

तृणानि भूमिरुदकं वाक् चतुर्थी च सूनृता।
सतामेतानि गेहेषु नोच्छिद्यन्ते कदाचन ॥ ३४ ॥

तृणका आसन, पृथ्वी, जल और चौथी मीठी वाणी—सज्जनोंके घरमें इन चार चीजोंकी कभी-कमी नहीं होती ॥ ३४ ॥

श्रद्धया परया राजन्नुपनीतानि सत्कृतिम्।
प्रवृत्तानि महाप्राज्ञ धर्मिणां पुण्यकर्मिणाम् ॥ ३५ ॥

महाप्राज्ञ राजन् ! पुण्यकर्म करनेवाले धर्मात्मा पुरुषोंके यहाँ ये (उपर्युक्त वस्तुएँ) बड़ी श्रद्धाके साथ सत्कारके लिये उपस्थित की जाती हैं ॥ ३५ ॥

सूक्ष्मोऽपि भारं नृपते स्यन्दनो वै
शक्तो वोढुं न तथान्ये महीजाः।
एवं युक्ता भारसहा भवन्ति
महाकुलीना न तथान्ये मनुष्याः ॥ ३६ ॥

नृपवर ! रथ छोटा-सा होनेपर भी भार ढो सकता है, किंतु दूसरे काठ बड़े-बड़े होनेपर भी ऐसा नहीं कर सकते। इसी प्रकार उत्तम कुलमें उत्पन्न उत्साही पुरुष भार सह सकते हैं, दूसरे मनुष्य वैसे नहीं होते ॥ ३६ ॥

न तन्मित्रं यस्य कोपाद् बिभेति
यद् वा मित्रं शङ्कितेनोपचर्यम्।
यस्मिन् मित्रे पितरीवाश्वसीत
तद् वै मित्रं सङ्गतानीतराणि ॥ ३७ ॥

जिसके कोपसे भयभीत होना पड़े तथा शङ्कित होकर जिसकी सेवा की जाय, वह मित्र नहीं है। मित्र तो वही है, जिसपर पिताकी भाँति विश्वास किया जा सके; दूसरे तो साथीमात्र हैं ॥ ३७ ॥

यः कश्चिदप्यसम्बद्धो मित्रभावेन वर्तते।
स एव बन्धुस्तन्मित्रं सा गतिस्तत् परायणम् ॥ ३८ ॥

पहलेसे कोई सम्बन्ध न होनेपर भी जो मित्रताका बर्ताव करे, वही बन्धु, वही मित्र, वही सहारा और वही आश्रय है ॥ ३८ ॥

चलचित्तस्य वै पुंसो वृद्धाननुपसेवतः।
पारिप्लवमतेर्नित्यमध्रुवो मित्रसंग्रहः ॥ ३९ ॥

जिसका चित्त चञ्चल है, जो वृद्धोंकी सेवा नहीं करता, उस अनिश्चितमति पुरुषके लिये मित्रोंका संग्रह स्थायी नहीं होता ॥ ३९ ॥

चलचित्तमनात्मानमिन्द्रियाणां वशानुगम्।
अर्थाः समभिवर्तन्ते हंसाः शुष्कं सरो यथा ॥ ४० ॥

जैसे सूखे सरोवरके ऊपर ही हंस मँड़राकर रह जाते हैं, उसके भीतर नहीं प्रवेश करते, उसी प्रकार जिसका चित्त चञ्चल है, जो अज्ञानी और इन्द्रियोंका गुलाम है, अर्थ उसको त्याग देते हैं ॥ ४० ॥

अकस्मादेव कुप्यन्ति प्रसीदन्त्यनिमित्ततः।
शीलमेतदसाधूनामभ्रं पारिप्लवं यथा ॥ ४१ ॥

दुष्ट पुरुषोंका स्वभाव मेघके समान चञ्चल होता है, वे सहसा क्रोध कर बैठते हैं और अकारण ही प्रसन्न हो जाते हैं ॥ ४१ ॥

सत्कृताश्च कृतार्थाश्च मित्राणां न भवन्ति ये।
तान् मृतानपि क्रव्यादाः कृतघ्नान् नोपभुञ्जते ॥ ४२ ॥

जो मित्रोंसे सत्कार पाकर और उनकी सहायतासे कृतकार्य होकर भी उनके नहीं होते, ऐसे कृतघ्नोंके मरनेपर उनका मांस मांसभोजी जन्तु भी नहीं खाते ॥ ४२ ॥

अर्चयेदेव मित्राणि सति वासति वा धने।
नानर्थयन् प्रजानाति मित्राणां सारफल्गुताम् ॥ ४३ ॥

धन हो या न हो, मित्रोंसे कुछ भी न माँगते हुए उनका सत्कार तो करे ही। मित्रोंके सार-असारकी परीक्षा न करे ॥ ४३ ॥

संतापाद् भ्रश्यते रूपं संतापाद् भ्रश्यते बलम्।
संतापाद् भ्रश्यते ज्ञानं संतापाद् व्याधिमृच्छति॥ ४४॥

संताप (शोक) से रूप नष्ट होता है, संतापसे बल नष्ट होता है, संतापसे ज्ञान नष्ट होता है और संतापसे मनुष्य रोगको प्राप्त होता है ॥ ४४ ॥

अनवाप्यं च शोकेन शरीरं चोपतप्यते।
अमित्राश्च प्रहृष्यन्ति मा स्म शोके मनः कृथाः ॥ ४५ ॥

अभीष्ट वस्तु शोक करनेसे नहीं मिलती; उससे तो केवल शरीर संतप्त होता है और शत्रु प्रसन्न होते हैं। इसलिये आप मनमें शोक न करें ॥ ४५ ॥

पुनर्नरो म्रियते जायते च
पुनर्नरो हीयते वर्धते च।
पुनर्नरो याचति याच्यते च
पुनर्नरः शोचति शोच्यते च ॥ ४६ ॥

मनुष्य बार-बार मरता और जन्म लेता है, बार-बार क्षय और वृद्धिको प्राप्त होता है, बार-बार स्वयं दूसरेसे याचना करता है और दूसरे उससे याचना करते हैं तथा बारंबार वह दूसरोंके लिये शोक करता है और दूसरे उसके लिये शोक करते हैं ॥ ४६ ॥

सुखं च दुःखं च भवाभवौ च
लाभालाभौ मरणं जीवितं च।
पर्यायशः सर्वमेते स्पृशन्ति
तस्माद् धीरो न च हृष्येन्न शोचेत्॥४७॥

सुख-दुःख, उत्पत्ति-विनाश, लाभ-हानि और जीवन-मरण—ये क्रमशः सबको प्राप्त होते रहते हैं; इसलिये धीर पुरुषको इनके लिये हर्ष और शोक नहीं करना चाहिये ॥ ४७ ॥

चलानि हीमानि षडिन्द्रियाणि
तेषां यद् यद् वर्धते यत्र यत्र।
ततस्ततः स्रवते बुद्धिरस्य
छिद्रोदकुम्भादिव नित्यमम्भः ॥ ४८ ॥

ये छः इन्द्रियाँ बहुत ही चञ्चल हैं; इनमेंसे जो-जो इन्द्रिय जिस-जिस विषयकी ओर बढ़ती है, वहाँ-वहाँ बुद्धि उसी प्रकार क्षीण होती है, जैसे फूटे घड़ेसे पानी सदा चू जाता है ॥ ४८ ॥

धृतराष्ट्र उवाच

तनुरुद्धः शिखी राजा मिथ्योपचरितो मया।
मन्दानां मम पुत्राणां युद्धेनान्तं करिष्यति ॥ ४९ ॥

धृतराष्ट्रने कहा—विदुर ! सूक्ष्म धर्मसे बँधे हुए, शिखासे सुशोभित होनेवाले राजा युधिष्ठिरके साथ मैंने मिथ्या व्यवहार किया है; अतः वे युद्ध करके मेरे मूर्ख पुत्रोंका नाश कर डालेंगे ॥ ४९ ॥

नित्योद्विग्नमिदं सर्वं नित्योद्विग्नमिदं मनः।
यत् तत् पदमनुद्विग्नं तन्मे वद महामते ॥ ५० ॥

महामते ! यह सब कुछ सदा ही भयसे उद्विग्न है, मेरा यह मन भी भयसे उद्विग्न है; इसलिये जो उद्वेगशून्य और शान्त पद (मार्ग) हो, वही मुझे बताओ ॥ ५० ॥

विदुर उवाच

नान्यत्र विद्यातपसोर्नान्यत्रेन्द्रियनिग्रहात्।
नान्यत्र लोभसंत्यागाच्छान्तिं पश्यामि तेऽनघ॥ ५१ ॥

विदुरजी बोले—पापशून्य नरेश ! विद्या, तप, इन्द्रिय-निग्रह और लोभत्यागके सिवा और कोई आपके लिये शान्तिका उपाय मैं नहीं देखता ॥ ५१ ॥

बुद्ध्या भयं प्रणुदति तपसा विन्दते महत्।
गुरुशुश्रूषया ज्ञानं शान्तिं योगेन विन्दति ॥ ५२ ॥

बुद्धिसे मनुष्य अपने भयको दूर करता है, तपस्यासे महत्पदको प्राप्त होता है, गुरुशुश्रूषासे ज्ञान और योगसे शान्ति पाता है ॥ ५२ ॥

अनाश्रिता दानपुण्यं वेदपुण्यमनाश्रिताः।
रागद्वेषविनिर्मुक्ता विचरन्तीह मोक्षिणः ॥ ५३ ॥

मोक्षकी इच्छा रखनेवाले मनुष्य दानके पुण्यका आश्रय नहीं लेते, वेदके पुण्यका भी आश्रय नहीं लेते; किंतु निष्काम-भावसे राग-द्वेषसे रहित हो इस लोकमें विचरते रहते हैं॥ ५३॥

स्वधीतस्य सुयुद्धस्य सुकृतस्य च कर्मणः।
तपसश्च सुतप्तस्य तस्यान्ते सुखमेधते ॥ ५४ ॥

सम्यक् अध्ययन, न्यायोचित युद्ध, पुण्यकर्म और अच्छी तरह की हुई तपस्याके अन्तमें सुखकी वृद्धि होती है ॥५४॥

स्वास्तीर्णानि शयनानि प्रपन्ना
न वै भिन्ना जातु निद्रां लभन्ते।
न स्त्रीषु राजन् रतिमाप्नुवन्ति
न मागधैः स्तूयमाना न सूतैः ॥ ५५ ॥

राजन्! आपसमें फूट रखनेवाले लोग अच्छे बिछौनोंसे युक्त पलंग पाकर भी कभी सुखकी नींद नहीं सोने पाते; उन्हें स्त्रियोंके पास रहकर तथा सूत-मागधोंद्वारा की हुई स्तुति सुनकर भी प्रसन्नता नहीं होती ॥ ५५ ॥

न वै भिन्ना जातु चरन्ति धर्मं
न वै सुखं प्राप्नुवन्तीह भिन्नाः।
न वै भिन्ना गौरवं प्राप्नुवन्ति
न वै भिन्नाः प्रशमं रोचयन्ति ॥ ५६ ॥

जो परस्पर भेदभाव रखते हैं, वे कभी धर्मका आचरण नहीं करते। वे सुख भी नहीं पाते। उन्हें गौरव नहीं प्राप्त होता तथा उन्हें शान्तिकी वार्ता भी नहीं सुहाती ॥ ५६ ॥

न वै तेषां स्वदते पथ्यमुक्तं
योगक्षेमं कल्पते नैव तेषाम्।
भिन्नानां वै मनुजेन्द्र परायणं
न विद्यते किंचिदन्यद् विनाशात् ॥५७॥

हितकी बात भी कही जाय तो उन्हें अच्छी नहीं लगती। उनके योगक्षेमकी भी सिद्धि नहीं हो पाती। राजन्! भेदभाववाले पुरुषोंकी विनाशके सिवा और कोई गति नहीं है ॥५७॥

सम्पन्नं गोषु सम्भाव्यं सम्भाव्यं ब्राह्मणे तपः।
सम्भाव्यं चापलं स्त्रीषु सम्भाव्यं ज्ञातितो भयम् ॥५८॥

जैसे गौओंमें दूध, ब्राह्मणमें तप और युवती स्त्रियोंमें चञ्चलताका होना अधिक सम्भव है, उसी प्रकार अपने जातिबन्धुओंसे भय होना भी सम्भव ही है ॥ ५८ ॥

तन्तवः प्यायिता नित्यं तनवो बहुलाः समाः।
बहून् बहुत्वादायासान् सहन्तीत्युपमा सताम् ॥ ५९ ॥

नित्य सींचकर बढ़ायी हुई पतली लताएँ बहुत होनेके कारण बहुत-वर्षोंतक नाना प्रकारके झोंके सहती हैं; यही बात सत्पुरुषोंके विषयमें भी समझनी चाहिये। (वे दुर्बल होनेपर भी सामूहिक शक्तिसे बलवान् हो जाते हैं) ॥ ५९ ॥

धूमायन्ते व्यपेतानि ज्वलन्ति सहितानि च।
धृतराष्ट्रोल्मुकानीव ज्ञातयो भरतर्षभ ॥ ६० ॥

भरतश्रेष्ठ धृतराष्ट्र! जलती हुई लकड़ियाँ अलग-अलग होनेपर धुआँ फेंकती हैं और एक साथ होनेपर प्रज्वलित हो उठती हैं। इसी प्रकार जातिबन्धु भी (आपसमें) फूट होनेपर दुःख उठाते और एकता होनेपर सुखी रहते हैं ॥ ६० ॥

ब्राह्मणेषु च ये शूराः स्त्रीषु ज्ञातिषु गोषु च।
वृन्तादिव फलं पक्वं धृतराष्ट्र पतन्ति ते ॥ ६१ ॥

धृतराष्ट्र! जो लोग ब्राह्मणों, स्त्रियों, जातिवालों और गौओंपर ही शूरता प्रकट करते हैं, वे डंठलसे पके हुए फलोंकी भाँति नीचे गिरते हैं ॥ ६१ ॥

महानप्येकजो वृक्षो बलवान् सुप्रतिष्ठितः।
प्रसह्य एव वातेन सस्कन्धो मर्दितुं क्षणात् ॥ ६२ ॥

यदि वृक्ष अकेला है तो वह बलवान्, दृढमूल तथा बहुत बड़ा होनेपर भी एक ही क्षणमें आँधीके द्वारा बलपूर्वक शाखाओंसहित धराशायी किया जा सकता है ॥ ६२ ॥

अथ ये सहिता वृक्षाः सङ्घशः सुप्रतिष्ठिताः।
ते हि शीघ्रतमान् वातान् सहन्तेऽन्योन्यसंश्रयात् ॥६३॥

किंतु जो बहुत-से वृक्ष एक साथ रहकर समूहके रूपमें खड़े हैं, वे एक-दूसरेके सहारे बड़ी-से-बड़ी आँधीको भी सह सकते हैं ॥ ६३ ॥

एवं मनुष्यमप्येकं गुणैरपि समन्वितम्।
शक्यं द्विषन्तो मन्यन्ते वायुर्द्रुममिवैकजम् ॥ ६४ ॥

इसी प्रकार समस्त गुणोंसे सम्पन्न मनुष्यको भी अकेले होनेपर शत्रु अपनी शक्तिके अंदर समझते हैं, जैसे अकेले वृक्षको वायु ॥ ६४ ॥

अन्योन्यसमुपष्टम्भादन्योन्यापाश्रयेण च।
ज्ञातयः सम्प्रवर्धन्ते सरसीवोत्पलान्युत ॥ ६५ ॥

किंतु परस्पर मेल होनेसे और एकसे दूसरेको सहारा मिलनेसे जातिवाले लोग इस प्रकार वृद्धिको प्राप्त होते हैं, जैसे तालाबमें कमल ॥ ६५ ॥

अवध्या ब्राह्मणा गावो ज्ञातयः शिशवः स्त्रियः।
येषां चान्नानि भुञ्जीत ये च स्युः शरणागताः ॥ ६६ ॥

ब्राह्मण, गौ, कुटुम्बी, बालक, स्त्री, अन्नदाता और शरणागत—ये अवध्य होते हैं ॥ ६६ ॥

न मनुष्ये गुणः कश्चिद् राजन् सधनतामृते।
अनातुरत्वाद् भद्रं ते मृतकल्पा हि रोगिणः ॥ ६७ ॥

राजन्! आपका कल्याण हो, मनुष्यमें धन और आरोग्यको छोड़कर दूसरा कोई गुण नहीं है; क्योंकि रोगी तो मुर्देके समान है ॥ ६७ ॥

अव्याधिजं कटुकं शीर्षरोगि
पापानुबन्धं परुषं तीक्ष्णमुष्णम्।

सतां पेयं यन्न पिबन्त्यसन्तो
मन्युं महाराज पिब प्रशाम्य ॥ ६८ ॥

महाराज ! जो बिना रोगके उत्पन्न, कड़वा, सिरमें दर्द पैदा करनेवाला, पापसे सम्बद्ध, कठोर, तीखा और गरम है, जो सज्जनोंद्वारा पान करने योग्य है और जिसे दुर्जन नहीं पी सकते—उस क्रोधको आप पी जाइये और शान्त होइये ॥

रोगार्दिता न फलान्याद्रियन्ते
न वै लभन्ते विषयेषु तत्त्वम् ।
दुःखोपेता रोगिणो नित्यमेव
न बुध्यन्ते धनभोगान् न सौख्यम् ॥ ६९ ॥

रोगसे पीड़ित मनुष्य मधुर फलोंका आदर नहीं करते, विषयोंमें भी उन्हें कुछ सुख या सार नहीं मिलता । रोगी सदा ही दुखी रहते हैं; वे न तो धनसम्बन्धी भोगोंका और न सुखका ही अनुभव करते हैं ॥ ६९ ॥

पुरा ह्युक्तं नाकरोस्त्वं वचो मे
द्यूते जितां द्रौपदीं प्रेक्ष्य राजन् ।
दुर्योधनं वारयेत्यक्षवत्यां
कितवत्वं पण्डिता वर्जयन्ति ॥ ७० ॥

राजन् ! पहले जूएमें द्रौपदीको जीती गयी देखकर मैंने आपसे कहा था—'आप द्यूतक्रीडामें आसक्त दुर्योधनको रोकिये, विद्वान्‌लोग इस प्रवञ्चनाके लिये मना करते हैं ।' किंतु आपने मेरा कहना नहीं माना ॥ ७० ॥

न तद् बलं यन्मृदुना विरुध्यते
सूक्ष्मो धर्मस्तरसा सेवितव्यः ।
प्रध्वंसिनी क्रूरसमाहिता श्री-
र्मृदुप्रौढा गच्छति पुत्रपौत्रान् ॥ ७१ ॥

वह बल नहीं, जिसका मृदुल स्वभावके साथ विरोध हो; सूक्ष्म धर्मका शीघ्र ही सेवन करना चाहिये । क्रूरतापूर्वक उपार्जित लक्ष्मी नश्वर होती है, यदि वह मृदुलतापूर्वक बढ़ायी गयी हो तो पुत्र-पौत्रोंतक स्थिर रहती है ॥ ७१ ॥

धार्तराष्ट्राः पाण्डवान् पालयन्तु
पाण्डोः सुतास्तव पुत्रांश्च पान्तु ।
एकारिमित्राः कुरवो ह्येककार्या
जीवन्तु राजन् सुखिनः समृद्धाः ॥ ७२ ॥

राजन् ! आपके पुत्र पाण्डवोंकी रक्षा करें और पाण्डुके पुत्र आपके पुत्रोंकी रक्षा करें । सभी कौरव एक-दूसरेके शत्रुको शत्रु और मित्रको मित्र समझें । सबका एक ही कर्तव्य हो, सभी सुखी और समृद्धिशाली होकर जीवन व्यतीत करें ॥ ७२ ॥

मेढीभूतः कौरवाणां त्वमद्य
त्वय्याधीनं कुरुकुलमाजमीढ ।
पार्थान् बालान् वनवासप्रतप्तान्
गोपायस्व स्वं यशस्तात रक्षन् ॥ ७३ ॥

अजमीढकुलनन्दन ! इस समय आप ही कौरवोंके आधारस्तम्भ हैं, कुरुवंश आपके ही अधीन है । तात ! कुन्तीके पुत्र अभी बालक हैं और वनवाससे बहुत कष्ट पा चुके हैं; इस समय उनका पालन करके अपने यशकी रक्षा कीजिये ॥ ७३ ॥

संधत्स्व त्वं कौरव पाण्डुपुत्रै-
र्मा तेऽन्तरं रिपवः प्रार्थयन्तु ।
सत्ये स्थितास्ते नरदेव सर्वे
दुर्योधनं स्थापय त्वं नरेन्द्र ॥ ७४ ॥

कुरुराज ! आप पाण्डवोंसे संधि कर लें, जिससे शत्रुओंको आपका छिद्र देखनेका अवसर न मिले । नरदेव ! समस्त पाण्डव सत्यपर डटे हुए हैं; अब आप अपने पुत्र दुर्योधनको रोकिये ॥ ७४ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि प्रजागरपर्वणि विदुरहितवाक्ये षट्‌त्रिंशोऽध्यायः ॥ ३६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत प्रजागरपर्वमें विदुरजीके हितवाक्यविषयक छत्तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३६ ॥

सप्तत्रिंशोऽध्यायः

धृतराष्ट्रके प्रति विदुरजीका हितोपदेश

विदुर उवाच

सप्तदशेमान् राजेन्द्र मनुः स्वायम्भुवोऽब्रवीत् ।
वैचित्रवीर्य पुरुषानाकाशं मुष्टिभिर्घ्नतः ॥ १ ॥
दानवेन्द्रस्य च धनुरनाम्यं नमतोऽब्रवीत् ।
अथो मरीचिनः पादानग्राह्यान् गृह्णतस्तथा ॥ २ ॥

विदुरजी कहते हैं—राजेन्द्र ! विचित्रवीर्यनन्दन ! स्वायम्भुव मनुने इन सत्रह प्रकारके पुरुषोंको आकाशपर मुक्कोंसे प्रहार करनेवाले, न झुकाये जा सकनेवाले, वर्षाकालीन इन्द्रधनुषको झुकानेकी चेष्टा करनेवाले तथा पकड़में न आनेवाली सूर्यकी किरणोंको पकड़नेका प्रयास करनेवाले

बतलाया है (अर्थात् इनके सभी उद्यमोंको निष्फल कहा है) ॥ १-२ ॥

यश्चाशिष्यं शास्ति वै यश्च तुष्येद्
यश्चातिवेलं भजते द्विषन्तम्।
स्त्रियश्च यो रक्षति भद्रमश्नुते
यश्चायाच्यं याचते कत्थते च ॥ ३ ॥
यश्चाभिजातः प्रकरोत्यकार्यं
यश्चाबलो बलिना नित्यवैरी।
अश्रद्दधानाय च यो ब्रवीति
यश्चाकाम्यं कामयते नरेन्द्र ॥ ४ ॥
वध्वावहासं श्वशुरो मन्यते यो
वध्वा वसन्नभयो मानकामः।
परक्षेत्रे निर्वपति स्वबीजं
स्त्रियं च यः परिवदतेऽतिवेलम् ॥ ५ ॥
यश्चापि लब्ध्वा न स्मरामीति वादी
दत्त्वा च यः कत्थति याच्यमानः।
यश्चासतः सान्त्वमुपानयीत
एतान् नयन्ति निरयं पाशहस्ताः ॥ ६ ॥

पाश हाथमें लिये यमराजके दूत इन सत्रह पुरुषोंको नरकमें ले जाते हैं, जो शासनके अयोग्य पुरुषपर शासन करता है, मर्यादाका उल्लङ्घन करके संतुष्ट होता है, शत्रुकी सेवा करता है, रक्षणके अयोग्य स्त्रीकी रक्षा करनेका प्रयत्न करता तथा उसके द्वारा अपने कल्याणका अनुभव करता है, याचना करनेके अयोग्य पुरुषसे याचना करता है तथा आत्मप्रशंसा करता है, अच्छे कुलमें उत्पन्न होकर भी नीच कर्म करता है, दुर्बल होकर भी सदा बलवान्से वैर रखता है, श्रद्धाहीनको उपदेश करता है, न चाहने योग्य (शास्त्रनिषिद्ध) वस्तुको चाहता है, श्वसुर होकर पुत्रवधूके साथ परिहास पसंद करता है तथा पुत्रवधूसे एकान्तवास करके भी निर्भय होकर समाजमें अपनी प्रतिष्ठा चाहता है, परस्त्रीमें अपने वीर्यका आधान करता है, मर्यादाके बाहर स्त्रीकी निन्दा करता है, किसीसे कोई वस्तु पाकर भी 'याद नहीं है', ऐसा कहकर उसे दबाना चाहता है, माँगनेपर दान देकर उसके लिये अपनी श्लाघा करता है और झूठको सही साबित करनेका प्रयास करता है ॥ ३—६ ॥

यस्मिन् यथा वर्तते यो मनुष्य-
स्तस्मिंस्तथा वर्तितव्यं स धर्मः।
मायाचारो मायया वर्तितव्यः
साध्वाचारः साधुना प्रत्युपेयः ॥ ७ ॥

जो मनुष्य अपने साथ जैसा बर्ताव करे, उसके साथ वैसा ही बर्ताव करना चाहिये—यही नीतिधर्म है । कपटका आचरण करनेवालेके साथ कपटपूर्ण बर्ताव करे और अच्छा बर्ताव करनेवालेके साथ साधुभावसे ही बर्ताव करना चाहिये ॥ ७ ॥

जरा रूपं हरति हि धैर्यमाशा
मृत्युः प्राणान् धर्मचर्यामसूया।
कामो ह्रियं वृत्तमनार्यसेवा
क्रोधः श्रियं सर्वमेवाभिमानः ॥ ८ ॥

बुढ़ापा रूपका, आशा धैर्यका, मृत्यु प्राणोंका, दूसरोंके गुणोंमें दोषदृष्टि धर्माचरणका, काम लज्जाका, नीच पुरुषोंकी सेवा सदाचारका, क्रोध लक्ष्मीका और अभिमान सर्वस्वका ही नाश कर देता है ॥ ८ ॥

धृतराष्ट्र उवाच

शतायुरुक्तः पुरुषः सर्ववेदेषु वै यदा।
नाप्नोत्यथ च तत् सर्वमायुः केनेह हेतुना ॥ ९ ॥

धृतराष्ट्रने कहा—विदुर ! जब सभी वेदोंमें पुरुषको सौ वर्षकी आयुवाला बताया गया है, तब वह किस कारणसे अपनी पूर्ण आयुको नहीं पाता ? ॥ ९ ॥

विदुर उवाच

अतिमानोऽतिवादश्च तथात्यागो नराधिप।
क्रोधश्चात्मविधित्सा च मित्रद्रोहश्च तानि षट् ॥ १० ॥
एत एवासयस्तीक्ष्णाः कृन्तन्त्यायूंषि देहिनाम्।
एतानि मानवान् घ्नन्ति न मृत्युर्भद्रमस्तु ते ॥ ११ ॥

विदुरजी बोले—राजन् ! आपका कल्याण हो । अत्यन्त अभिमान, अधिक बोलना, त्यागका अभाव, क्रोध, अपना ही पेट पालनेकी चिन्ता और मित्रद्रोह—ये छः तीखी तलवारें देहधारियोंकी आयुको काटती हैं । ये ही मनुष्योंका वध करती हैं, मृत्यु नहीं ॥ १०-११ ॥

विश्वस्तस्यैति यो दारान् यश्चापि गुरुतल्पगः।
वृषलीपतिर्द्विजो यश्च पानपश्चैव भारत ॥ १२ ॥
आदेशकृद् वृत्तिहन्ता द्विजानां प्रेषकश्च यः।
शरणागतहा चैव सर्वे ब्रह्महणः समाः।
एतैः समेत्य कर्तव्यं प्रायश्चित्तमिति श्रुतिः ॥ १३ ॥

भारत ! जो अपने ऊपर विश्वास करनेवाले पुरुषकी स्त्रीके साथ समागम करता है, जो गुरुस्त्रीगामी है, ब्राह्मण होकर शूद्र स्त्रीके साथ विवाह करता है; शराब पीता है तथा जो ब्राह्मणपर आदेश चलानेवाला, ब्राह्मणोंकी जीविका नष्ट करनेवाला, ब्राह्मणोंको सेवाकार्यके लिये इधर-उधर भेजनेवाला और शरणागतकी हिंसा करनेवाला है—ये सब-के-सब ब्रह्महत्यारेके समान हैं; इनका सङ्ग हो जानेपर प्रायश्चित्त करे—यह वेदोंकी आज्ञा है ॥ १२-१३ ॥

गृहीतवाक्यो नयविद् वदान्यः
शेषान्नभोक्ता ह्यविहिंसकश्च।
नानर्थकृत्याकुलितः कृतज्ञः
सत्यो मृदुः स्वर्गमुपैति विद्वान् ॥ १४ ॥

बड़ोंकी आज्ञा माननेवाला, नीतिज्ञ, दाता, यज्ञशेष अन्नका भोजन करनेवाला, हिंसारहित, अनर्थपूर्ण कार्योंसे दूर रहनेवाला, कृतज्ञ, सत्यवादी और कोमल स्वभाववाला विद्वान् स्वर्गगामी होता है ॥ १४ ॥

सुलभाः पुरुषा राजन् सततं प्रियवादिनः।
अप्रियस्य तु पथ्यस्य वक्ता श्रोता च दुर्लभः ॥ १५ ॥

राजन्! सदा प्रिय वचन बोलनेवाले मनुष्य तो सहजमें ही मिल सकते हैं; किंतु जो अप्रिय होता हुआ हितकारी हो, ऐसे वचनके वक्ता और श्रोता दोनों ही दुर्लभ हैं ॥ १५ ॥

यो हि धर्मं समाश्रित्य हित्वा भर्तुः प्रियाप्रिये।
अप्रियाण्याह पथ्यानि तेन राजा सहायवान् ॥ १६ ॥

जो धर्मका आश्रय लेकर तथा स्वामीको प्रिय लगेगा या अप्रिय—इसका विचार छोड़कर अप्रिय होनेपर भी हितकी बात कहता है, उसीसे राजाको सच्ची सहायता मिलती है ॥ १६ ॥

त्यजेत् कुलार्थे पुरुषं ग्रामस्यार्थे कुलं त्यजेत्।
ग्रामं जनपदस्यार्थे आत्मार्थे पृथिवीं त्यजेत् ॥ १७ ॥

कुलकी रक्षाके लिये एक मनुष्यका, ग्रामकी रक्षाके लिये कुलका, देशकी रक्षाके लिये गाँवका और आत्माके कल्याणके लिये सारी पृथ्वीका त्याग कर देना चाहिये ॥

आपदर्थे धनं रक्षेद् दारान् रक्षेद् धनैरपि।
आत्मानं सततं रक्षेद् दारैरपि धनैरपि ॥ १८ ॥

आपत्तिके लिये धनकी रक्षा करे, धनके द्वारा भी स्त्रीकी रक्षा करे और स्त्री एवं धन दोनोंके द्वारा सदा अपनी रक्षा करे ॥ १८ ॥

द्यूतमेतत् पुराकल्पे दृष्टं वैरकरं नृणाम्।
तस्माद् द्यूतं न सेवेत हास्यार्थमपि बुद्धिमान् ॥ १९ ॥

पूर्वकालमें जूआ खेलना मनुष्योंमें वैर डालनेका कारण देखा गया है; अतः बुद्धिमान् मनुष्य हँसीके लिये भी जूआ न खेले ॥ १९ ॥

उक्तं मया द्यूतकालेऽपि राजन्
नेदं युक्तं वचनं प्रातिपेय।
तदौषधं पथ्यमिवातुरस्य
न रोचते तव वैचित्रवीर्य ॥ २० ॥

प्रतीपनन्दन! विचित्रवीर्यकुमार! राजन्! मैंने जूएका खेल आरम्भ होते समय भी कहा था कि यह ठीक नहीं है, किंतु रोगीको जैसे दवा और पथ्य अच्छे नहीं लगते, उसी तरह मेरी वह बात भी आपको अच्छी नहीं लगी ॥

काकैरिमांश्चित्रबर्हान् मयूरान्
पराजयेथाः पाण्डवान् धार्तराष्ट्रैः।
हित्वा सिंहान् क्रोष्टुकान् गूहमानः
प्राप्ते काले शोचिता त्वं नरेन्द्र ॥ २१ ॥

नरेन्द्र! आप कौओंके समान अपने पुत्रोंके द्वारा विचित्र पंखवाले मोरोंके सदृश पाण्डवोंको पराजित करनेका प्रयत्न कर रहे हैं; सिंहोंको छोड़कर सियारोंकी रक्षा कर रहे हैं; समय आनेपर आपको इसके लिये पश्चात्ताप करना पड़ेगा ॥ २१ ॥

यस्तात न क्रुध्यति सर्वकालं
भृत्यस्य भक्तस्य हिते रतस्य।
तस्मिन् भृत्या भर्तरि विश्वसन्ति
न चैनमापत्सु परित्यजन्ति ॥ २२ ॥

तात! जो स्वामी सदा हितसाधनमें लगे रहनेवाले अपने भक्त सेवकपर कभी क्रोध नहीं करता, उसपर भृत्यगण विश्वास करते हैं और उसे आपत्तिके समय भी नहीं छोड़ते ॥ २२ ॥

न भृत्यानां वृत्तिसंरोधनेन
राज्यं धनं संजिघृक्षेदपूर्वम्।
त्यजन्ति ह्येनं वञ्चिता वै विरुद्धाः
स्निग्धा ह्यमात्याः परिहीनभोगाः ॥ २३ ॥

सेवकोंकी जीविका बंद करके दूसरोंके राज्य और धनके अपहरणका प्रयत्न नहीं करना चाहिये; क्योंकि अपनी जीविका छिन जानेसे भोगोंसे वञ्चित होकर पहलेके प्रेमी मन्त्री भी उस समय विरोधी बन जाते हैं और राजाका परित्याग कर देते हैं ॥ २३ ॥

कृत्यानि पूर्वं परिसंख्याय सर्वा-
ण्यायव्यये चानुरूपां च वृत्तिम्।
संगृह्णीयादनुरूपान् सहायान्
सहायसाध्यानि हि दुष्कराणि ॥ २४ ॥

पहले कर्तव्य एवं आय-व्यय और उचित वेतन आदिका निश्चय करके फिर सुयोग्य सहायकोंका संग्रह करे; क्योंकि कठिनसे कठिन कार्य भी सहायकोंद्वारा साध्य होते हैं ॥ २४ ॥

अभिप्रायं यो विदित्वा तु भर्तुः
सर्वाणि कार्याणि करोत्यतन्द्री।
वक्ता हितानामनुरक्त आर्यः
शक्तिज्ञ आत्मेव हि सोऽनुकम्प्यः ॥ २५ ॥

जो सेवक स्वामीके अभिप्रायको समझकर आलस्यरहित हो समस्त कार्योंको पूरा करता है, जो हितकी बात कहनेवाला, स्वामिभक्त, सज्जन और राजाकी शक्तिको जाननेवाला है, उसे अपने समान समझकर उसपर कृपा करनी चाहिये ॥ २५ ॥

वाक्यं तु यो नाद्रियतेऽनुशिष्टः
प्रत्याह यश्चापि नियुज्यमानः।
प्रज्ञाभिमानी प्रतिकूलवादी
त्याज्यः स तादृक् त्वरयैव भृत्यः ॥ २६ ॥

जो सेवक स्वामीके आज्ञा देनेपर उनकी बातका आदर नहीं करता, किसी काममें लगाये जानेपर अस्वीकार कर देता है, अपनी बुद्धिपर गर्व करने और प्रतिकूल बोलनेवाले उस भृत्यको शीघ्र ही त्याग देना चाहिये ॥ २६ ॥

अस्तब्धमक्लीबमदीर्घसूत्रं
सानुक्रोशं श्लक्ष्णमहार्यमन्यैः ।
अरोगजातीयमुदारवाक्यं
दूतं वदन्त्यष्टगुणोपपन्नम् ॥२७॥

अहंकाररहित, कायरताशून्य, शीघ्र काम पूरा करनेवाला, दयालु, शुद्धहृदय, दूसरोंके बहकावेमें न आनेवाला, नीरोग और उदार वचनवाला—इन आठ गुणोंसे युक्त मनुष्यको 'दूत' बनाने योग्य बताया गया है॥ २७ ॥

न विश्वासाज्जातु परस्य गेहे
गच्छेन्नरश्चेतयानो विकाले ।
न चत्वरे निशि तिष्ठेन्निगूढो
न राजकाम्यां योषितं प्रार्थयीत ॥२८॥

सावधान मनुष्य विश्वास करके असमयमें कभी किसी दूसरेके घर न जाय, रातमें छिपकर चौराहेपर न खड़ा हो और राजा जिस स्त्रीको चाहता हो, उसे प्राप्त करनेका यत्न न करे ॥ २८ ॥

न निह्नवं मन्त्रगतस्य गच्छेत्
संसृष्टमन्त्रस्य कुसङ्गतस्य ।
न च ब्रूयान्नाश्वसिमि त्वयीति
सकारणं व्यपदेशं तु कुर्यात् ॥२९॥

दुष्ट सहायकोंवाला राजा जब बहुत लोगोंके साथ मन्त्रणा-समितिमें बैठकर सलाह ले रहा हो, उस समय उसकी बातका खण्डन न करे; 'मैं तुमपर विश्वास नहीं करता' ऐसा भी न कहे, अपितु कोई युक्तिसंगत बहाना बनाकर वहाँसे हट जाय ॥ २९ ॥

घृणी राजा पुंश्चली राजभृत्यः
पुत्रो भ्राता विधवा बालपुत्रा ।
सेनाजीवी चोद्धृतभूतिरेव
व्यवहारेषु वर्जनीयाः स्युरेते ॥३०॥

अधिक दयालु राजा, व्यभिचारिणी स्त्री, राजकर्मचारी, पुत्र, भाई, छोटे बच्चोंवाली विधवा, सैनिक और जिसका अधिकार छीन लिया गया हो, वह पुरुष—इन सबके साथ लेन-देनका व्यवहार न करे ॥ ३० ॥

अष्टौ गुणाः पुरुषं दीपयन्ति
प्रज्ञा च कौल्यं च श्रुतं दमश्च ।
पराक्रमश्चाबहुभाषिता च
दानं यथाशक्ति कृतज्ञता च ॥ ३१ ॥

ये आठ गुण पुरुषकी शोभा बढ़ाते हैं—बुद्धि, कुलीनता, शास्त्रज्ञान, इन्द्रियनिग्रह, पराक्रम, अधिक न बोलनेका स्वभाव, यथाशक्ति दान और कृतज्ञता ॥ ३१ ॥

एतान् गुणांस्तात महानुभावा-
नेको गुणः संश्रयते प्रसह्य ।
राजा यदा सत्कुरुते मनुष्यं
सर्वान् गुणानेष गुणो बिभर्ति ॥ ३२ ॥

तात ! एक गुण ऐसा है, जो इन सभी महत्त्वपूर्ण गुणोंपर हठात् अधिकार कर लेता है ! राजा जिस समय किसी मनुष्यका सत्कार करता है, उस समय यह गुण (राजसम्मान) उपर्युक्त सभी गुणोंसे बढ़कर शोभा पाता है ॥

गुणा दश स्नानशीलं भजन्ते
बलं रूपं स्वरवर्णप्रशुद्धिः ।
स्पर्शश्च गन्धश्च विशुद्धता च
श्रीः सौकुमार्यं प्रवराश्च नार्यः ॥ ३३ ॥

नित्य स्नान करनेवाले मनुष्यको बल, रूप, मधुरस्वर उज्ज्वल वर्ण, कोमलता, सुगन्ध, पवित्रता, शोभा, सुकुमारता और सुन्दरी स्त्रियाँ—ये दस लाभ प्राप्त होते हैं ॥

गुणाश्च षण्मितभुक्तं भजन्ते
आरोग्यमायुश्च बलं सुखं च ।
अनाविलं चास्य भवत्यपत्यं
न चैनमाद्यून इति क्षिपन्ति ॥ ३४ ॥

थोड़ा भोजन करनेवालेको निम्नाङ्कित छः गुण प्राप्त होते हैं—आरोग्य, आयु, बल और सुख तो मिलते ही हैं, उसकी संतान उत्तम होती है तथा 'यह बहुत खानेवाला है' ऐसा कहकर लोग उसपर आक्षेप नहीं करते ॥ ३४ ॥

अकर्मशीलं च महाशनं च
लोकद्विष्टं बहुमायं नृशंसम् ।
अदेशकालज्ञमनिष्टवेष-
मेतान् गृहे न प्रतिवासयेत ॥३५॥

अकर्मण्य, बहुत खानेवाले, सब लोगोंसे वैर करनेवाले, अधिक मायावी, क्रूर, देश-कालका ज्ञान न रखनेवाले और निन्दित वेष धारण करनेवाले मनुष्यको कभी अपने घरमें न ठहरने दे ॥ ३५ ॥

कदर्यमाक्रोशकमश्रुतं च
वनौकसं धूर्तममान्यमानिनम् ।
निष्ठूरिणं कृतवैरं कृतघ्न-
मेतान् भृशार्तोऽपि न जातु याचेत् ॥३६॥

बहुत दुखी होनेपर भी कृपण, गाली बकनेवाले, मूर्ख, जंगलमें रहनेवाले, धूर्त, नीचसेवी, निर्दयी, वैर बाँधनेवाले और कृतघ्नसे कभी सहायताकी याचना नहीं करनी चाहिये ॥

संक्लिष्टकर्माणमतिप्रमादं
नित्यानृतं चादृढभक्तिकं च।
विसृष्टरागं पटुमानिनं चा-
प्येतान् न सेवेत नराधमान् षट् ॥३७॥

क्लेशप्रद कर्म करनेवाले, अत्यन्त प्रमादी, सदा असत्यभाषण करनेवाले, अस्थिर भक्तिवाले, स्नेहसे रहित, अपनेको चतुर माननेवाले—इन छः प्रकारके अधम पुरुषोंकी सेवा न करे ॥ ३७ ॥

सहायबन्धना ह्यर्थाः सहायाश्चार्थबन्धनाः।
अन्योन्यबन्धनावेतौ विनान्योन्यं न सिद्ध्यतः ॥३८॥

धनकी प्राप्ति सहायककी अपेक्षा रखती है और सहायक धनकी अपेक्षा रखते हैं; ये दोनों एक-दूसरेके आश्रित हैं, परस्परके सहयोग बिना इनकी सिद्धि नहीं होती ॥ ३८ ॥

उत्पाद्य पुत्राननृणांश्च कृत्वा
वृत्तिं च तेभ्योऽनुविधाय कांचित्।
स्थाने कुमारीः प्रतिपाद्य सर्वा
अरण्यसंस्थोऽथ मुनिर्बुभूषेत् ॥३९॥

पुत्रोंको उत्पन्न कर उन्हें ऋणके भारसे मुक्त करके उनके लिये किसी जीविकाका प्रबन्ध कर दे; अपनी सभी कन्याओंका योग्य वरके साथ विवाह कर दे। तत्पश्चात् वनमें मुनिवृत्तिसे रहनेकी इच्छा करे ॥ ३९ ॥

हितं यत् सर्वभूतानामात्मनश्च सुखावहम्।
तत् कुर्यादीश्वरे ह्येतन्मूलं सर्वार्थसिद्धये ॥ ४० ॥

जो सम्पूर्ण प्राणियोंके लिये हितकर और अपने लिये भी सुखद हो, उसे ईश्वरार्पणबुद्धिसे करे; सम्पूर्ण सिद्धियोंका यही मूल मन्त्र है ॥ ४० ॥

वृद्धिः प्रभावस्तेजश्च सत्त्वमुत्थानमेव च।
व्यवसायश्च यस्य स्यात् तस्यावृत्तिभयं कुतः ॥ ४१ ॥

जिसमें बढ़नेकी शक्ति, प्रभाव, तेज, पराक्रम, उद्योग और (अपने कर्तव्यका) निश्चय है, उसे अपनी जीविकाके नाशका भय कैसे हो सकता है ? ॥ ४१ ॥

पश्य दोषान् पाण्डवैर्विग्रहे त्वं
यत्र व्यथेयुरपि देवाः सशक्राः।
पुत्रैर्वैरं नित्यमुद्विग्नवासो
यशःप्रणाशो द्विषतां च हर्षः ॥ ४२ ॥

पाण्डवोंके साथ युद्ध करनेमें जो दोष हैं, उनपर दृष्टि डालिये; उनसे संग्राम छिड़ जानेपर इन्द्र आदि देवताओंको भी कष्ट ही उठाना पड़ेगा। इसके सिवा पुत्रोंके साथ वैर, नित्य उद्वेगपूर्ण जीवन, कीर्तिका नाश और शत्रुओंको आनन्द होगा ॥ ४२ ॥

भीष्मस्य कोपस्तव चैवेन्द्रकल्प
द्रोणस्य राज्ञश्च युधिष्ठिरस्य।
उत्सादयेल्लोकमिमं प्रवृद्धः
श्वेतो ग्रहस्तिर्यगिवापतत् खे ॥४३॥

इन्द्रके समान पराक्रमी महाराज ! आकाशमें तिरछा उदित हुआ धूमकेतु जैसे सारे संसारमें अशान्ति और उपद्रव खड़ा कर देता है, उसी तरह भीष्म, आप, द्रोणाचार्य और राजा युधिष्ठिरका बढ़ा हुआ कोप इस संसारका संहार कर सकता है ॥ ४३ ॥

तव पुत्रशतं चैव कर्णः पञ्च च पाण्डवाः।
पृथिवीमनुशासेयुरखिलां सागराम्बराम् ॥ ४४ ॥

आपके सौ पुत्र, कर्ण और पाँच पाण्डव—ये सब मिलकर समुद्रपर्यन्त सम्पूर्ण पृथ्वीका शासन कर सकते हैं ॥ ४४ ॥

धार्तराष्ट्रा वनं राजन् व्याघ्राः पाण्डुसुता मताः।
मा वनं छिन्धि सव्याघ्रं मा व्याघ्रान् नीनशन् वनात् ॥४५॥

राजन् ! आपके पुत्र वनके समान हैं और पाण्डव उसमें रहनेवाले व्याघ्र हैं। आप व्याघ्रोंसहित समस्त वनको नष्ट न कीजिये तथा वनसे उन व्याघ्रोंको दूर न भगाइये ॥ ४५ ॥

न स्याद् वनमृते व्याघ्रान् व्याघ्रा न स्युर्ऋते वनम्।
वनं हि रक्ष्यते व्याघ्रैर्व्याघ्रान् रक्षति काननम् ॥४६॥

व्याघ्रोंके बिना वनकी रक्षा नहीं हो सकती तथा वनके बिना व्याघ्र नहीं रह सकते; क्योंकि व्याघ्र वनकी रक्षा करते हैं और वन व्याघ्रोंकी ॥ ४६ ॥

न तथेच्छन्ति कल्याणान् परेषां वेदितुं गुणान्।
यथैषां ज्ञातुमिच्छन्ति नैर्गुण्यं पापचेतसः ॥ ४७ ॥

जिसका मन पापोंमें लगा रहता है, वे लोग दूसरोंके कल्याणमय गुणोंको जाननेकी वैसी इच्छा नहीं रखते, जैसी कि उनके अवगुणोंको जाननेकी रखते हैं ॥ ४७ ॥

अर्थसिद्धिं परामिच्छन् धर्ममेवादितश्चरेत्।
न हि धर्मादपैत्यर्थः स्वर्गलोकादिवामृतम् ॥ ४८ ॥

जो अर्थकी पूर्ण सिद्धि चाहता हो, उसे पहले धर्मका ही आचरण करना चाहिये। जैसे स्वर्गसे अमृत दूर नहीं होता, उसी प्रकार धर्मसे अर्थ अलग नहीं होता ॥ ४८ ॥

यस्यात्मा विरतः पापात् कल्याणे च निवेशितः।
तेन सर्वमिदं बुद्धं प्रकृतिर्विकृतिश्च या ॥ ४९ ॥

जिसकी बुद्धि पापसे हटाकर कल्याणमें लगा दी गयी है, उसने संसारमें जो भी प्रकृति और विकृति है—उस सबको जान लिया है ॥ ४९ ॥

यो धर्ममर्थं कामं च यथाकालं निषेवते।
धर्मार्थकामसंयोगं सोऽमुत्रेह च विन्दति ॥ ५० ॥

जो समयानुसार धर्म, अर्थ और कामका सेवन करता है, वह इस लोक और परलोकमें भी धर्म, अर्थ और कामको प्राप्त करता है ॥ ५० ॥

संनियच्छति यो वेगमुत्थितं क्रोधहर्षयोः ।
स श्रियो भाजनं राजन् यश्चापत्सु न मुह्यति ॥ ५१ ॥

राजन्! जो क्रोध और हर्षके उठे हुए वेगको रोक लेता है और आपत्तिमें भी मोहको प्राप्त नहीं होता, वही राजलक्ष्मीका अधिकारी होता है ॥ ५१ ॥

बलं पञ्चविधं नित्यं पुरुषाणां निबोध मे ।
यत् तु बाहुबलं नाम कनिष्ठं बलमुच्यते ॥ ५२ ॥
अमात्यलाभो भद्रं ते द्वितीयं बलमुच्यते ।
तृतीयं धनलाभं तु बलमाहुर्मनीषिणः ॥ ५३ ॥
यत् त्वस्य सहजं राजन् पितृपैतामहं बलम् ।
अभिजातबलं नाम तच्चतुर्थं बलं स्मृतम् ॥ ५४ ॥
येन त्वेतानि सर्वाणि संगृहीतानि भारत ।
यद् बलानां बलं श्रेष्ठं तत् प्रज्ञाबलमुच्यते ॥ ५५ ॥

राजन्! आपका कल्याण हो, मनुष्योंमें सदा पाँच प्रकारका बल होता है; उसे सुनिये। जो बाहुबल नामक प्रथम बल है, वह निकृष्ट बल कहलाता है; मन्त्रीका मिलना दूसरा बल है; मनीषीलोग धनके लाभको तीसरा बल बताते हैं; और राजन्! जो बाप-दादोंसे प्राप्त हुआ मनुष्यका स्वाभाविक बल (कुटुम्बका बल) है, वह 'अभिजात' नामक चौथा बल है। भारत! जिससे इन सभी बलोंका संग्रह हो जाता है तथा जो सब बलोंमें श्रेष्ठ बल है, वह पाँचवाँ 'बुद्धिका बल' कहलाता है ॥ ५२—५५ ॥

महते योऽपकाराय नरस्य प्रभवेन्नरः ।
तेन वैरं समासज्य दूरस्थोऽस्मीति नाश्वसेत् ॥ ५६ ॥

जो मनुष्यका बहुत बड़ा अपकार कर सकता है, उस पुरुषके साथ वैर ठानकर इस विश्वासपर निश्चिन्त न हो जाय कि मैं उससे दूर हूँ (वह मेरा कुछ नहीं कर सकता) ॥ ५६ ॥

स्त्रीषु राजसु सर्पेषु स्वाध्यायप्रभुशत्रुषु ।
भोगेष्वायुषि विश्वासं कः प्राज्ञः कर्तुमर्हति ॥ ५७ ॥

ऐसा कौन बुद्धिमान् होगा, जो स्त्री, राजा, साँप, पढ़े हुए पाठ, सामर्थ्यशाली व्यक्ति, शत्रु, भोग और आयुपर पूर्ण विश्वास कर सकता है? ॥ ५८ ॥

प्रज्ञाशरेणाभिहतस्य जन्तो-
श्चिकित्सकाः सन्ति न चौषधानि ।
न होममन्त्रा न च मङ्गलानि
नाथर्वणा नाप्यगदाः सुसिद्धाः ॥ ५८ ॥

जिसको बुद्धिके बाणसे मारा गया है, उस जीवके लिये न कोई वैद्य है, न दवा है, न होम, न मन्त्र, न कोई माङ्गलिक कार्य, न अथर्ववेदोक्त प्रयोग और न भलीभाँति सिद्ध जड़ी-बूटी ही है ॥ ५८ ॥

सर्पश्चाग्निश्च सिंहश्च कुलपुत्रश्च भारत ।
नावज्ञेया मनुष्येण सर्वे ह्येतेऽतितेजसः ॥ ५९ ॥

भारत! मनुष्योंको चाहिये कि वह साँप, अग्नि, सिंह और अपने कुलमें उत्पन्न व्यक्तिका अनादर न करे; क्योंकि ये सभी बड़े तेजस्वी होते हैं ॥ ५९ ॥

अग्निस्तेजो महल्लोके गूढस्तिष्ठति दारुषु ।
न चोपयुङ्क्ते तद् दारु यावन्नोद्दीप्यते परैः ॥ ६० ॥

संसारमें अग्नि एक महान् तेज है, वह काठमें छिपी रहती है; किंतु जबतक दूसरे लोग उसे प्रज्वलित न कर दें, तबतक वह उस काठको नहीं जलाती ॥ ६० ॥

स एव खलु दारुभ्यो यदा निर्मथ्य दीप्यते ।
तद् दारु च वनं चान्यन्निर्दहत्याशु तेजसा ॥ ६१ ॥

वही अग्नि यदि काष्ठसे मथकर उद्दीप्त कर दी जाती है तो वह अपने तेजसे उस काष्ठको, जंगलको तथा दूसरी वस्तुओंको भी जल्दी ही जला डालती है ॥ ६१ ॥

एवमेव कुले जाताः पावकोपमतेजसः ।
क्षमावन्तो निराकाराः काष्ठेऽग्निरिव शेरते ॥ ६२ ॥

इसी प्रकार अपने कुलमें उत्पन्न वे अग्निके समान तेजस्वी पाण्डव क्षमाभावसे युक्त और विकारशून्य हो काष्ठमें छिपी अग्निकी तरह गुप्तरूपसे (अपने गुण एवं प्रभावको छिपाये हुए) स्थित हैं ॥ ६२ ॥

लताधर्मा त्वं सपुत्रः शालाः पाण्डुसुता मताः ।
न लता वर्धते जातु महाद्रुममनाश्रिता ॥ ६३ ॥

अपने पुत्रोंसहित आप लताके समान हैं और पाण्डव महान् शालवृक्षके सदृश हैं; महान् वृक्षका आश्रय लिये बिना लता कभी बढ़ नहीं सकती ॥ ६३ ॥

वनं राजंस्तव पुत्रोऽम्बिकेय
सिंहान् वने पाण्डवांस्तात विद्धि ।
सिंहैर्विहीनं हि वनं विनश्येत्
सिंहा विनश्येयुर्ऋते वनेन ॥ ६४ ॥

राजन्! अम्बिकानन्दन! आपके पुत्र एक वन हैं और पाण्डवोंको उसके भीतर रहनेवाले सिंह समझिये। तात! सिंहसे सूना हो जानेपर वन नष्ट हो जाता है और वनके बिना सिंह भी नष्ट हो जाते हैं ॥ ६४ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि प्रजागरपर्वणि विदुरहितवाक्ये सप्तत्रिंशोऽध्यायः ॥ ३७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत प्रजागरपर्वमें विदुरजीके हितवाक्यविषयक सैंतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३७ ॥

अष्टात्रिंशोऽध्यायः

विदुरजीका नीतियुक्त उपदेश

विदुर उवाच

ऊर्ध्वं प्राणा ह्युत्क्रामन्ति यूनः स्थविर आयति ।
प्रत्युत्थानाभिवादाभ्यां पुनस्तान् प्रतिपद्यते ॥ १ ॥

विदुरजी कहते हैं—राजन् ! जब कोई (माननीय) वृद्ध पुरुष निकट आता है, उस समय नवयुवक व्यक्तिके प्राण ऊपरको उठने लगते हैं; फिर जब वह वृद्धके स्वागतमें उठकर खड़ा होता और प्रणाम करता है, तब प्राणोंको पुनः वास्तविक स्थितिमें प्राप्त करता है ॥ १ ॥

पीठं दत्त्वा साधवेऽभ्यागताय
आनीयापः परिनिर्णिज्य पादौ ।
सुखं पृष्ट्वा प्रतिवेद्यात्मसंस्थां
ततो दद्यादन्नमवेक्ष्य धीरः ॥ २ ॥

धीर पुरुषको चाहिये, जब कोई साधु पुरुष अतिथिके रूपमें घरपर आवे, तब पहले आसन देकर एवं जल लाकर उसके चरण पखारे, फिर उसकी कुशल पूछकर अपनी स्थिति बतावे, तदनन्तर आवश्यकता समझकर अन्न भोजन करावे ॥ २ ॥

यस्योदकं मधुपर्कं च गां च
न मन्त्रवित् प्रतिगृह्णाति गेहे ।
लोभाद् भयादथ कार्पण्यतो वा
तस्यानर्थं जीवितमाहुरार्याः ॥ ३ ॥

वेदवेत्ता ब्राह्मण जिसके घर दाताके लोभ, भय या कंजूसीके कारण जल, मधुपर्क और गौको नहीं स्वीकार करता, श्रेष्ठ पुरुषोंने उस गृहस्थका जीवन व्यर्थ बताया है ॥ ३ ॥

चिकित्सकः शल्यकर्तावकीर्णी
स्तेनः क्रूरो मद्यपो भ्रूणहा च ।
सेनाजीवी श्रुतिविक्रायकश्च
भृशं प्रियोऽप्यतिथिर्नोदकार्हः ॥ ४ ॥

वैद्य, चीरफाड़ करनेवाला (जर्राह), ब्रह्मचर्यसे भ्रष्ट, चोर, क्रूर, शराबी, गर्भहत्यारा, सेनाजीवी और वेदविक्रेता—ये यद्यपि पैर धोनेके योग्य नहीं हैं, तथापि यदि अतिथि होकर आवें तो विशेष प्रिय यानी आदरके योग्य होते हैं ॥ ४ ॥

अविक्रयं लवणं पक्वमन्नं
दधि क्षीरं मधु तैलं घृतं च ।
तिला मांसं फलमूलानि शाकं
रक्तं वासः सर्वगन्धा गुडाश्च ॥ ५ ॥

नमक, पका हुआ अन्न, दही, दूध, मधु, तेल, घी, तिल, मांस, फल, मूल, साग, लाल कपड़ा, सब प्रकारकी गन्ध और गुड़—इतनी वस्तुएँ बेचने योग्य नहीं हैं ॥ ५ ॥

अरोषणो यः समलोष्टाश्मकाञ्चनः
प्रहीणशोको गतसंधिविग्रहः ।
निन्दाप्रशंसोपरतः प्रियाप्रिये
त्यजन्नुदासीनवदेष भिक्षुकः ॥ ६ ॥

जो क्रोध न करनेवाला, लोष्ट[1], पत्थर और सुवर्णको एक-सा समझनेवाला, शोकहीन, सन्धि-विग्रहसे रहित, निन्दा-प्रशंसासे शून्य, प्रिय-अप्रियका त्याग करनेवाला तथा उदासीन है, वही भिक्षुक (संन्यासी) है ॥ ६ ॥

नीवारमूलेङ्गुदशाकवृत्तिः
सुसंयतात्माग्निकार्येषु चोद्यः ।
वने वसन्नतिथिष्वप्रमत्तो
धुरंधरः पुण्यकृदेष तापसः ॥ ७ ॥

जो नीवार (जंगली चावल), कन्द-मूल, इङ्गुदीफल और साग खाकर निर्वाह करता है, मनको वशमें रखता है, अग्निहोत्र करता है, वनमें रहकर भी अतिथिसेवामें सदा सावधान रहता है, वही पुण्यात्मा तपस्वी (वानप्रस्थी) श्रेष्ठ माना गया है ॥ ७ ॥

अपकृत्य बुद्धिमतो दूरस्थोऽस्मीति नाश्वसेत् ।
दीर्घौ बुद्धिमतो बाहू याभ्यां हिंसति हिंसितः ॥ ८ ॥

बुद्धिमान् पुरुषकी बुराई करके इस विश्वासपर निश्चिन्त न रहे कि मैं दूर हूँ । बुद्धिमान्‌की (बुद्धिरूप) बाँहें बड़ी लंबी होती हैं, सताया जानेपर वह उन्हीं बाँहोंसे बदला लेता है ॥ ८ ॥

न विश्वसेदविश्वस्ते विश्वस्ते नातिविश्वसेत् ।
विश्वासाद् भयमुत्पन्नं मूलान्यपि निकृन्तति ॥ ९ ॥

जो विश्वासका पात्र नहीं है, उसका तो विश्वास करे ही नहीं; किंतु जो विश्वासपात्र है, उसपर भी अधिक विश्वास न करे । विश्वाससे जो भय उत्पन्न होता है, वह मूलका भी उच्छेद कर डालता है ॥ ९ ॥

अनीर्षुर्गुप्तदारश्च संविभागी प्रियंवदः ।
श्लक्ष्णो मधुरवाक् स्त्रीणां न चासां वशगो भवेत् ॥ १० ॥

मनुष्यको चाहिये कि वह ईर्ष्यारहित, स्त्रियोंका रक्षक, सम्पत्तिका न्यायपूर्वक विभाग करनेवाला, प्रियवादी, स्वच्छ

१. मिट्टी और गोबरको मिलाकर कच्चे घरोंको जो लीपा-पोता जाता है, उससे बचे हुए व्यर्थ लोंदेको 'लोष्ट' कहते हैं ।

तथा स्त्रियोंके निकट मीठे वचन बोलनेवाला हो, परंतु उनके वशमें कभी न हो ॥ १० ॥

पूजनीया महाभागाः पुण्याश्च गृहदीप्तयः ।
स्त्रियः श्रियो गृहस्योक्तास्तस्माद् रक्ष्या विशेषतः॥११॥

स्त्रियाँ घरकी लक्ष्मी कही गयी हैं। ये अत्यन्त सौभाग्यशालिनी, आदरके योग्य, पवित्र तथा घरकी शोभा हैं; अतः इनकी विशेषरूपसे रक्षा करनी चाहिये ॥ ११ ॥

पितुरन्तःपुरं दद्यान्मातुर्दद्यान्महानसम् ।
गोषु चात्मसमं दद्यात् स्वयमेव कृषिं व्रजेत् ॥ १२ ॥
भृत्यैर्वाणिज्यचारं च पुत्रैः सेवेत च द्विजान् ।

अन्तःपुरकी रक्षाका कार्य पिताको सौंप दे, रसोईघरका प्रबन्ध माताके हाथमें दे दे, गौओंकी सेवामें अपने समान व्यक्तिको नियुक्त करे और कृषिका कार्य स्वयं ही करे। इसी प्रकार सेवकोंद्वारा वाणिज्य—व्यापार करे और पुत्रोंके द्वारा ब्राह्मणोंकी सेवा करे ॥ १२½ ॥

अद्भ्योऽग्निर्ब्रह्मतः क्षत्रमश्मनो लोहमुत्थितम्॥ १३ ॥
तेषां सर्वत्रगं तेजः स्वासु योनिषु शाम्यति ।

जलसे अग्नि, ब्राह्मणसे क्षत्रिय और पत्थरसे लोहा पैदा हुआ है। इनका तेज सर्वत्र व्याप्त होनेपर भी अपने उत्पत्तिस्थानमें शान्त हो जाता है ॥ १३½ ॥

नित्यं सन्तः कुले जाताः पावकोपमतेजसः ॥ १४ ॥
क्षमावन्तो निराकाराः काष्ठेऽग्निरिव शेरते ।

अच्छे कुलमें उत्पन्न, अग्निके समान तेजस्वी, क्षमाशील और विकारशून्य संत पुरुष सदा काष्ठमें अग्निकी भाँति शान्तभावसे स्थित रहते हैं ॥ १४½ ॥

यस्य मन्त्रं न जानन्ति बाह्याश्चाभ्यन्तराश्च ये ॥ १५ ॥
स राजा सर्वतश्चक्षुश्चिरमैश्वर्यमश्नुते ।

जिस राजाकी मन्त्रणाको उसके बहिरङ्ग एवं अन्तरङ्ग कोई भी मनुष्य नहीं जानते, सब ओर दृष्टि रखनेवाला वह राजा चिरकालतक ऐश्वर्यका उपभोग करता है ॥ १५½ ॥

करिष्यन् न प्रभाषेत कृतान्येव तु दर्शयेत् ॥ १६ ॥
धर्मकामार्थकार्याणि तथा मन्त्रो न भिद्यते ।

धर्म, काम और अर्थसम्बन्धी कार्योंको करनेसे पहले न बतावे, करके ही दिखावे। ऐसा करनेसे अपनी मन्त्रणा दूसरोंपर प्रकट नहीं होती ॥ १६½ ॥

गिरिपृष्ठमुपारुह्य प्रासादं वा रहोगतः ॥ १७ ॥
अरण्ये निःशलाके वा तत्र मन्त्रोऽभिधीयते ।

पर्वतकी चोटी अथवा राजमहलपर चढ़कर एकान्त स्थानमें जाकर या जंगलमें तृण आदिसे अनावृत स्थानपर मन्त्रणा करनी चाहिये ॥ १७½ ॥

नासुहृत् परमं मन्त्रं भारतार्हति वेदितुम् ॥ १८ ॥
अपण्डितो वापि सुहृत् पण्डितो वाप्यनात्मवान् ।

भारत! जो मित्र न हो, मित्र होनेपर भी पण्डित न हो, पण्डित होनेपर भी जिसका मन वशमें न हो, वह अपनी गुप्त मन्त्रणा जाननेके योग्य नहीं है ॥ १८½ ॥

नापरीक्ष्य महीपालः कुर्यात् सचिवमात्मनः ॥ १९ ॥
अमात्ये ह्यर्थलिप्सा च मन्त्ररक्षणमेव च ।
कृतानि सर्वकार्याणि यस्य पारिषदा विदुः ॥ २० ॥
धर्मे चार्थे च कामे च स राजा राजसत्तमः ।
गूढमन्त्रस्य नृपतेस्तस्य सिद्धिरसंशयम् ॥ २१ ॥

राजा अच्छी तरह परीक्षा किये बिना किसीको अपना मन्त्री न बनावे; क्योंकि धनकी प्राप्ति और मन्त्रकी रक्षाका भार मन्त्रीपर ही रहता है। जिसके धर्म, अर्थ और कामविषयक सभी कार्योंको पूर्ण होनेके बाद ही सभासद्गण जान पाते हैं, वही राजा समस्त राजाओंमें श्रेष्ठ है। अपने मन्त्रको गुप्त रखनेवाले उस राजाको निःसंदेह सिद्धि प्राप्त होती है ॥ १९–२१ ॥

अप्रशस्तानि कार्याणि यो मोहादनुतिष्ठति ।
स तेषां विपरिभ्रंशाद् भ्रंश्यते जीवितादपि ॥ २२ ॥

जो मोहवश बुरे (शास्त्रनिषिद्ध) कर्म करता है, वह उन कार्योंका विपरीत परिणाम होनेसे अपने जीवनसे भी हाथ धो बैठता है ॥ २२ ॥

कर्मणां तु प्रशस्तानामनुष्ठानं सुखावहम् ।
तेषामेवाननुष्ठानं पश्चात्तापकरं मतम् ॥ २३ ॥

उत्तम कर्मोंका अनुष्ठान तो सुख देनेवाला होता है, किंतु उन्हींका अनुष्ठान न किया जाय तो वह पश्चात्तापका कारण माना गया है ॥ २३ ॥

अनधीत्य यथा वेदान् न विप्रः श्राद्धमर्हति ।
एवमश्रुतषाड्गुण्यो न मन्त्रं श्रोतुमर्हति ॥ २४ ॥

जैसे वेदोंको पढ़े बिना ब्राह्मण श्राद्धकर्म करवानेका अधिकारी नहीं होता, उसी प्रकार (सन्धि, विग्रह, यान, आसन, द्वैधीभाव और समाश्रय नामक) छः गुणोंको जाने बिना कोई गुप्त मन्त्रणा सुननेका अधिकारी नहीं होता ॥ २४ ॥

स्थानवृद्धिक्षयज्ञस्य षाड्गुण्यविदितात्मनः ।
अनवज्ञातशीलस्य स्वाधीना पृथिवी नृप ॥ २५ ॥

राजन्! जो सन्धि-विग्रह आदि छः गुणोंकी जानकारीके कारण प्रसिद्ध है, स्थिति, वृद्धि और ह्रासको जानता है तथा जिसके स्वभावकी सब लोग प्रशंसा करते हैं, उसी राजाके अधीन पृथ्वी रहती है ॥ २५ ॥

अमोघक्रोधहर्षस्य स्वयं कृत्यान्ववेक्षिणः ।
आत्मप्रत्ययकोशस्य वसुदैव वसुन्धरा ॥ २६ ॥

जिसके क्रोध और हर्ष व्यर्थ नहीं जाते, जो आवश्यक

कार्योंकी स्वयं देखभाल करता है और खजानेकी भी स्वयं जानकारी रखता है, उसकी पृथ्वी पर्याप्त धन देनेवाली ही होती है ॥ २६ ॥

नाममात्रेण तुष्येत छत्रेण च महीपतिः।
भृत्येभ्यो विसृजेदर्थान् नैकः सर्वहरो भवेत् ॥ २७ ॥

भूपतिको चाहिये कि अपने 'राजा' नामसे और राजोचित 'छत्र'के धारणसे संतुष्ट रहे। सेवकोंको पर्याप्त धन दे, सब अकेला ही न हड़प ले ॥ २७ ॥

ब्राह्मणं ब्राह्मणो वेद भर्ता वेद स्त्रियं तथा।
अमात्यं नृपतिर्वेद राजा राजानमेव च ॥ २८ ॥

ब्राह्मणको ब्राह्मण जानता है, स्त्रीको उसका पति जानता है, मन्त्रीको राजा जानता है और राजाको भी राजा ही जानता है ॥ २८ ॥

न शत्रुर्वशमापन्नो मोक्तव्यो वध्यतां गतः।
न्यग्भूत्वा पर्युपासीत वध्यं हन्याद् बले सति।
अहताद्धि भयं तस्माज्जायते नचिरादिव ॥ २९ ॥

वशमें आये हुए वधके योग्य शत्रुको कभी छोड़ना नहीं चाहिये। यदि अपना बल अधिक न हो तो नम्र होकर उसके पास समय बिताना चाहिये और बल होनेपर उसे मार ही डालना चाहिये; क्योंकि यदि शत्रु मारा न गया तो उससे शीघ्र ही भय उपस्थित होता है ॥ २९ ॥

दैवतेषु प्रयत्नेन राजसु ब्राह्मणेषु च।
नियन्तव्यः सदा क्रोधो वृद्धबालातुरेषु च ॥ ३० ॥

देवता, ब्राह्मण, राजा, वृद्ध, बालक और रोगीपर होनेवाले क्रोधको प्रयत्नपूर्वक सदा रोकना चाहिये ॥ ३० ॥

निरर्थं कलहं प्राज्ञो वर्जयेन्मूढसेवितम्।
कीर्तिं च लभते लोके न चानर्थेन युज्यते ॥ ३१ ॥

मूर्खोंद्वारा सेवित निरर्थक कलहका बुद्धिमान् पुरुषको त्याग कर देना चाहिये। ऐसा करनेसे उसे लोकमें यश मिलता है और अनर्थका सामना नहीं करना पड़ता ॥ ३१ ॥

प्रसादो निष्फलो यस्य क्रोधश्चापि निरर्थकः।
न तं भर्तारमिच्छन्ति षण्ढं पतिमिव स्त्रियः ॥ ३२ ॥

जिसके प्रसन्न होनेका कोई फल नहीं तथा जिसका क्रोध भी व्यर्थ होता है, ऐसे राजाको प्रजा उसी भाँति नहीं चाहती, जैसे स्त्री नपुंसक पतिको ॥ ३२ ॥

न बुद्धिर्धनलाभाय न जाड्यमसमृद्धये।
लोकपर्यायवृत्तान्तं प्राज्ञो जानाति नेतरः ॥ ३३ ॥

बुद्धिसे धन प्राप्त होता है और मूर्खता दरिद्रताका कारण है—ऐसा कोई नियम नहीं है। संसारचक्रके वृत्तान्तको केवल विद्वान् पुरुष ही जानते हैं, दूसरेलोग नहीं ॥ ३३ ॥

विद्याशीलवयोवृद्धान् बुद्धिवृद्धांश्च भारत।
धनाभिजातवृद्धांश्च नित्यं मूढोऽवमन्यते ॥ ३४ ॥

भारत ! मूर्ख मनुष्य विद्या, शील, अवस्था, बुद्धि, धन और कुलमें बड़े माननीय पुरुषोंका सदा अनादर किया करता है ॥ ३४ ॥

अनार्यवृत्तमप्राज्ञमसूयकमधार्मिकम्।
अनर्थाः क्षिप्रमायान्ति वाग्दुष्टं क्रोधनं तथा ॥ ३५ ॥

जिसका चरित्र निन्दनीय है, जो मूर्ख, गुणोंमें दोष देखनेवाला, अधार्मिक, बुरे वचन बोलनेवाला और क्रोधी है, उसके ऊपर शीघ्र ही अनर्थ (संकट) टूट पड़ते हैं ॥३५॥

अविसंवादनं दानं समयस्याव्यतिक्रमः।
आवर्तयन्ति भूतानि सम्यक्प्रणिहिता च वाक् ॥३६॥

ठगी न करना, दान देना, प्रतिज्ञाका उल्लङ्घन न करना और अच्छी तरह कही हुई बात—ये सब सम्पूर्ण भूतोंको अपना बना लेते हैं ॥ ३६ ॥

अविसंवादको दक्षः कृतज्ञो मतिमानृजुः।
अपि संक्षीणकोशोऽपि लभते परिवारणम् ॥ ३७ ॥

किसीको भी धोखा न देनेवाला, चतुर, कृतज्ञ, बुद्धिमान् और कोमल स्वभाववाला राजा खजाना समाप्त हो जानेपर भी सहायकोंको पा जाता है अर्थात् उसे सहायक मिल जाते हैं ॥ ३७ ॥

धृतिः शमो दमः शौचं कारुण्यं वागनिष्ठुरा।
मित्राणां चानभिद्रोहः सप्तैताः समिधः श्रियः॥ ३८ ॥

धैर्य, मनोनिग्रह, इन्द्रियसंयम, पवित्रता, दया, कोमल वाणी और मित्रसे द्रोह न करना—ये सात बातें लक्ष्मीको बढ़ानेवाली हैं ॥ ३८ ॥

असंविभागी दुष्टात्मा कृतघ्नो निरपत्रपः।
तादृङ्नराधिपो लोके वर्जनीयो नराधिप ॥ ३९ ॥

राजन् ! जो अपने आश्रितोंमें धनका ठीक-ठीक बँटवारा नहीं करता तथा जो दुष्ट स्वभाववाला, कृतघ्न और निर्लज्ज है, ऐसा राजा इस लोकमें त्याग देने योग्य है ॥ ३९ ॥

न च रात्रौ सुखं शेते ससर्प इव वेश्मनि।
यः कोपयति निर्दोषं सदोषोऽभ्यन्तरं जनम् ॥ ४० ॥

जो स्वयं दोषी होकर भी निर्दोष आत्मीय व्यक्तिको कुपित करता है, वह सर्पयुक्त घरमें रहनेवाले मनुष्यकी भाँति रातमें सुखसे नहीं सो सकता ॥ ४० ॥

येषु दुष्टेषु दोषः स्याद् योगक्षेमस्य भारत।
सदा प्रसादनं तेषां देवतानामिवाचरेत् ॥ ४१ ॥

भारत ! जिनके ऊपर दोषारोपण करनेसे योग-क्षेममें बाधा आती हो, उन लोगोंको देवताकी भाँति सदा प्रसन्न रखना चाहिये ॥ ४१ ॥

येऽर्थाः स्त्रीषु समायुक्ताः प्रमत्तपतितेषु च ।
ये चानार्ये समासक्ताः सर्वे ते संशयं गताः ॥ ४२ ॥

जो धन आदि पदार्थ स्त्री, प्रमादी, पतित और नीच पुरुषोंके हाथमें सौंप दिये जाते हैं, वे संशयमें पड़ जाते हैं ॥४२॥

यत्र स्त्री यत्र कितवो बालो यत्रानुशासिता ।
मज्जन्ति तेऽवशा राजन् नद्यामश्मप्लवा इव ॥ ४३ ॥

राजन्! जहाँका शासन स्त्री, जुआरी और बालकके हाथमें होता है, वहाँके लोग नदीमें पत्थरकी नावपर बैठनेवालोंकी भाँति विवश होकर विपत्तिके समुद्रमें डूब जाते हैं ॥ ४३ ॥

प्रयोजनेषु ये सक्ता न विशेषेषु भारत ।
तानहं पण्डितान् मन्ये विशेषा हि प्रसङ्गिनः ॥ ४४ ॥

भारत ! जो लोग जितना आवश्यक है, उतने ही काममें लगे रहते हैं, अधिकमें हाथ नहीं डालते, उन्हें मैं पण्डित मानता हूँ; क्योंकि अधिकमें हाथ डालना संघर्षका कारण होता है ॥ ४४ ॥

यं प्रशंसन्ति कितवा यं प्रशंसन्ति चारणाः ।
यं प्रशंसन्ति बन्धक्यो न स जीवति मानवः ॥ ४५ ॥

(केवल) जुआरी जिसकी प्रशंसा करते हैं, नर्तक जिसकी प्रशंसाका गान करते हैं और वेश्याएँ जिसकी बड़ाई किया करती हैं, वह मनुष्य जीता ही मुर्देके समान है ॥ ४५॥

हित्वा तान् परमेष्वासान् पाण्डवानमितौजसः ।
आहितं भारतैश्वर्यं त्वया दुर्योधने महत् ॥ ४६ ॥

भारत ! आपने उन महान् धनुर्धर और अत्यन्त तेजस्वी पाण्डवोंको छोड़कर यह महान् ऐश्वर्यका भार दुर्योधनके ऊपर रख दिया है ॥ ४६ ॥

तं द्रक्ष्यसि परिभ्रष्टं तस्मात् त्वमचिरादिव ।
ऐश्वर्यमदसम्मूढं बलिं लोकत्रयादिव ॥ ४७ ॥

इसलिये आप शीघ्र ही उस ऐश्वर्यमदसे मूढ दुर्योधनको त्रिभुवनके साम्राज्यसे गिरे हुए बलिकी भाँति इस राज्यसे भ्रष्ट होते देखियेगा ॥ ४७ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि प्रजागरपर्वणि विदुरवाक्ये अष्टात्रिंशोऽध्यायः ॥ ३८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत प्रजागरपर्वमें विदुरवाक्यविषयक अड़तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३८ ॥

एकोनचत्वारिंशोऽध्यायः

धृतराष्ट्रके प्रति विदुरजीका नीतियुक्त उपदेश

धृतराष्ट्र उवाच

अनीश्वरोऽयं पुरुषो भवाभवे
सूत्रप्रोता दारुमयीव योषा ।
धात्रा तु दिष्टस्य वशे कृतोऽयं
तस्माद् वद त्वं श्रवणे धृतोऽहम् ॥ १ ॥

धृतराष्ट्रने कहा—विदुर ! यह पुरुष ऐश्वर्यकी प्राप्ति और नाशमें स्वतन्त्र नहीं है । ब्रह्माने धागेसे बँधी हुई कठपुतलीकी भाँति इसे प्रारब्धके अधीन कर रक्खा है; इसलिये तुम कहते चलो, मैं सुननेके लिये धैर्य धारण किये बैठा हूँ ॥

विदुर उवाच

अप्राप्तकालं वचनं बृहस्पतिरपि ब्रुवन् ।
लभते बुद्ध्यवज्ञानमवमानं च भारत ॥ २ ॥

विदुरजी बोले—भारत ! समयके विपरीत यदि बृहस्पति भी कुछ बोलें तो उनका अपमान ही होगा और उनकी बुद्धिकी भी अवज्ञा ही होगी ॥ २ ॥

प्रियो भवति दानेन प्रियवादेन चापरः ।
मन्त्रमूलबलेनान्यो यः प्रियः प्रिय एव सः ॥ ३ ॥

संसारमें कोई मनुष्य दान देनेसे प्रिय होता है, दूसरा प्रिय वचन बोलनेसे प्रिय होता है और तीसरा मन्त्र तथा औषधके बलसे प्रिय होता है; किंतु जो वास्तवमें प्रिय है, वह तो सदा प्रिय ही है ॥ ३ ॥

द्वेष्यो न साधुर्भवति न मेधावी न पण्डितः ।
प्रिये शुभानि कार्याणि द्वेष्ये पापानि चैव ह ॥ ४ ॥

जिससे द्वेष हो जाता है, वह न साधु, न विद्वान् और न बुद्धिमान् ही जान पड़ता है। प्रिय व्यक्ति (मित्र आदि) के तो सभी कर्म शुभ ही प्रतीत होते हैं और शत्रुके सभी कार्य पापमय ॥ ४ ॥

उक्तं मया जातमात्रेऽपि राजन्
दुर्योधनं त्यज पुत्रं त्वमेकम् ।
तस्य त्यागात् पुत्रशतस्य वृद्धि-
रस्यात्यागात् पुत्रशतस्य नाशः ॥ ५ ॥

राजन् ! दुर्योधनके जन्म लेते ही मैंने कहा था कि केवल इसी एक पुत्रको आप त्याग दें । इसके त्यागसे सौ पुत्रोंकी वृद्धि होगी और इसका त्याग न करनेसे सौ पुत्रोंका नाश होगा ॥ ५ ॥

न वृद्धिर्बहु मन्तव्या या वृद्धिः क्षयमावहेत् ।
क्षयोऽपि बहु मन्तव्यो यः क्षयो वृद्धिमावहेत् ॥ ६ ॥

जो वृद्धि भविष्यमें नाशका कारण बने, उसे अधिक महत्त्व नहीं देना चाहिये और उस क्षयका भी बहुत आदर

करना चाहिये, जो आगे चलकर अभ्युदयका कारण हो ॥ ६ ॥

न स क्षयो महाराज यः क्षयो वृद्धिमावहेत्।
क्षयः स त्विह मन्तव्यो यं लब्ध्वा बहु नाशयेत्॥ ७ ॥

महाराज ! वास्तवमें जो क्षय वृद्धिका कारण होता है, वह क्षय नहीं है; किंतु उस लाभको भी क्षय ही मानना चाहिये, जिसे पानेसे बहुत-से लाभोंका नाश हो जाय ॥ ७ ॥

समृद्धा गुणतः केचिद् भवन्ति धनतोऽपरे।
धनवृद्धान् गुणैर्हीनान् धृतराष्ट्र विवर्जय ॥ ८ ॥

धृतराष्ट्र ! कुछ लोग गुणसे समृद्ध होते हैं और कुछ लोग धनसे। जो धनके धनी होते हुए भी गुणोंसे हीन हैं, उन्हें सर्वथा त्याग दीजिये ॥ ८ ॥

धृतराष्ट्र उवाच

सर्वं त्वमायतीयुक्तं भाषसे प्राज्ञसम्मतम्।
न चोत्सहे सुतं त्यक्तुं यतो धर्मस्ततो जयः ॥ ९ ॥

धृतराष्ट्रने कहा—विदुर ! तुम जो कुछ कह रहे हो, परिणाममें हितकर है; बुद्धिमान् लोग इसका अनुमोदन करते हैं। यह भी ठीक है कि जिस ओर धर्म होता है, उसी पक्षकी जीत होती है, तो भी मैं अपने बेटेका त्याग नहीं कर सकता ॥

विदुर उवाच

अतीवगुणसम्पन्नो न जातु विनयान्वितः।
सुसूक्ष्ममपि भूतानामुपमर्दमुपेक्षते ॥ १० ॥

विदुरजी बोले—राजन् ! जो अधिक गुणोंसे सम्पन्न और विनयी है, वह प्राणियोंका तनिक भी संहार होते देख उसकी कभी उपेक्षा नहीं कर सकता ॥ १० ॥

परापवादनिरताः परदुःखोदयेषु च।
परस्परविरोधे च यतन्ते सततोत्थिताः ॥ ११ ॥

सदोषं दर्शनं येषां संवासे सुमहद् भयम्।
अर्थादाने महान् दोषः प्रदाने च महद् भयम् ॥ १२ ॥

जो दूसरोंकी निन्दामें ही लगे रहते हैं, दूसरोंको दुःख देने और आपसमें फूट डालनेके लिये सदा उत्साहके साथ प्रयत्न करते हैं, जिनका दर्शन दोषसे भरा (अशुभ) है और जिनके साथ रहनेमें भी बहुत बड़ा खतरा है, ऐसे लोगोंसे धन लेनेमें महान् दोष है और उन्हें देनेमें बहुत बड़ा भय है ॥ ११-१२ ॥

ये वै भेदनशीलास्तु सकामा निस्त्रपाः शठाः।
ये पापा इति विख्याताः संवासे परिगर्हिताः ॥ १३ ॥

दूसरोंमें फूट डालनेका जिनका स्वभाव है, जो कामी, निर्लज्ज, शठ और प्रसिद्ध पापी हैं, वे साथ रखनेके अयोग्य—निन्दित माने गये हैं ॥ १३ ॥

युक्ताश्चान्यैर्महादोषैर्ये नरास्तान् विवर्जयेत्।
निवर्तमाने सौहार्दे प्रीतिर्नीचे प्रणश्यति ॥ १४ ॥

या चैव फलनिर्वृत्तिः सौहृदे चैव यत् सुखम्।

उपर्युक्त दोषोंके अतिरिक्त और भी जो महान् दोष हैं, उनसे युक्त मनुष्योंका त्याग कर देना चाहिये। सौहार्दभाव निवृत्त हो जानेपर नीच पुरुषोंका प्रेम नष्ट हो जाता है, उस सौहार्दसे होनेवाले फलकी सिद्धि और सुखका भी नाश हो जाता है ॥ १४½ ॥

यतते चापवादाय यत्नमारभते क्षये ॥ १५ ॥
अल्पेऽप्यपकृते मोहान्न शान्तिमधिगच्छति।

फिर वह नीच पुरुष निन्दा करनेके लिये यत्न करता है, थोड़ा भी अपराध हो जानेपर मोहवश विनाशके लिये उद्योग आरम्भ कर देता है। उसे तनिक भी शान्ति नहीं मिलती ॥

तादृशैः संगतं नीचैर्नृशंसैरकृतात्मभिः ॥ १६ ॥
निशम्य निपुणं बुद्ध्या विद्वान् दूराद् विवर्जयेत्।

वैसे नीच, क्रूर तथा अजितेन्द्रिय पुरुषोंसे होनेवाले सङ्गपर अपनी बुद्धिसे पूर्ण विचार करके विद्वान् पुरुष उसे दूरसे ही त्याग दे ॥ १६½ ॥

यो ज्ञातिमनुगृह्णाति दरिद्रं दीनमातुरम् ॥ १७ ॥
स पुत्रपशुभिर्वृद्धिं श्रेयश्चानन्त्यमश्नुते।

जो अपने कुटुम्बी, दरिद्र, दीन तथा रोगीपर अनुग्रह करता है, वह पुत्र और पशुओंसे वृद्धिको प्राप्त होता और अनन्त कल्याणका अनुभव करता है ॥ १७½ ॥

ज्ञातयो वर्धनीयास्तैर्य इच्छन्त्यात्मनः शुभम् ॥ १८ ॥
कुलवृद्धिं च राजेन्द्र तस्मात् साधु समाचर।

राजेन्द्र ! जो लोग अपने भलेकी इच्छा करते हैं, उन्हें अपने जातिभाइयोंको उन्नतिशील बनाना चाहिये; इसलिये आप भलीभाँति अपने कुलकी वृद्धि करें ॥ १८½ ॥

श्रेयसा योक्ष्यते राजन् कुर्वाणो ज्ञातिसत्क्रियाम् ॥ १९॥

राजन् ! जो अपने कुटुम्बीजनोंका सत्कार करता है, वह कल्याणका भागी होता है ॥ १९ ॥

विगुणा ह्यपि संरक्ष्या ज्ञातयो भरतर्षभ।
किं पुनर्गुणवन्तस्ते त्वत्प्रसादाभिकाङ्क्षिणः ॥ २० ॥

भरतश्रेष्ठ ! अपने कुटुम्बके लोग गुणहीन हों, तो भी उनकी रक्षा करनी चाहिये। फिर जो आपके कृपाभिलाषी एवं गुणवान् हैं, उनकी तो बात ही क्या है ॥ २० ॥

प्रसादं कुरु वीराणां पाण्डवानां विशाम्पते।
दीयन्तां ग्रामकाः केचित् तेषां वृत्त्यर्थमीश्वर ॥ २१ ॥

राजन् ! आप समर्थ हैं, वीर पाण्डवोंपर कृपा कीजिये और उनकी जीविकाके लिये कुछ गाँव दे दीजिये ॥ २१ ॥

एवं लोके यशः प्राप्तं भविष्यति नराधिप।
वृद्धेन हि त्वया कार्यं पुत्राणां तात शासनम् ॥ २२ ॥

नरेश्वर ! ऐसा करनेसे आपको इस संसारमें यश प्राप्त होगा। तात ! आप वृद्ध हैं, इसलिये आपको अपने पुत्रोंपर शासन करना चाहिये ॥ २२ ॥

मया चापि हितं वाच्यं विद्धि मां त्वद्धितैषिणम्।
ज्ञातिभिर्विग्रहस्तात न कर्तव्यः शुभार्थिना।
सुखानि सह भोज्यानि ज्ञातिभिर्भरतर्षभ ॥ २३ ॥

भरतश्रेष्ठ ! मुझे भी आपके हितकी ही बात कहनी चाहिये। आप मुझे अपना हितैषी समझें। तात ! शुभ चाहनेवालेको अपने जातिभाइयोंके साथ झगड़ा नहीं करना चाहिये; बल्कि उनके साथ मिलकर सुखका उपभोग करना चाहिये ॥ २३ ॥

सम्भोजनं संकथनं सम्प्रीतिश्च परस्परम्।
ज्ञातिभिः सह कार्याणि न विरोधः कदाचन ॥ २४ ॥

जाति-भाइयोंके साथ परस्पर भोजन, बातचीत एवं प्रेम करना ही कर्तव्य है; उनके साथ कभी विरोध नहीं करना चाहिये ॥ २४ ॥

ज्ञातयस्तारयन्तीह ज्ञातयो मज्जयन्ति च।
सुवृत्तास्तारयन्तीह दुर्वृत्ता मज्जयन्ति च ॥ २५ ॥

इस जगत्‌में जाति-भाई ही तारते और जाति-भाई ही डुबाते भी हैं। उनमें जो सदाचारी हैं, वे तो तारते हैं और दुराचारी डुबा देते हैं ॥ २५ ॥

सुवृत्तो भव राजेन्द्र पाण्डवान् प्रति मानद।
अधर्षणीयः शत्रूणां तैर्वृतस्त्वं भविष्यसि ॥ २६ ॥

राजेन्द्र ! आप पाण्डवोंके प्रति सद्‌व्यवहार करें। मानद ! उनसे सुरक्षित होकर आप शत्रुओंके लिये दुर्धर्ष हो जायँ ॥

श्रीमन्तं ज्ञातिमासाद्य यो ज्ञातिरवसीदति।
दिग्धहस्तं मृग इव स एनस्तस्य विन्दति ॥ २७ ॥

विषैले बाण हाथमें लिये हुए व्याधके पास पहुँचकर जैसे मृगको कष्ट भोगना पड़ता है, उसी प्रकार जो जातीय बन्धु अपने धनी बन्धुके पास पहुँचकर दुःख पाता है, उसके पापका भागी वह धनी होता है ॥ २७ ॥

पश्चादपि नरश्रेष्ठ तव तापो भविष्यति।
तान् वा हतान् सुतान् वापि श्रुत्वा तदनुचिन्तय ॥ २८ ॥

नरश्रेष्ठ ! आप पाण्डवोंको अथवा अपने पुत्रोंको मारे गये सुनकर पीछे संताप करेंगे; अतः इस बातका पहले ही विचार कर लीजिये ॥ २८ ॥

येन खट्वां समारूढः परितप्येत कर्मणा।
आदावेव न तत् कुर्यादध्रुवे जीविते सति ॥ २९ ॥

इस जीवनका कोई ठिकाना नहीं है अतएव जिस कर्मके करनेसे (अन्तमें) खटियापर बैठकर पछताना पड़े, उसको पहलेसे ही नहीं करना चाहिये ॥ २९ ॥

न कश्चिन्नापनयते पुमानन्यत्र भार्गवात्।
शेषसम्प्रतिपत्तिस्तु बुद्धिमत्स्वेव तिष्ठति ॥ ३० ॥

शुक्राचार्यके सिवा दूसरा कोई भी मनुष्य ऐसा नहीं है, जो नीतिका उल्लङ्घन नहीं करता; अतः जो बीत गया, सो बीत गया, शेष कर्तव्यका विचार (आप-जैसे) बुद्धिमान् पुरुषोंपर ही निर्भर है ॥ ३० ॥

दुर्योधनेन यद्येतत् पापं तेषु पुराकृतम्।
त्वया तत् कुलवृद्धेन प्रत्यानेयं नरेश्वर ॥ ३१ ॥

नरेश्वर ! दुर्योधनने पहले यदि पाण्डवोंके प्रति यह अपराध किया है तो आप इस कुलमें बड़े-बूढ़े हैं; आपके द्वारा उसका मार्जन हो जाना चाहिये ॥ ३१ ॥

तांस्त्वं पदे प्रतिष्ठाप्य लोके विगतकल्मषः।
भविष्यसि नरश्रेष्ठ पूजनीयो मनीषिणाम् ॥ ३२ ॥

नरश्रेष्ठ ! यदि आप उनको राजपदपर स्थापित कर देंगे तो संसारमें आपका कलङ्क धुल जायगा और आप बुद्धिमान् पुरुषोंके माननीय हो जायँगे ॥ ३२ ॥

सुव्याहृतानि धीराणां फलतः परिचिन्त्य यः।
अध्यवस्यति कार्येषु चिरं यशसि तिष्ठति ॥ ३३ ॥

जो धीर पुरुषोंके वचनोंके परिणामपर विचार करके उन्हें कार्यरूपमें परिणत करता है, वह चिरकालतक यशका भागी बना रहता है ॥ ३३ ॥

असम्यगुपयुक्तं हि ज्ञानं सुकुशलैरपि।
उपलभ्यं चाविदितं विदितं चाननुष्ठितम् ॥ ३४ ॥

अत्यन्त कुशल विद्वानोंके द्वारा भी उपदेश किया हुआ ज्ञान व्यर्थ ही है, यदि उससे कर्तव्यका ज्ञान न हुआ अथवा ज्ञान होनेपर भी उसका अनुष्ठान न हुआ ॥ ३४ ॥

पापोदयफलं विद्वान् यो नारभति वर्धते।
यस्तु पूर्वकृतं पापमविमृश्यानुवर्तते।
अगाधपङ्के दुर्मेधा विषमे विनिपात्यते ॥ ३५ ॥

जो विद्वान् पापरूप फल देनेवाले कर्मोंका आरम्भ नहीं करता, वह बढ़ता है; किंतु जो पूर्वमें किये हुए पापोंका विचार न करके उन्हींका अनुसरण करता है; वह खोटी बुद्धिवाला मनुष्य अगाध कीचड़से भरे हुए घोर नरकमें गिराया जाता है ॥ ३५ ॥

मन्त्रभेदस्य षट् प्राज्ञो द्वाराणीमानि लक्षयेत्।
अर्थसंततिकामश्च रक्षेदेतानि नित्यशः ॥ ३६ ॥
मदं स्वप्नमविज्ञानमाकारं चात्मसम्भवम्।
दुष्टामात्येषु विश्रम्भं दूताच्चाकुशलादपि ॥ ३७ ॥

बुद्धिमान् पुरुष मन्त्रभेदके इन छः द्वारोंको जाने और धनको रक्षित रखनेकी इच्छासे इन्हें सदा बंद रक्खे— मादक वस्तुओंका सेवन, निद्रा, आवश्यक बातोंकी जानकारी

न रखना, अपने नेत्र-मुख आदिका विकार, दुष्ट मन्त्रियोंपर विश्वास और कार्यमें अकुशल दूतपर भी भरोसा रखना ॥

द्वाराण्येतानि यो ज्ञात्वा संवृणोति सदा नृप।
त्रिवर्गाचरणे युक्तः स शत्रूनधितिष्ठति ॥ ३८ ॥

राजन्! जो इन द्वारोंको जानकर सदा बंद किये रहता है, वह अर्थ, धर्म और कामके सेवनमें लगा रहकर शत्रुओंको वशमें कर लेता है ॥ ३८ ॥

न वै श्रुतमविज्ञाय वृद्धाननुपसेव्य वा।
धर्मार्थौ वेदितुं शक्यौ बृहस्पतिसमैरपि ॥ ३९ ॥

बृहस्पतिके समान मनुष्य भी शास्त्रज्ञान अथवा वृद्धोंकी सेवा किये बिना धर्म और अर्थका ज्ञान नहीं प्राप्त कर सकते ॥ ३९ ॥

नष्टं समुद्रे पतितं नष्टं वाक्यमशृण्वति।
अनात्मनि श्रुतं नष्टं नष्टं हुतमनग्निकम् ॥ ४० ॥

समुद्रमें गिरी हुई वस्तु विनाशको प्राप्त हो जाती है; जो सुनता नहीं, उससे कही हुई बात भी विनष्ट हो जाती है; अजितेन्द्रिय पुरुषका शास्त्रज्ञान और राखमें किया हुआ हवन भी नष्ट ही है ॥ ४० ॥

मत्या परीक्ष्य मेधावी बुद्ध्या सम्पाद्य चासकृत्।
श्रुत्वा दृष्ट्वाथ विज्ञाय प्राज्ञैर्मैत्रीं समाचरेत् ॥ ४१ ॥

बुद्धिमान् पुरुष बुद्धिसे जाँचकर अपने अनुभवसे बारंबार उनकी योग्यताका निश्चय करे; फिर दूसरोंसे सुनकर और स्वयं देखकर भलीभाँति विचार करके विद्वानोंके साथ मित्रता करे ॥ ४१ ॥

अकीर्तिं विनयो हन्ति हन्त्यनर्थं पराक्रमः।
हन्ति नित्यं क्षमा क्रोधमाचारो हन्त्यलक्षणम् ॥ ४२ ॥

विनयभाव अपयशका नाश करता है, पराक्रम अनर्थको दूर करता है, क्षमा सदा ही क्रोधका नाश करती है और सदाचार कुलक्षणका अन्त करता है ॥ ४२ ॥

परिच्छदेन क्षेत्रेण वेश्मना परिचर्यया।
परीक्षेत कुलं राजन् भोजनाच्छादनेन च ॥ ४३ ॥

राजन्! नाना प्रकारके परिच्छेद[1], माता, घर, सेवा-शुश्रूषा और भोजन तथा वस्त्रके द्वारा कुलकी परीक्षा करे ॥

उपस्थितस्य कामस्य प्रतिवादो न विद्यते।
अपि निर्मुक्तदेहस्य कामरक्तस्य किं पुनः ॥ ४४ ॥

देहाभिमानसे रहित पुरुषके पास भी यदि न्याययुक्त पदार्थ स्वतः उपस्थित हो तो वह उसका विरोध नहीं करता, फिर कामासक्त मनुष्यके लिये तो कहना ही क्या है ? ॥ ४४ ॥

प्राज्ञोपसेविनं वैद्यं धार्मिकं प्रियदर्शनम्।
मित्रवन्तं सुवाक्यं च सुहृदं परिपालयेत् ॥ ४५ ॥

जो विद्वानोंकी सेवामें रहनेवाला, वैद्य, धार्मिक, देखनेमें सुन्दर, मित्रोंसे युक्त तथा मधुरभाषी हो, ऐसे सुहृद्की सर्वथा रक्षा करनी चाहिये ॥ ४५ ॥

दुष्कुलीनः कुलीनो वा मर्यादां यो न लङ्घयेत्।
धर्मापेक्षी मृदुर्ह्रीमान् स कुलीनशताद् वरः ॥ ४६ ॥

अधम कुलमें उत्पन्न हुआ हो या उत्तम कुलमें—जो मर्यादाका उल्लङ्घन नहीं करता, धर्मकी अपेक्षा रखता है, कोमल स्वभाववाला तथा सलज्ज है, वह सैकड़ों कुलीनोंसे बढ़कर है ॥ ४६ ॥

ययोश्चित्तेन वा चित्तं निभृतं निभृतेन वा।
समेति प्रज्ञया प्रज्ञा तयोर्मैत्री न जीर्यति ॥ ४७ ॥

जिन दो मनुष्योंका चित्तसे चित्त गुप्त रहस्यसे गुप्त रहस्य और बुद्धिसे बुद्धि मिल जाती है, उनकी मित्रता कभी नष्ट नहीं होती ॥ ४७ ॥

दुर्बुद्धिमकृतप्रज्ञं छन्नं कूपं तृणैरिव।
विवर्जयीत मेधावी तस्मिन् मैत्री प्रणश्यति ॥ ४८ ॥

मेधावी पुरुषको चाहिये कि तृणसे ढँके हुए कुएँकी भाँति दुर्बुद्धि एवं विचारशक्तिसे हीन पुरुषका परित्याग कर दे; क्योंकि उसके साथ की हुई मित्रता नष्ट हो जाती है ॥ ४८ ॥

अवलिप्तेषु मूर्खेषु रौद्रसाहसिकेषु च।
तथैवापेतधर्मेषु न मैत्रीमाचरेद् बुधः ॥ ४९ ॥

विद्वान् पुरुषको उचित है कि अभिमानी, मूर्ख, क्रोधी, साहसिक और धर्महीन पुरुषोंके साथ मित्रता न करे ॥ ४९ ॥

कृतज्ञं धार्मिकं सत्यमक्षुद्रं दृढभक्तिकम्।
जितेन्द्रियं स्थितं स्थित्यां मित्रमत्यागि चेष्यते ॥ ५० ॥

मित्र तो ऐसा होना चाहिये, जो कृतज्ञ, धार्मिक, सत्यवादी, उदार, दृढ़ अनुराग रखनेवाला, जितेन्द्रिय, मर्यादाके भीतर रहनेवाला और मैत्रीका त्याग न करनेवाला हो ॥ ५० ॥

इन्द्रियाणामनुत्सर्गो मृत्युनापि विशिष्यते।
अत्यर्थं पुनरुत्सर्गः सादयेद् दैवतान्यपि ॥ ५१ ॥

इन्द्रियोंको सर्वथा रोक रखना तो मृत्युसे भी बढ़कर कठिन है और उन्हें बिल्कुल खुली छोड़ देना देवताओंका भी नाश कर देता है ॥ ५१ ॥

मार्दवं सर्वभूतानामनसूया क्षमा धृतिः।
आयुष्याणि बुधाः प्राहुर्मित्राणां चाविमानना ॥ ५२ ॥

सम्पूर्ण प्राणियोंके प्रति कोमलताका भाव, गुणोंमें दोष न देखना, क्षमा, धैर्य और मित्रोंका अपमान न करना—ये सब गुण आयुको बढ़ानेवाले हैं—ऐसा विद्वान्लोग कहते हैं ॥

अपनीतं सुनीतेन योऽर्थं प्रत्यानिनीषते।
मतिमास्थाय सुदृढां तदकापुरुषव्रतम् ॥ ५३ ॥

१. हाथी, घोड़े रथ, आदि।

जो नष्ट हुए धनको स्थिर बुद्धिका आश्रय ले अच्छी नीतिसे पुनः लौटा लानेकी इच्छा करता है, वह वीर पुरुषोंका-सा आचरण करता है ॥ ५३ ॥

आयत्यां प्रतिकारज्ञस्तदात्वे दृढनिश्चयः ।
अतीते कार्यशेषज्ञो नरोऽर्थैर्न प्रहीयते ॥ ५४ ॥

जो आनेवाले दुःखको रोकनेका उपाय जानता है, वर्तमान-कालिक कर्तव्यके पालनमें दृढ़ निश्चय रखनेवाला है और अतीतकालमें जो कर्तव्य शेष रह गया है, उसे भी जानता है, वह मनुष्य कभी अर्थसे हीन नहीं होता ॥ ५४ ॥

कर्मणा मनसा वाचा यदभीक्ष्णं निषेवते ।
तदेवापहरत्येनं तस्मात् कल्याणमाचरेत् ॥ ५५ ॥

मनुष्य मन, वाणी और कर्मसे जिसका निरन्तर सेवन करता है, वह कार्य उस पुरुषको अपनी ओर खींच लेता है । इसलिये सदा कल्याणकारी कार्योंको ही करे ॥ ५५ ॥

मङ्गलालम्भनं योगः श्रुतमुत्थानमार्जवम् ।
भूतिमेतानि कुर्वन्ति सतां चाभीक्ष्णदर्शनम् ॥ ५६ ॥

माङ्गलिक पदार्थोंका स्पर्श, चित्तवृत्तियोंका निरोध, शास्त्रका अभ्यास, उद्योगशीलता, सरलता और सत्पुरुषोंका बारंबार दर्शन—ये सब कल्याणकारी हैं ॥ ५६ ॥

अनिर्वेदः श्रियो मूलं लाभस्य च शुभस्य च ।
महान् भवत्यनिर्विण्णः सुखं चानन्त्यमश्नुते ॥ ५७ ॥

उद्योगमें लगे रहना—उससे विरक्त न होना धन, लाभ और कल्याणका मूल है । इसलिये उद्योग न छोड़नेवाला मनुष्य महान् हो जाता है और अनन्त सुखका उपभोग करता है ॥ ५७ ॥

नातः श्रीमत्तरं किंचिदन्यत् पथ्यतमं मतम् ।
प्रभविष्णोर्यथा तात क्षमा सर्वत्र सर्वदा ॥ ५८ ॥

तात ! समर्थ पुरुषके लिये सब जगह और सब समयमें क्षमाके समान हितकारक और अत्यन्त श्रीसम्पन्न बनानेवाला उपाय दूसरा नहीं माना गया है ॥ ५८ ॥

क्षमेदशक्तः सर्वस्य शक्तिमान् धर्मकारणात् ।
अर्थानर्थौ समौ यस्य तस्य नित्यं क्षमा हिता ॥ ५९ ॥

जो शक्तिहीन है, वह तो सबपर क्षमा करे ही; जो शक्तिमान् है, वह भी धर्मके लिये क्षमा करे तथा जिसकी दृष्टिमें अर्थ और अनर्थ दोनों समान हैं, उसके लिये तो क्षमा सदा ही हितकारिणी होती है ॥ ५९ ॥

यत् सुखं सेवमानोऽपि धर्मार्थाभ्यां न हीयते ।
कामं तदुपसेवेत न मूढव्रतमाचरेत् ॥ ६० ॥

जिस सुखका सेवन करते रहनेपर भी मनुष्य धर्म और अर्थसे भ्रष्ट नहीं होता, उसका यथेष्ट सेवन करे; किंतु मूढव्रत (निद्रा-प्रमादादिका सेवन) न करे ॥ ६० ॥

दुःखार्तेषु प्रमत्तेषु नास्तिकेष्वलसेषु च ।
न श्रीर्वसत्यदान्तेषु ये चोत्साहविवर्जिताः ॥ ६१ ॥

जो दुःखसे पीड़ित, प्रमादी, नास्तिक, आलसी, अजितेन्द्रिय और उत्साहरहित हैं, उनके यहाँ लक्ष्मीका वास नहीं होता ॥ ६१ ॥

आर्जवेन नरं युक्तमार्जवात् सव्यपत्रपम् ।
अशक्तं मन्यमानास्तु धर्षयन्ति कुबुद्धयः ॥ ६२ ॥

दुष्ट बुद्धिवाले लोग सरलतासे युक्त और सरलताके ही कारण लज्जाशील मनुष्यको अशक्त मानकर उसका तिरस्कार करते हैं ॥ ६२ ॥

अत्यार्यमतिदातारमतिशूरमतिव्रतम् ।
प्रज्ञाभिमानिनं चैव श्रीर्भयान्नोपसर्पति ॥ ६३ ॥

अत्यन्त श्रेष्ठ, अतिशय दानी, अतीव, शूरवीर, अधिक व्रत-नियमोंका पालन करनेवाले और बुद्धिके घमंडमें चूर रहनेवाले मनुष्यके पास लक्ष्मी भयके मारे नहीं जाती ॥ ६३ ॥

न चातिगुणवत्स्वेषा नात्यन्तं निर्गुणेषु च ।
नैषा गुणान् कामयते नैर्गुण्यान्नानुरज्यते ।
उन्मत्ता गौरिवान्धा श्रीः क्वचिदेवावतिष्ठते ॥ ६४ ॥

लक्ष्मी न तो अत्यन्त गुणवानोंके पास रहती है और न बहुत निर्गुणोंके पास । यह न तो बहुत-से गुणोंको चाहती है और न गुणहीनताके प्रति ही अनुराग रखती है । उन्मत्त गौकी भाँति यह अन्धी लक्ष्मी कहीं-कहीं ही ठहरती है ॥

अग्निहोत्रफला वेदाः शीलवृत्तफलं श्रुतम् ।
रतिपुत्रफला नारी दत्तभुक्तफलं धनम् ॥ ६५ ॥

वेदोंका फल है अग्निहोत्र करना, शास्त्राध्ययनका फल है सुशीलता और सदाचार, स्त्रीका फल है रतिसुख और पुत्रकी प्राप्ति तथा धनका फल है दान और उपभोग ॥ ६५ ॥

अधर्मोपार्जितैरर्थैर्यः करोत्यौर्ध्वदेहिकम् ।
न स तस्य फलं प्रेत्य भुङ्क्तेऽर्थस्य दुरागमात् ॥ ६६ ॥

जो अधर्मके द्वारा कमाये हुए धनसे पारलौकिक कर्म करता है, वह मरनेके पश्चात् उसके फलको नहीं पाता; क्योंकि उसका धन बुरे रास्तेसे आया होता है ॥ ६६ ॥

कान्तारे वनदुर्गेषु कृच्छ्रास्वापत्सु सम्भ्रमे ।
उद्यतेषु च शस्त्रेषु नास्ति सत्त्ववतां भयम् ॥ ६७ ॥

घोर जंगलमें, दुर्गम मार्गमें, कठिन आपत्तिके समय, घबराहटमें और प्रहारके लिये शस्त्र उठे रहनेपर भी सत्त्व-सम्पन्न अर्थात् आत्मबलसे युक्त पुरुषोंको भय नहीं होता ॥

उत्थानं संयमो दाक्ष्यमप्रमादो धृतिः स्मृतिः ।
समीक्ष्य च समारम्भो विद्धि मूलं भवस्य तु ॥ ६८ ॥

उद्योग, संयम, दक्षता, सावधानी, धैर्य, स्मृति और सोच-विचारकर कार्यारम्भ करना—इन्हें उन्नतिका मूलमन्त्र समझिये ॥ ६८ ॥

तपो बलं तापसानां ब्रह्म ब्रह्मविदां बलम् ।
हिंसा बलमसाधूनां क्षमा गुणवतां बलम् ॥ ६९ ॥

तपस्वियोंका बल है तप, वेदवेत्ताओंका बल है वेद, पापियोंका बल है हिंसा और गुणवानोंका बल है क्षमा ॥ ६९ ॥

अष्टौ तान्यव्रतघ्नानि आपो मूलं फलं पयः ।
हविर्ब्राह्मणकाम्या च गुरोर्वचनमौषधम् ॥ ७० ॥

जल, मूल, फल, दूध, घी, ब्राह्मणकी इच्छापूर्ति, गुरुका वचन और औषध—ये आठ व्रतके नाशक नहीं होते ॥ ७० ॥

न तत् परस्य संदध्यात् प्रतिकूलं यदात्मनः ।
संग्रहेणैष धर्मः स्यात् कामादन्यः प्रवर्तते ॥ ७१ ॥

जो अपने प्रतिकूल जान पड़े, उसे दूसरोंके प्रति भी न करे। थोड़ेमें धर्मका यही स्वरूप है। इसके विपरीत जिसमें कामनासे प्रवृत्ति होती है, वह तो अधर्म है ॥ ७१ ॥

अक्रोधेन जयेत् क्रोधमसाधुं साधुना जयेत् ।
जयेत् कदर्यं दानेन जयेत् सत्येन चानृतम् ॥ ७२ ॥

अक्रोधसे क्रोधको जीते, असाधुको सद्व्यवहारसे वशमें करे, कृपणको दानसे जीते और झूठपर सत्यसे विजय प्राप्त करे ॥ ७२ ॥

स्त्रीधूर्तकेऽलसे भीरौ चण्डे पुरुषमानिनि
चौरे कृतघ्ने विश्वासो न कार्यो न च नास्तिके ॥ ७३ ॥

स्त्रीलम्पट, आलसी, डरपोक, क्रोधी, पुरुषत्वके अभिमानी, चोर, कृतघ्न और नास्तिकका विश्वास नहीं करना चाहिये ॥ ७३ ॥

अभिवादनशीलस्य नित्यं वृद्धोपसेविनः ।
चत्वारि सम्प्रवर्धन्ते कीर्तिरायुर्यशो बलम् ॥ ७४ ॥

जो नित्य गुरुजनोंको प्रणाम करता है और वृद्ध पुरुषोंकी सेवामें लगा रहता है, उसकी कीर्ति, आयु, यश और बल—ये चारों बढ़ते हैं ॥ ७४ ॥

अतिक्लेशेन येऽर्थाः स्युर्धर्मस्यातिक्रमेण वा ।
अरेर्वा प्रणिपातेन मा स्म तेषु मनः कृथाः ॥ ७५ ॥

जो धन अत्यन्त क्लेश उठानेसे, धर्मका उल्लङ्घन करनेसे अथवा शत्रुके सामने सिर झुकानेसे प्राप्त होता हो, उसमें आप मन न लगाइये ॥ ७५ ॥

अविद्यः पुरुषः शोच्यः शोच्यं मैथुनमप्रजम् ।
निराहाराः प्रजाः शोच्याः शोच्यं राष्ट्रमराजकम् ॥ ७६ ॥

विद्याहीन पुरुष, संतानोत्पत्तिरहित स्त्रीप्रसङ्ग, आहार न पानेवाली प्रजा और बिना राजाके राष्ट्रके लिये शोक करना चाहिये ॥ ७६ ॥

अध्वा जरा देहवतां पर्वतानां जलं जरा ।
असम्भोगो जरा स्त्रीणां वाक्शल्यं मनसो जरा ॥ ७७ ॥

अधिक राह चलना देहधारियोंके लिये दुःखरूप बुढ़ापा है, बराबर पानी गिरना पर्वतोंका बुढ़ापा है, सम्भोगसे वञ्चित रहनेका दुःख स्त्रियोंके लिये बुढ़ापा है, और वचनरूपी बाणोंका आघात मनके लिये बुढ़ापा है ॥ ७७ ॥

अनाम्नायमला वेदा ब्राह्मणस्याव्रतं मलम् ॥ ७८ ॥
मलं पृथिव्या बाह्लीकाः पुरुषस्यानृतं मलम् ।
कौतूहलमला साध्वी विप्रवासमलाः स्त्रियः ॥ ७९ ॥

अभ्यास न करना वेदोंका मल है; ब्राह्मणोचित नियमोंका पालन न करना ब्राह्मणका मल है, बाह्लीकदेश (बलख-बुखारा) पृथ्वीका मल है तथा झूठ बोलना पुरुषका मल है, क्रीडा एवं हास-परिहासकी उत्सुकता पतिव्रता स्त्रीका मल है और पतिके बिना परदेशमें रहना स्त्रीमात्रका मल है ॥

सुवर्णस्य मलं रूप्यं रूप्यस्यापि मलं त्रपु ।
ज्ञेयं त्रपुमलं सीसं सीसस्यापि मलं मलम् ॥ ८० ॥

सोनेका मल है चाँदी, चाँदीका मल है राँगा, राँगेका मल है सीसा और सीसेका भी मल है मैलापन ॥ ८० ॥

न स्वप्नेन जयेन्निद्रां न कामेन जयेत् स्त्रियः ।
नेन्धनेन जयेदग्निं न पानेन सुरां जयेत् ॥ ८१ ॥

अधिक सोकर नींदको जीतनेका प्रयास न करे, कामोपभोगके द्वारा स्त्रीको जीतनेकी इच्छा न करे, लकड़ी डालकर आगको जीतनेकी आशा न रक्खे और अधिक पीकर मदिरा पीनेकी आदतको जीतनेका प्रयास न करे ॥ ८१ ॥

यस्य दानजितं मित्रं शत्रवो युधि निर्जिताः ।
अन्नपानजिता दाराः सफलं तस्य जीवितम् ॥ ८२ ॥

जिसका मित्र धन-दानके द्वारा वशमें आ चुका है, शत्रु युद्धमें जीत लिये गये हैं और स्त्रियाँ खान-पानके द्वारा वशीभूत हो चुकी हैं, उसका जीवन सफल है अर्थात् सुखमय है ॥ ८२ ॥

सहस्रिणोऽपि जीवन्ति जीवन्ति शतिनस्तथा ।
धृतराष्ट्र विमुञ्चेच्छां न कथंचिन्न जीव्यते ॥ ८३ ॥

जिनके पास हजार (रुपये) हैं, वे भी जीवित हैं तथा जिनके पास सौ (रुपये) हैं, वे भी जीवित हैं; अतः महाराज धृतराष्ट्र ! आप अधिकका लोभ छोड़ दीजिये, इससे भी किसी तरह जीवन नहीं रहेगा, यह बात नहीं है ॥ ८३ ॥

यत् पृथिव्यां व्रीहियवं हिरण्यं पशवः स्त्रियः ।
नालमेकस्य तत् सर्वमिति पश्यन् न मुह्यति ॥ ८४ ॥

इस पृथ्वीपर जो भी धान, जौ, सोना, पशु और स्त्रियाँ

हैं, वे सब-के-सब एक पुरुषके लिये भी पर्याप्त नहीं हैं (अर्थात् उनसे किसीकी भी तृप्ति नहीं हो सकती)। ऐसा विचार करनेवाला मनुष्य मोहमें नहीं पड़ता ॥ ८४ ॥

राजन् भूयो ब्रवीमि त्वां पुत्रेषु सममाचर।
समता यदि ते राजन् स्वेषु पाण्डुसुतेषु वा ॥ ८५ ॥

राजन्! मैं फिर कहता हूँ, यदि आपका अपने पुत्रों और पाण्डवोंमें समानभाव है तो उन सभी पुत्रोंके साथ एक-सा बर्ताव कीजिये ॥ ८५ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि प्रजागरपर्वणि विदुरवाक्ये एकोनचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ३९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत प्रजागरपर्वमें विदुरवाक्यविषयक उनतालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३९ ॥

चत्वारिंशोऽध्यायः

धर्मकी महत्ताका प्रतिपादन तथा ब्राह्मण आदि चारों वर्णोंके धर्मका संक्षिप्त वर्णन

विदुर उवाच

योऽभ्यर्चितः सद्भिरसज्जमानः
करोत्यर्थं शक्तिमहापयित्वा।
क्षिप्रं यशस्तं समुपैति सन्त-
मलं प्रसन्ना हि सुखाय सन्तः ॥ १ ॥

विदुरजी कहते हैं—राजन्! जो सज्जन पुरुषोंसे आदर पाकर आसक्तिरहित हो अपनी शक्तिके अनुसार (न्यायपूर्वक) अर्थ-साधन करता रहता है, उस श्रेष्ठ पुरुषको शीघ्र ही सुयशकी प्राप्ति होती है; क्योंकि संत जिसपर प्रसन्न होते हैं, वह सदा सुखी रहता है ॥ १ ॥

महान्तमप्यर्थमधर्मयुक्तं
यः संत्यजत्यनपाकृष्ट एव।
सुखं सुदुःखान्यवमुच्य शेते
जीर्णां त्वचं सर्प इवावमुच्य ॥ २ ॥

जो अधर्मसे उपार्जित महान् धनराशिको भी उसकी ओर आकृष्ट हुए बिना ही त्याग देता है, वह जैसे साँप अपनी पुरानी केंचुलको छोड़ता है, उसी प्रकार दुःखोंसे मुक्त हो सुखपूर्वक शयन करता है ॥ २ ॥

अनृते च समुत्कर्षो राजगामि च पैशुनम्।
गुरोश्चालीकनिर्बन्धः समानि ब्रह्महत्यया ॥ ३ ॥

झूठ बोलकर उन्नति करना, राजाके पासतक चुगली करना, गुरुजनपर भी झूठा दोषारोपण करनेका आग्रह करना—ये तीन कार्य ब्रह्महत्याके समान हैं ॥ ३ ॥

असूयैकपदं मृत्युरतिवादः श्रियो वधः।
अशुश्रूषा त्वरा श्लाघा विद्यायाः शत्रवस्त्रयः ॥ ४ ॥

गुणोंमें दोष देखना एकदम मृत्युके समान है, निन्दा करना लक्ष्मीका वध है तथा सेवाका अभाव, उतावलापन और आत्मप्रशंसा—ये तीन विद्याके शत्रु हैं ॥ ४ ॥

आलस्यं मदमोहौ च चापलं गोष्ठिरेव च।
स्तब्धता चाभिमानित्वं तथात्यागित्वमेव च।
एते वै सप्त दोषाः स्युः सदा विद्यार्थिनां मताः ॥ ५ ॥

आलस्य, मद-मोह, चञ्चलता, गोष्ठी, उद्दण्डता, अभिमान और स्वार्थत्यागका अभाव—ये सात विद्यार्थियोंके लिये सदा ही दोष माने गये हैं ॥ ५ ॥

सुखार्थिनः कुतो विद्या नास्ति विद्यार्थिनः सुखम्।
सुखार्थी वा त्यजेद् विद्यां विद्यार्थी वा त्यजेत् सुखम् ॥ ६ ॥

सुख चाहनेवालेको विद्या कहाँसे मिले? विद्या चाहनेवालेके लिये सुख नहीं है; सुखकी चाह हो तो विद्याको छोड़े और विद्या चाहे तो सुखका त्याग करे ॥ ६ ॥

नाग्निस्तृप्यति काष्ठानां नापगानां महोदधिः।
नान्तकः सर्वभूतानां न पुंसां वामलोचना ॥ ७ ॥

ईंधनसे आगकी, नदियोंसे समुद्रकी, समस्त प्राणियोंसे मृत्युकी और पुरुषोंसे कुलटा स्त्रीकी कभी तृप्ति नहीं होती ॥

आशा धृतिं हन्ति समृद्धिमन्तकः
क्रोधः श्रियं हन्ति यशः कदर्यता।
अपालनं हन्ति पशूंश्च राज-
न्नेकः क्रुद्धो ब्राह्मणो हन्ति राष्ट्रम् ॥ ८ ॥

आशा धैर्यको, यमराज समृद्धिको, क्रोध लक्ष्मीको, कृपणता यशको और सार-सँभालका अभाव पशुओंको नष्ट कर देता है, परंतु राजन्! ब्राह्मण यदि अकेला ही क्रुद्ध हो जाय तो सम्पूर्ण राष्ट्रका नाश कर देता है ॥ ८ ॥

अजाश्च कांस्यं रजतं च नित्यं
मध्वाकर्षः शकुनिः श्रोत्रियश्च।
वृद्धो ज्ञातिरवसन्नः कुलीन
एतानि ते सन्तु गृहे सदैव ॥ ९ ॥

बकरियाँ, काँसेका पात्र, चाँदी, मधु, धनुष, पक्षी, वेदवेत्ता ब्राह्मण, बूढ़ा कुटुम्बी और विपत्तिग्रस्त कुलीन पुरुष—ये सब आपके घरमें सदा मौजूद रहें ॥ ९ ॥

अजोक्षा चन्दनं वीणा आदर्शो मधुसर्पिषी।
विषमौदुम्बरं शङ्खः स्वर्णनाभोऽथ रोचना ॥ १० ॥
गृहे स्थापयितव्यानि धन्यानि मनुरब्रवीत्।
देवब्राह्मणपूजार्थमतिथीनां च भारत ॥ ११ ॥

भारत ! मनुजीने कहा है कि देवता, ब्राह्मण तथा अतिथियोंकी पूजाके लिये बकरी, बैल, चन्दन, वीणा, दर्पण, मधु, घी, जल, ताँबेके बर्तन, शङ्ख, शालग्राम और गोरोचन—ये सब वस्तुएँ घरपर रखनी चाहिये ॥ १०-११ ॥

इदं च त्वां सर्वपरं ब्रवीमि
पुण्यं पदं तात महाविशिष्टम् ।
न जातु कामान्न भयान्न लोभाद्
धर्मं जह्याज्जीवितस्यापि हेतोः ॥ १२ ॥
नित्यो धर्मः सुखदुःखे त्वनित्ये
जीवो नित्यो हेतुरस्य त्वनित्यः ।
त्यक्त्वानित्यं प्रतितिष्ठस्व नित्ये
संतुष्य त्वं तोषपरो हि लाभः ॥ १३ ॥

तात ! अब मैं तुम्हें यह बहुत ही महत्त्वपूर्ण एवं सर्वोपरि पुण्यजनक बात बता रहा हूँ—कामनासे, भयसे, लोभसे तथा इस जीवनके लिये भी कभी धर्मका त्याग न करे। धर्म नित्य है, किंतु सुख-दुःख अनित्य हैं । जीव नित्य है, पर इसका कारण अनित्य है । आप अनित्यको छोड़कर नित्यमें स्थित होइये और संतोष धारण कीजिये; क्योंकि संतोष ही सबसे बड़ा लाभ है ॥ १२-१३ ॥

महाबलान् पश्य महानुभावान्
प्रशास्य भूमिं धनधान्यपूर्णाम् ।
राज्यानि हित्वा विपुलांश्च भोगान्
गतान् नरेन्द्रान् वशमन्तकस्य ॥ १४ ॥

धन-धान्यादिसे परिपूर्ण पृथ्वीका शासन करके अन्तमें समस्त राज्य और विपुल भोगोंको यहीं छोड़कर यमराजके वशमें गये हुए बड़े-बड़े बलवान् एवं महानुभाव राजाओंकी ओर दृष्टि डालिये ॥ १४ ॥

मृतं पुत्रं दुःखपुष्टं मनुष्या
उत्क्षिप्य राजन् स्वगृहान्निर्हरन्ति ।
तं मुक्तकेशाः करुणं रुदन्ति
चितामध्ये काष्ठमिव क्षिपन्ति ॥ १५ ॥

राजन् ! जिसको बड़े कष्टसे पाला-पोसा था, वही पुत्र जब मर जाता है, तब मनुष्य उसे उठाकर तुरंत अपने घरसे बाहर कर देते हैं । पहले तो उसके लिये बाल छितराये करुणाभरे स्वरमें विलाप करते हैं, फिर साधारण काठकी भाँति उसे जलती चितामें झोंक देते हैं ॥ १५ ॥

अन्यो धनं प्रेतगतस्य भुङ्क्ते
वयांसि चाग्निश्च शरीरधातून् ।
द्वाभ्यामयं सह गच्छत्यमुत्र
पुण्येन पापेन च वेष्ट्यमानः ॥ १६ ॥

मरे हुए मनुष्यका धन दूसरे लोग भोगते हैं, उसके शरीरकी धातुओंको पक्षी खाते हैं या आग जलाती है । यह मनुष्य पुण्य-पापसे बँधा हुआ इन्हीं दोनोंके साथ परलोकमें गमन करता है ॥ १६ ॥

उत्सृज्य विनिवर्तन्ते ज्ञातयः सुहृदः सुताः ।
अपुष्पानफलान् वृक्षान् यथा तात पतत्रिणः ॥ १७ ॥

तात ! बिना फल-फूलके वृक्षको जैसे पक्षी छोड़ देते हैं, उसी प्रकार उस प्रेतको उसके जातिवाले, सुहृद् और पुत्र चितामें छोड़कर लौट आते हैं ॥ १७ ॥

अग्नौ प्रास्तं तु पुरुषं कर्मान्वेति स्वयंकृतम् ।
तस्मात् तु पुरुषो यत्नाद् धर्मं संचिनुयाच्छनैः ॥ १८ ॥

अग्निमें डाले हुए उस पुरुषके पीछे तो केवल उसका अपना किया हुआ बुरा या भला कर्म ही जाता है । इसलिये पुरुषको चाहिये कि वह धीरे-धीरे प्रयत्नपूर्वक धर्मका ही संग्रह करे ॥ १८ ॥

अस्माल्लोकादूर्ध्वममुष्य चाधो
महत् तमस्तिष्ठति ह्यन्धकारम् ।
तद् वै महामोहनमिन्द्रियाणां
बुध्यस्व मा त्वां प्रलभेत राजन् ॥ १९ ॥

इस लोक और परलोकसे ऊपर और नीचेतक सर्वत्र अज्ञानरूप महान् अन्धकार फैला हुआ है । वह इन्द्रियोंको महान् मोहमें डालनेवाला है । राजन् ! आप इसको जान लीजिये, जिससे यह आपका स्पर्श न कर सके ॥ १९ ॥

इदं वचः शक्ष्यसि चेद् यथाव-
न्निशम्य सर्वं प्रतिपत्तुमेव ।
यशः परं प्राप्स्यसि जीवलोके
भयं न चामुत्र न चेह तेऽस्ति ॥ २० ॥

मेरी इस बातको सुनकर यदि आप सब ठीक-ठीक समझ सकेंगे तो इस मनुष्यलोकमें आपको महान् यश प्राप्त होगा और इहलोक तथा परलोकमें आपके लिये भय नहीं रहेगा ॥ २० ॥

आत्मा नदी भारत पुण्यतीर्था
सत्योदका धृतिकूला दयोर्मिः ।
तस्यां स्नातः पूयते पुण्यकर्मा
पुण्यो ह्यात्मा नित्यमलोभ एव ॥ २१ ॥

भारत ! यह जीवात्मा एक नदी है । इसमें पुण्य ही तीर्थ है । सत्यस्वरूप परमात्मासे इसका उद्गम हुआ है । धैर्य ही इसके किनारे हैं । दया इसकी लहरें हैं । पुण्यकर्म करनेवाला मनुष्य इसमें स्नान करके पवित्र होता है; क्योंकि लोभरहित आत्मा सदा पवित्र ही है ॥ २१ ॥

कामक्रोधग्राहवतीं पञ्चेन्द्रियजलां नदीम् ।
नावं धृतिमयीं कृत्वा जन्मदुर्गाणि संतर ॥ २२ ॥

काम-क्रोधादिरूप ग्राहसे भरी, पाँच इन्द्रियोंके जलसे

पूर्ण इस संसारनदीके जन्म-मरणरूप दुर्गम प्रवाहको धैर्यकी नौका बनाकर पार कीजिये ॥ २२ ॥

प्रज्ञावृद्धं धर्मवृद्धं स्वबन्धुं
विद्यावृद्धं वयसा चापि वृद्धम् ।
कार्याकार्ये पूजयित्वा प्रसाद्य
यः सम्पृच्छेन्न स मुह्येत् कदाचित्॥२३॥

जो बुद्धि, धर्म, विद्या और अवस्थामें बड़े अपने बन्धुको आदर-सत्कारसे प्रसन्न करके उससे कर्तव्य-अकर्तव्यके विषयमें प्रश्न करता है, वह कभी मोहमें नहीं पड़ता ॥२३॥

धृत्या शिश्नोदरं रक्षेत् पाणिपादं च चक्षुषा ।
चक्षुःश्रोत्रे च मनसा मनो वाचं च कर्मणा ॥ २४ ॥

शिश्न और उदरकी धैर्यसे रक्षा करे, अर्थात् कामवेग और भूखकी ज्वालाको धैर्यपूर्वक सहे । इसी प्रकार हाथ-पैरकी नेत्रोंसे, नेत्र और कानोंकी मनसे तथा मन और वाणीकी सत्कर्मोंसे रक्षा करे ॥ २४ ॥

नित्योदकी नित्ययज्ञोपवीती
नित्यस्वाध्यायी पतितान्नवर्जी ।
सत्यं ब्रुवन् गुरवे कर्म कुर्वन्
न ब्राह्मणश्च्यवते ब्रह्मलोकात् ॥ २५ ॥

जो प्रतिदिन जलसे स्नान-संध्या-तर्पण आदि करता है, नित्य यज्ञोपवीत धारण किये रहता है, नित्य स्वाध्याय करता है, पतितोंका अन्न त्याग देता है, सत्य बोलता और गुरुकी सेवा करता है, वह ब्राह्मण कभी ब्रह्मलोकसे भ्रष्ट नहीं होता ॥ २५ ॥

अधीत्य वेदान् परिसंस्तीर्य चाग्नी-
निष्ट्वा यज्ञैः पालयित्वा प्रजाश्च ।
गोब्राह्मणार्थे शस्त्रपूतान्तरात्मा
हतः संग्रामे क्षत्रियः स्वर्गमेति ॥ २६ ॥

वेदोंको पढ़कर, अग्निहोत्रके लिये अग्निके चारों ओर कुश बिछाकर नाना प्रकारके यज्ञोंद्वारा यजन कर और प्रजाजनोंका पालन करके गौ और ब्राह्मणोंके हितके लिये संग्राममें मृत्युको प्राप्त हुआ क्षत्रिय शस्त्रसे अन्तःकरण पवित्र हो जानेके कारण ऊर्ध्वलोकको जाता है ॥ २६ ॥

वैश्योऽधीत्य ब्राह्मणान् क्षत्रियांश्च
धनैः काले संविभज्याश्रितांश्च ।
त्रेतापूतं धूममाघ्राय पुण्यं
प्रेत्य स्वर्गे दिव्यसुखानि भुङ्क्ते ॥२७॥

वैश्य यदि वेद-शास्त्रोंका अध्ययन करके ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा आश्रितजनोंको समय-समयपर धन देकर उनकी सहायता करे और यज्ञोंद्वारा तीनों[1] अग्नियोंके पवित्र धूमकी सुगन्ध लेता रहे तो वह मरनेके पश्चात् स्वर्गलोकमें दिव्य सुख भोगता है ॥२७॥

ब्रह्म क्षत्रं वैश्यवर्णं च शूद्रः
क्रमेणैतान् न्यायतः पूजयानः ।
तुष्टेष्वेतेष्वव्यथो दग्धपाप-
स्त्यक्त्वा देहं स्वर्गसुखानि भुङ्क्ते ॥२८॥

शूद्र यदि ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यकी क्रमसे न्यायपूर्वक सेवा करके इन्हें संतुष्ट करता है तो वह व्यथासे रहित हो पापोंसे मुक्त होकर देह-त्यागके पश्चात् स्वर्गसुखका उपभोग करता है ॥ २८ ॥

चातुर्वर्ण्यस्यैष धर्मस्तवोक्तो
हेतुं चानुब्रुवतो मे निबोध ।
क्षात्राद् धर्माद्धीयते पाण्डुपुत्र-
स्तं त्वं राजन् राजधर्मे नियुङ्क्ष्व ॥ २९ ॥

महाराज ! आपसे यह मैंने चारों वर्णोंका धर्म बताया है; इसे बतानेका कारण भी सुनिये । आपके कारण पाण्डुनन्दन युधिष्ठिर क्षत्रियधर्मसे गिर रहे हैं, अतः आप उन्हें पुनः राजधर्ममें नियुक्त कीजिये ॥ २९ ॥

धृतराष्ट्र उवाच

एवमेतद् यथा त्वं मामनुशाससि नित्यदा ।
ममापि च मतिः सौम्य भवत्येवं यथाऽऽत्थ माम् ॥३०॥

धृतराष्ट्रने कहा—विदुर ! तुम प्रतिदिन मुझे जिस प्रकार उपदेश दिया करते हो, वह बहुत ठीक है । सौम्य ! तुम मुझसे जो कुछ भी कहते हो, ऐसा ही मेरा भी विचार है ॥ ३० ॥

सा तु बुद्धिः कृताप्येवं पाण्डवान् प्रति मे सदा ।
दुर्योधनं समासाद्य पुनर्विपरिवर्तते ॥ ३१ ॥

यद्यपि मैं पाण्डवोंके प्रति सदा ऐसी ही बुद्धि रखता हूँ, तथापि दुर्योधनसे मिलनेपर फिर बुद्धि पलट जाती है ॥ ३१ ॥

न दिष्टमभ्यतिक्रान्तुं शक्यं भूतेन केनचित् ।
दिष्टमेव ध्रुवं मन्ये पौरुषं तु निरर्थकम् ॥ ३२ ॥

प्रारब्धका उल्लङ्घन करनेकी शक्ति किसी भी प्राणीमें नहीं है । मैं तो प्रारब्धको ही अचल मानता हूँ, उसके सामने पुरुषार्थ तो व्यर्थ है ॥ ३२ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि प्रजागरपर्वणि विदुरवाक्ये चत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत प्रजागरपर्वमें विदुरवाक्यविषयक चालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ४० ॥

---

[1] गार्हपत्याग्नि, दक्षिणाग्नि और आहवनीयाग्नि—ये तीन अग्नियाँ हैं ।

(सनत्सुजातपर्व)

एकचत्वारिंशोऽध्यायः

विदुरजीके द्वारा स्मरण करनेपर आये हुए सनत्सुजात ऋषिसे धृतराष्ट्रको उपदेश देनेके लिये उनकी प्रार्थना

धृतराष्ट्र उवाच

अनुक्तं यदि ते किंचिद् वाचा विदुर विद्यते ।
तन्मे शुश्रूषतो ब्रूहि विचित्राणि हि भाषसे ॥ १ ॥

धृतराष्ट्र बोले—विदुर ! यदि तुम्हारी वाणीसे कुछ और कहना शेष रह गया हो तो कहो, मुझे उसे सुननेकी बड़ी इच्छा है; क्योंकि तुम्हारे कहनेका ढंग विलक्षण है ॥ १ ॥

विदुर उवाच

धृतराष्ट्र कुमारो वै यः पुराणः सनातनः ।
सनत्सुजातः प्रोवाच मृत्युर्नास्तीति भारत ॥ २ ॥

विदुरने कहा—भरतवंशी धृतराष्ट्र ! कुमार 'सनत्सुजात' नामसे विख्यात जो (ब्रह्माजीके पुत्र) परम प्राचीन सनातन ऋषि हैं, उन्होंने (एक बार) कहा था—'मृत्यु है ही नहीं' ॥

स ते गुह्यान् प्रकाशांश्च सर्वान् हृदयसंश्रयान् ।
प्रवक्ष्यति महाराज सर्वबुद्धिमतां वरः ॥ ३ ॥

महाराज ! वे समस्त बुद्धिमानोंमें श्रेष्ठ हैं, वे ही आपके हृदयमें स्थित व्यक्त और अव्यक्त सभी प्रकारके प्रश्नोंका उत्तर देंगे ॥ ३ ॥

धृतराष्ट्र उवाच

किं त्वं न वेद तद् भूयो यन्मे ब्रूयात् सनातनः ।
त्वमेव विदुर ब्रूहि प्रज्ञाशेषोऽस्ति चेत् तव ॥ ४ ॥

धृतराष्ट्रने कहा—विदुर ! क्या तुम उस तत्त्वको नहीं जानते, जिसे अब पुनः सनातन ऋषि मुझे बतावेंगे ? यदि तुम्हारी बुद्धि कुछ भी काम देती हो तो तुम्हीं मुझे उपदेश करो ॥ ४ ॥

विदुर उवाच

शूद्रयोनावहं जातो नातोऽन्यद् वक्तुमुत्सहे ।
कुमारस्य तु या बुद्धिर्वेद तां शाश्वतीमहम् ॥ ५ ॥

विदुर बोले—राजन् ! मेरा जन्म शूद्रा स्त्रीके गर्भसे हुआ है, अतः (मेरा अधिकार न होनेसे) इसके अतिरिक्त और कोई उपदेश देनेका मैं साहस नहीं कर सकता, किंतु कुमार सनत्सुजातकी बुद्धि सनातन है, मैं उसे जानता हूँ ॥ ५ ॥

ब्राह्मीं हि योनिमापन्नः सुगुह्यमपि यो वदेत् ।
न तेन गर्ह्यो देवानां तस्मादेतद् ब्रवीमि ते ॥ ६ ॥

ब्राह्मणयोनिमें जिसका जन्म हुआ है, वह यदि गोपनीय तत्त्वका प्रतिपादन कर दे तो देवताओंकी निन्दाका पात्र नहीं बनता । इसी कारण मैं आपको ऐसा कह रहा हूँ ॥ ६ ॥

धृतराष्ट्र उवाच

ब्रवीहि विदुर त्वं मे पुराणं तं सनातनम् ।
कथमेतेन देहेन स्यादिहैव समागमः ॥ ७ ॥

धृतराष्ट्रने कहा—विदुर ! उन परम प्राचीन सनातन ऋषिका पता मुझे बताओ ! भला इसी देहसे यहाँ ही उनका समागम कैसे हो सकता है ? ॥ ७ ॥

वैशम्पायन उवाच

चिन्तयामास विदुरस्तमृषिं शंसितव्रतम् ।
स च तच्चिन्तितं ज्ञात्वा दर्शयामास भारत ॥ ८ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! तदनन्तर विदुरजीने उत्तम व्रतवाले उन सनातन ऋषिका स्मरण किया । उन्होंने भी यह जानकर कि विदुर मेरा स्मरण कर रहे हैं, प्रत्यक्ष दर्शन दिया ॥ ८ ॥

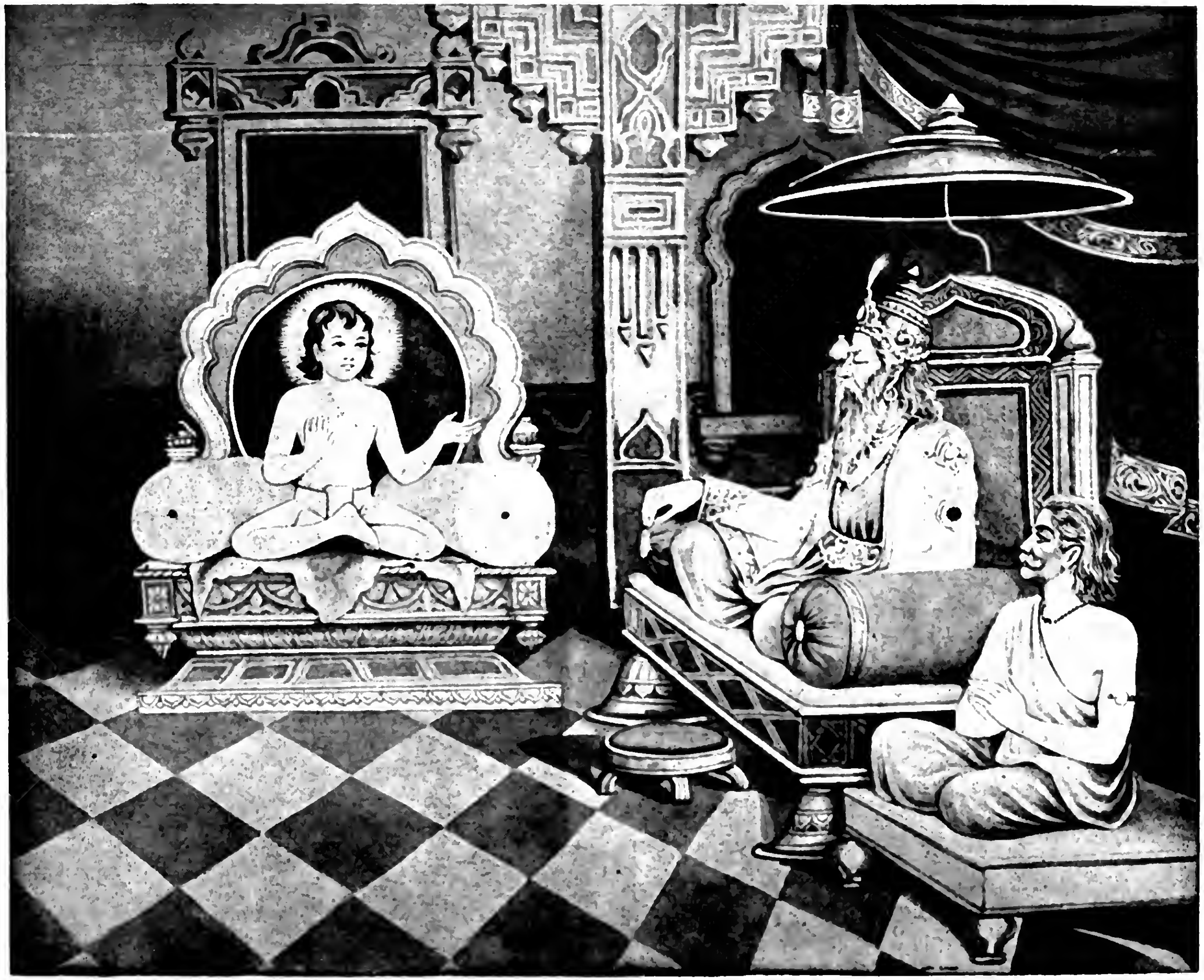
स चैनं प्रतिजग्राह विधिदृष्टेन कर्मणा ।
सुखोपविष्टं विश्रान्तमथैनं विदुरोऽब्रवीत् ॥ ९ ॥

विदुरने शास्त्रोक्त विधिसे पाद्य, अर्घ्य एवं मधुपर्क आदि अर्पण करके उनका स्वागत किया । इसके बाद जब वे सुखपूर्वक बैठकर विश्राम करने लगे, तब विदुरने उनसे कहा—॥ ९ ॥

भगवन् संशयः कश्चिद् धृतराष्ट्रस्य मानसः ।
यो न शक्यो मया वक्तुं त्वमस्मै वक्तुमर्हसि ॥ १० ॥

'भगवन् ! धृतराष्ट्रके हृदयमें कुछ संशय है, जिसका समाधान मेरे द्वारा किया जाना उचित नहीं है । आप ही इस विषयका निरूपण करने योग्य हैं ॥ १० ॥

यं श्रुत्वायं मनुष्येन्द्रः सर्वदुःखातिगो भवेत् ।
लाभालाभौ प्रियद्वेष्यौ यथैनं न जरान्तकौ ॥ ११ ॥



श्रीसनत्सुजात और महाराज धृतराष्ट्र

विषहेरन् भयामर्षौ क्षुत्पिपासे मदोद्भवौ ।
अरतिश्चैव तन्द्री च कामक्रोधौ क्षयोदयौ ॥ १२ ॥

जिसे सुनकर ये नरेश सब दुःखोंसे पार हो जायँ और लाभ-हानि, प्रिय-अप्रिय, जरा-मृत्यु, भय-अमर्ष, भूख-प्यास, मद-ऐश्वर्य, चिन्ता-आलस्य, काम-क्रोध तथा अवनति-उन्नति—ये इन्हें कष्ट न पहुँचा सकें ॥ ११-१२ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि सनत्सुजातपर्वणि विदुरकृतसनत्सुजातप्रार्थने एकचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत सनत्सुजातपर्वमें विदुरजीके द्वारा सनत्सुजातकी प्रार्थनाविषयक इकतालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ४१ ॥

द्विचत्वारिंशोऽध्यायः

सनत्सुजातजीके द्वारा धृतराष्ट्रके विविध प्रश्नोंका उत्तर

वैशम्पायन उवाच

ततो राजा धृतराष्ट्रो मनीषी
सम्पूज्य वाक्यं विदुरेरितं तत् ।
सनत्सुजातं रहिते महात्मा
पप्रच्छ बुद्धिं परमां बुभूषन् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तदनन्तर बुद्धिमान् एवं महामना राजा धृतराष्ट्रने विदुरके कहे हुए उस वचनका भलीभाँति आदर करके उत्कृष्ट ज्ञानकी इच्छासे एकान्तमें सनत्सुजात मुनिसे प्रश्न किया ॥ १ ॥

धृतराष्ट्र उवाच

सनत्सुजात यदिदं शृणोमि
न मृत्युरस्तीति तव प्रवादम् ।
देवासुरा ह्याचरन् ब्रह्मचर्य-
ममृत्यवे तत् कतरन्नु सत्यम् ॥ २ ॥

धृतराष्ट्र बोले—सनत्सुजातजी ! मैं यह सुना करता हूँ कि मृत्यु है ही नहीं, ऐसा आपका सिद्धान्त है। साथ ही यह भी सुना है कि देवता और असुरोंने मृत्युसे बचनेके लिये ब्रह्मचर्यका पालन किया था। इन दोनोंमें कौन-सी बात यथार्थ है ? ॥ २ ॥

सनत्सुजात उवाच

अमृत्युः कर्मणा केचिन्मृत्युर्नास्तीति चापरे ।
शृणु मे ब्रुवतो राजन् यथैतन्मा विशङ्किथाः ॥ ३ ॥

सनत्सुजातने कहा—राजन् ! (इस विषयमें दो पक्ष हैं) मृत्यु है और वह (ब्रह्मचर्यपालनरूप) कर्मसे दूर होती है—यह एक पक्ष है और 'मृत्यु है ही नहीं'—यह दूसरा पक्ष है। परंतु यह बात जैसी है, वह मैं तुम्हें बताता हूँ, सुनो और मेरे कथनमें संदेह न करना ॥ ३ ॥



उभे सत्ये क्षत्रियैतस्य विद्धि
मोहान्मृत्युः सम्मतोऽयं कवीनाम् ।
प्रमादं वै मृत्युमहं ब्रवीमि
तथाप्रमादममृतत्वं ब्रवीमि ॥ ४ ॥

क्षत्रिय ! इस प्रश्नके उक्त दोनों ही पहलुओंको सत्य समझो। कुछ विद्वानोंने मोहवश इस मृत्युकी सत्ता स्वीकार की है; किंतु मेरा कहना तो यह है कि प्रमाद ही मृत्यु है और अप्रमाद ही अमृत है ॥ ४ ॥

प्रमादाद् वै असुराः पराभव-
न्नप्रमादाद् ब्रह्मभूताः सुराश्च ।
नैव मृत्युर्व्याघ्र इवात्ति जन्तून्
न ह्यस्य रूपमुपलभ्यते हि ॥ ५ ॥

प्रमादके ही कारण असुरगण (आसुरी सम्पत्तिवाले) मृत्युसे पराजित हुए और अप्रमादसे ही देवगण (दैवी सम्पत्तिवाले) ब्रह्मस्वरूप हुए। यह निश्चय है कि मृत्यु व्याघ्रके समान प्राणियोंका भक्षण नहीं करती, क्योंकि उसका कोई रूप देखनेमें नहीं आता ॥ ५ ॥

यमं त्वेके मृत्युमतोऽन्यमाहु-
रात्मावसन्नममृतं ब्रह्मचर्यम् ।
पितृलोके राज्यमनुशास्ति देवः
शिवः शिवानामशिवोऽशिवानाम् ॥६॥

कुछ लोग इस प्रमादसे भिन्न 'यम' को मृत्यु कहते हैं और हृदयसे दृढ़तापूर्वक पालन किये हुए ब्रह्मचर्यको ही अमृत मानते हैं । यमदेव पितृलोकमें राज्य-शासन करते हैं । वे पुण्यात्माओंके लिये मङ्गलमय और पापियोंके लिये अमङ्गलमय हैं ॥ ६ ॥

अस्यादेशान्निःसरते नराणां
क्रोधः प्रमादो लोभरूपश्च मृत्युः ।
अहंगतेनैव चरन् विमार्गान्
न चात्मनो योगमुपैति कश्चित् ॥ ७ ॥

इन यमकी आज्ञासे ही क्रोध, प्रमाद और लोभरूपी मृत्यु मनुष्योंके विनाशमें प्रवृत्त होती है । अहंकारके वशीभूत होकर विपरीत मार्गपर चलता हुआ कोई भी मनुष्य परमात्माका साक्षात्कार नहीं कर पाता ॥ ७ ॥

ते मोहितास्तद्वशे वर्तमाना
इतः प्रेतास्तत्र पुनः पतन्ति ।
ततस्तान् देवा अनुविप्लवन्ते
अतो मृत्युर्मरणाख्यामुपैति ॥ ८ ॥

मनुष्य (क्रोध, प्रमाद और लोभसे) मोहित होकर अहंकारके अधीन हो इस लोकसे जाकर पुनः पुनः जन्म-मरणके चक्करमें पड़ते हैं । मरनेके बाद उनके मन, इन्द्रिय और प्राण भी साथ जाते हैं । शरीरसे प्राणरूपी इन्द्रियोंका वियोग होनेके कारण मृत्यु 'मरण' संज्ञाको प्राप्त होती है ॥

कर्मोदये कर्मफलानुरागा-
स्तत्रानुयान्ति न तरन्ति मृत्युम् ।
सदर्थयोगानवगमात् समन्तात्
प्रवर्तते भोगयोगेन देही ॥ ९ ॥

प्रारब्ध कर्मका उदय होनेपर कर्मके फलमें आसक्ति रखनेवाले लोग (देहत्यागके पश्चात्) परलोकका अनुगमन करते हैं; इसीलिये वे मृत्युको पार नहीं कर पाते । देहाभिमानी जीव परमात्मसाक्षात्कारके उपायको न जाननेसे विषयोंके उपभोगके कारण सब ओर (नाना प्रकारकी योनियोंमें) भटकता रहता है ॥ ९ ॥

तद् वै महामोहनमिन्द्रियाणां
मिथ्यार्थयोगस्य गतिर्हि नित्या ।
मिथ्यार्थयोगाभिहतान्तरात्मा
स्मरन्नुपास्ते विषयान् समन्तात् ॥१०॥

इस प्रकार विषयोंका जो भोग है, वह अवश्य ही इन्द्रियोंको महान् मोहमें डालनेवाला है और इन झूठे विषयोंमें राग रखनेवाले मनुष्यकी उनकी ओर प्रवृत्ति होनी स्वाभाविक है । मिथ्याभोगोंमें आसक्ति होनेसे जिसके अन्तःकरणकी ज्ञानशक्ति नष्ट हो गयी है, वह सब ओर विषयोंका ही चिन्तन करता हुआ मन-ही-मन उनका आस्वादन करता है ॥ १० ॥

अभिध्या वै प्रथमं हन्ति लोकान्
कामक्रोधावनुगृह्याशु पश्चात् ।
एते बालान् मृत्यवे प्रापयन्ति
धीरास्तु धैर्येण तरन्ति मृत्युम् ॥ ११ ॥

पहले तो विषयोंका चिन्तन ही लोगोंको मारे डालता है । इसके बाद वह काम और क्रोधको साथ लेकर पुनः जल्दी ही प्रहार करता है । इस प्रकार ये विषय-चिन्तन (काम और क्रोध) ही विवेकहीन मनुष्योंको मृत्युके निकट पहुँचाते हैं; परंतु जो स्थिर बुद्धिवाले पुरुष हैं, वे धैर्यसे मृत्युके पार हो जाते हैं ॥ ११ ॥

सोऽभिध्यायन्नुत्पतितान् निहन्या-
दनादरेणाप्रतिबुध्यमानः ।
नैनं मृत्युर्मृत्युरिवात्ति भूत्वा
एवं विद्वान् यो विनिहन्ति कामान् ॥१२॥

(अतः जो मृत्युको जीतनेकी इच्छा रखता है,) उसे चाहिये कि परमात्माका ध्यान करके विषयोंको तुच्छ मानकर उन्हें कुछ भी न गिनते हुए उनकी कामनाओंको उत्पन्न होते ही नष्ट कर डाले । इस प्रकार जो विद्वान् विषयोंकी इच्छाको मिटा देता है, उसको [साधारण प्राणियोंकी] मृत्युकी भाँति मृत्यु नहीं मारती (अर्थात् वह जन्म-मरणसे मुक्त हो जाता है) ॥ १२ ॥

कामानुसारी पुरुषः कामाननु विनश्यति ।
कामान् व्युदस्य धुनुते यत् किंचित् पुरुषो रजः ॥१३॥

कामनाओंके पीछे चलनेवाला मनुष्य कामनाओंके साथ ही नष्ट हो जाता है; परंतु ज्ञानी पुरुष कामनाओंका त्याग कर देनेपर जो कुछ भी जन्म-मरणरूप दुःख है, उन सबको वह नष्ट कर देता है ॥ १३ ॥

तमोऽप्रकाशो भूतानां नरकोऽयं प्रदृश्यते ।
मुह्यन्त इव धावन्ति गच्छन्तः श्वभ्रवत् सुखम् ॥ १४ ॥

काम ही समस्त प्राणियोंके लिये मोहक होनेके कारण तमोमय और अज्ञानरूप है तथा नरकके समान दुःखदायी देखा जाता है । जैसे मद्यपानसे मोहित हुए पुरुष चलते-चलते गड्ढेकी ओर दौड़ पड़ते हैं, वैसे ही कामी पुरुष भोगोंमें सुख मानकर उनकी ओर दौड़ते हैं ॥ १४ ॥

अमूढवृत्तेः पुरुषस्येह कुर्यात्
किं वै मृत्युस्तार्ण इवास्य व्याघ्रः ।
अमन्यमानः क्षत्रिय किंचिदन्य-
न्नाधीयीत निर्णुदन्निवास्य चायुः ॥ १५ ॥

जिसके चित्तकी वृत्तियाँ विषयभोगोंसे मोहित नहीं हुई हैं, उस ज्ञानी पुरुषका इस लोकमें तिनकोंके बनाये हुए व्याघ्रके समान मृत्यु क्या बिगाड़ सकती है ? इसलिये राजन् ! विषयभोगोंके मूल कारणरूप अज्ञानको नष्ट करनेकी इच्छासे दूसरे किसी भी सांसारिक पदार्थको कुछ भी न गिनकर उसका चिन्तन त्याग देना चाहिये ॥ १५ ॥

स क्रोधलोभौ मोहवानन्तरात्मा
स वै मृत्युस्त्वच्छरीरे य एषः ।
एवं मृत्युं जायमानं विदित्वा
ज्ञाने तिष्ठन् न बिभेतीह मृत्योः ।
विनश्यते विषये तस्य मृत्यु-
र्मृत्योर्यथा विषयं प्राप्य मर्त्यः ॥ १६ ॥

यह जो तुम्हारे शरीरके भीतर अन्तरात्मा है, मोहके वशीभूत होकर यही क्रोध, लोभ (प्रमाद) और मृत्युरूप हो जाता है। इस प्रकार मोहसे होनेवाली मृत्युको जानकर जो ज्ञाननिष्ठ हो जाता है, वह इस लोकमें मृत्युसे कभी नहीं डरता। उसके समीप आकर मृत्यु उसी प्रकार नष्ट हो जाती है, जैसे मृत्युके अधिकारमें आया हुआ मरण-धर्मा मनुष्य ॥ १६ ॥

धृतराष्ट्र उवाच

यानेवाहुरिज्यया साधुलोकान्
द्विजातीनां पुण्यतमान् सनातनान् ।
तेषां परार्थं कथयन्तीह वेदा
एतद् विद्वान् नोपैति कथं नु कर्म ॥ १७ ॥

धृतराष्ट्र बोले—द्विजातियोंके लिये यज्ञोंद्वारा जिन पवित्रतम सनातन एवं श्रेष्ठ लोकोंकी प्राप्ति बतायी गयी है, यहाँ वेद उन्हींको परम पुरुषार्थ कहते हैं। इस बातको जाननेवाला विद्वान् उत्तम कर्मोंका आश्रय क्यों न ले ॥ १७ ॥

सनत्सुजात उवाच

एवं ह्यविद्वानुपयाति तत्र
तत्रार्थजातं च वदन्ति वेदाः ।
अनीह आयाति परं परात्मा
प्रयाति मार्गेण निहत्य मार्गान् ॥ १८ ॥

सनत्सुजातने कहा—राजन् ! अज्ञानी पुरुष इस प्रकार भिन्न-भिन्न लोकोंमें गमन करता है तथा वेद कर्मके बहुत-से प्रयोजन भी बताते हैं, परंतु जो निष्काम पुरुष है, वह ज्ञानमार्गके द्वारा अन्य सभी मार्गोंका बाध करके परमात्मस्वरूप होता हुआ ही परमात्माको प्राप्त होता है।

धृतराष्ट्र उवाच

कोऽसौ नियुङ्क्ते तमजं पुराणं
स चेदिदं सर्वमनुक्रमेण ।
किं वास्य कार्यमथवा सुखं च
तन्मे विद्वन् ब्रूहि सर्वं यथावत् ॥ १९ ॥

धृतराष्ट्र बोले—विद्वन् ! यदि वह परमात्मा ही क्रमशः इस सम्पूर्ण जगत्के रूपमें प्रकट होता है तो उस अजन्मा और पुरातन पुरुषपर कौन शासन करता है ? अथवा उसे इस रूपमें आनेकी क्या आवश्यकता है और क्या सुख मिलता है ?—यह सब मुझे ठीक-ठीक बताइये ॥ १९ ॥

सनत्सुजात उवाच

दोषो महानत्र विभेदयोगे
ह्यनादियोगेन भवन्ति नित्याः ।
तथास्य नाधिक्यमपैति किंचि-
दनादियोगेन भवन्ति पुंसः ॥ २० ॥

सनत्सुजातने कहा—तुम्हारे इस प्रश्नके अनुसार जीव और ब्रह्मका विशेष भेद प्राप्त होता है, जिसे स्वीकार कर लेनेपर वेदविरोधरूप महान् दोषकी प्राप्ति होती है। अतएव अनादि मायाके सम्बन्धसे जीवोंका कामसुख आदिसे सम्बन्ध होता रहता है । ऐसा होनेपर भी जीवकी महत्ता नष्ट नहीं होती; क्योंकि मायाके सम्बन्धसे जीवके देहादि पुनः उत्पन्न होते रहते हैं ॥ २० ॥

य एतद् वा भगवान् स नित्यो
विकारयोगेन करोति विश्वम् ।
तथा च तच्छक्तिरिति स्म मन्यते
तथार्थयोगे च भवन्ति वेदाः ॥ २१ ॥

जो नित्यस्वरूप भगवान् हैं, वे ही परब्रह्म मायाके सहयोगसे इस विश्वब्रह्माण्डकी सृष्टि करते हैं । वह माया उन्हीं परब्रह्मकी शक्ति है । महात्मा पुरुष इसे मानते हैं। इस प्रकारके अर्थके प्रतिपादनमें वेद भी प्रमाण हैं ॥ २१ ॥

धृतराष्ट्र उवाच

येऽस्मिन् धर्मान् नाचरन्तीह केचित्
तथा धर्मान् केचिदिहाचरन्ति ।
धर्मः पापेन प्रतिहन्यते स्वि-
दुताहो धर्मः प्रतिहन्ति पापम् ॥ २२ ॥

धृतराष्ट्र बोले—इस जगत्में कुछ लोग ऐसे हैं, जो धर्मका आचरण नहीं करते तथा कुछ लोग उसका आचरण करते हैं, अतः धर्म पापके द्वारा नष्ट होता है या धर्म ही पापको नष्ट कर देता है ? ॥ २२ ॥

सनत्सुजात उवाच

उभयमेव तत्रोपयुज्यते फलं धर्मस्यैवेतरस्य च ॥ २३ ॥

सनत्सुजातने कहा—राजन् ! धर्म और पाप दोनोंके पृथक्-पृथक् फल होते हैं और उन दोनोंका ही उपभोग करना पड़ता है ॥ २३ ॥

तस्मिन् स्थितो वाप्युभयं हि नित्यं
ज्ञानेन विद्वान् प्रतिहन्ति सिद्धम् ।
तथान्यथा पुण्यमुपैति देही
तथागतं पापमुपैति सिद्धम् ॥ २४ ॥

किंतु परमात्मामें स्थित होनेपर विद्वान् पुरुष उस (परमात्माके) ज्ञानके द्वारा अपने पूर्वकृत पाप और पुण्य दोनोंका नाश कर देता है; यह बात सदा प्रसिद्ध है। यदि ऐसी स्थिति नहीं हुई तो देहाभिमानी मनुष्य कभी पुण्यफलको प्राप्त करता है और कभी क्रमशः प्राप्त हुए पूर्वोपार्जित पापके फलका अनुभव करता है ॥ २४ ॥

गत्वोभयं कर्मणा युज्यतेऽस्थिरं
शुभस्य पापस्य स चापि कर्मणा ।
धर्मेण पापं प्रणुदतीह विद्वान्
धर्मो बलीयानिति तस्य सिद्धिः ॥२५॥

इस प्रकार पुण्य और पापके जो स्वर्ग-नरकरूप दो अस्थिर फल हैं, उनका भोग करके वह (इस जगत्में जन्म ले) पुनः तदनुसार कर्मोंमें लग जाता है; किंतु कर्मोंके तत्त्वको जाननेवाला पुरुष निष्कामधर्मरूप कर्मके द्वारा अपने पूर्वपापका यहाँ ही नाश कर देता है। इस प्रकार धर्म ही अत्यन्त बलवान् है । इसलिये निष्कामभावसे धर्माचरण करनेवालोंको समयानुसार अवश्य सिद्धि प्राप्त होती है॥

धृतराष्ट्र उवाच

यानिहाहुः स्वस्य धर्मस्य लोकान्
द्विजातीनां पुण्यकृतां सनातनान् ।
तेषां क्रमात् कथय ततोऽपि चान्यान्
नैतद् विद्वन् वेत्तुमिच्छामि कर्म ॥ २६ ॥

धृतराष्ट्र बोले—विद्वन् ! पुण्यकर्म करनेवाले द्विजातियोंको अपने-अपने धर्मके फलस्वरूप जिन सनातन लोकोंकी प्राप्ति बतायी गयी है, उनका क्रम बतलाइये तथा उनसे भिन्न जो अन्यान्य लोक हैं, उनका भी निरूपण कीजिये । अब मैं सकाम कर्मकी बात नहीं जानना चाहता ।

सनत्सुजात उवाच

येषां व्रतेऽथ विस्पर्धा बले बलवतामिव ।
ते ब्राह्मणा इतः प्रेत्य ब्रह्मलोकप्रकाशकाः ॥ २७ ॥

सनत्सुजातने कहा—जैसे दो बलवान् वीरोंमें अपना बल बढ़ानेके निमित्त एक दूसरेसे स्पर्धा रहती है, उसी प्रकार जो निष्कामभावसे यम-नियमादिके पालनमें दूसरोंसे बढ़नेका प्रयास करते हैं, वे ब्राह्मण यहाँसे मरकर जानेके बाद ब्रह्मलोकमें अपना प्रकाश फैलाते हैं॥

येषां धर्मे च विस्पर्धा तेषां तज्ज्ञानसाधनम् ।
ते ब्राह्मणा इतो मुक्ताः स्वर्गं यान्ति त्रिविष्टपम् ॥ २८ ॥

जिनकी धर्मके पालनमें स्पर्धा है, उनके लिये वह ज्ञानका साधन है; किंतु वे ब्राह्मण (यदि सकामभावसे उसका अनुष्ठान करें) तो मृत्युके पश्चात् यहाँसे देवताओंके निवासस्थान स्वर्गमें जाते हैं ॥ २८ ॥

तस्य सम्यक् समाचारमाहुर्वेदविदो जनाः ।
नैनं मन्येत भूयिष्ठं बाह्यमाभ्यन्तरं जनम् ॥ २९ ॥
यत्र मन्येत भूयिष्ठं प्रावृषीव तृणोपलम् ।
अन्नं पानं ब्राह्मणस्य तज्जीवेन्नानुसंज्वरेत् ॥ ३० ॥

ब्राह्मणके सम्यक् आचारकी वेदवेत्ता पुरुष प्रशंसा करते हैं, किंतु जो धर्मपालनमें बहिर्मुख है, उसे अधिक महत्त्व नहीं देना चाहिये । जो (निष्कामभावपूर्वक) धर्मका पालन करनेसे अन्तर्मुख हो गया है, ऐसे पुरुषको श्रेष्ठ समझना चाहिये। जैसे वर्षाऋतुमें तृण-घास आदिकी बहुतायत होती है, उसी प्रकार जहाँ ब्राह्मणके योग्य अन्न-पान आदिकी अधिकता मालूम पड़े, उसी देशमें रहकर वह जीवननिर्वाह करे । भूख-प्याससे अपनेको कष्ट नहीं पहुँचावे ॥ २९-३० ॥

यत्राकथयमानस्य प्रयच्छत्यशिवं भयम् ।
अतिरिक्तमिवाकुर्वन् स श्रेयान् नेतरो जनः ॥ ३१ ॥

किंतु जहाँ अपना माहात्म्य प्रकाशित न करनेपर भय और अमङ्गल प्राप्त हो, वहाँ रहकर भी जो अपनी विशेषता प्रकट नहीं करता, वही श्रेष्ठ पुरुष है; दूसरा नहीं ॥ ३१ ॥

यो वा कथयमानस्य ह्यात्मानं नानुसंज्वरेत् ।
ब्रह्मस्वं नोपभुञ्जीत तदन्नं सम्मतं सताम् ॥ ३२ ॥

जो किसीको आत्मप्रशंसा करते देख जलता नहीं तथा ब्राह्मणके स्वत्वका उपभोग नहीं करता, उसके अन्नको स्वीकार करनेमें सत्पुरुषोंकी सम्मति है ॥ ३२ ॥

यथा स्वं वान्तमश्नाति श्वा वै नित्यमभूतये ।
एवं ते वान्तमश्नन्ति स्ववीर्यस्योपसेवनात् ॥ ३३ ॥

जैसे कुत्ता अपना वमन किया हुआ भी खा लेता है, उसी प्रकार जो अपने (ब्राह्मणत्वके) प्रभावका प्रदर्शन करके जीविका चलाते हैं, वे ब्राह्मण वमनका भोजन करनेवाले हैं और इससे उनकी सदा ही अवनति होती है ॥ ३३ ॥

नित्यमज्ञातचर्या मे इति मन्येत ब्राह्मणः ।
ज्ञातीनां तु वसन् मध्ये तं विदुर्ब्राह्मणं बुधाः ॥ ३४ ॥

जो कुटुम्बीजनोंके बीचमें रहकर भी अपनी साधनाको उनसे सदा गुप्त रखनेका प्रयत्न करता है, ऐसे ब्राह्मणोंको ही विद्वान् पुरुष ब्राह्मण मानते हैं ॥ ३४ ॥

को ह्यनन्तरमात्मानं ब्राह्मणो हन्तुमर्हति ।
निर्लिङ्गमचलं शुद्धं सर्वद्वैतविवर्जितम् ॥ ३५ ॥

इस प्रकार जो भेदशून्य, चिह्नरहित, अविचल, शुद्ध एवं सब प्रकारके द्वैतसे रहित आत्मा है, उसके स्वरूपको जाननेवाला कौन ब्रह्मवेत्ता पुरुष उसका हनन (अधःपतन) करना चाहेगा ? ॥ ३५ ॥

तस्माद्धि क्षत्रियस्यापि ब्रह्मावसति पश्यति ॥ ३६ ॥

इसलिये उपर्युक्तरूपसे जीवन बितानेवाला क्षत्रिय भी ब्रह्मके स्वरूपका अनुभव करता है तथा ब्रह्मको प्राप्त होता है ॥ ३६ ॥

योऽन्यथा सन्तमात्मानमन्यथा प्रतिपद्यते ।
किं तेन न कृतं पापं चौरेणात्मापहारिणा ॥ ३७ ॥

जो उक्त प्रकारसे वर्तमान आत्माको उसके विपरीत रूपसे समझता है; आत्माका अपहरण करनेवाले उस चोरने कौन-सा पाप नहीं किया ? ॥ ३७ ॥

अश्रान्तः स्यादनादाता सम्मतो निरुपद्रवः ।
शिष्टो न शिष्टवत् स स्याद् ब्राह्मणो ब्रह्मवित् कविः॥३८॥

जो कर्तव्य-पालनमें कभी थकता नहीं, दान नहीं लेता, सत्पुरुषोंमें सम्मानित और उपद्रवरहित है तथा शिष्ट होकर भी शिष्टताका विज्ञापन नहीं करता, वही ब्राह्मण ब्रह्मवेत्ता एवं विद्वान् है ॥ ३८ ॥

अनाढ्या मानुषे वित्ते आढ्या दैवे तथा क्रतौ ।
ते दुर्धर्षा दुष्प्रकम्प्यास्तान् विद्याद् ब्रह्मणस्तनुम्॥३९॥

जो लौकिक धनकी दृष्टिसे निर्धन होकर भी दैवी सम्पत्ति तथा यज्ञ-उपासना आदिसे सम्पन्न हैं वे दुर्धर्ष हैं और किसी भी विषयसे चलायमान नहीं होते । उन्हें ब्रह्मकी साक्षात् मूर्ति समझना चाहिये ॥ ३९ ॥

सर्वान् स्विष्टकृतो देवान् विद्याद् य इह कश्चन ।
न समानो ब्राह्मणस्य तस्मिन् प्रयतते स्वयम् ॥ ४० ॥

यदि कोई इस लोकमें अभीष्ट सिद्ध करनेवाले सम्पूर्ण देवताओंको जान ले, तो भी वह ब्रह्मवेत्ताके समान नहीं होता; क्योंकि वह तो अभीष्ट फलकी सिद्धिके लिये ही प्रयत्न कर रहा है ॥ ४० ॥

यमप्रयतमानं तु मानयन्ति स मानितः ।
न मान्यमानो मन्येत न मान्यमभिसंज्वरेत् ॥ ४१ ॥

जो दूसरोंसे सम्मान पाकर भी अभिमान न करे और सम्माननीय पुरुषको देखकर जले नहीं तथा प्रयत्न न करनेपर भी विद्वान्लोग जिसे आदर दें, वही वास्तवमें सम्मानित है ॥ ४१ ॥

लोकः स्वभाववृत्तिर्हि निमेषोन्मेषवत् सदा ।
विद्वांसो मानयन्तीह इति मन्येत मानितः ॥ ४२ ॥

जगत्में जब विद्वान् पुरुष आदर दें, तब सम्मानित व्यक्तिको ऐसा मानना चाहिये कि आँखोंको खोलने-मीचनेके समान अच्छे लोगोंकी यह स्वाभाविक वृत्ति है, जो आदर देते हैं॥ ४२ ॥

अधर्मनिपुणा मूढा लोके मायाविशारदाः ।
न मान्यं मानयिष्यन्ति मान्यानामवमानिनः ॥ ४३ ॥

किंतु इस संसारमें जो अधर्ममें निपुण, छल-कपटमें चतुर और माननीय पुरुषोंका अपमान करनेवाले मूढ़ मनुष्य हैं, वे आदरणीय व्यक्तियोंका भी आदर नहीं करते ॥

न वै मानं च मौनं च सहितौ वसतः सदा ।
अयं हि लोको मानस्य असौ मौनस्य तद् विदुः ॥ ४४ ॥

यह निश्चित है कि मान और मौन सदा एक साथ नहीं रहते; क्योंकि मानसे इस लोकमें सुख मिलता है और मौनसे परलोकमें । ज्ञानीजन इस बातको जानते हैं ॥ ४४ ॥

श्रीः सुखस्येह संवासः सा चापि परिपन्थिनी।
ब्राह्मी सुदुर्लभा श्रीर्हि प्रज्ञाहीनेन क्षत्रिय ॥ ४५ ॥

राजन् । लोकमें ऐश्वर्यरूपा लक्ष्मी सुखका घर मानी गयी है, पर वह भी (कल्याणमार्गमें) लुटेरोंकी भाँति विघ्न डालनेवाली है; किंतु ब्रह्मज्ञानमयी लक्ष्मी प्रज्ञाहीन मनुष्यके लिये सर्वथा दुर्लभ है ॥ ४५ ॥

द्वाराणि तस्येह वदन्ति सन्तो
बहुप्रकाराणि दुराधराणि ।
सत्यार्जवे ह्रीर्दमशौचविद्या
यथा न मोहप्रतिबोधनानि ॥ ४६ ॥

संत पुरुष यहाँ उस ब्रह्मज्ञानमयी लक्ष्मीकी प्राप्तिके अनेकों द्वार बतलाते हैं, जो कि मोहको जगानेवाले नहीं हैं तथा जिनको कठिनतासे धारण किया जाता है । उनके नाम हैं—सत्य, सरलता, लज्जा, दम, शौच और विद्या ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि सनत्सुजातपर्वणि द्विचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत सनत्सुजातपर्वमें बयालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ४२ ॥

त्रिचत्वारिंशोऽध्यायः

ब्रह्मज्ञानमें उपयोगी मौन, तप, त्याग, अप्रमाद एवं दम आदिके लक्षण तथा मदादि दोषोंका निरूपण

धृतराष्ट्र उवाच

कस्यैष मौनः कतरन्नु मौनं
प्रब्रूहि विद्वन्निह मौनभावम् ।
मौनेन विद्वानुत याति मौनं
कथं मुने मौनमिहाचरन्ति ॥ १ ॥

धृतराष्ट्र बोले—विद्वन् ! यह मौन किसका नाम है ? [वाणीका संयम और परमात्माका स्वरूप] इन दोनोंमेंसे कौन-सा मौन है ? यहाँ मौनभावका वर्णन कीजिये । क्या विद्वान् पुरुष मौनके द्वारा मौनरूप परमात्माको प्राप्त होता है ? मुने ! संसारमें लोग मौनका आचरण किस प्रकार करते हैं ? ॥ १ ॥

सनत्सुजात उवाच

यतो न वेदा मनसा सहैन-
मनुप्रविशन्ति ततोऽथमौनम् ।
यत्रोत्थितो वेदशब्दस्तथायं
स तन्मयत्वेन विभाति राजन् ॥ २ ॥

सनत्सुजातने कहा—राजन् ! जहाँ मनके सहित वाणीरूप वेद नहीं पहुँच पाते, उस परमात्माका ही नाम मौन है; इसलिये वही मौनस्वरूप है । वैदिक तथा लौकिक शब्दोंका जहाँसे प्रादुर्भाव हुआ है, वे परमेश्वर तन्मयतापूर्वक ध्यान करनेसे प्रकाशमें आते हैं ॥ २ ॥

धृतराष्ट्र उवाच

ऋचो यजूंषि यो वेद सामवेदं च वेद यः ।
पापानि कुर्वन् पापेन लिप्यते किं न लिप्यते ॥ ३ ॥

धृतराष्ट्र बोले—विद्वन् ! जो ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेदको जानता है तथा पाप करता है, वह उस पापसे लिप्त होता है या नहीं ? ॥ ३ ॥

सनत्सुजात उवाच

नैनं सामान्यृचो वापि न यजूंष्यविचक्षणम् ।
त्रायन्ते कर्मणः पापान्न ते मिथ्या ब्रवीम्यहम् ॥ ४ ॥

सनत्सुजातने कहा—राजन् ! मैं तुमसे असत्य नहीं कहता; ऋक्, साम अथवा यजुर्वेद कोई भी पाप करनेवाले अज्ञानीकी उसके पापकर्मसे रक्षा नहीं करते ॥ ४ ॥

नच्छन्दांसि वृजिनात् तारयन्ति
मायाविनं मायया वर्तमानम् ।
नीडं शकुन्ता इव जातपक्षा-
श्छन्दांस्येनं प्रजहत्यन्तकाले ॥ ५ ॥

जो कपटपूर्वक धर्मका आचरण करता है, उस मिथ्याचारीका वेद पापोंसे उद्धार नहीं करते । जैसे पंख निकल आनेपर पक्षी अपना घोंसला छोड़ देते हैं, उसी प्रकार अन्तकालमें वेद भी उसका परित्याग कर देते हैं ॥ ५ ॥

धृतराष्ट्र उवाच

न चेद् वेदा विना धर्मं त्रातुं शक्ता विचक्षण ।
अथ कस्मात् प्रलापोऽयं ब्राह्मणानां सनातनः ॥ ६ ॥

धृतराष्ट्र बोले—विद्वन् ! यदि धर्मके बिना वेद रक्षा करनेमें समर्थ नहीं हैं, तो वेदवेत्ता ब्राह्मणोंके पवित्र होनेका प्रलाप* चिरकालसे क्यों चला आता है ? ॥ ६ ॥

सनत्सुजात उवाच

तस्यैव नामादिविशेषरूपै-
रिदं जगद् भाति महानुभाव ।
निर्दिश्य सम्यक् प्रवदन्ति वेदा-
स्तद् विश्ववैरूप्यमुदाहरन्ति ॥ ७ ॥

सनत्सुजातने कहा—महानुभाव ! परब्रह्म परमात्माके ही नाम आदि विशेष रूपोंसे इस जगत्‌की प्रतीति होती है । यह बात वेद अच्छी तरह निर्देश करके कहते हैं । किंतु वास्तवमें उसका स्वरूप इस विश्वसे विलक्षण बताया जाता है ॥ ७ ॥

तदर्थमुक्तं तप एतदिज्या
ताभ्यामसौ पुण्यमुपैति विद्वान् ।
पुण्येन पापं विनिहत्य पश्चात्
संजायते ज्ञानविदीपितात्मा ॥ ८ ॥

उसीकी प्राप्तिके लिये वेदमें तप और यज्ञोंका प्रतिपादन किया गया है । इन तप और यज्ञोंके द्वारा उस श्रोत्रिय विद्वान् पुरुषको पुण्यकी प्राप्ति होती है । फिर उस निष्काम कर्मरूप पुण्यसे पापको नष्ट कर देनेके पश्चात् उसका अन्तःकरण ज्ञानसे प्रकाशित हो जाता है ॥ ८ ॥

ज्ञानेन चात्मानमुपैति विद्वा-
नथान्यथा वर्गफलानुकाङ्क्षी ।
अस्मिन् कृतं तत् परिगृह्य सर्व-
ममुत्र भुङ्क्त्वा पुनरेति मार्गम् ॥ ९ ॥

तब वह विद्वान् पुरुष ज्ञानसे परमात्माको प्राप्त होता है; किंतु इसके विपरीत जो भोगाभिलाषी पुरुष धर्म, अर्थ

* 'ऋग्यजुःसामभिः पूतो ब्रह्मलोके महीयते ।' (ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेदसे पवित्र होकर ब्राह्मण ब्रह्मलोकमें प्रतिष्ठित होता है;) इत्यादि वेदवचन वेदवेत्ता ब्राह्मणोंके पवित्र एवं निष्पाप होनेकी बात कहते हैं ।

और कामरूप त्रिवर्गफलकी इच्छा रखते हैं, वे इस लोकमें किये हुए सभी कर्मोंको साथ ले जाकर उन्हें परलोकमें भोगते हैं तथा भोग समाप्त होनेपर पुनः इस संसारमार्गमें लौट आते हैं ॥ ९ ॥

अस्मिँल्लोके तपस्तप्तं फलमन्यत्र भुज्यते ।
ब्राह्मणानामिमे लोका ऋद्धे तपसि तिष्ठताम् ॥ १० ॥

इस लोकमें जो तपस्या (सकामभावसे) की जाती है, उसका फल परलोकमें भोगा जाता है; परंतु जो ब्रह्मोपासक इस लोकमें निष्कामभावसे गुरुतर तपस्या करते हैं, वे इसी लोकमें तत्त्वज्ञानरूप फल प्राप्त करते हैं (और मुक्त हो जाते हैं) । इस प्रकार एक ही तपस्या ऋद्ध और समृद्धके भेदसे दो प्रकारकी है ॥ १० ॥

धृतराष्ट्र उवाच

कथं समृद्धमसमृद्धं तपो भवति केवलम् ।
सनत्सुजात तद् ब्रूहि यथा विद्याम तद् वयम् ॥ ११ ॥

धृतराष्ट्रने पूछा—सनत्सुजातजी ! विशुद्ध भावयुक्त केवल तप ऐसा प्रभावशाली बढ़ा-चढ़ा कैसे हो जाता है ? यह इस प्रकार कहिये, जिससे हम उसे समझ लें ॥ ११ ॥

सनत्सुजात उवाच

निष्कल्मषं तपस्त्वेतत् केवलं परिचक्षते ।
एतत् समृद्धमप्यृद्धं तपो भवति केवलम् ॥ १२ ॥

सनत्सुजातने कहा—राजन् ! यह तप सब प्रकारसे निर्दोष होता है । इसमें भोगवासनारूप दोष नहीं रहता । इसलिये यह विशुद्ध कहा जाता है और इसीलिये यह विशुद्ध तप सकाम तपकी अपेक्षा फलकी दृष्टिसे भी बहुत बढ़ा चढ़ा होता है ॥ १२ ॥

तपोमूलमिदं सर्वं यन्मां पृच्छसि क्षत्रिय ।
तपसा वेदविद्वांसः परं त्वमृतमाप्नुयुः ॥ १३ ॥

राजन् ! तुम जिस (तपस्या) के विषयमें मुझसे पूछ रहे हो, यह तपस्या ही सारे जगत्का मूल है; वेदवेत्ता विद्वान् इस (निष्काम) तपसे ही परम अमृत मोक्षको प्राप्त होते हैं ॥ १३ ॥

धृतराष्ट्र उवाच

कल्मषं तपसो ब्रूहि श्रुतं निष्कल्मषं तपः ।
सनत्सुजात येनेदं विद्यां गुह्यं सनातनम् ॥ १४ ॥

धृतराष्ट्र बोले—सनत्सुजातजी ! मैंने दोषरहित तपस्याका महत्त्व सुना । अब तपस्याके जो दोष हैं, उन्हें बताइये, जिससे मैं इस सनातन गोपनीय ब्रह्मतत्त्वको जान सकूँ ॥ १४ ॥

सनत्सुजात उवाच

क्रोधादयो द्वादश यस्य दोषा-
स्तथा नृशंसानि दशत्रि राजन् ।
धर्मादयो द्वादशैते पितॄणां
शास्त्रे गुणा ये विदिता द्विजानाम् ॥ १५ ॥

सनत्सुजातने कहा—राजन् ! तपस्याके क्रोध आदि बारह दोष हैं तथा तेरह प्रकारके नृशंस मनुष्य होते हैं । मन्वादि-शास्त्रोंमें कथित ब्राह्मणोंके धर्म आदि बारह गुण प्रसिद्ध हैं ॥ १५ ॥

क्रोधः कामो लोभमोहौ विधित्सा
कृपासूये मानशोकौ स्पृहा च ।
ईर्ष्या जुगुप्सा च मनुष्यदोषा
वर्ज्याः सदा द्वादशैते नराणाम् ॥ १६ ॥

काम, क्रोध, लोभ, मोह, चिकीर्षा, निर्दयता, असूया, अभिमान, शोक, स्पृहा, ईर्ष्या और निन्दा—मनुष्योंमें रहनेवाले ये बारह दोष मनुष्योंके लिये सदा ही त्याग देने योग्य हैं ॥ १६ ॥

एकैकः पर्युपास्ते ह मनुष्यान् मनुजर्षभ ।
लिप्समानोऽन्तरं तेषां मृगाणामिव लुब्धकः ॥ १७ ॥

नरश्रेष्ठ ! जैसे व्याधा मृगोंको मारनेका छिद्र (अवसर) देखता हुआ उनकी टोहमें लगा रहता है, उसी प्रकार इनमेंसे एक-एक दोष मनुष्योंका छिद्र देखकर उनपर आक्रमण करता है ॥ १७ ॥

विकत्थनः स्पृहयालुर्मनस्वी
बिभ्रत् कोपं चपलोऽरक्षणश्च ।
एतान् पापाः षण्नराः पापधर्मान्
प्रकुर्वते नो त्रसन्तः सुदुर्गे ॥ १८ ॥

अपनी बहुत बड़ाई करनेवाले, लोलुप, तनिक-से भी अपमानको सहन न करनेवाले, निरन्तर क्रोधी, चञ्चल और आश्रितोंकी रक्षा नहीं करनेवाले—ये छः प्रकारके मनुष्य पापी हैं, महान् संकटमें पड़नेपर भी ये निडर होकर इन पापकर्मोंका आचरण करते हैं ॥ १८ ॥

सम्भोगसंविद् विषमोऽतिमानी
दत्तानुतापी कृपणो बलीयान् ।
वर्गप्रशंसी वनितासु द्वेष्टा
एते परे सप्त नृशंसवर्गाः ॥ १९ ॥

सम्भोगमें ही मन लगानेवाले, विषमता रखनेवाले, अत्यन्त मानी, दान देकर पश्चात्ताप करनेवाले, अत्यन्त कृपण, अर्थ और कामकी प्रशंसा करनेवाले तथा स्त्रियोंके द्वेषी—ये सात और पहलेके छः कुल तेरह प्रकारके मनुष्य नृशंसवर्ग (क्रूर-समुदाय) कहे गये हैं ॥ १९ ॥

धर्मश्च सत्यं च दमस्तपश्च
अमात्सर्यं ह्रीस्तितिक्षानसूया।
यज्ञश्च दानं च धृतिः श्रुतं च
व्रतानि वै द्वादश ब्राह्मणस्य ॥ २० ॥

धर्म, सत्य, इन्द्रियनिग्रह तप, मत्सरताका अभाव, लज्जा, सहनशीलता, किसीके दोष न देखना, यज्ञ करना, दान देना, धैर्य और शास्त्रज्ञान—ये ब्राह्मणके बारह व्रत हैं ॥ २० ॥

यस्त्वेतेभ्यः प्रभवेद् द्वादशभ्यः
सर्वामपीमां पृथिवीं स शिष्यात्।
त्रिभिर्द्वाभ्यामेकतो वार्थितो य-
स्तस्य स्वमस्तीति स वेदितव्यः ॥२१॥

जो इन बारह व्रतों (गुणों) पर अपना प्रभुत्व रखता है, वह इस सम्पूर्ण पृथ्वीके मनुष्योंको अपने अधीन कर सकता है। इनमेंसे तीन, दो या एक गुणसे भी जो युक्त है, उसके पास सभी प्रकारका धन है, ऐसा समझना चाहिये ॥ २१ ॥

दमस्त्यागोऽप्रमादश्च एतेष्वमृतमाहितम्।
तानि सत्यमुखान्याहुर्ब्राह्मणा ये मनीषिणः ॥ २२ ॥

दम, त्याग और अप्रमाद—इन तीन गुणोंमें अमृतका वास है। जो मनीषी (बुद्धिमान्) ब्राह्मण हैं, वे कहते हैं कि इन गुणोंका मुख सत्यस्वरूप परमात्माकी ओर है (अर्थात् ये परमात्माकी प्राप्तिके साधन हैं) ॥ २२ ॥

दमो ह्यष्टादशगुणः प्रतिकूलं कृताकृते।
अनृतं चाभ्यसूया च कामार्थौ च तथा स्पृहा ॥ २३ ॥
क्रोधः शोकस्तथा तृष्णा लोभः पैशुन्यमेव च।
मत्सरश्च विहिंसा च परितापस्तथारतिः ॥ २४ ॥
अपस्मारश्चातिवादस्तथा सम्भावनाऽऽत्मनि।
एतैर्विमुक्तो दोषैर्यः स दान्तः सद्भिरुच्यते ॥ २५ ॥

दम अठारह गुणोंवाला है। (निम्नाङ्कित अठारह दोषोंके त्यागको ही अठारह गुण समझना चाहिये)–कर्तव्य-अकर्तव्यके विषयमें विपरीत धारणा, असत्यभाषण, गुणोंमें दोषदृष्टि, स्त्रीविषयक कामना, सदा धनोपार्जनमें ही लगे रहना, भोगेच्छा, क्रोध, शोक, तृष्णा, लोभ, चुगली करनेकी आदत, डाह, हिंसा, संताप, शास्त्रमें अरति, कर्तव्यकी विस्मृति, अधिक बकवाद और अपनेको बड़ा समझना—इन दोषोंसे जो मुक्त है, उसीको सत्पुरुष दान्त (जितेन्द्रिय) कहते हैं ॥२३–२५॥

मदोऽष्टादशदोषः स्यात् त्यागो भवति षड्विधः।
विपर्ययाः स्मृता एते मददोषा उदाहृताः ॥ २६ ॥
श्रेयांस्तु षड्विधस्त्यागस्तृतीयो दुष्करो भवेत्।
तेन दुःखं तरत्येव भिन्नं तस्मिन् जितं कृते ॥ २७ ॥

मदमें अठारह दोष हैं; ऊपर जो दमके विपर्यय सूचित किये गये हैं, वे ही मदके दोष बताये गये हैं। त्याग छः प्रकारका होता है, वह छहों प्रकारका त्याग अत्यन्त उत्तम है; किंतु इनमें तीसरा अर्थात् कामत्याग बहुत ही कठिन है, इसके द्वारा मनुष्य त्रिविध दुःखोंको निश्चय ही पार कर जाता है। कामका त्याग कर देनेपर सब कुछ जीत लिया जाता है ॥ २६-२७ ॥

श्रेयांस्तु षड्विधस्त्यागः श्रियं प्राप्य न हृष्यति।
इष्टापूर्ते द्वितीयं स्यान्नित्यवैराग्ययोगतः ॥ २८ ॥
कामत्यागश्च राजेन्द्र स तृतीय इति स्मृतः।
अप्यवाच्यं वदन्त्येतं स तृतीयो गुणः स्मृतः॥ २९ ॥

राजेन्द्र ! छः प्रकारका जो सर्वश्रेष्ठ त्याग है, उसे बताते हैं, लक्ष्मीको पाकर हर्षित न होना—यह प्रथम त्याग है; यज्ञ-होमादिमें तथा कुएँ, तालाब और बगीचे आदि बनानेमें धन खर्च करना दूसरा त्याग है और सदा वैराग्यसे युक्त रहकर कामका त्याग करना–यह तीसरा त्याग कहा गया है। महर्षिलोग इसे अनिर्वचनीय मोक्षका उपाय कहते हैं। अतः यह तीसरा त्याग विशेष गुण माना गया है ॥ २८-२९ ॥

त्यक्तैर्द्रव्यैर्यद् भवति नोपयुक्तैश्च कामतः।
न च द्रव्यैस्तद् भवति नोपयुक्तैश्च कामतः ॥ ३० ॥

(वैराग्यपूर्वक) पदार्थोंके त्यागसे जो निष्कामता आती है, वह स्वेच्छापूर्वक उनका उपभोग करनेसे नहीं आती। अधिक धन-सम्पत्तिके संग्रहसे निष्कामता नहीं सिद्ध होती तथा कामनापूर्तिके लिये उसका उपभोग करनेसे भी कामका त्याग नहीं होता ॥ ३० ॥

न च कर्मस्वसिद्धेषु दुःखं तेन च न ग्लपेत्।
सर्वैरेव गुणैर्युक्तो द्रव्यवानपि यो भवेत् ॥ ३१ ॥

जो पुरुष सब गुणोंसे युक्त और धनवान् हो, यदि उसके किये हुए कर्म सिद्ध न हों तो उनके लिये दुःख एवं ग्लानि न करे ॥ ३१ ॥

अप्रिये च समुत्पन्ने व्यथां जातु न गच्छति।
इष्टान् पुत्रांश्च दारांश्च न याचेत कदाचन ॥ ३२ ॥

कोई अप्रिय घटना हो जाय तो कभी व्यथाको न प्राप्त हो (यह चौथा त्याग है)। अपने अभीष्ट पदार्थ—स्त्री-पुत्रादिकी कभी याचना न करे (यह पाँचवाँ त्याग है)॥३२॥

अर्हते याचमानाय प्रदेयं तच्छुभं भवेत्।
अप्रमादी भवेदेतैः स चाप्यष्टगुणो भवेत् ॥ ३३ ॥
सत्यं ध्यानं समाधानं चोद्यं वैराग्यमेव च।
अस्तेयं ब्रह्मचर्यं च तथा संग्रहमेव च ॥ ३४ ॥

सुयोग्य याचकके आ जानेपर उसे दान करे (यह छठा त्याग है)। इन सबसे कल्याण होता है। इन त्यागमय

गुणोंसे मनुष्य अप्रमादी होता है। उस अप्रमादके भी आठ गुण माने गये हैं—सत्य, ध्यान, अध्यात्मविषयक विचार, समाधान, वैराग्य, चोरी न करना, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह ॥ ३३-३४ ॥

एवं दोषा मदस्योक्तास्तान् दोषान् परिवर्जयेत्।
तथा त्यागोऽप्रमादश्च स चाप्यष्टगुणो मतः ॥ ३५ ॥

ये आठ गुण त्याग और अप्रमाद दोनोंके ही समझने चाहिये। इसी प्रकार जो मदके अठारह दोष पहले बताये गये हैं, उनका सर्वथा त्याग करना चाहिये। प्रमादके आठ दोष हैं, उन्हें भी त्याग देना चाहिये ॥ ३५ ॥

अष्टौ दोषाः प्रमादस्य तान् दोषान् परिवर्जयेत्।
इन्द्रियेभ्यश्च पञ्चभ्यो मनसश्चैव भारत।
अतीतानागतेभ्यश्च मुक्त्युपेतः सुखी भवेत् ॥ ३६ ॥

भारत ! पाँच इन्द्रियाँ और छठा मन—इनकी अपने-अपने विषयोंमें जो भोगबुद्धिसे प्रवृत्ति होती है, छः तो ये ही प्रमादविषयक दोष हैं और भूतकालकी चिन्ता तथा भविष्यकी आशा—दो दोष ये हैं। इन आठ दोषोंसे मुक्त पुरुष सुखी होता है ॥ ३६ ॥

सत्यात्मा भव राजेन्द्र सत्ये लोकाः प्रतिष्ठिताः।
तांस्तु सत्यमुखानाहुः सत्ये ह्यमृतमाहितम् ॥ ३७ ॥

राजेन्द्र ! तुम सत्यस्वरूप हो जाओ, सत्यमें ही सम्पूर्ण लोक प्रतिष्ठित हैं। वे दम, त्याग और अप्रमाद आदि गुण भी सत्यस्वरूप परमात्माकी प्राप्ति करानेवाले हैं; सत्यमें ही अमृतकी प्रतिष्ठा है ॥ ३७ ॥

निवृत्तेनैव दोषेण तपोव्रतमिहाचरेत्।
एतद् धातृकृतं वृत्तं सत्यमेव सतां व्रतम् ॥ ३८ ॥
दोषैरेतैर्वियुक्तस्तु गुणैरेतैः समन्वितः।
एतत् समृद्धमत्यर्थं तपो भवति केवलम् ॥ ३९ ॥
यन्मां पृच्छसि राजेन्द्र संक्षेपात् प्रब्रवीमि ते।
एतत् पापहरं पुण्यं जन्ममृत्युजरापहम् ॥ ४० ॥

दोषोंको निवृत्त करके ही यहाँ तप और व्रतका आचरण करना चाहिये, यह विधाताका बनाया हुआ नियम है। सत्य ही श्रेष्ठ पुरुषोंका व्रत है। मनुष्यको उपर्युक्त दोषोंसे रहित और गुणोंसे युक्त होना चाहिये। ऐसे पुरुषका ही विशुद्ध तप अत्यन्त समृद्ध होता है। राजन् ! तुमने जो मुझसे पूछा है, वह मैंने संक्षेपसे बता दिया। यह तप जन्म, मृत्यु और वृद्धावस्थाके कष्टको दूर करनेवाला, पापहारी तथा परम पवित्र है ॥ ३८—४० ॥

धृतराष्ट्र उवाच

आख्यानपञ्चमैर्वेदैर्भूयिष्ठं कथ्यते जनः।
तथा चान्ये चतुर्वेदास्त्रिवेदाश्च तथा परे ॥ ४१ ॥

धृतराष्ट्रने कहा—मुने ! इतिहास-पुराण जिनमें पाँचवाँ है, उन सम्पूर्ण वेदोंके द्वारा कुछ लोगोंका विशेषरूपसे नाम लिया जाता है (अर्थात् वे पञ्चवेदी कहलाते हैं), दूसरे लोग चतुर्वेदी और त्रिवेदी कहे जाते हैं ॥ ४१ ॥

द्विवेदाश्चैकवेदाश्चाप्यनृचश्च तथा परे।
तेषां तु कतरः स स्याद् यमहं वेद वै द्विजम् ॥ ४२ ॥

इसी प्रकार कुछ लोग द्विवेदी, एकवेदी तथा अनृच[१] कहलाते हैं। इनमेंसे कौन-से ऐसे हैं, जिन्हें मैं निश्चितरूपसे ब्राह्मण समझूँ ? ॥ ४२ ॥

सनत्सुजात उवाच

एकस्य वेदस्याज्ञानाद् वेदास्ते बहवः कृताः।
सत्यस्यैकस्य राजेन्द्र सत्ये कश्चिदवस्थितः ॥ ४३ ॥

सनत्सुजातने कहा—राजन् ! सृष्टिके आदिमें वेद एक ही थे, परंतु न समझनेके कारण (एक ही वेदके) बहुत-से विभाग कर दिये गये हैं। उस सत्यस्वरूप एक वेदके सारतत्त्व परमात्मामें तो कोई विरला ही स्थित होता है ॥ ४३ ॥

एवं वेदमविज्ञाय प्राज्ञोऽहमिति मन्यते।
दानमध्ययनं यज्ञो लोभादेतत् प्रवर्तते ॥ ४४ ॥

इस प्रकार वेदके तत्त्वको न जानकर भी कुछ लोग 'मैं विद्वान् हूँ' ऐसा मानने लगते हैं; फिर उनकी दान, अध्ययन और यज्ञादि कर्मोंमें (सांसारिक सुखकी प्राप्तिरूप फलके) लोभसे प्रवृत्ति होती है ॥ ४४ ॥

सत्यात् प्रच्यवमानानां संकल्पश्च तथा भवेत्।
ततो यज्ञः प्रतायेत सत्यस्यैवावधारणात् ॥ ४५ ॥

वास्तवमें जो सत्यस्वरूप परमात्मासे च्युत हो गये हैं, उन्हींका वैसा संकल्प होता है। फिर सत्यरूप वेदके प्रामाण्यका निश्चय करके ही उनके द्वारा यज्ञोंका विस्तार (अनुष्ठान) किया जाता है ॥ ४५ ॥

मनसान्यस्य भवति वाचान्यस्याथ कर्मणा।
संकल्पसिद्धः पुरुषः संकल्पानधितिष्ठति ॥ ४६ ॥

किसीका यज्ञ मनसे, किसीका वाणीसे तथा किसीका क्रियाके द्वारा सम्पादित होता है। सत्यसंकल्प पुरुष संकल्पके अनुसार ही लोकोंको प्राप्त होता है ॥ ४६ ॥

अनैभृत्येन चैतस्य दीक्षितव्रतमाचरेत्।
नामैतद् धातुनिर्वृत्तं सत्यमेव सतां परम् ॥ ४७ ॥

किंतु जबतक संकल्प सिद्ध न हो, तबतक दीक्षित व्रतका आचरण अर्थात् यज्ञादि कर्म करते रहना चाहिये। यह

१. जिन्होंने ऋगादि वेदोंका अध्ययन नहीं किया है, वे अनृच कहलाते हैं।

दीक्षित नाम 'दीक्ष व्रतादेशे' इस धातुसे बना है। सत्पुरुषोंके सत्यस्वरूप परमात्मा ही सबसे बढ़कर है ॥ ४७ ॥

ज्ञानं वै नाम प्रत्यक्षं परोक्षं जायते तपः।
विद्याद् बहु पठन्तं तु द्विजं वै बहुपाठिनम् ॥ ४८ ॥

क्योंकि परमात्माके ज्ञानका फल प्रत्यक्ष है और तपका फल परोक्ष है (इसलिये ज्ञानका ही आश्रय लेना चाहिये) बहुत पढ़नेवाले ब्राह्मणको केवल बहुपाठी (बहुज्ञ) समझना चाहिये ॥ ४८ ॥

तस्मात् क्षत्रिय मा मंस्था जल्पितेनैव वै द्विजम्।
य एव सत्यान्नापैति स ज्ञेयो ब्राह्मणस्त्वया ॥ ४९ ॥

इसलिये महाराज ! केवल बातें बनानेसे ही किसीको ब्राह्मण न मान लेना। जो सत्यस्वरूप परमात्मासे कभी पृथक् नहीं होता, उसीको तुम ब्राह्मण समझो ॥ ४९ ॥

छन्दांसि नाम क्षत्रिय तान्यथर्वा
पुरा जगौ महर्षिसङ्घ एषः।
छन्दोविदस्ते य उत नाधीतवेदा
न वेदवेद्यस्य विदुर्हि तत्त्वम् ॥ ५० ॥

राजन् ! अथर्वा मुनि एवं महर्षिसमुदायने पूर्वकालमें जिनका गान किया है, वे ही छन्द (वेद) हैं। किंतु सम्पूर्ण वेद पढ़ लेनेपर भी जो वेदोंके द्वारा जानने योग्य परमात्माके तत्त्वको नहीं जानते, वे वास्तवमें वेदके विद्वान् नहीं हैं ॥

छन्दांसि नाम द्विपदां वरिष्ठ
स्वच्छन्दयोगेन भवन्ति तत्र।
छन्दोविदस्तेन च तानधीत्य
गता न वेदस्य न वेद्यमार्याः ॥ ५१ ॥

नरश्रेष्ठ ! छन्द (वेद) उस परमात्मामें स्वच्छन्द सम्बन्धसे स्थित (स्वतःप्रमाण) हैं। इसलिये उनका अध्ययन करके ही वेदवेत्ता आर्यजन वेद्यरूप परमात्माके तत्त्वको प्राप्त हुए हैं ॥ ५१ ॥

न वेदानां वेदिता कश्चिदस्ति
कश्चित् त्वेतान् बुध्यते वापि राजन्।
यो वेद वेदान् न स वेद वेद्यं
सत्ये स्थितो यस्तु स वेद वेद्यम् ॥ ५२ ॥

राजन् ! वास्तवमें वेदके तत्त्वको जाननेवाला कोई नहीं है अथवा यों समझो कि कोई विरला ही उनका रहस्य जान पाता है। जो केवल वेदके वाक्योंको जानता है, वह वेदोंके द्वारा जानने योग्य परमात्माको नहीं जानता; किंतु जो सत्यमें स्थित है, वह वेदवेद्य परमात्माको जानता है ॥ ५२ ॥

न वेदानां वेदिता कश्चिदस्ति
वेद्येन वेदं न विदुर्न वेद्यम्।
यो वेद वेदं स च वेद वेद्यं
यो वेद वेद्यं न स वेद सत्यम् ॥ ५३ ॥

जाननेवालोंमेंसे कोई भी वेदोंको अर्थात् उनके रहस्यको जाननेवाला नहीं है; क्योंकि जाननेमें आनेवाले मन-बुद्धि आदिके द्वारा न तो कोई वेदके रहस्यको जान पाता है और न जानने योग्य परमात्मतत्त्वको ही। जो मनुष्य केवल कर्म-विधायक वेदको जानता है, वह तो बुद्धिद्वारा जाननेमें आनेवाले पदार्थोंको ही जानता है; किंतु जो बुद्धिद्वारा जानने योग्य पदार्थोंको जानता है, वह (सकामी पुरुष) वास्तविक तत्त्व परब्रह्म परमात्माको नहीं जानता ॥ ५३ ॥

यो वेद वेदान् स च वेद वेद्यं
न तं विदुर्वेदविदो न वेदाः।
तथापि वेदेन विदन्ति वेदं
ये ब्राह्मणा वेदविदो भवन्ति ॥ ५४ ॥

जो महापुरुष वेदोंके रहस्यको जानता है, वह जानने योग्य परमात्माको भी जानता है; परंतु उस (जाननेवाले) को न तो वेदोंके शब्दोंको जाननेवाला जानता है और न वेद ही जानते हैं। तथापि वेदके रहस्यको जाननेवाले जो ब्रह्म-वेत्ता महापुरुष हैं, वे उस वेदके द्वारा ही वेदके रहस्यको जान लेते हैं (अर्थात् वेदोंका कथन इतना गुप्त है कि केवल शब्दज्ञानसे उसका रहस्य एवं उसमें वर्णित परमात्मतत्त्व समझमें नहीं आता। अन्तःकरण शुद्ध होनेपर सद्गुरु या प्रभुकी कृपासे ही साधक उसे समझ पाता है) ॥ ५४ ॥

धामांशभागस्य तथा हि वेदा
यथा च शाखा हि महीरुहस्य।
संवेदने चैव यथाऽऽमनन्ति
तस्मिन् हि सत्ये परमात्मनोऽर्थे ॥ ५५ ॥

द्वितीयाके चन्द्रमाकी सूक्ष्म कलाको बतानेके लिये जैसे वृक्षकी शाखाकी ओर संकेत किया जाता है, उसी प्रकार उस सत्यस्वरूप परमात्माका ज्ञान करानेके लिये ही वेदोंका भी उपयोग किया जाता है; ऐसा विद्वान् पुरुष मानते हैं ॥

अभिजानामि ब्राह्मणं व्याख्यातारं विचक्षणम्।
यश्छिन्नविचिकित्सः स व्याचष्टे सर्वसंशयान् ॥ ५६ ॥

मैं तो उसीको ब्राह्मण समझता हूँ, जो परमात्माके तत्त्वको जाननेवाला और वेदोंकी यथार्थ व्याख्या करनेवाला हो, जिसके अपने संदेह मिट गये हों और जो दूसरोंके भी सम्पूर्ण संशयोंको मिटा सके ॥ ५६ ॥

नास्य पर्येषणं गच्छेत् प्राचीनं नोत दक्षिणम्।
नार्वाचीनं कुतस्तिर्यङ् नादिशं तु कथञ्चन ॥ ५७ ॥

इस आत्माकी खोज करनेके लिये पूर्व, दक्षिण, पश्चिम या उत्तरकी ओर जानेकी आवश्यकता नहीं है; फिर आग्नेय आदि कोणोंकी तो बात ही क्या है ? इसी प्रकार दिग्विभागसे रहित प्रदेशमें भी उसे नहीं ढूँढ़ना चाहिये ॥ ५७ ॥

तस्य पर्येषणं गच्छेत् प्रत्यर्थिषु कथञ्चन।
अविचिन्वन्निमं वेदे तपः पश्यति तं प्रभुम् ॥ ५८ ॥

आत्माका अनुसंधान अनात्मपदार्थोंमें तो किसी तरह करे ही नहीं, वेदके वाक्योंमें भी न ढूँढ़कर केवल तपके द्वारा उस प्रभुका साक्षात्कार करे ॥ ५८ ॥

तूष्णीम्भूत उपासीत न चेष्टेन्मनसापि च।
उपावर्तस्व तद् ब्रह्म अन्तरात्मनि विश्रुतम् ॥ ५९ ॥

वागादि इन्द्रियोंकी सब प्रकारकी चेष्टासे रहित होकर परमात्माकी उपासना करे, मनसे भी कोई चेष्टा न करे। राजन्! तुम भी अपने हृदयाकाशमें स्थित उस विख्यात परमेश्वरकी बुद्धिपूर्वक उपासना करो ॥ ५९ ॥

मौनान्न स मुनिर्भवति नारण्यवसनान्मुनिः।
स्वलक्षणं तु यो वेद स मुनिः श्रेष्ठ उच्यते ॥ ६० ॥

मौन रहने अथवा जंगलमें निवास करनेमात्रसे कोई मुनि नहीं होता। जो अपने आत्माके स्वरूपको जानता है, वही श्रेष्ठ मुनि कहलाता है ॥ ६० ॥

सर्वार्थानां व्याकरणाद् वैयाकरण उच्यते।
तन्मूलतो व्याकरणं व्याकरोतीति तत् तथा ॥ ६१ ॥

सम्पूर्ण अर्थोंको व्याकृत (प्रकट) करनेके कारण ज्ञानी पुरुष 'वैयाकरण' कहलाता है। यह समस्त अर्थोंका प्रकटीकरण मूलभूत ब्रह्मसे ही होता है, अतः वही मुख्य वैयाकरण है; विद्वान् पुरुष भी इसी प्रकार अर्थोंको व्याकृत (व्यक्त) करता है, इसलिये वह भी वैयाकरण है ॥ ६१ ॥

प्रत्यक्षदर्शी लोकानां सर्वदर्शी भवेन्नरः।
सत्ये वै ब्राह्मणस्तिष्ठंस्तद् विद्वान् सर्वविद् भवेत् ॥ ६२ ॥

जो (योगी) सम्पूर्ण लोकोंको प्रत्यक्ष देख लेता है, वह मनुष्य उन सब लोकोंका द्रष्टा कहलाता है; परंतु जो एकमात्र सत्यस्वरूप ब्रह्ममें ही स्थित है, वही ब्रह्मवेत्ता ब्राह्मण सर्वज्ञ होता है ॥ ६२ ॥

धर्मादिषु स्थितोऽप्येवं क्षत्रिय ब्रह्म पश्यति।
वेदानां चानुपूर्व्येण एतद् बुद्ध्वा ब्रवीमि ते ॥ ६३ ॥

राजन्! पूर्वोक्त धर्म आदिमें स्थित होनेसे तथा वेदोंका क्रमसे (विधिवत्) अध्ययन करनेसे भी मनुष्य इसी प्रकार परमात्माका साक्षात्कार करता है। यह बात अपनी बुद्धिद्वारा निश्चय करके मैं तुम्हें बता रहा हूँ ॥ ६३ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि सनत्सुजातपर्वणि सनत्सुजातवाक्ये त्रिचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत सनत्सुजातपर्वमें सनत्सुजातवाक्यविषयक तैंतालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ४३ ॥

चतुश्चत्वारिंशोऽध्यायः

ब्रह्मचर्य तथा ब्रह्मका निरूपण

धृतराष्ट्र उवाच

सनत्सुजात यामिमां परां त्वं
ब्राह्मीं वाचं वदसे विश्वरूपाम्।
परां हि कामेन सुदुर्लभां कथां
प्रब्रूहि मे वाक्यमिदं कुमार ॥ १ ॥

धृतराष्ट्रने कहा—सनत्सुजातजी! आप जिस सर्वोत्तम और सर्वरूपा ब्रह्मसम्बन्धिनी विद्याका उपदेश कर रहे हैं, कामी पुरुषोंके लिये वह अत्यन्त दुर्लभ है। कुमार! मेरा तो यह कहना है कि आप इस उत्कृष्ट विषयका पुनः प्रतिपादन करें ॥ १ ॥

सनत्सुजात उवाच

नैतद् ब्रह्म त्वरमाणेन लभ्यं
यन्मां पृच्छन्नतिहृष्यतीव।
बुद्धौ विलीने मनसि प्रचिन्त्या
विद्या हि सा ब्रह्मचर्येण लभ्या ॥ २ ॥

सनत्सुजातने कहा—राजन्! तुम जो मुझसे बारंबार प्रश्न करते समय अत्यन्त हर्षित हो उठते हो, सो इस प्रकार जल्दबाजी करनेसे ब्रह्मकी उपलब्धि नहीं होती। बुद्धिमें मनके लय हो जानेपर सब वृत्तियोंका विरोध करनेवाली जो स्थिति है, उसका नाम है ब्रह्मविद्या और वह ब्रह्मचर्यका पालन करनेसे ही उपलब्ध होती है ॥ २ ॥

धृतराष्ट्र उवाच

अत्यन्तविद्यामिति यत् सनातनीं
ब्रवीषि त्वं ब्रह्मचर्येण सिद्धाम्।
अनारभ्यां वसतीह कार्यकाले
कथं ब्राह्मण्यममृतत्वं लभेत ॥ ३ ॥

धृतराष्ट्रने कहा—जो कर्मोंद्वारा आरम्भ होने योग्य नहीं है तथा कार्यके समयमें भी जो इस आत्मामें ही रहती है, उस अनन्त ब्रह्मसे सम्बन्ध रखनेवाली इस सनातन विद्याको यदि आप ब्रह्मचर्यसे ही प्राप्त होने योग्य बता रहे हैं तो

मुझ-जैसे लोग ब्रह्मसम्बन्धी अमृतत्व (मोक्ष) को कैसे पा सकते हैं ? ॥ ३ ॥

सनत्सुजात उवाच

अव्यक्तविद्यामभिधास्ये पुराणीं
बुद्ध्या च तेषां ब्रह्मचर्येण सिद्धाम् ।
यां प्राप्यैनं मर्त्यलोकं त्यजन्ति
या वै विद्या गुरुवृद्धेषु नित्या ॥ ४ ॥

सनत्सुजातजी बोले—अब मैं (सच्चिदानन्दघन) अव्यक्त ब्रह्मसे सम्बन्ध रखनेवाली उस पुरातन विद्याका वर्णन करूँगा, जो मनुष्योंको बुद्धि और ब्रह्मचर्यके द्वारा प्राप्त होती है, जिसे पाकर विद्वान् पुरुष इस मरणधर्मा शरीरको सदाके लिये त्याग देते हैं तथा जो वृद्ध गुरुजनोंमें नित्य विद्यमान रहती है ॥ ४ ॥

धृतराष्ट्र उवाच

ब्रह्मचर्येण या विद्या शक्या वेदितुमञ्जसा ।
तत् कथं ब्रह्मचर्यं स्यादेतद् ब्रह्मन् ब्रवीहि मे ॥ ५ ॥

धृतराष्ट्रने कहा—ब्रह्मन् ! यदि वह ब्रह्मविद्या ब्रह्मचर्यके द्वारा ही सुगमतासे जानी जा सकती है तो पहले मुझे यही बताइये कि ब्रह्मचर्यका पालन कैसे होता है ? ॥ ५ ॥

सनत्सुजात उवाच

आचार्ययोनिमिह ये प्रविश्य
भूत्वा गर्भं ब्रह्मचर्यं चरन्ति ।
इहैव ते शास्त्रकारा भवन्ति
प्रहाय देहं परमं यान्ति योगम् ॥ ६ ॥

सनत्सुजातजी बोले—जो लोग आचार्यके आश्रममें प्रवेश कर अपनी सेवासे उनके अन्तरङ्ग भक्त हो ब्रह्मचर्यका पालन करते हैं, वे यहीं शास्त्रकार हो जाते हैं और देह-त्यागके पश्चात् परम योगरूप परमात्माको प्राप्त होते हैं ॥ ६ ॥

अस्मिँल्लोके वै जयन्तीह कामान्
ब्राह्मीं स्थितिं ह्यनुतितिक्षमाणाः ।
त आत्मानं निर्हरन्तीह देहा-
न्मुञ्जादिषीकामिव सत्त्वसंस्थाः ॥ ७ ॥

इस जगत्में जो लोग वर्तमान स्थितिमें रहते हुए ही सम्पूर्ण कामनाओंको जीत लेते हैं और ब्राह्मी स्थिति प्राप्त करनेके लिये ही नाना प्रकारके द्वन्द्वोंको सहन करते हैं, वे सत्त्वगुणमें स्थित हो यहाँ ही मूँजसे सींककी भाँति इस देहसे आत्माको (विवेकद्वारा) पृथक् कर लेते हैं ॥ ७ ॥

शरीरमेतौ कुरुतः पिता माता च भारत ।
आचार्यशास्ता या जातिः सा पुण्या साजरामरा ॥ ८ ॥

भारत ! यद्यपि माता और पिता—ये ही दोनों इस शरीरको जन्म देते हैं, तथापि आचार्यके उपदेशसे जो जन्म प्राप्त होता है, वह परम पवित्र और अजर-अमर है ॥

यः प्रावृणोत्यवितथेन वर्णा-
नृतं कुर्वन्नमृतं सम्प्रयच्छन् ।
तं मन्येत पितरं मातरं च
तस्मै न द्रुह्येत् कृतमस्य जानन् ॥ ९ ॥

जो परमार्थतत्त्वके उपदेशसे सत्यको प्रकट करके अमरत्व प्रदान करते हुए ब्राह्मणादि वर्णोंकी रक्षा करते हैं, उन आचार्यको पिता-माता ही समझना चाहिये तथा उनके किये हुए उपकारका स्मरण करके कभी उनसे द्रोह नहीं करना चाहिये ॥ ९ ॥

गुरुं शिष्यो नित्यमभिवादयीत
स्वाध्यायमिच्छेच्छुचिरप्रमत्तः ।
मानं न कुर्यान्नादधीत रोष-
मेष प्रथमो ब्रह्मचर्यस्य पादः ॥ १० ॥

ब्रह्मचारी शिष्यको चाहिये कि वह नित्य गुरुको प्रणाम करे, बाहर-भीतरसे पवित्र हो प्रमाद छोड़कर स्वाध्यायमें मन लगावे, अभिमान न करे, मनमें क्रोधको स्थान न दे । यह ब्रह्मचर्यका पहला चरण है ॥ १० ॥

शिष्यवृत्तिक्रमेणैव विद्यामाप्नोति यः शुचिः ।
ब्रह्मचर्यव्रतस्यास्य प्रथमः पाद उच्यते ॥ ११ ॥

जो शिष्यकी वृत्तिके क्रमसे ही जीवन-निर्वाह करता हुआ पवित्र हो विद्या प्राप्त करता है, उसका यह नियम भी ब्रह्मचर्यव्रतका पहला ही पाद कहलाता है ॥ ११ ॥

आचार्यस्य प्रियं कुर्यात् प्राणैरपि धनैरपि ।
कर्मणा मनसा वाचा द्वितीयः पाद उच्यते ॥ १२ ॥

अपने प्राण और धन लगाकर भी मन, वाणी तथा कर्मसे आचार्यका प्रिय करे, यह दूसरा पाद कहलाता है ॥

समा गुरौ यथा वृत्तिर्गुरुपत्न्यां तथाऽऽचरेत् ।
तत्पुत्रे च तथा कुर्वन् द्वितीयः पाद उच्यते ॥ १३ ॥

गुरुके प्रति शिष्यका जैसा श्रद्धा और सम्मानपूर्ण बर्ताव हो, वैसा ही गुरुकी पत्नी और पुत्रके साथ भी होना चाहिये । यह भी ब्रह्मचर्यका द्वितीय पाद ही कहलाता है ॥ १३ ॥

आचार्येणात्मकृतं विजानन्
ज्ञात्वा चार्थं भावितोऽस्मीत्यनेन ।
यन्मन्यते तं प्रति हृष्टबुद्धिः
स वै तृतीयो ब्रह्मचर्यस्य पादः ॥ १४ ॥

आचार्यने जो अपना उपकार किया, उसे ध्यानमें रखकर तथा उससे जो प्रयोजन सिद्ध हुआ, उसका भी विचार करके मन-ही-मन प्रसन्न होकर शिष्य आचार्यके प्रति जो ऐसा भाव रखता है कि इन्होंने मुझे बड़ी उन्नत अवस्थामें पहुँचा दिया—यह ब्रह्मचर्यका तीसरा पाद है ॥

नाचार्यस्यानपाकृत्य प्रवासं
प्राज्ञः कुर्वीत नैतदहं करोमि।
इतीव मन्येत न भाषयेत
स वै चतुर्थो ब्रह्मचर्यस्य पादः ॥ १५ ॥

आचार्यके उपकारका बदला चुकाये विना अर्थात् गुरुदक्षिणा आदिके द्वारा उन्हें संतुष्ट किये विना विद्वान् शिष्य वहाँसे अन्यत्र न जाय। [दक्षिणा देकर या गुरुकी सेवा करके] कभी मनमें ऐसा विचार न लावे कि मैं गुरुका उपकार कर रहा हूँ तथा मुँहसे भी कभी ऐसी बात न निकाले। यह ब्रह्मचर्यका चौथा पाद है ॥ १५ ॥

कालेन पादं लभते तथार्थं
ततश्च पादं गुरुयोगतश्च।
उत्साहयोगेन च पादमृच्छे-
च्छास्त्रेण पादं च ततोऽभियाति ॥ १६ ॥

सनातनी विद्याके कुछ अंशको तथा उसके मर्मको तो मनुष्य समयके योगसे प्राप्त करता है, कुछ अंशको गुरुके सम्बन्धसे तथा कुछ अंशको अपने उत्साहके सम्बन्धसे और कुछ अंशको परस्पर शास्त्रके विचारसे प्राप्त करता है ॥ १६ ॥

धर्मादयो द्वादश यस्य रूप-
मन्यानि चाङ्गानि तथा बलं च।
आचार्ययोगे फलतीति चाहु-
र्ब्रह्मार्थयोगेन च ब्रह्मचर्यम् ॥ १७ ॥

पूर्वोक्त धर्मादि बारह गुण जिसके स्वरूप हैं तथा और भी जो धर्मके अङ्ग एवं सामर्थ्य हैं, वे भी जिसके स्वरूप हैं, वह ब्रह्मचर्य आचार्यके सम्बन्धसे प्राप्त वेदार्थके ज्ञानसे सफल होता है, ऐसा कहा जाता है ॥ १७ ॥

एवं प्रवृत्तो यदुपालभेत वै
धनमाचार्याय तदनुप्रयच्छेत्।
सतां वृत्तिं बहुगुणामेवमेति
गुरोः पुत्रे भवति च वृत्तिरेषा ॥ १८ ॥

इस तरह ब्रह्मचर्यपालनमें प्रवृत्त हुए ब्रह्मचारीको चाहिये कि जो कुछ भी धन (जीवननिर्वाह योग्य वस्तुएँ) भिक्षामें प्राप्त हो, उसे आचार्यको अर्पण कर दे। ऐसा करनेसे वह शिष्य सत्पुरुषोंके अनेक गुणोंसे युक्त आचार-को प्राप्त होता है। गुरुपुत्रके प्रति भी उसकी यही भावना रहनी चाहिये ॥ १८ ॥

एवं वसन् सर्वतो वर्धतीह
बहून् पुत्राँल्लभते च प्रतिष्ठाम्।
वर्षन्ति चास्मै प्रदिशो दिशश्च
वसन्त्यस्मिन् ब्रह्मचर्ये जनाश्च ॥ १९ ॥

ऐसी वृत्तिसे गुरुगृहमें रहनेवाले शिष्यकी इस संसारमें सब प्रकारसे उन्नति होती है। वह (गृहस्थाश्रममें प्रवेश करके) बहुत-से पुत्र और प्रतिष्ठा प्राप्त करता है। सम्पूर्ण दिशा-विदिशाएँ उसके लिये सुखकी वर्षा करती हैं तथा उसके निकट बहुत-से दूसरे लोग ब्रह्मचर्यपालनके लिये निवास करते हैं ॥ १९ ॥

एतेन ब्रह्मचर्येण देवा देवत्वमाप्नुवन्।
ऋषयश्च महाभागा ब्रह्मलोकं मनीषिणः ॥ २० ॥

इस ब्रह्मचर्यके पालनसे ही देवताओंने देवत्व प्राप्त किया और महान् सौभाग्यशाली मनीषी ऋषियोंने ब्रह्मलोकको प्राप्त किया ॥ २० ॥

गन्धर्वाणामनेनैव रूपमप्सरसामभूत्।
एतेन ब्रह्मचर्येण सूर्योऽप्यह्नाय जायते ॥ २१ ॥

इसीके प्रभावसे गन्धर्वों और अप्सराओंको दिव्य रूप प्राप्त हुआ। इस ब्रह्मचर्यके ही प्रतापसे सूर्यदेव समस्त लोकोंको प्रकाशित करनेमें समर्थ होते हैं ॥ २१ ॥

आकाङ्क्ष्यार्थस्य संयोगाद् रसभेदार्थिनामिव।
एवं ह्येते समाज्ञाय तादृग्भावं गता इमे ॥ २२ ॥

रसभेदरूप चिन्तामणिसे याचना करनेवालोंको जैसे उनके अभीष्ट अर्थकी प्राप्ति होती है, उसी प्रकार ब्रह्मचर्य भी मनोवाञ्छित वस्तु प्रदान करनेवाला है। ऐसा समझकर ये ऋषि-देवता आदि ब्रह्मचर्यके पालनसे वैसे भावको प्राप्त हुए ॥ २२ ॥

य आश्रयेत् पावयेच्चापि राजन्
सर्वं शरीरं तपसा तप्यमानः।
एतेन वै बाल्यमभ्येति विद्वान्
मृत्युं तथा स जयत्यन्तकाले ॥ २३ ॥

राजन्! जो इस ब्रह्मचर्यका आश्रय लेता है, वह ब्रह्मचारी यम-नियमादि तपका आचरण करता हुआ अपने सम्पूर्ण शरीरको भी पवित्र बना देता है तथा इससे विद्वान् पुरुष निश्चय ही अबोध बालककी भाँति राग-द्वेषसे शून्य हो जाता है और अन्त समयमें वह मृत्युको भी जीत लेता है ॥ २३ ॥

अन्तवतः क्षत्रिय ते जयन्ति
लोकान् जनाः कर्मणा निर्मलेन।
ब्रह्मैव विद्वांस्तेन चाभ्येति सर्वं
नान्यः पन्थाः अयनाय विद्यते ॥ २४ ॥

राजन् ! सकाम पुरुष अपने पुण्यकर्मोंके द्वारा नाशवान् लोकोंको ही प्राप्त करते हैं, किंतु जो ब्रह्मको जाननेवाला विद्वान् है, वही उस ज्ञानके द्वारा सर्वरूप परमात्माको प्राप्त होता है। मोक्षके लिये ज्ञानके सिवा दूसरा कोई मार्ग नहीं है ॥

धृतराष्ट्र उवाच

आभाति शुक्लमिव लोहितमिवाथो
कृष्णमथाञ्जनं काद्रवं वा।
सद्ब्रह्मणः पश्यति योऽत्र विद्वान्
कथं रूपं तदमृतमक्षरं पदम् ॥ २५ ॥

धृतराष्ट्र बोले—विद्वान् पुरुष यहाँ सत्यस्वरूप परमात्माके जिस अमृत एवं अविनाशी परमपदका साक्षात्कार करते हैं, उसका रूप कैसा है ? क्या वह सफेद-सा, लाल-सा, काजल-सा काला या सुवर्ण-जैसे पीले रंगका प्रतीत होता है ? ॥ २५ ॥

सनत्सुजात उवाच

आभाति शुक्लमिव लोहितमिवाथो
कृष्णमायसमर्कवर्णम् ।
न पृथिव्यां तिष्ठति नान्तरिक्षे
नैतत् समुद्रे सलिलं बिभर्ति ॥ २६ ॥

सनत्सुजातने कहा—यद्यपि श्वेत, लाल, काले, लोहेके सदृश अथवा सूर्यके समान प्रकाशमान अनेकों प्रकारके रूप प्रतीत होते हैं, तथापि ब्रह्मका वास्तविक रूप न पृथ्वीमें है, न आकाशमें। समुद्रका जल भी उस रूपको नहीं धारण करता ॥ २६ ॥

न तारकासु न च विद्युदाश्रितं
न चाभ्रेषु दृश्यते रूपमस्य।
न चापि वायौ न च देवतासु
नैतच्चन्द्रे दृश्यते नोत सूर्ये ॥ २७ ॥

इस ब्रह्मका वह रूप न तारोंमें है, न बिजलीके आश्रित है और न बादलोंमें ही दिखायी देता है। इसी प्रकार वायु, देवगण, चन्द्रमा और सूर्यमें भी वह नहीं देखा जाता ॥ २७ ॥

नैवर्क्षु तन्न यजुःषु नाप्यथर्वसु
न दृश्यते वै विमलेषु सामसु।
रथन्तरे बार्हद्रथे वापि राजन्
महाव्रते नैव दृश्येद् ध्रुवं तत् ॥ २८ ॥

राजन् ! ऋग्वेदकी ऋचाओंमें, यजुर्वेदके मन्त्रोंमें अथर्ववेदके सूक्तोंमें तथा विशुद्ध सामवेदमें भी वह नहीं दृष्टिगोचर होता । रथन्तर और बार्हद्रथ नामक साममें तथा महान् व्रतमें भी उसका दर्शन नहीं होता; क्योंकि वह ब्रह्म नित्य है ॥ २८ ॥

अपारणीयं तमसः परस्तात्
तदन्तकोऽप्येति विनाशकाले।
अणीयो रूपं क्षुरधारया समं
महच्च रूपं तद् वै पर्वतेभ्यः ॥ २९ ॥

ब्रह्मके उस स्वरूपका कोई पार नहीं पा सकता। वह अज्ञानरूप अन्धकारसे सर्वथा अतीत है। महाप्रलयमें सबका अन्त करनेवाला काल भी उसीमें लीन हो जाता है। वह रूप अस्तुरेकी धारके समान अत्यन्त सूक्ष्म और पर्वतोंसे भी महान् है (अर्थात् वह सूक्ष्मसे भी सूक्ष्मतर और महान्से भी महान् है)॥ २९ ॥

सा प्रतिष्ठा तदमृतं लोकास्तद् ब्रह्म तद् यशः।
भूतानि जज्ञिरे तस्मात् प्रलयं यान्ति तत्र हि ॥ ३० ॥

वही सबका आधार है, वही अमृत है, वही लोक, वही यश तथा वही ब्रह्म है। सम्पूर्ण भूत उसीसे प्रकट हुए और उसीमें लीन होते हैं ॥ ३० ॥

अनामयं तन्महदुद्यतं यशो
वाचो विकारं कवयो वदन्ति।
यस्मिन् जगत् सर्वमिदं प्रतिष्ठितं
ये तद् विदुरमृतास्ते भवन्ति ॥ ३१ ॥

विद्वान् कहते हैं, कार्यरूप जगत् वाणीका विकारमात्र है; किंतु जिसमें यह सम्पूर्ण जगत् प्रतिष्ठित है, वह ब्रह्म रोग, शोक और पापसे रहित है और उसका महान् यश सर्वत्र फैला हुआ है। उस नित्य कारणस्वरूप ब्रह्मको जो जानते हैं, वे अमर हो जाते हैं अर्थात् मुक्त हो जाते हैं ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि सनत्सुजातपर्वणि सनत्सुजातवाक्ये चतुश्चत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत सनत्सुजातपर्वमें सनत्सुजातवाक्यविषयक चौवालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ४४ ॥

पञ्चचत्वारिंशोऽध्यायः

गुण-दोषोंके लक्षणोंका वर्णन और ब्रह्मविद्याका प्रतिपादन

सनत्सुजात उवाच

शोकः क्रोधश्च लोभश्च कामो मानः परासुता।
ईर्ष्या मोहो विधित्सा च कृपासूया जुगुप्सुता ॥ १ ॥
द्वादशैते महादोषा मनुष्यप्राणनाशनाः।

सनत्सुजातजी कहते हैं—राजन् ! शोक, क्रोध, लोभ,

काम, मान, अत्यन्त निद्रा, ईर्ष्या, मोह, तृष्णा, कायरता, गुणोंमें दोष देखना और निन्दा करना—ये बारह महान् दोष मनुष्योंके प्राणनाशक हैं ॥ १½ ॥

एकैकमेते राजेन्द्र मनुष्यान् पर्युपासते ।
यैराविष्टो नरः पापं मूढसंज्ञो व्यवस्यति ॥ २ ॥

राजेन्द्र ! क्रमशः एकके पीछे दूसरा आकर ये सभी दोष मनुष्योंको प्राप्त होते जाते हैं, जिनके वशमें होकर मूढ़-बुद्धि मानव पापकर्म करने लगता है ॥ २ ॥

स्पृहयालुरुग्रः परुषो वावदान्यः
क्रोधं बिभ्रन्मनसा वै विकत्थी ।
नृशंसधर्माः षडिमे जना वै
प्राप्याप्यर्थं नोत सभाजयन्ते ॥ ३ ॥

लोलुप, क्रूर, कठोरभाषी, कृपण, मन-ही-मन क्रोध करनेवाले और अधिक आत्मप्रशंसा करनेवाले—ये छः प्रकारके मनुष्य निश्चय ही क्रूर कर्म करनेवाले होते हैं। ये प्राप्त हुई सम्पत्तिका उचित उपयोग नहीं करते ॥ ३ ॥

सम्भोगसंविद् विषमोऽतिमानी
दत्त्वा विकत्थी कृपणो दुर्बलश्च ।
बहुप्रशंसी वन्दितद्विट् सदैव
सप्तैवोक्ताः पापशीला नृशंसाः ॥ ४ ॥

सम्भोगमें मन लगानेवाले, विषमता रखनेवाले, अत्यन्त अभिमानी, दान देकर आत्मश्लाघा करनेवाले, कृपण, असमर्थ होकर भी अपनी बहुत बड़ाई करनेवाले और सम्मान्य पुरुषोंसे सदा द्वेष रखनेवाले—ये सात प्रकारके मनुष्य ही पापी और क्रूर कहे गये हैं ॥ ४ ॥

धर्मश्च सत्यं च तपो दमश्च
अमात्सर्यं ह्रीस्तितिक्षानसूया ।
दानं श्रुतं चैव धृतिः क्षमा च
महाव्रता द्वादश ब्राह्मणस्य ॥ ५ ॥

धर्म, सत्य, तप, इन्द्रियसंयम, डाह न करना, लज्जा, सहनशीलता, किसीके दोष न देखना, दान, शास्त्रज्ञान, धैर्य और क्षमा—ये ब्राह्मणके बारह महान् व्रत हैं ॥ ५ ॥

यो नैतेभ्यः प्रच्यवेद् द्वादशभ्यः
सर्वामपीमां पृथिवीं स शिष्यात् ।
त्रिभिर्द्वाभ्यामेकतो वान्वितो यो
नास्य स्वमस्तीति च वेदितव्यम् ॥ ६ ॥

जो इन बारह व्रतोंसे कभी च्युत नहीं होता, वह इस सम्पूर्ण पृथ्वीपर शासन कर सकता है। इनमेंसे तीन, दो या एक गुणसे भी जो युक्त है, उसका अपना कुछ भी नहीं होता—ऐसा समझना चाहिये (अर्थात् उसकी किसी भी वस्तुमें ममता नहीं होती) ॥ ६ ॥

दमस्त्यागोऽथाप्रमाद इत्येतेष्वमृतं स्थितम् ।
एतानि ब्रह्ममुख्यानां ब्राह्मणानां मनीषिणाम् ॥ ७ ॥

इन्द्रियनिग्रह, त्याग और अप्रमाद—इनमें अमृतकी स्थिति है । ब्रह्म ही जिनका प्रधान लक्ष्य है, उन बुद्धिमान् ब्राह्मणोंके ये ही मुख्य साधन हैं ॥ ७ ॥

सद् वासद् वा परीवादो ब्राह्मणस्य न शस्यते ।
नरकप्रतिष्ठास्ते वै स्युर्य एवं कुर्वते जनाः ॥ ८ ॥

सच्ची हो या झूठी, दूसरोंकी निन्दा करना ब्राह्मणको शोभा नहीं देता। जो लोग दूसरोंकी निन्दा करते हैं, वे अवश्य ही नरकमें पड़ते हैं ॥ ८ ॥

मदोऽष्टादशदोषः स स्यात् पुरा योऽप्रकीर्तितः ।
लोकद्वेष्यं प्रातिकूल्यमभ्यसूया मृषा वचः ॥ ९ ॥

मदके अठारह दोष हैं, जो पहले सूचित करके भी स्पष्टरूपसे नहीं बताये गये थे—लोकविरोधी कार्य करना, शास्त्रके प्रतिकूल आचरण करना, गुणियोंपर दोषारोपण, असत्यभाषण, ॥ ९ ॥

कामक्रोधौ पारतन्त्र्यं परिवादोऽथ पैशुनम् ।
अर्थहानिर्विवादश्च मात्सर्यं प्राणिपीडनम् ॥ १० ॥

काम, क्रोध, पराधीनता, दूसरोंके दोष बताना, चुगली करना, धनका (दुरुपयोगसे) नाश, कलह, डाह, प्राणियोंको कष्ट पहुँचाना, ॥ १० ॥

ईर्ष्या मोदोऽतिवादश्च संज्ञानाशोऽभ्यसूयिता ।
तस्मात् प्राज्ञो न माद्येत सदा ह्येतद् विगर्हितम् ॥ ११ ॥

ईर्ष्या, हर्ष, बहुत बकवाद, विवेकशून्यता तथा गुणोंमें दोष देखनेका स्वभाव । इसलिये विद्वान् पुरुषको मदके वशीभूत नहीं होना चाहिये; क्योंकि सत्पुरुषोंने इस मदको सदा ही निन्दित बताया है ॥ ११ ॥

सौहृदे वै षड् गुणा वेदितव्याः
प्रिये हृष्यन्त्यप्रिये च व्यथन्ते ।
स्यादात्मनः सुचिरं याचते यो
ददात्ययाच्यमपि देयं खलु स्यात् ।
इष्टान् पुत्रान् विभवान् स्वांश्च दारा-
नभ्यर्थितश्चार्हति शुद्धभावः ॥ १२ ॥

सौहार्द (मित्रता) के छः गुण हैं, जो अवश्य ही जानने योग्य हैं। सुहृद्का प्रिय होनेपर हर्षित होना और अप्रिय होनेपर कष्टका अनुभव करना—ये दो गुण हैं । तीसरा गुण यह है कि अपना जो कुछ चिरसंचित धन है, उसे मित्रके

माँगनेपर दे डाले । मित्रके लिये अयाच्य वस्तु भी अवश्य देने योग्य हो जाती है और तो क्या, सुहृद्‌के माँगनेपर वह शुद्ध भावसे अपने प्रिय पुत्र, वैभव तथा पत्नीको भी उसके हितके लिये निछावर कर देता है ॥ १२ ॥

त्यक्तद्रव्यः संवसेन्नेह कामाद्
भुङ्क्ते कर्म स्वाशिषं बाधते च ॥ १३ ॥

मित्रको धन देकर उसके यहाँ प्रत्युपकार पानेकी कामनासे निवास न करे—यह चौथा गुण है । अपने परिश्रमसे उपार्जित धनका उपभोग करे (मित्रकी कमाईपर अवलम्बित न रहे)—यह पाँचवाँ गुण है तथा मित्रकी भलाईके लिये अपने भलेकी परवा न करे—यह छठा गुण है ॥ १३ ॥

द्रव्यवान् गुणवानेवं त्यागी भवति सात्त्विकः ।
पञ्च भूतानि पञ्चभ्यो निवर्तयति तादृशः ॥ १४ ॥

जो धनी गृहस्थ इस प्रकार गुणवान्, त्यागी और सात्त्विक होता है, वह अपनी पाँचों इन्द्रियोंसे पाँचों विषयोंको हटा देता है ॥ १४ ॥

एतत् समृद्धमप्यूर्ध्वं तपो भवति केवलम् ।
सत्त्वात् प्रच्यवमानानां संकल्पेन समाहितम् ॥ १५ ॥

जो (वैराग्यकी कमीके कारण) सत्त्वसे भ्रष्ट हो गये हैं, ऐसे मनुष्योंके दिव्य लोकोंकी प्राप्तिके संकल्पसे संचित किया हुआ यह इन्द्रियनिग्रहरूप तप समृद्ध होनेपर भी केवल ऊर्ध्वलोकोंकी प्राप्तिका कारण होता है [मुक्तिका नहीं]॥१५॥

यतो यज्ञाः प्रवर्धन्ते सत्यस्यैवावरोधनात् ।
मनसान्यस्य भवति वाचान्यस्याथ कर्मणा ॥ १६ ॥

क्योंकि सत्यस्वरूप ब्रह्मका बोध न होनेसे ही इन सकाम यज्ञोंकी वृद्धि होती है । किसीका यज्ञ मनसे, किसीका वाणीसे और किसीका क्रियाके द्वारा सम्पन्न होता है ॥ १६ ॥

संकल्पसिद्धं पुरुषमसंकल्पोऽधितिष्ठति ।
ब्राह्मणस्य विशेषेण किञ्चान्यदपि मे शृणु ॥ १७ ॥

संकल्पसिद्ध अर्थात् सकामपुरुषसे संकल्परहित यानी निष्कामपुरुषकी स्थिति ऊँची होती है; किंतु ब्रह्मवेत्ताकी स्थिति उससे भी विशिष्ट है । इसके सिवा एक बात और बताता हूँ, सुनो ॥ १७ ॥

अध्यापयेन्महदेतद् यशस्यं
वाचो विकाराः कवयो वदन्ति ।
अस्मिन् योगे सर्वमिदं प्रतिष्ठितं
ये तद् विदुरमृतास्ते भवन्ति ॥ १८ ॥

यह महत्त्वपूर्ण शास्त्र परम यशरूप परमात्माकी प्राप्ति करानेवाला है, इसे शिष्योंको अवश्य पढ़ाना चाहिये । परमात्मासे भिन्न यह सारा दृश्य-प्रपञ्च वाणीका विकारमात्र है—ऐसा विद्वान् लोग कहते हैं । इस योगशास्त्रमें यह परमात्मविषयक सम्पूर्ण ज्ञान प्रतिष्ठित है; इसे जो जान लेते हैं, वे अमर हो जाते हैं अर्थात् जन्म-मरणसे मुक्त हो जाते हैं ॥ १८ ॥

न कर्मणा सुकृतेनैव राजन्
सत्यं जयेज्जुहुयाद् वा यजेद् वा ।
नैतेन बालोऽमृत्युमभ्येति राजन्
रतिं चासौ न लभत्यन्तकाले ॥ १९ ॥

राजन् ! (निष्कामभावके बिना किये हुए) केवल पुण्यकर्मके द्वारा सत्यस्वरूप ब्रह्मको नहीं जीता जा सकता । अथवा जो हवन या यज्ञ किया जाता है, उससे भी अज्ञानी पुरुष अमरत्व—मुक्तिको नहीं पा सकता तथा अन्तकालमें उसे शान्ति भी नहीं मिलती ॥ १९ ॥

तूष्णीमेक उपासीत चेष्टेन मनसापि न ।
तथा संस्तुतिनिन्दाभ्यां प्रीतिरोषौ विवर्जयेत् ॥ २० ॥

इसलिये सब प्रकारकी चेष्टासे रहित होकर एकान्तमें उपासना करे, मनसे भी कोई चेष्टा न होने दे तथा स्तुतिमें राग और निन्दामें द्वेष न करे ॥ २० ॥

अत्रैव तिष्ठन् क्षत्रिय ब्रह्माविशति पश्यति ।
वेदेषु चानुपूर्व्येण एतद् विद्वन् ब्रवीमि ते ॥ २१ ॥

राजन् ! उपर्युक्त साधन करनेसे मनुष्य यहाँ ही ब्रह्मका साक्षात्कार करके उसमें विलीन हो जाता है । विद्वन् ! वेदोंमें क्रमशः विचार करके जो मैंने जाना है, वही तुम्हें बता रहा हूँ ॥ २१ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि सनत्सुजातपर्वणि सनत्सुजातवाक्ये पञ्चचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत सनत्सुजातपर्वमें सनत्सुजातवाक्यविषयक पैंतालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ४५ ॥

षट्चत्वारिंशोऽध्यायः

परमात्माके स्वरूपका वर्णन और योगीजनोंके द्वारा उनके साक्षात्कारका प्रतिपादन

सनत्सुजात उवाच

यत् तच्छुक्रं महज्ज्योतिर्दीप्यमानं महद् यशः ।
तद् वै देवा उपासते तस्मात् सूर्यो विराजते ।
योगिनस्तं प्रपश्यन्ति भगवन्तं सनातनम् ॥ १ ॥

सनत्सुजातजी कहते हैं—राजन्! जो शुद्ध ब्रह्म है, वह महान् ज्योतिर्मय, देदीप्यमान एवं विशाल यशरूप है। सब देवता उसीकी उपासना करते हैं। उसीके प्रकाशसे सूर्य प्रकाशित होते हैं, उस सनातन भगवान्का योगीजन साक्षात्कार करते हैं॥ १॥

शुक्राद् ब्रह्म प्रभवति ब्रह्म शुक्रेण वर्धते।
तच्छुक्रं ज्योतिषां मध्येऽतप्तं तपति तापनम्।
योगिनस्तं प्रपश्यन्ति भगवन्तं सनातनम्॥ २॥

शुद्ध सच्चिदानन्द परब्रह्मसे हिरण्यगर्भकी उत्पत्ति होती है तथा उसीसे वह वृद्धिको प्राप्त होता है। वह शुद्ध ज्योतिर्मय ब्रह्म ही सूर्यादि सम्पूर्ण ज्योतियोंके भीतर स्थित होकर सबको प्रकाशित कर रहा है और तपा रहा है; वह स्वयं सब प्रकारसे अतप्त और स्वयंप्रकाश है, उसी सनातन भगवान्का योगीजन साक्षात्कार करते हैं॥ २॥

अपोऽथ अद्भ्यः सलिलस्य मध्ये
उभौ देवौ शिश्रियातेऽन्तरिक्षे।
अतन्द्रितः सवितुर्विवस्वा-
नुभौ बिभर्ति पृथिवीं दिवं च।
योगिनस्तं प्रपश्यन्ति भगवन्तं सनातनम्॥ ३॥

जलकी भाँति एकरस परब्रह्म परमात्मामें स्थित पाँच सूक्ष्म महाभूतोंसे अत्यन्त स्थूल पाञ्चभौतिक शरीरके हृदयाकाशमें दो देव—ईश्वर और जीव उसको आश्रय बनाकर रहते हैं। सबको उत्पन्न करनेवाला सर्वव्यापी परमात्मा सदैव जाग्रत् रहता है। वही इन दोनोंको तथा पृथ्वी और द्युलोकको भी धारण करता है। उस सनातन भगवान्का योगीजन साक्षात्कार करते हैं॥ ३॥

उभौ च देवौ पृथिवीं दिवं च
दिशः शुक्रो भुवनं बिभर्ति।
तस्माद् दिशः सरितश्च स्रवन्ति
तस्मात् समुद्रा विहिता महान्ताः।
योगिनस्तं प्रपश्यन्ति भगवन्तं सनातनम्॥ ४॥

उक्त दोनों देवताओंको, पृथ्वी और आकाशको, सम्पूर्ण दिशाओंको तथा समस्त लोकसमुदायको वह शुद्ध ब्रह्म ही धारण करता है। उसी परब्रह्मसे दिशाएँ प्रकट हुई हैं, उसीसे सरिताएँ प्रवाहित होती हैं तथा उसीसे बड़े-बड़े समुद्र प्रकट हुए हैं। उस सनातन भगवान्का योगीजन साक्षात्कार करते हैं॥ ४॥

चक्रे रथस्य तिष्ठन्तोऽध्रुवस्याव्ययकर्मणः।
केतुमन्तं वहन्त्यश्वास्तं दिव्यमजरं दिवि।
योगिनस्तं प्रपश्यन्ति भगवन्तं सनातनम्॥ ५॥

जो इन्द्रिय, मन और बुद्धि आदिका संघात—शरीर विनाशशील है, जिसके कर्म अपने-आप नष्ट होनेवाले नहीं हैं, ऐसे इस शरीररूप रथके चक्रकी भाँति इसे घुमानेवाले कर्मसंस्कारसे युक्त मनमें जुते हुए इन्द्रियरूप घोड़े उस हृदयाकाशमें स्थित ज्ञानस्वरूप दिव्य अविनाशी जीवात्माको जिस सनातन परमेश्वरके निकट ले जाते हैं, उस सनातन भगवान्का योगीजन साक्षात्कार करते हैं*॥ ५॥

न सादृश्ये तिष्ठति रूपमस्य
न चक्षुषा पश्यति कश्चिदेनम्।
मनीषयाथो मनसा हृदा च
य एनं विदुरमृतास्ते भवन्ति।
योगिनस्तं प्रपश्यन्ति भगवन्तं सनातनम्॥ ६॥

उस परमात्माका स्वरूप किसी दूसरेकी तुलनामें नहीं आ सकता, उसे कोई चर्मचक्षुओंसे नहीं देख सकता। जो निश्चयात्मिका बुद्धिसे, मनसे और हृदयसे उसे जान लेते हैं, वे अमर हो जाते हैं अर्थात् परमात्माको प्राप्त हो जाते हैं। उस सनातन भगवान्का योगीजन साक्षात्कार करते हैं†॥ ६॥

द्वादशपूगां सरितं पिबन्तो देवरक्षिताम्।
मध्वीक्षन्तश्च ते तस्याः संचरन्तीह घोराम्।
योगिनस्तं प्रपश्यन्ति भगवन्तं सनातनम्॥ ७॥

जो दस इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि—इन बारहके समुदायसे युक्त है तथा जो परमात्मासे सुरक्षित है, उस संसाररूप भयंकर नदीके विषयरूप मधुर जलको देखने और पीनेवाले लोग उसीमें गोता लगाते रहते हैं। इससे मुक्त करनेवाले उस सनातन परमात्माका योगीजन साक्षात्कार करते हैं॥ ७॥

तदर्धमासं पिबति संचित्य भ्रमरो मधु।
ईशानः सर्वभूतेषु हविर्भूतमकल्पयत्।
योगिनस्तं प्रपश्यन्ति भगवन्तं सनातनम्॥ ८॥

---

* प्रस्तुत रूपकका कठोपनिषद्के प्रथम अध्यायकी तीसरी वल्लीके तीसरेसे लेकर नवें श्लोकतक विस्तृत विवरण मिलता है।

† इससे प्रायः मिलता-जुलता एक श्लोक कठोपनिषद्में मिलता है।

न संदृशे तिष्ठति रूपमस्य न चक्षुषा पश्यति कश्चनैनम्।
हृदा मनीषा मनसाभिक्लृप्तो य एतद् विदुरमृतास्ते भवन्ति॥

जैसे शहदकी मक्खी आधे मासतक शहदका संग्रह करके फिर आधे मासतक उसे पीती रहती है, उसी प्रकार यह भ्रमणशील संसारी जीव इस जन्ममें किये हुए संचित कर्मको परलोकमें (विभिन्न योनियोंमें) भोगता है । परमात्माने समस्त प्राणियोंके लिये उनके कर्मानुसार कर्मफलभोगरूप हविकी अर्थात् समस्त भोग-पदार्थोंकी व्यवस्था कर रखी है। उस सनातन भगवान्‌का योगीलोग साक्षात्कार करते हैं ॥ ८ ॥

हिरण्यपर्णमश्वत्थमभिपद्य ह्यपक्षकाः ।
ते तत्र पक्षिणो भूत्वा प्रपतन्ति यथा दिशम् ।
योगिनस्तं प्रपश्यन्ति भगवन्तं सनातनम् ॥ ९ ॥

जिसके विषयरूपी पत्ते स्वर्णके समान मनोरम दिखायी पड़ते हैं, उस संसाररूपी अश्वत्थवृक्षपर आरूढ होकर पंख-हीन जीव कर्मरूपी पंख धारणकर अपनी वासनाके अनुसार विभिन्न योनियोंमें पड़ते हैं अर्थात् एक योनिसे दूसरी योनिमें गमन करते हैं; किंतु योगीजन उस सनातन परमात्माका साक्षात्कार करते हैं ॥ ९ ॥

पूर्णात् पूर्णान्युद्धरन्ति पूर्णात् पूर्णानि चक्रिरे ।
हरन्ति पूर्णात् पूर्णानि पूर्णमेवावशिष्यते ।
योगिनस्तं प्रपश्यन्ति भगवन्तं सनातनम् ॥ १० ॥

पूर्ण परमेश्वरसे पूर्ण—चराचर प्राणी उत्पन्न होते हैं, पूर्ण सत्ता-स्फूर्ति पाकर ही वे पूर्ण प्राणी चेष्टा करते हैं, फिर पूर्णसे ही पूर्णब्रह्ममें उनका उपसंहार (विलय) होता है तथा अन्तमें एकमात्र पूर्णब्रह्म ही शेष रह जाता है । उस सनातन परमात्माका योगी लोग साक्षात्कार करते हैं ॥१०॥

तस्माद् वै वायुरायातस्तस्मिंश्च प्रयतः सदा ।
तस्मादग्निश्च सोमश्च तस्मिंश्च प्राण आततः ॥ ११ ॥

उस पूर्णब्रह्मसे ही वायुका आविर्भाव हुआ है और उसीमें वह चेष्टा करता है । उसीसे अग्नि और सोमकी उत्पत्ति हुई है तथा उसीमें यह प्राण विस्तृत हुआ है ॥११॥

सर्वमेव ततो विद्यात् तत् तद् वक्तुं न शक्नुमः ।
योगिनस्तं प्रपश्यन्ति भगवन्तं सनातनम् ॥ १२ ॥

कहाँतक गिनावें, हम अलग-अलग वस्तुओंका नाम बतानेमें असमर्थ हैं । तुम इतना ही समझो कि सब कुछ उस परमात्मासे ही प्रकट हुआ है । उस सनातन भगवान्‌का योगीलोग साक्षात्कार करते हैं ॥ १२ ॥

अपानं गिरति प्राणः प्राणं गिरति चन्द्रमाः ।
आदित्यो गिरते चन्द्रमादित्यं गिरते परः ।
योगिनस्तं प्रपश्यन्ति भगवन्तं सनातनम् ॥ १३ ॥

अपानको प्राण अपनेमें विलीन कर लेता है, प्राणको चन्द्रमा, चन्द्रमाको सूर्य और सूर्यको परमात्मा अपनेमें विलीन कर लेता है; उस सनातन परमेश्वरका योगीलोग साक्षात्कार करते हैं ॥ १३ ॥

एकं पादं नोत्क्षिपति सलिलाद्धंस उच्चरन् ।
तं चेत् संततमूर्ध्वाय न मृत्युर्नामृतं भवेत् ।
योगिनस्तं प्रपश्यन्ति भगवन्तं सनातनम् ॥ १४ ॥

इस संसार-सलिलसे ऊपर उठा हुआ हंसरूप परमात्मा अपने एक पाद (जगत्) को ऊपर नहीं उठा रहा है; यदि उसे भी वह ऊपर उठा ले तो सबका बन्ध और मोक्ष सदाके लिये मिट जाय । उस सनातन परमेश्वरका योगीजन साक्षात्कार करते हैं ॥ १४ ॥

अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषोऽन्तरात्मा
लिङ्गस्य योगेन स याति नित्यम् ।
तमीशमीड्यमनुकल्पमाद्यं
पश्यन्ति मूढा न विराजमानम् ।
योगिनस्तं प्रपश्यन्ति भगवन्तं सनातनम् ॥ १५ ॥

हृदयदेशमें स्थित वह अङ्गुष्ठमात्र जीवात्मा सूक्ष्म (वहीं अन्तर्यामीरूपसे स्थित) शरीरके सम्बन्धसे सदा जन्म-मरणको प्राप्त होता है । उस सबके शासक, स्तुतिके योग्य, सर्व-समर्थ, सबके आदिकारण एवं सर्वत्र विराजमान परमात्माको मूढ़ जीव नहीं देख पाते; किंतु योगीजन उस सनातन परमेश्वरका साक्षात्कार करते हैं ॥ १५ ॥

असाधना वापि ससाधना वा
समानमेतद् दृश्यते मानुषेषु ।
समानमेतदमृतस्येतरस्य
मुक्तास्तत्र मध्व उत्सं समापुः ।
योगिनस्तं प्रपश्यन्ति भगवन्तं सनातनम् ॥ १६ ॥

कोई साधनसम्पन्न हों या साधनहीन, वह ब्रह्म सब मनुष्योंमें समानरूपसे देखा जाता है। वह (अपनी ओरसे) बद्ध और मुक्त दोनोंके ही लिये समान है । अन्तर इतना ही है कि इन दोनोंमेंसे जो मुक्त पुरुष हैं, वे ही आनन्दके मूलस्रोत परमात्माको प्राप्त होते हैं, (दूसरे

नहीं) । उसी सनातन भगवान्का योगीलोग साक्षात्कार करते हैं ॥ १६ ॥

उभौ लोकौ विद्यया व्याप्य याति
तदा हुतं चाहुतमग्निहोत्रम् ।
मा ते ब्राह्मी लघुतामादधीत
प्रज्ञानं स्यान्नाम धीरा लभन्ते ।
योगिनस्तं प्रपश्यन्ति भगवन्तं सनातनम् ॥ १७ ॥

ज्ञानी पुरुष ब्रह्मविद्याके द्वारा इस लोक और परलोक दोनोंके तत्त्वको जानकर ब्रह्मभावको प्राप्त होता है । उस समय उसके द्वारा यदि अग्निहोत्र आदि कर्म न भी हुए हों तो भी वे पूर्ण हुए समझे जाते हैं । राजन् ! यह ब्रह्मविद्या तुममें लघुता न आने दे तथा इसके द्वारा तुम्हें वह ब्रह्मज्ञान प्राप्त हो, जिसे धीर पुरुष ही प्राप्त करते हैं । उसी ब्रह्मविद्याके द्वारा योगीलोग उस सनातन परमात्माका साक्षात्कार करते हैं ॥ १७ ॥

एवंरूपो महात्मा स पावकं पुरुषो गिरन् ।
यो वै तं पुरुषं वेद तस्येहार्थो न रिष्यते ।
योगिनस्तं प्रपश्यन्ति भगवन्तं सनातनम् ॥ १८ ॥

जो ऐसा महात्मा पुरुष है, वह भोक्ताभावको अपनेमें विलीन करके उस पूर्ण परमेश्वरको जान लेता है । इस लोकमें उसका प्रयोजन नष्ट नहीं होता [अर्थात् वह कृतकृत्य हो जाता है] । उस सनातन परमात्माका योगीलोग साक्षात्कार करते हैं ॥ १८ ॥

यः सहस्रं सहस्राणां पक्षान् संतत्य सम्पतेत् ।
मध्यमे मध्य आगच्छेदपि चेत् स्यान्मनोजवः ।
योगिनस्तं प्रपश्यन्ति भगवन्तं सनातनम् ॥ १९ ॥

कोई मनके समान वेगवाला ही क्यों न हो और दस लाख भी पंख लगाकर क्यों न उड़े, अन्तमें उसे हृदयस्थित परमात्मामें ही आना पड़ेगा । उस सनातन परमात्माका योगीजन साक्षात्कार करते हैं ॥ १९ ॥

न दर्शने तिष्ठति रूपमस्य
पश्यन्ति चैनं सुविशुद्धसत्त्वाः ।
हितो मनीषी मनसा न तप्यते
ये प्रव्रजेयुरमृतास्ते भवन्ति ।
योगिनस्तं प्रपश्यन्ति भगवन्तं सनातनम् ॥ २० ॥

इस परमात्माका स्वरूप सबके प्रत्यक्ष नहीं होता; जिनका अन्तःकरण विशुद्ध है, वे ही उसे देख पाते हैं । जो सबके हितैषी और मनको वशमें करनेवाले हैं तथा जिनके मनमें कभी दुःख नहीं होता एवं जो संसारके सब सम्बन्धोंका सर्वथा त्याग कर देते हैं, वे मुक्त हो जाते हैं । उस सनातन परमात्माका योगीलोग साक्षात्कार करते हैं ॥ २० ॥

गूहन्ति सर्पा इव गह्वराणि
स्वशिक्षया स्वेन वृत्तेन मर्त्याः ।
तेषु प्रमुह्यन्ति जना विमूढा
यथाध्वानं मोहयन्ते भयाय ।
योगिनस्तं प्रपश्यन्ति भगवन्तं सनातनम् ॥ २१ ॥

जैसे साँप बिलोंका आश्रय ले अपनेको छिपाये रहते हैं, उसी प्रकार दम्भी मनुष्य अपनी शिक्षा और व्यवहारकी आड़में अपने दोषोंको छिपाये रखते हैं । जैसे ठग रास्ता चलनेवालोंको भयमें डालनेके लिये दूसरा रास्ता बतलाकर मोहित कर देते हैं, मूर्ख मनुष्य उनपर विश्वास करके अत्यन्त मोहमें पड़ जाते हैं; इसी प्रकार जो परमात्माके मार्गमें चलनेवाले हैं, उन्हें भी दम्भी पुरुष भयमें डालनेके लिये मोहित करनेकी चेष्टा करते हैं, किंतु योगीजन भगवत्कृपासे उनके फंदेमें न आकर उस सनातन परमात्माका ही साक्षात्कार करते हैं ॥ २१ ॥

नाहं सदासत्कृतः स्यां न मृत्यु-
र्नचामृत्युरमृतं मे कुतः स्यात् ।
सत्यानृते सत्यसमानबन्धे
सतश्च योनिरसतश्चैक एव ।
योगिनस्तं प्रपश्यन्ति भगवन्तं सनातनम् ॥ २२ ॥

राजन् ! मैं कभी किसीके असत्कारका पात्र नहीं होता ! न मेरी मृत्यु होती है न जन्म, फिर मोक्ष किसका और कैसे हो [क्योंकि मैं नित्यमुक्त ब्रह्म हूँ] । सत्य और असत्य सब कुछ मुझ सनातन समब्रह्ममें स्थित हैं । एकमात्र मैं ही सत् और असत्की उत्पत्तिका स्थान हूँ । मेरे स्वरूपभूत उस सनातन परमात्माका योगीजन साक्षात्कार करते हैं ॥ २२ ॥

न साधुना नोत असाधुना वा-
समानमेतद् दृश्यते मानुषेषु ।

समानमेतदमृतस्य विद्या-
देवंयुक्तो मधु तद् वै परीप्सेत् ।
योगिनस्तं प्रपश्यन्ति भगवन्तं सनातनम् ॥ २३ ॥

परमात्माका न तो साधुकर्मसे सम्बन्ध है और न असाधु कर्मसे। यह विषमता तो देहाभिमानी मनुष्योंमें ही देखी जाती है। ब्रह्मका स्वरूप सर्वत्र समान ही समझना चाहिये। इस प्रकार ज्ञानयोगसे युक्त होकर आनन्दमय ब्रह्मको ही पानेकी इच्छा करनी चाहिये। उस सनातन परमात्माका योगीलोग साक्षात्कार करते हैं ॥ २३ ॥

नास्यातिवादा हृदयं तापयन्ति
नानधीतं नाहुतमग्निहोत्रम् ।
मनो ब्राह्मी लघुतामादधीत
प्रज्ञां चास्मै नाम धीरा लभन्ते ।
योगिनस्तं प्रपश्यन्ति भगवन्तं सनातनम् ॥ २४ ॥

इस ब्रह्मवेत्ता पुरुषके हृदयको निन्दाके वाक्य संतप्त नहीं करते। 'मैंने स्वाध्याय नहीं किया, अग्निहोत्र नहीं किया' इत्यादि बातें भी उसके मनमें तुच्छ भाव नहीं उत्पन्न करतीं। ब्रह्मविद्या शीघ्र ही उसे वह स्थिरबुद्धि प्रदान करती है, जिसे धीर पुरुष ही प्राप्त करते हैं। उस सनातन परमात्माका योगीजन साक्षात्कार करते हैं ॥ २४ ॥

एवं यः सर्वभूतेषु आत्मानमनुपश्यति ।
अन्यत्रान्यत्र युक्तेषु किं स शोचेत् ततः परम् ॥ २५ ॥

इस प्रकार जो समस्त भूतोंमें परमात्माको निरन्तर देखता है, वह ऐसी दृष्टि प्राप्त होनेके अनन्तर अन्यान्य विषय-भोगोंमें आसक्त मनुष्योंके लिये क्या शोक करे ? ॥ २५ ॥

यथोदपाने महति सर्वतः सम्प्लुतोदके ।
एवं सर्वेषु वेदेषु आत्मानमनुजानतः ॥ २६ ॥

जैसे सब ओर जलसे परिपूर्ण बड़े जलाशयके प्राप्त होनेपर जलके लिये अन्यत्र जानेकी आवश्यकता नहीं होती, उसी प्रकार आत्मज्ञानीके लिये सम्पूर्ण वेदोंमें कुछ भी प्राप्त करने योग्य शेष नहीं रह जाता ॥ २६ ॥

अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो महात्मा
न दृश्यते सौ हृदि संनिविष्टः ।
अजश्चरो दिवारात्रमतन्द्रितश्च
स तं मत्वा कविरास्ते प्रसन्नः ॥ २७ ॥

यह अङ्गुष्ठमात्र अन्तर्यामी परमात्मा सबके हृदयके भीतर स्थित है, किंतु सबको दिखायी नहीं देता। वह अजन्मा, चराचरस्वरूप और दिन-रात सावधान रहनेवाला है। जो उसे जान लेता है, वह ज्ञानी परमानन्दमें निमग्न हो जाता है ॥

अहमेव स्मृतो माता पिता पुत्रोऽस्म्यहं पुनः ।
आत्माहमपि सर्वस्य यच्च नास्ति यदस्ति च ॥ २८ ॥

धृतराष्ट्र ! मैं ही सबकी माता और पिता माना गया हूँ, मैं ही पुत्र हूँ और सबका आत्मा भी मैं ही हूँ। जो है, वह भी और जो नहीं है, वह भी मैं ही हूँ ॥ २८ ॥

पितामहोऽस्मि स्थविरः पिता पुत्रश्च भारत ।
ममैव यूयमात्मस्था न मे यूयं न वो वयम् ॥ २९ ॥

भारत ! मैं ही तुम्हारा बूढ़ा पितामह, पिता और पुत्र भी हूँ। तुम सब लोग मेरी ही आत्मामें स्थित हो, फिर भी (वास्तवमें) न तुम हमारे हो और न हम तुम्हारे हैं ॥२९॥

आत्मैव स्थानं मम जन्म चात्मा
ओतप्रोतोऽहमजरप्रतिष्ठः ।
अजश्चरो दिवारात्रमतन्द्रितोऽहं
मां विज्ञाय कविरास्ते प्रसन्नः ॥ ३० ॥

आत्मा ही मेरा स्थान है और आत्मा ही मेरा जन्म (उद्गम) है। मैं सबमें ओतप्रोत और अपनी अजर (नित्य-नूतन) महिमामें स्थित हूँ। मैं अजन्मा, चराचरस्वरूप तथा दिन-रात सावधान रहनेवाला हूँ। मुझे जानकर ज्ञानी पुरुष परम प्रसन्न हो जाता है ॥ ३० ॥

अणोरणीयान् सुमनाः सर्वभूतेषु जाग्रति ।
पितरं सर्वभूतेषु पुष्करे निहितं विदुः ॥ ३१ ॥

परमात्मा सूक्ष्मसे भी सूक्ष्म तथा विशुद्ध मनवाला है। वही सब भूतोंमें अन्तर्यामीरूपसे प्रकाशित है। सम्पूर्ण प्राणियोंके हृदयकमलमें स्थित उस परमपिताको ज्ञानी पुरुष ही जानते हैं ॥ ३१ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि सनत्सुजातपर्वणि षट्चत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत सनत्सुजातपर्वमें छियालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ४६ ॥



द्रौपदीका श्रीकृष्णसे खुले केशोंकी बात याद रखनेका अनुरोध

(यानसंधिपर्व)

सप्तचत्वारिंशोऽध्यायः

पाण्डवोंके यहाँसे लौटे हुए संजयका कौरवसभामें आगमन

वैशम्पायन उवाच

एवं सनत्सुजातेन विदुरेण च धीमता।
सार्धं कथयतो राज्ञः सा व्यतीयाय शर्वरी॥ १॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! इस प्रकार महर्षि सनत्सुजात और बुद्धिमान् विदुरजीके साथ बातचीत करते हुए राजा धृतराष्ट्रकी सारी रात बीत गयी॥ १॥

तस्यां रजन्यां व्युष्टायां राजानः सर्व एव ते।
सभामाविविशुर्हृष्टाः सूतस्योपदिदृक्षया॥ २॥

वह रात बीतनेपर जब प्रभातकाल आया, तब सब राजालोग सूतपुत्र संजयको देखनेके लिये बड़े हर्षके साथ सभामें आये॥ २॥

शुश्रूषमाणा पार्थानां वाचो धर्मार्थसंहिताः।
धृतराष्ट्रमुखाः सर्वे ययू राजसभां शुभाम्॥ ३॥
सुधावदातां विस्तीर्णां कनकाजिरभूषिताम्।
चन्द्रप्रभां सुरुचिरां सिक्तां चन्दनवारिणा॥ ४॥

धृतराष्ट्र आदि समस्त कौरवोंने भी पाण्डवोंकी धर्मार्थयुक्त बातें सुननेकी इच्छासे उस सुन्दर एवं विशाल राजसभामें प्रवेश किया, जो चूनेसे पुती होनेके कारण अत्यन्त उज्ज्वल दिखायी देती थी। सुवर्णमय प्राङ्गण उसकी शोभा बढ़ा रहे थे। वह सभा चन्द्रमाकी श्वेत रश्मियोंके समान प्रकाशित हो रही थी। वह देखनेमें अत्यन्त मनोहर थी और उसके भीतर चन्दनमिश्रित जलसे छिड़काव किया गया था॥ ३-४॥

रुचिरैरासनैस्तीर्णा काञ्चनैर्दारवैरपि।
अश्मसारमयैर्दान्तैः स्वास्तीर्णैः सोत्तरच्छदैः॥ ५॥

उस राजसभामें सुवर्ण, काष्ठ, मणि तथा हाथीदाँतके बने हुए सुन्दर-सुन्दर आसन सुरुचिपूर्ण ढंगसे बिछे हुए थे और उनके ऊपर चादरें फैला दी गयी थीं॥ ५॥

भीष्मो द्रोणः कृपः शल्यः कृतवर्मा जयद्रथः।
अश्वत्थामा विकर्णश्च सोमदत्तश्च बाह्लिकः॥ ६॥
विदुरश्च महाप्राज्ञो युयुत्सुश्च महारथः।
सर्वे च सहिताः शूराः पार्थिवा भरतर्षभ॥ ७॥
धृतराष्ट्रं पुरस्कृत्य विविशुस्तां सभां शुभाम्।

भरतश्रेष्ठ! भीष्म, द्रोण, कृपाचार्य, शल्य, कृतवर्मा, जयद्रथ, अश्वत्थामा, विकर्ण, सोमदत्त, बाह्लिक, परम बुद्धिमान् विदुर, महारथी युयुत्सु तथा अन्य सभी शूरवीर नरेश धृतराष्ट्रको आगे करके उस सुन्दर सभामें एक साथ प्रविष्ट हुए॥ ६-७½॥

दुःशासनश्चित्रसेनः शकुनिश्चापि सौबलः॥ ८॥
दुर्मुखो दुःसहः कर्ण उलूकोऽथ विविंशतिः।
कुरुराजं पुरस्कृत्य दुर्योधनममर्षणम्॥ ९॥
विविशुस्तां सभां राजन् सुराः शक्रसदो यथा।

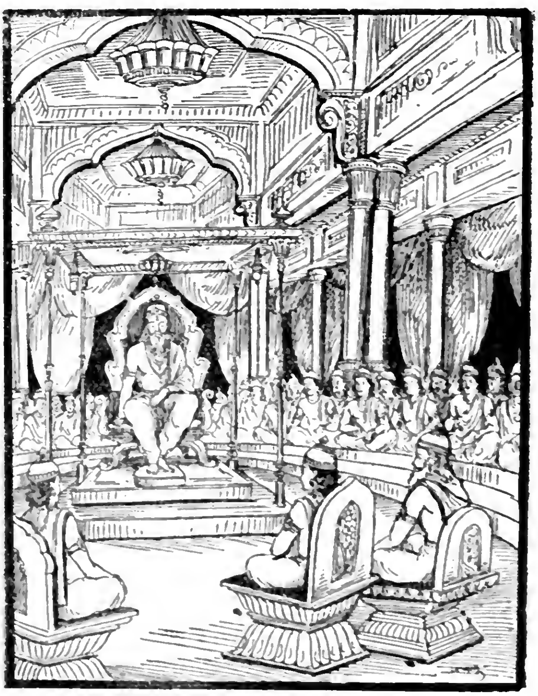
राजन्! दुःशासन, चित्रसेन, सुबलपुत्र शकुनि, दुर्मुख, दुःसह, कर्ण, उलूक और विविंशति—इन सबने अमर्षमें भरे हुए कुरुराज दुर्योधनको आगे करके उस राजसभामें ठीक वैसे ही प्रवेश किया, जैसे देवतालोग इन्द्रकी सभामें प्रवेश करते हैं॥ ८-९½॥

आविशद्भिस्तदा राजञ्शूरैः परिघबाहुभिः॥ १०॥
शुशुभे सा सभा राजन् सिंहैरिव गिरेर्गुहा।

जनमेजय! उस समय परिघके समान सुदृढ़ भुजाओंवाले उन शूरवीर नरेशोंके प्रवेश करनेसे वह सभा उसी प्रकार शोभा पाने लगी, जैसे सिंहोंके प्रवेश करनेसे पर्वतकी कन्दरा सुशोभित होती है॥ १०½॥

ते प्रविश्य महेष्वासाः सभां सर्वे महौजसः॥ ११॥
आसनानि विचित्राणि भेजिरे सूर्यवर्चसः।

महान् धनुष धारण करनेवाले तथा सूर्यके समान कान्तिमान् उन समस्त महातेजस्वी नरेशोंने सभामें प्रवेश करके वहाँ बिछे हुए विचित्र आसनोंको सुशोभित किया॥ ११½॥



आसनस्थेषु सर्वेषु तेषु राजसु भारत ॥ १२ ॥
द्वाःस्थो निवेदयामास सूतपुत्रमुपस्थितम् ।
अयं स रथ आयाति योऽयासीत् पाण्डवान् प्रति ॥ १३ ॥
दूतो नस्तूर्णमायातः सैन्धवैः साधुवाहिभिः ।

भारत ! जब वे सब राजा आकर यथायोग्य आसनोंपर बैठ गये, तब द्वारपालने सूचना दी कि संजय राजसभाके द्वारपर उपस्थित हैं । यह वही रथ आ रहा है, जो पाण्डवोंके पास भेजा गया था । रथको अच्छी तरह वहन करनेवाले सिन्धुदेशीय घोड़ोंसे जुते हुए इस रथपर हमारे दूत संजय शीघ्र आ पहुँचे हैं ॥ १२-१३½ ॥

उपेयाय स तु क्षिप्रं रथात् प्रस्कन्द्य कुण्डली ।
प्रविवेश सभां पूर्णां महीपालैर्महात्मभिः ॥ १४ ॥

द्वारपालके इतना कहते ही कानोंमें कुण्डल धारण किये संजय रथसे नीचे उतरकर राजसभाके निकट आया और महामना महीपालोंसे भरी हुई उस सभाके भीतर प्रविष्ट हुआ ॥ १४ ॥

संजय उवाच

प्राप्तोऽस्मि पाण्डवान् गत्वा तं विजानीत कौरवाः ।
यथावयः कुरून् सर्वान् प्रतिनन्दन्ति पाण्डवाः ॥ १५ ॥

संजयने कहा—कौरवो ! आपको विदित होना चाहिये कि मैं पाण्डवोंके यहाँ जाकर लौटा हूँ । पाण्डवलोग अवस्थाक्रमके अनुसार सभी कौरवोंका अभिनन्दन करते हैं ॥

अभिवादयन्ति वृद्धांश्च वयस्यांश्च वयस्यवत् ।
यूनश्चाभ्यवदन् पार्थाः प्रतिपूज्य यथावयः ॥ १६ ॥

उन्होंने बड़े-बूढ़ोंको प्रणाम कहलाया है । जो समवयस्क हैं, उनके साथ मित्रोचित बर्तावका संदेश दिया है तथा नवयुवकोंको भी उनकी अवस्थाके अनुसार सम्मान देकर उनसे प्रेमालापकी इच्छा प्रकट की है ॥ १६ ॥

यथाहं धृतराष्ट्रेण शिष्टः पूर्वमितो गतः ।
अब्रवं पाण्डवान् गत्वा तन्निबोधत पार्थिवाः ॥ १७ ॥
(अब्रूतां तत्र धर्मेण वासुदेवधनंजयौ ।)

पहले यहाँसे जाते समय महाराज धृतराष्ट्रने मुझे जैसा उपदेश दिया था, पाण्डवोंके पास जाकर मैंने वैसी ही बातें कही हैं । राजाओ ! अब भगवान् श्रीकृष्ण और अर्जुनने जो धर्मके अनुकूल उत्तर दिया है, उसे आपलोग ध्यान देकर सुनें ॥ १७ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि यानसंधिपर्वणि संजयप्रत्यागमने सप्तचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत यानसंधिपर्वमें संजयके लौटनेसे सम्बन्ध रखनेवाला सैंतालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ४७ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका ½ श्लोक मिलाकर कुल १७½ श्लोक हैं)

अष्टचत्वारिंशोऽध्यायः

संजयका कौरवसभामें अर्जुनका संदेश सुनाना

धृतराष्ट्र उवाच

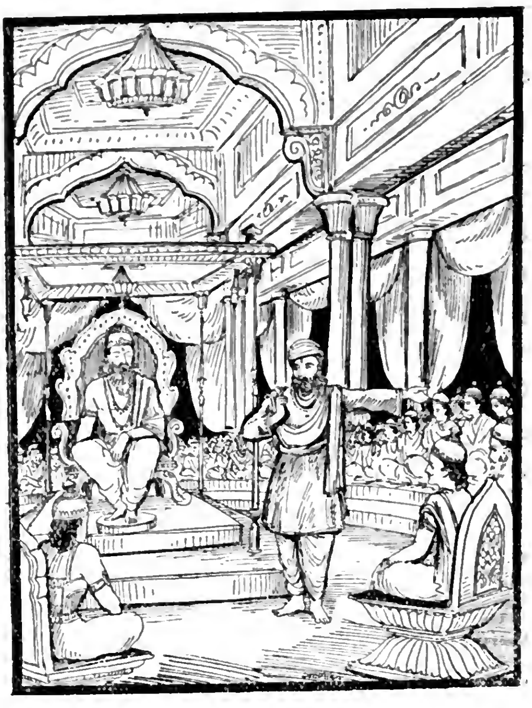
पृच्छामि त्वां संजय राजमध्ये
किमब्रवीद् वाक्यमदीनसत्त्वः ।
धनंजयस्तात युधां प्रणेता
दुरात्मनां जीवितच्छिन्महात्मा ॥ १ ॥

धृतराष्ट्रने कहा—संजय ! मैं इन राजाओंके बीच तुमसे यह पूछ रहा हूँ कि अनेक युद्धोंके संचालक तथा दुरात्माओंके जीवनका नाश करनेवाले उदारहृदय महात्मा अर्जुनने हमारे लिये कौन-सा संदेश भेजा है ? ॥ १ ॥

संजय उवाच

दुर्योधनो वाचमिमां शृणोतु
यदब्रवीदर्जुनो योत्स्यमानः ।
युधिष्ठिरस्यानुमते महात्मा
धनंजयः शृण्वतः केशवस्य ॥ २ ॥

संजय बोला—राजन् ! युधिष्ठिरकी आज्ञासे युद्धके लिये उद्यत हुए महात्मा अर्जुनने भगवान् श्रीकृष्णके सुनते-सुनते जो बात कही है, उसे दुर्योधन सुनें ॥ २ ॥



अन्वत्रस्तो बाहुवीर्यं विद्वान्
उपह्वरे वासुदेवस्य धीरः।
अवोचन्मां योत्स्यमानः किरीटी
मध्ये ब्रूया धार्तराष्ट्रं कुरूणाम्॥ ३ ॥
संशृण्वतस्तस्य दुर्भाषिणो वै
दुरात्मनः सूतपुत्रस्य सूत।
यो योद्धुमाशंसति मा सदैव
मन्दप्रज्ञः कालपक्वोऽतिमूढः॥ ४ ॥
ये वै राजानः पाण्डवायोधनाय
समानीताः शृण्वतां चापि तेषाम्।
यथा समग्रं वचनं मयोक्तं
सहामात्यं श्रावयेथा नृपं तत्॥ ५ ॥

अपने बाहुबलको अच्छी तरह जाननेवाले धीर-वीर किरीटधारी अर्जुनने भावी युद्धके लिये उद्यत हो भगवान् श्रीकृष्णके समीप मुझसे इस प्रकार कहा है—'संजय! जो कालके गालमें जानेवाला, मन्दबुद्धि एवं महामूर्ख सदा मेरे साथ युद्ध करनेके लिये डींग हाँकता रहता है, उस कटुभाषी दुरात्मा सूतपुत्र कर्णको सुनाकर तथा और भी जो-जो राजालोग पाण्डवोंके साथ युद्ध करनेके लिये बुलाये गये हैं, उन सबको सुनाते हुए तुम कौरवोंकी मण्डलीमें मेरेद्वारा कही हुई सारी बातें मन्त्रियोंसहित धृतराष्ट्रपुत्र राजा दुर्योधनसे इस प्रकार कहना, जिससे वह अच्छी तरह सुन ले'—॥ ३–५ ॥

यथा नूनं देवराजस्य देवाः
शुश्रूषन्ते वज्रहस्तस्य सर्वे।
तथाशृण्वन् पाण्डवाः सृंजयाश्च
किरीटिना वाचमुक्तां समर्थाम्॥ ६ ॥

जैसे सब देवता वज्रधारी देवराज इन्द्रकी बातें सुनना चाहते हैं, निश्चय ही उसी प्रकार समस्त सृंजय और पाण्डव अर्जुनकी मुझसे कही हुई ओजभरी बातें सुन रहे थे॥ ६॥

इत्यब्रवीदर्जुनो योत्स्यमानो
गाण्डीवधन्वा लोहितपद्मनेत्रः।
न चेद् राज्यं मुञ्चति धार्तराष्ट्रो
युधिष्ठिरस्याजमीढस्य राज्ञः॥ ७ ॥
अस्ति नूनं कर्म कृतं पुरस्ता-
दनिर्विष्टं पापकं धार्तराष्ट्रैः।

उस समय गाण्डीवधारी अर्जुन युद्धके लिये उत्सुक जान पड़ते थे। उनके कमलसदृश नेत्र लाल हो गये थे। उन्होंने इस प्रकार कहा—'यदि दुर्योधन अजमीढकुल-नन्दन महाराज युधिष्ठिरका राज्य नहीं छोड़ता है तो निश्चय ही धृतराष्ट्रके पुत्रोंका पूर्वजन्ममें किया हुआ कोई ऐसा पापकर्म प्रकट हुआ है, जिसका फल उन्हें भोगना है॥ ७½ ॥

येषां युद्धं भीमसेनार्जुनाभ्यां
तथाश्विभ्यां वासुदेवेन चैव॥ ८ ॥
शैनेयेन ध्रुवमात्तायुधेन
धृष्टद्युम्नेनाथ शिखण्डिना च।
युधिष्ठिरेणेन्द्रकल्पेन चैव
योऽपध्यानान्निर्दहेद् गां दिवं च॥ ९ ॥

'तभी तो उनका भीमसेन, अर्जुन, नकुल-सहदेव, भगवान् श्रीकृष्ण, अस्त्र-शस्त्रोंसे सुसज्जित सात्यकि, धृष्टद्युम्न, शिखण्डी तथा इन्द्रके समान तेजस्वी उन महाराज युधिष्ठिर-के साथ युद्ध होनेवाला है, जो अनिष्टचिन्तन करते ही पृथ्वी तथा स्वर्गलोकको भी भस्म कर सकते हैं॥ ८-९ ॥

तैश्चेद् योद्धुं मन्यते धार्तराष्ट्रो
निर्वृत्तोऽर्थः सकलः पाण्डवानाम्।
मा तत् कार्षीः पाण्डवस्यार्थहेतो-
रुपैहि युद्धं यदि मन्यसे त्वम्॥ १० ॥

'यदि दुर्योधन चाहता है कि इन सब वीरोंके साथ कौरवोंका युद्ध हो तो ठीक है, इससे पाण्डवोंका सारा मनोरथ सिद्ध हो जायगा। तुम केवल पाण्डवोंके लाभके लिये संधि कराने या आधा राज्य दिलानेकी चेष्टा न करना। उस दशामें यदि ठीक समझो तो उससे कह देना—'दुर्योधन! तुम युद्धभूमिमें ही उतरो'॥ १०॥

यां तां वने दुःखशय्यामवात्सीत्
प्रव्राजितः पाण्डवो धर्मचारी।
आप्नोतु तां दुःखतरामनर्था-
मन्त्यां शय्यां धार्तराष्ट्रः परासुः॥ ११ ॥

'धर्मात्मा पाण्डुनन्दन युधिष्ठिरने वनमें निर्वासित होकर जिस दुःखशय्यापर शयन किया है, दुर्योधन अपने प्राणों-का त्याग करके उससे भी अधिक दुःखदायिनी और अनर्थ-कारिणी मृत्युकी अन्तिम शय्याको ग्रहण करे॥ ११॥

ह्रिया ज्ञानेन तपसा दमेन
शौर्येणाथो धर्मगुप्त्या धनेन।
अन्यायवृत्तिः कुरुपाण्डवेया-
नध्यातिष्ठेद् धार्तराष्ट्रो दुरात्मा॥ १२ ॥

'अन्यायपूर्ण बर्ताव करनेवाले दुरात्मा दुर्योधनको उचित है कि वह लज्जा, ज्ञान, तपस्या, इन्द्रियसंयम, शौर्य, धर्मरक्षा आदि गुणों तथा धनके द्वारा कौरव-पाण्डवों-पर अधिकार प्राप्त करे (सद्गुणोंद्वारा सबके हृदयको जीते, अन्यायसे शासन करना असम्भव है)॥ १२॥

मायोपधः प्रणिपातार्जवाभ्यां
तपोदमाभ्यां धर्मगुप्त्या बलेन।
सत्यं ब्रुवन् प्रतिपन्नो नृपो न-
स्तितिक्षमाणः क्लिश्यमानोऽतिवेलम्॥ १३॥

'हमारे महाराज युधिष्ठिर नम्रता, सरलता, तप, इन्द्रिय-संयम, धर्मरक्षा और बल—इन सभी गुणोंसे सम्पन्न हैं। वे बहुत दिनोंसे अनेक प्रकारके क्लेश उठाते हुए भी सदा सत्य ही बोलते हैं तथा कौरवोंके कपटपूर्ण व्यवहारों तथा वचनोंको सहन करते रहते हैं ॥ १३ ॥

यदा ज्येष्ठः पाण्डवः संशितात्मा
क्रोधं यत्तं वर्षपूगान् सुघोरम्।
अवस्रष्टा कुरुपूद्वृत्तचेता-
स्तदा युद्धं धार्तराष्ट्रोऽन्वतप्स्यत् ॥ १४ ॥

'परंतु अपने मनको शुभ एवं संयत रखनेवाले ज्येष्ठ पाण्डव युधिष्ठिर जिस समय उत्तेजित हो अनेक वर्षोंसे दबे हुए अपने अत्यन्त भयंकर क्रोधको कौरवोंपर छोड़ेंगे, उस समय जो भयानक युद्ध होगा, उसे देखकर दुर्योधनको पछताना पड़ेगा ॥ १४ ॥

कृष्णवर्त्मेव ज्वलितः समिद्धो
यथा दहेत् कक्षमग्निर्निदाघे।
एवं दग्धा धार्तराष्ट्रस्य सेनां
युधिष्ठिरः क्रोधदीप्तोऽन्ववेक्ष्य ॥ १५ ॥

'जैसे ग्रीष्मऋतुमें प्रज्वलित अग्नि सब ओरसे धधक उठती और घास-फूस एवं जंगलोंको जलाकर भस्म कर देती है, उसी प्रकार क्रोधसे तमतमाये हुए युधिष्ठिर दुर्योधनकी सेनाको अपने दृष्टिपातमात्रसे दग्ध कर देंगे ॥ १५ ॥

यदा द्रष्टा भीमसेनं रथस्थं
गदाहस्तं क्रोधविषं वमन्तम्।
अमर्षणं पाण्डवं भीमवेगं
तदा युद्धं धार्तराष्ट्रोऽन्वतप्स्यत्॥ १६ ॥

'जिस समय दुर्योधन हाथमें गदा लिये रथपर बैठे हुए भयानक वेगवाले अमर्षशील पाण्डुनन्दन भीमसेनको क्रोध-रूप विष उगलते देखेगा, उस समय युद्धके परिणामको सोचकर उसे महान् पश्चात्ताप करना पड़ेगा ॥ १६ ॥

सेनाग्रगं दंशितं भीमसेनं
स्वालक्षणं वीरहणं परेषाम्।
घ्नन्तं चमूमन्तकसंनिकाशं
तदा स्मर्ता वचनस्यातिमानी ॥ १७ ॥

'जब भीमसेन कवच धारण करके शत्रुपक्षके वीरोंका नाश करते हुए अपने पक्षके लोगोंके लिये भी अलक्षित हो सेनाके आगे-आगे तीव्र वेगसे बढ़ेंगे और यमराजके समान विपक्षी सेनाका संहार करने लगेंगे, उस समय अत्यन्त अभिमानी दुर्योधनको मेरी ये बातें याद आयेंगी ॥ १७ ॥

यदा द्रष्टा भीमसेनेन नागान्
निपातितान् गिरिकूटप्रकाशान्।
कुम्भैरिवासृग्वमतो भिन्नकुम्भा-
स्तदा युद्धं धार्तराष्ट्रोऽन्वतप्स्यत् ॥ १८ ॥

'जब भीमसेन पर्वताकार प्रतीत होनेवाले बड़े-बड़े गज-राजोंको गदाके आघातसे उनका कुम्भस्थल विदीर्ण करके मार गिरायेंगे और वे मानो घड़ोंसे खून उँड़ेल रहे हों, इस प्रकार मस्तकसे रक्तकी धारा बहाने लगेंगे, उस समय दुर्योधन जब यह दृश्य देखेगा, तब उसे युद्ध छेड़नेके कारण बड़ा भारी पश्चात्ताप होगा ॥ १८ ॥

महासिंहो गाव इव प्रविश्य
गदापाणिर्धार्तराष्ट्रानुपेत्य ।
यदा भीमो भीमरूपो निहन्ता
तदा युद्धं धार्तराष्ट्रोऽन्वतप्स्यत्॥ १९ ॥

'जब भयंकर रूपधारी भीमसेन हाथमें गदा लिये तुम्हारी सेनामें घुसकर धृतराष्ट्रपुत्रोंके पास जाकर उनका उसी प्रकार संहार करने लगेंगे, जैसे महान् सिंह गौओंके झुंडमें घुसकर उन्हें दबोच लेता है, तब दुर्योधनको युद्धके लिये बड़ा पछतावा होगा ॥ १९ ॥

महाभये वीतभयः कृतास्त्रः
समागमे शत्रुबलावमर्दी।
सकृद् रथेनाप्रतिमान् रथौघान्
पदातिसंघान् गदयाभिनिघ्नन् ॥ २० ॥
शैक्येन नागांस्तरसा विगृह्णन्
यदा छेत्ता धार्तराष्ट्रस्य सैन्यम्।
छिन्दन् वनं परशुनेव शूर-
स्तदा युद्धं धार्तराष्ट्रोऽन्वतप्स्यत्॥ २१ ॥

'जो भारी-से-भारी भय आनेपर भी निर्भय रहते हैं, जिन्होंने सम्पूर्ण अस्त्र-शस्त्रोंकी शिक्षा प्राप्त की है तथा जो संग्रामभूमिमें शत्रुसेनाको रौंद डालते हैं, वे ही शूरवीर भीम-सेन जब एकमात्र रथपर आरूढ़ हो गदाके आघातसे असंख्य रथसमूहों तथा पैदल सैनिकोंको मौतके घाट उतारते और छींकोंके समान फंदोंमें बड़े-बड़े नागोंको फँसाकर मरे हुए बछड़ोंके समान उन्हें बलपूर्वक घसीटते हुए दुर्योधनकी सेनाको वैसे ही छिन्न-भिन्न करने लगेंगे, जैसे कोई फरसेसे जंगल काट रहा हो, उस समय धृतराष्ट्रपुत्र मन-ही-मन यह सोचकर पछतायेगा कि मैंने युद्ध छेड़कर बड़ी भारी भूल की है ॥ २०-२१ ॥

तृणप्रशयं ज्वलनेनेव दग्धं
ग्रामं यथा धार्तराष्ट्रान् समीक्ष्य।
पक्वं सस्यं वैद्युतेनेव दग्धं
परासिक्तं विपुलं स्वं बलौघम् ॥ २२ ॥

हतप्रवीरं विमुखं भयार्तं
पराङ्मुखं प्रायशोऽधृष्टयोधम्।
शस्त्रार्चिषा भीमसेनेन दग्धं
तदा युद्धं धार्तराष्ट्रोऽन्वतप्स्यत् ॥ २३ ॥

'जब दुर्योधन यह देखेगा कि जैसे घास-फूसके झोपड़ोंका गाँव आगसे जलकर खाक हो जाता है, उसी प्रकार धृतराष्ट्रके अन्य सभी पुत्र भीमसेनकी क्रोधाग्निसे दग्ध हो गये, मेरी विशाल वाहिनी बिजलीकी आगसे जली हुई पकी खेतीके समान नष्ट हो गयी, उसके मुख्य-मुख्य वीर मारे गये, सैनिकोंने पीठ दिखा दी, सभी भयसे पीड़ित हो रणभूमिसे भाग निकले, प्रायः समस्त योद्धा साहस अथवा धृष्टता खो बैठे तथा भीमसेनके अस्त्र-शस्त्रोंकी आगसे सब कुछ स्वाहा हो गया; उस समय उसे युद्धके लिये बड़ा पछतावा होगा ॥ २२-२३ ॥

उपासंगानाचरेद् दक्षिणेन
वराङ्गानां नकुलश्चित्रयोधी।
यदा रथाग्र्यो रथिनः प्रणेता
तदा युद्धं धार्तराष्ट्रोऽन्वतप्स्यत् ॥ २४ ॥

'रथियोंमें श्रेष्ठ और विचित्र रीतिसे युद्ध करनेवाले नकुल जब दाहिने हाथमें लिये हुए खड्गसे तुम्हारे सैनिकोंके मस्तक काट-काटकर धरतीपर उनके ढेर लगाने लगेंगे और रथी योद्धाओंको यमलोक भेजना प्रारम्भ करेंगे, उस समय धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधन युद्धका परिणाम सोचकर शोकसे संतप्त हो उठेगा ॥ २४ ॥

सुखोचितो दुःखशय्यां वनेषु
दीर्घं कालं नकुलो यामशेत।
आशीविषः क्रुद्ध इवोद्वमन् विषं
तदा युद्धं धार्तराष्ट्रोऽन्वतप्स्यत् ॥ २५ ॥

'सुख भोगनेके योग्य वीरवर नकुलने दीर्घकालतक वनोंमें रहकर जिस दुःख-शय्यापर शयन किया है, उसका स्मरण करके जब वह क्रोधमें भरे हुए विषैले सर्पकी भाँति विष उगलने लगेगा, उस समय धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधनको युद्ध छेड़नेके कारण पछताना पड़ेगा ॥ २५ ॥

त्यक्तात्मानः पार्थिवा योधनाय
समादिष्टा धर्मराजेन सूत।
रथैः शुभ्रैः सैन्यमभिद्रवन्तो
दृष्ट्वा पश्चात् तप्स्यते धार्तराष्ट्रः ॥ २६ ॥

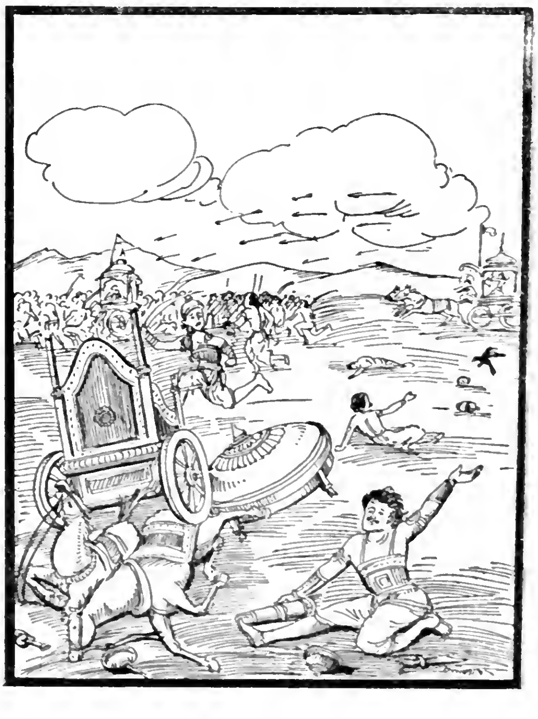
'संजय ! धर्मराज युधिष्ठिरके द्वारा युद्धके लिये आदेश पाकर उनके लिये प्राण देनेको उद्यत रहनेवाले भूमण्डलके नरेश जब तेजस्वी रथोंपर आरूढ़ होकर कौरव-सेनापर आक्रमण करेंगे, उस समय उन्हें देखकर दुर्योधनको युद्धके लिये अत्यन्त पश्चात्ताप करना पड़ेगा ॥ २६ ॥

शिशून् कृतास्त्रानशिशुप्रकाशान्
यदा द्रष्टा कौरवः पञ्च शूरान्।
त्यक्त्वा प्राणान् कौरवानाद्रवन्त-
स्तदा युद्धं धार्तराष्ट्रोऽन्वतप्स्यत् ॥ २७ ॥

'जो अवस्थामें बालक होते हुए भी अस्त्र-शस्त्रोंकी पूर्ण शिक्षा पाकर युद्धमें नवयुवकोंके समान पराक्रम प्रकाशित करते हैं, द्रौपदीके वे पाँचों शूरवीर पुत्र प्राणोंका मोह छोड़कर जब कौरव-सेनापर टूट पड़ेंगे और कुरुराज दुर्योधन जब उन्हें उस अवस्थामें देखेगा, तब उसे युद्ध छेड़नेकी भूलके कारण भारी पश्चात्ताप होगा ॥ २७ ॥

यदा गतोद्वाहमकूजनाक्षं
सुवर्णतारं रथमुत्तमाश्वैः।
दान्तैर्युक्तं सहदेवोऽधिरूढः
शिरांसि राज्ञां क्षेप्स्यते मार्गणौघैः ॥ २८ ॥
महाभये सम्प्रवृत्ते रथस्थं
विवर्तमानं समरे कृतास्त्रम्।
सर्वा दिशः सम्पतन्तं समीक्ष्य
तदा युद्धं धार्तराष्ट्रोऽन्वतप्स्यत् ॥ २९ ॥

'जब सहदेव उत्तम जातिके सुशिक्षित घोड़ोंसे जुते हुए अपनी इच्छाके अनुकूल चलनेवाले तथा पहियोंकी धुरीसे तनिक भी आवाज न करनेवाले रथपर, जो अलातचक्रकी भाँति घूमनेके कारण सोनेके गोलाकार तारके समान प्रतीत होता है, आरूढ़ हो अपने बाणसमूहोंद्वारा विपक्षी राजाओंके मस्तक काट-काटकर गिराने लगेंगे और इस प्रकार महान्



भयका वातावरण छा जानेपर रथपर बैठे हुए अस्त्रवेत्ता सहदेव समरभूमिमें डटे रहकर जब सभी दिशाओंमें शत्रुओंपर आक्रमण करेंगे, उस दशामें उन्हें देखकर धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधनके मनमें युद्धका परिणाम सोचकर महान् पश्चात्ताप होगा ॥ २८-२९ ॥

ह्रीनिषेवो निपुणः सत्यवादी
महाबलः सर्वधर्मोपपन्नः।
गान्धारिमार्च्छंस्तुमुले क्षिप्रकारी
क्षेप्ता जनान् सहदेवस्तरस्वी ॥ ३० ॥
यदा द्रष्टा द्रौपदेयान् महेषून्
शूरान् कृतास्त्रान् रथयुद्धकोविदान्।
आशीविषान् घोरविषानिवायत-
स्तदा युद्धं धार्तराष्ट्रोऽन्वतप्स्यत् ॥ ३१ ॥

'लज्जाशील, युद्धकुशल, सत्यवादी, महाबली, सर्वधर्मसम्पन्न, वेगवान् तथा शीघ्रतापूर्वक बाण चलानेवाले सहदेव जब घमासान युद्धमें शकुनिपर आक्रमण करके शत्रुओंके सैनिकोंका संहार करने लगेंगे तथा जब दुर्योधन महाधनुर्धर शूरवीर अस्त्रविद्यामें निपुण तथा रथयुद्धकी कलामें कुशल द्रौपदीके पाँचों पुत्रोंको भयंकर विषवाले विषधर सर्पोंकी भाँति आक्रमण करते देखेगा, तब उसे युद्ध छेड़नेकी भूलपर भारी पश्चात्ताप होगा ॥ ३०-३१ ॥

यदाभिमन्युः परवीरघाती
शरैः परान् मेघ इवाभिवर्षन्।
विगाहिता कृष्णसमः कृतास्त्र-
स्तदा युद्धं धार्तराष्ट्रोऽन्वतप्स्यत् ॥ ३२ ॥

'अभिमन्यु साक्षात् भगवान् श्रीकृष्णके समान पराक्रमी तथा अस्त्रविद्यामें निपुण है, वह शत्रुपक्षके वीरोंका संहार करनेमें समर्थ है। जिस समय वह मेघके समान बाणोंकी बौछार करता हुआ शत्रुओंकी सेनामें प्रवेश करेगा, उस समय धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधन युद्धके लिये मन-ही-मन बहुत ही संतप्त होगा ॥ ३२ ॥

यदा द्रष्टा बालमबालवीर्यं
द्विषच्चमूं मृत्युमिवोत्पतन्तम्।
सौभद्रमिन्द्रप्रतिमं कृतास्त्रं
तदा युद्धं धार्तराष्ट्रोऽन्वतप्स्यत् ॥ ३३ ॥

'सुभद्राकुमार अवस्थामें यद्यपि बालक है, तथापि उसका पराक्रम युवकोंके समान है। वह इन्द्रके समान शक्तिशाली तथा अस्त्रविद्यामें पारङ्गत है। जिस समय वह शत्रुसेनापर विकराल कालके समान आक्रमण करेगा, उस समय उसे देखकर दुर्योधनको युद्ध छेड़नेके कारण बड़ा पश्चात्ताप होगा ॥ ३३ ॥

प्रभद्रकाः शीघ्रतरा युवानो
विशारदाः सिंहसमानवीर्याः।
यदा क्षेप्तारो धार्तराष्ट्रान् ससैन्यां-
स्तदा युद्धं धार्तराष्ट्रोऽन्वतप्स्यत् ॥ ३४ ॥

'अस्त्र-संचालनमें शीघ्रता दिखानेवाले, युद्धविशारद तथा सिंहके समान पराक्रमी प्रभद्रकदेशीय नवयुवक जब सेनासहित धृतराष्ट्रपुत्रोंको मार भगायेंगे, उस समय दुर्योधनको यह सोचकर बड़ा पश्चात्ताप होगा कि मैंने क्यों युद्ध छेड़ा? ॥ ३४ ॥

वृद्धौ विराटद्रुपदौ महारथौ
पृथक् चमूभ्यामभिवर्तमानौ।
यदा द्रष्टारौ धार्तराष्ट्रान् ससैन्यां-
स्तदा युद्धं धार्तराष्ट्रोऽन्वतप्स्यत् ॥ ३५ ॥

'जिस समय वृद्ध महारथी राजा विराट और द्रुपद अपनी पृथक्-पृथक् सेनाओंके साथ आक्रमण करके सैनिकोंसहित धृतराष्ट्रपुत्रोंपर दृष्टि डालेंगे, उस समय दुर्योधनको युद्धका परिणाम सोचकर महान् पश्चात्ताप करना पड़ेगा ॥ ३५ ॥

यदा कृतास्त्रो द्रुपदः प्रचिन्वन्
शिरांसि यूनां समरे रथस्थः।
क्रुद्धः शरैश्छेत्स्यति चापमुक्तै-
स्तदा युद्धं धार्तराष्ट्रोऽन्वतप्स्यत् ॥ ३६ ॥

'जब अस्त्रविद्यामें निपुण राजा द्रुपद कुपित हो रथपर बैठकर समरभूमिमें अपने धनुषसे छोड़े हुए बाणोंद्वारा विपक्षी युवकोंके मस्तकोंको चुन-चुनकर काटने लगेंगे, उस समय दुर्योधनको इस युद्धके कारण भारी पछतावा होगा ॥ ३६ ॥

यदा विराटः परवीरघाती
रणान्तरे शत्रुचमूं प्रवेष्टा।
मत्स्यैः सार्धमनृशंसरूपै-
स्तदा युद्धं धार्तराष्ट्रोऽन्वतप्स्यत् ॥ ३७ ॥

'जब शत्रुवीरोंका संहार करनेवाले राजा विराट सौम्य स्वरूपवाले मत्स्यदेशीय योद्धाओंको साथ लेकर रणभूमिमें शत्रुसेनाके भीतर प्रवेश करेंगे, उस समय दुर्योधन युद्ध छेड़नेका परिणाम सोचकर शोकसे संतप्त हो उठेगा ॥ ३७ ॥

ज्येष्ठं मात्स्यमनृशंसार्यरूपं
विराटपुत्रं रथिनं पुरस्तात्।
यदा द्रष्टा दंशितं पाण्डवार्थे
तदा युद्धं धार्तराष्ट्रोऽन्वतप्स्यत् ॥ ३८ ॥

'सौम्य तथा श्रेष्ठ स्वरूपवाले राजा विराटके ज्येष्ठ पुत्र मत्स्यदेशीय महारथी श्वेतको जब दुर्योधन पाण्डवोंके हितके लिये कवच धारण किये देखेगा, तब उसे युद्धका परिणाम सोचकर मन-ही-मन बड़ा कष्ट होगा ॥ ३८ ॥

रणे हते कौरवाणां प्रवीरे
शिखण्डिना सत्तमे शान्तनूजे।
न जातु नः शत्रवो धारयेयु-
रसंशयं सत्यमेतद् ब्रवीमि ॥ ३९ ॥

'कौरववंशके प्रमुख वीर शान्तनुनन्दन साधुशिरोमणि भीष्मजी जब युद्धमें शिखण्डीके हाथसे मार दिये जायँगे, उस समय हमारे शत्रु कौरव कभी हमलोगोंका वेग नहीं सह सकेंगे, यह मैं सत्य कहता हूँ, इसमें तनिक भी संशय नहीं है ॥ ३९ ॥

यदा शिखण्डी रथिनः प्रचिन्वन्
भीष्मं रथेनाभियाता वरूथी।
दिव्यैर्हयैरवमृद्नन् रथौघां-
स्तदा युद्धं धार्तराष्ट्रोऽन्वतप्स्यत् ॥ ४० ॥

'जब शिखण्डी अपने रथकी रक्षाके साधनोंसे सम्पन्न हो रथियोंको चुन-चुनकर मारता तथा दिव्य अश्वोंद्वारा रथसमूहोंको रौंदता हुआ रथारूढ़ हो भीष्मपर आक्रमण करेगा, उस समय दुर्योधनको युद्ध छिड़ जानेके कारण बड़ा पश्चात्ताप होगा ॥ ४० ॥

यदा द्रष्टा सृंजयानामनीके
धृष्टद्युम्नं प्रमुखे रोचमानम्।
अस्त्रं यस्मै गुह्यमुवाच धीमान्
द्रोणस्तदा तप्स्यति धार्तराष्ट्रः ॥ ४१ ॥

'जिसे परम बुद्धिमान् आचार्य द्रोणने अस्त्रविद्याके गोपनीय रहस्यकी भी शिक्षा दी है, वह धृष्टद्युम्न जब सृंजयवंशी वीरोंकी सेनाके अग्रभागमें प्रकाशित होगा और उसे उस दशामें दुर्योधन देखेगा, तब वह अत्यन्त संतप्त हो उठेगा ॥ ४१ ॥

यदा स सेनापतिरप्रमेयः
परामृद्नन्निषुभिर्धार्तराष्ट्रान्।
द्रोणं रणे शत्रुसहोऽभियाता
तदा युद्धं धार्तराष्ट्रोऽन्वतप्स्यत् ॥ ४२ ॥

'जब शत्रुओंका सामना करनेमें समर्थ अपरिमित शक्तिशाली सेनापति धृष्टद्युम्न अपने बाणोंद्वारा धृतराष्ट्रपुत्रोंको कुचलता हुआ आचार्य द्रोणपर आक्रमण करेगा, उस समय युद्धका परिणाम सोचकर दुर्योधन बहुत पछतायेगा ॥ ४२ ॥

ह्रीमान् मनीषी बलवान् मनस्वी
स लक्ष्मीवान् सोमकानां प्रबर्हः।
न जातु तं शत्रवोऽन्ये सहेरन्
येषां स स्यादग्रणीर्वृष्णिसिंहः ॥ ४३ ॥

'सोमकवंशका वह प्रमुख वीर धृष्टद्युम्न लज्जाशील, बलवान्, बुद्धिमान्, मनस्वी तथा वीरोचित शोभासे सम्पन्न है। इसी प्रकार वृष्णिवंशमें सिंहके समान पराक्रमी वीरवर सात्यकि जिनके अगुआ हैं, उनके वेगको दूसरे शत्रु कदापि नहीं सह सकते ॥ ४३ ॥

इदं च ब्रूया मा वृणीष्वेति लोके
युद्धेऽद्वितीयं सचिवं रथस्थम्।
शिनेर्नप्तारं प्रवृणीम सात्यकिं
महाबलं वीतभयं कृतास्त्रम् ॥ ४४ ॥

'तुम दुर्योधनसे यह भी कह देना कि अब संसारमें जीवित रहकर तुम राज्य भोगनेकी इच्छा न करो। हमने युद्धके लिये अद्वितीय वीर, महान् बलवान्, निर्भय तथा अस्त्रविद्यामें निपुण शिनिपौत्र रथारूढ़ सात्यकिको अपना सहायक चुन लिया है ॥ ४४ ॥

महोरस्को दीर्घबाहुः प्रमाथी
युद्धेऽद्वितीयः परमास्त्रवेदी।
शिनेर्नप्ता तालमात्रायुधोऽयं
महारथो वीतभयः कृतास्त्रः ॥ ४५ ॥

'शिनिके पौत्र महारथी सात्यकि चार हाथ लंबा धनुष धारण करते हैं। उनकी छाती चौड़ी और भुजाएँ बड़ी हैं। वे अद्वितीय वीर हैं और युद्धमें शत्रुओंको मथ डालते हैं। उन्हें उत्तम अस्त्रोंका ज्ञान है। वे निर्भय तथा अस्त्रविद्याके पारङ्गत विद्वान् हैं ॥ ४५ ॥

यदा शिनीनामधिपो मयोक्तः
शरैः परान् मेघ इव प्रवर्षन्।
प्रच्छादयिष्यत्यरिहा योधमुख्यां-
स्तदा युद्धं धार्तराष्ट्रोऽन्वतप्स्यत् ॥ ४६ ॥

'जब मेरे कहनेसे शिनिप्रवर शत्रुमर्दन सात्यकि शत्रुओंपर मेघकी भाँति बाणोंकी झड़ी लगाते हुए मुख्य-मुख्य योद्धाओंको आच्छादित कर देंगे, उस समय दुर्योधन युद्धका परिणाम सोचकर बहुत पछतायेगा ॥ ४६ ॥

यदा धृतिं कुरुते योत्स्यमानः
स दीर्घबाहुर्दृढधन्वा महात्मा।
सिंहस्येव गन्धमाघ्राय गावः
संवेष्टन्ते शत्रवोऽस्माद् रणाग्रे ॥ ४७ ॥

सुदृढ़ धनुष धारण करनेवाले दीर्घबाहु महामना सात्यकि जब युद्धके लिये उत्सुक हो समरभूमिमें डट जाते हैं, उस समय जैसे सिंहकी गन्ध पाकर गौएँ इधर-उधर भगने लगती हैं, उसी प्रकार शत्रु युद्धके मुहानेपर इनके पास आकर तुरंत भाग खड़े होते हैं ॥ ४७ ॥

स दीर्घबाहुर्दृढधन्वा महात्मा
भिन्द्याद् गिरीन् संहरेत् सर्वलोकान्।
अस्त्रे कृती निपुणः क्षिप्रहस्तो
दिवि स्थितः सूर्य इवाभिभाति ॥ ४८ ॥

'विशालबाहु, दृढ़ धनुर्धर, युद्धकुशल और हाथोंकी फुर्ती दिखानेवाले अस्त्रवेत्ता सात्यकि पर्वतोंको विदीर्ण कर सकते हैं और सम्पूर्ण लोकोंका संहार करनेमें समर्थ हैं। वे आकाशमें विद्यमान सूर्यदेवकी भाँति प्रकाशित होते हैं ॥४८॥

चित्रः सूक्ष्मः सुकृतो यादवस्य
अस्त्रे योगो वृष्णिसिंहस्य भूयान्।
यथाविधं योगमाहुः प्रशस्तं
सर्वैर्गुणैः सात्यकिस्तैरुपेतः ॥ ४९॥

'युद्धनिपुण वीर पुरुष जैसे-जैसे अस्त्रोंके उपलब्धिको प्रशंसाके योग्य मानते हैं, उन सबसे तथा समस्त वीरोचित गुणोंसे वृष्णिसिंह सात्यकि सम्पन्न हैं। उन यदुकुलतिलकको बहुतसे उत्तम अस्त्रोंका ज्ञान प्राप्त है। उनका वह अस्त्र-योग विचित्र, सूक्ष्म और भलीभाँति अभ्यासमें लाया हुआ है ॥ ४९ ॥

हिरण्मयं श्वेतहयैश्चतुर्भि-
र्यदा युक्तं स्यन्दनं माधवस्य।
द्रष्टा युद्धे सात्यकेर्धार्तराष्ट्र-
स्तदा तप्स्यत्यकृतात्मा स मन्दः॥ ५० ॥

'जब युद्धमें मधुवंशी सात्यकिके चार श्वेत घोड़ोंसे जुते हुए सुवर्णमय रथको पापात्मा मन्दबुद्धि दुर्योधन देखेगा, तब उसे अवश्य संताप होगा ॥ ५० ॥

यदा रथं हेममणिप्रकाशं
श्वेताश्वयुक्तं वानरकेतुमुग्रम्।
द्रष्टा ममाप्यास्थितं केशवेन
तदा तप्स्यत्यकृतात्मा स मन्दः॥५१ ॥

'जब सुवर्ण और मणियोंसे प्रकाशित होनेवाले मेरे भयंकर रथको जिसमें चार श्वेत अश्व जुते होंगे, जिसपर वानरध्वजा फहरा रही होगी तथा साक्षात् भगवान् श्रीकृष्ण जिसपर बैठकर सारथिका कार्य सँभालते होंगे, अकृतात्मा मन्दबुद्धि दुर्योधन देखेगा, तब मन-ही-मन संतप्त हो उठेगा ॥ ५१ ॥

यदा मौर्व्यास्तलनिष्पेषमुग्रं
महाशब्दं वज्रनिष्पेषतुल्यम्।
विधूयमानस्य महारणे मया
स गाण्डिवस्य श्रोष्यति मन्दबुद्धिः॥५२॥
तदा मूढो धृतराष्ट्रस्य पुत्र-
स्तप्ता युद्धे दुर्मतिर्दुःसहायः।
दृष्ट्वा सैन्यं बाणवर्षान्धकारे
प्रभज्यन्तं गोकुलवद् रणाग्रे ॥ ५३ ॥

'महान् संग्रामके समय जब मैं गाण्डीव धनुषकी डोरी खींचूँगा, उस समय मेरे हाथोंकी रगड़से वज्रपातके समान अत्यन्त भयंकर आवाज होगी, मन्दबुद्धि दुर्योधन जब गाण्डीवकी उस उग्र टंकारको सुनेगा तथा रणस्थलीके अग्रभागमें मेरी बाणवर्षासे फैले हुए अन्धकारमें इधर-उधर भागती हुई गौओंकी भाँति अपनी सेनाको युद्धसे पलायन करती देखेगा, तब दुष्ट सहायकोंसे युक्त उस दुर्बुद्धि एवं मूढ़ धृतराष्ट्रपुत्रके मनमें बड़ा संताप होगा ॥ ५२-५३ ॥

बलाहकादुच्चरतः सुभीमान्
विद्युत्स्फुलिङ्गानिव घोररूपान्।
सहस्रघ्नान् द्विषतां सङ्गरेषु
अस्थिच्छिदो मर्मभिदः सुपुङ्खान्॥५४॥
यदा द्रष्टा ज्यामुखाद् बाणसंघान्
गाण्डीवमुक्तानापततः शिताग्रान्।
हयान् गजान् वर्मिणश्चाददानां-
स्तदा युद्धं धार्तराष्ट्रोऽन्वतप्स्यत् ॥५५॥

'मेरे गाण्डीव धनुषकी प्रत्यञ्चासे छोड़े हुए तीखी धारवाले सुन्दर पंखोंसे युक्त भयंकर बाणसमूह मेघसे निकली हुई अत्यन्त भयानक विद्युत्की चिनगारियोंके समान जब युद्धभूमिमें शत्रुओंपर पड़ेंगे और उनकी हड्डियोंको काटते तथा मर्मस्थानोंको विदीर्ण करते हुए सहस्र-सहस्र सैनिकोंको मौतके घाट उतारने लगेंगे, साथ ही कितने ही घोड़ों, हाथियों तथा कवचधारी योद्धाओंके प्राण लेना प्रारम्भ करेंगे, उस समय जब धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधन यह सब देखेगा, तब युद्ध छेड़नेकी भूलके कारण वह बहुत पछतायेगा ॥ ५४-५५ ॥

यदा मन्दः परबाणान् विमुक्तान्
ममेषुभिर्ह्रियमाणान् प्रतीपम्।
तिर्यग्विध्याच्छिद्यमानान् पृषत्कै-
स्तदा युद्धं धार्तराष्ट्रोऽन्वतप्स्यत्॥५६॥

'युद्धमें दूसरे योद्धा जो बाण चलायेंगे, उन्हें मेरे बाण टक्कर लेकर पीछे लौटा देंगे। साथ ही मेरे दूसरे बाण शत्रुओंके शरसमूहको तिर्यग्भावसे विद्ध करके टुकड़े-टुकड़े कर डालेंगे। जब मन्दबुद्धि दुर्योधन यह सब देखेगा, तब उसे युद्ध छेड़नेके कारण बड़ा पश्चात्ताप होगा ॥ ५६ ॥

यदा विपाठा मद्भुजविप्रमुक्ता
द्विजाः फलानीव महीरुहाग्रात्।
प्रचेतार उत्तमाङ्गानि यूनां
तदा युद्धं धार्तराष्ट्रोऽन्वतप्स्यत् ॥५७॥

'जब मेरे बाहुबलसे छूटे हुए विपाठ नामक बाण युवक योद्धाओंके मस्तकोंको उसी प्रकार काट-काटकर ढेर लगाने लगेंगे, जैसे पक्षी वृक्षोंके अग्रभागसे फल गिराकर उनके ढेर लगा देते हैं, उस समय यह सब देखकर दुर्योधनको बड़ा पश्चात्ताप होगा ॥ ५७ ॥

यदा द्रष्टा पततः स्यन्दनेभ्यो
महागजेभ्योऽश्वगतान् सुयोधनान्।
शरैर्हतान् पातितांश्चैव रङ्गे
तदा युद्धं धार्तराष्ट्रोऽन्वतप्स्यत्॥५८॥

'जब दुर्योधन देखेगा कि उसके रथोंसे, बड़े-बड़े गजोंसे और घोड़ोंकी पीठपरसे भी असंख्य योद्धा मेरे बाणोंद्वारा मारे जाकर समराङ्गणमें गिरते चले जा रहे हैं, तब उसे युद्धके लिये भारी पछतावा होगा ॥ ५८ ॥

असम्प्राप्तानस्त्रपथं परस्य
तदा द्रष्टा नश्यतो धार्तराष्ट्रान्।
अकुर्वतः कर्म युद्धे समन्तात्
तदा युद्धं धार्तराष्ट्रोऽन्वतप्स्यत् ॥५९॥

दुर्योधनको जब यह दिखायी देगा कि उसके दूसरे भाई शत्रुओंकी बाणवर्षाके निकट न जाकर उसे दूरसे देखकर ही अदृश्य हो रहे हैं, युद्धमें कोई पराक्रम नहीं कर पा रहे हैं; तब वह लड़ाई छेड़नेके कारण मन-ही-मन बहुत पछतायेगा ॥ ५९ ॥

पदातिसंघान् रथसंघान् समन्ताद्
व्यात्ताननः काल इवाततेषुः ।
प्रणोत्स्यामि ज्वलितैर्बाणवर्षैः
शत्रूंस्तदा तप्स्यति मन्दबुद्धिः ॥ ६० ॥

'जब मैं सायकोंकी अविच्छिन्न वर्षा करते हुए मुख फैलाये खड़े हुए कालकी भाँति अपने प्रज्वलित बाणोंकी बौछारोंसे शत्रुपक्षके झुंडके झुंड पैदलों तथा रथियोंके समूहोंको छिन्न-भिन्न करने लगूँगा, उस समय मन्दबुद्धि दुर्योधनको बड़ा संताप होगा ॥ ६० ॥

सर्वा दिशः सम्पतता रथेन
रजोध्वस्तं गाण्डिवेन प्रकृत्तम् ।
यदा द्रष्टा स्वबलं सम्प्रमूढं
तदा पश्चात् तप्स्यति मन्दबुद्धिः ॥ ६१॥

'मन्दबुद्धि धृतराष्ट्रपुत्र जब यह देखेगा कि सम्पूर्ण दिशाओंमें दौड़नेवाले मेरे रथके द्वारा उड़ायी हुई धूलिसे आच्छादित हो उसकी सारी सेना धराशायी हो रही है और मेरे गाण्डीव धनुषसे छूटे हुए बाणोंद्वारा उसके समस्त सैनिक छिन्न-भिन्न होते चले जा रहे हैं, तब उसे बड़ा पछतावा होगा ॥ ६१ ॥

कान्दिग्भूतं छिन्नगात्रं विसंज्ञं
दुर्योधनो द्रक्ष्यति सर्वसैन्यम् ।
हताश्ववीराग्र्यनरेन्द्रनागं
पिपासितं श्रान्तपत्रं भयार्तम् ॥ ६२ ॥
आर्तस्वरं हन्यमानं हतं च
विकीर्णकेशास्थिकपालसंघम् ।
प्रजापतेः कर्म यथार्थनिश्चितं
तदा दृष्ट्वा तप्स्यति मन्दबुद्धिः ॥ ६३ ॥

'दुर्योधन अपनी आँखों यह देखेगा कि उसकी सारी सेना (भयसे भागने लगी है और उस) को यह भी नहीं सूझता है कि किस दिशाकी ओर जाऊँ ? कितने ही योद्धाओंके अङ्ग-प्रत्यङ्ग छिन्न-भिन्न हो गये हैं । समस्त सैनिक अचेत हो रहे हैं । हाथी, घोड़े तथा वीराग्रगण्य नरेश मार डाले गये हैं । सारे वाहन थक गये हैं और सभी योद्धा प्यास तथा भयसे पीड़ित हो रहे हैं । बहुतेरे सैनिक आर्त स्वरसे रो रहे हैं, कितने ही मारे गये और मारे जा रहे हैं । बहुतोंके केश, अस्थि तथा कपालसमूह सब ओर बिखरे पड़े हैं । मानो विधाताका यथार्थ निश्चित विधान हो, इस प्रकार यह सब कुछ होकर ही रहेगा । यह सब देखकर उस समय मन्दबुद्धि दुर्योधनके मनमें बड़ा पश्चात्ताप होगा ॥ ६२-६३ ॥

यदा रथे गाण्डिवं वासुदेवं
दिव्यं शङ्खं पाञ्चजन्यं हयांश्च ।
तूणावक्षय्यौ देवदत्तं च मां च
द्रष्टा युद्धे धार्तराष्ट्रोऽन्वतप्स्यत् ॥६४॥

'जब धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधन रथपर मेरे गाण्डीव धनुषको, सारथि भगवान् श्रीकृष्णको, उनके दिव्य पाञ्चजन्य शङ्खको, रथमें जुते हुए दिव्य घोड़ोंको, बाणोंसे भरे हुए दो अक्षय तूणीरोंको, मेरे देवदत्त नामक शंखको और मुझको भी देखेगा, उस समय युद्धका परिणाम सोचकर उसे बड़ा संताप होगा ॥ ६४ ॥

उद्वर्तयन् दस्युसङ्घान् समेतान्
प्रवर्तयन् युगमन्यद् युगान्ते ।
यदा धक्ष्याम्यग्निवत् कौरवेयां-
स्तदा तप्ता धृतराष्ट्रः सपुत्रः ॥ ६५ ॥

'जिस समय युद्धके लिये एकत्र हुए इन डाकुओंके दलोंका संहार करके प्रलयकालके पश्चात् युगान्तर उपस्थित करता हुआ मैं अग्निके समान प्रज्वलित होकर कौरवोंको भस्म करने लगूँगा, उस समय पुत्रोंसहित महाराज धृतराष्ट्रको बड़ा संताप होगा ॥ ६५ ॥

सभ्राता वै सहसैन्यः सभृत्यो
भ्रष्टैश्वर्यः क्रोधवशोऽल्पचेताः ।
दर्पस्यान्ते निहतो वेपमानः
पश्चान्मन्दस्तप्स्यति धार्तराष्ट्रः ॥ ६६ ॥

'सदा क्रोधके वशमें रहनेवाला अल्पबुद्धि मूढ़ दुर्योधन जब भाई, भृत्यगण तथा सेनाओंसहित ऐश्वर्यसे भ्रष्ट एवं आहत होकर काँपने लगेगा, उस समय सारा घमंड चूर-चूर हो जानेपर उसे (अपने कुकृत्योंके लिये) बड़ा पश्चात्ताप होगा ॥ ६६ ॥

पूर्वाह्णे मां कृतजप्यं कदाचिद्
विप्रः प्रोवाचोदकान्ते मनोज्ञम् ।

कर्तव्यं ते दुष्करं कर्म पार्थ
योद्धव्यं ते शत्रुभिः सव्यसाचिन् ॥६७॥
इन्द्रो वा ते हरिमान् वज्रहस्तः
पुरस्ताद् यातु समरेऽरीन् विनिघ्नन्।
सुग्रीवयुक्तेन रथेन वा ते
पश्चात् कृष्णो रक्षतु वासुदेवः ॥ ६८ ॥

'एक दिनकी बात है, मैं पूर्वाह्णकालमें संध्या-वन्दन एवं गायत्रीजप करके आचमनके पश्चात् बैठा हुआ था, उस समय एक ब्राह्मणने आकर एकान्तमें मुझसे यह मधुर



वचन कहा—'कुन्तीनन्दन ! तुम्हें दुष्कर कर्म करना है। सव्यसाचिन् ! तुम्हें अपने शत्रुओंके साथ युद्ध करना होगा। बोलो, क्या चाहते हो ? इन्द्र उच्चैःश्रवा घोड़ेपर बैठकर वज्र हाथमें लिये तुम्हारे आगे आगे समरभूमिमें शत्रुओंका नाश करते हुए चलें अथवा सुग्रीव आदि अश्वोंसे जुते हुए रथपर बैठकर वसुदेवनन्दन भगवान् श्रीकृष्ण पीछेकी ओरसे तुम्हारी रक्षा करें' ॥ ६७-६८ ॥

वव्रे चाहं वज्रहस्तान्महेन्द्रा-
दस्मिन् युद्धे वासुदेवं सहायम्।
स मे लब्धो दस्युवधाय कृष्णो
मन्ये चैतद् विहितं दैवतैर्मे ॥ ६९ ॥

'उस समय मैंने वज्रपाणि इन्द्रको छोड़कर इस युद्धमें भगवान् श्रीकृष्णको अपना सहायक चुना था, इस प्रकार इन डाकुओंके वधके लिये मुझे श्रीकृष्ण मिल गये हैं। मालूम होता है, देवताओंने ही मेरे लिये ऐसी व्यवस्था कर रक्खी है ॥ ६९ ॥

अयुद्ध्यमानो मनसापि यस्य
जयं कृष्णः पुरुषस्याभिनन्देत्।
एवं सर्वान् स व्यतीयादमित्रान्
सेन्द्रान् देवान् मानुषे नास्ति चिन्ता॥ ७०॥

'भगवान् श्रीकृष्ण युद्ध न करके मनसे भी जिस पुरुषकी विजयका अभिनन्दन करेंगे, वह अपने समस्त शत्रुओंको, भले ही वे इन्द्र आदि देवता ही क्यों न हों, पराजित कर देता है, फिर मनुष्य-शत्रुके लिये तो चिन्ता ही क्या है ? ॥

स बाहुभ्यां सागरमुत्तितीर्षे-
न्महोदधिं सलिलस्याप्रमेयम्।
तेजस्विनं कृष्णमत्यन्तशूरं
युद्धेन यो वासुदेवं जिगीषेत् ॥ ७१ ॥

'जो युद्धके द्वारा अत्यन्त शौर्यसम्पन्न तेजस्वी वसुदेवनन्दन भगवान् श्रीकृष्णको जीतनेकी इच्छा करता है, वह अनन्त अपार जलनिधि समुद्रको दोनों बाँहोंसे तैरकर पार करना चाहता है ॥ ७१ ॥

गिरिं य इच्छेत् तु तलेन भेत्तुं
शिलोच्चयं श्वेतमतिप्रमाणम्।
तस्यैव पाणिः सनखो विशीर्ये-
न्न चापि किंचित् स गिरेस्तु कुर्यात् ॥७२॥

'जो अत्यन्त विशाल प्रस्तरराशिपूर्ण श्वेत कैलास-पर्वतको हथेलीसे मारकर विदीर्ण करना चाहता है, उस मनुष्यका नखसहित हाथ ही छिन्न-भिन्न हो जायगा। वह उस पर्वतका कुछ भी बिगाड़ नहीं कर सकता ॥ ७२ ॥

अग्निं समिद्धं शमयेद् भुजाभ्यां
चन्द्रं च सूर्यं च निवारयेत।
हरेद् देवानाममृतं प्रसह्य
युद्धेन यो वासुदेवं जिगीषेत् ॥ ७३ ॥

'जो युद्धके द्वारा भगवान् श्रीकृष्णको जीतना चाहता है, वह प्रज्वलित अग्निको दोनों हाथोंसे बुझानेकी चेष्टा करता है, चन्द्रमा और सूर्यकी गतिको रोकना चाहता है तथा हठपूर्वक देवताओंका अमृत हर लानेका प्रयत्न करता है ॥ ७३ ॥

यो रुक्मिणीमेकरथेन भोजा-
नुत्साद्य राज्ञः समरे प्रसह्य।
उवाह भार्यां यशसा ज्वलन्तीं
यस्यां जज्ञे रौक्मिणेयो महात्मा ॥ ७४ ॥

'जिन्होंने एकमात्र रथकी सहायतासे युद्धमें भोजवंशी राजाओंको बलपूर्वक पराजित करके (रूप, सौन्दर्य और) सुयशके द्वारा प्रकाशित होनेवाली उस परम सुन्दरी रुक्मिणी-

को पत्नीरूपसे ग्रहण किया, जिसके गर्भसे महामना प्रद्युम्न-का जन्म हुआ है ॥ ७४ ॥

अयं गान्धारांस्तरसा सम्प्रमथ्य
जित्वा पुत्रान् नग्नजितः समग्रान्।
बद्धं मुमोच विनदन्तं प्रसह्य
सुदर्शनं वै देवतानां ललामम्॥ ७५ ॥

'इन श्रीकृष्णने ही गान्धारदेशीय योद्धाओंको अपने वेगसे कुचलकर राजा नग्नजित्के समस्त पुत्रोंको पराजित किया और वहाँ कैदमें पड़कर क्रन्दन करते हुए राजा सुदर्शनको, जो देवताओंके भी आदरणीय हैं, बन्धन-मुक्त किया ॥ ७५ ॥

अयं कपाटेन जघान पाण्ड्यं
तथा कलिङ्गान् दन्तकूरे ममर्द।
अनेन दग्धा वर्षपूगान् विनाथा
वाराणसी नगरी सम्बभूव ॥ ७६ ॥

'इन्होंने पाण्ड्यनरेशको किंवाड़के पल्लेसे मार डाला, भयंकर युद्धमें कलिङ्गदेशीय योद्धाओंको कुचल डाला तथा इन्होंने ही काशीपुरीको इस प्रकार जलाया था कि वह बहुत वर्षोंतक अनाथ पड़ी रही ॥ ७६ ॥

अयं स्म युद्धे मन्यतेऽन्यैरजेयं
तमेकलव्यं नाम निषादराजम्।
वेगेनैव शैलमभिहत्य जम्भः
शेते स कृष्णेन हतः परासुः ॥ ७७ ॥

'ये भगवान् श्रीकृष्ण उस निषादराज एकलव्यको सदा युद्धके लिये ललकारा करते थे; जो दूसरोंके लिये अजेय था; परंतु वह श्रीकृष्णके हाथसे मारा जाकर प्राणशून्य हो सदाके लिये रणशय्यामें सो रहा है, ठीक उसी तरह, जैसे जम्भ नामक दैत्य स्वयं ही वेगपूर्वक पर्वतपर आघात करके प्राणशून्य हो महानिद्रामें निमग्न हो गया था ॥ ७७ ॥

तथोग्रसेनस्य सुतं सुदुष्टं
वृष्ण्यन्धकानां मध्यगतं सभास्थम्।
अपातयद् बलदेवद्वितीयो
हत्वा ददौ चोग्रसेनाय राज्यम्॥ ७८॥

'उग्रसेनका पुत्र कंस बड़ा दुष्ट था। वह जबभरी सभामें वृष्णि और अन्धकवंशी क्षत्रियोंके बीचमें बैठा हुआ था, श्रीकृष्णने बलदेवजीके साथ वहाँ जाकर उसे मार गिराया। इस प्रकार कंसका वध करके इन्होंने मथुराका राज्य उग्रसेनको दे दिया ॥ ७८ ॥

अयं सौभं योधयामास खस्थं
विभीषणं मायया शाल्वराजम्।
सौभद्वारि प्रत्यगृह्णाच्छतघ्नीं
दोर्भ्यां क एनं विषहेत मर्त्यः॥ ७९ ॥

'इन्होंने सौभ नामक विमानपर बैठे हुए तथा मायाके द्वारा अत्यन्त भयंकर रूप धारण करके आये हुए आकाशमें स्थित शाल्वराजके साथ युद्ध किया और सौभ विमानके द्वार-पर लगी हुई शतघ्नीको अपने दोनों हाथोंसे पकड़ लिया था। फिर इनका वेग कौन मनुष्य सह सकता है ? ॥ ७९ ॥

प्राग्ज्योतिषं नाम बभूव दुर्गं
पुरं घोरमसुराणामसह्यम्।
महाबलो नरकस्तत्र भौमो
जहारादित्या मणिकुण्डले शुभे ॥ ८० ॥

'असुरोंका प्राग्ज्योतिषपुर नामसे प्रसिद्ध एक भयंकर किला था, जो शत्रुओंके लिये सर्वथा अजेय था। वहाँ भूमि-पुत्र महाबली नरकासुर निवास करता था, जिसने देवमाता अदितिके सुन्दर मणिमय कुण्डल हर लिये थे ॥ ८० ॥

न तं देवाः सह शक्रेण शेकुः
समागता युधि मृत्योरभीताः।
दृष्ट्वा च तं विक्रमं केशवस्य
बलं तथैवास्त्रमवारणीयम् ॥ ८१ ॥
जानन्तोऽस्य प्रकृतिं केशवस्य
न्ययोजयन् दस्युवधाय कृष्णम्।
स तत् कर्म प्रतिशुश्राव दुष्कर-
मैश्वर्यवान् सिद्धिषु वासुदेवः॥ ८२ ॥

'मृत्युके भयसे रहित देवता इन्द्रके साथ उसका सामना करनेके लिये आये; परंतु नरकासुरको युद्धमें पराजित न कर सके। तब देवताओंने भगवान् श्रीकृष्णके अनिवार्य बल, पराक्रम और अस्त्रको देखकर तथा इनकी दयालु एवं दुष्टदमनकारिणी प्रकृतिको जानकर इन्हींसे पूर्वोक्त डाकू नरकासुरका वध करनेकी प्रार्थना की, तब समस्त कार्योंकी सिद्धिमें समर्थ भगवान् श्रीकृष्णने वह दुष्कर कार्य पूर्ण करना स्वीकार किया ॥ ८१-८२ ॥

निर्मोचने षट् सहस्राणि हत्वा
संछिद्य पाशान् सहसा क्षुरान्तान्।
मुरं हत्वा विनिहत्यौघरक्षो
निर्मोचनं चापि जगाम वीरः ॥ ८३ ॥

'फिर वीरवर श्रीकृष्णने निर्मोचन नगरकी सीमापर जाकर सहसा छः हजार लोहमय पाश काट दिये, जो तीखी धारवाले थे। फिर मुर दैत्यका वध और राक्षससमूहका नाश करके निर्मोचन नगरमें प्रवेश किया ॥ ८३ ॥

तत्रैव तेनास्य बभूव युद्धं
महाबलेनातिबलस्य विष्णोः।
शेते स कृष्णेन हतः परासु-
र्वातेनेवोन्मथितः कर्णिकारः ॥ ८४ ॥

'वहीं उस महाबली नरकासुरके साथ अत्यन्त बलशाली भगवान् श्रीकृष्णका युद्ध हुआ। श्रीकृष्णके हाथसे मारा जाकर वह प्राणोंसे हाथ धो बैठा और आँधीके उखाड़े हुए कनेर वृक्षकी भाँति सदाके लिये रणभूमिमें सो गया ॥८४॥

आहृत्य कृष्णो मणिकुण्डले ते
हत्वा च भौमं नरकं मुरं च।
श्रिया वृतो यशसा चैव विद्वान्
प्रत्याजगामाप्रतिमप्रभावः ॥ ८५ ॥

'इस प्रकार अनुपम प्रभावशाली विद्वान् श्रीकृष्ण भूमिपुत्र नरकासुर तथा मुरका वध करके देवी अदितिके वे दोनों मणिमय कुण्डल वहाँसे लेकर विजयलक्ष्मी और उज्ज्वल यशसे सुशोभित हो अपनी पुरीमें लौट आये ॥८५॥

अस्मै वराण्यददंस्तत्र देवा
दृष्ट्वा भीमं कर्म कृतं रणे तत्।
श्रमश्च ते युध्यमानस्य न स्या-
दाकाशे चाप्सु च ते क्रमः स्यात् ॥८६॥
शस्त्राणि गात्रे न च ते क्रमेर-
न्नित्येव कृष्णश्च ततः कृतार्थः।
एवंरूपे वासुदेवेऽप्रमेये
महाबले गुणसम्पत् सदैव ॥ ८७ ॥

'युद्धमें भगवान् श्रीकृष्णका वह भयंकर पराक्रम देखकर देवताओंने वहाँ इन्हें इस प्रकार वर दिये—'केशव! युद्ध करते समय आपको कभी थकावट न हो, आकाश और जलमें भी आप अप्रतिहत गतिसे विचरें और आपके अङ्गोंमें कोई भी अस्त्र-शस्त्र चोट न पहुँचा सके।' इस प्रकार वर पाकर श्रीकृष्ण पूर्णतः कृतकार्य हो गये हैं। इन असीम शक्तिशाली महाबली वासुदेवमें समस्त गुण-सम्पत्ति सदैव विद्यमान है ॥ ८६-८७ ॥

तमसह्यं विष्णुमनन्तवीर्य-
माशंसते धार्तराष्ट्रो विजेतुम्।
सदा ह्येनं तर्कयते दुरात्मा
तच्चाप्ययं सहतेऽस्मान् समीक्ष्य॥८८॥

'ऐसे अनन्त पराक्रमी और अजेय श्रीकृष्णको धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधन जीत लेनेकी आशा करता है। वह दुरात्मा सदैव इनका अनिष्ट करनेके विषयमें सोचता रहता है, परंतु हमलोगोंकी ओर देखकर उसके इस अपराधको भी ये भगवान् सहते चले जा रहे हैं ॥ ८८ ॥

पर्यागतं मम कृष्णस्य चैव
यो मन्यते कलहं सम्प्रसह्य।
शक्यं हर्तुं पाण्डवानां ममत्वं
तद् वेदिता संयुगं तत्र गत्वा ॥ ८९ ॥

'दुर्योधन मानता है कि मुझमें और श्रीकृष्णमें हठात् कलह करा दिया जा सकता है। पाण्डवोंका श्रीकृष्णके प्रति जो ममत्व (अपनापन) है, उसे मिटा दिया जा सकता है; परंतु कुरुक्षेत्रकी युद्धभूमिमें पहुँचनेपर उसे इन सब बातोंका ठीक-ठीक पता चल जायगा ॥ ८९ ॥

नमस्कृत्वा शान्तनवाय राज्ञे
द्रोणायाथो सहपुत्राय चैव।
शारद्वतायाप्रतिद्वन्द्विने च
योत्स्याम्यहं राज्यमभीप्समानः॥ ९० ॥

'मैं शान्तनुनन्दन महाराज भीष्मको, आचार्य द्रोणको, गुरुभाई अश्वत्थामाको और जिनका सामना कोई नहीं कर सकता, उन वीरवर कृपाचार्यको भी प्रणाम करके राज्य पानेकी इच्छा लेकर अवश्य युद्ध करूँगा ॥ ९० ॥

धर्मेणाप्तं निधनं तस्य मन्ये
यो योत्स्यते पाण्डवैः पापबुद्धिः।
मिथ्या ग्लहे निर्जिता वै नृशंसैः
संवत्सरान् वै द्वादश राजपुत्राः॥९१॥

'जो पापबुद्धि मानव पाण्डवोंके साथ युद्ध करेगा, धर्मकी दृष्टिसे उसकी मृत्यु निकट आ गयी है, ऐसा मेरा विश्वास है। कारण कि इन क्रूर स्वभाववाले कौरवोंने हम सब लोगोंको कपटद्यूतमें जीतकर बारह वर्षोंके लिये वनमें निर्वासित कर दिया था; यद्यपि हम भी राजाके ही पुत्र थे ॥ ९१ ॥

वासः कृच्छ्रो विहितश्चाप्यरण्ये
दीर्घं कालं चैकमज्ञातवर्षम्।
ते हि कस्माज्जीवतां पाण्डवानां
नन्दिष्यन्ते धार्तराष्ट्राः पदस्थाः ॥ ९२ ॥

'हम वनमें दीर्घकालतक बड़े कष्ट सहकर रहे हैं और एक वर्षतक हमें अज्ञातवास करना पड़ा है। ऐसी दशामें पाण्डवोंके जीते-जी वे कौरव अपने पदोंपर प्रतिष्ठित रहकर कैसे आनन्द भोगते रहेंगे? ॥ ९२ ॥

ते चेदस्मान् युध्यमानाञ्जयेयु-
र्देवैर्महेन्द्रप्रमुखैः सहायैः।
धर्मादधर्मश्चरितो गरीयां-
स्ततो ध्रुवं नास्ति कृतं च साधु॥ ९३॥

'यदि इन्द्र आदि देवताओंकी सहायता पाकर भी धृतराष्ट्रपुत्र हमें युद्धमें जीत लेंगे तो यह मानना पड़ेगा कि धर्मकी अपेक्षा पापाचारका ही महत्त्व अधिक है और संसारसे पुण्यकर्मका अस्तित्व निश्चय ही उठ गया ॥ ९३ ॥

न चेदिमं पुरुषं कर्मबद्धं
न चेदस्मान् मन्यतेऽसौ विशिष्टान्।

आशंसेऽहं वासुदेवद्वितीयो
दुर्योधनं सानुबन्धं निहन्तुम् ॥ ९४ ॥

'यदि दुर्योधन मनुष्यको कर्मोंके बन्धनसे बँधा हुआ नहीं मानता है अथवा यदि वह हमलोगोंको अपनेसे श्रेष्ठ तथा प्रबल नहीं समझता है, तो भी मैं यह आशा करता हूँ कि भगवान् श्रीकृष्णको अपना सहायक बनाकर मैं दुर्योधनको उसके सगे-सम्बन्धियोंसहित मार डालूँगा ॥ ९४ ॥

न चेदिदं कर्म नरेन्द्र वन्ध्यं
न चेद् भवेत् सुकृतं निष्फलं वा ।
इदं च तच्चाभिसमीक्ष्य नूनं
पराजयो धार्तराष्ट्रस्य साधुः ॥ ९५ ॥

'राजन् ! यदि मनुष्यका किया हुआ यह पापकर्म निष्फल नहीं होता अथवा पुण्यकर्मोंका फल मिले बिना नहीं रहता तो मैं दुर्योधनके वर्तमान और पहलेके किये हुए पापकर्मका विचार करके निश्चयपूर्वक कह सकता हूँ कि धृतराष्ट्रपुत्रकी पराजय अनिवार्य है और इसीमें जगत्‌की भलाई है ॥ ९५ ॥

प्रत्यक्षं वः कुरवो यद् ब्रवीमि
युध्यमाना धार्तराष्ट्रा न सन्ति ।
अन्यत्र युद्धात् कुरवो यदि स्यु-
र्न युद्धे वै शेष इहास्ति कश्चित् ॥ ९६ ॥

'कौरवो ! मैं तुमलोगोंके समक्ष यह स्पष्टरूपसे बता देना चाहता हूँ कि धृतराष्ट्रके पुत्र यदि युद्धभूमिमें उतरे तो जीवित नहीं बचेंगे । कौरवोंके जीवनकी रक्षा तभी हो सकती है, जब वे युद्धसे दूर रहें । युद्ध छिड़ जानेपर तो उनमेंसे कोई भी यहाँ शेष नहीं रहेगा ॥ ९६ ॥

हत्वा त्वहं धार्तराष्ट्रान् सकर्णान्
राज्यं कुरूणामवजेता समग्रम् ।
यद् वः कार्यं तत् कुरुध्वं यथास्व-
मिष्टान् दारानात्मभोगान् भजध्वम् ॥ ९७ ॥

'मैं कर्णसहित धृतराष्ट्रपुत्रोंका वध करके कुरुदेशका सम्पूर्ण राज्य जीत लूँगा, अतः तुम्हारा जो-जो कर्तव्य शेष हो, उसे पूरा कर लो । अपने वैभवके अनुसार प्रियतमा पत्नियोंके साथ सुख भोग लो और अपने शरीरके लिये भी जो अभीष्ट भोग हों, उनका उपभोग कर लो ॥ ९७ ॥

अप्येवं नो ब्राह्मणाः सन्ति वृद्धा
बहुश्रुताः शीलवन्तः कुलीनाः ।
सांवत्सरा ज्योतिषि चाभियुक्ता
नक्षत्रयोगेषु च निश्चयज्ञाः ॥ ९८ ॥

'हमारे पास कितने ही ऐसे वृद्ध ब्राह्मण विद्यमान हैं, जो अनेक शास्त्रोंके विद्वान्, सुशील, उत्तम कुलमें उत्पन्न, वर्षके शुभाशुभ फलोंको जाननेवाले, ज्योतिषशास्त्रके मर्मज्ञ तथा ग्रह-नक्षत्रोंके योगफलका निश्चितरूपसे ज्ञान रखनेवाले हैं ॥ ९८ ॥

उच्चावचं दैवयुक्तं रहस्यं
दिव्याः प्रश्ना मृगचक्रा मुहूर्ताः ।
क्षयं महान्तं कुरुसृंजयानां
निवेदयन्ते पाण्डवानां जयं च ॥ ९९ ॥

'वे दैवसम्बन्धी उन्नति एवं अवनतिके फलदायक रहस्य बता सकते हैं । प्रश्नोंके अलौकिक ढंगसे उत्तर देते हैं, जिससे भविष्य घटनाओंका ज्ञान हो जाता है । वे शुभाशुभ फलोंका वर्णन करनेके लिये सर्वतोभद्र आदि चक्रोंका भी अनुसंधान करते हैं और मुहूर्तशास्त्रके तो वे पण्डित ही हैं । वे सब लोग निश्चितरूपसे यह निवेदन करते हैं कि कौरवों और सृंजयवंशके लोगोंका बड़ा भारी संहार होनेवाला है और इस महायुद्धमें पाण्डवोंकी विजय होगी ॥ ९९ ॥

यथा हि नो मन्यतेऽजातशत्रुः
संसिद्धार्थो द्विषतां निग्रहाय ।
जनार्दनश्चाप्यपरोक्षविद्यो
न संशयं पश्यति वृष्णिसिंहः ॥ १०० ॥

'अजातशत्रु महाराज युधिष्ठिर मानते हैं, मैं अपने शत्रुओंका दमन करनेमें निश्चय सफल होऊँगा । वृष्णिवंशके पराक्रमी वीर भगवान् श्रीकृष्णको भी सारी विद्याओंका अपरोक्ष ज्ञान है । वे भी हमारे इस मनोरथके सिद्ध होनेमें कोई संदेह नहीं देखते हैं ॥ १०० ॥

अहं तथैवं खलु भाविरूपं
पश्यामि बुद्ध्या स्वयमप्रमत्तः ।
दृष्टिश्च मे न व्यथते पुराणी
संयुध्यमाना धार्तराष्ट्रा न सन्ति ॥ १०१ ॥

'मैं भी स्वयं प्रमादशून्य होकर अपनी बुद्धिसे भावीका ऐसा ही स्वरूप देखता हूँ । मेरी चिरंतन दृष्टि कभी तिरोहित नहीं होती । उसके अनुसार मैं यह निश्चितरूपसे कह सकता हूँ कि युद्धभूमिमें उतरनेपर धृतराष्ट्रके पुत्र जीवित नहीं रह सकते ॥ १०१ ॥

अनालब्धं जृम्भति गाण्डिवं धनु-
रनाहता कम्पति मे धनुर्ज्या ।
बाणाश्च मे तूणमुखाद् विसृत्य
मुहुर्मुहुर्गन्तुमुशन्ति चैव ॥ १०२ ॥

'गाण्डीव धनुष बिना स्पर्श किये ही तना जा रहा है, मेरे धनुषकी डोरी बिना खींचे ही हिलने लगी है और मेरे बाण बार-बार तरकससे निकलकर शत्रुओंकी ओर जानेके लिये उतावले हो रहे हैं ॥ १०२ ॥

खड्गः कोशान्निःसरति प्रसन्नो
हित्वेव जीर्णामुरगस्त्वचं स्वाम्।
ध्वजे वाचो रौद्ररूपा भवन्ति
कदा रथो योक्ष्यते ते किरीटिन्॥१०३॥

'चमचमाती हुई तलवार म्यानसे इस प्रकार निकल रही है, मानो सर्प अपनी पुरानी केंचुल छोड़कर चमकने लगा हो तथा मेरी ध्वजापर यह भयंकर वाणी गूँजती रहती है कि अर्जुन ! तुम्हारा रथ युद्धके लिये कब जोता जायगा ॥१०३॥

गोमायुसंघाश्च नदन्ति रात्रौ
रक्षांस्यथो निष्पतन्त्यन्तरिक्षात्।
मृगाः शृगालाः शितिकण्ठाश्च काका
गृध्रा बकाश्चैव तरक्षवश्च॥१०४॥

'रातमें गीदड़ोंके दल कोलाहल मचाते हैं, राक्षस आकाशसे पृथिवीपर टूटे पड़ते हैं तथा हिरण, सियार, मोर, कौआ, गीध, बगुला और चीते मेरे रथके समीप दौड़े आते हैं॥

सुवर्णपत्राश्च पतन्ति पश्चाद्
दृष्ट्वा रथं श्वेतहयप्रयुक्तम्।
अहं ह्येकः पार्थिवान् सर्वयोधान्
शरान् वर्षन् मृत्युलोकं नयेयम्॥१०५॥

'श्वेत घोड़ोंसे जुते हुए मेरे रथको देखकर सुवर्णपत्र नामक पक्षी पीछेसे टूटे पड़ते हैं। इससे जान पड़ता है, मैं अकेला बाणोंकी वर्षा करके समस्त राजाओं और योद्धाओंको यमलोक पहुँचा दूँगा॥ १०५॥

समाददानः पृथगस्त्रमार्गान्
यथाग्निरिद्धो गहनं निदाघे।
स्थूणाकर्णं पाशुपतं महास्त्रं
ब्राह्मं चास्त्रं यच्च शक्रोऽप्यदान्मे॥१०६॥

वधे धृतो वेगवतः प्रमुञ्चन्
नाहं प्रजाः किंचिदिहावशिष्ये।
शान्तिं लप्स्ये परमो ह्येष भावः
स्थिरो मम ब्रूहि गावल्गणे तान्॥१०७॥

'जैसे गर्मीमें प्रज्वलित हुई आग जब वनको जलाने लगती है, तब किसी भी वृक्षको बाकी नहीं छोड़ती, उसी प्रकार मैं शत्रुओंके वधके लिये सुसज्जित हो अस्त्रसंचालनकी विभिन्न रीतियोंका आश्रय ले स्थूणाकर्ण, महान् पाशुपतास्त्र, ब्रह्मास्त्र तथा जिसे इन्द्रने मुझे दिया था उस इन्द्रास्त्रका भी प्रयोग करूँगा और वेगशाली बाणोंकी वर्षा करके इस युद्धमें किसीको भी जीवित नहीं छोड़ूँगा। ऐसा करनेपर ही मुझे शान्ति मिलेगी। संजय ! तुम उनसे स्पष्ट कह देना कि मेरा यह दृढ़ और उत्तम निश्चय है॥ १०६-१०७॥

ये वैजयन्त्याः समरे सूत लब्ध्वा
देवानपीन्द्रप्रमुखान् समेतान्।
तैर्मन्यते कलहं सम्प्रसह्य
स धार्तराष्ट्रः पश्यत मोहमस्य॥१०८॥

'सूत ! जो पाण्डव समरभूमिमें इन्द्र आदि समस्त देवताओंको भी पाकर उन्हें पराजित किये बिना नहीं रहेंगे, उन्हीं हम पाण्डवोंके साथ यह दुर्योधन हठपूर्वक युद्ध करना चाहता है, इसका मोह तो देखो॥ १०८॥

वृद्धो भीष्मः शान्तनवः कृपश्च
द्रोणः सपुत्रो विदुरश्च धीमान्।
एते सर्वे यद् वदन्ते तदस्तु
आयुष्मन्तः कुरवः सन्तु सर्वे॥१०९॥

'फिर भी मैं चाहता हूँ कि बूढ़े पितामह शान्तनुनन्दन भीष्म, कृपाचार्य, द्रोणाचार्य, अश्वत्थामा और बुद्धिमान् विदुर—ये सब लोग मिलकर जैसा कहें, वही हो। समस्त कौरव दीर्घायु बने रहें'॥ १०९॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि यानसंधिपर्वणि अर्जुनवाक्यनिवेदने अष्टचत्वारिंशोऽध्यायः॥ ४८॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत यानसंधिपर्वमें अर्जुनवाक्यनिवेदनविषयक अड़तालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ ४८॥

एकोनपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

भीष्मका दुर्योधनको संधिके लिये समझाते हुए श्रीकृष्ण और अर्जुनकी महिमा बताना एवं कर्णपर आक्षेप करना, कर्णकी आत्मप्रशंसा, भीष्मके द्वारा उसका पुनः उपहास एवं द्रोणाचार्यद्वारा भीष्मजीके कथनका अनुमोदन

वैशम्पायन उवाच

समवेतेषु सर्वेषु तेषु राजसु भारत।
दुर्योधनमिदं वाक्यं भीष्मः शान्तनवोऽब्रवीत्॥ १॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—भारत ! वहाँ एकत्र हुए उन समस्त राजाओंकी मण्डलीमें शान्तनुनन्दन भीष्मने दुर्योधनसे यह बात कही—॥ १॥

बृहस्पतिश्चोशना च ब्रह्माणं पर्युपस्थितौ।
मरुतश्च सहेन्द्रेण वसवश्चाग्निना सह॥ २॥

आदित्याश्चैव साध्याश्च ये च सप्तर्षयो दिवि ।
विश्वावसुश्च गन्धर्वः शुभाश्चाप्सरसां गणाः ॥ ३ ॥

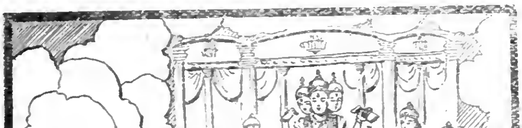
एक समयकी बात है, बृहस्पति और शुक्राचार्य ब्रह्माजीकी सेवामें उपस्थित हुए । उनके साथ इन्द्रसहित मरुद्गण, अग्नि, वसुगण, आदित्य, साध्य, सप्तर्षि, विश्वावसु गन्धर्व और श्रेष्ठ अप्सराएँ भी वहाँ मौजूद थीं ॥ २-३ ॥

नमस्कृत्योपजग्मुस्ते लोकवृद्धं पितामहम् ।
परिवार्य च विश्वेशं पर्यासत दिवौकसः ॥ ४ ॥

ये सब देवता संसारके बड़े-बूढ़े पितामह ब्रह्माजीके पास गये और उन्हें प्रणाम करनेके पश्चात् उन लोकेश्वरको सब ओरसे घेरकर बैठ गये ॥ ४ ॥

तेषां मनश्च तेजश्चाप्याददानाविवौजसा ।
पूर्वदेवौ व्यतिक्रान्तौ नरनारायणावृषी ॥ ५ ॥

इसी समय पुरातन देवता नर-नारायण ऋषि उधर आ निकले और अपनी कान्ति तथा ओजसे उन सबके चित्त और तेजका अपहरण-सा करते हुए उस स्थानको लाँघकर चले गये ॥ ५ ॥



बृहस्पतिस्तु पप्रच्छ ब्रह्माणं काविमाविति ।
भवन्तं नोपतिष्ठेते तौ नः शंस पितामह ॥ ६ ॥

यह देख बृहस्पतिजीने ब्रह्माजीसे पूछा—'पितामह ! ये दोनों कौन हैं, जिन्होंने आपका अभिनन्दन भी नहीं किया । हमें इनका परिचय दीजिये' ॥ ६ ॥

ब्रह्मोवाच

यावेतौ पृथिवीं द्यां च भासयन्तौ तपस्विनौ ।
ज्वलन्तौ रोचमानौ च व्याप्यातीतौ महाबलौ ॥ ७ ॥
नरनारायणावेतौ लोकाल्लोकं समास्थितौ ।
ऊर्जितौ स्वेन तपसा महासत्त्वपराक्रमौ ॥ ८ ॥

ब्रह्माजी बोले—बृहस्पते ! ये जो दोनों महान् शक्तिशाली तपस्वी पृथ्वी और आकाशको प्रकाशित करते हुए हमलोगोंका अतिक्रमण करके आगे बढ़ गये हैं, नर और नारायण हैं । ये अपने तेजसे प्रज्वलित और कान्तिसे प्रकाशित हो रहे हैं । इनका धैर्य और पराक्रम महान् है । ये अपनी तपस्यासे अत्यन्त प्रभावशाली होनेके कारण भूलोकसे ब्रह्मलोकमें आये हैं ॥ ७-८ ॥

एतौ हि कर्मणा लोकं नन्दयामासतुर्ध्रुवम् ।
द्विधाभूतौ महाप्राज्ञौ विद्धि ब्रह्मन् परंतपौ ।
असुराणां विनाशाय देवगन्धर्वपूजितौ ॥ ९ ॥

इन्होंने अपने सत्कर्मोंसे निश्चय ही सम्पूर्ण लोकोंका आनन्द बढ़ाया है । ब्रह्मन् ! ये दोनों अत्यन्त बुद्धिमान् और शत्रुओंको संताप देनेवाले हैं । इन्होंने एक होते हुए भी असुरोंका विनाश करनेके लिये दो शरीर धारण किये हैं । देवता और गन्धर्व सभी इनकी पूजा करते हैं ॥ ९ ॥

वैशम्पायन उवाच

जगाम शक्रस्तच्छ्रुत्वा यत्र तौ तेपतुस्तपः ।
सार्धं देवगणैः सर्वैर्बृहस्पतिपुरोगमैः ॥ १० ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! ब्रह्माजीकी यह बात सुनकर इन्द्र बृहस्पति आदि सब देवताओंके साथ उस स्थानपर गये जहाँ उन दोनों ऋषियोंने तपस्या की थी ॥ १० ॥

तदा देवासुरे युद्धे भये जाते दिवौकसाम् ।
अयाचत महात्मानौ नरनारायणौ वरम् ॥ ११ ॥

उन दिनों देवासुर-संग्राम उपस्थित था और उसमें देवताओंको महान् भय प्राप्त हुआ था; अतः उन्होंने उन दोनों महात्मा नर-नारायणसे वरदान माँगा ॥ ११ ॥

तावब्रूतां वृणीष्वेति तदा भरतसत्तम ।
अथैतावब्रवीच्छक्रः साह्यं नः क्रियतामिति ॥ १२ ॥

भरतश्रेष्ठ ! देवताओंकी प्रार्थना सुनकर उस समय उन दोनों ऋषियोंने इन्द्रसे कहा—'तुम्हारी जो इच्छा हो, उसके अनुसार वर माँगो ।' तब इन्द्रने उनसे कहा—'भगवन् ! आप हमारी सहायता करें' ॥ १२ ॥

ततस्तौ शक्रमब्रूतां करिष्यावो यदिच्छसि ।
ताभ्यां च सहितः शक्रो विजिग्ये दैत्यदानवान् ॥ १३ ॥

तब नर-नारायण ऋषियोंने इन्द्रसे कहा—'देवराज ! तुम जो कुछ चाहते हो, वह हम करेंगे ।' फिर उन दोनोंको साथ लेकर इन्द्रने समस्त दैत्यों और दानवोंपर विजय पायी ॥ १३ ॥

नर इन्द्रस्य संग्रामे हत्वा शत्रून् परंतपः।
पौलोमान् कालखञ्जांश्च सहस्राणि शतानि च ॥ १४ ॥

एक समय शत्रुओंको संताप देनेवाले नरस्वरूप अर्जुनने युद्धमें इन्द्रसे शत्रुता रखनेवाले सैकड़ों और हजारों पौलोम एवं कालखञ्ज नामक दानवोंका संहार किया ॥ १४ ॥

एष भ्रान्ते रथे तिष्ठन् भल्लेनापाहरच्छिरः।
जम्भस्य ग्रसमानस्य तदा ह्यर्जुन आहवे ॥ १५ ॥

उस समय ये नरस्वरूप अर्जुन सब ओर चक्कर लगानेवाले रथपर बैठे हुए थे, तो भी इन्होंने सबको अपना ग्रास बनानेवाले जम्भ नामक असुरका मस्तक अपने एक भल्लसे काट गिराया ॥ १५ ॥

एष पारे समुद्रस्य हिरण्यपुरमारुजत्।
जित्वा षष्टिं सहस्राणि निवातकवचान् रणे ॥ १६ ॥

इन्होंने ही संग्राममें साठ हजार निवातकवचोंको पराजित करके समुद्रके उस पार बसे हुए दैत्योंके हिरण्यपुर नामक नगरको तहस-नहस कर डाला ॥ १६ ॥

एष देवान् सहेन्द्रेण जित्वा परपुरञ्जयः।
अतर्पयन्महाबाहुरर्जुनो जातवेदसम् ॥ १७ ॥

शत्रुओंके नगरपर विजय पानेवाले इन महाबाहु अर्जुनने खाण्डवदाहके समय इन्द्रसहित समस्त देवताओंको जीतकर अग्निदेवको पूर्णतः तृप्त किया था ॥ १७ ॥

नारायणस्तथैवात्र भूयसोऽन्याञ्जघान ह।
एवमेतौ महावीर्यौ तौ पश्यत समागतौ ॥ १८ ॥

इसी प्रकार नारायणस्वरूप भगवान् श्रीकृष्णने भी खाण्डवदाहके समय दूसरे बहुत-से हिंसक प्राणियोंको यमलोक पहुँचाया था। इस प्रकार ये दोनों महान् पराक्रमी हैं। दुर्योधन! इस समय ये दोनों एक-दूसरेसे मिल गये हैं, इस बातको तुमलोग अच्छी तरह देख और समझ लो ॥ १८ ॥

वासुदेवार्जुनौ वीरौ समवेतौ महारथौ।
नरनारायणौ देवौ पूर्वदेवाविति श्रुतिः ॥ १९ ॥

परस्पर मिले हुए महारथी वीर श्रीकृष्ण और अर्जुन पुरातन देवता नर और नारायण ही हैं; यह बात विख्यात है। १९।

अजेयौ मानुषे लोके सेन्द्रैरपि सुरासुरैः।
एष नारायणः कृष्णः फाल्गुनश्च नरः स्मृतः।
नारायणो नरश्चैव सत्त्वमेकं द्विधा कृतम् ॥ २० ॥

इस मनुष्यलोकमें इन्हें इन्द्रसहित सम्पूर्ण देवता और असुर भी नहीं जीत सकते। ये श्रीकृष्ण नारायण हैं और अर्जुन नर माने गये हैं। नारायण और नर दोनों एक ही सत्ता हैं। परंतु लोकहितके लिये दो शरीर धारण करके प्रकट हुए हैं ॥ २० ॥

एतौ हि कर्मणा लोकानश्नुवातेऽक्षयान् ध्रुवान्।
तत्र तत्रैव जायेते युद्धकाले पुनः पुनः ॥ २१ ॥

ये दोनों अपने सत्कर्मके प्रभावसे अक्षय एवं ध्रुवलोकोंको व्याप्त करके स्थित हैं। लोकहितके लिये जब-जब जहाँ-जहाँ युद्धका अवसर आता है, तब-तब वहाँ-वहाँ ये बार-बार अवतार ग्रहण करते हैं ॥ २१ ॥

तस्मात् कर्मैव कर्तव्यमिति होवाच नारदः।
एतद्धि सर्वमाचष्ट वृष्णिचक्रस्य वेदवित् ॥ २२ ॥

दुष्टोंका दमन करके साधु पुरुषों एवं धर्मका संरक्षण ही इनका कर्तव्य है—ये सारी बातें वेदोंके ज्ञाता नारदजीने समस्त वृष्णिवंशियोंके सम्मुख कही थीं ॥ २२ ॥

शङ्खचक्रगदाहस्तं यदा द्रक्ष्यसि केशवम्।
पर्याददानं चास्त्राणि भीमधन्वानमर्जुनम् ॥ २३ ॥
सनातनौ महात्मानौ कृष्णावेकरथे स्थितौ।
दुर्योधन तदा तात स्मर्तासि वचनं मम ॥ २४ ॥

वत्स दुर्योधन! जब तुम देखोगे कि दोनों सनातन महात्मा श्रीकृष्ण और अर्जुन एक ही रथपर बैठे हैं, श्रीकृष्णके हाथमें शङ्ख, चक्र और गदा है और भयंकर धनुष धारण करनेवाले अर्जुन निरन्तर नाना प्रकारके अस्त्र लेते और छोड़ते जा रहे हैं, तब तुम्हें मेरी बातें याद आयेंगी ॥ २३-२४ ॥

नोचेदयमभावः स्यात् कुरूणां प्रत्युपस्थितः।
अर्थाच्च तात धर्माच्च तव बुद्धिरुपप्लुता ॥ २५ ॥

यदि तुमने मेरी बात नहीं मानी तो समझ लो, कौरवोंका विनाश अवश्य ही उपस्थित हो जायगा। तात! तुम्हारी बुद्धि अर्थ और धर्म दोनोंसे भ्रष्ट हो गयी है ॥ २५ ॥

न चेद् ग्रहीष्यसे वाक्यं श्रोतासि सुबहून् हतान्।
तवैव हि मतं सर्वे कुरवः पर्युपासते ॥ २६ ॥

यदि मेरा कहना नहीं मानोगे तो एक दिन सुनोगे कि हमारे बहुत-से सगे-सम्बन्धी मार डाले गये; क्योंकि सब कौरव तुम्हारे ही मतका अनुसरण करते हैं ॥ २६ ॥

त्रयाणामेव च मतं तत् त्वमेकोऽनुमन्यसे।
रामेण चैव शप्तस्य कर्णस्य भरतर्षभ ॥ २७ ॥
दुर्जातेः सूतपुत्रस्य शकुनेः सौबलस्य च।
तथा क्षुद्रस्य पापस्य भ्रातुर्दुःशासनस्य च ॥ २८ ॥

भरतश्रेष्ठ! एक तुम्हीं ऐसे हो, जो कि परशुरामजीके द्वारा अभिशप्त खोटी जातिवाले सूतपुत्र कर्ण एवं सुबलपुत्र शकुनि तथा अपने नीच एवं पापात्मा भाई दुःशासन—इन तीनोंके मतका अनुमोदन एवं अनुसरण करते हो। २७-२८।

कर्ण उवाच

नैवमायुष्मता वाच्यं यन्मामात्थ पितामह।
क्षत्रधर्मे स्थितो ह्यस्मि स्वधर्मादनपेयिवान् ॥ २९ ॥

कर्ण बोला—पितामह ! आपने मेरे प्रति जिन शब्दोंका प्रयोग किया है, वे अनुचित हैं। आप-जैसे वृद्ध पुरुषको ऐसी बातें मुँहसे नहीं निकालनी चाहिये। मैं क्षत्रियधर्ममें स्थित हूँ और अपने धर्मसे कभी भ्रष्ट नहीं हुआ हूँ ॥ २९ ॥

किं चान्यन्मयि दुर्वृत्तं येन मां परिगर्हसे।
न हि मे वृजिनं किंचिद् धार्तराष्ट्रा विदुः क्वचित् ॥ ३० ॥
नाचरं वृजिनं किंचिद् धार्तराष्ट्रस्य नित्यशः।

मुझमें कौन-सा ऐसा दुराचार है जिसके कारण आप मेरी निन्दा करते हैं। महाराज धृतराष्ट्रके पुत्रोंने कभी मेरा कोई पापाचार देखा या जाना हो ऐसी बात नहीं है। मैंने दुर्योधनका कभी कोई अनिष्ट नहीं किया है ॥ ३०½ ॥

अहं हि पाण्डवान् सर्वान् हनिष्यामि रणे स्थितान् ॥
प्राग्विरुद्धैः शमं सद्भिः कथं वा क्रियते पुनः।

मैं युद्धभूमिमें खड़े होनेपर समस्त पाण्डवोंको अवश्य मार डालूँगा। जो लोग पहले अपने विरोधी रहे हों, उनके साथ पुनः संधि कैसे की जा सकती है ? ॥ ३१½ ॥

राज्ञो हि धृतराष्ट्रस्य सर्वं कार्यं प्रियं मया।
तथा दुर्योधनस्यापि स हि राज्ये समाहितः ॥ ३२ ॥

मुझे जिस प्रकार राजा धृतराष्ट्रका समस्त प्रिय कार्य करना चाहिये, उसी प्रकार दुर्योधनका भी करना उचित है; क्योंकि अब वे ही राज्यपर प्रतिष्ठित हैं ॥ ३२ ॥

वैशम्पायन उवाच

कर्णस्य तु वचः श्रुत्वा भीष्मः शान्तनवः पुनः।
धृतराष्ट्रं महाराज सम्भाष्येदं वचोऽब्रवीत् ॥ ३३ ॥

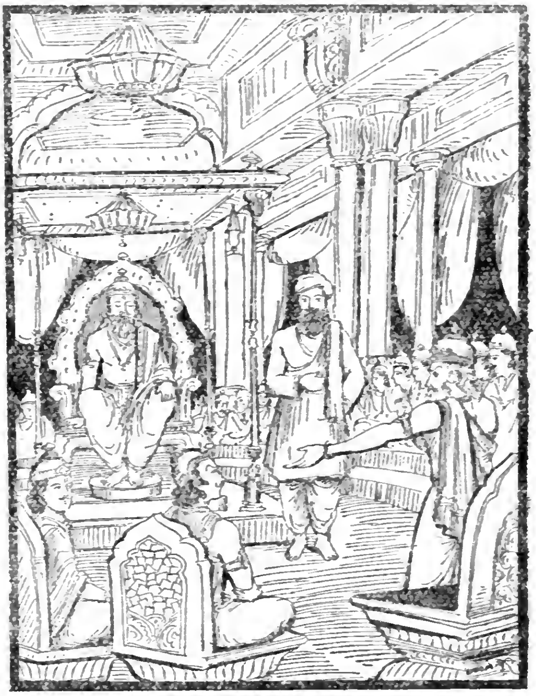
वैशम्पायनजी कहते हैं—महाराज जनमेजय ! कर्णकी बात सुनकर शान्तनुनन्दन भीष्मने राजा धृतराष्ट्रको सम्बोधित करके पुनः इस प्रकार कहा— ॥ ३३ ॥

यदयं कत्थते नित्यं हन्ताहं पाण्डवानिति।
नायं कलापि सम्पूर्णा पाण्डवानां महात्मनाम् ॥ ३४ ॥

'राजन् ! यह कर्ण जो प्रतिदिन यह डींग हाँका करता है कि मैं पाण्डवोंको मार डालूँगा, वह व्यर्थ है। मेरी रायमें यह महात्मा पाण्डवोंकी सोलहवीं कलाके बराबर भी नहीं है ॥ ३४ ॥

अनयो योऽयमागन्ता पुत्राणां ते दुरात्मनाम्।
तदस्य कर्म जानीहि सूतपुत्रस्य दुर्मतेः ॥ ३५ ॥

'तुम्हारे दुरात्मा पुत्रोंपर अन्यायके फलस्वरूप जो यह महान् संकट आनेवाला है, वह सब इस दूषित बुद्धिवाले सूतपुत्र कर्णकी ही करतूत समझो ॥ ३५ ॥



एतमाश्रित्य पुत्रस्ते मन्दबुद्धिः सुयोधनः।
अवामन्यत तान् वीरान् देवपुत्रानरिंदमान् ॥ ३६ ॥

'तुम्हारे मन्दबुद्धि पुत्र दुर्योधनने इसीका सहारा लेकर शत्रुओंका दमन करनेवाले उन वीर देवपुत्र पाण्डवोंका अपमान किया है ॥ ३६ ॥

किं चाप्येतेन तत्कर्म कृतपूर्वं सुदुष्करम्।
तैर्यथा पाण्डवैः सर्वैरेकैकेन कृतं पुरा ॥ ३७ ॥

'आजसे पहले समस्त पाण्डवोंने मिलकर अथवा उनमेंसे एक-एकने अलग-अलग जैसे-जैसे दुष्कर पराक्रम किये हैं, वैसा कौन-सा कठिन पुरुषार्थ इस सूतपुत्रने पहले कभी किया है ? ॥ ३७ ॥

दृष्ट्वा विराटनगरे भ्रातरं निहतं प्रियम्।
धनंजयेन विक्रम्य किमनेन तदा कृतम् ॥ ३८ ॥

'जब विराटनगरमें अर्जुनने अपना पराक्रम दिखाते हुए इसके सामने ही इसके प्यारे भाईको मार डाला था, तब इसने सब कुछ अपनी आँखोंसे देखकर भी अर्जुनका क्या बिगाड़ लिया ? ॥ ३८ ॥

सहितान् हि कुरून् सर्वानभियातो धनंजयः।
प्रमथ्य चाच्छिनद् वासः किमयं प्रोषितस्तदा ॥ ३९ ॥

'जब धनंजयने अकेले ही समस्त कौरवोंपर आक्रमण किया और सबको मूर्छित करके उनके वस्त्र छीन लिये थे, उस समय यह कर्ण क्या कहीं परदेश चला गया था ? ॥ ३९ ॥

गन्धर्वैर्घोषयात्रायां ह्रियते यत् सुतस्तव।
क्व तदा सूतपुत्रोऽभूद् य इदानीं वृषायते ॥ ४० ॥

'घोषयात्राके समय जब गन्धर्वलोग तुम्हारे पुत्रको कैद करके लिये जा रहे थे, उस समय यह सूतपुत्र कहाँ था ? जो इस समय साँड़की तरह डँकार रहा है ॥ ४० ॥

ननु तत्रापि भीमेन पार्थेन च महात्मना ।
यमाभ्यामेव संगम्य गन्धर्वास्ते पराजिताः ॥ ४१ ॥

'वहाँ भी तो महात्मा भीमसेन, अर्जुन और नकुल-सहदेवने ही मिलकर उन गन्धर्वोंको परास्त किया था ॥४१॥

एतान्यस्य मृषोक्तानि बहूनि भरतर्षभ ।
विकत्थनस्य भद्रं ते सदा धर्मार्थलोपिनः ॥ ४२ ॥

'भरतश्रेष्ठ ! तुम्हारा भला हो । यह कर्ण व्यर्थ ही शेखी बघारता रहता है । इसकी कही हुई बहुत-सी बातें इसी तरह झूठी हैं । यह तो धर्म और अर्थ—दोनोंका ही लोप करनेवाला है' ॥ ४२ ॥

भीष्मस्य तु वचः श्रुत्वा भारद्वाजो महामनाः ।
धृतराष्ट्रमुवाचेदं राजमध्येऽभिपूजयन् ॥ ४३ ॥

भीष्मजीकी यह बात सुनकर महामना द्रोणाचार्यने समस्त राजाओंके मध्यमें उनकी प्रशंसा करते हुए राजा धृतराष्ट्रसे इस प्रकार कहा—॥ ४३ ॥

यदाह भरतश्रेष्ठो भीष्मस्तत् क्रियतां नृप ।
न काममर्थलिप्सूनां वचनं कर्तुमर्हसि ॥ ४४ ॥

'नरेश्वर ! भरतकुलतिलक भीष्मजीने जो कहा है, वही कीजिये । जो लोग अर्थ और कामके लोभी हैं, उनकी बातें आपको नहीं माननी चाहिये ॥ ४४ ॥

पुरा युद्धात् साधु मन्ये पाण्डवैः सह संगतम् ।
यद् वाक्यमर्जुनेनोक्तं संजयेन निवेदितम् ॥ ४५ ॥
सर्वं तदपि जानामि करिष्यति च पाण्डवः ।

'मैं तो युद्धसे पहले पाण्डवोंके साथ संधि करना ही अच्छा समझता हूँ । अर्जुनने जो बात कही है और संजयने उनका जो संदेश यहाँ सुनाया है, मैं वह सब जानता और समझता हूँ । पाण्डुनन्दन अर्जुन वैसा करके ही रहेंगे॥४५½॥

न ह्यस्य त्रिषु लोकेषु सदृशोऽस्ति धनुर्धरः ॥ ४६ ॥

'तीनों लोकोंमें अर्जुनके समान कोई धनुर्धर नहीं है'।४६।

अनादृत्य तु तद् वाक्यमर्थवद् द्रोणभीष्मयोः ।
ततः स संजयं राजा पर्यपृच्छत पाण्डवान् ॥ ४७ ॥

द्रोणाचार्य और भीष्मकी बातें सार्थक और सारगर्भित थीं; तथापि उनकी अवहेलना करके राजा धृतराष्ट्र पुनः संजयसे पाण्डवोंका समाचार पूछने लगे ॥ ४७ ॥

तदैव कुरवः सर्वे निराशा जीवितेऽभवन् ।
भीष्मद्रोणौ यदा राजा न सम्यगनुभाषते ॥ ४८ ॥

जब राजा धृतराष्ट्रने भीष्म और द्रोणाचार्यसे भी अच्छी तरह वार्तालाप नहीं किया, तभी समस्त कौरव अपने जीवन-से निराश हो गये ॥ ४८ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि यानसंधिपर्वणि भीष्मद्रोणवाक्ये एकोनपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ४९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत यानसंधिपर्वमें भीष्मद्रोणवचनविषयक उनचासवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ४९ ॥

पञ्चाशत्तमोऽध्यायः

संजयद्वारा युधिष्ठिरके प्रधान सहायकोंका वर्णन

धृतराष्ट्र उवाच

किमसौ पाण्डवो राजा धर्मपुत्रोऽभ्यभाषत ।
श्रुत्वेह बहुलाः सेनाः प्रीत्यर्थं नः समागताः ॥ १ ॥

धृतराष्ट्रने पूछा—संजय ! हमारी प्रसन्नता और सहायताके लिये यहाँ हस्तिनापुरमें बहुत-सी सेना एकत्र हो गयी है, यह समाचार सुनकर पाण्डवराज धर्मपुत्र युधिष्ठिरने क्या कहा ? ॥ १ ॥

किमसौ चेष्टते सूत योत्स्यमानो युधिष्ठिरः ।
के वास्य भ्रातृपुत्राणां पश्यन्त्याज्ञेप्सवो मुखम् ॥ २ ॥

सूत ! भविष्यमें होनेवाले युद्धके लिये उद्यत होकर राजा युधिष्ठिर कैसी तैयारी कर रहे हैं ? उनके भाइयों और पुत्रोंमेंसे कौन-कौन-से लोग उनसे किसी कार्यके लिये आज्ञा पानेकी इच्छासे उनका मुँह जोहते रहते हैं ? ॥ २ ॥

के स्विदेनं वारयन्ति युद्धाच्छाम्येति वा पुनः ।
निकृत्या कोपितं मन्दैर्धर्मज्ञं धर्मचारिणम् ॥ ३ ॥

युधिष्ठिर धर्मके ज्ञाता हैं और धर्मके आचरणमें सदा तत्पर रहते हैं । मेरे मन्दबुद्धि पुत्रोंने अपने कपटपूर्ण बर्तावसे उन्हें कुपित कर दिया है । वहाँ कौन-कौन ऐसे हैं, जो उन्हें बारंबार शान्त रहनेकी सलाह देकर युद्धसे रोकते हैं ?

संजय उवाच

राज्ञो मुखमुदीक्षन्ते पञ्चालाः पाण्डवैः सह ।
युधिष्ठिरस्य भद्रं ते स सर्वाननुशास्ति च ॥ ४ ॥

संजयने कहा—महाराज ! आपका कल्याण हो । पाञ्चाल और पाण्डव सभी राजा युधिष्ठिरके मुखकी ओर देखते रहते हैं और वे उन सबको विभिन्न कार्योंके लिये आज्ञा देते हैं ॥ ४ ॥

पृथग्भूताः पाण्डवानां पञ्चालानां रथव्रजाः ।
आयान्तमभिनन्दन्ति कुन्तीपुत्रं युधिष्ठिरम् ॥ ५ ॥

जब कुन्तीपुत्र युधिष्ठिर सामने आते हैं, तब पाण्डवों तथा पाञ्चालोंके रथसमूह पृथक्-पृथक् श्रेणियोंमें खड़े होकर उनका अभिनन्दन करते हैं ॥ ५ ॥

नभः सूर्यमिवोद्यन्तं कौन्तेयं दीप्ततेजसम् ।
पञ्चालाः प्रतिनन्दन्ति तेजोराशिमिवोदितम् ॥ ६ ॥

जैसे आकाश उदयकालमें उद्दीप्त तेजस्वी सूर्यदेवका अभिनन्दन करता है, उसी प्रकार, मानो तेजके पुञ्जका उदय होता हो इस तरह दिखायी देनेवाले कुन्तीनन्दन युधिष्ठिरका समस्त पाञ्चालगण अभिनन्दन करते हैं ॥ ६ ॥

आगोपालाविपालाश्च नन्दमाना युधिष्ठिरम् ।
पञ्चालाः केकया मत्स्याः प्रतिनन्दन्ति पाण्डवम् ॥ ७ ॥

ग्वालिये और गड़रियोंसे लेकर पाञ्चाल, केकय और मत्स्यदेशोंके राजवंशतक सभी लोग पाण्डुपुत्र युधिष्ठिरका सम्मान करते हैं ॥ ७ ॥

ब्राह्मण्यो राजपुत्र्यश्च विशां दुहितरश्च याः ।
क्रीडन्त्योऽभिसमायान्ति पार्थं संनद्धमीक्षितुम् ॥ ८ ॥

ब्राह्मणों, क्षत्रियों तथा वैश्योंकी कन्याएँ भी खेलती-खेलती युद्धके लिये सुसज्जित युधिष्ठिरको देखनेके लिये उनके पास आ जाती हैं ॥ ८ ॥

धृतराष्ट्र उवाच

संजयाचक्ष्व येनास्मान् पाण्डवा अभ्ययुञ्जत ।
धृष्टद्युम्नस्य सैन्येन सोमकानां बलेन च ॥ ९ ॥

धृतराष्ट्रने पूछा—संजय ! बताओ, पाण्डवलोग धृष्टद्युम्नकी सेना तथा अन्यान्य सोमकवंशियोंकी विशाल वाहिनीके सिवा और किस-किसकी सहायता पाकर हमलोगों-के साथ युद्ध करनेको उद्यत हुए हैं ? ॥ ९ ॥

वैशम्पायन उवाच

गावल्गणिस्तु तत्पृष्टः सभायां कुरुसंसदि ।
निःश्वस्य सुभृशं दीर्घं मुहुः संचिन्तयन्निव ॥ १० ॥
तत्रानिमित्ततो दैवात् सूतं कश्मलमाविशत् ।
तदाऽऽचचक्षे विदुरः सभायां राजसंसदि ॥ ११ ॥
संजयोऽयं महाराज मूर्च्छितः पतितो भुवि ।
वाचं न सृजते कांचिद्धीनप्रज्ञोऽल्पचेतनः ॥ १२ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! कौरवोंकी सभामें राजा धृतराष्ट्रके इस प्रकार पूछनेपर संजय बारंबार लम्बी साँस खींचते हुए दीर्घकालतक गहरी चिन्तामें निमग्न-से हो गये और सहसा बिना किसी विशेष कारणके ही वे मूर्छित होकर गिर पड़े । तब विदुरजीने उस राज-सभामें धृतराष्ट्रसे कहा—'महाराज ! ये संजय मूर्च्छित होकर धरतीपर गिर पड़े हैं । उनकी बुद्धि और चेतना लुप्त-सी हो रही है, अतः अभी कुछ बोल नहीं सकते' ॥ १०–१२ ॥

धृतराष्ट्र उवाच

अपश्यत् संजयो नूनं कुन्तीपुत्रान् महारथान् ।
तैरस्य पुरुषव्याघ्रैर्भृशमुद्वेजितं मनः ॥ १३ ॥

धृतराष्ट्र बोले—निश्चय ही संजयने महारथी कुन्ती-पुत्रोंको देखा है । जान पड़ता है, उन पुरुषसिंह पाण्डवोंने इसके मनको अत्यन्त उद्विग्न कर दिया है ॥ १३ ॥

वैशम्पायन उवाच

संजयश्चेतनां लब्ध्वा प्रत्याश्वस्येदमब्रवीत् ।
धृतराष्ट्रं महाराज सभायां कुरुसंसदि ॥ १४ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! इतनेमें ही संजयको चेत हो आया और वे आश्वस्त होकर कौरव-सभामें धृतराष्ट्रसे बोले ॥ १४ ॥

संजय उवाच

दृष्टवानस्मि राजेन्द्र कुन्तीपुत्रान् महारथान् ।
मत्स्यराजगृहावासनिरोधेनावकर्शितान् ॥ १५ ॥

संजयने कहा—राजेन्द्र ! मैंने महारथी कुन्तीपुत्रों-का दर्शन किया है । वे अज्ञातवासके समय मत्स्यनरेश विराटके घरमें छिपकर रहनेके कारण अत्यन्त दुबले हो गये हैं ॥ १५ ॥

शृणु यैर्हि महाराज पाण्डवा अभ्ययुञ्जत ।
धृष्टद्युम्नेन वीरेण युद्धे वस्तेऽभ्ययुञ्जत ॥ १६ ॥

महाराज ! पाण्डवोंने जिन लोगोंकी सहायता पाकर युद्धके लिये तैयारी की है, उनका परिचय देता हूँ, सुनिये । पहली बात यह है कि उन्हें वीरवर धृष्टद्युम्नका पूर्ण सहयोग प्राप्त हुआ है, जिससे सबल होकर उन पाण्डवोंने आप-लोगोंपर चढ़ाई करनेकी तैयारी की है ॥ १६ ॥

यो नैव रोषान्न भयान्न लोभान्नार्थकारणात् ।
न हेतुवादाद् धर्मात्मा सत्यं जह्यात् कदाचन ॥ १७ ॥
यः प्रमाणं महाराज धर्मे धर्मभृतां वरः ।
अजातशत्रुणा तेन पाण्डवा अभ्ययुञ्जत ॥ १८ ॥

महाराज ! जो धर्मात्मा न रोषसे, न भयसे, न लोभसे, न अर्थके लिये और न बहाना बनाकर ही कभी सत्यका परित्याग कर सकते हैं, जो धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ हैं और धर्मके विषयमें प्रमाण माने जाते हैं, उन अजातशत्रुके प्रभावसे पाण्डवोंने युद्धकी तैयारी की है ॥ १७-१८ ॥

यस्य बाहुबले तुल्यः पृथिव्यां नास्ति कश्चन ।
यो वै सर्वान् महीपालान् वशे चक्रे धनुर्धरः ।
यः काशीनङ्गमगधान् कलिङ्गांश्च युधाजयत् ॥ १९ ॥
तेन वो भीमसेनेन पाण्डवा अभ्ययुञ्जत ।

बाहुबलमें जिनकी समानता करनेवाला इस भूमण्डलमें दूसरा कोई नहीं है, जिन्होंने केवल धनुष धारण करके युद्धमें काशी, अङ्ग, मगध और कलिङ्ग आदि देशोंके समस्त भूपालोंको जीतकर अपने वशमें कर लिया था, उन भीमसेनके बलसे पाण्डवोंने आपलोगोंपर आक्रमण करनेका उद्योग आरम्भ किया है ॥ १९½ ॥

यस्य वीर्येण सहसा चत्वारो भुवि पाण्डवाः ॥ २० ॥
निःसृत्य जतुगेहाद् वै हिडिम्बात् पुरुषादकात्।
यश्चैषामभवद् द्वीपः कुन्तीपुत्रो वृकोदरः ॥ २१ ॥
याज्ञसेनीमथो यत्र सिन्धुराजोऽपकृष्टवान्।
तत्रैषामभवद् द्वीपः कुन्तीपुत्रो वृकोदरः ॥ २२ ॥
यश्च तान् संगतान् सर्वान् पाण्डवान् वारणावते।
दह्यतो मोचयामास तेन वस्तेऽभ्ययुञ्जत ॥ २३ ॥

जिनके बल और पराक्रमसे चारों पाण्डव सहसा लाक्षाभवनसे निकलकर इस पृथ्वीपर जीवित बच गये, जिन्होंने मनुष्यभक्षी राक्षस हिडिम्बसे अपने भाइयोंकी रक्षा की, उस संकटके समय जो कुन्तीकुमार भीम इन पाण्डवोंके लिये द्वीपके समान आश्रयदाता हो गये, जब सिन्धुराज जयद्रथने द्रौपदीका अपहरण किया था, उस समय भी जिन कुन्तीकुमार वृकोदरने उन सबको द्वीपकी भाँति आश्रय दिया था तथा जिन्होंने वारणावत नगरमें एकत्र हुए समस्त पाण्डवोंको लाक्षागृहकी आगमें जलनेसे बचा लिया था, उन्हीं भीमसेनके बलसे पाण्डवोंने आपलोगोंके साथ युद्धकी तैयारी की है ॥ २०–२३ ॥

कृष्णायां चरता प्रीतिं येन क्रोधवशा हताः।
प्रविश्य विषमं घोरं पर्वतं गन्धमादनम् ॥ २४ ॥
यस्य नागायुतैर्वीर्यं भुजयोः सारमर्पितम्।
तेन वो भीमसेनेन पाण्डवा अभ्ययुञ्जत ॥ २५ ॥

जिन्होंने द्रौपदीपर अपना प्रेम जताते हुए अत्यन्त दुर्गम एवं भयंकर गन्धमादन पर्वतकी भूमिमें प्रवेश करके क्रोधवश नामवाले राक्षसोंको मार डाला, जिनकी दोनों भुजाओंमें दस हजार हाथियोंके समान बल है, उन्हीं भीमसेनके बलसे पाण्डवोंने आपलोगोंपर आक्रमणका उद्योग किया है ॥ २४-२५ ॥

कृष्णद्वितीयो विक्रम्य तुष्ट्यर्थं जातवेदसः।
अजयद् यः पुरा वीरो युध्यमानं पुरंदरम् ॥ २६ ॥
यः स साक्षान्महादेवं गिरिशं शूलपाणिनम्।
तोषयामास युद्धेन देवदेवमुमापतिम् ॥ २७ ॥
यश्च सर्वान् वशे चक्रे लोकपालान् धनुर्धरः।
तेन वो विजयेनाजौ पाण्डवा अभ्ययुञ्जत ॥ २८ ॥

जिन वीरशिरोमणिने पहले केवल भगवान् श्रीकृष्णके साथ जाकर अग्निदेवकी तृप्तिके लिये पराक्रम करके अपने साथ युद्ध करनेवाले देवराज इन्द्रको भी पराजित कर दिया, जिन्होंने युद्धके द्वारा पर्वतपर शयन करनेवाले तथा हाथोंमें त्रिशूल लिये रहनेवाले साक्षात् देवाधिदेव महादेव उमापतिको भी संतुष्ट किया था तथा जिन धनुर्धर वीरने समस्त लोकपालोंको भी हराकर अपने वशमें कर लिया, उन्हीं अर्जुनके बलपर पाण्डवलोग युद्धमें आपलोगोंसे भिड़नेको तैयार हैं ॥ २६–२८ ॥

यः प्रतीचीं दिशं चक्रे वशे म्लेच्छगणायुताम्।
स तत्र नकुलो योद्धा चित्रयोधी व्यवस्थितः ॥ २९ ॥
तेन वो दर्शनीयेन वीरेणातिधनुर्भृता।
माद्रीपुत्रेण कौरव्य पाण्डवा अभ्ययुञ्जत ॥ ३० ॥

कुरुनन्दन ! जिन्होंने सहस्रों म्लेच्छोंसे भरी हुई पश्चिम दिशाको जीतकर अपने अधीन कर लिया था, वे विचित्र रीतिसे युद्ध करनेमें कुशल योद्धा नकुल उधरसे युद्धके लिये तैयार खड़े हैं। माद्रीकुमार नकुल महान् धनुर्धर और अत्यन्त दर्शनीय वीर हैं। उनके बलसे पाण्डवोंने आपलोगोंपर आक्रमणकी तैयारी की है ॥ २९-३० ॥

यः काशीनङ्गमगधान् कलिङ्गांश्च युधाजयत्।
तेन वः सहदेवेन पाण्डवा अभ्ययुञ्जत ॥ ३१ ॥

जिन्होंने युद्धमें काशी, अङ्ग, मगध तथा कलिङ्गदेशके राजाओंको पराजित किया है, उन वीरवर सहदेवके बलसे पाण्डव आपलोगोंसे भिड़नेके लिये तैयार हुए हैं ॥ ३१ ॥

यस्य वीर्येण सदृशाश्चत्वारो भुवि मानवाः।
अश्वत्थामा धृष्टकेतू रुक्मी प्रद्युम्न एव च ॥ ३२ ॥
तेन वः सहदेवेन युद्धं राजन् महात्ययम्।
यवीयसा नृवीरेण माद्रीनन्दिकरेण च ॥ ३३ ॥

राजन् ! इस भूमण्डलमें अश्वत्थामा, धृष्टकेतु, रुक्मी तथा प्रद्युम्न—ये चार पुरुष ही बल और पराक्रममें जिनकी समानता कर सकते हैं, जो माद्रीको आनन्द प्रदान करनेवाले तथा पाण्डवोंमें सबसे छोटे हैं, उन नरश्रेष्ठ वीर सहदेवके साथ आपलोगोंका महान् विनाशकारी युद्ध होनेवाला है ॥

तपश्चचार या घोरं काशिकन्या पुरा सती।
भीष्मस्य वधमिच्छन्ती प्रेत्यापि भरतर्षभ ॥ ३४ ॥
पाञ्चालस्य सुता जज्ञे दैवाच्च स पुनः पुमान्।
स्त्रीपुंसोः पुरुषव्याघ्र यः स वेद गुणागुणान् ॥ ३५ ॥

भरतश्रेष्ठ ! पूर्वकालमें काशिराजकी जिस सती-साध्वी कन्या अम्बाने भीष्मजीके वधकी इच्छासे घोर तपस्या की थी, वही मृत्युके पश्चात् पाञ्चालराज द्रुपदकी पुत्री होकर उत्पन्न हुई, परंतु दैववश वह फिर पुरुष हो गयी। वह वीर पाञ्चालकुमार स्त्री और पुरुष दोनों शरीरोंके गुण और अवगुणको जानता है ॥ ३४-३५ ॥

यः कलिङ्गान् समापेदे पाञ्चाल्यो युद्धदुर्मदः।
शिखण्डिना वः कुरवः कृतास्त्रेणाभ्ययुञ्जत ॥ ३६ ॥

कौरवो ! वह द्रुपदकुमार युद्धमें उन्मत्त होकर लड़नेवाला है। उसीने कलिङ्गदेशीय क्षत्रियोंको पराजित किया था। उस अस्त्रवेत्ता वीरका नाम शिखण्डी है, जिसके बलपर पाण्डवोंने आपलोगोंसे युद्धकी तैयारी की है ॥ ३६ ॥

यं यक्षः पुरुषं चक्रे भीष्मस्य निधनेच्छया।
महेष्वासेन रौद्रेण पाण्डवा अभ्ययुञ्जत ॥ ३७॥

जिसे स्थूणाकर्ण यक्षने पुरुष बना दिया था, भीष्मके वधकी इच्छा रखनेवाले उस भयंकर एवं महाधनुर्धर शिखण्डीके बलपर पाण्डव आपसे युद्ध करनेको तैयार हैं ॥

महेष्वासा राजपुत्रा भ्रातरः पञ्च केकयाः।
आमुक्तकवचाः शूरास्तैश्च वस्तेऽभ्ययुञ्जत ॥ ३८ ॥

केकयदेशके पाँच राजकुमार जो परस्पर भाई हैं, सदा कवच बाँधे युद्धके लिये उद्यत रहते हैं। वे महान् धनुर्धर शूरवीर हैं। उनके बलपर पाण्डवोंने आपलोगोंसे युद्धकी तैयारी की है ॥ ३८॥

यो दीर्घबाहुः क्षिप्रास्त्रो धृतिमान् सत्यविक्रमः।
तेन वो वृष्णिवीरेण युयुधानेन संगरः ॥ ३९ ॥

जिनकी बड़ी-बड़ी भुजाएँ हैं, जो बड़ी शीघ्रतासे अस्त्र-संचालन करते हैं तथा जो धीर एवं सत्यपराक्रमी हैं, उन वृष्णिवीर सात्यकिके साथ आपलोगोंका संग्राम होनेवाला है ॥

य आसीच्छरणं काले पाण्डवानां महात्मनाम्।
रणे तेन विराटेन भविता वः समागमः ॥ ४० ॥

जो अज्ञातवासके समय महात्मा पाण्डवोंके आश्रयदाता थे, उन राजा विराटके साथ भी आपलोगोंका युद्ध होगा ॥

यः स काशिपती राजा वाराणस्यां महारथः।
स तेषामभवद् योद्धा तेन वस्तेऽभ्ययुञ्जत ॥ ४१ ॥

काशिदेशके अधिपति महारथी नरेश जो वाराणसीपुरीमें रहते हैं, पाण्डवोंकी ओरसे युद्ध करनेको तैयार हैं। उनको साथ लेकर पाण्डव आपलोगोंपर आक्रमण करनेके लिये तैयार हैं ॥ ४१ ॥

शिशुभिर्दुर्जयैः संख्ये द्रौपदेयैर्महात्मभिः।
आशीविषसमस्पर्शैः पाण्डवा अभ्ययुञ्जत ॥ ४२ ॥

द्रौपदीके महामना पुत्र देखनेमें बालक होनेपर भी समर-भूमिमें दुर्जय हैं। उन्हें छेड़ना विषधर सर्पोंको छू लेनेके समान है। उनके बलपर भी पाण्डव आपलोगोंसे भिड़नेकी तैयारी कर रहे हैं ॥ ४२ ॥

यः कृष्णसदृशो वीर्ये युधिष्ठिरसमो दमे।
तेनाभिमन्युना संख्ये पाण्डवा अभ्ययुञ्जत ॥ ४३ ॥

जो पराक्रममें भगवान् श्रीकृष्णके समान और इन्द्रिय-संयममें युधिष्ठिरके तुल्य हैं, उन अभिमन्युको साथ लेकर पाण्डवोंने आपलोगोंसे युद्धकी तैयारी की है ॥ ४३ ॥

यश्चैवाप्रतिमो वीर्ये धृष्टकेतुर्महायशाः।
दुःसहः समरे क्रुद्धः शैशुपालिर्महारथः ॥ ४४ ॥
तेन वश्चेदिराजेन पाण्डवा अभ्ययुञ्जत।
अक्षौहिण्या परिवृतः पाण्डवान् योऽभिसंश्रितः॥ ४५॥

जिसके पराक्रमकी कहीं तुलना नहीं है, शिशुपालका वह महारथी पुत्र महायशस्वी धृष्टकेतु समरभूमिमें कुपित होनेपर शत्रुओंके लिये दुःसह हो उठता है। उस चेदिराजके साथ पाण्डवलोग आपपर आक्रमण करनेकी तैयारी कर रहे हैं। उसने एक अक्षौहिणी सेनाके साथ आकर पाण्डवोंका पक्ष ग्रहण किया है ॥ ४४-४५ ॥

यः संश्रयः पाण्डवानां देवानामिव वासवः।
तेन वो वासुदेवेन पाण्डवा अभ्ययुञ्जत ॥ ४६ ॥

जैसे इन्द्र देवताओंके आश्रयदाता हैं, उसी प्रकार जो पाण्डवोंको शरण देनेवाले हैं, उन भगवान् वासुदेवके साथ पाण्डवोंने आपपर आक्रमण करनेकी तैयारी की है ॥ ४६ ॥

तथा चेदिपतेर्भ्राता शरभो भरतर्षभ।
करकर्षेण सहितस्ताभ्यां वस्तेऽभ्ययुञ्जत ॥ ४७ ॥

भरतश्रेष्ठ ! चेदिराजके भाई शरभ (अपने अनुज) करकर्षके साथ पाण्डवोंकी सहायताके लिये आये हैं। उन दोनोंको साथ लेकर उन्होंने आपसे युद्ध करनेका उद्योग किया है ॥

जारासंधिः सहदेवो जयत्सेनश्च तावुभौ।
युद्धेऽप्रतिरथौ वीरौ पाण्डवार्थे व्यवस्थितौ ॥ ४८ ॥

जरासंधपुत्र सहदेव और जयत्सेन दोनों युद्धमें अपना सानी नहीं रखते हैं। वे दोनों मागध वीर पाण्डवोंकी सहायताके लिये आकर डटे हुए हैं ॥ ४८ ॥

द्रुपदश्च महातेजा बलेन महता वृतः।
त्यक्तात्मा पाण्डवार्थाय योत्स्यमानो व्यवस्थितः॥ ४९॥

महातेजस्वी राजा द्रुपद विशाल सेनाके साथ आये हैं और पाण्डवोंके लिये अपने शरीर और प्राणोंकी परवा न करके युद्ध करनेके लिये उद्यत हैं ॥ ४९ ॥

एते चान्ये च बहवः प्राच्योदीच्या महीक्षितः।
शतशो यानुपाश्रित्य धर्मराजो व्यवस्थितः ॥ ५० ॥

ये तथा और भी बहुत-से पूर्व तथा उत्तर दिशाओंमें रहनेवाले नरेश सैकड़ोंकी संख्यामें आकर वहाँ डटे हुए हैं, जिनका आश्रय लेकर महाराज युधिष्ठिर युद्धके लिये तैयार हैं ॥ ५० ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि यानसंधिपर्वणि संजयवाक्ये पञ्चशत्तमोऽध्यायः ॥ ५० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत यानसंधिपर्वमें संजयवाक्यविषयक पचासवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ५० ॥

एकपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

भीमसेनके पराक्रमसे डरे हुए धृतराष्ट्रका विलाप

धृतराष्ट्र उवाच

सर्व एते महोत्साहा ये त्वया परिकीर्तिताः।
एकतस्त्वेव ते सर्वे समेता भीम एकतः॥ १॥

धृतराष्ट्र बोले—संजय ! तुमने जिन लोगोंके नाम बताये हैं, ये सभी बड़े उत्साही वीर हैं। इनमें भी जितने लोग वहाँ एकत्र हुए हैं, वे सब एक ओर और भीमसेन एक ओर॥

भीमसेनाद्धि मे भूयो भयं संजायते महत्।
क्रुद्धादमर्षणात् तात व्याघ्रादिव महारुरोः॥ २॥

तात ! मुझे क्रोधमें भरे हुए अमर्षशील भीमसेनसे बड़ा डर लगता है; ठीक उसी तरह, जैसे महान् मृगको किसी व्याघ्रसे सदा भय बना रहता है॥ २॥

जागर्मि रात्रयः सर्वा दीर्घमुष्णं च निःश्वसन्।
भीतो वृकोदरात् तात सिंहात् पशुरिवापरः॥ ३॥

वत्स ! सिंहसे डरे हुए दूसरे पशुकी भाँति मैं भीमसेनसे भयभीत हो रातभर गर्म-गर्म लंबी साँसें खींचता हुआ जागता रहता हूँ॥ ३॥

न हि तस्य महाबाहोः शक्रप्रतिमतेजसः।
सैन्येऽस्मिन् प्रतिपश्यामि य एनं विषहेद् युधि॥ ४॥

महाबाहु भीम इन्द्रके समान तेजस्वी हैं। मैं अपनी सेनामें किसीको भी ऐसा नहीं देखता, जो भीमका सामना कर सके—युद्धमें इसके वेगको सह सके॥ ४॥

अमर्षणश्च कौन्तेयो दृढवैरश्च पाण्डवः।
अनर्महासी सोन्मादस्तिर्यक्प्रेक्षी महास्वनः॥ ५॥

कुन्तीकुमार पाण्डुपुत्र भीम असहनशील तथा वैरको दृढ़तापूर्वक पकड़े रखनेवाला है। उसकी की हुई हँसी भी हँसीके लिये नहीं होती, वह उसे सत्य कर दिखाता है। उसका स्वभाव उद्धत है। वह टेढ़ी निगाहसे देखता और बड़े जोरसे गर्जना करता है॥ ५॥

महावेगो महोत्साहो महाबाहुर्महाबलः।
मन्दानां मम पुत्राणां युद्धेनान्तं करिष्यति॥ ६॥

वह महान् वेगशाली, अत्यन्त उत्साही, विशालबाहु और महाबली है। वह युद्ध करके मेरे मन्दबुद्धि पुत्रोंको अवश्य मार डालेगा॥ ६॥

ऊरुग्राहगृहीतानां गदां बिभ्रद् वृकोदरः।
कुरूणामृषभो युद्धे दण्डपाणिरिवान्तकः॥ ७॥

मेरे पुत्र भी बड़े दुराग्रही हैं; अतः हाथमें गदा लिये कुरुश्रेष्ठ वृकोदर भीम दण्डपाणि यमराजकी भाँति युद्धमें इनका निश्चय ही वध कर डालेगा॥ ७॥

अष्टास्त्रिमायसीं घोरां गदां काञ्चनभूषणाम्।
मनसाहं प्रपश्यामि ब्रह्मदण्डमिवोद्यतम्॥ ८॥

मैं मनकी आँखोंसे देख रहा हूँ, भीमसेनकी स्वर्णभूषित भयंकर गदा, जो लोहेकी बनी हुई और आठ कोनोंसे युक्त है, ब्रह्मदण्डके समान उठी हुई है॥ ८॥

यथा मृगाणां यूथेषु सिंहो जातबलश्चरेत्।
मामकेषु तथा भीमो बलेषु विचरिष्यति॥ ९॥

जैसे बलवान् सिंह मृगोंके यूथोंमें निःशङ्क विचरण करता है, उसी प्रकार भीमसेन मेरी विशाल वाहिनियोंमें बेखटके विचरेगा॥ ९॥

सर्वेषां मम पुत्राणां स एकः क्रूरविक्रमः।
बह्वाशी विप्रतीपश्च बाल्येऽपि रभसः सदा॥ १०॥

बाल्यकालमें भी मेरे सब पुत्रोंमें एकमात्र वह भीमसेन ही क्रूर पराक्रमी, बहुत अधिक खानेवाला, सबके प्रतिकूल चलनेवाला तथा सदा अत्यन्त वेगशाली था॥ १०॥

उद्वेपते मे हृदयं ये मे दुर्योधनादयः।
बाल्येऽपि तेन युध्यन्तो वारणेनेव मर्दिताः॥ ११॥

उसकी याद आते ही मेरा हृदय काँपने लगता है। मेरे दुर्योधन आदि पुत्र बचपनमें भी जब उसके साथ खेल-कूदमें लड़ते थे, तब वह गजराजकी भाँति इन सबको मसल देता था॥



तस्य वीर्येण संक्लिष्टा नित्यमेव सुता मम।
स एव हेतुर्भेदस्य भीमो भीमपराक्रमः ॥ १२॥

मेरे पुत्र उसके बल-पराक्रमसे सदा ही कष्टमें पड़े रहते थे। भयंकर पराक्रमी भीमसेन ही इस फूटकी जड़ है॥१२॥

ग्रसमानमनीकानि नरवारणवाजिनाम्।
पश्यामीवाग्रतो भीमं क्रोधमूर्च्छितमाहवे ॥ १३ ॥

मुझे अपने सामने दीख-सा रहा है कि भीमसेन युद्धमें क्रोधसे मूर्छित हो मनुष्य, हाथी और घोड़ोंकी (समस्त) सेनाओंको कालका ग्रास बनाता जा रहा है॥ १३॥

अस्त्रे द्रोणार्जुनसमं वायुवेगसमं जवे।
महेश्वरसमं क्रोधे को हन्याद् भीममाहवे ॥ १४॥

वह अस्त्र विद्यामें द्रोणाचार्य तथा अर्जुनके समान है, वेगमें वायुकी समानता करता है एवं क्रोधमें महेश्वरके तुल्य है। ऐसे भीमको युद्धमें कौन मार सकता है ?॥ १४॥

संजयाचक्ष्व मे शूरं भीमसेनममर्षणम्।
अतिलाभं तु मन्येऽहं यत् तेन रिपुघातिना॥ १५॥
तदैव न हताः सर्वे पुत्रा मम मनस्विना।

संजय! मुझे अमर्षमें भरे हुए शूरवीर भीमसेनका समाचार सुनाओ। मैं तो यही सबसे बड़ा लाभ मानता हूँ कि उस शत्रुघाती मनस्वी वीरने (जब द्यूतक्रीड़ा हो रही थी) उसी समय मेरे सब पुत्रोंको नहीं मार डाला॥ १५½॥

येन भीमबला यक्षा राक्षसाश्च पुरा हताः॥ १६॥
कथं तस्य रणे वेगं मानुषः प्रसहिष्यति।

जिसने पूर्वकालमें भयंकर बलशाली यक्षों तथा राक्षसोंका वध किया है, युद्धमें उसका वेग कोई मनुष्य कैसे सह सकेगा ?॥१६½॥

न स जातु वशे तस्थौ मम बाल्येऽपि संजय॥ १७॥
किं पुनर्मम दुष्पुत्रैः क्लिष्टः सम्प्रति पाण्डवः।

संजय! पाण्डुकुमार भीमसेन बचपनमें भी कभी मेरे वशमें नहीं रहा; फिर जब मेरे दुष्ट पुत्रोंने उसे बार-बार कष्ट दिया है, तब वह इस समय मेरे वशमें कैसे हो सकता है?॥१७½

निष्ठुरो रोषणोऽत्यर्थं भज्येतापि न संनमेत्।
तिर्यक्प्रेक्षी संहतभ्रूः कथं शाम्येद् वृकोदरः॥ १८॥

वह क्रूर और क्रोधी है। टूट भले ही जाय, पर झुक नहीं सकेगा। सदा टेढ़ी निगाहसे ही देखता है। उसकी भौंहें क्रोधके कारण परस्पर गुँथी रहती हैं। ऐसा भीमसेन कैसे शान्त हो सकेगा ?॥ १८॥

शूरस्तथाप्रतिबलो गौरस्ताल इवोन्नतः।
प्रमाणतो भीमसेनः प्रादेशेनाधिकोऽर्जुनात्॥ १९॥

गोरे रंगका वह शूरवीर भीमसेन ताड़के समान ऊँचा है। ऊँचाईमें वह अर्जुनसे एक बित्ता अधिक है, बलमें उसकी समता करनेवाला दूसरा कोई नहीं है॥ १९॥

जवेन वाजिनोऽत्येति बलेनात्येति कुञ्जरान्।
अव्यक्तजल्पी मध्वक्षो मध्यमः पाण्डवो बली ॥ २०॥

वह स्पष्ट नहीं बोलता। उसकी आँखें सदा मधुके समान पिङ्गल वर्णकी दिखायी देती हैं। वह महाबली मध्यम पाण्डव अपने वेगसे घोड़ोंको भी लाँघ सकता है और बलसे हाथियों-को भी पराजित कर सकता है॥ २०॥

इति बाल्ये श्रुतः पूर्वं मया व्यासमुखात् पुरा।
रूपतो वीर्यतश्चैव याथातथ्येन पाण्डवः॥ २१॥

मैंने बाल्यकालमें ही व्यासजीके मुखसे पहले इस पाण्डुपुत्रके अद्भुत रूप और पराक्रमका यथार्थ वर्णन सुना था॥ २१॥

आयसेन स दण्डेन रथान् नागान् नरान् हयान्।
हनिष्यति रणे क्रुद्धो रौद्रः क्रूरपराक्रमः॥ २२॥

निष्ठुर पराक्रम प्रकट करनेवाला यह भयंकर भीमसेन समरभूमिमें कुपित होकर लोहदंडसे मेरे रथों, हाथियों, पैदल मनुष्यों और घोड़ोंका भी संहार कर डालेगा॥ २२॥

अमर्षी नित्यसंरब्धो भीमः प्रहरतां वरः।
मया तात प्रतीपानि कुर्वन् पूर्वं विमानितः॥ २३॥

तात संजय! सदा क्रोधमें भरा रहनेवाला अमर्षशील भीमसेन प्रहार करनेवाले योद्धाओंमें सबसे श्रेष्ठ है। मेरे पुत्रोंके प्रतिकूल आचरण करते समय मैंने पहले कई बार उसका अपमान किया है॥ २३॥

निष्कर्णामायसीं स्थूलां सुपार्श्वां काञ्चनीं गदाम्।
शतघ्नीं शतनिर्ह्रादां कथं शक्ष्यन्ति मे सुताः॥२४॥

उसकी लोहेकी गदा सीधी, मोटी, सुन्दर पार्श्वभागवाली और सुवर्णसे विभूषित है, वह शत-शत वज्रपातके समान बड़े जोरसे आवाज करती और एक ही चोटमें सैकड़ोंको मार डालती है। मेरे बेटे उसका आघात कैसे सह सकेंगे ?॥२४॥

अपारमप्लवागाधं समुद्रं शरवेगिनम्।
भीमसेनमयं दुर्गं तात मन्दास्तितीर्षवः॥ २५॥

तात! भीमसेन एक दुर्गम अपार समुद्र है, इसे पार करनेके लिये न तो कोई नौका है और न इसकी कहीं थाह ही है; बाण ही इसका वेग है, मेरे मूर्ख पुत्र इस भीमसेन-मय दुर्गम समुद्रको पार करना चाहते हैं॥२५॥

क्रोशतो मे न शृण्वन्ति बालाः पण्डितमानिनः।
विषमं न हि मन्यन्ते प्रपातं मधुदर्शिनः॥२६॥

मैं चीखता-चिल्लाता रह जाता हूँ, परंतु अपनेको पण्डित समझनेवाले ये मूर्ख पुत्र मेरी बात नहीं सुनते हैं। ये केवल

वृक्षकी ऊँची शाखामें लगे हुए शहदको देखते हैं, वहाँसे गिरनेका जो भयानक खटका है, उसकी ओर इनका ध्यान नहीं है ॥ २६ ॥

संयुगं ये गमिष्यन्ति नररूपेण मृत्युना ।
नियतं चोदिता धात्रा सिंहेनेव महामृगाः ॥ २७ ॥

जैसे महान् मृग सिंहसे भिड़ जायँ, उसी प्रकार जो लोग उस मनुष्यरूपी यमराजके साथ लड़नेके लिये युद्धभूमिमें उतरेंगे, उन्हें विधाताने ही मृत्युके लिये प्रेरित करके भेजा है, ऐसा मानना चाहिये ॥ २७ ॥

शैक्यां तात चतुष्किष्कुं षडस्रिममितौजसम् ।
प्रहितां दुःखसंस्पर्शां कथं शक्ष्यन्ति मे सुताः ॥ २८ ॥

तात संजय ! भीमसेनकी गदा छींकेपर रखने योग्य, चार हाथ लंबी और छः कोणोंसे विभूषित है । उस अत्यन्त तेजस्विनी गदाका स्पर्श भी दुःखदायक है । जब भीम उसे मेरे पुत्रोंपर चलायेगा, तब वे उसका आघात कैसे सह सकेंगे ? ॥ २८ ॥

गदां भ्रामयतस्तस्य भिन्दतो हस्तिमस्तकान् ।
सृक्किणी लेलिहानस्य बाष्पमुत्सृजतो मुहुः ॥ २९ ॥
उद्दिश्य नागान् पततः कुर्वतो भैरवान् रवान् ।
प्रतीपं पततो मत्तान् कुञ्जरान् प्रतिगर्जतः ॥ ३० ॥
विगाह्य रथमार्गेषु वरानुद्दिश्य निघ्नतः ।
अग्नेः प्रज्वलितस्येव अपि मुच्येत मे प्रजा ॥ ३१ ॥

भीमसेन जब क्रोधजनित आँसू बहाता और बारंबार अपने ओष्ठप्रान्तको चाटता हुआ गदा घुमा-घुमाकर हाथियोंके मस्तक विदीर्ण करने लगेगा, सामने भयंकर गर्जना करनेवाले गजराजोंको लक्ष्य करके उनकी ओर दौड़ेगा, प्रतिकूल दिशाकी ओर भागनेवाले मदोन्मत्त हाथियोंकी गर्जनाके उत्तरमें स्वयं भी सिंहनाद करेगा और मेरे रथियोंकी सेनाओंमें घुसकर श्रेष्ठ वीरोंको चुन-चुनकर मारने लगेगा, उस समय अग्निके समान प्रज्वलित होनेवाले भीमके हाथसे मेरे पुत्र कैसे जीवित बचेंगे ? ॥ २९–३१ ॥

वीथीं कुर्वन् महाबाहुर्द्रावयन् मम वाहिनीम् ।
नृत्यन्निव गदापाणिर्युगान्तं दर्शयिष्यति ॥ ३२ ॥

महाबाहु भीम मेरी सेनामें घुसकर अपने रथके लिये रास्ता बनाता, मेरी विशाल वाहिनीको खदेड़ता और हाथमें गदा लिये नृत्य-सा करता हुआ जब आगे बढ़ेगा, तब प्रलयकालका दृश्य उपस्थित कर देगा ॥ ३२ ॥

प्रभिन्न इव मातङ्गः प्रभञ्जन् पुष्पितान् द्रुमान् ।
प्रवेक्ष्यति रणे सेनां पुत्राणां मे वृकोदरः ॥ ३३ ॥

जैसे मदकी धारा बहानेवाला मतवाला हाथी फूले हुए वृक्षोंको तोड़ता हुआ आगे बढ़ता है, उसी प्रकार भीमसेन समरभूमिमें मेरे पुत्रोंकी सेनाके भीतर प्रवेश करेगा ॥ ३३ ॥

कुर्वन् रथान् विपुरुषान् विसारथिहयध्वजान् ।
आरुजन् पुरुषव्याघ्रो रथिनः सादिनस्तथा ॥ ३४ ॥
गङ्गावेग इवानूपांस्तीरजान् विविधान् द्रुमान् ।
प्रभङ्क्ष्यति रणे सेनां पुत्राणां मम संजय ॥ ३५ ॥

संजय ! वह पुरुषसिंह भीम रथोंको रथी, सारथि, अश्व तथा ध्वजाओंसे शून्य कर देगा एवं रथियों और घुड़सवारोंके अङ्ग-भङ्ग कर डालेगा । जैसे गङ्गाजीका बढ़ता हुआ वेग जलमय प्रदेशमें स्थित हुए नाना प्रकारके तटवर्ती वृक्षोंको गिराकर नष्ट कर देता है, उसी प्रकार भीम युद्धभूमिमें आकर मेरे पुत्रोंकी सेनाका संहार कर डालेगा ॥ ३४-३५ ॥

दिशो नूनं गमिष्यन्ति भीमसेनभयार्दिताः ।
मम पुत्राश्च भृत्याश्च राजानश्चैव संजय ॥ ३६ ॥

संजय ! निश्चय ही भीमसेनके भयसे पीडित हो मेरे पुत्र, सेवक तथा सहायक नरेश विभिन्न दिशाओंमें भाग जायँगे ॥ ३६ ॥

येन राजा महावीर्यः प्रविश्यान्तःपुरं पुरा ।
वासुदेवसहायेन जरासंधो निपातितः ॥ ३७ ॥
कृत्स्नेयं पृथिवी देवी जरासंधेन धीमता ।
मागधेन्द्रेण बलिना वशे कृत्वा प्रतापिता ॥ ३८ ॥

परम बुद्धिमान् और बलवान् महाबली मगधराज जरासंधने यह सारी पृथिवी अपने वशमें करके इसे पीड़ा देना प्रारम्भ किया था, परंतु भीमसेनने भगवान् श्रीकृष्णके साथ उसके अन्तःपुरमें जाकर उस महापराक्रमी नरेशको मार गिराया ॥ ३७-३८ ॥

भीष्मप्रतापात् कुरवो नयेनान्धकवृष्णयः ।
यन्न तस्य वशे जग्मुः केवलं दैवमेव तत् ॥ ३९ ॥

भीष्मजीके प्रतापसे कुरुवंशी और नीतिबलसे अंधकवृष्णिवंशके लोग जो जरासंधके वशमें नहीं पड़े, वह केवल दैवयोग था ॥ ३९ ॥

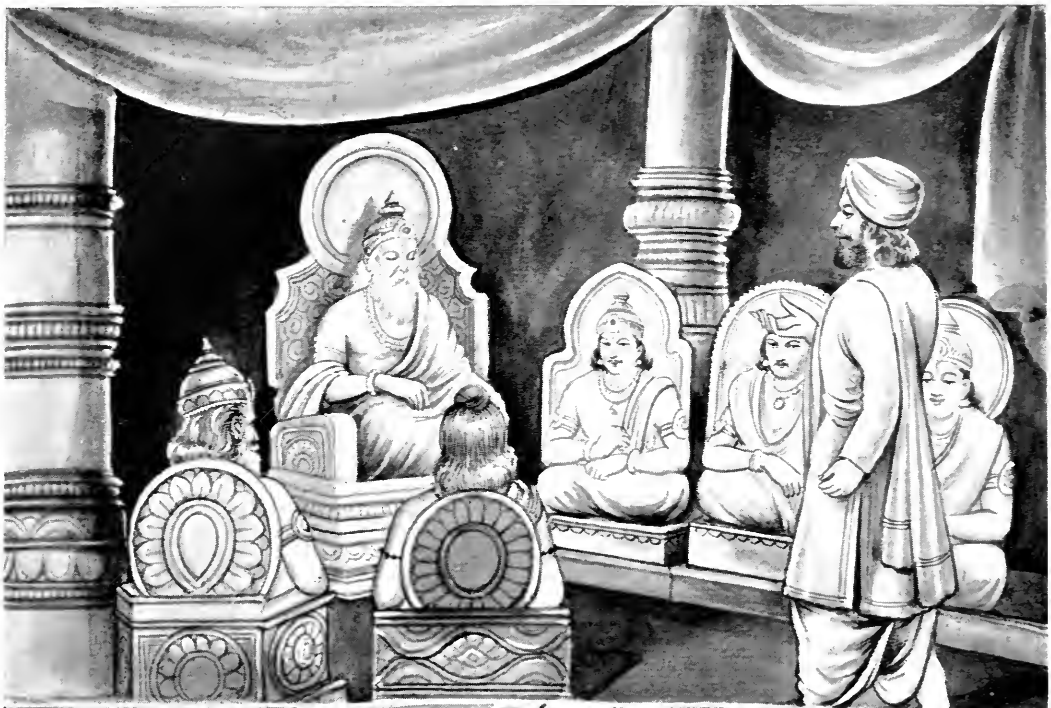
स गत्वा पाण्डुपुत्रेण तरसा बाहुशालिना ।
अनायुधेन वीरेण निहतः किं ततोऽधिकम् ॥ ४० ॥

परंतु अपनी भुजाओंसे सुशोभित होनेवाले वीर पाण्डुपुत्र भीमने वेगपूर्वक वहाँ जाकर बिना किसी अस्त्र-शस्त्रके ही उस जरासंधको यमलोक पहुँचा दिया, इससे बढ़कर पराक्रम और क्या होगा ? ॥ ४० ॥

दीर्घकालसमासक्तं विषमाशीविषो यथा ।
स मोक्ष्यति रणे तेजः पुत्रेषु मम संजय ॥ ४१ ॥

संजय ! जैसे विषधर सर्प बहुत दिनोंसे संचित किये हुए विषको किसीपर उगलता है, उसी प्रकार भीमसेन भी

धृतराष्ट्रकी सभामें संजय पाण्डवोंका संदेश सुना रहे हैं





भीमसेनका बल बखानते हुए धृतराष्ट्रका विलाप

दीर्घकालसे संचित अपने तेजको रणभूमिमें मेरे पुत्रोंपर छोड़ेगा ॥ ४१ ॥

महेन्द्र इव वज्रेण दानवान् देवसत्तमः ।
भीमसेनो गदापाणिः सूदयिष्यति मे सुतान् ॥ ४२ ॥

जैसे देवश्रेष्ठ इन्द्र वज्रसे दानवोंका संहार करते हैं, उसी प्रकार हाथमें गदा लिये भीमसेन मेरे पुत्रोंका संहार कर डालेगा ॥ ४२ ॥

अविषह्यमनावार्यं तीव्रवेगपराक्रमम् ।
पश्यामीवातिताम्राक्षमापतन्तं वृकोदरम् ॥ ४३ ॥

उसका आक्रमण दुःसह है । उसकी गतिको कोई रोक नहीं सकता । उसका वेग और पराक्रम तीव्र है । मैं प्रत्यक्ष देख-सा रहा हूँ कि वह भीम क्रोधसे अत्यन्त लाल आँखें किये इधर ही दौड़ा आ रहा है ॥ ४३ ॥

अगदस्याप्यधनुषो विरथस्य विवर्मणः ।
बाहुभ्यां युद्ध्यमानस्य कस्तिष्ठेदग्रतः पुमान् ॥ ४४ ॥

यदि वह गदा, धनुष, रथ और कवचको छोड़कर केवल दोनों भुजाओंसे युद्ध करे तो भी उसके सामने कौन पुरुष ठहर सकता है ? ॥ ४४ ॥

भीष्मो द्रोणश्च विप्रोऽयं कृपः शारद्वतस्तथा ।
जानन्त्येते यथैवाहं वीर्यज्ञस्तस्य धीमतः ॥ ४५ ॥

उस बुद्धिमान् भीमके बल और पराक्रमको जैसे मैं जानता हूँ, उसी प्रकार ये भीष्म, विप्रवर द्रोणाचार्य तथा शरद्वान्‌के पुत्र कृप भी जानते हैं ॥ ४५ ॥

आर्यव्रतं तु जानन्तः संगरान्तं विधित्सवः ।
सेनामुखेषु स्थास्यन्ति मामकानां नरर्षभाः ॥ ४६ ॥

तथापि ये नरश्रेष्ठ शिष्ट पुरुषोंके व्रतको जानते हैं, इसलिये युद्धमें प्राणत्याग करनेकी इच्छासे मेरे पुत्रोंकी सेनाके अग्रभागमें डटे रहेंगे ॥ ४६ ॥

बलीयः सर्वतो दिष्टं पुरुषस्य विशेषतः ।
पश्यन्नपि जयं तेषां न नियच्छामि यत् सुतान् ॥ ४७ ॥

पुरुषका भाग्य ही सबसे विशेष प्रबल है, क्योंकि मैं पाण्डवोंकी विजय समझकर भी अपने पुत्रोंको रोक नहीं पाता हूँ॥

ते पुराणं महेष्वासा मार्गमैन्द्रं समास्थिताः ।
त्यक्ष्यन्ति तुमुले प्राणान् रक्षन्तः पार्थिवं यशः॥ ४८ ॥

वे महाधनुर्धर भीष्म आदि पुरातन स्वर्गीय मार्गका आश्रय ले पार्थिव यशकी रक्षा करते हुए घमासान युद्धमें अपने प्राण त्याग देंगे ॥ ४८ ॥

यथैषां मामकास्तात तथैषां पाण्डवा अपि ।
पौत्रा भीष्मस्य शिष्याश्च द्रोणस्य च कृपस्य च ॥ ४९ ॥

तात ! इनके लिये जैसे मेरे पुत्र हैं, वैसे ही पाण्डव भी हैं । दोनों ही भीष्मके पौत्र तथा द्रोण और कृपके शिष्य हैं ॥

यदस्मदाश्रयं किंचिद् दत्तमिष्टं च संजय ।
तस्यापचितिमार्यत्वात् कर्तारः स्थविरास्त्रयः ॥ ५० ॥

संजय ! भीष्म, द्रोण और कृपाचार्य—ये तीनों वृद्ध श्रेष्ठ पुरुष हैं; अतः हमारे आश्रयमें रहकर इन्होंने जो कुछ भी दान यज्ञ आदि किया है, ये उसका बदला चुकायेंगे (युद्धमें दुर्योधनका ही साथ देंगे) ॥ ५० ॥

आददानस्य शस्त्रं हि क्षत्रधर्मं परीप्सतः ।
निधनं क्षत्रियस्याजौ वरमेवाहुरुत्तमम् ॥ ५१ ॥

जो अस्त्र-शस्त्र धारण करके क्षात्रधर्मकी रक्षा करना चाहता है, उस क्षत्रियके लिये संग्राममें होनेवाली मृत्युको ही श्रेष्ठ एवं उत्तम माना गया है ॥ ५१ ॥

स वै शोचामि सर्वान् वै ये युयुत्सन्ति पाण्डवैः।
विक्रुष्टं विदुरेणादौ तदेतद् भयमागतम् ॥ ५२ ॥

जो लोग पाण्डवोंसे युद्ध करना चाहते हैं, उन सबके लिये मुझे बड़ा शोक हो रहा है । विदुरने पहले ही उच्च स्वरसे जिसकी घोषणा की थी, वही यह भय आज आ पहुँचा है ॥

न तु मन्ये विघाताय ज्ञानं दुःखस्य संजय ।
भवत्यतिबलं ह्येतज्ज्ञानस्याप्युपघातकम् ॥ ५३ ॥

संजय ! मुझे तो ऐसा मालूम होता है कि ज्ञान दुःखका नाश नहीं कर सकता; अपितु प्रबल दुःख ही ज्ञानका भी नाश करनेवाला बन जाता है ॥ ५३ ॥

ऋषयो ह्यपि निर्मुक्ताः पश्यन्तो लोकसंग्रहान् ।
सुखैर्भवन्ति सुखिनस्तथा दुःखेन दुःखिताः ॥ ५४ ॥

जीवन्मुक्त महर्षि भी लोकव्यवहारकी ओर दृष्टि रखकर सुखके साधनोंसे सुखी और दुःखसे दुखी होते हैं ॥ ५४ ॥

किं पुनर्मोहमासक्तस्तत्र तत्र सहस्रधा ।
पुत्रेषु राज्यदारेषु पौत्रेष्वपि च बन्धुषु ॥ ५५ ॥

फिर जो पुत्र, राज्य, पत्नी, पौत्र तथा बन्धु-बान्धवोंमें जहाँ-तहाँ सहस्रों प्रकारसे मोहवश आसक्त हो रहा है, उसकी तो बात ही क्या है ? ॥ ५५ ॥

संशये तु महत्यस्मिन् किं नु मे क्षममुत्तमम् ।
विनाशं ह्येव पश्यामि कुरूणामनुचिन्तयन् ॥ ५६ ॥

इस महान् संकटके विषयमें मैं क्या उचित प्रतीकार कर सकता हूँ ? मुझे तो बार-बार विचार करनेपर कौरवोंका विनाश ही दिखायी पड़ता है ॥ ५६ ॥

द्यूतप्रमुखमाभाति कुरूणां व्यसनं महत् ।
मन्देनैश्वर्यकामेन लोभात् पापमिदं कृतम् ॥ ५७ ॥

द्यूतक्रीड़ा आदिकी घटनाएँ ही कौरवोंपर भारी विपत्ति लानेका कारण प्रतीत होती हैं। ऐश्वर्यकी इच्छा रखनेवाले मूर्ख दुर्योधनने लोभवश यह पाप किया है ॥ ५७ ॥

मन्ये पर्यायधर्मोऽयं कालस्यात्यन्तगामिनः।
चक्रे प्रधिरिवासक्तो नास्य शक्यं पलायितुम् ॥ ५८ ॥

मैं समझता हूँ कि अत्यन्त तीव्र गतिसे चलनेवाले कालका ही यह क्रमशः प्राप्त होनेवाला नियम है। इस कालचक्रमें उसकी नेमिके समान मैं जुड़ा हुआ हूँ, अतः मेरे लिये इससे दूर भागना सम्भव नहीं है ॥ ५८ ॥

किंनु कुर्यां कथं कुर्यां क्व नु गच्छामि संजय।
एते नश्यन्ति कुरवो मन्दाः कालवशं गताः ॥ ५९ ॥

संजय ! क्या करूँ, कैसे करूँ और कहाँ चला जाऊँ? ये मूर्ख कौरव कालके वशीभूत होकर नष्ट होना चाहते हैं ॥ ५९ ॥

अवशोऽहं तदा तात पुत्राणां निहते शते।
श्रोष्यामि निनदं स्त्रीणां कथं मां मरणं स्पृशेत् ॥ ६० ॥

तात ! मेरे सौ पुत्र यदि युद्धमें मारे गये, तब विवश होकर मैं इनकी अनाथ स्त्रियोंका करुण क्रन्दन सुनूँगा। हाय ! मेरी मृत्यु किस प्रकार हो सकती है ? ॥ ६० ॥

यथा निदाघे ज्वलनः समिद्धो
दहेत् कक्षं वायुना चोद्यमानः।
गदाहस्तः पाण्डवो वै तथैव
हन्ता मदीयान् सहितोऽर्जुनेन ॥ ६१ ॥

जैसे गर्मीमें प्रज्वलित हुई अग्नि हवाका सहारा पाकर घास-फूस एवं जंगलको भी जलाकर भस्म कर देती है, उसी प्रकार अर्जुनसहित पाण्डुनन्दन भीम गदा हाथमें लेकर मेरे सब पुत्रोंको मार डालेगा ॥ ६१ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि यानसंधिपर्वणि धृतराष्ट्रवाक्ये एकपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत यानसंधिपर्वमें धृतराष्ट्रवाक्यविषयक इक्यावनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ५१ ॥

द्विपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

धृतराष्ट्रद्वारा अर्जुनसे प्राप्त होनेवाले भयका वर्णन

धृतराष्ट्र उवाच

यस्य वै नानृता वाचः कदाचिदनुशुश्रुम।
त्रैलोक्यमपि तस्य स्याद् योद्धा यस्य धनंजयः ॥ १ ॥

धृतराष्ट्र बोले—संजय ! जिनके मुँहसे कभी कोई झूठ बात निकलती हमने नहीं सुनी है तथा जिनके पक्षमें धनंजय-जैसे योद्धा हैं, उन धर्मराज युधिष्ठिरको (भूमण्डलका कौन कहे,) तीनों लोकोंका राज्य भी प्राप्त हो सकता है ॥ १ ॥

तस्यैव च न पश्यामि युधि गाण्डीवधन्वनः।
अनिशं चिन्तयानोऽपि यः प्रतीयाद् रथेन तम् ॥ २ ॥

मैं निरन्तर सोचने विचारनेपर भी युद्धमें गाण्डीवधारी अर्जुनका ही सामना करनेवाले किसी ऐसे वीरको नहीं देखता, जो रथपर आरूढ़ हो उनके सम्मुख जा सके ॥ २ ॥

अस्यतः कर्णिनालीकान् मार्गणान् हृदयच्छिदः।
प्रत्येता न समः कश्चिद् युधि गाण्डीवधन्वनः ॥ ३ ॥

जो हृदयको विदीर्ण कर देनेवाले कर्णी और नालीक आदि बाणोंकी निरन्तर वर्षा करते हैं, उन गाण्डीवधन्वा अर्जुनका युद्धमें सामना करनेवाला कोई भी समकक्ष योद्धा नहीं है ॥ ३ ॥

द्रोणकर्णौ प्रतीयातां यदि वीरौ नरर्षभौ।
कृतास्त्रौ बलिनां श्रेष्ठौ समरेष्वपराजितौ ॥ ४ ॥
महान् स्यात् संशयो लोके न त्वस्ति विजयो मम।
घृणी कर्णः प्रमादी च आचार्यः स्थविरो गुरुः ॥ ५ ॥

यदि बलवानोंमें श्रेष्ठ, अस्त्रविद्याके पारङ्गत विद्वान् तथा युद्धमें कभी पराजित न होनेवाले, मनुष्योंमें अग्रगण्य वीरवर द्रोणाचार्य और कर्ण अर्जुनका सामना करनेके लिये आगे बढ़ें तो भी मुझे अर्जुनपर विजय प्राप्त होनेमें महान् संदेह रहेगा। मैं तो देखता हूँ मेरी विजय होगी ही नहीं; क्योंकि कर्ण दयालु और प्रमादी है और आचार्य द्रोण वृद्ध होनेके साथ ही अर्जुनके गुरु हैं ॥ ४-५ ॥

समर्थो बलवान् पार्थो दृढधन्वा जितक्लमः।
भवेत् सुतुमुलं युद्धं सर्वशोऽप्यपराजयः ॥ ६ ॥

कुन्तीपुत्र अर्जुन समर्थ और बलवान् हैं। उनका धनुष भी सुदृढ़ है। वे आलस्य और थकावटको जीत चुके हैं, अतः उनके साथ जो अत्यन्त भयंकर युद्ध छिड़ेगा, उसमें सब प्रकारसे उनकी ही विजय होगी ॥ ६ ॥

सर्वे ह्यस्त्रविदः शूराः सर्वे प्राप्ता महद् यशः।
अपि सर्वामरैश्वर्यं त्यजेयुर्न पुनर्जयम् ॥ ७ ॥

समस्त पाण्डव अस्त्रविद्याके ज्ञाता, शूरवीर तथा महान् यशको प्राप्त हैं। वे समस्त देवताओंका ऐश्वर्य छोड़ सकते हैं, परंतु अपनी विजयसे मुँह नहीं मोड़ेंगे ॥ ७ ॥

वधे नूनं भवेच्छान्तिस्तयोर्वा फाल्गुनस्य च।
न तु हन्तार्जुनस्यास्ति जेता चास्य न विद्यते ॥ ८ ॥
मन्युस्तस्य कथं शाम्येन्मन्दान् प्रति य उत्थितः।

निश्चय ही द्रोणाचार्य और कर्णका वध हो जानेपर

हमारे पक्षके लोग शान्त हो जायँगे अथवा अर्जुनके मारे जानेपर पाण्डव शान्त हो बैठेंगे, परंतु अर्जुनका वध करनेवाला तो कोई है ही नहीं, उन्हें जीतनेवाला भी संसारमें कोई नहीं है। मेरे मन्दबुद्धि पुत्रोंके प्रति उनके हृदयमें जो क्रोध जाग उठा है, वह कैसे शान्त होगा ? ॥ ८½ ॥

अन्येऽप्यस्त्राणि जानन्ति जीयन्ते च जयन्ति च ॥ ९ ॥
एकान्तविजयस्त्वेव श्रूयते फाल्गुनस्य ह ।

दूसरे योद्धा भी अस्त्र चलाना जानते हैं; परंतु वे कभी हारते हैं और कभी जीतते भी हैं। केवल अर्जुन ही ऐसे हैं, जिनकी निरन्तर विजय ही सुनी जाती है ॥ ९½ ॥

त्रयस्त्रिंशत् समाहूय खाण्डवेऽग्निमतर्पयत् ॥ १० ॥
जिगाय च सुरान् सर्वान् नास्य विद्मः पराजयम् ।

खाण्डवदाहके समय अर्जुनने (मुख्य-मुख्य) तैंतीस* देवताओंको युद्धके लिये ललकारकर अग्निदेवको तृप्त किया और सभी देवताओंको जीत लिया । उनकी कभी पराजय हुई हो, इसका पता हमें आजतक नहीं लगा ॥ १०½ ॥

यस्य यन्ता हृषीकेशः शीलवृत्तसमो युधि ॥ ११ ॥
ध्रुवस्तस्य जयस्तात यथेन्द्रस्य जयस्तथा ।

तात ! साक्षात् भगवान् श्रीकृष्ण, जिनका स्वभाव और आचार-व्यवहार भी अर्जुनके ही समान है, अर्जुनका रथ हाँकते हैं, अतः इन्द्रकी विजयकी भाँति उनकी भी विजय निश्चित है ॥ ११½ ॥

कृष्णावेकरथे यत्तावधिज्यं गाण्डिवं धनुः ॥ १२ ॥
युगपत् त्रीणि तेजांसि समेतान्यनुशुश्रुम ।

श्रीकृष्ण और अर्जुन एक रथपर उपस्थित हैं और गाण्डीव धनुषकी प्रत्यञ्चा चढ़ी हुई है, इस प्रकार ये तीनों तेज एक ही साथ एकत्र हो गये हैं, यह हमारे सुननेमें आया है ॥ १२½ ॥

नैवास्ति नो धनुस्तादृङ् न योद्धा न च सारथिः ॥ १३ ॥
तच्च मन्दा न जानन्ति दुर्योधनवशानुगाः ।

हमलोगोंके यहाँ न तो वैसा धनुष है, न अर्जुन-जैसा पराक्रमी योद्धा है और न श्रीकृष्णके समान सारथि ही है, परंतु दुर्योधनके वशीभूत हुए मेरे मूर्ख पुत्र इस बातको नहीं समझ पाते ॥ १३½ ॥

शेषयेदशनिर्दीप्तो विपतन् मूर्ध्नि संजय ॥ १४ ॥
न तु शेषं शरास्तात कुर्युरस्ताः किरीटिना ।

तात संजय ! अपने तेजसे जलता हुआ वज्र किसीके मस्तकपर पड़कर सम्भव है, उसके जीवनको बचा दे, परंतु किरीटधारी अर्जुनके चलाये हुए बाण जिसे लग जायँगे, उसे जीवित नहीं छोड़ेंगे ॥ १४½ ॥

अपि चास्यन्निवाभाति निघ्नन्निव धनंजयः ॥ १५ ॥
उद्धरन्निव कायेभ्यः शिरांसि शरवृष्टिभिः ।

मुझे तो वीर धनंजय युद्धमें बाणोंको चलाते, योद्धाओंके प्राण लेते और अपनी बाणवर्षाद्वारा उनके शरीरोंसे मस्तकोंको काटते हुए-से प्रतीत हो रहे हैं ॥ १५½ ॥

अपि बाणमयं तेजः प्रदीप्तमिव सर्वतः ॥ १६ ॥
गाण्डीवोत्थं दहेताजौ पुत्राणां मम वाहिनीम् ।

क्या गाण्डीव धनुषसे प्रकट हुआ बाणमय तेज सब ओर प्रज्वलित-सा होकर मेरे पुत्रोंकी (विशाल) वाहिनीको युद्धमें जलाकर भस्म कर डालेगा ? ॥ १६½ ॥

अपि सारथ्यघोषेण भयार्ता सव्यसाचिनः ॥ १७ ॥
वित्रस्ता बहुधा सेना भारती प्रतिभाति मे ।

मुझे स्पष्ट प्रतीत हो रहा है कि श्रीकृष्णके रथ-संचालनकी आवाज सुनकर भरतवंशियोंकी यह सेना सव्यसाची अर्जुनके भयसे पीड़ित और नाना प्रकारसे आतङ्कित हो जायगी ॥ १७½ ॥

यथा कक्षं महानग्निः प्रदहेत् सर्वतश्चरन् ।
महार्चिरनिलोद्धूतस्तद्वद् धक्ष्यति मामकान् ॥ १८ ॥

जैसे वायुके वेगसे बढ़ी हुई आग सब ओर फैलकर प्रचण्ड लपटोंसे युक्त हो घास-फूस अथवा जंगलको जलाकर भस्म कर देती है, उसी प्रकार अर्जुन मेरे पुत्रोंको दग्ध कर डालेंगे ॥ १८ ॥

यदोद्वमन् निशितान् बाणसंघां-
स्तानाततायी समरे किरीटी ।
सृष्टोऽन्तकः सर्वहरो विधात्रा
यथा भवेत् तद्वदपारणीयः ॥ १९ ॥

जिस समय शस्त्रपाणि किरीटधारी अर्जुन समरभूमिमें रोषपूर्वक पैने बाणसमूहोंकी वर्षा करेंगे, उस समय विधाताके रचे हुए सर्वसंहारक कालके समान उनसे पार पाना असम्भव हो जायगा ॥ १९ ॥

तदा ह्यभीक्ष्णं सुबहून् प्रकारान्
श्रोतास्मि तानावसथे कुरूणाम् ।
तेषां समन्ताच्च तथा रणाग्रे
क्षयः किलायं भरतानुपैति ॥ २० ॥

---

* कुछ विद्वान् 'त्रयस्त्रिंशत् समाऽऽहूय' ऐसा पाठ मानकर आर्ष संधिकी कल्पना करके यह अर्थ करते हैं कि तैंतीस वर्षकी अवस्था बीत जानेपर अर्जुनने अग्निदेवको खाण्डववनमें बुलाकर तृप्त किया था ।'

उस समय मैं महलोंमें बैठा हुआ बार-बार कौरवोंकी विविध अवस्थाओंकी कथा सुनता रहूँगा। अहो! युद्धके मुहानेपर निश्चय ही सब ओरसे यह भरतवंशका विनाश आ पहुँचा है॥ २०॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि यानसंधिपर्वणि धृतराष्ट्रवाक्ये द्विपञ्चाशत्तमोऽध्यायः॥ ५२॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत यानसंधिपर्वमें धृतराष्ट्रवाक्यविषयक बावनवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ ५२॥

त्रिपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

कौरव-सभामें धृतराष्ट्रका युद्धसे भय दिखाकर शान्तिके लिये प्रस्ताव करना

धृतराष्ट्र उवाच

यथैव पाण्डवाः सर्वे पराक्रान्ता जिगीषवः।
तथैवाभिसरास्तेषां त्यक्तात्मानो जये धृताः॥ १॥

धृतराष्ट्र बोले—संजय! जैसे समस्त पाण्डव पराक्रमी और विजयके अभिलाषी हैं, उसी प्रकार उनके सहायक भी विजयके लिये कटिबद्ध तथा उनके लिये अपने प्राण निछावर करनेको तैयार हैं॥ १॥

त्वमेव हि पराक्रान्तानाचक्षीथाः परान् मम।
पञ्चालान् केकयान् मत्स्यान् मागधान् वत्सभूमिपान्॥

तुमने ही मेरे निकट पराक्रमशाली पाञ्चाल, केकय, मत्स्य, मागध तथा वत्सदेशीय उत्कृष्ट भूमिपालोंके नाम लिये हैं—(ये सभी पाण्डवोंकी विजय चाहते हैं)॥ २॥

यश्च सेन्द्रानिमाँल्लोकानिच्छन् कुर्याद् वशे बली।
स स्रष्टा जगतः कृष्णः पाण्डवानां जये धृतः॥३॥

इनके सिवा जो इच्छा करते ही इन्द्र आदि देवताओं-सहित इन सम्पूर्ण लोकोंको अपने वशमें कर सकते हैं, वे जगत्स्रष्टा महाबली भगवान् श्रीकृष्ण भी पाण्डवोंको विजय दिलानेका दृढ़ निश्चय कर चुके हैं॥ ३॥

समस्तामर्जुनाद् विद्यां सात्यकिः क्षिप्रमाप्तवान्।
शैनेयः समरे स्थाता बीजवत् प्रवपञ्छरान्॥ ४॥

शिनिके पौत्र सात्यकिने थोड़े ही समयमें अर्जुनसे उनकी सारी अस्त्रविद्या सीख ली थी। इस युद्धमें वे भी बीजकी भाँति बाणोंको बोते हुए पाण्डवपक्षकी ओरसे खड़े होंगे॥

धृष्टद्युम्नश्च पाञ्चाल्यः क्रूरकर्मा महारथः।
मामकेषु रणं कर्ता बलेषु परमास्त्रवित्॥ ५॥

उत्तम अस्त्रोंका ज्ञाता और क्रूरतापूर्ण पराक्रम प्रकट करनेवाला पाञ्चालराजकुमार महारथी धृष्टद्युम्न भी मेरी सेनाओंमें घुसकर युद्ध करेगा॥ ५॥

युधिष्ठिरस्य च क्रोधादर्जुनस्य च विक्रमात्।
यमाभ्यां भीमसेनाच्च भयं मे तात जायते॥ ६॥
अमानुषं मनुष्येन्द्रैर्जालं विततमन्तरा।
न मे सैन्यास्तरिष्यन्ति ततः क्रोशामि संजय॥ ७॥

तात संजय! मुझे युधिष्ठिरके क्रोधसे, अर्जुनके पराक्रमसे, दोनों भाई नकुल और सहदेवसे तथा भीमसेनसे बड़ा भय लगता है। संजय! इन नरेशोंके द्वारा मेरी सेनाके भीतर जब अलौकिक अस्त्रोंका जाल-सा बिछा दिया जायगा, तब मेरे सैनिक उसे पार नहीं कर सकेंगे; इसीलिये मैं बिलख रहा हूँ॥ ६-७॥

दर्शनीयो मनस्वी च लक्ष्मीवान् ब्रह्मवर्चसी।
मेधावी सुकृतप्रज्ञो धर्मात्मा पाण्डुनन्दनः॥ ८॥
मित्रामात्यैः सुसम्पन्नः सम्पन्नो युद्धयोजकैः।
भ्रातृभिः श्वशुरैर्वीरैरुपपन्नो महारथैः॥ ९॥
धृत्या च पुरुषव्याघ्रो नैभृत्येन च पाण्डवः।
अनृशंसो वदान्यश्च ह्रीमान् सत्यपराक्रमः॥ १०॥
बहुश्रुतः कृतात्मा च वृद्धसेवी जितेन्द्रियः।
तं सर्वगुणसम्पन्नं समिद्धमिव पावकम्॥ ११॥
तपन्तमभि को मन्दः पतिष्यति पतङ्गवत्।
पाण्डवाग्निमनावार्यं मुमूर्षुर्नष्टचेतनः॥ १२॥

पाण्डुनन्दन युधिष्ठिर दर्शनीय, मनस्वी, लक्ष्मीवान्, ब्रह्मर्षियोंके समान तेजस्वी, मेधावी, सुनिश्चित बुद्धिसे युक्त, धर्मात्मा, मित्रों तथा मन्त्रियोंसे सम्पन्न, युद्धके लिये उद्योग-शील सैनिकोंसे संयुक्त, महारथी भाइयों और वीरशिरोमणि श्वशुरोंसे सुरक्षित, धैर्यवान्, मन्त्रणाको गुप्त रखनेवाले, पुरुषोंमें सिंहके समान पराक्रमी, दयालु, उदार, लज्जाशील, यथार्थ पराक्रमसे सम्पन्न, अनेक शास्त्रोंके ज्ञाता, मनको वशमें रखनेवाले, वृद्धसेवी तथा जितेन्द्रिय हैं। इस प्रकार सर्वगुण-सम्पन्न और प्रज्वलित अग्निके समान ताप देनेवाले उन युधिष्ठिरके सम्मुख युद्ध करनेके लिये कौन मूर्ख जा सकेगा? कौन अचेत एवं मरणासन्न मनुष्य पतंगोंकी भाँति दुर्निवार पाण्डवरूपी अग्निमें जान-बूझकर गिरेगा?॥ ८—१२॥

तनुरुद्धः शिखी राजा मिथ्योपचरितो मया।
मन्दानां मम पुत्राणां युद्धेनान्तं करिष्यति॥ १३॥

राजा युधिष्ठिर सूक्ष्म और एक स्थानमें अवरुद्ध अग्निके समान हैं। मैंने मिथ्या व्यवहारसे उनका तिरस्कार किया है, अतः वे युद्ध करके मेरे मूर्ख पुत्रोंका अवश्य विनाश कर डालेंगे॥ १३॥

तैरयुद्धं साधु मन्ये कुरवस्तन्निबोधत।

युद्धे विनाशः कृत्स्नस्य कुलस्य भविता ध्रुवम्॥ १४॥
एषा मे परमा बुद्धिर्यया शाम्यति मे मनः।
यदि त्वयुद्धमिष्टं वो वयं शान्त्यै यतामहे ॥ १५ ॥

कौरवो ! मैं पाण्डवोंके साथ युद्ध न होना ही अच्छा मानता हूँ। तुमलोग इसे अच्छी तरह समझ लो। यदि युद्ध हुआ तो समस्त कुरुकुलका विनाश अवश्यम्भावी है। मेरी बुद्धिका यही सर्वोत्तम निश्चय है। इसीसे मेरे मनको शान्ति मिलती है। यदि तुम्हें भी युद्ध न होना ही अभीष्ट हो तो हम शान्तिके लिये प्रयत्न करें ॥ १४-१५ ॥

न तु नः क्लिश्यमानानामुपेक्षेत युधिष्ठिरः।
जुगुप्सति ह्यधर्मेण मामेवोद्दिश्य कारणम् ॥ १६ ॥

युधिष्ठिर हमें (युद्धकी चर्चासे) क्लेशमें पड़े देख हमारी उपेक्षा नहीं करते। वे तो मुझे ही अधर्मपूर्वक कलह बढ़ानेमें कारण मानकर मेरी निन्दा करते हैं (फिर मेरे ही द्वारा शान्तिप्रस्ताव उपस्थित किये जानेपर वे क्यों नहीं सहमत होंगे ?) ॥ १६ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि यानसंधिपर्वणि धृतराष्ट्रवाक्ये त्रिपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत यानसंधिपर्वमें धृतराष्ट्रवाक्यविषयक तिरपनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ५३ ॥

चतुष्पञ्चाशत्तमोऽध्यायः

संजयका धृतराष्ट्रको उनके दोष बताते हुए दुर्योधनपर शासन करनेकी सलाह देना

संजय उवाच

एवमेतन्महाराज यथा वदसि भारत।
युद्धे विनाशः क्षत्रस्य गाण्डीवेन प्रदृश्यते ॥ १ ॥

संजयने कहा—महाराज! आप जैसा कह रहे हैं, वही ठीक है। भारत ! युद्धमें तो गाण्डीव धनुषके द्वारा क्षत्रिय-समुदायका विनाश ही दिखायी देता है ॥ १ ॥

इदं तु नाभिजानामि तव धीरस्य नित्यशः।
यत् पुत्रवशमागच्छेस्तत्त्वज्ञः सव्यसाचिनः ॥ २ ॥

परंतु सदासे बुद्धिमान् माने जानेवाले आपके सम्बन्धमें मैं यह नहीं समझ पाता हूँ कि आप सव्यसाची अर्जुनके बल-पराक्रमको अच्छी तरह जानते हुए भी क्यों अपने पुत्रोंके अधीन हो रहे हैं ? ॥ २ ॥

नैष कालो महाराज तव शश्वत् कृतागसः।
त्वया ह्येवादितः पार्था निकृता भरतर्षभ ॥ ३ ॥

भरतकुलभूषण महाराज ! आप (स्वभावसे ही) पाण्डवोंका अपराध करनेवाले हैं। इस कारण इस समय आपके द्वारा जो विचार व्यक्त किया गया है, यह सदा स्थिर रहनेवाला नहीं है। आपने आरम्भसे ही कुन्तीपुत्रोंके साथ कपटपूर्वक बर्ताव किया है ॥ ३ ॥

पिता श्रेष्ठः सुहृद् यश्च सम्यक् प्रणिहितात्मवान्।
आस्थेयं हि हितं तेन न द्रोग्धा गुरुरुच्यते ॥ ४ ॥

जो पिताके पदपर प्रतिष्ठित है, श्रेष्ठ सुहृद् है और मनमें भलीभाँति सावधानी रखनेवाला है, उसे अपने आश्रितोंका हित-साधन ही करना चाहिये। द्रोह रखनेवाला पुरुष पिता अथवा गुरुजन नहीं कहला सकता ॥ ४ ॥

इदं जितमिदं लब्धमिति श्रुत्वा पराजितान्।
द्यूतकाले महाराज स्मयसे स्म कुमारवत् ॥ ५ ॥

महाराज ! द्यूतक्रीडाके समय जब आप अपने पुत्रोंके मुखसे सुनते कि यह जीता, यह पाया तथा पाण्डवोंकी पराजय हो रही है, तब आप बालकोंकी तरह मुसकरा उठते थे ॥ ५ ॥

परुषाण्युच्यमानांश्च पुरा पार्थानुपेक्षसे।
कृत्स्नं राज्यं जयन्तीति प्रपातं नानुपश्यसि ॥ ६ ॥

उस समय पाण्डवोंके प्रति कितनी ही कठोर बातें कही जा रही थीं, परंतु मेरे पुत्र सारा राज्य जीतते चले जा रहे हैं, यह जानकर आप उनकी उपेक्षा करते जाते थे। यह सब इनके भावी विनाश या पतनका कारण होगा, इसकी ओर आपकी दृष्टि नहीं जाती थी ॥ ६ ॥

पित्र्यं राज्यं महाराज कुरवस्ते सजाङ्गलाः।
अथ वीरैर्जितामुर्वीमखिलां प्रत्यपद्यथाः ॥ ७ ॥

महाराज ! कुरुजांगल देश ही आपका पैतृक राज्य है, किंतु शेष सारी पृथ्वी उन वीर पाण्डवोंने ही जीती है, जिसे आप पा गये हैं ॥ ७ ॥

बाहुवीर्यार्जिता भूमिस्तव पार्थैर्निवेदिता।
मयेदं कृतमित्येव मन्यसे राजसत्तम ॥ ८ ॥

नृपश्रेष्ठ ! कुन्तीपुत्रोंने अपने बाहुबलसे जीतकर यह भूमि आपकी सेवामें समर्पित की है, परंतु आप उसे अपनी जीती मानते हैं ॥ ८ ॥

ग्रस्तान् गन्धर्वराजेन मज्जतो ह्यप्लवेऽम्भसि।
आनिनाय पुनः पार्थः पुत्रांस्ते राजसत्तम ॥ ९ ॥

राजशिरोमणे ! (घोषयात्राके समय) गन्धर्वराज चित्रसेनने

आपके पुत्रोंको कैद कर लिया था। वे सब-के-सब बिना नावके पानीमें डूब रहे थे, उस समय उन्हें अर्जुन ही पुनः छुड़ाकर ले आये थे ॥ ९ ॥

कुमारवच्च स्मयसे द्यूते विनिकृतेषु यत्।
पाण्डवेषु वने राजन् प्रव्रजत्सु पुनः पुनः ॥ १० ॥

राजन्! पाण्डवलोग जब द्यूतक्रीड़ामें चले गये और हारकर वनमें जाने लगे, उस समय आप बच्चोंकी तरह बारंबार मुसकराकर अपनी प्रसन्नता प्रकट कर रहे थे ॥ १० ॥

प्रवर्षतः शरव्रातानर्जुनस्य शितान् बहून्।
अप्यर्णवा विशुष्येयुः किं पुनर्मांसयोनयः ॥ ११ ॥

जब अर्जुन असंख्य तीखे बाणसमूहोंकी वर्षा करने लगेंगे, उस समय समुद्र भी सूख जा सकते हैं, फिर हाड़-मांसके शरीरोंसे पैदा हुए प्राणियोंकी तो बात ही क्या है? ॥

अस्यतां फाल्गुनः श्रेष्ठो गाण्डीवं धनुषां वरम्।
केशवः सर्वभूतानामायुधानां सुदर्शनम् ॥ १२ ॥
वानरो रोचमानश्च केतुः केतुमतां वरः।

बाण चलानेवाले वीरोंमें अर्जुन श्रेष्ठ हैं धनुषोंमें गाण्डीव उत्तम है, समस्त प्राणियोंमें भगवान् श्रीकृष्ण श्रेष्ठ हैं, आयुधोंमें सुदर्शन चक्र श्रेष्ठ है और पताकावाले ध्वजोंमें वानरसे उपलक्षित ध्वज ही श्रेष्ठ एवं प्रकाशमान है ॥ १२½ ॥

एवमेतानि स रथे वहञ्छ्वेतहयो रणे ॥ १३ ॥
क्षपयिष्यति नो राजन् कालचक्रमिवोद्यतम्।

राजन्! इस प्रकार इन सभी श्रेष्ठतम वस्तुओंको अपने साथ लिये हुए जब श्वेत घोड़ोंवाले अर्जुन रथपर आरूढ़ हो रणभूमिमें उपस्थित होंगे, उस समय ऊपर उठे हुए कालचक्रके समान वे हम सब लोगोंका संहार कर डालेंगे ॥ १३½ ॥

तस्याद्य वसुधा राजन् निखिला भरतर्षभ ॥ १४ ॥
यस्य भीमार्जुनौ योधौ स राजा राजसत्तम।

राजाओंमें श्रेष्ठ भरतभूषण महाराज! अब तो यह सारी पृथ्वी उसीके अधिकारमें रहेगी, जिसकी ओरसे भीमसेन और अर्जुन-जैसे योद्धा लड़नेवाले होंगे। वही राजा होगा ॥ १४½ ॥

तथा भीमहतप्रायां मज्जन्तीं तव वाहिनीम् ॥ १५ ॥
दुर्योधनमुखा दृष्ट्वा क्षयं यास्यन्ति कौरवाः।

आपकी सेनाके अधिकांश वीर भीमसेनके हाथों मारे जायँगे और दुर्योधन आदि कौरव विपत्तिके समुद्रमें डूबती हुई इस सेनाको देखते-देखते स्वयं भी नष्ट हो जायँगे ॥ १५½ ॥

न भीमार्जुनयोर्भीता लप्स्यन्ते विजयं विभो ॥ १६ ॥
तव पुत्रा महाराज राजानश्चानुसारिणः।

प्रभो! महाराज! आपके पुत्र तथा इनका साथ देनेवाले नरेश भीमसेन और अर्जुनसे भयभीत होकर कभी विजय नहीं पा सकेंगे ॥ १६½ ॥

मत्स्यास्त्वामद्य नार्चन्ति पञ्चालाश्च सकेकयाः ॥ १७ ॥
शाल्वेयाः शूरसेनाश्च सर्वे त्वामवजानते।
पार्थं ह्येते गताः सर्वे वीर्यज्ञास्तस्य धीमतः ॥ १८ ॥

मत्स्यदेशके क्षत्रिय अब आपका आदर नहीं करते हैं। पाञ्चाल, केकय, शाल्व तथा शूरसेन देशोंके सभी राजा एवं राजकुमार आपकी अवहेलना करते हैं। वे सब परम बुद्धिमान् अर्जुनके पराक्रमको जानते हैं, अतः उन्हींके पक्षमें मिल गये हैं ॥ १७-१८ ॥

भक्त्या ह्यस्य विरुध्यन्ते तव पुत्रैः सदैव ते।
अनर्हानेव तु वधे धर्मयुक्तान् विकर्मणा ॥ १९ ॥
योऽक्लेशयत् पाण्डुपुत्रान् यो विद्वेष्ट्यधुनापि वै।
सर्वोपायैर्नियन्तव्यः सानुगः पापपूरुषः ॥ २० ॥
तव पुत्रो महाराज नानुशोचितुमर्हसि।
द्यूतकाले मया चोक्तं विदुरेण च धीमता ॥ २१ ॥

युधिष्ठिरके प्रति भक्ति रखनेके कारण वे सब सदा ही आपके पुत्रोंके साथ विरोध रखते हैं। महाराज! जो सदा धर्ममें तत्पर रहनेके कारण वध (और क्लेश पाने) के कदापि योग्य नहीं थे, उन पाण्डुपुत्रोंको जिसने सदा विपरीत बर्तावसे कष्ट पहुँचाया है और जो इस समय भी उनके प्रति द्वेषभाव ही रखता है, आपके उस पापी पुत्र दुर्योधनको ही सभी उपायोंसे साथियोंसहित काबूमें रखना चाहिये। आप बारंबार इस तरह शोक न करें। द्यूतक्रीड़ाके समय मैंने तथा परम बुद्धिमान् विदुरजीने भी आपको यही सलाह दी थी, (परंतु आपने ध्यान नहीं दिया) ॥ १९—२१ ॥

यदिदं ते विलपितं पाण्डवान् प्रति भारत।
अनीशेनेव राजेन्द्र सर्वमेतन्निरर्थकम् ॥ २२ ॥

राजेन्द्र! आपने जो पाण्डवोंके बल-पराक्रमकी चर्चा करके असमर्थकी भाँति विलाप किया है, यह सब व्यर्थ है ॥ २२ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि यानसंधिपर्वणि संजयवाक्ये चतुष्पञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत यानसंधिपर्वमें संजयवाक्यविषयक चौवनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ५४ ॥

पञ्चपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

धृतराष्ट्रको धैर्य देते हुए दुर्योधनद्वारा अपने उत्कर्ष और पाण्डवोंके अपकर्षका वर्णन

दुर्योधन उवाच

न भेतव्यं महाराज न शोच्या भवता वयम्।
समर्थाः स्म पराञ्जेतुं बलिनः समरे विभो ॥ १ ॥

दुर्योधन बोला— महाराज ! आप डरें नहीं; आपके द्वारा हम लोग शोक करने योग्य नहीं हैं। प्रभो ! हम बलवान् और शक्तिशाली हैं तथा समरभूमिमें शत्रुओंको जीतनेकी शक्ति रखते हैं ॥ १ ॥

वने प्रव्राजितान् पार्थान् यदाऽऽयान्मधुसूदनः।
महता बलचक्रेण परराष्ट्रावमर्दिना ॥ २ ॥
केकया धृष्टकेतुश्च धृष्टद्युम्नश्च पार्षतः।
राजानश्चान्वयुः पार्थान् बहवोऽन्येऽनुयायिनः॥ ३ ॥

पाण्डवोंको जब हमने वनमें भेज दिया, उस समय शत्रुओंके राष्ट्रोंको धूलमें मिला देनेवाले विशाल सैन्यसमूहके साथ श्रीकृष्ण यहाँ आये थे। उनके साथ केकयराजकुमार, धृष्टकेतु, द्रुपदपुत्र धृष्टद्युम्न तथा और भी बहुत-से नरेश, जो पाण्डवोंके अनुयायी हैं, यहाँतक पधारे थे ॥ २-३ ॥



इन्द्रप्रस्थस्य चादूरात् समाजग्मुर्महारथाः।
व्यगर्हयंश्च संगम्य भवन्तं कुरुभिः सह ॥ ४ ॥

वे सभी महारथी इन्द्रप्रस्थके निकटतक आये और परस्पर मिलकर समस्त कौरवोंसहित आपकी निन्दा करने लगे ॥ ४ ॥

ते युधिष्ठिरमासीनमजिनैः प्रतिवासितम्।
कृष्णप्रधानाः संहत्य पर्युपासन्त भारत ॥ ५ ॥
प्रत्यादानं च राज्यस्य कार्यमूचुर्नराधिपाः।
भवतः सानुबन्धस्य समुच्छेदं चिकीर्षवः ॥ ६ ॥

भारत ! वे नरेश श्रीकृष्णकी प्रधानतामें संगठित हो वनमें विराजमान मृगचर्मधारी युधिष्ठिरके समीप जाकर बैठे और सगे-सम्बन्धियोंसहित आपका मूलोच्छेद कर डालनेकी इच्छा रखकर कहने लगे—'धृतराष्ट्रके हाथसे राज्यको लौटा लेना ही कर्तव्य है' ॥ ५-६ ॥

श्रुत्वा चैवं मयोक्तास्तु भीष्मद्रोणकृपास्तदा।
ज्ञातिक्षयभयाद् राजन् भीतेन भरतर्षभ ॥ ७ ॥
न ते स्थास्यन्ति समये पाण्डवा इति मे मतिः।
समुच्छेदं हि नः कृत्स्नं वासुदेवश्चिकीर्षति ॥ ८ ॥

भरतश्रेष्ठ ! उनके इस निश्चयको सुनकर मैंने कुटुम्बी-जनोंके वधकी आशङ्कासे भयभीत हो भीष्म, द्रोण और कृपाचार्यसे इस प्रकार निवेदन किया—'तात ! मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि पाण्डवलोग अपनी प्रतिज्ञापर स्थिर नहीं रहेंगे; क्योंकि वसुदेवनन्दन श्रीकृष्ण हम सब लोगोंका पूर्णतः विनाश कर डालना चाहते हैं ॥ ७-८ ॥

ऋते च विदुरात् सर्वे यूयं वध्या मता मम।
धृतराष्ट्रस्तु धर्मज्ञो न वध्यः कुरुसत्तमः ॥ ९ ॥

'केवल विदुरजीको छोड़कर आप सब लोग मार डालनेके योग्य समझे गये हैं, यह बात मुझे मालूम हुई है। कुरुश्रेष्ठ धृतराष्ट्र धर्मज्ञ हैं, यह सोचकर उनका भी वध नहीं किया जायगा ॥ ९ ॥

समुच्छेदं च कृत्स्नं नः कृत्वा तात जनार्दनः।
एकराज्यं कुरूणां स चिकीर्षति युधिष्ठिरे ॥ १० ॥

'तात ! श्रीकृष्ण हमारा सर्वनाश करके कौरवोंका एक राज्य बनाकर उसे युधिष्ठिरको सौंपना चाहते हैं ॥ १० ॥

तत्र किं प्राप्तकालं नः प्रणिपातः पलायनम्।
प्राणान् वा सम्परित्यज्य प्रतियुध्यामहे परान् ॥ ११ ॥

'ऐसी अवस्थामें इस समय हमारा क्या कर्तव्य है ? हम उनके चरणोंपर गिरें, पीठ दिखाकर भाग जायँ अथवा प्राणोंका मोह छोड़कर शत्रुओंका सामना करें ॥ ११ ॥

प्रतियुद्धे तु नियतः स्यादस्माकं पराजयः।
युधिष्ठिरस्य सर्वे हि पार्थिवा वशवर्तिनः ॥ १२ ॥
विरक्तराष्ट्राश्च वयं मित्राणि कुपितानि नः।
धिक्कृताः पार्थिवैः सर्वैः स्वजनेन च सर्वशः ॥ १३ ॥

'उनके साथ युद्ध होनेपर हमारी पराजय निश्चित है, क्योंकि इस समय समस्त भूपाल राजा युधिष्ठिरके अधीन हैं। इस राज्यमें रहनेवाले सब लोग हमसे घृणा करते हैं। हमारे मित्र भी कुपित हो गये हैं। सम्पूर्ण नरेश और आत्मीयजन सभी हमें धिक्कार रहे हैं॥ १२-१३॥

प्रणिपाते न दोषोऽस्ति सन्धिर्नः शाश्वतीः समाः।
पितरं त्वेव शोचामि प्रज्ञानेत्रं जनाधिपम्॥ १४॥

'(मैं समझता हूँ,) इस समय नतमस्तक हो जानेमें कोई दोष नहीं है। इससे हमलोगोंमें सदाके लिये शान्ति हो जायगी, केवल अपने प्रज्ञाचक्षु पिता महाराज धृतराष्ट्रके लिये ही शोक हो रहा है॥ १४॥

मत्कृते दुःखमापन्नं क्लेशं प्राप्तमनन्तकम्।
कृतं हि तव पुत्रैश्च परेषामवरोधनम्।
मत्प्रियार्थं पुरैवैतद् विदितं ते नरोत्तम॥ १५॥

'उन्होंने मेरे लिये अनन्त क्लेश और दुःख सहन किये है।' नरश्रेष्ठ पिताजी! आपके पुत्रों तथा मेरे भाइयोंने केवल मेरी प्रसन्नताके लिये शत्रुओंको सदा ही सताया है; ये सब बातें आप पहलेसे ही जानते हैं॥ १५॥

ते राज्ञो धृतराष्ट्रस्य सामात्यस्य महारथाः।
वैरं प्रतिकरिष्यन्ति कुलोच्छेदेन पाण्डवाः॥ १६॥

'इसलिये वे महारथी पाण्डव मन्त्रियोंसहित महाराज धृतराष्ट्रके कुलका समूलोच्छेद करके अपने वैरका बदला लेंगे'॥ १६॥

ततो द्रोणोऽब्रवीद् भीष्मः कृपो द्रौणिश्च भारत।
मत्वा मां महतीं चिन्तामास्थितं व्यथितेन्द्रियम्॥ १७॥
अभिद्रुग्धाः परे चेन्नो न भेतव्यं परंतप।
असमर्थाः परे जेतुमस्मान् युधि समास्थितान्॥ १८॥

भारत! मेरी यह बात सुनकर आचार्य द्रोण, पितामह भीष्म, कृपाचार्य तथा अश्वत्थामाने मुझे बड़ी भारी चिन्तामें पड़कर सम्पूर्ण इन्द्रियोंसे व्यथित हुआ जान आश्वासन देते हुए कहा—'परंतप! यदि शत्रुपक्षके लोग हमसे द्रोह रखते हैं तो तुम्हें डरना नहीं चाहिये। शत्रुलोग युद्धमें उपस्थित होनेपर हमें जीतनेमें असमर्थ हैं॥ १७-१८॥

एकैकशः समर्थाः स्मो विजेतुं सर्वपार्थिवान्।
आगच्छन्तु विनेष्यामो दर्पमेषां शितैः शरैः॥ १९॥

'हममेंसे एक-एक वीर भी समस्त राजाओंको जीतनेकी शक्ति रखता है। शत्रुलोग आवें तो सही, हम अपने पैने बाणोंसे उनका घमंड चूर-चूर कर देंगे'॥ १९॥

पुरैकेन हि भीष्मेण विजिताः सर्वपार्थिवाः।
मृते पितर्यतिक्रुद्धो रथेनैकेन भारत॥ २०॥

भारत! पहलेकी बात है, अपने पिता शान्तनुकी मृत्युके पश्चात् भीष्मजीने किसी समय अत्यन्त क्रोधमें भरकर एकमात्र रथकी सहायतासे अकेले ही सब राजाओंको जीत लिया था॥ २०॥

जघान सुबहूंस्तेषां संरब्धः कुरुसत्तमः।
ततस्ते शरणं जग्मुर्देवव्रतमिमं भयात्॥ २१॥

रोषमें भरे हुए कुरुश्रेष्ठ भीष्मने जब उनमेंसे बहुत-से राजाओंको मार डाला, तब वे डरके मारे पुनः इन्हीं देवव्रत (भीष्म) की शरणमें आये॥ २१॥

स भीष्मः सुसमर्थोऽयमस्माभिः सहितो रणे।
परान् विजेतुं तस्मात् ते व्येतु भीर्भरतर्षभ॥ २२॥

भरतश्रेष्ठ! वे ही पूर्ण सामर्थ्यशाली भीष्म युद्धमें शत्रुओंको जीतनेके लिये हमारे साथ हैं; अतः आपका भय दूर हो जाना चाहिये॥ २२॥

इत्येषां निश्चयो ह्यासीत् तत्कालेऽमिततेजसाम्।
पुरा परेषां पृथिवी कृत्स्नाऽऽसीद् वशवर्तिनी॥ २३॥
अस्मान् पुनरमी नाद्य समर्था जेतुमाहवे।
छिन्नपक्षाः परे ह्यद्य वीर्यहीनाश्च पाण्डवाः॥ २४॥

इन अमिततेजस्वी भीष्म आदिने उसी समय युद्धमें हमारा साथ देनेका दृढ़ निश्चय कर लिया था। पहले यह सारी पृथ्वी हमारे शत्रुओंके काबूमें थी, किंतु अब हमारे हाथमें आ गयी है। हमारे ये शत्रु अब हमें युद्धमें जीतनेकी शक्ति नहीं रखते। सहायकोंके अभावमें पाण्डव पंख कटे हुए पक्षीके समान असहाय एवं पराक्रमशून्य हो गये हैं॥ २३-२४॥

अस्मत्संस्था च पृथिवी वर्तते भरतर्षभ।
एकार्थाः सुखदुःखेषु समानीताश्च पार्थिवाः॥ २५॥

भरतश्रेष्ठ! इस समय यह पृथ्वी हमारे अधिकारमें है। हमने जिन राजाओंको यहाँ बुलाया है, ये सब सुख और दुःखमें भी हमारे साथ एक-सा प्रयोजन रखते हैं—हमारे सुख-दुःखको अपना ही सुख-दुःख मानते हैं॥ २५॥

अप्यग्निं प्रविशेयुस्ते समुद्रं वा परंतप।
मदर्थं पार्थिवाः सर्वे तद् विद्धि कुरुसत्तम॥ २६॥

शत्रुओंको संताप देनेवाले कुरुश्रेष्ठ! निश्चित मानिये, ये सब समागत नरेश मेरे लिये जलती आगमें भी प्रवेश कर सकते हैं और समुद्रमें भी कूद सकते हैं॥ २६॥

उन्मत्तमिव चापि त्वां प्रहसन्तीह दुःखितम्।
विलपन्तं बहुविधं भीतं परविकत्थने॥ २७॥

इतनेपर भी आप शत्रुओंकी मिथ्या प्रशंसा सुनकर पागल-से हो उठे हैं और दुखी एवं भयभीत होकर नाना प्रकारसे विलाप कर रहे हैं। यह सब देखकर ये राजालोग यहाँ हँस रहे हैं॥ २७॥

एषां ह्येकैकशो राज्ञां समर्थः पाण्डवान् प्रति ।
आत्मानं मन्यते सर्वो व्येतु ते भयमागतम् ॥ २८ ॥

इन राजाओंमेंसे प्रत्येक अपने-आपको पाण्डवोंके साथ युद्ध करनेमें समर्थ मानता है; अतः आपके मनमें जो भय आ गया है, वह निकल जाना चाहिये ॥ २८ ॥

जेतुं समग्रां सेनां मे वासवोऽपि न शक्नुयात् ।
हन्तुमक्षय्यरूपेयं ब्रह्मणोऽपि स्वयम्भुवः ॥ २९ ॥

मेरी सम्पूर्ण सेनाको इन्द्र भी नहीं जीत सकते । स्वयम्भू ब्रह्माजी भी इसका नाश नहीं कर सकते ॥ २९ ॥

युधिष्ठिरः पुरं हित्वा पञ्च ग्रामान् स याचति ।
भीतो हि मामकात् सैन्यात् प्रभावाच्चैव मे विभो ।३०।

प्रभो ! युधिष्ठिर तो मेरी सेना तथा प्रभावसे इतने डर गये हैं कि राजधानी या नगर लेनेकी बात छोड़कर अब पाँच गाँव माँगने लगे हैं ॥ ३० ॥

समर्थं मन्यसे यच्च कुन्तीपुत्रं वृकोदरम् ।
तन्मिथ्या न हि मे कृत्स्नं प्रभावं वेत्सि भारत ॥ ३१ ॥

भारत ! आप जो कुन्तीकुमार भीमको बहुत शक्तिशाली मान रहे हैं, वह भी मिथ्या ही है; क्योंकि आप मेरे प्रभावको पूर्णरूपसे नहीं जानते हैं ॥ ३१ ॥

मत्समो हि गदायुद्धे पृथिव्यां नास्ति कश्चन ।
नासीत् कश्चिदतिक्रान्तो भविता न च कश्चन ॥ ३२ ॥

गदायुद्धमें मेरी समानता करनेवाला इस पृथ्वीपर न तो कोई है, न भूतकालमें कोई हुआ था और न भविष्यमें ही कोई होगा ॥ ३२ ॥

युक्तो दुःखोषितश्चाहं विद्यापारगतस्तथा ।
तस्मान्न भीमान्नान्येभ्यो भयं मे विद्यते क्वचित् ॥ ३३ ॥

गदायुद्धका मेरा अभ्यास बहुत अच्छा है । मैंने गुरुके समीप क्लेशसहनपूर्वक रहकर अस्त्रविद्या सीखी है और उसमें मैं पारङ्गत हो गया हूँ । अतः भीमसेनसे या दूसरे योद्धाओंसे मुझे कभी कोई भय नहीं है ॥ ३३ ॥

दुर्योधनसमो नास्ति गदायामिति निश्चयः ।
संकर्षणस्य भद्रं ते यत् तदैनमुपावसम् ॥ ३४ ॥

आपका कल्याण हो । बलरामजीका भी यही निश्चय है कि गदायुद्धमें दुर्योधनके समान दूसरा कोई नहीं है । यह बात उन्होंने उस समय कही थी, जब मैं उनके पास रहकर गदाकी शिक्षा ले रहा था ॥ ३४ ॥

युद्धे संकर्षणसमो बलेनाभ्यधिको भुवि ।
गदाप्रहारं भीमो मे न जातु विषहेद् युधि ॥ ३५ ॥

मैं युद्धमें बलरामजीके समान हूँ और बलमें इस भूतलपर सबसे बढ़कर हूँ । युद्धमें भीमसेन मेरी गदाका प्रहार कभी नहीं सह सकते ॥ ३५ ॥

एकं प्रहारं यं दद्यां भीमाय रुषितो नृप ।
स एवैनं नयेद् घोरः क्षिप्रं वैवस्वतक्षयम् ॥ ३६ ॥

महाराज ! मैं रोषमें भरकर भीमसेनपर गदाका जो एक बार प्रहार करूँगा, वह अत्यन्त भयंकर एक ही आघात उन्हें शीघ्र ही यमलोक पहुँचा देगा ॥ ३६ ॥

इच्छेयं च गदाहस्तं राजन् द्रष्टुं वृकोदरम् ।
सुचिरं प्रार्थितो ह्येष मम नित्यं मनोरथः ॥ ३७ ॥

राजन् ! मैं चाहता हूँ कि युद्धमें गदा हाथमें लिये हुए भीमसेनको अपने सामने देखूँ । मैंने दीर्घकालसे अपने मनमें सदा इसी मनोरथके सिद्ध होनेकी इच्छा रखी है ॥ ३७ ॥

गदया निहतो ह्याजौ मया पार्थो वृकोदरः ।
विशीर्णगात्रः पृथिवीं परासुः प्रपतिष्यति ॥ ३८ ॥

युद्धमें मेरी गदासे आहत हुए कुन्तीपुत्र भीमसेनका शरीर छिन्न-भिन्न हो जायगा और वे प्राणशून्य होकर पृथ्वीपर पड़ जायँगे ॥ ३८ ॥

गदाप्रहाराभिहतो हिमवानपि पर्वतः ।
सकृन्मया विदीर्येत गिरिः शतसहस्रधा ॥ ३९ ॥

यदि मैं एक बार अपनी गदाका आघात कर दूँ तो हिमालय पर्वत भी लाखों टुकड़ोंमें विदीर्ण हो जायगा ॥ ३९ ॥

स चाप्येतद् विजानाति वासुदेवार्जुनौ तथा ।
दुर्योधनसमो नास्ति गदायामिति निश्चयः ॥ ४० ॥

भीमसेन भी इस बातको जानते हैं । श्रीकृष्ण और अर्जुनको भी यह ज्ञात है । यह निश्चित है कि गदायुद्धमें दुर्योधनके समान दूसरा कोई नहीं है ॥ ४० ॥

तत् ते वृकोदरमयं भयं व्येतु महाहवे ।
व्यपनेष्याम्यहं ह्येनं मा राजन् विमना भव ॥ ४१ ॥

अतः राजन् ! भीमसेनसे जो आपको भय हो रहा है, वह दूर हो जाना चाहिये । मैं महायुद्धमें उन्हें मार गिराऊँगा । इसलिये आप मनमें खेद न करें ॥ ४१ ॥

तस्मिन् मया हते क्षिप्रमर्जुनं बहवो रथाः ।
तुल्यरूपा विशिष्टाश्च क्षेप्स्यन्ति भरतर्षभ ॥ ४२ ॥

भरतश्रेष्ठ ! मेरेद्वारा भीमसेनके मारे जानेपर (हमारे पक्षके) बहुत-से रथी जो अर्जुनके समान या उनसे भी बढ़कर हैं, उनके ऊपर शीघ्रतापूर्वक बाणोंकी वर्षा करने लगेंगे ॥ ४२ ॥

भीष्मो द्रोणः कृपो द्रौणिः कर्णो भूरिश्रवास्तथा ।
प्राग्ज्योतिषाधिपः शल्यः सिन्धुराजो जयद्रथः ॥ ४३ ॥
एकैक एषां शक्तस्तु हन्तुं भारत पाण्डवान् ।

समेतास्तु क्षणेनैतान् नेष्यन्ति यमसादनम् ।

भारत ! भीष्म, द्रोण, कृप, अश्वत्थामा, कर्ण, भूरिश्रवा, प्राग्ज्योतिषनरेश भगदत्त, मद्रराज शल्य तथा सिन्धुराज जयद्रथ—इनमेंसे एक-एक वीर समस्त पाण्डवोंको मारनेकी शक्ति रखता है । यदि ये सब एक साथ मिल जायँ तो क्षण-भरमें उन सबको यमलोक पहुँचा देंगे ॥ ४३½ ॥

समग्रा पार्थिवी सेना पार्थमेकं धनंजयम् ॥ ४४ ॥
कस्मादशक्ता निर्जेतुमिति हेतुर्न विद्यते ।

राजाओंकी समस्त सेना एकमात्र अर्जुनको परास्त करनेमें असमर्थ कैसे होगी ? इसके लिये कोई कारण नहीं है ॥ ४४½ ॥

शरव्रातैस्तु भीष्मेण शतशो निचितोऽवशः ॥ ४५ ॥
द्रोणद्रौणिकृपैश्चैव गन्ता पार्थो यमक्षयम् ।

भीष्म, द्रोणाचार्य, अश्वत्थामा तथा कृपाचार्यके चलाये हुए सैकड़ों बाण-समूहोंसे विद्ध होकर कुन्तीपुत्र अर्जुनको विवशतापूर्वक यमलोकमें जाना पड़ेगा ॥ ४५½ ॥

पितामहोऽपि गाङ्गेयः शान्तनोरधि भारत ॥ ४६ ॥
ब्रह्मर्षिसदृशो जज्ञे देवैरपि सुदुःसहः ।

भरतनन्दन ! हमारे पितामह गङ्गापुत्र भीष्मजी तो अपने पिता शान्तनुसे भी बढ़कर पराक्रमी हैं । ये ब्रह्मर्षियोंके समान प्रभावसे सम्पन्न होकर उत्पन्न हुए हैं । इनका वेग देवताओंके लिये भी अत्यन्त दुःसह है ॥ ४६½ ॥

न हन्ता विद्यते चापि राजन् भीष्मस्य कश्चन ॥ ४७ ॥
पित्रा ह्युक्तः प्रसन्नेन नाकामस्त्वं मरिष्यसि ।

राजन् ! भीष्मजीको मारनेवाला तो कोई है ही नहीं; क्योंकि उनके पिताने प्रसन्न होकर उन्हें यह वरदान दिया है कि तुम अपनी इच्छाके बिना नहीं मरोगे ॥ ४७½ ॥

ब्रह्मर्षेश्च भरद्वाजाद् द्रोणो द्रोण्यामजायत ॥ ४८ ॥
द्रोणाज्जज्ञे महाराज द्रौणिश्च परमास्त्रवित् ।

दूसरे वीर आचार्य द्रोण हैं, जो ब्रह्मर्षि भरद्वाजके वीर्यसे कलशमें उत्पन्न हुए हैं । महाराज ! इन्हीं आचार्य द्रोणसे वीर अश्वत्थामाकी उत्पत्ति हुई है, जो अस्त्रविद्याके बहुत बड़े पण्डित हैं ॥ ४८½ ॥

कृपश्चाचार्यमुख्योऽयं महर्षेर्गौतमादपि ॥ ४९ ॥
शरस्तम्बोद्भवः श्रीमानवध्य इति मे मतिः ।

आचार्योंमें प्रधान कृप भी महर्षि गौतमके अंशसे सरकण्डोंके समूहमें उत्पन्न हुए हैं । ये श्रीमान् आचार्यपाद अवध्य हैं; ऐसा मेरा विश्वास है ॥ ४९½ ॥

अयोनिजास्त्रयो ह्येते पिता माता च मातुलः ॥ ५० ॥
अश्वत्थाम्नो महाराज स च शूरः स्थितो मम ।
सर्व एते महाराज देवकल्पा महारथाः ॥ ५१ ॥

महाराज ! अश्वत्थामाके ये पिता, माता और मामा तीनों ही अयोनिज हैं । अश्वत्थामा भी शूरवीर एवं मेरे पक्षमें स्थित हैं । राजन् ! ये सभी योद्धा देवताओंके समान पराक्रमी एवं महारथी हैं ॥ ५०-५१ ॥

शक्रस्यापि व्यथां कुर्युः संयुगे भरतर्षभ ।
नैतेषामर्जुनः शक्त एकैकं प्रति वीक्षितुम् ॥ ५२ ॥

भरतश्रेष्ठ ! ये चारों वीर युद्धमें देवराज इन्द्रको भी पीड़ा दे सकते हैं । अर्जुन तो इनमेंसे किसी एककी ओर भी आँख उठाकर देख नहीं सकते ॥ ५२ ॥

सहितास्तु नरव्याघ्रा हनिष्यन्ति धनंजयम् ।
भीष्मद्रोणकृपाणां च तुल्यः कर्णो मतो मम ॥ ५३ ॥

ये नरश्रेष्ठ जब एक साथ होकर युद्ध करेंगे, तब अर्जुनको अवश्य मार डालेंगे । भीष्म, द्रोण और कृप—इन तीनोंके समान पराक्रमी तो अकेला कर्ण ही है, यह मेरी मान्यता है ॥ ५३ ॥

अनुज्ञातश्च रामेण मत्समोऽसीति भारत ।
कुण्डले रुचिरे चास्तां कर्णस्य सहजे शुभे ॥ ५४ ॥

भारत ! परशुरामजीने कर्णको (शिक्षा देनेके पश्चात् घर लौटनेकी) आज्ञा देते हुए यह कहा था कि तुम (अस्त्र-शस्त्रोंके ज्ञानमें) मेरे समान हो । इसके सिवा कर्णको जन्मके साथ ही दो सुन्दर और कल्याणकारी कुण्डल प्राप्त हुए थे ।५४।

ते शच्यर्थे महेन्द्रेण याचितः स परंतपः ।
अमोघया महाराज शक्त्या परमभीमया ॥ ५५ ॥

परंतु देवराज इन्द्रने शत्रुओंको संताप देनेवाले वीरवर कर्णसे शचीके लिये वे दोनों कुण्डल माँग लिये ! महाराज ! कर्णने बदलेमें अत्यन्त भयंकर एवं अमोघ शक्ति लेकर वे कुण्डल दिये थे ॥ ५५ ॥

तस्य शक्त्योपगूढस्य कस्माज्जीवेद् धनंजयः ।
विजयो मे ध्रुवं राजन् फलं पाणाविवाहितम् ॥ ५६ ॥

इस प्रकार उस अमोघ शक्तिसे सुरक्षित कर्णके सामने युद्धके लिये आकर अर्जुन कैसे जीवित रह सकते हैं ? राजन् ! हाथपर रखे हुए फलकी भाँति विजयकी प्राप्ति तो मुझे अवश्य ही होगी ॥ ५६ ॥

अभिव्यक्तः परेषां च कृत्स्नो भुवि पराजयः ।
अह्ना ह्येकेन भीष्मोऽयं प्रयुतं हन्ति भारत ॥ ५७ ॥

भारत ! इस पृथ्वीपर मेरे शत्रुओंकी पूर्णतः पराजय तो इसीसे स्पष्ट है कि ये पितामह भीष्म प्रतिदिन दस हजार विपक्षी योद्धाओंका संहार करेंगे ॥ ५७ ॥

तत्समाश्च महेष्वासा द्रोणद्रौणिकृपा अपि ।
संशप्तकानां वृन्दानि क्षत्रियाणां परंतप ॥ ५८ ॥
अर्जुनं वयमस्मान् वा निहन्याद्य कपिकेतनः ।

तं चालमिति मन्यन्ते सव्यसाचिवधे धृताः ॥ ५९ ॥
पार्थिवाः स भवांस्तेभ्यो ह्यकस्माद् व्यथते कथम् ।

परंतप ! द्रोणाचार्य, अश्वत्थामा और कृपाचार्य भी उन्हींके समान महाधनुर्धर हैं । इनके सिवा 'संशप्तक' नामक क्षत्रियोंके समूह भी मेरे ही पक्षमें हैं; जो यह कहते हैं कि या तो हमलोग अर्जुनको मार डालेंगे या कपिध्वज अर्जुन ही हमें मार डालेंगे, तभी हमारे उनके युद्धकी समाप्ति होगी। वे सब नरेश अर्जुनके वधका दृढ़ निश्चय कर चुके हैं और उसके लिये अपनेको पर्याप्त समझते हैं । ऐसी दशामें आप उन पाण्डवोंसे भयभीत हो अकस्मात् व्यथित क्यों हो उठते हैं ? ॥ ५८-५९½ ॥

भीमसेने च निहते कोऽन्यो युध्येत भारत ॥ ६० ॥
परेषां तन्ममाचक्ष्व यदि वेत्थ परंतप ।

शत्रुओंको संताप देनेवाले भरतनन्दन ! अर्जुन और भीमसेनके मारे जानेपर शत्रुओंके दलमें दूसरा कौन ऐसा वीर है, जो युद्ध कर सकेगा ? यदि आप किसीको जानते हों तो बताइये ॥ ६०½ ॥

पञ्च ते भ्रातरः सर्वे धृष्टद्युम्नोऽथ सात्यकिः ॥ ६१ ॥
परेषां सप्त ये राजन् योधाः सारं बलं मतम् ।

राजन् ! पाँचों भाई पाण्डव, धृष्टद्युम्न और सात्यकि—ये कुल सात योद्धा ही शत्रु-पक्षके सारभूत बल माने जाते हैं।६१½॥

अस्माकं तु विशिष्टा ये भीष्मद्रोणकृपादयः ॥ ६२ ॥
द्रौणिर्वैकर्तनः कर्णः सोमदत्तोऽथ बाह्लिकः ।
प्राग्ज्योतिषाधिपः शल्य आवन्त्यौ च जयद्रथः॥ ६३ ॥
दुःशासनो दुर्मुखश्च दुःसहश्च विशाम्पते ।
श्रुतायुश्चित्रसेनश्च पुरुमित्रो विविंशतिः ॥ ६४ ॥
शलो भूरिश्रवाश्चैव विकर्णश्च तवात्मजः ।

प्रजानाथ ! हमलोगोंके पक्षमें जो विशिष्ट योद्धा हैं, उनकी संख्या अधिक है; यथा—भीष्म, द्रोणाचार्य, कृपाचार्य आदि; अश्वत्थामा, वैकर्तन कर्ण, सोमदत्त, बाह्लिक, प्राग्ज्योतिषनरेश भगदत्त, शल्य, अवन्तीके दोनों राजकुमार विन्द और अनुविन्द, जयद्रथ, दुःशासन, दुर्मुख, दुःसह, श्रुतायु, चित्रसेन, पुरुमित्र, विविंशति, शल, भूरिश्रवा तथा आपका पुत्र विकर्ण । (इस प्रकार अपने पक्षके प्रमुख वीरोंकी संख्या शत्रुओंके प्रमुख वीरोंसे तीन गुनी अधिक है)॥६२-६४½॥

अक्षौहिण्यो हि मे राजन् दशैका च समाहृताः ।
न्यूनाः परेषां सप्तैव कस्मान्मे स्यात् पराजयः ॥६५॥

महाराज ! अपने यहाँ ग्यारह अक्षौहिणी सेनाएँ संगृहीत हो गयी हैं, परंतु शत्रुओंके पक्षमें हमसे बहुत कम कुल सात अक्षौहिणी सेनाएँ हैं; फिर मेरी पराजय कैसे हो सकती है ?।६५।

बलं त्रिगुणतो हीनं योध्यं प्राह बृहस्पतिः ।
परेभ्यस्त्रिगुणा चेयं मम राजन्ननीकिनी ॥ ६६ ॥

राजन् ! बृहस्पतिका कथन है कि शत्रुओंकी सेना अपनेसे एक तिहाई भी कम हो तो उसके साथ अवश्य युद्ध करना चाहिये । परंतु मेरी यह सेना तो शत्रुओंकी अपेक्षा चार अक्षौहिणी अधिक है, इसलिये यह अन्तर मेरी सम्पूर्ण सेनाकी एक तिहाईसे भी अधिक है ॥ ६६ ॥

गुणहीनं परेषां च बहु पश्यामि भारत ।
गुणोदयं बहुगुणमात्मनश्च विशाम्पते ॥ ६७ ॥

भारत ! प्रजानाथ ! मैं देख रहा हूँ कि शत्रुओंका बल हमारी अपेक्षा अनेक प्रकारसे गुणहीन (न्यूनतम) है, परंतु मेरा अपना बल सब प्रकारसे बहुत अधिक एवं गुणशाली है ॥ ६७ ॥

एतत् सर्वं समाज्ञाय बलाग्र्यं मम भारत ।
न्यूनतां पाण्डवानां च न मोहं गन्तुमर्हसि ॥ ६८ ॥

भरतनन्दन ! इन सभी दृष्टियोंसे मेरा बल अधिक है और पाण्डवोंका बहुत कम है, यह जानकर आप व्याकुल एवं अधीर न हों ॥ ६८ ॥

इत्युक्त्वा संजयं भूयः पर्यपृच्छत भारत ।
विवित्सुः प्राप्तकालानि ज्ञात्वा परपुरंजयः ॥ ६९ ॥

जनमेजय ! ऐसा कहकर शत्रुनगरविजयी दुर्योधनने शत्रुओंकी स्थिति जान लेनेके पश्चात् समयोचित कर्तव्योंकी जानकारीके लिये पुनः संजयसे प्रश्न किया ॥ ६९ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि यानसंधिपर्वणि दुर्योधनवाक्ये पञ्चपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत यानसंधिपर्वमें दुर्योधनवाक्यविषयक पचपनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ५५ ॥

षट्पञ्चाशत्तमोऽध्यायः

संजयद्वारा अर्जुनके ध्वज एवं अश्वोंका तथा युधिष्ठिर आदिके घोड़ोंका वर्णन

दुर्योधन उवाच

अक्षौहिणीः सप्त लब्ध्वा राजभिः सह संजय ।
किंस्विदिच्छति कौन्तेयो युद्धप्रेप्सुर्युधिष्ठिरः ॥ १ ॥

दुर्योधनने पूछा—संजय ! यह तो बताओ, सात अक्षौहिणी सेना पाकर राजाओंसहित कुन्तीपुत्र युधिष्ठिर युद्धकी इच्छासे अब कौन-सा कार्य करना चाहते हैं ? ॥ १ ॥

संजय उवाच

अतीव मुदितो राजन् युद्धप्रेप्सुर्युधिष्ठिरः।
भीमसेनार्जुनौ चोभौ यमावपि न बिभ्यतः॥ २॥

संजयने कहा—राजन्! युधिष्ठिर युद्धकी अभिलाषा लेकर मन-ही-मन अत्यन्त प्रसन्न हो रहे हैं। भीमसेन, अर्जुन तथा दोनों भाई नकुल-सहदेव भी भयभीत नहीं हैं॥ २॥

रथं तु दिव्यं कौन्तेयः सर्वा विभ्राजयन् दिशः।
मन्त्रं जिज्ञासमानः सन् बीभत्सुः समयोजयत्॥ ३॥

कुन्तीकुमार अर्जुनने तो अस्त्रप्रयोगसम्बन्धी मन्त्रकी परीक्षाके लिये अपने दिव्य रथकी प्रभासे सम्पूर्ण दिशाओंको प्रकाशित करते हुए उसे जोत रक्खा था॥ ३॥

तमपश्याम संनद्धं मेघं विद्युद्युतं यथा।
समन्तात् समभिध्याय हृष्यमाणोऽभ्यभाषत॥ ४॥

उस समय स्वर्णमय कवच धारण किये अर्जुन हमें बिजलीके प्रकाशसे सुशोभित मेघके समान दिखायी दे रहे थे। उन्होंने सब ओरसे उन मन्त्रोंका सम्यक् चिन्तन करके हर्षसे उल्लसित होकर मुझसे कहा—॥ ४॥

पूर्वरूपमिदं पश्य वयं जेष्याम संजय।
बीभत्सुर्मां यथोवाच तथावैम्यहमप्युत॥ ५॥

'संजय! हमलोग युद्धमें अवश्य विजयी होंगे। उस विजयका यह पूर्वचिह्न अभीसे प्रकट हो रहा है। तुम भी देख लो।' राजन्! अर्जुनने मुझसे जैसा कहा था, वैसा ही मैं भी समझता हूँ॥ ५॥

दुर्योधन उवाच

प्रशंसस्यभिनन्दंस्तान् पार्थानक्षपराजितान्।
अर्जुनस्य रथे ब्रूहि कथमश्वाः कथं ध्वजाः॥ ६॥

दुर्योधन बोला—संजय! तुम तो जूएमें हारे हुए कुन्तीपुत्रोंका अभिनन्दन करते हुए उनकी बड़ी प्रशंसा करने लगे। बताओ तो सही, अर्जुनके रथमें कैसे घोड़े और कैसे ध्वज हैं?॥ ६॥

संजय उवाच

भौमनः सह शक्रेण बहुचित्रं विशाम्पते।
रूपाणि कल्पयामास त्वष्टा धाता सदा विभो॥ ७॥

संजयने कहा—प्रजानाथ! विश्वकर्मा त्वष्टा तथा प्रजापतिने इन्द्रके साथ मिलकर अर्जुनके रथकी ध्वजामें अनेक प्रकारके रूपोंकी रचना की है॥ ७॥

ध्वजे हि तस्मिन् रूपाणि चक्रुस्ते देवमायया।
महाधनानि दिव्यानि महान्ति च लघूनि च॥ ८॥

उन तीनोंने देवमायाके द्वारा उस ध्वजमें छोटी-बड़ी अनेक प्रकारकी बहुमूल्य एवं दिव्य मूर्तियोंका निर्माण किया है॥ ८॥



भीमसेनानुरोधाय हनूमान् मारुतात्मजः।
आत्मप्रतिकृतिं तस्मिन् ध्वज आरोपयिष्यति॥ ९॥

भीमसेनके अनुरोधकी रक्षाके लिये पवननन्दन हनुमान्‌जी उस ध्वजमें युद्धके समय अपने स्वरूपको स्थापित करेंगे।९।

सर्वा दिशो योजनमात्रमन्तरं
सतिर्यगूर्ध्वं च रुरोध वै ध्वजः।
न सज्जतेऽसौ तरुभिः संवृतोऽपि
तथा हि माया विहिता भौमनेन॥ १०॥

उस ध्वजने एक योजनतक सम्पूर्ण दिशाओं तथा अगल-बगल एवं ऊपरके अवकाशको व्याप्त कर रक्खा था। विश्वकर्माने ऐसी माया रच रक्खी है कि वह ध्वज वृक्षोंसे आवृत अथवा अवरुद्ध होनेपर भी कहीं अटकता नहीं है।१०।

यथाऽऽकाशे शक्रधनुः प्रकाशते
न चैकवर्णं न च विद्म किं नु तत्।
तथा ध्वजो विहितो भौमनेन
बह्वाकारं दृश्यते रूपमस्य॥ ११॥

जैसे आकाशमें बहुरंगा इन्द्रधनुष प्रकाशित होता है और यह समझमें नहीं आता कि वह क्या है? ठीक ऐसा ही विश्वकर्माका बनाया हुआ वह रंग-बिरंगा ध्वज है। उसका रूप अनेक प्रकारका दिखायी देता है॥ ११॥

यथाग्निधूमो दिवमेति रुद्ध्वा
वर्णान् बिभ्रत् तैजसांश्चित्ररूपान्।

तथा ध्वजो विहितो भौमनेन
न चेद् भारो भविता नोत रोधः ॥ १२ ॥

जैसे अग्निसहित धूम विचित्र तेजोमय आकार और रंग धारण करके सब ओर फैलकर ऊपर आकाशकी ओर बढ़ता जाता है, उसी प्रकार विश्वकर्माने उस ध्वजका निर्माण किया है। उसके कारण रथपर कोई भार नहीं बढ़ता है और न उसकी गतिमें कहीं कोई रुकावट ही पैदा होती है ॥ १२ ॥

श्वेतास्तस्मिन् वातवेगाः सदश्वा
दिव्या युक्ताश्चित्ररथेन दत्ताः ।
भुव्यन्तरिक्षे दिवि वा नरेन्द्र
येषां गतिर्हीयते नात्र सर्वा ।
शतं यत् तत् पूर्यते नित्यकालं
हतं हतं दत्तवरं पुरस्तात् ॥ १३ ॥

अर्जुनके उस रथमें वायुके समान वेगशाली दिव्य एवं उत्तम जातिके श्वेत अश्व जुते हुए हैं, जिन्हें गन्धर्वराज चित्ररथने दिया था । नरेन्द्र ! पृथ्वी, आकाश तथा स्वर्ग आदि किसी भी स्थानमें उन अश्वोंकी पूर्ण गति क्षीण या अवरुद्ध नहीं होती है । उस रथमें पूरे सौ घोड़े सदा जुते रहते हैं । उनमेंसे यदि कोई मारा जाता है तो पहलेके दिये हुए वरके प्रभावसे नया घोड़ा उत्पन्न होकर उसके स्थानकी पूर्ति कर देता है ॥ १३ ॥

तथा राज्ञो दन्तवर्णा बृहन्तो
रथे युक्ता भान्ति तद्वीर्यतुल्याः ।
ऋक्षप्रख्या भीमसेनस्य वाहा
रथे वायोस्तुल्यवेगा बभूवुः ॥ १४ ॥

राजा युधिष्ठिरके रथमें भी वैसे ही शक्तिशाली श्वेतवर्णके विशाल अश्व जुते हुए हैं, जो अत्यन्त सुशोभित होते हैं। भीमसेनके घोड़ोंका रंग रीछके समान काला है । वे उनके रथमें जोते जानेपर वायुके समान तीव्र वेगसे चलते हैं ॥ १४ ॥

कल्माषाङ्गास्तित्तिरिचित्रपृष्ठा
भ्रात्रा दत्ताः प्रीयता फाल्गुनेन ।
भ्रातुर्वीरस्य स्वैस्तुरङ्गैर्विशिष्टा
मुदा युक्ताः सहदेवं वहन्ति ॥ १५ ॥

अर्जुनने प्रसन्न होकर अपने छोटे भाई सहदेवको जो अश्व प्रदान किये थे, जिनके सम्पूर्ण अङ्ग विचित्र रंगके हैं और पृष्ठभाग भी तीतर पक्षीके समान चितकबरे प्रतीत होते हैं तथा जो वीर भाई अर्जुनके अपने अश्वोंकी अपेक्षा भी उत्कृष्ट हैं, ऐसे सुन्दर अश्व बड़ी प्रसन्नताके साथ सहदेवके रथका भार वहन करते हैं ॥ १५ ॥

माद्रीपुत्रं नकुलं त्वाजमीढ
महेन्द्रदत्ता हरयो वाजिमुख्याः ।
समा वायोर्बलवन्तस्तरस्विनो
वहन्ति वीरं वृत्रशत्रुं यथेन्द्रम् ॥ १६ ॥

अजमीढकुलनन्दन ! देवराज इन्द्रके दिये हुए हरे रंगके उत्तम घोड़े, जो वायुके समान बलवान् तथा वेगवान् हैं, माद्री-कुमार वीर नकुलके रथका भार वहन करते हैं । ठीक उसी तरह, जैसे पहले वे वृत्रशत्रु देवेन्द्रका भार वहन किया करते थे ॥ १६ ॥

तुल्याश्चैभिर्वयसा विक्रमेण
महाजवाश्चित्ररूपाः सदश्वाः ।
सौभद्रादीन् द्रौपदेयान् कुमारान्
वहन्त्यश्वा देवदत्ता बृहन्तः ॥ १७ ॥

अवस्था और बल-पराक्रममें पूर्वोक्त अश्वोंके ही समान महान् वेगशाली, विचित्र रूप-रंगवाले उत्तम जातिके अश्व सुभद्रानन्दन अभिमन्युसहित द्रौपदीके पुत्रोंका भार वहन करते हैं। वे विशाल अश्व भी देवताओंके दिये हुए हैं ॥ १७ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि यानसंधिपर्वणि संजयवाक्ये षट्पञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत यानसंधिपर्वमें संजयवाक्यविषयक छप्पनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ५६ ॥

सप्तपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

संजयद्वारा पाण्डवोंकी युद्धविषयक तैयारीका वर्णन, धृतराष्ट्रका विलाप, दुर्योधनद्वारा अपनी प्रबलताका प्रतिपादन, धृतराष्ट्रका उसपर अविश्वास तथा संजयद्वारा धृष्टद्युम्नकी शक्ति एवं संदेशका कथन

धृतराष्ट्र उवाच

कांस्तत्र संजयापश्यः प्रीत्यर्थेन समागतान् ।
ये योत्स्यन्ते पाण्डवार्थे पुत्रस्य मम वाहिनीम् ॥ १ ॥

धृतराष्ट्रने पूछा—संजय ! तुमने वहाँ युधिष्ठिरकी प्रसन्नताके लिये आये हुए किन-किन राजाओंको देखा था, जो पाण्डवोंके हितके लिये मेरे पुत्रकी सेनाके साथ युद्ध करेंगे ? ॥ १ ॥

संजय उवाच

मुख्यमन्धकवृष्णीनामपश्यं कृष्णमागतम्।
चेकितानं च तत्रैव युयुधानं च सात्यकिम् ॥ २ ॥

संजयने कहा—राजन् ! मैंने वहाँ देखा कि वृष्णि और अन्धकवंशके प्रधान पुरुष भगवान् श्रीकृष्ण पधारे हुए हैं। वहाँ चेकितान और युयुधान सात्यकि भी उपस्थित हैं ॥ २ ॥

पृथगक्षौहिणीभ्यां तु पाण्डवानभिसंश्रितौ।
महारथौ समाख्यातावुभौ पुरुषमानिनौ ॥ ३ ॥

अपनेको पौरुषशाली वीर माननेवाले वे दोनों विख्यात महारथी अलग-अलग एक-एक अक्षौहिणी सेनाके साथ पाण्डवोंकी सहायताके लिये आये हैं ॥ ३ ॥

अक्षौहिण्याथ पाञ्चाल्यो दशभिस्तनयैर्वृतः।
सत्यजित्प्रमुखैर्वीरैर्धृष्टद्युम्नपुरोगमैः ॥ ४ ॥
द्रुपदो वर्धयन् मानं शिखण्डिपरिपालितः।
उपायात् सर्वसैन्यानां प्रतिच्छाद्य तदा वपुः ॥ ५ ॥

पाञ्चालनरेश द्रुपद धृष्टद्युम्न और सत्यजित् आदि दस वीर पुत्रोंके साथ शिखण्डीद्वारा सुरक्षित हो कवच आदिसे सम्पूर्ण सैनिकोंके शरीरोंको आच्छादित करके उन सबकी एक अक्षौहिणी सेनाके साथ युधिष्ठिरका मान बढ़ानेके लिये वहाँ आये हुए हैं ॥ ४-५ ॥

विराटः सह पुत्राभ्यां शङ्खेनैवोत्तरेण च।
सूर्यदत्तादिभिर्वीरैर्मदिराक्षपुरोगमैः ॥ ६ ॥
सहितः पृथिवीपालो भ्रातृभिस्तनयैस्तथा।
अक्षौहिण्यैव सैन्यानां वृतः पार्थं समाश्रितः ॥ ७ ॥

राजा विराट अपने दो पुत्रों शङ्ख और उत्तरको साथ लिये, सूर्यदत्त और मदिराक्ष आदि वीर भ्राताओं और अन्य पुत्रोंके साथ एक अक्षौहिणी सेनासे घिरे हुए कुन्तीपुत्र युधिष्ठिरकी सहायताके लिये उपस्थित हैं ॥ ६-७ ॥

जारासंधिर्मागधश्च धृष्टकेतुश्च चेदिराट्।
पृथक् पृथगनुप्राप्तौ पृथगक्षौहिणीवृतौ ॥ ८ ॥

जरासंधकुमार मगधनरेश सहदेव तथा चेदिराज धृष्टकेतु—ये दोनों भी अलग-अलग एक-एक अक्षौहिणी सेना लेकर आये हैं ॥ ८ ॥

केकया भ्रातरः पञ्च सर्वे लोहितकध्वजाः।
अक्षौहिणीपरिवृताः पाण्डवानभिसंश्रिताः ॥ ९ ॥

लाल रंगकी ध्वजावाले जो पाँचों भाई केकयराजकुमार हैं, वे सभी एक अक्षौहिणी सेनाके साथ पाण्डवोंकी सेवामें उपस्थित हुए हैं ॥ ९ ॥

एतानेतावतस्तत्र तानपश्यं समागतान्।
ये पाण्डवार्थे योत्स्यन्ति धार्तराष्ट्रस्य वाहिनीम्॥ १० ॥

मैंने इन सबको इतनी सेनाओंके साथ वहाँ आया हुआ देखा है। ये लोग पाण्डवोंके हितके लिये दुर्योधनकी सेनाके साथ युद्ध करेंगे ॥ १० ॥

यो वेद मानुषं व्यूहं दैवं गान्धर्वमासुरम्।
स तत्र सेनाप्रमुखे धृष्टद्युम्नो महारथः ॥ ११ ॥

जो मनुष्यों, देवताओं, गन्धर्वों तथा असुरोंकी भी व्यूह-रचना-प्रणालीको जानते हैं, वे महारथी धृष्टद्युम्न पाण्डवपक्षकी सेनाके अग्रभागमें (सेनापति होकर) रहेंगे ॥ ११ ॥

भीष्मः शान्तनवो राजन् भागः कॢप्तः शिखण्डिनः।
तं विराटोऽनुसंयाता सार्धं मत्स्यैः प्रहारिभिः ॥ १२॥

राजन् ! शान्तनुनन्दन भीष्मजीके वधका कार्य शिखण्डीको सौंपा गया है। राजा विराट मत्स्यदेशीय योद्धाओंके साथ शिखण्डीकी सहायताके लिये उसका अनुसरण करेंगे ॥

ज्येष्ठस्य पाण्डुपुत्रस्य भागो मद्राधिपो बली।
तौ तु तत्राब्रुवन् केचिद् विषमौ नो मताविति॥ १३ ॥

बलवान् मद्रनरेश ज्येष्ठ पाण्डव युधिष्ठिरके हिस्सेमें पड़े हैं—युधिष्ठिर ही उनके साथ युद्ध करेंगे। परंतु यह बँटवारा सुनकर कुछ लोग वहाँ बोल उठे थे कि ये दोनों तो हमें परस्पर समान शक्तिशाली नहीं जान पड़ते ॥ १३ ॥

दुर्योधनः सहसुतः सार्धं भ्रातृशतेन च।
प्राच्याश्च दाक्षिणात्याश्च भीमसेनस्य भागतः॥ १४ ॥

अपने सौ भाइयों तथा पुत्रोंसहित दुर्योधन और पूर्व एवं दक्षिण दिशाके कौरवसैनिक भीमसेनका भाग नियत किये गये हैं ॥ १४ ॥

अर्जुनस्य तु भागेन कर्णो वैकर्तनो मतः।
अश्वत्थामा विकर्णश्च सैन्धवश्च जयद्रथः ॥ १५ ॥

वैकर्तन कर्ण, अश्वत्थामा, विकर्ण और सिंधुराज जयद्रथ—ये सब अर्जुनके हिस्सेमें पड़े हैं ॥ १५ ॥

अशक्याश्चैव ये केचिद् पृथिव्यां शूरमानिनः।
सर्वांस्तानर्जुनः पार्थः कल्पयामास भागतः ॥ १६ ॥

इनके सिवा और भी अपनेको शूरवीर माननेवाले जो कोई नरेश इस भूमण्डलमें अजेय माने जाते हैं, उन सबको कुन्तीकुमार अर्जुनने अपना भाग निश्चित किया है ॥ १६ ॥

महेष्वासा राजपुत्रा भ्रातरः पञ्च केकयाः।
केकयानेव भागेन कृत्वा योत्स्यन्ति संयुगे ॥ १७ ॥

पाँच भाई केकयराजकुमार भी महान् धनुर्धर हैं। वे समराङ्गणमें अपने विरोधी केकयदेशीय योद्धाओंको ही अपना भाग (वध्य वैरी) मानकर युद्ध करेंगे ॥ १७ ॥

तेषामेव कृतो भागो मालवाः शाल्वकास्तथा।
त्रिगर्तानां चैव मुख्यौ यौ तौ संशप्तकाविति ॥ १८ ॥

मालव, शाल्व तथा त्रिगर्तदेशके सैनिक और संशप्तक—सेनाके दो प्रमुख वीर भी उन केकयराजकुमारोंके ही भाग नियत किये गये हैं ॥ १८ ॥

दुर्योधनसुताः सर्वे तथा दुःशासनस्य च ।
सौभद्रेण कृतो भागो राजा चैव बृहद्बलः ॥ १९ ॥

दुर्योधन तथा दुःशासनके सभी पुत्र और राजा बृहद्बल सुभद्रानन्दन अभिमन्युके हिस्सेमें पड़े हैं ॥ १९ ॥

द्रौपदेया महेष्वासाः सुवर्णविकृतध्वजाः ।
धृष्टद्युम्नमुखा द्रोणमभियास्यन्ति भारत ॥ २० ॥

भरतनन्दन ! सुवर्णनिर्मित ध्वजाओंसे युक्त महाधनुर्धर द्रौपदीपुत्र भी धृष्टद्युम्नके साथ द्रोणपर आक्रमण करेंगे ॥२०॥

चेकितानः सोमदत्तं द्वैरथे योद्धुमिच्छति ।
भोजं तु कृतवर्माणं युयुधानो युयुत्सति ॥ २१ ॥

चेकितान द्वैरथ-संग्राममें सोमदत्तके साथ युद्ध करना चाहते हैं । सात्यकि भोजवंशी कृतवर्माके साथ युद्ध करनेको उत्सुक हैं ॥ २१ ॥

सहदेवस्तु माद्रेयः शूरः संक्रन्दनो युधि ।
स्वमंशं कल्पयामास श्यालं ते सुबलात्मजम् ॥ २२ ॥

महाराज ! युद्धमें इन्द्रके समान पराक्रमी शूरवीर माद्री-नन्दन सहदेवने आपके साले सुबलपुत्र शकुनिको अपना भाग निश्चित किया है ॥ २२ ॥

उलूकं चैव कैतव्यं ये च सारस्वता गणाः ।
नकुलः कल्पयामास भागं माद्रवतीसुतः ॥ २३ ॥

उस धूर्त जुआरी शकुनिका पुत्र जो उलूक है तथा जो सारस्वतप्रदेशके सैनिक हैं, उन सबको माद्रीकुमार नकुलने अपना भाग नियत किया है ॥ २३ ॥

ये चान्ये पार्थिवा राजन् प्रत्युद्यास्यन्ति सङ्गरे ।
समाह्वानेन तांश्चापि पाण्डुपुत्रा अकल्पयन् ॥ २४ ॥

राजन् ! दूसरे भी जो-जो नरेश (आपकी ओरसे) युद्धमें पदार्पण करेंगे, उन सबका भी नाम ले-लेकर पाण्डवोंने उन्हें अपना भाग निश्चित किया है ॥ २४ ॥

एवमेषामनीकानि प्रविभक्तानि भागशः ।
यत् ते कार्यं सपुत्रस्य क्रियतां तदकालिकम् ॥ २५ ॥

इस प्रकार पाण्डवोंकी सेनाएँ पृथक्-पृथक् भागोंमें बँटी हुई हैं । अब पुत्रोंसहित आपका जो कर्तव्य हो, उसे अविलम्ब पूरा करें ॥ २५ ॥

धृतराष्ट्र उवाच

न सन्ति सर्वे पुत्रा मे मूढा दुर्द्यूतदेविनः ।
येषां युद्धं बलवता भीमेन रणमूर्धनि ॥ २६ ॥

धृतराष्ट्र बोले—संजय ! समरभूमिके प्रमुख भागमें बलवान् भीमसेनके साथ जिनका युद्ध होनेवाला है, वे कपट-पूर्ण जूआ खेलनेवाले मेरे सभी मूर्ख पुत्र अब नहींके बराबर हैं ॥ २६ ॥

राजानः पार्थिवाः सर्वे प्रोक्षिताः कालधर्मणा ।
गाण्डीवाग्निं प्रवेक्ष्यन्ति पतङ्गा इव पावकम् ॥ २७ ॥

भूमण्डलके समस्त राजाओंका वध करनेके लिये मानो कालधर्मा यमराजने उनका प्रोक्षण (संस्कार) किया है; अतः जैसे पतंग आगमें गिरते हैं, वैसे ही ये सब नरेश गाण्डीव धनुषकी आगमें समा जायँगे ॥ २७ ॥

विद्रुतां वाहिनीं मन्ये कृतवैरैर्महात्मभिः ।
तां रणे केऽनुयास्यन्ति प्रभग्नां पाण्डवैर्युधि ॥ २८ ॥

मैं तो समझता हूँ; जिनका हमलोगोंके साथ वैर ठन गया है, वे महात्मा पाण्डव समराङ्गणमें हमारी विशाल सेनाको अवश्य मार भगायेंगे । उनके द्वारा खदेड़ी हुई उस सेनाका अनुसरण अथवा सहयोग कौन कर सकेंगे ? ॥ २८ ॥

सर्वे ह्यतिरथाः शूराः कीर्तिमन्तः प्रतापिनः ।
सूर्यपावकयोस्तुल्यास्तेजसा समितिंजयाः ॥ २९ ॥

समस्त पाण्डव अतिरथी शूरवीर, यशस्वी, प्रतापी, युद्धविजयी तथा अग्नि और सूर्यके समान तेजस्वी हैं ॥२९॥

येषां युधिष्ठिरो नेता गोप्ता च मधुसूदनः ।
योधौ च पाण्डवौ वीरौ सव्यसाचिवृकोदरौ ॥ ३० ॥
नकुलः सहदेवश्च धृष्टद्युम्नश्च पार्षतः ।
सात्यकिर्द्रुपदश्चैव धृष्टकेतुश्च सानुजः ॥ ३१ ॥
उत्तमौजाश्च पाञ्चाल्यो युधामन्युश्च दुर्जयः ।
शिखण्डी क्षत्रदेवश्च तथा वैराटिरुत्तरः ॥ ३२ ॥
काशयश्चेदयश्चैव मत्स्याः सर्वे च सृंजयाः ।
विराटपुत्रो बभ्रुश्च पञ्चालाश्च प्रभद्रकाः ॥ ३३ ॥
येषामिन्द्रोऽप्यकामानां न हरेत् पृथिवीमिमाम् ।
वीराणां रणधीराणां ये भिन्द्युः पर्वतानपि ॥ ३४ ॥
तान् सर्वगुणसम्पन्नानमनुष्यप्रतापिनः ।
क्रोशतो मम दुष्पुत्रो योद्धुमिच्छति संजय ॥ ३५ ॥

संजय ! युधिष्ठिर जिनके नेता हैं, भगवान् मधुसूदन जिनके रक्षक हैं, पाण्डुपुत्र वीरवर अर्जुन और भीमसेन जिनके प्रमुख योद्धा हैं, नकुल, सहदेव, पृषत्वंशी धृष्टद्युम्न, सात्यकि, द्रुपद, धृष्टकेतु, सुकेतु, पाञ्चालदेशीय उत्तमौजा, दुर्जय युधामन्यु, शिखण्डी, क्षत्रदेव, विराटकुमार उत्तर, काशि, चेदि तथा मत्स्यदेशके सैनिक, सृंजयवंशी क्षत्रिय, विराटकुमार बभ्रु तथा पाञ्चालदेशीय प्रभद्रकगण जिनके पक्षमें युद्धके लिये उद्यत हैं, जिनकी इच्छाके बिना देवराज इन्द्र भी इस पृथ्वीका अपहरण नहीं कर सकते, जो वीर तथा रणधीर हैं, जो पर्वतोंको भी विदीर्ण कर सकते हैं, जिनका

प्रताप देवताओंके समान है तथा जो समस्त सद्गुणोंसे सम्पन्न हैं, उन्हीं पाण्डवोंके साथ मेरा दुष्ट पुत्र दुर्योधन मेरे चीखते-चिल्लाते हुए भी युद्ध करना चाहता है ॥ ३०—३५ ॥

दुर्योधन उवाच

उभौ स्व एकजातीयौ तथोभौ भूमिगोचरौ।
अथ कस्मात् पाण्डवानामेकतो मन्यसे जयम् ॥ ३६ ॥

दुर्योधन बोला—पिताजी ! हम कौरव तथा पाण्डव दोनों एक ही जातिके हैं और दोनों इसी भूमिपर रहते हैं। फिर एकमात्र पाण्डवोंकी ही विजय होगी, यह धारणा आपने कैसे बना ली ? ॥ ३६ ॥

पितामहं च द्रोणं च कृपं कर्णं च दुर्जयम्।
जयद्रथं सोमदत्तमश्वत्थामानमेव च ॥ ३७ ॥
सुतेजसो महेष्वासानिन्द्रोऽपि सहितोऽमरैः।
अशक्तः समरे जेतुं किं पुनस्तात पाण्डवाः ॥ ३८ ॥

तात ! पितामह भीष्म, द्रोणाचार्य, कृपाचार्य, दुर्जय वीर कर्ण, जयद्रथ, सोमदत्त तथा अश्वत्थामा ये सभी उत्तम तेजस्वी और महान् धनुर्धर हैं। देवताओंसहित इन्द्र भी इन्हें युद्धमें जीत नहीं सकते; फिर पाण्डवोंकी तो बात ही क्या है ? ॥ ३७-३८ ॥

सर्वे च पृथिवीपाला मदर्थे तात पाण्डवान्।
आर्याः शस्त्रभृतः शूराः समर्थाः प्रतिबाधितुम् ॥ ३९ ॥

तात ! ये सभी भूपाल श्रेष्ठ, शस्त्रधारी और शूरवीर होनेके साथ ही मेरे लिये पाण्डवोंको पीड़ा देनेमें समर्थ हैं ॥

न मामकान् पाण्डवास्ते समर्थाः प्रतिवीक्षितुम्।
पराक्रान्तो ह्यहं पाण्डून् सपुत्रान् योद्धुमाहवे ॥ ४० ॥

पाण्डव मेरे पक्षके इन वीरोंकी ओर आँख उठाकर देखनेमें भी समर्थ नहीं हैं। पुत्रोंसहित पाण्डवोंके साथ मैं अकेला ही समराङ्गणमें युद्ध करनेकी शक्ति रखता हूँ ॥४०॥

मत्प्रियं पार्थिवाः सर्वे ये चिकीर्षन्ति भारत।
ते तानावारयिष्यन्ति ऐणेयानिव तन्तुना ॥ ४१ ॥

भरतनन्दन ! जो भूपाल मेरा प्रिय करना चाहते हैं, वे सब उन पाण्डवोंको आगे बढ़नेसे उसी प्रकार रोक देंगे, जैसे फंदेसे हिरनके बच्चोंको रोका जाता है ॥ ४१ ॥

महता रथवंशेन शरजालैश्च मामकैः।
अभिद्रुता भविष्यन्ति पञ्चालाः पाण्डवैः सह ॥ ४२ ॥

मेरे पक्षकी विशाल रथसेना तथा मेरे सैनिकोंके बाण-समूहोंसे आहत होकर पाञ्चाल और पाण्डव भाग खड़े होंगे ॥

धृतराष्ट्र उवाच

उन्मत्त इव मे पुत्रो विलपत्येष संजय।
न हि शक्तो रणे जेतुं धर्मराजं युधिष्ठिरम् ॥ ४३ ॥

धृतराष्ट्र बोले—संजय ! मेरा यह पुत्र पागलके समान प्रलाप कर रहा है। यह युद्धमें धर्मराज युधिष्ठिरको कभी जीत नहीं सकता ॥ ४३ ॥

जानाति हि यथा भीष्मः पाण्डवानां यशस्विनाम्।
बलवत्तां सपुत्राणां धर्मज्ञानां महात्मनाम् ॥ ४४ ॥
यतो नारोचयदयं विग्रहं तैर्महात्मभिः।

पुत्रोंसहित धर्मज्ञ एवं यशस्वी महात्मा पाण्डव कितने बलशाली हैं, इस बातको भीष्मजी अच्छी तरह जानते हैं। इसीलिये उन्हें उन महात्माओंके साथ युद्ध छेड़नेकी बात पसंद नहीं आयी ॥ ४४½ ॥

किं तु संजय मे ब्रूहि पुनस्तेषां विचेष्टितम् ॥ ४५ ॥
कस्तांस्तरस्विनो भूयः संदीपयति पाण्डवान्।
अर्चिष्मतो महेष्वासान् हविषा पावकानिव ॥ ४६ ॥

संजय ! तुम पुनः मेरे सामने पाण्डवोंकी चेष्टाका वर्णन करो। कौन ऐसा वीर है, जो वेगशाली और तेजस्वी महा-धनुर्धर पाण्डवोंको बार-बार उसी प्रकार उत्तेजित किया करता है, जैसे घीकी आहुति डालनेसे आग प्रज्वलित हो उठती है ॥ ४५-४६ ॥

संजय उवाच

धृष्टद्युम्नः सदैवैनान् संदीपयति भारत।
युद्ध्यध्वमिति मा भैष्ट युद्धाद् भरतसत्तमाः ॥ ४७ ॥

संजयने कहा—भारत ! धृष्टद्युम्न सदा ही इन पाण्डवोंको उत्तेजित करते रहते हैं। वे कहते हैं—'भरतकुल-भूषण पाण्डवो ! आपलोग युद्ध करें, उससे तनिक भी भयभीत न हों ॥ ४७ ॥

ये केचित् पार्थिवास्तत्र धार्तराष्ट्रेण संवृताः।
युद्धे समागमिष्यन्ति तुमुले शस्त्रसंकुले ॥ ४८ ॥
तान् सर्वानाहवे क्रुद्धान् सानुबन्धान् समागतान्।
अहमेकः समादास्ये तिमिर्मत्स्यानिवौदकान् ॥ ४९ ॥

'धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधनके द्वारा एकत्र किये हुए जो जो नरेश अस्त्र-शस्त्रोंकी मारकाटसे व्याप्त हुए भयानक संग्राममें मेरे सामने आयेंगे, वे कितने ही क्रोधमें भरे हुए क्यों न हों, सगे सम्बन्धियोंसहित रणभूमिमें आये हुए उन सभी राजाओंको मैं अकेला ही उसी प्रकार वशमें कर लूँगा, जैसे तिमि नामक महामत्स्य जलकी दूसरी मछलियोंको निगल जाता है ॥ ४८-४९ ॥

भीष्मं द्रोणं कृपं कर्णं द्रौणिं शल्यं सुयोधनम्।
एतांश्चापि निरोत्स्यामि वेलेव मकरालयम् ॥ ५० ॥

'भीष्म, द्रोण, कृपाचार्य, कर्ण, अश्वत्थामा, शल्य तथा दुर्योधन—इन सबको मैं उसी भाँति आगे बढ़नेसे रोक दूँगा, जैसे किनारा समुद्रको रोके रखता है' ॥ ५० ॥

तथा ब्रुवन्तं धर्मात्मा प्राह राजा युधिष्ठिरः।
तव धैर्यं च वीर्यं च पञ्चालाः पाण्डवैः सह ॥ ५१ ॥
सर्वे समधिरूढाः स्म संग्रामान्नः समुद्धर।
जानामि त्वां महाबाहो क्षत्रधर्मे व्यवस्थितम् ॥ ५२ ॥
समर्थमेकं पर्याप्तं कौरवाणां विनिग्रहे।
पुरस्तादुपयातानां कौरवाणां युयुत्सताम् ॥ ५३ ॥

इस प्रकार बोलते हुए धृष्टद्युम्नसे धर्मात्मा राजा युधिष्ठिरने कहा—'महाबाहो ! पाण्डवोंसहित समस्त पाञ्चाल वीर तुम्हारे धैर्य और पराक्रमका ही आश्रय लेकर युद्धके लिये उद्यत हुए हैं, इसलिये तुम्हीं इस संग्रामसे हमलोगोंका उद्धार करो। मैं जानता हूँ कि तुम क्षत्रियधर्ममें प्रतिष्ठित हो और युद्धकी इच्छासे सामने आये हुए समस्त कौरवोंको अकेले ही कैद कर लेनेकी पूरी शक्ति रखते हो ॥ ५१-५३ ॥

भवता यद् विधातव्यं तन्नः श्रेयः परंतप।
संग्रामादपयातानां भग्नानां शरणैषिणाम् ॥ ५४ ॥
पौरुषं दर्शयञ्शूरो यस्तिष्ठेदग्रतः पुमान्।
क्रीणीयात् तं सहस्रेण इति नीतिमतां मतम् ॥ ५५ ॥

'परंतप ! तुम जो कुछ करोगे, वही हमारे लिये मङ्गलकारी होगा। जो वीर पुरुष अपना पौरुष प्रकट करते हुए युद्धभूमिसे पराजित होकर भागे हुए शरणार्थी सैनिकोंके सामने खड़ा होता (और उनके भयका निवारण करता) है, उसे सहस्रोंकी सम्पत्ति देकर भी खरीद ले (अपने पक्षमें कर ले); यही नीतिज्ञ पुरुषोंका मत है ॥ ५४-५५ ॥

स त्वं शूरश्च वीरश्च विक्रान्तश्च नरर्षभ।
भयार्तानां परित्राता संयुगेषु न संशयः ॥ ५६ ॥

'नरश्रेष्ठ ! इसमें संदेह नहीं कि तुम शूर, वीर और पराक्रमी हो तथा युद्धमें भयसे पीड़ित हुए सैनिकोंकी रक्षा कर सकते हो' ॥ ५६ ॥

एवं ब्रुवति कौन्तेये धर्मात्मनि युधिष्ठिरे।
धृष्टद्युम्न उवाचेदं मां वचो गतसाध्वसम्।
सर्वाञ्जनपदान् सूत योधा दुर्योधनस्य ये ॥ ५७ ॥
सबाह्लिकान् कुरून् ब्रूयाः प्रातिपेयाञ्शरद्वतः।
सूतपुत्रं तथा द्रोणं सहपुत्रं जयद्रथम् ॥ ५८ ॥
दुःशासनं विकर्णं च तथा दुर्योधनं नृपम्।
भीष्मं च ब्रूहि गत्वा त्वमाशु गच्छ च मा चिरम् ॥ ५९ ॥

धर्मात्मा कुन्तीकुमार युधिष्ठिर जब इस प्रकार कह रहे थे, उसी समय धृष्टद्युम्नने मुझसे भयरहित यह वचन कहा—'सूत ! वहाँ दुर्योधनके जितने योद्धा हैं, उनसे, समस्त देशवासियोंसे, बाह्लीक आदि प्रतीपवंशी कौरवोंसे, शरद्वान्के पुत्र कृपाचार्यसे, सूतपुत्र कर्णसे, द्रोणाचार्य और अश्वत्थामासे तथा जयद्रथ, दुःशासन, विकर्ण, राजा दुर्योधन और भीष्मसे भी शीघ्र जाकर मेरा यह संदेश कहो। अभी जाओ, विलम्ब मत करो ॥ ५७-५९ ॥

युधिष्ठिरः साधुनैवाभ्युपेयो
मा वो वधीदर्जुनो देवगुप्तः।
राज्यं दद्ध्वं धर्मराजस्य तूर्णं
याचध्वं वै पाण्डवं लोकवीरम् ॥ ६० ॥

(यह संदेश इस प्रकार है–) 'कौरवो ! राजा युधिष्ठिर सद्व्यवहारसे ही वशमें किये जा सकते हैं (युद्धसे नहीं)। ऐसा अवसर न आने दो कि देवताओंद्वारा सुरक्षित वीरवर अर्जुन तुमलोगोंका वध कर डालें। धर्मराज युधिष्ठिरको शीघ्र उनका राज्य सौंप दो और विश्वविख्यात वीर पाण्डुकुमार अर्जुनसे क्षमा-याचना करो ॥ ६० ॥

नैतादृशो हि योधोऽस्ति पृथिव्यामिह कश्चन।
यथाविधः सव्यसाची पाण्डवः सत्यविक्रमः ॥ ६१ ॥

'सव्यसाची पाण्डुपुत्र अर्जुन जैसे सत्यपराक्रमी हैं, वैसा योद्धा इस भूमण्डलमें दूसरा कोई नहीं है ॥ ६१ ॥

देवैर्हि सम्भृतो दिव्यो रथो गाण्डीवधन्वनः।
न स जेयो मनुष्येण मा स्म कृढ्ध्वं मनो युधि ॥ ६२ ॥

'गाण्डीव धनुष धारण करनेवाले वीर अर्जुनका दिव्य रथ देवताओंद्वारा सुरक्षित है। कोई भी मनुष्य उन्हें जीत नहीं सकता, अतः तुमलोग अपने मनको युद्धकी ओर न जाने दो' ॥ ६२ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि यानसंधिपर्वणि संजयवाक्ये सप्तपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत यानसंधिपर्वमें संजयवाक्यविषयक सत्तावनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ५७ ॥

अष्टपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

धृतराष्ट्रका दुर्योधनको संधिके लिये समझाना, दुर्योधनका अहंकारपूर्वक पाण्डवोंसे युद्ध करनेका ही निश्चय तथा धृतराष्ट्रका अन्य योद्धाओंको युद्धसे भय दिखाना

धृतराष्ट्र उवाच

क्षत्रतेजा ब्रह्मचारी कौमारादपि पाण्डवः।
तेन संयुगमेष्यन्ति मन्दा विलपतो मम ॥ १ ॥

धृतराष्ट्र बोले—संजय ! पाण्डुपुत्र युधिष्ठिर क्षात्र तेजसे सम्पन्न हैं। उन्होंने कुमारावस्थासे ही विधिपूर्वक ब्रह्मचर्यका पालन किया है, परंतु मेरे ये मूर्ख पुत्र मेरे विलापकी ओर

ध्यान न देकर उन्हीं युधिष्ठिरके साथ युद्ध छेड़नेवाले हैं ॥ १ ॥

दुर्योधन निवर्तस्व युद्धाद् भरतसत्तम ।
न हि युद्धं प्रशंसन्ति सर्वावस्थमरिंदम ॥ २ ॥

भरतकुलभूषण शत्रुदमन दुर्योधन ! तुम युद्धसे निवृत्त हो जाओ । श्रेष्ठ पुरुष किसी भी दशामें युद्धकी प्रशंसा नहीं करते हैं ॥ २ ॥

अलमर्धं पृथिव्यास्ते सहामात्यस्य जीवितुम् ।
प्रयच्छ पाण्डुपुत्राणां यथोचितमरिंदम ॥ ३ ॥

शत्रुओंका दमन करनेवाले वीर ! तुम पाण्डवोंको उनका यथोचित राज्यभाग दे दो । बेटा ! मन्त्रियोंसहित तुम्हारे जीवननिर्वाहके लिये तो आधा राज्य ही पर्याप्त है ॥ ३ ॥

एतद्धि कुरवः सर्वे मन्यन्ते धर्मसंहितम् ।
यत् त्वं प्रशान्तिं मन्येथाः पाण्डुपुत्रैर्महात्मभिः॥ ४ ॥

समस्त कौरव यही धर्मानुकूल समझते हैं कि तुम महात्मा पाण्डवोंके साथ (संधि करके आपसमें) शान्ति बनाये रखनेकी बात स्वीकार कर लो ॥ ४ ॥

अङ्गेमां समवेक्षस्व पुत्र स्वामेव वाहिनीम् ।
जात एव तवाभावस्त्वं तु मोहान्न बुध्यसे ॥ ५ ॥

वत्स ! तुम इस अपनी ही सेनाकी ओर दृष्टिपात करो । यह तुम्हारा विनाशकाल ही उपस्थित हुआ है, परंतु तुम मोहवश इस बातको समझ नहीं रहे हो ॥ ५ ॥

न त्वहं युद्धमिच्छामि नैतदिच्छति बाह्लिकः ।
न च भीष्मो न च द्रोणो नाश्वत्थामा न संजयः॥ ६ ॥
न सोमदत्तो न शलो न कृपो युद्धमिच्छति ।
सत्यव्रतः पुरुमित्रो जयो भूरिश्रवास्तथा ॥ ७ ॥

देखो, न तो मैं युद्ध करना चाहता हूँ, न बाह्लीक इसकी इच्छा रखते हैं और न भीष्म, द्रोण, अश्वत्थामा, संजय, सोमदत्त, शल तथा कृपाचार्य ही युद्ध करना चाहते हैं । सत्यव्रत, पुरुमित्र, जय और भूरिश्रवा भी युद्धके पक्षमें नहीं हैं ॥ ६–७ ॥

येषु सम्प्रति तिष्ठेयुः कुरवः पीडिताः परैः ।
ते युद्धं नाभिनन्दन्ति तत् तुभ्यं तात रोचताम्॥ ८ ॥

शत्रुओंसे पीड़ित होनेपर कौरवसैनिक जिनके आश्रयमें खड़े हो सकते हैं, वे ही लोग युद्धका अनुमोदन नहीं कर रहे हैं । तात ! उनके इस विचारको तुम्हें भी पसंद करना चाहिये ॥ ८ ॥

न त्वं करोषि कामेन कर्णः कारयिता तव ।
दुःशासनश्च पापात्मा शकुनिश्चापि सौबलः ॥ ९ ॥

(मैं जानता हूँ,) तुम अपनी इच्छासे युद्ध नहीं कर रहे हो; अपितु पापात्मा दुःशासन, कर्ण तथा सुबलपुत्र शकुनि ही तुमसे यह कार्य करा रहे हैं ॥ ९ ॥

दुर्योधन उवाच

नाहं भवति न द्रोणे नाश्वत्थाम्नि न संजये ।
न भीष्मे न च काम्बोजे न कृपे न च बाह्लिके ॥ १० ॥
सत्यव्रते पुरुमित्रे भूरिश्रवसि वा पुनः ।
अन्येषु वा तावकेषु भारं कृत्वा समाह्वयम् ॥ ११ ॥

दुर्योधन बोला—पिताजी ! मैंने आप, द्रोणाचार्य, अश्वत्थामा, संजय, भीष्म, काम्बोजनरेश, कृपाचार्य, बाह्लीक, सत्यव्रत, पुरुमित्र, भूरिश्रवा अथवा आपके अन्यान्य योद्धाओंपर सारा बोझ रखकर पाण्डवोंको युद्धके लिये आमन्त्रित नहीं किया है ॥ १०-११ ॥

अहं च तात कर्णश्च रणयज्ञं वितत्य वै ।
युधिष्ठिरं पशुं कृत्वा दीक्षितौ भरतर्षभ ॥ १२ ॥

तात ! भरतश्रेष्ठ ! मैंने तथा कर्णने रणयज्ञका विस्तार करके युधिष्ठिरको बलिपशु बनाकर उस यज्ञकी दीक्षा ले ली है ॥ १२ ॥

रथो वेदी स्रुवः खड्गो गदा स्रुक् कवचोऽजिनम् ।
चातुर्होत्रं च धुर्या मे शरा दर्भा हविर्यशः ॥ १३ ॥

इसमें रथ ही वेदी है, खड्ग स्रुवा है, गदा स्रुक् है, कवच मृगचर्म है, रथका भार वहन करनेवाले मेरे चारों घोड़े ही चार होता हैं, बाण कुश हैं, और यश ही हविष्य है ॥ १३ ॥

आत्मयज्ञेन नृपते इष्ट्वा वैवस्वतं रणे ।
विजित्य च समेष्यावो हतामित्रौ श्रिया वृतौ ॥ १४ ॥

नरेश्वर ! हम दोनों समराङ्गणमें अपने इस यज्ञके द्वारा यमराजका यजन करके शत्रुओंको मारकर विजयी हो विजय लक्ष्मीसे शोभा पाते हुए पुनः राजधानीमें लौटेंगे ॥ १४ ॥

अहं च तात कर्णश्च भ्राता दुःशासनश्च मे ।
एते वयं हनिष्यामः पाण्डवान् समरे त्रयः ॥ १५ ॥

तात ! मैं, कर्ण तथा भाई दुःशासन–हम तीन ही समरभूमिमें पाण्डवोंका संहार कर डालेंगे ॥ १५ ॥

अहं हि पाण्डवान् हत्वा प्रशास्ता पृथिवीमिमाम्।
मां वा हत्वा पाण्डुपुत्रा भोक्तारः पृथिवीमिमाम्॥ १६॥

या तो मैं ही पाण्डवोंको मारकर इस पृथ्वीका शासन करूँगा या पाण्डव ही मुझे मारकर भूमण्डलका राज्य भोगेंगे ॥ १६ ॥

त्यक्तं मे जीवितं राज्यं धनं सर्वं च पार्थिव ।
न जातु पाण्डवैः सार्धं वसेयमहमच्युत ॥ १७ ॥

राज्यच्युत न होनेवाले महाराज ! मैं जीवन, राज्य,

धन—सब कुछ छोड़ सकता हूँ, परंतु पाण्डवोंके साथ मिलकर कदापि नहीं रह सकता ॥ १७ ॥

यावद्धि सूच्यास्तीक्ष्णाया विध्येदग्रेण मारिष।
तावदप्यपरित्याज्यं भूमेर्नः पाण्डवान् प्रति ॥ १८ ॥

पूज्य पिताजी ! तीखी सूईके अग्रभागसे जितनी भूमि बिंध सकती है, उतनी भी मैं पाण्डवोंको नहीं दे सकता ॥

धृतराष्ट्र उवाच

सर्वान् वस्तात शोचामि त्यक्तो दुर्योधनो मया।
ये मन्दमनुयास्यध्वं यान्तं वैवस्वतक्षयम् ॥ १९ ॥

धृतराष्ट्र बोले— तात कौरवगण ! दुर्योधनको तो मैंने त्याग दिया। यमलोकको जाते हुए उस मूर्खका तुम लोगोंमेंसे जो अनुसरण करेंगे मैं उन सभी लोगोंके लिये शोकमें पड़ा हूँ ॥



रुरूणामिव यूथेषु व्याघ्राः प्रहरतां वराः।
वरान् वरान् हनिष्यन्ति समेता युधि पाण्डवाः ॥ २० ॥

प्रहार करनेवालोंमें श्रेष्ठ व्याघ्र जैसे रुरु नामक मृगोंके झुंडोंमें, घुसकर बड़ों-बड़ोंको मार डालते हैं, उसी प्रकार योद्धाओंमें अग्रगण्य पाण्डव युद्धमें एकत्र होकर कौरवोंके प्रधान-प्रधान वीरोंका वध कर डालेंगे ॥ २० ॥

प्रतीपमिव मे भाति युयुधानेन भारती।
व्यस्ता सीमन्तिनी ग्रस्ता प्रमृष्टा दीर्घबाहुना ॥ २१ ॥

मुझे तो ऐसा प्रतीत हो रहा है कि पुरुषसे तिरस्कृत हुई नारीकी भाँति इस भरतवंशियोंकी सेनाको विशाल बाँहोंवाले वीर सात्यकिने अपने अधिकारमें करके रौंद डाला है और वह अब विपरीत दिशाकी ओर अस्त-व्यस्त दशामें भागी जा रही है ॥ २१ ॥

सम्पूर्णं पूरयन् भूयो धनं पार्थस्य माधवः।
शैनेयः समरे स्थाता बीजवत् प्रवपञ्शरान् ॥ २२ ॥

मधुवंशी सात्यकि युधिष्ठिरके भरे-पूरे बल वैभवको और भी बढ़ाते हुए, जैसे किसान खेतोंमें बीज बोता है; उसी प्रकार समर-भूमिमें बाण बिखेरते हुए खड़े होंगे ॥ २२ ॥

सेनामुखे प्रयुद्धानां भीमसेनो भविष्यति।
तं सर्वे संश्रयिष्यन्ति प्राकारमकुतोभयम् ॥ २३ ॥

सेनामें समस्त पाण्डव योद्धाओंके आगे भीमसेन खड़े होंगे और समस्त योद्धा उन्हें भयरहित प्राकार (चहारदीवारी) के समान मानकर उन्हींका आश्रय लेंगे ॥ २३ ॥

यदा द्रक्ष्यसि भीमेन कुञ्जरान् विनिपातितान्।
विशीर्णदन्तान् गिर्याभान् भिन्नकुम्भान् सशोणितान् ॥
तानभिप्रेक्ष्य संग्रामे विशीर्णानिव पर्वतान्।
भीतो भीमस्य संस्पर्शात् स्मर्तासि वचनस्य मे ॥ २५ ॥

जब तुम देखोगे कि भीमसेनने पर्वताकार गजराजोंके दाँत तोड़ एवं कुम्भस्थल विदीर्ण करके उन्हें रक्तरञ्जित दशामें धराशायी कर दिया है और वे रणभूमिमें टूट-फूटकर गिरे हुए पर्वतोंके समान दृष्टिगोचर हो रहे हैं, तब उन सबपर दृष्टिपात करके भीमसेनके स्पर्शसे भी भयभीत होकर मेरी कही हुई बातोंको याद करोगे ॥ २४-२५ ॥

निर्दग्धं भीमसेनेन सैन्यं रथहयद्विपम्।
गतिमग्नेरिव प्रेक्ष्य स्मर्तासि वचनस्य मे ॥ २६ ॥

भीमसेन जब घोड़े, रथ और हाथियोंसे भरी हुई सारी कौरवसेनाको अपनी क्रोधाग्निसे दग्ध करने लगेंगे, उस समय अग्निके समान उनका प्रबल वेग देखकर तुम्हें मेरी बातें याद आयेंगी ॥ २६ ॥

महद् वो भयमागामि न चेच्छाम्यथ पाण्डवैः।
गदया भीमसेनेन हताः शममुपैष्यथ ॥ २७ ॥

तुमलोगोंपर बहुत बड़ा भय आनेवाला है। मैं नहीं चाहता कि पाण्डवोंके साथ तुम्हारा युद्ध हो। यदि हो गया तो तुमलोग भीमसेनकी गदासे मारे जाकर सदाके लिये शान्त हो जाओगे ॥ २७ ॥

महावनमिवच्छिन्नं यदा द्रक्ष्यसि पातितम्।
बलं कुरूणां भीमेन तदा स्मर्तासि मे वचः ॥ २८ ॥

काटकर गिराये हुए विशाल वनकी भाँति जब तुम कौरवसेनाको भीमसेनके द्वारा मार गिरायी हुई देखोगे, तब तुम्हें मेरे वचनोंका स्मरण हो आयेगा ॥ २८ ॥

वैशम्पायन उवाच

एतावदुक्त्वा राजा तु सर्वांस्तान् पृथिवीपतीन्।
अनुभाष्य महाराज पुनः पप्रच्छ संजयम् ॥ २९ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं- महाराज जनमेजय ! राजा धृतराष्ट्रने वहाँ बैठे हुए समस्त भूपालोंसे उपर्युक्त बातें कहकर उन्हें समझा-बुझाकर पुनः संजयसे पूछा ॥२९॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि यानसंधिपर्वणि धृतराष्ट्रवाक्येऽष्टपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत यानसंधिपर्वमें धृतराष्ट्रवाक्यविषयक अट्ठावनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ५८ ॥

एकोनषष्टितमोऽध्यायः

संजयका धृतराष्ट्रके पूछनेपर उन्हें श्रीकृष्ण और अर्जुनके अन्तःपुरमें कहे हुए संदेश सुनाना

धृतराष्ट्र उवाच

यदब्रूतां महात्मानौ वासुदेवधनंजयौ ।
तन्मे ब्रूहि महाप्राज्ञ शुश्रूषे वचनं तव ॥ १ ॥

धृतराष्ट्रने पूछा—महाप्राज्ञ संजय ! महात्मा भगवान् श्रीकृष्ण और अर्जुनने जो कुछ कहा हो, वह मुझे बताओ; मैं तुम्हारे मुखसे उनके संदेश सुनना चाहता हूँ ॥ १ ॥

संजय उवाच

शृणु राजन् यथा दृष्टौ मया कृष्णधनंजयौ ।
ऊचतुश्चापि यद् वीरौ तत् ते वक्ष्यामि भारत ॥ २ ॥

संजयने कहा—भरतवंशी नरेश ! सुनिये। मैंने वीरवर श्रीकृष्ण और अर्जुनको जैसे देखा है और उन्होंने जो संदेश दिया है, वह आपको बता रहा हूँ ॥ २ ॥

पादाङ्गुलीरभिप्रेक्षन् प्रयतोऽहं कृताञ्जलिः ।
शुद्धान्तं प्राविशं राजन्नाख्यातुं नरदेवयोः ॥ ३ ॥

राजन् ! मैं नरदेव श्रीकृष्ण और अर्जुनसे आपका संदेश सुनानेके लिये मनको पूर्णतः संयममें रखकर अपने पैरोंकी अङ्गुलियोंपर ही दृष्टि लगाये और हाथ जोड़े हुए उनके अन्तःपुरमें गया ॥ ३ ॥

नैवाभिमन्युर्न यमौ तं देशमभियान्ति वै।
यत्र कृष्णौ च कृष्णा च सत्यभामा च भामिनी ॥ ४ ॥

जहाँ श्रीकृष्ण, अर्जुन, द्रौपदी और मानिनी सत्यभामा विराज रही थीं, उस स्थानमें कुमार अभिमन्यु तथा नकुल सहदेव भी नहीं जा सकते थे ॥ ४ ॥

उभौ मध्वासवक्षीबावुभौ चन्दनरूषितौ।
स्रग्विणौ वरवस्त्रौ तौ दिव्याभरणभूषितौ ॥ ५ ॥

वे दोनों मित्र मधुर पेय पीकर आनन्दविभोर हो रहे थे। उन दोनोंके श्रीअङ्ग चन्दनसे चर्चित थे। वे सुन्दर वस्त्र और मनोहर पुष्पमाला धारण करके दिव्य आभूषणोंसे विभूषित थे ॥ ५ ॥

नैकरत्नविचित्रं तु काञ्चनं महदासनम्।
विविधास्तरणाकीर्णं यत्रासातामरिंदमौ ॥ ६ ॥

शत्रुओंका दमन करनेवाले वे दोनों वीर जिस विशाल आसनपर बैठे थे, वह सोनेका बना हुआ था। उसमें अनेक प्रकारके रत्न जटित होनेके कारण उसकी विचित्र शोभा हो रही थी। उसपर भाँति-भाँतिके सुन्दर बिछौने बिछे हुए थे ॥ ६ ॥

अर्जुनोत्सङ्गगौ पादौ केशवस्योपलक्षये।
अर्जुनस्य च कृष्णायां सत्यायां च महात्मनः ॥ ७ ॥

मैंने देखा, श्रीकृष्णके दोनों चरण अर्जुनकी गोदमें थे और महात्मा अर्जुनका एक पैर द्रौपदीकी तथा दूसरा सत्यभामाकी गोदमें था ॥ ७ ॥

काञ्चनं पादपीठं तु पार्थो मे प्रादिशत् तदा।
तदहं पाणिना स्पृष्ट्वा ततो भूमावुपाविशम् ॥ ८ ॥

कुन्तीकुमार अर्जुनने उस समय मुझे बैठनेके लिये एक सोनेका पादपीठ (पैर रखनेके पीढ़े) की ओर संकेत कर दिया, परंतु मैं हाथसे उसका स्पर्शमात्र करके पृथ्वीपर ही बैठ गया ॥ ८ ॥

ऊर्ध्वरेखातलौ पादौ पार्थस्य शुभलक्षणौ।
पादपीठादपहृतौ तत्रापश्यमहं शुभौ ॥ ९ ॥

बैठ जानेपर वहाँ मैंने पादपीठसे हटाये हुए अर्जुनके दोनों सुन्दर चरणोंको (ध्यानपूर्वक) देखा, उनके तलुओंमें ऊर्ध्वगामिनी रेखाएँ दृष्टिगोचर हो रही थीं और वे दोनों पैर शुभसूचक विविध लक्षणोंसे सम्पन्न थे ॥ ९ ॥

श्यामौ बृहन्तौ तरुणौ शालस्कन्धाविवोद्गतौ।
एकासनगतौ दृष्ट्वा भयं मां महदाविशत् ॥ १० ॥

श्रीकृष्ण और अर्जुन दोनों श्यामवर्ण, बड़े डील-डौलवाले, तरुण तथा शालवृक्षके स्कन्धोंके समान उन्नत हैं। उन दोनोंको एक आसनपर बैठे देख मेरे मनमें बड़ा भय समा गया ॥ १० ॥

इन्द्रविष्णुसमावेतौ मन्दात्मा नावबुद्ध्यते ।
संश्रयाद् द्रोणभीष्माभ्यां कर्णस्य च विकत्थनात् ॥ ११ ॥

मैंने सोचा, इन्द्र और विष्णुके समान अचिन्त्य शक्तिशाली इन दोनों वीरोंको मन्दबुद्धि दुर्योधन नहीं समझ पाता है। यह द्रोणाचार्य और भीष्मका भरोसा करके तथा कर्णकी डींग-भरी बातें सुनकर मोहित हो रहा है ॥ ११ ॥

निदेशस्थाविमौ यस्य मानसस्तस्य सेत्स्यते ।
संकल्पो धर्मराजस्य निश्चयो मे तदाभवत् ॥ १२ ॥

ये दोनों महात्मा जिनकी आज्ञाका पालन करनेके लिये सदा उद्यत रहते हैं, उन धर्मराज युधिष्ठिरका मानसिक संकल्प अवश्य सिद्ध होगा; यही उस समय मेरा निश्चय हुआ था ॥

सत्कृतश्चान्नपानाभ्यामासीनो लब्धसत्क्रियः ।
अञ्जलिं मूर्ध्नि संधाय तौ संदेशमचोदयम् ॥ १३ ॥

तत्पश्चात् अन्न और जलके द्वारा मेरा सत्कार किया गया। यथोचित आदर-सत्कार पाकर जब मैं बैठा, तब माथे-पर अञ्जलि जोड़कर मैंने उन दोनोंसे आपका संदेश कह सुनाया ॥ १३ ॥

धनुर्गुणकिणाङ्केन पाणिना शुभलक्षणम् ।
पादमानमयन् पार्थः केशवं समचोदयत् ॥ १४ ॥

तब अर्जुनने जिसमें धनुषकी डोरीकी रगड़से चिह्न बन गया था, उस हाथसे भगवान् श्रीकृष्णके शुभसूचक लक्षणोंसे युक्त चरणको धीरे-धीरे दबाते हुए उन्हें मुझको उत्तर देनेके लिये प्रेरित किया ॥ १४ ॥

इन्द्रकेतुरिवोत्थाय सर्वाभरणभूषितः ।
इन्द्रवीर्योपमः कृष्णः संविष्टो माभ्यभाषत ॥ १५ ॥
वाचं स वदतां श्रेष्ठो ह्लादिनीं वचनक्षमाम् ।
त्रासिनीं धार्तराष्ट्राणां मृदुपूर्वां सुदारुणाम् ॥ १६ ॥

तदनन्तर इन्द्रके समान पराक्रमी तथा समस्त आभूषणोंसे विभूषित वक्ताओंमें श्रेष्ठ श्रीकृष्ण इन्द्रध्वजके समान उठ बैठे और मुझसे पहले तो मृदुल एवं मनको आह्लाद प्रदान करने-वाली प्रवचनयोग्य वाणी बोले । फिर वह वाणी अत्यन्त दारुणरूपमें प्रकट हुई, जो आपके पुत्रोंके लिये भय उपस्थित करनेवाली थी ॥ १५-१६ ॥

वाचं तां वचनार्हस्य शिक्षाक्षरसमन्विताम् ।
अश्रौषमहमिष्टार्थां पश्चाद्धृदयहारिणीम् ॥ १७ ॥

तत्पश्चात् बातचीतमें कुशल भगवान् श्रीकृष्णकी वह वाणी मेरे सुननेमें आयी, जिसका एक-एक अक्षर शिक्षाप्रद था। वह अभीष्ट अर्थका प्रतिपादन करनेवाली तथा मनको मोह लेनेवाली थी ॥ १७ ॥

वासुदेव उवाच

संजयेदं वचो ब्रूया धृतराष्ट्रं मनीषिणम् ।
कुरुमुख्यस्य भीष्मस्य द्रोणस्यापि च शृण्वतः ॥ १८ ॥

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—संजय ! जब कुरुकुलके प्रधान पुरुष भीष्म तथा आचार्य द्रोण भी सुन रहे हों, उसी समय तुम बुद्धिमान् राजा धृतराष्ट्रसे यह बात कहना ॥ १८ ॥

आवयोर्वचनात् सूत ज्येष्ठानप्यभिवादयन् ।
यवीयसश्च कुशलं पश्चात् पृष्ट्वैवमुत्तरम् ॥ १९ ॥

सूत ! हम दोनोंकी ओरसे पहले तुम हमसे बड़ी अवस्थावाले श्रेष्ठ पुरुषोंको प्रणाम कहना और जो लोग अवस्थामें हमसे छोटे हों, उनकी कुशल पूछना । इसके बाद हमारा यह उत्तर सुना देना— ॥ १९ ॥

यजध्वं विविधैर्यज्ञैर्विप्रेभ्यो दत्त दक्षिणाः ।
पुत्रैर्दारैश्च मोदध्वं महद् वो भयमागतम् ॥ २० ॥

'कौरवो ! नाना प्रकारके यज्ञोंका अनुष्ठान आरम्भ करो, ब्राह्मणोंको दक्षिणाएँ दो, पुत्रों और स्त्रियोंसे मिल-जुलकर आनन्द भोग लो; क्योंकि तुम्हारे ऊपर बहुत बड़ा भय आ पहुँचा है ॥ २० ॥

अर्थांस्त्यजत पात्रेभ्यः सुतान् प्राप्नुत कामजान् ।
प्रियं प्रियेभ्यश्चरत राजा हि त्वरते जये ॥ २१ ॥

'तुम सुपात्र व्यक्तियोंको धनका दान दे लो, अपनी इच्छा-के अनुसार पुत्र पैदा कर लो तथा अपने प्रेमीजनोंका प्रिय कार्य सिद्ध कर लो; क्योंकि राजा युधिष्ठिर अब तुमलोगोंपर विजय पानेके लिये उतावले हो रहे हैं ॥ २१ ॥

ऋणमेतत् प्रवृद्धं मे हृदयान्नापसर्पति ।
यद् गोविन्देति चुक्रोश कृष्णा मां दूरवासिनम् ॥ २२ ॥

'जिस समय कौरवसभामें द्रौपदीका वस्त्र खींचा जा रहा था, मैं हस्तिनापुरसे बहुत दूर था। उस समय कृष्णाने आर्तभावसे 'गोविन्द' कहकर जो मुझे पुकारा था, उसका मेरे ऊपर बहुत बड़ा ऋण है और यह ऋण बढ़ता ही जा रहा है ! (अपराधी कौरवोंका संहार किये बिना) उसका भार मेरे हृदयसे दूर नहीं हो सकता ॥ २२ ॥

तेजोमयं दुराधर्षं गाण्डीवं यस्य कार्मुकम् ।
मद्द्वितीयेन तेनेह वैरं वः सव्यसाचिना ॥ २३ ॥

'जिनके पास अजेय तेजस्वी गाण्डीव नामक धनुष है और जिनका मित्र या सहायक दूसरा मैं हूँ, उन्हीं सव्यसाची अर्जुनके साथ यहाँ तुमने वैर बढ़ाया है ॥ २३ ॥

मद्द्वितीयं पुनः पार्थं कः प्रार्थयितुमिच्छति ।
यो न कालपरीतो वाप्यपि साक्षात् पुरंदरः ॥ २४ ॥

'जिसको कालने सब ओरसे घेर न लिया हो, ऐसा कौन

पुरुष, भले ही वह साक्षात् इन्द्र ही क्यों न हो, उस अर्जुनके साथ युद्ध करना चाहता है, जिसका सहायक दूसरा मैं हूँ ॥ २४ ॥

बाहुभ्यामुद्वहेद् भूमिं दहेत् क्रुद्ध इमाः प्रजाः ।
पातयेत् त्रिदिवाद् देवान् योऽर्जुनं समरे जयेत् ॥ २५ ॥

'जो अर्जुनको युद्धमें जीत ले, वह अपनी दोनों भुजाओंपर इस पृथ्वीको उठा सकता है, कुपित होकर इन समस्त प्रजाओंको भस्म कर सकता है और सम्पूर्ण देवताओंको स्वर्गसे नीचे गिरा सकता है ॥ २५ ॥

देवासुरमनुष्येषु यक्षगन्धर्वभोगिषु ।
न तं पश्याम्यहं युद्धे पाण्डवं योऽभ्ययाद् रणे ॥ २६ ॥

'देवताओं, असुरों, मनुष्यों, यक्षों, गन्धर्वों तथा नागोंमें भी मुझे कोई ऐसा वीर नहीं दिखायी देता, जो पाण्डुनन्दन अर्जुनका सामना कर सके ॥ २६ ॥

यत् तद् विराटनगरे श्रूयते महदद्भुतम् ।
एकस्य च बहूनां च पर्याप्तं तन्निदर्शनम् ॥ २७ ॥

'विराटनगरमें अकेले अर्जुन और बहुत-से कौरवोंका जो अद्भुत और महान् संग्राम सुना जाता है, वही मेरे उपर्युक्त कथनकी सत्यताका पर्याप्त प्रमाण है ॥ २७ ॥

एकेन पाण्डुपुत्रेण विराटनगरे यदा ।
भग्नाः पलायत दिशः पर्याप्तं तन्निदर्शनम् ॥ २८ ॥

'जब विराटनगरमें एकमात्र पाण्डुकुमार अर्जुनसे पराजित हो तुमलोगोंने भागकर विभिन्न दिशाओंकी शरण ली थी, वह एक ही दृष्टान्त अर्जुनकी प्रबलताका पर्याप्त प्रमाण है ॥

बलं वीर्यं च तेजश्च शीघ्रता लघुहस्तता ।
अविषादश्च धैर्यं च पार्थान्नान्यत्र विद्यते ॥ २९ ॥

'बल, पराक्रम, तेज, शीघ्रकारिता, हाथोंकी फुर्ती, विषादहीनता तथा धैर्य—ये सभी सद्गुण कुन्तीपुत्र अर्जुनके सिवा (एक साथ) दूसरे किसी पुरुषमें नहीं हैं' ॥ २९ ॥

इत्यब्रवीद्धृषीकेशः पार्थमुद्धर्षयन् गिरा ।
गर्जन् समयवर्षीव गगने पाकशासनः ॥ ३० ॥

जैसे इन्द्र आकाशमें गर्जता हुआ समयपर वर्षा करता है, उसी प्रकार भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनको अपनी वाणीसे आनन्दित करते हुए उपर्युक्त बात कही ॥ ३० ॥

केशवस्य वचः श्रुत्वा किरीटी श्वेतवाहनः ।
अर्जुनस्तन्महद् वाक्यमब्रवीद् रोमहर्षणम् ॥ ३१ ॥

भगवान् श्रीकृष्णका वचन सुनकर किरीटधारी श्वेतवाहन अर्जुनने भी उसी रोमाञ्चकारी महावाक्यको दुहरा दिया ॥ ३१ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि यानसंधिपर्वणि संजयेन श्रीकृष्णवाक्यकथने एकोनषष्टितमोऽध्यायः ॥ ५९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत यानसंधिपर्वमें संजयद्वारा श्रीकृष्णके संदेशका कथनविषयक उनसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ५९ ॥

षष्टितमोऽध्यायः

धृतराष्ट्रके द्वारा कौरव-पाण्डवोंकी शक्तिका तुलनात्मक वर्णन

वैशम्पायन उवाच

संजयस्य वचः श्रुत्वा प्रज्ञाचक्षुर्जनेश्वरः ।
ततः संख्यातुमारेभे तद्वचो गुणदोषतः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! संजयकी बात सुनकर प्रज्ञाचक्षु राजा धृतराष्ट्रने उसके वचनके गुण-दोषका विवेचन आरम्भ किया ॥ १ ॥

प्रसंख्याय च सौक्ष्म्येण गुणदोषान् विचक्षणः ।
यथावन्मतितत्त्वेन जयकामः सुतान् प्रति ॥ २ ॥
बलाबलं विनिश्चित्य याथातथ्येन बुद्धिमान् ।
(यदा तु मेने भूयिष्ठं तद्वचो गुणदोषतः ।
पुनरेव कुरूणां च पाण्डवानां च बुद्धिमान् ॥)
शक्तिं संख्यातुमारेभे तदा वै मनुजाधिपः ॥ ३ ॥

अपने पुत्रोंकी विजय चाहनेवाले विद्वान् एवं बुद्धिमान् राजा धृतराष्ट्रने बुद्धितत्त्वके द्वारा उक्त वचनके सूक्ष्मसे सूक्ष्म गुण-दोषोंकी यथावत् समीक्षा करके दोनों पक्षोंकी प्रबलता एवं निर्बलताका यथार्थरूपसे निश्चय कर लिया। तत्पश्चात् जब उन्हें यह विश्वास हो गया कि गुण-दोषकी दृष्टिसे श्रीकृष्णका कथन सर्वोत्कृष्ट है, तब उन बुद्धिमान् नरेशने पुनः कौरवों और पाण्डवोंकी शक्तिपर विचार करना आरम्भ किया ॥ २-३ ॥

देवमानुषयोः शक्त्या तेजसा चैव पाण्डवान् ।
कुरून् शक्त्याल्पतरया दुर्योधनमथाब्रवीत् ॥ ४ ॥

पाण्डवोंमें दैवी शक्ति, मानवी शक्ति तथा तेज—इन सभी दृष्टियोंसे उत्कृष्टता प्रतीत हुई और कौरव-पक्षकी शक्ति अल्प जान पड़ी, इस प्रकार विचार करके धृतराष्ट्रने दुर्योधनसे कहा—॥ ४ ॥

दुर्योधनेयं चिन्ता मे शश्वन्न व्युपशाम्यति ।
सत्यं ह्येतदहं मन्ये प्रत्यक्षं नानुमानतः ॥ ५ ॥

'वत्स दुर्योधन ! मेरी यह चिन्ता कभी दूर नहीं होती है,

क्योंकि तुम्हारा पक्ष दुर्बल है। मैं यह बात अनुमानसे नहीं कहता हूँ; प्रत्यक्ष देख रहा हूँ; अतः इसीको सत्य मानता हूँ॥

(ईदृशेऽभिनिविष्टस्य पृथिवीक्षयकारके।
अधर्म्ये चायशस्ये वा कार्ये महति दारुणे॥
पाण्डवैर्विग्रहस्तात सर्वथा मे न रोचते॥)

'तुम ऐसे कार्यके लिये दुराग्रह करते हो, जो समस्त भूमण्डलका विनाश करनेवाला है। यह अधर्मकारक तो है ही, अपयशकी भी वृद्धि करनेवाला है; इसके सिवा यह अत्यन्त क्रूरतापूर्ण कर्म है। तात! तुम्हारा पाण्डवोंके साथ युद्ध छेड़ना मुझे किसी भी तरह अच्छा नहीं लग रहा है॥

आत्मजेषु परं स्नेहं सर्वभूतानि कुर्वते।
प्रियाणि चैषां कुर्वन्ति यथाशक्ति हितानि च॥ ६॥

'संसारके समस्त प्राणी अपने पुत्रोंपर अत्यन्त स्नेह करते हैं तथा अपनी शक्तिके अनुसार इनका प्रिय एवं हितसाधन करते हैं॥ ६॥

एवमेवोपकर्तॄणां प्रायशो लक्षयामहे।
इच्छन्ति बहुलं सन्तः प्रतिकर्तुं महत् प्रियम्॥ ७॥

'इसी प्रकार प्रायः यह भी देखता हूँ कि साधु पुरुष उपकारी मनुष्योंके उपकारका बदला चुकानेके लिये उनका बारंबार महान् प्रिय कार्य करना चाहते हैं॥ ७॥

अग्निः साचिव्यकर्ता स्यात् खाण्डवे तत्कृतं स्मरन्।
अर्जुनस्यापि भीमेऽस्मिन् कुरुपाण्डुसमागमे॥ ८॥

'कौरव-पाण्डवोंके इस भयंकर संग्राममें अग्निदेव भी खाण्डववनमें अर्जुनके किये हुए उपकारको याद करके उनकी सहायता अवश्य करेंगे॥ ८॥

जातिगृद्ध्याभिपन्नाश्च पाण्डवानामनेकशः।
धर्मादयः समेष्यन्ति समाहूता दिवौकसः॥ ९॥

'इसके सिवा पाण्डवोंका जन्म अनेक देवताओंसे हुआ है, इसलिये वे धर्म आदि देवता युधिष्ठिर आदिके बुलानेपर उनकी सहायताके लिये अवश्य पधारेंगे॥ ९॥

भीष्मद्रोणकृपादीनां भयादशनिसंनिभम्।
रिरक्षिषन्तः संरम्भं गमिष्यन्तीति मे मतिः॥ १०॥

'भीष्म, द्रोण और कृप आदिके भयसे पाण्डवोंकी रक्षा चाहते हुए देवतालोग भीष्म आदिपर वज्रके समान भयंकर क्रोध करेंगे, ऐसा मेरा विश्वास है॥ १०॥

ते देवैः सहिताः पार्था न शक्याः प्रतिवीक्षितुम्।
मानुषेण नरव्याघ्रा वीर्यवन्तोऽस्त्रपारगाः॥ ११॥

'नरश्रेष्ठ पाण्डव अस्त्रविद्याके पारङ्गत और पराक्रमी तो हैं ही, देवताओंका सहयोग भी प्राप्त कर चुके हैं; अतः कोई मनुष्य उनकी ओर आँख उठाकर देख भी नहीं सकता॥

दुरासदं यस्य दिव्यं गाण्डीवं धनुरुत्तमम्।
वारुणौ चाक्षयौ दिव्यौ शरपूर्णौ महेषुधी॥ १२॥
वानरश्च ध्वजो दिव्यो निःसङ्गो धूमवद्गतिः।
रथश्च चतुरन्तायां यस्य नास्ति समः क्षितौ॥ १३॥
महामेघनिभश्चापि निर्घोषः श्रूयते जनैः।
महाशनिसमः शब्दः शात्रवाणां भयंकरः॥ १४॥
यं चाति मानुषं वीर्ये कृत्स्नो लोको व्यवस्यति।
देवानामपि जेतारं यं विदुः पार्थिवा रणे॥ १५॥
शतानि पञ्च चैवेषून् यो गृह्णन् नैव दृश्यते।
निमेषान्तरमात्रेण मुञ्चन् दूरं च पातयन्॥ १६॥
यमाह भीष्मो द्रोणश्च कृपो द्रौणिस्तथैव च।
मद्रराजस्तथा शल्यो मध्यस्था ये च मानवाः॥ १७॥
युद्धायावस्थितं पार्थं पार्थिवैरतिमानुषैः।
अशक्यं नरशार्दूलं पराजेतुमरिंदमम्॥ १८॥
क्षिपत्येकेन वेगेन पञ्च बाणशतानि यः।
सदृशं बाहुवीर्येण कार्तवीर्यस्य पाण्डवम्॥ १९॥
तमर्जुनं महेष्वासं महेन्द्रोपेन्द्रविक्रमम्।
निघ्नन्तमिव पश्यामि विमर्देऽस्मिन् महाहवे॥ २०॥

'जिसके पास उत्तम एवं दुर्धर्ष दिव्य गाण्डीव धनुष है, वरुणके दिये हुए बाणोंसे भरे दो दिव्य अक्षय तूणीर हैं, जिसका दिव्य वानर-ध्वज कहीं भी अटकता नहीं है—धूमकी भाँति अप्रतिहत गतिसे सर्वत्र जा सकता है, समुद्रपर्यन्त समूची पृथ्वीपर जिसके रथकी समानता करनेवाला दूसरा कोई रथ नहीं है, जिसके रथका घर्घर शब्द सब लोगोंको महान् मेघोंकी गर्जनाके समान सुनायी पड़ता है तथा वज्रकी गड़गड़ाहटके समान शत्रुसैनिकोंके मनमें भयका संचार कर देता है, जिसे सब लोग अलौकिक पराक्रमी मानते हैं, समस्त राजा भी जिसे युद्धमें देवताओंतकको पराजित करनेमें समर्थ समझते हैं; जो पलक मारते-मारते पाँच सौ बाणोंको हाथमें लेता, छोड़ता और दूरस्थ लक्ष्योंको भी मार गिराता है; किंतु यह सब करते समय कोई भी जिसे देख नहीं पाता है; जिसके विषयमें भीष्म, द्रोण, कृपाचार्य, अश्वत्थामा, मद्रराज शल्य तथा तटस्थ मनुष्य भी ऐसा कहते हैं कि युद्धके लिये खड़े हुए शत्रुदमन नरश्रेष्ठ अर्जुनको पराजित करना अमानुषिक शक्ति रखनेवाले भूमिपालोंके लिये भी असम्भव है। जो एक वेगसे पाँच सौ बाण चलाता है तथा जो बाहुबलमें कार्तवीर्य अर्जुनके समान है; इन्द्र और विष्णुके समान पराक्रमी उस महाधनुर्धर पाण्डुनन्दन अर्जुनको मैं इस महासमरमें शत्रु-सेनाओंका संहार करता हुआ-सा देख रहा हूँ॥ १२—२०॥

इत्येवं चिन्तयन् कृत्स्नमहोरात्राणि भारत।
अनिद्रो निःसुखश्चास्मि कुरूणां शमचिन्तया॥ २१॥

'भारत! मैं दिन-रात यही सब सोचते-सोचते नींद नहीं ले पाता हूँ। कुरुवंशियोंमें कैसे शान्ति बनी रहे?—इस

चिन्तासे मेरा सारा सुख छिन गया है ॥ २१ ॥

क्षयोदयोऽयं सुमहान् कुरूणां प्रत्युपस्थितः।
अस्य चेत् कलहस्यान्तः शमादन्यो न विद्यते ॥ २२ ॥
शमो मे रोचते नित्यं पार्थैस्तात न विग्रहः।
कुरुभ्यो हि सदा मन्ये पाण्डवाञ्शक्तिमत्तरान् ॥ २३ ॥

कौरवोंके लिये यह महान् विनाशका अवसर उपस्थित हुआ है। तात ! यदि इस कलहका अन्त करनेके लिये संधिके सिवा और कोई उपाय नहीं है तो मुझे सदा संधिकी ही बात अच्छी लगती है; कुन्तीपुत्रोंके साथ युद्ध छेड़ना ठीक नहीं है। मैं सदा पाण्डवोंको कौरवोंसे अधिक शक्तिशाली मानता हूँ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि यानसंधिपर्वणि धृतराष्ट्रविवेचने षष्टितमोऽध्यायः ॥ ६० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत यानसंधिपर्वमें धृतराष्ट्रके द्वारा कौरव-पाण्डवोंकी शक्तिका विवेचनसम्बन्धी साठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ६० ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके २½ श्लोक मिलाकर कुल २५½ हैं)

एकषष्टितमोऽध्यायः

दुर्योधनद्वारा आत्मप्रशंसा

वैशम्पायन उवाच

पितुरेतद् वचः श्रुत्वा धार्तराष्ट्रोऽत्यमर्षणः।
आधाय विपुलं क्रोधं पुनरेवेदमब्रवीत् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! पिताकी यह बात सुनकर अत्यन्त असहिष्णु दुर्योधनने भीतर-ही-भीतर भारी क्रोध करके पुनः इस प्रकार कहा—॥ १ ॥

अशक्या देवसचिवाः पार्थाः स्युरिति यद् भवान्।
मन्यते तद् भयं व्येतु भवतो राजसत्तम ॥ २ ॥

नृपश्रेष्ठ ! आप जो ऐसा मानते हैं कि कुन्तीके पुत्रोंको जीतना असम्भव है, क्योंकि देवता उनके सहायक हैं, यह ठीक नहीं है। आपके मनमें यह भय निकल जाना चाहिये ॥ २ ॥

अकामद्वेषसंयोगलोभद्रोहाच्च भारत।
उपेक्षया च भावानां देवा देवत्वमाप्नुवन् ॥ ३ ॥

'भरतनन्दन ! काम (राग), द्वेष, संयोग (ममता), लोभ और द्रोह (क्रोध) रूपी दोषोंसे रहित होनेके कारण तथा दूषित भावोंकी उपेक्षा कर देनेके कारण ही देवताओंने देवत्व प्राप्त किया है ॥ ३ ॥

इति द्वैपायनो व्यासो नारदश्च महातपाः।
जामदग्न्यश्च रामो नः कथामकथयत् पुरा ॥ ४ ॥

'यह बात पूर्वकालमें द्वैपायन व्यासजी, महातपस्वी नारदजी तथा जमदग्निनन्दन परशुरामजीने हमलोगोंको बतायी थी ॥ ४ ॥

नैव मानुषवद् देवाः प्रवर्तन्ते कदाचन।
कामात् क्रोधात् तथा लोभाद् द्वेषाच्च भरतर्षभ ॥ ५ ॥

'भरतश्रेष्ठ ! देवता मनुष्योंकी भाँति काम, क्रोध, लोभ और द्वेषभावसे किसी कार्यमें प्रवृत्त नहीं होते हैं ॥ ५ ॥

यदा ह्यग्निश्च वायुश्च धर्म इन्द्रोऽश्विनावपि।
कामयोगात् प्रवर्तेरन् न पार्था दुःखमाप्नुयुः ॥ ६ ॥

'यदि अग्नि, वायु, धर्म, इन्द्र तथा दोनों अश्विनीकुमार भी कामनाके वशीभूत होकर सब कार्योंमें प्रवृत्त होने लग जाते तब तो कुन्तीपुत्रोंको कभी दुःख उठाना ही नहीं पड़ता ॥ ६ ॥

तस्मान्न भवता चिन्ता कार्यैषा स्यात् कथंचन।
दैवेष्वपेक्षका ह्येते शश्वद् भावेषु भारत ॥ ७ ॥

'अतः भरतनन्दन ! आप किसी प्रकार भी ऐसी चिन्ता न करें; क्योंकि देवता सदा दिव्यभाव—शम आदिकी ही अपेक्षा रखते हैं, काम, क्रोध आदि आसुरभावोंकी नहीं ॥ ७ ॥

अथ चेत् कामसंयोगाद् द्वेषो लोभश्च लक्ष्यते।
देवेषु दैवप्रामाण्यान्नैषां तद् विक्रमिष्यति ॥ ८ ॥

'तथापि यदि देवताओंमें कामनावश द्वेष और लोभ लक्षित होता है तो (उनमें देवत्वका अभाव हो जानेके कारण) उनकी वह शक्ति हमलोगोंपर कोई प्रभाव नहीं दिखा सकेगी क्योंकि देवोंमें देवभावकी प्रधानता है ॥ ८ ॥

मयाभिमन्त्रितः शश्वज्जातवेदाः प्रशाम्यति।
दिधक्षुः सकलाँल्लोकान् परिक्षिप्य समन्ततः ॥ ९ ॥

'(वैसे तो मुझमें भी दैवबल है ही;) यदि मैं अभिमन्त्रित कर दूँ तो सदा सम्पूर्ण लोकोंको जलाकर भस्म कर डालनेकी इच्छासे प्रज्वलित हुई आग भी सब ओरसे सिमटकर बुझ जायगी ॥ ९ ॥

यद् वा परमकं तेजो येन युक्ता दिवौकसः।
ममाप्यनुपमं भूयो देवेभ्यो विद्धि भारत ॥ १० ॥

'भारत ! यदि कोई ऐसा उत्कृष्ट तेज है, जिससे देवता युक्त हैं तो मुझे भी देवताओंसे ही अनुपम तेज प्राप्त हुआ है, यह आप अच्छी तरह जान लें ॥ १० ॥

विदीर्यमाणां वसुधां गिरीणां शिखराणि च।
लोकस्य पश्यतो राजन् स्थापयाम्यभिमन्त्रणात् ॥ ११ ॥

'राजन् ! मैं सब लोगोंके देखते-देखते विदीर्ण होती हुई

पृथ्वी तथा टूटकर गिरते हुए पर्वत-शिखरोंको भी मन्त्रबलसे अभिमन्त्रित करके पहलेकी भाँति स्थापित कर सकता हूँ ॥ ११ ॥

चेतनाचेतनस्यास्य जङ्गमस्थावरस्य च ।
विनाशाय समुत्पन्नमहं घोरं महास्वनम् ॥ १२ ॥
अश्मवर्षं च वायुं च शमयामीह नित्यशः ।
जगतः पश्यतोऽभीक्ष्णं भूतानामनुकम्पया ॥ १३ ॥

'इस चेतन-अचेतन और स्थावर-जङ्गम जगत्‌के विनाशके लिये प्रकट हुई महान् कोलाहलकारी भयंकर शिलावृष्टि अथवा आँधीको भी मैं सदा समस्त प्राणियोंपर दया करके सबके देखते-देखते यहीं शान्त कर सकता हूँ ॥ १२-१३ ॥

स्तम्भितास्वप्सु गच्छन्ति मया रथपदातयः ।
देवासुराणां भावानामहमेकः प्रवर्तिता ॥ १४ ॥

'मेरे द्वारा स्तम्भित किये हुए जलके ऊपर रथ और पैदल सेनाएँ चल सकती हैं । एकमात्र मैं ही दैव तथा आसुर शक्तियोंको प्रकट करनेमें समर्थ हूँ ॥ १४ ॥

अक्षौहिणीभिर्यान् देशान् यामि कार्येण केनचित् ।
तत्राश्वा मे प्रवर्तन्ते यत्र यत्राभिकामये ॥ १५ ॥

'मैं किसी कार्यके उद्देश्यसे जिन-जिन देशोंमें अनेक अक्षौहिणी सेनाएँ लेकर जाता हूँ, उनमें जहाँ-जहाँ मेरी इच्छा होती है, उन सभी स्थानोंमें मेरे घोड़े (अप्रतिहत गतिसे) विचरते हैं ॥ १५ ॥

भयानकानि विषये व्यालादीनि न सन्ति मे ।
मन्त्रगुप्तानि भूतानि न हिंसन्ति भयंकराः ॥ १६ ॥

'मेरे राज्यमें सर्प आदि भयंकर जीव-जन्तु नहीं हैं । यदि कोई भयंकर प्राणी हों तो भी वे मेरे मन्त्रोंद्वारा सुरक्षित जीव-जन्तुओंकी कभी हिंसा नहीं करते हैं ॥ १६ ॥

निकामवर्षी पर्जन्यो राजन् विषयवासिनाम् ।
धर्मिष्ठाश्च प्रजाः सर्वा ईतयश्च न सन्ति मे ॥ १७ ॥

'महाराज ! मेरे राज्यमें रहनेवाली प्रजाओंके लिये बादल प्रचुर जल बरसाता है, सम्पूर्ण प्रजाएँ धर्ममें तत्पर रहती हैं तथा मेरे राष्ट्रमें अनावृष्टि और अतिवृष्टि आदि किसी प्रकारका भी उपद्रव नहीं है ॥ १७ ॥

अश्विनावथ वाय्वग्नी मरुद्भिः सह वृत्रहा ।
धर्मश्चैव मया द्विष्टान् नोत्सहन्तेऽभिरक्षितुम् ॥ १८ ॥

'जिनसे मैं द्वेष रखता हूँ, उनकी रक्षाका साहस अश्विनीकुमार, वायु, अग्नि, मरुद्गणोंसहित इन्द्र तथा धर्ममें भी नहीं है ॥

यदि ह्येते समर्थाः स्युर्मद्द्विषस्त्रातुमञ्जसा ।
न स्म त्रयोदश समाः पार्था दुःखमवाप्नुयुः ॥ १९ ॥

'यदि ये लोग अनायास ही मेरे शत्रुओंकी रक्षा करनेमें समर्थ होते तो कुन्तीके पुत्र तेरह वर्षोंतक कष्ट नहीं भोगते ॥

नैव देवा न गन्धर्वा नासुरा न च राक्षसाः ।
शक्तास्त्रातुं मया द्विष्टं सत्यमेतद् ब्रवीमि ते ॥ २० ॥

'पिताजी ! मैं आपसे यह सत्य कहता हूँ कि देवता, गन्धर्व, असुर तथा राक्षस भी मेरे शत्रुकी रक्षा करनेमें समर्थ नहीं हैं ॥ २० ॥

यदभिध्याम्यहं शश्वच्छुभं वा यदि वाशुभम् ।
नैतद् विपन्नपूर्वं मे मित्रेष्वरिषु चोभयोः ॥ २१ ॥

'मैं अपने मित्रों और शत्रुओं—दोनोंके विषयमें शुभ या अशुभ जैसा भी चिन्तन करता हूँ, वह पहले कभी निष्फल नहीं हुआ है ॥ २१ ॥

भविष्यतीदमिति वा यद् ब्रवीमि परंतप ।
नान्यथा भूतपूर्वं च सत्यवागिति मां विदुः ॥ २२ ॥

'शत्रुओंको संताप देनेवाले महाराज ! मैं जो बात मुँहसे कह देता हूँ कि यह इसी प्रकार होगा, मेरा वह कथन पहले कभी भी मिथ्या नहीं हुआ है । इसीलिये लोग मुझे सत्यवादी मानते हैं ॥ २२ ॥

लोकसाक्षिकमेतन्मे माहात्म्यं दिक्षु विश्रुतम् ।
आश्वासनार्थं भवतः प्रोक्तं न श्लाघया नृप ॥ २३ ॥

'राजन् ! मेरा यह माहात्म्य सब लोगोंकी आँखोंके समक्ष है; सम्पूर्ण दिशाओंमें प्रसिद्ध है । मैंने आपके आश्वासनके लिये ही इसकी यहाँ चर्चा की है, आत्मप्रशंसा करनेके लिये नहीं ॥ २३ ॥

न ह्यहं श्लाघनो राजन् भूतपूर्वः कदाचन ।
असदाचरितं ह्येतद् यदात्मानं प्रशंसति ॥ २४ ॥

'महाराज ! आजसे पहले मैंने कभी भी आत्मप्रशंसा नहीं की है; क्योंकि मनुष्य जो अपनी प्रशंसा करता है, यह अच्छे पुरुषोंका कार्य नहीं है ॥ २४ ॥

पाण्डवांश्चैव मत्स्यांश्च पञ्चालान् केकयैः सह ।
सात्यकिं वासुदेवं च श्रोतासि विजितान् मया ॥ २५ ॥

'आप किसी दिन सुनेंगे कि मैंने पाण्डवोंको, मत्स्यदेशके योद्धाओंको, केकयोंसहित पाञ्चालोंको तथा सात्यकि और वसुदेवनन्दन श्रीकृष्णको भी जीत लिया है ॥ २५ ॥

सरितः सागरं प्राप्य यथा नश्यन्ति सर्वशः ।
तथैव ते विनङ्क्ष्यन्ति मामासाद्य सहान्वयाः ॥ २६ ॥

'जैसे नदियाँ समुद्रमें मिलकर सब प्रकारसे अपना अस्तित्व खो बैठती हैं, उसी प्रकार वे पाण्डव आदि योद्धा मेरे पास आनेपर अपने कुल-परिवारसहित नष्ट हो जायँगे ।२६।

परा बुद्धिः परं तेजो वीर्यं च परमं मम ।
परा विद्या परो योगो मम तेभ्यो विशिष्यते ॥ २७ ॥

'मेरी बुद्धि उत्तम है, तेज उत्कृष्ट है, बल-पराक्रम महान् है, विद्या बड़ी है तथा उद्योग भी सबसे बढ़कर है। ये सारी वस्तुएँ पाण्डवोंकी अपेक्षा मुझमें अधिक हैं ॥ २७ ॥

पितामहश्च द्रोणश्च कृपः शल्यः शलस्तथा।
अस्त्रेषु यत् प्रजानन्ति सर्वं तन्मयि विद्यते ॥ २८ ॥

'पितामह भीष्म, आचार्य द्रोण, कृपाचार्य, शल्य तथा शल—ये लोग अस्त्रविद्याके विषयमें जो कुछ जानते हैं, वह सारा ज्ञान मुझमें विद्यमान है' ॥ २८ ॥

इत्युक्ते संजयं भूयः पर्यपृच्छत भारतः।
ज्ञात्वा युयुत्सोः कार्याणि प्राप्तकालमरिंदम ॥ २९ ॥

शत्रुओंका दमन करनेवाले जनमेजय ! दुर्योधनके ऐसा कहनेपर भरतनन्दन धृतराष्ट्रने युद्धकी इच्छा रखनेवाले दुर्योधनके अभिप्रायको समझकर पुनः संजयसे समयोचित प्रश्न किया ॥ २९ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि यानसंधिपर्वणि दुर्योधनवाक्ये एकषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत यानसंधिपर्वमें दुर्योधनवाक्यविषयक इकसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ६१ ॥

द्विषष्टितमोऽध्यायः

कर्णकी आत्मप्रशंसा, भीष्मके द्वारा उसपर आक्षेप, कर्णका सभा त्यागकर जाना और भीष्मका उसके प्रति पुनः आक्षेपयुक्त वचन कहना

वैशम्पायन उवाच

तथा तु पृच्छन्तमतीव पार्थं
वैचित्रवीर्यं तमचिन्तयित्वा।
उवाच कर्णो धृतराष्ट्रपुत्रं
प्रहर्षयन् संसदि कौरवाणाम् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! विचित्रवीर्य-नन्दन धृतराष्ट्रको पहलेकी ही भाँति कुन्तीकुमार अर्जुनके विषयमें बारंबार प्रश्न करते देख उनकी कोई परवा न करके कर्णने कौरव-सभामें दुर्योधनको हर्षित करते हुए कहा—॥ १ ॥

मिथ्या प्रतिज्ञाय मया यदस्त्रं
रामात् कृतं ब्रह्ममयं पुरस्तात्।
विज्ञाय तेनास्मि तदैवमुक्त-
स्ते नान्तकाले प्रतिभास्यतीति ॥ २ ॥

'राजन् ! मैंने पूर्वकालमें झूठे ही अपनेको ब्राह्मण बताकर परशुरामजीसे जब ब्रह्मास्त्रकी शिक्षा प्राप्त कर ली, तब उन्होंने मेरा यथार्थ परिचय जानकर मुझसे इस प्रकार कहा—'कर्ण ! अन्त समय आनेपर तुम्हें इस ब्रह्मास्त्रका स्मरण नहीं रहेगा' ॥ २ ॥

महापराधे ह्यपि यन्न तेन
महर्षिणाहं गुरुणा च शप्तः।
शक्तः प्रदग्धुं ह्यपि तिग्मतेजाः
ससागरामप्यवनिं महर्षिः ॥ ३ ॥

'यद्यपि मेरे द्वारा उन महर्षिका महान् अपराध हुआ था, तथापि उन गुरुदेवने जो मुझे शाप नहीं दिया, यह उनका मेरे ऊपर बहुत बड़ा अनुग्रह है। अन्यथा वे प्रचण्ड तेजस्वी महामुनि समुद्रसहित सारी पृथ्वीको भी दग्ध कर सकते हैं। ३।

प्रसादितं ह्यस्य मया मनोऽभू-
च्छुश्रूषया स्वेन स पौरुषेण।
तदस्ति चास्त्रं मम सावशेषं
तस्मात् समर्थोऽस्मि ममैष भारः ॥ ४ ॥

'मैंने अपने पुरुषार्थ तथा सेवा-शुश्रूषासे उनके मनको प्रसन्न कर लिया था। वह ब्रह्मास्त्र अब भी मेरे पास है। मेरी आयु भी अभी शेष है; अतः मैं पाण्डवोंको जीतनेमें समर्थ हूँ। यह सारा भार मुझपर छोड़ दिया जाय ॥ ४ ॥

निमेषमात्रात् तमृषेः प्रसाद-
मवाप्य पाञ्चालकरूषमत्स्यान्।
निहत्य पार्थान् सह पुत्रपौत्रै-
र्लोकानहं शस्त्रजितान् प्रपत्स्ये ॥ ५ ॥

'महर्षि परशुरामका कृपाप्रसाद पाकर मैं पलक मारते-मारते पाञ्चाल, करूष तथा मत्स्यदेशीय योद्धाओं और कुन्ती-कुमारोंको पुत्र-पौत्रोंसहित मारकर शस्त्रद्वारा जीते हुए पुण्य-लोकोंमें जाऊँगा ॥ ५ ॥

पितामहस्तिष्ठतु ते समीपे
द्रोणश्च सर्वे च नरेन्द्रमुख्याः।
यथा प्रधानेन बलेन गत्वा
पार्थान् हनिष्यामि ममैष भारः ॥ ६ ॥

'पितामह भीष्म आपके ही पास रहें, आचार्य द्रोण तथा समस्त मुख्य-मुख्य भूपाल भी आपके ही समीप रहें। मैं अपनी प्रधान सेनाके साथ जाकर अकेले ही सब कुन्तीकुमारों-को मार डालूँगा इसका सारा भार मुझपर रहा' ॥ ६ ॥

एवं ब्रुवन्तं तमुवाच भीष्मः
किं कत्थसे कालपरीतबुद्धे।

न कर्ण जानासि यथा प्रधाने
हते हताः स्युर्धृतराष्ट्रपुत्राः ॥ ७ ॥

कर्णको ऐसी बातें करते देख भीष्मजीने उससे कहा—'कर्ण ! क्यों अपनी वीरताकी डींग हाँक रहा है ? जान पड़ता है, कालने तेरी बुद्धिको ग्रस लिया है । क्या तू नहीं जानता कि युद्धमें तुझ प्रधान वीरके मारे जानेपर सारे धृतराष्ट्रपुत्र ही मृतप्राय हो जायँगे ॥ ७ ॥

यत् खाण्डवं दाहयता कृतं हि
कृष्णद्वितीयेन धनंजयेन ।
श्रुत्वैव तत् कर्म नियन्तुमात्मा
युक्तस्त्वया वै सहबान्धवेन ॥ ८ ॥

'श्रीकृष्णसहित अर्जुनने खाण्डववनका दाह करते समय जो पराक्रम किया था, उसे सुनकर ही बान्धवोंसहित तुझे अपने मनपर काबू रखना उचित था ॥ ८ ॥

यां चापि शक्तिं त्रिदशाधिपस्ते
ददौ महात्मा भगवान् महेन्द्रः ।
भस्मीकृतां तां समरे विशीर्णां
चक्राहतां द्रक्ष्यसि केशवेन ॥ ९ ॥

'देवेश्वर महात्मा भगवान् महेन्द्रने तुझे जो शक्ति प्रदान की है, वह भगवान् केशवके चलाये हुए चक्रसे आहत हो समरभूमिमें छिन्न-भिन्न एवं दग्ध हो जायगी । इसे तू अपनी आँखों देख लेगा ॥ ९ ॥

यस्ते शरः सर्पमुखो विभाति
सदाग्र्यमाल्यैर्महितः प्रयत्नात् ।
स पाण्डुपुत्राभिहतः शरौघैः
सह त्वया यास्यति कर्ण नाशम् ॥ १० ॥

'तेरे पास जो सर्पमुख बाण प्रकाशित होता है और तू प्रयत्नपूर्वक सदा ही पुष्पमाला आदि श्रेष्ठ उपचारोंद्वारा जिसकी पूजा किया करता है, वह पाण्डुपुत्र अर्जुनके बाण-समूहोंसे छिन्न-भिन्न होकर तेरे साथ ही नष्ट हो जायगा ।१०।

बाणस्य भौमस्य च कर्ण हन्ता
किरीटिनं रक्षति वासुदेवः ।
यस्त्वादृशानां च वरीयसां च
हन्ता रिपूणां तुमुले प्रगाढे ॥ ११ ॥

'कर्ण ! बाणासुर और भौमासुरका वध करनेवाले वे वसुदेवनन्दन भगवान् श्रीकृष्ण किरीटधारी अर्जुनकी रक्षा करते हैं, जो तेरे-जैसे तथा तुझसे भी प्रबल शत्रुओंका भयंकर संग्राममें विनाश कर सकते हैं ॥ ११ ॥

कर्ण उवाच

असंशयं वृष्णिपतिर्यथोक्त-
स्तथा च भूयांश्च महात्मा ततो ।
अहं यदुक्तः परुषं तु किञ्चित्
पितामहस्तस्य फलं शृणोतु ॥ १२ ॥

कर्ण बोला—इसमें संदेह नहीं कि वृष्णिकुलके स्वामी महात्मा श्रीकृष्णका जैसा प्रभाव बताया गया है, वे वैसे ही हैं । बल्कि उससे भी बढ़कर हैं । परंतु मेरे प्रति जो किञ्चित् कटुवचनका प्रयोग किया गया है; उसका परिणाम



क्या होगा ? यह पितामह भीष्म मुझसे सुन लें ॥ १२ ॥

न्यस्यामि शस्त्राणि न जातु संख्ये
पितामहो द्रक्ष्यति मां सभायाम् ।
त्वयि प्रशान्ते तु मम प्रभावं
द्रक्ष्यन्ति सर्वे भुवि भूमिपालाः ॥ १३ ॥

मैं अपने अस्त्र-शस्त्र रख देता हूँ । अब कभी पितामह मुझे इस सभामें अथवा युद्धभूमिमें नहीं देखेंगे । भीष्म ! आपके शान्त हो जानेपर ही समस्त भूपाल रणभूमिमें मेरा प्रभाव देखेंगे ॥ १३ ॥

वैशम्पायन उवाच

इत्येवमुक्त्वा स महाधनुष्मान्
हित्वा सभां स्वं भवनं जगाम ।
भीष्मस्तु दुर्योधनमेव राजन्
मध्ये कुरूणां प्रहसन्नुवाच ॥ १४ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! ऐसा कहकर महाधनुर्धर कर्ण सभा त्यागकर अपने घर चला गया । उस समय भीष्मने कौरवसभामें उसकी हँसी उड़ाते हुए दुर्योधनसे कहा—॥ १४ ॥

सत्यप्रतिज्ञः किल सूतपुत्र-
स्तथा स भारं विषहेत कस्मात्।
व्यूहं प्रतिव्यूह्य शिरांसि भित्त्वा
लोकक्षयं पश्यत भीमसेनात् ॥ १५ ॥

'सूतपुत्र कर्ण कैसा सत्यप्रतिज्ञ निकला (पहले पाण्डवोंको जीतनेकी प्रतिज्ञा करके अब युद्धसे मुँह मोड़कर भाग गया); भला वैसा महान् भार वह कैसे सँभाल सकता था ? अब तुमलोग पाण्डवसेनाके व्यूहका सामना करनेके लिये अपनी सेनाका भी व्यूह बनाकर युद्ध करो और परस्पर एक दूसरेके मस्तक काटकर भीमसेनके हाथों सारे संसारका संहार देखो ॥ १५ ॥

आवन्त्यकालिङ्गजयद्रथेषु
चेदिध्वजे तिष्ठति बाह्लिके च।
अहं हनिष्यामि सदा परेषां
सहस्रशश्चायुतशश्च योधान् ॥ १६ ॥

(कर्ण कहता था)—अवन्तीनरेश, कलिङ्गराज, जयद्रथ, चेदिश्रेष्ठ वीर तथा बाह्लिकके रहते हुए भी मैं सदा अकेला ही शत्रुओंके सहस्र-सहस्र एवं अयुत-अयुत योद्धाओंका संहार कर डालूँगा ॥ १६ ॥

यदैव रामे भगवत्यनिन्द्ये
ब्रह्म ब्रुवाणः कृतवांस्तदस्त्रम्।
तदैव धर्मश्च तपश्च नष्टं
वैकर्तनस्याधमपूरुषस्य ॥ १७ ॥

'जिस समय अनिन्दनीय भगवान् परशुरामजीके समीप कर्णने अपनेको ब्राह्मण बताकर ब्रह्मास्त्रकी शिक्षा ली, उसी समय उस नराधम सूतपुत्रके धर्म और तपका नाश हो गया' ॥ १७ ॥

तथोक्तवाक्ये नृपतीन्द्र भीष्मे
निक्षिप्य शस्त्राणि गते च कर्णे।
वैचित्रवीर्यस्य सुतोऽल्पबुद्धि-
र्दुर्योधनः शान्तनवं बभाषे ॥ १८ ॥

जनमेजय ! जब भीष्मजीने ऐसी बात कही और कर्ण हथियार फेंककर चला गया, उस समय मन्दबुद्धि धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधनने शान्तनुनन्दन भीष्मसे इस प्रकार कहा ॥ १८ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि यानसंधिपर्वणि कर्णभीष्मवाक्ये द्विषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत यानसंधिपर्वमें कर्ण और भीष्मके वचनविषयक बासठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ६२ ॥

त्रिषष्टितमोऽध्यायः

दुर्योधनद्वारा अपने पक्षकी प्रबलताका वर्णन करना और विदुरका दमकी महिमा बताना

दुर्योधन उवाच

सदृशानां मनुष्येषु सर्वेषां तुल्यजन्मनाम्।
कथमेकान्ततस्तेषां पार्थानां मन्यसे जयम् ॥ १ ॥

दुर्योधन बोला—पितामह ! मनुष्योंमें हम और पाण्डव शिक्षाकी दृष्टिसे समान हैं, हमारा जन्म भी एक ही कुलमें हुआ है; फिर आप यह कैसे मानते हैं कि युद्धमें एकमात्र कुन्तीकुमारोंकी ही विजय होगी ॥ १ ॥

वयं च तेऽपि तुल्या वै वीर्येण च पराक्रमैः।
समेन वयसा चैव प्रातिभेन श्रुतेन च ॥ २ ॥

बल, पराक्रम, समवयस्कता, प्रतिभा और शास्त्रज्ञान—इन सभी दृष्टियोंसे हमलोग और पाण्डव समान ही हैं ॥ २ ॥

अस्त्रेण योधयुग्या च शीघ्रत्वे कौशले तथा।
सर्वे स्म समजातीयाः सर्वे मानुषयोनयः ॥ ३ ॥

अस्त्र-बल, योद्धाओंके संग्रह, हाथोंकी फुर्ती तथा युद्ध-कौशलमें भी हम और वे एक-से ही हैं, सभी समान जातिके हैं और सबके सब मनुष्ययोनिमें ही उत्पन्न हुए हैं ॥ ३ ॥



पितामह विजानीषे पार्थेषु विजयं कथम्।

नाहं भवति न द्रोणे न कृपे न च बाह्लिके ॥ ४ ॥
अन्येषु च नरेन्द्रेषु पराक्रम्य समारभे ।

दादाजी ! ऐसी दशामें भी आप कैसे जानते हैं कि विजय कुन्तीपुत्रोंकी ही होगी । मैं आप, द्रोणाचार्य, कृपाचार्य, बाह्लिक तथा अन्य राजाओंके पराक्रमका भरोसा करके युद्धका आरम्भ नहीं कर रहा हूँ ॥ ४½ ॥

अहं वैकर्तनः कर्णो भ्राता दुःशासनश्च मे ॥ ५ ॥
पाण्डवान् समरे पञ्च हनिष्यामः शितैः शरैः ।

मैं, विकर्तनपुत्र कर्ण तथा मेरा भाई दुःशासन—हम तीन ही मिलकर युद्धभूमिमें पाँचों पाण्डवोंको तीक्ष्ण बाणोंसे मार डालेंगे ॥ ५½ ॥

ततो राजन् महायज्ञैर्विविधैर्भूरिदक्षिणैः ॥ ६ ॥
ब्राह्मणांस्तर्पयिष्यामि गोभिरश्वैर्धनेन च ।

राजन् ! तदनन्तर पर्याप्त दक्षिणावाले विविध महायज्ञोंका अनुष्ठान करके गायें, घोड़े और धन दानमें देकर ब्राह्मणोंको तृप्त करूँगा ॥ ६½ ॥

यदा परिकरिष्यन्ति एणेयानिव तन्तुना ।
अतरित्रानिव जले बाहुभिर्मामका रणे ॥ ७ ॥
पश्यन्तस्ते परांस्तत्र रथनागसमाकुलान् ।
तदा दर्पं विमोक्ष्यन्ति पाण्डवाः स च केशवः ॥ ८ ॥

जैसे व्याध हरिणके बच्चोंको जाल या फंदेमें फँसाकर खींचते हैं और जैसे जलका प्रवाह कर्णधाररहित नौकारोहियोंको भँवरमें डुबो देता है, उसी प्रकार जब मेरे सैनिक अपने बाहुबलसे पाण्डवोंको पीड़ित करेंगे, उस समय रथ और हाथीसवारोंसे भरी हुई मेरी विशाल वाहिनीकी ओर देखते हुए वे पाण्डव और वह श्रीकृष्ण सब अपना अहंकार त्याग देंगे ॥ ७-८ ॥

विदुर उवाच

इह निःश्रेयसं प्राहुर्वृद्धा निश्चितदर्शिनः ।
ब्राह्मणस्य विशेषेण दमो धर्मः सनातनः ॥ ९ ॥

विदुरने कहा—सिद्धान्तके जाननेवाले वृद्ध पुरुष कहते हैं कि इस संसारमें दम ही कल्याणका परम साधन है । ब्राह्मणके लिये तो विशेषरूपसे है । वही सनातन-धर्म है ॥ ९ ॥

तस्य दानं क्षमा सिद्धिर्यथावदुपपद्यते ।
दमो दानं तपो ज्ञानमधीतं चानुवर्तते ॥ १० ॥

जो दमरूपी गुणसे युक्त है, उसीको दान, क्षमा और सिद्धिका यथार्थ लाभ प्राप्त होता है; क्योंकि दम ही दान, तपस्या, ज्ञान और स्वाध्यायका सम्पादन करता है ॥ १० ॥

दमस्तेजो वर्धयति पवित्रं दम उत्तमम् ।
विपाप्मा वृद्धतेजास्तु पुरुषो विन्दते महत् ॥ ११ ॥

दम तेजकी वृद्धि करता है । दम पवित्र एवं उत्तम साधन है । दमसे निष्पाप एवं बढ़े हुए तेजसे सम्पन्न पुरुष परब्रह्म परमात्माको प्राप्त कर लेता है ॥ ११ ॥

क्रव्याद्भ्य इव भूतानामदान्तेभ्यः सदा भयम् ।
येषां च प्रतिषेधार्थं क्षत्रं सृष्टं स्वयम्भुवा ॥ १२ ॥

जैसे मांसभोजी हिंसक पशुओंसे सब जीव डरते रहते हैं, उसी प्रकार अदान्त (असंयमी) पुरुषोंसे सभी प्राणियोंको सदा भय बना रहता है, जिनको हिंसा आदि दुष्कर्मोंसे रोकनेके लिये ब्रह्माजीने क्षत्रिय-जातिकी सृष्टि की है ॥ १२ ॥

आश्रमेषु चतुर्ष्वाहुर्दममेवोत्तमं व्रतम् ।
तस्य लिङ्गं प्रवक्ष्यामि येषां समुदयो दमः ॥ १३ ॥

चारों आश्रमोंमें दमको ही उत्तम व्रत बताया गया है । यह दम जिन पुरुषोंके अभ्यासमें आकर उनके अभ्युदयका कारण बन जाता है, उनमें प्रकट होनेवाले चिह्नोंका मैं वर्णन करता हूँ ॥ १३ ॥

क्षमा धृतिरहिंसा च समता सत्यमार्जवम् ।
इन्द्रियाभिजयो धैर्यं मार्दवं ह्रीरचापलम् ॥ १४ ॥
अकार्पण्यमसंरम्भः संतोषः श्रद्दधानता ।
एतानि यस्य राजेन्द्र स दान्तः पुरुषः स्मृतः ॥ १५ ॥

राजेन्द्र ! जिस पुरुषमें क्षमा, धैर्य, अहिंसा, समदर्शिता, सत्य, सरलता, इन्द्रियसंयम, धीरता, मृदुता, लज्जा, स्थिरता, उदारता, अक्रोध, संतोष और श्रद्धा—ये गुण विद्यमान हैं, वह पुरुष दान्त (इन्द्रियविजयी) माना गया है ॥ १४-१५ ॥

कामो लोभश्च दर्पश्च मन्युर्निद्रा विकत्थनम् ।
मान ईर्ष्या च शोकश्च नैतद् दान्तो निषेवते ।
अजिह्ममशठं शुद्धमेतद् दान्तस्य लक्षणम् ॥ १६ ॥

दमनशील पुरुष काम, लोभ, अभिमान, क्रोध, निद्रा, आत्मप्रशंसा, मान, ईर्ष्या तथा शोक—इन दुर्गुणोंको अपने पास नहीं फटकने देता ! कुटिलता और शठताका अभाव तथा आत्मशुद्धि यह दमयुक्त पुरुषका लक्षण है ॥ १६ ॥

अलोलुपस्तथाल्पेप्सुः कामानामविचिन्तिता ।
समुद्रकल्पः पुरुषः स दान्तः परिकीर्तितः ॥ १७ ॥

जो निर्लोभ, कम-से-कम चाहनेवाला, भोगोंके चिन्तनसे दूर रहनेवाला तथा समुद्रके समान गम्भीर है, उस पुरुषको दान्त (इन्द्रियसंयमी) कहा गया है ॥ १७ ॥

सुवृत्तः शीलसम्पन्नः प्रसन्नात्माऽऽत्मविद् बुधः ।
प्राप्येह लोके सम्मानं सुगतिं प्रेत्य गच्छति ॥ १८ ॥

जो सदाचारी, शीलवान्, प्रसन्नचित्त तथा आत्मज्ञानी विद्वान् है वह इस जगत्में सम्मान पाकर मृत्युके पश्चात् उत्तम गतिका भागी होता है ॥ १८ ॥

अभयं यस्य भूतेभ्यः सर्वेषामभयं यतः ।
स वै परिणतप्रज्ञः प्रख्यातो मनुजोत्तमः ॥ १९ ॥

जिसे समस्त प्राणियोंसे निर्भयता प्राप्त हो गयी हो तथा जिससे सभी प्राणियोंका भय दूर हो गया हो, वह परिपक्व बुद्धिवाला पुरुष मनुष्योंमें श्रेष्ठ कहा गया है ॥ १९ ॥

सर्वभूतहितो मैत्रस्तस्मान्नोद्विजते जनः ।
समुद्र इव गम्भीरः प्रज्ञातृप्तः प्रशाम्यति ॥ २० ॥

जो सम्पूर्ण भूतोंका हित चाहनेवाला और सबके प्रति मैत्रीभाव रखनेवाला है, उससे किसी भी पुरुषको उद्वेग नहीं प्राप्त होता है । जो समुद्रके समान गम्भीर एवं उत्कृष्ट ज्ञानरूपी अमृतसे तृप्त है, वही परम शान्तिका भागी होता है ॥ २० ॥

कर्मणाऽऽचरितं पूर्वं सद्भिराचरितं च यत् ।
तदेवास्थाय मोदन्ते नान्ताः शमपरायणाः ॥ २१ ॥

जो कर्तव्य कर्मोंद्वारा आचरित है तथा पहलेके साधुपुरुषोंके द्वारा जिसका आचरण किया गया है, उसे अपनाकर शम-दमसे सम्पन्न पुरुष सदा आनन्दमग्न रहते हैं ॥ २१ ॥

नैष्कर्म्यं वा समास्थाय ज्ञानतृप्तो जितेन्द्रियः ।
कालाकाङ्क्षी चरँल्लोके ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥ २२ ॥

अथवा जो ज्ञानसे तृप्त जितेन्द्रिय पुरुष नैष्कर्म्यका आश्रय लेकर कालकी प्रतीक्षा करता हुआ अनासक्तभावसे लोकमें विचरता रहता है, वह ब्रह्मभावको प्राप्त होनेमें समर्थ होता है ॥ २२ ॥

शकुनीनामिवाकाशे पदं नैवोपलभ्यते ।
एवं प्रज्ञानतृप्तस्य मुनेर्वर्त्म न दृश्यते ॥ २३ ॥

जैसे आकाशमें पक्षियोंके चरणचिह्न नहीं दिखायी देते हैं, वैसे ही ज्ञानानन्दसे तृप्त मुनिका मार्ग दृष्टिगोचर नहीं होता है अर्थात् समझमें नहीं आता है ॥ २३ ॥

उत्सृज्यैव गृहान् यस्तु मोक्षमेवाभिमन्यते ।
लोकास्तेजोमयास्तस्य कल्पन्ते शाश्वता दिवि ॥ २४ ॥

जो गृहस्थाश्रमको त्यागकर मोक्षको ही आदर देता है, उसके लिये द्युलोकमें तेजोमय सनातन स्थानकी प्राप्ति होती है ॥ २४ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि यानसंधिपर्वणि विदुरवाक्ये त्रिषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत यानसंधिपर्वमें विदुरवाक्यसम्बन्धी तिरसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ६३ ॥

चतुःषष्टितमोऽध्यायः

विदुरका कौटुम्बिक कलहसे हानि बताते हुए धृतराष्ट्रको संधिकी सलाह देना

विदुर उवाच

शकुनीनामिहार्थाय पाशं भूमावयोजयत् ।
कश्चिच्छाकुनिकस्तात पूर्वेषामिति शुश्रुम ॥ १ ॥

विदुरजी कहते हैं—तात ! हमने पूर्वपुरुषोंके मुखसे सुन रक्खा है कि किसी समय एक चिड़ीमारने चिड़ियोंको फँसानेके लिये पृथ्वीपर एक जाल फैलाया ॥ १ ॥

तस्मिन् द्वौ शकुनौ बद्धौ युगपत् सहचारिणौ ।
तावुपादाय तं पाशं जग्मतुः खचरावुभौ ॥ २ ॥

उस जालमें दो ऐसे पक्षी फँस गये, जो सदा साथ-साथ उड़ने और विचरनेवाले थे । वे दोनों पक्षी उस समय उस जालको लेकर आकाशमें उड़ चले ॥ २ ॥

तौ विहायसमाक्रान्तौ दृष्ट्वा शाकुनिकस्तदा ।
अन्वधावदनिर्विण्णो येन येन स्म गच्छतः ॥ ३ ॥

चिड़ीमार उन दोनोंको आकाशमें उड़ते देखकर भी खिन्न या हताश नहीं हुआ । वे जिधर-जिधर गये, उधर-उधर ही वह उनके पीछे दौड़ता रहा ॥ ३ ॥

तथा तमनुधावन्तं मृगयुं शकुनार्थिनम् ।
आश्रमस्थो मुनिः कश्चिद् ददर्शाथ कृताह्निकः ॥ ४ ॥

उन दिनों उस वनमें कोई मुनि रहते थे, जो उस समय संध्या-वन्दन आदि नित्यकर्म करके आश्रममें ही बैठे हुए थे । उन्होंने पक्षियोंको पकड़नेके लिये उनका पीछा करते हुए उस व्याधको देखा ॥ ४ ॥

तावन्तरिक्षगौ शीघ्रमनुयान्तं महीचरम् ।
श्लोकेनानेन कौरव्य पप्रच्छ स मुनिस्तदा ॥ ५ ॥

कुरुनन्दन ! उन आकाशचारी पक्षियोंके पीछे-पीछे भूमिपर पैदल दौड़नेवाले उस व्याधसे मुनिने निम्नाङ्कित श्लोकके अनुसार प्रश्न किया—॥ ५ ॥

विचित्रमिदमाश्चर्यं मृगहन् प्रतिभाति मे ।
प्लवमानौ हि खचरौ पदातिरनुधावसि ॥ ६ ॥

'अरे व्याध ! मुझे यह बात बड़ी विचित्र और आश्चर्यजनक जान पड़ती है कि तू आकाशमें उड़ते हुए इन दोनों पक्षियोंके पीछे पृथ्वीपर पैदल दौड़ रहा है' ॥ ६ ॥

शाकुनिक उवाच

पाशमेकमुभावेतौ सहितौ हरतो मम ।
यत्र वै विवदिष्येते तत्र मे वशमेष्यतः ॥ ७ ॥

व्याध बोला—मुने ! ये दोनों पक्षी आपसमें मिल

गये हैं, अतः मेरे एकमात्र जालको लिये जा रहे हैं। अब ये जहाँ-कहीं एक दूसरेसे झगड़ेंगे, वहीं मेरे वशमें आ जायँगे॥

विदुर उवाच

तौ विवादमनुप्राप्तौ शकुनौ मृत्युसंधितौ।
विगृह्य च सुदुर्बुद्धी पृथिव्यां संनिपेततुः॥ ८॥

विदुरजी कहते हैं—राजन्! तदनन्तर कुछ ही देरमें कालके वशीभूत हुए वे दोनों दुर्बुद्धि पक्षी आपसमें झगड़ने लगे और लड़ते-लड़ते पृथ्वीपर गिर पड़े॥ ८॥



तौ युध्यमानौ संरब्धौ मृत्युपाशवशानुगौ।
उपसृत्यापरिज्ञातो जग्राह मृगहा तदा॥ ९॥

जब मौतके फंदेमें फँसे हुए वे पक्षी अत्यन्त कुपित होकर एक दूसरेसे लड़ रहे थे, उसी समय व्याधने चुपचाप उनके पास आकर उन दोनोंको पकड़ लिया॥ ९॥

एवं ये ज्ञातयोऽर्थेषु मिथो गच्छन्ति विग्रहम्।
तेऽमित्रवशमायान्ति शकुनाविव विग्रहात्॥ १०॥

इसी प्रकार जो कुटुम्बीजन धन-सम्पत्तिके लिये आपसमें कलह करते हैं, वे युद्ध करके उन्हीं दोनों पक्षियोंकी भाँति शत्रुओंके वशमें पड़ जाते हैं॥ १०॥

सम्भोजनं संकथनं सम्प्रश्नोऽथ समागमः।
एतानि ज्ञातिकार्याणि न विरोधः कदाचन॥ ११॥

साथ बैठकर भोजन करना, आपसमें प्रेमसे वार्तालाप करना, एक दूसरेके सुख-दुःखको पूछना और सदा मिलते-जुलते रहना—ये ही भाई-बन्धुओंके काम हैं; परस्पर विरोध करना कदापि उचित नहीं है॥ ११॥

ये स्म काले सुमनसः सर्वे वृद्धानुपासते।
सिंहगुप्तमिवारण्यमप्रधृष्या भवन्ति ते॥ १२॥

जो शुद्ध हृदयवाले मनुष्य समय-समयपर बड़े-बूढ़ोंकी सेवा एवं सङ्ग करते रहते हैं, वे सिंहसे सुरक्षित वनके समान दूसरोंके लिये दुर्धर्ष हो जाते हैं (शत्रु उनके पास आनेका साहस नहीं करते हैं)॥ १२॥

येऽर्थं संततमासाद्य दीना इव समासते।
श्रियं ते सम्प्रयच्छन्ति द्विषद्भ्यो भरतर्षभ॥ १३॥

भरतश्रेष्ठ! जो धनको पाकर भी सदा दीनोंके समान तृष्णासे पीड़ित रहते हैं, वे (आपसमें कलह करके) अपनी सम्पत्ति शत्रुओंको दे डालते हैं॥ १३॥

धूमायन्ते व्यपेतानि ज्वलन्ति सहितानि च।
धृतराष्ट्रोल्मुकानीव ज्ञातयो भरतर्षभ॥ १४॥

भरतकुलभूषण धृतराष्ट्र! जैसे जलते हुए काष्ठ अलग-अलग कर दिये जानेपर जल नहीं पाते, केवल धुआँ देते हैं और परस्पर मिल जानेपर प्रज्वलित हो उठते हैं, उसी प्रकार कुटुम्बीजन आपसी फूटके कारण अलग-अलग रहनेपर अशक्त हो जाते हैं तथा परस्पर संगठित होनेपर बलवान् एवं तेजस्वी होते हैं॥ १४॥

इदमन्यत् प्रवक्ष्यामि यथा दृष्टं गिरौ मया।
श्रुत्वा तदपि कौरव्य यथा श्रेयस्तथा कुरु॥ १५॥

कौरवनन्दन! पूर्वकालमें किसी पर्वतपर मैंने जैसा देखा था, उसके अनुसार यह एक दूसरी बात बता रहा हूँ। इसे भी सुनकर आपको जिसमें अपनी भलाई जान पड़े, वही कीजिये॥ १५॥

वयं किरातैः सहिता गच्छामो गिरिमुत्तरम्।
ब्राह्मणैर्देवकल्पैश्च विद्याजम्भकवार्तिकैः॥ १६॥

एक समयकी बात है, हम बहुत-से भीलों और देवोपम ब्राह्मणोंके साथ उत्तर दिशामें गन्धमादन पर्वतपर गये थे। हमारे साथ जो ब्राह्मण थे, उन्हें मन्त्र-यन्त्रादिरूप विद्या और ओषधियोंके साधन आदिकी बातें बहुत प्रिय थीं॥ १६॥

कुञ्जभूतं गिरिं सर्वमभितो गन्धमादनम्।
दीप्यमानौषधिगणं सिद्धगन्धर्वसेवितम्॥ १७॥

समस्त गन्धमादन पर्वत सब ओरसे कुञ्ज-सा जान पड़ता था। वहाँ दिव्य ओषधियाँ प्रकाशित हो रही थीं। सिद्ध और गन्धर्व उस पर्वतपर निवास करते थे॥ १७॥

तत्रापश्याम वै सर्वे मधु पीतकमाक्षिकम्।
मरुप्रपाते विषमे निविष्टं कुम्भसम्मितम्॥ १८॥

वहाँ हम सब लोगोंने देखा, पर्वतकी एक दुर्गम गुफामें जहाँसे कोई कूल-किनारा न होनेके कारण गिरनेकी ही अधिक

सम्भावना रहती है, एक मधुकोष है। वह मक्खियोंका तैयार किया हुआ नहीं था। उसका रंग सुवर्णके समान पीला था और वह देखनेमें घड़ेके समान जान पड़ता था ॥ १८ ॥

आशीविषै रक्ष्यमाणं कुबेरदयितं भृशम्।
यत् प्राप्य पुरुषो मर्त्योऽप्यमरत्वं नियच्छति ॥ १९ ॥
अचक्षुर्लभते चक्षुर्वृद्धो भवति वै युवा।
इति ते कथयन्ति स्म ब्राह्मणा जम्भसाधकाः ॥ २० ॥

भयंकर विषधर सर्प उस मधुकी रक्षा करते थे। कुबेरको वह मधु अत्यन्त प्रिय था। हमारे साथी औषध-साधक ब्राह्मण-लोग यह बता रहे थे कि इस मधुको पाकर मरणधर्मा मनुष्य भी अमरत्व प्राप्त कर लेता है। इसको पीनेसे अंधेको दृष्टि मिल जाती है और बूढ़ा भी जवान हो जाता है ॥

ततः किरातास्तद् दृष्ट्वा प्रार्थयन्तो महीपते।
विनेशुर्विषमे तस्मिन् ससर्पे गिरिगह्वरे ॥ २१ ॥

महाराज! उस समय उस मधुका अद्भुत गुण सुनकर और उसे प्रत्यक्ष देखकर भीलोंने उसे पानेकी चेष्टा की; परंतु सर्पोंसे भरी हुई उस दुर्गम पर्वतगुहामें जाकर वे सब-के-सब नष्ट हो गये ॥ २१ ॥

तथैव तव पुत्रोऽयं पृथिवीमेक इच्छति।
मधु पश्यति सम्मोहात् प्रपातं नानुपश्यति ॥ २२ ॥

इसी प्रकार आपका यह पुत्र दुर्योधन अकेला ही सारी पृथ्वीका राज्य भोगना चाहता है। यह मोहवश केवल मधुको ही देखता है, भावी पतन या विनाशकी ओर इसकी दृष्टि नहीं जाती है ॥ २२ ॥

दुर्योधनो योद्धुमनाः समरे सव्यसाचिना।
न च पश्यामि तेजोऽस्य विक्रमं वा तथाविधम्॥ २३ ॥

दुर्योधन समरभूमिमें सव्यसाची अर्जुनके साथ युद्ध करनेकी बात सोचता है, परंतु मैं इसके भीतर अर्जुनके समान तेज या पराक्रम नहीं देखता ॥ २३ ॥

एकेन रथमास्थाय पृथिवी येन निर्जिता।
भीष्मद्रोणप्रभृतयः संत्रस्ताः साधुयायिनः ॥ २४ ॥
विराटनगरे भग्नाः किं तत्र तव दृश्यताम्।
प्रतीक्षमाणो यो वीरः क्षमते वीक्षितं तव ॥ २५ ॥

जिस वीरने अकेले ही रथपर बैठकर सारी पृथ्वीपर विजय पायी है, विराटनगरपर चढ़ाई करने गये हुए भीष्म और द्रोण-जैसे महान् योद्धाओंको भी जिसने भयभीत करके भगा दिया है, उसके सामने आपका पुत्र क्या पराक्रम कर सकता है? यह आप ही देखिये। आज भी वह वीर आपकी मैत्रीपूर्ण दृष्टिकी प्रतीक्षा कर रहा है और आपकी आज्ञासे वह कौरवोंका सारा अपराध क्षमा कर सकता है ॥ २४-२५ ॥

द्रुपदो मत्स्यराजश्च संक्रुद्धश्च धनंजयः।
न शेषयेयुः समरे वायुयुक्ता इवाग्नयः ॥ २६ ॥

राजा द्रुपद, मत्स्यनरेश विराट और क्रोधमें भरा हुआ अर्जुन—ये तीनों वायुका सहारा पाकर प्रज्वलित हुई त्रिविध अग्नियोंके समान जब युद्धभूमिमें आक्रमण करेंगे, तब किसीको जीता नहीं छोड़ेंगे ॥ २६ ॥

अङ्के कुरुष्व राजानं धृतराष्ट्र युधिष्ठिरम्।
युध्यतोर्हि द्वयोर्युद्धे नैकान्तेन भवेज्जयः ॥ २७ ॥

महाराज धृतराष्ट्र! आप राजा युधिष्ठिरको अपनी गोदमें बैठा लीजिये; क्योंकि जब दोनों पक्षोंमें युद्ध छिड़ जायगा, तब विजय किसकी होगी, यह निश्चितरूपसे नहीं कहा जा सकता ॥ २७ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि यानसंधिपर्वणि विदुरवाक्ये चतुःषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत यानसंधिपर्वमें विदुरवाक्यविषयक चौसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ६४ ॥

पञ्चषष्टितमोऽध्यायः

धृतराष्ट्रका दुर्योधनको समझाना

धृतराष्ट्र उवाच

दुर्योधन विजानीहि यत् त्वां वक्ष्यामि पुत्रक।
उत्पथं मन्यसे मार्गमनभिज्ञ इवाध्वगः ॥ १ ॥

धृतराष्ट्र बोले—बेटा दुर्योधन! मैं तुमसे जो कुछ कहता हूँ, उसपर ध्यान दो। तुम इस समय अनजान बटोहीके समान कुमार्गको भी सुमार्ग समझ रहे हो ॥ १ ॥

पञ्चानां पाण्डुपुत्राणां यत् तेजः प्रजिहीर्षसि।
पञ्चानामिव भूतानां महतां लोकधारिणाम् ॥ २ ॥

यही कारण है कि तुम सम्पूर्ण लोगोंके आधारस्वरूप पाँच महाभूतोंके समान पाँचों पाण्डवोंके तेजका अपहरण करनेकी इच्छा कर रहे हो ॥ २॥

युधिष्ठिरं हि कौन्तेयं परं धर्ममिहास्थितम्।
परां गतिमसम्प्रेत्य न त्वं जेतुमिहार्हसि ॥ ३ ॥

कुन्तीनन्दन युधिष्ठिर यहाँ उत्तम धर्मका आश्रय लेकर रहते हैं। तुम मृत्युको प्राप्त हुए बिना उन्हें जीत लोगे, यह कदापि सम्भव नहीं है ॥ ३ ॥

भीमसेनं च कौन्तेयं यस्य नास्ति समो बले ।
रणान्तकं तर्जयसे महावातमिव द्रुमः ॥ ४ ॥

जैसे वृक्ष प्रचण्ड आँधीको डाँट बतावे, उसी प्रकार तुम समराङ्गणमें कालके समान विचरनेवाले कुन्तीकुमार भीमसेनको जिसके समान बलवान् इस भूतलपर दूसरा कोई नहीं है, डराने-धमकानेका साहस करते हो ॥ ४ ॥

सर्वशस्त्रभृतां श्रेष्ठं मेरुं शिखरिणामिव ।
युधि गाण्डीवधन्वानं को नु युध्येत बुद्धिमान् ॥ ५ ॥

जैसे पर्वतोंमें मेरु श्रेष्ठ है, उसी प्रकार समस्त शस्त्रधारियोंमें गाण्डीवधारी अर्जुन श्रेष्ठ है । भला कौन बुद्धिमान् मनुष्य रणभूमिमें उसके साथ जूझनेका साहस करेगा ? ॥ ५ ॥

धृष्टद्युम्नश्च पाञ्चाल्यः कमिवाद्य न शातयेत् ।
शत्रुमध्ये शरान् मुञ्चन् देवराडशनीमिव ॥ ६ ॥

जैसे देवराज इन्द्र वज्र छोड़ते हैं, उसी प्रकार पाञ्चालराजकुमार धृष्टद्युम्न शत्रुओंकी सेनापर बाणोंकी वर्षा करता है । वह अब किसे छिन्न-भिन्न नहीं कर डालेगा ? ॥ ६ ॥

सात्यकिश्चापि दुर्धर्षः सम्मतोऽन्धकवृष्णिषु ।
ध्वंसयिष्यति ते सेनां पाण्डवेयहिते रतः ॥ ७ ॥

अन्धक और वृष्णिवंशका सम्माननीय योद्धा सात्यकि भी दुर्धर्ष वीर है । वह सदा पाण्डवोंके हितमें तत्पर रहता है । (युद्ध छिड़नेपर) वह तुम्हारी समस्त सेनाका संहार कर डालेगा ॥ ७ ॥

यः पुनः प्रतिमानेन त्रींल्लोकानतिरिच्यते ।
तं कृष्णं पुण्डरीकाक्षं को नु युद्ध्येत बुद्धिमान् ॥ ८ ॥

जो तुलनामें तीनों लोकोंसे भी बढ़कर हैं, उन कमलनयन भगवान् श्रीकृष्णके साथ कौन समझदार मनुष्य युद्ध करेगा ?

एकतो ह्यस्य दाराश्च ज्ञातयश्च सबान्धवाः ।
आत्मा च पृथिवी चेयमेकतश्च धनंजयः ॥ ९ ॥

श्रीकृष्णके लिये एक ओर स्त्री, कुटुम्बीजन, भाई-बन्धु अपना शरीर और यह सारा भूमण्डल है, तो दूसरी ओर अकेला अर्जुन है (अर्थात् वे अर्जुनके लिये इन सबका त्याग कर सकते हैं ।) ॥ ९ ॥

वासुदेवोऽपि दुर्धर्षो यतात्मा यत्र पाण्डवः ।
अविषह्यं पृथिव्यापि तद् बलं यत्र केशवः ॥ १० ॥

जहाँ अपने मन और इन्द्रियोंको संयममें रखनेवाला दुर्धर्ष वीर पाण्डुपुत्र अर्जुन है, वहीं वसुदेवनन्दन श्रीकृष्ण भी रहते हैं और जिस सेनामें साक्षात् श्रीकृष्ण विराज रहे हों, उसका वेग समस्त भूमण्डलके लिये भी असह्य हो जाता है ॥ १० ॥

तिष्ठ तात सतां वाक्ये सुहृदामर्थवादिनाम् ।
वृद्धं शान्तनवं भीष्मं तितिक्षस्व पितामहम् ॥ ११ ॥

तात ! तुम सत्पुरुषों तथा तुम्हारे हितकी बात बतानेवाले सुहृदोंके कथनानुसार कार्य करो । वृद्ध शान्तनुनन्दन भीष्म तुम्हारे पितामह हैं । तुम उनकी प्रत्येक बात सहन करो ॥

मां च ब्रुवाणं शुश्रूष कुरूणामर्थदर्शिनम् ।
द्रोणं कृपं विकर्णं च महाराजं च बाह्लिकम् ॥ १२ ॥
एते ह्यपि यथैवाहं मन्तुमर्हसि तांस्तथा ।
सर्वे धर्मविदो ह्येते तुल्यस्नेहाश्च भारत ॥ १३ ॥

मैं भी कौरवोंके हितकी ही बात सोचता हूँ; अतः मेरी भी सुनो । आचार्य द्रोण, कृप, विकर्ण और महाराज बाह्लीक–ये भी तुम्हारे हितैषी ही हैं; अतः तुम्हें मेरे ही समान इनका भी समादर करना चाहिये । भरतनन्दन ! ये सब लोग धर्मके ज्ञाता हैं और दोनों पक्षके लोगोंपर समानभावसे स्नेह रखते हैं ॥ १२-१३ ॥

यत् तद् विराटनगरे सह भ्रातृभिरग्रतः ।
उत्सृज्य गाः सुसंत्रस्तं बलं ते समशीर्यत ॥ १४ ॥
यच्चैव नगरे तस्मिञ्छ्रूयते महदद्भुतम् ।
एकस्य च बहूनां च पर्याप्तं तन्निदर्शनम् ॥ १५ ॥

विराटनगरमें तुम्हारे भाइयोंसहित जो सारी सेना युद्धके लिये गयी थी, वह वहाँकी समस्त गौओंको छोड़कर अत्यन्त भयभीत हो तुम्हारे सामने ही भाग खड़ी हुई थी । उस नगरमें जो एक (अर्जुन) का बहुतोंके साथ अत्यन्त अद्भुत युद्ध हुआ सुना जाता है; वह एक ही दृष्टान्त (उसकी प्रबलता और अजेयताके लिये) पर्याप्त है ॥ १४-१५ ॥

अर्जुनस्तत् तथाकार्षीत् किं पुनः सर्व एव ते ।
स भ्रातॄनभिजानीहि वृत्त्या तं प्रतिपादय ॥ १६ ॥

देखो, जब अकेले अर्जुनने इतना अद्भुत कार्य कर डाला, तब वे सब भाई मिलकर क्या नहीं कर सकते ? अतः तुम पाण्डवोंको अपना भाई ही समझो और उनकी वृत्ति (स्वत्व) उन्हें देकर उनके साथ भ्रातृत्व बढ़ाओ ॥ १६ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि यानसंधिपर्वणि धृतराष्ट्रवाक्ये पञ्चषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत यानसंधिपर्वमें धृतराष्ट्रवाक्यविषयक पैंसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ६५ ॥

षट्षष्टितमोऽध्यायः

संजयका धृतराष्ट्रको अर्जुनका संदेश सुनाना

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्त्वा महाप्राज्ञो धृतराष्ट्रः सुयोधनम्।
पुनरेव महाभागः संजयं पर्यपृच्छत ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! दुर्योधनसे ऐसा कहकर परम बुद्धिमान् महाभाग धृतराष्ट्रने संजयसे पुनः प्रश्न किया—॥ १ ॥

ब्रूहि संजय यच्छेषं वासुदेवादनन्तरम्।
यदर्जुन उवाच त्वां परं कौतूहलं हि मे ॥ २ ॥

'संजय ! बताओ, भगवान् श्रीकृष्णके पश्चात् अर्जुनने जो अन्तिम संदेश दिया था, उसे सुननेके लिये मेरे मनमें बड़ा कौतूहल हो रहा है' ॥ २ ॥

संजय उवाच

वासुदेववचः श्रुत्वा कुन्तीपुत्रो धनंजयः ।
उवाच काले दुर्धर्षो वासुदेवस्य शृण्वतः ॥ ३ ॥

संजयने कहा—महाराज ! वसुदेवनन्दन श्रीकृष्णकी बात सुनकर दुर्धर्ष वीर कुन्तीकुमार अर्जुनने उनके सुनते-सुनते यह समयोचित बात कही—॥ ३ ॥

पितामहं शान्तनवं धृतराष्ट्रं च संजय।
द्रोणं कृपं च कर्णं च महाराजं च बाह्लिकम्॥ ४ ॥
द्रौणिं च सोमदत्तं च शकुनिं चापि सौबलम्।
दुःशासनं शलं चैव पुरुमित्रं विविंशतिम्॥ ५ ॥
विकर्णं चित्रसेनं च जयत्सेनं च पार्थिवम्।
विन्दानुविन्दावावन्त्यौ दुर्मुखं चापि कौरवम्॥ ६ ॥
सैन्धवं दुःसहं चैव भूरिश्रवसमेव च ।
भगदत्तं च राजानं जलसन्धं च पार्थिवम्॥ ७ ॥
ये चाप्यन्ये पार्थिवास्तत्र योद्धुं
समागताः कौरवाणां प्रियार्थम्।
मुमूर्षवः पाण्डवाग्नौ प्रदीप्ते
समानीता धार्तराष्ट्रेण होतुम्॥ ८ ॥
यथान्यायं कौशलं वन्दनं च
समागता मद्वचनेन वाच्याः।
इदं ब्रूयाः संजय राजमध्ये
सुयोधनं पापकृतां प्रधानम्॥ ९ ॥
अमर्षणं दुर्मतिं राजपुत्रं
पापात्मानं धार्तराष्ट्रं सुलुब्धम्।
सर्वं ममैतद् वचनं समग्रं
सहामात्यं संजय श्रावयेथाः॥ १० ॥

'संजय ! तुम शान्तनुनन्दन पितामह भीष्म, राजा धृतराष्ट्र, आचार्य द्रोण, कृपाचार्य, कर्ण, महाराज बाह्लीक, अश्वत्थामा, सोमदत्त, सुबलपुत्र शकुनि, दुःशासन, शल, पुरुमित्र, विविंशति, विकर्ण, चित्रसेन, राजा जयत्सेन, अवन्तीके राजकुमार विन्द और अनुविन्द, कौरवयोद्धा दुर्मुख, सिंधुराज जयद्रथ, दुःसह, भूरिश्रवा, राजा भगदत्त, भूपाल जलसन्ध तथा अन्य जो-जो नरेश कौरवोंका प्रिय करनेके लिये युद्धके उद्देश्यसे वहाँ एकत्र हुए हैं, जिनकी मृत्यु बहुत ही निकट है; जिन्हें दुर्योधनने पाण्डवरूपी प्रज्वलित अग्निमें होमनेके लिये बुलाया है, उन सबसे मिलकर मेरी ओरसे यथायोग्य प्रणाम आदि कहकर उनका कुशल-मङ्गल पूछना। संजय ! तत्पश्चात् उन राजाओंके समुदायमें ही पापात्माओंमें प्रधान असहिष्णु, दुर्बुद्धि, पापाचारी और अत्यन्त लोभी राजकुमार दुर्योधन और उसके मन्त्रियोंको मेरी कही हुई ये सारी बातें सुनाना' ॥ ४—१० ॥

एवं प्रतिष्ठाप्य धनंजयो मां
ततोऽर्थवद् धर्मवच्चापि वाक्यम्।
प्रोवाचेदं वासुदेवं समीक्ष्य
पार्थो धीमाँल्लोहितान्तायताक्षः॥ ११॥

इस प्रकार मुझे हस्तिनापुर जानेकी अनुमति देकर, जिनके विशाल नेत्रोंका कोना कुछ लाल रंगका है, उन परम बुद्धिमान् कुन्तीकुमार अर्जुनने भगवान् श्रीकृष्णकी ओर देखकर यह धर्म और अर्थसे युक्त वचन कहा—॥ ११ ॥

यथा श्रुतं ते वदतो महात्मनो
मधुप्रवीरस्य वचः समाहितम्।
तथैव वाच्यं भवता हि मद्वचः
समागतेषु क्षितिपेषु सर्वशः॥ १२ ॥

'संजय ! मधुवंशके प्रमुख वीर महात्मा श्रीकृष्णने एकाग्रचित्त होकर जो बात कही है और तुमने इसे जैसा सुना है, वह सब ज्यों-का-त्यों सुना देना। फिर समस्त समागत भूपालोंकी मण्डलीमें मेरी यह बात कहना—॥ १२ ॥

शराग्निधूमे रथनेमिनादिते
धनुःस्रुवेणास्त्रबलप्रसारिणा ।
यथा न होमः क्रियते महामृधे
समेत्य सर्वे प्रयतध्वमादृताः॥ १३॥

'राजाओ ! महान् युद्धरूपी यज्ञमें जहाँ बाणोंके टकरानेसे पैदा होनेवाली आगका धुआँ फैलता रहता है, रथोंकी घर्घराहट ही वेदमन्त्रोंकी ध्वनिका काम देती है, (शास्त्रबलसे सम्पादित होनेवाले यज्ञकी भाँति) अस्त्रबलसे ही फैलनेवाले धनुषरूपी स्रुवाके द्वारा मुझे जिस प्रकार कौरवसैन्यरूपी हविष्यकी आहुति न देनी पड़े, उसके लिये तुम सब लोग सादर प्रयत्न करो॥ १३ ॥

न चेत् प्रयच्छध्वममित्रघातिनो
युधिष्ठिरस्य समभीप्सितं स्वकम्।
नयामि वः साश्वपदातिकुञ्जरान्
दिशं पितॄणामशिवां शितैः शरैः ॥ १४ ॥

'यदि तुमलोग शत्रुघाती महाराज युधिष्ठिरका अपना अभीष्ट राज्यभाग नहीं लौटाओगे तो मैं तुम्हें अपने तीखे बाणोंद्वारा घोड़े, पैदल तथा हाथीसवारोंसहित यमलोककी अमङ्गलमयी दिशामें भेज दूँगा' ॥ १४ ॥

ततोऽहमामन्त्र्य तदा धनंजयं
चतुर्भुजं चैव नमस्य सत्वरः।
जवेन सम्प्राप्त इहामरद्युते
तवान्तिकं प्रापयितुं वचो महत् ॥ १५ ॥

देवताओंके समान तेजस्वी महाराज ! इसके बाद मैं अर्जुनसे विदा ले चतुर्भुज भगवान् श्रीकृष्णको नमस्कार करके उनका वह महत्त्वपूर्ण संदेश आपके पास पहुँचानेके लिये बड़े वेगसे तुरंत यहाँ चला आया हूँ ॥ १५ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि यानसंधिपर्वणि संजयवाक्ये षट्षष्टितमोऽध्यायः ॥ ६६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत यानसंधिपर्वमें संजयवाक्यविषयक छाछठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ६६ ॥

सप्तषष्टितमोऽध्यायः

धृतराष्ट्रके पास व्यास और गान्धारीका आगमन तथा व्यासजीका संजयको श्रीकृष्ण और अर्जुनके सम्बन्धमें कुछ कहनेका आदेश

वैशम्पायन उवाच

दुर्योधने धार्तराष्ट्रे तद् वचो नाभिनन्दति।
तूष्णीम्भूतेषु सर्वेषु समुत्तस्थुर्नरर्षभाः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधनने जब श्रीकृष्ण और अर्जुनके उस कथनका कुछ भी आदर नहीं किया और सब लोग चुप्पी साधकर रह गये, तब वहाँ बैठे हुए समस्त नरश्रेष्ठ भूपालगण वहाँसे उठकर चले गये ॥ १ ॥

उत्थितेषु महाराज पृथिव्यां सर्वराजसु।
रहिते संजयं राजा परिप्रष्टुं प्रचक्रमे ॥ २ ॥
आशंसमानो विजयं तेषां पुत्रवशानुगः।
आत्मनश्च परेषां च पाण्डवानां च निश्चयम् ॥ ३ ॥

महाराज ! भूमण्डलके सब राजा जब सभाभवनसे उठ गये, तब अपने पुत्रोंकी विजय चाहनेवाले तथा उन्हींके वशमें रहनेवाले राजा धृतराष्ट्रने वहाँ एकान्तमें अपनी, दूसरोंकी और पाण्डवोंकी जय-पराजयके विषयमें संजयका निश्चित मत जाननेके लिये उनसे कुछ और बातें पूछनी प्रारम्भ की ॥ २-३ ॥

धृतराष्ट्र उवाच

गावल्गणे ब्रूहि नः सारफल्गु
स्वसेनायां यावदिहास्ति किंचित्।
त्वं पाण्डवानां निपुणं वेत्थ सर्वं
किमेषां ज्यायः किमु तेषां कनीयः ॥ ४ ॥

धृतराष्ट्र बोले—गवल्गणपुत्र संजय ! यहाँ अपनी सेनामें जो कुछ भी प्रबलता या दुर्बलता है, उसका हमसे वर्णन करो। इसी प्रकार पाण्डवोंकी भी सारी बातें तुम अच्छी तरह जानते हो, अतः बताओ; ये किन बातोंमें बढ़े-चढ़े हैं और उनमें कौन-कौन-सी त्रुटियाँ हैं ? ॥ ४ ॥

त्वमेतयोः सारवित् सर्वदर्शी
धर्मार्थयोर्निपुणो निश्चयज्ञः।
स मे पृष्टः संजय ब्रूहि सर्वं
युध्यमानाः कतरेऽस्मिन् न सन्ति ॥ ५ ॥

संजय ! तुम इन दोनों पक्षोंके बलाबलको जाननेवाले, सर्वदर्शी, धर्म और अर्थके ज्ञानमें निपुण तथा निश्चित सिद्धान्तके ज्ञाता हो; अतः मेरे पूछनेपर सब बातें साफ-साफ कहो। युद्धमें प्रवृत्त होनेपर किस पक्षके लोग इस लोकमें जीवित नहीं रह सकते ? ॥ ५ ॥

संजय उवाच

न त्वां ब्रूयां रहिते जातु किंचि-
दसूया हि त्वां प्रविशेत राजन्।
आनयस्व पितरं महाव्रतं
गान्धारीं च महिषीमाजमीढ ॥ ६ ॥

संजयने कहा—राजन् ! एकान्तमें तो मैं आपसे कभी कोई बात नहीं कह सकता, क्योंकि इससे आपके हृदयमें

दोषदर्शनकी भावना उत्पन्न होगी। अजमीढनन्दन ! आप अपने महान् व्रतधारी पिता व्यासजी और महारानी गान्धारीको भी यहाँ बुलवा लीजिये ॥ ६ ॥

तौ तेऽसूयां विनयेतां नरेन्द्र
धर्मज्ञौ तौ निपुणौ निश्चयज्ञौ।
तयोस्तु त्वां संनिधौ तद् वदेयं
कृत्स्नं मतं केशवपार्थयोर्यत् ॥ ७ ॥

नरेन्द्र ! वे दोनों धर्मके ज्ञाता, विचारकुशल तथा सिद्धान्तको समझनेवाले हैं; अतः वे आपकी दोषदृष्टिका निवारण करेंगे। उन दोनोंके समीप मैं आपको श्रीकृष्ण और अर्जुनका जो विचार है, वह पूरा-पूरा बता दूँगा ॥ ७ ॥

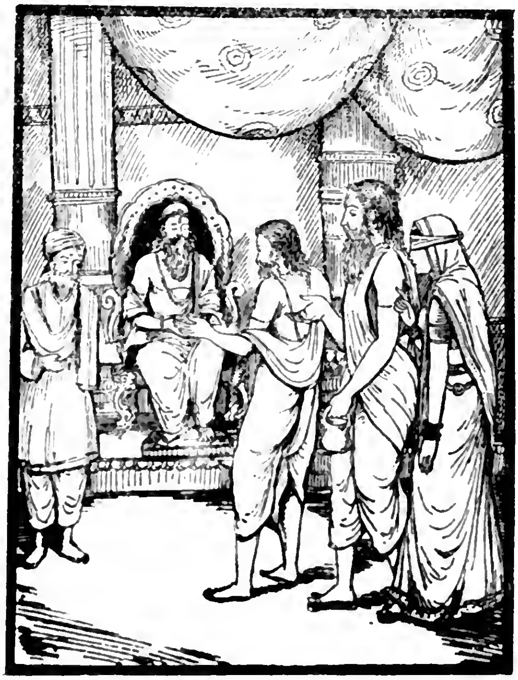
वैशम्पायन उवाच

इत्युक्तेन च गान्धारी व्यासश्चात्राजगाम ह।
आनीतौ विदुरेणेह सभां शीघ्रं प्रवेशितौ ॥ ८ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! संजयके ऐसा कहनेपर (धृतराष्ट्रकी प्रेरणासे) गान्धारी तथा महर्षि व्यास वहाँ आये। विदुरजी उन्हें यहाँ बुलाकर ले आये और सभाभवनमें शीघ्र ही उनका प्रवेश कराया ॥ ८ ॥

ततस्तन्मतमाज्ञाय संजयस्यात्मजस्य च।
अभ्युपेत्य महाप्राज्ञः कृष्णद्वैपायनोऽब्रवीत् ॥ ९ ॥

तदनन्तर परम ज्ञानी श्रीकृष्णद्वैपायन व्यास सभाभवनमें पहुँचकर संजय तथा अपने पुत्र धृतराष्ट्रके उस विचारको जानकर इस प्रकार बोले—॥ ९ ॥



व्यास उवाच

सम्पृच्छते धृतराष्ट्राय संजय
आचक्ष्व सर्वं यावदेषोऽनुयुङ्क्ते।
सर्वं यावद् वेत्थ तस्मिन् यथावद्
याथातथ्यं वासुदेवेऽर्जुने च ॥ १० ॥

व्यासजीने कहा—संजय ! धृतराष्ट्र तुमसे जो कुछ जानना चाहते हैं, वह सब इन्हें बताओ। ये भगवान् श्रीकृष्ण तथा अर्जुनके विषयमें जो कुछ पूछते हैं, वह सब, जितना तुम जानते हो, उसके अनुसार यथार्थरूपसे कहो ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि यानसंधिपर्वणि व्यासगान्धार्यागमने सप्तषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत यानसंधिपर्वमें व्यास और गान्धारीके आगमनसे सम्बन्ध रखनेवाला सरसठवाँ अध्याय पूरा हुआ॥६७॥

अष्टषष्टितमोऽध्यायः

संजयका धृतराष्ट्रको भगवान् श्रीकृष्णकी महिमा बतलाना

संजय उवाच

अर्जुनो वासुदेवश्च धन्विनौ परमार्चितौ।
कामादन्यत्र सम्भूतौ सर्वभावाय सम्मितौ ॥ १ ॥

संजयने कहा—राजन् ! अर्जुन तथा भगवान् श्रीकृष्ण दोनों बड़े सम्मानित धनुर्धर हैं। वे (यद्यपि सदा साथ रहनेवाले नर और नारायण हैं, तथापि) लोककल्याणकी कामनासे पृथक्-पृथक् प्रकट हुए हैं और सब कुछ करनेमें समर्थ हैं ॥ १ ॥

व्यामान्तरं समास्थाय यथामुक्तं मनस्विनः।
चक्रं तद् वासुदेवस्य मायया वर्तते विभो ॥ २ ॥

प्रभो ! उदारचेता भगवान् वासुदेवका सुदर्शन नामक चक्र उनकी मायासे अलक्षित होकर उनके पास रहता है ! उसके मध्यभागका विस्तार लगभग साढ़े तीन हाथका है। वह भगवान्‌के संकल्पके अनुसार (विशाल एवं तेजस्वी रूप धारण करके शत्रुसंहारके लिये) प्रयुक्त होता है ॥ २ ॥

सापह्नवं कौरवेषु पाण्डवानां सुसम्मतम्।
सारासारबलं ज्ञातुं तेजःपुञ्जावभासितम् ॥ ३ ॥

कौरवोंपर उसका प्रभाव प्रकट नहीं है। पाण्डवोंको वह अत्यन्त प्रिय है। वह सबके सार-असारभूत बलको जाननेमें समर्थ और तेजःपुञ्जसे प्रकाशित होनेवाला है ॥ ३ ॥

नरकं शम्बरं चैव कंसं चैद्यं च माधवः।
जितवान् घोरसंकाशान् क्रीडन्निव महाबलः ॥ ४ ॥

महाबली भगवान् श्रीकृष्णने अत्यन्त भयंकर प्रतीत होनेवाले नरकासुर, शम्बरासुर, कंस तथा शिशुपालको भी खेल-ही-खेलमें जीत लिया ॥ ४ ॥

पृथिवीं चान्तरिक्षं च द्यां चैव पुरुषोत्तमः।
मनसैव विशिष्टात्मा नयत्यात्मवशं वशी ॥ ५ ॥

पूर्णतः स्वाधीन एवं श्रेष्ठस्वरूप पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण मनके संकल्पमात्रसे ही भूतल, अन्तरिक्ष तथा स्वर्गलोकको भी अपने अधीन कर सकते हैं ॥ ५ ॥

भूयो भूयो हि यद् राजन् पृच्छसे पाण्डवान् प्रति।
सारासारबलं ज्ञातुं तत् समासेन मे शृणु ॥ ६ ॥

राजन्! आप जो बारंबार पाण्डवोंके विषयमें, उनके सार या असारभूत बलको जाननेके लिये मुझसे पूछते रहते हैं, वह सब आप मुझसे संक्षेपमें सुनिये ॥ ६ ॥

एकतो वा जगत् कृत्स्नमेकतो वा जनार्दनः।
सारतो जगतः कृत्स्नादतिरिक्तो जनार्दनः ॥ ७ ॥

एक ओर सम्पूर्ण जगत् हो और दूसरी ओर अकेले भगवान् श्रीकृष्ण हों तो सारभूत बलकी दृष्टिसे वे भगवान् जनार्दन ही सम्पूर्ण जगत्से बढ़कर सिद्ध होंगे ॥ ७ ॥

भस्म कुर्याज्जगदिदं मनसैव जनार्दनः।
न तु कृत्स्नं जगच्छक्तं भस्म कर्तुं जनार्दनम् ॥ ८ ॥

श्रीकृष्ण अपने मानसिक संकल्पमात्रसे इस सम्पूर्ण जगत्को भस्म कर सकते हैं; परंतु उन्हें भस्म करनेमें यह सारा जगत् समर्थ नहीं हो सकता ॥ ८ ॥

यतः सत्यं यतो धर्मो यतो ह्रीरार्जवं यतः।
ततो भवति गोविन्दो यतः कृष्णस्ततो जयः ॥ ९ ॥

जिस ओर सत्य, धर्म, लज्जा और सरलता है, उसी ओर भगवान् श्रीकृष्ण रहते हैं; और जहाँ भगवान् श्रीकृष्ण हैं, वहीं विजय है ॥ ९ ॥

पृथिवीं चान्तरिक्षं च दिवं च पुरुषोत्तमः।
विचेष्टयन्ति भूतात्मा क्रीडन्निव जनार्दनः ॥ १० ॥

समस्त प्राणियोंके आत्मा पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्ण खेल-सा करते हुए ही पृथ्वी, अन्तरिक्ष तथा स्वर्गलोकका संचालन करते हैं ॥ १० ॥

स कृत्वा पाण्डवान् सत्रं लोकं सम्मोहयन्निव।
अधर्मनिरतान् मूढान् दग्धुमिच्छति ते सुतान् ॥ ११ ॥

वे इस समय समस्त लोकको मोहित-सा करते हुए पाण्डवोंके मिससे आपके अधर्मपरायण मूढ़ पुत्रोंको भस्म करना चाहते हैं ॥ ११ ॥

कालचक्रं जगच्चक्रं युगचक्रं च केशवः।
आत्मयोगेन भगवान् परिवर्तयतेऽनिशम् ॥ १२ ॥

ये भगवान् केशव ही अपनी योगशक्तिसे निरन्तर कालचक्र, संसारचक्र तथा युगचक्रको घुमाते रहते हैं ॥ १२ ॥

कालस्य च हि मृत्योश्च जङ्गमस्थावरस्य च।
ईशते भगवानेकः सत्यमेतद् ब्रवीमि ते ॥ १३ ॥

मैं आपसे यह सच कहता हूँ कि एकमात्र भगवान् श्रीकृष्ण ही काल, मृत्यु तथा चराचर जगत्के स्वामी एवं शासक हैं ॥

ईशन्नपि महायोगी सर्वस्य जगतो हरिः।
कर्माण्यारभते कर्तुं कीनाश इव वर्धनः ॥ १४ ॥

महायोगी श्रीहरि सम्पूर्ण जगत्के स्वामी एवं ईश्वर होते हुए भी खेतीको बढ़ानेवाले किसानकी भाँति सदा नये-नये कर्मोंका आरम्भ करते रहते हैं ॥ १४ ॥

तेन वञ्चयते लोकान् मायायोगेन केशवः।
ये तमेव प्रपद्यन्ते न ते मुह्यन्ति मानवाः ॥ १५ ॥

भगवान् केशव अपनी मायाके प्रभावसे सब लोगोंको मोहमें डाले रहते हैं; किंतु जो मनुष्य केवल उन्हींकी शरण ले लेते हैं, वे उनकी मायासे मोहित नहीं होते हैं ॥ १५ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि यानसंधिपर्वणि संजयवाक्येऽष्टषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत यानसंधिपर्वमें संजयवाक्यविषयक अड़सठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ६८ ॥

एकोनसप्ततितमोऽध्यायः

संजयका धृतराष्ट्रको श्रीकृष्णप्राप्ति एवं तत्त्वज्ञानका साधन बताना

धृतराष्ट्र उवाच

कथं त्वं माधवं वेत्थ सर्वलोकमहेश्वरम्।
कथमेनं न वेदाहं तन्ममाचक्ष्व संजय ॥ १ ॥

धृतराष्ट्रने पूछा—संजय! मधुवंशी भगवान् श्रीकृष्ण

समस्त लोकोंके महान् ईश्वर हैं; इस बातको तुम कैसे जानते हो ? और मैं इन्हें इस रूपमें क्यों नहीं जानता ? इसका रहस्य मुझे बताओ ॥ १ ॥

संजय उवाच

शृणु राजन् न ते विद्या मम विद्या न हीयते ।
विद्याहीनस्तमोध्वस्तो नाभिजानाति केशवम् ॥ २ ॥

संजयने कहा—राजन् ! सुनिये, आपको तत्त्वज्ञान प्राप्त नहीं है और मेरी ज्ञानदृष्टि कभी लुप्त नहीं होती है। जो मनुष्य तत्त्वज्ञानसे शून्य है और जिसकी बुद्धि अज्ञानान्धकारसे विनष्ट हो चुकी है, वह श्रीकृष्णके वास्तविक स्वरूपको नहीं जान सकता ॥ २ ॥

विद्यया तात जानामि त्रियुगं मधुसूदनम् ।
कर्तारमकृतं देवं भूतानां प्रभवाप्ययम् ॥ ३ ॥

तात ! मैं ज्ञानदृष्टिसे ही प्राणियोंकी उत्पत्ति और विनाश करनेवाले त्रियुगस्वरूप भगवान् मधुसूदनको, जो सबके कर्ता हैं, परंतु किसीके कार्य नहीं हैं, जानता हूँ ॥ ३ ॥

धृतराष्ट्र उवाच

गावल्गणेऽत्र का भक्तिर्या ते नित्या जनार्दने ।
यया त्वमभिजानासि त्रियुगं मधुसूदनम् ॥ ४ ॥

धृतराष्ट्रने पूछा—संजय ! भगवान् श्रीकृष्णमें जो तुम्हारी नित्य भक्ति है, उसका स्वरूप क्या है ? जिससे तुम त्रियुगस्वरूप भगवान् मधुसूदनके तत्त्वको जानते हो ॥

संजय उवाच

मायां न सेवे भद्रं ते न वृथा धर्ममाचरे ।
शुद्धभावं गतो भक्त्या शास्त्राद् वेद्मि जनार्दनम् ॥ ५ ॥

संजयने कहा—महाराज ! आपका कल्याण हो। मैं कभी माया (छल-कपट) का सेवन नहीं करता। व्यर्थ (पाखण्डपूर्ण) धर्मका आचरण नहीं करता। भगवान्की भक्तिसे मेरा अन्तःकरण शुद्ध हो गया है; अतः मैं शास्त्रके वचनोंसे भगवान् श्रीकृष्णके स्वरूपको यथावत् जानता हूँ ॥ ५ ॥

धृतराष्ट्र उवाच

दुर्योधन हृषीकेशं प्रपद्यस्व जनार्दनम् ।
आप्तो नः संजयस्तात शरणं गच्छ केशवम् ॥ ६ ॥

यह सुनकर धृतराष्ट्रने दुर्योधनसे कहा—बेटा दुर्योधन ! संजय हमलोगोंका विश्वासपात्र है। इसकी बातोंपर श्रद्धा करके तुम सम्पूर्ण इन्द्रियोंके प्रेरक जनार्दन भगवान् श्रीकृष्णका आश्रय लो; उन्हींकी शरणमें जाओ ॥ ६ ॥

दुर्योधन उवाच

भगवान् देवकीपुत्रो लोकांश्चेन्निहनिष्यति ।
प्रवदन्नर्जुने सख्यं नाहं गच्छेऽद्य केशवम् ॥ ७ ॥

दुर्योधन बोला—पिताजी ! माना कि देवकीनन्दन श्रीकृष्ण साक्षात् भगवान् हैं और वे इच्छा करते ही सम्पूर्ण लोकोंका संहार कर डालेंगे, तथापि वे अपनेको अर्जुनका मित्र बताते हैं; अतः अब मैं उनकी शरणमें नहीं जाऊँगा ॥

धृतराष्ट्र उवाच

अवाग् गान्धारि पुत्रस्ते गच्छत्येष सुदुर्मतिः ।
ईर्षुर्दुरात्मा मानी च श्रेयसां वचनातिगः ॥ ८ ॥

तब धृतराष्ट्रने गान्धारीसे कहा—गान्धारी ! तुम्हारा दुर्बुद्धि, दुरात्मा, ईर्ष्यालु और अभिमानी पुत्र श्रेष्ठ पुरुषोंकी आज्ञाका उल्लङ्घन करके नरककी ओर जा रहा है ॥ ८ ॥

गान्धार्युवाच

ऐश्वर्यकाम दुष्टात्मन् वृद्धानां शासनातिग ।
ऐश्वर्यजीविते हित्वा पितरं मां च बालिश ॥ ९ ॥
वर्धयन् दुर्हृदां प्रीतिं मां च शोकेन वर्धयन् ।
निहतो भीमसेनेन स्मर्तासि वचनं पितुः ॥ १० ॥

गान्धारी बोली—दुष्टात्मा दुर्योधन ! तू ऐश्वर्यकी इच्छा रखकर अपने बड़े-बूढ़ोंकी आज्ञाका उल्लङ्घन करता है ! अरे मूर्ख ! इस ऐश्वर्य, जीवन, पिता और मुझ माताको भी त्यागकर शत्रुओंकी प्रसन्नता और मेरा शोक बढ़ाता हुआ जब तू भीमसेनके हाथों मारा जायगा, उस समय तुझे पिताकी बातें याद आयेंगी ॥ ९ १० ॥

व्यास उवाच

प्रियोऽसि राजन् कृष्णस्य धृतराष्ट्र निबोध मे ।
यस्य ते संजयो दूतो यस्त्वां श्रेयसि योक्ष्यते ॥ ११ ॥

तदनन्तर व्यासजीने कहा—राजा धृतराष्ट्र ! मेरी बातोंपर ध्यान दो। वास्तवमें तुम श्रीकृष्णके प्रिय हो, तभी तो तुम्हें संजय-जैसा दूत मिला है, जो तुम्हें कल्याण-साधनमें लगायेगा ॥ ११ ॥

जानात्येष हृषीकेशं पुराणं यच्च वै परम् ।
शुश्रूषमाणमेकाग्रं मोक्ष्यते महतो भयात् ॥ १२ ॥

यह संजय पुराणपुरुष भगवान् श्रीकृष्णको जानता है और उनका जो परमतत्त्व है, वह भी इसे ज्ञात है। यदि तुम एकाग्रचित्त होकर इसकी बातें सुनोगे तो यह तुम्हें महान् भयसे मुक्त कर देगा ॥ १२ ॥

वैचित्रवीर्य पुरुषाः क्रोधहर्षसमावृताः ।
सिता बहुविधैः पाशैर्ये न तुष्टाः स्वकैर्धनैः ॥ १३ ॥
यमस्य वशमायान्ति काममूढाः पुनः पुनः ।
अन्धनेत्रा यथैवान्धा नीयमानाः स्वकर्मभिः ॥ १४ ॥

विचित्रवीर्यकुमार ! जो मनुष्य अपने धनसे संतुष्ट नहीं हैं और काम आदि विविध प्रकारके बन्धनोंसे बँधकर हर्ष

और क्रोधके वशीभूत हो रहे हैं, वे काममोहित पुरुष अंधोंके नेतृत्वमें चलनेवाले अंधोंकी भाँति अपने कर्मोंद्वारा प्रेरित होकर बारंबार यमराजके वशमें आते हैं ॥ १३-१४ ॥

एष एकायनः पन्था येन यान्ति मनीषिणः।
तं दृष्ट्वा मृत्युमत्येति महांस्तत्र न सज्जति ॥ १५ ॥

यह ज्ञानमार्ग एकमात्र परमात्माकी प्राप्ति करानेवाला है। जिसपर मनीषी (ज्ञानी) पुरुष चलते हैं; उस मार्गको देख या जान लेनेपर मनुष्य जन्म-मृत्युरूप संसारको लाँघ जाता है और वह महात्मा पुरुष कभी इस संसारमें आसक्त नहीं होता है ॥ १५ ॥

धृतराष्ट्र उवाच

अङ्ग संजय मे शंस पन्थानमकुतोभयम्।
येन गत्वा हृषीकेशं प्राप्नुयां सिद्धिमुत्तमाम् ॥ १६ ॥

धृतराष्ट्र बोले—वत्स संजय ! तुम मुझे वह निर्भय मार्ग बताओ, जिससे चलकर मैं सम्पूर्ण इन्द्रियोंके स्वामी परम मोक्षस्वरूप भगवान् श्रीकृष्णको प्राप्त कर सकूँ ॥ १६ ॥

संजय उवाच

नाकृतात्मा कृतात्मानं जातु विद्याज्जनार्दनम्।
आत्मनस्तु क्रियोपायो नान्यत्रेन्द्रियनिग्रहात् ॥ १७ ॥

संजयने कहा—महाराज ! जिसने अपने मनको वशमें नहीं किया है, वह कभी नित्यसिद्ध परमात्मा भगवान् श्रीकृष्णको नहीं पा सकता। अपनी सम्पूर्ण इन्द्रियोंको वशमें किये बिना दूसरा कोई कर्म उन परमात्माकी प्राप्तिका उपाय नहीं हो सकता ॥ १७ ॥

इन्द्रियाणामुदीर्णानां कामत्यागोऽप्रमादतः।
अप्रमादोऽविहिंसा च ज्ञानयोनिरसंशयम् ॥ १८ ॥

विषयोंकी ओर दौड़नेवाली इन्द्रियोंकी भोगकामनाओंका पूर्ण सावधानीके साथ त्याग कर देना, प्रमादसे दूर रहना तथा किसी भी प्राणीकी हिंसा न करना—ये तीन निश्चय ही तत्त्वज्ञानकी उत्पत्तिमें कारण हैं ॥ १८ ॥

इन्द्रियाणां यमे यत्तो भव राजन्नतन्द्रितः।
बुद्धिश्च ते मा च्यवतु नियच्छैनां यतस्ततः ॥ १९ ॥

राजन् ! आप आलस्य छोड़कर इन्द्रियोंके संयममें तत्पर हो जाइये और अपनी बुद्धिको जैसे भी सम्भव हो, नियन्त्रणमें रखिये, जिससे वह अपने लक्ष्यसे भ्रष्ट न हो ॥ १९ ॥

एतज्ज्ञानं विदुर्विप्रा ध्रुवमिन्द्रियधारणम्।
एतज्ज्ञानं च पन्थाश्च येन यान्ति मनीषिणः ॥ २० ॥

इन्द्रियोंको दृढ़तापूर्वक संयममें रखना चाहिये। विद्वान् ब्राह्मण इसीको ज्ञान मानते हैं। यह ज्ञान ही वह मार्ग है, जिससे मनीषी पुरुष चलते हैं ॥ २० ॥

अप्राप्यः केशवो राजन्निन्द्रियैरजितैर्नृभिः।
आगमाधिगमाद् योगाद् वशी तत्त्वे प्रसीदति ॥ २१ ॥

राजन् ! मनुष्य अपनी इन्द्रियोंपर विजय प्राप्त किये बिना भगवान् श्रीकृष्णको नहीं पा सकते। जिसने शास्त्रज्ञान और योगके प्रभावसे अपने मन और इन्द्रियोंको वशमें कर रक्खा है, वही तत्त्वज्ञान पाकर प्रसन्न होता है ॥ २१ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि यानसंधिपर्वणि संजयवाक्ये एकोनसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ६९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत यानसंधिपर्वमें संजयवाक्यविषयक उनहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ६९ ॥

सप्ततितमोऽध्यायः

भगवान् श्रीकृष्णके विभिन्न नामोंकी व्युत्पत्तियोंका कथन

धृतराष्ट्र उवाच

भूयो मे पुण्डरीकाक्षं संजयाचक्ष्व पृच्छतः।
नामकर्मार्थवित् तात प्राप्नुयां पुरुषोत्तमम् ॥ १ ॥

धृतराष्ट्र बोले—संजय ! तुम भगवान् श्रीकृष्णके नाम और कर्मोंका अभिप्राय जानते हो, अतः मेरे प्रश्नके अनुसार एक बार पुनः कमलनयन भगवान् श्रीकृष्णका वर्णन करो ॥ १ ॥

संजय उवाच

श्रुतं मे वासुदेवस्य नामनिर्वचनं शुभम्।
यावत् तत्राभिजानेऽहमप्रमेयो हि केशवः ॥ २ ॥

संजयने कहा—राजन् ! मैंने वसुदेवनन्दन श्रीकृष्णके नामोंकी मङ्गलमयी व्युत्पत्ति सुन रक्खी है, उसमें जितना मुझे स्मरण है, उतना बता रहा हूँ। वास्तवमें तो भगवान् श्रीकृष्ण समस्त प्राणियोंकी पहुँचसे परे हैं ॥ २ ॥

वसनात् सर्वभूतानां वसुत्वाद् देवयोनितः।
वासुदेवस्ततो वेद्यो बृहत्वाद् विष्णुरुच्यते ॥ ३ ॥

भगवान् समस्त प्राणियोंके निवासस्थान हैं तथा वे सब भूतोंमें वास करते हैं, इसलिये 'वसु' हैं एवं देवताओंकी उत्पत्तिके स्थान होनेसे और समस्त देवता उनमें वास करते हैं, इसलिये उन्हें 'देव' कहा जाता है। अतएव उनका नाम 'वासुदेव' है, ऐसा जानना चाहिये। बृहत् अर्थात् व्यापक होनेके कारण वे ही 'विष्णु' कहलाते हैं ॥ ३ ॥

मौनाद् ध्यानाच्च योगाच्च विद्धि भारत माधवम्।

सर्वतत्त्वमयत्वाच्च मधुहा मधुसूदनः ॥ ४ ॥

भारत ! मौन, ध्यान और योगसे उनका बोध अथवा साक्षात्कार होता है; इसलिये आप उन्हें 'माधव' समझें ! मधु शब्दसे प्रतिपादित पृथ्वी आदि सम्पूर्ण तत्त्वोंके उपादान एवं अधिष्ठान होनेके कारण मधुसूदन श्रीकृष्णको 'मधुहा' कहा गया है ॥ ४ ॥

कृषिर्भूवाचकः शब्दो णश्च निर्वृतिवाचकः।
विष्णुस्तद्भावयोगाच्च कृष्णो भवति सात्वतः॥ ५ ॥

'कृष्' धातु सत्ता अर्थका वाचक है और 'ण' शब्द आनन्द अर्थका बोध कराता है, इन दोनों भावोंसे युक्त होनेके कारण यदुकुलमें अवतीर्ण हुए नित्य आनन्दस्वरूप श्रीविष्णु 'कृष्ण' कहलाते हैं ॥ ५ ॥

पुण्डरीकं परं धाम नित्यमक्षयमव्ययम्।
तद्भावात् पुण्डरीकाक्षो दस्युत्रासाज्जनार्दनः ॥ ६ ॥

नित्य, अक्षय, अविनाशी एवं परम भगवद्धामका नाम पुण्डरीक है। उसमें स्थित होकर जो अक्षतभावसे विराजते हैं, वे भगवान् 'पुण्डरीकाक्ष' कहलाते हैं। (अथवा पुण्डरीक—कमलके समान उनके अक्षि—नेत्र हैं, इसलिये उनका नाम पुण्डरीकाक्ष है)। दस्युजनोंको त्रास (अर्दन या पीडा) देनेके कारण उनको 'जनार्दन' कहते हैं॥ ६ ॥

यतः सत्त्वान्न च्यवते यच्च सत्त्वान्न हीयते ।
सत्त्वतः सात्वतस्तस्मादार्षभाद् वृषभेक्षणः ॥ ७ ॥

वे सत्यसे कभी च्युत नहीं होते और न सत्त्वसे अलग ही होते हैं, इसलिये सद्भावके सम्बन्धसे उनका नाम 'सात्वत' है। आर्ष कहते हैं वेदको, उससे भासित होनेके कारण भगवान्‌का एक नाम 'आर्षभ' है । आर्षभके योगसे ही वे 'वृषभेक्षण' कहलाते हैं (वृषभका अर्थ है वेद, वही ईक्षण—नेत्रके समान उनका ज्ञापक है; इस व्युत्पत्तिके अनुसार वृषभेक्षण नामकी सिद्धि होती है) ॥ ७ ॥

न जायते जनित्रायमजस्तस्मादनीकजित्।
देवानां स्वप्रकाशत्वाद् दमाद् दामोदरो विभुः॥ ८ ॥

शत्रुसेनाओंपर विजय पानेवाले ये भगवान् श्रीकृष्ण किसी जन्मदाताके द्वारा जन्म ग्रहण नहीं करते हैं, इसलिये 'अज' कहलाते हैं। देवता स्वयंप्रकाशरूप होते हैं, अतः उत्कृष्ट रूपसे प्रकाशित होनेके कारण भगवान् श्रीकृष्णको 'उदर' कहा गया है और दम (इन्द्रियसंयम) नामक गुणसे सम्पन्न होनेके कारण उनका नाम'दाम' है। इस प्रकार दाम और उदर इन दोनों शब्दोंके संयोगसे वे 'दामोदर' कहलाते हैं ॥८॥

हर्षात् सुखात् सुखैश्वर्याद्धृषीकेशत्वमश्नुते ।
बाहुभ्यां रोदसी बिभ्रन्महाबाहुरिति स्मृतः ॥ ९ ॥

वे हर्ष अर्थात् सुखसे युक्त होनेके कारण हृषीक हैं और सुख-ऐश्वर्यसे सम्पन्न होनेके कारण 'ईश' कहे गये हैं। इस प्रकार वे भगवान् 'हृषीकेश' नाम धारण करते हैं। अपनी दोनों बाहुओंद्वारा भगवान् इस पृथ्वी और आकाशको धारण करते हैं, इसलिये उनका नाम 'महाबाहु' है ॥ ९ ॥

अधो न क्षीयते जातु यस्मात् तस्मादधोक्षजः।
नराणामयनाच्चापि ततो नारायणः स्मृतः ॥ १० ॥

श्रीकृष्ण कभी नीचे गिरकर क्षीण नहीं होते, अतः ('अधो न क्षीयते जातु' इस व्युत्पत्तिके अनुसार) 'अधोक्षज' कहलाते हैं। वे नरों (जीवात्माओं) के अयन (आश्रय) हैं, इसलिये उन्हें 'नारायण' भी कहते हैं॥ १० ॥

पूरणात् सदनाच्चापि ततोऽसौ पुरुषोत्तमः।
असतश्च सतश्चैव सर्वस्य प्रभवाप्ययात् ॥ ११ ॥
सर्वस्य च सदा ज्ञानात् सर्वमेतं प्रचक्षते ।

वे सर्वत्र परिपूर्ण हैं तथा सबके निवासस्थान हैं, इसलिये 'पुरुष' हैं और सब पुरुषोंमें उत्तम होनेके कारण उनकी 'पुरुषोत्तम' संज्ञा है। वे सत् और असत् सबकी उत्पत्ति और लयके स्थान हैं तथा सर्वदा उन सबका ज्ञान रखते हैं; इसलिये उन्हें 'सर्व' कहते हैं ॥ ११½ ॥

सत्ये प्रतिष्ठितः कृष्णः सत्यमत्र प्रतिष्ठितम् ॥ १२ ॥
सत्यात् सत्यं तु गोविन्दस्तस्मात् सत्योऽपि नामतः।

श्रीकृष्ण सत्यमें प्रतिष्ठित हैं और सत्य उनमें प्रतिष्ठित है। वे भगवान् गोविन्द सत्यसे भी उत्कृष्ट सत्य हैं। अतः उनका एक नाम 'सत्य' भी है ॥ १२½ ॥

विष्णुर्विक्रमणाद् देवो जयनाज्जिष्णुरुच्यते ॥ १३ ॥
शाश्वतत्वादनन्तश्च गोविन्दो वेदनाद् गवाम्।

विक्रमण (वामनावतारमें तीनों लोकोंको आक्रान्त) करनेके कारण वे भगवान् 'विष्णु' कहलाते हैं। वे सबपर विजय पानेसे 'जिष्णु', शाश्वत (नित्य) होनेसे 'अनन्त' तथा गौओं (इन्द्रियों) के ज्ञाता और प्रकाशक होनेके कारण (गां विन्दति) इस व्युत्पत्तिके अनुसार 'गोविन्द' कहलाते हैं ॥ १३½ ॥

अतत्त्वं कुरुते तत्त्वं तेन मोहयते प्रजाः ॥ १४ ॥

वे अपनी सत्ता-स्फूर्ति देकर असत्यको भी सत्य-सा कर देते हैं और इस प्रकार सारी प्रजाको मोहमें डाल देते हैं॥१४॥

एवंविधो धर्मनित्यो भगवान् मधुसूदनः।
आगन्ता हि महाबाहुरानृशंस्यार्थमच्युतः ॥ १५ ॥

निरन्तर धर्ममें तत्पर रहनेवाले उन भगवान् मधुसूदनका स्वरूप ऐसा ही है। अपनी मर्यादासे कभी च्युत न होनेवाले महाबाहु श्रीकृष्ण कौरवोंपर कृपा करनेके लिये यहाँ पधारनेवाले हैं ॥ १५ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि यानसंधिपर्वणि संजयवाक्ये सप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत यानसंधिपर्वमें संजयवाक्यविषयक सत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ७० ॥

एकसप्ततितमोऽध्यायः

धृतराष्ट्रके द्वारा भगवद्गुणगान

धृतराष्ट्र उवाच

चक्षुष्मतां वै स्पृहयामि संजय
द्रक्ष्यन्ति ये वासुदेवं समीपे।
विभ्राजमानं वपुषा परेण
प्रकाशयन्तं प्रदिशो दिशश्च ॥ १ ॥

धृतराष्ट्र बोले—संजय! जो लोग परम उत्तम श्रीअङ्गोंसे सुशोभित तथा दिशा-विदिशाओंको प्रकाशित करते हुए वसुदेवनन्दन भगवान् श्रीकृष्णका निकटसे दर्शन करेंगे, उन सफल नेत्रोंवाले मनुष्योंके सौभाग्यको पानेकी मैं भी अभिलाषा रखता हूँ ॥ १ ॥

ईरयन्तं भारतीं भारताना-
मभ्यर्चनीयां शङ्करीं सृंजयानाम्।
बुभूषद्भिर्ग्रहणीयामनिन्द्यां
परासूनामग्रहणीयरूपाम् ॥ २ ॥

भगवान् अत्यन्त मनोहर वाणीमें जो प्रवचन करेंगे, वह भरतवंशियों तथा सृंजयोंके लिये कल्याणकारी तथा आदरणीय होगा। ऐश्वर्यकी इच्छा रखनेवाले पुरुषोंके लिये भगवान्‌की वह वाणी अनिन्द्य और शिरोधार्य होगी; परंतु जो मृत्युके निकट पहुँच चुके हैं, उन्हें वह अग्राह्य प्रतीत होगी ॥ २ ॥

समुद्यन्तं सात्वतमेकवीरं
प्रणेतारमृषभं यादवानाम्।
निहन्तारं क्षोभणं शात्रवाणां
मुष्णन्तं च द्विषतां वै यशांसि ॥ ३ ॥

संसारके अद्वितीय वीर, सात्वतकुलके श्रेष्ठ पुरुष, यदुवंशियोंके माननीय नेता, शत्रुपक्षके योद्धाओंको क्षुब्ध करके उनका संहार करनेवाले तथा वैरियोंके यशको बलपूर्वक छीन लेनेवाले वे भगवान् श्रीकृष्ण यहाँ उदित होंगे (और नेत्रवाले लोग उनका दर्शन करके धन्य हो जायँगे) ॥ ३ ॥

द्रष्टारो हि कुरवस्तं समेता
महात्मानं शत्रुहणं वरेण्यम्।
ब्रुवन्तं वाचमनृशंसरूपां
वृष्णिश्रेष्ठं मोहयन्तं मदीयान् ॥ ४ ॥

महात्मा, शत्रुहन्ता तथा सबके वरण करनेयोग्य वे वृष्णिकुलभूषण श्रीकृष्ण यहाँ आकर कृपापूर्ण कोमल वाक्य बोलेंगे और हमारे पक्षवर्ती राजाओंको मोहित करेंगे; इस अवस्थामें समस्त कौरव उन्हें देखेंगे ॥ ४ ॥

ऋषिं सनातनतमं विपश्चितं
वाचः समुद्रं कलशं यतीनाम्।
अरिष्टनेमिं गरुडं सुपर्णं
हरिं प्रजानां भुवनस्य धाम ॥ ५ ॥
सहस्रशीर्षं पुरुषं पुराण-
मनादिमध्यान्तमनन्तकीर्तिम्।
शुक्रस्य धातारमजं च नित्यं
परं परेषां शरणं प्रपद्ये ॥ ६ ॥

जो अत्यन्त सनातन ऋषि, ज्ञानी, वाणीके समुद्र और प्रयत्नशील साधकोंको कलशके जलकी भाँति सुलभ होनेवाले हैं, जिनके चरण समस्त विघ्नोंका निवारण करनेवाले हैं, सुन्दर पङ्खोंसे युक्त गरुड़ जिनके स्वरूप हैं, जो प्रजाजनोंके पाप-ताप हर लेनेवाले तथा जगत्‌के आश्रय हैं, जिनके सहस्रों मस्तक हैं, जो पुराणपुरुष हैं, जिनका आदि, मध्य और अन्त नहीं है, जो अक्षय कीर्तिसे सुशोभित, बीज एवं वीर्यको धारण करनेवाले, अजन्मा, नित्य तथा परात्पर परमेश्वर हैं, उन भगवान् श्रीकृष्णकी मैं शरण लेता हूँ ॥ ५-६ ॥

त्रैलोक्यनिर्माणकरं जनित्रं
देवासुराणामथ नागरक्षसाम्।
नराधिपानां विदुषां प्रधान-
मिन्द्रानुजं तं शरणं प्रपद्ये ॥ ७ ॥

जो तीनों लोकोंका निर्माण करनेवाले हैं, जिन्होंने देवताओं, असुरों, नागों तथा राक्षसोंको भी जन्म दिया है तथा जो ज्ञानी नरेशोंके प्रधान हैं, इन्द्रके छोटे भाई वामनस्वरूप उन भगवान् श्रीकृष्णकी मैं शरण ग्रहण करता हूँ ॥ ७ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि यानसंधिपर्वणि धृतराष्ट्रवाक्ये एकसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत यानसंधिपर्वमें धृतराष्ट्रवाक्यविषयक इकहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ७१ ॥

(भगवद्यानपर्व)

द्विसप्ततितमोऽध्यायः

युधिष्ठिरका श्रीकृष्णसे अपना अभिप्राय निवेदन करना, श्रीकृष्णका शान्तिदूत बनकर कौरव-सभामें जानेके लिये उद्यत होना और इस विषयमें उन दोनोंका वार्तालाप

वैशम्पायन उवाच

संजये प्रतियाते तु धर्मराजो युधिष्ठिरः।
(अर्जुनं भीमसेनं च माद्रीपुत्रौ च भारत।
विराटद्रुपदौ चैव केकयानां महारथान् ॥
अब्रवीदुपसङ्गम्य शङ्खचक्रगदाधरम् ॥
अभियाचामहे गत्वा प्रयातुं कुरुसंसदम्।

वैशम्पायनजी कहते हैं—भारत ! इधर संजयके चले जानेपर धर्मराज युधिष्ठिरने भीमसेन, अर्जुन, माद्रीकुमार नकुल-सहदेव, विराट, द्रुपद तथा केकयदेशीय महारथियोंके पास जाकर कहा—'हमलोग शङ्ख, चक्र और गदा धारण करनेवाले भगवान् श्रीकृष्णके पास चलकर उनसे कौरव-सभामें जानेके लिये प्रार्थना करें ॥

यथा भीष्मेण द्रोणेन बाह्लीकेन च धीमता ॥
अन्यैश्च कुरुभिः सार्धं न युध्येमहि संयुगे।

'वे वहाँ जाकर ऐसा प्रयत्न करें, जिससे हमें भीष्म, द्रोण, बुद्धिमान् बाह्लीक तथा अन्य कुरुवंशियोंके साथ रणक्षेत्रमें युद्ध न करना पड़े ॥

एष नः प्रथमः कल्प एतन्नः श्रेय उत्तमम् ॥
एवमुक्ताः सुमनसस्तेऽभिजग्मुर्जनार्दनम्।

'यही हमारा पहला ध्येय है और यही हमारे लिये परम कल्याणकी बात है।' राजा युधिष्ठिरके ऐसा कहनेपर वे सब लोग प्रसन्नचित्त होकर भगवान् श्रीकृष्णके समीप गये ॥

पाण्डवैः सह राजानो मरुत्वन्तमिवामराः ॥
तदा च दुःसहाः सर्वे सदस्यास्ते नरर्षभाः।

उस समय शत्रुओंके लिये दुःसह प्रतीत होनेवाले वे सभी नरश्रेष्ठ सभासद् भूपालगण पाण्डवोंके साथ श्रीकृष्णके निकट उसी प्रकार गये, जैसे देवता इन्द्रके पास जाते हैं ॥

जनार्दनं समासाद्य कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ॥)
अभ्यभाषत दाशार्हमृषभं सर्वसात्वताम् ॥ १ ॥

समस्त यदुवंशियोंमें श्रेष्ठ दशार्हकुलनन्दन जनार्दन श्रीकृष्णके पास पहुँचकर कुन्तीपुत्र राजा युधिष्ठिरने इस प्रकार कहा—॥ १ ॥



अयं स कालः सम्प्राप्तो मित्राणां मित्रवत्सल।
न च त्वदन्यं पश्यामि यो न आपत्सु तारयेत् ॥ २ ॥

'मित्रवत्सल श्रीकृष्ण ! मित्रोंकी सहायताके लिये यही उपयुक्त अवसर आया है। मैं आपके सिवा दूसरे किसीको ऐसा नहीं देखता, जो इस विपत्तिसे हमलोगोंका उद्धार करे ॥ २ ॥

त्वां हि माधवमाश्रित्य निर्भया मोघदर्पितम्।
धार्तराष्ट्रं सहामात्यं स्वयं समनुयुङ्क्ष्महे ॥ ३ ॥

'आप माधवकी शरणमें आकर हम सब लोग निर्भय हो गये हैं और व्यर्थ ही घमंड दिखानेवाले धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधन तथा उसके मन्त्रियोंको हम स्वयं युद्धके लिये ललकार रहे हैं ॥ ३ ॥

यथा हि सर्वास्वापत्सु पासि वृष्णीनरिंदम।
तथा ते पाण्डवा रक्ष्याः पाह्यस्मान् महतो भयात् ॥ ४ ॥

'शत्रुदमन ! जैसे आप वृष्णिवंशियोंकी सब प्रकारकी आपत्तियोंसे रक्षा करते हैं, उसी प्रकार आपको पाण्डवोंकी भी रक्षा करनी चाहिये। प्रभो ! इस महान् भयसे आप हमारी रक्षा कीजिये' ॥ ४ ॥

श्रीभगवानुवाच

अयमस्मि महाबाहो ब्रूहि यत् ते विवक्षितम् ।
करिष्यामि हि तत् सर्वं यत् त्वं वक्ष्यसि भारत ॥ ५ ॥

श्रीभगवान् बोले—महाबाहो ! यह मैं आपकी सेवाके लिये सर्वदा प्रस्तुत हूँ । आप जो कुछ कहना चाहते हों, कहें । भारत ! आप जो-जो कहेंगे, वह सब कार्य मैं निश्चय ही पूर्ण करूँगा ॥ ५ ॥

युधिष्ठिर उवाच

श्रुतं ते धृतराष्ट्रस्य सपुत्रस्य चिकीर्षितम् ।
एतद्धि सकलं कृष्ण संजयो मां यदब्रवीत् ॥ ६ ॥
तन्मतं धृतराष्ट्रस्य सोऽस्यात्मा विवृतान्तरः ।
यथोक्तं दूत आचष्टे वध्यः स्यादन्यथा ब्रुवन् ॥ ७ ॥

युधिष्ठिरने कहा—श्रीकृष्ण ! पुत्रोंसहित राजा धृतराष्ट्र क्या करना चाहते हैं, यह सब तो आपने सुन ही लिया । संजयने मुझसे जो कुछ कहा है, वह धृतराष्ट्रका ही मत है । संजय धृतराष्ट्रका अभिन्नस्वरूप होकर आया था । उसने उन्हींके मनोभावको प्रकाशित किया है । दूत संजय स्वामीकी कही हुई बातको ही दुहराया है; क्योंकि यदि वह उसके विपरीत कुछ कहता तो वधके योग्य माना जाता ॥ ६-७ ॥

अप्रदानेन राज्यस्य शान्तिमस्मासु मार्गति ।
लुब्धः पापेन मनसा चरन्नसममात्मनः ॥ ८ ॥

राजा धृतराष्ट्रको राज्यका बड़ा लोभ है । उनके मनमें पाप बस गया है । अतः वे अपने अनुरूप व्यवहार न करके राज्य दिये बिना ही हमारे साथ संधिका मार्ग ढूँढ़ रहे हैं ॥ ८ ॥

यत् तद् द्वादश वर्षाणि वनेषु ह्युषिता वयम् ।
छद्मना शरदं चैकां धृतराष्ट्रस्य शासनात् ॥ ९ ॥
स्थाता नः समये तस्मिन् धृतराष्ट्र इति प्रभो ।
नाहास्म समयं कृष्ण तद्धि नो ब्राह्मणा विदुः ॥ १० ॥

प्रभो ! हम तो यही समझकर कि धृतराष्ट्र अपनी प्रतिज्ञापर स्थिर रहेंगे, उन्हींकी आज्ञासे बारह वर्ष वनमें रहे और एक वर्ष अज्ञातवास किया । श्रीकृष्ण ! हमने अपनी प्रतिज्ञा भंग नहीं की है; इस बातको हमारे साथ रहनेवाले सभी ब्राह्मण जानते हैं ॥ ९-१० ॥

गृद्धो राजा धृतराष्ट्रः स्वधर्मं नानुपश्यति ।
वश्यत्वात् पुत्रगृद्धित्वान्मन्दस्यान्वेति शासनम् ॥ ११ ॥

परंतु राजा धृतराष्ट्र तो लोभमें डूबे हुए हैं । वे अपने धर्मकी ओर नहीं देखते हैं । पुत्रोंमें आसक्त होकर सदा उन्हींके अधीन रहनेके कारण वे अपने मूर्ख पुत्र दुर्योधनकी ही आज्ञाका अनुसरण करते हैं ॥ ११ ॥

सुयोधनमते तिष्ठन् राजास्मासु जनार्दन ।
मिथ्या चरति लुब्धः सन् चरन् हि प्रियमात्मनः ॥ १२ ॥

जनार्दन ! उनका लोभ इतना बढ़ गया है कि वे दुर्योधनकी ही हाँ-में-हाँ मिलाते हैं और अपना ही प्रिय कार्य करते हुए हमारे साथ मिथ्या व्यवहार कर रहे हैं ॥ १२ ॥

इतो दुःखतरं किं नु यदहं मातरं ततः ।
संविधातुं न शक्नोमि मित्राणां वा जनार्दन ॥ १३ ॥

जनार्दन ! इससे बढ़कर महान् दुःखकी बात और क्या हो सकती है कि मैं अपनी माता तथा मित्रोंका भी अच्छी तरह भरण-पोषणतक नहीं कर सकता ॥ १३ ॥

काशिभिश्चेदिपञ्चालैर्मत्स्यैश्च मधुसूदन ।
भवता चैव नाथेन पञ्च ग्रामा वृता मया ॥ १४ ॥

मधुसूदन ! यद्यपि काशी, चेदि, पाञ्चाल और मत्स्यदेशके वीर हमारे सहायक हैं और आप हमलोगोंके रक्षक और स्वामी हैं; (आपलोगोंकी सहायतासे हम सारा राज्य ले सकते हैं) तथापि मैंने केवल पाँच ही गाँव माँगे थे ॥ १४ ॥

अविस्थलं वृकस्थलं माकन्दी वारणावतम् ।
अवसानं च गोविन्द कञ्चिदेवात्र पञ्चमम् ॥ १५ ॥
पञ्च नस्तात दीयन्तां ग्रामा वा नगराणि वा ।
वसेम सहिता येषु मा च नो भरता नशन् ॥ १६ ॥

गोविन्द ! मैंने धृतराष्ट्रसे यही कहा था कि तात ! आप हमें अविस्थल, वृकस्थल, माकन्दी, वारणावत और अन्तिम पाँचवाँ कोई-सा भी गाँव जिसे आप देना चाहें, दे दें । इस प्रकार हमारे लिये पाँच गाँव या नगर दे दें; जिनमें हम पाँचों भाई एक साथ मिलकर रह सकें और हमारे कारण भरतवंशियोंका नाश न हो ॥ १५-१६ ॥

न च तानपि दुष्टात्मा धार्तराष्ट्रोऽनुमन्यते ।
स्वाम्यमात्मनि मत्वासावतो दुःखतरं नु किम् ॥ १७ ॥

परंतु दुष्टात्मा दुर्योधन सबपर अपना ही अधिकार मानकर उन पाँच गाँवोंको भी देनेकी बात नहीं स्वीकार कर रहा है । इससे बढ़कर कष्टकी बात और क्या हो सकती है ? ॥ १७ ॥

कुले जातस्य वृद्धस्य परवित्तेषु गृद्ध्यतः ।
लोभः प्रज्ञानमाहन्ति प्रज्ञा हन्ति हता ह्रियम् ॥ १८ ॥

मनुष्य उत्तम कुलमें जन्म लेकर और वृद्ध होनेपर भी यदि दूसरोंके धनको लेना चाहता है तो वह लोभ उसकी विचारशक्तिको नष्ट कर देता है । विचारशक्ति नष्ट होनेपर उसकी लज्जाको भी नष्ट कर देती है ॥ १८ ॥

ह्रीर्हता बाधते धर्मं धर्मो हन्ति हतः श्रियम् ।
श्रीर्हता पुरुषं हन्ति पुरुषस्याधनं वधः ॥ १९ ॥

नष्ट हुई लज्जा धर्मको नष्ट कर देती है। नष्ट हुआ धर्म मनुष्यकी सम्पत्तिका नाश कर देता है और नष्ट हुई सम्पत्ति उस मनुष्यका विनाश कर देती है, क्योंकि धनका अभाव ही मनुष्यका वध है ॥ १९ ॥

अधनाद्धि निवर्तन्ते ज्ञातयः सुहृदो द्विजाः ।
अपुष्पादफलाद् वृक्षाद् यथा कृष्ण पतत्रिणः॥ २० ॥

श्रीकृष्ण! धनहीन पुरुषसे उसके भाई-बन्धु, सुहृद् और ब्राह्मणलोग भी उसी प्रकार मुँह मोड़ लेते हैं, जैसे पक्षी पुष्प और फलसे हीन वृक्षको छोड़कर उड़ जाते हैं ॥ २० ॥

एतच्च मरणं तात यन्मत्तः पतितादिव ।
ज्ञातयो विनिवर्तन्ते प्रेतसत्त्वादिवासवः ॥ २१ ॥

तात! जैसे पतित मनुष्यके निकटसे लोग दूर भागते हैं और जैसे मृत शरीरसे प्राण निकल जाते हैं, उसी प्रकार मेरे कुटुम्बीजन भी जो मुझसे मुँह मोड़ रहे हैं, यही मेरे लिये मरण है ॥ २१ ॥

नातः पापीयसीं काञ्चिदवस्थां शम्बरोऽब्रवीत्।
यत्र नैवाद्य न प्रातर्भोजनं प्रतिदृश्यते ॥ २२ ॥

जहाँ आज और कल सबेरेके लिये भोजन नहीं दिखायी देता, उस दरिद्रतासे बढ़कर दूसरी कोई दुःखदायिनी अवस्था नहीं है; यह शम्बरका कथन है ॥ २२ ॥

धनमाहुः परं धर्मं धने सर्वं प्रतिष्ठितम् ।
जीवन्ति धनिनो लोके मृता ये त्वधना नराः ॥ २३ ॥

धनको उत्तम धर्मका साधक बताया गया है। धनमें सब कुछ प्रतिष्ठित है। संसारमें धनी मनुष्य ही जीवन धारण करते हैं। जो निर्धन हैं, वे तो मरे हुएके ही समान हैं।२३।

ये धनादपकर्षन्ति नरं स्वबलमास्थिताः ।
ते धर्ममर्थं कामं च प्रमथ्नन्ति नरं च तम् ॥ २४ ॥

जो लोग अपने बलमें स्थित होकर किसी मनुष्यको धनसे वञ्चित कर देते हैं, वे उसके धर्म, अर्थ और कामको तो नष्ट करते ही हैं, उस मनुष्यको भी नष्ट कर देते हैं ॥ २४ ॥

एतामवस्थां प्राप्यैके मरणं वव्रिरे जनाः ।
ग्रामायैके वनायैके नाशायैके प्रवव्रजुः ॥ २५ ॥

इस निर्धन अवस्थाको पाकर कितने ही मनुष्योंने मृत्युका वरण किया है। कुछ लोग गाँव छोड़कर दूसरे गाँवमें जा बसे हैं, कितने ही जंगलोंमें चले गये हैं और कितने ही मनुष्य प्राण देनेके लिये घरसे निकल पड़े हैं ॥ २५ ॥

उन्मादमेके पुष्यन्ति यान्त्यन्ये द्विषतां वशम् ।
दास्यमेके च गच्छन्ति परेषामर्थहेतुना ॥ २६ ॥

कितने लोग पागल हो जाते हैं, बहुत-से शत्रुओंके वशमें पड़ जाते हैं और कितने ही मनुष्य धनके लिये दूसरोंकी दासता स्वीकार कर लेते हैं ॥ २६ ॥

आपदेवास्य मरणात् पुरुषस्य गरीयसी ।
श्रियो विनाशस्तद्ध्यस्य निमित्तं धर्मकामयोः ॥ २७ ॥

धन-सम्पत्तिका नाश मनुष्यके लिये भारी विपत्ति ही है। वह मृत्युसे भी बढ़कर है, क्योंकि सम्पत्ति ही मनुष्यके धर्म और कामकी सिद्धिका कारण है ॥ २७ ॥

यदस्य धर्म्यं मरणं शाश्वतं लोकवर्त्म तत्।
समन्तात् सर्वभूतानां न तदत्येति कश्चन ॥ २८ ॥

मनुष्यकी जो धर्मानुकूल मृत्यु है, वह परलोकके लिये सनातन मार्ग है। सम्पूर्ण प्राणियोंमेंसे कोई भी उस मृत्युका सब ओरसे उल्लङ्घन नहीं कर सकता ॥ २८ ॥

न तथा बाध्यते कृष्ण प्रकृत्या निर्धनो जनः ।
यथा भद्रां श्रियं प्राप्य तया हीनः सुखैधितः ॥ २९ ॥

श्रीकृष्ण! जो जन्मसे ही निर्धन रहा है, उसे उस दरिद्रताके कारण उतना कष्ट नहीं पहुँचता, जितना कि कल्याणमयी सम्पत्तिको पाकर सुखमें ही पले हुए पुरुषको उस सम्पत्तिसे वञ्चित होनेपर होता है ॥ २९ ॥

स तदाऽऽत्मापराधेन सम्प्राप्तो व्यसनं महत्।
सेन्द्रान् गर्हयते देवान् नात्मानं च कथञ्चन॥ ३० ॥

यद्यपि वह मनुष्य उस समय अपने ही अपराधसे भारी संकटमें पड़ता है, तथापि वह इसके लिये इन्द्र आदि देवताओंकी ही निन्दा करता है; अपनेको किसी प्रकार भी दोष नहीं देता है ॥ ३० ॥

न चास्य सर्वशास्त्राणि प्रभवन्ति निबर्हणे।
सोऽभिक्रुध्यति भृत्यानां सुहृदश्चाभ्यसूयति ॥ ३१ ॥

उस समय सम्पूर्ण शास्त्र भी उसके इस संकटको टालनेमें समर्थ नहीं होते। वह सेवकोंपर कुपित होता और सगे-सम्बन्धियोंके दोष देखने लगता है ॥ ३१ ॥

तं तदा मन्युरेवैति स भूयः सम्प्रमुह्यति।
स मोहवशमापन्नः क्रूरं कर्म निषेवते ॥ ३२ ॥

निर्धन अवस्थामें मनुष्यको केवल क्रोध आता है, जिससे वह पुनः मोहाच्छन्न हो जाता—विवेकशक्ति खो बैठता है। मोहके वशीभूत होकर वह क्रूरतापूर्ण कर्म करने लगता है ॥ ३२ ॥

पापकर्मतया चैव संकरं तेन पुष्यति ।
संकरो नरकायैव सा काष्ठा पापकर्मणाम् ॥ ३३ ॥

इस प्रकार पापकर्मोंमें प्रवृत्त होनेके कारण वह वर्णसंकर संतानोंका पोषक होता है और वर्णसंकर केवल नरककी ही प्राप्ति कराता है। पापियोंकी यही अन्तिम गति है ॥३३॥

न चेत् प्रबुध्यते कृष्ण नरकायैव गच्छति ।
तस्य प्रबोधः प्रज्ञैव प्रज्ञाचक्षुस्तरिष्यति ॥ ३४ ॥

श्रीकृष्ण ! यदि उसे फिरसे कर्तव्यका बोध नहीं होता, तो वह नरककी दिशामें ही बढ़ता जाता है। कर्तव्यका बोध करानेवाली प्रज्ञा ही है। जिसे प्रज्ञारूपी नेत्र प्राप्त हैं, वह निश्चय ही संकटसे पार हो जायगा ॥ ३४ ॥

प्रज्ञालाभे हि पुरुषः शास्त्राण्येवान्ववेक्षते ।
शास्त्रनिष्ठः पुनर्धर्मं तस्य ह्रीरङ्गमुत्तमम् ॥ ३५ ॥
ह्रीमान् हि पापं प्रद्वेष्टि तस्य श्रीरभिवर्धते ।
श्रीमान् स यावद् भवति तावद् भवति पूरुषः ॥३६॥

प्रज्ञाकी प्राप्ति होनेपर पुरुष केवल शास्त्रवचनोंपर ही दृष्टि रखता है। शास्त्रमें निष्ठा होनेपर वह पुनः धर्म करता है। धर्मका उत्तम अङ्ग है लज्जा, जो धर्मके साथ ही आ जाती है। लज्जाशील मनुष्य पापसे द्वेष रखकर उससे दूर हो जाता है। अतः उसकी धन-सम्पत्ति बढ़ने लगती है। जो जितना ही श्रीसम्पन्न है, वह उतना ही पुरुष माना जाता है ॥ ३५-३६ ॥

धर्मनित्यः प्रशान्तात्मा कार्ययोगवहः सदा ।
नाधर्मे कुरुते बुद्धिं न च पापे प्रवर्तते ॥ ३७ ॥

सदा धर्ममें तत्पर रहनेवाला पुरुष शान्तचित्त होकर नित्य-निरन्तर सत्कर्मोंमें लगा रहता है। वह कभी अधर्ममें मन नहीं लगाता और न पापमें ही प्रवृत्त होता है ॥ ३७ ॥

अह्रीको वा विमूढो वा नैव स्त्री न पुनः पुमान् ।
नास्याधिकारो धर्मेऽस्ति यथा शूद्रस्तथैव सः ॥३८॥

जो निर्लज्ज अथवा मूर्ख है, वह न तो स्त्री है और न पुरुष ही है। उसका धर्म-कर्ममें अधिकार नहीं है। वह शूद्रके समान है ॥ ३८ ॥

ह्रीमानवति देवांश्च पितॄनात्मानमेव च ।
तेनामृतत्वं व्रजति सा काष्ठा पुण्यकर्मणाम् ॥ ३९ ॥

लज्जाशील पुरुष देवताओंकी, पितरोंकी तथा अपनी भी रक्षा करता है। इससे वह अमृतत्वको प्राप्त होता है। वही पुण्यात्मा पुरुषोंकी परम गति है ॥ ३९ ॥

तदिदं मयि ते दृष्टं प्रत्यक्षं मधुसूदन ।
यथा राज्यात् परिभ्रष्टो वसामि वसतीरिमाः ॥ ४०॥

मधुसूदन ! यह सब आपने मुझमें प्रत्यक्ष देखा है कि मैं किस प्रकार राज्यसे भ्रष्ट हुआ और कितने कष्टके साथ इन दिनों रह रहा हूँ ॥ ४० ॥

ते वयं न श्रियं हातुमलं न्यायेन केनचित् ।
अत्र नो यतमानानां वधश्चेदपि साधु तत् ॥ ४१ ॥

अतः हमलोग किसी भी न्यायसे अपनी पैतृक सम्पत्तिका परित्याग करने योग्य नहीं हैं। इसके लिये प्रयत्न करते हुए यदि हमलोगोंका वध हो जाय तो वह भी अच्छा ही है ॥ ४१ ॥

तत्र नः प्रथमः कल्पो यद् वयं ते च माधव ।
प्रशान्ताः समभूताश्च श्रियं तामश्नुवीमहि ॥ ४२ ॥

माधव ! इस विषयमें हमारा पहला ध्येय यही है कि हम और कौरव आपसमें संधि करके शान्तभावसे रहकर उस सम्पत्तिका समानरूपसे उपभोग करें ॥ ४२ ॥

तत्रैषा परमा काष्ठा रौद्रकर्मक्षयोदया ।
यद् वयं कौरवान् हत्वा तानि राष्ट्राण्यवाप्नुमः॥४३ ॥

दूसरा पक्ष यह है कि हम कौरवोंको मारकर सारा राज्य अपने अधिकारमें कर लें; परंतु यह भयंकर क्रूरतापूर्ण कर्मकी पराकाष्ठा होगी (क्योंकि इस दशामें कितने ही निरपराध मनुष्योंका संहार करनेके पश्चात् हमारी विजय होगी)॥ ४३ ॥

ये पुनः स्युरसम्बद्धा अनार्याः कृष्ण शत्रवः ।
तेषामप्यवधः कार्यः किं पुनर्ये स्युरीदृशाः ॥ ४४ ॥

श्रीकृष्ण ! जिनका अपने साथ कोई सम्बन्ध न हो तथा जो सर्वथा नीच एवं शत्रुभाव रखनेवाले हों, उनका भी वध करना उचित नहीं है। फिर जो सगे-सम्बन्धी, श्रेष्ठ और सुहृद् हैं, ऐसे लोगोंका वध कैसे उचित हो सकता है ? ॥

ज्ञातयश्चैव भूयिष्ठाः सहाया गुरवश्च नः ।
तेषां वधोऽतिपापीयान् किं नो युद्धेऽस्ति शोभनम् ॥

हमारे विरोधियोंमें अधिकांश हमारे भाई-बन्धु, सहायक और गुरुजन हैं। उनका वध तो बहुत बड़ा पाप है। युद्धमें अच्छी बात क्या है ! (कुछ नहीं) ॥ ४५ ॥

पापः क्षत्रियधर्मोऽयं वयं च क्षत्रबन्धवः ।
स नः स्वधर्मोऽधर्मो वा वृत्तिरन्या विगर्हिता ॥ ४६ ॥

क्षत्रियोंका यह (युद्धरूप) धर्म पापरूप ही है। हम भी क्षत्रिय ही हैं, अतः वह हमारा स्वधर्म पाप होनेपर भी हमें तो करना ही होगा, क्योंकि उसे छोड़कर दूसरी किसी वृत्तिको अपनाना भी निन्दाकी बात होगी ॥ ४६ ॥

शूद्रः करोति शुश्रूषां वैश्या वै पण्यजीविकाः ।
वयं वधेन जीवामः कपालं ब्राह्मणैर्वृतम् ॥ ४७ ॥

शूद्र सेवाका कार्य करता है, वैश्य व्यापारसे जीविका चलाते हैं, हम क्षत्रिय युद्धमें दूसरोंका वध करके जीवन-निर्वाह करते हैं और ब्राह्मणोंने अपनी जीविकाके लिये भिक्षापात्र चुन लिया है ॥ ४७ ॥

क्षत्रियः क्षत्रियं हन्ति मत्स्यो मत्स्येन जीवति ।
श्वा श्वानं हन्ति दाशार्ह पश्य धर्मो यथागतः॥४८॥

क्षत्रिय क्षत्रियको मारता है, मछली मछलीको खाकर

जीती है और कुत्ता कुत्तेको काटता है। दशार्हनन्दन! देखिये; यही परम्परासे चला आनेवाला धर्म है॥ ४८॥

युद्धे कृष्ण कलिर्नित्यं प्राणाः सीदन्ति संयुगे।
बलं तु नीतिमाधाय युध्ये जयपराजयौ॥ ४९॥

श्रीकृष्ण! युद्धमें सदा कलह ही होता है और उसीके कारण प्राणोंका नाश होता है। मैं तो नीतिबलका ही आश्रय लेकर युद्ध करूँगा। फिर ईश्वरकी इच्छाके अनुसार जय हो या पराजय॥ ४९॥

नात्मच्छन्देन भूतानां जीवितं मरणं तथा।
नाप्यकाले सुखं प्राप्यं दुःखं वापि यदूत्तम॥ ५०॥

प्राणियोंके जीवन और मरण अपनी इच्छाके अनुसार नहीं होते हैं (यही दशा जय और पराजयकी भी है)! यदुश्रेष्ठ! किसीको सुख अथवा दुःखकी प्राप्ति भी असमयमें नहीं होती है॥ ५०॥

एको ह्यपि बहून् हन्ति घ्नन्त्येकं बहवोऽप्युत।
शूरं कापुरुषो हन्ति अयशस्वी यशस्विनम्॥ ५१॥

युद्धमें एक योद्धा भी बहुत-से सैनिकोंका संहार कर डालता है तथा बहुत-से योद्धा मिलकर भी किसी एकको ही मार पाते हैं। कभी कायर शूरवीरको मार देता है और अयशस्वी पुरुष यशस्वी वीरको पराजित कर देता है॥ ५१॥

जयो नैवोभयोर्दृष्टो नोभयोश्च पराजयः।
तथैवापचयो दृष्टो व्यपयाने क्षयव्ययौ॥ ५२॥

न तो कहीं दोनों पक्षोंकी विजय होती देखी गयी है और न दोनोंकी पराजय ही दृष्टिगोचर हुई है। हाँ, दोनोंके धन-वैभवका नाश अवश्य देखा गया है। यदि कोई पक्ष पीठ दिखाकर भाग जाय तो उसे भी धन और जन दोनोंकी हानि उठानी पड़ती है॥ ५२॥

सर्वथा वृजिनं युद्धं को घ्नन् न प्रतिहन्यते।
हतस्य च हृषीकेश समौ जयपराजयौ॥ ५३॥

इससे सिद्ध होता है कि युद्ध सर्वथा पापरूप ही है। दूसरोंको मारनेवाला कौन ऐसा पुरुष है, जो बदलेमें स्वयं भी मारा न जाता हो? हृषीकेश! जो युद्धमें मारा गया, उसके लिये तो विजय और पराजय दोनों समान हैं॥ ५३॥

पराजयश्च मरणान्मन्ये नैव विशिष्यते।
यस्य स्याद् विजयः कृष्ण तस्याप्यपचयो ध्रुवम्॥ ५४॥

श्रीकृष्ण! मैं तो ऐसा मानता हूँ कि पराजय मृत्युसे अच्छी वस्तु नहीं है। जिसकी विजय होती है, उसे भी निश्चय ही धन-जनकी भारी हानि उठानी पड़ती है॥ ५४॥

अन्ततो दयितं घ्नन्ति केचिदप्यपरे जनाः।
तस्याङ्ग बलहीनस्य पुत्रान् भ्रातॄनपश्यतः॥ ५५॥
निर्वेदो जीविते कृष्ण सर्वतश्चोपजायते।

युद्ध समाप्त होनेतक कितने ही विपक्षी सैनिक विजयी योद्धाके अनेक प्रियजनोंको मार डालते हैं। जो विजय पाता है, वह भी(कुटुम्ब और धनसम्बन्धी) बलसे शून्य हो जाता है। और कृष्ण! जब वह युद्धमें मारे गये अपने पुत्रों और भाइयोंको नहीं देखता है, तो वह सब ओरसे विरक्त हो जाता है; उसे अपने जीवनसे भी वैराग्य हो जाता है॥ ५५½॥

ये ह्येव धीरा ह्रीमन्त आर्याः करुणवेदिनः॥ ५६॥
त एव युद्धे हन्यन्ते यवीयान् मुच्यते जनः।
हत्वाप्यनुशयो नित्यं परानपि जनार्दन॥ ५७॥

जो लोग धीर-वीर, लज्जाशील, श्रेष्ठ और दयालु हैं, वे ही प्रायः युद्धमें मारे जाते हैं और अधम श्रेणीके मनुष्य जीवित बच जाते हैं। जनार्दन! शत्रुओंको मारनेपर भी उनके लिये सदा मनमें पश्चात्ताप बना रहता है॥ ५६-५७॥

अनुबन्धश्च पापोऽत्र शेषश्चाप्यवशिष्यते।
शेषो हि बलमासाद्य न शेषमनुशेषयेत्॥ ५८॥
सर्वोच्छेदे च यतते वैरस्यान्तविधित्सया।

भागे हुए शत्रुका पीछा करना अनुबन्ध कहलाता है, यह भी पापपूर्ण कार्य है। मारे जानेवाले शत्रुओंमेंसे कोई-कोई बचा रह जाता है। वह अवशिष्ट शत्रु शक्तिका संचय करके विजेताके पक्षमें जो लोग बचे हैं, उनमेंसे किसीको जीवित नहीं छोड़ना चाहता। वह शत्रुका अन्त कर डालनेकी इच्छासे विरोधी दलको सम्पूर्णरूपसे नष्ट कर देनेका प्रयत्न करता है॥ ५८½॥

जयो वैरं प्रसृजति दुःखमास्ते पराजितः॥ ५९॥
सुखं प्रशान्तः स्वपिति हित्वा जयपराजयौ।

विजयकी प्राप्ति भी चिरस्थायी शत्रुताकी सृष्टि करती है। पराजित पक्ष बड़े दुःखसे समय बिताता है। जो किसीसे शत्रुता न रखकर शान्तिका आश्रय लेता है, वह जय-पराजयकी चिन्ता छोड़कर सुखसे सोता है॥ ५९½॥

जातवैरश्च पुरुषो दुःखं स्वपिति नित्यदा॥ ६०॥
अनिर्वृत्तेन मनसा ससर्प इव वेश्मनि।

किसीसे वैर बाँधनेवाला पुरुष सर्पयुक्त गृहमें रहनेवालेकी भाँति उद्विग्नचित्त होकर सदा दुःखकी नींद सोता है॥

उत्सादयति यः सर्वं यशसा स विमुच्यते॥ ६१॥
अकीर्तिं सर्वभूतेषु शाश्वतीं सोऽधिगच्छति।

जो शत्रुके कुलमें आबालवृद्ध सभी पुरुषोंका उच्छेद कर डालता है, वह वीरोचित यशसे वञ्चित हो जाता है। वह समस्त प्राणियोंमें सदा बनी रहनेवाली अपकीर्ति (निन्दा) का भागी होता है॥ ६१½॥

न हि वैराणि शाम्यन्ति दीर्घकालधृतान्यपि॥ ६२॥
आख्यातारश्च विद्यन्ते पुमांश्चेद् विद्यते कुले।

दीर्घकालतक मनमें दबाये रखनेपर भी वैरकी आग सर्वथा बुझ नहीं पाती; क्योंकि यदि कोई उस कुलमें विद्यमान है, तो उससे पूर्वघटित वैर बढ़ानेवाली घटनाओंको बतानेवाले बहुत-से लोग मिल जाते हैं ॥ ६२½ ॥

न चापि वैरं वैरेण केशव व्युपशाम्यति ॥ ६३ ॥
हविषाग्निर्यथा कृष्ण भूय एवाभिवर्धते ।

केशव ! जैसे घी डालनेपर आग बुझनेके बजाय और अधिक प्रज्वलित हो उठती है, उसी प्रकार वैर करनेसे वैरकी आग शान्त नहीं होती, अधिकाधिक बढ़ती ही जाती है ॥ ६३½ ॥

अतोऽन्यथा नास्ति शान्तिर्नित्यमन्तरमन्ततः ॥ ६४ ॥
अन्तरं लिप्समानानामयं दोषो निरन्तरः ।

(क्योंकि दोनों पक्षोंमें सदा कोई-न-कोई छिद्र मिलनेकी सम्भावना रहती है) इसलिये दोनों पक्षोंमेंसे एकका सर्वथा नाश हुए बिना पूर्णतः शान्ति नहीं प्राप्त होता है । जो लोग छिद्र ढूँढ़ते रहते हैं, उनके सामने यह दोष निरन्तर प्रस्तुत रहता है ॥ ६४½ ॥

पौरुषे यो हि बलवानाधिर्हृदयबाधनः ।
तस्य त्यागेन वा शान्तिर्मरणेनापि वा भवेत् ॥ ६५ ॥

यदि अपनेमें पुरुषार्थ है, तो पूर्व वैरको याद करके जो हृदयको पीड़ा देनेवाली प्रबल चिन्ता सदा बनी रहती है, उसे वैराग्यपूर्वक त्याग देनेसे ही शान्ति मिल सकती है; अथवा मर जानेसे ही उस चिन्ताका निवारण हो सकता है ॥ ६५ ॥

अथवा मूलघातेन द्विषतां मधुसूदन ।
फलनिर्वृत्तिरिद्धा स्यात् तन्नृशंसतरं भवेत् ॥ ६६ ॥

अथवा शत्रुओंको समूल नष्ट कर देनेसे ही अभीष्ट फलकी सिद्धि हो सकती है । परंतु मधुसूदन ! यह बड़ी क्रूरताका कार्य होगा ॥ ६६ ॥

या तु त्यागेन शान्तिः स्यात् तदृते वध एव सः ।
संशयाच्च समुच्छेदाद् द्विषतामात्मनस्तथा ॥ ६७ ॥

राज्यको त्याग देनेसे उसके बिना जो शान्ति मिलती है, वह भी वधके ही समान है । क्योंकि उस दशामें शत्रुओंसे सदा यह संदेह बना रहता है कि ये अवसर देखकर प्रहार करेंगे और धन-सम्पत्तिसे वञ्चित होनेके कारण अपने विनाशकी सम्भावना भी रहती ही है ॥ ६७ ॥

न च त्यक्तुं तदिच्छामो न चेच्छामः कुलक्षयम् ।
अत्र या प्रणिपातेन शान्तिः सैव गरीयसी ॥ ६८ ॥

अतः हमलोग न तो राज्य त्यागना चाहते हैं और न कुलके विनाशकी ही इच्छा रखते हैं । यदि नम्रता दिखानेसे भी शान्ति हो जाय तो वही सबसे बढ़कर है ॥ ६८ ॥

सर्वथा यतमानानामयुद्धमभिकाङ्क्षताम् ।
सान्त्वे प्रतिहते युद्धं प्रसिद्धं नापराक्रमः ॥ ६९ ॥

यद्यपि हम युद्धकी इच्छा न रखकर साम, दान और भेद सभी उपायोंसे राज्यकी प्राप्तिके लिये प्रयत्न कर रहे हैं, तथापि यदि हमारी सामनीति असफल हुई तो युद्ध ही हमारा प्रधान कर्तव्य होगा; हम पराक्रम छोड़कर बैठ नहीं सकते ॥

प्रतिघातेन सान्त्वस्य दारुणं सम्प्रवर्तते ।
तच्छुनामिव सम्पाते पण्डितैरुपलक्षितम् ॥ ७० ॥

जब शान्तिके प्रयत्नोंमें बाधा आती है, तब भयंकर युद्ध स्वतः आरम्भ हो जाता है । पण्डितोंने इस युद्धकी उपमा कुत्तोंके कलहसे दी है ॥ ७० ॥

लाङ्गूलचालनं क्ष्वेडा प्रतिवाचो विवर्तनम् ।
दन्तदर्शनमारावस्ततो युद्धं प्रवर्तते ॥ ७१ ॥

कुत्ते पहले पूँछ हिलाते हैं, फिर गुर्राते और गरजते हैं । तत्पश्चात् एक-दूसरेके निकट पहुँचते हैं । फिर दाँत दिखाना और भूकना आरम्भ करते हैं । तत्पश्चात् उनमें युद्ध होने लगता है ॥ ७१ ॥

तत्र यो बलवान् कृष्ण जित्वा सोऽत्ति तदामिषम् ।
एवमेव मनुष्येषु विशेषो नास्ति कश्चन ॥ ७२ ॥

श्रीकृष्ण ! उनमें जो बलवान् होता है, वही उस मांसको खाता है, जिसके लिये कि उनमें लड़ाई हुई थी । यही दशा मनुष्योंकी है । इनमें कोई विशेषता नहीं है* ॥ ७२ ॥

सर्वथा त्वेतदुचितं दुर्बलेषु बलीयसाम् ।
अनादरोऽविरोधश्च प्रणिपाती हि दुर्बलः ॥ ७३ ॥

यह सर्वथा उचित है कि बलवानोंकी दुर्बलोंके प्रति आदरबुद्धि न हो । वे उसका विरोध भी नहीं करते । दुर्बल वही है, जो सदा झुकनेके लिये तैयार रहे ॥ ७३ ॥

पिता राजा च वृद्धश्च सर्वथा मानमर्हति ।
तस्मान्मान्यश्च पूज्यश्च धृतराष्ट्रो जनार्दन ॥ ७४ ॥

जनार्दन ! पिता, राजा और वृद्ध सर्वथा समादरके ही योग्य हैं । अतः धृतराष्ट्र हमारे लिये सदा माननीय एवं पूजनीय हैं ॥ ७४ ॥

---

*कुत्तोंके दुम हिलानेके समान राजाओंका ध्वज कम्पन है, उनके गुर्रानेकी जगह उनका सिंहनाद है । कुत्ते जो एक-दूसरेको देखकर गर्जते हैं, उसी प्रकार दो विरोधी क्षत्रिय एक दूसरेके प्रति उत्तर-प्रत्युत्तरके रूपमें आक्षेपजनक बातें कहते हैं । एक-दूसरेके निकट जाना दोनोंमें समानरूपसे होता है । राजालोग क्रोधमें आकर जो दाँतोंसे होठ चबाते हैं, यही कुत्तोंके समान उनका दाँत दिखाना है । विकट गर्जन-तर्जन भूकना है और युद्ध करना ही कुत्तोंके समान लड़ना है । राज्यकी प्राप्ति ही वह मांसका टुकड़ा है, जिसके लिये उनमें लड़ाई होती है ।

पुत्रस्नेहश्च बलवान् धृतराष्ट्रस्य माधव।
स पुत्रवशमापन्नः प्रणिपातं प्रहास्यति ॥ ७५ ॥

माधव ! धृतराष्ट्रमें अपने पुत्रके प्रति प्रबल आसक्ति है। वे पुत्रके वशमें होनेके कारण कभी झुकना नहीं स्वीकार करेंगे ॥ ७५ ॥

तत्र किं मन्यसे कृष्ण प्राप्तकालमनन्तरम्।
कथमर्थाच्च धर्माच्च न हीयेमहि माधव ॥ ७६ ॥

माधव श्रीकृष्ण ! ऐसे समयमें आप क्या उचित समझते हैं ? हम कैसा बर्ताव करें, जिससे हमें अर्थ और धर्मसे भी वञ्चित न होना पड़े ॥ ७६ ॥

ईदृशेऽत्यर्थकृच्छ्रेऽस्मिन् कमन्यं मधुसूदन।
उपसम्प्रष्टुमर्हामि त्वामृते पुरुषोत्तम ॥ ७७ ॥

पुरुषोत्तम मधुसूदन ! ऐसे महान् संकटके समय हम आपको छोड़कर और किससे सलाह ले सकते हैं ॥ ७७ ॥

प्रियश्च प्रियकामश्च गतिज्ञः सर्वकर्मणाम्।
को हि कृष्णास्ति नस्त्वादृक् सर्वनिश्चयवित् सुहृत् ॥

श्रीकृष्ण ! आपके समान हमारा प्रिय, हितैषी, समस्त कर्मोंके परिणामको जाननेवाला और सभी बातोंमें एक निश्चित सिद्धान्त रखनेवाला सुहृद् कौन है ? ॥ ७८ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तः प्रत्युवाच धर्मराजं जनार्दनः।
उभयोरेव वामर्थे यास्यामि कुरुसंसदम् ॥ ७९ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! धर्मराज युधिष्ठिरके ऐसा कहनेपर भगवान् श्रीकृष्णने उनसे कहा—'राजन् ! मैं दोनों पक्षोंके हितके लिये कौरवोंकी सभामें जाऊँगा ॥ ७९ ॥

शमं तत्र लभेयं चेद् युष्मदर्थमहापयन्।
पुण्यं मे सुमहद् राजंश्चरितं स्यान्महाफलम् ॥ ८० ॥

'वहाँ जाकर आपके लाभमें किसी प्रकारकी बाधा न पहुँचाते हुए यदि मैं दोनों पक्षोंमें संधि करा सका, तो समझूँगा कि मेरे द्वारा यह महान् फलदायक एवं बहुत बड़ा पुण्यकर्म सम्पन्न हो गया ॥ ८० ॥

मोचयेयं मृत्युपाशात् संरब्धान् कुरुसृंजयान्।
पाण्डवान् धार्तराष्ट्रांश्च सर्वां च पृथिवीमिमाम् ॥ ८१ ॥

ऐसा होनेपर एक-दूसरेके प्रति रोषमें भरे हुए इन कौरवों, सृंजयों, पाण्डवों और धृतराष्ट्रपुत्रोंको तथा इस सारी पृथ्वीको भी मानो मैं मौतके फंदेसे छुड़ा लूँगा' ॥

युधिष्ठिर उवाच

न ममैतन्मतं कृष्ण यत् त्वं यायाः कुरून् प्रति।
सुयोधनः सूक्तमपि न करिष्यति ते वचः ॥ ८२ ॥

युधिष्ठिर बोले—श्रीकृष्ण ! मेरा यह विचार नहीं है कि आप कौरवोंके यहाँ जायँ; क्योंकि आपकी कही हुई अच्छी बातोंको भी दुर्योधन नहीं मानेगा ॥ ८२ ॥

समेतं पार्थिवं क्षत्रं दुर्योधनवशानुगम्।
तेषां मध्यावतरणं तव कृष्ण न रोचये ॥ ८३ ॥

इसके सिवा इस समय दुर्योधनके वशमें रहनेवाले भूमण्डलके सभी क्षत्रिय वहाँ एकत्र हुए हैं । उनके बीचमें आपका जाना मुझे अच्छा नहीं लगता ॥ ८३ ॥

न हि नः प्रीणयेद् द्रव्यं न देवत्वं कुतः सुखम्।
न च सर्वामरैश्वर्यं तव द्रोहेण माधव ॥ ८४ ॥

माधव ! यदि दुर्योधनने द्रोहवश आपके साथ कोई अनुचित बर्ताव किया, तो धन, सुख, देवत्व तथा सम्पूर्ण देवताओंका ऐश्वर्य भी हमें प्रसन्न नहीं कर सकेगा ॥ ८४ ॥

श्रीभगवानुवाच

जानाम्येतां महाराज धार्तराष्ट्रस्य पापताम्।
अवाच्यास्तु भविष्यामः सर्वलोके महीक्षिताम् ॥ ८५ ॥

श्रीभगवान्‌ने कहा—महाराज ! धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधन कितना पापाचारी है, यह मैं जानता हूँ । तथापि वहाँ जाकर संधिके लिये प्रयत्न करनेपर हम सब लोग सम्पूर्ण जगत्‌के राजाओंकी दृष्टिमें निन्दाके पात्र न होंगे ॥ ८५ ॥

न चापि मम पर्याप्ताः सहिताः सर्वपार्थिवाः।
क्रुद्धस्य संयुगे स्थातुं सिंहस्येवेतरे मृगाः ॥ ८६ ॥

(मेरे तिरस्कारके भयसे भी आप चिन्तित न हों, क्योंकि) जैसे क्रोधमें भरे हुए सिंहके सामने दूसरे पशु नहीं ठहर सकते हैं, उसी प्रकार यदि मैं कोप करूँ, तो संसारके सारे भूपाल मिलकर भी युद्धमें मेरे सामने खड़े नहीं हो सकते हैं ॥ ८६ ॥

अथ चेत् ते प्रवर्तन्ते मयि किञ्चिदसाम्प्रतम्।
निर्दहेयं कुरून् सर्वानिति मे धीयते मतिः ॥ ८७ ॥

यदि वे मेरे साथ थोड़ा-सा भी अनुचित बर्ताव करेंगे, तो मैं उन समस्त कौरवोंको जलाकर भस्म कर डालूँगा; यह मेरा निश्चित विचार है ॥ ८७ ॥

न जातु गमनं पार्थ भवेत् तत्र निरर्थकम्।
अर्थप्राप्तिः कदाचित् स्यादन्ततो वाप्यवाच्यता ॥ ८८ ॥

अतः कुन्तीनन्दन ! मेरा वहाँ जाना कदापि निरर्थक नहीं होगा। सम्भव है, वहाँ अपने अभीष्ट अर्थकी सिद्धि हो जाय और यदि काम न बना, तो भी हम निन्दासे तो बच ही जायँगे ॥ ८८ ॥

युधिष्ठिर उवाच

यत् तुभ्यं रोचते कृष्ण स्वस्ति प्राप्नुहि कौरवान्।
कृतार्थं स्वस्तिमन्तं त्वां द्रक्ष्यामि पुनरागतम् ॥ ८९ ॥

युधिष्ठिर बोले—श्रीकृष्ण ! आपकी जैसी रुचि हो, वही कीजिये। आपका कल्याण हो। आप प्रसन्नतापूर्वक कौरवोंके पास जाइये। आशा है, मैं पुनः आपको अपने कार्यमें सफल होकर यहाँ सकुशल लौटा हुआ देखूँगा ॥

विष्वक्सेन कुरून् गत्वा भरतांश्छमय प्रभो।
यथा सर्वे सुमनसः सह स्याम सुचेतसः ॥ ९० ॥

विष्वक्सेन प्रभो ! आप कुरुदेशमें जाकर भरतवंशियोंको शान्त कीजिये, जिससे हम सब लोग शुद्ध हृदयसे प्रसन्नचित्त होकर एक साथ रह सकें ॥ ९० ॥

भ्राता चासि सखा चासि बीभत्सोर्मम च प्रियः।
सौहृदेनाविशङ्क्योऽसि स्वस्ति प्राप्नुहि भूतये॥ ९१ ॥

आप हमलोगोंके भाई और मित्र हैं। अर्जुनके तथा मेरे भी प्रीतिभाजन हैं। आपके सौहार्दके विषयमें हमारे मनमें कोई शंका नहीं है। अतः आप उभय पक्षोंकी भलाईके लिये वहाँ जाइये। आपका कल्याण हो ॥ ९१ ॥

अस्मान् वेत्थ परान् वेत्थ वेत्थार्थान् वेत्थ भाषितुम्।
यद् यदस्मद्धितं कृष्ण तत् तद् वाच्यः सुयोधनः॥९२॥

श्रीकृष्ण ! आप हमको जानते हैं, कौरवोंको भी जानते हैं, हम दोनोंके स्वार्थोंसे भी आप अपरिचित नहीं हैं और बातचीत कैसे करनी चाहिये, यह भी आपको अच्छी तरह ज्ञात है। अतः जिस-जिस बातसे हमारा हित हो, वह सब आप दुर्योधनको बतावें ॥ ९२ ॥

यद् यद् धर्मेण संयुक्तमुपपद्येद्धितं वचः।
तत् तत् केशव भाषेथाः सान्त्वं वा यदि वेतरत्॥९३॥

केशव ! जो-जो बात धर्मसंगत, युक्तियुक्त और हितकर हो, वह सब कोमल हो या कठोर, आप अवश्य कहें ॥९३॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि युधिष्ठिरकृतकृष्णप्रेरणे द्विसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें युधिष्ठिरद्वारा श्रीकृष्णको प्रेरणाविषयक बहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥७२॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ५½ श्लोक मिलाकर कुल ९८½ श्लोक हैं)

त्रिसप्ततितमोऽध्यायः

श्रीकृष्णका युधिष्ठिरको युद्धके लिये प्रोत्साहन देना

श्रीभगवानुवाच

संजयस्य श्रुतं वाक्यं भवतश्च श्रुतं मया।
सर्वं जानाम्यभिप्रायं तेषां च भवतश्च यः ॥ १ ॥

श्रीभगवान् बोले—राजन् ! मैंने संजयकी और आपकी भी बातें सुनी हैं। कौरवोंका क्या अभिप्राय है, वह सब मैं जानता हूँ और आपका जो विचार है, उससे भी मैं अपरिचित नहीं हूँ ॥ १ ॥

तव धर्माश्रिता बुद्धिस्तेषां वैराश्रया मतिः।
यदयुद्धेन लभ्येत तत् ते बहुमतं भवेत् ॥ २ ॥

आपकी बुद्धि धर्ममें स्थित है और उनकी बुद्धिने शत्रुताका आश्रय ले रक्खा है। आप तो बिना युद्ध किये जो कुछ मिल जाय, उसीको बहुत समझेंगे ॥ २ ॥

न चैवं नैष्ठिकं कर्म क्षत्रियस्य विशाम्पते।
आहुराश्रमिणः सर्वे न भैक्षं क्षत्रियश्चरेत् ॥ ३ ॥

परंतु महाराज ! यह क्षत्रियका नैष्ठिक (स्वाभाविक) कर्म नहीं है। सभी आश्रमोंके श्रेष्ठ पुरुषोंका यह कथन है कि क्षत्रियको भीख नहीं माँगनी चाहिये ॥ ३ ॥

जयो वधो वा संग्रामे धात्राऽऽदिष्टः सनातनः।
स्वधर्मः क्षत्रियस्यैष कार्पण्यं न प्रशस्यते ॥ ४ ॥

उसके लिये विधाताने यही सनातन कर्तव्य बताया है कि वह संग्राममें विजय प्राप्त करे अथवा वहीं प्राण दे दे। यही क्षत्रियका स्वधर्म है। दीनता अथवा कायरता उसके लिये प्रशंसाकी वस्तु नहीं है ॥ ४ ॥

न हि कार्पण्यमास्थाय शक्या वृत्तिर्युधिष्ठिर।
विक्रमस्व महाबाहो जहि शत्रून् परंतप ॥ ५ ॥

महाबाहु युधिष्ठिर ! दीनताका आश्रय लेनेसे क्षत्रियकी जीविका नहीं चल सकती। शत्रुओंको संताप देनेवाले महाराज ! अब पराक्रम दिखाइये और शत्रुओंका संहार कीजिये ॥ ५ ॥

अतिगृद्धाः कृतस्नेहा दीर्घकालं सहोषिताः।
कृतमित्राः कृतबला धार्तराष्ट्राः परंतप ॥ ६ ॥

परंतप ! धृतराष्ट्रके पुत्र बड़े लोभी हैं। इधर उन्होंने बहुत-से मित्र-राजाओंका संग्रह कर लिया है और उनके साथ दीर्घकालतक रहकर अपने प्रति उनका स्नेह भी बढ़ा लिया है। (शिक्षा और अभ्यास आदिके द्वारा भी) उन्होंने विशेष शक्तिका संचय कर लिया ॥ ६ ॥

न पर्यायोऽस्ति यत् साम्यं त्वयि कुर्युर्विशाम्पते।
बलवत्तां हि मन्यन्ते भीष्मद्रोणकृपादिभिः ॥ ७ ॥

अतः प्रजानाथ ! ऐसा कोई उपाय नहीं है, जिससे (वे आपको आधा राज्य देकर) आपके प्रति समता (सन्धि) स्थापित करें। भीष्म, द्रोण और कृपाचार्य आदि उनके पक्षमें हैं, इसलिये वे अपनेको आपसे अधिक बलवान् समझते हैं ॥

यावच्च मार्दवेनैतान् राजन्नुपचरिष्यसि ।
तावदेते हरिष्यन्ति तव राज्यमरिंदम ॥ ८ ॥

अतः शत्रुदमन राजन् ! जबतक आप इनके साथ नर्मीका बर्ताव करेंगे, तबतक ये आपके राज्यका अपहरण करनेकी ही चेष्टा करेंगे ॥ ८ ॥

नानुक्रोशान्न कार्पण्यान्न च धर्मार्थकारणात् ।
अलं कर्तुं धार्तराष्ट्रास्तव काममरिंदम ॥ ९ ॥

शत्रुमर्दन नरेश ! आप यह न समझें कि धृतराष्ट्रके पुत्र आपपर कृपा करके या अपनेको दीन-दुर्बल मानकर अथवा धर्म एवं अर्थकी ओर दृष्टि रखकर आपका मनोरथ पूर्ण कर देंगे ॥ ९ ॥

एतदेव निमित्तं ते पाण्डवास्तु यथा त्वयि ।
नान्वतप्यन्त कौपीनं तावत् कृत्वापि दुष्करम् ॥ १० ॥

पाण्डुनन्दन ! कौरवोंके सन्धि न करनेका सबसे बड़ा कारण या प्रमाण तो यही है कि उन्होंने आपको कौपीन धारण कराकर तथा उतने दीर्घकालतकके लिये वनवासका दुष्कर कष्ट देकर भी कभी इसके लिये पश्चात्ताप नहीं किया ॥

पितामहस्य द्रोणस्य विदुरस्य च धीमतः ।
ब्राह्मणानां च साधूनां राज्ञश्च नगरस्य च ॥ ११ ॥
पश्यतां कुरुमुख्यानां सर्वेषामेव तत्त्वतः ।
दानशीलं मृदुं दान्तं धर्मशीलमनुव्रतम् ॥ १२ ॥
यत् त्वामुपधिना राजन् द्यूते वञ्चितवांस्तदा ।
न चापत्रपते तेन नृशंसः स्वेन कर्मणा ॥ १३ ॥

राजन् ! आप दानशील, कोमलस्वभाव, मन और इन्द्रियोंको वशमें रखनेवाले, स्वभावतः धर्मपरायण तथा सबके हैं, तो भी क्रूर दुर्योधनने उस समय पितामह भीष्म, द्रोणाचार्य, बुद्धिमान् विदुर, साधु, ब्राह्मण, राजा धृतराष्ट्र, नगरनिवासी जनसमुदाय तथा कुरुकुलके सभी श्रेष्ठ पुरुषोंके देखते-देखते आपको जूएमें छलसे ठग लिया और अपने उस कुकृत्यके लिये वह अबतक लज्जाका अनुभव नहीं करता है ॥

तथाशीलसमाचारे राजन् मा प्रणयं कृथाः ।
वध्यास्ते सर्वलोकस्य किं पुनस्तव भारत ॥ १४ ॥

राजन् ! ऐसे कुटिलस्वभाव और खोटे आचरणवाले दुर्योधनके प्रति आप प्रेम न दिखावें। भारत ! धृतराष्ट्रके वे पुत्र तो सभी लोगोंके वध्य हैं; फिर आप उनका वध करें, इसके लिये तो कहना ही क्या है ? ॥ १४ ॥

वाग्भिस्त्वप्रतिरूपाभिरतुदत् त्वां सहानुजम् ।
श्लाघमानः प्रहृष्टः सन् भ्रातृभिः सह भाषते ॥ १५ ॥
एतावत् पाण्डवानां हि नास्ति किंचिदिह स्वकम् ।
नामधेयं च गोत्रं च तदप्येषां न शिष्यते ॥ १६ ॥

(क्या आप वह दिन भूल गये, जब कि) दुर्योधनने भाइयोंसहित आपको अपने अनुचित वचनोंद्वारा मार्मिक पीड़ा पहुँचायी थी । वह अत्यन्त हर्षसे फूलकर अपनी मिथ्या प्रशंसा करता हुआ अपने भाइयोंके साथ कहता था—'अब पाण्डवोंके पास इस संसारमें 'अपनी' कहनेके लिये इतनी-सी भी कोई वस्तु नहीं रह गयी है । केवल नाम और गोत्र बचा है, परंतु वह भी शेष नहीं रहेगा ॥ १५-१६ ॥

कालेन महता चैषां भविष्यति पराभवः ।
प्रकृतिं ते भजिष्यन्ति नष्टप्रकृतयो मयि ॥ १७ ॥

'दीर्घकालके पश्चात् इनकी भारी पराजय होगी। इनकी स्वाभाविक शूरता-वीरता आदि नष्ट हो जायगी और ये मेरे पास ही प्राणत्याग करेंगे' ॥ १७ ॥

दुःशासनेन पापेन तदा द्यूते प्रवर्तिते ।
अनाथवत् तदा देवी द्रौपदी सुदुरात्मना ॥ १८ ॥
आकृष्य केशे रुदती सभायां राजसंसदि ।
भीष्मद्रोणप्रमुखतो गौरिति व्याहृता मुहुः ॥ १९ ॥

उन दिनों जब जूएका खेल चल रहा था, अत्यन्त दुरात्मा पापी दुःशासन अनाथकी भाँति रोती-कलपती हुई महारानी द्रौपदीको उनके केश पकड़कर राजसभामें घसीट लाया और भीष्म तथा द्रोणाचार्य आदिके समक्ष उसने उनका उपहास करते हुए बारंबार उसे 'गाय' कहकर पुकारा ॥

भवता वारिताः सर्वे भ्रातरो भीमविक्रमाः ।
धर्मपाशनिबद्धाश्च न किंचित् प्रतिपेदिरे ॥ २० ॥

यद्यपि आपके भाई भयंकर पराक्रम प्रकट करनेमें समर्थ थे, तथापि आपने इन्हें रोक दिया, इसलिये धर्मबन्धनमें बँधे होनेके कारण ये उस समय उस अन्यायका कुछ भी प्रतीकार न कर सके ॥ २० ॥

एताश्चान्याश्च परुषा वाचः स समुदीरयन् ।
श्लाघते ज्ञातिमध्ये स त्वयि प्रव्रजिते वनम् ॥ २१ ॥

जब आप वनकी ओर जाने लगे, उस समय भी वह बन्धु-बान्धवोंके बीचमें ऊपर कही हुई तथा और भी बहुत-सी कठोर बातें कहकर अपनी प्रशंसा करता रहा ॥ २१ ॥

ये तत्रासन् समानीतास्ते दृष्ट्वा त्वामनागसम् ।
अश्रुकण्ठा रुदन्तश्च सभायामासते तदा ॥ २२ ॥

जो लोग वहाँ बुलाये गये थे, वे सभी नरेश आपको निरपराध देखकर रोते और आँसू बहाते हुए रुँधे हुए कण्ठसे उस समय चुपचाप सभामें बैठे रहे ॥ २२ ॥

न चैनमभ्यनन्दंस्ते राजानो ब्राह्मणैः सह ।
सर्वे दुर्योधनं तत्र निन्दन्ति स्म सभासदः ॥ २३ ॥

ब्राह्मणोंसहित उन राजाओंने वहाँ दुर्योधनकी प्रशंसा

नहीं की। उस समय सभी सभासद् उसकी निन्दा ही कर रहे थे ॥ २३ ॥

कुलीनस्य च या निन्दा वधो वामित्रकर्शन।
महागुणो वधो राजन् न तु निन्दा कुजीविका ॥ २४ ॥

शत्रुसूदन ! कुलीन पुरुषकी निन्दा हो या वध—इनमेंसे वध ही उसके लिये अत्यन्त गुणकारक है, निन्दा नहीं। निन्दा तो जीवनको घृणित बना देती है ॥ २४ ॥

तदैव निहतो राजन् यदैव निरपत्रपः।
निन्दितश्च महाराज पृथिव्यां सर्वराजभिः ॥ २५ ॥

महाराज ! जब इस भूमण्डलके सभी राजाओंने निन्दा की, उसी समय उस निर्लज्ज दुर्योधनकी एक प्रकारसे मृत्यु हो गयी ॥ २५ ॥

ईषत् कार्यो वधस्तस्य यस्य चारित्रमीदृशम्।
प्रस्कन्देन प्रतिस्तब्धश्छिन्नमूल इव द्रुमः ॥ २६ ॥

जिसका चरित्र इतना गिरा हुआ है, उसका वध करना तो बहुत साधारण कार्य है। जिसकी जड़ कट गयी हो और जो गोल वेदीके आधारपर खड़ा हो, उस वृक्षकी भाँति दुर्योधनके भी धराशायी होनेमें अब अधिक विलम्ब नहीं है॥

वध्यः सर्प इवानार्यः सर्वलोकस्य दुर्मतिः।
जह्येनं त्वममित्रघ्न मा राजन् विचिकित्सिथाः ॥ २७ ॥

खोटी बुद्धिवाला दुराचारी दुर्योधन दुष्ट सर्पकी भाँति सब लोगोंके लिये वध्य है। शत्रुओंका नाश करनेवाले महाराज! आप दुविधामें न पड़ें, इस दुष्टको अवश्य मार डालें ॥२७॥

सर्वथा त्वत्क्षमं चैतद् रोचते च ममानघ।
यत् त्वं पितरि भीष्मे च प्रणिपातं समाचरेः ॥ २८ ॥

निष्पाप नरेश ! आप जो पितृतुल्य धृतराष्ट्र तथा पितामह भीष्मके प्रति प्रणाम एवं नम्रतापूर्ण बर्ताव करते हैं, वह सर्वथा आपके योग्य है। मैं भी इसे पसंद करता हूँ ॥ २८ ॥

अहं तु सर्वलोकस्य गत्वा छेत्स्यामि संशयम्।
येषामस्ति द्विधाभावो राजन् दुर्योधनं प्रति ॥ २९ ॥

राजन् ! दुर्योधनके सम्बन्धमें जिन लोगोंका मन दुविधामें है—जो लोग उसके अच्छे या बुरे होनेका निर्णय नहीं कर सके हैं, उन सब लोगोंका संदेह मैं वहाँ जाकर दूर कर दूँगा ॥

मध्ये राज्ञामहं तत्र प्रातिपौरुषिकान् गुणान्।
तव संकीर्तयिष्यामि ये च तस्य व्यतिक्रमाः ॥ ३० ॥

मैं राजसभामें जुटे हुए भूपालोंकी मण्डलीमें आपके सर्वसाधारण गुणोंका वर्णन और दुर्योधनके दोषों तथा अपराधोंका उद्घाटन करूँगा ॥ ३० ॥

ब्रुवतस्तत्र मे वाक्यं धर्मार्थसहितं हितम्।
निशम्य पार्थिवाः सर्वे नानाजनपदेश्वराः ॥ ३१ ॥

त्वयि सम्प्रतिपत्स्यन्ते धर्मात्मा सत्यवागिति।
तस्मिंश्चाधिगमिष्यन्ति यथा लोभादवर्तत ॥ ३२ ॥

मेरे मुखसे धर्म और अर्थसे संयुक्त हितकर वचन सुनकर नाना जनपदोंके स्वामी समस्त भूपाल आपके विषयमें यह निश्चितरूपसे समझ लेंगे कि युधिष्ठिर धर्मात्मा तथा सत्यवादी हैं और दुर्योधनके सम्बन्धमें भी उन्हें यह निश्चय हो जायगा कि उसने लोभसे प्रेरित होकर ही सारा अनुचित बर्ताव किया है ॥ ३१-३२ ॥

गर्हयिष्यामि चैवैनं पौरजानपदेष्वपि।
वृद्धबालानुपादाय चातुर्वर्ण्ये समागते ॥ ३३ ॥

मैं वहाँ आये हुए चारों वर्णोंके आबालवृद्ध जनसमुदायको अपनाकर उनके सामने तथा पुरवासियों और देशवासियोंके समक्ष भी इस दुर्योधनकी निन्दा करूँगा ॥ ३३ ॥

शमं वै याचमानस्त्वं नाधर्मं तत्र लप्स्यसे।
कुरून् विगर्हयिष्यन्ति धृतराष्ट्रं च पार्थिवाः ॥ ३४ ॥

वहाँ शान्तिके लिये याचना करनेपर आप अधर्मके भी भागी न होंगे। सब राजा कौरवोंकी तथा धृतराष्ट्रकी ही निन्दा करेंगे ॥ ३४ ॥

तस्मिँल्लोकपरित्यक्ते किं कार्यमवशिष्यते।
हते दुर्योधने राजन् यदन्यत् क्रियतामिति ॥ ३५ ॥

सब लोग दुर्योधनको अन्यायी समझकर त्याग देंगे और वह निन्दनीय होनेके कारण नष्टप्राय हो जायगा। उस दशामें आपका दूसरा कौन-सा कार्य शेष रह जाता है ? जिसे सम्पन्न किया जाय ॥ ३५ ॥

यात्वा चाहं कुरून् सर्वान् युष्मदर्थमहापयन्।
यतिष्ये प्रशमं कर्तुं लक्षयिष्ये च चेष्टितम् ॥ ३६ ॥

वहाँ पहुँचकर आपके स्वार्थकी सिद्धिमें तनिक भी त्रुटि न आने देते हुए मैं समस्त कौरवोंसे सन्धि-स्थापनके लिये प्रयत्न करूँगा और उनकी चेष्टाओंपर दृष्टि रक्खूँगा ॥ ३६ ॥

कौरवाणां प्रवृत्तिं च गत्वा युद्धाधिकारिकाम्।
निशम्य विनिवर्तिष्ये जयाय तव भारत ॥ ३७ ॥

भारत ! मैं जाकर कौरवोंकी युद्धविषयक तैयारीकी बातें जान सुनकर आपकी विजयके लिये पुनः यहाँ लौट आऊँगा ॥

सर्वथा युद्धमेवाहमाशंसामि परैः सह।
निमित्तानि हि सर्वाणि तथा प्रादुर्भवन्ति मे ॥ ३८ ॥

मुझे तो शत्रुओंके साथ सर्वथा युद्ध होनेकी ही सम्भावना हो रही है; क्योंकि मेरे सामने ऐसे ही लक्षण (शकुन) प्रकट हो रहे हैं ॥ ३८ ॥

मृगाः शकुन्ताश्च वदन्ति घोरं
हस्त्यश्वमुख्येषु निशामुखेषु।

घोराणि रूपाणि तथैव चाग्नि-
वर्णान् बहून् पुष्यति घोररूपान्॥ ३९ ॥

मृग (पशु) और पक्षी भयंकर शब्द कर रहे हैं। प्रदोष-कालमें प्रमुख हाथियों और घोड़ोंके समुदायमें बड़ी भयानक आकृतियाँ प्रकट होती हैं । इसी प्रकार अग्निदेव भी नाना प्रकारके भयजनक वर्णों (रंगों) को धारण करते हैं ॥ ३९ ॥

मनुष्यलोकक्षयकृत् सुघोरो
नो चेदनुप्राप्त इहान्तकः स्यात्।
शस्त्राणि यन्त्रं कवचान् रथांश्च
नागान् हयांश्च प्रतिपादयित्वा ॥ ४० ॥
योधाश्च सर्वे कृतनिश्चयास्ते
भवन्तु हस्त्यश्वरथेषु यत्ताः।
सांग्रामिकं ते यदुपार्जनीयं
सर्वं समग्रं कुरु तन्नरेन्द्र ॥ ४१ ॥

यदि मनुष्यलोकका संहार करनेवाली अत्यन्त भयंकर मृत्यु इनको नहीं प्राप्त हुई होती, तो ऐसी बातें देखनेमें नहीं आतीं । अतः नरेन्द्र ! आपके समस्त योद्धा युद्धके लिये दृढ़ निश्चय करके भाँति-भाँतिके शस्त्र, यन्त्र, कवच, रथ, हाथी और घोड़ोंको सुसज्जित कर लें तथा उन हाथियों, घोड़ों, एवं रथोंपर सवार हो युद्ध करनेके निमित्त सदा तैयार रहें । इसके सिवा आपको युद्धोपयोगी जिन समस्त वस्तुओंका संग्रह करना है उन सबका भी आप संग्रह कर लीजिये ॥४०-४१॥

दुर्योधनो न ह्यलमद्य दातुं
जीवंस्तवैतन्नृपते कथंचित्।
यत् ते पुरस्तादभवत् समृद्धं
द्यूते हृतं पाण्डवमुख्य राज्यम् ॥ ४२ ॥

पाण्डवप्रवर ! नरेश्वर ! यह निश्चय मानिये, आपके पास पहले जो समृद्धिशाली राज्य-वैभव था और जिसे आपने जूएमें खो दिया था, वह सारा राज्य अब दुर्योधन अपने जीते-जी आपको कभी नहीं दे सकता ॥ ४२ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि कृष्णवाक्ये त्रिसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें श्रीकृष्णवाक्यविषयक तिहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ७३ ॥

चतुःसप्ततितमोऽध्यायः

भीमसेनका शान्तिविषयक प्रस्ताव

भीम उवाच

यथा यथैव शान्तिः स्यात् कुरूणां मधुसूदन।
तथा तथैव भाषेथा मा स्म युद्धेन भीषयेः॥ १ ॥

भीमसेन बोले--मधुसूदन ! आप कौरवोंके बीचमें वैसी ही बातें कहें, जिससे हमलोगोंमें शान्ति स्थापित हो सके । युद्धकी बात सुनाकर उन्हें भयभीत न कीजियेगा ॥ १ ॥

अमर्षी जातसंरम्भः श्रेयोद्वेषी महामनाः।
नोग्रं दुर्योधनो वाच्यः साम्नैवैनं समाचरेः॥ २ ॥

दुर्योधन असहनशील, क्रोधमें भरा रहनेवाला, श्रेयका विरोधी और मनमें बड़े-बड़े हौसले रखनेवाला है। अतः उसके प्रति कठोर बात न कहियेगा, उसे सामनीतिके द्वारा ही समझानेका प्रयत्न कीजियेगा ॥ २ ॥

प्रकृत्या पापसत्त्वश्च तुल्यचेतास्तु दस्युभिः।
ऐश्वर्यमदमत्तश्च कृतवैरश्च पाण्डवैः॥ ३ ॥

दुर्योधन स्वभावसे ही पापात्मा है । उसके हृदयमें डाकुओंके समान क्रूरता भरी रहती है। वह ऐश्वर्यके मदसे उन्मत्त हो गया है और पाण्डवोंके साथ सदा वैर बाँधे रखता है ॥ ३ ॥

अदीर्घदर्शी निष्ठूरी क्षेप्ता क्रूरपराक्रमः।
दीर्घमन्युरनेयश्च पापात्मा निकृतिप्रियः॥ ४ ॥

वह अदूरदर्शी, निष्ठुर वचन बोलनेवाला, परनिन्दक, क्रूर पराक्रमी, दीर्घकालतक क्रोधको मनमें संचित रखनेवाला, शिक्षा देने या सन्मार्गपर ले जाये जानेकी योग्यतासे रहित, पापात्मा तथा शठतासे प्रेम रखनेवाला है ॥ ४ ॥

म्रियेतापि न भज्येत नैव जह्यात् स्वकं मतम्।
तादृशेन शमः कृष्ण मन्ये परमदुष्करः॥ ५ ॥

श्रीकृष्ण ! वह मर जायगा, किंतु झुक न सकेगा । अपनी टेक नहीं छोड़ेगा । मैं समझता हूँ, ऐसे दुराग्रही मनुष्यके साथ संधि स्थापित करना अत्यन्त दुष्कर कार्य है ॥ ५ ॥

सुहृदामप्यवाचीनस्त्यक्तधर्मा प्रियानृतः।
प्रतिहन्त्येव सुहृदां वाचश्चैव मनांसि च ॥ ६ ॥

दुर्योधन हितैषी सुहृदोंके भी विपरीत आचरण करनेवाला है। उसने धर्मको तो त्याग ही दिया है, झूठको भी प्रिय मानकर अपना लिया है। वह मित्रोंकी भी बातोंका खण्डन करता है और उनके हृदयको चोट पहुँचाता है ॥ ६ ॥

स मन्युवशमापन्नः स्वभावं दुष्टमास्थितः।
स्वभावात् पापमभ्येति तृणैश्छन्न इवोरगः॥ ७ ॥

उसने क्रोधके वशीभूत होकर दुष्ट स्वभावका आश्रय ले रक्खा है। वह तिनकोंमें छिपे सर्पकी भाँति स्वभावतः दूसरोंकी हिंसा करता है ॥ ७ ॥

दुर्योधनो हि यत्सेनः सर्वथा विदितस्तव ।
यच्छीलो यत्स्वभावश्च यद्बलो यत्पराक्रमः ॥ ८ ॥

भगवन् ! दुर्योधनकी सेना जैसी है, उसका शील और स्वभाव जैसा है, उसका बल और पराक्रम जिस प्रकारका है, वह सब कुछ आपको सब प्रकारसे ज्ञात है ॥ ८ ॥

पुरा प्रसन्नाः कुरवः सहपुत्रास्तथा वयम् ।
इन्द्रज्येष्ठा इवाभूम मोदमानाः सबान्धवाः ॥ ९ ॥

पूर्वकालमें पुत्र तथा बन्धु-बान्धवोंसहित कौरव और हम-लोग इन्द्र आदि देवताओंकी भाँति परस्पर मिलकर बड़ी प्रसन्नता और आनन्दके साथ रहते थे ॥ ९ ॥

दुर्योधनस्य क्रोधेन भरता मधुसूदन ।
धक्ष्यन्ते शिशिरापाये वनानीव हुताशनैः ॥ १० ॥

परंतु मधुसूदन ! जैसे शिशिरके अन्तमें (ग्रीष्मकाल आनेपर) वन दावानलसे जलने लगते हैं उसी प्रकार सम्पूर्ण भरतवंशी इस समय दुर्योधनकी क्रोधाग्निसे जलने-वाले हैं ॥ १० ॥

अष्टादशेमे राजानः प्रख्याता मधुसूदन ।
ये समुच्चिच्छिदुर्ज्ञातीन् सुहृदश्च सबान्धवान् ॥ ११ ॥

श्रीकृष्ण ! आगे बताये जानेवाले ये अठारह विख्यात नरेश हैं, जिन्होंने बन्धु-बान्धवोंसहित कुटुम्बीजनों तथा हितैषी सुहृदोंका संहार कर डाला था ॥ ११ ॥

असुराणां समृद्धानां ज्वलतामिव तेजसा ।
पर्यायकाले धर्मस्य प्राप्ते कलिरजायत ॥ १२ ॥
हैहयानां मुदावर्तो नीपानां जनमेजयः ।
बहुलस्तालजंघानां कृमीणामुद्धतो वसुः ॥ १३ ॥
अजबिन्दुः सुवीराणां सुराष्ट्राणां रुषर्द्धिकः ।
अर्कजश्च बलीहानां चीनानां धौतमूलकः ॥ १४ ॥
हयग्रीवो विदेहानां वरयुश्च महौजसाम् ।
बाहुः सुन्दरवंशानां दीप्ताक्षाणां पुरूरवाः ॥ १५ ॥
सहजश्चेदिमत्स्यानां प्रवीराणां वृषध्वजः ।
धारणश्चन्द्रवत्सानां मुकुटानां विगाहनः ॥ १६ ॥
शमश्च नन्दिवेगानामित्येते कुलपांसनाः ।
युगान्ते कृष्ण सम्भूताः कुले कुपुरुषाधमाः ॥ १७ ॥

जैसे धर्मके विप्लवका समय उपस्थित होनेपर तेजसे प्रज्वलित होनेवाले समृद्धिशाली असुरोंमें भयंकर कलह उत्पन्न हुआ था, उसी प्रकार हैहयवंशमें मुदावर्त, नीपकुलमें जनमेजय, तालजंघोंके वंशमें बहुल, कृमिकुलमें उद्दण्ड वसु, सुवीरोंके वंशमें अजबिंदु, सुराष्ट्रकुलमें रुषर्द्धिक, बलीहवंशमें अर्कज, चीनोंके कुलमें धौतमूलक, विदेहवंशमें हयग्रीव, महौजा नामक क्षत्रियोंके कुलमें वरयु, सुन्दरवंशी क्षत्रियोंमें बाहु, दीप्ताक्ष-कुलमें पुरूरवा, चेदि और मत्स्यदेशमें सहज, प्रवीरवंशमें वृषध्वज, चन्द्रवत्सकुलमें धारण, मुकुटवंशमें विगाहन तथा नन्दिवेगकुलमें शम—ये सभी कुलाङ्गार एवं नराधम क्षत्रिय युगान्तकाल आनेपर ऊपर बताये अनुसार भिन्न-भिन्न कुलोंमें प्रकट हुए थे ॥ १२–१७ ॥

अप्ययं नः कुरूणां स्याद् युगान्ते कालसम्भृतः ।
दुर्योधनः कुलाङ्गारो जघन्यः पापपूरुषः ॥ १८ ॥

पूर्वोक्त (अठारह) राजाओंकी भाँति यह कुलाङ्गार, नीच एवं पापपुरुष दुर्योधन भी इस द्वापर युगके अन्तमें कालसे प्रेरित हो हमारे कुरुकुलके विनाशका कारण होकर उत्पन्न हुआ है ॥ १८ ॥

तस्मान्मृदु शनैर्ब्रूया धर्मार्थसहितं हितम् ।
कामानुबन्धबहुलं नोग्रमुग्रपराक्रम ॥ १९ ॥

अतः भयंकर पराक्रमी श्रीकृष्ण ! आप उससे जो कुछ भी कहें, कोमल एवं मधुर वाणीमें धीरे-धीरे कहें । आपका कथन धर्म एवं अर्थसे युक्त तथा हितकर हो । उसमें तनिक भी उग्रता न आने पावे । साथ ही इसका भी ध्यान रक्खें कि आपकी अधिकांश बातें उसकी रुचिके अनुकूल हों ॥१९॥

अपि दुर्योधनं कृष्ण सर्वे वयमधश्चराः ।
नीचैर्भूत्वानुयास्यामो मा स्म नो भरता नशन् ॥२०॥

भगवन् ! हम सब लोग नीचे पैदल चलकर अत्यन्त नम्र होकर दुर्योधनका अनुसरण करते रहेंगे; परंतु हमारे कारणसे भरतवंशियोंका नाश न हो ॥ २० ॥

अप्युदासीनवृत्तिः स्याद् यथा नः कुरुभिः सह ।
वासुदेव तथा कार्यं न कुरूननयः स्पृशेत् ॥ २१ ॥

वासुदेव ! हमारा कौरवोंके साथ उदासीनभाव एवं तटस्थताका बर्ताव भी जैसे बना रहे, वैसा ही प्रयत्न आपको करना चाहिये । किसी प्रकार भी कौरवोंको अन्यायका स्पर्श नहीं होना चाहिये ॥ २१ ॥

वाच्यः पितामहो वृद्धो ये च कृष्ण सभासदः ।
भ्रातॄणामस्तु सौभ्रात्रं धार्तराष्ट्रः प्रशाम्यताम् ॥२२॥

श्रीकृष्ण ! आप वहाँ बूढ़े पितामह भीष्मजी तथा अन्य सभासदोंसे ऐसा करनेके लिये ही कहें, जिससे सब भाइयोंमें सौहार्द बना रहे और दुर्योधन भी शान्त हो जाय ॥ २२ ॥

अहमेतद् ब्रवीम्येवं राजा चैव प्रशंसति ।
अर्जुनो नैव युद्धार्थी भूयसी हि दयार्जुने ॥ २३ ॥

मैं इस प्रकार शान्ति-स्थापनके लिये कह रहा हूँ । राजा युधिष्ठिर भी शान्तिकी ही प्रशंसा करते हैं और अर्जुन भी युद्धके इच्छुक नहीं हैं; क्योंकि अर्जुनमें बहुत अधिक दया भरी हुई है ॥ २३ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि भीमवाक्ये चतुःसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें भीमवाक्यविषयक चौहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ७४ ॥

पञ्चसप्ततितमोऽध्यायः

श्रीकृष्णका भीमसेनको उत्तेजित करना

वैशम्पायन उवाच

एतच्छ्रुत्वा महाबाहुः केशवः प्रहसन्निव ।
अभूतपूर्वं भीमस्य मार्दवोपहितं वचः ॥ १ ॥
गिरेरिव लघुत्वं तच्छीतत्वमिव पावके ।
मत्वा रामानुजः शौरिः शार्ङ्गधन्वा वृकोदरम् ॥ २ ॥
संतेजयंस्तदा वाग्भिर्मातरिश्वेव पावकम् ।
उवाच भीममासीनं कृपयाभिपरिप्लुतम् ॥ ३ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—भीमसेनके मुखसे यह अभूतपूर्व मृदुतापूर्ण वचन सुनकर महाबाहु भगवान् श्रीकृष्ण हँसने-से लगे। जैसे पर्वतमें लघुता आ जाय और अग्निमें शीतलता प्रकट हो जाय, उसी प्रकार उनमें यह नम्रताका प्रादुर्भाव हुआ था। यह सोचकर शार्ङ्ग धनुष धारण करनेवाले रामानुज श्रीकृष्ण अपने पास बैठे हुए वृकोदर भीमसेनको, जो उस समय दयासे द्रवित हो रहे थे, अपने वचनोंद्वारा उसी प्रकार उत्तेजित करते हुए बोले, मानो वायु अग्निको उद्दीप्त कर रही हो ॥ १—३ ॥

श्रीभगवानुवाच

त्वमन्यदा भीमसेन युद्धमेव प्रशंससि ।
वधाभिनन्दिनः क्रूरान् धार्तराष्ट्रान् मिमर्दिषुः ॥ ४ ॥

श्रीभगवान् बोले—भैया भीमसेन ! आजके सिवा और दिन तो तुम हिंसासे ही प्रसन्न होनेवाले क्रूर धृतराष्ट्र-पुत्रोंको मसल डालनेकी इच्छा मनमें लेकर सदा युद्धकी ही प्रशंसा किया करते थे ॥ ४ ॥



न च स्वपिषि जागर्षि न्युब्जः शेषे परंतप ।
घोरामशान्तां रुषतीं सदा वाचं प्रभाषसे ॥ ५ ॥

परंतप ! (इन्हीं विचारोंमें डूबे रहनेके कारण) तुम रातमें सोते भी नहीं थे, जागते ही रहते थे। कभी सोना ही पड़ा, तो औंधे-मुँह लेट जाते और सदा घोर, अशान्त तथा रोषभरी बातें ही तुम्हारे मुँहसे निकलती थीं ॥ ५ ॥

निःश्वसन्नग्निवत् तेन संतप्तः स्वेन मन्युना ।
अप्रशान्तमना भीम सधूम इव पावकः ॥ ६ ॥

भीम ! तुम बारंबार लंबी साँस खींचते हुए अपने ही क्रोधसे उसी प्रकार संतप्त होते थे, जैसे आग अपने ही तेजसे तपी रहती है। धुएँसे व्याप्त हुई अग्निकी भाँति तुम्हारे नित्य-निरन्तर अशान्ति छायी रहती थी ॥ ६ ॥

एकान्ते निःश्वसञ्छेषे भारार्त इव दुर्बलः ।
अपि त्वां केचिदुन्मत्तं मन्यन्तेऽतद्विदो जनाः ॥ ७ ॥

भारी बोझसे पीड़ित दुर्बल मनुष्यकी भाँति तुम एकान्तमें बैठकर जोर-जोरसे साँस खींचते रहते थे। इसीलिये तुम्हें कुछ लोग, जो इस बातको नहीं जानते हैं, पागल मानते हैं ॥ ७ ॥

आरुज्य वृक्षान् निर्मूलान् गजः परिरुजन्निव ।
निघ्नन् पद्भिः क्षितिं भीम निष्टनन् परिधावसि ॥ ८ ॥

भीम ! जैसे हाथी वृक्षोंको जड़-मूलसहित उखाड़कर उन्हें पैरोंकी ठोकरोंसे टूक-टूक कर डालता है, उसी प्रकार तुम भी पैरोंसे पृथ्वीपर आघात करते हुए जोर जोरसे गर्जते और चारों ओर दौड़ते थे ॥ ८ ॥

नास्मिञ्जनेऽभिरमसे रहः क्षिपसि पाण्डव ।
नान्यं निशि दिवा चापि कदाचिदभिनन्दसि ॥ ९ ॥

पाण्डुनन्दन ! तुम कभी इस जनसमुदायमें प्रसन्नताका अनुभव नहीं करते थे; सदा एकान्तमें ही बैठकर कालक्षेप करते थे। दिन हो या रात, तुम कभी किसी दूसरेका अभिनन्दन नहीं करते थे ॥ ९ ॥

अकस्मात् स्मयमानश्च रहस्यास्से रुदन्निव ।
जान्वोर्मूर्धानमाधाय चिरमास्से प्रमीलितः ॥ १० ॥

कभी सहसा हँस पड़ते और कभी एकान्त स्थानमें रोते हुए-से प्रतीत होते थे और कभी घुटनोंपर मस्तक रखकर दीर्घकालतक नेत्र बंद किये बैठे रहते थे ॥ १० ॥

भ्रुकुटिं च पुनः कुर्वन्नोष्ठौ च विदशन्निव।
अभीक्ष्णं दृश्यसे भीम सर्वं तन्मन्युकारितम्॥ ११॥

भीमसेन! मैंने बार-बार तुम्हें भौंहें टेढ़ी करके दोनों ओठोंको चबाते हुए-से देखा है। यह सब तुम्हारे क्रोधकी करतूत है॥ ११॥

यथा पुरस्तात् सविता दृश्यते शुक्रमुच्चरन्।
यथा च पश्चान्निर्मुक्तो ध्रुवं पर्येति रश्मिवान्॥ १२॥
तथा सत्यं ब्रवीम्येतन्नास्ति तस्य व्यतिक्रमः।
हन्ताहं गदयाभ्येत्य दुर्योधनममर्षणम्॥ १३॥
इति स्म मध्ये भ्रातॄणां सत्येनालभसे गदाम्।
तस्य ते प्रशमे बुद्धिर्धीयतेऽद्य परंतप॥ १४॥

तुम अपने भाइयोंके बीचमें सत्यकी शपथ खाकर बार-बार गदा छूते हुए यह कहते थे—'जैसे सूर्यदेव पूर्वदिशामें उदित होते हुए अपने तेजोमण्डलको प्रकट करते दिखायी देते हैं और पश्चिम दिशामें वे ही अंशुमाली अस्ताचलको जाकर निश्चितरूपसे मेरुपर्वतकी परिक्रमा करते हैं, उनके इस नियममें कभी कोई अन्तर नहीं पड़ता; उसी प्रकार मैं यह सत्य कहता हूँ कि अमर्षशील दुर्योधनके पास जाकर अपनी गदासे उसके प्राण ले लूँगा। मेरे इस कथनमें कभी कोई अन्तर नहीं पड़ सकता।' परंतप! ऐसी प्रतिज्ञा करनेवाले तुम जैसे वीरशिरोमणिकी बुद्धि आज शान्ति-स्थापनमें लग रही है, (यह आश्चर्यकी बात है!)॥ १२–१४॥

अहो युद्धाभिकाङ्क्षाणां युद्धकाल उपस्थिते।
चेतांसि विप्रतीपानि यत् त्वां भीर्भीम विन्दति॥ १५॥

अहो! युद्धका अवसर उपस्थित होनेपर पहलेसे युद्धकी अभिलाषा रखनेवाले लोगोंके विचार भी इतने बदल जाते हैं कि वे विपरीत सोचने लगते हैं। भीमसेन! जान पड़ता है, इसीलिये तुम्हें भी युद्धसे भय होने लगा है॥ १५॥

अहो पार्थ निमित्तानि विपरीतानि पश्यसि।
स्वप्नान्ते जागरान्ते च तस्मात् प्रशममिच्छसि॥ १६॥

कुन्तीनन्दन! बड़े विस्मयकी बात है कि तुम्हें सोते और जागतेमें उलटे परिणामकी सूचना देनेवाले अपशकुन दिखायी देते हैं। इसीसे तुम शान्तिकी इच्छा प्रकट कर रहे हो॥

अहो नाशंससे किञ्चित् पुंस्त्वं क्लीब इवात्मनि।
कश्मलेनाभिपन्नोऽसि तेन ते विकृतं मनः॥ १७॥

अहो! कायर और नपुंसककी भाँति इस समय तुम अपनेमें कुछ भी पुरुषार्थ नहीं मानते। तुम्हारे ऊपर मोह छा गया है, जिससे तुम्हारी मानसिक दशा बिगड़ गयी है॥ १७॥

उद्वेपते ते हृदयं मनस्ते प्रतिसीदति।
ऊरुस्तम्भगृहीतोऽसि तस्मात् प्रशममिच्छसि॥ १८॥

जान पड़ता है कि तुम्हारा हृदय काँपता है, मन शिथिल होता जाता है, तुम्हारी जाँघें मानो अकड़ गयी हैं; इसीलिये तुम शान्ति चाहते हो॥ १८॥

अनित्यं किल मर्त्यस्य पार्थ चित्तं चलाचलम्।
वातवेगप्रचलिता अष्ठीला शाल्मलेरिव॥ १९॥

पार्थ! कहते हैं कि मनुष्यका चित्त सदा एक निश्चयपर अटल नहीं रहता। वह हवाके वेगसे हिलती हुई सेमलके फलकी गाँठके समान डाँवाडोल रहता है॥ १९॥

तवैषा विकृता बुद्धिर्गवां वागिव मानुषी।
मनांसि पाण्डुपुत्राणां मज्जयत्यप्लवानिव॥ २०॥

यदि गौएँ मनुष्योंकी बोली बोलें, तो वह जैसे बिगड़ी हुई होगी, उसी प्रकार तुम्हारी यह बुद्धि विकृत होकर अगाध समुद्रमें नावके बिना डूबनेवाले मनुष्योंकी भाँति पाण्डवोंके मनको चिन्तामग्न किये देती है॥ २०॥

इदं मे महदाश्चर्यं पर्वतस्येव सर्पणम्।
यदीदृशं प्रभाषेथा भीमसेनासमं वचः॥ २१॥

भीमसेन! तुम जो बात कह रहे हो, वह तुम्हारे योग्य कदापि नहीं है। जैसे पर्वतका चलना आश्चर्यकी बात है, उसी प्रकार तुम्हारे द्वारा किया हुआ यह शान्ति-प्रस्ताव मुझे महान् आश्चर्यमें डाल रहा है॥ २१॥

स दृष्ट्वा स्वानि कर्माणि कुले जन्म च भारत।
उत्तिष्ठस्व विषादं मा कृथा वीर स्थिरो भव॥ २२॥

भारत! तुम अपने कर्मोंकी ओर देखकर और जिस कुलमें तुम्हारा जन्म हुआ है, उसपर भी दृष्टिपात करके खड़े हो जाओ। वीरवर! विषाद न करो और अपने क्षत्रियोचित कर्मपर डट जाओ॥ २२॥

न चैतदनुरूपं ते यत् ते ग्लानिररिंदम।
यदोजसा न लभते क्षत्रियो न तदश्नुते॥ २३॥

शत्रुदमन! तुम्हारे चित्तमें जो ग्लानि उत्पन्न हुई है, यह तुम्हारे-जैसे शूरवीरके योग्य कदापि नहीं है। क्योंकि क्षत्रिय जिसे ओज एवं पराक्रमसे प्राप्त नहीं करता, उसे अपने उपभोगमें नहीं लाता है॥ २३॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि भीमोत्तेजकश्रीकृष्णवाक्ये पञ्चसप्ततितमोऽध्यायः॥ ७५॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें भीमोत्तेजकश्रीकृष्णवाक्यविषयक पचहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ ७५॥

षट्सप्ततितमोऽध्यायः

भीमसेनका उत्तर

वैशम्पायन उवाच

तथोक्तो वासुदेवेन नित्यमन्युरमर्षणः।
सदश्ववत् समाधावद् बभाषे तदनन्तरम् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! वसुदेवनन्दन भगवान् श्रीकृष्णके ऐसा कहनेपर सदा क्रोध और अमर्षमें भरे रहनेवाले भीमसेन पहले सुशिक्षित घोड़ेकी भाँति सरपट भागने लगे (जल्दी-जल्दी बोलने लगे); फिर धीरे-धीरे बोले ॥ १ ॥

भीमसेन उवाच

अन्यथा मां चिकीर्षन्तमन्यथा मन्यसेऽच्युत।
प्रणीतभावमत्यर्थं युधि सत्यपराक्रमम् ॥ २ ॥
वेत्सि दाशार्ह सत्यं मे दीर्घकालं सहोषितः।

भीमसेनने कहा—अच्युत ! मैं करना तो कुछ और चाहता हूँ, परंतु आप समझ कुछ और ही रहे हैं। दशार्हनन्दन ! आप दीर्घकालतक मेरे साथ रहे हैं। अतः मेरे विषयमें यह सच्ची जानकारी रखते ही होंगे कि मेरा युद्धमें अत्यन्त अनुराग है और मेरा पराक्रम भी मिथ्या नहीं है ॥ २½ ॥

उत वा मां न जानासि प्लवन् ह्रद इवाप्लवे ॥ ३ ॥
तस्मादनभिरूपाभिर्वाग्भिर्मां त्वं समर्च्छसि।

अथवा यह भी सम्भव है कि बिना नौकाके अगाध सरोवरमें तैरनेवाले पुरुषको जैसे उसकी गहराईका पता नहीं चलता, उसी तरह आप मुझे अच्छी तरह न जानते हों। इसीलिये आप अनुचित वचनोंद्वारा मुझपर आक्षेप कर रहे हैं ॥ ३½ ॥

कथं हि भीमसेनं मां जानन् कश्चन माधव ॥ ४ ॥
ब्रूयादप्रतिरूपाणि यथा मां वक्तुमर्हसि।

माधव ! मुझ भीमसेनको अच्छी तरह जाननेवाला कोई भी मनुष्य मेरे प्रति ऐसे अयोग्य वचन, जैसे आप कह रहे हैं, कैसे कह सकता है ? ॥ ४½ ॥

तस्मादिदं प्रवक्ष्यामि वचनं वृष्णिनन्दन ॥ ५ ॥
आत्मनः पौरुषं चैव बलं च न समं परैः।

वृष्णिकुलनन्दन ! इसीलिये मैं आपसे अपने उस पौरुष तथा बलका वर्णन करना चाहता हूँ, जिसकी समानता दूसरे लोग नहीं कर सकते ॥ ५½ ॥

सर्वथानार्यकर्मैतत् प्रशंसा स्वयमात्मनः ॥ ६ ॥
अतिवादापविद्धस्तु वक्ष्यामि बलमात्मनः।

यद्यपि स्वयं अपनी प्रशंसा करना सर्वथा नीच पुरुषोंका ही कार्य है, तथापि आपने जो मेरे सम्मानके विपरीत बातें कहकर मेरा तिरस्कार किया है, उससे पीड़ित होकर मैं अपने बलका बखान करता हूँ ॥ ६½ ॥

पश्येमे रोदसी कृष्ण ययोरासन्निमाः प्रजाः ॥ ७ ॥
अचले चाप्रतिष्ठे चाप्यनन्ते सर्वमातरौ।

श्रीकृष्ण ! आप इस भूतल और स्वर्गलोकपर दृष्टिपात करें। इन्हीं दोनोंके भीतर ये समस्त प्रजाजन निवास करते हैं। ये दोनों सबके माता-पिता हैं। इन्हें अचल एवं अनन्त माना गया है। ये दूसरोंके आधार होते हुए भी स्वयं आधार-शून्य हैं ॥ ७½ ॥

यदीमे सहसा क्रुद्धे समेयातां शिले इव ॥ ८ ॥
अहमेते निगृह्णीयां बाहुभ्यां सचराचरे।

यदि ये दोनों लोक सहसा कुपित होकर दो शिलाओंकी भाँति परस्पर टकराने लगें, तो मैं चराचर प्राणियोंसहित इन्हें अपनी दोनों भुजाओंसे रोक सकता हूँ ॥ ८½ ॥

पश्यैतदन्तरं बाह्वोर्महापरिघयोरिव ॥ ९ ॥
य एतत् प्राप्य मुच्येत न तं पश्यामि पूरुषम्।

लोहेके विशाल परिघोंकी भाँति मेरी इन मोटी भुजाओं-का मध्यभाग कैसा है, यह देख लीजिये। मैं ऐसे किसी वीर पुरुषको नहीं देखता, जो इनके भीतर आकर फिर जीवित निकल जाय ॥ ९½ ॥

हिमवांश्च समुद्रश्च वज्री वा बलभित् स्वयम् ॥ १० ॥
मयाभिपन्नं त्रायेरन् बलमास्थाय न त्रयः।

जो मेरी पकड़में आ जायगा, उसे हिमालय पर्वत, विशाल महासागर तथा बल नामक दैत्यका विनाश करनेवाले साक्षात् वज्रधारी इन्द्र—ये तीनों अपनी पूरी शक्ति लगाकर भी बचा नहीं सकते ॥ १०½ ॥

युद्धार्हान् क्षत्रियान् सर्वान् पाण्डवेष्वाततायिनः ॥ ११ ॥
अधः पादतलेनैतानधिष्ठास्यामि भूतले।

पाण्डवोंके प्रति आततायी बने हुए इन समस्त क्षत्रियों-को, जो युद्धके लिये उद्यत हुए हैं, मैं नीचे पृथ्वीपर गिरा-कर पैरोंतले रौंद डालूँगा ॥ ११½ ॥

न हि त्वं नाभिजानासि मम विक्रममच्युत ॥ १२ ॥
यथा मया विनिर्जित्य राजानो वशगाः कृताः।

अच्युत ! मैंने राजाओंको जिस प्रकार युद्धमें जीतकर अपने अधीन किया था, मेरे उस पराक्रमसे आप अपरिचित नहीं हैं ॥ १२½ ॥

अथ चेन्मां न जानासि सूर्यस्येवोद्यतः प्रभाम् ॥ १३ ॥
विगाढे युधि सम्बाधे वेत्स्यसे मां जनार्दन ।

जनार्दन ! यदि कदाचित् आप मुझे या मेरे पराक्रमको न जानते हों तो जब भयंकर संहारकारी घमासान युद्ध प्रारम्भ होगा, उस समय उगते हुए सूर्यकी प्रभाके समान आप मुझे अवश्य जान लेंगे ॥ १३½ ॥

परुषैराक्षिपसि किं व्रणं पूतिमिवोन्नयन् ॥ १४ ॥

पके हुए घावको चाकूसे चीरने या उकसानेवाले पुरुषके समान आप मुझे अपने कठोर वचनोंद्वारा तिरस्कृत क्यों कर रहे हैं ? ॥ १४ ॥

यथामति ब्रवीम्येतद् विद्धि मामधिकं ततः ।
द्रष्टासि युधि सम्बाधे प्रवृत्ते वैशसेऽहनि ॥ १५ ॥

मैं अपनी बुद्धिके अनुसार यहाँ जो कुछ कह रहा हूँ, उससे भी बढ़-चढ़कर मुझे समझें । जिस समय योद्धाओंसे खचाखच भरे हुए युद्धमें भयानक मार-काट मचेगी, उस दिन मुझे देखियेगा ॥ १५ ॥

मया प्रणुन्नान् मातङ्गान् रथिनः सादिनस्तथा ।
तथा नरानभिक्रुद्धं निघ्नन्तं क्षत्रियर्षभान् ॥ १६ ॥
द्रष्टा मां त्वं च लोकश्च विकर्षन्तं वरान् वरान् ।

जब (घमासान युद्धमें) मैं कुपित होकर मतवाले हाथियों, रथियों तथा घुड़सवारोंको धराशायी करना और फेंकना आरम्भ करूँगा एवं दूसरे श्रेष्ठ क्षत्रियवीरोंका वध करने लगूँगा, उस समय आप और दूसरे लोग भी मुझे देखेंगे कि मैं किस प्रकार चुन-चुनकर प्रधान-प्रधान वीरोंका संहार कर रहा हूँ ॥ १६½ ॥

न मे सीदन्ति मज्जानो न ममोद्वेपते मनः ॥ १७ ॥
सर्वलोकादभिक्रुद्धान्न भयं विद्यते मम ।
किं तु सौहृदमेवैतत् कृपया मधुसूदन ।
सर्वांस्तितिक्षे संक्लेशान् मा स्म नो भरता नशन् ॥ १८ ॥

मेरी मज्जा शिथिल नहीं हो रही है और न मेरा हृदय ही काँप रहा है । मधुसूदन ! यदि समस्त संसार अत्यन्त कुपित होकर मुझपर आक्रमण करे, तो भी उससे मुझे भय नहीं है; किंतु मैंने जो शान्तिका प्रस्ताव किया है, यह तो केवल मेरा सौहार्द ही है । मैं दयावश सारे क्लेश सह लेनेको तैयार हूँ और चाहता हूँ कि हमारे कारण भरतवंशियोंका नाश न हो ॥ १७-१८ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि भीमसेनवाक्ये षट्सप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें भीमसेनवाक्यसम्बन्धी छिहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ७६ ॥

सप्तसप्ततितमोऽध्यायः

श्रीकृष्णका भीमसेनको आश्वासन देना

श्रीभगवानुवाच

भावं जिज्ञासमानोऽहं प्रणयादिदमब्रुवम् ।
न चाक्षेपान्न पाण्डित्यान्न क्रोधान्न विवक्षया ॥ १ ॥

श्रीभगवान् बोले—भीमसेन ! मैंने तो तुम्हारा मनोभाव जाननेके लिये ही प्रेमसे ये बातें कही हैं, तुमपर आक्षेप करने, पण्डिताई दिखाने, क्रोध प्रकट करने या व्याख्यान देनेकी इच्छासे कुछ नहीं कहा है ॥ १ ॥

वेदाहं तव माहात्म्यमुत ते वेद यद् बलम् ।
उत ते वेद कर्माणि न त्वां परिभवाम्यहम् ॥ २ ॥

मैं तुम्हारे माहात्म्यको जानता हूँ । तुममें जो बल और पराक्रम है, उससे भी परिचित हूँ और तुमने जो बड़े-बड़े पराक्रम किये हैं, वे भी मुझसे छिपे नहीं हैं; अतः मैं तुम्हारा तिरस्कार नहीं करता ॥ २ ॥

यथा चात्मनि कल्याणं सम्भावयसि पाण्डव ।
सहस्रगुणमप्येतत् त्वयि सम्भावयाम्यहम् ॥ ३ ॥

पाण्डुनन्दन ! तुम अपनेमें जैसे कल्याणकारी गुणकी सम्भावना करते हो, उससे भी सहस्रगुने सद्गुणोंकी सम्भावना तुममें मैं करता हूँ ॥ ३ ॥

यादृशे च कुले जन्म सर्वराजाभिपूजिते ।
बन्धुभिश्च सुहृद्भिश्च भीम त्वमसि तादृशः ॥ ४ ॥

भीमसेन ! समस्त राजाओंद्वारा सम्मानित जैसे प्रतिष्ठित कुलमें तुम्हारा जन्म हुआ है, अपने बन्धुओं और सुहृदोंसहित तुम वैसी ही प्रतिष्ठाके योग्य हो ॥ ४ ॥

जिज्ञासन्तो हि धर्मस्य संदिग्धस्य वृकोदर ।
पर्यायं नाध्यवस्यन्ति दैवमानुषयोर्जनाः ॥ ५ ॥

वृकोदर ! दैवधर्म (प्रारब्ध) और मानुष धर्म (पुरुषार्थ) का स्वरूप संदिग्ध है । लोग दैव और पुरुषार्थ दोनोंके परिणामको जानना चाहते हैं, परंतु किसी निश्चय-तक पहुँच नहीं पाते ॥ ५ ॥

स एव हेतुर्भूत्वा हि पुरुषस्यार्थसिद्धिषु ।
विनाशेऽपि स एवास्य संदिग्धं कर्म पौरुषम् ॥ ६ ॥

क्योंकि उपर्युक्त पुरुषार्थ ही कभी पुरुषकी कार्य-सिद्धिमें

कारण बनकर कभी विनाशका भी हेतु बन जाता है। इस प्रकार जैसे दैवका फल संदिग्ध है, वैसे ही पुरुषार्थका भी फल संदिग्ध है ॥ ६ ॥

अन्यथा परिदृष्टानि कविभिर्दोषदर्शिभिः।
अन्यथा परिवर्तन्ते वेगा इव नभस्वतः ॥ ७ ॥

दोषदर्शी विद्वानोंद्वारा अन्य रूपमें देखे या विचारे हुए कर्म वायुके वेगोंकी भाँति बदलकर किसी दूसरे ही रूपमें परिवर्तित हो जाते हैं ॥ ७ ॥

सुमन्त्रितं सुनीतं च न्यायतश्चोपपादितम्।
कृतं मानुष्यकं कर्म दैवेनापि विरुध्यते ॥ ८ ॥

अच्छी तरह विचारपूर्वक निश्चित किये हुए, उत्तम नीतिसे युक्त तथा न्यायपूर्वक सम्पादित किये हुए मानव-सम्बन्धी पुरुषार्थसाध्य कर्म भी कभी दैववश बाधित हो जाते हैं—उनकी सिद्धिमें विघ्न पड़ जाता है ॥ ८ ॥

दैवमप्यकृतं कर्म पौरुषेण विहन्यते।
शीतमुष्णं तथा वर्षं क्षुत्पिपासे च भारत ॥ ९ ॥

भारत! दैवकृत कार्य भी समाप्त होनेसे पहले पुरुषार्थ-द्वारा नष्ट कर दिया जाता है। जैसे शीतका निवारण वस्त्रसे, गर्मीका व्यजनसे, वर्षाका छत्रसे और भूख-प्यासका निवारण अन्न और जलसे हो जाता है ॥ ९ ॥

यदन्यद् दिष्टभावस्य पुरुषस्य स्वयंकृतम्।
तस्मादनुपरोधश्च विद्यते तत्र लक्षणम् ॥ १० ॥

प्रारब्धके अतिरिक्त जो पुरुषका स्वयं अपना किया हुआ कर्म है, उससे भी फलकी सिद्धि होती है। इस विषयमें यथेष्ट उदाहरण मिलते हैं ॥ १० ॥

लोकस्य नान्यतो वृत्तिः पाण्डवान्यत्र कर्मणः।
एवंबुद्धिः प्रवर्तेत फलं स्यादुभयान्वये ॥ ११ ॥

पाण्डुनन्दन! पुरुषार्थको छोड़कर दूसरे किसी साधनसे—केवल दैवसे मनुष्यका जीवन-निर्वाह नहीं हो सकता। ऐसा विचारकर उसे कर्ममें प्रवृत्त होना चाहिये। फिर प्रारब्ध और पुरुषार्थ दोनोंके सम्बन्धसे फलकी प्राप्ति होगी ॥ ११ ॥

य एवं कृतबुद्धिः स कर्मस्वेव प्रवर्तते।
नासिद्धौ व्यथते तस्य न सिद्धौ हर्षमश्नुते ॥ १२ ॥

जो अपनी बुद्धिमें ऐसा निश्चय करके कर्मोंमें ही प्रवृत्त होता है, वह फलकी सिद्धि न होनेपर दुखी नहीं होता और फलकी प्राप्ति होनेपर भी हर्षका अनुभव नहीं करता ॥ १२ ॥

तत्रेयमनुमात्रा मे भीमसेन विवक्षिता।
नैकान्तसिद्धिर्वक्तव्या शत्रुभिः सह संयुगे ॥ १३ ॥

भीमसेन! मुझे इस विषयमें अपना यह निश्चय बताना अभीष्ट है कि युद्धमें शत्रुओंके साथ भिड़नेपर अवश्य ही विजय प्राप्त होगी, यह नहीं कहा जा सकता ॥ १३ ॥

नातिप्रहीणरश्मिः स्यात् तथा भावविपर्यये।
विषादमृच्छेद् ग्लानिं वाप्येतमर्थं ब्रवीमि ते ॥ १४ ॥

मनोभाव बदल जाय अथवा प्रारब्धके अनुसार कोई विपरीत घटना घटित हो जाय, तो भी सहसा अपने तेज और उत्साहको सर्वथा नहीं छोड़ना चाहिये। विषाद एवं ग्लानिका अनुभव नहीं करना चाहिये—यह बात भी मैंने तुम्हें आवश्यक समझकर बतायी है ॥ १४ ॥

श्वोभूते धृतराष्ट्रस्य समीपं प्राप्य पाण्डव।
यतिष्ये प्रशमं कर्तुं युष्मदर्थमहापयन् ॥ १५ ॥

पाण्डुनन्दन! कल सबेरे मैं राजा धृतराष्ट्रके समीप जाकर तुमलोगोंके स्वार्थकी सिद्धिमें तनिक भी बाधा न पहुँचाते हुए दोनों पक्षोंमें संधि करानेका प्रयत्न करूँगा ॥

शमं चेत् ते करिष्यन्ति ततोऽनन्तं यशो मम।
भवतां च कृतः कामस्तेषां च श्रेय उत्तमम् ॥ १६ ॥

यदि वे संधि स्वीकार कर लेंगे तो मुझे अक्षय यशकी प्राप्ति होगी। तुमलोगोंका मनोरथ भी पूर्ण होगा और कौरवोंका भी परम कल्याण होगा ॥ १६ ॥

ते चेदभिनिवेक्ष्यन्ते नाभ्युपैष्यन्ति मे वचः।
कुरवो युद्धमेवात्र घोरं कर्म भविष्यति ॥ १७ ॥

यदि वे कौरव युद्धका ही आग्रह दिखायेंगे और मेरे संधि विषयक प्रस्तावको ठुकरा देंगे, तब यहाँ युद्ध ही होगा, जो भयंकर कर्म है ॥ १७ ॥

अस्मिन् युद्धे भीमसेन त्वयि भारः समाहितः।
धूरर्जुनेन धार्या स्याद् वोढव्य इतरो जनः ॥ १८ ॥

भीमसेन! इस युद्धमें सारा भार तुम्हारे ऊपर ही रक्खा जायगा एवं अर्जुन इस भारको धारण करेगा। अन्य लोगों-का भार भी तुम्हीं दोनोंको ढोना है ॥ १८ ॥

अहं हि यन्ता बीभत्सोर्भविता संयुगे सति।
धनंजयस्यैष कामो न हि युद्धं न कामये ॥ १९ ॥

युद्ध आरम्भ होनेपर मैं अर्जुनका सारथि बनूँगा। यही अर्जुनकी इच्छा है। तुम यह न समझो कि मैं युद्ध होने देना नहीं चाहता ॥ १९ ॥

तस्मादाशङ्कमानोऽहं वृकोदर मतिं तव।
गदतः क्लीबया वाचा तेजस्ते समदीदिपम् ॥ २० ॥

वृकोदर ! इसीलिये जब तुम कायरतापूर्ण वचनोंद्वारा शान्तिका प्रस्ताव करने लगे, तब मुझे तुम्हारे युद्धविषयक विचारके बदल जानेका संदेह हुआ, जिसके कारण पूर्वोक्त बातें कहकर मैंने तुम्हारे तेजको उद्दीप्त किया ॥ २० ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि कृष्णवाक्ये सप्तसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें श्रीकृष्णवाक्यविषयक सतहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ७७ ॥

अष्टसप्ततितमोऽध्यायः

अर्जुनका कथन

अर्जुन उवाच

उक्तं युधिष्ठिरेणैव यावद् वाच्यं जनार्दन ।
तव वाक्यं तु मे श्रुत्वा प्रतिभाति परंतप ॥ १ ॥
नैव प्रशममत्र त्वं मन्यसे सुकरं प्रभो ।
लोभाद् वा धृतराष्ट्रस्य दैन्याद् वा समुपस्थितात् ॥ २ ॥

तदनन्तर अर्जुनने कहा--जनार्दन ! मुझे जो कुछ कहना था, वह सब तो महाराज युधिष्ठिरने ही कह दिया। शत्रुओंको संतप्त करनेवाले प्रभो ! आपकी बात सुनकर मुझे ऐसा जान पड़ता है कि आप धृतराष्ट्रके लोभ तथा हमारी प्रस्तुत दीनताके कारण संधि करानेका कार्य सरल नहीं समझ रहे हैं ॥ १-२ ॥

अफलं मन्यसे वापि पुरुषस्य पराक्रमम् ।
न चान्तरेण कर्माणि पौरुषेण फलोदयः ॥ ३ ॥

अथवा आप मनुष्यके पराक्रमको निष्फल मानते हैं; क्योंकि पूर्वजन्मके कर्म (प्रारब्ध) के बिना केवल पुरुषार्थसे किसी फलकी प्राप्ति नहीं होती ॥ ३ ॥

तदिदं भाषितं वाक्यं तथा च न तथैव तत् ।
न चैतदेवं द्रष्टव्यमसाध्यमपि किंचन ॥ ४ ॥

आपने जो बात कही है, वह ठीक है; परंतु सदा वैसा ही हो, यह नहीं कहा जा सकता। किसी भी कार्यको असाध्य नहीं समझना चाहिये ॥ ४ ॥

किं चैतन्मन्यसे कृच्छ्रमस्माकमवसादकम् ।
कुर्वन्ति तेषां कर्माणि येषां नास्ति फलोदयः ॥ ५ ॥

आप ऐसा मानते हैं कि हमारा यह वर्तमान कष्ट ही हमें पीडित करनेवाला है; परंतु वास्तवमें हमारे शत्रुओंके किये हुए वे कार्य ही हमें कष्ट दे रहे हैं, जिनका उनके लिये भी कोई विशेष फल नहीं है ॥ ५ ॥

सम्पाद्यमानं सम्यक् च स्यात् कर्म सफलं प्रभो ।
स तथा कृष्ण वर्तस्व यथा शर्म भवेत् परैः ॥ ६ ॥

प्रभो ! जिस कार्यको अच्छी तरह किया जाय, वह सफल हो सकता है। श्रीकृष्ण ! आप ऐसा ही प्रयत्न करें, जिससे शत्रुओंके साथ हमारी संधि हो जाय ॥ ६ ॥

पाण्डवानां कुरूणां च भवान् नः प्रथमः सुहृत् ।
सुराणामसुराणां च यथा वीर प्रजापतिः ॥ ७ ॥

वीरवर ! जैसे प्रजापति ब्रह्माजी देवताओं तथा असुरोंके भी प्रधान हितैषी हैं, उसी प्रकार आप हम पाण्डवों तथा कौरवोंके भी प्रधान सुहृद् हैं ॥ ७ ॥

कुरूणां पाण्डवानां च प्रतिपत्स्व निरामयम् ।
अस्मद्धितमनुष्ठानं मन्ये तव न दुष्करम् ॥ ८ ॥

इसलिये आप ऐसा प्रयत्न कीजिये, जिससे कौरवों तथा पाण्डवोंके भी दुःखका निवारण हो जाय। मेरा विश्वास है कि हमारे लिये हितकर कार्य करना आपके लिये दुष्कर नहीं है ॥ ८ ॥

एवं च कार्यतामेति कार्यं तव जनार्दन ।
गमनादेवमेव त्वं करिष्यसि जनार्दन ॥ ९ ॥

जनार्दन ! ऐसा करना आपके लिये अत्यन्त आवश्यक कर्तव्य है। प्रभो ! आप वहाँ जानेमात्रसे यह कार्य सफलतापूर्वक सम्पन्न कर लेंगे ॥ ९ ॥

चिकीर्षितमथान्यत् ते तस्मिन् वीर दुरात्मनि ।
भविष्यति च तत् सर्वं यथा तव चिकीर्षितम् ॥ १० ॥

वीर ! उस दुरात्मा दुर्योधनके प्रति आपको कुछ और करना अभीष्ट हो, तो जैसी आपकी इच्छा होगी, वह सब कार्य उसी रूपमें सम्पन्न होगा ॥ १० ॥

शर्म तैः सह वा नोऽस्तु तव वा यच्चिकीर्षितम् ।
विचार्यमाणो यः कामस्तव कृष्ण स नो गुरुः ।
न स नार्हति दुष्टात्मा वधं ससुतबान्धवः ॥ ११ ॥
येन धर्मसुते दृष्ट्वा न सा श्रीरुपमर्षिता ।
यच्चाप्यपश्यतोपायं धर्मिष्ठं मधुसूदन ॥ १२ ॥
उपायेन नृशंसेन हृता दुर्द्यूतदेविना ।

श्रीकृष्ण ! कौरवोंके साथ हमारी संधि हो अथवा आप जो कुछ करना चाहते हों, वही हो। विचार करनेपर हम इसी निष्कर्षपर पहुँचते हैं कि आपकी जो इच्छा हो, वही हमारे लिये गौरव तथा समादरकी वस्तु है। वह दुष्टात्मा दुर्योधन अपने पुत्रों और बन्धु-बान्धवोंसहित वधके

ही योग्य है, जो धर्मपुत्र युधिष्ठिरके पास आयी हुई सम्पत्ति देखकर उसे सहन न कर सका। इतना ही नहीं, जब कपटद्यूतका आश्रय लेनेवाले उस क्रूरात्माने किसी धर्मसम्मत उपाय युद्ध आदिको अपने लिये सफलता देनेवाला नहीं देखा, तब कपटपूर्ण उपायसे उस सम्पत्तिका अपहरण कर लिया ॥ ११-१२½ ॥

कथं हि पुरुषो जातः क्षत्रियेषु धनुर्धरः ॥ १३ ॥
समाहूतो निवर्तेत प्राणत्यागेऽप्युपस्थिते ।

क्षत्रियकुलमें उत्पन्न हुआ कोई भी धनुर्धर पुरुष किसीके द्वारा युद्धके लिये आमन्त्रित होनेपर कैसे पीछे हट सकता है? भले ही वैसा करनेपर उसके लिये प्राणत्यागका संकट भी उपस्थित हो जाय ॥ १३½॥

अधर्मेण जितान् दृष्ट्वा वने प्रव्रजितांस्तथा ॥ १४ ॥
वध्यतां मम वार्ष्णेय निर्गतोऽसौ सुयोधनः ।

वृष्णिकुलनन्दन! हमलोग अधर्मपूर्वक जूएमें पराजित किये गये और वनमें भेज दिये गये। यह सब देखकर मैंने मन-ही-मन पूर्णरूपसे निश्चय कर लिया था कि दुर्योधन मेरे द्वारा वधके योग्य है ॥ १४½ ॥

न चैतदद्भुतं कृष्ण मित्रार्थे यच्चिकीर्षसि ।
क्रिया कथं च मुख्या स्यान्मृदुना चेतरेण वा ॥ १५ ॥

श्रीकृष्ण! आप मित्रोंके हितके लिये जो कुछ करना चाहते हैं, वह आपके लिये अद्भुत नहीं है। मृदु अथवा कठोर, जिस उपायसे भी सम्भव है, किसी तरह अपना मुख्य कार्य सफल होना चाहिये ॥ १५ ॥

अथवा मन्यसे ज्यायान् वधस्तेषामनन्तरम् ।
तदेव क्रियतामाशु न विचार्यमतस्त्वया ॥ १६ ॥

अथवा यदि आप अब कौरवोंका वध ही श्रेष्ठ मानते हों तो वही शीघ्र-से-शीघ्र किया जाय। फिर इसके सिवा और किसी बातपर आपको विचार नहीं करना चाहिये ॥

जानासि हि यथैतेन द्रौपदी पापबुद्धिना ।
परिक्लिष्टा सभामध्ये तच्च तस्योपमर्षितम् ॥ १७ ॥

आप जानते हैं, इस पापात्मा दुर्योधनने भरी सभामें द्रुपदकुमारी कृष्णाको कितना कष्ट पहुँचाया था, परंतु हमने उसके इस महान् अपराधको भी चुपचाप सह लिया था ॥

स नाम सम्यग् वर्तेत पाण्डवेष्विति माधव ।
न मे संजायते बुद्धिर्बीजमुप्तमिवोषरे ॥ १८ ॥

माधव! वही दुर्योधन अब पाण्डवोंके साथ अच्छा बर्ताव करेगा, ऐसी बात मेरी बुद्धिमें जँच नहीं रही है। उसके साथ संधिका सारा प्रयत्न ऊसरमें बोये हुए बीजकी भाँति व्यर्थ ही है ॥ १८ ॥

तस्माद् यन्मन्यसे युक्तं पाण्डवानां हितं च यत् ।
तथाऽऽशु कुरु वार्ष्णेय यन्नः कार्यमनन्तरम् ॥ १९ ॥

अतः वृष्णिकुलभूषण श्रीकृष्ण! आप पाण्डवोंके लिये अबसे करने योग्य जो उचित एवं हितकर कार्य मानते हों, वही यथासम्भव शीघ्र आरम्भ कीजिये ॥ १९ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि अर्जुनवाक्येऽष्टसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें अर्जुनवाक्यविषयक अठहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ७८ ॥

एकोनाशीतितमोऽध्यायः

श्रीकृष्णका अर्जुनको उत्तर देना

श्रीभगवानुवाच

एवमेतन्महाबाहो यथा वदसि पाण्डव ।
पाण्डवानां कुरूणां च प्रतिपत्स्ये निरामयम् ॥ १ ॥

श्रीभगवान् बोले—महाबाहु पाण्डुकुमार! तुम जैसा कहते हो, वैसा ही करना उचित है। मैं वही करनेका प्रयत्न करूँगा, जिससे कौरव तथा पाण्डव—दोनोंका संकट दूर हो—दोनों सुखी हो सकें ॥ १ ॥

सर्वं त्विदं ममायत्तं बीभत्सो कर्मणोर्द्वयोः ।
क्षेत्रं हि रसवच्छुद्धं कर्मणैवोपपादितम् ॥ २ ॥
ऋते वर्षान्न कौन्तेय जातु निर्वर्तयेत् फलम् ।

अर्जुन! इसमें संदेह नहीं कि शान्ति और युद्ध—इन दोनों कार्योंमेंसे किसी एकको हितकर समझकर अपनानेका सारा दायित्व मेरे हाथमें आ गया है; तथापि (इसमें प्रारब्धकी अनुकूलता अपेक्षित है) कुन्तीनन्दन! जुताई और सिंचाई करके कितना ही शुद्ध और सरस बनाया हुआ खेत क्यों न हो, कभी-कभी वर्षाके बिना वह अच्छी उपज नहीं दे सकता ॥ २½ ॥

तत्र वै पौरुषं ब्रूयुरासेकं यत्र कारितम् ॥ ३ ॥
तत्र चापि ध्रुवं पश्येच्छोषणं दैवकारितम् ।

जिस खेतमें जुताई और सिंचाई की गयी है, वहाँ यह पुरुषार्थ ही किया गया है; परंतु वहाँ भी दैववश सूखा पड़ गया, यह निश्चितरूपसे देखा जाता है [अतः पुरुषार्थकी सफलताके लिये प्रारब्धकी अनुकूलता आवश्यक है] ॥ ३½ ॥

तदिदं निश्चितं बुद्ध्या पूर्वैरपि महात्मभिः ॥ ४ ॥
दैवे च मानुषे चैव संयुक्तं लोककारणम् ।

इसलिये पूर्वकालके महात्माओंने अपनी बुद्धिद्वारा यही निश्चय किया है कि लोकहितका साधन दैव तथा पुरुषार्थ दोनोंपर निर्भर है ॥ ४½ ॥

अहं हि तत् करिष्यामि परं पुरुषकारतः ॥ ५ ॥
दैवं तु न मया शक्यं कर्म कर्तुं कथंचन ।

मैं पुरुषार्थसे जितना हो सकता है, उतना संधिस्थापनके लिये अधिक-से-अधिक प्रयत्न करूँगा; परंतु प्रारब्धके विधानको किसी प्रकार भी टाल देना या बदल देना मेरे लिये सम्भव नहीं है ॥ ५½ ॥

स हि धर्मं च लोकं च त्यक्त्वा चरति दुर्मतिः ॥ ६ ॥
न हि संतप्यते तेन तथारूपेण कर्मणा ।

दुर्बुद्धि दुर्योधन सदा धर्म और लोकाचारको छोड़कर ही चलता है; परंतु इस प्रकार धर्म और लोकके विरुद्ध कार्य करके भी वह उससे संतप्त नहीं होता ॥ ६½ ॥

तथापि बुद्धिं पापिष्ठां वर्धयन्त्यस्य मन्त्रिणः ॥ ७ ॥
शकुनिः सूतपुत्रश्च भ्राता दुःशासनस्तथा ।

इतनेपर भी उसके मन्त्री शकुनि, सूतपुत्र कर्ण तथा भाई दुःशासन—ये उसकी अत्यन्त पापपूर्ण बुद्धिको बढ़ावा देते रहते हैं ॥ ७½ ॥

स हि त्यागेन राज्यस्य न शमं समुपैष्यति ॥ ८ ॥
अन्तरेण वधं पार्थ सानुबन्धः सुयोधनः ।

कुन्तीनन्दन ! अपने सगे-सम्बन्धियोंसहित दुर्योधन जबतक मारा नहीं जायगा, तबतक वह राज्यभाग देकर कदापि संधि नहीं करेगा ॥ ८½ ॥

न चापि प्रणिपातेन त्यक्तुमिच्छति धर्मराट् ।
याच्यमानश्च राज्यं स न प्रदास्यति दुर्मतिः ॥ ९ ॥

धर्मराज युधिष्ठिर भी नम्रतापूर्वक संधिके लिये अपना राज्य छोड़ना नहीं चाहते हैं। उधर दुर्बुद्धि दुर्योधन माँगनेपर भी राज्य नहीं देगा ॥ ९ ॥

न तु मन्ये स तद् वाच्यो यद् युधिष्ठिरशासनम् ।
उक्तं प्रयोजनं यत् तु धर्मराजेन भारत ॥ १० ॥
तथा पापस्तु तत् सर्वं न करिष्यति कौरवः ।
तस्मिंश्चाक्रियमाणेऽसौ लोके वध्यो भविष्यति ॥ ११ ॥

भरतनन्दन ! धर्मराज युधिष्ठिरने केवल पाँच गाँवोंको माँगनेके लिये जो आज्ञा दी है तथा नम्रतापूर्ण वचनोंमें जो संधिका प्रयोजन बताया है, वह सब दुर्योधनसे कहना उचित नहीं है—ऐसा मैं मानता हूँ; क्योंकि वह कुरुकुल-कलंक पापात्मा उन सब बातोंको कभी स्वीकार नहीं करेगा । हमलोगोंका प्रस्ताव स्वीकार न करनेपर वह इस जगत्में अवश्य ही वधके योग्य हो जायगा ॥ १०-११ ॥

मम चापि स वध्यो हि जगतश्चापि भारत ।
येन कौमारके यूयं सर्वे विप्रकृताः सदा ॥ १२ ॥
विप्रलुप्तं च वो राज्यं नृशंसेन दुरात्मना ।
न चोपशाम्यते पापः श्रियं दृष्ट्वा युधिष्ठिरे ॥ १३ ॥

भारत ! जिसने तुम सब लोगोंको कुमारावस्थामें भी सदा नाना प्रकारके कष्ट दिये हैं; जिस दुरात्मा एवं निर्दयीने तुम्हारे राज्यका भी अपहरण कर लिया है तथा जो पापी दुर्योधन युधिष्ठिरके पास सम्पत्ति देखकर शान्त नहीं रह सकता है, वह मेरे और समस्त संसारके लिये भी वध्य है ॥ १२-१३ ॥

असकृच्चाप्यहं तेन त्वत्कृते पार्थ भेदितः ।
न मया तद् गृहीतं च पापं तस्य चिकीर्षितम् ॥ १४ ॥

कुन्तीनन्दन ! उसने मुझे भी तुम्हारी ओरसे फोड़नेके लिये अनेक बार चेष्टा की है; परंतु मैंने उसके पापपूर्ण प्रस्तावको कभी स्वीकार नहीं किया है ॥ १४ ॥

जानासि हि महाबाहो त्वमप्यस्य परं मतम् ।
प्रियं चिकीर्षमाणं च धर्मराजस्य मामपि ॥ १५ ॥

महाबाहो ! तुम जानते ही हो कि दुर्योधनकी भी मेरे विषयमें यही निश्चित धारणा है कि मैं धर्मराज युधिष्ठिरका प्रिय करना चाहता हूँ ॥ १५ ॥

संजानंस्तस्य चात्मानं मम चैव परं मतम् ।
अजानन्निव मां कस्मादर्जुनाद्याभिशङ्कसे ॥ १६ ॥

अर्जुन ! इस प्रकार तुम दुर्योधनके मनकी भावना तथा मेरे दृढ़ निश्चयको जानते हुए भी आज अनजानकी भाँति क्यों मुझपर संदेह कर रहे हो ? ॥ १६ ॥

यच्चापि परमं दिव्यं तच्चाप्यनुगतं त्वया ।
विधानं विहितं पार्थ कथं शर्म भवेत् परैः ॥ १७ ॥

कुन्तीकुमार ! जो देवताओंका परम दिव्य (भूभार उतारनेके लिये) निश्चित विधान है, उससे भी तुम सर्वथा परिचित हो । फिर शत्रुओंके साथ संधि कैसे हो सकती है ? ॥

यत् तु वाचा मया शक्यं कर्मणा चापि पाण्डव ।
करिष्ये तदहं पार्थ न त्वाशंसे शमं परैः ॥ १८ ॥

पाण्डुनन्दन ! मेरे द्वारा वाणी और प्रयत्नसे जो कुछ हो सकता है, वह मैं अवश्य करूँगा; परंतु पार्थ ! मुझे यह तनिक भी आशा नहीं है कि शत्रुओंके साथ संधि हो जायगी ॥ १८ ॥

कथं गोहरणे ह्युक्तो नैतच्छर्म तथा हितम् ।
याच्यमानो हि भीष्मेण संवत्सरगतेऽध्वनि ॥ १९ ॥

विराटनगरमें गोहरणके समय तुम्हारे अज्ञातवासका वर्ष पूरा हो चुका था । उस समय भीष्मजीने मार्गमें दुर्योधनसे

याचना की कि तुम पाण्डवोंको उनका राज्य देकर उनसे मेल कर लो; परंतु यह कल्याण और हितकी बात भी उसने किसी प्रकार स्वीकार नहीं की ॥ १९ ॥

तदैव ते पराभूता यदा संकल्पितास्त्वया।
लवशः क्षणशश्चापि न च तुष्टः सुयोधनः ॥ २० ॥

जब तुमने कौरवोंको पराजित करनेका संकल्प किया, उसी समय वे पराजित हो गये। परंतु दुर्योधन तुमलोगोंपर क्षणभरके लिये किञ्चिन्मात्र भी संतुष्ट नहीं है ॥ २० ॥

सर्वथा तु मया कार्यं धर्मराजस्य शासनम्।
विभाव्यं तस्य भूयश्च कर्म पापं दुरात्मनः ॥ २१ ॥

मुझे वहाँ जाकर सबसे पहले धर्मराजकी आज्ञाके अनुसार संधिके लिये सब प्रकारसे प्रयत्न करना है। यदि यह सफल न हुआ तो फिर मुझे यह विचार करना होगा कि दुरात्मा दुर्योधनको उसके पापकर्मका दण्ड कैसे दिया जाय? ॥ २१ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि श्रीकृष्णवाक्ये एकोनाशीतितमोऽध्यायः ॥ ७९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें श्रीकृष्णवाक्यविषयक उन्नासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ७९ ॥

अशीतितमोऽध्यायः

नकुलका निवेदन

नकुल उवाच

उक्तं बहुविधं वाक्यं धर्मराजेन माधव।
धर्मज्ञेन वदान्येन श्रुतं चैव हि तत् त्वया ॥ १ ॥

नकुल बोले—माधव! धर्मज्ञ और उदार धर्मराजने बहुत-सी बातें कही हैं और आपने उन्हें सुना है ॥ १ ॥

मतमाज्ञाय राज्ञश्च भीमसेनेन माधव।
संशमो बाहुवीर्यं च ख्यापितं माधवात्मनः ॥ २ ॥

यदुकुलभूषण! राजाका मत जानकर भाई भीमसेनने भी पहले संधिस्थापनकी, फिर अपने बाहुबलकी बात बतायी है ॥ २ ॥

तथैव फाल्गुनेनापि यदुक्तं तत् त्वया श्रुतम्।
आत्मनश्च मतं वीर कथितं भवतासकृत् ॥ ३ ॥

वीर! इसी प्रकार अर्जुनने भी जो कुछ कहा है, वह भी आपने सुन ही लिया है। आपका जो अपना मत है, उसे भी आपने अनेक बार प्रकट किया है ॥ ३ ॥

सर्वमेतदतिक्रम्य श्रुत्वा परमतं भवान्।
यत् प्राप्तकालं मन्येथास्तत् कुर्याः पुरुषोत्तम ॥ ४ ॥

परंतु पुरुषोत्तम! इन सब बातोंको पीछे छोड़कर और विपक्षियोंके मतको अच्छी तरह सुनकर आपको समयके अनुसार जो कर्तव्य उचित जान पड़े, वही कीजियेगा ॥ ४ ॥

तस्मिंस्तस्मिन् निमित्ते हि मतं भवति केशव।
प्राप्तकालं मनुष्येण क्षमं कार्यमरिंदम ॥ ५ ॥

शत्रुओंका दमन करनेवाले केशव! भिन्न-भिन्न कारण उपस्थित होनेपर मनुष्योंके विचार भी भिन्न-भिन्न प्रकारके हो जाते हैं; अतः मनुष्यको वही कार्य करना चाहिये, जो उसके योग्य और समयोचित हो ॥ ५ ॥

अन्यथा चिन्तितो ह्यर्थः पुनर्भवति सोऽन्यथा।
अनित्यमतयो लोके नराः पुरुषसत्तम ॥ ६ ॥

पुरुषश्रेष्ठ! किसी वस्तुके विषयमें सोचा कुछ और जाता है और हो कुछ और ही जाता है। संसारके मनुष्य स्थिर विचारवाले नहीं होते हैं ॥ ६ ॥

अन्यथा बुद्धयो ह्यासन्नस्मासु वनवासिषु।
अदृश्येष्वन्यथा कृष्ण दृश्येषु पुनरन्यथा ॥ ७ ॥

श्रीकृष्ण! जब हम वनमें निवास करते थे, उस समय हमारे विचार कुछ और ही थे, अज्ञातवासके समय वे बदलकर कुछ और हो गये और उस अवधिको पूर्ण करके जब हम सबके सामने प्रकट हुए हैं, तबसे हमलोगोंका विचार कुछ और हो गया है ॥ ७ ॥

अस्माकमपि वार्ष्णेय वने विचरतां तदा।
न तथा प्रणयो राज्ये यथा सम्प्रति वर्तते ॥ ८ ॥

वृष्णिनन्दन! वनमें विचरते समय राज्यके विषयमें हमारा वैसा आकर्षण नहीं था, जैसा इस समय है ॥ ८ ॥

निवृत्तवनवासान् नः श्रुत्वा वीर समागताः।
अक्षौहिण्यो हि सप्तेमास्त्वत्प्रसादाज्जनार्दन ॥ ९ ॥

वीर जनार्दन! हमलोग वनवासकी अवधि पूरी करके आ गये हैं; यह सुनकर आपकी कृपासे ये सात अक्षौहिणी सेनाएँ यहाँ एकत्र हो गयी हैं ॥ ९ ॥

इमान् हि पुरुषव्याघ्रानचिन्त्यबलपौरुषान्।
आत्तशस्त्रान् रणे दृष्ट्वा न व्यथेदिह कः पुमान् ॥ १० ॥

यहाँ जो पुरुषसिंह वीर उपस्थित हैं, इनके बल और पौरुष अचिन्त्य हैं। रणभूमिमें इन्हें अस्त्र-शस्त्रोंसे सुसज्जित देखकर किस पुरुषका हृदय भयभीत न हो उठेगा? ॥ १० ॥

स भवान् कुरुमध्ये तं सान्त्वपूर्वं भयोत्तरम्।
ब्रूयाद् वाक्यं यथा मन्दो न व्यथेत सुयोधनः॥ ११॥

आप कौरवोंके बीचमें उससे पहले सान्त्वनापूर्ण बातें कहियेगा और अन्तमें युद्धका भय भी दिखाइयेगा, जिससे मूर्ख दुर्योधनके मनमें व्यथा न हो॥ ११॥

युधिष्ठिरं भीमसेनं बीभत्सुं चापराजितम्।
सहदेवं च मां चैव त्वां च रामं च केशव॥ १२॥
सात्यकिं च महावीर्यं विराटं च सहात्मजम्।
द्रुपदं च सहामात्यं धृष्टद्युम्नं च माधव॥ १३॥
काशिराजं च विक्रान्तं धृष्टकेतुं च चेदिपम्।
मांसशोणितभृन्मर्त्यः प्रतियुध्येत को युधि॥ १४॥

केशव! अपने शरीरमें मांस और रक्तका बोझ बढ़ानेवाला कौन ऐसा मनुष्य है, जो युद्धमें युधिष्ठिर, भीमसेन, किसीसे पराजित न होनेवाले अर्जुन, सहदेव, बलराम, महापराक्रमी सात्यकि, पुत्रोंसहित विराट, मन्त्रियोंसहित द्रुपद, धृष्टद्युम्न, पराक्रमी काशिराज, चेदिनरेश धृष्टकेतु तथा आपका और मेरा सामना कर सके?॥ १२—१४॥

स भवान् गमनादेव साधयिष्यत्यसंशयम्।
इष्टमर्थं महाबाहो धर्मराजस्य केवलम्॥ १५॥

महाबाहो! आप वहाँ केवल जानेमात्रसे धर्मराजके अभीष्ट मनोरथको सिद्ध कर देंगे; इसमें संशय नहीं है॥ १५॥

विदुरश्चैव भीष्मश्च द्रोणश्च सहबाह्लिकः।
श्रेयः समर्था विज्ञातुमुच्यमानास्त्वयानघ॥ १६॥

निष्पाप श्रीकृष्ण! विदुर, भीष्म, द्रोणाचार्य तथा बाह्लीक—ये आपके बतानेपर कल्याणकारी मार्गको समझनेमें समर्थ हैं॥ १६॥

ते चैनमनुनेष्यन्ति धृतराष्ट्रं जनाधिपम्।
तं च पापसमाचारं सहामात्यं सुयोधनम्॥ १७॥

ये लोग राजा धृतराष्ट्र तथा मन्त्रियोंसहित पापाचारी दुर्योधनको (समझा-बुझाकर) राहपर लायँगे॥ १७॥

श्रोता चार्थस्य विदुरस्त्वं च वक्ता जनार्दन।
कमिवार्थं निवर्तन्तं स्थापयेतां न वर्त्मनि॥ १८॥

जनार्दन! जहाँ विदुरजी किसी प्रयोजनको सुनें और आप उसका प्रतिपादन करें, वहाँ आप दोनों मिलकर किस बिगड़ते हुए कार्यको सिद्धिके मार्गपर नहीं ला देंगे?॥ १८॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि नकुलवाक्ये अशीतितमोऽध्यायः॥ ८०॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें नकुलवाक्यविषयक अस्सीवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ ८०॥

एकाशीतितमोऽध्यायः

युद्धके लिये सहदेव तथा सात्यकिकी सम्मति और समस्त योद्धाओंका समर्थन

सहदेव उवाच

यदेतत् कथितं राज्ञा धर्म एष सनातनः।
यथा च युद्धमेव स्यात् तथा कार्यमरिंदम॥ १॥

सहदेव बोले—शत्रुदमन श्रीकृष्ण! महाराज युधिष्ठिरने यहाँ जो कुछ कहा है, यह सनातन धर्म है; परंतु मेरा कथन यह है कि आपको ऐसा प्रयत्न करना चाहिये, जिससे युद्ध होकर ही रहे॥ १॥

यदि प्रशममिच्छेयुः कुरवः पाण्डवैः सह।
तथापि युद्धं दाशार्ह योजयेथाः सहैव तैः॥ २॥

दशार्हनन्दन! यदि कौरव पाण्डवोंके साथ संधि करना चाहें, तो भी आप उनके साथ युद्धकी ही योजना बनाइयेगा॥ २॥

कथं नु दृष्ट्वा पाञ्चालीं तथा कृष्ण सभागताम्।
अवधेन प्रशाम्येत मम मन्युः सुयोधने॥ ३॥

श्रीकृष्ण! पाञ्चालराजकुमारी द्रौपदीको वैसी दशामें सभाके भीतर लायी गयी देखकर दुर्योधनके प्रति बढ़ा हुआ मेरा क्रोध उसका वध किये बिना कैसे शान्त हो सकता है?॥ ३॥

यदि भीमार्जुनौ कृष्ण धर्मराजश्च धार्मिकः।
धर्ममुत्सृज्य तेनाहं योद्धुमिच्छामि संयुगे॥ ४॥

श्रीकृष्ण! यदि भीमसेन, अर्जुन तथा धर्मराज युधिष्ठिर धर्मका ही अनुसरण करते हैं तो मैं उस धर्मको छोड़कर रणभूमिमें दुर्योधनके साथ युद्ध ही करना चाहता हूँ॥ ४॥

सात्यकिरुवाच

सत्यमाह महाबाहो सहदेवो महामतिः।
दुर्योधनवधे शान्तिस्तस्य कोपस्य मे भवेत्॥ ५॥

सात्यकिने कहा—महाबाहो! परम बुद्धिमान् सहदेव ठीक कहते हैं। दुर्योधनके प्रति बढ़ा हुआ मेरा क्रोध उसके वधसे ही शान्त होगा॥ ५॥

न जानासि यथा दृष्ट्वा चीराजिनधरान् वने।
तवापि मन्युरुद्भूतो दुःखितान् प्रेक्ष्य पाण्डवान्॥ ६॥

क्या आप भूल गये हैं; जब कि वनमें वल्कल और

मृगचर्म धारण करके दुखी हुए पाण्डवोंको देखकर आपका भी क्रोध उमड़ आया था ? ॥ ६ ॥

तस्मान्माद्रीसुतः शूरो यदाह रणकर्कशः ।
वचनं सर्वयोधानां तन्मतं पुरुषोत्तम ॥ ७ ॥

अतः पुरुषोत्तम ! युद्धमें कठोरता दिखानेवाले माद्री-नन्दन शूरवीर सहदेवने जो बात कही है, वही हम सम्पूर्ण योद्धाओंका मत है ॥ ७ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवं वदति वाक्यं तु युयुधाने महामतौ ।
सुभीमः सिंहनादोऽभूद् योधानां तत्र सर्वशः॥ ८ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं— जनमेजय ! परम बुद्धिमान् सात्यकिके ऐसा कहते ही वहाँ सब ओरसे समस्त योद्धाओंका अत्यन्त भयंकर सिंहनाद शुरू हो गया ॥ ८ ॥

सर्वे हि सर्वशो वीरास्तद्वचः प्रत्यपूजयन् ।
साधु साध्विति शैनेयं हर्षयन्तो युयुत्सवः ॥ ९ ॥

युद्धकी इच्छा रखनेवाले उन सभी वीरोंने साधु-साधु कहकर सात्यकिका हर्ष बढ़ाते हुए उनके वचनकी सर्वथा भूरि-भूरि प्रशंसा की ॥ ९ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि सहदेवसात्यकिवाक्ये एकाशीतितमोऽध्यायः ॥ ८१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें सहदेव-सात्यकिवाक्यविषयक इक्यासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ८१ ॥

द्व्यशीतितमोऽध्यायः

द्रौपदीका श्रीकृष्णसे अपना दुःख सुनाना और श्रीकृष्णका उसे आश्वासन देना

वैशम्पायन उवाच

राज्ञस्तु वचनं श्रुत्वा धर्मार्थसहितं हितम् ।
कृष्णा दाशार्हमासीनमब्रवीच्छोककर्शिता ॥ १ ॥
सुता द्रुपदराजस्य स्वसितायतमूर्धजा ।
सम्पूज्य सहदेवं च सात्यकिं च महारथम् ॥ २ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! सिरपर अत्यन्त काले और लम्बे केश धारण करनेवाली द्रुपदराजकुमारी कृष्णा राजा युधिष्ठिरके धर्म और अर्थसे युक्त हितकर वचन सुनकर शोकसे कातर हो उठी और महारथी सात्यकि तथा सहदेव-की प्रशंसा करके वहाँ बैठे हुए दशार्हकुलभूषण श्रीकृष्णसे कुछ कहनेको उद्यत हुई ॥ १-२ ॥

भीमसेनं च संशान्तं दृष्ट्वा परमदुर्मनाः ।
अश्रुपूर्णेक्षणा वाक्यमुवाचेदं मनस्विनी ॥ ३ ॥

भीमसेनको अत्यन्त शान्त देख मनस्विनी द्रौपदीके मनमें बड़ा दुःख हुआ । उसकी आँखोंमें आँसू भर आये और वह श्रीकृष्णसे इस प्रकार बोली—॥ ३ ॥

विदितं ते महाबाहो धर्मज्ञ मधुसूदन ।
यथा निकृतिमास्थाय भ्रंशिताः पाण्डवाः सुखात् ॥४॥
धृतराष्ट्रस्य पुत्रेण सामात्येन जनार्दन ।
यथा च संजयो राज्ञा मन्त्रं रहसि श्रावितः ॥ ५ ॥
युधिष्ठिरस्य दाशार्ह तच्चापि विदितं तव ।
यथोक्तः संजयश्चैव तच्च सर्वं श्रुतं त्वया ॥ ६ ॥

'धर्मके ज्ञाता महाबाहु मधुसूदन ! आपको तो मालूम ही है कि मन्त्रियोंसहित धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधनने किस प्रकार शठताका आश्रय लेकर पाण्डवोंको सुखसे वञ्चित कर दिया । दशार्हनन्दन ! राजा धृतराष्ट्रने युधिष्ठिरसे कहनेके लिये संजयको एकान्तमें जो मन्त्र (अपना विचार) सुनाकर यहाँ भेजा था, वह भी आपको ज्ञात ही है तथा धर्मराजने संजयसे जैसी बातें कही थीं, उन सबको भी आपने सुन ही लिया है ॥ ४–६ ॥

पञ्च नस्तात दीयन्तां ग्रामा इति महाद्युते ।
अविस्थलं वृकस्थलं माकन्दीं वारणावतम् ॥ ७ ॥
अवसानं महाबाहो कञ्चिदेकं च पञ्चमम् ।
इति दुर्योधनो वाच्यः सुहृदश्चास्य केशव ॥ ८ ॥

'महातेजस्वी केशव ! (इन्होंने संजयसे इस प्रकार कहा था —) 'संजय ! तुम दुर्योधन और उसके सुहृदोंके सामने मेरी यह माँग रख देना—'तात ! तुम हमें अविस्थल, वृकस्थल, माकन्दी, वारणावत तथा अन्तिम पाँचवाँ कोई एक गाँव—इन पाँच गाँवोंको ही दे दो' ॥ ७-८ ॥

न चापि ह्यकरोद् वाक्यं श्रुत्वा कृष्ण सुयोधनः ।
युधिष्ठिरस्य दाशार्ह धीमतः संधिमिच्छतः॥ ९ ॥

'दशार्हकुलभूषण श्रीकृष्ण ! संधिकी इच्छा रखनेवाले श्रीमान् युधिष्ठिरका यह (नम्रतापूर्ण) वचन सुनकर भी उसे दुर्योधनने स्वीकार नहीं किया ॥ ९ ॥

अप्रदानेन राज्यस्य यदि कृष्ण सुयोधनः ।
संधिमिच्छेन्न कर्तव्यं तत्र गत्वा कथञ्चन ॥ १० ॥

'भगवन् ! आपके वहाँ जानेपर यदि दुर्योधन राज्य दिये बिना ही संधि करना चाहे तो आप इसे किसी तरह स्वीकार न कीजियेगा ॥ १० ॥

शक्ष्यन्ति हि महाबाहो पाण्डवाः सृंजयैः सह ।
धार्तराष्ट्रबलं घोरं क्रुद्धं प्रतिसमासितुम् ॥ ११ ॥

महाबाहो ! पाण्डवलोग सृञ्जय वीरोंके साथ क्रोधमें भरी हुई दुर्योधनकी भयंकर सेनाका अच्छी तरह सामना कर सकते हैं ॥ ११ ॥

न हि साम्ना न दानेन शक्योऽर्थस्तेषु कश्चन।
तस्मात् तेषु न कर्तव्या कृपा ते मधुसूदन ॥ १२ ॥

मधुसूदन ! कौरवोंके प्रति साम और दाननीतिका प्रयोग करनेसे कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं हो सकता । अतः उनपर आपको कभी कृपा नहीं करनी चाहिये ॥ १२ ॥

साम्ना दानेन वा कृष्ण ये न शाम्यन्ति शत्रवः।
योक्तव्यस्तेषु दण्डः स्याज्जीवितं परिरक्षता ॥ १३ ॥

श्रीकृष्ण ! अपने जीवनकी रक्षा करनेवाले पुरुषको चाहिये कि जो शत्रु साम और दानसे शान्त न हों, उनपर दण्डका प्रयोग करे ॥ १३ ॥

तस्मात् तेषु महादण्डः क्षेप्तव्यः क्षिप्रमच्युत।
त्वया चैव महाबाहो पाण्डवैः सह सृंजयैः ॥ १४ ॥

अतः महाबाहु अच्युत ! आपको तथा सृञ्जयोंसहित पाण्डवोंको उचित है कि वे उन शत्रुओंको शीघ्र ही महान् दण्ड दें ॥ १४ ॥

एतत् समर्थं पार्थानां तव चैव यशस्करम्।
क्रियमाणं भवेत् कृष्ण क्षत्रस्य च सुखावहम् ॥ १५ ॥

यही कुन्तीकुमारोंके योग्य कार्य है । श्रीकृष्ण ! यदि यह किया जाय तो आपके भी यशका विस्तार होगा और समस्त क्षत्रिय-समुदायको भी सुख मिलेगा ॥ १५ ॥

क्षत्रियेण हि हन्तव्यः क्षत्रियो लोभमास्थितः।
अक्षत्रियो वा दाशार्ह स्वधर्ममनुतिष्ठता ॥ १६ ॥

दशार्हनन्दन ! अपने धर्मका पालन करनेवाले क्षत्रियको चाहिये कि वह लोभका आश्रय लेनेवाले मनुष्यको भले ही वह क्षत्रिय हो या अक्षत्रिय, अवश्य मार डाले ॥ १६ ॥

अन्यत्र ब्राह्मणात् तात सर्वपापेष्ववस्थितात्।
गुरुर्हि सर्ववर्णानां ब्राह्मणः प्रसृताग्रभुक् ॥ १७ ॥

तात ! ब्राह्मणोंके सिवा दूसरे वर्णोंपर ही यह नियम लागू होता है । ब्राह्मण सब पापोंमें डूबा हो; तब भी उसे प्राणदण्ड नहीं देना चाहिये; क्योंकि ब्राह्मण सब वर्णोंका गुरु तथा दानमें दी हुई वस्तुओंका सर्वप्रथम भोक्ता है अर्थात् पहला पात्र है ॥ १७ ॥

यथावध्ये वध्यमाने भवेद् दोषो जनार्दन।
स वध्यस्यावधे दृष्ट इति धर्मविदो विदुः ॥ १८ ॥

जनार्दन ! जैसे अवध्यका वध करनेपर महान् दोष लगता है, उसी प्रकार वध्यका वध न करनेसे भी दोषकी प्राप्ति होती है । यह बात धर्मज्ञ पुरुष जानते हैं ॥ १८ ॥

यथा त्वां न स्पृशेदेष दोषः कृष्ण तथा कुरु।
पाण्डवैः सह दाशार्हैः सृंजयैश्च ससैनिकैः ॥ १९ ॥

श्रीकृष्ण ! आप सैनिकोंसहित सृञ्जयों, पाण्डवों तथा यादवोंके साथ ऐसा प्रयत्न कीजिये; जिससे आपको यह दोष न छू सके ॥ १९ ॥

पुनरुक्तं च वक्ष्यामि विश्रम्भेण जनार्दन।
का तु सीमन्तिनी मादृक् पृथिव्यामस्ति केशव ॥ २० ॥

जनार्दन ! आपपर अत्यन्त विश्वास होनेके कारण मैं अपनी कही हुई बातको पुनः दुहराती हूँ । केशव ! इस पृथ्वीपर मेरे समान स्त्री कौन होगी ? ॥ २० ॥

सुता द्रुपदराजस्य वेदिमध्यात् समुत्थिता।
धृष्टद्युम्नस्य भगिनी तव कृष्ण प्रिया सखी ॥ २१ ॥

मैं महाराज द्रुपदकी पुत्री हूँ । यज्ञवेदीके मध्यभागसे मेरा जन्म हुआ है । श्रीकृष्ण ! मैं वीर धृष्टद्युम्नकी बहिन और आपकी प्रिय सखी हूँ ॥ २१ ॥

आजमीढकुलं प्राप्ता स्नुषा पाण्डोर्महात्मनः।
महिषी पाण्डुपुत्राणां पञ्चेन्द्रसमवर्चसाम् ॥ २२ ॥

मैं परम प्रतिष्ठित अजमीढकुलमें व्याहकर आयी हूँ । महात्मा राजा पाण्डुकी पुत्रवधू तथा पाँच इन्द्रोंके समान तेजस्वी पाण्डुपुत्रोंकी पटरानी हूँ ॥ २२ ॥

सुता मे पञ्चभिर्वीरैः पञ्च जाता महारथाः।
अभिमन्युर्यथा कृष्ण तथा ते तव धर्मतः ॥ २३ ॥

पाँच वीर पतियोंसे मैंने पाँच महारथी पुत्रोंको जन्म दिया है । श्रीकृष्ण ! जैसे अभिमन्यु आपका भानजा है, उसी प्रकार मेरे पुत्र भी धर्मतः आपके भानजे ही हैं ॥ २३ ॥

साहं केशग्रहं प्राप्ता परिक्लिष्टा सभां गता।
पश्यतां पाण्डुपुत्राणां त्वयि जीवति केशव ॥ २४ ॥

केशव ! इतनी सम्मानित और सौभाग्यशालिनी होनेपर भी मैं पाण्डवोंके देखते-देखते और आपके जीते-जी केश पकड़कर सभामें लायी गयी और मेरा बारंबार अपमान किया गया एवं मुझे क्लेश दिया गया ॥ २४ ॥

जीवत्सु पाण्डुपुत्रेषु पञ्चालेष्वथ वृष्णिषु।
दासीभूतास्मि पापानां सभामध्ये व्यवस्थिता ॥ २५ ॥

पाण्डवों, पाञ्चालों और यदुवंशियोंके जीते-जी मैं पापी कौरवोंकी दासी बनी और उसी रूपमें सभाके बीच मुझे उपस्थित होना पड़ा ॥ २५ ॥

निरमर्षेष्वचेष्टेषु प्रेक्षमाणेषु पाण्डुषु।
पाहि मामिति गोविन्द मनसा चिन्तितोऽसि मे ॥ २६ ॥

पाण्डव यह सब कुछ देख रहे थे, तो भी न तो इनका

क्रोध ही जागा और न इन्होंने मुझे उनके हाथसे छुड़ानेकी चेष्टा ही की। उस समय मैंने (अत्यन्त असहाय होकर) मन-ही-मन आपका चिन्तन किया और कहा—'गोविन्द! मेरी रक्षा कीजिये' (प्रभो! तब आपने ही कृपा करके मेरी लाज बचायी)॥

यत्र मां भगवान् राजा श्वशुरो वाक्यमब्रवीत्।
वरं वृणीष्व पाञ्चालि वरार्हासि मता मम॥ २७॥

उस सभामें मेरे ऐश्वर्यशाली श्वशुर राजा धृतराष्ट्रने मुझे (आदर देते हुए) कहा—'पाञ्चालराजकुमारी! मैं तुम्हें अपनी ओरसे मनोवाञ्छित वर पानेके योग्य मानता हूँ। तुम कोई वर माँगो'॥ २७॥

अदासाः पाण्डवाः सन्तु सरथाः सायुधा इति।
मयोक्ते यत्र निर्मुक्ता वनवासाय केशव॥ २८॥

तब मैंने उनसे कहा—'पाण्डव रथ और आयुधोंसहित दासभावसे मुक्त हो जायँ।' केशव! मेरे इतना कहनेपर ये लोग वनवासका कष्ट भोगनेके लिये दासभावसे मुक्त हुए थे॥

एवंविधानां दुःखानामभिज्ञोऽसि जनार्दन।
त्रायस्व पुण्डरीकाक्ष सभर्तृज्ञातिबान्धवान्॥ २९॥

जनार्दन! हमलोगोंपर ऐसे-ऐसे महान् दुःख आते रहे हैं, जिन्हें आप अच्छी तरह जानते हैं। कमलनयन! पति, कुटुम्बी तथा बान्धवजनोंसहित हमलोगोंकी आप रक्षा करें॥

नन्वहं कृष्ण भीष्मस्य धृतराष्ट्रस्य चोभयोः।
स्नुषा भवामि धर्मेण साहं दासीकृता बलात्॥ ३०॥

श्रीकृष्ण! मैं धर्मतः भीष्म और धृतराष्ट्र दोनोंकी पुत्र-वधू हूँ, तो भी उनके सामने ही मुझे बलपूर्वक दासी बनाया गया॥ ३०॥

धिक् पार्थस्य धनुष्मत्तां भीमसेनस्य धिग् बलम्।
यत्र दुर्योधनः कृष्ण मुहूर्तमपि जीवति॥ ३१॥

भगवन्! ऐसी दशामें यदि दुर्योधन एक मुहूर्त भी जीवित रहता है तो अर्जुनके धनुषधारण और भीमसेनके बलको धिक्कार है॥ ३१॥

यदि तेऽहमनुग्राह्या यदि तेऽस्ति कृपा मयि।
धार्तराष्ट्रेषु वै कोपः सर्वः कृष्ण विधीयताम्॥ ३२॥

श्रीकृष्ण! यदि मैं आपकी अनुग्रहभाजन हूँ, यदि मुझपर आपकी कृपा है तो आप धृतराष्ट्रके पुत्रोंपर पूर्णरूपसे क्रोध कीजिये॥ ३२॥

वैशम्पायन उवाच

इत्युक्त्वा मृदुसंहारं वृजिनाग्रं सुदर्शनम्।
सुनीलमसितापाङ्गी सर्वगन्धाधिवासितम्॥ ३३॥
सर्वलक्षणसम्पन्नं महाभुजगवर्चसम्।
केशपक्षं वरारोहा गृह्य वामेन पाणिना॥ ३४॥
पद्माक्षी पुण्डरीकाक्षमुपेत्य गजगामिनी।
अश्रुपूर्णेक्षणा कृष्णा कृष्णं वचनमब्रवीत्॥ ३५॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! ऐसा कहकर सुन्दर अङ्गोंवाली, श्यामलोचना, कमलनयनी एवं गजगामिनी द्रुपदकुमारी कृष्णा अपने उन केशोंको, जो देखनेमें अत्यन्त सुन्दर, घुँघराले, अत्यन्त काले, एकत्र आबद्ध होनेपर भी कोमल, सब प्रकारकी सुगन्धोंसे सुवासित, सभी शुभ लक्षणोंसे सुशोभित तथा विशाल सर्पके समान कान्तिमान् थे, बायें हाथमें लेकर कमलनयन श्रीकृष्णके पास गयी और नेत्रोंमें आँसू भरकर इस प्रकार बोली—॥ ३३–३५॥



अयं ते पुण्डरीकाक्ष दुःशासनकरोद्धृतः।
स्मर्तव्यः सर्वकार्येषु परेषां संधिमिच्छता॥ ३६॥

'कमललोचन श्रीकृष्ण! शत्रुओंके साथ संधिकी इच्छासे आप जो-जो कार्य या प्रयत्न करें, उन सबमें दुःशासनके हाथोंसे खींचे हुए इन केशोंको याद रक्खें॥ ३६॥

यदि भीमार्जुनौ कृष्ण कृपणौ संधिकामुकौ।
पिता मे योत्स्यते वृद्धः सह पुत्रैर्महारथैः॥ ३७॥

'श्रीकृष्ण! यदि भीमसेन और अर्जुन कायर होकर कौरवोंके साथ संधिकी कामना करने लगे हैं, तो मेरे वृद्ध पिताजी अपने महारथी पुत्रोंके साथ शत्रुओंसे युद्ध करेंगे॥ ३७॥

पञ्च चैव महावीर्याः पुत्रा मे मधुसूदन।
अभिमन्युं पुरस्कृत्य योत्स्यन्ते कुरुभिः सह॥ ३८॥

'मधुसूदन! मेरे पाँच महापराक्रमी पुत्र भी वीर अभिमन्युको प्रधान बनाकर कौरवोंके साथ संग्राम करेंगे॥ ३८॥

दुःशासनभुजं श्यामं संछिन्नं पांसुगुण्ठितम्।
यद्यहं तु न पश्यामि का शान्तिर्हृदयस्य मे ॥ ३९ ॥

'यदि मैं दुःशासनकी साँवली भुजाको कटकर धूलमें लोटती न देखूँ तो मेरे हृदयको क्या शान्ति मिलेगी ?॥३९॥

त्रयोदश हि वर्षाणि प्रतीक्षन्त्या गतानि मे।
विधाय हृदये मन्युं प्रदीप्तमिव पावकम् ॥ ४० ॥

'प्रज्वलित अग्निके समान इस प्रचण्ड क्रोधको हृदयमें रखकर प्रतीक्षा करते मुझे तेरह वर्ष बीत गये हैं ॥ ४० ॥

विदीर्यते मे हृदयं भीमवाक्छल्यपीडितम्।
योऽयमद्य महाबाहुर्धर्ममेवानुपश्यति ॥ ४१ ॥

'आज भीमसेनके संधिके लिये कहे गये वचन मेरे हृदयमें बाणके समान लगे हैं, जिनसे पीड़ित होकर मेरा कलेजा फटा जा रहा है। हाय ! ये महाबाहु आज (मेरे अपमानको भुलाकर) केवल धर्मका ही ध्यान धर रहे हैं' ॥ ४१ ॥

इत्युक्त्वा बाष्परुद्धेन कण्ठेनायतलोचना।
रुरोद कृष्णा सोत्कम्पं सस्वरं बाष्पगद्गदम् ॥४२॥
स्तनौ पीनायतश्रोणी सहितावभिवर्षती।
द्रवीभूतमिवात्युष्णं मुञ्चन्ती वारि नेत्रजम् ॥ ४३ ॥

इतना कहनेके बाद पीन एवं विशाल नितम्बोंवाली विशाललोचना द्रुपदकुमारी कृष्णाका कण्ठ आँसुओंसे रुँध गया। वह काँपती हुई अश्रुगद्गद वाणीमें फूट-फूटकर रोने लगी। उसके परस्पर सटे हुए स्तनोंपर नेत्रोंसे गरम-गरम आँसुओंकी वर्षा होने लगी; मानो वह अपने भीतरकी द्रवीभूत क्रोधाग्निको ही उन बाष्पबिन्दुओंके रूपमें बिखेर रही हो ॥

तामुवाच महाबाहुः केशवः परिसान्त्वयन्।
अचिराद् द्रक्ष्यसे कृष्णे रुदतीर्भरतस्त्रियः ॥ ४४ ॥

तब महाबाहु केशवने उसे सान्त्वना देते हुए कहा— 'कृष्णे ! तुम शीघ्र ही भरतवंशकी दूसरी स्त्रियोंको भी इसी प्रकार रुदन करते देखोगी ॥ ४४ ॥

एवं ता भीरु रोत्स्यन्ति निहतज्ञातिबान्धवाः।
हतमित्रा हतबला येषां क्रुद्धासि भामिनि ॥ ४५ ॥

'भामिनी ! जिनपर तुम कुपित हुई हो, उन विपक्षियोंकी स्त्रियाँ भी अपने कुटुम्बी, बन्धु-बान्धव, मित्रवृन्द तथा सेनाओंके मारे जानेपर इसी तरह रोयेंगी ॥ ४५ ॥

अहं च तत् करिष्यामि भीमार्जुनयमैः सह।
युधिष्ठिरनियोगेन दैवाच्च विधिनिर्मितात् ॥ ४६ ॥

'महाराज युधिष्ठिरकी आज्ञा तथा विधाताके रचे हुए अदृष्टसे प्रेरित हो भीम, अर्जुन, नकुल और सहदेवको साथ लेकर मैं भी वही करूँगा, जो तुम्हें अभीष्ट है ॥ ४६ ॥

धार्तराष्ट्राः कालपक्वा न चेच्छृण्वन्ति मे वचः।
शेष्यन्ते निहता भूमौ श्वशृगालादनीकृताः ॥ ४७ ॥

'यदि कालके गालमें जानेवाले धृतराष्ट्रपुत्र मेरी बात नहीं सुनेंगे तो मारे जाकर धरतीपर लोटेंगे और कुत्तों तथा सियारोंके भोजन बन जायँगे ॥ ४७ ॥

चलेद्धि हिमवाञ्छैलो मेदिनी शतधा फलेत्।
द्यौः पतेच्च सनक्षत्रा न मे मोघं वचो भवेत् ॥ ४८ ॥

'हिमालय पर्वत अपनी जगहसे टल जाय, पृथ्वीके सैकड़ों टुकड़े हो जायँ तथा नक्षत्रोंसहित आकाश टूट पड़े, परंतु मेरी यह बात झूठी नहीं हो सकती ॥ ४८ ॥

सत्यं ते प्रति जानामि कृष्णे बाष्पो निगृह्यताम्।
हतामित्राञ्छ्रिया युक्तानचिराद् द्रक्ष्यसे पतीन्॥४९॥

'कृष्णे ! अपने आँसुओंको रोको। मैं तुमसे सच्ची प्रतिज्ञा करके कहता हूँ, तुम शीघ्र ही देखोगी कि सारे शत्रु मार डाले गये और तुम्हारे पति राज्यलक्ष्मीसे सम्पन्न हैं' ॥४९॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि द्रौपदीकृष्णसंवादे द्व्यशीतितमोऽध्यायः ॥ ८२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें द्रौपदी-कृष्णसंवादविषयक बयासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ८२ ॥

त्र्यशीतितमोऽध्यायः

श्रीकृष्णका हस्तिनापुरको प्रस्थान, युधिष्ठिरका माता कुन्ती एवं कौरवोंके लिये संदेश तथा श्रीकृष्णको मार्गमें दिव्य महर्षियोंका दर्शन

अर्जुन उवाच

कुरूणामद्य सर्वेषां भवान् सुहृदनुत्तमः।
सम्बन्धी दयितो नित्यमुभयोः पक्षयोरपि ॥ १ ॥

अर्जुन बोले—श्रीकृष्ण ! आजकल आप ही समस्त कौरवोंके सर्वोत्तम सुहृद् तथा दोनों पक्षोंके नित्य प्रिय सम्बन्धी हैं ॥ १ ॥

पाण्डवैर्धार्तराष्ट्राणां प्रतिपाद्यमनामयम्।
समर्थः प्रशमं चैव कर्तुमर्हसि केशव ॥ २ ॥

केशव ! पाण्डवोंसहित धृतराष्ट्रपुत्रोंका मङ्गल सम्पादन करना आपका कर्तव्य है। आप उभयपक्षमें संधि करानेकी शक्ति भी रखते हैं ॥ २ ॥

त्वमितः पुण्डरीकाक्ष सुयोधनममर्षणम् ।
शान्त्यर्थं भ्रातरं ब्रूया यत् तद् वाच्यममित्रहन् ॥ ३ ॥

शत्रुओंका नाश करनेवाले कमलनयन श्रीकृष्ण ! आप यहाँसे जाकर हमारे अमर्षशील भ्राता दुर्योधनसे ऐसी बातें करें, जो शान्तिस्थापनमें सहायक हों ॥ ३ ॥

त्वया धर्मार्थयुक्तं चेदुक्तं शिवमनामयम् ।
हितं नादास्यते बालो दिष्टस्य वशमेष्यति ॥ ४ ॥

यदि वह मूर्ख आपकी कही हुई धर्म और अर्थसे युक्त, संतापनाशक, कल्याणकारी एवं हितकर बातें नहीं मानेगा तो अवश्य ही उसे कालके गालमें जाना पड़ेगा ॥ ४ ॥

श्रीभगवानुवाच

धर्म्यमस्मद्धितं चैव कुरूणां यदनामयम् ।
एष यास्यामि राजानं धृतराष्ट्रमभीप्सया ॥ ५ ॥

श्रीभगवान् बोले—अर्जुन ! जो धर्मसंगत, हमलोगोंके लिये हितकर तथा कौरवोंके लिये भी मङ्गलकारक हो, वही कार्य करनेके लिये मैं राजा धृतराष्ट्रके समीप यात्रा करूँगा ॥

वैशम्पायन उवाच

ततो व्यपेततमसि सूर्ये विमलवद्गते ।
मैत्रे मुहूर्ते सम्प्राप्ते मृदुर्चिषि दिवाकरे ॥ ६ ॥
कौमुदे मासि रेवत्यां शरदन्ते हिमागमे ।
स्फीतसस्यसुखे काले कल्यः सत्त्ववतां वरः ॥ ७ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तदनन्तर जब रात्रिका अन्धकार दूर हुआ और निर्मल आकाशमें सूर्यदेवके उदित होनेपर उनकी कोमल किरणें सब ओर फैल गयीं। कार्तिक मासके रेवती नक्षत्रमें 'मैत्र' नामक मुहूर्त उपस्थित होनेपर सत्त्वगुणी पुरुषोंमें श्रेष्ठ एवं समर्थ श्रीकृष्णने यात्रा आरम्भ की। उन दिनों शरद्-ऋतुका अन्त और हेमन्तका आरम्भ हो रहा था। सब ओर खूब उपजी हुई खेती लहलहा रही थी ॥ ६-७ ॥

मङ्गल्याः पुण्यनिर्घोषा वाचः शृण्वंश्च सूनृताः ।
ब्राह्मणानां प्रतीतानामृषीणामिव वासवः ॥ ८ ॥
कृत्वा पौर्वाह्णिकं कृत्यं स्नातः शुचिरलंकृतः ।
उपतस्थे विवस्वन्तं पावकं च जनार्दनः ॥ ९ ॥
ऋषभं पृष्ठ आलभ्य ब्राह्मणानभिवाद्य च ।
अग्निं प्रदक्षिणं कृत्वा पश्यन् कल्याणमग्रतः ॥ १० ॥
तत् प्रतिज्ञाय वचनं पाण्डवस्य जनार्दनः ।
शिनेर्नप्तारमासीनमभ्यभाषत सात्यकिम् ॥ ११ ॥

भगवान् जनार्दनने सबसे पहले प्रातःकाल ऋषियोंके मुखसे मङ्गलपाठ सुननेवाले देवराज इन्द्रकी भाँति विश्वस्त ब्राह्मणोंके मुखसे परम मधुर मङ्गलकारक पुण्याहवाचन सुनते हुए स्नान किया। फिर उन्होंने पवित्र तथा वस्त्राभूषणोंसे अलंकृत हो संध्यावन्दन, सूर्योपस्थान एवं अग्निहोत्र आदि पूर्वाह्णकृत्य सम्पन्न किये। इसके बाद बैलकी पीठ छूकर ब्राह्मणोंको नमस्कार किया और अग्निकी परिक्रमा करके अपने सामने प्रस्तुत की हुई कल्याणकारक वस्तुओंका दर्शन किया। तदनन्तर पाण्डुनन्दन युधिष्ठिरकी बातोंपर विचार करके जनार्दनने अपने पास बैठे हुए शिनिपौत्र सात्यकिसे इस प्रकार कहा— ॥ ८–११ ॥

रथ आरोप्यतां शङ्खश्चक्रं च गदया सह ।
उपासंगाश्च शक्त्यश्च सर्वप्रहरणानि च ॥ १२ ॥

'युयुधान ! मेरे रथपर शङ्ख, चक्र, गदा, तूणीर, शक्ति तथा अन्य सब प्रकारके अस्त्र-शस्त्र लाकर रख दो ॥ १२ ॥

दुर्योधनश्च दुष्टात्मा कर्णश्च सहसौबलः ।
न च शत्रुरवज्ञेयो दुर्बलोऽपि बलीयसा ॥ १३ ॥

'कोई अत्यन्त बलवान् क्यों न हो, उसे अपने दुर्बल शत्रुकी भी अवहेलना नहीं करनी चाहिये; (उससे सतर्क रहना चाहिये ।) फिर दुर्योधन, कर्ण और शकुनि तो दुष्टात्मा ही हैं। उनसे तो सावधान रहनेकी अत्यन्त आवश्यकता है॥

ततस्तन्मतमाज्ञाय केशवस्य पुरःसराः ।
प्रसस्रुर्योजयिष्यन्तो रथं चक्रगदाभृतः ॥ १४ ॥

तब चक्र और गदा धारण करनेवाले भगवान् श्रीकृष्णके अभिप्रायको जानकर उनके आगे चलनेवाले सेवक रथ जोतनेके लिये दौड़ पड़े ॥ १४ ॥

तं दीप्तमिव कालाग्निमाकाशगमिवाशुगम् ।
सूर्यचन्द्रप्रकाशाभ्यां चक्राभ्यां समलंकृतम् ॥ १५ ॥

वह रथ प्रलयकालीन अग्निके समान दीप्तिमान्, विमानके सदृश शीघ्रगामी तथा सूर्य और चन्द्रमाके समान तेजस्वी दो गोलाकार चक्रोंसे सुशोभित था ॥ १५ ॥

अर्धचन्द्रैश्च चन्द्रैश्च मत्स्यैः समृगपक्षिभिः ।
पुष्पैश्च विविधैश्चित्रं मणिरत्नैश्च सर्वशः ॥ १६ ॥

अर्धचन्द्र, चन्द्र, मत्स्य, मृग, पक्षी, नाना प्रकारके पुष्प तथा सभी तरहके मणि-रत्नोंसे चित्रित एवं जटित होनेके कारण उसकी विचित्र शोभा हो रही थी ॥ १६ ॥

तरुणादित्यसंकाशं बृहन्तं चारुदर्शनम् ।
मणिहेमविचित्राङ्गं सुध्वजं सुपताकिनम् ॥ १७ ॥

वह तरुण सूर्यके समान प्रकाशमान, विशाल तथा देखनेमें मनोहर था। उसके सभी भागोंमें मणि एवं सुवर्ण जड़े हुए थे । उस रथकी ध्वजा बहुत ही सुन्दर थी और उसपर उत्तम पताका फहरा रही थी ॥ १७ ॥

सूपस्करमनाधृष्यं वैयाघ्रपरिवारणम् ।
यशोघ्नं प्रत्यमित्राणां यदूनां नन्दिवर्धनम् ॥ १८ ॥

उसमें सब प्रकारकी आवश्यक सामग्री सुन्दर ढंगसे रक्खी गयी थी। उसपर व्याघ्रचर्मका आवरण (पर्दा) शोभा पाता था। वह रथ शत्रुओंके लिये दुर्धर्ष तथा उनके सुयशका नाश करनेवाला था। साथ ही उससे यदुवंशियोंके आनन्दकी वृद्धि होती थी ॥ १८ ॥

वाजिभिः शैब्यसुग्रीवमेघपुष्पवलाहकैः।
स्नातैः सम्पादयामासुः सम्पन्नैः सर्वसम्पदा ॥ १९ ॥

श्रीकृष्णके सेवकोंने शैब्य, सुग्रीव, मेघपुष्प तथा बलाहक नामवाले चारों घोड़ोंको नहला-धुलाकर सब प्रकारके बहुमूल्य आभूषणोंद्वारा सुसज्जित करके उस रथमें जोत दिया ॥ १९ ॥

महिमानं तु कृष्णस्य भूय एवाभिवर्धयन्।
सुघोषः पतगेन्द्रेण ध्वजेन युयुजे रथः ॥ २० ॥

इस प्रकार वह रथ श्रीकृष्णकी महत्ताको और अधिक बढ़ाता हुआ गरुड़चिह्नित ध्वजसे संयुक्त हो बड़ी शोभा पा रहा था। चलते समय उसके पहियोंसे गम्भीर ध्वनि होती थी ॥ २० ॥

तं मेरुशिखरप्रख्यं मेघदुन्दुभिनिस्वनम्।
आरुरोह रथं शौरिर्विमानमिव कामगम् ॥ २१ ॥

मेरुपर्वतके शिखरोंकी भाँति सुनहरी प्रभासे सुशोभित तथा मेघ और दुन्दुभियोंके समान गम्भीर नाद करनेवाले उस रथपर, जो इच्छानुसार चलनेवाले विमानके समान प्रतीत होता था, भगवान् श्रीकृष्ण आरूढ़ हुए ॥ २१ ॥

ततः सात्यकिमारोप्य प्रययौ पुरुषोत्तमः।
पृथिवीं चान्तरिक्षं च रथघोषेण नादयन् ॥ २२ ॥

तदनन्तर सात्यकिको भी उसी रथपर बैठाकर पुरुषोत्तम श्रीकृष्णने रथकी गम्भीर ध्वनिसे पृथ्वी और आकाशको गुँजाते हुए वहाँसे प्रस्थान किया ॥ २२ ॥

व्यपोढाभ्रस्ततः कालः क्षणेन समपद्यत।
शिवश्चानुववौ वायुः प्रशान्तमभवद् रजः ॥ २३ ॥

तत्पश्चात् उस समय क्षणभरमें ही आकाशमें घिरे हुए बादल छिन्न-भिन्न हो अदृश्य हो गये। शीतल, सुखद एवं अनुकूल वायु चलने लगी तथा धूलका उड़ना बंद हो गया ॥ २३ ॥

प्रदक्षिणानुलोमाश्च मङ्गल्या मृगपक्षिणः।
प्रयाणे वासुदेवस्य बभूवुरनुयायिनः ॥ २४ ॥

वसुदेवनन्दन श्रीकृष्णकी उस यात्राके समय मङ्गलसूचक मृग और पक्षी उनके दाहिने तथा अनुकूल दिशामें जाते हुए उनका अनुसरण करने लगे ॥ २४ ॥

मङ्गल्यार्थपदैः शब्दैरन्ववर्तन्त सर्वशः।
सारसाः शतपत्राश्च हंसाश्च मधुसूदनम् ॥ २५ ॥

सारस, शतपत्र तथा हंस पक्षी सब ओरसे मङ्गलसूचक शब्द करते हुए मधुसूदन श्रीकृष्णके पीछे-पीछे जाने लगे ॥ २५ ॥

मन्त्राहुतिमहाहोमैर्हूयमानश्च पावकः।
प्रदक्षिणमुखो भूत्वा विधूमः समपद्यत ॥ २६ ॥

मन्त्रपाठपूर्वक दी जानेवाली आहुतियोंसे युक्त बड़े-बड़े होमयज्ञोंद्वारा हविष्य पाकर अग्निदेव प्रदक्षिणक्रमसे उठनेवाली लपटोंके साथ प्रज्वलित हो धूमरहित हो गये ॥ २६ ॥

वसिष्ठो वामदेवश्च भूरिद्युम्नो गयः क्रथः।
शुक्रनारदवाल्मीका मरुत्तः कुशिको भृगुः ॥ २७ ॥
देवब्रह्मर्षयश्चैव कृष्णं यदुसुखावहम्।
प्रदक्षिणमवर्तन्त सहिता वासवानुजम् ॥ २८ ॥

वसिष्ठ, वामदेव, भूरिद्युम्न, गय, क्रथ, शुक्र, नारद, वाल्मीकि, मरुत्त, कुशिक तथा भृगु आदि देवर्षियों तथा ब्रह्मर्षियोंने एक साथ आकर यदुलोकको सुख देनेवाले इन्द्रके छोटे भाई श्रीकृष्णकी दक्षिणावर्त-परिक्रमा की ॥ २७-२८ ॥

एवमेतैर्महाभागैर्महर्षिगणसाधुभिः।
पूजितः प्रययौ कृष्णः कुरूणां सदनं प्रति ॥ २९ ॥

इस प्रकार इन महाभाग महर्षियों तथा साधु-महात्माओंसे सम्मानित हो श्रीकृष्णने कुरुकुलकी राजधानी हस्तिनापुरकी ओर प्रस्थान किया ॥ २९ ॥

तं प्रयान्तमनुप्रायात् कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः।
भीमसेनार्जुनौ चोभौ माद्रीपुत्रौ च पाण्डवौ ॥ ३० ॥
चेकितानश्च विक्रान्तो धृष्टकेतुश्च चेदिपः।
द्रुपदः काशिराजश्च शिखण्डी च महारथः ॥ ३१ ॥
धृष्टद्युम्नः सपुत्रश्च विराटः केकयैः सह।
संसाधनार्थं प्रययुः क्षत्रियाः क्षत्रियर्षभ ॥ ३२ ॥

क्षत्रियशिरोमणे! श्रीकृष्णके जाते समय उन्हें पहुँचानेके लिये कुन्तीपुत्र युधिष्ठिर उनके पीछे-पीछे चले। साथ ही भीमसेन, अर्जुन, माद्रीके दोनों पुत्र पाण्डुकुमार नकुल-सहदेव, पराक्रमी चेकितान, चेदिराज धृष्टकेतु, द्रुपद, काशिराज, महारथी शिखण्डी, धृष्टद्युम्न, पुत्रों और केकयोंसहित राजा विराट—ये सभी क्षत्रिय अभीष्ट कार्यकी सिद्धि एवं शिष्टाचारका पालन करनेके लिये उनके पीछे गये ॥ ३०—३२ ॥

ततोऽनुव्रज्य गोविन्दं धर्मराजो युधिष्ठिरः।
राज्ञां सकाशे द्युतिमानुवाचेदं वचस्तदा ॥ ३३ ॥

इस प्रकार गोविन्दके पीछे कुछ दूर जाकर तेजस्वी धर्मराज युधिष्ठिरने राजाओंके समीप उनसे कुछ कहनेका विचार किया ॥ ३३ ॥

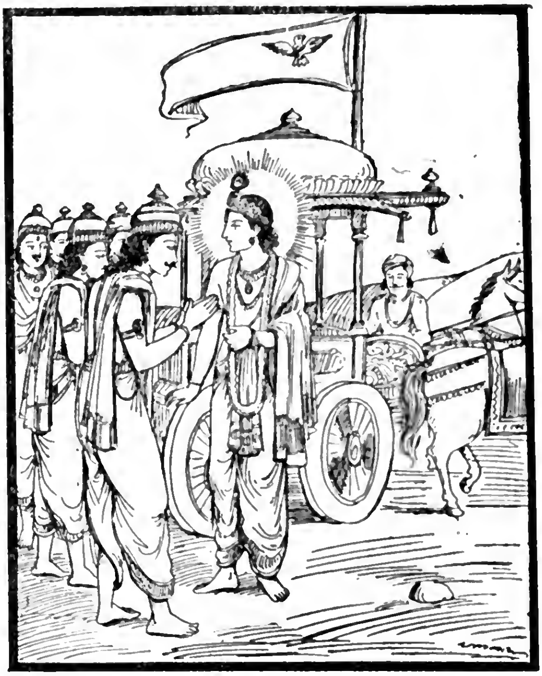
यो वै न कामान्न भयान्न लोभान्नार्थकारणात्।
अन्यायमनुवर्तेत स्थिरबुद्धिरलोलुपः ॥ ३४ ॥

धर्मज्ञो धृतिमान् प्राज्ञः सर्वभूतेषु केशवः।
ईश्वरः सर्वभूतानां देवदेवः सनातनः ॥ ३५ ॥

जो कभी कामनासे, भयसे, लोभसे अथवा अन्य किसी प्रयोजनके कारण भी अन्यायका अनुसरण नहीं कर सकते, जिनकी बुद्धि स्थिर है, जो लोभरहित, धर्मज्ञ, धैर्यवान्, विद्वान् तथा सम्पूर्ण भूतोंके भीतर विराजमान हैं, वे भगवान् केशव देवताओंके भी देवता, सनातन परमेश्वर तथा समस्त प्राणियोंके ईश्वर हैं ॥ ३४-३५ ॥

तं सर्वगुणसम्पन्नं श्रीवत्सकृतलक्षणम्।
सम्परिष्वज्य कौन्तेयः संदेष्टुमुपचक्रमे ॥ ३६ ॥

उन्हीं सर्वगुणसम्पन्न श्रीवत्सचिह्नसे विभूषित भगवान् श्रीकृष्णको हृदयसे लगाकर कुन्तीकुमार युधिष्ठिरने निम्नाङ्कित संदेश देना आरम्भ किया ॥ ३६ ॥



युधिष्ठिर उवाच

या सा बाल्यात् प्रभृत्यस्मान् पर्यवर्धयताबला।
उपवासतपःशीला सदा स्वस्त्ययने रता ॥ ३७ ॥
देवतातिथिपूजासु गुरुशुश्रूषणे रता।
वत्सला प्रियपुत्रा च प्रियास्माकं जनार्दन ॥ ३८ ॥
सुयोधनभयाद् या नोऽत्रायतामित्रकर्शन।
महतो मृत्युसम्बाधादुद्धे नौरिवार्णवात् ॥ ३९ ॥
अस्मत्कृते च सततं यया दुःखानि माधव।
अनुभूतान्यदुःखार्हा तां स्म पृच्छेरनामयम् ॥ ४० ॥

युधिष्ठिर बोले—शत्रुओंका संहार करनेवाले जनार्दन! अबला होकर भी जिसने बाल्यकालसे ही हमें पाल-पोसकर बड़ा किया है, उपवास और तपस्यामें संलग्न रहना जिसका स्वभाव बन गया है, जो सदा कल्याणसाधनमें ही लगी रहती है, देवताओं और अतिथियोंकी पूजामें तथा गुरुजनोंकी सेवा-शुश्रूषामें जिसका अटूट अनुराग है, जो पुत्रवत्सला एवं पुत्रोंको प्यार करनेवाली है, जिसके प्रति हम पाँचों भाइयोंका अत्यन्त प्रेम है, जिसने दुर्योधनके भयसे हमारी रक्षा की है, जैसे नौका मनुष्यको समुद्रमें डूबनेसे बचाती है, उसी प्रकार जिसने मृत्युके महान् संकटसे हमारा उद्धार किया है और माधव! जिसने हमलोगोंके कारण सदा दुःख ही भोगे हैं, उस दुःख न भोगनेके योग्य हमारी माता कुन्तीसे मिलकर आप उसका कुशल-समाचार अवश्य पूछें ॥ ३७–४० ॥

भृशमाश्वासयेश्चैनां पुत्रशोकपरिप्लुताम्।
अभिवाद्य स्वजेथास्त्वं पाण्डवान् परिकीर्तयन् ॥४१॥

आप हम पाण्डवोंका समाचार बताते हुए हमारी माँसे मिलियेगा और प्रणाम करके पुत्रशोकसे पीड़ित हुई उस देवीको बहुत-बहुत आश्वासन दीजियेगा ॥ ४१ ॥

ऊढात् प्रभृति दुःखानि श्वशुराणामरिंदम।
निकारानतदर्हा च पश्यन्ती दुःखमश्नुते ॥ ४२ ॥

शत्रुदमन! उसने विवाह करनेसे लेकर ही अपने श्वशुरके घरमें आकर नाना प्रकारके दुःख और कष्ट ही देखे तथा अनुभव किये हैं और इस समय भी वह वहाँ कष्ट ही भोगती है ॥ ४२ ॥

अपि जातु स कालः स्यात् कृष्ण दुःखविपर्ययः।
यदहं मातरं क्लिष्टां सुखं दद्यामरिंदम ॥ ४३ ॥

शत्रुनाशक श्रीकृष्ण! क्या कभी वह समय भी आयेगा, जब हमारे सब दुःख दूर हो जायँगे और हमलोग दुःखमें पड़ी हुई अपनी माताको सुख दे सकेंगे? ॥ ४३ ॥

प्रव्रजन्तोऽनुधावन्तीं कृपणां पुत्रगृद्धिनीम्।
रुदतीमपहायैनामगच्छाम वयं वनम् ॥ ४४ ॥

जब हम वनको जा रहे थे, उस समय पुत्रस्नेहसे व्याकुल हो वह कातरभावसे रोती हुई हमारे पीछे-पीछे दौड़ी आ रही थी, परंतु हमलोग उसे वहीं छोड़कर वनमें चले गये ॥ ४४ ॥

न नूनं म्रियते दुःखैः सा चेज्जीवति केशव।
तथा पुत्राधिभिर्गाढमार्ता ह्यानर्तसत्कृत ॥ ४५ ॥

आनर्तदेशके सम्मानित वीर केशव! यह निश्चित नहीं है कि मनुष्य दुःखोंसे घबराकर मर ही जाता हो। इसलिये कदाचित् वह जीवित हो, तो भी पुत्रोंकी चिन्तासे अत्यन्त पीड़ित ही होगी ॥ ४५ ॥



हस्तिनापुरके मार्गमें ऋषियोंका आकर श्रीकृष्णसे मिलना

अभिवाद्याथ सा कृष्ण त्वया मद्वचनाद् विभो।
धृतराष्ट्रश्च कौरव्यो राजानश्च वयोऽधिकाः ॥ ४६ ॥
भीष्मं द्रोणं कृपं चैव महाराजं च बाह्लिकम्।
द्रौणिं च सोमदत्तं च सर्वांश्च भरतान् प्रति ॥ ४७ ॥
विदुरं च महाप्राज्ञं कुरूणां मन्त्रधारिणम्।
अगाधबुद्धिं मर्मज्ञं स्वजेथा मधुसूदन ॥ ४८ ॥

प्रभो ! मधुसूदन श्रीकृष्ण ! आप माताको प्रणाम करके मेरे कथनानुसार धृतराष्ट्र, दुर्योधन, अन्यान्य वयोवृद्ध नरेश, भीष्म, द्रोण, कृप, महाराज बाह्लीक, द्रोणपुत्र अश्वत्थामा, सोमदत्त, समस्त भरतवंशी क्षत्रियवृन्द तथा कौरवोंके मन्त्रकी रक्षा करनेवाले; मर्मवेत्ता, अगाधबुद्धि एवं महाज्ञानी विदुरके पास जाकर इन सबको हृदयसे लगाइयेगा ४६—४८

इत्युक्त्वा केशवं तत्र राजमध्ये युधिष्ठिरः।
अनुज्ञातो निववृते कृष्णं कृत्वा प्रदक्षिणम् ॥ ४९ ॥

राजाओंके बीचमें भगवान् श्रीकृष्णसे ऐसा कहकर राजा युधिष्ठिर उनकी परिक्रमा करके आज्ञा ले लौट पड़े ॥ ४९ ॥

व्रजन्नेव तु बीभत्सुः सखायं पुरुषर्षभम्।
अब्रवीत् परवीरघ्नं दाशार्हमपराजितम् ॥ ५० ॥

परंतु अर्जुनने पीछे-पीछे जाते हुए ही शत्रुवीरोंका संहार करनेवाले अपराजित नरश्रेष्ठ अपने सखा दशार्हकुलनन्दन श्रीकृष्णसे कहा—॥ ५० ॥

यदस्माकं विभो वृत्तं पुरा वै मन्त्रनिश्चये।
अर्धराज्यस्य गोविन्द विदितं सर्वराजसु ॥ ५१ ॥

'गोविन्द ! पहले जब हमलोगोंमें गुप्त मन्त्रणा हुई थी, उस समय एक निश्चित सिद्धान्तपर पहुँचकर हमने आधा राज्य लेकर ही संधि करनेका निर्णय किया था; इस बातको सभी राजा जानते हैं ॥ ५१ ॥

तच्चेद् दद्यादसंगेन सत्कृत्यानवमन्य च।
प्रियं मे स्यान्महाबाहो मुच्येरन् महतो भयात् ॥ ५२ ॥

'महाबाहो ! यदि दुर्योधन लोभ छोड़कर अनादर न करके सत्कारपूर्वक हमें आधा राज्य लौटा दे तो मेरा प्रिय कार्य सम्पन्न हो जाय तथा समस्त कौरव महान् भयसे छुटकारा पा जायँ ॥ ५२ ॥

अतश्चेदन्यथा कर्ता धार्तराष्ट्रोऽनुपायवित्।
अन्तं नूनं करिष्यामि क्षत्रियाणां जनार्दन ॥ ५३ ॥

'जनार्दन ! यदि समुचित उपायको न जाननेवाला धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधन इसके विपरीत आचरण करेगा तो मैं निश्चय ही उसके पक्षमें आये हुए समस्त क्षत्रियोंका संहार कर डालूँगा' ॥ ५३ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्ते पाण्डवेन समहृष्यद् वृकोदरः।
मुहुर्मुहुः क्रोधवशात् प्रावेपत च पाण्डवः ॥ ५४ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं— जनमेजय ! पाण्डुनन्दन अर्जुनके ऐसा कहनेपर पाण्डव भीमसेनको बड़ा हर्ष हुआ। वे क्रोधवश बारंबार काँपने लगे ॥ ५४ ॥

वेपमानश्च कौन्तेयः प्राक्रोशन्महतो रवान्।
धनंजयवचः श्रुत्वा हर्षोत्सिक्तमना भृशम् ॥ ५५ ॥

काँपते-काँपते ही कुन्तीकुमार भीमसेन बड़े जोर-जोरसे सिंहनाद करने लगे। अर्जुनकी पूर्वोक्त बातें सुनकर उनका हृदय अत्यन्त हर्ष और उत्साहसे भर गया था ॥ ५५ ॥

तस्य तं निनदं श्रुत्वा सम्प्रावेपन्त धन्विनः।
वाहनानि च सर्वाणि शकृन्मूत्रे प्रसुस्रुवुः ॥ ५६ ॥

उनका वह सिंहनाद सुनकर समस्त धनुर्धर भयके मारे थरथर काँपने लगे। उनके सभी वाहनोंने मल-मूत्र कर दिये ॥ ५६ ॥

इत्युक्त्वा केशवं तत्र तथा चोक्त्वा विनिश्चयम्।
अनुज्ञातो निववृते परिष्वज्य जनार्दनम् ॥ ५७ ॥

इस प्रकार श्रीकृष्णसे वार्तालाप करके उन्हें अपना निश्चय बता गले मिलकर अर्जुन श्रीकृष्णसे आज्ञा ले लौट आये ॥ ५७ ॥

तेषु राजसु सर्वेषु निवृत्तेषु जनार्दनः।
तूर्णमभ्यगमद्धृष्टः शैब्यसुग्रीववाहनः ॥ ५८ ॥

उन सब राजाओंके लौट जानेपर शैब्य और सुग्रीव आदिसे युक्त रथपर चलनेवाले जनार्दन श्रीकृष्ण बड़े हर्षके साथ तीव्र गतिसे आगे बढ़े ॥ ५८ ॥

ते हया वासुदेवस्य दारुकेण प्रचोदिताः।
पन्थानमाचेमुरिव ग्रसमाना इवाम्बरम् ॥ ५९ ॥

दारुकके हाँकनेपर भगवान् वासुदेवके वे अश्व इतने वेगसे चलने लगे, मानो समस्त मार्गको पी रहे हों और आकाशको ग्रस लेना चाहते हों ॥ ५९ ॥

अथापश्यन्महाबाहुर्ऋषीनध्वनि केशवः।
ब्राह्म्या श्रिया दीप्यमानान् स्थितानुभयतः पथि ॥ ६० ॥

तदनन्तर महाबाहु श्रीकृष्णने मार्गमें कुछ महर्षियोंको उपस्थित देखा, जो रास्तेके दोनों ओर खड़े थे और ब्रह्मतेजसे प्रकाशित हो रहे थे ॥ ६० ॥

सोऽवतीर्य रथात् तूर्णमभिवाद्य जनार्दनः।
यथावृत्तानृषीन् सर्वानभ्यभाषत पूजयन् ॥ ६१ ॥

तब भगवान् श्रीकृष्ण तुरंत ही रथसे उतर पड़े और

पूर्वोक्तरूपसे खड़े हुए उन समस्त महर्षियोंको प्रणाम करके उनका समादर करते हुए बोले—॥ ६१ ॥



कच्चिल्लोकेषु कुशलं कच्चिद् धर्मः स्वनुष्ठितः ।
ब्राह्मणानां त्रयो वर्णाः कच्चित् तिष्ठन्ति शासने ॥६२॥
(पितृदेवातिथिभ्यश्च कच्चित् पूजा स्वनिष्ठिता ।)

'महात्माओ ! सम्पूर्ण लोकोंमें कुशल तो है न ? क्या धर्मका अच्छी तरह अनुष्ठान हो रहा है ? क्षत्रिय आदि तीनों वर्ण ब्राह्मणोंकी आज्ञाके अधीन रहते हैं न ? क्या पितरों, देवताओं और अतिथियोंकी पूजा भलीभाँति सम्पन्न हो रही है ?' ॥ ६२ ॥

तेभ्यः प्रयुज्य तां पूजां प्रोवाच मधुसूदनः ।
भगवन्तः क्व संसिद्धाः का वीथी भवतामिह ॥ ६३ ॥
किं वा कार्यं भगवतामहं किं करवाणि वः ।
केनार्थेनोपसम्प्राप्ता भगवन्तो महीतलम् ॥ ६४ ॥

तत्पश्चात् उन महर्षियोंकी पूजा करके भगवान् मधुसूदनने फिर उनसे पूछा—'महात्माओ ! आपने कहाँ सिद्धि प्राप्त की है ? आपलोगोंका यहाँ कौन-सा मार्ग है ? अथवा आपलोगोंका क्या कार्य है ? भगवन् ! मैं आपलोगोंकी क्या सेवा करूँ ? किस प्रयोजनसे आपलोग इस भूतलपर पधारे हैं ?' ॥ ६३-६४ ॥

(एवमुक्ताः केशवेन मुनयः संशितव्रताः ।
नारदप्रमुखाः सर्वे प्रत्यनन्दन्त केशवम् ॥

श्रीकृष्णके ऐसा कहनेपर कठोर व्रत धारण करनेवाले नारद आदि सब महर्षि उनका अभिनन्दन करने लगे ॥

अधःशिराः सर्पमाली महर्षिः स हि देवलः ।
अर्वावसुः सुजानुश्च मैत्रेयः शुनको वली ॥
बको दाल्भ्यः स्थूलशिराः कृष्णद्वैपायनस्तथा ।
आयोदधौम्यो धौम्यश्च अणीमाण्डव्यकौशिकौ॥
दामोष्णीषस्त्रिषवणः पर्णादो घटजानुकः ।
मौञ्जायनो वायुभक्षः पाराशर्योऽथ शालिकः ॥
शीलवानशनिर्धाता शून्यपालोऽकृतव्रणः ।
श्वेतकेतुः कहोलश्च रामश्चैव महातपाः ॥)

(नारदजीके अतिरिक्त जो महर्षि वहाँ उपस्थित थे, उनके नाम इस प्रकार हैं—) अधःशिरा, सर्पमाली, महर्षि देवल, अर्वावसु, सुजानु, मैत्रेय, शुनक, वली, दल्भपुत्र बक, स्थूलशिराः, पराशरनन्दन श्रीकृष्णद्वैपायन, आयोदधौम्य, धौम्य, अणीमाण्डव्य, कौशिक, दामोष्णीष त्रिषवण, पर्णाद, घटजानुक, मौञ्जायन, वायुभक्ष, पाराशर्य, शालिक, शीलवान्, अशनि, धाता, शून्यपाल, अकृतव्रण, श्वेतकेतु, कहोल एवं महातपस्वी परशुराम ॥

तमब्रवीज्जामदग्न्य उपेत्य मधुसूदनम् ।
परिष्वज्य च गोविन्दं सुरासुरपतेः सखा ॥ ६५ ॥

उस समय देवराज तथा दैत्यराजके भी सखा जमदग्निनन्दन परशुरामने मधुसूदन श्रीकृष्णके पास जाकर उन्हें हृदयसे लगाया और इस प्रकार कहा—॥ ६५ ॥

देवर्षयः पुण्यकृतो ब्राह्मणाश्च बहुश्रुताः ।
राजर्षयश्च दाशार्ह मानयन्तस्तपस्विनः ।
देवासुरस्य द्रष्टारः पुराणस्य महामते ॥ ६६ ॥
समेतं पार्थिवं क्षत्रं दिदृक्षन्तश्च सर्वतः ।
सभासदश्च राजानस्त्वां च सत्यं जनार्दनम् ॥ ६७ ॥
एतन्महत् प्रेक्षणीयं द्रष्टुं गच्छाम केशव ।
धर्मार्थसहिता वाचः श्रोतुमिच्छाम माधव ॥ ६८ ॥
त्वयोच्यमानाः कुरुषु राजमध्ये परंतप ।

महामते केशव ! जिन्होंने पुरातन देवासुरसंग्रामको भी अपनी आँखोंसे देखा है, वे पुण्यात्मा देवर्षिगण, अनेक शास्त्रोंके विद्वान् ब्रह्मर्षिगण तथा आपका सम्मान करनेवाले तपस्वी राजर्षिगण सम्पूर्ण दिशाओंसे एकत्र हुए भूमण्डलके क्षत्रियनरेशोंको, सभामें बैठे हुए भूपालोंको तथा सत्यस्वरूप आप भगवान् जनार्दनको देखना चाहते हैं । इस परम दर्शनीय वस्तुका दर्शन करनेके लिये ही हम हस्तिनापुरमें चल रहे हैं । शत्रुओंको संताप देनेवाले माधव ! वहाँ कौरवों तथा अन्य राजाओंकी मण्डलीमें आपके द्वारा कही जानेवाली धर्म और अर्थसे युक्त बातोंको हम सुनना चाहते हैं ॥ ६६—६८½ ॥

भीष्मद्रोणादयश्चैव विदुरश्च महामतिः ॥ ६९ ॥
त्वं च यादवशार्दूल सभायां वै समेष्यथ ।

'यदुकुलसिंह ! वहाँ कौरव-सभामें भीष्म, द्रोण आदि प्रमुख व्यक्ति, परम बुद्धिमान् विदुर तथा आप पधारेंगे ॥ ६९½ ॥

तव वाक्यानि दिव्यानि तथा तेषां च माधव ॥ ७० ॥
श्रोतुमिच्छाम गोविन्द सत्यानि च हितानि च ।

'गोविन्द ! माधव ! उस सभामें आपके तथा भीष्म आदिके मुखसे जो दिव्य, सत्य एवं हितकर वचन प्रकट होंगे, उन सबको हमलोग सुनना चाहते हैं ॥ ७०½ ॥

आपृष्टोऽसि महाबाहो पुनर्द्रक्ष्यामहे वयम् ॥ ७१ ॥
याह्यविघ्नेन वै वीर द्रक्ष्यामस्त्वां सभागतम् ।
आसीनमासने दिव्ये बलतेजःसमाहितम् ॥ ७२ ॥

'महाबाहो ! अब हमलोग आपसे पूछकर विदा ले रहे हैं, पुनः आपका दर्शन करेंगे। वीर ! आपकी यात्रा निर्विघ्न हो। जब सभामें पधारकर आप दिव्य आसनपर बैठे होंगे, उसी समय बल और तेजसे सम्पन्न आपके श्रीअङ्गोंका हम पुनः दर्शन करेंगे' ॥ ७१-७२ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि श्रीकृष्णप्रस्थाने त्र्यशीतितमोऽध्यायः ॥ ८३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें श्रीकृष्णप्रस्थानविषयक तिरासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ८३ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ५½ श्लोक मिलाकर कुल ७७½ श्लोक हैं)

चतुरशीतितमोऽध्यायः

मार्गके शुभाशुभ शकुनोंका वर्णन तथा मार्गमें लोगोंद्वारा सत्कार पाते हुए श्रीकृष्णका वृकस्थल पहुँचकर वहाँ विश्राम करना

वैशम्पायन उवाच

प्रयान्तं देवकीपुत्रं परवीररुजो दश ।
महारथा महाबाहुमन्वयुः शस्त्रपाणयः ॥ १ ॥
पदातीनां सहस्रं च सादिनां च परंतप ।
भोज्यं च विपुलं राजन् प्रेष्याश्च शतशोऽपरे ॥ २ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! शत्रुओंको संताप देनेवाले नरेश ! महाबाहु श्रीकृष्णके प्रस्थान करते समय विपक्षी वीरोंपर विजय पानेवाले शस्त्रधारी दस महारथी, एक हजार पैदल योद्धा, एक हजार घुड़सवार, प्रचुर खाद्य-सामग्री तथा दूसरे सैकड़ों सेवक उनके साथ गये ॥ १-२ ॥

जनमेजय उवाच

कथं प्रयातो दाशार्हो महात्मा मधुसूदनः ।
कानि वा व्रजतस्तस्य निमित्तानि महौजसः ॥ ३ ॥

जनमेजयने पूछा—दशार्हकुलतिलक महात्मा मधुसूदनने किस प्रकार यात्रा की ? उन महातेजस्वी श्रीकृष्णके जाते समय कौन-कौन-से भले-बुरे शकुन प्रकट हुए थे ? ॥ ३ ॥

वैशम्पायन उवाच

तस्य प्रयाणे यान्यासन् निमित्तानि महात्मनः ।
तानि मे शृणु सर्वाणि दैवान्यौत्पातिकानि च ॥ ४ ॥

वैशम्पायनजीने कहा—राजन् ! महात्मा श्रीकृष्णके प्रस्थान करते समय जो दिव्य शकुन और उत्पातसूचक अपशकुन प्रकट हुए थे, मुझसे उन सबका वर्णन सुनो ॥ ४ ॥

अनभ्रेऽशनिनिर्घोषः सविद्युत् समजायत ।
अन्वगेव च पर्जन्यः प्रावर्षद् विघने भृशम् ॥ ५ ॥

बिना बादलके ही आकाशमें बिजलीसहित वज्रकी गड़गड़ाहट सुनायी देने लगी । उसके साथ ही पर्जन्यदेवताने मेघोंकी घटा न होनेपर भी प्रचुर जलकी वर्षा की ॥ ५ ॥

प्रत्यगूहुर्महानद्यः प्राङ्मुखाः सिन्धुसत्तमाः ।
विपरीता दिशः सर्वा न प्राज्ञायत किंचन ॥ ६ ॥

पूर्वकी ओर बहनेवाली सिन्धु आदि बड़ी-बड़ी नदियोंका प्रवाह उलटकर पश्चिमकी ओर हो गया । सारी दिशाएँ विपरीत प्रतीत होने लगीं । कुछ भी समझमें नहीं आता था ॥ ६ ॥



प्राज्वलन्नग्नयो राजन् पृथिवी समकम्पत ।
उदपानाश्च कुम्भाश्च प्रासिञ्चञ्छतशो जलम् ॥ ७ ॥

राजन् ! सब ओर आग जलने लगी। धरती डोलने लगी। सैकड़ों जलाशय और कलश छलक-छलककर जल गिराने लगे ॥ ७ ॥

तमःसंवृतमप्यासीत् सर्वं जगदिदं तथा।
न दिशो नादिशो राजन् प्रज्ञायन्ते स्म रेणुना॥ ८ ॥

राजन् ! यह सारा संसार धूलके कारण अन्धकारसे आच्छन्न-सा हो गया। कौन दिशा है, कौन दिशा नहीं है—इसका ज्ञान नहीं हो पाता था ॥ ८ ॥

प्रादुरासीन्महाञ्छब्दः खे शरीरमदृश्यत।
सर्वेषु राजन् देशेषु तदद्भुतमिवाभवत्॥ ९ ॥

महाराज ! फिर बड़े जोरसे कोलाहल होने लगा। आकाशमें सब ओर मनुष्यकी-सी आकृति दिखायी देने लगी। सम्पूर्ण देशोंमें यह अद्भुत-सी बात दिखायी दी ॥ ९ ॥

प्रामथ्नाद्धास्तिनपुरं वातो दक्षिणपश्चिमः।
आरुजन् गणशो वृक्षान् परुषोऽशनिनिस्वनः॥ १० ॥

दक्षिण पश्चिमसे आँधी उठी और हस्तिनापुरको मथने लगी। उसने झुंड-के-झुंड वृक्षोंको तोड़-उखाड़कर धराशायी कर दिया। वज्रपात-सा कठोर शब्द होने लगा (इस प्रकारके उत्पात हस्तिनापुरके आस-पास घटित होते थे)॥ १० ॥

यत्र यत्र च वार्ष्णेयो वर्तते पथि भारत।
तत्र तत्र सुखो वायुः सर्वं चासीत् प्रदक्षिणम्॥ ११ ॥

भारत ! वृष्णिनन्दन श्रीकृष्ण मार्गमें जहाँ-जहाँ रहते थे, वहाँ-वहाँ सुखदायिनी वायु चलती थी और सभी शुभ शकुन उनके दाहिने भागमें प्रकट होते थे ॥ ११ ॥

ववर्ष पुष्पवर्षं च कमलानि च भूरिशः।
समश्च पन्था निर्दुःखो व्यपेतकुशकण्टकः॥ १२ ॥

उनपर फूलोंकी और बहुत-से खिले हुए कमलोंकी भी वृष्टि होती तथा सारा मार्ग कुश-कण्टकसे शून्य और समतल होकर क्लेश और दुःखसे रहित हो जाता था ॥१२॥

संस्तुतो ब्राह्मणैर्गीर्भिस्तत्र तत्र सहस्रशः।
अर्च्यते मधुपर्कैश्च वसुभिश्च वसुप्रदः॥ १३ ॥

सहस्रों ब्राह्मण विभिन्न स्थानोंमें भगवान् श्रीकृष्णकी स्तुति करते तथा मधुपर्कद्वारा उनकी पूजा करते थे। धनदाता भगवान्ने भी उन सबको यथेष्ट धन दिया ॥ १३ ॥

तं किरन्ति महात्मानं वन्यैः पुष्पैः सुगन्धिभिः।
स्त्रियः पथि समागम्य सर्वभूतहिते रतम्॥ १४ ॥

मार्गमें कितनी ही स्त्रियाँ आकर सम्पूर्ण भूतोंके हितमें रत रहनेवाले उन महात्मा श्रीकृष्णके ऊपर वनके सुगन्धित फूलोंकी वर्षा करती थीं ॥ १४ ॥

स शालिभवनं रम्यं सर्वसस्यसमाचितम्।
सुखं परमधर्मिष्ठमभ्यगाद् भरतर्षभ॥ १५ ॥

भरतश्रेष्ठ ! उस समय धर्मकार्यके लिये अत्यन्त उपयोगी तथा सम्पूर्ण सस्य-सम्पत्तिसे भरे हुए अगहनी धानके मनोहर खेत देखते हुए भगवान् बड़े सुखसे यात्रा कर रहे थे ॥ १५ ॥

पश्यन् बहुपशून् ग्रामान् रम्यान् हृदयतोषणान्।
पुराणि च व्यतिक्रामन् राष्ट्राणि विविधानि च॥ १६ ॥

रास्तेमें कितने ही ऐसे गाँव मिलते, जिनमें बहुत-से पशुओंका पालन-पोषण होता था। वे देखनेमें अत्यन्त सुन्दर और मनको संतोष देनेवाले थे। उन सबको देखते और अनेकानेक नगरों एवं राष्ट्रोंको लाँघते हुए वे आगे बढ़ते चले गये ॥ १६ ॥

नित्यं हृष्टाः सुमनसो भारतैरभिरक्षिताः।
नोद्विग्नाः परचक्राणां व्यसनानामकोविदाः॥ १७ ॥
उपप्लव्याद्थायान्तं जनाः पुरनिवासिनः।
पथ्यतिष्ठन्त सहिता विष्वक्सेनदिदृक्षया॥ १८ ॥

इधर उपप्लव्य नगरसे आते हुए भगवान् श्रीकृष्णको देखनेकी इच्छासे अनेक नागरिक रास्तेमें एक साथ खड़े थे। भरतवंशियोंद्वारा सुरक्षित होनेके कारण वे सदा हर्ष एवं उल्लाससे भरे रहते थे। उनका मन बहुत प्रसन्न था। उन्हें शत्रुओंकी सेनाओंसे उद्विग्न होनेका अवसर नहीं आता था। दुःख और संकट कैसा होता है, इसको वे जानते ही नहीं थे ॥ १७-१८ ॥

ते तु सर्वे समायान्तमग्निमिद्धमिव प्रभुम्।
अर्चयामासुरर्चार्हं देशातिथिमुपस्थितम्॥ १९ ॥

उन सबने प्रज्वलित अग्निके समान तेजस्वी और अपने देशके पूजनीय अतिथि भगवान् श्रीकृष्णको समीप आते देख निकट जाकर उनका यथावत् पूजन किया ॥ १९ ॥

वृकस्थलं समासाद्य केशवः परवीरहा।
प्रकीर्णरश्मावादित्ये व्योम्नि वै लोहितायति॥ २० ॥
अवतीर्य रथात् तूर्णं कृत्वा शौचं यथाविधि।
रथमोचनमादिश्य संध्यामुपविवेश ह॥ २१ ॥

शत्रुवीरोंका संहार करनेवाले भगवान् श्रीकृष्ण जब वृकस्थलमें पहुँचे, उस समय नाना किरणोंसे मण्डित सूर्य अस्त होने लगे और पश्चिमके आकाशमें लाली छा गयी। तब भगवान्ने शीघ्र ही रथसे उतरकर उसे खोलनेकी आज्ञा दी और विधिपूर्वक शौच-स्नान करके वे संध्योपासना करने लगे ॥ २०-२१ ॥

दारुकोऽपि हयान् मुक्त्वा परिचर्य च शास्त्रतः।
मुमोच सर्वयोक्त्रादि मुक्त्वा चैतानवासृजत् ॥ २२ ॥

दारुकने भी घोड़ोंको खोलकर शास्त्रविधिके अनुसार उनकी परिचर्या की और उनका सारा साज-बाज उतार दिया तथा उन्हें बन्धनमुक्त करके छोड़ दिया ॥ २२ ॥

अभ्यतीत्य तु तत् सर्वमुवाच मधुसूदनः ।
युधिष्ठिरस्य कार्यार्थमिह वत्स्यामहे क्षपाम् ॥ २३ ॥

संध्या-वन्दन आदि सारा कार्य समाप्त करके मधुसूदन श्रीकृष्णने कहा—'युधिष्ठिरका कार्य सिद्ध करनेके लिये आज रातमें हमलोग यहीं रहेंगे' ॥ २३ ॥

तस्य तन्मतमाज्ञाय चक्रुरावसथं नराः ।
क्षणेन चान्नपानानि गुणवन्ति समार्जयन् ॥ २४ ॥

उनका यह विचार जानकर सेवकोंने वहीं डेरा डाल दिये। क्षणभरमें उन्होंने खाने-पीनेके उत्तमोत्तम पदार्थ प्रस्तुत कर दिये ॥ २४ ॥

तस्मिन् ग्रामे प्रधानास्तु य आसन् ब्राह्मणा नृप।
आर्याः कुलीना ह्रीमन्तो ब्राह्मीं वृत्तिमनुष्ठिताः ॥ २५ ॥

राजन्! उस गाँवमें जो प्रमुख ब्राह्मण रहते थे, वे श्रेष्ठ, कुलीन, लज्जाशील और ब्राह्मणोचित वृत्तिका पालन करनेवाले थे ॥ २५ ॥

तेऽभिगम्य महात्मानं हृषीकेशमरिंदमम् ।
पूजां चक्रुर्यथान्यायमाशीर्मङ्गलसंयुताम् ॥ २६ ॥

उन्होंने शत्रुदमन महात्मा हृषीकेशके पास जाकर आशीर्वाद तथा मङ्गलपाठपूर्वक उनका यथोचित पूजन किया ॥ २६ ॥

ते पूजयित्वा दाशार्हं सर्वलोकेषु पूजितम् ।
न्यवेदयन्त वेश्मानि रत्नवन्ति महात्मने ॥ २७ ॥

सर्वलोकपूजित दशार्हनन्दन श्रीकृष्णकी पूजा करके



उन्होंने उन महात्माको अपने रत्नसम्पन्न गृह समर्पित कर दिये अर्थात् अपने-अपने घरोंमें ठहरनेके लिये प्रभुसे प्रार्थना की। २७।

तान् प्रभुः कृतमित्युक्त्वा सत्कृत्य च यथार्हतः।
अभ्येत्य चैषां वेश्मानि पुनरायात् सहैव तैः ॥ २८ ॥

तब भगवान्ने यह कहकर कि यहाँ ठहरनेके लिये पर्याप्त स्थान है, उनका यथायोग्य सत्कार किया और (उनके संतोषके लिये) उन सबके घरोंपर जाकर पुनः उनके साथ ही लौट आये ॥ २८ ॥

सुमृष्टं भोजयित्वा च ब्राह्मणांस्तत्र केशवः ।
भुक्त्वा च सह तैः सर्वैरवसत् तां क्षपां सुखम् ॥ २९ ॥

तत्पश्चात् केशवने वहीं उन ब्राह्मणोंको सुस्वादु अन्न भोजन कराया, फिर स्वयं भी भोजन करके उन सबके साथ उस रातमें वहाँ सुखपूर्वक निवास किया ॥ २९ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि श्रीकृष्णप्रयाणे चतुरशीतितमोऽध्यायः ॥ ८४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें श्रीकृष्णका हस्तिनापुरको प्रस्थानविषयक चौरासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ८४ ॥

पञ्चाशीतितमोऽध्यायः

दुर्योधनका धृतराष्ट्र आदिकी अनुमतिसे श्रीकृष्णके स्वागत-सत्कारके लिये मार्गमें विश्रामस्थान बनवाना

वैशम्पायन उवाच

तथा दूतैः समाज्ञाय प्रयान्तं मधुसूदनम् ।
धृतराष्ट्रोऽब्रवीद् भीष्ममर्चयित्वा महाभुजम् ॥ १ ॥
द्रोणं च संजयं चैव विदुरं च महामतिम् ।
दुर्योधनं सहामात्यं हृष्टरोमाब्रवीदिदम् ॥ २ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! दूतोंके द्वारा भगवान् मधुसूदनके आगमनका समाचार जानकर धृतराष्ट्रके शरीरमें रोमाञ्च हो आया। उन्होंने महाबाहु भीष्म, द्रोण, संजय तथा परम बुद्धिमान् विदुरका यथावत् सत्कार करके मन्त्रियोंसहित दुर्योधनसे इस प्रकार कहा—॥ १-२ ॥

अद्भुतं महदाश्चर्यं श्रूयते कुरुनन्दन ।
स्त्रियो बालाश्च वृद्धाश्च कथयन्ति गृहे गृहे ॥ ३ ॥
सत्कृत्याचक्षते चान्ये तथैवान्ये समागताः ।
पृथग्वादाश्च वर्तन्ते चत्वरेषु सभासु च ॥ ४ ॥

'कुरुनन्दन ! एक अद्भुत और अत्यन्त आश्चर्यकी बात सुनायी देती है । घर-घरमें स्त्री-बालक और बूढ़े इसीकी चर्चा करते हैं । जो यहाँके निवासी हैं, वे तथा जो बाहरसे आये हुए हैं, वे भी आदरपूर्वक उसी बातको कहते हैं । चौराहोंपर और सभाओंमें भी पृथक्-पृथक् वही चर्चा चलती है ॥ ३-४ ॥

उपायास्यति दाशार्हः पाण्डवार्थे पराक्रमी ।
स नो मान्यश्च पूज्यश्च सर्वथा मधुसूदनः ॥ ५ ॥

'वह बात यह है कि पाण्डवोंकी ओरसे परम पराक्रमी भगवान् श्रीकृष्ण यहाँ पधारेंगे । वे मधुसूदन हमलोगोंके माननीय तथा सब प्रकारसे पूजनीय हैं ॥ ५ ॥

तस्मिन् हि यात्रा लोकस्य भूतानामीश्वरो हि सः ।
तस्मिन् धृतिश्च वीर्यं च प्रज्ञा चौजश्च माधवे ॥ ६ ॥

'सम्पूर्ण लोकोंका जीवन उन्हींपर निर्भर है, क्योंकि वे सम्पूर्ण भूतोंके अधीश्वर हैं । उन माधवमें धैर्य, पराक्रम, बुद्धि और तेज सब कुछ है ॥ ६ ॥

स मान्यतां नरश्रेष्ठः स हि धर्मः सनातनः ।
पूजितो हि सुखाय स्यादसुखः स्यादपूजितः ॥ ७ ॥

'उन नरश्रेष्ठ श्रीकृष्णका यहाँ सम्मान होना चाहिये; क्योंकि वे सनातन धर्मस्वरूप हैं । सम्मानित होनेपर वे हमारे लिये सुखदायक होंगे और सम्मानित न होनेपर हमारे दुःखके कारण बन जायँगे ॥ ७ ॥

स चेत् तुष्यति दाशार्ह उपचारैररिंदमः ।
कृष्णात् सर्वानभिप्रायान् प्राप्स्यामः सर्वराजसु ॥ ८ ॥

'शत्रुओंका दमन करनेवाले भगवान् श्रीकृष्ण यदि हमारे सत्कार-साधनोंसे संतुष्ट हो जायँगे, तब हम समस्त राजाओंमें उनसे अपने सारे मनोरथ प्राप्त कर लेंगे ॥ ८ ॥

तस्य पूजार्थमद्यैव संविधत्स्व परंतप ।
सभाः पथि विधीयन्तां सर्वकामसमन्विताः ॥ ९ ॥

'परंतप ! तुम श्रीकृष्णके स्वागत-सत्कारके लिये आजसे ही तैयारी करो । मार्गमें अनेक विश्रामस्थान बनवाओ और उनमें सब प्रकारकी मनोऽनुकूल उपभोग-सामग्री प्रस्तुत करो ॥ ९ ॥

यथा प्रीतिर्महाबाहो त्वयि जायेत तस्य वै ।
तथा कुरुष्व गान्धारे कथं वा भीष्म मन्यसे ॥ १० ॥

'महाबाहु गान्धारीनन्दन ! तुम ऐसा प्रयत्न करो, जिससे श्रीकृष्णके हृदयमें तुम्हारे प्रति प्रेम उत्पन्न हो जाय । अथवा भीष्मजी ! इस विषयमें आपकी क्या सम्मति है ?' ॥ १० ॥

ततो भीष्मादयः सर्वे धृतराष्ट्रं जनाधिपम् ।
ऊचुः परममित्येवं पूजयन्तोऽस्य तद् वचः ॥ ११ ॥

तब भीष्म आदि सब लोगोंने उस प्रस्तावकी भूरि-भूरि प्रशंसा करते हुए राजा धृतराष्ट्रसे कहा—'बहुत उत्तम बात है' ॥ ११ ॥

तेषामनुमतं ज्ञात्वा राजा दुर्योधनस्तदा ।
सभावास्तूनि रम्याणि प्रदेष्टुमुपचक्रमे ॥ १२ ॥

उन सबकी अनुमति जानकर राजा दुर्योधनने उस समय जगह-जगह सुन्दर सभामण्डप तथा विश्रामस्थान बनवानेके लिये आदेश जारी किया ॥ १२ ॥

ततो देशेषु देशेषु रमणीयेषु भागशः ।
सर्वरत्नसमाकीर्णाः सभाश्चक्रुरनेकशः ॥ १३ ॥

तब कारीगरोंने विभिन्न रमणीय प्रदेशोंमें अलग-अलग सब प्रकारके रत्नोंसे सम्पन्न अनेक विश्रामस्थान बनाये ॥ १३ ॥

आसनानि विचित्राणि युतानि विविधैर्गुणैः ।
स्त्रियो गन्धानलंकारान् सूक्ष्माणि वसनानि च ॥ १४ ॥
गुणवन्त्यन्नपानानि भोज्यानि विविधानि च ।
माल्यानि च सुगन्धीनि तानि राजा ददौ ततः ॥ १५ ॥

नाना प्रकारके गुणोंसे युक्त विचित्र आसन, स्त्रियाँ, सुगन्धित पदार्थ, आभूषण, महीन वस्त्र, गुणकारक अन्न और पेय पदार्थ, भाँति-भाँतिके भोजन तथा सुगन्धित पुष्पमालाएँ आदि वस्तुओंको राजा दुर्योधनने उन स्थानोंमें रखवाया ॥ १४-१५ ॥

विशेषतश्च वासार्थं सभां ग्रामे वृकस्थले ।
विदधे कौरवो राजा बहुरत्नां मनोरमाम् ॥ १६ ॥

विशेषतः वृकस्थलनामक ग्राममें निवास करनेके लिये कुरुराज दुर्योधनने जो विश्रामस्थान बनवाया था, वह बड़ा मनोरम तथा प्रचुर रत्नराशिसे सम्पन्न था ॥ १६ ॥

एतद् विधाय वै सर्वं देवार्हमतिमानुषम् ।
आचख्यौ धृतराष्ट्राय राजा दुर्योधनस्तदा ॥ १७ ॥

मनुष्योंके लिये अत्यन्त दुर्लभ यह सब देवोचित व्यवस्था करके राजा दुर्योधनने धृतराष्ट्रको इसकी सूचना दे दी ॥ १७ ॥

ताः सभाः केशवः सर्वा रत्नानि विविधानि च ।
असमीक्ष्यैव दाशार्ह उपायात् कुरुसद्म तत् ॥ १८ ॥

परंतु यदुकुलतिलक श्रीकृष्ण उन विश्रामस्थानों तथा नाना प्रकारके रत्नोंकी ओर दृष्टिपाततक न करके कौरवोंके निवासस्थान हस्तिनापुरकी ओर बढ़ते चले गये ॥ १८ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि मार्गे सभानिर्माणे पञ्चाशीतितमोऽध्यायः ॥ ८५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें मार्गमें विश्रामस्थलनिर्माणविषयक पचासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ८५ ॥

षडशीतितमोऽध्यायः

धृतराष्ट्रका भगवान् श्रीकृष्णकी अगवानी करके उन्हें भेंट देने एवं दुःशासनके महलमें ठहरानेका विचार प्रकट करना

धृतराष्ट्र उवाच

उपप्लव्यादिह क्षत्तरुपायातो जनार्दनः।
वृकस्थले निवसति स च प्रातरिहैष्यति ॥ १ ॥

धृतराष्ट्र बोले—विदुर ! मुझे सूचना मिली है कि भगवान् श्रीकृष्ण उपप्लव्यसे यहाँके लिये प्रस्थित हो गये हैं, आज वृकस्थलमें ठहरे हैं तथा कल सवेरे ही इस नगरमें पहुँच जायँगे ॥ १ ॥

आहुकानामधिपतिः पुरोगः सर्वसात्वताम्।
महामना महावीर्यो महासत्त्वो जनार्दनः ॥ २ ॥

भगवान् जनार्दन आहुकवंशी क्षत्रियोंके अधिपति तथा समस्त सात्वतों (यादवों) के अगुआ हैं। उनका हृदय महान् है, पराक्रम भी महान् है तथा वे महान् सत्त्वगुणसे सम्पन्न हैं ॥ २ ॥

स्फीतस्य वृष्णिराष्ट्रस्य भर्ता गोप्ता च माधवः।
त्रयाणामपि लोकानां भगवान् प्रपितामहः ॥ ३ ॥

वे भगवान् माधव समृद्धिशाली यादव गणराष्ट्रके पोषक तथा संरक्षक हैं। पितामहके भी जनक होनेके कारण वे तीनों लोकोंके प्रपितामह हैं ॥ ३ ॥

वृष्ण्यन्धकाः सुमनसो यस्य प्रज्ञामुपासते।
आदित्या वसवो रुद्रा यथा बुद्धिं बृहस्पतेः ॥ ४ ॥

जैसे आदित्य वसु तथा रुद्रगण बृहस्पतिकी बुद्धिका आश्रय लेते हैं, उसी प्रकार वृष्णि और अन्धकवंशके लोग प्रसन्नचित्त होकर श्रीकृष्णकी ही बुद्धिके आश्रित रहते हैं ॥ ४ ॥

तस्मै पूजां प्रयोक्ष्यामि दाशार्हाय महात्मने।
प्रत्यक्षं तव धर्मज्ञ तां मे कथयतः शृणु ॥ ५ ॥

धर्मज्ञ विदुर ! मैं तुम्हारे सामने ही उन महात्मा श्रीकृष्णको जो पूजा दूँगा, उसे बताता हूँ, सुनो ॥ ५ ॥

एकवर्णैः सुकल्पाङ्गैर्बाह्लिजातैर्हयोत्तमैः।
चतुर्युक्तान् रथांस्तस्मै रौक्मान् दास्यामि षोडश ॥ ६ ॥

एक रंगके, सुदृढ़ अङ्गोंवाले तथा बाह्लीकदेशमें उत्पन्न हुए उत्तम जातिके चार-चार घोड़ोंसे जुते हुए सोलह सुवर्णमय रथ मैं श्रीकृष्णको भेंट करूँगा ॥ ६ ॥

नित्यप्रभिन्नान् मातङ्गानीषादन्तान् प्रहारिणः।
अष्टानुचरमेकैकमष्टौ दास्यामि कौरव ॥ ७ ॥

कुरुनन्दन ! इनके सिवा मैं उन्हें आठ मतवाले हाथी भी दूँगा, जिनके मस्तकोंसे सदा मद चूता रहता है, जिनके दाँत ईषादण्डके समान प्रतीत होते हैं तथा जो शत्रुओंपर प्रहार करनेमें कुशल हैं और जिन आठों गजराजोंमेंसे प्रत्येकके साथ आठ-आठ सेवक हैं ॥ ७ ॥

दासीनामप्रजातानां शुभानां रुक्मवर्चसाम्।
शतमस्मै प्रदास्यामि दासानामपि तावताम् ॥ ८ ॥

साथ ही मैं उन्हें सुवर्णकी-सी कान्तिवाली परम सुन्दरी सौ ऐसी दासियाँ दूँगा, जिनसे किसी संतानकी उत्पत्ति नहीं हुई है। दासियोंके ही बराबर दास भी दूँगा ॥ ८ ॥

आविकं च सुखस्पर्शं पार्वतीयैरुपाहृतम्।
तदप्यस्मै प्रदास्यामि सहस्राणि दशाष्ट च ॥ ९ ॥

मेरे यहाँ पर्वतीयोंसे भेंटमें मिले हुए भेड़के ऊनसे बने हुए (असंख्य) कम्बल हैं, जो स्पर्श करनेपर बड़े मुलायम जान पड़ते हैं; उनमेंसे अठारह हजार कम्बल भी मैं श्रीकृष्णको उपहारमें दूँगा ॥ ९ ॥

अजिनानां सहस्राणि चीनदेशोद्भवानि च।
तान्यप्यस्मै प्रदास्यामि यावदर्हति केशवः ॥ १० ॥

चीनदेशमें उत्पन्न हुए सहस्रों मृगचर्म मेरे भण्डारमें सुरक्षित हैं; उनमेंसे श्रीकृष्ण जितने लेना चाहेंगे, उतने सबके सब उन्हें अर्पित कर दूँगा ॥ १० ॥

दिवा रात्रौ च भात्येष सुतेजा विमलो मणिः।
तमप्यस्मै प्रदास्यामि तमर्हति हि केशवः ॥ ११ ॥

मेरे पास यह एक अत्यन्त तेजस्वी निर्मल मणि है, जो दिन तथा रातमें भी प्रकाशित होती है, इसे भी मैं श्रीकृष्णको ही दूँगा; क्योंकि वे ही इसके योग्य हैं ॥ ११ ॥

एकेनाभिपतत्यह्ना योजनानि चतुर्दश।
यानमश्वतरीयुक्तं दास्ये तस्मै तदप्यहम् ॥ १२ ॥

मेरे पास खच्चरियोंसे युक्त एक रथ है, जो एक दिनमें चौदह योजनतक चला जाता है, वह भी मैं उन्हींको अर्पित करूँगा ॥ १२ ॥

यावन्ति वाहनान्यस्य यावन्तः पुरुषाश्च ते।
ततोऽष्टगुणमप्यस्मै भोज्यं दास्याम्यहं सदा ॥ १३ ॥

श्रीकृष्णके साथ जितने वाहन और जितने सेवक आयँगे उन सबको औसतसे आठगुना भोजन मैं प्रत्येक समय देता रहूँगा ॥ १३ ॥

मम पुत्राश्च पौत्राश्च सर्वे दुर्योधनादृते।
प्रत्युद्यास्यन्ति दाशार्हं रथैर्मृष्टैः स्वलंकृताः ॥ १४ ॥

दुर्योधनके सिवा मेरे सभी पुत्र और पौत्र वस्त्राभूषणोंसे विभूषित हो स्वच्छ-सुन्दर रथोंपर बैठकर श्रीकृष्णकी अगवानीके लिये जायँगे ॥ १४ ॥

स्वलंकृताश्च कल्याण्यः पादैरेव सहस्रशः।
वारमुख्या महाभागं प्रत्युद्यास्यन्ति केशवम् ॥ १५ ॥

सहस्रों सुन्दरी वाराङ्गनाएँ सुन्दर वेषभूषासे सज-धजकर महाभाग केशवकी अगवानीके लिये पैदल ही जायँगी ॥ १५ ॥

नगरादपि याः काश्चिद् गमिष्यन्ति जनार्दनम्।
द्रष्टुं कन्याश्च कल्याण्यस्ताश्च यास्यन्त्यनावृताः ॥ १६ ॥

जनार्दनका दर्शन करनेके लिये इस नगरसे जो भी कोई पर्दा न रखनेवाली कल्याणमयी कन्याएँ जाना चाहेंगी, वे जा सकेंगी ॥ १६ ॥

सस्त्रीपुरुषबालं च नगरं मधुसूदनम्।
उदीक्षतां महात्मानं भानुमन्तमिव प्रजाः ॥ १७ ॥

जैसे प्रजा सूर्यदेवका दर्शन करती है, उसी प्रकार स्त्री, पुरुष और बालकोंसहित यह सारा नगर महात्मा मधुसूदनका दर्शन करे ॥ १७ ॥

महाध्वजपताकाश्च क्रियन्तां सर्वतो दिशः।
जलावसिक्तो विरजाः पन्थास्तस्येति चान्वशात् ॥ १८ ॥

'नगरमें चारों ओर विशाल ध्वजाएँ और पताकाएँ फहरा दी जायँ और श्रीकृष्ण जिसपर आ रहे हों, उस राजपथपर जलका छिड़काव करके उसे धूलरहित बना दिया जाय, इस प्रकार राजा धृतराष्ट्रने आदेश दिया ॥ १८ ॥

दुःशासनस्य च गृहं दुर्योधनगृहाद् वरम्।
तदद्य क्रियतां क्षिप्रं सुसम्मृष्टमलंकृतम् ॥ १९ ॥

इतना कहकर वे फिर बोले—दुःशासनका महल दुर्योधनके राजभवनसे भी श्रेष्ठ है। उसीको आज झाड़-पोंछकर सब प्रकारसे सुसज्जित कर दिया जाय ॥ १९ ॥

एतद्धि रुचिराकारैः प्रासादैरुपशोभितम्।
शिवं च रमणीयं च सर्वर्तुसुमहाधनम् ॥ २० ॥

यह महल सुन्दर आकारवाले भवनोंसे सुशोभित, कल्याणकारी, रमणीय, सभी ऋतुओंके वैभवसे सम्पन्न तथा अनन्त धनराशिसे समृद्ध है ॥ २० ॥

सर्वमस्मिन् गृहे रत्नं मम दुर्योधनस्य च।
यद् यदर्हति वार्ष्णेयस्तत् तद् देयमसंशयम् ॥ २१ ॥

मेरे और दुर्योधनके पास जो भी रत्न हैं, वे सब इसी घरमें रक्खे हैं। भगवान् श्रीकृष्ण उनमेंसे जो-जो रत्न लेना चाहें, वे सब उन्हें निःसंदेह दे दिये जायँ ॥ २१ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि धृतराष्ट्रवाक्ये षडशीतितमोऽध्यायः ॥ ८६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें धृतराष्ट्रवाक्यविषयक छियासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ८६ ॥

सप्ताशीतितमोऽध्यायः

विदुरका धृतराष्ट्रको श्रीकृष्णकी आज्ञाका पालन करनेके लिये समझाना

विदुर उवाच

राजन् बहुमतश्चासि त्रैलोक्यस्यापि सत्तमः।
सम्भावितश्च लोकस्य सम्मतश्चासि भारत ॥ १ ॥

विदुरजी बोले—राजन्! आप तीनों लोकोंके श्रेष्ठतम पुरुष हैं और सर्वत्र आपका बहुत सम्मान होता है। भारत! इस लोकमें भी आपकी बड़ी प्रतिष्ठा और सम्मान है ॥ १ ॥

यत् त्वमेवंगते ब्रूयाः पश्चिमे वयसि स्थितः।
शास्त्राद् वा सुप्रतर्काद् वा सुस्थिरः स्थविरो ह्यसि ॥ २ ॥

इस समय आप अन्तिम अवस्था (बुढ़ापे) में स्थित हैं। ऐसी स्थितिमें आप जो कुछ कह रहे हैं, वह शास्त्रसे अथवा लौकिक युक्तिसे भी ठीक ही है। इस सुस्थिर विचारके कारण ही आप वास्तवमें स्थविर (वृद्ध) हैं ॥ २ ॥

लेखा शशिनि भाः सूर्ये महोर्मिरिव सागरे।
धर्मस्त्वयि तथा राजन्निति व्यवसिताः प्रजाः ॥ ३ ॥

राजन्! जैसे चन्द्रमामें कला है, सूर्यमें प्रभा है और समुद्रमें उत्ताल तरंगें हैं, उसी प्रकार आपमें धर्मकी स्थिति है। यह समस्त प्रजा निश्चितरूपसे जानती है ॥ ३ ॥

सदैव भावितो लोको गुणौघैस्तव पार्थिव।
गुणानां रक्षणे नित्यं प्रयतस्व सबान्धवः ॥ ४ ॥

भूपाल! आपके सद्गुणसमूहसे सदा ही इस जगत्की उन्नति एवं प्रतिष्ठा हो रही है। अतः आप अपने बन्धु-बान्धवोंसहित सदा ही इन सद्गुणोंकी रक्षाके लिये प्रयत्न कीजिये ॥ ४ ॥

आर्जवं प्रतिपद्यस्व मा बाल्याद् बहु नीनशः।
राजन् पुत्रांश्च पौत्रांश्च सुहृदश्चैव सुप्रियान् ॥ ५ ॥

राजन्! आप सरलताको अपनाइये। मूर्खतावश कुटिलताका आश्रय ले अपने अत्यन्त प्रिय पुत्रों, पौत्रों तथा सुहृदोंका महान् सर्वनाश न कीजिये ॥ ५ ॥

यत् त्वमिच्छसि कृष्णाय राजन्नतिथये बहु ।
एतदन्यच्च दाशार्हः पृथिवीमपि चार्हति ॥ ६ ॥

नरेश्वर ! श्रीकृष्णको अतिथिरूपमें पाकर आप जो उन्हें बहुत-सी वस्तुएँ देना चाहते हैं, उन सबके साथ-साथ वे आपसे इस समूची पृथ्वीके भी पानेके अधिकारी हैं ॥ ६ ॥

न तु त्वं धर्ममुद्दिश्य तस्य वा प्रियकारणात् ।
एतद् दित्ससि कृष्णाय सत्येनात्मानमालभे ॥ ७ ॥

मैं सत्यकी शपथ खाकर अपने शरीरको छूकर कहता हूँ कि आप धर्मपालनके उद्देश्यसे अथवा श्रीकृष्णका प्रिय करनेके लिये उन्हें वे सब वस्तुएँ नहीं देना चाहते हैं ॥ ७ ॥

मायैषा सत्यमेवैतच्छद्मैतद् भूरिदक्षिण ।
जानामि त्वन्मतं राजन् गूढं बाह्येन कर्मणा ॥ ८ ॥

यज्ञोंमें बहुत-सी दक्षिणा देनेवाले महाराज ! मैं सच कहता हूँ । यह सब आपकी माया और प्रवञ्चनामात्र है । आपके इन बाह्यव्यवहारोंमें छिपा हुआ जो आपका वास्तविक अभिप्राय है, उसे मैं समझता हूँ ॥ ८ ॥

पञ्च पञ्चैव लिप्सन्ति ग्रामकान् पाण्डवा नृप ।
न च दित्ससि तेभ्यस्तांस्तच्छमं न करिष्यसि ॥ ९ ॥

नरेन्द्र ! बेचारे पाँचों भाई पाण्डव आपसे केवल पाँच गाँव ही पाना चाहते हैं; परंतु आप उन्हें वे गाँव भी नहीं देना चाहते हैं। इससे स्पष्ट सूचित होता है कि आप (सन्धिद्वारा) शान्ति-स्थापन नहीं करेंगे ॥ ९ ॥

अर्थेन तु महाबाहुं वार्ष्णेयं त्वं जिहीर्षसि ।
अनेन चाप्युपायेन पाण्डवेभ्यो विभेत्स्यसि ॥ १० ॥

आप तो धन देकर महाबाहु श्रीकृष्णको अपने पक्षमें लाना चाहते हैं और इस उपायसे आप यह आशा रखते हैं कि आप उन्हें पाण्डवोंकी ओरसे फोड़ लेंगे ॥ १० ॥

न च वित्तेन शक्योऽसौ नोद्यमेन न गर्हया ।
अन्यो धनंजयात् कर्तुमेतत् तत्त्वं ब्रवीमि ते ॥ ११ ॥

परंतु मैं आपको असली बात बताये देता हूँ; आप धन देकर अथवा दूसरा कोई उद्योग या निन्दा करके श्रीकृष्णको अर्जुनसे पृथक् नहीं कर सकते ॥ ११ ॥

वेद कृष्णस्य माहात्म्यं वेदास्य दृढभक्तिताम् ।
अत्याज्यमस्य जानामि प्राणैस्तुल्यं धनंजयम् ॥ १२ ॥

मैं श्रीकृष्णके माहात्म्यको जानता हूँ । श्रीकृष्णके प्रति अर्जुनकी जो सुदृढ़ भक्ति है, उससे भी परिचित हूँ । अतः मैं यह निश्चितरूपसे जानता हूँ कि श्रीकृष्ण अपने प्राणोंके समान प्रिय सखा अर्जुनको कभी त्याग नहीं सकते ॥ १२ ॥

अन्यत् कुम्भादपां पूर्णादन्यत् पादावसेचनात् ।
अन्यत् कुशलसम्प्रश्नान्नैषिष्यति जनार्दनः ॥ १३ ॥

इसलिये आपकी दी हुई वस्तुओंमेंसे जलसे भरे हुए कलश, पैर धोनेके लिये जल और कुशल-प्रश्नको छोड़कर दूसरी किसी वस्तुको श्रीकृष्ण नहीं स्वीकार करेंगे ॥ १३ ॥

यत् त्वस्य प्रियमातिथ्यं मानार्हस्य महात्मनः ।
तदस्मै क्रियतां राजन् मानार्होऽसौ जनार्दनः ॥ १४ ॥

राजन् ! सम्माननीय महात्मा श्रीकृष्णका जो परम प्रिय आतिथ्य है, वह तो कीजिये ही; क्योंकि वे भगवान् जनार्दन सबके द्वारा सम्मान पानेके योग्य हैं ॥ १४ ॥

आशंसमानः कल्याणं कुरूनभ्येति केशवः ।
येनैव राजन्नर्थेन तदेवास्मा उपाकुरु ॥ १५ ॥

महाराज ! भगवान् केशव उभयपक्षके कल्याणकी इच्छा लेकर जिस प्रयोजनसे इस कुरुदेशमें आ रहे हैं, वही उन्हें उपहारमें दीजिये ॥ १५ ॥

शममिच्छति दाशार्हस्तव दुर्योधनस्य च ।
पाण्डवानां च राजेन्द्र तदस्य वचनं कुरु ॥ १६ ॥

राजेन्द्र ! दशार्हकुलभूषण श्रीकृष्ण आप, दुर्योधन तथा पाण्डवोंमें संधि कराकर शान्ति स्थापित करना चाहते हैं । अतः उनके इस कथनका पालन कीजिये (इसीसे वे संतुष्ट होंगे) ॥ १६ ॥

पितासि राजन् पुत्रास्ते वृद्धस्त्वं शिशवः परे ।
वर्तस्व पितृवत् तेषु वर्तन्ते ते हि पुत्रवत् ॥ १७ ॥

महाराज ! आप पिता हैं और पाण्डव आपके पुत्र हैं । आप वृद्ध हैं और वे शिशु हैं । आप उनके प्रति पिताके समान स्नेहपूर्ण बर्ताव कीजिये । वे आपके प्रति सदा ही पुत्रोंकी भाँति श्रद्धा-भक्ति रखते हैं ॥ १७ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि विदुरवाक्ये सप्ताशीतितमोऽध्यायः ॥ ८७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें विदुरवाक्यविषयक सतासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ८७ ॥

अष्टाशीतितमोऽध्यायः

दुर्योधनका श्रीकृष्णके विषयमें अपने विचार कहना एवं उसकी कुमन्त्रणासे कुपित हो भीष्मजीका सभासे उठ जाना

दुर्योधन उवाच

यदाह विदुरः कृष्णे सर्वं तत् सत्यमच्युते ।
अनुरक्तो ह्यसंहार्यः पार्थान् प्रति जनार्दनः ॥ १ ॥

दुर्योधन बोला—पिताजी ! अपनी मर्यादासे कभी च्युत न होनेवाले श्रीकृष्णके सम्बन्धमें विदुरजी जो कुछ कहते हैं, वह सब कुछ ठीक है । जनार्दन श्रीकृष्णका कुन्तीके

पुत्रोंके प्रति अटूट अनुराग है; अतः उन्हें उनकी ओरसे फोड़ा नहीं जा सकता ॥ १ ॥

यत् तत् सत्कारसंयुक्तं देयं वसु जनार्दने ।
अनेकरूपं राजेन्द्र न तद् देयं कदाचन ॥ २ ॥

राजेन्द्र ! आप जो जनार्दनको सत्कारपूर्वक बहुत-सा धन-रत्न भेंट करना चाहते हैं, वह कदापि उन्हें न दें ॥ २ ॥

देशः कालस्तथायुक्तो न हि नार्हति केशवः ।
मंस्यत्यधोक्षजो राजन् भयादर्चति मामिति ॥ ३ ॥

मैं इसलिये नहीं कहता कि श्रीकृष्ण उन वस्तुओंके अधिकारी नहीं हैं; अपितु इस दृष्टिसे मना कर रहा हूँ कि वर्तमान देश-काल इस योग्य नहीं है कि उनका विशेष सत्कार किया जाय । राजन् ! इस समय तो श्रीकृष्ण यही समझेंगे कि यह डरके मारे मेरी पूजा कर रहा है ॥ ३ ॥

अवमानश्च यत्र स्यात् क्षत्रियस्य विशाम्पते ।
न तत् कुर्याद् बुधः कार्यमिति मे निश्चिता मतिः ॥ ४ ॥

प्रजानाथ ! जहाँ क्षत्रियका अपमान होता हो, वहाँ समझदार क्षत्रियको वैसा कार्य नहीं करना चाहिये । यह मेरा निश्चित विचार है ॥ ४ ॥

स हि पूज्यतमो लोके कृष्णः पृथुललोचनः ।
त्रयाणामपि लोकानां विदितं मम सर्वथा ॥ ५ ॥

विशाल नेत्रोंवाले श्रीकृष्ण इस लोकमें ही नहीं, तीनों लोकोंमें सबसे श्रेष्ठ होनेके कारण परम पूजनीय पुरुष हैं, यह बात मुझे सब प्रकारसे विदित है ॥ ५ ॥

न तु तस्मै प्रदेयं स्यात् तथा कार्यगतिः प्रभो ।
विग्रहः समुपारब्धो न हि शाम्यत्यविग्रहात् ॥ ६ ॥

प्रभो ! तथापि मेरा मत है कि इस समय उन्हें कुछ नहीं देना चाहिये; क्योंकि ऐसी ही कार्यप्रणाली प्राप्त है । जब कलह आरम्भ हो गया है, तब अतिथिसत्कारद्वारा प्रेम दिखानेमात्रसे उसकी शान्ति नहीं हो सकती ॥ ६ ॥

वैशम्पायन उवाच

तस्य तद् वचनं श्रुत्वा भीष्मः कुरुपितामहः ।
वैचित्रवीर्यं राजानमिदं वचनमब्रवीत् ॥ ७ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! दुर्योधनकी यह बात सुनकर कुरुकुलके वृद्ध पितामह भीष्म विचित्रवीर्य-कुमार राजा धृतराष्ट्रसे इस प्रकार बोले—॥ ७ ॥

सत्कृतोऽसत्कृतो वापि न क्रुद्ध्येत जनार्दनः ।
नालमेनमवज्ञातुं नावज्ञेयो हि केशवः ॥ ८ ॥

'राजन् ! श्रीकृष्णका कोई सत्कार करे या न करे, इससे वे कुपित नहीं होंगे । परंतु वे अवहेलनाके योग्य कदापि नहीं हैं; अतः कोई भी उनका अपमान या अवहेलना नहीं कर सकता ॥ ८ ॥

यत् तु कार्यं महाबाहो मनसा कार्यतां गतम् ।
सर्वोपायैर्न तच्छक्यं केनचित् कर्तुमन्यथा ॥ ९ ॥

'महाबाहो ! श्रीकृष्ण जिस कार्यको करनेकी बात अपने मनमें ठान लेते हैं, उसे कोई सारे उपाय करके भी उलट नहीं सकता ॥ ९ ॥

स यद् ब्रूयान्महाबाहुस्तत् कार्यमविशङ्कया ।
वासुदेवेन तीर्थेन क्षिप्रं संशाम्य पाण्डवैः ॥ १० ॥

'अतः महाबाहु श्रीकृष्ण जो कुछ कहें, उसे निःशङ्क होकर करना चाहिये । वसुदेवनन्दन श्रीकृष्णको मध्यस्थ बनाकर तुम शीघ्र ही पाण्डवोंके साथ संधि कर लो ॥ १० ॥

धर्म्यमर्थ्यं च धर्मात्मा ध्रुवं वक्ता जनार्दनः ।
तस्मिन् वाच्याः प्रिया वाचो भवता बान्धवैः सह ॥ ११ ॥

'धर्मात्मा भगवान् श्रीकृष्ण जो कुछ कहेंगे, वह निश्चय ही धर्म और अर्थके अनुकूल होगा । अतः तुम्हें अपने बन्धु-बान्धवोंके साथ उनसे प्रिय वचन ही बोलना चाहिये' ॥ ११ ॥

दुर्योधन उवाच

न पर्यायोऽस्ति यद् राजञ्छ्रियं निष्केवलामहम् ।
तैः सहेमामुपाश्नीयां यावज्जीवं पितामह ॥ १२ ॥

दुर्योधन बोला—पितामह ! नरेश्वर ! अब इस बातकी कोई सम्भावना नहीं है कि मैं जीवनभर पाण्डवोंके साथ मिलकर इस सारी सम्पत्तिका उपभोग करूँ ॥ १२ ॥

इदं तु सुमहत् कार्यं शृणु मे यत् समर्थितम् ।
परायणं पाण्डवानां नियच्छामि जनार्दनम् ॥ १३ ॥

इस समय मैंने जो यह महान् कार्य करनेका निश्चय किया है, उसे सुनिये । पाण्डवोंके सबसे बड़े सहारे श्रीकृष्णको यहाँ आनेपर मैं कैद कर लूँगा ॥ १३ ॥

तस्मिन् बद्धे भविष्यन्ति वृष्णयः पृथिवी तथा ।
पाण्डवाश्च विधेया मे स च प्रातरिहैष्यति ॥ १४ ॥

उनके कैद हो जानेपर समस्त यदुवंशी, इस भूमण्डलका राज्य तथा पाण्डव भी मेरी आज्ञाके अधीन हो जायँगे । श्रीकृष्ण कल सबेरे यहाँ आ ही जायँगे ॥ १४ ॥

अत्रोपायान् यथा सम्यङ् न बुद्ध्येत जनार्दनः ।
न चापायो भवेत् कश्चित् तद् भवान् प्रब्रवीतु मे ॥ १५ ॥

अतः इस विषयमें जो अच्छे उपाय हों, जिनसे श्रीकृष्णको इन बातोंका पता न लगे और मेरे इस मन्तव्यमें कोई विघ्न न पड़ सके, उन्हें आप मुझे बताइये ॥ १५ ॥

वैशम्पायन उवाच

तस्य तद् वचनं श्रुत्वा घोरं कृष्णाभिसंहितम्।
धृतराष्ट्रः सहामात्यो व्यथितो विमनाभवत् ॥ १६ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! श्रीकृष्णसे छल करनेके विषयमें दुर्योधनकी वह भयंकर बात सुनकर धृतराष्ट्र अपने मन्त्रियोंके साथ बहुत दुखी और उदास हो गये ॥१६॥

ततो दुर्योधनमिदं धृतराष्ट्रोऽब्रवीद् वचः।
मैवं वोचः प्रजापाल नैष धर्मः सनातनः ॥ १७ ॥

तदनन्तर धृतराष्ट्रने दुर्योधनसे कहा—'प्रजापालक दुर्योधन! तुम ऐसी बात मुँहसे न निकालो। यह सनातन धर्म नहीं है ॥

दूतश्च हि हृषीकेशः सम्बन्धी च प्रियश्च नः।
अपापः कौरवेयेषु स कथं बन्धमर्हति ॥ १८ ॥

'श्रीकृष्ण इस समय दूत बनकर आ रहे हैं। वे हमारे प्रिय और सम्बन्धी भी हैं तथा उन्होंने कौरवोंका कोई अपराध भी नहीं किया है। ऐसी दशामें वे कैद करनेके योग्य कैसे हो सकते हैं?' ॥ १८ ॥

भीष्म उवाच

परीतस्तव पुत्रोऽयं धृतराष्ट्र सुमन्दधीः।
वृणोत्यनर्थं नैवार्थं याच्यमानः सुहृज्जनैः ॥ १९ ॥

यह सुनकर भीष्मजीने कहा—धृतराष्ट्र! तुम्हारा यह मन्दबुद्धि पुत्र कालके वशमें हो गया है। यह अपने हितैषी सुहृदोंके कहने-समझानेपर भी अनर्थको ही अपना रहा है; अर्थको नहीं ॥ १९ ॥



इममुत्पथि वर्तन्तं पापं पापानुबन्धिनम्।
वाक्यानि सुहृदां हित्वा त्वमप्यस्यानुवर्तसे ॥ २० ॥

तुम भी सगे-सम्बन्धियोंकी बातें न मानकर कुमार्गपर चलनेवाले इस पापासक्त पापात्माका ही अनुसरण करते हो ॥

कृष्णमक्लिष्टकर्माणमासाद्यायं सुदुर्मतिः।
तव पुत्रः सहामात्यः क्षणेन न भविष्यति ॥ २१ ॥

अनायास ही महान् कर्म करनेवाले श्रीकृष्णसे भिड़कर तुम्हारा यह दुर्बुद्धि पुत्र अपने मन्त्रियोंसहित क्षणभरमें नष्ट हो जायगा ॥ २१ ॥

पापस्यास्य नृशंसस्य त्यक्तधर्मस्य दुर्मतेः।
नोत्सहेऽनर्थसंयुक्ताः श्रोतुं वाचः कथंचन ॥ २२ ॥

इसने धर्मका सर्वथा त्याग कर दिया है। अब मैं इस दुर्बुद्धि, पापी एवं क्रूर दुर्योधनकी अनर्थभरी बातें किसी प्रकार भी नहीं सुनना चाहता ॥ २२ ॥

इत्युक्त्वा भरतश्रेष्ठो वृद्धः परममन्युमान्।
उत्थाय तस्मात् प्रातिष्ठद् भीष्मः सत्यपराक्रमः ॥ २३ ॥

ऐसा कहकर भरतश्रेष्ठ सत्यपराक्रमी वृद्ध पितामह भीष्म अत्यन्त कुपित हो उस सभाभवनसे उठकर चले गये ॥ २३ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि दुर्योधनवाक्य अष्टाशीतितमोऽध्यायः ॥ ८८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें दुर्योधनवाक्यविषयक अट्ठासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ८८ ॥

एकोननवतितमोऽध्यायः

श्रीकृष्णका स्वागत, धृतराष्ट्र तथा विदुरके घरोंपर उनका आतिथ्य

वैशम्पायन उवाच

प्रातरुत्थाय कृष्णस्तु कृतवान् सर्वमाह्निकम्।
ब्राह्मणैरभ्यनुज्ञातः प्रययौ नगरं प्रति ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! (उधर वृकस्थलमें) प्रातःकाल उठकर भगवान् श्रीकृष्णने सारा नित्यकर्म पूर्ण किया। फिर ब्राह्मणोंकी आज्ञा लेकर वे हस्तिनापुरकी ओर चले ॥ १ ॥

तं प्रयान्तं महाबाहुमनुज्ञाप्य महाबलम्।
पर्यवर्तन्त ते सर्वे वृकस्थलनिवासिनः॥ २॥

तब वहाँसे जाते हुए महाबाहु महाबली श्रीकृष्णकी आज्ञा ले सम्पूर्ण वृकस्थलनिवासी वहाँसे लौट गये॥ २॥

धार्तराष्ट्रास्तमायान्तं प्रत्युज्जग्मुः स्वलंकृताः।
दुर्योधनादृते सर्वे भीष्मद्रोणकृपादयः॥ ३॥

दुर्योधनके सिवा धृतराष्ट्रके सभी पुत्र तथा भीष्म, द्रोण और कृपाचार्य आदि यथायोग्य वस्त्राभूषणोंसे सुसज्जित हो हस्तिनापुरकी ओर आते हुए श्रीकृष्णकी अगवानीके लिये गये॥ ३॥

पौराश्च बहुला राजन् हृषीकेशं दिदृक्षवः।
यानैर्बहुविधैरन्यैः पद्भिरेव तथा परे॥ ४॥

राजन्! श्रीकृष्णका दर्शन करनेके लिये बहुत-से नागरिक भी नाना प्रकारकी सवारियोंपर बैठकर तथा अन्य कुछ लोग पैदल ही चलकर गये॥ ४॥

स वै पथि समागम्य भीष्मेणाक्लिष्टकर्मणा।
द्रोणेन धार्तराष्ट्रैश्च तैर्वृतो नगरं ययौ॥ ५॥

अनायास ही महान् पराक्रम कर दिखानेवाले भीष्म तथा द्रोणाचार्यसे मार्गमें ही मिलकर धृतराष्ट्रपुत्रोंसे घिरे हुए भगवान् श्रीकृष्णने नगरमें प्रवेश किया॥ ५॥

कृष्णसम्माननार्थं च नगरं समलंकृतम्।
बभूव राजमार्गश्च बहुरत्नसमाचितः॥ ६॥

श्रीकृष्णके स्वागत-सत्कारके लिये हस्तिनापुरको खूब सजाया गया था। वहाँका राजमार्ग भी अनेक प्रकारके रत्नोंसे सुशोभित किया गया था॥ ६॥

न च कश्चिद् गृहे राजंस्तदाऽऽसीद् भरतर्षभ।
न स्त्री न वृद्धो न शिशुर्वासुदेवदिदृक्षया॥ ७॥

भरतश्रेष्ठ! उस समय भगवान् वासुदेवके दर्शनकी तीव्र इच्छाके कारण स्त्री, बालक अथवा वृद्ध कोई भी घरमें नहीं ठहर सका॥ ७॥

राजमार्गे नरास्तस्मिन् संस्तुवन्त्यवनिं गताः।
तस्मिन् काले महाराज हृषीकेशप्रवेशने॥ ८॥

महाराज! जब श्रीकृष्ण नगरमें प्रवेश कर रहे थे, तब राजमार्गमें भूमिपर खड़े हुए मनुष्य उनकी स्तुति करने लगे॥

आवृतानि वरस्त्रीभिर्गृहाणि सुमहान्त्यपि।
प्रचलन्तीव भारेण दृश्यन्ते स्म महीतले॥ ९॥

(भगवान् श्रीकृष्णको देखनेके लिये एकत्रित हुई) सुन्दरी स्त्रियोंसे भरे हुए बड़े-बड़े महल भी उनके भारसे इस भूतलपर विचलित होते-से दिखायी देते थे॥ ९॥

तथा च गतिमन्तस्ते वासुदेवस्य वाजिनः।
प्रणष्टगतयोऽभूवन् राजमार्गे नरैर्वृते॥ १०॥

वहाँकी प्रधान सड़क लोगोंसे ऐसी खचाखच भर गयी थी कि श्रीकृष्णके वेगपूर्वक चलनेवाले घोड़ोंकी गति भी अवरुद्ध हो गयी॥ १०॥

स गृहं धृतराष्ट्रस्य प्राविशच्छत्रुकर्शनः।
पाण्डुरं पुण्डरीकाक्षः प्रासादैरुपशोभितम्॥ ११॥

शत्रुओंको क्षीण करनेवाले कमलनयन श्रीकृष्णने राजा धृतराष्ट्रके अट्टालिकाओंसे सुशोभित उज्ज्वल भवनमें प्रवेश किया॥ ११॥

तिस्रः कक्ष्या व्यतिक्रम्य केशवो राजवेश्मनः।
वैचित्रवीर्यं राजानमभ्यगच्छदरिंदमः॥ १२॥



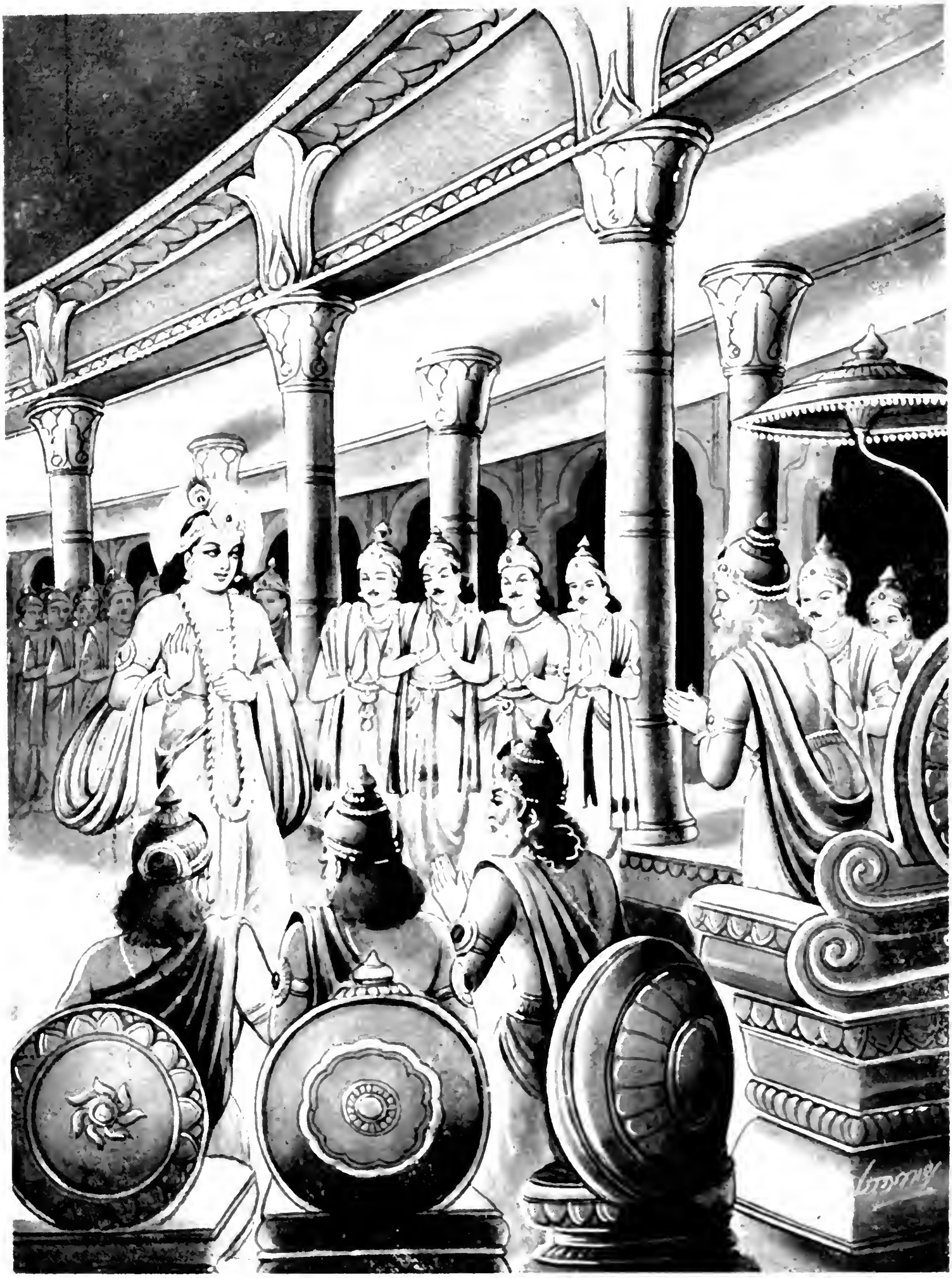
उस राजभवनकी तीन ड्योढ़ियोंको पार करके शत्रुसूदन केशव विचित्रवीर्यकुमार राजा धृतराष्ट्रके समीप गये॥ १२॥

अभ्यागच्छति दाशार्हे प्रज्ञाचक्षुर्नराधिपः।
सहैव द्रोणभीष्माभ्यामुदतिष्ठन्महायशाः॥ १३॥

श्रीकृष्णके आते ही महायशस्वी प्रज्ञाचक्षु राजा धृतराष्ट्र द्रोणाचार्य तथा भीष्मजीके साथ ही अपने आसनसे उठकर खड़े हो गये॥ १३॥

कृपश्च सोमदत्तश्च महाराजश्च बाह्लिकः।
आसनेभ्योऽचलन् सर्वे पूजयन्तो जनार्दनम्॥ १४॥

कृपाचार्य, सोमदत्त तथा महाराज बाह्लिक—ये सब लोग जनार्दनका सम्मान करते हुए अपने आसनोंसे उठ गये॥



धृतराष्ट्रके द्वारा श्रीकृष्णका स्वागत

ततो राजानमासाद्य धृतराष्ट्रं यशस्विनम्।
स भीष्मं पूजयामास वार्ष्णेयो वाग्भिरञ्जसा ॥ १५ ॥

तब वृष्णिनन्दन श्रीकृष्णने यशस्वी राजा धृतराष्ट्रसे मिलकर अपने उत्तम वचनोंद्वारा भीष्मजीका आदर किया ॥ १५ ॥

तेषु धर्मानुपूर्वीं तां प्रयुज्य मधुसूदनः।
यथावयः समीयाय राजभिः सह माधवः ॥ १६ ॥

यदुकुलतिलक मधुसूदन उन सबकी धर्मानुकूल पूजा करके अवस्थाक्रमके अनुसार वहाँ आये हुए समस्त राजाओंसे मिले ॥ १६ ॥

अथ द्रोणं सबाह्लीकं सपुत्रं च यशस्विनम्।
कृपं च सोमदत्तं च समीयाय जनार्दनः ॥ १७ ॥

तत्पश्चात् जनार्दन पुत्रसहित यशस्वी द्रोणाचार्य, बाह्लीक, कृपाचार्य तथा सोमदत्तसे मिले ॥ १७ ॥

तत्रासीदूर्जितं मृष्टं काञ्चनं महदासनम्।
शासनाद् धृतराष्ट्रस्य तत्रोपाविशदच्युतः ॥ १८ ॥

वहाँ एक स्वच्छ और जगमगाता हुआ सुवर्णका विशाल सिंहासन रक्खा हुआ था। धृतराष्ट्रकी आज्ञासे भगवान् श्रीकृष्ण उसीपर विराजमान हुए ॥ १८ ॥

अथ गां मधुपर्कं चाप्युदकं च जनार्दने।
उपजह्रुर्यथान्यायं धृतराष्ट्रपुरोहिताः ॥ १९ ॥

तदनन्तर धृतराष्ट्रके पुरोहितलोग भगवान् जनार्दनके आतिथ्यसत्कारके लिये उत्तम गौ, मधुपर्क तथा जल ले आये ॥

कृतातिथ्यस्तु गोविन्दः सर्वान् परिहसन् कुरून्।
आस्ते साम्बन्धिकं कुर्वन् कुरुभिः परिवारितः ॥ २० ॥

उनका आतिथ्य ग्रहण करके भगवान् गोविन्द हँसते हुए कौरवोंके साथ बैठ गये और सबसे अपने सम्बन्धके अनुसार यथायोग्य व्यवहार करते हुए कौरवोंसे घिरे हुए कुछ देर बैठे रहे ॥ २० ॥

सोऽर्चितो धृतराष्ट्रेण पूजितश्च महायशाः।
राजानं समनुज्ञाप्य निरक्रामदरिंदमः ॥ २१ ॥

धृतराष्ट्रसे पूजित एवं सम्मानित हो महायशस्वी शत्रुदमन श्रीकृष्ण उनकी अनुज्ञा ले उस राजभवनसे बाहर निकले॥२१॥

तैः समेत्य यथान्यायं कुरुभिः कुरुसंसदि।
विदुरावसथं रम्यमुपातिष्ठत माधवः ॥ २२ ॥

फिर कौरव-सभामें यथायोग्य सबसे मिल-जुलकर यदुवंशी श्रीकृष्णने विदुरजीके रमणीय गृहमें पदार्पण किया ॥ २२ ॥

विदुरः सर्वकल्याणैरभिगम्य जनार्दनम्।
अर्चयामास दाशार्हं सर्वकामैरुपस्थितम् ॥ २३ ॥

विदुरजीने अपने घर पधारे हुए दशार्हनन्दन श्रीकृष्णके निकट जाकर समस्त मनोवाञ्छित भोगों तथा सम्पूर्ण माङ्गलिक वस्तुओंद्वारा उनका पूजन किया (और इस प्रकार कहा—) ॥ २३ ॥



या मे प्रीतिः पुष्कराक्ष त्वद्दर्शनसमुद्भवा।
सा किमाख्यायते तुभ्यमन्तरात्मासि देहिनाम् ॥ २४ ॥

'कमलनयन! आपके दर्शनसे मुझे जो प्रसन्नता हुई है, उसका आपसे क्या वर्णन किया जाय; आप तो समस्त देहधारियोंके अन्तर्यामी आत्मा हैं (आपसे क्या छिपा है?)'॥

कृतातिथ्यं तु गोविन्दं विदुरः सर्वधर्मवित्।
कुशलं पाण्डुपुत्राणामपृच्छन्मधुसूदनम् ॥ २५ ॥

मधुसूदन श्रीकृष्ण जब उनका आतिथ्य ग्रहण कर चुके, तब सब धर्मोंके ज्ञाता विदुरजीने उनसे पाण्डवोंका कुशल-समाचार पूछा ॥ २५ ॥

प्रीयमाणस्य सुहृदो विदुरो बुद्धिसत्तमः।
धर्मार्थनित्यस्य सतो गतरोषस्य धीमतः ॥ २६ ॥
तस्य सर्वं सविस्तारं पाण्डवानां विचेष्टितम्।
क्षत्तुराचष्ट दाशार्हः सर्वं प्रत्यक्षदर्शिवान् ॥ २७ ॥

विदुरजी बुद्धिमानोंमें श्रेष्ठ थे। सब कुछ प्रत्यक्ष देखनेवाले श्रीकृष्णने सदा धर्ममें ही तत्पर रहनेवाले, रोष-शून्य प्रेमी सुहृद् बुद्धिमान् विदुरसे पाण्डवोंकी सारी चेष्टाएँ विस्तारपूर्वक कह सुनायीं ॥ २६-२७ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि धृतराष्ट्रगृहप्रवेशपूर्वकं श्रीकृष्णस्य विदुरगृहप्रवेशे एकोननवतितमोऽध्यायः ॥ ८९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें श्रीकृष्णका धृतराष्ट्रगृहमें प्रवेशपूर्वक विदुरके गृहमें पदार्पणविषयक नवासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ८९ ॥

नवतितमोऽध्यायः

श्रीकृष्णका कुन्तीके समीप जाना एवं युधिष्ठिरका कुशल-समाचार पूछकर अपने दुःखोंका स्मरण करके विलाप करती हुई कुन्तीको आश्वासन देना

वैशम्पायन उवाच

अथोपगम्य विदुरमपराह्णे जनार्दनः ।
पितृष्वसारं स पृथामभ्यगच्छदरिंदमः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! शत्रुदमन श्रीकृष्ण विदुरजीसे मिलनेके पश्चात् तीसरे पहरमें अपनी बुआ कुन्तीदेवीके पास गये ॥ १ ॥

सा दृष्ट्वा कृष्णमायान्तं प्रसन्नादित्यवर्चसम् ।
कण्ठे गृहीत्वा प्राक्रोशत् स्मरन्ती तनयान् पृथा ॥ २ ॥

निर्मल सूर्यके समान तेजस्वी श्रीकृष्णको आते देख कुन्तीदेवी उनके गले लग गयीं और अपने पुत्रोंको याद करके फूट-फूटकर रोने लगीं ॥ २ ॥

तेषां सत्त्ववतां मध्ये गोविन्दं सहचारिणम् ।
चिरस्य दृष्ट्वा वार्ष्णेयं बाष्पमाहारयत् पृथा ॥ ३ ॥

अपने उन शक्तिशाली पुत्रोंके बीचमें रहकर उनके साथ विचरनेवाले वृष्णिकुलनन्दन गोविन्दको दीर्घकालके पश्चात् देखकर कुन्तीदेवी आँसुओंकी वर्षा करने लगीं ॥ ३ ॥

साब्रवीत् कृष्णमासीनं कृतातिथ्यं युधां पतिम् ।
बाष्पगद्गदपूर्णेन मुखेन परिशुष्यता ॥ ४ ॥

उन्होंने योद्धाओंके स्वामी श्रीकृष्णका अतिथि-सत्कार किया। जब वे आतिथ्य ग्रहण करके आसनपर विराजमान हुए, तब सूखे मुँह और अश्रुगद्गद कण्ठसे कुन्तीदेवी इस प्रकार बोलीं—॥ ४ ॥

ये ते बाल्यात् प्रभृत्येव गुरुशुश्रूषणे रताः ।
परस्परस्य सुहृदः सम्मताः समचेतसः ।
निकृत्या भ्रंशिता राज्याज्जनार्हा निर्जनं गताः ॥ ५ ॥

'वत्स ! मेरे पुत्र पाण्डव, जो बाल्यकालसे ही गुरुजनोंकी सेवा-शुश्रूषामें तत्पर रहते, परस्पर स्नेह रखते, सर्वत्र सम्मान पाते और मनमें सबके प्रति समानभाव रखते थे, शत्रुओंकी शठताके शिकार होकर राज्यसे हाथ धो बैठे और जनसमुदायमें रहनेयोग्य होकर भी निर्जन वनमें चले गये ॥ ५ ॥

विनीतक्रोधहर्षाश्च ब्रह्मण्याः सत्यवादिनः ।
त्यक्त्वा प्रियसुखे पार्था रुदतीमपहाय माम् ॥ ६ ॥

'मेरे बेटे हर्ष और क्रोधको जीत चुके थे। वे ब्राह्मणोंका हित साधन करनेवाले तथा सत्यवादी थे; तथापि (शत्रुओंके अन्यायसे विवश हो) प्रियजन एवं सुखभोगसे मुँह मोड़ मुझे रोती बिलखती छोड़कर वे वनकी ओर चल दिये ॥६॥

अहार्षुश्च वनं यान्तः समूलं हृदयं मम ।
अतदर्हा महात्मानः कथं केशव पाण्डवाः ॥ ७ ॥

'केशव ! वन जाते समय महात्मा पाण्डव मेरे हृदयको जड़-मूलसहित खींचकर अपने साथ ले गये। वे वनवासके योग्य कदापि नहीं थे। फिर उन्हें यह कष्ट कैसे प्राप्त हुआ ? ॥ ७ ॥

ऊषुर्महावने तात सिंहव्याघ्रगजाकुले ।
बाला विहीनाः पित्रा ते मया सततलालिताः ॥ ८ ॥
अपश्यन्तश्च पितरौ कथमूषुर्महावने ।

'तात ! वे बचपनमें ही पिताके प्यारसे वञ्चित हो गये थे। मैंने ही सदा उनका लालन-पालन किया। मेरे पुत्र सिंह, व्याघ्र और हाथियोंसे भरे हुए उस विशाल वनमें कैसे रहे होंगे ? माता-पिताको न देखते हुए उन्होंने उस महान् वनमें किस प्रकार निवास किया होगा ? ॥ ८½ ॥

शङ्खदुन्दुभिनिर्घोषैर्मृदङ्गैर्वेणुनिस्वनैः ॥ ९ ॥
पाण्डवाः समबोध्यन्त बाल्यात् प्रभृति केशव ।

'केशव ! बाल्यावस्थासे ही पाण्डव शङ्ख और दुन्दुभियोंकी गम्भीर ध्वनिसे, मृदङ्गोंके मधुर नादसे तथा बाँसुरीकी सुरीली तानसे जगाये जाते थे ॥ ९½ ॥

ये स्म वारणशब्देन हयानां हेषितेन च ॥ १० ॥
रथनेमिनिनादैश्च व्यबोध्यन्त तदा गृहे ।
शङ्खभेरीनिनादेन वेणुवीणानुनादिना ॥ ११ ॥

पुण्याहघोषमिश्रेण पूज्यमाना द्विजातिभिः ।
वस्त्रै रत्नैरलंकारैः पूजयन्तो द्विजन्मनः ॥ १२ ॥
गीर्भिर्मङ्गलयुक्ताभिर्ब्राह्मणानां महात्मनाम् ।
अर्चितैरर्चनार्हैश्च स्तुवद्भिरभिनन्दिताः ॥ १३ ॥
प्रासादाग्रेष्वबोध्यन्त राङ्कवाजिनशायिनः ।
क्रूरं च निनदं श्रुत्वा श्वापदानां महावने ॥ १४ ॥
न स्मोपयान्ति निद्रां ते न तदर्हा जनार्दन ।

'जब वे अपनी राजधानीमें ऊँची अट्टालिकाओंके भीतर रङ्कुमृगके चर्मसे बने हुए बिछौनोंसे युक्त सुकोमल शय्याओंपर शयन करते थे, उन दिनों हाथियोंके चिग्घाड़ने, घोड़ोंके हिनहिनाने तथा रथके पहियोंके घर्घरानेसे उनकी निद्रा टूटती थी। शङ्ख और भेरीकी तुमुल ध्वनि तथा वेणु और वीणाके मधुर स्वरसे उन्हें जगाया जाता था। साथ ही ब्राह्मण-लोग पुण्याहवाचनके पवित्र घोषसे उनका समादर करते थे। वे महात्मा ब्राह्मणोंके मङ्गलमय आशीर्वाद सुनकर उठते थे। पूजित और पूजनीय पुरुष भी उनके गुण गा-गाकर अभिनन्दन किया करते थे एवं उठकर वे रत्नों, वस्त्रों एवं अलंकारोंके द्वारा ब्राह्मणोंकी पूजा करते थे। जनार्दन ! वे ही पाण्डव उस विशाल वनमें हिंसक जन्तुओंके क्रूरतापूर्ण शब्द सुनकर अच्छी तरह नींद भी नहीं ले पाते रहे होंगे, यद्यपि इस दुरवस्थाके योग्य वे कभी नहीं थे ॥ १०–१४½ ॥

भेरीमृदङ्गनिनदैः शङ्खवैणवनिस्वनैः ॥ १५ ॥
स्त्रीणां गीतनिनादैश्च मधुरैर्मधुसूदन ।
वन्दिमागधसूतैश्च स्तुवद्भिर्बोधिताः कथम् ॥ १६ ॥
महावनेष्वबोध्यन्त श्वापदानां रुतेन च ।

'मधुसूदन ! जो भेरी एवं मृदङ्गके नादसे, शङ्ख एवं वेणुकी ध्वनिसे तथा स्त्रियोंके गीतोंके मधुर शब्द तथा सूत, मागध एवं बन्दीजनोंद्वारा की हुई स्तुति सुनकर जागते थे, वे ही बड़े-बड़े जंगलोंमें हिंसक जन्तुओंके कठोर शब्द सुनकर किस प्रकार नींद तोड़ते रहे होंगे ? ॥ १५-१६½ ॥

ह्रीमान् सत्यधृतिर्दान्तो भूतानामनुकम्पिता ॥ १७ ॥
कामद्वेषौ वशे कृत्वा सतां वर्त्मानुवर्तते ।
अम्बरीषस्य मान्धातुर्ययातेर्नहुषस्य च ॥ १८ ॥
भरतस्य दिलीपस्य शिबेरौशीनरस्य च ।
राजर्षीणां पुराणानां धुरं धत्ते दुरुद्वहाम् ॥ १९ ॥
शीलवृत्तोपसम्पन्नो धर्मज्ञः सत्यसंगरः ।
राजा सर्वगुणोपेतस्त्रैलोक्यस्यापि यो भवेत् ॥ २० ॥
अजातशत्रुर्धर्मात्मा शुद्धजाम्बूनदप्रभः ।
श्रेष्ठः कुरुषु सर्वेषु धर्मतः श्रुतवृत्ततः ।
प्रियदर्शो दीर्घभुजः कथं कृष्ण युधिष्ठिरः ॥ २१ ॥

'श्रीकृष्ण ! जो लज्जाशील, सत्यको धारण करनेवाले, जितेन्द्रिय तथा सब प्राणियोंपर दया करनेवाले हैं; जो काम (राग) एवं द्वेषको वशमें करके सत्पुरुषोंके मार्गका अनुसरण करते हैं; जो अम्बरीष, मान्धाता, ययाति, नहुष, भरत, दिलीप एवं उशीनरपुत्र शिबि आदि प्राचीन राजर्षियोंके सदाचारपालनरूप धारण करनेमें कठिन धर्मकी धुरीको धारण करते हैं; जिनमें शील और सदाचारकी सम्पत्ति भरी हुई है, जो धर्मज्ञ, सत्यप्रतिज्ञ और सर्वगुणसम्पन्न होनेके कारण इस भूमण्डलके ही नहीं, तीनों लोकोंके भी राजा हो सकते हैं; जिनका मन सदा धर्ममें ही लगा रहता है, जो धर्मशास्त्रज्ञान और सदाचार सभी दृष्टियोंसे समस्त कौरवोंमें सबसे श्रेष्ठ हैं; जिनकी अङ्गकान्ति शुद्ध जाम्बूनद सुवर्णके समान गौर है, जो देखनेमें सभीको प्रिय लगते हैं; वे महाबाहु अजातशत्रु युधिष्ठिर इस समय कैसे हैं ? ॥ १७–२१ ॥

यः स नागायुतप्राणो वातरंहा महाबलः ।
सामर्षः पाण्डवो नित्यं प्रियो भ्रातुः प्रियंकरः ॥ २२ ॥
कीचकस्य तु सज्ञातेर्यो हन्ता मधुसूदन ।
शूरः क्रोधवशानां च हिडिम्बस्य बकस्य च ॥ २३ ॥
पराक्रमे शक्रसमो मातरिश्वसमो बले ।
महेश्वरसमः क्रोधे भीमः प्रहरतां वरः ॥ २४ ॥
क्रोधं बलममर्षं च यो निधाय परंतपः ।
जितात्मा पाण्डवोऽमर्षी भ्रातुस्तिष्ठति शासने ॥ २५ ॥
तेजोराशिं महात्मानं वरिष्ठममितौजसम् ।
भीमं प्रदर्शनेनापि भीमसेनं जनार्दन ॥ २६ ॥
तं ममाचक्ष्व वार्ष्णेय कथमद्य वृकोदरः ।
आस्ते परिघबाहुः स मध्यमः पाण्डवो बली ॥ २७ ॥

'मधुसूदन ! जो पाण्डुनन्दन महाबली भीम दस हजार हाथियोंके समान शक्तिशाली है, जिसका वेग वायुके समान है, जो असहिष्णु होते हुए भी अपने भाईको सदा ही प्रिय है और भाइयोंका प्रिय करनेमें ही लगा रहता है, जिसने भाई-बन्धुओंसहित कीचकका विनाश किया है, जिस शूरवीरके हाथसे क्रोधवश नामक राक्षसोंका, हिडिम्बासुर तथा बकका भी संहार हुआ है, जो पराक्रममें इन्द्र, बलमें वायुदेव तथा क्रोधमें महेश्वरके समान है, जो प्रहार करनेवाले योद्धाओंमें सर्वश्रेष्ठ एवं भयंकर है, शत्रुओंको संताप देनेवाला जो पाण्डुपुत्र भीम अपने भीतर क्रोध, बल और अमर्षको रखते हुए भी मनको काबूमें रखकर सदा भाईकी आज्ञाके अधीन रहता है, जो स्वभावतः अमर्षशील है, जिसमें तेजकी राशि संचित है, जो महात्मा, सर्वश्रेष्ठ, अमिततेजस्वी तथा देखनेमें भी भयंकर है, वृष्णिनन्दन जनार्दन ! उस मेरे द्वितीय पुत्र भीमसेनका समाचार बताओ। इस समय परिघके समान सुदृढ़ भुजाओंवाला मेरा मँझला पुत्र पाण्डुकुमार भीमसेन कैसे है ? ॥ २२–२७ ॥

अर्जुनेनार्जुनो यः स कृष्ण बाहुसहस्रिणा ।
द्विबाहुः स्पर्धते नित्यमतीतेनापि केशव ॥ २८ ॥

क्षिपत्येकेन वेगेन पञ्च बाणशतानि यः।
इष्वस्त्रे सदृशो राज्ञः कार्तवीर्यस्य पाण्डवः ॥ २९ ॥
तेजसाऽऽदित्यसदृशो महर्षिसदृशो दमे।
क्षमया पृथिवीतुल्यो महेन्द्रसमविक्रमः ॥ ३० ॥
आधिराज्यं महद् दीप्तं प्रथितं मधुसूदन।
आहृतं येन वीर्येण कुरूणां सर्वराजसु ॥ ३१ ॥
यस्य बाहुबलं सर्वे पाण्डवाः पर्युपासते।
स सर्वरथिनां श्रेष्ठः पाण्डवः सत्यविक्रमः ॥ ३२ ॥
यं गत्वाभिमुखः संख्ये न जीवन् कश्चिदाव्रजेत्।
यो जेता सर्वभूतानामजेयो जिष्णुरच्युत ॥ ३३ ॥
योऽपाश्रयः पाण्डवानां देवानामिव वासवः।
स ते भ्राता सखा चैव कथमद्य धनंजयः ॥ ३४ ॥

'श्रीकृष्ण ! जो अर्जुन दो भुजाओंसे युक्त होकर भी सदा प्राचीनकालके सहस्र भुजाधारी कार्तवीर्य अर्जुनके साथ स्पर्धा रखता है; केशव ! जो एक ही वेगसे पाँच सौ बाण चलाता है जो पाण्डव अर्जुन धनुर्विद्यामें राजा कार्तवीर्यके समान ही समझा जाता है, जिसका तेज सूर्यके समान है, इन्द्रियसंयममें महर्षियोंके, क्षमामें पृथ्वीके और पराक्रममें देवराज इन्द्रके समान है; मधुसूदन ! कौरवोंका यह विशाल साम्राज्य, जो सम्पूर्ण राजाओंमें प्रख्यात एवं प्रकाशित हो रहा है, जिसे अर्जुनने ही अपने पराक्रमसे बढ़ाया है; समस्त पाण्डव जिसके बाहुबलका भरोसा रखते हैं। जो सम्पूर्ण रथियोंमें श्रेष्ठ तथा सत्यपराक्रमी है, संग्राममें जिसके सम्मुख जाकर कोई जीवित नहीं लौटता है, अच्युत ! जो सम्पूर्ण भूतोंको जीतनेमें समर्थ, विजयशील एवं अजेय है तथा जैसे देवताओंके आश्रय इन्द्र हैं, उसी प्रकार जो समस्त पाण्डवोंका अवलम्ब है, वह तुम्हारा भाई और मित्र अर्जुन इस समय कैसे है ? ॥ २८—३४ ॥

दयावान् सर्वभूतेषु ह्रीनिषेवो महास्त्रवित्।
मृदुश्च सुकुमारश्च धार्मिकश्च प्रियश्च मे ॥ ३५ ॥
सहदेवो महेष्वासः शूरः समितिशोभनः।
भ्रातॄणां कृष्ण शुश्रूषुर्धर्मार्थकुशलो युवा ॥ ३६ ॥
सदैव सहदेवस्य भ्रातरो मधुसूदन।
वृत्तं कल्याणवृत्तस्य पूजयन्ति महात्मनः ॥ ३७ ॥
ज्येष्ठापचायिनं वीरं सहदेवं युधां पतिम्।
शुश्रूषुं मम वार्ष्णेय माद्रीपुत्रं प्रचक्ष्व मे ॥ ३८ ॥

'मधुसूदन श्रीकृष्ण ! जो समस्त प्राणियोंके प्रति दयालु लज्जाशील, महान् अस्त्रवेत्ता, कोमल, सुकुमार, धार्मिक तथा मुझे विशेष प्रिय है; जो महाधनुर्धर शूरवीर सहदेव रणभूमिमें शोभा पानेवाला, सभी भाइयोंका सेवक, धर्म और अर्थके विवेचनमें कुशल तथा युवावस्थासे युक्त है; कल्याणकारी आचारवाले जिस महात्मा सहदेवके आचार-व्यवहारकी सभी भाई प्रशंसा करते हैं, जो बड़े भाईके प्रति अनुरक्त, युद्धोंका नेता और मेरी सेवामें तत्पर रहनेवाला है; उस माद्रीकुमार वीर सहदेवका समाचार मुझे बताओ ॥ ३५—३८ ॥

सुकुमारो युवा शूरो दर्शनीयश्च पाण्डवः।
भ्रातॄणां चैव सर्वेषां प्रियः प्राणो बहिश्चरः ॥ ३९ ॥
चित्रयोधी च नकुलो महेष्वासो महाबलः।
कच्चित् स कुशली कृष्ण वत्सो मम सुखैधितः ॥ ४० ॥

'श्रीकृष्ण ! जो सुकुमार, युवक, शौर्यसम्पन्न तथा दर्शनीय है, जो सभी भाइयोंके बाहर विचरनेवाला प्रिय प्राणस्वरूप है, जिसमें युद्धकी विचित्र कला शोभा पाती है, वह महान् धनुर्धर, महाबली एवं मुझसे पला हुआ मेरा पुत्र पाण्डुनन्दन नकुल सकुशल तो है न ? ॥ ३९-४० ॥

सुखोचितमदुःखार्हं सुकुमारं महारथम्।
अपि जातु महाबाहो पश्येयं नकुलं पुनः ॥ ४१ ॥

'महाबाहो ! क्या मैं सुख-भोगके योग्य, दुःख भोगनेके अयोग्य एवं सुकुमार महारथी नकुलको फिर कभी देख सकूँगी ? ॥

पक्ष्मसम्पातजे काले नकुलेन विनाकृता।
न लभामि धृतिं वीर साद्य जीवामि पश्य माम् ॥ ४२ ॥

'वीर ! आँखोंकी पलकें गिरनेमें जितना समय लगता है, उतनी देर भी नकुलसे अलग रहनेपर मैं धैर्य खो बैठती थी; परंतु अब इतने दिनोंसे उसे न देखकर भी जी रही हूँ। देखो, मैं कितनी निर्मम हूँ ॥ ४२ ॥

सर्वैः पुत्रैः प्रियतरा द्रौपदी मे जनार्दन।
कुलीना रूपसम्पन्ना सर्वैः समुदिता गुणैः ॥ ४३ ॥

'जनार्दन ! द्रुपदकुमारी कृष्णा मुझे अपने सभी पुत्रोंसे अधिक प्रिय है। वह कुलीन, अनुपम सुन्दरी तथा समस्त सद्गुणोंसे सम्पन्न है ॥ ४३ ॥

पुत्रलोकात् पतिलोकं वृण्वाना सत्यवादिनी।
प्रियान् पुत्रान् परित्यज्य पाण्डवाननुरुध्यते ॥ ४४ ॥

'पुत्रलोकसे पतिलोकको श्रेष्ठ समझकर उसका वरण करनेवाली सत्यवादिनी द्रौपदी अपने प्यारे पुत्रोंको भी त्यागकर पाण्डवोंका अनुसरण करती है ॥ ४४ ॥

महाभिजनसम्पन्ना सर्वकामैः सुपूजिता।
ईश्वरी सर्वकल्याणी द्रौपदी कथमच्युत ॥ ४५ ॥

'अच्युत ! मैंने सब प्रकारकी वस्तुएँ देकर जिसका समादर किया है, वह परम उत्तम कुलमें उत्पन्न हुई सर्वकल्याणी महारानी द्रौपदी इन दिनों कैसी दशामें है ? ॥

पतिभिः पञ्चभिः शूरैरग्निकल्पैः प्रहारिभिः।
उपपन्ना महेष्वासैर्द्रौपदी दुःखभागिनी ॥ ४६ ॥

'हाय ! जो महाधनुर्धर, शूरवीर, युद्धकुशल तथा

अग्नितुल्य तेजस्वी पाँच पतियोंसे युक्त है, वह द्रुपदकुमारी कृष्णा भी दुःखभागिनी हो गयी ॥ ४६ ॥

चतुर्दशमिदं वर्षं यन्नापश्यमरिंदम ।
पुत्रादिभिः परिद्यूनां द्रौपदीं सत्यवादिनीम् ॥ ४७ ॥

'शत्रुदमन ! यह चौदहवाँ वर्ष बीत रहा है। इतने दिनोंसे मैंने पुत्रोंके विछोहसे संतप्त हुई सत्यवादिनी द्रौपदीको नहीं देखा है ॥ ४७ ॥

न नूनं कर्मभिः पुण्यैरश्नुते पुरुषः सुखम् ।
द्रौपदी चेत् तथावृत्ता नाश्नुते सुखमव्ययम् ॥ ४८ ॥

'यदि वैसे सदाचार और सत्कर्मोंसे युक्त द्रुपदकुमारी अक्षय सुख नहीं पा रही है, तब तो निश्चय ही यह कहना पड़ेगा कि मनुष्य पुण्यकर्मोंसे सुख नहीं पाता है ॥ ४८ ॥

न प्रियो मम कृष्णाया बीभत्सुर्न युधिष्ठिरः ।
भीमसेनो यमौ वापि यदपश्यं सभागताम् ॥ ४९ ॥
न मे दुःखतरं किंचिद् भूतपूर्वं ततोऽधिकम् ।

'युधिष्ठिर, भीम, अर्जुन, नकुल और सहदेव भी मुझे द्रौपदीसे अधिक प्रिय नहीं हैं। उसी द्रौपदीको मैंने भरी सभामें लायी गयी देखा, उससे बढ़कर महान् दुःख मुझे पहले कभी नहीं हुआ था ॥ ४९½ ॥

स्त्रीधर्मिणीं द्रौपदीं यच्छ्वशुराणां समीपगाम् ॥ ५० ॥
आनायितामनार्येण क्रोधलोभानुवर्तिना ।
सर्वे प्रैक्षन्त कुरव एकवस्त्रां सभागताम् ॥ ५१ ॥

'क्रोध और लोभके वशीभूत हुए दुष्ट दुर्योधनने रजस्वलावस्थामें एकवस्त्रधारिणी द्रौपदीको सभामें बुलवाया और उसे श्वशुरजनोंके समीप खड़ी कर दिया । उस समय सभी कौरवोंने उसे देखा था ॥ ५०-५१ ॥

तत्रैव धृतराष्ट्रश्च महाराजश्च बाह्लिकः ।
कृपश्च सोमदत्तश्च निर्विण्णाः कुरवस्तथा ॥ ५२ ॥

'वहीं राजा धृतराष्ट्र, महाराज बाह्लीक, कृपाचार्य, सोमदत्त तथा अन्यान्य कौरव खेदमें भरे हुए बैठे थे ॥ ५२ ॥

तस्यां संसदि सर्वेषां क्षत्तारं पूजयाम्यहम् ।
वृत्तेन हि भवत्यार्यो न धनेन न विद्यया ॥ ५३ ॥

'मैं तो उस कौरव-सभामें सबसे अधिक आदर विदुरजीको देती हूँ, (जिन्होंने द्रौपदीके प्रति किये जानेवाले अन्यायका प्रकटरूपमें विरोध किया था ।) मनुष्य अपने सदाचारसे ही श्रेष्ठ होता है, धन और विद्यासे नहीं । ५३ ।

तस्य कृष्ण महाबुद्धेर्गम्भीरस्य महात्मनः ।
क्षत्तुः शीलमलंकारो लोकान् विष्टभ्य तिष्ठति ॥ ५४ ॥

'श्रीकृष्ण ! परम बुद्धिमान् गम्भीरस्वभाव महात्मा विदुरका शील ही आभूषण है, जो सम्पूर्ण लोकोंको व्याप्त (विख्यात) करके स्थित है' ॥ ५४ ॥

वैशम्पायन उवाच

सा शोकार्ता च हृष्टा च दृष्ट्वा गोविन्दमागतम् ।
नानाविधानि दुःखानि सर्वाण्येवान्वकीर्तयत् ॥ ५५ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं--जनमेजय ! श्रीकृष्णको आया हुआ देख कुन्तीदेवी शोकातुर तथा आनन्दित हो अपने ऊपर आये हुए नाना प्रकारके सम्पूर्ण दुःखोंका पुनः वर्णन करने लगीं— ॥ ५५ ॥

पूर्वैराचरितं यत् तत् कुराजभिररिंदम ।
अक्षद्यूतं मृगवधः कच्चिदेषां सुखावहम् ॥ ५६ ॥

'शत्रुदमन श्रीकृष्ण ! पहलेके दुष्ट राजाओंने जो जूआ और शिकारकी परिपाटी चला दी है, वह क्या इन सबके लिये सुखावह सिद्ध हुई है ? (अपितु कदापि नहीं) ॥ ५६ ॥

तन्मां दहति यत् कृष्णा सभायां कुरुसंनिधौ ।
धार्तराष्ट्रैः परिक्लिष्टा यथा न कुशलं तथा ॥ ५७ ॥

'सभामें कौरवोंके समीप धृतराष्ट्रके पुत्रोंने द्रौपदीको जो ऐसा कष्ट पहुँचाया है, जिससे किसीका मङ्गल नहीं हो सकता, वह अपमान मेरे हृदयको दग्ध करता रहता है ॥ ५७ ॥

निर्वासनं च नगरात् प्रव्रज्या च परंतप ।
नानाविधानां दुःखानामभिज्ञास्मि जनार्दन ॥ ५८ ॥

'परंतप जनार्दन ! पाण्डवोंका नगरसे निकाला जाना तथा उनका वनमें रहनेके लिये बाध्य होना आदि नाना प्रकारके दुःखोंका मैं अनुभव कर चुकी हूँ ॥ ५८ ॥

अज्ञातचर्या बालानामवरोधश्च माधव ।
न मे क्लेशतमं तत् स्यात् पुत्रैः सह परंतप ॥ ५९ ॥

'परंतप माधव ! मेरे बालकोंको अज्ञातभावसे रहना पड़ा है और अब राज्य न मिलनेसे उनकी जीविकाका भी अवरोध हो गया है । पुत्रोंके साथ मुझे इतना महान् क्लेश नहीं प्राप्त होना चाहिये ॥ ५९ ॥

दुर्योधनेन निकृता वर्षमद्य चतुर्दशम् ।
दुःखादपि सुखं नः स्याद् यदि पुण्यफलक्षयः ॥ ६० ॥

'दुर्योधनने मेरे पुत्रोंको कपटद्यूतके द्वारा राज्यसे वञ्चित कर दिया । उन्हें इस दुरवस्थामें रहते आज चौदहवाँ वर्ष बीत रहा है । यदि सुख भोगनेका अर्थ है पुण्यके फलका क्षय होना, तब तो पापके फलस्वरूप दुःख भोग लेनेके कारण अब हमें भी दुःखके बाद सुख मिलना ही चाहिये ॥ ६० ॥

न मे विशेषो जात्वासीद् धार्तराष्ट्रेषु पाण्डवैः ।
तेन सत्येन कृष्ण त्वां हतामित्रं श्रिया वृतम् ।
अस्माद् विमुक्तं संग्रामात् पश्येयं पाण्डवैः सह । ६१ ।

नैव शक्याः पराजेतुं सर्वं ह्येषां तथाविधम्।

'श्रीकृष्ण ! मेरे मनमें पाण्डवों तथा धृतराष्ट्रपुत्रोंके प्रति कभी भेदभाव नहीं था। इस सत्यके प्रभावसे निश्चय ही मैं देखूँगी कि तुम भावी संग्राममें शत्रुओंको मारकर पाण्डवों-सहित संकटसे मुक्त हो गये तथा राज्यलक्ष्मीने तुमलोगोंका ही वरण किया है ! पाण्डवोंमें ऐसे सभी गुण मौजूद हैं, जिनके ही कारण शत्रु इन्हें परास्त नहीं कर सकते॥ ६१½ ॥

पितरं त्वेव गर्हेयं नात्मानं न सुयोधनम्॥ ६२॥
येनाहं कुन्तिभोजाय धनं वृत्तैरिवार्पिता।

'मैं जो कष्ट भोग रही हूँ, इसके लिये न अपनेको दोष देती हूँ, न दुर्योधनको; अपितु पिताकी ही निन्दा करती हूँ, जिन्होंने मुझे राजा कुन्तिभोजके हाथमें उसी प्रकार दे दिया, जैसे विख्यात दानी पुरुष याचकको साधारण धन देते हैं॥ ६२½ ॥

बालां मामार्यकस्तुभ्यं क्रीडन्तीं कन्दुहस्तिकाम्॥६३॥
अदात् तु कुन्तिभोजाय सखा सख्ये महात्मने।

'मैं अभी बालिका थी, हाथमें गेंद लेकर खेलती फिरती थी; उसी अवस्थामें तुम्हारे पितामहने मित्रधर्मका पालन करते हुए अपने सखा महात्मा कुन्तिभोजके हाथमें मुझे दे दिया॥ ६३½ ॥

साहं पित्रा च निकृता श्वशुरैश्च परंतप।
अत्यन्तदुःखिता कृष्ण किं जीवितफलं मम॥ ६४॥

'परंतप श्रीकृष्ण ! इस प्रकार मेरे पिता तथा श्वशुरोंने भी मेरे साथ वञ्चनापूर्ण बर्ताव किया है। इससे मैं अत्यन्त दुखी हूँ। मेरे जीवित रहनेसे क्या लाभ ?॥ ६४॥

यन्मां वागब्रवीन्नक्तं सूतके सव्यसाचिनः।
पुत्रस्ते पृथिवीं जेता यशश्चास्य दिवं स्पृशेत्॥ ६५॥
हत्वा कुरून् महाजन्ये राज्यं प्राप्य धनंजयः।
भ्रातृभिः सह कौन्तेयस्त्रीन् मेधानाहरिष्यति॥ ६६॥

'अर्जुनके जन्मकालमें जब मैं सूतिकागृहमें थी, उस रात्रिमें आकाशवाणीने मुझसे यह कहा था—'भद्रे ! तेरा यह पुत्र सारी पृथ्वीको जीत लेगा। इसका यश स्वर्गलोकतक फैल जायगा। यह महान् संग्राममें कौरवोंका संहार करके राज्यपर अधिकार कर लेगा, फिर अपने भाइयोंके साथ तीन अश्वमेध यज्ञोंका अनुष्ठान करेगा'॥ ६५-६६॥

नाहं तामभ्यसूयामि नमो धर्माय वेधसे।
कृष्णाय महते नित्यं धर्मो धारयति प्रजाः॥ ६७॥

'मैं इस आकाशवाणीको दोष नहीं देती, अपितु महाविष्णुस्वरूप धर्मको ही नमस्कार करती हूँ। वही इस जगत्का स्रष्टा है। धर्म ही सदा समस्त प्रजाको धारण करता है॥ ६७॥

धर्मश्चेदस्ति वार्ष्णेय यथा वागभ्यभाषत।
त्वं चापि तत् तथा कृष्ण सर्वं सम्पादयिष्यसि॥ ६८॥

'वृष्णिनन्दन श्रीकृष्ण ! यदि धर्म है तो तुम भी वह सब काम पूरा कर लोगे, जिसे उस समय आकाशवाणीने बताया था॥ ६८॥

न मां माधव वैधव्यं नार्थनाशो न वैरता।
तथा शोकाय दहति यथा पुत्रैर्विनाभवः॥ ६९॥

'माधव ! वैधव्य, धनका नाश तथा कुटुम्बीजनोंके साथ बढ़ा हुआ वैर-भाव इनसे मुझे उतना शोक नहीं होता, जितना कि पुत्रोंका विरह मुझे शोकदग्ध कर रहा है॥६९॥

याहं गाण्डीवधन्वानं सर्वशस्त्रभृतां वरम्।
धनंजयं न पश्यामि का शान्तिर्हृदयस्य मे॥ ७०॥

'समस्त शस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ गाण्डीवधारी अर्जुनको जबतक मैं नहीं देख रही हूँ, तबतक मेरे हृदयको क्या शान्ति मिलेगी ?॥

इतश्चतुर्दशं वर्षं यन्नापश्यं युधिष्ठिरम्।
धनंजयं च गोविन्द यमौ तं च वृकोदरम्॥ ७१॥

'गोविन्द ! चौदहवाँ वर्ष है, जबसे कि मैं युधिष्ठिर, भीमसेन, अर्जुन तथा नकुल-सहदेवको नहीं देख पा रही हूँ॥ ७१॥

जीवनाशं प्रणष्टानां श्राद्धं कुर्वन्ति मानवाः।
अर्थतस्ते मम मृतास्तेषां चाहं जनार्दन॥ ७२॥

'जनार्दन ! जो लोग प्राणोंका नाश होनेसे अदृश्य होते हैं, उनके लिये मनुष्य श्राद्ध करते हैं। यदि मृत्युका अर्थ अदृश्य हो जाना ही है तो मेरे लिये पाण्डव मर गये हैं और मैं भी उनके लिये मर चुकी हूँ॥ ७२॥

ब्रूया माधव राजानं धर्मात्मानं युधिष्ठिरम्।
भूयांस्ते हीयते धर्मो मा पुत्रक वृथा कृथाः॥ ७३॥

'माधव ! तुम धर्मात्मा राजा युधिष्ठिरसे कहना—'बेटा ! तुम्हारे धर्मकी बड़ी हानि हो रही है। तुम उसे व्यर्थ नष्ट न करो॥ ७३॥

पराश्रया वासुदेव या जीवति धिगस्तु ताम्।
वृत्तेः कार्पण्यलब्धाया अप्रतिष्ठैव ज्यायसी॥ ७४॥

'वासुदेव ! जो स्त्री दूसरोंके आश्रित होकर जीवन-निर्वाह करती है, उसे धिक्कार है। दीनतासे प्राप्त हुई जीविकाकी अपेक्षा तो मर जाना ही उत्तम है॥ ७४॥

अथो धनंजयं ब्रूया नित्योद्युक्तं वृकोदरम्।
यदर्थं क्षत्रिया सूते तस्य कालोऽयमागतः॥ ७५॥

'श्रीकृष्ण ! तुम अर्जुन तथा युद्धके लिये सदा उद्यत रहनेवाले भीमसेनसे कहना कि क्षत्राणी जिस प्रयोजनके लिये पुत्र उत्पन्न करती है, उसे पूरा करनेका यह समय आ गया है॥ ७५॥

अस्मिंश्चेदागते काले मिथ्या चातिक्रमिष्यति।
लोकसम्भाविताः सन्तः सुनृशंसं करिष्यथ ॥ ७६ ॥
नृशंसेन च वो युक्तांस्त्यजेयं शाश्वतीः समाः।
काले हि समनुप्राप्ते त्यक्तव्यमपि जीवनम् ॥ ७७ ॥

'यदि ऐसा समय आनेपर भी तुम युद्ध नहीं करोगे तो यह व्यर्थ बीत जायगा। तुमलोग इस जगत्‌के सम्मानित पुरुष हो। यदि तुम कोई अत्यन्त घृणित कर्म कर डालोगे तो उस नृशंस कर्मसे युक्त होनेके कारण मैं तुम्हें सदाके लिये त्याग दूँगी। पुत्रो! तुम्हें तो समय आनेपर अपने प्राणोंको भी त्याग देनेके लिये उद्यत रहना चाहिये ॥ ७६-७७ ॥

माद्रीपुत्रौ च वक्तव्यौ क्षत्रधर्मरतौ सदा।
विक्रमेणार्जितान् भोगान् वृणीतं जीवितादपि ॥ ७८ ॥

'गोविन्द! तुम सदा क्षत्रियधर्ममें तत्पर रहनेवाले माद्रीनन्दन नकुल-सहदेवसे भी कहना—'पुत्रो! तुम प्राणोंकी बाजी लगाकर भी पराक्रमसे प्राप्त किये हुए भोगोंको ही ग्रहण करना' ॥ ७८ ॥

विक्रमाधिगता ह्यर्थाः क्षत्रधर्मेण जीवतः।
मनो मनुष्यस्य सदा प्रीणन्ति पुरुषोत्तम ॥ ७९ ॥

पुरुषोत्तम! क्षत्रियधर्मसे जीवननिर्वाह करनेवाले मनुष्यके मनको पराक्रमसे प्राप्त हुआ धन ही सदा संतुष्ट रखता है ॥ ७९ ॥

गत्वा ब्रूहि महाबाहो सर्वशस्त्रभृतां वरम्।
अर्जुनं पाण्डवं वीरं द्रौपद्याः पदवीं चर ॥ ८० ॥

'महाबाहो! तुम पाण्डवोंके पास जाकर सम्पूर्ण शस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ पाण्डुनन्दन वीर अर्जुनसे कहना कि तुम द्रौपदीके बताये हुए मार्गपर चलो ॥ ८० ॥

विदितौ हि तवात्यन्तं क्रुद्धौ तौ तु यथान्तकौ।
भीमार्जुनौ नयेतां हि देवानपि परां गतिम् ॥ ८१ ॥

'श्रीकृष्ण! तुम तो जानते ही हो; यदि भीमसेन और अर्जुन अत्यन्त कुपित हो जायँ तो वे यमराजके समान होकर देवताओंको भी मृत्युके मुखमें पहुँचा सकते हैं ॥ ८१ ॥

तयोश्चैतदवज्ञानं यत् सा कृष्णा सभां गता।
दुःशासनश्च कर्णश्च परुषाण्यभ्यभाषताम् ॥ ८२ ॥
दुर्योधनो भीमसेनमभ्यगच्छन्मनस्विनम्।
पश्यतां कुरुमुख्यानां तस्य द्रक्ष्यति यत् फलम्। ८३ ।

'द्रौपदीको जो सभामें उपस्थित होना पड़ा तथा दुःशासन और कर्णने जो उसके प्रति कठोर बातें कहीं, यह सब भीमसेन और अर्जुनका ही अपमान है। दुर्योधनने प्रधान-प्रधान कौरवोंके सामने मनस्वी भीमसेनका अपमान किया है। इसका जो फल मिलेगा, उसे वह देखेगा ॥

न हि वैरं समासाद्य प्रशाम्यति वृकोदरः।
सुचिरादपि भीमस्य न हि वैरं प्रशाम्यति।
यावदन्तं न नयति शात्रवाञ्छत्रुकर्शनः ॥ ८४ ॥

'भीमसेन वैर हो जानेपर कभी शान्त नहीं होता। भीमसेनका वैर तबतक दीर्घकालके बाद भी समाप्त नहीं होता है, जबतक वह शत्रुपक्षका संहार नहीं कर डालता ॥ ८४ ॥

न दुःखं राज्यहरणं न च द्यूते पराजयः।
प्रव्राजनं तु पुत्राणां न मे तद् दुःखकारणम् ॥ ८५ ॥
यत् तु सा बृहती श्यामा एकवस्त्रा सभां गता।
अशृणोत् परुषा वाचः किं नु दुःखतरं ततः ॥ ८६ ॥

'राज्य छिन गया, यह कोई दुःखका कारण नहीं है। जूएमें हार जाना भी दुःखका कारण नहीं है। मेरे पुत्रोंको वनमें भेज दिया गया, इससे भी मुझे दुःख नहीं हुआ है; परंतु मेरी श्रेष्ठ सुन्दरी वधूको एक वस्त्र धारण किये जो सभामें जाना पड़ा और दुष्टोंकी कठोर बातें सुननी पड़ीं, इससे बढ़कर महान् दुःखकी बात और क्या हो सकती है? ॥

स्त्रीधर्मिणी वरारोहा क्षत्रधर्मरता सदा।
नाभ्यगच्छत् तदा नाथं कृष्णा नाथवती सती ॥ ८७ ॥

'सदा क्षत्रियधर्ममें अनुराग रखनेवाली मेरी सर्वाङ्गसुन्दरी बहू कृष्णा उस समय रजस्वला थी। वह सनाथ होती हुई भी वहाँ किसीको अपना नाथ (रक्षक) न पा सकी ॥ ८७ ॥

यस्या मम सपुत्रायास्त्वं नाथो मधुसूदन।
रामश्च बलिनां श्रेष्ठः प्रद्युम्नश्च महारथः ॥ ८८ ॥
साहमेवंविधं दुःखं सहेऽद्य पुरुषोत्तम।
भीमे जीवति दुर्धर्षे विजये चापलायिनि ॥ ८९ ॥

'पुरुषोत्तम! मधुसूदन! पुत्रोंसहित जिस कुन्तीके बलवानोंमें श्रेष्ठ बलराम, महारथी प्रद्युम्न तथा तुम रक्षक हो; युद्धमें कभी पीठ न दिखानेवाले विजयी अर्जुन और दुर्धर्ष भीमसेन-सरीखे जिसके पुत्र जीवित हैं, वही मैं ऐसे-ऐसे दुःख सह रही हूँ' ॥ ८८-८९ ॥

वैशम्पायन उवाच

तत आश्वासयामास पुत्राधिभिरभिप्लुताम्।
पितृष्वसारं शोचन्तीं शौरिः पार्थसखः पृथाम् ॥ ९० ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तदनन्तर अर्जुनके मित्र भगवान् श्रीकृष्णने पुत्रोंकी चिन्ताओंमें डूबकर शोक करती हुई अपनी बुआ कुन्तीको इस प्रकार आश्वासन दिया ॥ ९० ॥

वासुदेव उवाच

का तु सीमन्तिनी त्वादृक् लोकेष्वस्ति पितृष्वसः।
शूरस्य राज्ञो दुहिता आजमीढकुलं गता ॥ ९१ ॥

भगवान् वासुदेव बोले—बुआ ! संसारमें तुम-जैसी सौभाग्यशालिनी नारी दूसरी कौन है ? तुम राजा शूरसेनकी पुत्री हो और महाराज अजमीढके कुलमें ब्याहकर आयी हो ॥ ९१ ॥

महाकुलीना भवती ह्रदाद्ध्रदमिवागता।
ईश्वरी सर्वकल्याणी भर्त्रा परमपूजिता ॥ ९२ ॥

तुम एक उच्च कुलकी कन्या हो और दूसरे उच्च कुलमें ब्याही गयी हो; मानो कमलिनी एक सरोवरसे दूसरे सरोवरमें आयी हो। एक दिन तुम सर्वकल्याणी महारानी थीं; तुम्हारे पतिदेवने सदा तुम्हारा विशेष सम्मान किया है ॥ ९२ ॥

वीरसूर्वीरपत्नी त्वं सर्वैः समुदिता गुणैः।
सुखदुःखे महाप्राज्ञे त्वादृशी सोढुमर्हति ॥ ९३ ॥

तुम वीरपत्नी, वीरजननी तथा समस्त सद्गुणोंसे सम्पन्न हो। महाप्राज्ञे ! तुम्हारी-जैसी विवेकशील स्त्रीको सुख और दुःख चुपचाप सहने चाहिये ॥ ९३ ॥

निद्रातन्द्रे क्रोधहर्षौ क्षुत्पिपासे हिमातपौ।
एतानि पार्था निर्जित्य नित्यं वीरसुखे रताः ॥ ९४ ॥

तुम्हारे सभी पुत्र निद्रा, तन्द्रा (आलस्य), क्रोध, हर्ष, भूख-प्यास तथा सर्दी-गर्मी इन सबको जीतकर सदा वीरोचित सुखका उपभोग करते हैं ॥ ९४ ॥

त्यक्तग्राम्यसुखाः पार्था नित्यं वीरसुखप्रियाः।
न तु स्वल्पेन तुष्येयुर्महोत्साहा महाबलाः ॥ ९५ ॥

तुम्हारे पुत्रोंने ग्राम्यसुखको त्याग दिया है, वीरोचित सुख ही उन्हें सदा प्रिय है। वे महान् उत्साही और महाबली हैं; अतः थोड़े-से ऐश्वर्यसे संतुष्ट नहीं हो सकते ॥

अन्तं धीरा निषेवन्ते मध्यं ग्राम्यसुखप्रियाः।
उत्तमांश्च परिक्लेशान् भोगांश्चातीव मानुषान् ॥ ९६ ॥
अन्तेषु रेमिरे धीरा न ते मध्येषु रेमिरे।
अन्तप्राप्तिं सुखं प्राहुर्दुःखमन्तरमेतयोः ॥ ९७ ॥

धीर पुरुष भोगोंकी अन्तिम स्थितिका सेवन करते हैं। ग्राम्य विषयभोगोंमें आसक्त पुरुष भोगोंकी मध्य स्थितिका ही सेवन करते हैं। वे धीर पुरुष कर्तव्यपालनके रूपमें प्राप्त बड़े-से-बड़े क्लेशोंको सहर्ष सहन करके अन्तमें मनुष्यातीत भोगोंमें रमण करते हैं। महापुरुषोंका कहना है कि अन्तिम (सुख-दुःखसे अतीत) स्थितिकी प्राप्ति ही वास्तविक सुख है तथा सुख-दुःखके बीचकी स्थिति ही दुःख है ॥ ९६-९७ ॥

अभिवादयन्ति भवतीं पाण्डवाः सह कृष्णया।
आत्मानं च कुशलिनं निवेद्याहुरनामयम् ॥ ९८ ॥

बुआ ! द्रौपदीसहित पाण्डवोंने तुम्हें प्रणाम कहलाया है और अपनेको सकुशल बताकर अपनी स्वस्थता भी सूचित की है ॥ ९८ ॥

अरोगान् सर्वसिद्धार्थान् क्षिप्रं द्रक्ष्यसि पाण्डवान्।
ईश्वरान् सर्वलोकस्य हतामित्राञ्छ्रिया वृतान् ॥ ९९ ॥

तुम शीघ्र ही देखोगी; पाण्डव नीरोग अवस्थामें तुम्हारे सामने उपस्थित हैं, उनके सम्पूर्ण मनोरथ सिद्ध हो गये हैं और वे अपने शत्रुओंका संहार करके साम्राज्य-लक्ष्मीसे संयुक्त हो सम्पूर्ण जगत्के शासकपदपर प्रतिष्ठित हैं ॥ ९९ ॥

एवमाश्वासिता कुन्ती प्रत्युवाच जनार्दनम्।
पुत्राधिभिरभिध्वस्ता निगृह्याबुद्धिजं तमः ॥ १०० ॥

इस प्रकार आश्वासन पाकर पुत्रों आदिसे दूर पड़ी हुई कुन्तीदेवीने अज्ञानजनित मोहका निरोध करके भगवान् जनार्दनसे कहा ॥ १०० ॥

कुन्त्युवाच

यद् यत् तेषां महाबाहो पथ्यं स्यान्मधुसूदन।
यथा यथा त्वं मन्येथाः कुर्याः कृष्ण तथा तथा ॥ १०१ ॥

कुन्ती बोली—महाबाहु मधुसूदन श्रीकृष्ण ! जो पाण्डवोंके लिये हितकर हो तथा जैसे-जैसे कार्य करना तुम्हें उचित जान पड़े, वैसे-वैसे करो ॥ १०१ ॥

अविलोपेन धर्मस्य अनिकृत्या परंतप।
प्रभावज्ञास्मि ते कृष्ण सत्यस्याभिजनस्य च ॥ १०२ ॥

परंतप श्रीकृष्ण ! धर्मका लोप न करते हुए, छल और कपटसे दूर रहकर समयोचित कार्य करना चाहिये । मैं तुम्हारी सत्यपरायणता और कुल-मर्यादाका भी प्रभाव जानती हूँ ॥ १०२ ॥

व्यवस्थायां च मित्रेषु बुद्धिविक्रमयोस्तथा।
त्वमेव नः कुले धर्मस्त्वं सत्यं त्वं तपो महत् ॥ १०३ ॥
त्वं त्राता त्वं महद् ब्रह्म त्वयि सर्वं प्रतिष्ठितम्।
यथैवात्थ तथैवैतत् त्वयि सत्यं भविष्यति ॥ १०४ ॥

प्रत्येक कार्यकी व्यवस्थामें, मित्रोंके संग्रहमें तथा बुद्धि और पराक्रममें भी जो तुम्हारा अद्भुत प्रभाव है, उससे मैं परिचित हूँ। हमारे कुलमें तुम्हीं धर्म हो, तुम्हीं सत्य हो, तुम्हीं महान् तप हो, तुम्हीं रक्षक और तुम्हीं परब्रह्म परमात्मा हो। सब कुछ तुममें ही प्रतिष्ठित है। तुम जो कुछ कहते हो, वह सब तुम्हारे संनिधानमें सत्य होकर ही रहेगा ॥ १०३-१०४ ॥

(कुरूणां पाण्डवानां च लोकानां चापराजित।
सर्वस्यैतस्य वार्ष्णेय गतिस्त्वमसि माधव ॥
प्रभावो बुद्धिवीर्यं च तादृशं तव केशव।)

किसीसे पराजित न होनेवाले वृष्णिनन्दन माधव ! कौरवोंके, पाण्डवोंके तथा इस सम्पूर्ण जगत्के तुम्हीं आश्रय

हो । केशव ! तुम्हारा प्रभाव तथा तुम्हारा बुद्धिबल भी तुम्हारे अनुरूप ही है ॥

वैशम्पायन उवाच

तामामन्त्र्य च गोविन्दः कृत्वा चाभिप्रदक्षिणम्।
प्रातिष्ठत महाबाहुर्दुर्योधनगृहान् प्रति ॥ १०५ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तदनन्तर महाबाहु गोविन्द कुन्तीदेवीकी परिक्रमा करके उनसे आज्ञा ले दुर्योधनके घरकी ओर चल दिये ॥ १०५ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि कृष्णकुन्तीसंवादे नवतितमोऽध्यायः ॥ ९० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें श्रीकृष्ण-कुन्ती-संवादविषयक नब्बेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ९० ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके १½ श्लोक मिलाकर कुल १०६½ श्लोक हैं)

एकनवतितमोऽध्यायः

श्रीकृष्णका दुर्योधनके घर जाना एवं उसके निमन्त्रणको अस्वीकार करके विदुरजीके घरपर भोजन करना

वैशम्पायन उवाच

पृथामामन्त्र्य गोविन्दः कृत्वा चाभिप्रदक्षिणम्।
दुर्योधनगृहं शौरिरभ्यगच्छदरिंदमः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! शत्रुओंका दमन करनेवाले शूरनन्दन श्रीकृष्ण कुन्तीकी परिक्रमा करके एवं उनकी आज्ञा ले दुर्योधनके घर गये ॥ १ ॥

लक्ष्म्या परमया युक्तं पुरन्दरगृहोपमम्।
विचित्रैरासनैर्युक्तं प्रविवेश जनार्दनः ॥ २ ॥

वह घर इन्द्रभवनके समान उत्तम शोभासे सम्पन्न था। उसमें यथास्थान विचित्र आसन सजाकर रक्खे गये थे। श्रीकृष्णने उस गृहमें प्रवेश किया ॥ २ ॥

तस्य कक्ष्या व्यतिक्रम्य तिस्रो द्वाःस्थैरवारितः।
ततोऽभ्रघनसंकाशं गिरिकूटमिवोच्छ्रितम् ॥ ३ ॥
श्रिया ज्वलन्तं प्रासादमारुरोह महायशाः।

द्वारपालोंने रोक-टोक नहीं की। उस राजभवनकी तीन ड्योढ़ियाँ पार करके महायशस्वी श्रीकृष्ण एक ऐसे प्रासादपर आरूढ़ हुए, जो आकाशमें छाये हुए शरद्-ऋतुके बादलोंके समान श्वेत, पर्वतशिखरके समान ऊँचा तथा अपनी अद्भुत प्रभासे प्रकाशमान था ॥ ३½ ॥

तत्र राजसहस्रैश्च कुरुभिश्चाभिसंवृतम् ॥ ४ ॥
धार्तराष्ट्रं महाबाहुं ददर्शासीनमासने।

वहाँ उन्होंने सिंहासनपर बैठे हुए धृतराष्ट्रपुत्र महाबाहु दुर्योधनको देखा, जो सहस्रों राजाओं तथा कौरवोंसे घिरा हुआ था ॥ ४½ ॥

दुःशासनं च कर्णं च शकुनिं चापि सौबलम् ॥ ५ ॥
दुर्योधनसमीपे तानासनस्थान् ददर्श सः।

दुर्योधनके पास ही दुःशासन, कर्ण तथा सुबलपुत्र शकुनि—ये भी आसनोंपर बैठे थे। श्रीकृष्णने उनको भी देखा ॥ ५½ ॥

अभ्यागच्छति दाशार्हे धार्तराष्ट्रो महायशाः ॥ ६ ॥
उदतिष्ठत् सहामात्यः पूजयन् मधुसूदनम्।

दशार्हनन्दन श्रीकृष्णके आते ही महायशस्वी दुर्योधन मधुसूदनका सम्मान करते हुए मन्त्रियोंसहित उठकर खड़ा हो गया ॥ ६½ ॥

समेत्य धार्तराष्ट्रेण सहामात्येन केशवः ॥ ७ ॥
राजभिस्तत्र वार्ष्णेयः समागच्छद् यथावयः।

मन्त्रियोंसहित दुर्योधनसे मिलकर वृष्णिकुलभूषण केशव अवस्थाके अनुसार वहाँ सभी राजाओंसे यथायोग्य मिले।७½।

तत्र जाम्बूनदमयं पर्यङ्कं सुपरिष्कृतम् ॥ ८ ॥
विविधास्तरणास्तीर्णमभ्युपाविशदच्युतः ।

उस राजसभामें सुन्दर रत्नोंसे विभूषित एक सुवर्णमय पर्यङ्क रक्खा हुआ था, जिसपर भाँति-भाँतिके बिछौने बिछे हुए थे। भगवान् श्रीकृष्ण उसीपर विराजमान हुए ॥८½॥



तस्मिन् गां मधुपर्कं चाप्युदकं च जनार्दने ॥ ९ ॥
निवेदयामास तदा गृहान् राज्यं च कौरवः।

उस समय कुरुराजने जनार्दनकी सेवामें गौ, मधुपर्क, जल, गृह तथा राज्य सब कुछ निवेदन कर दिया ॥ ९½ ॥

तत्र गोविन्दमासीनं प्रसन्नादित्यवर्चसम् ॥ १० ॥
उपासांचक्रिरे सर्वे कुरवो राजभिः सह ।

उस पर्यङ्कपर बैठे हुए भगवान् गोविन्द निर्मल सूर्यके समान तेजस्वी प्रतीत हो रहे थे। उस समय राजाओंसहित समस्त कौरव उनके पास आकर बैठ गये ॥ १०½ ॥

ततो दुर्योधनो राजा वार्ष्णेयं जयतां वरम् ॥ ११ ॥
न्यमन्त्रयद् भोजनेन नाभ्यनन्दच्च केशवः ।

तदनन्तर राजा दुर्योधनने विजयी वीरोंमें श्रेष्ठ श्रीकृष्णको भोजनके लिये निमन्त्रित किया; परंतु केशवने उस निमन्त्रणको स्वीकार नहीं किया ॥ ११½ ॥

ततो दुर्योधनः कृष्णमब्रवीत् कुरुसंसदि ॥ १२ ॥
मृदुपूर्वं शठोदर्कं कर्णमाभाष्य कौरवः ।

तब कुरुराज दुर्योधनने कर्णसे सलाह लेकर कौरवसभामें श्रीकृष्णसे पूछा। पूछते समय उसकी वाणीमें पहले तो मृदुता थी, परंतु अन्तमें शठता प्रकट होने लगी थी ॥ १२½ ॥

कस्मादन्नानि पानानि वासांसि शयनानि च ॥ १३ ॥
त्वदर्थमुपनीतानि नाग्रहीस्त्वं जनार्दन ।

(दुर्योधन बोला—) जनार्दन ! आपके लिये अन्न, जल, वस्त्र और शय्या आदि जो वस्तुएँ प्रस्तुत की गयीं, उन्हें आपने ग्रहण क्यों नहीं किया ? ॥ १३½ ॥

उभयोश्चाददाः साह्यमुभयोश्च हिते रतः ॥ १४ ॥
सम्बन्धी दयितश्चासि धृतराष्ट्रस्य माधव ।
त्वं हि गोविन्द धर्मार्थौ वेत्थ तत्त्वेन सर्वशः ।
तत्र कारणमिच्छामि श्रोतुं चक्रगदाधर ॥ १५ ॥

आपने तो दोनों पक्षोंको ही सहायता दी है, आप उभय-पक्षके हित-साधनमें तत्पर हैं। माधव ! महाराज धृतराष्ट्रके आप प्रिय सम्बन्धी भी हैं। चक्र और गदा धारण करनेवाले गोविन्द ! आपको धर्म और अर्थका सम्पूर्णरूपसे यथार्थ ज्ञान भी है; फिर मेरा आतिथ्य ग्रहण न करनेका क्या कारण है; यह मैं सुनना चाहता हूँ ॥ १४-१५ ॥

वैशम्पायन उवाच

स एवमुक्तो गोविन्दः प्रत्युवाच महामनाः ।
उद्यन्मेघस्वनः काले प्रगृह्य विपुलं भुजम् ॥ १६ ॥
अलघूकृतमग्रस्तमनिरस्तमसंकुलम् ।
राजीवनेत्रो राजानं हेतुमद् वाक्यमुत्तमम् ॥ १७ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! इस प्रकार पूछे जानेपर उस समय महामनस्वी कमलनयन श्रीकृष्णने अपनी विशाल भुजा ऊपर उठाकर राजा दुर्योधनको सजल जलधरके समान गम्भीर वाणीमें उत्तर देना आरम्भ किया। उनका वह वचन परम उत्तम, युक्तिसंगत, दैन्यरहित, प्रत्येक अक्षरकी स्पष्टतासे सुशोभित तथा स्थानभ्रष्टता एवं संकीर्णता आदि दोषोंसे रहित था ॥ १६-१७ ॥

कृतार्था भुञ्जते दूताः पूजां गृह्णन्ति चैव ह ।
कृतार्थं मां सहामात्यं समर्चिष्यसि भारत ॥ १८ ॥

'भारत ! ऐसा नियम है कि दूत अपना प्रयोजन सिद्ध होनेपर ही भोजन और सम्मान स्वीकार करते हैं। तुम भी मेरा उद्देश्य सिद्ध हो जानेपर ही मेरा और मेरे मन्त्रियोंका सत्कार करना' ॥ १८ ॥

एवमुक्तः प्रत्युवाच धार्तराष्ट्रो जनार्दनम् ।
न युक्तं भवतास्मासु प्रतिपत्तुमसाम्प्रतम् ॥ १९ ॥

यह सुनकर दुर्योधनने जनार्दनसे कहा—'आपको हम-लोगोंके साथ ऐसा अनुचित बर्ताव नहीं करना चाहिये।१९।

कृतार्थं वाकृतार्थं च त्वां वयं मधुसूदन ।
यतामहे पूजयितुं दाशार्ह न च शक्नुमः ॥ २० ॥

'दशार्हनन्दन मधुसूदन ! आपका उद्देश्य सफल हो या न हो, हमलोग तो आपके सम्मानका प्रयत्न करते ही हैं; किंतु हमें सफलता नहीं मिल रही है ॥ २० ॥

न च तत् कारणं विद्मो यस्मिन् नो मधुसूदन ।
पूजां कृतां प्रीयमाणैर्नामंस्थाः पुरुषोत्तम ॥ २१ ॥

'मधुदैत्यका विनाश करनेवाले पुरुषोत्तम ! हमें ऐसा कोई कारण नहीं जान पड़ता, जिसके होनेसे आप हमारी प्रेमपूर्वक अर्पित की हुई पूजा ग्रहण न कर सकें ॥ २१ ॥

वैरं नो नास्ति भवता गोविन्द न च विग्रहः ।
स भवान् प्रसमीक्ष्यैतन्नेदृशं वक्तुमर्हति ॥ २२ ॥

'गोविन्द ! आपके साथ हमलोगोंका न तो कोई वैर है और न झगड़ा ही है। इन सब बातोंका विचार करके आपको ऐसी बात नहीं कहनी चाहिये' ॥ २२ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तः प्रत्युवाच धार्तराष्ट्रं जनार्दनः ।
अभिवीक्ष्य सहामात्यं दाशार्हः प्रहसन्निव ॥ २३ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! यह सुनकर दशार्हकुलभूषण जनार्दनने मन्त्रियोंसहित दुर्योधनकी ओर देखकर हँसते हुए-से उत्तर दिया ॥ २३ ॥

नाहं कामान्न संरम्भान्न द्वेषान्नार्थकारणात् ।
न हेतुवादाल्लोभाद् वा धर्मं जह्यां कथंचन ॥ २४ ॥

'राजन् ! मैं कामसे, क्रोधसे, द्वेषसे, स्वार्थवश, बहानेबाजी अथवा लोभसे भी किसी प्रकार धर्मका त्याग नहीं कर सकता ॥ २४ ॥

**सम्प्रीतिभोज्यान्यन्नानि आपद्भोज्यानि वा पुनः।
न च सम्प्रीयसे राजन् न चैवापद्गता वयम्॥ २५॥**

'किसीके घरका अन्न या तो प्रेमके कारण भोजन किया जाता है या आपत्तिमें पड़नेपर। नरेश्वर! प्रेम तो तुम नहीं रखते और किसी आपत्तिमें हम नहीं पड़े हैं॥ २५॥

**अकस्माद् द्वेष्टि वै राजन् जन्मप्रभृति पाण्डवान्।
प्रियानुवर्तिनो भ्रातॄन् सर्वैः समुदितान् गुणैः॥ २६॥**

'राजन्! पाण्डव तुम्हारे भाई ही हैं, वे अपने प्रेमियोंका साथ देनेवाले और समस्त सद्गुणोंसे सम्पन्न हैं, तथापि तुम जन्मसे ही उनके साथ अकारण ही द्वेष करते हो॥ २६॥

**अकस्माच्चैव पार्थानां द्वेषणं नोपपद्यते।
धर्मे स्थिताः पाण्डवेयाः कस्तान् किं वक्तुमर्हति॥ २७॥**

'बिना कारण ही कुन्तीपुत्रोंके साथ द्वेष रखना तुम्हारे लिये कदापि उचित नहीं है। पाण्डव सदा अपने धर्ममें स्थित रहते हैं, अतः उनके विरुद्ध कौन क्या कह सकता है?॥२७॥

**यस्तान् द्वेष्टि स मां द्वेष्टि यस्ताननु स मामनु।
ऐकात्म्यं मां गतं विद्धि पाण्डवैर्धर्मचारिभिः॥ २८॥**

'जो पाण्डवोंसे द्वेष करता है, वह मुझसे भी द्वेष करता है और जो उनके अनुकूल है, वह मेरे भी अनुकूल है। तुम मुझे धर्मात्मा पाण्डवोंके साथ एकरूप हुआ ही समझो॥ २८॥

**कामक्रोधानुवर्ती हि यो मोहाद् विरुरुत्सति।
गुणवन्तं च यो द्वेष्टि तमाहुः पुरुषाधमम्॥ २९॥**

'जो काम और क्रोधके वशीभूत होकर मोहवश किसी गुणवान् पुरुषके साथ विरोध करना चाहता है, उसे पुरुषोंमें अधम कहा गया है॥ २९॥

**यः कल्याणगुणाञ्ज्ञातीन् मोहाल्लोभाद् दिदृक्षते।
सोऽजितात्माजितक्रोधो न चिरं तिष्ठति श्रियम्॥ ३०॥**

'जो कल्याणमय गुणोंसे युक्त अपने कुटुम्बीजनोंको मोह[1] और लोभ[2]की दृष्टिसे देखना चाहता है, वह अपने मन और क्रोधको न जीतनेवाला पुरुष दीर्घकालतक राजलक्ष्मीका उपभोग नहीं कर सकता॥ ३०॥

**अथ यो गुणसम्पन्नान् हृदयस्याप्रियानपि।
प्रियेण कुरुते वश्यांश्चिरं यशसि तिष्ठति॥ ३१॥**

'जो अपने मनको प्रिय न लगनेवाले गुणवान् व्यक्तियोंको भी अपने प्रिय व्यवहारद्वारा वशमें कर लेता है, वह दीर्घकालतक यशस्वी बना रहता है॥ ३१॥

१. जो दुष्ट नहीं है, उसे भी दुष्ट समझना मोह है।

२. दूसरेके धनको हर लेनेकी इच्छाका नाम लोभ है।

**(द्विषदन्नं न भोक्तव्यं द्विषन्तं नैव भोजयेत्।
पाण्डवान् द्विषसे राजन् मम प्राणा हि पाण्डवाः॥)**

'जो द्वेष रखता हो, उसका अन्न नहीं खाना चाहिये। द्वेष रखनेवालेको खिलाना भी नहीं चाहिये। राजन्! तुम पाण्डवोंसे द्वेष रखते हो और पाण्डव मेरे प्राण हैं॥

**सर्वमेतन्न भोक्तव्यमन्नं दुष्टाभिसंहितम्।
क्षत्तुरेकस्य भोक्तव्यमिति मे धीयते मतिः॥ ३२॥**

'तुम्हारा यह सारा अन्न दुर्भावनासे दूषित है। अतः मेरे भोजन करने योग्य नहीं है। मेरे लिये तो यहाँ केवल विदुरका ही अन्न खाने योग्य है। यह मेरी निश्चित धारणा है'॥ ३२॥

**एवमुक्त्वा महाबाहुर्दुर्योधनममर्षणम्।
निश्चक्राम ततः शुभ्राद् धार्तराष्ट्रनिवेशनात्॥ ३३॥**

अमर्षशील दुर्योधनसे ऐसा कहकर महाबाहु श्रीकृष्ण उसके भव्य भवनसे बाहर निकले॥ ३३॥

**निर्याय च महाबाहुर्वासुदेवो महामनाः।
निवेशाय ययौ वेश्म विदुरस्य महात्मनः॥ ३४॥**

वहाँसे निकलकर महामना महाबाहु भगवान् वासुदेव ठहरनेके लिये महात्मा विदुरके भवनमें गये॥ ३४॥

**तमभ्यगच्छद् द्रोणश्च कृपो भीष्मोऽथ बाह्लिकः।
कुरवश्च महाबाहुं विदुरस्य गृहे स्थितम्॥ ३५॥
त ऊचुर्माधवं वीरं कुरवो मधुसूदनम्।
निवेदयामो वार्ष्णेय सरत्नांस्ते गृहान् वयम्॥ ३६॥**

उस समय द्रोणाचार्य, कृपाचार्य, भीष्म, बाह्लीक तथा अन्य कौरवोंने भी महाबाहु श्रीकृष्णका अनुसरण किया। विदुरके घरमें ठहरे हुए यदुवंशी वीर मधुसूदनसे वे सब कौरव बोले—'वृष्णिनन्दन! हमलोग रत्न-धनसे सम्पन्न अपने घरोंको आपकी सेवामें समर्पित करते हैं'॥ ३५-३६॥

**तानुवाच महातेजाः कौरवान् मधुसूदनः।
सर्वे भवन्तो गच्छन्तु सर्वा मेऽपचितिः कृता॥ ३७॥**

तब महातेजस्वी मधुसूदनने कौरवोंसे कहा—'आप सब लोग अपने घरोंको जायँ; आपके द्वारा मेरा सारा सम्मान सम्पन्न हो गया'॥ ३७॥

**यातेषु कुरुषु क्षत्ता दाशार्हमपराजितम्।
अभ्यर्चयामास तदा सर्वकामैः प्रयत्नवान्॥ ३८॥**

कौरवोंके चले जानेपर विदुरजीने कभी पराजित न होनेवाले दशार्हनन्दन श्रीकृष्णको समस्त मनोवाञ्छित वस्तुएँ समर्पित करके प्रयत्नपूर्वक उनका पूजन किया॥ ३८॥



ततः क्षत्तान्नपानानि शुचीनि गुणवन्ति च ।
उपाहरदनेकानि केशवाय महात्मने ॥ ३९ ॥

तदनन्तर उन्होंने अनेक प्रकारके पवित्र एवं गुणकारक अन्न-पान महात्मा केशवको अर्पित किये ॥ ३९ ॥

तैस्तर्पयित्वा प्रथमं ब्राह्मणान् मधुसूदनः ।
वेदविद्भ्यो ददौ कृष्णः परमद्रविणान्यपि ॥ ४० ॥

मधुसूदनने उस अन्न-पानसे पहले ब्राह्मणोंको तृप्त किया; फिर उन्होंने उन वेदवेत्ताओंको श्रेष्ठ धन भी दिया ॥ ४० ॥

ततोऽनुयायिभिः सार्धं मरुद्भिरिव वासवः ।
विदुरान्नानि बुभुजे शुचीनि गुणवन्ति च ॥ ४१ ॥

तदनन्तर देवताओंसहित इन्द्रकी भाँति अनुचरोंसहित भगवान् श्रीकृष्णने विदुरजीके पवित्र एवं गुणकारक अन्न-पान ग्रहण किये ॥ ४१ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि श्रीकृष्णदुर्योधनसंवादे एकनवतितमोऽध्यायः ॥ ९१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें श्रीकृष्ण-दुर्योधनसंवादविषयक इक्यानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ९१ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका १ श्लोक मिलाकर कुल ४२ श्लोक हैं)

द्विनवतितमोऽध्यायः

विदुरजीका धृतराष्ट्रपुत्रोंकी दुर्भावना बताकर श्रीकृष्णको उनके कौरवसभामें जानेका अनौचित्य बतलाना

वैशम्पायन उवाच

तं भुक्तवन्तमाश्वस्तं निशायां विदुरोऽब्रवीत् ।
नेदं सम्यग् व्यवसितं केशवागमनं तव ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! रातमें जब भगवान् श्रीकृष्ण भोजन करके विश्राम कर रहे थे, उस समय विदुरजीने उनसे कहा—'केशव ! आपने जो यहाँ आनेका विचार किया, यह मेरी समझमें अच्छा नहीं हुआ ॥ १ ॥

अर्थधर्मातिगो मन्दः संरम्भी च जनार्दन ।
मानघ्नो मानकामश्च वृद्धानां शासनातिगः ॥ २ ॥

'जनार्दन ! मन्दमति दुर्योधन धर्म और अर्थ दोनोंका उल्लङ्घन कर चुका है। वह क्रोधी, दूसरोंके सम्मानको नष्ट करनेवाला और स्वयं सम्मान चाहनेवाला है। उसने बड़े-बूढ़े गुरुजनोंके आदेशको भी ठुकरा दिया है ॥ २ ॥

धर्मशास्त्रातिगो मूढो दुरात्मा प्रग्रहं गतः ।
अनेयः श्रेयसां मन्दो धार्तराष्ट्रो जनार्दन ॥ ३ ॥

'प्रभो ! मूढ़ धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधन धर्मशास्त्रोंकी भी आज्ञा नहीं मानता; सदा अपना ही हठ रखता है। उस दुरात्माको सन्मार्गपर ले आना असम्भव है ॥ ३ ॥

कामात्मा प्राज्ञमानी च मित्रध्रुक् सर्वशङ्कितः ।
अकर्ता चाकृतज्ञश्च त्यक्तधर्मा प्रियानृतः ॥ ४ ॥

'उसका मन भोगोंमें आसक्त है, वह अपनेको पण्डित मानता, मित्रोंके साथ द्रोह करता और सबको संदेहकी दृष्टिसे देखता है। वह स्वयं तो किसीका उपकार करता ही नहीं, दूसरोंके किये हुए उपकारको भी नहीं मानता। वह धर्मको त्यागकर असत्यसे ही प्रेम करने लगा है ॥ ४ ॥

मूढश्चाकृतबुद्धिश्च इन्द्रियाणामनीश्वरः ।
कामानुसारी कृत्येषु सर्वेष्वकृतनिश्चयः ॥ ५ ॥

'उसमें विवेकका सर्वथा अभाव है, उसकी बुद्धि किसी एक निश्चयपर नहीं रहती तथा वह अपनी इन्द्रियोंको काबूमें रखनेमें असमर्थ है। वह अपनी इच्छाओंका अनुसरण करनेवाला तथा सभी कार्योंमें अनिश्चित विचार रखनेवाला है ॥ ५ ॥

एतैश्चान्यैश्च बहुभिर्दोषैरेव समन्वितः ।
त्वयोच्यमानः श्रेयोऽपि संरम्भान्न ग्रहीष्यति ॥ ६ ॥

'ये तथा और भी बहुत-से दोष उसमें भरे हुए हैं। आप उसे हितकी बात बतायेंगे, तो भी वह क्रोधवश उसे स्वीकार नहीं करेगा ॥ ६ ॥

भीष्मे द्रोणे कृपे कर्णे द्रोणपुत्रे जयद्रथे ।
भूयसीं वर्तते वृत्तिं न शमे कुरुते मनः ॥ ७ ॥

'वह भीष्म, द्रोणाचार्य, कृपाचार्य, कर्ण, अश्वत्थामा तथा जयद्रथपर अधिक भरोसा रखता है; अतः उसके मनमें संधि करनेका विचार ही नहीं होता है ॥ ७ ॥

निश्चितं धार्तराष्ट्राणां सकर्णानां जनार्दन ।
भीष्मद्रोणमुखान् पार्था न शक्ताः प्रतिवीक्षितुम् ॥ ८ ॥

'जनार्दन ! धृतराष्ट्रके सभी पुत्रों तथा कर्णकी यह निश्चित धारणा है कि कुन्तीके पुत्र भीष्म एवं द्रोणाचार्य आदि वीरोंकी ओर देखनेमें भी समर्थ नहीं हैं ॥ ८ ॥

सेनासमुदयं कृत्वा पार्थिवं मधुसूदन ।
कृतार्थं मन्यते बाल आत्मानमविचक्षणः ॥ ९ ॥

'मधुसूदन ! मूर्ख एवं बुद्धिहीन दुर्योधन राजाओंकी सेना एकत्र करके अपने-आपको कृतकृत्य मानता है ॥ ९ ॥

एकः कर्णः पराञ्जेतुं समर्थ इति निश्चितम् ।
धार्तराष्ट्रस्य दुर्बुद्धेः स शमं नोपयास्यति ॥ १० ॥

'दुर्बुद्धि दुर्योधनको तो इस बातका भी दृढ़ विश्वास है कि अकेला कर्ण ही शत्रुओंको जीतनेमें समर्थ है; इसलिये वह कदापि संधि नहीं करेगा ॥ १० ॥

संविच्च धार्तराष्ट्राणां सर्वेषामेव केशव ।
शमे प्रयतमानस्य तव सौभ्रात्रकाङ्क्षिणः ॥ ११ ॥
न पाण्डवानामस्माभिः प्रतिदेयं यथोचितम् ।
इति व्यवसितास्तेषु वचनं स्यान्निरर्थकम् ॥ १२ ॥

'केशव ! धृतराष्ट्रके सभी पुत्रोंने यह पक्का विचार कर लिया है कि हमें पाण्डवोंको उनका यथोचित राज्यभाग नहीं देना चाहिये । यही उनका दृढ़ निश्चय है । इधर आप संधिके लिये प्रयत्न करते हुए उनमें उत्तम भ्रातृभाव जगाना चाहते हैं; परंतु उन दुष्टोंके प्रति आप जो कुछ भी कहेंगे, वह सब व्यर्थ ही होगा ॥ ११-१२ ॥

यत्र सूक्तं दुरुक्तं च समं स्यान्मधुसूदन ।
न तत्र प्रलपेत् प्राज्ञो बधिरेष्विव गायनः ॥ १३ ॥

'मधुसूदन ! जहाँ अच्छी और बुरी बातोंका एक-सा ही परिणाम हो, वहाँ विद्वान् पुरुषको कुछ नहीं कहना चाहिये । वहाँ कोई बात कहना बहरोंके आगे राग अलापनेके समान व्यर्थ ही है ॥ १३ ॥

अविजानत्सु मूढेषु निर्मर्यादेषु माधव ।
न त्वं वाक्यं ब्रुवन् युक्तश्चाण्डालेषु द्विजो यथा ॥ १४ ॥

'माधव ! जैसे चाण्डालोंके बीचमें किसी विद्वान् ब्राह्मण-का उपदेश देना उचित नहीं है, उसी प्रकार उन मर्यादारहित मूर्ख और अज्ञानियोंके समीप आपका कुछ भी कहना मुझे ठीक नहीं जान पड़ता ॥ १४ ॥

सोऽयं बलस्थो मूढश्च न करिष्यति ते वचः ।
तस्मिन् निरर्थकं वाक्यमुक्तं सम्पत्स्यते तव ॥ १५ ॥

'मूढ़ दुर्योधन सैन्यसंग्रह करके अपनेको शक्तिशाली समझता है । वह आपकी बात नहीं मानेगा । उसके प्रति कहा हुआ आपका प्रत्येक वाक्य निरर्थक होगा ॥ १५ ॥

तेषां समुपविष्टानां सर्वेषां पापचेतसाम् ।
तव मध्यावतरणं मम कृष्ण न रोचते ॥ १६ ॥
दुर्बुद्धीनामशिष्टानां बहूनां दुष्टचेतसाम् ।
प्रतीपं वचनं मध्ये तव कृष्ण न रोचते ॥ १७ ॥

'श्रीकृष्ण ! वे सभी पापपूर्ण विचार लेकर बैठे हुए हैं; अतः उनके बीचमें आपका जाना मुझे अच्छा नहीं लगता है । वे सब-के-सब दुर्बुद्धि, अशिष्ट और दुष्टचित्त हैं । उनकी संख्या भी बहुत है । श्रीकृष्ण ! आप उनके बीचमें जाकर कोई प्रतिकूल बात कहें ; यह मुझे ठीक नहीं जान पड़ता ॥

अनुपासितवृद्धत्वाच्छ्रियो दर्पाच्च मोहितः ।
वयोदर्पादमर्षाच्च न ते श्रेयो ग्रहीष्यति ॥ १८ ॥

'दुर्योधनने कभी वृद्ध पुरुषोंका सेवन नहीं किया है । वह राज्यलक्ष्मीके घमण्डसे मोहित है । इसके सिवा उसे अपनी युवावस्थापर भी गर्व है और वह पाण्डवोंके प्रति सदा अमर्ष-में भरा रहता है । अतः आपकी हितकर बात भी वह नहीं मानेगा ॥ १८ ॥

बलं बलवदप्यस्य यदि वक्ष्यसि माधव ।
त्वय्यस्य महती शङ्का न करिष्यति ते वचः ॥ १९ ॥

'माधव ! दुर्योधनके पास प्रबल सैन्यबल है । इसके सिवा आपपर उसे महान् संदेह है । अतः आप यदि उससे अच्छी बात कहेंगे, तो भी वह आपकी बात नहीं मानेगा ॥ १९ ॥

नेदमद्य युधा शक्यमिन्द्रेणापि सहामरैः ।
इति व्यवसिताः सर्वे धार्तराष्ट्रा जनार्दन ॥ २० ॥

'जनार्दन ! धृतराष्ट्रके सभी पुत्रोंको यह दृढ़ विश्वास है कि देवताओंसहित इन्द्र भी इस समय युद्धके द्वारा हमारी इस सेनाको परास्त नहीं कर सकते ॥ २० ॥

तेष्वेवमुपपन्नेषु कामक्रोधानुवर्तिषु ।
समर्थमपि ते वाक्यमसमर्थं भविष्यति ॥ २१ ॥

'जो इस प्रकार निश्चय किये बैठे हैं और काम-क्रोधके ही पीछे चलनेवाले हैं, उनके प्रति आपका युक्तियुक्त एवं सार्थक वचन भी निरर्थक एवं असफल हो जायगा ॥ २१ ॥

मध्ये तिष्ठन् हस्त्यनीकस्य मन्दो
रथाश्वयुक्तस्य बलस्य मूढः ।
दुर्योधनो मन्यते वीतभीतिः
कृत्स्ना मयेयं पृथिवी जितेति ॥ २२ ॥

'रथियों और घुड़सवारोंसे युक्त हाथियोंकी सेनाके बीचमें खड़ा होकर भयसे रहित हुआ मन्दबुद्धि मूढ़ दुर्योधन यह समझता है कि यह सारी पृथ्वी मैंने जीत ली ॥ २२ ॥

आशंसते वै धृतराष्ट्रस्य पुत्रो
महाराज्यमसपत्नं पृथिव्याम् ।
तस्मिञ्छमः केवलो नोपलभ्यो
बद्धं सन्तं मन्यते लब्धमर्थम् ॥ २३ ॥

'धृतराष्ट्रका वह ज्येष्ठ पुत्र भूमण्डलका शत्रुरहित साम्राज्य पानेकी आशा रखता है । वह मन-ही-मन यह संकल्प भी करता है कि जूएमें प्राप्त हुआ यह धन एवं राज्य अब मेरे ही अधिकारमें आबद्ध रहे; अतः उसके प्रति केवल संधिका प्रयत्न सफल न होगा ॥ २३ ॥

पर्यस्तेयं पृथिवी कालपक्वा
दुर्योधनार्थे पाण्डवान् योद्धुकामाः ।
समागताः सर्वयोधाः पृथिव्यां
राजानश्च क्षितिपालैः समेताः ॥ २४ ॥

'जान पड़ता है, अब यह पृथ्वी कालसे परिपक्व होकर नष्ट होनेवाली है; क्योंकि राजाओंके साथ भूमण्डलके समस्त क्षत्रिय योद्धा दुर्योधनके लिये पाण्डवोंके साथ युद्ध करनेकी इच्छासे यहाँ एकत्र हुए हैं ॥ २४ ॥

सर्वे चैते कृतवैराः पुरस्तात्
त्वया राजानो हृतसाराश्च कृष्ण ।
तवोद्वेगात् संश्रिता धार्तराष्ट्रान्
सुसंहताः सह कर्णेन वीराः ॥ २५ ॥

'श्रीकृष्ण ! ये सब-के-सब वे ही भूपाल हैं, जिन्होंने पहले आपके साथ वैर ठाना था और जिनका सार-सर्वस्व आपने हर लिया था । ये लोग आपके भयसे धृतराष्ट्रपुत्रोंकी शरणमें आये हैं तथा कर्णके साथ संगठित हो वीरता दिखानेको उद्यत हुए हैं ॥ २५ ॥

त्यक्तात्मानः सह दुर्योधनेन
हृष्टा योद्धुं पाण्डवान् सर्वयोधाः ।
तेषां मध्ये प्रविशेथा यदि त्वं
न तन्मतं मम दाशार्ह वीर ॥ २६ ॥

'ये सब योद्धा दुर्योधनके साथ मिल गये हैं और अपने प्राणोंका मोह छोड़कर हर्ष एवं उत्साहके साथ पाण्डवोंसे युद्ध करनेको तैयार हैं । दशार्हवंशी वीर ! ऐसे विरोधियोंके बीचमें यदि आप जानेको उद्यत हैं तो यह मुझे ठीक नहीं जान पड़ता ॥

तेषां समुपविष्टानां बहूनां दुष्टचेतसाम् ।
कथं मध्यं प्रपद्येथाः शत्रूणां शत्रुकर्शन ॥ २७ ॥
सर्वथा त्वं महाबाहो देवैरपि दुरुत्सहः ।
प्रभावं पौरुषं बुद्धिं जानामि तव शत्रुहन् ॥ २८ ॥
या मे प्रीतिः पाण्डवेषु भूयः सा त्वयि माधव ।
प्रेम्णा च बहुमानाच्च सौहृदाच्च ब्रवीम्यहम् ॥ २९ ॥

'शत्रुसूदन ! जहाँ दुष्टतापूर्ण विचार लिये बहुसंख्यक शत्रु बैठे हों, वहाँ उनके बीच आप कैसे जाना चाहते हैं ? शत्रुहन्ता महाबाहु श्रीकृष्ण ! यद्यपि सम्पूर्ण देवता भी सर्वथा आपके सामने टिक नहीं सकते हैं तथा आपका जो प्रभाव, पुरुषार्थ और बुद्धिबल है, उसे भी मैं जानता हूँ; तथापि माधव ! पाण्डवोंपर जो मेरा प्रेम है, वही और उससे भी बढ़कर आपके प्रति है । अतः प्रेम, अधिक आदर और सौहार्दसे प्रेरित होकर मैं यह बात कह रहा हूँ ॥ २७–२९ ॥

या मे प्रीतिः पुष्कराक्ष त्वद्दर्शनसमुद्भवा ।
सा किमाख्यायते तुभ्यमन्तरात्मासि देहिनाम् ॥ ३० ॥

'कमलनयन ! आपके दर्शनसे आपके प्रति मेरा जो प्रेम उमड़ आया है, उसका आपसे क्या वर्णन किया जाय ? आप समस्त देहधारियोंके अन्तर्यामी आत्मा हैं (अतः स्वयं ही सब कुछ देखते और जानते हैं)' ॥ ३० ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि श्रीकृष्णविदुरसंवादे द्विनवतितमोऽध्यायः ॥ ९२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें श्रीकृष्ण-विदुरसंवादविषयक बानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ९२ ॥

त्रिनवतितमोऽध्यायः

श्रीकृष्णका कौरव-पाण्डवोंमें संधिस्थापनके प्रयत्नका औचित्य बताना

(वैशम्पायन उवाच

विदुरस्य वचः श्रुत्वा प्रश्रितं पुरुषोत्तमः ।
इदं होवाच वचनं भगवान् मधुसूदनः ॥)

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! विदुरका यह प्रेम और विनयसे युक्त वचन सुनकर पुरुषोत्तम भगवान् मधुसूदनने यह बात कही ॥

श्रीभगवानुवाच

यथा ब्रूयान्महाप्राज्ञो यथा ब्रूयाद् विचक्षणः ।
यथा वाच्यस्त्वद्विधेन भवता मद्विधः सुहृत् ॥ १ ॥
धर्मार्थयुक्तं तथ्यं च यथा त्वय्युपपद्यते ।
तथा वचनमुक्तोऽस्मि त्वयैतत् पितृमातृवत् ॥ २ ॥

श्रीभगवान् बोले—विदुरजी ! एक महान् बुद्धिमान्

पुरुष जैसी बात कह सकता है, विद्वान् मनुष्य जैसी सलाह दे सकता है, आप-जैसे हितैषी पुरुषके लिये मेरे-जैसे सुहृद्से जैसी बात कहनी उचित है और आपके मुखसे जैसा धर्म और अर्थसे युक्त सत्य वचन निकलना चाहिये, आपने माता-पिताके समान स्नेहपूर्वक वैसी ही बात मुझसे कही है ॥ १-२ ॥

सत्यं प्राप्तं च युक्तं चाप्येवमेव यथाऽऽत्थ माम्।
शृणुष्वागमने हेतुं विदुरावहितो भव ॥ ३ ॥

आपने मुझसे जो कुछ कहा है, वही सत्य, समयोचित और युक्तिसंगत है । तथापि विदुरजी ! यहाँ मेरे आनेका जो कारण है, उसे सावधान होकर सुनिये ॥ ३ ॥

दौरात्म्यं धार्तराष्ट्रस्य क्षत्रियाणां च वैरताम्।
सर्वमेतदहं जानन् क्षत्तः प्राप्तोऽद्य कौरवान् ॥ ४ ॥

विदुरजी ! मैं धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधनकी दुष्टता और क्षत्रिय योद्धाओंके वैर-भाव—इन सब बातोंको जानकर ही आज कौरवोंके पास आया हूँ ॥ ४ ॥

पर्यस्तां पृथिवीं सर्वां साश्वां सरथकुञ्जराम् ।
यो मोचयेन्मृत्युपाशात् प्राप्नुयाद् धर्ममुत्तमम् । ५ ।

अश्व, रथ और हाथियोंसहित यह सारी पृथ्वी विनष्ट होना चाहती है । जो इसे मृत्युपाशसे छुड़ानेका प्रयत्न करेगा, उसे ही उत्तम धर्म प्राप्त होगा ॥ ५ ॥

धर्मकार्यं यतञ्छक्त्या नो चेत् प्राप्नोति मानवः।
प्राप्तो भवति तत् पुण्यमत्र मे नास्ति संशयः ॥ ६ ॥

मनुष्य यदि अपनी शक्तिभर किसी धर्मकार्यको करनेका प्रयत्न करते हुए भी उसमें सफलता न प्राप्त कर सके, तो भी उसे उसका पुण्य तो अवश्य ही प्राप्त हो जाता है । इस विषयमें मुझे संदेह नहीं है ॥ ६ ॥

मनसा चिन्तयन् पापं कर्मणा नातिरोचयन् ।
न प्राप्नोति फलं तस्येत्येवं धर्मविदो विदुः ॥ ७ ॥

इसी प्रकार यदि मनुष्य मनसे पापका चिन्तन करते हुए भी उसमें रुचि न होनेके कारण उसे क्रियाद्वारा सम्पादित न करे, तो उसे उस पापका फल नहीं मिलता है। ऐसा धर्मज्ञ पुरुष जानते हैं ॥ ७ ॥

सोऽहं यतिष्ये प्रशमं क्षत्तः कर्तुममायया ।
कुरूणां सृञ्जयानां च संग्रामे विनशिष्यताम् ॥ ८ ॥

अतः विदुरजी ! मैं युद्धमें मर मिटनेको उद्यत हुए कौरवों तथा सृञ्जयोंमें संधि करानेका निश्छलभावसे प्रयत्न करूँगा ॥ ८ ॥

सेयमापन्महाघोरा कुरुष्वेव समुत्थिता ।
कर्णदुर्योधनकृता सर्वे ह्येते तदन्वयाः ॥ ९ ॥

यह अत्यन्त भयंकर आपत्ति कर्ण और दुर्योधनद्वारा ही उपस्थित की गयी है; क्योंकि ये सभी नरेश इन्हीं दोनोंका अनुसरण करते हैं । अतः इस विपत्तिका प्रादुर्भाव कौरव-पक्षमें ही हुआ है ॥ ९ ॥

व्यसने क्लिश्यमानं हि यो मित्रं नाभिपद्यते ।
अनुनीय यथाशक्ति तं नृशंसं विदुर्बुधाः ॥ १० ॥

जो किसी व्यसन या विपत्तिमें पड़कर क्लेश उठाते हुए मित्रको यथाशक्ति समझा-बुझाकर उसका उद्धार नहीं करता है, उसे विद्वान् पुरुष निर्दय एवं क्रूर मानते हैं ॥ १० ॥

आकेशग्रहणान्मित्रमकार्यात् संनिवर्तयन् ।
अवाच्यः कस्यचिद् भवति कृतयत्नो यथाबलम् ॥ ११ ॥

जो अपने मित्रको उसकी चोटी पकड़कर भी बुरे कार्यसे हटानेके लिये यथाशक्ति प्रयत्न करता है, वह किसीकी निन्दाका पात्र नहीं होता है ॥ ११ ॥

तत् समर्थं शुभं वाक्यं धर्मार्थसहितं हितम् ।
धार्तराष्ट्रः सहामात्यो ग्रहीतुं विदुरार्हति ॥ १२ ॥

अतः विदुरजी ! दुर्योधन और उसके मन्त्रियोंको मेरी शुभ, हितकर, युक्तियुक्त तथा धर्म और अर्थके अनुकूल बात अवश्य माननी चाहिये ॥ १२ ॥

हितं हि धार्तराष्ट्राणां पाण्डवानां तथैव च ।
पृथिव्यां क्षत्रियाणां च यतिष्येऽहममायया ॥ १३ ॥

मैं तो निष्कपटभावसे धृतराष्ट्रके पुत्रों, पाण्डवों तथा भूमण्डलके सभी क्षत्रियोंके हितका ही प्रयत्न करूँगा ॥ १३ ॥

हिते प्रयतमानं मां शङ्केद् दुर्योधनो यदि ।
हृदयस्य च मे प्रीतिरानृण्यं च भविष्यति ॥ १४ ॥

इस प्रकार हितसाधनके लिये प्रयत्न करनेपर भी यदि दुर्योधन मुझपर शङ्का करेगा तो भी मेरे मनको तो प्रसन्नता ही होगी और मैं अपने कर्तव्यके भारसे उऋण हो जाऊँगा ॥

ज्ञातीनां हि मिथो भेदे यन्मित्रं नाभिपद्यते ।
सर्वयत्नेन माध्यस्थ्यं न तन्मित्रं विदुर्बुधाः ॥ १५ ॥

भाई-बन्धुओंमें परस्पर फूट होनेका अवसर आनेपर जो मित्र सर्वथा प्रयत्न करके उनमें मेल करानेके लिये मध्यस्थता नहीं करता, उसे विद्वान् पुरुष मित्र नहीं मानते हैं ॥ १५ ॥

न मां ब्रूयुरधर्मिष्ठा मूढा ह्यसुहृदस्तथा ।
शक्तो नावारयत् कृष्णः संरब्धान् कुरुपाण्डवान् ॥

संसारके पापी, मूढ़ और शत्रुभाव रखनेवाले लोग मेरे विषयमें यह न कहें कि श्रीकृष्णने समर्थ होते हुए भी क्रोधसे भरे हुए कौरव-पाण्डवोंको युद्धसे नहीं रोका (इसलिये भी मैं संधि करानेका प्रयत्न करूँगा) ॥ १६ ॥

उभयोः साधयन्नर्थमहमागत इत्युत ।
तत्र यत्नमहं कृत्वा गच्छेयं नृष्ववाच्यताम् ॥ १७ ॥

मैं दोनों पक्षोंका स्वार्थ सिद्ध करनेके लिये ही यहाँ आया हूँ। इसके लिये पूरा प्रयत्न कर लेनेपर मैं लोगोंमें निन्दाका पात्र नहीं बनूँगा ॥ १७ ॥

मम धर्मार्थयुक्तं हि श्रुत्वा वाक्यमनामयम्।
न चेदादास्यते बालो दिष्टस्य वशमेष्यति ॥ १८ ॥

यदि मूर्ख दुर्योधन मेरे कष्टनिवारक एवं धर्म तथा अर्थके अनुकूल वचनोंको सुनकर भी उन्हें ग्रहण नहीं करेगा तो उसे दुर्भाग्यके अधीन होना पड़ेगा ॥ १८ ॥

अहापयन् पाण्डवार्थं यथाव-
च्छमं कुरूणां यदि चाचरेयम्।
पुण्यं च मे स्याच्चरितं महात्मन्
मुच्येरंश्च कुरवो मृत्युपाशात् ॥ १९ ॥

महात्मन्! यदि मैं पाण्डवोंके स्वार्थमें बाधा न आने देकर कौरवों तथा पाण्डवोंमें यथायोग्य संधि करा सकूँगा तो मेरे द्वारा यह महान् पुण्यकर्म बन जायगा और कौरव भी मृत्युके पाशसे मुक्त हो जायँगे ॥ १९ ॥

अपि वाचं भाषमाणस्य काव्यां
धर्मारामामर्थवतीमहिंस्राम् ।
अवेक्षेरन् धार्तराष्ट्राः शमार्थं
मां च प्राप्तं कुरवः पूजयेयुः ॥ २० ॥

मैं शान्तिके लिये विद्वानोंद्वारा अनुमोदित धर्म और अर्थके अनुकूल हिंसारहित बात कहूँगा। यदि धृतराष्ट्रके पुत्र मेरी बातपर ध्यान देंगे तो उसे अवश्य मानेंगे तथा कौरव भी मुझे वास्तवमें शान्तिस्थापनके लिये ही आया हुआ जान मेरा आदर करेंगे ॥ २० ॥

न चापि मम पर्याप्ताः सहिताः सर्वपार्थिवाः।
क्रुद्धस्य प्रमुखे स्थातुं सिंहस्येवेतरे मृगाः ॥ २१ ॥

जैसे क्रोधमें भरे हुए सिंहके सामने दूसरे पशु नहीं ठहर सकते, उसी प्रकार यदि मैं कुपित हो जाऊँ तो ये समस्त राजा लोग एक साथ मिलकर भी मेरा सामना करनेमें समर्थ न होंगे ॥ २१ ॥

वैशम्पायन उवाच

इत्येवमुक्त्वा वचनं वृष्णीनामृषभस्तदा।
शयने सुखसंस्पर्शे शिश्ये यदुसुखावहः ॥ २२ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! यदुकुलको सुख देनेवाले वृष्णिवंशविभूषण श्रीकृष्ण विदुरजीसे उपर्युक्त बात कहकर स्पर्शमात्रसे सुख देनेवाली शय्यापर सो गये ॥ २२ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि श्रीकृष्णवाक्ये त्रिनवतितमोऽध्यायः ॥ ९३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें श्रीकृष्णवाक्यविषयक तिरानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ९३ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका १ श्लोक मिलाकर कुल २३ श्लोक हैं)

चतुर्नवतितमोऽध्यायः

दुर्योधन एवं शकुनिके द्वारा बुलाये जानेपर भगवान् श्रीकृष्णका रथपर बैठकर प्रस्थान एवं कौरवसभामें प्रवेश और स्वागतके पश्चात् आसनग्रहण

वैशम्पायन उवाच

तथा कथयतोरेव तयोर्बुद्धिमतोस्तदा।
शिवा नक्षत्रसम्पन्ना सा व्यतीयाय शर्वरी ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! उस समय बुद्धिमान् श्रीकृष्ण तथा विदुरके इस प्रकार वार्तालाप करते हुए ही वह नक्षत्रोंसे सुशोभित मङ्गलमयी रात्रि बहुत-सी व्यतीत हो चुकी थी ॥ १ ॥

धर्मार्थकामयुक्ताश्च विचित्रार्थपदाक्षराः ।
शृण्वतो विविधा वाचो विदुरस्य महात्मनः ॥ २ ॥
कथाभिरनुरूपाभिः कृष्णस्यामिततेजसः ।
अकामस्येव कृष्णस्य सा व्यतीयाय शर्वरी ॥ ३ ॥

महात्मा श्रीकृष्ण धर्म, अर्थ और कामके विषयमें अनेक प्रकारकी बातें कहते रहे। उनकी वाणीके पद, अर्थ और अक्षर बड़े विचित्र थे; अतः महात्मा विदुर भगवान्की कही हुई उन विविध वार्ताओंको प्रसन्नतापूर्वक सुनते रहे। इस प्रकार अमिततेजस्वी श्रीकृष्ण और विदुर दोनों ही एक दूसरेकी मनोनुकूल कथावार्तामें इतने तन्मय थे कि बिना इच्छाके ही उनकी वह रात्रि बहुत-सी व्यतीत हो गयी थी ॥ २-३ ॥

ततस्तु स्वरसम्पन्ना बहवः सूतमागधाः।
शङ्खदुन्दुभिनिर्घोषैः केशवं प्रत्यबोधयन् ॥ ४ ॥

तदनन्तर मधुर स्वरसे युक्त बहुत-से सूत और मागध शङ्ख और दुन्दुभियोंके घोषसे भगवान् श्रीकृष्णको जगाने लगे ॥ ४ ॥

तत उत्थाय दाशार्ह ऋषभः सर्वसात्वताम्।
सर्वमावश्यकं चक्रे प्रातःकार्यं जनार्दनः ॥ ५ ॥

तब समस्त यदुवंशियोंके शिरोमणि दशार्हनन्दन श्रीकृष्णने शय्यासे उठकर प्रातःकालका समस्त आवश्यक कर्म क्रमशः सम्पन्न किया ॥ ५ ॥

कृतोदकानुजप्यः स हुताग्निः समलंकृतः ।
ततश्चादित्यमुद्यन्तमुपातिष्ठत माधवः ॥ ६ ॥

संध्या-तर्पण और जप करके अग्निहोत्र करनेके पश्चात् माधवने अलंकृत होकर उदयकालमें सूर्यका उपस्थान किया ॥ ६ ॥

अथ दुर्योधनः कृष्णं शकुनिश्चापि सौबलः ।
संध्यां तिष्ठन्तमभ्येत्य दाशार्हमपराजितम् ॥ ७ ॥
आचक्षेतां तु कृष्णस्य धृतराष्ट्रं सभागतम् ।
कुरूंश्च भीष्मप्रमुखान् राज्ञः सर्वांश्च पार्थिवान् ॥ ८ ॥
त्वामर्थयन्ते गोविन्द दिवि शक्रमिवामराः ।
तावभ्यनन्दद् गोविन्दः साम्ना परमवल्गुना ॥ ९ ॥

इसी समय राजा दुर्योधन और सुबलपुत्र शकुनि भी संध्योपासनामें लगे हुए अपराजित वीर दशार्हनन्दन श्रीकृष्णके पास आये और उनसे इस प्रकार बोले—'गोविन्द ! महाराज धृतराष्ट्र सभामें आ गये हैं । भीष्म आदि कौरव तथा अन्य समस्त भूपाल भी वहाँ उपस्थित हैं । जैसे स्वर्गमें देवता इन्द्रका आवाहन करते हैं, इसी प्रकार भीष्म आदि सब लोग आपसे वहाँ दर्शन देनेकी प्रार्थना करते हैं ।' यह सुनकर भगवान् श्रीकृष्णने परम मधुर सान्त्वनापूर्ण वचन-द्वारा उन दोनोंका अभिनन्दन किया ॥ ७—९ ॥

ततो विमल आदित्ये ब्राह्मणेभ्यो जनार्दनः ।
ददौ हिरण्यं वासांसि गाश्चाश्वांश्च परंतपः ॥ १० ॥
विसृज्य बहुरत्नानि दाशार्हमपराजितम् ।
तिष्ठन्तमुपसंगम्य ववन्दे सारथिस्तदा ॥ ११ ॥

तदनन्तर निर्मल सूर्यदेवका उदय हो जानेपर शत्रुओंको संताप देनेवाले भगवान् जनार्दनने ब्राह्मणोंको सुवर्ण, वस्त्र, गौ तथा घोड़े दान किये । अनेक प्रकारके रत्नोंका दान करके खड़े हुए उन अपराजित दाशार्ह वीरके पास जाकर सारथिने उनके चरणोंमें मस्तक झुकाया ॥ १०-११ ॥

ततो रथेन शुभ्रेण महता किङ्किणीकिना ।
हयोत्तमयुजा शीघ्रमुपातिष्ठत दारुकः ॥ १२ ॥

इसके बाद क्षुद्र घण्टिकाओंसे विभूषित और उत्तम घोड़ोंसे जुते हुए चमकीले विशाल रथके साथ दारुक शीघ्र ही भगवान्‌की सेवामें उपस्थित हुआ ॥ १२ ॥

(तस्मै रथवरो युक्तः शुशुभे लोकविश्रुतः ।
वाजिभिः शैब्यसुग्रीवमेघपुष्पबलाहकैः ॥

भगवान्‌के लिये जोतकर खड़ा किया हुआ वह विश्वविख्यात श्रेष्ठ रथ बड़ी शोभा पा रहा था । उसमें शैब्य, सुग्रीव, मेघपुष्प और बलाहक नामवाले चार घोड़े जुते हुए थे ॥

शैब्यस्तु शुकपत्राभः सुग्रीवः किंशुकप्रभः ।
मेघपुष्पो मेघवर्णः पाण्डुरस्तु बलाहकः ॥

उनमेंसे शैब्यका रङ्ग तोतेकी पाँखके समान हरा था । सुग्रीव पलासके फूलकी भाँति लाल था । मेघपुष्पकी कान्ति मेघोंके ही समान थी और बलाहक सफेद था ॥

दक्षिणं चावहच्छैब्यः सुग्रीवः सव्यतोऽवहत् ।
पृष्ठवाहौ तयोरास्तां मेघपुष्पबलाहकौ ॥

शैब्य दाहिने भागमें जुतकर उस रथका वहन करता था और सुग्रीव बाँयें भागमें । मेघपुष्प और बलाहक क्रमशः इनके पीछे जुते हुए थे ॥

वैनतेयः स्थितस्तस्यां प्रभाकरमिव स्पृशन् ।
तस्य सत्त्ववतः केतौ भुजगारिरशोभत ॥

सत्त्वगुणके अधिष्ठानस्वरूप भगवान् श्रीकृष्णके रथमें लगे हुए ध्वजदण्डकी उस पताकामें सूर्यका स्पर्श करते हुए-से सर्पशत्रु विनतानन्दन गरुड विराज रहे थे ॥

तस्य कीर्तिमतस्तेन भास्वरेण विराजता ।
शुशुभे स्यन्दनश्रेष्ठः पतगेन्द्रेण केतुना ॥

कीर्तिमान् श्रीकृष्णका वह श्रेष्ठ रथ उस उज्ज्वल एवं प्रकाशमान गरुडध्वजके द्वारा बड़ी शोभा पा रहा था ॥

रुक्मजालैः पताकाभिः सौवर्णेन च केतुना ।
बभूव स रथश्रेष्ठः कालसूर्य इवोदितः ॥

सोनेकी जालियों, पताकाओं तथा सुवर्णमय ध्वजके द्वारा भगवान्‌का वह उत्तम रथ प्रलयकालमें उदित हुए सूर्यके समान उद्भासित हो रहा था ॥

पक्षिध्वजवितानैश्च रुक्मजालकृतान्तरैः ।
दण्डमार्गविभागैश्च सुकृतैर्विश्वकर्मणा ॥
प्रवालमणिहेमैश्च मुक्तावैडूर्यभूषणैः ।
किङ्किणीशतसङ्घैश्च वालजालकृतान्तरैः ॥
कार्तस्वरमयीभिश्च पद्मिनीभिरलंकृतः ।
शुशुभे स्यन्दनश्रेष्ठस्तापनीयैश्च पादपैः ॥
व्याघ्रसिंहवराहैश्च गोवृषैर्मृगपक्षिभिः ।
ताराभिर्भास्करैश्चापि वारणैश्च हिरण्मयैः ॥
वज्राङ्कुशविमानैश्च कूबरावृत्तसंधिषु ।)

उस रथके गरुडध्वज, चँदोवे, स्वर्णजालविभूषित मध्यभाग तथा पृथक्-पृथक् दण्डमार्गोंका विश्वकर्माने सुन्दर ढंगसे निर्माण किया था । प्रवाल (मूँगा), मणि, सुवर्ण, वैदूर्य, मुक्ता आदि विविध आभूषणों, शत-शत क्षुद्र-घण्टिकाओं तथा वालमणिकी झालरोंसे उस रथके अन्तःप्रदेश सुसज्जित किये गये थे । सुवर्णमय कमलिनियों, तपाये हुए सुवर्णके ही वृक्षों तथा व्याघ्र, सिंह, वराह, वृषभ, मृग, पक्षी, तारा, सूर्य और हाथियोंकी स्वर्णमयी प्रतिमाओंसे उस

श्रेष्ठ रथकी अत्यन्त शोभा हो रही थी। कूबर (युगंधर) की गोलाकार संधियोंमें वज्र, अङ्कुश तथा विमानकी आकृतियों-से उस रथको विभूषित किया गया था ॥

तमुपस्थितमाज्ञाय रथं दिव्यं महामनाः ।
महाभ्रघननिर्घोषं सर्वरत्नविभूषितम् ॥ १३ ॥
अग्निं प्रदक्षिणं कृत्वा ब्राह्मणांश्च जनार्दनः ।
कौस्तुभं मणिमामुच्य श्रिया परमया ज्वलन् ॥ १४ ॥
कुरुभिः संवृतः कृष्णो वृष्णिभिश्चाभिरक्षितः ।
आतिष्ठत रथं शौरिः सर्वयादवनन्दनः ॥ १५ ॥

महान् सजल मेघोंकी गर्जनाके समान गम्भीर शब्द करनेवाले तथा सब प्रकारके रत्नोंसे विभूषित हुए उस दिव्य रथको उपस्थित जान अग्नि एवं ब्राह्मणोंको दाहिने करके, गलेमें कौस्तुभमणि डालकर, अपनी उत्कृष्ट शोभासे प्रकाशित होते हुए, कौरवोंसे घिरकर एवं वृष्णिवंशी वीरोंसे सुरक्षित हो समस्त यादवोंको आनन्द प्रदान करनेवाले महामना शूर-नन्दन जनार्दन श्रीकृष्ण उस रथपर आरूढ़ हुए ॥ १३–१५ ॥



अन्वारुरोह दाशार्हं विदुरः सर्वधर्मवित् ।
सर्वप्राणभृतां श्रेष्ठं सर्वबुद्धिमतां वरम् ॥ १६ ॥

समस्त प्राणियोंमें श्रेष्ठ और सम्पूर्ण बुद्धिमानोंमें उत्तम दशार्हनन्दन श्रीकृष्णके पश्चात् समस्त धर्मोंके ज्ञाता विदुरजी भी उस रथपर जा बैठे ॥ १६ ॥

ततो दुर्योधनः कृष्णं शकुनिश्चापि सौबलः ।
द्वितीयेन रथेनैनमन्वयातां परंतपम् ॥ १७ ॥

तदनन्तर शत्रुओंको संताप देनेवाले श्रीकृष्णके पीछे-पीछे दुर्योधन और सुबलपुत्र शकुनि भी दूसरे रथपर बैठकर चले ॥ १७ ॥

सात्यकिः कृतवर्मा च वृष्णीनां चापरे रथाः ।
पृष्ठतोऽनुययुः कृष्णं गजैरश्वैः रथैरपि ॥ १८ ॥

सात्यकि, कृतवर्मा तथा वृष्णिवंशके दूसरे रथी भी हाथी, घोड़ों तथा रथोंपर बैठकर श्रीकृष्णके पीछे-पीछे गये ॥ १८ ॥

तेषां हेमपरिष्कारैर्युक्ताः परमवाजिभिः ।
गच्छतां घोषिणश्चित्ररथा राजन् विरेजिरे ॥ १९ ॥

राजन् ! उन सबके जाते समय सोनेके आभूषणोंसे विभूषित, उत्तम घोड़ोंसे जुते हुए एवं गम्भीर घोषयुक्त उनके विचित्र रथ बड़ी शोभा पा रहे थे ॥ १९ ॥

सम्मृष्टसंसिक्तरजः प्रतिपेदे महापथम् ।
राजर्षिचरितं काले कृष्णो धीमाञ्छ्रिया ज्वलन् ॥ २० ॥

अपनी दिव्य कान्तिसे प्रकाशित होनेवाले परम बुद्धिमान् भगवान् श्रीकृष्ण यथासमय उस विशाल राजपथपर जा पहुँचे, जिसपर पूर्वकालके राजर्षि यात्रा करते थे। वहाँकी धूल झाड़ दी गयी थी और सर्वत्र जलसे छिड़काव किया गया था ॥ २० ॥

ततः प्रयाते दाशार्हे प्रावाद्यन्तैकपुष्कराः ।
शङ्खाश्च दध्मिरे तत्र वाद्यान्यन्यानि यानि च ॥ २१ ॥

भगवान् श्रीकृष्णके प्रस्थान करनेपर ढोल, शङ्ख तथा दूसरे-दूसरे बाजे एक साथ बज उठे ॥ २१ ॥

प्रवीराः सर्वलोकस्य युवानः सिंहविक्रमाः ।
परिवार्य रथं शौरेरगच्छन्त परंतपाः ॥ २२ ॥

शत्रुओंको संताप देनेवाले, सिंहके समान पराक्रमी तथा सम्पूर्ण जगत्के प्रख्यात तरुण वीर भगवान् श्रीकृष्णके रथ-को घेरकर चलते थे ॥ २२ ॥

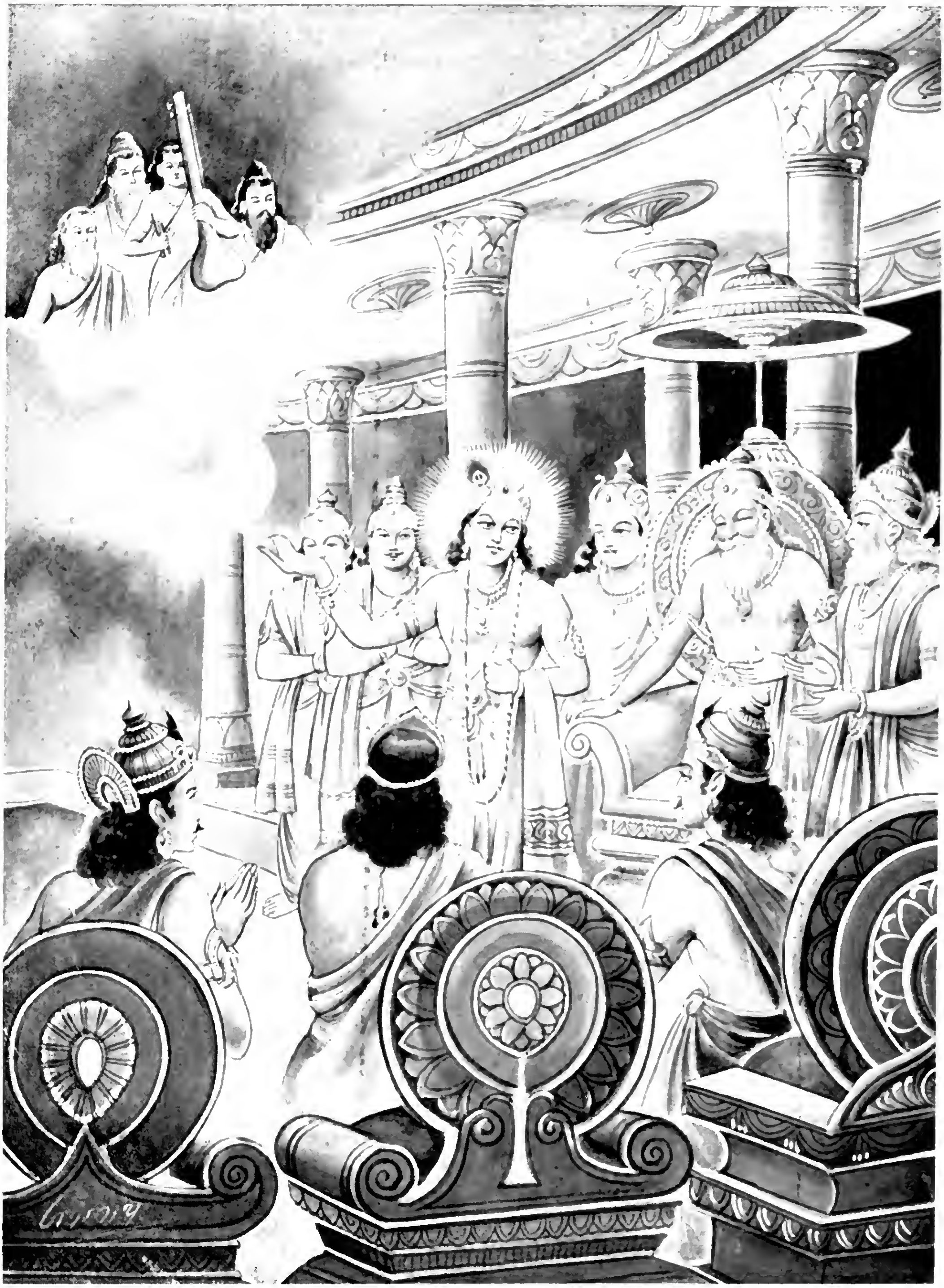
ततोऽन्ये बहुसाहस्रा विचित्राद्भुतवाससः ।
असिप्रासायुधधराः कृष्णस्यासन् पुरःसराः ॥ २३ ॥

श्रीकृष्णके आगे चलनेवाले सैनिकोंकी संख्या कई सहस्र थी। उन सबने विचित्र एवं अद्भुत वस्त्र धारण कर रक्खे थे। उनके हाथोंमें खड्ग और प्रास आदि आयुध शोभा पाते थे ॥ २३ ॥

गजाः पञ्चशतास्तत्र रथाश्चासन् सहस्रशः ।
प्रयान्तमन्वयुर्वीरं दाशार्हमपराजितम् ॥ २४ ॥

किसीसे पराजित न होनेवाले दशार्हवंशी वीर भगवान् श्रीकृष्णके पीछे उस यात्राके समय पाँच सौ हाथी और सहस्रों रथ जा रहे थे ॥ २४ ॥

पुरं कुरूणां संवृत्तं द्रष्टुकामं जनार्दनम् ।
सबालवृद्धं सस्त्रीकं रथ्यागतमरिंदम ॥ २५ ॥



श्रीकृष्णका कौरव-सभामें प्रवेश

'शत्रुदमन जनमेजय ! उस समय भगवान् श्रीकृष्णका दर्शन करनेके लिये बालक, वृद्ध तथा स्त्रियोंसहित कौरवोंका सारा नगर सड़कपर आ गया था ॥ २५ ॥

वेदिकामाश्रिताभिश्च समाक्रान्तान्यनेकशः।
प्रचलन्तीव भारेण योषाद्भिर्भवनान्युत ॥ २६ ॥

छतोंके सड़ककी ओरवाले भागपर बैठी हुई झुंड-की-झुंड स्त्रियोंके भारसे मानो हस्तिनापुरके वे सारे भवन कम्पित-से हो रहे थे ॥ २६ ॥

स पूज्यमानः कुरुभिः संशृण्वन् मधुराः कथाः।
यथार्हं प्रतिसत्कुर्वन् प्रेक्षमाणः शनैर्ययौ ॥ २७ ॥

भगवान् श्रीकृष्ण कौरवोंसे सम्मानित होते हुए, उनकी मीठी-मीठी बातें सुनते हुए और यथायोग्य उनका भी सत्कार करते हुए धीरे-धीरे सबकी ओर देखते जा रहे थे ॥ २७ ॥

ततः सभां समासाद्य केशवस्यानुयायिनः।
सशङ्खैर्वेणुनिर्घोषैर्दिशः सर्वा व्यनादयन् ॥ २८ ॥

कौरवसभाके समीप पहुँचकर श्रीकृष्णके अनुगामी सेवकोंने शङ्ख और वेणु आदि वाद्योंकी ध्वनिसे सम्पूर्ण दिशाओंको गुँजा दिया ॥ २८ ॥

ततः सा समितिः सर्वा राज्ञाममिततेजसाम्।
सम्प्राकम्पत हर्षेण कृष्णागमनकाङ्क्षया ॥ २९ ॥

तत्पश्चात् अमिततेजस्वी राजाओंकी वह सारी सभा भगवान् श्रीकृष्णके शुभागमनकी आकाङ्क्षाके कारण हर्षोल्लास-से चञ्चल हो उठी ॥ २९ ॥

ततोऽभ्याशगते कृष्णे समहृष्यन् नराधिपाः।
श्रुत्वा तं रथनिर्घोषं पर्जन्यनिनदोपमम् ॥ ३० ॥
आसाद्य तु सभाद्वारमृषभः सर्वसात्वताम्।
अवतीर्य रथाच्छौरिः कैलासशिखरोपमात् ॥ ३१ ॥
नवमेघप्रतीकाशां ज्वलन्तीमिव तेजसा।
महेन्द्रसदनप्रख्यां प्रविवेश सभां ततः ॥ ३२ ॥

श्रीकृष्णके निकट आनेपर उनके रथका मेघगर्जनाके समान गम्भीर घोष सुनकर सभी नरेश रोमाञ्चित हो उठे। सभाके द्वारपर पहुँचकर सर्वयादवशिरोमणि भगवान् श्रीकृष्णने कैलासशिखरके समान समुज्ज्वल रथसे नीचे उतरकर नूतन मेघके समान श्याम तथा तेजसे प्रज्वलित-सी होनेवाली इन्द्रभवनतुल्य उस कौरवसभाके भीतर प्रवेश किया ॥ ३०–३२ ॥

पाणौ गृहीत्वा विदुरं सात्यकिं च महायशाः।
ज्योतींष्यादित्यवद् राजन् कुरून् प्राच्छादयञ्छ्रिया ॥

राजन्! जैसे सूर्य अपनी प्रभासे आकाशके तारोंको तिरोहित कर देते हैं, उसी प्रकार महायशस्वी भगवान् श्रीकृष्ण अपनी दिव्य कान्तिसे कौरवोंको आच्छादित करते हुए विदुर और सात्यकिका हाथ पकड़े सभामें आये ॥ ३३ ॥

अग्रतो वासुदेवस्य कर्णदुर्योधनावुभौ।
वृष्णयः कृतवर्मा चाप्यासन् कृष्णस्य पृष्ठतः ॥ ३४ ॥

वसुदेवनन्दन श्रीकृष्णके आगे आगे कर्ण और दुर्योधन थे और उनके पीछे कृतवर्मा तथा अन्य वृष्णिवंशी वीर थे ॥ ३४ ॥

धृतराष्ट्रं पुरस्कृत्य भीष्मद्रोणादयस्ततः।
आसनेभ्योऽचलन् सर्वे पूजयन्तो जनार्दनम् ॥ ३५ ॥

उस समय भीष्म और द्रोणाचार्य आदि सब लोग भगवान् श्रीकृष्णका सम्मान करनेके लिये राजा धृतराष्ट्रको आगे करके अपने आसनोंसे उठकर आगे बढ़े ॥ ३५ ॥



अभ्यागच्छति दाशार्हे प्रज्ञाचक्षुर्नरेश्वरः।
सहैव द्रोणभीष्माभ्यामुदतिष्ठन्महायशाः ॥ ३६ ॥

दशार्हनन्दन श्रीकृष्णके आते ही महायशस्वी प्रज्ञाचक्षु राजा धृतराष्ट्र भीष्म और द्रोणाचार्यके साथ ही उठ गये थे ॥ ३६ ॥

उत्तिष्ठति महाराजे धृतराष्ट्रे जनेश्वरे।
तानि राजसहस्राणि समुत्तस्थुः समन्ततः ॥ ३७ ॥

महाराज धृतराष्ट्रके उठनेपर वहाँ चारों ओर बैठे हुए सहस्रों नरेश उठकर खड़े हो गये ॥ ३७ ॥

आसनं सर्वतोभद्रं जाम्बूनदपरिष्कृतम्।
कृष्णार्थे कल्पितं तत्र धृतराष्ट्रस्य शासनात् ॥ ३८ ॥

राजा धृतराष्ट्रकी आज्ञासे वहाँ भगवान् श्रीकृष्णके लिये

सुवर्णभूषित सर्वतोभद्र नामक सिंहासन रक्खा गया था ॥ ३८ ॥

स्मयमानस्तु राजानं भीष्मद्रोणौ च माधवः।
अभ्यभाषत धर्मात्मा राज्ञश्चान्यान् यथावयः॥ ३९ ॥

उस समय धर्मात्मा भगवान् श्रीकृष्णने मुसकराते हुए राजा धृतराष्ट्र, भीष्म, द्रोणाचार्य तथा अवस्थाके अनुसार अन्य राजाओंसे भी वार्तालाप किया ॥ ३९ ॥

तत्र केशवमानर्चुः सम्यगभ्यागतं सभाम्।
राजानः पार्थिवाः सर्वे कुरवश्च जनार्दनम्॥ ४० ॥

वहाँ सभामें पधारे हुए भगवान् श्रीकृष्णका भूमण्डलके राजाओं तथा सभी कौरवोंने भलीभाँति पूजन किया ॥ ४० ॥

तत्र तिष्ठन् स दाशार्हो राजमध्ये परंतपः।
अपश्यदन्तरिक्षस्थानृषीन् परपुरंजयः ॥
ततस्तानभिसम्प्रेक्ष्य नारदप्रमुखानृषीन्॥ ४१ ॥
अभ्यभाषत दाशार्हो भीष्मं शान्तनवं शनैः।
पार्थिवीं समितिं द्रष्टुमृषयोऽभ्यागता नृप॥ ४२ ॥

राजाओंके बीचमें खड़े हुए शत्रुनगरविजयी परंतप श्रीकृष्णने देखा कि आकाशमें कुछ ऋषि-मुनि खड़े हैं। उन नारद आदि महर्षियोंको देखकर श्रीकृष्णने धीरे-से शान्तनुनन्दन भीष्मसे कहा—'नरेश्वर! इस राज्यसभाको देखनेके लिये ऋषिगण पधारे हैं ॥ ४१-४२ ॥

निमन्त्र्यन्तामासनैश्च सत्कारेण च भूयसा।
नैतेष्वनुपविष्टेषु शक्यं केनचिदासितुम्॥ ४३ ॥

'इन्हें अत्यन्त सत्कारपूर्वक आसन देकर निमन्त्रित किया जाय, क्योंकि इनके बैठे बिना कोई भी बैठ नहीं सकता ॥ ४३ ॥

पूजा प्रयुज्यतामाशु मुनीनां भावितात्मनाम्।
ऋषीञ्छान्तनवो दृष्ट्वा सभाद्वारमुपस्थितान्॥ ४४ ॥
त्वरमाणस्ततो भृत्यानासनानीत्यचोदयत्।

'पवित्र अन्तःकरणवाले इन मुनियोंकी शीघ्र पूजा की जानी चाहिये।' शान्तनुनन्दन भीष्मने मुनियोंको देखकर सभाद्वारपर स्थित हुए राजकर्मचारियोंको बड़ी उतावलीके साथ आज्ञा दी—'अरे! आसन लाओ' ॥ ४४½ ॥

आसनान्यथ मृष्टानि महान्ति विपुलानि च॥ ४५ ॥
मणिकाञ्चनचित्राणि समाजह्रुस्ततस्ततः।

तब सेवकोंने इधर-उधरसे मणि एवं सुवर्ण जड़े हुए शुद्ध, विशाल एवं विस्तृत आसन लाकर रख दिये ॥ ४५½ ॥

तेषु तत्रोपविष्टेषु गृहीतार्घ्येषु भारत॥ ४६ ॥
निषसादासने कृष्णो राजानश्च यथासनम्।

भारत! अर्घ्य ग्रहण करके जब ऋषिलोग उन आसनोंपर बैठ गये, तब भगवान् श्रीकृष्ण तथा अन्य राजाओंने भी अपना-अपना आसन ग्रहण किया ॥ ४६½ ॥

दुःशासनः सात्यकये ददावासनमुत्तमम्॥ ४७ ॥
विविंशतिर्ददौ पीठं काञ्चनं कृतवर्मणे।

दुःशासनने सात्यकिको उत्तम आसन दिया एवं विविंशतिने कृतवर्माको स्वर्णमय आसन प्रदान किया ॥ ४७½ ॥

अविदूरे तु कृष्णस्य कर्णदुर्योधनावुभौ॥ ४८ ॥
एकासने महात्मानौ निषीदतुरमर्षणौ।

अमर्षमें भरे हुए महामना कर्ण और दुर्योधन दोनों एक आसनपर श्रीकृष्णके पास ही बैठे थे ॥ ४८½ ॥

गान्धारराजः शकुनिर्गान्धारैरभिरक्षितः॥ ४९ ॥
निषसादासने राजा सहपुत्रो विशाम्पते।

जनमेजय! गान्धारदेशीय सैनिकोंसे सुरक्षित पुत्रसहित गान्धारराज शकुनि भी एक आसनपर बैठा था ॥ ४९½ ॥

विदुरो मणिपीठे तु शुक्लस्पर्ध्याजिनोत्तरे॥ ५० ॥
संस्पृशन्नासनं शौरेर्महामतिरुपाविशत्।

परम बुद्धिमान् विदुर भगवान् श्रीकृष्णके आसनका स्पर्श करते हुए एक मणिमय चौकीपर, जिसके ऊपर श्वेत रङ्गका स्पृहणीय मृगचर्म बिछाया गया था, बैठे थे ॥ ५०½ ॥

चिरस्य दृष्ट्वा दाशार्हं राजानः सर्व एव ते॥ ५१ ॥
अमृतस्येव नातृप्यन् प्रेक्षमाणा जनार्दनम्।

सब राजा दीर्घकालके पश्चात् दशार्हकुलभूषण भगवान् जनार्दनको देखकर उन्हींकी ओर एकटक दृष्टि लगाये रहे, मानो अमृत पी रहे हों। इस प्रकार उन्हें तृप्ति ही नहीं होती थी ॥ ५१½ ॥

अतसीपुष्पसंकाशः पीतवासा जनार्दनः॥ ५२ ॥
व्यभ्राजत सभामध्ये हेम्नीवोपहितो मणिः॥ ५३ ॥

अलसीके फूलकी भाँति मनोहर श्याम कान्तिवाले पीताम्बरधारी श्रीकृष्ण उस सभाके मध्यभागमें स्वर्णपात्रमें रक्खी हुई नीलमणिके समान शोभा पा रहे थे ॥ ५२-५३ ॥

ततस्तूष्णीं सर्वमासीद् गोविन्दगतमानसम्।
न तत्र कश्चित् किञ्चिद् वा व्याजहार पुमान् क्वचित्॥

उस समय वहाँ सबका मन भगवान् गोविन्दमें ही लगा हुआ था। अतः सभी चुपचाप बैठे थे। कोई मनुष्य कहीं कुछ भी बोल नहीं रहा था ॥ ५४ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि श्रीकृष्णसभाप्रवेशे चतुर्नवतितमोऽध्यायः॥ ९४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें श्रीकृष्णका सभामें प्रवेशविषयक चौरानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ९४ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके १०½ श्लोक मिलाकर कुल ६४½ श्लोक हैं)

पञ्चनवतितमोऽध्यायः

कौरवसभामें श्रीकृष्णका प्रभावशाली भाषण

वैशम्पायन उवाच

तेष्वासीनेषु सर्वेषु तूष्णीम्भूतेषु राजसु।
वाक्यमभ्याददे कृष्णः सुदंष्ट्रो दुन्दुभिस्वनः ॥ १ ॥
जीमूत इव घर्मान्ते सर्वां संश्रावयन् सभाम्।
धृतराष्ट्रमभिप्रेक्ष्य समभाषत माधवः ॥ २ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! जब सभामें सब राजा मौन होकर बैठ गये, तब सुन्दर दन्तावलिसे सुशोभित तथा दुन्दुभिके समान गम्भीर स्वरवाले यदुकुलतिलक भगवान् श्रीकृष्णने बोलना आरम्भ किया। जैसे ग्रीष्मऋतुके अन्तमें बादल गर्जता है, उसी प्रकार उन्होंने गम्भीर गर्जनाके साथ सारी सभाको सुनाते हुए धृतराष्ट्रकी ओर देखकर इस प्रकार कहा ॥ १-२ ॥

श्रीभगवानुवाच

कुरूणां पाण्डवानां च शमः स्यादिति भारत।
अप्रणाशेन वीराणामेतद् याचितुमागतः ॥ ३ ॥

श्रीभगवान् बोले—भरतनन्दन! मैं आपसे यह प्रार्थना करनेके लिये यहाँ आया हूँ कि क्षत्रियवीरोंका संहार हुए बिना ही कौरवों और पाण्डवोंमें शान्तिस्थापन हो जाय। ३।



राजन् नान्यत् प्रवक्तव्यं तव नैःश्रेयसं वचः।
विदितं ह्येव ते सर्वं वेदितव्यमरिंदम ॥ ४ ॥

शत्रुदमन नरेश! मुझे इसके सिवा दूसरी कोई कल्याणकारक बात आपसे नहीं कहनी है; क्योंकि जानने योग्य जितनी बातें हैं, वे सब आपको विदित ही हैं ॥ ४ ॥

इदं ह्यद्य कुलं श्रेष्ठं सर्वराजसु पार्थिव।
श्रुतवृत्तोपसम्पन्नं सर्वैः समुदितं गुणैः ॥ ५ ॥

भूपाल! इस समय समस्त राजाओंमें यह कुरुवंश ही सर्वश्रेष्ठ है। इसमें शास्त्र एवं सदाचारका पूर्णतः आदर एवं पालन किया जाता है। यह कौरवकुल समस्त सद्गुणोंसे सम्पन्न है ॥ ५ ॥

कृपानुकम्पा कारुण्यमानृशंस्यं च भारत।
तथाऽऽर्जवं क्षमा सत्यं कुरुष्वेतद् विशिष्यते॥ ६ ॥

भारत! कुरुवंशियोंमें कृपा[1], अनुकम्पा[2], करुणा[3], अनृशंसता[4], सरलता, क्षमा और सत्य—ये सद्गुण अन्य राजवंशोंकी अपेक्षा अधिक पाये जाते हैं ॥ ६ ॥

तस्मिन्नेवंविधे राजन् कुले महति तिष्ठति।
त्वन्निमित्तं विशेषेण नेह युक्तमसाम्प्रतम् ॥ ७ ॥

राजन्! ऐसे उत्तम गुणसम्पन्न एवं अत्यन्त प्रतिष्ठित कुलके होते हुए भी यदि इसमें आपके कारण कोई अनुचित कार्य हो, तो वह ठीक नहीं है॥ ७ ॥

त्वं हि धारयिता श्रेष्ठः कुरूणां कुरुसत्तम।
मिथ्या प्रचरतां तात बाह्येष्वाभ्यन्तरेषु च ॥ ८ ॥

तात कुरुश्रेष्ठ! यदि कौरवगण बाहर और भीतर (प्रकट और गुप्तरूपसे) मिथ्या आचरण (असद्व्यवहार) करने लगें, तो आप ही उन्हें रोककर सन्मार्गमें स्थापित करनेवाले हैं॥ ८ ॥

ते पुत्रास्तव कौरव्य दुर्योधनपुरोगमाः।
धर्मार्थौ पृष्ठतः कृत्वा प्रचरन्ति नृशंसवत् ॥ ९ ॥

कुरुनन्दन! दुर्योधनादि आपके पुत्र धर्म और अर्थको पीछे करके क्रूर मनुष्योंके समान आचरण करते हैं ॥ ९ ॥

अशिष्टा गतमर्यादा लोभेन हृतचेतसः।
स्वेषु बन्धुषु मुख्येषु तद् वेत्थ पुरुषर्षभ ॥ १० ॥

पुरुषरत्न! ये अपने ही श्रेष्ठ बन्धुओंके साथ अशिष्टतापूर्ण बर्ताव करते हैं। लोभने इनके हृदयको ऐसा वशीभूत

---

१. दूसरोंको सुख पहुँचानेकी सहज भावनाका नाम 'कृपा' है। २. दूसरोंका दुःख देखकर द्रवित होना एवं काँप उठना 'अनुकम्पा' कहलाता है। ३. दूसरोंके दुःखको दूर करनेका भाव 'करुणा' है। ४. क्रूरताका सर्वथा अभाव 'अनृशंसता' कहलाता है।

कर लिया है कि इन्होंने धर्मकी मर्यादा तोड़ दी है। इस बातको आप अच्छी तरह जानते हैं ॥ १० ॥

सेयमापन्महाघोरा कुरुष्वेव समुत्थिता।
उपेक्ष्यमाणा कौरव्य पृथिवीं घातयिष्यति ॥ ११ ॥

कुरुश्रेष्ठ! इस समय यह अत्यन्त भयंकर आपत्ति कौरवोंमें ही प्रकट हुई है। यदि इसकी उपेक्षा की गयी तो यह समस्त भूमण्डलका विध्वंस कर डालेगी ॥ ११ ॥

शक्या चेयं शमयितुं त्वं चेदिच्छसि भारत।
न दुष्करो ह्यत्र शमो मतो मे भरतर्षभ ॥ १२ ॥

भारत! यदि आप चाहते हों तो इस भयानक विपत्तिका अब भी निवारण किया जा सकता है। भरतश्रेष्ठ! इन दोनों पक्षोंमें शान्ति स्थापित होना मैं कठिन कार्य नहीं मानता हूँ ॥ १२ ॥

त्वय्यधीनः शमो राजन् मयि चैव विशाम्पते।
पुत्रान् स्थापय कौरव्य स्थापयिष्याम्यहं परान् ॥ १३ ॥

प्रजापालक कौरवनरेश! इस समय इन दोनों पक्षोंमें संधि कराना आपके और मेरे अधीन है। आप अपने पुत्रोंको मर्यादामें रखिये और मैं पाण्डवोंको नियन्त्रणमें रक्खूँगा॥ १३॥

आज्ञा तव हि राजेन्द्र कार्या पुत्रैः सहान्वयैः।
हितं बलवदप्येषां तिष्ठतां तव शासने ॥ १४॥

राजेन्द्र! आपके पुत्रोंको चाहिये कि वे अपने अनुयायियोंके साथ आपकी प्रत्येक आज्ञाका पालन करें। आपके शासनमें रहनेसे ही इनका महान् हित हो सकता है ॥ १४ ॥

तव चैव हितं राजन् पाण्डवानामथो हितम्।
शमे प्रयतमानस्य तव शासनकाङ्क्षिणः ॥१५॥

राजन्! यदि आप अपने पुत्रोंपर शासन करना चाहें और संधिके लिये प्रयत्न करें तो इसीमें आपका भी हित है और इसीसे पाण्डवोंका भी भला हो सकता है ॥ १५ ॥

स्वयं निष्फलमालक्ष्य संविधत्स्व विशाम्पते।
सहायभूता भरतास्तवैव स्युर्जनेश्वर ॥ १६ ॥

प्रजानाथ! पाण्डवोंके साथ वैर और विवादका कोई अच्छा परिणाम नहीं हो सकता; यह विचारकर आप स्वयं ही संधिके लिये प्रयत्न करें। जनेश्वर! ऐसा करनेसे भरतवंशी पाण्डव आपके ही सहायक होंगे ॥ १६ ॥

धर्मार्थयोस्तिष्ठ राजन् पाण्डवैरभिरक्षितः।
न हि शक्यास्तथाभूता यत्नादपि नराधिप ॥ १७ ॥

राजन्! आप पाण्डवोंसे सुरक्षित होकर धर्म और अर्थका अनुष्ठान कीजिये। नरेन्द्र! आपको पाण्डवोंके समान संरक्षक प्रयत्न करनेपर भी नहीं मिल सकते ॥ १७ ॥

न हि त्वां पाण्डवैर्जेतुं रक्ष्यमाणं महात्मभिः।
इन्द्रोऽपि देवैः सहितः प्रसहेत कुतो नृपः ॥ १८ ॥

महात्मा पाण्डवोंसे सुरक्षित होनेपर आपको देवताओंसहित इन्द्र भी नहीं जीत सकते, फिर दूसरे किसी राजाकी तो बात ही क्या है? ॥ १८ ॥

यत्र भीष्मश्च द्रोणश्च कृपः कर्णो विविंशतिः।
अश्वत्थामा विकर्णश्च सोमदत्तोऽथ बाह्लिकः ॥ १९ ॥
सैन्धवश्च कलिङ्गश्च काम्बोजश्च सुदक्षिणः।
युधिष्ठिरो भीमसेनः सव्यसाची यमौ तथा ॥ २० ॥
सात्यकिश्च महातेजा युयुत्सुश्च महारथः।
को नु तान् विपरीतात्मा युद्ध्येत भरतर्षभ ॥ २१ ॥

भरतश्रेष्ठ! जिस पक्षमें भीष्म, द्रोणाचार्य, कृपाचार्य, कर्ण, विविंशति, अश्वत्थामा, विकर्ण, सोमदत्त, बाह्लिक, सिन्धुराज जयद्रथ, कलिङ्गराज, काम्बोजनरेश सुदक्षिण तथा युधिष्ठिर, भीमसेन, अर्जुन, नकुल-सहदेव, महातेजस्वी सात्यकि तथा महारथी युयुत्सु हों; उस पक्षके योद्धाओंसे कौन विपरीत बुद्धिवाला राजा युद्ध कर सकता है?॥१९-२१॥

लोकस्येश्वरतां भूयः शत्रुभिश्चाप्यधृष्यताम्।
प्राप्स्यसि त्वमभित्रघ्न सहितः कुरुपाण्डवैः ॥ २२ ॥

शत्रुसूदन नरेश! कौरव और पाण्डवोंके साथ रहनेपर आप पुनः सम्पूर्ण जगत्के सम्राट् होकर शत्रुओंके लिये अजेय हो जायँगे ॥ २२ ॥

तस्य ते पृथिवीपालास्त्वत्समाः पृथिवीपते।
श्रेयांसश्चैव राजानः संधास्यन्ते परंतप ॥ २३ ॥

शत्रुओंको संताप देनेवाले भूपाल! उस दशामें जो राजा आपके समान या आपसे बड़े हैं, वे भी आपके साथ संधि कर लेंगे ॥ २३ ॥

स त्वं पुत्रैश्च पौत्रैश्च पितृभिर्भ्रातृभिस्तथा।
सुहृद्भिः सर्वतो गुप्तः सुखं शक्ष्यसि जीवितुम् ॥ २४॥

इस प्रकार आप अपने पुत्र, पौत्र, पिता, भाई और सुहृदोंद्वारा सर्वथा सुरक्षित रहकर सुखसे जीवन बिता सकेंगे ॥ २४ ॥

एतानेव पुरोधाय सत्कृत्य च यथा पुरा।
अखिलां भोक्ष्यसे सर्वां पृथिवीं पृथिवीपते ॥ २५ ॥

पृथ्वीपते! यदि आप पहलेकी भाँति इन पाण्डवोंका ही सत्कार करके इन्हें आगे रक्खें तो इस सारी पृथ्वीका उपभोग करेंगे ॥ २५ ॥

एतैर्हि सहितः सर्वैः पाण्डवैः स्वैश्च भारत।
अन्यान् विजेष्यसे शत्रूनेष स्वार्थस्तवाखिलः ॥ २६ ॥

भारत! इन समस्त पाण्डवों तथा अपने पुत्रोंके साथ रह-

कर आप दूसरे शत्रुओंपर भी विजय प्राप्त कर सकेंगे। इस प्रकार आपके सम्पूर्ण स्वार्थकी सिद्धि होगी ॥ २६ ॥

तैरेवोपार्जितां भूमिं भोक्ष्यसे च परंतप।
यदि सम्पत्स्यसे पुत्रैः सहामात्यैर्नराधिप ॥ २७ ॥

शत्रुसंतापी नरेश ! यदि आप मन्त्रियोंसहित अपने समस्त पुत्रों (पाण्डवों और कौरवों) से मिलकर रहेंगे तो उन्हींके द्वारा जीती हुई इस पृथ्वीका राज्य भोगेंगे ॥ २७ ॥

संयुगे वै महाराज दृश्यते सुमहान् क्षयः।
क्षये चोभयतो राजन् कं धर्ममनुपश्यसि ॥ २८ ॥

महाराज ! युद्ध छिड़नेपर तो महान् संहार ही दिखायी देता है। राजन् ! इस प्रकार दोनों पक्षका विनाश करानेमें आप कौन-सा धर्म देखते हैं ? ॥ २८ ॥

पाण्डवैर्निहतैः संख्ये पुत्रैर्वापि महाबलैः।
यद् विन्देथाः सुखं राजंस्तद् ब्रूहि भरतर्षभ ॥ २९ ॥

भरतश्रेष्ठ ! यदि पाण्डव युद्धमें मारे गये अथवा आपके महाबली पुत्र ही नष्ट हो गये तो उस दशामें आपको कौन-सा सुख मिलेगा ? यह बताइये ॥ २९ ॥

शूराश्च हि कृतास्त्राश्च सर्वे युद्धाभिकाङ्क्षिणः।
पाण्डवास्तावकाश्चैव तान् रक्ष महतो भयात् ॥ ३० ॥

पाण्डव तथा आपके पुत्र सभी शूरवीर, अस्त्रविद्याके पारङ्गत तथा युद्धकी अभिलाषा रखनेवाले हैं। आप इन सबकी महान् भयसे रक्षा कीजिये ॥ ३० ॥

न पश्येम कुरून् सर्वान् पाण्डवांश्चैव संयुगे।
क्षीणानुभयतः शूरान् रथिनो रथिभिर्हतान् ॥ ३१ ॥

युद्धके परिणामपर विचार करनेसे हमें समस्त कौरव और पाण्डव नष्टप्राय दिखायी देते हैं। दोनों ही पक्षोंके शूरवीर रथी रथियोंसे ही मारे जाकर नष्ट हो जायँगे ॥ ३१ ॥

समवेताः पृथिव्यां हि राजानो राजसत्तम।
अमर्षवशमापन्ना नाशयेयुरिमाः प्रजाः ॥ ३२ ॥

नृपश्रेष्ठ ! भूमण्डलके समस्त राजा यहाँ एकत्र हो अमर्षमें भरकर इन प्रजाओंका नाश करेंगे ॥ ३२ ॥

त्राहि राजन्निमं लोकं न नश्येयुरिमाः प्रजाः।
त्वयि प्रकृतिमापन्ने शेषः स्यात् कुरुनन्दन ॥ ३३ ॥

कुरुकुलको आनन्दित करनेवाले नरेश ! आप इस जगत्की रक्षा कीजिये; जिससे इन समस्त प्रजाओंका नाश न हो। आपके प्रकृतिस्थ होनेपर ये सब लोग बच जायँगे। ३३।

शुक्ला वदान्या ह्रीमन्त आर्याः पुण्याभिजातयः।
अन्योन्यसचिवा राजंस्तान् पाहि महतो भयात् ॥ ३४ ॥

राजन् ! ये सब नरेश शुद्ध, उदार, लज्जाशील, श्रेष्ठ, पवित्र कुलोंमें उत्पन्न और एक दूसरेके सहायक हैं। आप इन सबकी महान् भयसे रक्षा कीजिये ॥ ३४ ॥

शिवेनेमे भूमिपालाः समागम्य परस्परम्।
सह भुक्त्वा च पीत्वा च प्रतियान्तु यथागृहम् ॥ ३५ ॥

आप ऐसा प्रयत्न कीजिये, जिससे ये भूपाल परस्पर मिलकर तथा एक साथ खा-पीकर कुशलपूर्वक अपने-अपने घरको वापस लौटें ॥ ३५ ॥

सुवाससः स्रग्विणश्च सत्कृता भरतर्षभ।
अमर्षं च निराकृत्य वैराणि च परंतप ॥ ३६ ॥

शत्रुओंको संताप देनेवाले भरतकुलभूषण ! ये राजालोग उत्तम वस्त्र और सुन्दर हार पहनकर अमर्ष और वैरको मनसे निकालकर यहाँसे सत्कारपूर्वक विदा हों ॥ ३६ ॥

हार्दं यत् पाण्डवेष्वासीत् प्राप्तेऽस्मिन्नायुषः क्षये।
तदेव ते भवत्वद्य संधत्स्व भरतर्षभ ॥ ३७ ॥

भरतश्रेष्ठ ! अब आपकी आयु भी क्षीण हो चली है; इस बुढ़ापेमें आपका पाण्डवोंके ऊपर वैसा ही स्नेह बना रहे, जैसा पहले था; अतः संधि कर लीजिये ॥ ३७ ॥

बाला विहीनाः पित्रा ते त्वयैव परिवर्धिताः।
तान् पालय यथान्यायं पुत्रांश्च भरतर्षभ ॥ ३८ ॥

भरतर्षभ ! पाण्डव बाल्यावस्थामें ही पितासे बिछुड़ गये थे। आपने ही उन्हें पाल-पोसकर बड़ा किया; अतः उनका और अपने पुत्रोंका न्यायपूर्वक पालन कीजिये ॥ ३८ ॥

भवतैव हि रक्ष्यास्ते व्यसनेषु विशेषतः।
मा ते धर्मस्तथैवार्थो नश्येत भरतर्षभ ॥ ३९ ॥

भरतभूषण ! आपको ही पाण्डवोंकी सदा रक्षा करनी चाहिये। विशेषतः संकटके अवसरपर तो आपके लिये उनकी रक्षा अत्यन्त आवश्यक है ही। कहीं ऐसा न हो कि पाण्डवोंसे वैर बाँधनेके कारण आपके धर्म और अर्थ दोनों नष्ट हो जायँ ॥ ३९ ॥

आहुस्त्वां पाण्डवा राजन्नभिवाद्य प्रसाद्य च।
भवतः शासनाद् दुःखमनुभूतं सहानुगैः ॥ ४० ॥

राजन् ! पाण्डवोंने आपको प्रणाम करके प्रसन्न करते हुए यह संदेश कहलाया है—'तात ! आपकी आज्ञासे अनुचरोंसहित हमने भारी दुःख सहन किया है ॥ ४० ॥

द्वादशेमानि वर्षाणि वने निर्व्युषितानि नः।
त्रयोदशं तथाज्ञातैः सजने परिवत्सरम् ॥ ४१ ॥

बारह वर्षोंतक हमने निर्जन वनमें निवास किया है और तेरहवाँ वर्ष जनसमुदायसे भरे हुए नगरमें अज्ञात रहकर बिताया है ॥ ४१ ॥

स्थाता नः समये तस्मिन् पितेति कृतनिश्चयाः ।
नाहास्म समयं तात तच्च नो ब्राह्मणा विदुः ॥ ४२ ॥

'तात ! आप हमारे ज्येष्ठ पिता हैं, अतः हमारे विषयमें की हुई अपनी प्रतिज्ञापर डटे रहेंगे (अर्थात् वनवाससे लौटनेपर हमारा राज्य हमें प्रसन्नतापूर्वक लौटा देंगे)—ऐसा निश्चय करके ही हमने वनवास और अज्ञातवासकी शर्तको कभी नहीं तोड़ा है, इस बातको हमारे साथ रहे हुए ब्राह्मणलोग जानते हैं ॥ ४२ ॥

तस्मिन् नः समये तिष्ठ स्थितानां भरतर्षभ ।
नित्यं संक्लेशिता राजन् स्वराज्यांशं लभेमहि ॥ ४३ ॥

'भरतवंशशिरोमणे ! हम उस प्रतिज्ञापर दृढ़तापूर्वक स्थित रहे हैं; अतः आप भी हमारे साथ की हुई अपनी प्रतिज्ञापर डटे रहें । राजन् ! हमने सदा क्लेश उठाया है; अब हमें हमारा राज्यभाग प्राप्त होना चाहिये ॥ ४३ ॥

त्वं धर्ममर्थं संजानन् सम्यङ्नस्त्रातुमर्हसि ।
गुरुत्वं भवति प्रेक्ष्य बहून् क्लेशांस्तितिक्ष्महे ॥ ४४ ॥
स भवान् मातृपितृवदस्मासु प्रतिपद्यताम् ।

'आप धर्म और अर्थके ज्ञाता हैं; अतः हमलोगोंकी रक्षा कीजिये । आपमें गुरुत्व देखकर—आप गुरुजन हैं, यह विचार करके (आपकी आज्ञाका पालन करनेके लिये) हम बहुत-से क्लेश चुपचाप सहते जा रहे हैं; अब आप भी हमारे ऊपर माता-पिताकी भाँति स्नेहपूर्ण बर्ताव कीजिये।४४½।

गुरोर्गरीयसी वृत्तिर्या च शिष्यस्य भारत ॥ ४५ ॥
वर्तामहे त्वयि च तां त्वं च वर्तस्व नस्तथा ।

'भारत ! गुरुजनोंके प्रति शिष्य एवं पुत्रोंका जो बर्ताव होना चाहिये, हम आपके प्रति उसीका पालन करते हैं । आप भी हमलोगोंपर गुरुजनोचित स्नेह रखते हुए तदनुरूप बर्ताव कीजिये ॥ ४५½ ॥

पित्रा स्थापयितव्या हि वयमुत्पथमास्थिताः ॥ ४६ ॥
संस्थापय पथिष्वस्मांस्तिष्ठ धर्मे सुवर्त्मनि ।

'हम पुत्रगण यदि कुमार्गपर जा रहे हों तो पिताके नाते आपका कर्तव्य है कि हमें सन्मार्गमें स्थापित करें । इसलिये आप स्वयं धर्मके सुन्दर मार्गपर स्थित होइये और हमें भी धर्मके मार्गपर ही लाइये' ॥ ४६½ ॥

आहुश्चेमां परिषदं पुत्रास्ते भरतर्षभ ॥ ४७ ॥
धर्मज्ञेषु सभासत्सु नेह युक्तमसाम्प्रतम् ।

भरतश्रेष्ठ ! आपके पुत्र पाण्डवोंने इस सभाके लिये भी यह संदेश दिया है—'आप समस्त सभासद्गण धर्मके ज्ञाता हैं । आपके रहते हुए यहाँ कोई अयोग्य कार्य हो, यह उचित नहीं है ॥ ४७½ ॥

यत्र धर्मो ह्यधर्मेण सत्यं यत्रानृतेन च ॥ ४८ ॥
हन्यते प्रेक्षमाणानां हतास्तत्र सभासदः ।

'जहाँ सभासदोंके देखते-देखते अधर्मके द्वारा धर्मका और मिथ्याके द्वारा सत्यका गला घोंटा जाता हो, वहाँ वे सभासद् नष्ट हुए माने जाते हैं ॥ ४८½ ॥

विद्धो धर्मो ह्यधर्मेण सभां यत्र प्रपद्यते ॥ ४९ ॥
न चास्य शल्यं कृन्तन्ति विद्धास्तत्र सभासदः ।
धर्म एतानारुजति यथा नद्यनुकूलजान् ॥ ५० ॥

'जिस सभामें अधर्मसे विद्ध हुआ धर्म प्रवेश करता है और सभासद्गण उस अधर्मरूपी काँटेको काटकर निकाल नहीं देते हैं, वहाँ उस काँटेसे सभासद् ही विद्ध होते हैं (अर्थात् उन्हें ही अधर्मसे लिप्त होना पड़ता है) । जैसे नदी अपने तटपर उगे हुए वृक्षोंको गिराकर नष्ट कर देती है, उसी प्रकार वह अधर्मविद्ध धर्म ही उन सभासदोंका नाश कर डालता है' ॥ ४९-५० ॥

ये धर्ममनुपश्यन्तस्तूष्णीं ध्यायन्त आसते ।
ते सत्यमाहुर्धर्म्यं च न्याय्यं च भरतर्षभ ॥ ५१ ॥

भरतश्रेष्ठ ! जो पाण्डव सदा धर्मकी ओर ही दृष्टि रखते हैं और उसीका विचार करके चुपचाप बैठे हैं, वे जो आपसमें राज्य लौटा देनेका अनुरोध करते हैं, वह सत्य, धर्मसम्मत और न्यायसंगत है ॥ ५१ ॥

शक्यं किमन्यद् वक्तुं ते दानादन्यज्जनेश्वर ।
ब्रुवन्तु ते महीपालाः सभायां ये समासते ॥ ५२ ॥
धर्मार्थौ सम्प्रधार्यैव यदि सत्यं ब्रवीम्यहम् ।
प्रमुञ्चेमान् मृत्युपाशात् क्षत्रियान् पुरुषर्षभ ॥ ५३ ॥

जनेश्वर ! आपसे पाण्डवोंका राज्य लौटा देनेके सिवा दूसरी कौन-सी बात यहाँ कही जा सकती है । इस सभामें जो भूमिपाल बैठे हैं; वे धर्म और अर्थका विचार करके स्वयं बतावें, मैं ठीक कहता हूँ या नहीं । पुरुषरत्न ! आप इन क्षत्रियोंको मौतके फंदेसे छुड़ाइये ॥ ५२-५३ ॥

प्रशाम्य भरतश्रेष्ठ मा मन्युवशमन्वगाः ।
पित्र्यं तेभ्यः प्रदायांशं पाण्डवेभ्यो यथोचितम् ॥ ५४ ॥
ततः सुपुत्रः सिद्धार्थो भुङ्क्ष्व भोगान् परंतप ।

भरतश्रेष्ठ ! शान्त हो जाइये, क्रोधके वशीभूत न होइये । परंतप ! पाण्डवोंको यथोचित पैतृक राज्यभाग देकर अपने पुत्रोंके साथ सफलमनोरथ हो मनोवाञ्छित भोग भोगिये ॥ ५४½ ॥

अजातशत्रुं जानीषे स्थितं धर्मे सतां सदा ॥ ५५ ॥
सुपुत्रे त्वयि वृत्तिं च वर्तते यां नराधिप ।
दाहितश्च निरस्तश्च त्वामेवोपाश्रितः पुनः ॥ ५६ ॥

नरेश्वर ! आप जानते हैं कि अजातशत्रु युधिष्ठिर सदा सत्पुरुषोंके धर्मपर स्थित हैं । उनका पुत्रोंसहित आपके प्रति जो बर्ताव है, उससे भी आप अपरिचित नहीं हैं । आपलोगोंने उन्हें लाक्षागृहकी आगमें जलवाया तथा राज्य और देशसे निकाल दिया; तो भी वे पुनः आपकी ही शरणमें आये हैं ॥ ५५-५६ ॥

इन्द्रप्रस्थं त्वयैवासौ सपुत्रेण विवासितः ।
स तत्र निवसन् सर्वान् वशमानीय पार्थिवान् ॥ ५७ ॥
त्वन्मुखानकरोत् राजन् न च त्वामत्यवर्तत ।

पुत्रोंसहित आपने ही युधिष्ठिरको यहाँसे निकाल कर इन्द्रप्रस्थका निवासी बनाया । वहाँ रहकर उन्होंने समस्त राजाओंको अपने वशमें किया और उन्हें आपका मुखापेक्षी बना दिया । राजन् ! तो भी युधिष्ठिरने कभी आपकी आज्ञाका उल्लङ्घन नहीं किया ॥ ५७½ ॥

तस्यैवं वर्तमानस्य सौबलेन जिहीर्षता ॥ ५८ ॥
राष्ट्राणि धनधान्यं च प्रयुक्तः परमोपधिः ।

ऐसे साधु बर्ताववाले युधिष्ठिरके राज्य तथा धन-धान्यका अपहरण कर लेनेकी इच्छासे सुबलपुत्र शकुनिने जूएके बहाने अपना महान् कपटजाल फैलाया ॥ ५८½ ॥

स तामवस्थां सम्प्राप्य कृष्णां प्रेक्ष्य सभागताम् ॥ ५९ ॥
क्षत्रधर्मादमेयात्मा नाकम्पत युधिष्ठिरः ।

उस दयनीय अवस्थामें पहुँचकर अपनी महारानी कृष्णाको सभामें (तिरस्कारपूर्वक) लायी गयी देखकर भी महामना युधिष्ठिर अपने क्षत्रियधर्मसे विचलित नहीं हुए ॥ ५९½ ॥

अहं तु तव तेषां च श्रेय इच्छामि भारत ॥ ६० ॥
धर्मादर्थात् सुखाच्चैव मा राजन् नीनशः प्रजाः ।
अनर्थमर्थं मन्वानोऽप्यर्थं चानर्थमात्मनः ॥ ६१ ॥

भारत ! मैं तो आपका और पाण्डवोंका भी कल्याण ही चाहता हूँ । राजन् ! आप समस्त प्रजाको धर्म, अर्थ और सुखसे वञ्चित न कीजिये । इस समय आप अनर्थको ही अर्थ और अर्थको ही अपने लिये अनर्थ मान रहे हैं ॥ ६०-६१ ॥

लोभेऽतिप्रसृतान् पुत्रान् निगृह्णीष्व विशाम्पते ।
स्थिताः शुश्रूषितुं पार्थाः स्थिता योद्धुमरिंदमाः ॥
यत् ते पथ्यतमं राजंस्तस्मिंस्तिष्ठ परंतप ॥ ६२ ॥

प्रजानाथ ! आपके पुत्र लोभमें अत्यन्त आसक्त हो गये हैं, उन्हें काबूमें लाइये । राजन् ! शत्रुओंका दमन करनेवाले कुन्तीके पुत्र आपकी सेवाके लिये भी तैयार हैं और युद्धके लिये भी प्रस्तुत हैं । परंतप ! जो आपके लिये विशेष हितकर जान पड़े, उसी मार्गका अवलम्बन कीजिये ॥ ६२ ॥

वैशम्पायन उवाच

तद् वाक्यं पार्थिवाः सर्वे हृदयैः समपूजयन् ।
न तत्र कश्चिद् वक्तुं हि वाचं प्राक्रामदग्रतः ॥ ६३ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! भगवान् श्रीकृष्णके उस कथनका समस्त राजाओंने हृदयसे आदर किया । वहाँ उसके उत्तरमें कोई भी कुछ कहनेके लिये अग्रसर न हो सका ॥ ६३ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि श्रीकृष्णवाक्ये पञ्चनवतितमोऽध्यायः ॥ ९५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें कौरवसभामें श्रीकृष्णवाक्यविषयक पंचानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ९५ ॥

षण्णवतितमोऽध्यायः

परशुरामजीका दम्भोद्भवकी कथाद्वारा नर-नारायणस्वरूप अर्जुन और श्रीकृष्णका महत्त्व वर्णन करना

वैशम्पायन उवाच

तस्मिन्नभिहिते वाक्ये केशवेन महात्मना ।
स्तिमिता हृष्टरोमाण आसन् सर्वे सभासदः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! महात्मा श्रीकृष्णके ऐसी बात कहनेपर सम्पूर्ण सभासद् चकित हो गये । उनके अङ्गोंमें रोमाञ्च हो आया ॥ १ ॥

कश्चिदुत्तरमेतेषां वक्तुं नोत्सहते पुमान् ।
इति सर्वे मनोभिस्ते चिन्तयन्ति स्म पार्थिवाः ॥ २ ॥

वे सब भूपाल मन-ही-मन यह सोचने लगे कि भगवान्‌के इन वचनोंका उत्तर कोई भी मनुष्य नहीं दे सकता है ॥ २ ॥

तथा तेषु च सर्वेषु तूष्णीम्भूतेषु राजसु ।
जामदग्न्य इदं वाक्यमब्रवीत् कुरुसंसदि ॥ ३ ॥

इस प्रकार उन सब राजाओंके मौन हो रह जानेपर जमदग्निनन्दन परशुरामने कौरवसभामें इस प्रकार कहा—॥

इमां मे सोपमां वाचं शृणु सत्यामशङ्कितः ।
तां श्रुत्वा श्रेय आदत्स्व यदि साध्विति मन्यसे ॥ ४ ॥

राजन् ! तुम निःशङ्क होकर मेरी यह उदाहरणयुक्त बात सुनो । सुनकर यदि इसे कल्याणकारी और उत्तम समझो तो स्वीकार करो ॥ ४ ॥



राजा दम्भोद्भवो नाम सार्वभौमः पुराभवत्।
अखिलां बुभुजे सर्वां पृथिवीमिति नः श्रुतम्॥ ५ ॥

'पूर्वकालकी बात है, दम्भोद्भव नामसे प्रसिद्ध एक सार्वभौम सम्राट् इस सम्पूर्ण अखण्ड भूमण्डलका राज्य भोगते थे; यह हमारे सुननेमें आया है ॥ ५ ॥

स स्म नित्यं निशापाये प्रातरुत्थाय वीर्यवान्।
ब्राह्मणान् क्षत्रियांश्चैव पृच्छन्नास्ते महारथः॥ ६ ॥

'वे महारथी और पराक्रमी नरेश प्रतिदिन रात बीतनेपर प्रातःकाल उठकर ब्राह्मणों और क्षत्रियोंसे इस प्रकार पूछा करते थे—॥ ६ ॥

अस्ति कश्चिद् विशिष्टो वा मद्विधो वा भवेद् युधि।
शूद्रो वैश्यः क्षत्रियो वा ब्राह्मणो वापि शस्त्रभृत्॥ ७ ॥

'क्या इस जगत्में कोई ऐसा शस्त्रधारी शूद्र, वैश्य, क्षत्रिय अथवा ब्राह्मण है, जो युद्धमें मुझसे बढ़कर अथवा मेरे समान भी हो सके ?' ॥ ७ ॥

इति ब्रुवन्नन्वचरत् स राजा पृथिवीमिमाम्।
दर्पेण महता मत्तः कंचिदन्यमचिन्तयन्॥ ८ ॥

'इसी प्रकार पूछते हुए वे राजा दम्भोद्भव महान् गर्वसे उन्मत्त हो दूसरे किसीको कुछ भी न समझते हुए इस पृथ्वीपर विचरने लगे ॥ ८ ॥

तं च वैद्या अकृपणा ब्राह्मणाः सर्वतोऽभयाः।
प्रत्यषेधन्त राजानं श्लाघमानं पुनः पुनः॥ ९ ॥

'उस समय सर्वथा निर्भय, उदार एवं विद्वान् ब्राह्मणोंने बारंबार आत्मप्रशंसा करनेवाले उन नरेशको मना किया ॥

निषिध्यमानोऽप्यसकृत् पृच्छत्येव स वै द्विजान्।
अतिमानं श्रिया मत्तं तमूचुर्ब्राह्मणास्तदा॥ १० ॥
तपस्विनो महात्मानो वेदप्रत्ययदर्शिनः।
उदीर्यमाणं राजानं क्रोधदीप्ता द्विजातयः॥ ११ ॥

उनके मना करनेपर भी वे ब्राह्मणोंसे बार-बार प्रश्न करते ही रहे। उनका अहंकार बहुत बढ़ गया था। वे धन-वैभवके मदसे मतवाले हो गये थे। राजाको यही (बारंबार) प्रश्न दुहराते देख वेदके सिद्धान्तका साक्षात्कार करनेवाले महामना तपस्वी ब्राह्मण क्रोधसे तमतमा उठे और उनसे इस प्रकार बोले—॥ १०-११ ॥

अनेकजयिनौ संख्ये यौ वै पुरुषसत्तमौ।
तयोस्त्वं न समो राजन् भवितासि कदाचन॥ १२ ॥

'राजन्! दो ऐसे पुरुषरत्न हैं, जिन्होंने युद्धमें अनेक योद्धाओंपर विजय पायी है। तुम भी उनके समान न हो सकोगे' ॥ १२ ॥

एवमुक्तः स राजा तु पुनः पप्रच्छ तान् द्विजान्।
क्व तौ वीरौ क्व जन्मानौ किंकर्माणौ च कौ च तौ॥ १३ ॥

'उनके ऐसा कहनेपर राजाने पुनः उन ब्राह्मणोंसे पूछा—'वे दोनों वीर कहाँ हैं ? उनका जन्म किस स्थानमें हुआ है ? उनके कर्म कौन-कौन-से हैं और उनके नाम क्या हैं ?' ॥ १३ ॥

ब्राह्मणा ऊचुः

नरो नारायणश्चैव तापसाविति नः श्रुतम्।
आयातौ मानुषे लोके ताभ्यां युध्यस्व पार्थिव॥ १४ ॥

ब्राह्मण बोले—भूपाल! हमने सुना है कि वे नर-नारायण नामवाले तपस्वी हैं और इस समय मनुष्यलोकमें आये हैं। तुम उन्हीं दोनोंके साथ युद्ध करो ॥ १४ ॥

श्रूयेते तौ महात्मानौ नरनारायणावुभौ।
तपो घोरमनिर्देश्यं तप्येते गन्धमादने॥ १५ ॥

सुना है, वे दोनों महात्मा नर और नारायण गन्धमादन पर्वतपर ऐसी घोर तपस्या कर रहे हैं, जिसका वाणीद्वारा वर्णन नहीं हो सकता ॥ १५ ॥

स राजा महतीं सेनां योजयित्वा षडङ्गिनीम्।
अमृष्यमाणः सम्प्रायाद् यत्र तावपराजितौ॥ १६ ॥

राजाको यह सहन नहीं हुआ। उन्होंने (रथ, हाथी, घोड़े, पैदल, शकट और ऊँट—इन) छः अङ्गोंसे युक्त विशाल सेनाको सुसज्जित करके उस स्थानकी यात्रा की, जहाँ कभी पराजित न होनेवाले वे दोनों महात्मा विद्यमान थे ॥ १६ ॥

स गत्वा विषमं घोरं पर्वतं गन्धमादनम्।
मार्गमाणोऽन्वगच्छत् तौ तापसौ वनमाश्रितौ॥ १७ ॥

राजा उनकी खोज करते हुए दुर्गम एवं भयंकर गन्धमादन पर्वतपर गये और वनमें स्थित उन तपस्वी महात्माओंके पास जा पहुँचे ॥ १७ ॥

तौ दृष्ट्वा क्षुत्पिपासाभ्यां कृशौ धमनिसंततौ।
शीतवातातपैश्चैव कर्शितौ पुरुषोत्तमौ ॥ १८ ॥

वे दोनों पुरुषरत्न भूख-प्याससे दुर्बल हो गये थे। उनके सारे अङ्गोंमें फैली हुई नस-नाडियाँ स्पष्ट दिखायी देती थीं। वे सर्दी-गर्मी और हवाका कष्ट सहते-सहते अत्यन्त कृशकाय हो रहे थे ॥ १८ ॥

अभिगम्योपसंगृह्य पर्यपृच्छदनामयम् ।
तमर्चित्वा मूलफलैरासनेनोदकेन च ॥ १९ ॥
न्यमन्त्रयेतां राजानं किं कार्यं क्रियतामिति।
ततस्तामानुपूर्वीं स पुनरेवान्वकीर्तयत् ॥ २० ॥

निकट जाकर उनके चरणोंमें नमस्कार करके दम्भोद्भवने उन दोनोंका कुशल-समाचार पूछा। तब नर और नारायणने राजाका स्वागत-सत्कार करके आसन, जल और फल-मूल देकर उन्हें भोजनके लिये निमन्त्रित किया। तदनन्तर पूछा कि हम आपकी क्या सेवा करें? यह सुनकर उन्होंने अपना सारा वृत्तान्त पुनः अक्षरशः सुना दिया ॥ १९-२० ॥



बाहुभ्यां मे जिता भूमिर्निहताः सर्वशत्रवः।
भवद्भ्यां युद्धमाकाङ्क्षन्नुपयातोऽस्मि पर्वतम् ॥ २१ ॥
आतिथ्यं दीयतामेतत् काङ्क्षितं मे चिरं प्रति।

और कहा—'मैंने अपने बाहुबलसे सारी पृथ्वीको जीत लिया है तथा सम्पूर्ण शत्रुओंका संहार कर डाला है। अब आप दोनोंसे युद्ध करनेकी इच्छा लेकर इस पर्वतपर आया हूँ। यही मेरा चिरकालसे अभिलषित मनोरथ है। आप अतिथि-सत्कारके रूपमें इसे ही पूर्ण कर दीजिये ॥ २१½ ॥

नरनारायणावूचतुः

अपेतक्रोधलोभोऽयमाश्रमो राजसत्तम ॥ २२ ॥
न ह्यस्मिन्नाश्रमे युद्धं कुतः शस्त्रं कुतोऽनृजुः।
अन्यत्र युद्धमाकाङ्क्ष बहवः क्षत्रियाः क्षितौ ॥ २३ ॥

नर-नारायण बोले—नृपश्रेष्ठ! हमारा यह आश्रम क्रोध और लोभसे रहित है। इस आश्रममें कभी युद्ध नहीं होता, फिर अस्त्र-शस्त्र और कुटिल मनोवृत्तिका मनुष्य यहाँ कैसे रह सकता है? इस पृथ्वीपर बहुत-से क्षत्रिय हैं, अतः आप कहीं और जाकर युद्धकी अभिलाषा पूर्ण कीजिये ॥ २२-२३ ॥

राम उवाच

उच्यमानस्तथापि स भूय एवाभ्यभाषत।
पुनः पुनः क्षम्यमाणः सान्त्व्यमानश्च भारत ॥ २४ ॥
दम्भोद्भवो युद्धमिच्छन्नाह्वयत्येव तापसौ।

परशुरामजी कहते हैं—भारत! उन दोनों महात्माओंने बारंबार ऐसा कहकर राजासे क्षमा माँगी और उन्हें विविध प्रकारसे सान्त्वना दी। तथापि दम्भोद्भव युद्धकी इच्छासे उन दोनों तापसोंको कहते और ललकारते ही रहे ॥ २४½ ॥

ततो नरस्त्विषीकाणां मुष्टिमादाय भारत ॥ २५ ॥
अब्रवीदेहि युद्धयस्व युद्धकामुक क्षत्रिय।
सर्वशस्त्राणि चादत्स्व योजयस्व च वाहिनीम् ॥ २६ ॥
(संनह्यस्व च वर्माणि यानि चान्यानि सन्ति ते)
अहं हि ते विनेष्यामि युद्धश्रद्धामितः परम्।
(यदाह्वयसि दर्पेण ब्राह्मणप्रमुखाञ्जनान् ॥)

भरतनन्दन! तब महात्मा नरने हाथमें एक मुट्ठी सींक लेकर कहा—'युद्ध चाहनेवाले क्षत्रिय! आ, युद्ध कर। अपने सारे अस्त्र-शस्त्र ले ले। सारी सेनाको तैयार कर ले, कवच बाँध ले, तेरे पास और भी जितने साधन हों, उन सबसे सम्पन्न हो जा। तू बड़े घमंडमें आकर ब्राह्मण आदि सभी वर्णके लोगोंको ललकारता फिरता है; इसलिये मैं आजसे तेरे युद्धविषयक निश्चयको दूर किये देता हूँ' ॥

दम्भोद्भव उवाच

यद्येतदस्त्रमस्मासु युक्तं तापस मन्यसे ॥ २७ ॥
एतेनापि त्वया योत्स्ये युद्धार्थी ह्यहमागतः।

दम्भोद्भवने कहा—तापस! यदि आप यही अस्त्र हमारे लिये उपयुक्त मानते हैं तो मैं इसके होनेपर भी आपके साथ युद्ध अवश्य करूँगा; क्योंकि मैं युद्धके लिये ही यहाँ आया हूँ ॥ २७½ ॥

राम उवाच

इत्युक्त्वा शरवर्षेण सर्वतः समवाकिरत् ॥ २८ ॥
दम्भोद्भवस्तापसं तं जिघांसुः सहसैनिकः ।

परशुरामजी कहते हैं—ऐसा कहकर सैनिकोंसहित दम्भोद्भवने तपस्वी नरको मार डालनेकी इच्छासे सब ओरसे उनपर बाणोंकी वर्षा आरम्भ कर दी ॥ २८½ ॥

तस्य तानस्यतो घोरानिषून् परतनुच्छिदः ॥ २९ ॥
कदर्थीकृत्य स मुनिरिषीकाभिः समार्पयत् ।

उनके भयंकर बाण शत्रुके शरीरको छिन्न-भिन्न कर देनेवाले थे; परंतु मुनिने उन बाणोंका प्रहार करनेवाले दम्भोद्भवकी कोई परवा न करके सींकोंसे ही उनको बींध डाला ॥ २९½ ॥

ततोऽस्मै प्रासृजद् घोरमैषीकमपराजितः ॥ ३० ॥
अस्त्रमप्रतिसंधेयं तदद्भुतमिवाभवत् ।

तब किसीसे पराजित न होनेवाले महर्षि नरने उनके ऊपर भयंकर ऐषीकास्त्रका प्रयोग किया; जिसका निवारण करना असम्भव था । यह एक अद्भुत-सी घटना हुई ॥

तेषामक्षीणि कर्णांश्च नासिकाश्चैव मायया ॥ ३१ ॥
निमित्तवेधी स मुनिरिषीकाभिः समार्पयत् ।

इस प्रकार लक्ष्यवेध करनेवाले नर मुनिने मायाद्वारा सींकके बाणोंसे ही दम्भोद्भवके सैनिकोंकी आँखों, कानों और नासिकाओंको बींध डाला ॥ ३१½ ॥

स दृष्ट्वा श्वेतमाकाशमिषीकाभिः समाचितम् ॥ ३२ ॥
पादयोर्न्यपतद् राजा स्वस्ति मेऽस्त्विति चाब्रवीत् ।

राजा दम्भोद्भव सींकोंसे भरे हुए समूचे आकाशको श्वेतवर्ण हुआ देखकर मुनिके चरणोंमें गिर पड़े और बोले—'भगवन् ! मेरा कल्याण हो' ॥ ३२½ ॥

तमब्रवीन्नरो राजञ्शरण्यः शरणैषिणाम् ॥ ३३ ॥
ब्रह्मण्यो भव धर्मात्मा मा च स्मैवं पुनः कृथाः ।

'राजन् ! शरण चाहनेवालोंको शरण देनेवाले भगवान् नरने उनसे कहा—'आजसे तुम ब्राह्मणहितैषी और धर्मात्मा बनो । फिर कभी ऐसा साहस न करना ॥ ३३½ ॥

नैतादृक् पुरुषो राजन् क्षत्रधर्ममनुस्मरन् ॥ ३४ ॥
मनसा नृपशार्दूल भवेत् परपुरंजयः ।

'नरेश्वर ! नृपश्रेष्ठ ! शत्रुनगरविजयी वीर पुरुष क्षत्रियधर्मको स्मरण रखते हुए कभी मनसे भी ऐसा व्यवहार नहीं कर सकता, जैसा कि तुमने किया है ॥ ३४½ ॥

मा च दर्पसमाविष्टः क्षेप्सीः कांश्चित् कथंचन ॥ ३५ ॥
अल्पीयांसं विशिष्टं वा तत् ते राजन् समाहितम् ।

'राजन् ! आजसे फिर कभी घमंडमें आकर अपनेसे बड़े या छोटे किन्हीं राजाओंपर किसी प्रकार भी आक्षेप न करना । इस बातके लिये मैंने तुम्हें सावधान कर दिया ॥

कृतप्रज्ञो वीतलोभो निरहंकार आत्मवान् ॥ ३६ ॥
दान्तः क्षान्तो मृदुः सौम्यः प्रजाः पालय पार्थिव ।
मा स्म भूयः क्षिपेः कंचिदविदित्वा बलाबलम् ॥ ३७ ॥

'भूपाल ! तुम विनीतबुद्धि, लोभशून्य, अहंकाररहित, मनस्वी, जितेन्द्रिय, क्षमाशील, कोमलस्वभाव और सौम्य होकर प्रजाका पालन करो । फिर कभी दूसरोंके बलाबलको जाने बिना किसीपर आक्षेप न करना ॥ ३६-३७ ॥

अनुज्ञातः स्वस्ति गच्छ मैवं भूयः समाचरेः ।
कुशलं ब्राह्मणान् पृच्छेरावयोर्वचनाद् भृशम् ॥ ३८ ॥

'मैंने तुम्हें आज्ञा दे दी, तुम्हारा कल्याण हो, जाओ । फिर ऐसा बर्ताव न करना । विशेषतः हम दोनोंके कहनेसे तुम ब्राह्मणोंसे उनका कुशल-समाचार पूछते रहना' ॥ ३८ ॥

ततो राजा तयोः पादावभिवाद्य महात्मनोः ।
प्रत्याजगाम स्वपुरं धर्मं चैवाचरद् भृशम् ॥ ३९ ॥

तदनन्तर राजा दम्भोद्भव उन दोनों महात्माओंके चरणोंमें प्रणाम करके अपनी राजधानीमें लौट आये और विशेषरूपसे धर्मका आचरण करने लगे ॥ ३९ ॥

सुमहच्चापि तत् कर्म तन्नरेण कृतं पुरा ।
ततो गुणैः सुबहुभिः श्रेष्ठो नारायणोऽभवत् ॥ ४० ॥

इस प्रकार पूर्वकालमें महात्मा नरने वह महान् कर्म किया था । उनसे भी बहुत गुणोंके कारण भगवान् नारायण श्रेष्ठ हैं ॥ ४० ॥

तस्माद् यावद् धनुःश्रेष्ठे गाण्डीवेऽस्त्रं न युज्यते ।
तावत् त्वं मानमुत्सृज्य गच्छ राजन् धनंजयम् ॥ ४१ ॥

अतः राजन् ! जबतक श्रेष्ठ धनुष गाण्डीवपर (दिव्य) अस्त्रोंका संधान नहीं किया जाता, तबतक ही तुम अभिमान छोड़कर अर्जुनसे मिल जाओ ॥ ४१ ॥

काकुदीकं शुकं नाकमक्षिसंतर्जनं तथा ।
संतानं नर्तकं घोरमास्यमोदकमष्टमम् ॥ ४२ ॥

काकुदीक (प्रस्वापन), शुक (मोहन), नाक (उन्मादन), अक्षिसंतर्जन (त्रासन), संतान (दैवत), नर्तक (पैशाच), घोर (राक्षस) और आस्यमोदक (याम्य)*— ये आठ प्रकारके अस्त्र हैं ॥ ४२ ॥

---

* जिस अस्त्रसे अभिभूत होकर योद्धा रथ और हाथी आदिके ककुद् (पृष्ठभाग) पर ही सोते रह जाते हैं, उसका नाम काकुदीक एवं प्रस्वापन है । जैसे शुक पानीके ऊपर रक्खी हुई बाँसकी नलिकाको पकड़कर भयसे चिल्लाता रहता है, उसी प्रकार जिससे मोहित हुए योद्धा बिना भयके ही भय देखकर घोड़े और रथ आदिके पाँवोंसे चिपट जाते हैं; उस अस्त्रका नाम शुक अथवा

एतैर्विद्धाः सर्व एव मरणं यान्ति मानवाः।
कामक्रोधौ लोभमोहौ मदमानौ तथैव च ॥ ४३ ॥
मात्सर्याहंकृती चैव क्रमादेव उदाहृताः।

इन अस्त्रोंसे विद्ध होनेपर सभी मनुष्य मृत्युको प्राप्त होते हैं। काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मान, मात्सर्य और अहंकार—ये क्रमशः आठ दोष बताये गये हैं, जिनके प्रतीक-स्वरूप उपर्युक्त आठ अस्त्र हैं ॥ ४३½ ॥

उन्मत्ताश्च विचेष्टन्ते नष्टसंज्ञा विचेतसः ॥ ४४ ॥
स्वपन्ति च प्लवन्ते च छर्दयन्ति च मानवाः।
मूत्रयन्ते च सततं रुदन्ति च हसन्ति च ॥ ४५ ॥

इन अस्त्रोंके प्रयोगसे कुछ लोग उन्मत्त हो जाते हैं और वैसी ही चेष्टाएँ करने लगते हैं। कितनोंको सुध-बुध नहीं रह जाती, वे अचेत हो जाते हैं। कई मनुष्य सोने लगते हैं। कुछ उछलते-कूदते और छींकते हैं। कितने ही मल-मूत्र करने लग जाते हैं और कुछ लोग निरंतर रोते-हँसते रहते हैं ॥ ४४-४५ ॥

निर्माता सर्वलोकानामीश्वरः सर्वकर्मवित्।
यस्य नारायणो बन्धुरर्जुनो दुःसहो युधि ॥ ४६ ॥

राजन्! सम्पूर्ण लोकोंका निर्माण करनेवाले ईश्वर एवं सब कर्मोंके ज्ञाता नारायण जिनके बन्धु (सहायक) हैं, वे नरस्वरूप अर्जुन युद्धमें दुःसह हैं (क्योंकि उन्हें उपर्युक्त सभी अस्त्रोंका अच्छा ज्ञान है) ॥ ४६ ॥

कस्तमुत्सहते जेतुं त्रिषु लोकेषु भारत।
वीरं कपिध्वजं जिष्णुं यस्य नास्ति समो युधि ॥ ४७ ॥

भारत! युद्धभूमिमें जिनकी समानता कोई भी नहीं कर सकता, उन विजयशील वीर कपिध्वज अर्जुनको जीतनेका साहस तीनों लोकोंमें कौन कर सकता है? ॥ ४७ ॥

असंख्येया गुणाः पार्थे तद्विशिष्टो जनार्दनः।
त्वमेव भूयो जानासि कुन्तीपुत्रं धनंजयम् ॥ ४८ ॥
नरनारायणौ यौ तौ तावेवार्जुनकेशवौ।
विजानीहि महाराज प्रवीरौ पुरुषोत्तमौ ॥ ४९ ॥

महाराज! अर्जुनमें असंख्य गुण हैं एवं भगवान् जनार्दन तो उनसे भी बढ़कर हैं। तुम भी कुन्तीपुत्र अर्जुनको अच्छी तरह जानते हो। जो दोनों महात्मा नर और नारायणके नामसे प्रसिद्ध हैं, वे ही अर्जुन और श्रीकृष्ण हैं। तुम्हें ज्ञात होना चाहिये कि वे दोनों पुरुषरत्न सर्वश्रेष्ठ वीर हैं ॥ ४८-४९ ॥

यद्येतदेवं जानासि न च मामभिशङ्कसे।
आर्यां मतिं समास्थाय शाम्य भारत पाण्डवैः ॥ ५० ॥

भारत! यदि तुम इस बातको इस रूपमें जानते हो और मुझपर तुम्हें तनिक भी संदेह नहीं है तो मेरे कहनेसे श्रेष्ठ बुद्धिका आश्रय लेकर पाण्डवोंके साथ संधि कर लो ॥

अथ चेन्मन्यसे श्रेयो न मे भेदो भवेदिति।
प्रशाम्य भरतश्रेष्ठ मा च युद्धे मनः कृथाः ॥ ५१ ॥

भरतश्रेष्ठ! यदि तुम्हारी यह इच्छा हो कि हमलोगोंमें फूट न हो और इसीमें तुम अपना कल्याण समझो, तब तो संधि करके शान्त हो जाओ और युद्धमें मन न लगाओ ॥ ५१ ॥

भवतां च कुरुश्रेष्ठ कुलं बहुमतं भुवि।
तत् तथैवास्तु भद्रं ते स्वार्थमेवोपचिन्तय ॥ ५२ ॥

कुरुश्रेष्ठ! तुम्हारा कुल इस पृथ्वीपर बहुत प्रतिष्ठित है। वह उसी प्रकार सम्मानित बना रहे और तुम्हारा कल्याण हो, इसके लिये अपने वास्तविक स्वार्थका ही चिन्तन करो ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि दम्भोद्भवोपाख्याने षण्णवतितमोऽध्यायः ॥ ९६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें दम्भोद्भवकी कथाविषयक छानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ९६ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका १ श्लोक मिलाकर कुल ५२ श्लोक हैं)

सप्तनवतितमोऽध्यायः

कण्व मुनिका दुर्योधनको संधिके लिये समझाते हुए मातलिका उपाख्यान आरम्भ करना

वैशम्पायन उवाच

जामदग्न्यवचः श्रुत्वा कण्वोऽपि भगवानृषिः।
दुर्योधनमिदं वाक्यमब्रवीत कुरुसंसदि ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! जमदग्निनन्दन परशुरामका यह वचन सुनकर भगवान् कण्व मुनिने भी कौरवसभामें दुर्योधनसे यह बात कही ॥ १ ॥

मोहन है। जिस अस्त्रसे भ्रान्तचित्त होकर मनुष्यको नाक (स्वर्ग) लोक दिखायी देने लगे, वह नाक या उन्मादन कहलाता है। जिसके प्रहारसे विद्ध होकर लोग त्रासके कारण मल-मूत्र करने लगते हैं, वह अक्षिसंतर्जन अथवा त्रासन नामक अस्त्र है। संतान अथवा दैवत अस्त्र वह है, जिसके प्रयोगसे अविच्छिन्नरूपसे अस्त्र-शस्त्रोंकी वर्षा होने लगती है। जिसके प्रयोगसे मनुष्य वेदनाके मारे नाँच उठता है, वह नर्तक या पैशाच अस्त्र है। भयानक संहारकारी अस्त्रको घोर अथवा राक्षस कहा गया है। जिससे आहत होकर लोग मुँहमें पत्थर रखकर मरनेके लिये निकल पड़ते हैं, वह आस्यमोदक अथवा याम्य नामक अस्त्र है। (भारतभावदीपटीका)

कण्व उवाच

अक्षयश्चाव्ययश्चैव ब्रह्मा लोकपितामहः ।
तथैव भगवन्तौ तौ नरनारायणावृषी ॥ २ ॥

कण्व बोले—राजन्! जैसे लोकपितामह ब्रह्मा अक्षय और अविनाशी हैं, उसी प्रकार वे दोनों भगवान् नर-नारायण ऋषि भी हैं ॥ २ ॥

आदित्यानां हि सर्वेषां विष्णुरेकः सनातनः ।
अजय्यश्चाव्ययश्चैव शाश्वतः प्रभुरीश्वरः ॥ ३ ॥

अदितिके सभी पुत्रोंमें अथवा सम्पूर्ण आदित्योंमें एकमात्र भगवान् विष्णु ही अजेय, अविनाशी, नित्य विद्यमान एवं सर्वसमर्थ सनातन परमेश्वर हैं ॥ ३ ॥

निमित्तमरणाश्चान्ये चन्द्रसूर्यौ मही जलम् ।
वायुरग्निस्तथाऽऽकाशं ग्रहास्तारागणास्तथा॥ ४ ॥

अन्य सब लोग तो किसी-न-किसी निमित्तसे मृत्युको प्राप्त होते ही हैं । चन्द्रमा, सूर्य, पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि, आकाश, ग्रह तथा नक्षत्र—ये सभी नाशवान् हैं ॥ ४ ॥

ते च क्षयान्ते जगतो हित्वा लोकत्रयं सदा ।
क्षयं गच्छन्ति वै सर्वे सृज्यन्ते च पुनः पुनः॥ ५ ॥

जगत्का विनाश होनेके पश्चात् ये चन्द्र, सूर्य आदि तीनों लोकोंका सदाके लिये परित्याग करके नष्ट हो जाते हैं । फिर सृष्टिकालमें इन सबकी बारंबार सृष्टि होती है ॥ ५ ॥

मुहूर्तमरणास्त्वन्ये मानुषा मृगपक्षिणः ।
तैर्यग्योन्याश्च ये चान्ये जीवलोकचरास्तथा ॥ ६ ॥

इनके सिवा ये दूसरे जो मनुष्य, पशु, पक्षी तथा जीवलोकमें विचरनेवाले अन्यान्य तिर्यग्योनिके प्राणी हैं, वे अल्पकालमें ही कालके गालमें चले जाते हैं ॥ ६ ॥

भूयिष्ठेन तु राजानः श्रियं भुक्त्वाऽऽयुषः क्षये ।
तरुणाः प्रतिपद्यन्ते भोक्तुं सुकृतदुष्कृते ॥ ७ ॥

राजालोग भी प्रायः राजलक्ष्मीका उपभोग करके आयुकी समाप्ति होनेपर मृत्यु होनेके पश्चात् अपने पाप-पुण्यका फल भोगनेके लिये पुनः नूतन जन्म ग्रहण करते हैं ॥ ७ ॥

स भवान् धर्मपुत्रेण शमं कर्तुमिहार्हति ।
पाण्डवाः कुरवश्चैव पालयन्तु वसुंधराम् ॥ ८ ॥

राजन्! आपको धर्मपुत्र युधिष्ठिरके साथ संधि कर लेनी चाहिये । मैं चाहता हूँ कि पाण्डव तथा कौरव दोनों मिलकर इस पृथ्वीका पालन करें ॥ ८ ॥

बलवानहमित्येव न मन्तव्यं सुयोधन ।
बलवन्तो बलिभ्यो हि दृश्यन्ते पुरुषर्षभ ॥ ९ ॥

पुरुषरत्न सुयोधन ! तुम्हें यह नहीं मानना चाहिये कि मैं ही सबसे अधिक बलवान् हूँ; क्योंकि संसारमें बलवानोंसे भी बलवान् पुरुष देखे जाते हैं ॥ ९ ॥

न बलं बलिनां मध्ये बलं भवति कौरव ।
बलवन्तो हि ते सर्वे पाण्डवा देवविक्रमाः ॥ १० ॥

कुरुनन्दन ! बलवानोंके बीचमें सैनिकबलको बल नहीं समझा जाता है । समस्त पाण्डव देवताओंके समान पराक्रमी हैं; अतः वे ही तुम्हारी अपेक्षा बलवान् हैं ॥ १० ॥

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
मातलेर्दातुकामस्य कन्यां मृगयतो वरम् ॥ ११ ॥

इस प्रसङ्गमें कन्यादान करनेके लिये वर ढूँढ़नेवाले मातलिके इस प्राचीन इतिहासका उदाहरण दिया करते हैं ॥ ११ ॥

मतस्त्रैलोक्यराजस्य मातलिर्नाम सारथिः ।
तस्यैकैव कुले कन्या रूपतो लोकविश्रुता ॥ १२ ॥

त्रिलोकीनाथ इन्द्रके प्रिय सारथिका नाम मातलि है । उनके कुलमें उन्हींकी एक कन्या थी, जो अपने रूपके कारण सम्पूर्ण लोकोंमें विख्यात थी ॥ १२ ॥

गुणकेशीति विख्याता नाम्ना सा देवरूपिणी ।
श्रिया च वपुषा चैव स्त्रियोऽन्याः सातिरिच्यते॥ १३॥

वह देवरूपिणी कन्या गुणकेशीके नामसे प्रसिद्ध थी । गुणकेशी अपनी शोभा तथा सुन्दर शरीरकी दृष्टिसे उस समयकी सम्पूर्ण स्त्रियोंसे श्रेष्ठ थी ॥ १३ ॥

तस्याः प्रदानसमयं मातलिः सह भार्यया ।
ज्ञात्वा विममृशे राजंस्तत्परः परिचिन्तयन् ॥ १४ ॥

राजन् ! उसके विवाहका समय आया जान मातलिने एकाग्रचित्त हो उसीके विषयमें चिन्तन करते हुए अपनी पत्नीके साथ विचार-विमर्श किया ॥ १४ ॥

धिक् खल्वलघुशीलानामुच्छ्रितानां यशस्विनाम् ।
नराणां मृदुसत्त्वानां कुले कन्याप्ररोहणम् ॥ १५ ॥

'जिनका शीलस्वभाव श्रेष्ठ है, जो ऊँचे कुलमें उत्पन्न हुए यशस्वी तथा कोमल अन्तःकरणवाले हैं; ऐसे लोगोंके कुलमें कन्याका उत्पन्न होना दुःखकी ही बात है ॥ १५ ॥

मातुः कुलं पितृकुलं यत्र चैव प्रदीयते ।
कुलत्रयं संशयितं कुरुते कन्यका सताम् ॥ १६ ॥

'कन्या मातृकुलको, पितृकुलको तथा जहाँ वह ब्याही जाती है, उस कुलको—सत्पुरुषोंके इन तीनों कुलोंको संशयमें डाल देती है ॥ १६ ॥

देवमानुषलोकौ द्वौ मानुषेणैव चक्षुषा ।
अवगाह्यैव विचितौ न च मे रोचते वरः ॥ १७ ॥

'मैंने मानवदृष्टिके अनुसार देवलोक तथा मनुष्यलोक

दोनोंमें अच्छी तरह घूम-फिरकर कन्याके लिये वरका अन्वेषण किया है, पर वहाँ कोई भी वर मुझे पसंद नहीं आ रहा है' ॥

कण्व उवाच

न देवान् नैव दितिजान् न गन्धर्वान् न मानुषान् ।
अरोचयद् वरकृते तथैव बहुलानृषीन् ॥ १८ ॥

कण्व मुनि कहते हैं—मातलिने वरके लिये बहुत-से देवताओं, दैत्यों, गन्धर्वों और मनुष्यों तथा ऋषियोंको भी देखा; परंतु कोई उन्हें पसंद नहीं आया ॥ १८ ॥

भार्ययानु स सम्मन्त्र्य सह रात्रौ सुधर्मया ।
मातलिर्नागलोकाय चकार गमने मतिम् ॥ १९ ॥

तब उन्होंने रातमें अपनी पत्नी सुधर्माके साथ सलाह करके नागलोकमें जानेका विचार किया ॥ १९ ॥

न मे देवमनुष्येषु गुणकेश्याः समो वरः ।
रूपतो दृश्यते कश्चिन्नागेषु भविता ध्रुवम् ॥ २० ॥

वे अपनी पत्नीसे बोले—'देवि ! देवताओं और मनुष्योंमें तो गुणकेशीके योग्य कोई रूपवान् वर नहीं दिखायी देता । नागलोकमें कोई-न-कोई उसके योग्य वर अवश्य होगा' ॥ २० ॥

इत्यामन्त्र्य सुधर्मां स कृत्वा चाभिप्रदक्षिणम् ।
कन्यां शिरस्युपाघ्राय प्रविवेश महीतलम् ॥ २१ ॥

सुधर्मासे ऐसी सलाह करके मातलिने इष्टदेवकी परिक्रमा की और कन्याका मस्तक सूँघकर रसातलमें प्रवेश किया ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि मातलिवरान्वेषणे सप्तनवतितमोऽध्यायः ॥ ९७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें मातलिके वर खोजनेसे सम्बन्ध रखनेवाला सत्तानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ९७

अष्टनवतितमोऽध्यायः

मातलिका अपनी पुत्रीके लिये वर खोजनेके निमित्त नारदजीके साथ वरुणलोकमें भ्रमण करते हुए अनेक आश्चर्यजनक वस्तुएँ देखना

कण्व उवाच

मातलिस्तु व्रजन् मार्गे नारदेन महर्षिणा ।
वरुणं गच्छता द्रष्टुं समागच्छद् यदृच्छया ॥ १ ॥

कण्व मुनि कहते हैं—राजन् ! उसी समय महर्षि नारद वरुणदेवतासे मिलनेके लिये उधर जा रहे थे । नागलोकके मार्गमें जाते हुए मातलिकी नारदजीके साथ अकस्मात् भेंट हो गयी ॥ १ ॥

नारदोऽथाब्रवीदेनं क्व भवान् गन्तुमुद्यतः ।
स्वेन वा सूत कार्येण शासनाद् वा शतक्रतोः ॥ २ ॥

नारदजीने उनसे पूछा—देवसारथे ! तुम कहाँ जानेको उद्यत हुए हो ? तुम्हारी यह यात्रा किसी निजी कार्यसे अथवा देवेन्द्रके आदेशसे हुई है ? ॥ २ ॥

मातलिर्नारदेनैवं सम्पृष्टः पथि गच्छता ।
यथावत् सर्वमाचष्ट स्वकार्यं नारदं प्रति ॥ ३ ॥

मार्गमें जाते हुए नारदजीके इस प्रकार पूछनेपर मातलिने उनसे अपना सारा कार्य यथावत्रूपसे बताया ॥

तमुवाचाथ स मुनिर्गच्छावः सहिताविति ।
सलिलेशदिदृक्षार्थमहमप्युद्यतो दिवः ॥ ४ ॥

तब उन मुनिने मातलिसे कहा—'हम दोनों साथ-साथ चलें । मैं भी जलके स्वामी वरुणदेवका दर्शन करनेकी इच्छासे देवलोकसे आ रहा हूँ ॥ ४ ॥

अहं ते सर्वमाख्यास्ये दर्शयन् वसुधातलम् ।
दृष्ट्वा तत्र वरं कंचिद् रोचयिष्याव मातले ॥ ५ ॥

'मैं तुम्हें पृथ्वीके नीचेके लोकोंको दिखाते हुए वहाँकी सब वस्तुओंका परिचय दूँगा । मातले ! वहाँ हम दोनों किसी योग्य वरको देखकर पसंद करेंगे' ॥ ५ ॥

अवगाह्य तु तौ भूमिमुभौ मातलिनारदौ ।
ददृशाते महात्मानौ लोकपालमपांपतिम् ॥ ६ ॥

तदनन्तर मातलि और नारद दोनों महात्मा पृथ्वीके भीतर प्रवेश करके जलके स्वामी लोकपाल वरुणके समीप गये ॥ ६ ॥

तत्र देवर्षिसदृशीं पूजां स प्राप नारदः ।
महेन्द्रसदृशीं चैव मातलिः प्रत्यपद्यत ॥ ७ ॥

नारदजीको वहाँ देवर्षियोंके योग्य और मातलिको देवराज इन्द्रके समान आदर-सत्कार प्राप्त हुआ ॥ ७ ॥

तावुभौ प्रीतमनसौ कार्यवन्तौ निवेद्य ह ।
वरुणेनाभ्यनुज्ञातौ नागलोकं विचेरतुः ॥ ८ ॥

तत्पश्चात् उन दोनोंने प्रसन्नचित्त होकर वरुणदेवतासे अपना कार्य निवेदन किया और उनकी आज्ञा लेकर वे नागलोकमें विचरने लगे ॥ ८ ॥

नारदः सर्वभूतानामन्तर्भूमिनिवासिनाम् ।
जानंश्चकार व्याख्यानं यन्तुः सर्वमशेषतः ॥ ९ ॥

नारदजी पाताललोकमें निवास करनेवाले सभी प्राणियोंको जानते थे। अतः उन्होंने इन्द्रसारथि मातलिको वहाँकी सब वस्तुओंके विषयमें विस्तारपूर्वक बताना आरम्भ किया ॥ ९ ॥

नारद उवाच

दृष्टस्ते वरुणः सूत पुत्रपौत्रसमावृतः।
पश्योदकपतेः स्थानं सर्वतोभद्रमृद्धिमत् ॥ १० ॥

नारदजीने कहा—सूत ! तुमने पुत्रों और पौत्रोंसे घिरे हुए वरुणदेवताका दर्शन किया है। देखो, यह जलेश्वर वरुणका समृद्धिशाली निवासस्थान है। इसका नाम है, सर्वतोभद्र ॥ १० ॥

एष पुत्रो महाप्राज्ञो वरुणस्येह गोपतेः।
एष वै शीलवृत्तेन शौचेन च विशिष्यते ॥ ११ ॥

ये गोपति वरुणके परम बुद्धिमान् पुत्र हैं; जो अपने उत्तम स्वभाव, सदाचार और पवित्रताके कारण अपना विशिष्ट स्थान रखते हैं ॥ ११ ॥

एषोऽस्य पुत्रोऽभिमतः पुष्करः पुष्करेक्षणः।
रूपवान् दर्शनीयश्च सोमपुत्र्या वृतः पतिः ॥ १२ ॥

वरुणदेवके इन प्रिय पुत्रका नाम पुष्कर है। इनके नेत्र विकसित कमलके समान सुशोभित हैं। ये रूपवान् तथा दर्शनीय हैं। इसीलिये सोमकी पुत्रीने इनका पतिरूपसे वरण किया है ॥ १२ ॥

ज्योत्स्नाकालीति यामाहुर्द्वितीयां रूपतः श्रियम्।
अदित्याश्चैव यः पुत्रो ज्येष्ठः श्रेष्ठः कृतः स्मृतः ॥ १३ ॥

सोमकी जो दूसरी पुत्री हैं, वे ज्योत्स्नाकालीके नामसे प्रसिद्ध हैं तथा रूपमें साक्षात् लक्ष्मीके समान जान पड़ती हैं। उन्होंने अदितिदेवीके ज्येष्ठ पुत्र सूर्यदेवको अपना श्रेष्ठ पति बनाया एवं माना है ॥ १३ ॥

भवनं वारुणं पश्य यदेतत् सर्वकाञ्चनम्।
यत् प्राप्य सुरतां प्राप्ताः सुराः सुरपतेः सखे ॥ १४ ॥

महेन्द्रमित्र ! देखो, यह वरुणदेवताका भवन है, जो सब ओरसे सुवर्णका ही बना हुआ है। यहाँ पहुँचकर ही देवगण वास्तवमें देवत्वलाभ करते हैं ॥ १४ ॥

एतानि हृतराज्यानां दैतेयानां स्म मातले।
दीप्यमानानि दृश्यन्ते सर्वप्रहरणान्युत ॥ १५ ॥

मातले ! जिनके राज्य छीन लिये गये हैं, उन दैत्योंके ये दीप्यमान सम्पूर्ण आयुध दिखायी देते हैं ॥ १५ ॥

अक्षयाणि किलैतानि विवर्तन्ते स्म मातले।
अनुभावप्रयुक्तानि सुरैरवजितानि ह ॥ १६ ॥

देवसारथे ! ये सारे अस्त्र-शस्त्र अक्षय हैं और प्रहार करनेपर शत्रुको आहत करके पुनः अपने स्वामीके हाथमें लौट आते हैं। पहले दैत्यलोग अपनी शक्तिके अनुसार इनका प्रयोग करते थे, परंतु अब देवताओंने इन्हें जीतकर अपने अधिकारमें कर लिया है ॥ १६ ॥

अत्र राक्षसजात्यश्च दैत्यजात्यश्च मातले।
दिव्यप्रहरणाश्चासन् पूर्वदैवतनिर्मिताः ॥ १७ ॥

मातले ! इन स्थानोंमें राक्षस और दैत्यजातिके लोग रहते हैं। यहाँ दैत्योंके बनाये हुए बहुत-से दिव्यास्त्र भी रहे हैं ॥ १७ ॥

अग्निरेष महार्चिष्माञ्जागर्ति वारुणे ह्रदे।
वैष्णवं चक्रमाविद्धं विधूमेन हविष्मता ॥ १८ ॥

ये महातेजस्वी अग्निदेव वरुणदेवताके सरोवरमें प्रकाशित होते हैं। इन धूमरहित अग्निदेवने भगवान् विष्णुके सुदर्शन चक्रको भी अवरुद्ध कर दिया था ॥ १८ ॥

एष गाण्डीमयश्चापो लोकसंहारसम्भृतः।
रक्ष्यते दैवतैर्नित्यं यतस्तद् गाण्डिवं धनुः ॥ १९ ॥

वज्रकी गाँठको 'गाण्डी' कहा गया है। यह धनुष उसीका बना हुआ है, इसलिये गाण्डीव कहलाता है। जगत्का संहार करनेके लिये इसका निर्माण हुआ है। देवतालोग सदा इसकी रक्षा करते हैं ॥ १९ ॥

एष कृत्ये समुत्पन्ने तत् तद् धारयते बलम्।
सहस्रशतसंख्येन प्राणेन सततं ध्रुवः ॥ २० ॥

यह धनुष आवश्यकता पड़नेपर लाखगुनी शक्तिसे सम्पन्न हो वैसे-वैसे ही बलको भी धारण करता है और सदा अविचल बना रहता है ॥ २० ॥

अशास्यानपि शास्त्येष रक्षोबन्धुषु राजसु।
सृष्टः प्रथमतश्चण्डो ब्रह्मणा ब्रह्मवादिना ॥ २१ ॥

ब्रह्मवादी ब्रह्माजीने पहले इस प्रचण्ड धनुषका निर्माण किया था। यह राक्षससदृश राजाओंमेंसे अदम्य नरेशोंका भी दमन कर डालता है ॥ २१ ॥

एतच्छस्त्रं नरेन्द्राणां महच्चक्रेण भासितम्।
पुत्राः सलिलराजस्य धारयन्ति महोदयम् ॥ २२ ॥

यह धनुष राजाओंके लिये एक महान् अस्त्र है और चक्रके समान उद्भासित होता रहता है। इस महान् अभ्युदयकारी धनुषको जलेश वरुणके पुत्र धारण करते हैं ॥ २२ ॥

एतत् सलिलराजस्यच्छत्रं छत्रगृहे स्थितम्।
सर्वतः सलिलं शीतं जीमूत इव वर्षति ॥ २३ ॥

और यह सलिलराज वरुणका छत्र है, जो छत्रगृहमें रक्खा हुआ है। यह छत्र मेघकी भाँति सब ओरसे शीतल जल बरसाता रहता है ॥ २३ ॥

एतच्छत्रात् परिभ्रष्टं सलिलं सोमनिर्मलम्।

तमसा मूर्छितं भाति येन नाच्छेति दर्शनम् ॥ २४ ॥

इस छत्रसे गिरा हुआ चन्द्रमाके समान निर्मल जल अन्धकारसे आच्छन्न रहता है, जिससे दृष्टिपथमें नहीं आता है ॥

बहून्यद्भुतरूपाणि द्रष्टव्यानीह मातले ।

तव कार्यावरोधस्तु तस्माद् गच्छाव मा चिरम् ॥ २५ ॥

मातले ! इस वरुणलोकमें देखने योग्य बहुत-सी अद्भुत वस्तुएँ हैं; परंतु सबको देखनेसे तुम्हारे कार्यमें रुकावट पड़ेगी इसलिये हमलोग शीघ्र ही यहाँसे नागलोकमें चलें ॥ २५ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि मातलिवरान्वेषणे अष्टनवतितमोऽध्यायः ॥ ९८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें मातलिके द्वारा वरकी खोजविषयक अट्ठानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ९८ ॥

एकोनशततमोऽध्यायः

नारदजीके द्वारा पाताललोकका प्रदर्शन

नारद उवाच

एतत् तु नागलोकस्य नाभिस्थाने स्थितं पुरम् ।
पातालमिति विख्यातं दैत्यदानवसेवितम् ॥ १ ॥
इदमद्भिः समं प्राप्ता ये केचिद् भुवि जंगमाः ।
प्रविशन्तो महानादं नदन्ति भयपीडिताः ॥ २ ॥

नारदजी बोले--मातले ! यह जो नागलोकके नाभि-स्थान (मध्यभाग) में स्थित नगर दिखायी देता है, इसे पाताल कहते हैं । इस नगरमें दैत्य और दानव निवास करते हैं । यहाँ जो कोई भूतलके जङ्गम प्राणी जलके साथ बहकर आ जाते हैं, वे इस पातालमें पहुँचनेपर भयसे पीड़ित हो बड़े जोरसे चीत्कार करने लगते हैं ॥ १-२ ॥

अत्रासुरोऽग्निः सततं दीप्यते वारिभोजनः ।
व्यापारेण धृतात्मानं निबद्धं समबुध्यत ॥ ३ ॥

यहाँ जलका ही आहार करनेवाली आसुर अग्नि सदा उद्दीप्त रहती है । उसे यत्नपूर्वक मर्यादामें स्थापित किया गया है । वह अग्नि अपने-आपको देवताओंद्वारा नियन्त्रित समझती है; इसलिये सब ओर फैल नहीं पाती ॥ ३ ॥

अत्रामृतं सुरैः पीत्वा निहितं निहतारिभिः ।
अतः सोमस्य हानिश्च वृद्धिश्चैव प्रदृश्यते ॥ ४ ॥

देवताओंने अपने शत्रुओंका संहार करके अमृत पीकर उसका अवशिष्ट भाग यहीं रख दिया था । इसीलिये अमृत-मय सोमकी हानि और वृद्धि देखी जाती है ॥ ४ ॥

अत्रादित्यो हयशिराः काले पर्वणि पर्वणि ।
उत्तिष्ठति सुवर्णाख्यो वाग्भिरापूरयञ्जगत् ॥ ५ ॥

यहाँ अदितिनन्दन हयग्रीव विष्णु सुवर्णमय कान्ति धारण करके प्रत्येक पर्वपर वेदध्वनिके द्वारा जगत्को परिपूर्ण करते हुए ऊपरको उठते हैं ॥ ५ ॥

यस्मादलं समस्तास्ताः पतन्ति जलमूर्तयः ।
तस्मात् पातालमित्येव ख्यायते पुरमुत्तमम् ॥ ६ ॥

जलस्वरूप जितनी भी वस्तुएँ हैं, वे सब वहाँ पर्याप्त-रूपसे गिरती हैं, इसलिये ('पतन्ति अलम्' इस व्युत्पत्तिके अनुसार पात+अलम्--इन दोनों शब्दोंके योगसे) यह उत्तम नगर 'पाताल' कहलाता है ॥ ६ ॥

ऐरावणोऽस्मात् सलिलं गृहीत्वा जगतो हितः ।
मेघेष्वामुञ्चते शीतं यन्महेन्द्रः प्रवर्षति ॥ ७ ॥

जगत्का हित करनेवाला और समुद्रसे उत्पन्न होनेवाला वर्षाकालीन वायु यहींसे शीतल जल लेकर मेघोंमें स्थापित करता है, जिसे देवराज इन्द्र भूतलपर बरसाते हैं ॥ ७ ॥

अत्र नानाविधाकारास्तिमयो नैकरूपिणः ।
अप्सु सोमप्रभां पीत्वा वसन्ति जलचारिणः ॥ ८ ॥

नाना प्रकारकी आकृति तथा भाँति-भाँतिके रूपवाले जलचारी तिमि (ह्वेल) मत्स्य चन्द्रमाकी किरणोंका पान करते हुए यहाँ जलमें निवास करते हैं ॥ ८ ॥

अत्र सूर्यांशुभिर्भिन्नाः पातालतलमाश्रिताः ।
मृता हि दिवसे सूत पुनर्जीवन्ति वै निशि ॥ ९ ॥

मातले ! ये पातालनिवासी जीव-जन्तु यहाँ दिनमें सूर्य-की किरणोंसे संतप्त हो मृतप्राय अवस्थामें पहुँच जाते हैं; परंतु रात होनेपर अमृतमयी चन्द्ररश्मियोंके सम्पर्कसे पुनः जी उठते हैं ॥ ९ ॥

उदयन् नित्यशश्चात्र चन्द्रमा रश्मिबाहुभिः ।
अमृतं स्पृश्य संस्पर्शात् संजीवयति देहिनः ॥ १० ॥

यहाँ प्रतिदिन उदय लेनेवाले चन्द्रमा अपनी किरण-मयी भुजाओंसे अमृतका स्पर्श कराकर उसके द्वारा यहाँके मरणासन्न जीवोंको जीवन प्रदान करते हैं ॥ १० ॥

अत्र तेऽधर्मनिरता बद्धाः कालेन पीडिताः ।
दैतेया निवसन्ति स्म वासवेन हृतश्रियः ॥ ११ ॥

इन्द्रने जिनकी सम्पत्ति हर ली है, वे अधर्मपरायण दैत्य कालसे बद्ध एवं पीड़ित होकर इसी स्थानमें निवास करते हैं ॥ ११ ॥

अत्र भूतपतिर्नाम सर्वभूतमहेश्वरः।
भूतये सर्वभूतानामचरत् तप उत्तमम् ॥ १२ ॥

सर्वभूतमहेश्वर भगवान् भूतनाथने सम्पूर्ण प्राणियोंके कल्याणके लिये यहाँ उत्तम तपस्या की थी ॥ १२ ॥

अत्र गोव्रतिनो विप्राः स्वाध्यायाम्नायकर्शिताः।
त्यक्तप्राणा जितस्वर्गा निवसन्ति महर्षयः ॥ १३ ॥

वेदपाठसे दुर्बल हुए तथा प्राणोंकी परवा न करके तपस्याद्वारा स्वर्गलोकपर विजय पानेवाले गोव्रतधारी ब्राह्मण महर्षिगण यहाँ निवास करते हैं ॥ १३ ॥

यत्रतत्रशयो नित्यं येन केनचिदाशितः।
येन केनचिदाच्छन्नः स गोव्रत इहोच्यते ॥ १४ ॥

जो जहाँ कहीं भी सो लेता है, जिस किसी फल-मूल आदिसे भोजनका कार्य चला लेता है तथा वल्कल आदि जिस किसी वस्तुसे भी शरीरको ढक लेता है, वही यहाँ 'गो-व्रतधारी' कहलाता है ॥ १४ ॥

ऐरावणो नागराजो वामनः कुमुदोऽञ्जनः।
प्रसूताः सुप्रतीकस्य वंशे वारणसत्तमाः ॥ १५ ॥

यहाँ नागराज ऐरावत, वामन, कुमुद और अञ्जन नामक श्रेष्ठ गज सुप्रतीकके वंशमें उत्पन्न हुए हैं ॥ १५ ॥

पश्य यद्यत्र ते कश्चिद् रोचते गुणतो वरः।
वरयिष्यामि तं गत्वा यत्नमास्थाय मातले ॥ १६ ॥

मातले ! देखो, यदि, यहाँ तुम्हें कोई गुणवान् वर पसंद हो तो मैं चलकर यत्नपूर्वक उसका वरण करूँगा ॥ १६ ॥

अण्डमेतज्जले न्यस्तं दीप्यमानमिव श्रिया।
आ प्रजानां निसर्गाद् वै नोद्भिद्यति न सर्पति ॥ १७ ॥

जलके भीतर यह एक अण्डा रक्खा हुआ है, जो यहाँ अपनी प्रभासे उद्भासित-सा हो रहा है ! जबसे प्रजाजनोंकी सृष्टि आरम्भ हुई है, तबसे लेकर अबतक यह अण्डा न तो फूटता है और न अपने स्थानसे इधर-उधर जाता ही है ॥ १७ ॥

नास्य जातिं निसर्गं वा कथ्यमानं शृणोमि वै।
पितरं मातरं चापि नास्य जानाति कश्चन ॥ १८ ॥

इसकी जाति अथवा स्वभावके विषयमें कभी किसीको कुछ कहते नहीं सुना है। इसके पिता और माताको भी कोई नहीं जानता है ॥ १८ ॥

अतः किल महानग्निरन्तकाले समुत्थितः।
धक्ष्यते मातले सर्वं त्रैलोक्यं सचराचरम् ॥ १९ ॥

मातले ! कहते हैं, प्रलयकालमें इस अण्डेके भीतरसे बड़ी भारी आग प्रकट होगी, जो चराचर प्राणियोंसहित समस्त त्रिलोकीको भस्म कर डालेगी ॥ १९ ॥

मातलिस्त्वब्रवीच्छ्रुत्वा नारदस्याथ भाषितम्।
न मेऽत्र रोचते कश्चिदन्यतो व्रज माचिरम् ॥ २० ॥

नारदजीका यह भाषण सुनकर मातलिने कहा—'यहाँ मुझे कोई भी वर पसंद नहीं आया; अतः शीघ्र ही अन्यत्र कहीं चलिये' ॥ २० ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि मातलिवरान्वेषणे एकोनशततमोऽध्यायः ॥ ९९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें मातलिके द्वारा वरकी खोजविषयक निन्यानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ९९ ॥

शततमोऽध्यायः

हिरण्यपुरका दिग्दर्शन और वर्णन

नारद उवाच

हिरण्यपुरमित्येतत् ख्यातं पुरवरं महत्।
दैत्यानां दानवानां च मायाशतविचारिणाम् ॥ १ ॥

नारदजी कहते हैं—मातले ! यह हिरण्यपुर नामक श्रेष्ठ एवं विशाल नगर है, जहाँ सैकड़ों मायाओंके साथ विचरनेवाले दैत्यों और दानवोंका निवासस्थान है ॥ १ ॥

अनल्पेन प्रयत्नेन निर्मितं विश्वकर्मणा।
मयेन मनसा सृष्टं पातालतलमाश्रितम् ॥ २ ॥

असुरोंके विश्वकर्मा मयने अपने मानसिक संकल्पके अनुसार महान् प्रयत्न करके पाताललोकके भीतर इस नगरका निर्माण किया है ॥ २ ॥

अत्र मायासहस्राणि विकुर्वाणा महौजसः।
दानवा निवसन्ति स्म शूरा दत्तवराः पुरा ॥ ३ ॥

यहाँ सहस्रों मायाओंका प्रयोग करनेवाले और महान् बल-पराक्रमसे सम्पन्न वे शूरवीर दानव निवास करते हैं, जिन्हें पूर्वकालमें अवध्य होनेका वरदान प्राप्त हो चुका है ॥ ३ ॥

नैते शक्रेण नान्येन यमेन वरुणेन वा।
शक्यन्ते वशमानेतुं तथैव धनदेन च ॥ ४ ॥

इन्द्र, यम, वरुण, कुबेर तथा और कोई देवता भी इन्हें वशमें नहीं कर सकता ॥ ४ ॥

असुराः कालखञ्जाश्च तथा विष्णुपदोद्भवाः।

नैर्ऋता यातुधानाश्च ब्रह्मपादोद्भवाश्च ये ॥ ५ ॥
दंष्ट्रिणो भीमवेगाश्च वातवेगपराक्रमाः ।
मायावीर्योपसम्पन्ना निवसन्त्यत्र मातले ॥ ६ ॥

मातले ! भगवान् विष्णुके चरणोंसे उत्पन्न हुए कालखञ्ज नामक असुर तथा ब्रह्माजीके पैरोंसे प्रकट हुए बड़ी-बड़ी दाढ़ोंवाले, भयंकर वेगसे युक्त, प्रगतिशील पवनके समान पराक्रमी एवं मायाबलसे सम्पन्न नैर्ऋत और यातुधान इस नगरमें निवास करते हैं ॥ ५-६ ॥

निवातकवचा नाम दानवा युद्धदुर्मदाः ।
जानासि च यथा शक्रो नैताञ्शक्नोति बाधितुम् ॥ ७ ॥

यहीं निवातकवच नामक दानव निवास करते हैं, जो युद्धमें उन्मत्त होकर लड़ते हैं। तुम तो जानते ही हो कि इन्द्र भी इन्हें पराजित करनेमें समर्थ नहीं हो रहे हैं ॥ ७ ॥

बहुशो मातले त्वं च तव पुत्रश्च गोमुखः ।
निर्भग्नो देवराजश्च सहपुत्रः शचीपतिः ॥ ८ ॥

मातले ! तुम, तुम्हारा पुत्र गोमुख तथा पुत्रसहित शचीपति देवराज इन्द्र अनेक बार इनके सामनेसे मैदान छोड़कर भाग चुके हैं ॥ ८ ॥

पश्य वेश्मानि रौक्माणि मातले राजतानि च ।
कर्मणा विधियुक्तेन युक्तान्युपगतानि च ॥ ९ ॥

मातले ! देखो, इनके ये सोने और चाँदीके भवन कितनी शोभा पा रहे हैं। इनका निर्माण शिल्पशास्त्रीय विधानके अनुसार हुआ है तथा ये सभी महल एक दूसरेसे सटे हुए हैं ॥ ९ ॥

वैदूर्यमणिचित्राणि प्रवालरुचिराणि च ।
अर्कस्फटिकशुभ्राणि वज्रसारोज्ज्वलानि च ॥ १० ॥

इन सबमें वैदूर्यमणि जड़ी हुई है, जिससे इनकी विचित्र शोभा हो रही है। स्थान-स्थानपर मूँगोंसे सुसज्जित होनेके कारण इनका सौन्दर्य अधिक बढ़ गया है। आकके फूल और स्फटिकमणिके समान ये उज्ज्वल दिखायी देते हैं तथा उत्तम हीरोंसे जटित होनेके कारण उनकी दीप्ति अधिक बढ़ गयी है ॥ १० ॥

पार्थिवानीव चाभान्ति पद्मरागमयानि च ।
शैलानीव च दृश्यन्ते दारवाणीव चाप्युत ॥ ११ ॥

इनमेंसे कुछ तो मिट्टीके बने हुए-से जान पड़ते हैं, कुछ पद्मरागमणिद्वारा निर्मित प्रतीत होते हैं, कुछ मकान पत्थरोंके और कुछ लकड़ियोंके बने हुए-से दिखायी देते हैं ॥ ११ ॥

सूर्यरूपाणि चाभान्ति दीप्ताग्निसदृशानि च ।
मणिजालविचित्राणि प्रांशूनि निबिडानि च ॥ १२ ॥

ये सूर्य तथा प्रज्वलित अग्निके समान प्रकाशित हो रहे हैं। मणियोंकी झालरोंसे इनकी विचित्र छटा दृष्टिगोचर हो रही है। ये सभी भवन ऊँचे और घने हैं ॥ १२ ॥

नैतानि शक्यं निर्देष्टुं रूपतो द्रव्यतस्तथा ।
गुणतश्चैव सिद्धानि प्रमाणगुणवन्ति च ॥ १३ ॥

हिरण्यपुरके ये भवन कितने सुन्दर हैं और किन-किन द्रव्योंसे बने हुए हैं, इसका निरूपण नहीं किया जा सकता। अपने उत्तम गुणोंके कारण इनकी बड़ी प्रसिद्धि है ! लम्बाई-चौड़ाई तथा सर्वगुणसम्पन्नताकी दृष्टिसे ये सभी प्रशंसाके योग्य हैं ॥ १३ ॥

आक्रीडान् पश्य दैत्यानां तथैव शयनान्युत ।
रत्नवन्ति महार्हाणि भाजनान्यासनानि च ॥ १४ ॥

देखो, दैत्योंके उद्यान एवं क्रीडास्थान कितने सुन्दर हैं ! इनकी शय्याएँ भी इनके अनुरूप ही हैं। इनके उपयोगमें आनेवाले पात्र और आसन भी रत्नजटित एवं बहुमूल्य हैं ॥ १४ ॥

जलदाभांस्तथा शैलांस्तोयप्रस्रवणानि च ।
कामपुष्पफलांश्चापि पादपान् कामचारिणः ॥ १५ ॥

यहाँके पर्वत मेघोंकी घटाके समान जान पड़ते हैं। वहाँसे जलके झरने गिर रहे हैं। इन वृक्षोंकी ओर दृष्टिपात करो, ये सभी इच्छानुसार फल और फूल देनेवाले तथा कामचारी हैं ॥ १५ ॥

मातले कश्चिदत्रापि रुचिरस्ते वरो भवेत् ।
अथवान्यां दिशं भूमेर्गच्छाव यदि मन्यसे ॥ १६ ॥

मातले ! यहाँ भी तुम्हें कोई सुन्दर वर प्राप्त हो सकता है। अथवा तुम्हारी राय हो, तो इस भूमिकी किसी दूसरी दिशाकी ओर चलें ॥ १६ ॥

मातलिस्त्वब्रवीदेनं भाषमाणं तथाविधम् ।
देवर्षे नैव मे कार्यं विप्रियं त्रिदिवौकसाम् ॥ १७ ॥

तब ऐसी बातें करनेवाले नारदजीसे मातलिने कहा—'देवर्षे ! मुझे कोई ऐसा कार्य नहीं करना चाहिये, जो देवताओंको अप्रिय लगे ॥ १७ ॥

नित्यानुषक्तवैरा हि भ्रातरो देवदानवाः ।
परपक्षेण सम्बन्धं रोचयिष्याम्यहं कथम् ॥ १८ ॥

यद्यपि देवता और दानव परस्पर भाई ही हैं, तथापि इनमें सदा वैरभाव बना रहता है। ऐसी दशामें मैं शत्रुपक्षके साथ अपनी पुत्रीका सम्बन्ध कैसे पसंद करूँगा ? ॥ १८ ॥

अन्यत्र साधु गच्छाव द्रष्टुं नार्हामि दानवान् ।
जानामि तव चात्मानं हिंसात्मकमनं तथा ॥ १९ ॥

'इसलिये अच्छा यही होगा कि हमलोग किसी दूसरी जगह चलें । मैं दानवोंसे साक्षात्कार भी नहीं कर सकता । मैं यह भी जानता हूँ कि आपके मनमें हिंसात्मक कार्य (युद्ध) का अवसर उपस्थित करनेकी प्रबल इच्छा रहती है' ॥ १९ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि मातलिवरान्वेषणे शततमोऽध्यायः ॥ १०० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें मातलिके द्वारा वरकी खोजविषयक सौवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥१००॥

एकाधिकशततमोऽध्यायः

गरुड़लोक तथा गरुड़की संतानोंका वर्णन

नारद उवाच

अयं लोकः सुपर्णानां पक्षिणां पन्नगाशिनाम् ।
विक्रमे गमने भारे नैषामस्ति परिश्रमः ॥ १ ॥

नारदजी कहते हैं—मातले ! यह सर्वभोजी गरुड़वंशी पक्षियोंका लोक है, जिन्हें पराक्रम प्रकट करने, दूरतक उड़ने और महान् भार ढोनेमें तनिक भी परिश्रम नहीं होता ॥ १ ॥

वैनतेयसुतैः सूत षड्भिस्ततमिदं कुलम् ।
सुमुखेन सुनाम्ना च सुनेत्रेण सुवर्चसा ॥ २ ॥
सुरुचा पक्षिराजेन सुबलेन च मातले ।
वर्धितानि प्रसूत्या वै विनताकुलकर्तृभिः ॥ ३ ॥
पक्षिराजाभिजात्यानां सहस्राणि शतानि च ।
कश्यपस्य ततो वंशे जातैर्भूतिविवर्धनैः ॥ ४ ॥

देवसारथि मातले ! यहाँ विनतानन्दन गरुड़के छः पुत्रोंने अपनी वंशपरम्पराका विस्तार किया है, जिनके नाम इस प्रकार हैं—सुमुख, सुनामा, सुनेत्र, सुवर्चा, सुरुच तथा पक्षिराज सुबल । विनताके वंशकी वृद्धि करनेवाले, कश्यपकुलमें उत्पन्न हुए तथा ऐश्वर्यका विस्तार करनेवाले इन छहों पक्षियोंने गरुड़-जातिकी सैकड़ों और सहस्रों शाखाओंका विस्तार किया है ॥ २-४ ॥

सर्वे ह्येते श्रिया युक्ताः सर्वे श्रीवत्सलक्षणाः ।
सर्वे श्रियमभीप्सन्तो धारयन्ति बलान्युत ॥ ५ ॥

ये सभी श्रीसम्पन्न तथा श्रीवत्सचिह्नसे विभूषित हैं । सभी धन-सम्पत्तिकी कामना रखते हुए अपने भीतर अनन्त बल धारण करते हैं ॥ ५ ॥

कर्मणा क्षत्रियाश्चैते निर्घृणा भोगिभोजिनः ।
ज्ञातिसंक्षयकर्तृत्वाद् ब्राह्मण्यं न लभन्ति वै ॥ ६ ॥

ब्राह्मणकुलमें उत्पन्न होकर भी ये कर्मसे क्षत्रिय हैं। इनमें दया नहीं होती है । ये सर्पोंको ही अपना आहार बनाते हैं । इस प्रकार अपने भाई-बन्धुओं (नागों) का संहार करनेके कारण इन्हें ब्राह्मणत्व प्राप्त नहीं है ॥ ६ ॥

नामानि चैषां वक्ष्यामि यथा प्राधान्यतः शृणु ।
मातले श्लाघ्यमेतद्धि कुलं विष्णुपरिग्रहम् ॥ ७ ॥

मातले ! अब मैं इनके कुछ प्रधान व्यक्तियोंके नाम बताऊँगा, तुम श्रवण करो । इनका कुल भगवान् विष्णुका पार्षद होनेके कारण प्रशंसनीय है ॥ ७ ॥

दैवतं विष्णुरेतेषां विष्णुरेव परायणम् ।
हृदि चैषां सदा विष्णुर्विष्णुरेव सदा गतिः ॥ ८ ॥

भगवान् विष्णु ही इनके देवता हैं । वे ही इनके परम आश्रय हैं । भगवान् विष्णु इनके हृदयमें सदा विराजते हैं और वे विष्णु ही सदा इनकी गति हैं ॥ ८ ॥

सुवर्णचूडो नागाशी दारुणश्चण्डतुण्डकः ।
अनिलश्चानलश्चैव विशालाक्षोऽथ कुण्डली ॥ ९ ॥
पङ्कजिद् वज्रविष्कम्भो वैनतेयोऽथ वामनः ।
वातवेगो दिशाचक्षुर्निमेषोऽनिमिषस्तथा ॥ १० ॥
त्रिरावः सप्तरावश्च वाल्मीकिर्द्वीपकस्तथा ।
दैत्यद्वीपः सरिद्द्वीपः सारसः पद्मकेतनः ॥ ११ ॥
सुमुखश्चित्रकेतुश्च चित्रबर्हस्तथानघः ।
मेषहृत् कुमुदो दक्षः सर्पान्तः सहभोजनः ॥ १२ ॥
गुरुभारः कपोतश्च सूर्यनेत्रश्चिरान्तकः ।
विष्णुधर्मा कुमारश्च परिबर्हो हरिस्तथा ॥ १३ ॥
सुस्वरो मधुपर्कश्च हेमवर्णस्तथैव च ।
मालयो मातरिश्वा च निशाकरदिवाकरौ ॥ १४ ॥
एते प्रदेशमात्रेण मयोक्ता गरुडात्मजाः ।
प्राधान्यतस्ते यशसा कीर्तिताः प्राणिनश्च ये ॥ १५ ॥

सुवर्णचूड, नागाशी, दारुण, चण्डतुण्डक, अनिल, अनल, विशालाक्ष, कुण्डली, पङ्कजित्, वज्रविष्कम्भ, वैनतेय, वामन, वातवेग, दिशाचक्षु, निमेष, अनिमिष, त्रिराव, सप्तराव, वाल्मीकि, द्वीपक, दैत्यद्वीप, सरिद्द्वीप, सारस, पद्मकेतन, सुमुख, चित्रकेतु, चित्रबर्ह, अनघ, मेषहृत्, कुमुद, दक्ष, सर्पान्त, सहभोजन, गुरुभार, कपोत, सूर्यनेत्र, चिरान्तक, विष्णुधर्मा, कुमार, परिबर्ह, हरि, सुस्वर, मधुपर्क, हेमवर्ण, मालय, मातरिश्वा, निशाकर तथा दिवाकर । इस प्रकार संक्षेपसे मैंने इन मुख्य-मुख्य गरुड़ संतानोंका वर्णन किया है । ये सभी यशस्वी तथा महाबली बताये गये हैं ॥९-१५॥

यद्यत्र न रुचिः काचिदेहि गच्छाव मातले ।

गोमाता सुरभि





भगवान् विष्णुके द्वारा गरुड़का गर्वनाश

तं नयिष्यामि देशं त्वां वरं यत्रोपलप्स्यसे ॥ १६ ॥

मातले ! यदि इनमें तुम्हारी कोई रुचि न हो तो आओ, अन्यत्र चलें। अब मैं तुम्हें उस स्थानपर ले जाऊँगा, जहाँ तुम्हें कोई-न-कोई वर अवश्य मिल जायगा ॥ १६ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि मातलिवरान्वेषणे एकाधिकशततमोऽध्यायः ॥ १०१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें मातलिके द्वारा वरकी खोजविषयक एक सौ एकवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥१०१॥

द्व्यधिकशततमोऽध्यायः

सुरभि और उसकी संतानोंके साथ रसातलके सुखका वर्णन

नारद उवाच

इदं रसातलं नाम सप्तमं पृथिवीतलम्।
यत्रास्ते सुरभिर्माता गवाममृतसम्भवा ॥ १ ॥

नारदजी बोले—मातले ! यह पृथ्वीका सातवाँ तल है, जिसका नाम रसातल है। यहाँ अमृतसे उत्पन्न हुई गोमाता सुरभि निवास करती हैं ॥ १ ॥

क्षरन्ती सततं क्षीरं पृथिवीसारसम्भवम्।
षण्णां रसानां सारेण रसमेकमनुत्तमम् ॥ २ ॥

ये सुरभि पृथ्वीके सारतत्त्वसे प्रकट, छः रसोंके सारभागसे संयुक्त एवं सर्वोत्तम, अनिर्वचनीय एकरसरूप क्षीरको सदा अपने स्तनोंसे प्रवाहित करती रहती हैं ॥ २ ॥

अमृतेनाभितृप्तस्य सारमुद्गिरतः पुरा।
पितामहस्य वदनादुदतिष्ठदनिन्दिता ॥ ३ ॥

पूर्वकालमें जब ब्रह्मा अमृतपान करके तृप्त हो उसका सारभाग अपने मुखसे निकाल रहे थे, उसी समय उनके मुखसे अनिन्दिता सुरभिका प्रादुर्भाव हुआ था ॥ ३ ॥

यस्याः क्षीरस्य धाराया निपतन्त्या महीतले।
ह्रदः कृतः क्षीरनिधिः पवित्रं परमुच्यते ॥ ४ ॥

पृथ्वीपर निरन्तर गिरती हुई उस सुरभिके क्षीरकी धारासे एक अनन्त ह्रद बन गया, जिसे 'क्षीरसागर' कहते हैं। वह परम पवित्र है ॥ ४ ॥

पुष्पितस्येव फेनेन पर्यन्तमनुवेष्टितम्।
पिबन्तो निवसन्त्यत्र फेनपा मुनिसत्तमाः ॥ ५ ॥

क्षीरसागरसे जो फेन उत्पन्न होता है, वह पुष्पके समान जान पड़ता है। वह फेन क्षीरसमुद्रके तटपर फैला रहता है, जिसे पीते हुए फेनपसंज्ञक बहुत-से मुनिश्रेष्ठ इस रसातलमें निवास करते हैं ॥ ५ ॥

फेनपा नाम ते ख्याताः फेनाहाराश्च मातले।
उग्रे तपसि वर्तन्ते येषां बिभ्यति देवताः ॥ ६ ॥

मातले ! फेनका आहार करनेके कारण वे महर्षिगण 'फेनप' नामसे विख्यात हैं। वे बड़ी कठोर तपस्यामें संलग्न रहते हैं। उनसे देवतालोग भी डरते हैं ॥ ६ ॥

अस्याश्चतस्रो धेन्वोऽन्या दिक्षु सर्वासु मातले।
निवसन्ति दिशां पाल्यो धारयन्त्यो दिशः स्म ताः॥७॥

मातले ! सुरभिकी पुत्रीस्वरूपा चार अन्य धेनुएँ हैं, जो सब दिशाओंमें निवास करती हैं। वे दिशाओंका धारण-पोषण करनेवाली हैं ॥ ७ ॥

पूर्वां दिशं धारयते सुरूपा नाम सौरभी।
दक्षिणां हंसिका नाम धारयत्यपरां दिशम् ॥ ८ ॥

सुरूपा नामवाली धेनु पूर्व दिशाको धारण करती है तथा उससे भिन्न दक्षिण दिशाका हंसिका नामवाली धेनु धारण-पोषण करती है ॥ ८ ॥

पश्चिमा वारुणी दिक् च धार्यते वै सुभद्रया।
महानुभावया नित्यं मातले विश्वरूपया ॥ ९ ॥

मातले ! महाप्रभावशालिनी विश्वरूपा सुभद्रा नामवाली सुरभिकन्याके द्वारा वरुणदेवकी पश्चिम दिशा धारण की जाती है ॥ ९ ॥

सर्वकामदुघा नाम धेनुर्धारयते दिशम्।
उत्तरां मातले धर्म्यां तथैलविलसंज्ञिताम् ॥ १० ॥

चौथी धेनुका नाम सर्वकामदुघा है। मातले ! वह धर्मयुक्त कुबेरसम्बन्धिनी उत्तर दिशाका धारण-पोषण करती है ॥ १० ॥

आसां तु पयसा मिश्रं पयो निर्मथ्य सागरे।
मन्थानं मन्दरं कृत्वा देवैरसुरसंहितैः ॥ ११ ॥
उद्धृता वारुणी लक्ष्मीरमृतं चापि मातले।
उच्चैःश्रवाश्चाश्वराजो मणिरत्नं च कौस्तुभम् ॥ १२ ॥

देवसारथे ! देवताओंने असुरोंसे मिलकर मन्दराचलको मथानी बनाकर इन्हीं धेनुओंके दूधसे मिश्रित क्षीरसागरकी दुग्धराशिका मन्थन किया और उससे वारुणी, लक्ष्मी एवं अमृतको प्रकट किया। तत्पश्चात् उस समुद्रमन्थनसे अश्वराज उच्चैःश्रवा तथा मणिरत्न कौस्तुभका भी प्रादुर्भाव हुआ था ॥ ११-१२ ॥

सुधाहारेषु च सुधां स्वधाभोजिषु च स्वधाम्।
अमृतं चामृताशेषु सुरभी क्षरते पयः ॥ १३ ॥

सुरभि अपने स्तनोंसे जो दूध बहाती है, वह सुधाभोजी

लोगोंके लिये सुधा, स्वधाभोजी पितरोंके लिये स्वधा तथा अमृतभोजी देवताओंके लिये अमृतरूप है ॥ १३ ॥

अत्र गाथा पुरा गीता रसातलनिवासिभिः ।
पौराणी श्रूयते लोके गीयते या मनीषिभिः ॥ १४ ॥

यहाँ रसातलनिवासियोंने पूर्वकालमें जो पुरातन गाथा गायी थी, वह अब भी लोकमें सुनी जाती है और मनीषी पुरुष उसका गान करते हैं ॥ १४ ॥

न नागलोके न स्वर्गे न विमाने त्रिविष्टपे ।
परिवासः सुखस्तादृग् रसातलतले यथा ॥ १५ ॥

वह गाथा इस प्रकार है—'नागलोक, स्वर्गलोक तथा स्वर्गलोकके विमानमें निवास करना भी वैसा सुखदायक नहीं होता, जैसा रसातलमें रहनेसे सुख प्राप्त होता है' ॥ १५ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि मातलिवरान्वेषणे द्व्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १०२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें मातलिके द्वारा वरकी खोजविषयक एक सौ दोवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥१०२॥

त्र्यधिकशततमोऽध्यायः

नागलोकके नागोंका वर्णन और मातलिका नागकुमार सुमुखके साथ अपनी कन्याको ब्याहनेका निश्चय

नारद उवाच

इयं भोगवती नाम पुरी वासुकिपालिता ।
यादृशी देवराजस्य पुरीवर्यामरावती ॥ १ ॥

नारदजी बोले—मातले ! यह नागराज वासुकिद्वारा सुरक्षित उनकी भोगवती नामक पुरी है । देवराज इन्द्रकी सर्वश्रेष्ठ नगरी अमरावतीकी तरह ही यह भी सुख-समृद्धिसे सम्पन्न है ॥ १ ॥

एष शेषः स्थितो नागो येनेयं धार्यते सदा ।
तपसा लोकमुख्येन प्रभावसहिता मही ॥ २ ॥

ये शेषनाग स्थित हैं, जो अपने लोकप्रसिद्ध तपोबलसे प्रभावसहित इस सारी पृथ्वीको सदा सिरपर धारण करते हैं ॥

श्वेताचलनिभाकारो दिव्याभरणभूषितः ।
सहस्रं धारयन् मूर्ध्ना ज्वालाजिह्वो महाबलः ॥ ३ ॥

भगवान् शेषका शरीर कैलास पर्वतके समान श्वेत है । ये सहस्र मस्तक धारण करते हैं । इनकी जिह्वा अग्निकी ज्वालाके समान जान पड़ती है । ये महाबली अनन्त दिव्य आभूषणोंसे विभूषित होते हैं ॥ ३ ॥

इह नानाविधाकारा नानाविधविभूषणाः ।
सुरसायाः सुता नागा निवसन्ति गतव्यथाः ॥ ४ ॥

यहाँ सुरसाके पुत्र नागगण शोक-संतापसे रहित होकर निवास करते हैं । इनके रूप-रंग और आभूषण अनेक प्रकारके हैं ॥ ४ ॥

मणिस्वस्तिकचक्राङ्काः कमण्डलुकलक्षणाः ।
सहस्रसंख्या बलिनः सर्वे रौद्राः स्वभावतः ॥ ५ ॥

ये सभी नाग सहस्रोंकी संख्यामें यहाँ रहते हैं । ये सब-के-सब अत्यन्त बलवान् तथा स्वभावसे ही भयंकर हैं । इनमेंसे किन्हींके शरीरमें मणिका, किन्हींके स्वस्तिकका, किन्हींके चक्रका और किन्हींके शरीरमें कमण्डलुका चिह्न है ॥ ५ ॥

सहस्रशिरसः केचित् केचित् पञ्चशताननाः ।
शतशीर्षास्तथा केचित् केचित् त्रिशिरसोऽपि च ॥

कुछ नागोंके एक सहस्र सिर होते हैं, किन्हींके पाँच सौ, किन्हींके एक सौ और किन्हींके तीन ही सिर होते हैं ॥ ६ ॥

द्विपञ्चशिरसः केचित् केचित् सप्तमुखास्तथा ।
महाभोगा महाकायाः पर्वताभोगभोगिनः ॥ ७ ॥

कोई दो सिरवाले, कोई पाँच सिरवाले और कोई सात मुखवाले होते हैं । किन्हींके बड़े-बड़े फन, किन्हींके दीर्घ शरीर और किन्हींके पर्वतके समान स्थूल शरीर होते हैं ॥ ७ ॥

बहूनीह सहस्राणि प्रयुतान्यर्बुदानि च ।
नागानामेकवंशानां यथाश्रेष्ठं तु मे शृणु ॥ ८ ॥

यहाँ एक-एक वंशके नागोंकी कई हजार, कई लाख तथा कई अर्बुद संख्या है । मैं जेठे-छोटेके क्रमसे इनका संक्षिप्त परिचय देता हूँ, सुनो ॥ ८ ॥

वासुकिस्तक्षकश्चैव कर्कोटकधनंजयौ ।
कालियो नहुषश्चैव कम्बलाश्वतरावुभौ ॥ ९ ॥
बाह्यकुण्डो मणिर्नागस्तथैवापूरणः खगः ।
वामनश्चैलपत्रश्च कुकुरः कुकुणस्तथा ॥ १० ॥
आर्यको नन्दकश्चैव तथा कलशपोतकौ ।
कैलासकः पिञ्जरको नागश्चैरावतस्तथा ॥ ११ ॥
सुमनोमुखो दधिमुखः शङ्खो नन्दोपनन्दकौ ।
आप्तः कोटरकश्चैव शिखी निष्ठूरिकस्तथा ॥ १२ ॥
तित्तिरिर्हस्तिभद्रश्च कुमुदो माल्यपिण्डकः ।
द्वौ पद्मौ पुण्डरीकश्च पुष्पो मुद्गरपर्णकः ॥ १३ ॥

करवीरः पीठरकः संवृत्तो वृत्त एव च ।
पिण्डारो बिल्वपत्रश्च मूषिकादः शिरीषकः ॥ १४ ॥
दिलीपः शङ्खशीर्षश्च ज्योतिष्कोऽथापराजितः ।
कौरव्यो धृतराष्ट्रश्च कुहुरः कृशकस्तथा ॥ १५ ॥
विरजा धारणश्चैव सुबाहुर्मुखरो जयः ।
बधिरान्धौ विशुण्डिश्च विरसः सुरसस्तथा ॥ १६ ॥
एते चान्ये च बहवः कश्यपस्यात्मजाः स्मृताः ।
मातले पश्य यद्यत्र कश्चित् ते रोचते वरः॥ १७ ॥

वासुकि, तक्षक, कर्कोटक, धनंजय, कालिय, नहुष, कम्बल, अश्वतर, बाह्यकुण्ड, मणिनाग, आपूरण, खग, वामन, एलपत्र, कुकुर, कुकुण, आर्यक, नन्दक, कलश, पोतक, कैलासक, पिंजरक, ऐरावत, सुमनोमुख, दधिमुख, शंख, नन्द, उपनन्द, आप्त, कोटरक, शिखी, निष्ठूरिक, तित्तिरि, हस्तिभद्र, कुमुद, माल्यपिण्डक, पद्मनामक दो नाग, पुण्डरीक, पुष्प, मुद्गरपर्णक, करवीर, पीठरक, संवृत्त, वृत्त, पिण्डार, बिल्वपत्र, मूषिकाद, शिरीषक, दिलीप, शंखशीर्ष, ज्योतिष्क, अपराजित, कौरव्य, धृतराष्ट्र, कुहुर, कृशक, विरजा, धारण, सुबाहु, मुखर, जय, बधिर, अन्ध, विशुण्डि, विरस तथा सुरस—ये और दूसरे बहुत-से नाग कश्यपके वंशज हैं । मातले ! यदि यहाँ कोई वर तुम्हें पसंद हो तो देखो ॥ ९—१७ ॥

कण्व उवाच

मातलिस्त्वेकमव्यग्रः सततं संनिरीक्ष्य वै ।
पप्रच्छ नारदं तत्र प्रीतिमानिव चाभवत् ॥ १८ ॥

कण्व मुनि कहते हैं—राजन् ! तब मातलि स्थिरतापूर्वक एक नागका निरन्तर निरीक्षण करके प्रसन्न-से हो उठे और उन्होंने नारदजीसे पूछा ॥ १८ ॥

मातलिरुवाच

स्थितो य एष पुरतः कौरव्यस्यार्यकस्य तु ।
द्युतिमान् दर्शनीयश्च कस्यैष कुलनन्दनः ॥ १९ ॥

मातलिने कहा—देवर्षे ! यह जो कौरव्य और आर्यकके आगे कान्तिमान् और दर्शनीय नागकुमार खड़ा है, किसके कुलको आनन्दित करनेवाला है ? ॥ १९ ॥

कः पिता जननी चास्य कतमस्यैष भोगिनः ।
वंशस्य कस्यैष महान् केतुभूत इव स्थितः ॥ २० ॥

इसके पिता-माता कौन हैं ? यह किस नागका पौत्र है तथा किसके वंशकी महान् ध्वजके समान शोभा बढ़ा रहा है ? ॥ २० ॥

प्रणिधानेन धैर्येण रूपेण वयसा च मे ।
मनःप्रविष्टो देवर्षे गुणकेश्याः पतिर्वरः ॥ २१ ॥

देवर्षे ! यह अपनी एकाग्रता, धैर्य, रूप तथा तरुण अवस्थाके कारण मेरे मनमें समा गया है । यही गुणकेशीका श्रेष्ठ पति होनेके योग्य है ॥ २१ ॥

कण्व उवाच

मातलिं प्रीतमनसं दृष्ट्वा सुमुखदर्शनात् ।
निवेदयामास तदा माहात्म्यं जन्म कर्म च ॥ २२ ॥

कण्व मुनि कहते हैं—राजन् ! मातलिको सुमुखके दर्शनसे प्रसन्नचित्त देखकर नारदजीने उस समय उस नागकुमारके जन्म, कर्म और महत्त्वका परिचय देना आरम्भ किया ॥ २२ ॥

नारद उवाच

ऐरावतकुले जातः सुमुखो नाम नागराट् ।
आर्यकस्य मतः पौत्रो दौहित्रो वामनस्य च ॥ २३ ॥

नारदजी बोले—मातले ! यह नागराज सुमुख है, जो ऐरावतके कुलमें उत्पन्न हुआ है । यह आर्यकका पौत्र और वामनका दौहित्र है ॥ २३ ॥

एतस्य हि पिता नागश्चिकुरो नाम मातले ।
नचिराद् वैनतेयेन पञ्चत्वमुपपादितः ॥ २४ ॥

सूत ! इसके पिता नागराज चिकुर थे, जिन्हें थोड़े ही दिन पहले गरुड़ने अपना ग्रास बना लिया है ॥ २४ ॥

ततोऽब्रवीत् प्रीतमना मातलिर्नारदं वचः ।
एष मे रुचितस्तात जामाता भुजगोत्तमः ॥ २५ ॥

तब मातलिने प्रसन्नचित्त होकर नारदजीसे कहा—'तात ! यह श्रेष्ठ नाग मुझे अपना जामाता बनानेके योग्य जँच गया ॥ २५ ॥

क्रियतामत्र यत्नो वै प्रीतिमानस्म्यनेन वै ।
अस्मै नागाय वै दातुं प्रियां दुहितरं मुने ॥ २६ ॥

'मैं इससे बहुत प्रसन्न हूँ । आप इसीके लिये यत्न कीजिये । मुने ! मैं इसी नागको अपनी प्यारी पुत्री देना चाहता हूँ' ॥ २६ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि मातलिवरान्वेषणे त्र्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १०३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें मातलिके द्वारा वरकी खोजविषयक एक सौ तीनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १०३ ॥

चतुरधिकशततमोऽध्यायः

नारदजीका नागराज आर्यकके सम्मुख सुमुखके साथ मातलिकी कन्याके विवाहका प्रस्ताव एवं मातलिका नारदजी, सुमुख एवं आर्यकके साथ इन्द्रके पास आकर उनके द्वारा सुमुखको दीर्घायु प्रदान कराना तथा सुमुख-गुणकेशी-विवाह

(कण्व उवाच

मातलेर्वचनं श्रुत्वा नारदो मुनिसत्तमः ।
अब्रवीन्नागराजानमार्यकं कुरुनन्दन ॥)

कण्व मुनि कहते हैं—कुरुनन्दन ! मातलिकी बात सुनकर मुनिश्रेष्ठ नारदने नागराज आर्यकसे कहा ॥

नारद उवाच

सूतोऽयं मातलिर्नाम शक्रस्य दयितः सुहृत् ।
शुचिः शीलगुणोपेतस्तेजस्वी वीर्यवान् बली ॥ १ ॥

नारदजी बोले—नागराज ! ये इन्द्रके प्रिय सखा और सारथि मातलि हैं । इनमें पवित्रता, सुशीलता और समस्त सद्गुण भरे हुए हैं । ये तेजस्वी होनेके साथ ही बल-पराक्रम-से सम्पन्न हैं ॥ १ ॥

शक्रस्यायं सखा चैव मन्त्री सारथिरेव च ।
अल्पान्तरप्रभावश्च वासवेन रणे रणे ॥ २ ॥

इन्द्रके मित्र, मन्त्री और सारथि सब कुछ यही हैं । प्रत्येक युद्धमें ये इन्द्रके साथ रहते हैं । इनका प्रभाव इन्द्रसे कुछ ही कम है ॥ २ ॥

अयं हरिसहस्रेण युक्तं जैत्रं रथोत्तमम् ।
देवासुरेषु युद्धेषु मनसैव नियच्छति ॥ ३ ॥

ये देवासुर-संग्राममें सहस्र घोड़ोंसे जुते हुए देवराजके विजयशील श्रेष्ठ रथका अपने मानसिक संकल्पसे ही (संचालन और) नियन्त्रण करते हैं ॥ ३ ॥

अनेन विजितानश्वैर्दोर्भ्यां जयति वासवः ।
अनेन बलभित् पूर्वं प्रहृते प्रहरत्युत ॥ ४ ॥

ये अपने अश्वोंद्वारा जिन शत्रुओंको जीत लेते हैं, उन्हींको देवराज इन्द्र अपने बाहुबलसे पराजित करते हैं । पहले इनके द्वारा प्रहार हो जानेपर ही बलनाशक इन्द्र शत्रुओंपर प्रहार करते हैं ॥ ४ ॥

अस्य कन्या वरारोहा रूपेणासदृशी भुवि ।
सत्यशीलगुणोपेता गुणकेशीति विश्रुता ॥ ५ ॥

इनके एक सुन्दरी कन्या है, जिसके रूपकी समानता भूमण्डलमें कहीं नहीं है । उसका नाम है गुणकेशी । वह सत्य, शील और सद्गुणोंसे सम्पन्न है ॥ ५ ॥

तस्यास्य यत्नाच्चरतस्त्रैलोक्यममरद्युते ।
सुमुखो भवतः पौत्रो रोचते दुहितुः पतिः ॥ ६ ॥

देवोपम कान्तिवाले नागराज ! ये मातलि बड़े प्रयत्नसे कन्याके लिये वर ढूँढ़नेके निमित्त तीनों लोकोंमें विचरते हुए यहाँ आये हैं । आपका पौत्र सुमुख इन्हें अपनी कन्याका पति होने योग्य प्रतीत हुआ है; उसीको इन्होंने पसंद किया है ॥ ६ ॥

यदि ते रोचते सम्यग् भुजगोत्तम मा चिरम् ।
क्रियतामार्यक क्षिप्रं बुद्धिः कन्यापरिग्रहे ॥ ७ ॥

नागप्रवर आर्यक ! यदि आपको भी यह सम्बन्ध भली-भाँति रुचिकर जान पड़े तो शीघ्र ही इनकी पुत्रीको ब्याह लानेका निश्चय कीजिये ॥ ७ ॥

यथा विष्णुकुले लक्ष्मीर्यथा स्वाहा विभावसोः ।
कुले तव तथैवास्तु गुणकेशी सुमध्यमा ॥ ८ ॥

जैसे भगवान् विष्णुके घरमें लक्ष्मी और अग्निके घरमें स्वाहा शोभा पाती हैं, उसी प्रकार सुन्दरी गुणकेशी तुम्हारे कुलमें प्रतिष्ठित हो ॥ ८ ॥

पौत्रस्यार्थे भवांस्तस्माद् गुणकेशीं प्रतीच्छतु ।
सदृशीं प्रतिरूपस्य वासवस्य शचीमिव ॥ ९ ॥

अतः आप अपने पौत्रके लिये गुणकेशीको स्वीकार करें । जैसे इन्द्रके अनुरूप शची हैं, उसी प्रकार आपके सुयोग्य पौत्रके योग्य गुणकेशी है ॥ ९ ॥

पितृहीनमपि ह्येनं गुणतो वरयामहे ।
बहुमानाच्च भवतस्तथैवैरावतस्य च ॥ १० ॥
सुमुखस्य गुणैश्चैव शीलशौचदमादिभिः ।

आपके और ऐरावतके प्रति हमारे हृदयमें विशेष सम्मान है और यह सुमुख भी शील, शौच और इन्द्रियसंयम आदि गुणोंसे सम्पन्न है, इसलिये इसके पितृहीन होनेपर भी हम गुणोंके कारण इसका वरण करते हैं ॥ १०½ ॥

अभिगम्य स्वयं कन्यामयं दातुं समुद्यतः ॥ ११ ॥
मातलिस्तस्य सम्मानं कर्तुमर्हो भवानपि ।

ये मातलि स्वयं चलकर कन्यादान करनेको उद्यत हैं । आपको भी इनका सम्मान करना चाहिये ॥ ११½ ॥

कण्व उवाच

स तु दीनः प्रहृष्टश्च प्राह नारदमार्यकः ॥ १२ ॥

कण्व मुनि कहते हैं—कुरुनन्दन! तब नागराज आर्यक प्रसन्न होकर दीनभावसे बोले—॥ १२ ॥

आर्यक उवाच

म्रियमाणे तथा पौत्रे पुत्रे च निधनं गते।
कथमिच्छामि देवर्षे गुणकेशीं स्नुषां प्रति ॥ १३ ॥

आर्यक पुनः बोले—'देवर्षे! मेरा पुत्र मारा गया और पौत्रका भी उसी प्रकार मृत्युने वरण किया है; अतः मैं गुणकेशीको बहू बनानेकी इच्छा कैसे करूँ? ॥ १३ ॥

न मे नैतद् बहुमतं महर्षे वचनं तव।
सखा शक्रस्य संयुक्तः कस्यायं नेप्सितो भवेत्॥ १४ ॥

महर्षे! मेरी दृष्टिमें आपके इस वचनका कम आदर नहीं है और ये मातलि तो इन्द्रके साथ रहनेवाले उनके सखा हैं; अतः ये किसको प्रिय नहीं लगेंगे? ॥ १४ ॥

कारणस्य तु दौर्बल्याच्चिन्तयामि महामुने।
अस्य देहकरस्तात मम पुत्रो महाद्युते ॥ १५ ॥
भक्षितो वैनतेयेन दुःखार्तास्तेन वै वयम्।
पुनरेव च तेनोक्तं वैनतेयेन गच्छता।
मासेनान्येन सुमुखं भक्षयिष्य इति प्रभो ॥ १६ ॥
ध्रुवं तथा तद् भविता जानीमस्तस्य निश्चयम्।
तेन हर्षः प्रणष्टो मे सुपर्णवचनेन वै ॥ १७ ॥

परंतु माननीय महामुने! कारणकी दुर्बलतासे मैं चिन्तामें पड़ा रहता हूँ। महाद्युते! इस बालकका पिता, जो मेरा पुत्र था, गरुड़का भोजन बन गया। इस दुःखसे हमलोग पीड़ित हैं। प्रभो! जब गरुड़ यहाँसे जाने लगे, तब पुनः यह कहते गये कि दूसरे महीनेमें मैं सुमुखको भी खा जाऊँगा। अवश्य ही ऐसा ही होगा; क्योंकि हम गरुड़के निश्चयको जानते हैं। गरुड़के उस कथनसे मेरी हँसी-खुशी नष्ट हो गयी है ॥ १५–१७ ॥

कण्व उवाच

मातलिस्त्वब्रवीदेनं बुद्धिरत्र कृता मया।
जामातृभावेन वृतः सुमुखस्तव पुत्रजः ॥ १८ ॥

कण्व मुनि कहते हैं—राजन्! तब मातलिने आर्यकसे कहा—'मैंने इस विषयमें एक विचार किया है। यह तो निश्चय ही है कि मैंने आपके पौत्रको जामाताके पदपर वरण कर लिया ॥ १८ ॥

सोऽयं मया च सहितो नारदेन च पन्नगः।
त्रिलोकेशं सुरपतिं गत्वा पश्यतु वासवम् ॥ १९ ॥

'अतः यह नागकुमार मेरे और नारदजीके साथ त्रिलोकीनाथ देवराज इन्द्रके पास चलकर उनका दर्शन करे ॥ १९ ॥

शेषेणैवास्य कार्येण प्रज्ञास्याम्यहमायुषः।
सुपर्णस्य विघाते च प्रयतिष्यामि सत्तम ॥ २० ॥

'साधुशिरोमणे! तदनन्तर मैं अवशिष्ट कार्यद्वारा इसकी आयुके विषयमें जानकारी प्राप्त करूँगा और इस बातकी भी चेष्टा करूँगा कि गरुड़ इसे न मार सकें ॥ २० ॥

सुमुखश्च मया सार्धं देवेशमभिगच्छतु।
कार्यसंसाधनार्थाय स्वस्ति तेऽस्तु भुजंगम ॥ २१ ॥

'नागराज! आपका कल्याण हो। सुमुख अपने अभीष्ट कार्यकी सिद्धिके लिये मेरे साथ देवराज इन्द्रके पास चले' ॥ २१ ॥

ततस्ते सुमुखं गृह्य सर्व एव महौजसः।
ददृशुः शक्रमासीनं देवराजं महाद्युतिम् ॥ २२ ॥

तदनन्तर उन सभी महातेजस्वी सज्जनोंने सुमुखको साथ लेकर परम कान्तिमान् देवराज इन्द्रका दर्शन किया, जो स्वर्गके सिंहासनपर विराजमान थे ॥ २२ ॥

संगत्या तत्र भगवान् विष्णुरासीच्चतुर्भुजः।
ततस्तत् सर्वमाचख्यौ नारदो मातलिं प्रति ॥ २३ ॥

दैवयोगसे वहाँ चतुर्भुज भगवान् विष्णु भी उपस्थित थे। तदनन्तर देवर्षि नारदने मातलिसे सम्बन्ध रखनेवाला सारा वृत्तान्त कह सुनाया ॥ २३ ॥

वैशम्पायन उवाच

ततः पुरंदरं विष्णुरुवाच भुवनेश्वरम्।
अमृतं दीयतामस्मै क्रियताममरैः समः ॥ २४ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तत्पश्चात् भगवान् विष्णुने लोकेश्वर इन्द्रसे कहा—'देवराज! तुम सुमुखको अमृत दे दो और इसे देवताओंके समान बना दो ॥ २४ ॥

मातलिर्नारदश्चैव सुमुखश्चैव वासव।
लभन्तां भवतः कामात् काममेतं यथेप्सितम् ॥ २५ ॥

'वासव! इस प्रकार मातलि, नारद और सुमुख—ये सभी तुमसे इच्छानुसार अमृतका दान पाकर अपना यह अभीष्ट मनोरथ पूर्ण कर लें' ॥ २५ ॥

पुरंदरोऽथ संचिन्त्य वैनतेयपराक्रमम्।
विष्णुमेवाब्रवीदेनं भवानेव ददात्विति ॥ २६ ॥

तब देवराज इन्द्रने गरुड़के पराक्रमका विचार करके भगवान् विष्णुसे कहा—'आप ही इसे उत्तम आयु प्रदान कीजिये'॥

विष्णुरुवाच

ईशस्त्वं सर्वलोकानां चराणामचराश्च ये।
त्वया दत्तमदत्तं कः कर्तुमुत्सहते विभो ॥ २७ ॥

भगवान् विष्णु बोले—प्रभो ! तुम सम्पूर्ण जगत्‌में जितने भी चराचर प्राणी हैं, उन सबके ईश्वर हो । तुम्हारी दी हुई आयुको बिना दी हुई करने (मिटाने) का साहस कौन कर सकता है ? ॥ २७ ॥

प्रादाच्छक्रस्ततस्तस्मै पन्नगायायुरुत्तमम् ।
न त्वेनममृतप्राशं चकार बलवृत्रहा ॥ २८ ॥

तब इन्द्रने उस नागको अच्छी आयु प्रदान की, परंतु बलासुर और वृत्रासुरका विनाश करनेवाले इन्द्रने उसे अमृतभोजी नहीं बनाया ॥ २८ ॥

लब्ध्वा वरं तु सुमुखः सुमुखः सम्बभूव ह ।
कृतदारो यथाकामं जगाम च गृहान् प्रति ॥ २९ ॥

इन्द्रका वर पाकर सुमुखका मुख प्रसन्नतासे खिल उठा । वह विवाह करके इच्छानुसार अपने घरको चला गया ॥ २९ ॥

नारदस्त्वार्यकश्चैव कृतकार्यौ मुदा युतौ ।
अभिजग्मतुरभ्यर्च्य देवराजं महाद्युतिम् ॥ ३० ॥

नारद और आर्यक दोनों ही कृतकृत्य हो महातेजस्वी देवराजकी अर्चना करके प्रसन्नतापूर्वक अपने-अपने स्थानको चले गये ॥ ३० ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि मातलिवरान्वेषणे चतुरधिकशततमोऽध्यायः ॥ १०४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें मातलिके द्वारा वरकी खोजविषयक एक सौ चारवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १०४ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका १ श्लोक मिलाकर कुल ३१ श्लोक हैं)

पञ्चाधिकशततमोऽध्यायः

भगवान् विष्णुके द्वारा गरुड़का गर्वभञ्जन तथा दुर्योधनद्वारा कण्व मुनिके उपदेशकी अवहेलना

कण्व उवाच

गरुडस्तत्र शुश्राव यथावृत्तं महाबलः ।
आयुःप्रदानं शक्रेण कृतं नागस्य भारत ॥ १ ॥

कण्व मुनि कहते हैं—भारत ! महाबली गरुड़ने यह सारा वृत्तान्त यथार्थरूपसे सुना कि इन्द्रने सुमुख नागको दीर्घायु प्रदान की है ॥ १ ॥

पक्षवातेन महता रुद्ध्वा त्रिभुवनं खगः ।
सुपर्णः परमक्रुद्धो वासवं समुपाद्रवत् ॥ २ ॥

यह सुनते ही आकाशचारी गरुड़ अत्यन्त क्रुद्ध हो अपने पंखोंकी प्रचण्ड वायुसे तीनों लोकोंको कम्पित करते हुए इन्द्रके समीप दौड़े आये ॥ २ ॥

गरुड उवाच

भगवन् किमवज्ञानाद् वृत्तिः प्रतिहता मम ।
कामकारवरं दत्त्वा पुनश्चलितवानसि ॥ ३ ॥

गरुड़ बोले—भगवन् ! आपने अवहेलना करके मेरी जीविकामें क्यों बाधा पहुँचायी है ? एक बार मुझे इच्छानुसार कार्य करनेका वरदान देकर अब फिर उससे विचलित क्यों हुए हैं ? ॥ ३ ॥

निसर्गात् सर्वभूतानां सर्वभूतेश्वरेण मे ।
आहारो विहितो धात्रा किमर्थं वार्यते त्वया ॥ ४ ॥

समस्त प्राणियोंके स्वामी विधाताने सम्पूर्ण प्राणियोंकी सृष्टि करते समय मेरा आहार निश्चित कर दिया था । फिर आप किसलिये उसमें बाधा उपस्थित करते हैं ? ॥ ४ ॥

वृतश्चैष महानागः स्थापितः समयश्च मे ।
अनेन च मया देव भर्तव्यः प्रसवो महान् ॥ ५ ॥

देव ! मैंने उस महानागको अपने भोजनके लिये चुन लिया था । इसके लिये समय भी निश्चित कर दिया था और उसीके द्वारा मुझे अपने विशाल परिवारका भरण-पोषण करना था ॥ ५ ॥

एतस्मिंस्तु तथाभूते नान्यं हिंसितुमुत्सहे ।
क्रीडसे कामकारेण देवराज यथेच्छकम् ॥ ६ ॥

वह नाग जब दीर्घायु हो गया, तब अब मैं उसके बदलेमें दूसरेकी हिंसा नहीं कर सकता । देवराज ! आप स्वेच्छाचारको अपनाकर मनमाने खेल कर रहे हैं ॥ ६ ॥

सोऽहं प्राणान् विमोक्ष्यामि तथा परिजनो मम ।
ये च भृत्या मम गृहे प्रीतिमान् भव वासव ॥ ७ ॥

वासव ! अब मैं प्राण त्याग दूँगा । मेरे परिवारमें तथा मेरे घरमें जो भरण-पोषण करनेयोग्य प्राणी हैं, वे भी भोजनके अभावमें प्राण दे देंगे । अब आप अकेले संतुष्ट होइये ॥ ७ ॥

एतच्चैवाहमर्हामि भूयश्च बलवृत्रहन् ।
त्रैलोक्यस्येश्वरो योऽहं परभृत्यत्वमागतः ॥ ८ ॥

बल और वृत्रासुरका वध करनेवाले देवराज ! मैं इसी व्यवहारके योग्य हूँ; क्योंकि तीनों लोकोंका शासन करनेमें समर्थ होकर भी मैंने दूसरेकी सेवा स्वीकार की है ॥ ८ ॥

त्वयि तिष्ठति देवेश न विष्णुः कारणं मम ।
त्रैलोक्यराज राज्यं हि त्वयि वासव शाश्वतम् ॥ ९ ॥

देवेश्वर ! त्रिलोकीनाथ ! आपके रहते भगवान् विष्णु भी मेरी जीविका रोकनेमें कारण नहीं हो सकते; क्योंकि वासव ! तीनों लोकोंके राज्यका भार सदा आपके ही ऊपर है ॥ ९ ॥

ममापि दक्षस्य सुता जननी कश्यपः पिता ।
अहमप्युत्सहे लोकान् समन्ताद् वोढुमञ्जसा ॥ १० ॥

मेरी माता भी प्रजापति दक्षकी पुत्री हैं । मेरे पिता भी महर्षि कश्यप ही हैं । मैं भी अनायास ही सम्पूर्ण लोकोंका भार वहन कर सकता हूँ ॥ १० ॥

असह्यं सर्वभूतानां ममापि विपुलं बलम् ।
मयापि सुमहत् कर्म कृतं दैतेयविग्रहे ॥ ११ ॥

मुझमें भी वह विशाल बल है, जिसे समस्त प्राणी एक साथ मिलकर भी सह नहीं सकते । मैंने भी दैत्योंके साथ युद्ध छिड़नेपर महान् पराक्रम प्रकट किया है ॥ ११ ॥

श्रुतश्रीः श्रुतसेनश्च विवस्वान् रोचनामुखः ।
प्रसृतः कालकाक्षश्च मयापि दितिजा हताः ॥ १२ ॥

मैंने भी श्रुतश्री, श्रुतसेन, विवस्वान्, रोचनामुख, प्रसृत और कालकाक्ष नामक दैत्योंको मारा है ॥ १२ ॥

यत् तु ध्वजस्थानगतो यत्नात् परिचराम्यहम् ।
वहामि चैवानुजं ते तेन मामवमन्यसे ॥ १३ ॥

तथापि मैं जो रथकी ध्वजामें रहकर यत्नपूर्वक आपके छोटे भाई (विष्णु) की सेवा करता और उनको वहन करता हूँ, इसीसे आप मेरी अवहेलना करते हैं ॥ १३ ॥

कोऽन्यो भारसहो ह्यस्ति कोऽन्योऽस्ति बलवत्तरः ।
मया योऽहं विशिष्टः सन् वहामीमं सबान्धवम् ॥ १४ ॥

मेरे सिवा दूसरा कौन है, जो भगवान् विष्णुका महान् भार सह सके ? कौन मुझसे अधिक बलवान् है ? मैं सबसे विशिष्ट शक्तिशाली होकर भी बन्धु-बान्धवोंसहित इन विष्णुभगवान्‌का भार वहन करता हूँ ॥ १४ ॥

अवज्ञाय तु यत् तेऽहं भोजनाद् व्यपरोपितः ।
तेन मे गौरवं नष्टं त्वत्तश्चास्माच्च वासव ॥ १५ ॥

वासव ! आपने मेरी अवज्ञा करके जो मेरा भोजन छीन लिया है, उसके कारण मेरा सारा गौरव नष्ट हो गया तथा इसमें कारण हुए हैं आप और ये श्रीहरि ॥ १५ ॥

अदित्यां य इमे जाता बलविक्रमशालिनः ।
त्वमेषां किल सर्वेषां बलेन बलवत्तरः ॥ १६ ॥

विष्णो ! अदितिके गर्भसे जो ये बल और पराक्रमसे सुशोभित देवता उत्पन्न हुए हैं, इन सबमें बलकी दृष्टिसे अधिक शक्तिशाली आप ही हैं ॥ १६ ॥

सोऽहं पक्षैकदेशेन वहामि त्वां गतक्लमः ।
विमृश त्वं शनैस्तात को न्वत्र बलवानिति ॥ १७ ॥

तात ! आपको मैं अपनी पाँखके एक देशमें बिठाकर बिना किसी थकावटके ढोता रहता हूँ । धीरेसे आप ही बिचार करें कि यहाँ कौन सबसे अधिक बलवान् है ? ॥ १७ ॥

कण्व उवाच

स तस्य वचनं श्रुत्वा खगस्योदर्कदारुणम् ।
अक्षोभ्यं क्षोभयंस्तार्क्ष्यमुवाच रथचक्रभृत् ॥ १८ ॥
गरुत्मन् मन्यसेऽऽत्मानं बलवन्तं सुदुर्बलम् ।
अलमस्मत्समक्षं ते स्तोतुमात्मानमण्डज ॥ १९ ॥

कण्व मुनि कहते हैं—राजन् ! गरुड़की ये बातें भयंकर परिणाम उपस्थित करनेवाली थीं । उन्हें सुनकर रथाङ्गपाणि श्रीविष्णुने किसीसे क्षुब्ध न होनेवाले पक्षिराजको क्षुब्ध करते हुए कहा—'गरुत्मन् ! तुम हो तो अत्यन्त दुर्बल, परंतु अपने आपको बड़ा भारी बलवान् मानते हो । अण्डज ! मेरे सामने फिर कभी अपनी प्रशंसा न करना ॥ १८-१९ ॥

त्रैलोक्यमपि मे कृत्स्नमशक्तं देहधारणे ।
अहमेवात्मनाऽऽत्मानं वहामि त्वां च धारये ॥ २० ॥

'सारी त्रिलोकी मिलकर भी मेरे शरीरका भार वहन करनेमें असमर्थ है । मैं ही अपने द्वारा अपने आपको ढोता हूँ और तुमको भी धारण करता हूँ ॥ २० ॥

इमं तावन्ममैकं त्वं बाहुं सव्येतरं वह ।
यद्येनं धारयस्येकं सफलं ते विकत्थितम् ॥ २१ ॥

'अच्छा, पहले तुम मेरी केवल दाहिनी भुजाका भार वहन करो । यदि इस एकको ही धारण कर लोगे तो तुम्हारी यह सारी आत्मप्रशंसा सफल समझी जायगी' ॥ २१ ॥

ततः स भगवांस्तस्य स्कन्धे बाहुं समासजत् ।
निपपात स भारार्तो विह्वलो नष्टचेतनः ॥ २२ ॥

इतना कहकर भगवान् विष्णुने गरुड़के कंधेपर अपनी दाहिनी बाँह रख दी । उसके बोझसे पीड़ित एवं विह्वल होकर गरुड़ गिर पड़े । उनकी चेतना भी नष्ट-सी हो गयी ।

यावान् हि भारः कृत्स्नायाः पृथिव्याः पर्वतैः सह ।
एकस्या देहशाखायास्तावद् भारममन्यत ॥ २३ ॥

पर्वतोंसहित सम्पूर्ण पृथ्वीका जितना भार हो सकता है, उतना ही उस एक बाँहका भार है, यह गरुड़को अनुभव हुआ ॥ २३ ॥

न त्वेनं पीडयामास बलेन बलवत्तरः ।
ततो हि जीवितं तस्य न व्यनीनशदच्युतः ॥ २४ ॥

अत्यन्त बलशाली भगवान् अच्युतने गरुड़को बलपूर्वक दबाया नहीं था; इसीलिये उनके जीवनका नाश नहीं हुआ ॥

व्यात्तास्यः स्रस्तकायश्च विचेता विह्वलः खगः ।
मुमोच पत्राणि तदा गुरुभारप्रपीडितः ॥ २५ ॥

उस महान् भारसे अत्यन्त पीड़ित हो गरुड़ने मुँह बा दिया । उनका सारा शरीर शिथिल हो गया । उन्होंने अचेत और विह्वल होकर अपने पंख छोड़ दिये ॥ २५ ॥

स विष्णुं शिरसा पक्षी प्रणम्य विनतासुतः ।
विचेता विह्वलो दीनः किंचिद् वचनमब्रवीत् ॥ २६ ॥

तदनन्तर अचेत एवं विह्वल हुए विनतापुत्र पक्षिराज गरुड़ने भगवान् विष्णुके चरणोंमें प्रणाम किया और दीनभावसे कुछ कहा—॥ २६ ॥

भगवल्लोँकसारस्य सदृशेन वपुष्मता ।
भुजेन स्वैरमुक्तेन निष्पिष्टोऽस्मि महीतले ॥ २७ ॥

'भगवन् ! संसारके मूर्तिमान् सारतत्त्व-सदृश आपकी इस भुजाके द्वारा, जिसे आपने स्वाभाविक ही मेरे ऊपर रख दिया था, मैं पिसकर पृथ्वीपर गिर गया हूँ ॥ २७ ॥

क्षन्तुमर्हसि मे देव विह्वलस्याल्पचेतसः ।
बलदाहविदग्धस्य पक्षिणो ध्वजवासिनः ॥ २८ ॥

'देव ! मैं आपकी ध्वजामें रहनेवाला एक साधारण पक्षी हूँ । इस समय आपके बल और तेजसे दग्ध होकर व्याकुल और अचेत-सा हो गया हूँ । आप मेरे अपराधको क्षमा करें ॥ २८ ॥

न हि ज्ञातं बलं देव मया ते परमं विभो ।
तेन मन्ये ह्यहं वीर्यमात्मनो न समं परैः ॥ २९ ॥

'विभो ! मुझे आपके महान् बलका पता नहीं था । देव ! इसीसे मैं अपने बल और पराक्रमको दूसरोंके समान ही नहीं, उनसे बहुत बढ़-चढ़कर मानता था' ॥ २९ ॥

ततश्चक्रे स भगवान् प्रसादं वै गरुत्मतः ।
मैवं भूय इति स्नेहात् तदा चैनमुवाच ह ॥ ३० ॥

गरुड़के ऐसा कहनेपर भगवान्ने उनपर कृपादृष्टि की और उस समय स्नेहपूर्वक उनसे कहा—'फिर कभी इस प्रकार घमंड न करना ॥ ३० ॥

पादाङ्गुष्ठेन चिक्षेप सुमुखं गरुडोरसि ।
ततःप्रभृति राजेन्द्र सह सर्पेण वर्तते ॥ ३१ ॥

राजेन्द्र ! तत्पश्चात् भगवान्ने अपने पैरके अंगूठेसे सुमुख नागको उठाकर गरुड़के वक्षःस्थलपर रख दिया । तभीसे गरुड़ उस सर्पको सदा साथ लिये रहते हैं ॥ ३१ ॥

एवं विष्णुबलाक्रान्तो गर्वनाशमुपागतः ।
गरुडो बलवान् राजन् वैनतेयो महयशाः ॥ ३२ ॥

राजन् ! इस प्रकार महायशस्वी बलवान् विनतानन्दन गरुड़ भगवान् विष्णुके बलसे आक्रान्त हो अपना अहंकार छोड़ बैठे ॥ ३२ ॥

कण्व उवाच

तथा त्वमपि गान्धारे यावत् पाण्डुसुतान् रणे ।
नासादयसि तान् वीरांस्तावज्जीवसि पुत्रक ॥ ३३ ॥

कण्व मुनि कहते हैं—गान्धारीनन्दन वत्स दुर्योधन ! इसी तरह तुम भी जबतक रणभूमिमें उन वीर पाण्डवोंको अपने सामने नहीं पाते, तभीतक जीवन धारण करते हो ॥

भीमः प्रहरतां श्रेष्ठो वायुपुत्रो महाबलः ।
धनंजयश्चेन्द्रसुतो न हन्यातां तु कं रणे ॥ ३४ ॥

योद्धाओंमें श्रेष्ठ महाबली भीम वायुके पुत्र हैं । अर्जुन भी इन्द्रके पुत्र हैं । ये दोनों मिलकर युद्धमें किसे नहीं मार डालेंगे ? ॥ ३४ ॥

विष्णुर्वायुश्च शक्रश्च धर्मस्तौ चाश्विनावुभौ ।
एते देवास्त्वया केन हेतुना वीक्षितुं क्षमाः ॥ ३५ ॥

धर्मस्वरूप विष्णु, वायु, इन्द्र और वे दोनों अश्विनी-कुमार—इतने देवता तुम्हारे विरुद्ध हैं । तुम किस कारणसे इन देवताओंकी ओर देखनेका भी साहस कर सकते हो? ॥ ३५ ॥

तदलं ते विरोधेन शमं गच्छ नृपात्मज ।
वासुदेवेन तीर्थेन कुलं रक्षितुमर्हसि ॥ ३६ ॥

अतः राजकुमार ! इस विरोधसे तुम्हें कुछ मिलनेवाला नहीं है । पाण्डवोंके साथ संधि कर लो । भगवान् श्रीकृष्ण-को सहायक बनाकर इनके द्वारा तुम्हें अपने कुलकी रक्षा करनी चाहिये ॥ ३६ ॥

प्रत्यक्षदर्शी सर्वस्य नारदोऽयं महातपाः ।
माहात्म्यस्य तदा विष्णोः सोऽयं चक्रगदाधरः ॥ ३७ ॥

इन महातपस्वी नारदजीने उस समय भगवान् विष्णुके माहात्म्यको प्रत्यक्ष देखा था । वे चक्र और गदा धारण करनेवाले भगवान् विष्णु ही ये 'श्रीकृष्ण' हैं ॥ ३७ ॥

वैशम्पायन उवाच

दुर्योधनस्तु तच्छ्रुत्वा निःश्वसन् भृकुटीमुखः ।
राधेयमभिसम्प्रेक्ष्य जहास स्वनवत् तदा ॥ ३८ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! कण्वका वह कथन सुनकर दुर्योधनकी भौंहें तन गयीं । वह लम्बी साँस खींचता हुआ राधानन्दन कर्णकी ओर देखकर जोर-जोरसे हँसने लगा ॥ ३८ ॥

कदर्थीकृत्य तद् वाक्यमृषेः कण्वस्य दुर्मतिः ।
ऊरुं गजकराकारं ताडयन्निदमब्रवीत् ॥ ३९ ॥

उस दुर्बुद्धिने कण्व मुनिके वचनोंकी अवहेलना करके हाथीकी सूँड़के समान चढ़ाव-उतारवाली अपनी मोटी जाँघपर हाथ पीटकर इस प्रकार कहा—॥ ३९ ॥

यथैवेश्वरसृष्टोऽस्मि यद् भावि या च मे गतिः ।

तथा महर्षे वर्तामि किं प्रलापः करिष्यति ॥ ४० ॥

महर्षे ! मुझे ईश्वरने जैसा बनाया है, जो होनहार और जैसी मेरी अवस्था है, उसीके अनुसार मैं बर्ताव करता हूँ। आपलोगोंका यह प्रलाप क्या करेगा ?' ॥ ४० ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि मातलिवरान्वेषणे पञ्चाधिकशततमोऽध्यायः ॥ १०५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें मातलिके द्वारा वरकी खोजविषयक एक सौ पाँचवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १०५ ॥

षडधिकशततमोऽध्यायः

नारदजीका दुर्योधनको समझाते हुए धर्मराजके द्वारा विश्वामित्रजीकी परीक्षा तथा गालवके विश्वामित्रसे गुरुदक्षिणा माँगनेके लिये हठका वर्णन

जनमेजय उवाच

अनर्थे जातनिर्बन्धं परार्थे लोभमोहितम्।
अनार्यकेष्वभिरतं मरणे कृतनिश्चयम्॥ १ ॥
ज्ञातीनां दुःखकर्तारं बन्धूनां शोकवर्धनम्।
सुहृदां क्लेशदातारं द्विषतां हर्षवर्धनम्॥ २ ॥
कथं नैनं विमार्गस्थं वारयन्तीह बान्धवाः।
सौहृदाद् वा सुहृत् स्निग्धो भगवान् वा पितामहः॥३॥

जनमेजयने कहा—भगवन् ! दुर्योधनका अनर्थकारी कार्योंमें ही अधिक आग्रह था। पराये धनके प्रति अधिक लोभ रखनेके कारण वह मोहित हो गया था। दुर्जनोंमें ही उसका अनुराग था। उसने मरनेका ही निश्चय कर लिया था। वह कुटुम्बीजनोंके लिये दुःखदायक और भाई-बन्धुओंके शोकको बढ़ानेवाला था। सुहृदोंको क्लेश पहुँचाता और शत्रुओंका हर्ष बढ़ाता था। ऐसे कुमार्गपर चलनेवाले इस दुर्योधनको उसके भाई-बन्धु रोकते क्यों नहीं थे ? कोई सुहृद्, स्नेही अथवा पितामह भगवान् व्यास उसे सौहार्दवश मना क्यों नहीं करते थे ? ॥ १—३ ॥

वैशम्पायन उवाच

उक्तं भगवता वाक्यमुक्तं भीष्मेण यत् क्षमम्।
उक्तं बहुविधं चैव नारदेनापि तच्छृणु॥ ४ ॥

वैशम्पायनजी बोले—राजन् ! भगवान् वेदव्यासने भी दुर्योधनसे उसके हितकी बात कही। भीष्मजीने भी जो उचित कर्तव्य था, वह बताया। इसके सिवा नारदजीने भी नाना प्रकारके उपदेश दिये। वह सब तुम सुनो ॥ ४ ॥

नारद उवाच

दुर्लभो वै सुहृच्छ्रोता दुर्लभश्च हितः सुहृत्।
तिष्ठते हि सुहृद् यत्र न बन्धुस्तत्र तिष्ठते॥ ५ ॥

नारदजीने कहा—अकारण हित चाहनेवाले सुहृद्‌की बातोंको जो मन लगाकर सुने, ऐसा श्रोता दुर्लभ है। हितैषी सुहृद् भी दुर्लभ ही है; क्योंकि महान् संकटमें सुहृद् ही खड़ा हो सकता है, वहाँ भाई-बन्धु नहीं ठहर सकते ॥ ५ ॥

श्रोतव्यमपि पश्यामि सुहृदां कुरुनन्दन।
न कर्तव्यश्च निर्बन्धो निर्बन्धो हि सुदारुणः॥ ६ ॥

कुरुनन्दन ! मैं देखता हूँ कि तुम्हें अपने सुहृदोंके उपदेशको सुननेकी विशेष आवश्यकता है; अतः तुम्हें किसी एक बातका दुराग्रह नहीं रखना चाहिये। दुराग्रहका परिणाम बड़ा भयंकर होता है ॥ ६ ॥

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्।
यथा निर्बन्धतः प्राप्तो गालवेन पराजयः॥ ७ ॥

इस विषयमें विज्ञ पुरुष इस पुरातन इतिहासका उदाहरण दिया करते हैं, जिससे ज्ञात होता है कि महर्षि गालवने हठ या दुराग्रहके कारण पराजय प्राप्त की थी ॥ ७ ॥

विश्वामित्रं तपस्यन्तं धर्मो जिज्ञासया पुरा।
अभ्यगच्छत् स्वयं भूत्वा वसिष्ठो भगवानृषिः॥ ८ ॥

पहलेकी बात है, साक्षात् धर्मराज महर्षि भगवान् वसिष्ठका रूप धारण करके तपस्यामें लगे हुए विश्वामित्रके पास उनकी परीक्षा लेनेके लिये आये ॥ ८ ॥

सप्तर्षीणामन्यतमं वेषमास्थाय भारत।
बुभुक्षुः क्षुधितो राजन्नाश्रमं कौशिकस्य तु॥ ९ ॥

भारत ! धर्म सप्तर्षियोंमेंसे एक (वसिष्ठजी) का वेष धारण करके भूखसे पीड़ित हो भोजनकी इच्छासे विश्वामित्रके आश्रमपर आये ॥ ९ ॥

विश्वामित्रोऽथ सम्भ्रान्तः श्रपयामास वै चरुम्।
परमान्नस्य यत्नेन न च तं प्रत्यपालयत्॥ १० ॥

विश्वामित्रजीने बड़ी उतावलीके साथ उनके लिये उत्तम भोजन देनेकी इच्छासे यत्नपूर्वक चरुपाक बनाना आरम्भ किया; परंतु ये अतिथिदेवता उनकी प्रतीक्षा न कर सके ॥ १० ॥

अन्नं तेन तदा भुक्तमन्यैर्दत्तं तपस्विभिः।
अथ गृह्यान्नमत्युष्णं विश्वामित्रोऽप्युपागमत्॥ ११ ॥

उन्होंने जब दूसरे तपस्वी मुनियोंका दिया हुआ अन्न

खा लिया, तब विश्वामित्रजी भी अत्यन्त उष्ण भोजन लेकर उनकी सेवामें उपस्थित हुए ॥ ११ ॥

भुक्तं मे तिष्ठ तावत् त्वमित्युक्त्वा भगवान् ययौ।
विश्वामित्रस्ततो राजन् स्थित एव महाद्युतिः ॥ १२ ॥

उस समय भगवान् धर्म यह कहकर कि मैंने भोजन कर लिया, अब तुम रहने दो, वहाँसे चल दिये। राजन्! तब महातेजस्वी विश्वामित्र मुनि वहाँ उसी अवस्थामें खड़े ही रह गये ॥ १२ ॥

भक्तं प्रगृह्य मूर्ध्ना वै बाहुभ्यां संशितव्रतः।
स्थितः स्थाणुरिवाभ्याशे निश्चेष्टो मारुताशनः ॥ १३॥

कठोर व्रतका पालन करनेवाले विश्वामित्रने दोनों हाथोंसे उस भोजनपात्रको थामकर माथेपर रख लिया और आश्रमके समीप ही ठूँठे पेड़की भाँति वे निश्चेष्ट खड़े रहे। उस अवस्थामें केवल वायु ही उनका आहार था ॥ १३ ॥

तस्य शुश्रूषणे यत्नमकरोद् गालवो मुनिः।
गौरवाद् बहुमानाच्च हार्देन प्रियकाम्यया ॥ १४ ॥

उन दिनों उनके प्रति गौरवबुद्धि, विशेष आदर-सम्मानका भाव तथा प्रेम-भक्ति होनेके कारण उनकी प्रसन्नताके लिये गालवमुनि यत्नपूर्वक उनकी सेवा-शुश्रूषामें लगे रहते थे ॥ १४ ॥

अथ वर्षशते पूर्णे धर्मः पुनरुपागमत्।
वासिष्ठं वेषमास्थाय कौशिकं भोजनेप्सया ॥ १५ ॥

तदनन्तर सौ वर्ष पूर्ण होनेपर पुनः धर्मदेव वसिष्ठ मुनिका वेष धारण करके भोजनकी इच्छासे विश्वामित्र मुनिके पास आये ॥ १५ ॥

स दृष्ट्वा शिरसा भक्तं ध्रियमाणं महर्षिणा।
तिष्ठता वायुभक्षेण विश्वामित्रेण धीमता ॥ १६ ॥
प्रतिगृह्य ततो धर्मस्तथैवोष्णं तथा नवम्।
भुक्त्वा प्रीतोऽस्मि विप्रर्षे तमुक्त्वा स मुनिर्गतः॥१७॥

उन्होंने देखा कि परम बुद्धिमान् महर्षि विश्वामित्र केवल वायु पीकर रहते हुए सिरपर भोजनपात्र रक्खे खड़े हैं। यह देखकर धर्मने वह भोजन ले लिया। वह अन्न उसी प्रकार तुरंतकी तैयार की हुई रसोईके समान गरम था। उसे खाकर वे बोले—'ब्रह्मर्षे! मैं आपपर बहुत प्रसन्न हूँ।' ऐसा कहकर मुनिवेषधारी धर्मदेव चले गये ॥ १६-१७ ॥

क्षत्रभावादपगतो ब्राह्मणत्वमुपागतः।
धर्मस्य वचनात् प्रीतो विश्वामित्रस्तदा भवत् ॥ १८ ॥

क्षत्रियत्वसे ऊँचे उठकर ब्राह्मणत्वको प्राप्त हुए विश्वामित्रको धर्मके वचनसे उस समय बड़ी प्रसन्नता हुई ॥ १८ ॥

विश्वामित्रस्तु शिष्यस्य गालवस्य तपस्विनः।
शुश्रूषया च भक्त्या च प्रीतिमानित्युवाच ह ॥ १९ ॥

वे अपने शिष्य तपस्वी गालव मुनिकी सेवा-शुश्रूषा तथा भक्तिसे संतुष्ट होकर बोले—॥ १९ ॥

अनुज्ञातो मया वत्स यथेष्टं गच्छ गालव।
इत्युक्तः प्रत्युवाचेदं गालवो मुनिसत्तमम् ॥ २० ॥
प्रीतो मधुरया वाचा विश्वामित्रं महाद्युतिम्।
दक्षिणाः काः प्रयच्छामि भवते गुरुकर्मणि ॥ २१ ॥

'वत्स गालव! अब मैं तुम्हें आज्ञा देता हूँ, तुम्हारी जहाँ इच्छा हो, जाओ।' उनके इस प्रकार आदेश देनेपर गालवने प्रसन्नता प्रकट करते हुए मधुर वाणीमें महातेजस्वी मुनिवर विश्वामित्रसे इस प्रकार पूछा—'भगवन्! मैं आपको गुरुदक्षिणाके रूपमें क्या दूँ?' ॥ २०-२१ ॥

दक्षिणाभिरुपेतं हि कर्म सिद्ध्यति मानद।
दक्षिणानां हि दाता वै अपवर्गेण युज्यते ॥ २२ ॥

'मानद! दक्षिणायुक्त कर्म ही सफल होता है। दक्षिणा देनेवाले पुरुषको ही सिद्धि प्राप्त होती है ॥ २२ ॥

स्वर्गे क्रतुफलं तद्धि दक्षिणा शान्तिरुच्यते।
किमाहरामि गुर्वर्थं ब्रवीतु भगवानिति ॥ २३ ॥

'दक्षिणा देनेवाला मनुष्य ही स्वर्गमें यज्ञका फल पाता है। वेदमें दक्षिणाको ही शान्तिप्रद बताया गया है। अतः पूज्य गुरुदेव! बतावें कि मैं क्या गुरुदक्षिणा ले आऊँ?' ॥ २३ ॥

जानानस्तेन भगवाञ्जितः शुश्रूषणेन वै।
विश्वामित्रस्तमसकृद् गच्छ गच्छेत्यचोदयत् ॥ २४ ॥

गालवकी सेवा-शुश्रूषासे भगवान् विश्वामित्र उनके वशमें हो गये थे। अतः उनके उपकारको समझते हुए विश्वामित्रने उनसे बार-बार कहा—'जाओ, जाओ' ॥ २४ ॥

असकृद् गच्छ गच्छेति विश्वामित्रेण भाषितः।
किं ददानीति बहुशो गालवः प्रत्यभाषत ॥ २५ ॥

उनके द्वारा बारंबार 'जाओ, जाओ' की आज्ञा मिलनेपर भी गालवने अनेक बार आग्रहपूर्वक पूछा—'मैं आपको क्या गुरुदक्षिणा दूँ?' ॥ २५ ॥

निर्बन्धतस्तु बहुशो गालवस्य तपस्विनः।
किंचिदागतसंरम्भो विश्वामित्रोऽब्रवीदिदम् ॥ २६ ॥

तपस्वी गालवके बहुत आग्रह करनेपर विश्वामित्रको कुछ क्रोध आ गया; अतः उन्होंने इस प्रकार कहा—॥२६॥

एकतः श्यामकर्णानां हयानां चन्द्रवर्चसाम्।

अष्टौ शतानि मे देहि गच्छ गालव मा चिरम् ॥ २७ ॥

'गालव ! तुम मुझे चन्द्रमाके समान श्वेत रंगवाले ऐसे आठ सौ घोड़े दो, जिनके कान एक ओरसे श्याम वर्णके हों। जाओ, देर न करो' ॥ २७ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि गालवचरिते षडधिकशततमोऽध्यायः ॥ १०६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें गालवचरित्रविषयक एक सौ छवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १०६ ॥

सप्ताधिकशततमोऽध्यायः

गालवकी चिन्ता और गरुड़का आकर उन्हें आश्वासन देना

नारद उवाच

एवमुक्तस्तदा तेन विश्वामित्रेण धीमता ।
नास्ते न शेते नाहारं कुरुते गालवस्तदा ॥ १ ॥

नारदजीने कहा—राजन् ! उस समय परम बुद्धिमान् विश्वामित्रके ऐसा कहनेपर गालव मुनि तबसे न कहीं बैठते, न सोते और न भोजन ही करते थे ॥ १ ॥

त्वगस्थिभूतो हरिणश्चिन्ताशोकपरायणः ।
शोचमानोऽतिमात्रं स दह्यमानश्च मन्युना ।
गालवो दुःखितो दुःखाद् विललाप सुयोधन ॥ २ ॥

वे चिन्ता और शोकमें डूबे रहनेके कारण पाण्डुवर्णके हो गये। उनके शरीरमें अस्थि-चर्ममात्र ही शेष रह गये थे। सुयोधन ! अत्यन्त शोक करते और चिन्ताकी आगमें दग्ध होते हुए दुखी गालव मुनि दुःखसे विलाप करने लगे—॥ २ ॥

कुतः पुष्टानि मित्राणि कुतोऽर्थाः संचयः कुतः ।
हयानां चन्द्रशुभ्राणां शतान्यष्टौ कुतो मम ॥ ३ ॥

'मेरे ऐसे मित्र कहाँ, जो धनसे पुष्ट हों ? मुझे कहाँसे धन प्राप्त होगा ? कहाँ मेरे लिये धन संग्रह करके रक्खा हुआ है ? और कहाँसे मुझे चन्द्रमाके समान श्वेतवर्णवाले आठ सौ घोड़े प्राप्त होंगे ? ॥ ३ ॥

कुतो मे भोजने श्रद्धा सुखश्रद्धा कुतश्च मे ।
श्रद्धा मे जीवितस्यापि छिन्ना किं जीवितेन मे ॥ ४ ॥

'ऐसी दशामें मुझे भोजनकी रुचि कहाँसे हो ? सुख भोगनेकी इच्छा कहाँसे हो ? और इस जीवनसे भी मुझे क्या प्रयोजन है ? इस जीवनको सुरक्षित रखनेके लिये मेरा जो उत्साह था, वह भी नष्ट हो गया ॥ ४ ॥

अहं पारे समुद्रस्य पृथिव्या वा परम्परात् ।
गत्वाऽऽत्मानं विमुञ्चामि किं फलं जीवितेन मे ॥ ५ ॥

'मैं समुद्रके उस पार अथवा पृथ्वीसे बहुत दूर जाकर इस शरीरको त्याग दूँगा। अब मेरे लिये जीवित रहनेसे क्या लाभ है ? ॥ ५ ॥

अधनस्याकृतार्थस्य त्यक्तस्य विविधैः फलैः ।
ऋणं धारयमाणस्य कुतः सुखमनीहया ॥ ६ ॥

जो निर्धन है, जिसके अभीष्ट मनोरथकी सिद्धि नहीं हुई है तथा जो नाना प्रकारके शुभ कर्मफलोंसे वञ्चित होकर केवल ऋणका बोझ ढो रहा है, ऐसे मनुष्यको बिना उद्यमके जीवन धारण करनेसे क्या सुख होगा ? ॥ ६ ॥

सुहृदां हि धनं भुक्त्वा कृत्वा प्रणयमीप्सितम् ।
प्रतिकर्तुमशक्तस्य जीवितान्मरणं वरम् ॥ ७ ॥

'जो इच्छानुसार प्रेम-सम्बन्ध स्थापित करके सुहृदोंका धन भोगकर उनका प्रत्युपकार करनेमें असमर्थ हो, उसके जीनेसे मर जाना ही अच्छा है ॥ ७ ॥

प्रतिश्रुत्य करिष्येति कर्तव्यं तदकुर्वतः ।
मिथ्यावचनदग्धस्य इष्टापूर्तं प्रणश्यति ॥ ८ ॥

'जो 'करूँगा' ऐसा कहकर किसी कार्यको पूर्ण करनेकी प्रतिज्ञा कर ले, परंतु आगे चलकर उस कर्तव्यका पालन न कर सके, उस असत्यभाषणसे दग्ध हुए पुरुषके 'इष्ट' और 'आपूर्त' सभी नष्ट हो जाते हैं ॥ ८ ॥

न रूपमनृतस्यास्ति नानृतस्यास्ति संततिः ।
नानृतस्याधिपत्यं च कुत एव गतिः शुभा ॥ ९ ॥

'सत्यसे शून्य मनुष्यका जीवन नहींके बराबर है। मिथ्यावादीको संतति नहीं प्राप्त होती। झूठेको प्रभुत्व नहीं मिलता, फिर उसे शुभ गति कैसे प्राप्त हो सकती है ? ॥ ९ ॥

कुतः कृतघ्नस्य यशः कुतः स्थानं कुतः सुखम् ।
अश्रद्धेयः कृतघ्नो हि कृतघ्ने नास्ति निष्कृतिः ॥ १० ॥

'कृतघ्न मनुष्यको सुयश कहाँ ? स्थान या प्रतिष्ठा कहाँ और सुख भी कहाँ है ? कृतघ्न मानव अविश्वसनीय होता है, उसका कभी उद्धार नहीं होता है ॥ १० ॥

न जीवत्यधनः पापः कुतः पापस्य तन्त्रणम् ।
पापो ध्रुवमवाप्नोति विनाशं नाशयन् कृतम् ॥ ११ ॥

'निर्धन एवं पापी मनुष्यका जीवन वास्तवमें जीवन नहीं है। पापी मनुष्य अपने कुटुम्बका पोषण भी कैसे कर सकता है ?

पापात्मा (निर्धन) पुरुष अपने पुण्य कर्मोंका नाश करता हुआ स्वयं भी निश्चय ही नष्ट हो जाता है ॥ ११ ॥

सोऽहं पापः कृतघ्नश्च कृपणश्चानृतोऽपि च ।
गुरोर्यः कृतकार्यः संस्तत् करोमि न भाषितम् ॥ १२ ॥

'मैं पापी, कृतघ्न, कृपण और मिथ्यावादी हूँ, जिसने गुरुसे तो अपना काम करा लिया, परंतु स्वयं जो उन्हें देनेकी प्रतिज्ञा की है, उसकी पूर्ति नहीं कर पा रहा हूँ ॥ १२ ॥

सोऽहं प्राणान् विमोक्ष्यामि कृत्वा यत्नमनुत्तमम् ।
अर्थिता न मया काचित् कृतपूर्वा दिवौकसाम् ।
मानयन्ति च मां सर्वे त्रिदशा यज्ञसंस्तरे ॥ १३ ॥

'अतः मैं कोई उत्तम प्रयत्न करके अपने प्राणोंका परित्याग कर दूँगा । मैंने आजसे पहले देवताओंसे भी कभी कोई याचना नहीं की है । सब देवता यज्ञमें मेरा समादर करते हैं ॥ १३ ॥

अहं तु विबुधश्रेष्ठं देवं त्रिभुवनेश्वरम् ।
विष्णुं गच्छाम्यहं कृष्णं गतिं गतिमतां वरम् ॥ १४ ॥

'अब मैं त्रिभुवनके स्वामी एवं जङ्गम जीवोंके सर्वश्रेष्ठ आश्रय सुरश्रेष्ठ सच्चिदानन्दघन भगवान् विष्णुकी शरणमें जाता हूँ ॥ १४ ॥

भोगा यस्मात् प्रतिष्ठन्ते व्याप्य सर्वान् सुरासुरान् ।
प्रणतो द्रष्टुमिच्छामि कृष्णं योगिनमव्ययम् ॥ १५ ॥

'जिनकी कृपासे समस्त देवताओं और असुरोंको भी यथेष्ट भोग प्राप्त होते हैं, उन्हीं अविनाशी योगी भगवान् विष्णुका मैं प्रणतभावसे दर्शन करना चाहता हूँ' ॥ १५ ॥

एवमुक्ते सखा तस्य गरुडो विनतात्मजः ।
दर्शयामास तं प्राह संहृष्टः प्रियकाम्यया ॥ १६ ॥

गालवके इस प्रकार कहनेपर उनके सखा विनतानन्दन गरुड़ने अत्यन्त प्रसन्न होकर उनका प्रिय करनेकी इच्छासे उन्हें दर्शन दिया और इस प्रकार कहा—॥ १६ ॥

सुहृद् भवान् मम मतः सुहृदां च मतः सुहृत् ।
ईप्सितेनाभिलाषेण योक्तव्यो विभवे सति ॥ १७ ॥

'गालव ! तुम मेरे प्रिय सुहृद् हो और मेरे सुहृदोंके भी प्रिय सुहृद् हो । सुहृदोंका यह कर्तव्य है कि यदि उनके पास धन-वैभव हो तो वे उसका अपने सुहृद्‌का अभीष्ट मनोरथ पूर्ण करनेके लिये उपयोग करें ॥ १७ ॥

विभवश्चास्ति मे विप्र वासवावरजो द्विज ।
पूर्वमुक्तस्त्वदर्थं च कृतः कामश्च तेन मे ॥ १८ ॥

'ब्रह्मन् ! मेरे सबसे बड़े वैभव हैं इन्द्रके छोटे भाई भगवान् विष्णु । मैंने पहले तुम्हारे लिये उनसे निवेदन किया था और उन्होंने मेरी इस प्रार्थनाको स्वीकार करके मेरा मनोरथ पूर्ण किया था ॥ १८ ॥

स भवानेतु गच्छाव नयिष्ये त्वां यथासुखम् ।
देशं पारं पृथिव्या वा गच्छ गालव मा चिरम् ॥ १९ ॥

'अतः आओ' हम दोनों चलें । गालव ! मैं तुम्हें सुखपूर्वक ऐसे देशमें पहुँचा दूँगा, जो पृथ्वीके अन्तर्गत तथा समुद्रके उस पार है । चलो, विलम्ब न करो' ॥ १९ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि गालवचरिते सप्ताधिकशततमोऽध्यायः ॥ १०७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें गालवचरित्रविषयक एक सौ सातवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १०७ ॥

अष्टाधिकशततमोऽध्यायः

गरुड़का गालवसे पूर्व दिशाका वर्णन करना

सुपर्ण उवाच

अनुशिष्टोऽस्मि देवेन गालवाज्ञातयोनिना ।
ब्रूहि कामं तु कां यामि द्रष्टुं प्रथमतो दिशम् ॥ १ ॥

गरुड़ने कहा—गालव ! अनादिदेव भगवान् विष्णुने मुझे आज्ञा दी है कि मैं तुम्हारी सहायता करूँ । अतः तुम अपनी इच्छाके अनुसार बताओ कि मैं सबसे पहले किस दिशाकी ओर चलूँ ? ॥ १ ॥

पूर्वां वा दक्षिणां वाहमथवा पश्चिमां दिशम् ।
उत्तरां वा द्विजश्रेष्ठ कुतो गच्छामि गालव ॥ २ ॥

द्विजश्रेष्ठ गालव ! बोलो, मैं पूर्व, दक्षिण, पश्चिम अथवा उत्तरमेंसे किस दिशाकी ओर चलूँ ? ॥ २ ॥

यस्यामुदयते पूर्वं सर्वलोकप्रभावनः ।
सविता यत्र संध्यायां साध्यानां वर्तते तपः ॥ ३ ॥
यस्यां पूर्वं मतिर्याता यया व्याप्तमिदं जगत् ।
चक्षुषी यत्र धर्मस्य यत्र चैष प्रतिष्ठितः ॥ ४ ॥
कृतं यतो हुतं हव्यं सर्पते सर्वतोदिशम् ।
एतद् द्वारं द्विजश्रेष्ठ दिवसस्य तथाध्वनः ॥ ५ ॥

विप्रवर ! जिस दिशामें सम्पूर्ण जगत्‌को उत्पन्न एवं प्रभावित करनेवाले भगवान् सूर्य प्रथम उदित होते हैं, जिस दिशामें संध्याके समय साध्यगण तपस्या करते हैं, जिस दिशामें (गायत्रीजपके द्वारा) पहले वह बुद्धि प्राप्त हुई है, जिसने सम्पूर्ण जगत्‌को व्याप्त कर रक्खा है, धर्मके युगल-

नेत्रस्वरूप चन्द्रमा और सूर्य पहले जिस दिशामें उदित होते हैं और (प्रायः पूर्वाभिमुख होकर धर्मानुष्ठान किये जानेके कारण) जहाँ धर्म प्रतिष्ठित हुआ है तथा जिस दिशामें पवित्र हविष्यका हवन करनेपर वह आहुति सम्पूर्ण दिशाओंमें फैल जाती है, वही यह पूर्वदिशा दिन एवं सूर्यमार्गका द्वार है ॥३—५॥

अत्र पूर्वं प्रसूता वै दाक्षायण्यः प्रजाः स्त्रियः।
यस्यां दिशि प्रवृद्धाश्च कश्यपस्यात्मसम्भवाः ॥ ६ ॥

इसी दिशामें प्रजापति दक्षकी अदिति आदि कन्याओंने सबसे पहले प्रजावर्गको उत्पन्न किया था और इसीमें प्रजापति कश्यपकी संतानें वृद्धिको प्राप्त हुई हैं ॥ ६ ॥

अतोमूला सुराणां श्रीर्यत्र शक्रोऽभ्यषिच्यत।
सुरराज्येन विप्रर्षे देवैश्चात्र तपश्चितम् ॥ ७ ॥

ब्रह्मर्षे ! देवताओंकी लक्ष्मीका मूलस्थान पूर्व दिशा ही है। इसीमें इन्द्रका देवसम्राट्के पदपर प्रथम अभिषेक हुआ है और इसी दिशामें देवताओंने तपस्या की है ॥ ७ ॥

एतस्मात् कारणाद् ब्रह्मन् पूर्वेत्येषा दिगुच्यते।
यस्मात् पूर्वतरे काले पूर्वमेवावृता सुरैः ॥ ८ ॥
अत एव च सर्वेषां पूर्वामाशां प्रचक्षते।

ब्रह्मन् ! इन्हीं सब कारणोंसे इस दिशाको 'पूर्वा' कहते हैं; क्योंकि अत्यन्त पूर्वकालमें पहले यही दिशा देवताओंसे आवृत हुई थी; अतएव इसे सबकी आदि दिशा कहते हैं ॥ ८½ ॥

पूर्वं सर्वाणि कार्याणि दैवानि सुखमीप्सता ॥ ९ ॥

सुखकी अभिलाषा रखनेवाले लोगोंको देवसम्बन्धी सारे कार्य पहले इसी दिशामें करने चाहिये ॥ ९ ॥

अत्र वेदाञ्जगौ पूर्वं भगवाँल्लोकभावनः।
अत्रैवोक्ता सवित्राऽऽसीत् सावित्री ब्रह्मवादिषु ॥१०॥

लोकस्रष्टा भगवान् ब्रह्माने पहले इसी दिशामें वेदोंका गान किया था और सविता देवताने ब्रह्मवादी मुनियोंको यहीं सावित्रीमन्त्रका उपदेश किया था ॥ १० ॥

अत्र दत्तानि सूर्येण यजूंषि द्विजसत्तम।
अत्र लब्धवरः सोमः सुरैः क्रतुषु पीयते ॥ ११ ॥

द्विजश्रेष्ठ ! इसी दिशामें सूर्यदेवने महर्षि याज्ञवल्क्यको शुक्लयजुर्वेदके मन्त्र दिये थे और इसी दिशामें देवतालोग यज्ञोंमें उस सोमरसका पान करते हैं, जो उन्हें वरदानमें प्राप्त हो चुका है ॥ ११ ॥

अत्र तृप्ता हुतवहाः स्वां योनिमुपभुञ्जते।
अत्र पातालमाश्रित्य वरुणः श्रियमाप च ॥ १२ ॥

इसी दिशामें यज्ञोंद्वारा तृप्त हुए अग्निगण अपने योनिस्वरूप जलका उपभोग करते हैं। यहीं वरुणने पातालका आश्रय लेकर लक्ष्मीको प्राप्त किया था ॥ १२ ॥

अत्र पूर्वं वसिष्ठस्य पौराणस्य द्विजर्षभ।
सूतिश्चैव प्रतिष्ठा च निधनं च प्रकाशते ॥ १३ ॥

द्विजश्रेष्ठ ! इसी दिशामें पुरातन महर्षि वसिष्ठकी उत्पत्ति हुई है। यहीं उन्हें प्रतिष्ठा (सप्तर्षियोंमें स्थान) की प्राप्ति हुई है और इसी दिशामें उन्हें निमिके शापसे देहत्याग करना पड़ा है ॥ १३ ॥

ओङ्कारस्यात्र जायन्ते सूतयो दशतीर्दश।
पिबन्ति मुनयो यत्र हविर्धूमं स्म धूमपाः ॥ १४ ॥

इसी दिशामें प्रणव अर्थात् वेदकी सहस्रों शाखाएँ प्रकट हुई हैं और उसीमें धूमपायी महर्षिगण हविष्यके धूमका पान करते हैं ॥ १४ ॥

प्रोक्षिता यत्र बहवो वाराहाद्या मृगा वने।
शक्रेण यज्ञभागार्थे दैवतेषु प्रकल्पिताः ॥ १५ ॥

इसी दिशामें देवराज इन्द्रने यज्ञभागकी सिद्धिके लिये वनमें जंगली सूअर आदि हिंसक पशुओंको प्रोक्षित करके देवताओंको सौंपा था ॥ १५ ॥

अत्राहिताः कृतघ्नाश्च मानुषाश्चासुराश्च ये।
उदयंस्तान् हि सर्वान् वै क्रोधाद्धन्ति विभावसुः ॥१६॥

इस दिशामें उदित होनेवाले भगवान् सूर्य जो दूसरोंका अहित करनेवाले एवं कृतघ्न मनुष्य और असुर होते हैं, उन सबका क्रोधपूर्वक विनाश करते (उनकी आयु क्षीण कर देते) हैं ॥ १६ ॥

एतद् द्वारं त्रिलोकस्य स्वर्गस्य च सुखस्य च।
एष पूर्वो दिशां भागो विशावोऽत्र यदीच्छसि ॥ १७ ॥

गालव ! यह पूर्व दिग्विभाग ही त्रिलोकीका, स्वर्गका और सुखका भी द्वार है। तुम्हारी इच्छा हो तो हम दोनों इसमें प्रवेश करें ॥ १७ ॥

प्रियं कार्यं हि मे तस्य यस्यास्मि वचने स्थितः।
ब्रूहि गालव यास्यामि शृणु चाप्यपरां दिशम् ॥ १८ ॥

मैं जिनकी आज्ञाके अधीन हूँ, उन भगवान् विष्णुका प्रिय कार्य मुझे अवश्य करना है; अतः गालव ! बताओ, क्या मैं पूर्व दिशामें चलूँ अथवा दूसरी दिशाका भी वर्णन सुन लो।

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि गालवचरिते अष्टाधिकशततमोऽध्यायः ॥ १०८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें गालवचरित्रविषयक एक सौ आठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १०८ ॥

नवाधिकशततमोऽध्यायः

दक्षिण दिशाका वर्णन

सुपर्ण उवाच

इयं विवस्वता पूर्वं श्रौतेन विधिना किल।
गुरवे दक्षिणा दत्ता दक्षिणेत्युच्यते च दिक्॥ १॥

गरुड़ कहते हैं—गालव! यह प्रसिद्ध है कि पूर्वकालमें भगवान् सूर्यने वेदोक्त विधिके अनुसार यज्ञ करके आचार्य कश्यपको दक्षिणारूपसे इस दिशाका दान किया था, इसीलिये इसे दक्षिण दिशा कहते हैं॥ १॥

अत्र लोकत्रयस्यास्य पितृपक्षः प्रतिष्ठितः।
अत्रोष्मपाणां देवानां निवासः श्रूयते द्विज॥ २॥

ब्रह्मन्! तीनों लोकोंके पितृगण इसी दिशामें प्रतिष्ठित हैं तथा 'ऊष्मप' नामक देवताओंका निवास भी इसी दिशामें सुना जाता है॥ २॥

अत्र विश्वे सदा देवाः पितृभिः सार्धमासते।
इज्यमानाः स्म लोकेषु सम्प्राप्तास्तुल्यभागताम्॥ ३॥

पितरोंके साथ विश्वेदेवगण सदा दक्षिण दिशामें ही वास करते हैं। वे समस्त लोकोंमें पूजित हो श्राद्धमें पितरोंके समान ही भाग प्राप्त करते हैं॥ ३॥

एतद् द्वितीयं देवस्य द्वारमाचक्षते द्विज।
त्रुटिशो लवशश्चापि गण्यते कालनिश्चयः॥ ४॥

विप्रवर! विद्वान् पुरुष इस दक्षिण दिशाको धर्मदेवताका दूसरा द्वार कहते हैं। यहीं (चित्रगुप्त आदिके द्वारा) 'त्रुटि' और 'लव' आदि सूक्ष्म-से-सूक्ष्म कालांशोंपर दृष्टि रखते हुए प्राणियोंकी आयुकी निश्चित गणना की जाती है॥ ४॥

अत्र देवर्षयो नित्यं पितृलोकर्षयस्तथा।
तथा राजर्षयः सर्वे निवसन्ति गतव्यथाः॥ ५॥

देवर्षि, पितृलोकके ऋषि तथा समस्त राजर्षिगण दुःखरहित हो सदा इसी दिशामें निवास करते हैं॥ ५॥

अत्र धर्मश्च सत्यं च कर्म चात्र निगद्यते।
गतिरेषा द्विजश्रेष्ठ कर्मणामवसायिनाम्॥ ६॥

द्विजश्रेष्ठ! इसी दिशामें (रहकर चित्रगुप्त आदिके द्वारा धर्मराजके निकट प्राणियोंके) धर्म, सत्य तथा साधारण कर्मोंके विषयमें कहा जाता है। मृत प्राणी तथा उनके कर्म इसी दिशाका आश्रय लेते हैं॥ ६॥

एषा दिक् सा द्विजश्रेष्ठ यां सर्वः प्रतिपद्यते।
वृता त्वनवबोधेन सुखं तेन न गम्यते॥ ७॥

विप्रवर! यह वह दिशा है, जिसमें मृत्युके पश्चात् सभी प्राणियोंको जाना पड़ता है। यह सदा अज्ञानान्धकारसे आवृत रहती है, इसलिये इसमें सुखपूर्वक यात्रा सम्भव नहीं हो पाती है॥ ७॥

नैर्ऋतानां सहस्राणि बहून्यत्र द्विजर्षभ।
सृष्टानि प्रतिकूलानि द्रष्टव्यान्यकृतात्मभिः॥ ८॥

द्विजश्रेष्ठ! ब्रह्माजीने इस दिशामें प्रतिकूल स्वभाव एवं आचरणवाले सहस्रों राक्षसोंकी सृष्टि की है, जिनका दर्शन अशुद्ध अन्तःकरणवाले पुरुषोंको ही होता है॥ ८॥

अत्र मन्दरकुञ्जेषु विप्रर्षिसदनेषु च।
गायन्ति गाथा गन्धर्वाश्चित्तबुद्धिहरा द्विज॥ ९॥

ब्रह्मन्! इसी दिशामें गन्धर्वगण मन्दराचलके कुञ्जों और ब्रह्मर्षियोंके आश्रमोंमें मन और बुद्धिको आकर्षित करनेवाली गाथाओंका गान करते हैं॥ ९॥

अत्र सामानि गाथाभिः श्रुत्वा गीतानि रैवतः।
गतदारो गतामात्यो गतराज्यो वनं गतः॥ १०॥

पूर्वकालमें यहीं राजा रैवत गाथाओंके रूपमें सामगान सुनते-सुनते अपनी स्त्री, मन्त्री तथा राज्यसे भी वियुक्त हो वनमें चले गये थे*॥ १०॥

अत्र सावर्णिना चैव यवक्रीतात्मजेन च।
मर्यादा स्थापिता ब्रह्मन् यां सूर्यो नातिवर्तते॥ ११॥

ब्रह्मन्! इस दिशामें सावर्णि मनु तथा यवक्रीतके पुत्रने सूर्यकी गतिके लिये मर्यादा (सीमा) स्थापित की थी, जिसका सूर्यदेव कभी उल्लङ्घन नहीं करते हैं॥ ११॥

अत्र राक्षसराजेन पौलस्त्येन महात्मना।
रावणेन तपश्चीर्त्वा सुरेभ्योऽमरता वृता॥ १२॥

पुलस्त्यवंशी राक्षसराज महामना रावणने इसी दिशामें तपस्या करके देवताओंसे अवध्य होनेका वरदान प्राप्त किया था॥ १२॥

---

* एक समय राजा रैवत अपनी पुत्रीके साथ उसके लिये वरका अनुसंधान करने ब्रह्माजीके पास गये थे। वहाँसे लौटते समय उन्होंने मन्दराचलके पुण्य प्रदेशोंमें गन्धर्वोंका सामगान सुना और कुछ देर ठहर गये। वहाँका थोड़ा-सा भी समय मनुष्यलोकके महान् कालके बराबर होता है। राजा जब लौटकर राजधानीमें आये, तब सत्ययुग और त्रेता बीतकर द्वापरका अन्तिम भाग व्यतीत हो रहा था। मन्त्री और परिवारके सभी लोग कालके गालमें जा चुके थे। उन दिनों उनकी राजधानी कुशस्थलीके स्थानपर दिव्य द्वारकापुरीका निर्माण हो चुका था। राजाने अपनी पुत्री रेवतीका विवाह बलरामजीसे कर दिया और स्वयं वे वनमें तपस्या करनेके लिये चले गये।

अत्र वृत्तेन वृत्रोऽपि शक्रशत्रुत्वमीयिवान्।
अत्र सर्वासवः प्राप्ताः पुनर्गच्छन्ति पञ्चधा ॥ १३ ॥

इसी दिशामें घटित हुई घटनाके कारण वृत्रासुर देवराज इन्द्रका शत्रु बन बैठा था। दक्षिण दिशामें ही आकर सबके प्राण पुनः (प्राण-अपान आदिके भेदसे) पाँच भागोंमें बँट जाते हैं (अर्थात् प्राणी नूतन देह धारण करते हैं) ॥ १३ ॥

अत्र दुष्कृतकर्माणो नराः पच्यन्ति गालव।
अत्र वैतरणी नाम नदी वितरणैर्वृता ॥ १४ ॥

गालव ! इसी दिशामें पापाचारी मनुष्य नरकोंकी आगमें पकाये जाते हैं। दक्षिणमें ही वह वैतरणी नदी है, जो वैतरणी नरकके अधिकारी पापियोंसे घिरी रहती है ॥ १४ ॥

अत्र गत्वा सुखस्यान्तं दुःखस्यान्तं प्रपद्यते।
अत्रावृत्तो दिनकरः सुरसं क्षरते पयः ॥ १५ ॥
काष्ठां चासाद्य वासिष्ठीं हिममुत्सृजते पुनः।

मनुष्य इसी दिशामें जाकर सुख और दुःखके अन्तको प्राप्त होता है। इसी दक्षिण दिशामें लौटनेपर (अर्थात् उत्तरायणके अन्तिम भागमें पहुँचकर दक्षिणायनके आरम्भमें आनेपर जब कि वर्षाऋतु रहती है,) सूर्यदेव सुस्वादु जलकी वर्षा करते हैं। फिर वसिष्ठ मुनिके द्वारा सेवित उत्तर दिशामें पहुँचकर (अर्थात् उत्तरायणके प्रारम्भमें जब कि शिशिर ऋतु रहती है,) वे ओले गिराते हैं ॥ १५½ ॥

अत्राहं गालव पुरा क्षुधार्तः परिचिन्तयन् ॥ १६ ॥
लब्धवान् युध्यमानौ द्वौ बृहन्तौ गजकच्छपौ।

गालव ! पूर्वकालकी बात है, मैं भूखसे पीड़ित होकर भारी चिन्तामें पड़ गया था, परंतु इसी दिशामें आनेपर दो विशाल प्राणी—हाथी और कछुआ मेरे हाथ लग गये, जो आपसमें लड़ रहे थे ॥ १६½ ॥

अत्र चक्रधनुर्नाम सूर्याज्जातो महानृषिः ॥ १७ ॥
विदुर्यं कपिलं देवं येनार्ताः सगरात्मजाः।

सूर्यके समान तेजस्वी महर्षि कर्दमसे उत्पन्न हुए 'चक्रधनु' नामक महर्षि इसी दिशामें रहते थे, जिन्हें सब लोग 'कपिलदेव'के नामसे जानते हैं। उन्होंने ही सगरके पुत्रोंको भस्म कर दिया था ॥ १७½ ॥

अत्र सिद्धाः शिवा नाम ब्राह्मणा वेदपारगाः ॥ १८ ॥
अधीत्य सकलान् वेदाँल्लेभिरे मोक्षमक्षयम्।

इसी दिशामें 'शिव' नामसे प्रसिद्ध कुछ सिद्ध ब्राह्मण रहते थे, जो वेदोंके पारंगत पण्डित थे। उन्होंने सम्पूर्ण वेदोंका अध्ययन करके (तत्त्वज्ञानद्वारा) अक्षय मोक्ष प्राप्त कर लिया ॥ १८½ ॥

अत्र भोगवती नाम पुरी वासुकिपालिता ॥ १९ ॥
तक्षकेण च नागेन तथैवैरावतेन च।

दक्षिणमें ही वासुकिद्वारा पालित तथा तक्षक एवं ऐरावत नागद्वारा सुरक्षित भोगवती नामक पुरी है ॥ १९½ ॥

अत्र निर्याणकालेऽपि तमः सम्प्राप्यते महत् ॥ २० ॥
अभेद्यं भास्करेणापि स्वयं वा कृष्णवर्त्मना।

मृत्युके पश्चात् इस दिशामें जानेवाले प्राणीको ऐसे घोर अन्धकारका सामना करना पड़ता है, जो साक्षात् अग्नि एवं सूर्यके लिये भी अभेद्य है ॥ २०½ ॥

एष तस्यापि ते मार्गः परिचार्यस्य गालव।
ब्रूहि मे यदि गन्तव्यं प्रतीचीं शृणु चापरम् ॥ २१ ॥

गालव ! तुम मेरे द्वारा परिचर्या पाने (सेवा ग्रहण करने) के योग्य हो, अतः तुम्हें यह दक्षिण मार्ग बताया है; यदि इस दिशामें चलना हो तो मुझसे कहो अथवा अब तीसरी पश्चिम दिशाका वर्णन सुनो ॥ २१ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि गालवचरिते नवाधिकशततमोऽध्यायः ॥ १०९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें गालवचरित्रविषयक एक सौ नौवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १०९ ॥

दशाधिकशततमोऽध्यायः

पश्चिम दिशाका वर्णन

सुपर्ण उवाच

इयं दिग् दयिता राज्ञो वरुणस्य तु गोपतेः।
सदा सलिलराजस्य प्रतिष्ठा चादिरेव च ॥ १ ॥

गरुड़ कहते हैं—गालव ! यह जो सामनेकी दिशा है, जलके स्वामी दिक्पाल राजा वरुणको सदा ही अत्यन्त प्रिय है। यही उनका आश्रय और उत्पत्तिस्थान है ॥ १ ॥

अत्र पश्चादहः सूर्यो विसर्जयति गाः स्वयम्।
पश्चिमेत्यभिविख्याता दिगियं द्विजसत्तम ॥ २ ॥

द्विजश्रेष्ठ ! दिनके पश्चात् सूर्यदेव इसी दिशामें स्वयं अपनी किरणोंका विसर्जन करते हैं, इसलिये यह 'पश्चिम' के नामसे विख्यात है ॥ २ ॥

यादसामत्र राज्येन सलिलस्य च गुप्तये।

कश्यपो भगवान् देवो वरुणं स्माभ्यषेचयत् ॥ ३ ॥

पूर्वकालमें भगवान् कश्यपदेवने जलजन्तुओंका आधिपत्य और जलकी रक्षा करनेके लिये इसी दिशामें वरुणका अभिषेक किया था ॥ ३ ॥

अत्र पीत्वा समस्तान् वै वरुणस्य रसांस्तु षट्।
जायते तरुणः सोमः शुक्लस्यादौ तमिस्रहा ॥ ४ ॥

अन्धकारका नाश करनेवाले चन्द्रमा वरुणके निकट रहकर छः प्रकारके सम्पूर्ण रसोंका पान करके शुक्लपक्षकी प्रतिपदाको इसी दिशामें नूतनताको प्राप्त होकर उदित होते हैं ॥ ४ ॥

अत्र पश्चात् कृता दैत्या वायुना संयतास्तदा ।
निःश्वसन्तो महावातैरर्दिताः सुषुपुर्द्विज ॥ ५ ॥

ब्रह्मन् ! पूर्वकालमें वायुदेवने अपने महान् वेगसे यहाँ युद्धमें दैत्योंको पराङ्मुख, आबद्ध और पीड़ित किया था, जिससे वे लम्बी साँस छोड़ते हुए धराशायी हो गये थे ॥ ५ ॥

अत्र सूर्यं प्रणयिनं प्रतिगृह्णाति पर्वतः ।
अस्तो नाम यतः संध्या पश्चिमा प्रतिसर्पति ॥ ६ ॥

इसी दिशामें अस्ताचल है, जो अपने प्रीतिपात्र सूर्यदेवको प्रतिदिन ग्रहण करता है। वहींसे पश्चिम संध्याका प्रसार होता है ॥ ६ ॥

अतो रात्रिश्च निद्रा च निर्गता दिवसक्षये ।
जायते जीवलोकस्य हर्तुमर्धमिवायुषः ॥ ७ ॥

इसी दिशासे दिनके अन्तमें मानो जीव-जगत्की आधी आयु हर लेनेके लिये रात्रि एवं निद्राका प्राकट्य होता है ॥ ७ ॥

अत्र देवीं दितिं सुप्तामात्मप्रसवधारिणीम् ।
विगर्भामकरोच्छक्रो यत्र जातो मरुद्गणः ॥ ८ ॥

इसी दिशामें देवराज इन्द्रने सोयी हुई गर्भवती दिति-देवीके (उदरमें प्रवेश करके उसके) गर्भका उच्छेद किया था, जिससे मरुद्गणोंकी उत्पत्ति हुई ॥ ८ ॥

अत्र मूलं हिमवतो मन्दरं याति शाश्वतम् ।
अपि वर्षसहस्रेण न चास्यान्तोऽधिगम्यते ॥ ९ ॥

इसी दिशामें हिमालयका मूलभाग सदा मन्दराचलतक फैलकर उसका स्पर्श करता है। सहस्रों वर्षोंमें भी इसका अन्त पाना असम्भव है ॥ ९ ॥

अत्र काञ्चनशैलस्य काञ्चनाम्बुरुहस्य च ।
उदधेस्तीरमासाद्य सुरभिः क्षरते पयः ॥ १० ॥

इसी दिशामें सुवर्णमय पर्वत मन्दराचल तथा स्वर्णमय कमलोंसे सुशोभित क्षीरसागरके तटपर पहुँचकर सुरभिदेवी अपने दूधका निर्झर बहाती हैं ॥ १० ॥

अत्र मध्ये समुद्रस्य कबन्धः प्रतिदृश्यते ।
स्वर्भानोः सूर्यकल्पस्य सोमसूर्यौ जिघांसतः ॥ ११ ॥

पश्चिम दिशामें ही समुद्रके भीतर सूर्यके समान तेजस्वी उस राहुका कबन्ध (धड़) दिखायी देता है, जो सूर्य और चन्द्रमाको मार डालनेकी इच्छा रखता है ॥ ११ ॥

सुवर्णशिरसोऽप्यत्र हरिरोम्णः प्रगायतः ।
अदृश्यस्याप्रमेयस्य श्रूयते विपुलो ध्वनिः ॥ १२ ॥

इसी दिशामें पिङ्गलवर्णके केशोंसे सुशोभित, अप्रमेय प्रभावशाली एवं अदृश्यमूर्ति मुनिवर सुवर्णशिरा सामगान करते हैं। उनके उस गीतकी विपुल ध्वनि स्पष्ट सुनायी देती है ॥ १२ ॥

अत्र ध्वजवती नाम कुमारी हरिमेधसः ।
आकाशे तिष्ठ तिष्ठेति तस्थौ सूर्यस्य शासनात् ॥ १३ ॥

इसी दिशामें हरिमेधा मुनिकी कुमारी कन्या ध्वजवती निवास करती है, जो सूर्यदेवकी 'ठहरो' 'ठहरो' इस आज्ञासे आकाशमें स्थित है ॥ १३ ॥

अत्र वायुस्तथा वह्निरापः खं चापि गालव ।
आह्निकं चैव नैशं च दुःखं स्पर्शं विमुञ्चति ॥ १४ ॥

गालव ! वायु, अग्नि, जल और आकाश— ये सब इस दिशामें रात्रि और दिनके दुःखदायी स्पर्शका परित्याग करते हैं (अर्थात् यहाँ इनका स्पर्श सदा सुखद ही होता है) ॥१४॥

अतःप्रभृति सूर्यस्य तिर्यगावर्तते गतिः ।
अत्र ज्योतींषि सर्वाणि विशन्त्यादित्यमण्डलम् ॥ १५ ॥

इसी दिशासे सूर्यदेव तिरछी गतिसे चक्कर लगाना आरम्भ करते हैं। यहीं सम्पूर्ण ज्योतियाँ सूर्यमण्डलमें प्रवेश करती हैं ॥ १५ ॥

अष्टाविंशतिरात्रं च चङ्क्रम्य सह भानुना ।
निष्पतन्ति पुनः सूर्यात् सोमसंयोगयोगतः ॥ १६ ॥

अभिजित्सहित अट्ठाईस नक्षत्रोंमेंसे प्रत्येक अट्ठाईसवें दिन सूर्यके साथ विचरण करके अमावस्याके बाद फिर सूर्यमण्डलसे पृथक् हो जाता है ॥ १६ ॥

अत्र नित्यं स्रवन्तीनां प्रभवः सागरोदयः ।
अत्र लोकत्रयस्यापस्तिष्ठन्ति वरुणालये ॥ १७ ॥

इसी दिशासे उन अधिकांश नदियोंका प्राकट्य हुआ है, जिनके जलसे समुद्रकी पूर्ति होती रहती है। यहींके वरुणालयमें त्रिभुवनके लिये उपयोगी जलराशि संचित है ॥ १७ ॥

अत्र पन्नगराजस्याप्यनन्तस्य निवेशनम् ।

अनादिनिधनस्यात्र विष्णोः स्थानमनुत्तमम् ॥ १८ ॥

यहीं नागराज अनन्तका निवास तथा आदि-अन्तसे रहित भगवान् विष्णुका सर्वोत्कृष्ट स्थान है ॥ १८ ॥

अत्रानलसखस्यापि पवनस्य निवेशनम् ।
महर्षेः कश्यपस्यात्र मारीचस्य निवेशनम् ॥ १९ ॥

इसी दिशामें अग्निदेवके सखा वायुदेवका भवन तथा मरीचिनन्दन महर्षि कश्यपका आश्रम है ॥ १९ ॥

एष ते पश्चिमो मार्गो दिग्द्वारेण प्रकीर्तितः ।
ब्रूहि गालव गच्छावो बुद्धिः का द्विजसत्तम ॥ २० ॥

द्विजश्रेष्ठ गालव ! इस प्रकार मैंने तुम्हें संक्षेपसे पश्चिमका मार्ग बताया है । अब बताओ, तुम्हारा क्या विचार है ? हम दोनों किस दिशाकी ओर चलें ? ॥ २० ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि गालवचरिते दशाधिकशततमोऽध्यायः ॥ ११० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें गालवचरितविषयक एक सौ दसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ११० ॥

एकादशाधिकशततमोऽध्यायः

उत्तर दिशाका वर्णन

सुपर्ण उवाच

यस्मादुत्तार्यते पापाद् यस्मान्निःश्रेयसोऽश्नुते ।
अस्मादुत्तारणबलादुत्तरेत्युच्यते द्विज ॥ १ ॥

गरुड़ कहते हैं—गालव ! इस मार्गसे जानेपर मनुष्यका पापसे उद्धार हो जाता है और वह कल्याणमय स्वर्गीय सुखोंका उपभोग करता है; अतः इस उत्तारण (संसारसागरसे पाप उतारने) के बलसे इस दिशाको उत्तरदिशा कहते हैं ॥ १ ॥

उत्तरस्य हिरण्यस्य परिवापश्च गालव ।
मार्गः पश्चिमपूर्वाभ्यां दिग्भ्यां वै मध्यमः स्मृतः ॥ २ ॥

गालव ! यह उत्तर दिशा उत्कृष्ट सुवर्ण आदि निधियोंकी अधिष्ठान है (इसलिये भी इसका नाम उत्तर है) । यह उत्तर मार्ग पश्चिम और पूर्व दिशाओंका मध्यवर्ती बताया गया है ॥

अस्यां दिशि वरिष्ठायामुत्तरायां द्विजर्षभ ।
नासौम्यो नाविधेयात्मा नाधर्मो वसते जनः ॥ ३ ॥

द्विजश्रेष्ठ ! इस गौरवशालिनी दिशामें ऐसे लोगोंका वास नहीं है, जो सौम्य स्वभावके न हों, जिन्होंने अपने मनको वशमें न किया हो तथा जो धर्मका पालन न करते हों ॥ ३ ॥

अत्र नारायणः कृष्णो जिष्णुश्चैव नरोत्तमः ।
बदर्यामाश्रमपदे तथा ब्रह्मा च शाश्वतः ॥ ४ ॥

इसी दिशामें बदरिकाश्रमतीर्थ है, जहाँ सच्चिदानन्दस्वरूप श्रीनारायण, विजयशील नरश्रेष्ठ नर और सनातन ब्रह्माजी निवास करते हैं ॥ ४ ॥

अत्र वै हिमवत्पृष्ठे नित्यमास्ते महेश्वरः ।
प्रकृत्या पुरुषः सार्धं युगान्ताग्निसमप्रभः ॥ ५ ॥

उत्तरमें ही हिमालयके शिखरपर प्रलयकालीन अग्निके समान तेजस्वी अन्तर्यामी भगवान् महेश्वर भगवती उमाके साथ नित्य निवास करते हैं ॥ ५ ॥

न स दृश्यो मुनिगणैस्तथा देवैः सवासवैः ।
गन्धर्वयक्षसिद्धैर्वा नरनारायणादृते ॥ ६ ॥

वे भगवान् नर और नारायणके सिवा और किसीकी दृष्टिमें नहीं आते । समस्त मुनिगण, गन्धर्व, यक्ष, सिद्ध अथवा देवताओंसहित इन्द्र भी उनका दर्शन नहीं कर पाते हैं ॥ ६ ॥

अत्र विष्णुः सहस्राक्षः सहस्रचरणोऽव्ययः ।
सहस्रशिरसः श्रीमानेकः पश्यति मायया ॥ ७ ॥

यहाँ सहस्रों नेत्रों, सहस्रों चरणों और सहस्रों मस्तकोंवाले एकमात्र अविनाशी श्रीमान् भगवान् विष्णु ही उन मायाविशिष्ट महेश्वरका साक्षात्कार करते हैं ॥ ७ ॥

अत्र राज्येन विप्राणां चन्द्रमाश्चाभ्यषिच्यत ।
अत्र गङ्गां महादेवः पतन्तीं गगनाच्च्युताम् ॥ ८ ॥
प्रतिगृह्य ददौ लोके मानुषे ब्रह्मवित्तम ।

उत्तर दिशामें ही चन्द्रमाका द्विजराजके पदपर अभिषेक हुआ था । वेदवेत्ताओंमें श्रेष्ठ गालव ! यहीं आकाशसे गिरती हुई गङ्गाको महादेवजीने अपने मस्तकपर धारण किया और उन्हें मनुष्यलोकमें छोड़ दिया ॥ ८½ ॥

अत्र देव्या तपस्तप्तं महेश्वरपरीप्सया ॥ ९ ॥
अत्र कामश्च रोषश्च शैलश्चोमा च सम्बभुः ।

यहीं पार्वतीदेवीने भगवान् महेश्वरको पतिरूपमें प्राप्त करनेके लिये कठोर तपस्या की थी और इसी दिशामें महादेवजीको मोहित करनेके लिये काम प्रकट हुआ । फिर उसके ऊपर भगवान् शंकरका क्रोध हुआ । उस अवसरपर गिरिराज हिमालय और उमा भी वहाँ विद्यमान थीं (इस प्रकार ये सब लोग वहाँ एक ही समयमें प्रकाशित हुए) ॥

अत्र राक्षसयक्षाणां गन्धर्वाणां च गालव ॥ १० ॥

आधिपत्येन कैलासे धनदोऽप्यभिषेचितः।
अत्र चैत्ररथं रम्यमत्र वैखानसाश्रमः ॥ ११ ॥

गालव ! इसी दिशामें कैलास पर्वतपर राक्षस, यक्ष और गन्धर्वोंका आधिपत्य करनेके लिये धनदाता कुबेरका अभिषेक हुआ था। उत्तर दिशामें ही रमणीय चैत्ररथवन और वैखानस ऋषियोंका आश्रम है ॥ १०-११ ॥

अत्र मन्दाकिनी चैव मन्दरश्च द्विजर्षभ।
अत्र सौगन्धिकवनं नैर्ऋतैरभिरक्ष्यते ॥ १२ ॥

द्विजश्रेष्ठ ! यहीं मन्दाकिनी नदी और मन्दराचल हैं। इसी दिशामें राक्षसगण सौगन्धिकवनकी रक्षा करते हैं॥१२॥

शाद्वलं कदलीस्कन्धमत्र संतानका नगाः।
अत्र संयमनित्यानां सिद्धानां स्वैरचारिणाम् ॥ १३ ॥
विमानान्यनुरूपाणि कामभोग्यानि गालव।

यहीं हरी-हरी घासोंसे सुशोभित कदलीवन है और यहीं कल्पवृक्ष शोभा पाते हैं। गालव ! इसी दिशामें सदा संयम-नियमका पालन करनेवाले स्वच्छन्दचारी सिद्धोंके इच्छानुसार भोगोंसे सम्पन्न एवं मनोनुकूल विमान विचरते हैं ॥ १३½ ॥

अत्र ते ऋषयः सप्त देवी चारुन्धती तथा ॥ १४ ॥
अत्र तिष्ठति वै स्वातिरत्रास्या उदयः स्मृतः।

इसी दिशामें अरुन्धतीदेवी और सप्तर्षि प्रकाशित होते हैं। इसीमें स्वाती नक्षत्रका निवास है और यहीं उसका उदय होता है ॥ १४½ ॥

अत्र यज्ञं समासाद्य ध्रुवं स्थाता पितामहः ॥ १५ ॥
ज्योतींषि चन्द्रसूर्यौ च परिवर्तन्ति नित्यशः।

इसी दिशामें ब्रह्माजी यज्ञानुष्ठानमें प्रवृत्त होकर नियमित-रूपसे निवास करते हैं। नक्षत्र, चन्द्रमा तथा सूर्य भी सदा इसीमें परिभ्रमण करते हैं ॥ १५½ ॥

अत्र गङ्गामहाद्वारं रक्षन्ति द्विजसत्तम ॥ १६ ॥
धामा नाम महात्मानो मुनयः सत्यवादिनः।
न तेषां ज्ञायते मूर्तिर्नाकृतिर्न तपश्चितम् ॥ १७ ॥
परिवर्तसहस्राणि कामभोज्यानि गालव।

द्विजश्रेष्ठ ! इसी दिशामें धाम नामसे प्रसिद्ध सत्यवादी महात्मा मुनि श्रीगङ्गामहाद्वारकी रक्षा करते हैं। उनकी मूर्ति, आकृति तथा संचित तपस्याका परिमाण किसीको ज्ञात नहीं होता है। गालव ! वे सहस्रों युगान्तकालतककी आयु इच्छानुसार भोगते हैं ॥ १६-१७½ ॥

यथा यथा प्रविशति तस्मात् परतरं नरः ॥ १८ ॥
तथा तथा द्विजश्रेष्ठ प्रविलीयति गालव।
नैतत् केनचिदन्येन गतपूर्वं द्विजर्षभ ॥ १९ ॥
ऋते नारायणं देवं नरं वा जिष्णुमव्ययम्।
अत्र कैलासमित्युक्तं स्थानमैलविलस्य तत् ॥ २० ॥

द्विजश्रेष्ठ ! मनुष्य ज्यों-ज्यों गङ्गामहाद्वारसे आगे बढ़ता है, वैसे-ही-वैसे वहाँकी हिमराशिमें गलता जाता है। विप्रवर गालव ! साक्षात् भगवान् नारायण तथा विजयशील अविनाशी महात्मा नरको छोड़कर दूसरा कोई मनुष्य पहले कभी गङ्गामहाद्वारसे आगे नहीं गया है। इसी दिशामें कैलास-पर्वत है, जो कुबेरका स्थान बताया गया है ॥ १८–२० ॥

अत्र विद्युत्प्रभा नाम जज्ञिरेऽप्सरसो दश।
अत्र विष्णुपदं नाम क्रमता विष्णुना कृतम् ॥ २१ ॥
त्रिलोकविक्रमे ब्रह्मन्नुत्तरां दिशमाश्रितम्।
अत्र राज्ञा मरुत्तेन यज्ञेनेष्टं द्विजोत्तम ॥ २२ ॥
उशीरबीजे विप्रर्षे यत्र जाम्बूनदं सरः।

यहीं विद्युत्प्रभा नामसे प्रसिद्ध दस अप्सराएँ उत्पन्न हुई थीं। ब्रह्मन् ! त्रिलोकीको नापते समय भगवान् विष्णुने इसी दिशामें अपना चरण रक्खा था। उत्तर दिशामें भगवान् विष्णुका वह चरणचिह्न (हरिकी पैंड़ी) आज भी मौजूद है। द्विजश्रेष्ठ ! ब्रह्मर्षे ! उत्तर दिशाके ही उशीरबीज नामक स्थानमें, जहाँ सुवर्णमय सरोवर है, राजा मरुत्तने यज्ञ किया था ॥ २१-२२½ ॥

जीमूतस्यात्र विप्रर्षेरुपतस्थे महात्मनः ॥ २३ ॥
साक्षाद्धैमवतः पुण्यो विमलः कनकाकरः।

इसी दिशामें ब्रह्मर्षि महात्मा जीमूतके समक्ष हिमालयकी पवित्र एवं निर्मल स्वर्णनिधि (सोनेकी खान) प्रकट हुई थी॥

ब्राह्मणेषु च यत् कृत्स्नं स्वन्तं कृत्वा धनं महत् ॥ २४॥
वव्रे धनं महर्षिः स जैमूतं तद् धनं ततः।

उस सम्पूर्ण विशाल धनराशिको उन्होंने ब्राह्मणोंमें बाँट-कर उसका सदुपयोग किया और ब्राह्मणोंसे यह वर माँगा कि यह धन मेरे नामसे प्रसिद्ध हो। इस कारण वह धन 'जैमूत' नामसे प्रसिद्ध हुआ ॥ २४½ ॥

अत्र नित्यं दिशाम्पालाः सायम्प्रातर्द्विजर्षभ ॥ २५ ॥
कस्य कार्यं किमिति वै परिक्रोशन्ति गालव।

विप्रवर गालव ! यहाँ प्रतिदिन सवेरे और सन्ध्याके समय सभी दिक्पाल एकत्र हो उच्च स्वरसे यह पूछते हैं कि किसको क्या काम है ? ॥ २५½ ॥

एवमेषा द्विजश्रेष्ठ गुणैरन्यैर्दिगुत्तरा ॥ २६ ॥
उत्तरेति परिख्याता सर्वकर्मसु चोत्तरा।

द्विजश्रेष्ठ ! इन सब कारणोंसे तथा अन्यान्य गुणोंके कारण यह दिशा उत्कृष्ट है और समस्त शुभ कर्मोंके लिये भी यही उत्तम मानी गयी है। इसलिये इसे उत्तर कहते हैं ॥ २६½॥

एता विस्तरशस्तात तव संकीर्तिता दिशः ॥ २७ ॥
चतस्रः क्रमयोगेन कामाशां गन्तुमिच्छसि।

तात ! इस प्रकार मैंने क्रमशः चारों दिशाओंका तुम्हारे सामने विस्तारपूर्वक वर्णन किया है। कहो, किस दिशामें चलना चाहते हो ? ॥ २७½ ॥

उद्यतोऽहं द्विजश्रेष्ठ तव दर्शयितुं दिशः।
पृथिवीं चाखिलां ब्रह्मंस्तस्मादारोह मां द्विज ॥ २८ ॥

द्विजश्रेष्ठ ! मैं तुम्हें सम्पूर्ण पृथ्वी तथा समस्त दिशाओंका दर्शन करानेके लिये उद्यत हूँ; अतः तुम मेरी पीठपर बैठ जाओ ॥ २८ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि गालवचरिते एकादशाधिकशततमोऽध्यायः ॥ १११ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें गालवचरित्रविषयक एक सौ ग्यारहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १११ ॥

द्वादशाधिकशततमोऽध्यायः

गरुड़की पीठपर बैठकर पूर्व दिशाकी ओर जाते हुए गालवका उनके वेगसे व्याकुल होना

गालव उवाच

गरुत्मन् भुजगेन्द्रारे सुपर्ण विनतात्मज।
नय मां तार्क्ष्य पूर्वेण यत्र धर्मस्य चक्षुषी ॥ १ ॥

गालवने कहा—गरुत्मन् ! भुजगराजशत्रो ! सुपर्ण ! विनतानन्दन ! तार्क्ष्य ! तुम मुझे पूर्व दिशाकी ओर ले चलो, जहाँ धर्मके नेत्रस्वरूप सूर्य और चन्द्रमा प्रकाशित होते हैं ॥

पूर्वमेतां दिशं गच्छ या पूर्वं परिकीर्तिता।
देवतानां हि सांनिध्यमत्र कीर्तितवानसि ॥ २ ॥
अत्र सत्यं च धर्मश्च त्वया सम्यक् प्रकीर्तितः।
इच्छेयं तु समागन्तुं समस्तैर्दैवतैरहम्।
भूयश्च तान् सुरान् द्रष्टुमिच्छेयमरुणानुज ॥ ३ ॥

जिस दिशाका तुमने सबसे पहले वर्णन किया है, उसी दिशाकी ओर पहले चलो; क्योंकि उस दिशामें तुमने देवताओंका सांनिध्य बताया है तथा वहीं सत्य और धर्मकी स्थितिका भी भलीभाँति प्रतिपादन किया है। अरुणके छोटे भाई गरुड़ ! मैं सम्पूर्ण देवताओंसे मिलना और पुनः उन सबका दर्शन करना चाहता हूँ ॥ २-३ ॥

नारद उवाच

तमाह विनतासूनुरारोहस्वेति वै द्विजम्।
आरुरोहाथ स मुनिर्गरुडं गालवस्तदा ॥ ४ ॥

नारदजी कहते हैं—तब विनतानन्दन गरुड़ने विप्रवर गालवसे कहा—'तुम मेरे ऊपर चढ़ जाओ।' तब गालवमुनि गरुड़की पीठपर जा बैठे ॥ ४ ॥

गालव उवाच

क्रममाणस्य ते रूपं दृश्यते पन्नगाशन।
भास्करस्येव पूर्वाह्णे सहस्रांशोर्विवस्वतः ॥ ५ ॥

गालवने कहा—सर्पभोजी गरुड़ ! पूर्वाह्णकालमें सहस्र किरणोंसे सुशोभित भुवनभास्कर सूर्यका स्वरूप जैसा दिखायी देता है, आकाशमें उड़ते समय तुम्हारा स्वरूप भी वैसा ही दृष्टिगोचर होता है ॥ ५ ॥

पक्षवातप्रणुन्नानां वृक्षाणामनुगामिनाम्।
प्रस्थितानामिव समं पश्यामीह गतिं खग ॥ ६ ॥

खेचर ! तुम्हारे पङ्खोंकी हवासे उखड़कर ये वृक्ष पीछे-पीछे चले आ रहे हैं। मैं इनकी भी ऐसी तीव्र गति देख रहा हूँ, मानो ये भी हमलोगोंके साथ चलनेके लिये प्रस्थित हुए हों ॥ ६ ॥

ससागरवनामुर्वीं सशैलवनकाननाम्।
आकर्षन्निव चाभासि पक्षवातेन खेचर ॥ ७ ॥

आकाशचारी गरुड़ ! तुम अपने पङ्खोंके वेगसे उठी हुई वायुद्वारा समुद्रकी जलराशि, पर्वत, वन और काननोंसहित सम्पूर्ण पृथ्वीको अपनी ओर खींचते-से जान पड़ते हो ॥ ७ ॥

समीननागनक्रं च खमिवारोप्यते जलम्।
वायुना चैव महता पक्षवातेन चानिशम् ॥ ८ ॥

पाँखोंके हिलानेसे निरन्तर उठती हुई प्रचण्ड वायुके वेगसे मत्स्य, जलहस्ती तथा मगरोंसहित समुद्रका जल तुम्हारे द्वारा मानो आकाशमें उछाल दिया जाता है ॥ ८ ॥

तुल्यरूपाननान् मत्स्यांस्तथा तिमितिमिंगिलान्।
नागांश्च नरवक्त्रांश्च पश्याम्युन्मथितानिव ॥ ९ ॥

जिनके आकार और मुख एक-से हैं ऐसे मत्स्योंको, तिमि और तिमिंगिलोंको तथा हाथी, घोड़े और मनुष्योंके समान मुखवाले जल-जन्तुओंको मैं उन्मथित हुए-से देखता हूँ ॥

महार्णवस्य च रवैः श्रोत्रे मे बधिरे कृते।
न शृणोमि न पश्यामि नात्मनो वेद्मि कारणम् ॥ १० ॥

महासागरकी इन भीषण गर्जनाओंने मेरे कान बहरे कर दिये हैं। मैं न तो सुन पाता हूँ, न देख पाता हूँ और न अपने बचावका कोई उपाय ही समझ पाता हूँ ॥ १० ॥

शनैः स तु भवान् यातु ब्रह्मवध्यामनुस्मरन्।
न दृश्यते रविस्तात न दिशो न च खं खग ॥ ११ ॥

तात गरुड़ ! तुमसे कहीं ब्रह्महत्या न हो जाय, इसका ध्यान रखते हुए धीरे-धीरे चलो। मुझे इस समय न तो सूर्य

दिखायी देते हैं, न दिशाएँ सूझती हैं और न आकाश ही दृष्टिगोचर होता है ॥ ११ ॥

तम एव तु पश्यामि शरीरं ते न लक्षये ।
मणीव जात्यौ पश्यामि चक्षुषी तेऽहमण्डज ॥ १२ ॥

मुझे केवल अन्धकार ही दिखायी देता है । मैं तुम्हारे शरीरको नहीं देख पाता हूँ । अण्डज ! तुम्हारी दोनों आँखें मुझे उत्तम जातिकी दो मणियोंके समान चमकती दिखायी देती हैं ॥

शरीरं तु न पश्यामि तव चैवात्मनश्च ह ।
पदे पदे तु पश्यामि शरीरादग्निमुत्थितम् ॥ १३ ॥

मैं न तो तुम्हारे शरीरको देखता हूँ और न अपने शरीरको । मुझे पग-पगपर तुम्हारे अङ्गोंसे आगकी लपटें उठती दिखायी देती हैं ॥ १३ ॥

स मे निर्वाप्य सहसा चक्षुषी शाम्य ते पुनः ।
तन्नियच्छ महावेगं गमने विनतात्मज ॥ १४ ॥

विनतानन्दन ! तुम उस आगको सहसा बुझाकर पुनः अपने दोनों नेत्रोंको भी शान्त करो और तुम्हारी गतिमें जो इतना महान् वेग है, इसे रोको ॥ १४ ॥

न मे प्रयोजनं किंचिद् गमने पन्नगाशन ।
संनिवर्त महाभाग न वेगं विषहामि ते ॥ १५ ॥

गरुड़ ! इस यात्रासे मेरा कोई प्रयोजन नहीं है, अतः लौट चलो । महाभाग ! मैं तुम्हारे वेगको नहीं सह सकता ॥

गुरवे संश्रुतानीह शतान्यष्टौ हि वाजिनाम् ।
एकतः श्यामकर्णानां शुभ्राणां चन्द्रवर्चसाम्॥ १६ ॥

मैंने गुरुको ऐसे आठ सौ घोड़े देनेकी प्रतिज्ञा की है, जो चन्द्रमाके समान उज्ज्वल कान्तिसे युक्त हों और जिनके कान एक ओरसे श्याम रंगके हों ॥ १६ ॥

तेषां चैवापवर्गाय मार्गं पश्यामि नाण्डज ।
ततोऽयं जीवितत्यागे दृष्टो मार्गो मयाऽऽत्मनः॥ १७ ॥

किंतु अण्डज ! उन घोड़ोंके दिये जानेका कोई मार्ग मुझे नहीं दिखायी देता है । इसीलिये मैंने अपने जीवनके परित्यागका ही मार्ग चुना है ॥ १७ ॥

नैव मेऽस्ति धनं किंचिन्न धनेनान्वितः सुहृत् ।
न चार्थेनापि महता शक्यमेतद् व्यपोहितुम् ॥ १८ ॥

मेरे पास थोड़ा भी धन नहीं है, कोई धनी मित्र भी नहीं है और यह कार्य ऐसा है कि प्रचुर धनराशिका व्यय करनेसे भी सिद्ध नहीं हो सकता ॥ १८ ॥

नारद उवाच

एवं बहु च दीनं च ब्रुवाणं गालवं तदा ।
प्रत्युवाच व्रजन्नेव प्रहसन् विनतात्मजः ॥ १९ ॥

नारदजी कहते हैं—इस प्रकार बहुत दीन वचन बोलते हुए महर्षि गालवसे विनतानन्दन गरुड़ने चलते हुए ही हँसकर कहा—॥ १९ ॥

नातिप्रज्ञोऽसि विप्रर्षे योऽऽत्मानं त्युक्तमिच्छसि।
न चापि कृत्रिमः कालः कालो हि परमेश्वरः ॥ २० ॥

'ब्रह्मर्षे ! यदि तुम अपने प्राणोंका परित्याग करना चाहते हो तो विशेष बुद्धिमान् नहीं हो; क्योंकि मृत्यु कृत्रिम नहीं होती (उसका अपनी इच्छासे निर्माण नहीं किया जा सकता) । वह तो परमेश्वरका ही स्वरूप है ॥ २० ॥

किमहं पूर्वमेवेह भवता नाभिचोदितः ।
उपायोऽत्र महानस्ति येनैतदुपपद्यते ॥ २१ ॥

'तुमने पहले ही मुझसे यह बात क्यों नहीं कह दी ? मेरी दृष्टिमें एक महान् उपाय है, जिससे यह कार्य सिद्ध हो सकता है ॥ २१ ॥

तदेष ऋषभो नाम पर्वतः सागरान्तिके ।
अत्र विश्रम्य भुक्त्वा च निवर्तिष्याव गालव ॥ २२ ॥

'गालव ! समुद्रके निकट यह ऋषभ नामक पर्वत है, जहाँ विश्राम और भोजन करके हम दोनों लौट चलेंगे'॥२२॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि गालवचरिते द्वादशाधिकशततमोऽध्यायः ॥ ११२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें गालवचरित्रविषयक एक सौ बारहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ११२ ॥

त्रयोदशाधिकशततमोऽध्यायः

ऋषभ पर्वतके शिखरपर महर्षि गालव और गरुड़की तपस्विनी शाण्डिलीसे भेंट तथा गरुड़ और गालवका गुरुदक्षिणा चुकानेके विषयमें परस्पर विचार

नारद उवाच

ऋषभस्य ततः शृङ्गं निपत्य द्विजपक्षिणौ ।
शाण्डिलीं ब्राह्मणीं तत्र ददृशाते तपोऽन्विताम्॥ १ ॥

नारदजी कहते हैं—तदनन्तर गालव और गरुड़ने ऋषभ पर्वतके शिखरपर उतरकर वहाँ तपस्विनी शाण्डिली ब्राह्मणीको देखा ॥ १ ॥

अभिवाद्य सुपर्णस्तु गालवश्चाभिपूज्य ताम् ।
तया च स्वागतेनोक्तौ विष्टरे संनिषीदतुः ॥ २ ॥

गरुड़ने उसे प्रणाम किया और गालवने उसका आदर-सम्मान किया। तदनन्तर उसने भी उन दोनोंका स्वागत करके उन्हें आसनपर बैठनेके लिये कहा। उसकी आज्ञा पाकर वे दोनों वहाँ आसनपर बैठ गये ॥ २ ॥

सिद्धमन्नं तया दत्तं बलिमन्त्रोपबृंहितम्।
भुक्त्वा तृप्तावुभौ भूमौ सुप्तौ तावनुमोहितौ ॥ ३ ॥

तपस्विनीने उन्हें बलिवैश्वदेवसे बचा हुआ अभिमन्त्रित सिद्धान्न अर्पण किया। उसे खाकर वे दोनों तृप्त हो गये और भूमिपर ही सो गये। तत्पश्चात् निद्राने उन्हें अचेत कर दिया ॥ ३ ॥

मुहूर्तात् प्रतिबुद्धस्तु सुपर्णो गमनेप्सया।
अथ भ्रष्टतनूजाङ्गमात्मानं ददृशे खगः ॥ ४ ॥

दो ही घड़ीके बाद मनमें वहाँसे जानेकी इच्छा लेकर गरुड़ जाग उठे। उठनेपर उन्होंने अपने शरीरको दोनों पंखोंसे रहित देखा ॥ ४ ॥

मांसपिण्डोपमोऽभूत् स मुखपादान्वितः खगः।
गालवस्तं तथा दृष्ट्वा विमनाः पर्यपृच्छत ॥ ५ ॥

आकाशचारी गरुड़ मुख और हाथोंसे युक्त होते हुए भी उन पंखोंके बिना मांसके लोंदे-से हो गये। उन्हें उस दशामें देखकर गालवका मन उदास हो गया और उन्होंने पूछा—॥

किमिदं भवता प्राप्तमिहागमनजं फलम्।
वासोऽयमिह कालं तु कियन्तं नौ भविष्यति ॥ ६ ॥

'सखे! तुम्हें यहाँ आनेका यह क्या फल मिला? इस अवस्थामें हम दोनोंको यहाँ कितने समयतक रहना पड़ेगा? ॥ ६ ॥

किं नु ते मनसा ध्यातमशुभं धर्मदूषणम्।
न ह्ययं भवतः स्वल्पो व्यभिचारो भविष्यति ॥ ७ ॥

'तुमने अपने मनमें कौन-सा अशुभ चिन्तन किया है, जो धर्मको दूषित करनेवाला रहा है। मैं समझता हूँ, तुम्हारे द्वारा यहाँ कोई थोड़ा धर्मविरुद्ध कार्य नहीं हुआ होगा' ॥७॥

सुपर्णोऽथाब्रवीद् विप्रं प्रध्यातं वै मया द्विज।
इमां सिद्धामितो नेतुं तत्र यत्र प्रजापतिः ॥ ८ ॥
यत्र देवो महादेवो यत्र विष्णुः सनातनः।
यत्र धर्मश्च यज्ञश्च तत्रेयं निवसेदिति ॥ ९ ॥

तब गरुड़ने विप्रवर गालवसे कहा—'ब्रह्मन्! मैंने तो अपने मनमें यही सोचा था कि इस सिद्ध तपस्विनीको वहाँ पहुँचा दूँ, जहाँ प्रजापति ब्रह्मा हैं, जहाँ महादेवजी हैं, जहाँ सनातन भगवान् विष्णु हैं तथा जहाँ धर्म एवं यज्ञ है, वहीं इसे निवास करना चाहिये ॥ ८-९ ॥

सोऽहं भगवतीं याचे प्रणतः प्रियकाम्यया।
मयैतन्नाम प्रध्यातं मनसा शोचता किल ॥ १० ॥

'अतः मैं भगवती शाण्डिलीके चरणोंमें पड़कर यह प्रार्थना करता हूँ कि मैंने अपने चिन्तनशील मनके द्वारा आपका प्रिय करनेकी इच्छासे ही यह बात सोची है ॥ १० ॥

तदेवं बहुमानात् ते मयेहानीप्सितं कृतम्।
सुकृतं दुष्कृतं वा त्वं माहात्म्यात् क्षन्तुमर्हसि॥ ११ ॥

'आपके प्रति विशेष आदरका भाव होनेसे ही मैंने इस स्थानपर ऐसा चिन्तन किया है, जो सम्भवतः आपको अभीष्ट नहीं रहा है। मेरे द्वारा यह पुण्य हुआ हो या पाप, अपने ही माहात्म्यसे आप मेरे इस अपराधको क्षमा कर दें' ॥११॥

सा तौ तदाब्रवीत् तुष्टा पतगेन्द्रद्विजर्षभौ।
न भेतव्यं सुपर्णोऽसि सुपर्ण त्यज सम्भ्रमम् ॥ १२ ॥

यह सुनकर तपस्विनी बहुत संतुष्ट हुई। उसने उस समय पक्षिराज गरुड़ और विप्रवर गालवसे कहा—'सुपर्ण! तुम्हारे पंख और भी सुन्दर हो जायँगे; अतः तुम्हें भयभीत नहीं होना चाहिये। तुम घबराहट छोड़ो ॥ १२ ॥

निन्दितास्मि त्वया वत्स न च निन्दां क्षमाम्यहम्।
लोकेभ्यः सपदि भ्रश्येद् यो मां निन्देत पापकृत् ॥ १३ ॥

'वत्स! तुमने मेरी निन्दा की है, मैं निन्दा नहीं सहन करती हूँ। जो पापी मेरी निन्दा करेगा, वह पुण्य-लोकोंसे तत्काल भ्रष्ट हो जायगा ॥ १३ ॥

हीनया लक्षणैः सर्वैस्तथानिन्दितया मया।
आचारं प्रतिगृह्णन्त्या सिद्धिः प्राप्तेयमुत्तमा ॥ १४ ॥

'समस्त अशुभ लक्षणोंसे हीन और अनिन्दित रहकर सदाचारका पालन करते हुए ही मैंने यह उत्तम सिद्धि प्राप्त की है ॥ १४ ॥

आचारः फलते धर्ममाचारः फलते धनम्।
आचाराच्छ्रियमाप्नोति आचारो हन्त्यलक्षणम् ॥ १५ ॥

'आचार ही धर्मको सफल बनाता है, आचार ही धनरूपी फल देता है, आचारसे मनुष्यको सम्पत्ति प्राप्त होती है और आचार ही अशुभ लक्षणोंका भी नाश कर देता है ॥ १५ ॥

तदायुष्मन् खगपते यथेष्टं गम्यतामितः।
न च ते गर्हणीयाहं गर्हितव्याः स्त्रियः क्वचित् ॥ १६ ॥

'अतः आयुष्मन् पक्षिराज! अब तुम यहाँसे अपने अभीष्ट स्थानको जाओ। आजसे तुम्हें मेरी निन्दा नहीं करनी चाहिये। मेरी ही क्यों, कहीं किसी भी स्त्रीकी निन्दा करनी उचित नहीं है ॥ १६ ॥

भवितासि यथापूर्वं बलवीर्यसमन्वितः।
बभूवतुस्ततस्तस्य पक्षौ द्रविणवत्तरौ ॥ १७ ॥

'अब तुम पहलेकी ही भाँति बल और पराक्रमसे सम्पन्न हो जाओगे ।' शाण्डिलीके इतना कहते ही गरुड़की पाँखें पहलेसे भी अधिक शक्तिशाली हो गयीं ॥ १७ ॥

अनुज्ञातस्तु शाण्डिल्या यथागतमुपागमत् ।
नैव चासादयामास तथारूपांस्तुरंगमान् ॥ १८ ॥

तत्पश्चात् शाण्डिलीकी आज्ञा ले वे जैसे आये थे, वैसे ही चले गये । वे गालवके बताये अनुसार श्यामकर्ण घोड़े नहीं पा सके ॥ १८ ॥

विश्वामित्रोऽथ तं दृष्ट्वा गालवं चाध्वनि स्थितः ।
उवाच वदतां श्रेष्ठो वैनतेयस्य संनिधौ ॥ १९ ॥

इधर गालवको राहमें आते देख वक्ताओंमें श्रेष्ठ विश्वामित्रजी खड़े हो गये और गरुड़के समीप उनसे इस प्रकार बोले—॥ १९ ॥

यस्त्वया स्वयमेवार्थः प्रतिज्ञातो मम द्विज ।
तस्य कालोऽपवर्गस्य यथा वा मन्यते भवान् ॥ २० ॥

'ब्रह्मन् ! तुमने स्वयं ही जिस धनको देनेकी प्रतिज्ञा की थी, उसे देनेका समय आ गया है । फिर तुम जैसा ठीक समझो, करो ॥ २० ॥

प्रतीक्षिष्याम्यहं कालमेतावन्तं तथा परम् ।
यथा संसिध्यते विप्र स मार्गस्तु निशाम्यताम् ॥ २१ ॥

मैं इतने ही समयतक और तुम्हारी प्रतीक्षा करूँगा । ब्रह्मन् ! जिस प्रकार तुम्हें सफलता मिल सके, उस मार्गका विचार करो' ॥ २१ ॥

सुपर्णोऽथाब्रवीद् दीनं गालवं भृशदुःखितम् ।
प्रत्यक्षं खल्विदानीं मे विश्वामित्रो यदुक्तवान् ॥ २२ ॥
तदागच्छ द्विजश्रेष्ठ मन्त्रयिष्याव गालव ।
नादत्त्वा गुरवे शक्यं कृत्स्नमर्थं त्वयाऽऽसितुम् ॥ २३ ॥

तदनन्तर दीन और अत्यन्त दुखी हुए गालव मुनिसे गरुड़ने कहा—'द्विजश्रेष्ठ गालव ! विश्वामित्रजीने मेरे सामने जो कुछ कहा है, आओ, उसके विषयमें हम दोनों सलाह करें । तुम्हें अपने गुरुको उनका सारा धन चुकाये बिना चुप नहीं बैठना चाहिये ॥ २२-२३ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि गालवचरिते त्रयोदशाधिकशततमोऽध्यायः ॥ ११३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें गालवचरित्रविषयक एक सौ तेरहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ११३ ॥

चतुर्दशाधिकशततमोऽध्यायः

गरुड़ और गालवका राजा ययातिके यहाँ जाकर गुरुको देनेके लिये श्यामकर्ण घोड़ोंकी याचना करना

नारद उवाच

अथाह गालवं दीनं सुपर्णः पततां वरः ।
निर्मितं वह्निना भूमौ वायुना शोधितं तथा ।
यस्माद्धिरण्मयं सर्वं हिरण्यं तेन चोच्यते ॥ १ ॥

नारदजी कहते हैं—तदनन्तर पक्षियोंमें श्रेष्ठ गरुड़ने दीन-दुखी गालव मुनिसे इस प्रकार कहा—'पृथ्वीके भीतर जो उसका सारतत्त्व है उसे तपाकर अग्निने जिसका निर्माण किया है और उस अग्निको उद्दीप्त करनेवाली वायुने जिसका शोधन किया है, उस सुवर्णको हिरण्य कहते हैं । यह सम्पूर्ण जगत् हिरण्यप्रधान है; इसलिये भी उसे हिरण्य कहते हैं ॥ १ ॥

धत्ते धारयते चेदमेतस्मात् कारणाद् धनम् ।
तदेतत् त्रिषु लोकेषु धनं तिष्ठति शाश्वतम् ॥ २ ॥

'वह इस जगत्को स्वयं तो धारण करता ही है, दूसरोंसे भी धारण कराता है । इस कारण उस सुवर्णका नाम धन है । यह धन तीनों लोकोंमें सदा स्थित रहता है ॥ २ ॥

नित्यं प्रोष्ठपदाभ्यां च शुक्रे धनपतौ तथा ।
मनुष्येभ्यः समादत्ते शुक्रश्चित्तार्जितं धनम् ॥ ३ ॥
अजैकपादहिर्बुध्न्यै रक्ष्यते धनदेन च ।
एवं न शक्यते लब्धुमलब्धव्यं द्विजर्षभ ॥
ऋते च धनमश्वानां नावाप्तिर्विद्यते तव ॥ ४ ॥

'द्विजश्रेष्ठ ! पूर्वभाद्रपद और उत्तरभाद्रपद इन दो नक्षत्रोंमेंसे किसी एकके साथ शुक्रवारका योग हो तो अग्निदेव कुबेरके लिये अपने संकल्पसे धनका निर्माण करके उसे मनुष्योंको दे देते हैं । पूर्वभाद्रपदके देवता अजैकपाद्, उत्तरभाद्रपदके देवता अहिर्बुध्न्य और कुबेर—ये तीनों उस धनकी रक्षा करते हैं । इस प्रकार किसीको भी ऐसा धन नहीं मिल सकता, जो प्रारब्धवश उसे मिलनेवाला न हो और धनके बिना तुम्हें श्यामकर्ण घोड़ोंकी प्राप्ति नहीं हो सकती ॥ ३-४ ॥

स त्वं याचात्र राजानं कंचिद् राजर्षिवंशजम् ।
अपीड्य राजा पौरान् हि यो नौ कुर्यात् कृतार्थिनौ ॥ ५ ॥

'इसलिये मेरी राय यह है कि तुम राजर्षियोंके कुलमें उत्पन्न हुए किसी ऐसे राजाके पास चलकर धनके लिये

याचना करो, जो पुरवासियोंको पीड़ा दिये बिना ही हम दोनोंको धन देकर कृतार्थ कर सके ॥ ५ ॥

अस्ति सोमान्ववाये मे जातः कश्चिन्नृपः सखा ।
अभिगच्छावहे तं वै तस्यास्ति विभवो भुवि ॥ ६ ॥

'चन्द्रवंशमें उत्पन्न एक राजा हैं, जो मेरे मित्र हैं । हम दोनों उन्हींके पास चलें । इस भूतलपर उनके पास अवश्य ही धन है ॥ ६ ॥

ययातिर्नाम राजर्षिर्नाहुषः सत्यविक्रमः ।
स दास्यति मया चोक्तो भवता चार्थितः स्वयम्॥ ७ ॥

'मेरे उन मित्रका नाम है राजर्षि ययाति, जो महाराज नहुषके पुत्र हैं । वे सत्यपराक्रमी वीर हैं । तुम्हारे माँगने और मेरे कहनेपर वे स्वयं ही तुम्हें धन देंगे ॥ ७ ॥

विभवश्चास्य सुमहानासीद् धनपतेरिव ।
एवं गुरुधनं विद्वन् दानेनैव विशोधय ॥ ८ ॥

'उनके पास धनाध्यक्ष कुबेरकी भाँति महान् वैभव रहा है । विद्वन् ! इस प्रकार दान लेकर ही तुम गुरुदक्षिणाका ऋण चुका दो' ॥ ८ ॥

तथा तौ कथयन्तौ च चिन्तयन्तौ च यत् क्षमम् ।
प्रतिष्ठाने नरपतिं ययातिं प्रत्युपस्थितौ ॥ ९ ॥

इस प्रकार परस्पर बातें करते और उचित कर्तव्यको मन-ही-मन सोचते हुए वे दोनों प्रतिष्ठानपुरमें राजा ययातिके दरबारमें उपस्थित हुए ॥ ९ ॥

प्रतिगृह्य च सत्कारैरर्घ्यपाद्यादिकं वरम् ।
पृष्टश्चागमने हेतुमुवाच विनतासुतः ॥ १० ॥

राजाके द्वारा सत्कारपूर्वक दिये हुए श्रेष्ठ अर्घ्य-पाद्य आदि ग्रहण करके विनतानन्दन गरुड़ने उनके पूछनेपर अपने आगमनका प्रयोजन इस प्रकार बताया—॥ १० ॥

अयं मे नाहुष सखा गालवस्तपसो निधिः ।
विश्वामित्रस्य शिष्योऽभूद् वर्षाण्ययुतशो नृप ॥ ११ ॥

'नहुषनन्दन ! ये तपोनिधि गालव मेरे मित्र हैं । राजन् ! ये दस हजार वर्षोंतक महर्षि विश्वामित्रके शिष्य रहे हैं ॥ ११ ॥

सोऽयं तेनाभ्यनुज्ञात उपकारेप्सया द्विजः ।
तमाह भगवन् किं ते ददानि गुरुदक्षिणाम् ॥ १२ ॥

'विश्वामित्रजीने (इनकी सेवाके बदले) इनका भी उपकार करनेकी इच्छासे इन्हें घर जानेकी आज्ञा दे दी । तब इन्होंने उनसे पूछा—'भगवन् ! मैं आपको क्या गुरुदक्षिणा दूँ ? ॥ १२ ॥

असकृत् तेन चोक्तेन किंचिदागतमन्युना ।
अयमुक्तः प्रयच्छेति जानता विभवं लघु ॥ १३ ॥

एकतः श्यामकर्णानां शुभ्राणां शुद्धजन्मनाम् ।
अष्टौ शतानि मे देहि हयानां चन्द्रवर्चसाम् ॥ १४ ॥
गुर्वर्थो दीयतामेष यदि गालव मन्यसे ।
इत्येवमाह सक्रोधो विश्वामित्रस्तपोधनः ॥ १५ ॥

'इनके बार-बार आग्रह करनेपर विश्वामित्रजीको कुछ क्रोध आ गया; अतः इनके पास धनका अभाव है, यह जानते हुए भी उन्होंने इनसे कहा—'लाओ, गुरुदक्षिणा दो । गालव ! मुझे अच्छी जातिमें उत्पन्न हुए ऐसे आठ सौ घोड़े दो, जिनकी अङ्गकान्ति चन्द्रमाके समान उज्ज्वल और कान एक ओरसे श्याम रंगके हों । गालव ! यदि तुम मेरी बात मानो तो यही गुरुदक्षिणा ला दो ।' तपोधन विश्वामित्रने यह बात कुपित होकर ही कही थी ॥ १३—१५ ॥

सोऽयं शोकेन महता तप्यमानो द्विजर्षभः ।
अशक्तः प्रतिकर्तुं तद् भवन्तं शरणं गतः ॥ १६ ॥

'अतः ये द्विजश्रेष्ठ गालव महान् शोकसे संतप्त हो गुरुदक्षिणा चुकानेमें असमर्थ हो गये हैं और इसीलिये आपकी शरणमें आये हैं ॥ १६ ॥

प्रतिगृह्य नरव्याघ्र त्वत्तो भिक्षां गतव्यथः ।
कृत्वापवर्गं गुरवे चरिष्यति महत् तपः ॥ १७ ॥

'पुरुषसिंह ! आपसे भिक्षा ग्रहण करके गुरुको पूर्वोक्त धन देकर ये क्लेशरहित हो महान् तपमें संलग्न हो जायँगे ॥ १७ ॥

तपसः संविभागेन भवन्तमपि योक्ष्यते ।
स्वेन राजर्षितपसा पूर्णं त्वां पूरयिष्यति ॥ १८ ॥

अपनी तपस्याके एक अंशसे ये आपको भी संयुक्त करेंगे । यद्यपि आप अपनी राजर्षिजनोचित तपस्यासे पूर्ण हैं, तथापि ये अपने ब्राह्म तपसे आपको और भी परिपूर्ण करेंगे ॥ १८ ॥

यावन्ति रोमाणि हये भवन्तीह नरेश्वर ।
तावन्तो वाजिनो लोकान् प्राप्नुवन्ति महीपते ॥ १९ ॥

'नरेश्वर ! भूपाल ! यहाँ (दान किये हुए) घोड़के शरीरमें जितने रोएँ होते हैं, दान करनेवाले लोगोंको (परलोकमें) उतने ही घोड़े प्राप्त होते हैं ॥ १९ ॥

पात्रं प्रतिग्रहस्यायं दातुं पात्रं तथा भवान् ।
शङ्खे क्षीरमिवासिक्तं भवत्वेतत् तथोपमम् ॥ २० ॥

'ये गालव दान लेनेके सुयोग्य पात्र हैं और आप दान करनेके श्रेष्ठ अधिकारी हैं । जैसे शङ्खमें दूध रक्खा गया हो, उसी प्रकार इनके हाथमें दिये हुए आपके इस दानकी शोभा होगी' ॥ २० ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि गालवचरिते चतुर्दशाधिकशततमोऽध्यायः ॥ ११४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें गालवचरित्रविषयक एक सौ चौदहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ११४ ॥

पञ्चदशाधिकशततमोऽध्यायः

राजा ययातिका गालवको अपनी कन्या देना और गालवका उसे लेकर अयोध्यानरेशके यहाँ जाना

नारद उवाच

एवमुक्तः सुपर्णेन तथ्यं वचनमुत्तमम् ।
विमृश्यावहितो राजा निश्चित्य च पुनः पुनः ॥ १ ॥
यष्टा क्रतुसहस्राणां दाता दानपतिः प्रभुः ।
ययातिः सर्वकाशीश इदं वचनमब्रवीत् ॥ २ ॥

नारदजी कहते हैं—गरुड़ने जब इस प्रकार यथार्थ और उत्तम बात कही, तब सहस्रों यज्ञोंका अनुष्ठान करनेवाले दाता, दानपति, प्रभावशाली तथा राजोचित तेजसे प्रकाशित होनेवाले सम्पूर्ण नरेशोंके स्वामी महाराज ययातिने सावधानीके साथ बारंबार विचार करके एक निश्चयपर पहुँचकर इस प्रकार कहा ॥ १-२ ॥

दृष्ट्वा प्रियसखं तार्क्ष्यं गालवं च द्विजर्षभम् ।
निदर्शनं च तपसो भिक्षां श्लाघ्यां च कीर्तिताम् ।३।
अतीत्य च नृपानन्यानादित्यकुलसम्भवान् ।
मत्सकाशमनुप्राप्तावेतौ बुद्धिमवेक्ष्य च ॥ ४ ॥

राजाने पहले अपने प्रिय मित्र गरुड़ तथा तपस्याके मूर्तिमान् स्वरूप विप्रवर गालवको अपने यहाँ उपस्थित देख और उनकी बतायी हुई स्पृहणीय भिक्षाकी बात सुनकर मनमें इस प्रकार विचार किया—

'ये दोनों सूर्यवंशमें उत्पन्न हुए दूसरे अनेक राजाओंको छोड़कर मेरे पास आये हैं।' ऐसा विचारकर वे बोले—॥३-४॥

अद्य मे सफलं जन्म तारितं चाद्य मे कुलम् ।
अद्यायं तारितो देशो मम तार्क्ष्य त्वयानघ ॥ ५ ॥

'निष्पाप गरुड़ ! आज मेरा जन्म सफल हो गया। आज मेरे कुलका उद्धार हो गया और आज आपने मेरे इस सम्पूर्ण देशको भी तार दिया ॥ ५ ॥

वक्तुमिच्छामि तु सखे यथा जानासि मां पुरा ।
न तथा वित्तवानस्मि क्षीणं वित्तं च मे सखे ॥ ६ ॥

'सखे ! फिर भी मैं एक बात कहना चाहता हूँ । आप पहलेसे मुझे जैसा धनवान् समझते हैं, वैसा धनसम्पन्न अब मैं नहीं रह गया हूँ । मित्र ! मेरा वैभव इन दिनों क्षीण हो गया है॥

न च शक्तोऽस्मि ते कर्तुं मोघमागमनं खग ।
न चाशामस्य विप्रर्षेर्वितथीकर्तुमुत्सहे ॥ ७ ॥

'आकाशचारी गरुड़ ! इस दशामें भी मैं आपके आगमनको निष्फल करनेमें असमर्थ हूँ और इन ब्रह्मर्षिकी आशाको भी मैं विफल करना नहीं चाहता ॥ ७ ॥

तत् तु दास्यामि यत् कार्यमिदं सम्पादयिष्यति ।
अभिगम्य हताशो हि निवृत्तो दहते कुलम् ॥ ८ ॥

'अतः मैं एक ऐसी वस्तु दूँगा, जो इस कार्यका सम्पादन कर देगी। अपने पास आकर कोई याचक हताश हो जाय तो वह लौटनेपर आशा भंग करनेवाले राजाके समूचे कुलको दग्ध कर देता है ॥ ८ ॥

नातः परं वैनतेय किंचित् पापिष्ठमुच्यते ।
यथाशानाशनाल्लोके देहि नास्तीति वा वचः ॥ ९ ॥

'विनतानन्दन ! लोकमें कोई 'दीजिये' कहकर कुछ माँगे और उससे यह कह दिया जाय कि 'जाओ मेरे पास नहीं है', इस प्रकार याचककी आशाको भंग करनेसे जितना पाप लगता है, इससे बढ़कर पापकी दूसरी कोई बात नहीं कही जाती है ॥ ९ ॥

हताशो ह्यकृतार्थः सन् हतः सम्भावितो नरः ।
हिनस्ति तस्य पुत्रांश्च पौत्रांश्चाकुर्वतो हितम् ॥ १० ॥

'कोई श्रेष्ठ मनुष्य जब कहीं याचना करके हताश एवं असफल होता है, तब वह मरे हुएके समान हो जाता है और अपना हित न करनेवाले धनीके पुत्रों तथा पौत्रोंका नाश कर डालता है ॥ १० ॥

तस्माच्चतुर्णां वंशानां स्थापयित्री सुता मम ।
इयं सुरसुतप्रख्या सर्वधर्मोपचायिनी ॥ ११ ॥

'अतः मेरी जो यह पुत्री है, यह चार कुलोंकी स्थापना करनेवाली है। इसकी कान्ति देवकन्याके समान है । यह सम्पूर्ण धर्मोंकी वृद्धि करनेवाली है ॥ ११ ॥

सदा देवमनुष्याणामसुराणां च गालव ।
काङ्क्षिता रूपतो बाला सुता मे प्रतिगृह्यताम् ॥ १२ ॥

'गालव ! इसके रूप-सौन्दर्यसे आकृष्ट होकर देवता, मनुष्य तथा असुर सभी लोग सदा इसे पानेकी अभिलाषा रखते हैं; अतः आप मेरी इस पुत्रीको ही ग्रहण कीजिये ॥ १२ ॥

अस्याः शुल्कं प्रदास्यन्ति नृपा राज्यमपि ध्रुवम् ।
किं पुनः श्यामकर्णानां हयानां द्वे चतुःशते ॥ १३ ॥

'इसके शुल्कके रूपमें राजालोग निश्चय ही अपना राज्य भी आपको दे देंगे; फिर आठ सौ श्यामकर्ण घोड़ोंकी तो बात ही क्या है ? ॥ १३ ॥

स भवान् प्रतिगृह्णातु ममैतां माधवीं सुताम् ।
अहं दौहित्रवान् स्यां वै वर एष मम प्रभो ॥ १४ ॥

'अतः प्रभो ! आप मेरी इस पुत्री माधवीको ग्रहण करें और मुझे यह वर दें कि मैं दौहित्रवान् (नातियोंसे युक्त) होऊँ' ॥ १४ ॥

प्रतिगृह्य च तां कन्यां गालवः सह पक्षिणा ।
पुनर्द्रक्ष्याव इत्युक्त्वा प्रतस्थे सह कन्यया ॥ १५ ॥

तब गरुड़सहित गालवने उस कन्याको लेकर कहा—'अच्छा, हम फिर कभी मिलेंगे ।' राजासे ऐसा कहकर गालवमुनि कन्याके साथ वहाँसे चल दिये ॥ १५ ॥

उपलब्धमिदं द्वारमश्वानामिति चाण्डजः ।
उक्त्वा गालवमापृच्छ्य जगाम भवनं स्वकम् ॥ १६ ॥

तदनन्तर गरुड़ भी यह कहकर कि अब तुम्हें घोड़ोंकी प्राप्तिका यह द्वार प्राप्त हो गया, गालवसे विदा ले अपने घरको चले गये ॥ १६ ॥

गते पतगराजे तु गालवः सह कन्यया ।
चिन्तयानः क्षमं दाने राज्ञां वै शुल्कतोऽगमत् ॥ १७ ॥

पक्षिराज गरुड़के चले जानेपर गालव उस कन्याके साथ यह सोचते हुए चल दिये कि राजाओंमेंसे कौन ऐसा नरेश है, जो इस कन्याका शुल्क देनेमें समर्थ हो ॥ १७ ॥

सोऽगच्छन्मनसेक्ष्वाकुं हर्यश्वं राजसत्तमम् ।
अयोध्यायां महावीर्यं चतुरङ्गबलान्वितम् ॥ १८ ॥

वे मन-ही-मन विचार करके अयोध्यामें इक्ष्वाकुवंशी नृपतिशिरोमणि महापराक्रमी हर्यश्वके पास गये, जो चतुरङ्गिणी सेनासे सम्पन्न थे ॥ १८ ॥

कोशधान्यबलोपेतं प्रियपौरं द्विजप्रियम् ।
प्रजाभिकामं शाम्यन्तं कुर्वाणं तप उत्तमम् ॥ १९ ॥

वे कोष, धन-धान्य और सैनिकबल—सबसे सम्पन्न थे । पुरवासी प्रजा उन्हें बहुत ही प्रिय थी । ब्राह्मणोंके प्रति उनका अधिक प्रेम था । वे प्रजावर्गके हितकी इच्छा रखते थे । उनका मन भोगोंसे विरक्त एवं शान्त था । वे उत्तम तपस्यामें लगे हुए थे ॥ १९ ॥

तमुपागम्य विप्रः स हर्यश्वं गालवोऽब्रवीत् ।
कन्येयं मम राजेन्द्र प्रसवैः कुलवर्धिनी ॥ २० ॥
इयं शुल्केन भार्यार्थे हर्यश्व प्रतिगृह्यताम् ।
शुल्कं ते कीर्तयिष्यामि तच्छ्रुत्वा सम्प्रधार्यताम् ॥ २१ ॥

राजा हर्यश्वके पास जाकर विप्रवर गालवने कहा—'राजेन्द्र ! मेरी यह कन्या अपनी संतानोंद्वारा वंशकी वृद्धि करनेवाली है । तुम शुल्क देकर इसे अपनी पत्नी बनानेके लिये ग्रहण करो । हर्यश्व ! मैं तुम्हें पहले इसका शुल्क बताऊँगा । उसे सुनकर तुम अपने कर्तव्यका निश्चय करो' ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि गालवचरिते पञ्चदशाधिकशततमोऽध्यायः ॥ ११५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें गालवचरित्रविषयक एक सौ पंद्रहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ११५ ॥

षोडशाधिकशततमोऽध्यायः

हर्यश्वका दो सौ श्यामकर्ण घोड़े देकर ययातिकन्याके गर्भसे वसुमना नामक पुत्र उत्पन्न करना और गालवका इस कन्याके साथ वहाँसे प्रस्थान

नारद उवाच

हर्यश्वस्त्वब्रवीद् राजा विचिन्त्य बहुधा ततः ।
दीर्घमुष्णं च निःश्वस्य प्रजाहेतोर्नृपोत्तमः ॥ १ ॥
उन्नतेषून्नता षट्सु सूक्ष्मा सूक्ष्मेषु पञ्चसु ।
गम्भीरा त्रिषु गम्भीरेष्वियं रक्ता च पञ्चसु ॥ २ ॥

नारदजी कहते हैं—तदनन्तर नृपश्रेष्ठ राजा हर्यश्वने उस कन्याके विषयमें बहुत सोच-विचारकर संतानोत्पादनकी इच्छासे गरम-गरम लम्बी साँस खींचकर मुनिसे इस प्रकार कहा—'द्विजश्रेष्ठ ! इस कन्याके छः अङ्ग जो ऊँचे होने चाहिये, ऊँचे हैं । पाँच अङ्ग जो सूक्ष्म होने चाहिये, सूक्ष्म हैं । तीन अङ्ग जो गम्भीर होने चाहिये, गम्भीर हैं तथा इसके पाँच अङ्ग रक्तवर्णके हैं ॥ १-२ ॥

(श्रोण्यौ ललाटमूरू च घ्राणं चेति षडुन्नतम् ।
सूक्ष्माण्यङ्गुलिपर्वाणि केशरोमनखत्वचः ॥
स्वरः सत्त्वं च नाभिश्च त्रिगम्भीरं प्रचक्षते ।
पाणिपादतले रक्ते नेत्रान्तौ च नखानि च ॥)

'दो नितम्ब, दो जाँघें, ललाट और नासिका—ये छः अङ्ग ऊँचे हैं । अङ्गुलियोंके पर्व, केश, रोम, नख और त्वचा—ये पाँच अङ्ग सूक्ष्म हैं । स्वर, अन्तःकरण तथा नाभि—ये तीन गम्भीर कहे जा सकते हैं तथा हथेली, पैरोंके तलवे, दक्षिण नेत्रप्रान्त, वाम नेत्रप्रान्त तथा नख—ये पाँच अङ्ग रक्तवर्णके हैं ॥

बहुदेवासुरालोका बहुगन्धर्वदर्शना ।
बहुलक्षणसम्पन्ना बहुप्रसवधारिणी ॥ ३ ॥

'यह बहुत-से देवताओं तथा असुरोंके लिये भी दर्शनीय है । इसे गन्धर्वविद्या (संगीत) का भी अच्छा ज्ञान है । यह बहुत-से शुभ लक्षणोंद्वारा सुशोभित तथा अनेक संतानोंको जन्म देनेमें समर्थ है ॥ ३ ॥

समर्थेयं जनयितुं चक्रवर्तिनमात्मजम्।
ब्रूहि शुल्कं द्विजश्रेष्ठ समीक्ष्य विभवं मम॥ ४॥

'विप्रवर ! आपकी यह कन्या चक्रवर्ती पुत्र उत्पन्न करनेमें समर्थ है; अतः आप मेरे वैभवको देखते हुए इसके लिये समुचित शुल्क बताइये' ॥ ४ ॥

गालव उवाच

एकतः श्यामकर्णानां शतान्यष्टौ प्रयच्छ मे।
हयानां चन्द्रशुभ्राणां देशजानां वपुष्मताम्॥ ५॥
ततस्तव भवित्रीयं पुत्राणां जननी शुभा।
अरणीव हुताशानां योनिरायतलोचना॥ ६॥

गालवने कहा—राजन् ! आप मुझे अच्छे देश और अच्छी जातिमें उत्पन्न हृष्ट-पुष्ट अङ्गोंवाले आठ सौ ऐसे घोड़े प्रदान कीजिये, जो चन्द्रमाके समान उज्ज्वल कान्तिसे विभूषित हों तथा उनके कान एक ओरसे श्यामवर्णके हों। यह शुल्क चुका देनेपर मेरी यह विशाल नेत्रोंवाली शुभलक्षणा कन्या अग्नियोंको प्रकट करनेवाली अरणीकी भाँति आपके तेजस्वी पुत्रोंकी जननी होगी ॥ ५-६ ॥

नारद उवाच

एतच्छ्रुत्वा वचो राजा हर्यश्वः काममोहितः।
उवाच गालवं दीनो राजर्षिर्ऋषिसत्तमम्॥ ७॥

नारदजी कहते हैं—यह वचन सुनकर काममोहित हुए राजर्षि महाराज हर्यश्व मुनिश्रेष्ठ गालवसे अत्यन्त दीन होकर बोले—॥ ७॥

द्वे मे शते संनिहिते हयानां यद्विधास्तव।
एष्टव्याः शतशस्त्वन्ये चरन्ति मम वाजिनः॥ ८॥

'ब्रह्मन् ! आपको जैसे घोड़े लेने अभीष्ट हैं, वैसे तो मेरे यहाँ इन दिनों दो ही सौ घोड़े मौजूद हैं; किंतु दूसरी जातिके कई सौ घोड़े यहाँ विचरते हैं॥ ८॥

सोऽहमेकमपत्यं वै जनयिष्यामि गालव।
अस्यामेतं भवान् कामं सम्पादयतु मे वरम्॥ ९॥

'अतः गालव ! मैं इस कन्यासे केवल एक संतान उत्पन्न करूँगा। आप मेरे इस श्रेष्ठ मनोरथको पूर्ण करें' ॥ ९ ॥

एतच्छ्रुत्वा तु सा कन्या गालवं वाक्यमब्रवीत्।
मम दत्तो वरः कश्चित् केनचिद् ब्रह्मवादिना॥ १०॥
प्रसूत्यन्ते प्रसूत्यन्ते कन्यैव त्वं भविष्यसि।
स त्वं ददस्व मां राज्ञे प्रतिगृह्य हयोत्तमान्॥ ११॥

यह सुनकर उस कन्याने महर्षि गालवसे कहा—'मुने ! मुझे किन्हीं वेदवादी महात्माने यह एक वर दिया था कि तुम प्रत्येक प्रसवके अन्तमें फिर कन्या ही हो जाओगी। अतः आप दो सौ उत्तम घोड़े लेकर मुझे राजाको सौंप दें ॥१०-११॥

नृपेभ्यो हि चतुर्भ्यस्ते पूर्णान्यष्टौ शतानि मे।
भविष्यन्ति तथा पुत्रा मम चत्वार एव च॥ १२॥

'इस प्रकार चार राजाओंसे दो-दो सौ घोड़े लेनेपर आपके आठ सौ घोड़े पूरे हो जायँगे और मेरे भी चार ही पुत्र होंगे ॥ १२ ॥

क्रियतामुपसंहारो गुर्वर्थं द्विजसत्तम।
एषा तावन्मम प्रज्ञा यथा वा मन्यसे द्विज॥ १३॥

'विप्रवर ! इसी तरह आप गुरुदक्षिणाके लिये धनका संग्रह करें, यही मेरी मान्यता है। फिर आप जैसा ठीक समझें, वैसा करें' ॥ १३ ॥

एवमुक्तस्तु स मुनिः कन्यया गालवस्तदा।
हर्यश्वं पृथिवीपालमिदं वचनमब्रवीत्॥ १४॥

कन्याके ऐसा कहनेपर उस समय गालव मुनिने भूपाल हर्यश्वसे यह बात कही—॥ १४ ॥

इयं कन्या नरश्रेष्ठ हर्यश्व प्रतिगृह्यताम्।
चतुर्भागेन शुल्कस्य जनयस्वैकमात्मजम्॥ १५॥

'नरश्रेष्ठ हर्यश्व ! नियत शुल्कका चौथाई भाग देकर आप इस कन्याको ग्रहण करें और इसके गर्भसे केवल एक पुत्र उत्पन्न कर लें ॥ १५ ॥

प्रतिगृह्य स तां कन्यां गालवं प्रतिनन्द्य च।
समये देशकाले च लब्धवान् सुतमीप्सितम्॥ १६॥

तब राजाने गालव मुनिका अभिनन्दन करके उस कन्याको ग्रहण किया और उचित देश-कालमें उसके द्वारा एक मनोवाञ्छित पुत्र प्राप्त किया ॥ १६ ॥

ततो वसुमना नाम वसुभ्यो वसुमत्तरः।
वसुप्रख्यो नरपतिः स बभूव वसुप्रदः॥ १७॥

तदनन्तर उनका वह पुत्र वसुमनाके नामसे विख्यात हुआ। वह वसुओंके समान कान्तिमान् तथा उनकी अपेक्षा भी अधिक धन-रत्नोंसे सम्पन्न और धनका खुले हाथ दान करनेवाला नरेश हुआ ॥ १७ ॥

अथ काले पुनर्धीमान् गालवः प्रत्युपस्थितः।
उपसंगम्य चोवाच हर्यश्वं प्रीतमानसम्॥ १८॥

तत्पश्चात् उचित समयपर बुद्धिमान् गालव पुनः वहाँ उपस्थित हुए और प्रसन्नचित्त राजा हर्यश्वसे मिलकर इस प्रकार बोले— ॥ १८ ॥

जातो नृप सुतस्तेऽयं बालो भास्करसंनिभः।
कालो गन्तुं नरश्रेष्ठ भिक्षार्थमपरं नृपम्॥ १९॥

'नरश्रेष्ठ नरेश ! आपको यह सूर्यके समान तेजस्वी पुत्र प्राप्त हो गया। अब इस कन्याके साथ घोड़ोंकी याचना करनेके लिये दूसरे राजाके यहाँ जानेका अवसर उपस्थित हुआ है' ॥ १९ ॥

हर्यश्वः सत्यवचने स्थितः स्थित्वा च पौरुषे।
दुर्लभत्वाद्धयानां च प्रददौ माधवीं पुनः ॥ २० ॥

राजा हर्यश्व सत्य वचनपर दृढ़ रहनेवाले थे। उन्होंने पुरुषार्थमें समर्थ होकर भी छः सौ श्यामकर्ण घोड़े दुर्लभ होनेके कारण माधवीको पुनः लौटा दिया ॥ २० ॥

माधवी च पुनर्दीप्तां परित्यज्य नृपश्रियम्।
कुमारी कामतो भूत्वा गालवं पृष्ठतोऽन्वयात् ॥ २१ ॥

माधवी पुनः इच्छानुसार कुमारी होकर अयोध्याकी उज्ज्वल राजलक्ष्मीका परित्याग करके गालव मुनिके पीछे-पीछे चली गयी ॥ २१ ॥

त्वय्येव तावत् तिष्ठन्तु हया इत्युक्तवान् द्विजः।
प्रययौ कन्यया सार्धं दिवोदासं प्रजेश्वरम् ॥ २२ ॥

जाते समय ब्राह्मणने राजा हर्यश्वसे कहा—'महाराज! आपके दिये हुए दो सौ श्यामकर्ण घोड़े अभी आपके ही पास धरोहरके रूपमें रहें।' ऐसा कहकर गालव मुनि उस राजकन्याके साथ राजा दिवोदासके यहाँ गये ॥ २२ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि गालवचरिते षोडशाधिकशततमोऽध्यायः ॥ ११६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें गालवचरित्रविषयक एक सौ सोलहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ११६ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके २ श्लोक मिलाकर कुल २४ श्लोक हैं)

सप्तदशाधिकशततमोऽध्यायः

दिवोदासका ययातिकन्या माधवीके गर्भसे प्रतर्दन नामक पुत्र उत्पन्न करना

गालव उवाच

महावीर्यो महीपालः काशीनामीश्वरः प्रभुः।
दिवोदास इति ख्यातो भैमसेनिर्नराधिपः ॥ १ ॥
तत्र गच्छावहे भद्रे शनैरागच्छ मा शुचः।
धार्मिकः संयमे युक्तः सत्ये चैव जनेश्वरः ॥ २ ॥

मार्गमें गालवने राजकन्या माधवीसे कहा— भद्रे! काशीके अधिपति भीमसेनकुमार शक्तिशाली राजा दिवोदास महापराक्रमी एवं विख्यात भूमिपाल हैं। उन्हींके पास हम दोनों चलें। तुम धीरे-धीरे चली आओ। मनमें किसी प्रकारका शोक न करो। राजा दिवोदास धर्मात्मा, संयमी तथा सत्यपरायण हैं ॥ १-२ ॥

नारद उवाच

तमुपागम्य स मुनिर्न्यायतस्तेन सत्कृतः।
गालवः प्रसवस्यार्थे तं नृपं प्रत्यचोदयत् ॥ ३ ॥

नारदजी कहते हैं—राजा दिवोदासके यहाँ जानेपर गालव मुनिका उनके द्वारा यथोचित सत्कार किया गया। तदनन्तर गालवने पूर्ववत् उन्हें भी शुल्क देकर उस कन्यासे एक संतान उत्पन्न करनेके लिये प्रेरित किया ॥ ३ ॥

दिवोदास उवाच

श्रुतमेतन्मया पूर्वं किमुक्त्वा विस्तरं द्विज।
काङ्क्षितो हि मयैषोऽर्थः श्रुत्वैव द्विजसत्तम ॥ ४ ॥

दिवोदास बोले—ब्रह्मन्! यह सब वृत्तान्त मैंने पहलेसे ही सुन रक्खा है। अब इसे विस्तारपूर्वक कहनेकी क्या आवश्यकता है? द्विजश्रेष्ठ! आपके प्रस्तावको सुनते ही मेरे मनमें यह पुत्रोत्पादनकी अभिलाषा जाग उठी है ॥ ४ ॥

एतच्च मे बहुमतं यदुत्सृज्य नराधिपान्।
मामेवमुपयातोऽसि भावि चैतदसंशयम् ॥ ५ ॥

यह मेरे लिये बड़े सम्मानकी बात है कि आप दूसरे राजाओंको छोड़कर मेरे पास इस रूपमें प्रार्थी होकर आये हैं। निःसंदेह ऐसा ही भावी है ॥ ५ ॥

स एव विभवोऽस्माकमश्वानामपि गालव।
अहमप्येकमेवास्यां जनयिष्यामि पार्थिवम् ॥ ६ ॥

गालव! मेरे पास भी दो ही सौ श्यामकर्ण घोड़े हैं; अतः मैं भी इसके गर्भसे एक ही राजकुमारको उत्पन्न करूँगा ॥ ६ ॥

तथेत्युक्त्वा द्विजश्रेष्ठः प्रादात् कन्यां महीपतेः।
विधिपूर्वं च तां राजा कन्यां प्रतिगृहीतवान् ॥ ७ ॥

तब 'बहुत अच्छा' कहकर विप्रवर गालवने वह कन्या राजाको दे दी। राजाने भी उसका विधिपूर्वक पाणि-ग्रहण किया ॥ ७ ॥

रेमे स तस्यां राजर्षिः प्रभावत्यां यथा रविः।
स्वाहायां च यथा वह्निर्यथा शच्यां च वासवः ॥ ८ ॥
यथा चन्द्रश्च रोहिण्यां यथा धूमोर्णया यमः।
वरुणश्च यथा गौर्यां यथा चर्द्ध्यां धनेश्वरः ॥ ९ ॥
यथा नारायणो लक्ष्म्यां जाह्नव्यां च यथोदधिः।
यथा रुद्रश्च रुद्राण्यां यथा वेद्यां पितामहः ॥ १० ॥
अदृश्यन्त्यां च वासिष्ठो वसिष्ठश्चाक्षमालया।
च्यवनश्च सुकन्यायां पुलस्त्यः संध्यया यथा ॥ ११ ॥
अगस्त्यश्चापि वैदर्भ्यां सावित्र्यां सत्यवान् यथा।
यथा भृगुः पुलोमायामदित्यां कश्यपो यथा ॥ १२ ॥
रेणुकायां यथाऽऽर्चीको हैमवत्यां च कौशिकः।
बृहस्पतिश्च तारायां शुक्रश्च शतपर्वणा ॥ १३ ॥

यथा भूम्यां भूमिपतिरुर्वश्यां च पुरूरवाः।
ऋचीकः सत्यवत्यां च सरस्वत्यां यथा मनुः॥ १४॥
शकुन्तलायां दुष्यन्तो धृत्यां धर्मश्च शाश्वतः।
दमयन्त्यां नलश्चैव सत्यवत्यां च नारदः॥ १५॥
जरत्कारुर्जरत्कार्वां पुलस्त्यश्च प्रतीच्यया।
मेनकायां यथोर्णायुस्तुम्बुरुश्चैव रम्भया॥ १६॥
वासुकिः शतशीर्षायां कुमार्यां च धनंजयः।
वैदेह्यां च यथा रामो रुक्मिण्यां च जनार्दनः॥ १७॥
तथा तु रममाणस्य दिवोदासस्य भूपतेः।
माधवी जनयामास पुत्रमेकं प्रतर्दनम्॥ १८॥

राजर्षि दिवोदास माधवीमें अनुरक्त होकर उसके साथ रमण करने लगे। जैसे सूर्य प्रभावतीके, अग्नि स्वाहाके, देवेन्द्र शचीके, चन्द्रमा रोहिणीके, यमराज धूमोर्णाके, वरुण गौरीके, कुबेर ऋद्धिके, नारायण लक्ष्मीके, समुद्र गङ्गाके, रुद्रदेव रुद्राणीके, पितामह ब्रह्मा वेदीके, वसिष्ठनन्दन शक्ति अदृश्यन्तीके, वसिष्ठ अक्षमाला (अरुन्धती) के, च्यवन सुकन्याके, पुलस्त्य संध्याके, अगस्त्य विदर्भराजकुमारी लोपामुद्राके, सत्यवान् सावित्रीके, भृगु पुलोमाके, कश्यप अदितिके, जमदग्नि रेणुकाके, कुशिकवंशी विश्वामित्र हैमवतीके, बृहस्पति ताराके, शुक्र शतपर्वाके, भूमिपति भूमिके, पुरूरवा उर्वशीके, ऋचीक सत्यवतीके, मनु सरस्वतीके, दुष्यन्त शकुन्तलाके, सनातन धर्मदेव धृतिके, नल दमयन्तीके, नारद सत्यवतीके, जरत्कारु मुनि नागकन्या जरत्कारुके, पुलस्त्य प्रतीच्याके, ऊर्णायु मेनकाके, तुम्बुरु रम्भाके, वासुकि शतशीर्षाके, धनंजय कुमारीके, श्रीरामचन्द्रजी विदेहनन्दिनी सीताके तथा भगवान् श्रीकृष्ण रुक्मिणीदेवीके साथ रमण करते हैं, उसी प्रकार अपने साथ रमण करनेवाले राजा दिवोदासके वीर्यसे माधवीने प्रतर्दन नामक एक पुत्र उत्पन्न किया॥ ८–१८॥

अथाजगाम भगवान् दिवोदासं स गालवः।
समये समनुप्राप्ते वचनं चेदमब्रवीत्॥ १९॥

तदनन्तर समय आनेपर भगवान् गालव मुनि पुनः दिवोदासके पास आये और उनसे इस प्रकार बोले—॥१९॥

निर्यातयतु मे कन्यां भवांस्तिष्ठन्तु वाजिनः।
यावदन्यत्र गच्छामि शुल्कार्थं पृथिवीपते॥ २०॥

'पृथ्वीनाथ! अब आप मुझे राजकन्याको लौटा दें। आपके दिये हुए घोड़े अभी आपके ही पास रहें। मैं इस समय शुल्क प्राप्त करनेके लिये अन्यत्र जा रहा हूँ'॥२०॥

दिवोदासोऽथ धर्मात्मा समये गालवस्य ताम्।
कन्यां निर्यातयामास स्थितः सत्ये महीपतिः॥ २१॥

धर्मात्मा राजा दिवोदास अपनी की हुई सत्य प्रतिज्ञापर अटल रहनेवाले थे; अतः उन्होंने गालवको वह कन्या लौटा दी॥ २१॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि गालवचरिते सप्तदशाधिकशततमोऽध्यायः॥ ११७॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें गालवचरित्रविषयक एक सौ सत्रहवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ ११७॥

अष्टादशाधिकशततमोऽध्यायः

उशीनरका ययातिकन्या माधवीके गर्भसे शिबि नामक पुत्र उत्पन्न करना, गालवका उस कन्याको साथ लेकर जाना और मार्गमें गरुड़का दर्शन करना

नारद उवाच

तथैव तां श्रियं त्यक्त्वा कन्या भूत्वा यशस्विनी।
माधवी गालवं विप्रमभ्ययात् सत्यसंगरा॥ १॥

नारदजी कहते हैं—तदनन्तर वह यशस्विनी राजकन्या माधवी सत्यके पालनमें तत्पर हो काशीनरेशकी उस राजलक्ष्मीको त्यागकर विप्रवर गालवके साथ चली गयी॥१॥

गालवो विमृशन्नेव स्वकार्यगतमानसः।
जगाम भोजनगरं द्रष्टुमौशीनरं नृपम्॥ २॥

गालवका मन अपने कार्यकी सिद्धिके चिन्तनमें लगा था। उन्होंने मन-ही-मन कुछ सोचते हुए राजा उशीनरसे मिलनेके लिये भोजनगरकी यात्रा की॥ २॥

तमुवाचाथ गत्वा स नृपतिं सत्यविक्रमम्।
इयं कन्या सुतौ द्वौ ते जनयिष्यति पार्थिवौ॥ ३॥

उन सत्यपराक्रमी नरेशके पास जाकर गालवने उनसे कहा—'राजन्! यह कन्या आपके लिये पृथ्वीका शासन करनेमें समर्थ दो पुत्र उत्पन्न करेगी॥ ३॥

अस्यां भवानवाप्तार्थो भविता प्रेत्य चेह च।
सोमार्कप्रतिसंकाशौ जनयित्वा सुतौ नृप॥ ४॥

'नरेश्वर! इसके गर्भसे सूर्य और चन्द्रमाके समान दो तेजस्वी पुत्र पैदा करके आप लोक और परलोकमें भी पूर्णकाम होंगे॥ ४॥

शुल्कं तु सर्वधर्मज्ञ हयानां चन्द्रवर्चसाम्।
एकतः श्यामकर्णानां देयं मह्यं चतुःशतम्॥ ५॥

'समस्त धर्मोंके ज्ञाता भूपाल ! आप इस कन्याके शुल्कके रूपमें मुझे ऐसे चार सौ अश्व प्रदान करें, जो चन्द्रमाके समान उज्ज्वल कान्तिसे सुशोभित तथा एक ओरसे श्यामवर्णके कानोंवाले हों ॥ ५ ॥

गुर्वर्थोऽयं समारम्भो न हयैः कृत्यमस्ति मे ।
यदि शक्यं महाराज क्रियतामविचारितम् ॥ ६ ॥

'मैंने गुरुदक्षिणा देनेके लिये यह उद्योग आरम्भ किया है अन्यथा मुझे इन घोड़ोंकी कोई आवश्यकता नहीं है। महाराज ! यदि आपके लिये यह शुल्क देना सम्भव हो तो कोई अन्यथा विचार न करके यह कार्य सम्पन्न कीजिये ॥ ६ ॥

अनपत्योऽसि राजर्षे पुत्रौ जनय पार्थिव ।
पितॄन् पुत्रप्लवेन त्वमात्मानं चैव तारय ॥ ७ ॥

'राजर्षे ! पृथ्वीपते ! आप संतानहीन हैं। अतः इससे दो पुत्र उत्पन्न कीजिये और पुत्ररूपी नौकाद्वारा पितरोंका तथा अपना भी उद्धार कीजिये ॥ ७ ॥

न पुत्रफलभोक्ता हि राजर्षे पात्यते दिवः ।
न याति नरकं घोरं यथा गच्छन्त्यनात्मजाः ॥ ८ ॥

'राजर्षे ! पुत्रजनित पुण्यफलका उपभोग करनेवाला मनुष्य कभी स्वर्गसे नीचे नहीं गिराया जाता और संतानहीन मनुष्य जिस प्रकार घोर नरकमें पड़ते हैं, उस प्रकार वह नहीं पड़ता' ॥ ८ ॥

एतच्चान्यच्च विविधं श्रुत्वा गालवभाषितम् ।
उशीनरः प्रतिवचो ददौ तस्य नराधिपः ॥ ९ ॥

गालवकी कही हुई ये तथा और भी बहुत-सी बातें सुनकर राजा उशीनरने उन्हें इस प्रकार उत्तर दिया—॥ ९ ॥

श्रुतवानस्मि ते वाक्यं यथा वदसि गालव ।
विधिस्तु बलवान् ब्रह्मन् प्रवणं हि मनो मम ॥ १० ॥

'विप्रवर गालव ! आप जैसा कहते हैं, वे सब बातें मैंने सुन लीं ! परंतु विधाता प्रबल है। मेरा मन इससे संतान उत्पन्न करनेके लिये उत्सुक हो रहा है ॥ १० ॥

शते द्वे तु ममाश्वानामीदृशानां द्विजोत्तम ।
इतरेषां सहस्राणि सुबहूनि चरन्ति मे ॥ ११ ॥

'द्विजश्रेष्ठ ! आपको जिनकी आवश्यकता है, ऐसे अश्व तो मेरे पास दो ही सौ हैं। दूसरी जातिके तो कई सहस्र घोड़े मेरे यहाँ विचरते हैं ॥ ११ ॥

अहमप्येकमेवास्यां जनयिष्यामि गालव ।
पुत्रं द्विज गतं मार्गं गमिष्यामि परैरहम् ॥ १२ ॥

'अतः ब्रह्मर्षि गालव ! मैं भी इस कन्याके गर्भसे एक ही पुत्र उत्पन्न करूँगा। दूसरे लोग जिस मार्गपर चले हैं, उसीपर मैं भी चलूँगा ॥ १२ ॥

मूल्येनापि समं कुर्यां तवाहं द्विजसत्तम ।
पौरजानपदार्थं तु ममार्थो नात्मभोगतः ॥ १३ ॥

'द्विजप्रवर ! मैं घोड़ोंका मूल्य देकर आपका सारा शुल्क चुका दूँ, यह भी सम्भव नहीं है; क्योंकि मेरा धन पुरवासियों तथा जनपदनिवासियोंके लिये है, अपने उपभोगमें लानेके लिये नहीं ॥ १३ ॥

कामतो हि धनं राजा पारक्यं यः प्रयच्छति ।
न स धर्मेण धर्मात्मन् युज्यते यशसा न च ॥ १४ ॥

'धर्मात्मन् ! जो राजा पराये धनका अपनी इच्छाके अनुसार दान करता है, उसे धर्म और यशकी प्राप्ति नहीं होती है ॥ १४ ॥

सोऽहं प्रतिग्रहीष्यामि ददात्वेतां भवान् मम ।
कुमारीं देवगर्भाभामेकपुत्रभवाय मे ॥ १५ ॥

'अतः आप देवकन्याके समान सुन्दरी इस राजकुमारीको केवल एक पुत्र उत्पन्न करनेके लिये मुझे दें। मैं ग्रहण करूँगा' ॥ १५ ॥

तथा तु बहुधा कन्यामुक्तवन्तं नराधिपम् ।
उशीनरं द्विजश्रेष्ठो गालवः प्रत्यपूजयत् ॥ १६ ॥

इस प्रकार भाँति-भाँतिकी न्याययुक्त बातें कहनेवाले राजा उशीनरकी विप्रवर गालवने भूरि-भूरि प्रशंसा की ॥

उशीनरं प्रतिग्राह्य गालवः प्रययौ वनम् ।
रेमे स तां समासाद्य कृतपुण्य इव श्रियम् ॥ १७ ॥

उशीनरको वह कन्या सौंपकर गालव मुनि वनको चले गये। जैसे पुण्यात्मा पुरुष राज्यलक्ष्मीको प्राप्त करे, उसी प्रकार उस राजकन्याको पाकर राजा उशीनर उसके साथ रमण करने लगे ॥ १७ ॥

कन्दरेषु च शैलानां नदीनां निर्झरेषु च ।
उद्यानेषु विचित्रेषु वनेषूपवनेषु च ॥ १८ ॥
हर्म्येषु रमणीयेषु प्रासादशिखरेषु च ।
वातायनविमानेषु तथा गर्भगृहेषु च ॥ १९ ॥

उन्होंने पर्वतोंकी कन्दराओंमें, नदियोंके सुरम्य तटोंपर, झरनोंके आस-पास, विचित्र उद्यानोंमें, वनों और उपवनोंमें, रमणीय अट्टालिकाओंमें, प्रासादशिखरोंपर, वायुके मार्गसे उड़नेवाले विमानोंपर तथा पृथ्वीके भीतर बने हुए गर्भगृहोंमें माधवीके साथ विहार किया ॥ १८-१९ ॥

ततोऽस्य समये जज्ञे पुत्रो बालरविप्रभः ।
शिबिर्नाम्नाभिविख्यातो यः स पार्थिवसत्तमः ॥ २० ॥

तदनन्तर यथासमय उसके गर्भसे राजाको एक पुत्र प्राप्त हुआ, जो बालसूर्यके समान तेजस्वी था। वही बड़ा

होनेपर नृपश्रेष्ठ महाराज शिबिके नामसे विख्यात हुआ ॥

उपस्थाय स तं विप्रो गालवः प्रतिगृह्य च ।
कन्यां प्रयातस्तां राजन् दृष्टवान् विनतात्मजम् ॥ २१ ॥

राजन् ! तत्पश्चात् विप्रवर गालव राजाके दरबारमें उपस्थित हुए और उस कन्याको वापस लेकर वहाँसे चल दिये ! मार्गमें उन्हें विनतानन्दन गरुड़ दिखायी दिये । २१ ।

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि गालवचरिते अष्टादशाधिकशततमोऽध्यायः ॥ ११८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें गालवचरित्रविषयक एक सौ अठारहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ११८ ॥

एकोनविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः

गालवका छः सौ घोड़ोंके साथ माधवीको विश्वामित्रजीकी सेवामें देना और उनके द्वारा उसके गर्भसे अष्टक नामक पुत्रकी उत्पत्ति होनेके बाद उस कन्याको ययातिके यहाँ लौटा देना

नारद उवाच

गालवं वैनतेयोऽथ प्रहसन्निदमब्रवीत् ।
दिष्ट्या कृतार्थं पश्यामि भवन्तमिह वै द्विज ॥ १ ॥

नारदजी कहते हैं—उस समय विनतानन्दन गरुड़ने गालव मुनिसे हँसते हुए कहा—'ब्रह्मन् ! बड़े सौभाग्यकी बात है कि आज मैं तुम्हें यहाँ कृतकृत्य देख रहा हूँ' ॥ १ ॥

गालवस्तु वचः श्रुत्वा वैनतेयेन भाषितम् ।
चतुर्भागावशिष्टं तदाचख्यौ कार्यमस्य हि ॥ २ ॥

गरुड़की कही हुई यह बात सुनकर गालव बोले—'अभी गुरुदक्षिणाका एक चौथाई भाग बाकी रह गया है, जिसे शीघ्र पूरा करना है' ॥ २ ॥

सुपर्णस्त्वब्रवीदेनं गालवं वदतां वरः ।
प्रयत्नस्ते न कर्तव्यो नैष सम्पत्स्यते तव ॥ ३ ॥

तब वक्ताओंमें श्रेष्ठ गरुड़ने गालवसे कहा—'अब तुम्हें इसके लिये प्रयत्न नहीं करना चाहिये; क्योंकि तुम्हारा यह मनोरथ पूर्ण नहीं होगा ॥ ३ ॥

पुरा हि कान्यकुब्जे वै गाधेः सत्यवतीं सुताम् ।
भार्यार्थेऽवरयत् कन्यामृचीकस्तेन भाषितः ॥ ४ ॥

'पूर्वकालकी बात है, कान्यकुब्जमें राजा गाधिकी कुमारी पुत्री सत्यवतीको अपनी पत्नी बनानेके लिये ऋचीक मुनिने राजासे उसे माँगा । तब राजाने ऋचीकसे कहा—॥४॥

एकतः श्यामकर्णानां हयानां चन्द्रवर्चसाम् ।
भगवन् दीयतां मह्यं सहस्रमिति गालव ॥ ५ ॥
ऋचीकस्तु तथेत्युक्त्वा वरुणस्यालयं गतः ।
अश्वतीर्थे हयाँल्लब्ध्वा दत्तवान् पार्थिवाय वै ॥ ६ ॥

'भगवन् ! मुझे कन्याके शुल्करूपमें एक हजार ऐसे घोड़े दीजिये, जो चन्द्रमाके समान कान्तिमान् हो तथा एक ओरसे उनके कान श्याम रंगके हों' गालव ! तब ऋचीक मुनि 'तथास्तु' कहकर वरुणके लोकमें गये और वहाँ अश्वतीर्थमें वैसे घोड़े प्राप्त करके उन्होंने राजा गाधिको दे दिये ॥ ५-६ ॥

इष्ट्वा ते पुण्डरीकेण दत्ता राज्ञा द्विजातिषु ।
तेभ्यो द्वे द्वे शते क्रीत्वा प्राप्ते तैः पार्थिवैस्तदा ॥ ७ ॥

'राजाने पुण्डरीक नामक यज्ञ करके वे सभी घोड़े ब्राह्मणोंको दक्षिणारूपमें बाँट दिये । तदनन्तर राजाओंने उनसे दो-दो सौ घोड़े खरीदकर अपने पास रख लिये ॥ ७ ॥

अपराण्यपि चत्वारि शतानि द्विजसत्तम ।
नीयमानानि संतारे हृतान्यासन् वितस्तया ॥ ८ ॥

'द्विजश्रेष्ठ ! मार्गमें एक जगह नदीको पार करना पड़ा । इन छः सौ घोड़ोंके साथ चार सौ और थे । नदी पार करनेके लिये ले जाये जाते समय वे चार सौ घोड़े वितस्ता (झेलम) की प्रखर धारामें बह गये ॥ ८ ॥

एवं न शक्यमप्राप्यं प्राप्तुं गालव कर्हिचित् ।
इमामश्वशताभ्यां वै द्वाभ्यां तस्मै निवेदय ॥ ९ ॥
विश्वामित्राय धर्मात्मन् षड्भिरश्वशतैः सह ।
ततोऽसि गतसम्मोहः कृतकृत्यो द्विजोत्तम ॥ १० ॥

'गालव ! इस प्रकार इस देशमें इन छः सौ घोड़ोंके सिवा दूसरे घोड़े अप्राप्य हैं । अतः उन्हें कहीं भी पाना असम्भव है । मेरी राय यह है कि शेष दो सौ घोड़ोंके बदले यह कन्या ही विश्वामित्रजीको समर्पित कर दो । धर्मात्मन् ! इन छः सौ घोड़ोंके साथ विश्वामित्रजीकी सेवामें इस कन्याको ही दे दो । द्विजश्रेष्ठ ! ऐसा करनेसे तुम्हारी सारी घबराहट दूर हो जायगी और तुम सर्वथा कृतकृत्य हो जाओगे' ॥

गालवस्तं तथेत्युक्त्वा सुपर्णसहितस्ततः ।
आदायाश्वांश्च कन्यां च विश्वामित्रमुपागमत् ॥ ११ ॥

तब 'बहुत अच्छा' कहकर गालव गरुड़के साथ वे (छः सौ) घोड़े और वह कन्या लेकर विश्वामित्रजीके पास आये॥

अश्वानां काङ्क्षितार्थानां षडिमानि शतानि वै ।
शतद्वयेन कन्येयं भवता प्रतिगृह्यताम् ॥ १२ ॥

आकर उन्होंने कहा—'गुरुदेव ! आप जैसे चाहते थे, वैसे ही ये छः सौ घोड़े आपकी सेवामें प्रस्तुत हैं और शेष दो सौके बदले आप इस कन्याको ग्रहण करें ॥ १२ ॥

अस्यां राजर्षिभिः पुत्रा जाता वै धार्मिकास्त्रयः।
चतुर्थं जनयत्वेकं भवानपि नरोत्तमम् ॥१३॥

'राजर्षियोंने इसके गर्भसे तीन धर्मात्मा पुत्र उत्पन्न किये हैं। अब आप भी एक नरश्रेष्ठ पुत्र उत्पन्न कीजिये, जिसकी संख्या चौथी होगी ॥ १३ ॥

पूर्णान्येवं शतान्यष्टौ तुरगाणां भवन्तु ते।
भवतो ह्यनृणो भूत्वा तपः कुर्यां यथासुखम् ॥ १४ ॥

'इस प्रकार आपके आठ सौ घोड़ोंकी संख्या पूरी हो जाय और मैं आपसे उऋण होकर सुखपूर्वक तपस्या करूँ, ऐसी कृपा कीजिये' ॥ १४ ॥

विश्वामित्रस्तु तं दृष्ट्वा गालवं सह पक्षिणा।
कन्यां च तां वरारोहामिदमित्यब्रवीद् वचः ॥ १५ ॥

विश्वामित्रने गरुड़सहित गालवकी ओर देखकर इस परम सुन्दरी कन्यापर भी दृष्टिपात किया और इस प्रकार कहा—॥ १५ ॥

किमियं पूर्वमेवेह न दत्ता मम गालव।
पुत्रा ममैव चत्वारो भवेयुः कुलभावनाः ॥ १६ ॥

'गालव ! तुमने पहले ही इसे यहीं क्यों नहीं दे दिया, जिससे मुझे ही वंशप्रवर्तक चार पुत्र प्राप्त हो जाते ॥ १६ ॥

प्रतिगृह्णामि ते कन्यामेकपुत्रफलाय वै।
अश्वाश्चाश्रममासाद्य चरन्तु मम सर्वशः ॥ १७ ॥

'अच्छा, अब मैं एक पुत्ररूपी फलकी प्राप्तिके लिये तुमसे इस कन्याको ग्रहण करता हूँ। ये घोड़े मेरे आश्रममें आकर सब ओर चरें' ॥ १७ ॥

स तया रममाणोऽथ विश्वामित्रो महाद्युतिः।
आत्मजं जनयामास माधवीपुत्रमष्टकम् ॥ १८ ॥

इस प्रकार महातेजस्वी विश्वामित्र मुनिने उसके साथ रमण करते हुए यथासमय उसके गर्भसे एक पुत्र उत्पन्न किया। माधवीके उस पुत्रका नाम अष्टक था ॥ १८ ॥

जातमात्रं सुतं तं च विश्वामित्रो महामुनिः।
संयोज्यार्थैस्तथा धर्मैरश्वैस्तैः समयोजयत् ॥ १९ ॥

पुत्रके उत्पन्न होते ही महामुनि विश्वामित्रने उसे धर्म, अर्थ तथा उन अश्वोंसे सम्पन्न कर दिया ॥ १९ ॥

अथाष्टकः पुरं प्रायात् तदा सोमपुरप्रभम्।
निर्यात्य कन्यां शिष्याय कौशिकोऽपि वनं ययौ ।२०।

तदनन्तर अष्टक चन्द्रपुरीके समान प्रकाशित होनेवाली विश्वामित्रजीकी राजधानीमें गया और विश्वामित्र भी अपने शिष्य गालवको वह कन्या लौटाकर वनमें चले गये ॥ २० ॥

गालवोऽपि सुपर्णेन सह निर्यात्य दक्षिणाम्।
मनसातिप्रतीतेन कन्यामिदमुवाच ह ॥ २१ ॥
जातो दानपतिः पुत्रस्त्वया शूरस्तथापरः।
सत्यधर्मरतश्चान्यो यज्वा चापि तथापरः ॥ २२ ॥
तदागच्छ वरारोहे तारितस्ते पिता सुतैः।
चत्वारश्चैव राजानस्तथा चाहं सुमध्यमे ॥ २३ ॥

गरुड़सहित गालव भी गुरुदक्षिणा देकर मन-ही-मन अत्यन्त संतुष्ट हो राजकन्या माधवीसे इस प्रकार बोले—'सुन्दरी ! तुम्हारा पहला पुत्र दानपति, दूसरा शूरवीर, तीसरा सत्यधर्मपरायण और चौथा यज्ञोंका अनुष्ठान करनेवाला होगा। सुमध्यमे ! तुमने इन पुत्रोंके द्वारा अपने पिताको तो तारा ही है, उन चार राजाओंका भी उद्धार कर दिया है। अतः अब हमारे साथ आओ' ॥ २१—२३ ॥

गालवस्त्वभ्यनुज्ञाय सुपर्णं पन्नगाशनम्।
पितुर्निर्यात्य तां कन्यां प्रययौ वनमेव ह ॥ २४ ॥

ऐसा कहकर सर्पभोजी गरुड़से आज्ञा ले उस राजकन्याको पुनः उसके पिता ययातिके यहाँ लौटाकर गालव वनमें ही चले गये ॥ २४ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि गालवचरिते एकोनविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ ११९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें गालवचरित्रविषयक एक सौ उन्नीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ११९ ॥

विंशत्यधिकशततमोऽध्यायः

माधवीका वनमें जाकर तप करना तथा ययातिका स्वर्गमें जाकर सुखभोगके पश्चात् मोहवश तेजोहीन होना

नारद उवाच

स तु राजा पुनस्तस्याः कर्तुकामः स्वयंवरम्।
उपगम्याश्रमपदं गङ्गायमुनसंगमे ॥ १ ॥

नारदजी कहते हैं—तदनन्तर राजा ययाति पुनः माधवीके स्वयंवरका विचार करके गङ्गा-यमुनाके संगमपर बने हुए अपने आश्रममें जाकर रहने लगे ॥ १ ॥

गृहीतमाल्यदामां तां रथमारोप्य माधवीम्।
पूरुर्यदुश्च भगिनीमाश्रमे पर्यधावताम्॥ २॥

फिर हाथमें हार लिये बहिन माधवीको रथपर बिठाकर पूरु और यदु—ये दोनों भाई आश्रमपर गये॥ २॥

नागयक्षमनुष्याणां गन्धर्वमृगपक्षिणाम्।
शैलद्रुमवनौकानामासीत् तत्र समागमः॥ ३॥

उस स्वयंवरमें नाग, यक्ष, मनुष्य, गन्धर्व, पशु, पक्षी तथा पर्वत, वृक्ष और वनोंमें निवास करनेवाले प्राणियोंका शुभागमन हुआ॥ ३॥

नानापुरुषदेश्यानामीश्वरैश्च समाकुलम्।
ऋषिभिर्ब्रह्मकल्पैश्च समन्तादावृतं वनम्॥ ४॥

प्रयागका वह वन अनेक जनपदोंके राजाओंसे व्याप्त हो गया और ब्रह्माजीके समान तेजस्वी ब्रह्मर्षियोंने उस स्थानको सब ओरसे घेर लिया॥ ४॥

निर्दिश्यमानेषु तु सा वरेषु वरवर्णिनी।
वरानुत्क्रम्य सर्वांस्तान् वरं वृतवती वनम्॥ ५॥

उस समय जब माधवीको वहाँ आये हुए वरोंका परिचय दिया जाने लगा, तब उस वरवर्णिनी कन्याने सारे वरोंको छोड़कर तपोवनका ही वररूपमें वरण कर लिया॥ ५॥

अवतीर्य रथात् कन्या नमस्कृत्य च बन्धुषु।
उपगम्य वनं पुण्यं तपस्तेपे ययातिजा॥ ६॥

ययातिनन्दिनी कुमारी माधवी रथसे उतरकर अपने पिता, भाई, बन्धु आदि कुटुम्बियोंको नमस्कार करके पुण्य तपोवनमें चली गयी और वहाँ तपस्या करने लगी॥ ६॥

उपवासैश्च विविधैर्दीक्षाभिर्नियमैस्तथा।
आत्मनो लघुतां कृत्वा बभूव मृगचारिणी॥ ७॥

वह उपवासपूर्वक विविध प्रकारकी दीक्षाओं तथा नियमोंका पालन करती हुई अपने मनको राग-द्वेषादि दोषोंसे रहित करके वनमें मृगीके समान विचरने लगी॥ ७॥

वैदूर्याङ्कुरकल्पानि मृदूनि हरितानि च।
चरन्ती श्लक्ष्णशष्पाणि तिक्तानि मधुराणि च॥ ८॥

स्रवन्तीनां च पुण्यानां सुरसानि शुचीनि च।
पिबन्ती वारिमुख्यानि शीतानि विमलानि च॥ ९॥

वनेषु मृगवासेषु व्याघ्रविप्रोषितेषु च।
दावाग्निविप्रयुक्तेषु शून्येषु गहनेषु च॥ १०॥

चरन्ती हरिणैः सार्धं मृगीव वनचारिणी।
चचार विपुलं धर्मं ब्रह्मचर्येण संवृतम्॥ ११॥

इस क्रमसे माधवी वैदूर्यमणिके अङ्कुरोंके समान सुशोभित, कोमल, चिकनी, तिक्त, मधुर एवं हरी-हरी घास चरती, पवित्र नदियोंके शुद्ध, शीतल, निर्मल एवं सुस्वादु जल पीती और मृगोंके आवासभूत, व्याघ्ररहित एवं दावानलशून्य निर्जन वनोंमें मृगोंके साथ वनचारिणी मृगीकी भाँति विचरण करती थी। उसने ब्रह्मचर्यपालनपूर्वक महान् धर्मका आचरण किया॥

ययातिरपि पूर्वेषां राज्ञां वृत्तमनुष्ठितः।
बहुवर्षसहस्रायुर्युयुजे कालधर्मणा॥ १२॥

राजा ययाति भी पूर्ववर्ती राजाओंके सदाचारका पालन करते हुए अनेक सहस्र वर्षोंकी आयु पूरी करके मृत्युको प्राप्त हुए॥ १२॥

पूरुर्यदुश्च द्वौ वंशे वर्धमानौ नरोत्तमौ।
ताभ्यां प्रतिष्ठितो लोके परलोके च नाहुषः॥ १३॥

उनके (पुत्रोंमेंसे) दो पुत्र नरश्रेष्ठ पूरु और यदु उस कुलमें अभ्युदयशील थे। उन्हीं दोनोंसे नहुषपुत्र ययाति इस लोक और परलोकमें भी प्रतिष्ठित हुए॥ १३॥

महीपते नरपतिर्ययातिः स्वर्गमास्थितः।
महर्षिकल्पो नृपतिः स्वर्गाग्र्यफलभुग् विभुः॥ १४॥

राजन्! महाराज ययाति महर्षियोंके समान पुण्यात्मा एवं तपस्वी थे। वे स्वर्गमें जाकर वहाँके श्रेष्ठ फलका उपभोग करने लगे॥ १४॥

बहुवर्षसहस्राख्ये काले बहुगुणे गते।
राजर्षिषु निषण्णेषु महीयस्सु महर्षिषु॥ १५॥

अवमेने नरान् सर्वान् देवानृषिगणांस्तथा।
ययातिर्मूढविज्ञानो विस्मयाविष्टचेतनः॥ १६॥

इस प्रकार वहाँ अनेक गुणोंसे युक्त कई हजार वर्षोंका समय व्यतीत हो गया। ययातिका चित्त अपना स्वर्गीय वैभव देखकर स्वयं ही आश्चर्यचकित हो उठा। उनकी बुद्धिपर मोह छा गया और वे महान् समृद्धिशाली महत्तम राजर्षियोंके अपने समीप बैठे होनेपर भी सम्पूर्ण देवताओं, मनुष्यों तथा महर्षियोंकी भी अवहेलना करने लगे॥ १५-१६॥

ततस्तं बुबुधे देवः शक्रो बलनिषूदनः।
ते च राजर्षयः सर्वे धिग्धिगित्येवमब्रुवन्॥ १७॥

तदनन्तर बलसूदन इन्द्रदेवको ययातिकी इस अवस्थाका पता लग गया। वे सम्पूर्ण राजर्षिगण भी उस समय ययातिको धिक्कारने लगे॥ १७॥

विचारश्च समुत्पन्नो निरीक्ष्य नहुषात्मजम्।
को न्वयं कस्य वा राज्ञः कथं वा स्वर्गमागतः॥ १८॥

नहुषपुत्र ययातिको देखकर स्वर्गवासियोंमें यह विचार खड़ा हो गया—'यह कौन है? किस राजाका पुत्र है? और कैसे स्वर्गमें आ गया है?॥ १८॥

कर्मणा केन सिद्धोऽयं क वानेन तपश्चितम्।
कथं वा ज्ञायते स्वर्गे केन वा ज्ञायतेऽप्युत॥ १९॥

'इसे किस कर्मसे सिद्धि प्राप्त हुई है ? इसने कहाँ तपस्या की है ? स्वर्गमें किस प्रकार इसे जाना जाय अथवा कौन यहाँ इसको जानता है ?' ॥ १९ ॥

एवं विचारयन्तस्ते राजानं स्वर्गवासिनः।
दृष्ट्वा पप्रच्छुरन्योन्यं ययातिं नृपतिं प्रति ॥ २० ॥

इस प्रकार विचार करते हुए स्वर्गवासी ययातिके विषयमें एक दूसरेकी ओर देखकर प्रश्न करने लगे ॥ २० ॥

विमानपालाः शतशः स्वर्गद्वाराभिरक्षिणः।
पृष्टा आसनपालाश्च न जानीमेत्यथाब्रुवन् ॥ २१ ॥

सैकड़ों विमानरक्षकों, स्वर्गके द्वारपालों तथा सिंहासनके रक्षकोंसे पूछा गया; किंतु सबने यही उत्तर दिया—'हम इन्हें नहीं जानते' ॥ २१ ॥

सर्वे ते ह्यावृतज्ञाना नाभ्यजानन्त तं नृपम्।
स मुहूर्तादथ नृपो हतौजाश्चाभवत् तदा ॥ २२ ॥

उन सबके ज्ञानपर पर्दा पड़ गया था; अतः वे उन राजाको नहीं पहचान सके। फिर तो दो ही घड़ीमें राजा ययातिका तेज नष्ट हो गया ॥ २२ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि गालवचरिते ययातिमोहे विंशत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १२० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें गालवचरित्रके प्रसङ्गमें ययातिमोहविषयक एक सौ बीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १२० ॥

एकविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः

ययातिका स्वर्गलोकसे पतन और उनके दौहित्रों, पुत्री तथा गालव मुनिका उन्हें पुनः स्वर्गलोकमें पहुँचानेके लिये अपना-अपना पुण्य देनेके लिये उद्यत होना

नारद उवाच

अथ प्रचलितः स्थानादासनाच्च परिच्युतः।
कम्पितेनैव मनसा धर्षितः शोकवह्निना ॥ १ ॥

नारदजी कहते हैं—राजन्! तत्पश्चात् ययाति अपने सिंहासनसे गिरकर उस स्वर्गीय स्थानसे भी विचलित हो गये। उनका हृदय काँप-सा उठा और शोकाग्नि उन्हें दग्ध करने लगी ॥ १ ॥

म्लानस्रग्भ्रष्टविज्ञानः प्रभ्रष्टमुकुटाङ्गदः।
विघूर्णन् स्रस्तसर्वाङ्गः प्रभ्रष्टाभरणाम्बरः ॥ २ ॥

उन्होंने जो दिव्य कुसुमोंकी माला पहन रक्खी थी, वह मुरझा गयी। उनकी ज्ञानशक्ति लुप्त होने लगी। मुकुट और बाजूबन्द शरीरसे अलग हो गये। उन्हें चक्कर आने लगा। उनके सारे अङ्ग शिथिल हो गये और वस्त्र तथा आभूषण भी खिसक-खिसककर गिरने लगे ॥ २ ॥

अदृश्यमानस्तान् पश्यन्नपश्यंश्च पुनः पुनः।
शून्यः शून्येन मनसा प्रपतिष्यन् महीतलम् ॥ ३ ॥
किं मया मनसा ध्यातमशुभं धर्मदूषणम्।
येनाहं चलितः स्थानादिति राजा व्यचिन्तयत् ॥ ४ ॥

वे अन्धकारसे आवृत होनेके कारण स्वयं स्वर्गवासियोंको नहीं दिखायी देते थे; परंतु वे उन्हें बार-बार देखते और कभी नहीं भी देख पाते थे। पृथ्वीपर गिरनेसे पहले शून्य-से होकर शून्य हृदयसे राजा यह चिन्ता करने लगे कि मैंने अपने मनसे किस धर्मदूषक अशुभ वस्तुका चिन्तन किया है, जिसके कारण मुझे अपने स्थानसे भ्रष्ट होना पड़ा है ॥ ३-४ ॥

ते तु तत्रैव राजानः सिद्धाश्चाप्सरसस्तथा।
अपश्यन्त निरालम्बं तं ययातिं परिच्युतम् ॥ ५ ॥

स्वर्गके राजर्षि, सिद्ध और अप्सरा—सभीने स्वर्गसे भ्रष्ट हो अवलम्बशून्य हुए राजा ययातिको देखा ॥ ५ ॥

अथैत्य पुरुषः कश्चित् क्षीणपुण्यनिपातकः।
ययातिमब्रवीद् राजन् देवराजस्य शासनात् ॥ ६ ॥

राजन्! इतनेमें ही पुण्यरहित पुरुषोंको स्वर्गसे नीचे गिरानेवाला कोई पुरुष देवराजकी आज्ञासे वहाँ आकर ययातिसे इस प्रकार बोला— ॥ ६ ॥

अतीव मदमत्तस्त्वं न कंचिन्नावमन्यसे।
मानेन भ्रष्टः स्वर्गस्ते नार्हस्त्वं पार्थिवात्मज ॥ ७ ॥

'राजपुत्र! तुम अत्यन्त मदमत्त हो और कोई भी ऐसा महान् पुरुष यहाँ नहीं है, जिसका तुम तिरस्कार न करते हो। इस मानके कारण ही तुम अपने स्थानसे गिर रहे हो। अब तुम यहाँ रहनेके योग्य नहीं हो ॥ ७ ॥

न च प्रज्ञायसे गच्छ पतस्वेति तमब्रवीत्।
पतेयं सत्स्विति वचस्त्रिरुक्त्वा नहुषात्मजः ॥ ८ ॥

'तुम्हें यहाँ कोई नहीं जानता है; अतः जाओ, नीचे गिरो।' जब उसने ऐसा कहा, तब नहुषपुत्र ययाति तीन बार ऐसा कहकर नीचे जाने लगे कि मैं सत्पुरुषोंके बीच-में गिरूँ ॥ ८ ॥

पतिष्यंश्चिन्तयामास गतिं गतिमतां वरः।
एतस्मिन्नेव काले तु नैमिषे पार्थिवर्षभान् ॥ ९ ॥
चतुरोऽपश्यत नृपस्तेषां मध्ये पपात ह।

जङ्गम प्राणियोंमें श्रेष्ठ ययाति गिरते समय अपनी गति-के विषयमें चिन्ता कर रहे थे। इसी समय उन्होंने नैमिषारण्य-में चार श्रेष्ठ राजाओंको देखा और उन्हींके बीचमें वे गिरने लगे ॥ ९½ ॥

प्रतर्दनो वसुमनाः शिबिरौशीनरोऽष्टकः ॥ १० ॥
वाजपेयेन यज्ञेन तर्पयन्ति सुरेश्वरम्।

वहाँ प्रतर्दन, वसुमना, औशीनर शिवि तथा अष्टक—ये चार नरेश वाजपेययज्ञके द्वारा देवेश्वर श्रीहरिको तृप्त करते थे ॥ १०½ ॥

तेषामध्वरजं धूमं स्वर्गद्वारमुपस्थितम् ॥ ११ ॥
ययातिरुपजिघ्रन् वै निपपात महीं प्रति।

उनके यज्ञका धूम मानो स्वर्गका द्वार बनकर उपस्थित हुआ था। ययाति उसीको सूँघते हुए पृथ्वीकी ओर गिर रहे थे ॥ ११½ ॥

भूमौ स्वर्गे च सम्बद्धां नदीं धूममयीमिव।
गङ्गां गामिव गच्छन्तीमालम्ब्य जगतीपतिः ॥ १२ ॥
श्रीमत्स्ववभृथाग्र्येषु चतुर्षु प्रतिबन्धुषु।
मध्ये निपतितो राजा लोकपालोपमेषु सः ॥ १३ ॥

भूतलसे स्वर्गतक धूममयी नदी-सी प्रवाहित हो रही थी, मानो आकाशगङ्गा भूमिपर जा रही हों। भूपाल ययाति उसी धूमलेखाका अवलम्बन करके लोकपालोंके समान तेजस्वी तथा अवभृथ स्नानसे पवित्र अपने चारों सम्बन्धियोंके बीचमें गिरे ॥ १२-१३ ॥

चतुर्षु हुतकल्पेषु राजसिंहमहाग्निषु।
पपात मध्ये राजर्षिर्ययातिः पुण्यसंक्षये ॥ १४ ॥

वे चारों श्रेष्ठ राजा उन चार विशाल अग्नियोंके समान तेजस्वी थे, जो हविष्यकी आहुति पाकर प्रज्वलित हो रहे हों। राजर्षि ययाति अपना पुण्य क्षीण होनेपर उन्हींके मध्य-भागमें गिरे ॥ १४ ॥

तमाहुः पार्थिवाः सर्वे दीप्यमानमिव श्रिया।
को भवान् कस्य वा बन्धुर्देशस्य नगरस्य वा ॥ १५ ॥
यक्षो वाप्यथवा देवो गन्धर्वो राक्षसोऽपि वा।
न हि मानुषरूपोऽसि को वार्थः काङ्क्ष्यते त्वया॥ १६ ॥

अपनी दिव्य कान्तिसे उद्भासित होनेवाले उन महाराजसे सभी भूपालोंने पूछा—'आप कौन हैं? किसके भाई-बन्धु हैं तथा किस देश और नगरमें आपका निवासस्थान है? आप यक्ष हैं या देवता? गन्धर्व हैं या राक्षस? आपका स्वरूप मनुष्यों-जैसा नहीं है। बताइये, आप कौन-सा प्रयोजन सिद्ध करना चाहते हैं' ॥ १५-१६ ॥

ययातिरुवाच

ययातिरस्मि राजर्षिः क्षीणपुण्यश्च्युतो दिवः।
पतेयं सत्स्विति ध्यायन् भवत्सु पतितस्ततः ॥ १७ ॥

ययातिने कहा—मैं राजर्षि ययाति हूँ। अपना पुण्य क्षीण होनेके कारण स्वर्गसे नीचे गिर गया हूँ। गिरते समय मेरे मनमें यह चिन्तन चल रहा था कि मैं सत्पुरुषोंके बीचमें गिरूँ। अतः आपलोगोंके बीचमें आ पड़ा हूँ ॥ १७ ॥

राजान ऊचुः

सत्यमेतद् भवतु ते काङ्क्षितं पुरुषर्षभ।
सर्वेषां नः क्रतुफलं धर्मश्च प्रतिगृह्यताम् ॥ १८ ॥

वे राजा बोले—पुरुषशिरोमणे! आपका यह मनोरथ सफल हो। आप हम सब लोगोंके यज्ञोंका फल और धर्म ग्रहण करें ॥ १८ ॥

ययातिरुवाच

नाहं प्रतिग्रहधनो ब्राह्मणः क्षत्रियो ह्यहम्।
न च मे प्रवणा बुद्धिः परपुण्यविनाशने ॥ १९ ॥

ययातिने कहा—प्रतिग्रह ही जिसका धन है, वह ब्राह्मण मैं नहीं हूँ। मैं तो क्षत्रिय हूँ। अतः मेरी बुद्धि पराये पुण्यका (ग्रहण करके उनका पुण्य) क्षय करनेके लिये उद्यत नहीं है ॥ १९ ॥

नारद उवाच

एतस्मिन्नेव काले तु मृगचर्याक्रमागताम्।
माधवीं प्रेक्ष्य राजानस्तेऽभिवाद्येदमब्रुवन् ॥ २० ॥
किमागमनकृत्यं ते किं कुर्मः शासनं तव।
आज्ञाप्या हि वयं सर्वे तव पुत्रास्तपोधने ॥ २१ ॥

नारदजी कहते हैं—इसी समय उन राजाओंने अपनी माता माधवीको देखा, जो मृगोंकी भाँति उन्हींके साथ विचरती हुई क्रमशः वहाँ आ पहुँची थी। उसे प्रणाम करके राजाओंने इस प्रकार पूछा—'तपोधने! यहाँ आपके पधारनेका क्या प्रयोजन है? हम आपकी किस आज्ञाका पालन करें? हम सभी आपके पुत्र हैं; अतः हमें आप योग्य सेवाके लिये आज्ञा प्रदान करें' ॥ २०-२१ ॥

तेषां तद् भाषितं श्रुत्वा माधवी परया मुदा।
पितरं समुपागच्छद् ययातिं सा ववन्द च ॥ २२ ॥

उनकी ये बातें सुनकर माधवीको बड़ी प्रसन्नता हुई। वह अपने पिता ययातिके पास गयी और उसने उन्हें प्रणाम किया ॥ २२ ॥

स्पृष्ट्वा मूर्धनि तान् पुत्रांस्तापसी वाक्यमब्रवीत्।
दौहित्रास्तव राजेन्द्र मम पुत्रा न ते पराः ॥ २३ ॥

तदनन्तर तपस्विनी माधवीने उन पुत्रोंके सिरपर हाथ

रखकर अपने पितासे कहा—'राजेन्द्र ! ये सभी आपके दौहित्र (नाती) और मेरे पुत्र हैं, पराये नहीं हैं ॥ २३ ॥

इमे त्वां तारयिष्यन्ति दृष्टमेतत् पुरातने ।
अहं ते दुहिता राजन् माधवी मृगचारिणी ॥ २४ ॥

'ये आपको तार देंगे। दौहित्रोंके द्वारा मातामह (नाना) का यह उद्धार पुरातन वेद-शास्त्रमें स्पष्ट देखा गया है। राजन् ! मैं आपकी पुत्री माधवी हूँ और इस तपोवनमें मृगोंके समान जीवनचर्या बनाकर विचरती हूँ ॥ २४ ॥

मयाप्युपचितो धर्मस्ततोऽर्धं प्रतिगृह्यताम् ।
यस्माद् राजन् नराः सर्वे अपत्यफलभागिनः ॥ २५ ॥
तस्मादिच्छन्ति दौहित्रान् यथा त्वं वसुधाधिप ।

'पृथ्वीनाथ ! मैंने भी महान् धर्मका संचय किया है। उसका आधा भाग आप ग्रहण करें। राजन् ! सब मनुष्य अपनी संतानोंके किये हुए सत्कर्मोंके फलके भागी होते हैं। इसीलिये वे दौहित्रोंकी इच्छा करते हैं, जैसे आपने की थी' ॥ २५½ ॥

ततस्ते पार्थिवाः सर्वे शिरसा जननीं तदा ॥ २६ ॥
अभिवाद्य नमस्कृत्य मातामहमथाब्रुवन् ।
उच्चैरनुपमैः स्निग्धैः स्वरैरापूर्य मेदिनीम् ॥ २७ ॥
मातामहं नृपतयस्तारयन्तो दिवश्च्युतम् ।

तब उन सभी राजाओंने अपनी माताके चरणोंमें मस्तक रखकर प्रणाम किया और स्वर्गभ्रष्ट नानाको भी नमस्कार करके अपने उच्च, अनुपम और स्नेहपूर्ण स्वरसे पृथ्वीको प्रतिध्वनित करते हुए उन्हें तारनेके उद्देश्यसे उनसे कुछ कहनेका विचार किया ॥ २६-२७½ ॥

अथ तस्मादुपगतो गालवोऽप्याह पार्थिवम् ।
तपसो मेऽष्टभागेन स्वर्गमारोहतां भवान् ॥ २८ ॥

इसी बीचमें उस वनसे गालव मुनि भी वहाँ आ पहुँचे तथा राजासे इस प्रकार बोले—'महाराज ! आप मेरी तपस्याका आठवाँ भाग लेकर उसके बलसे स्वर्गलोकमें पहुँच जायँ' ॥ २८ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि गालवचरिते ययातिस्वर्गभ्रंशे एकविंशाधिकशततमोऽध्यायः ॥ १२१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें गालवचरित्रके प्रसंगमें ययातिका स्वर्गलोकसे पतन-विषयक एक सौ इक्कीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १२१ ॥

द्वाविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः

सत्संग एवं दौहित्रोंके पुण्यदानसे ययातिका पुनः स्वर्गारोहण

नारद उवाच

प्रत्यभिज्ञातमात्रोऽथ सद्भिस्तैर्नरपुङ्गवः ।
समारुरोह नृपतिरस्पृशन् वसुधातलम् ।
ययातिर्दिव्यसंस्थानो बभूव विगतज्वरः ॥ १ ॥
दिव्यमाल्याम्बरधरो दिव्याभरणभूषितः ।
दिव्यगन्धगुणोपेतो न पृथ्वीमस्पृशत् पदा ॥ २ ॥

नारदजी कहते हैं—उन सत्पुरुषोंके द्वारा पहचाने जानेमात्रसे नरश्रेष्ठ राजा ययाति पृथ्वीतलका स्पर्श न करते हुए ऊपरकी ओर उठने लगे। उस समय उनकी आकृति दिव्य हो गयी थी। वे शोक और चिन्तासे रहित थे। उन्होंने दिव्य हार और दिव्य वस्त्र धारण कर रक्खे थे। दिव्य आभूषण उनके अङ्गोंकी शोभा बढ़ा रहे थे तथा वे दिव्य सुगन्धसे सुवासित हो रहे थे। वे अपने पैरोंसे पृथ्वीका स्पर्श नहीं कर रहे थे ॥ १-२ ॥

ततो वसुमनाः पूर्वमुच्चैरुच्चारयन् वचः ।
ख्यातो दानपतिर्लोके व्याजहार नृपं तदा ॥ ३ ॥

तदनन्तर लोकमें दानपतिके नामसे विख्यात राजा वसुमना पहले उच्च स्वरसे शब्दोंका उच्चारण करते हुए महाराज ययातिसे इस प्रकार बोले—॥ ३ ॥

प्राप्तवानस्मि यल्लोके सर्ववर्णेष्वगर्हया ।
तदप्यथ च दास्यामि तेन संयुज्यतां भवान् ॥ ४ ॥

'मैंने जगत्में सभी वर्णोंकी निन्दासे दूर रहकर जो पुण्य प्राप्त किया है, वह भी आपको दे रहा हूँ। आप उस पुण्यसे संयुक्त हों ॥ ४ ॥

यत् फलं दानशीलस्य क्षमाशीलस्य यत् फलम् ।
यच्च मे फलमाधाने तेन संयुज्यतां भवान् ॥ ५ ॥

'दानशील पुरुषको जो पुण्यफल प्राप्त होता है, क्षमाशील मनुष्यको जो फल मिलता है तथा अग्निस्थापन आदि वेदोक्त कर्मोंके अनुष्ठानसे मुझे जिस फलकी प्राप्ति होनेवाली है, उन सभी प्रकारके पुण्यफलोंसे आप सम्पन्न हों' ॥ ५ ॥

ततः प्रतर्दनोऽप्याह वाक्यं क्षत्रियपुङ्गवः ।
यथा धर्मरतिर्नित्यं नित्यं युद्धपरायणः ॥ ६ ॥
प्राप्तवानस्मि यल्लोके क्षत्रवंशोद्भवं यशः ।
वीरशब्दफलं चैव तेन संयुज्यतां भवान् ॥ ७ ॥

तदनन्तर क्षत्रियशिरोमणि प्रतर्दनने यह बात कही—'मैं जिस प्रकार सदा धर्ममें तत्पर रहा हूँ, सर्वदा न्याययुक्त युद्धमें संलग्न होता आया हूँ तथा संसारमें मैंने जो क्षत्रियवंशके अनुरूप यश एवं वीर शब्दके योग्य पुण्यफलका अर्जन किया है, उससे आप संयुक्त हों' ॥ ६-७ ॥

शिबिरौशीनरो धीमानुवाच मधुरां गिरम् ।
यथा बालेषु नारीषु वैहार्येषु तथैव च ॥ ८ ॥
संगरेषु निपातेषु तथा तद्व्यसनेषु च ।
अनृतं नोक्तपूर्वं मे तेन सत्येन खं व्रज ॥ ९ ॥
यथा प्राणांश्च राज्यं च राजन् कामसुखानि च ।
त्यजेयं न पुनः सत्यं तेन सत्येन खं व्रज ॥ १० ॥
यथा सत्येन मे धर्मो यथा सत्येन पावकः ।
प्रीतः शतक्रतुश्चैव तेन सत्येन खं व्रज ॥ ११ ॥

तत्पश्चात् उशीनरपुत्र बुद्धिमान् शिबिने मधुर वाणीमें कहा—'मैंने बालकोंमें, स्त्रियोंमें, हास-परिहासके योग्य सम्बन्धियोंमें, युद्धमें, आपत्तियोंमें तथा सङ्कटोंमें भी पहले कभी असत्यभाषण नहीं किया है। उस सत्यके प्रभावसे आप स्वर्गलोकमें जाइये । राजन् ! मैं अपने प्राण, राज्य एवं मनोवाञ्छित सुखभोगको भी त्याग सकता हूँ, परंतु सत्यको नहीं छोड़ सकता । उस सत्यके प्रभावसे आप स्वर्ग-लोकमें जाइये । यदि मेरे सत्यसे धर्मदेव संतुष्ट हैं, यदि मेरे सत्यसे अग्निदेव प्रसन्न हैं तथा यदि मेरे सत्यभाषणसे देवराज इन्द्र भी तृप्त हुए हैं तो उस सत्यके प्रभावसे आप स्वर्ग-लोकमें जाइये' ॥ ८—११ ॥

अष्टकस्त्वथ राजर्षिः कौशिको माधवीसुतः ।
अनेकशतयज्वानं नाहुषं प्राप्य धर्मवित् ॥ १२ ॥

इसके बाद माधवीके छोटे पुत्र कुशिकवंशी धर्मज्ञ राजर्षि अष्टकने कई सौ यज्ञोंका अनुष्ठान करनेवाले नहुष-नन्दन ययातिके पास जाकर कहा—॥ १२ ॥

शतशः पुण्डरीका मे गोसवाश्चरिताः प्रभो ।
क्रतवो वाजपेयाश्च तेषां फलमवाप्नुहि ॥ १३ ॥
न मे रत्नानि न धनं न तथान्ये परिच्छदाः ।
क्रतुष्वनुपयुक्तानि तेन सत्येन खं व्रज ॥ १४ ॥

'प्रभो ! मैंने सैकड़ों पुण्डरीक, गोसव तथा वाजपेय यज्ञोंका अनुष्ठान किया है । आप उन सबका फल प्राप्त करें । मेरे पास कोई भी रत्न, धन अथवा अन्य सामग्री ऐसी नहीं है, जिसका मैंने यज्ञोंमें उपयोग न किया हो । इस सत्य कर्मके प्रभावसे आप स्वर्गलोकमें जाइये' ॥ १३-१४ ॥

यथा यथा हि जल्पन्ति दौहित्रास्तं नराधिपम् ।
तथा तथा वसुमतीं त्यक्त्वा राजा दिवं ययौ ॥ १५ ॥

ययातिके दौहित्र जैसे-जैसे उनके प्रति उपर्युक्त बातें कहते थे, वैसे-ही-वैसे वे महाराज इस भूतलको छोड़ते हुए स्वर्गलोककी ओर बढ़ते चले गये थे ॥ १५ ॥

एवं सर्वे समस्तैस्ते राजानः सुकृतैस्तदा ।
ययातिं स्वर्गतो भ्रष्टं तारयामासुरञ्जसा ॥ १६ ॥

इस प्रकार अपने सम्पूर्ण सत्कर्मोंके द्वारा उन सब राजाओंने स्वर्गसे गिरे हुए राजा ययातिको अनायास ही तार दिया ॥ १६ ॥

दौहित्राः स्वेन धर्मेण यज्ञदानकृतेन वै ।
चतुर्षु राजवंशेषु सम्भूताः कुलवर्धनाः ।
मातामहं महाप्राज्ञं दिवमारोपयन्त ते ॥ १७ ॥

अपने वंशकी वृद्धि करनेवाले ययातिके वे चारों दौहित्र चार राजवंशोंमें उत्पन्न हुए थे । उन्होंने अपने यज्ञ-दानादिजनित धर्मसे उन महाप्राज्ञ मातामह ययातिको स्वर्गलोकमें पहुँचा दिया ॥ १७ ॥

राजान ऊचुः

राजधर्मगुणोपेताः सर्वधर्मगुणान्विताः ।
दौहित्रास्ते वयं राजन् दिवमारोह पार्थिव ॥ १८ ॥

वे राजा बोले—राजन् ! पृथ्वीपते ! हम राजधर्म तथा राजोचित गुणोंसे युक्त, सम्पूर्ण धर्मों तथा समस्त सद्गुणोंसे सम्पन्न आपके दौहित्र हैं । आप हमारे पुण्य लेकर स्वर्गलोकपर आरूढ़ होइये ॥ १८ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि गालवचरिते ययातिस्वर्गारोहणे द्वाविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १२२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें गालवचरित्रके प्रसंगमें ययातिका स्वर्गारोहणविषयक एक सौ बाईसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १२२ ॥

त्रयोविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः

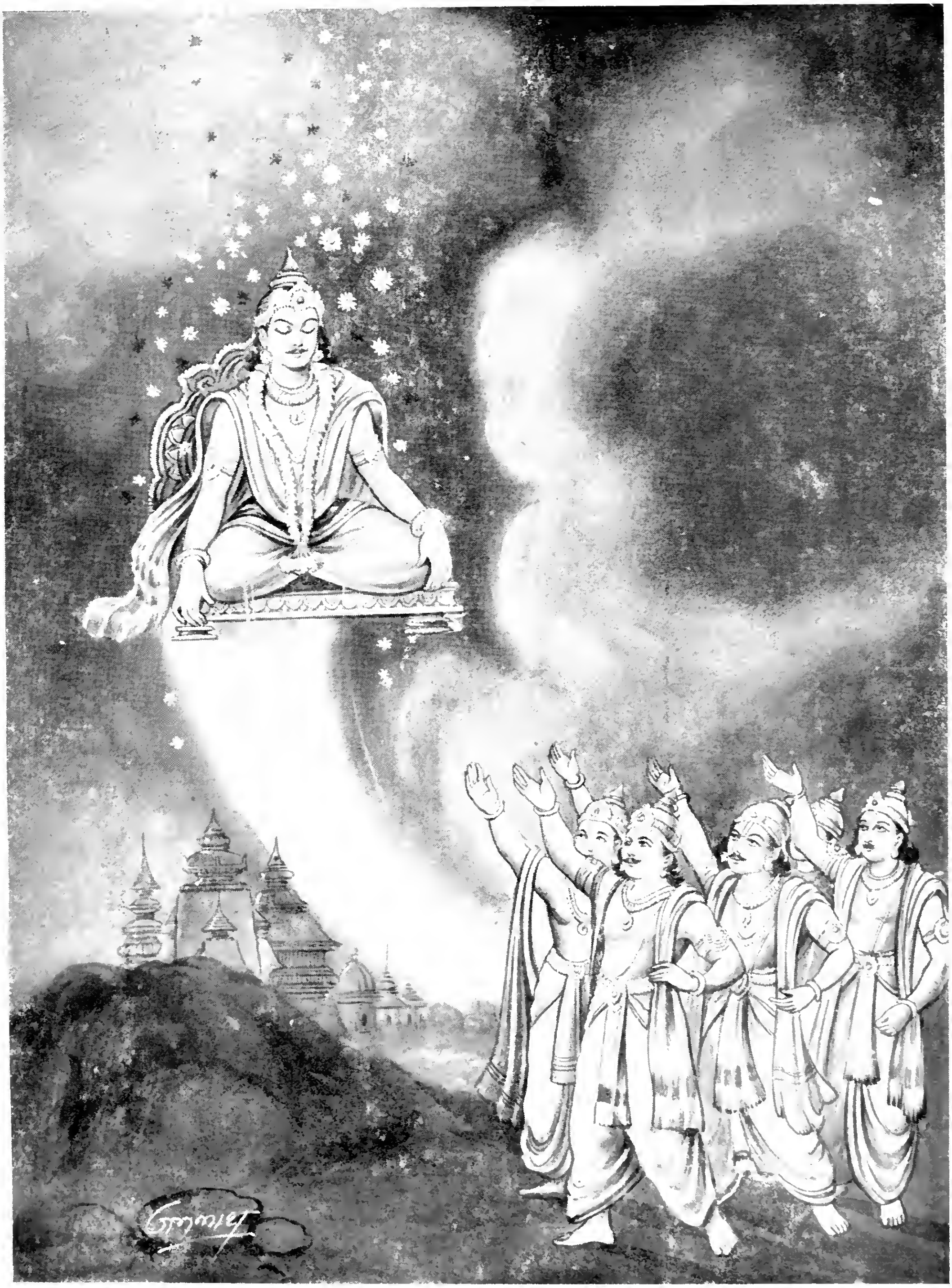
स्वर्गलोकमें ययातिका स्वागत, ययातिके पूछनेपर ब्रह्माजीका अभिमानको ही पतनका कारण बताना तथा नारदजीका दुर्योधनको समझाना

नारद उवाच

सद्भिरारोपितः स्वर्गं पार्थिवैर्भूरिदक्षिणैः ।
अभ्यनुज्ञाय दौहित्रान् ययातिर्दिवमास्थितः ॥ १ ॥

नारदजी कहते हैं—प्रचुर दक्षिणा देनेवाले उन श्रेष्ठ राजाओंने राजा ययातिको स्वर्गपर आरूढ़ कर दिया । राजा ययाति अपने उन दौहित्रोंको विदा देकर स्वर्गलोकमें जा पहुँचे ॥ १ ॥

अभिवृष्टश्च वर्षेण नानापुष्पसुगन्धिना ।



ययातिका स्वर्गारोहण

परिष्वक्तश्च पुण्येन वायुना पुण्यगन्धिना ॥ २ ॥

वहाँ उनके ऊपर नाना प्रकारके सुगन्धयुक्त पुष्पोंकी वर्षा हुई। पवित्र सौरभसे सुवासित पावन समीर उनका सब ओरसे आलिङ्गन कर रहा था ॥ २ ॥

अचलं स्थानमासाद्य दौहित्रफलनिर्जितम्।
कर्मभिः स्वैरुपचितो जज्वाल परया श्रिया ॥ ३ ॥

दौहित्रोंके पुण्यफलसे प्राप्त हुए अविचल स्थानको पाकर अपने सत्कर्मोंसे बढ़े हुए राजा ययाति उत्कृष्ट शोभासे प्रकाशित होने लगे ॥ ३ ॥

उपगीतोपनृत्तश्च गन्धर्वाप्सरसां गणैः।
प्रीत्या प्रतिगृहीतश्च स्वर्गे दुन्दुभिनिःस्वनैः ॥ ४ ॥

गन्धर्वों और अप्सराओंके समुदायोंने 'उनके सुयशका' गान करते हुए उनके समीप नृत्य करके उन्हें प्रसन्न किया। स्वर्गलोकमें दुन्दुभि आदि वाद्योंकी गम्भीर ध्वनिके साथ अत्यन्त प्रेमपूर्वक उनको अपनाया गया ॥ ४ ॥

अभिष्टुतश्च विविधैर्देवराजर्षिचारणैः।
अर्चितश्चोत्तमार्घ्येण दैवतैरभिनन्दितः ॥ ५ ॥

नाना प्रकारके देवर्षियों, राजर्षियों तथा चारणोंने उनका स्तवन किया। देवताओंने उत्तम अर्घ्य निवेदन करके उनका पूजन और अभिनन्दन किया ॥ ५ ॥

प्राप्तः स्वर्गफलं चैव तमुवाच पितामहः।
निर्वृतं शान्तमनसं वचोभिस्तर्पयन्निव ॥ ६ ॥

इस प्रकार ययातिने उत्तम स्वर्गफल पाया तदनन्तर संतुष्ट एवं शान्तचित्त हुए ययातिको अपने मधुर वचनोंद्वारा पूर्णतः तृप्त करते हुए-से पितामह ब्रह्माजी उनसे इस प्रकार बोले—॥ ६ ॥

चतुष्पादस्त्वया धर्मश्चितो लोक्येन कर्मणा।
अक्षयस्तव लोकोऽयं कीर्तिश्चैवाक्षया दिवि ॥ ७ ॥

'राजन्! तुमने लोकहितकारी सत्कर्मद्वारा चारों चरणोंसे युक्त धर्मका संग्रह किया; अतः तुम्हें यह अक्षय स्वर्गलोक प्राप्त हुआ और स्वर्गमें तुम्हारी क्षीण न होनेवाली कीर्ति फैल गयी ॥ ७ ॥

पुनस्त्वयैव राजर्षे सुकृतेन विघातितम्।
आवृतं तमसा चेतः सर्वेषां स्वर्गवासिनाम् ॥ ८ ॥
येन त्वां नाभिजानन्ति ततोऽज्ञातोऽसि पातितः।
प्रीत्यैव चासि दौहित्रैस्तारितस्त्वमिहागतः ॥ ९ ॥

'राजर्षे! फिर तुम्हींने 'अभिमानपूर्ण वर्तावसे' अपने पुण्यका नाश किया था। उस समय समस्त स्वर्गवासियोंका चित्त तमोगुणसे व्याप्त हो गया था, जिससे ये तुम्हें नहीं जानते या नहीं पहचानते थे; अतः सबके लिये अज्ञात होनेके कारण तुम स्वर्गसे नीचे गिरा दिये गये। फिर तुम्हारे दौहित्रोंने प्रेमपूर्वक तुम्हें तार दिया है, जिससे तुम पुनः यहाँ आ गये हो ॥ ८-९ ॥

स्थानं च प्रतिपन्नोऽसि कर्मणा स्वेन निर्जितम्।
अचलं शाश्वतं पुण्यमुत्तमं ध्रुवमव्ययम् ॥ १० ॥

'अब तुमने अपने (दौहित्रोंद्वारा प्राप्त) कर्मसे जीते हुए अविचल, शाश्वत, पुण्यमय, उत्तम, ध्रुव तथा अविनाशी स्थान प्राप्त किया है' ॥ १० ॥

ययातिरुवाच

भगवन् संशयो मेऽस्ति कश्चित् तं छेत्तुमर्हसि।
न ह्यन्यमहमर्हामि प्रष्टुं लोकपितामह ॥ ११ ॥

ययाति बोले—भगवन्! मेरे मनमें कोई संदेह है, जिसका निवारण आप ही कर सकते हैं। लोकपितामह! मैं इस प्रश्नको और किसीके सामने रखना उचित नहीं समझता ॥ ११ ॥

बहुवर्षसहस्रान्तं प्रजापालनवर्धितम्।
अनेकक्रतुदानौघैरर्जितं मे महत् फलम् ॥ १२ ॥
कथं तदल्पकालेन क्षीणं येनास्मि पातितः।
भगवन् वेत्थ लोकांश्च शाश्वतान् मम निर्मितान्।
कथं नु मम तत् सर्वं विप्रणष्टं महाद्युते ॥ १३ ॥

मैंने कई हजार वर्षोंतक अनेकानेक यज्ञों और दानोंके द्वारा जिस महान् पुण्यफलका उपार्जन किया था और जिसे प्रजापालनरूपी धर्मके द्वारा उत्तरोत्तर बढ़ाया था, वह सब थोड़े ही समयमें नष्ट कैसे हो गया? जिससे मैं यहाँसे नीचे गिरा दिया गया। भगवन्! महाद्युते! मुझे मेरे सत्कर्मोंद्वारा जो सनातन लोक प्राप्त हुए थे, उन्हें आप जानते हैं। मेरा वह सारा पुण्य सहसा नष्ट कैसे हो गया? ॥

पितामह उवाच

बहुवर्षसहस्रान्तं प्रजापालनवर्धितम्।
अनेकक्रतुदानौघैर्यत् त्वयोपार्जितं फलम् ॥ १४ ॥
तदनेनैव दोषेण क्षीणं येनासि पातितः।
अभिमानेन राजेन्द्र धिक्कृतः स्वर्गवासिभिः ॥ १५ ॥

ब्रह्माजी बोले—राजेन्द्र! तुमने कई हजार वर्षोंतक अनेकानेक यज्ञों और दानोंके द्वारा जिस पुण्यफलका उपार्जन किया और प्रजापालनरूपी धर्मके द्वारा जिसे उत्तरोत्तर बढ़ाया, वह सब इस अभिमानरूपी दोषके कारण ही नष्ट हो गया था, जिससे तुम नीचे गिराये गये। तुम्हारे अभिमानके ही कारण स्वर्गलोकके निवासियोंने तुम्हें धिक्कार दिया था ॥ १४-१५ ॥

नायं मानेन राजर्षे न बलेन न हिंसया।
न शाठ्येन न मायाभिर्लोको भवति शाश्वतः ॥ १६ ॥

राजर्षे ! यह पुण्यलोक न अभिमानसे, न बलसे, न हिंसासे, न शठतासे और न भाँति-भाँतिकी मायाओंसे ही सुस्थिर होता है ॥ १६ ॥

नावमान्यास्त्वया राजन्नधमोत्कृष्टमध्यमाः ।
न हि मानप्रदग्धानां कश्चिदस्ति शमः क्वचित् ॥ १७ ॥

राजन् ! तुम्हें ऊँचे, नीचे एवं मध्यम वर्गके लोगोंका कभी अपमान नहीं करना चाहिये। जो लोग अभिमानकी आगमें जल रहे हैं, उनके उस संतापको शान्त करनेका कहीं कोई उपाय नहीं है ॥ १७ ॥

पतनारोहणमिदं कथयिष्यन्ति ये नराः ।
विषमाण्यपि ते प्राप्तास्तरिष्यन्ति न संशयः ॥ १८ ॥

जो मनुष्य तुम्हारे स्वर्गसे गिरने और पुनः आरूढ़ होनेके इस वृत्तान्तको आपसमें कहें-सुनेंगे, वे संकटमें पड़नेपर भी उससे पार हो जायँगे; इसमें संशय नहीं है ॥१८॥

नारद उवाच

एष दोषोऽभिमानेन पुरा प्राप्तो ययातिना ।
निर्बन्धतातिमात्रं च गालवेन महीपते ॥ १९ ॥

नारदजी कहते हैं—राजन् ! इस प्रकार पूर्वकालमें राजा ययाति अपने अभिमानके कारण संकटमें पड़ गये थे और अत्यन्त आग्रह एवं हठके कारण महर्षि गालवको भी महान् क्लेश सहन करना पड़ा था ॥ १९ ॥

श्रोतव्यं हितकामानां सुहृदां हितमिच्छताम् ।
न कर्तव्यो हि निर्बन्धो निर्बन्धो हि क्षयोदयः ॥ २० ॥

अतः तुम्हें तुम्हारे हितकी इच्छा रखनेवाले सुहृदोंकी बात अवश्य सुननी और माननी चाहिये। दुराग्रह कभी नहीं करना चाहिये, क्योंकि वह विनाशके पथपर ले जानेवाला है ॥ २० ॥

तस्मात् त्वमपि गान्धारे मानं क्रोधं च वर्जय ।
संधत्स्व पाण्डवैर्वीर संरम्भं त्यज पार्थिव ॥ २१ ॥

अतः गान्धारीनन्दन ! तुम भी अभिमान और क्रोधको त्याग दो । वीर नरेश ! तुम पाण्डवोंसे संधि कर लो और क्रोधके आवेशको सदाके लिये छोड़ दो ॥ २१ ॥

(स भवान् सुहृदां पथ्यं वचो गृह्णातु मानृतम् ।
समर्थैर्विग्रहं कृत्वा विषमस्थो भविष्यसि ॥)

तुम अपने सुहृदोंके हितकर वचन मान लो । असत्य आचरणको न अपनाओ, अन्यथा शक्तिशाली पाण्डवोंके साथ युद्ध ठानकर तुम बड़े भारी संकटमें पड़ जाओगे ॥

ददाति यत् पार्थिव यत् करोति
यद् वा तपस्तप्यति यज्जुहोति ।
न तस्य नाशोऽस्ति न चापकर्षो
नान्यस्तदश्नाति स एव कर्ता ॥ २२ ॥

भूपाल ! मनुष्य जो दान देता है, जो कर्म करता है, जो तपस्यामें प्रवृत्त होता है और जो होम-यज्ञ आदिका अनुष्ठान करता है, उसके इस कर्मका न तो नाश होता है और न उसमें कोई कमी ही होती है । उसके कर्मको दूसरा कोई नहीं भोगता । कर्ता स्वयं ही अपने शुभाशुभ कर्मोंका फल भोगता है ॥ २२ ॥

इदं महाख्यानमनुत्तमं हितं
बहुश्रुतानां गतरोषरागिणाम् ।
समीक्ष्य लोके बहुधा प्रधारितं
त्रिवर्गदृष्टिः पृथिवीमुपाश्नुते ॥ २३ ॥

यह महत्त्वपूर्ण उपाख्यान उन महापुरुषोंका है, जो अनेक शास्त्रोंके ज्ञाता तथा रोष और रागसे रहित थे । यह सबके लिये परम उत्तम और हितकर है । लोकमें इसपर नाना प्रकारसे विचार करके निश्चित किये हुए सिद्धान्तको अपनाकर धर्म, अर्थ और कामपर दृष्टि रखनेवाला पुरुष इस पृथ्वीका उपभोग करता है ॥ २३ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि गालवचरिते त्रयोविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १२३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें गालवचरित्रविषयक एक सौ तेईसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १२३ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका १ श्लोक मिलाकर कुल २४ श्लोक हैं)

चतुर्विंशत्यधिकशततमोऽध्यायः

धृतराष्ट्रके अनुरोधसे भगवान् श्रीकृष्णका दुर्योधनको समझाना

धृतराष्ट्र उवाच

भगवन्नेवमेवैतद् यथा वदसि नारद ।
इच्छामि चाहमप्येवं न त्वीशो भगवन्नहम् ॥ १ ॥

धृतराष्ट्र बोले—भगवन् नारद ! आप जैसा कहते हैं, वह ठीक है । मैं भी यही चाहता हूँ; परंतु मेरा कोई वश नहीं चलता है ॥ १ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्त्वा ततः कृष्णमभ्यभाषत कौरवः ।
स्वर्ग्यं लोक्यं च मामात्थ धर्म्यं न्याय्यं च केशव ॥ २ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! नारदजीसे ऐसा कहकर धृतराष्ट्रने भगवान् श्रीकृष्णसे कहा—'केशव ! आपने मुझसे जो बात कही है, इहलोक और स्वर्गलोकमें

हितकर, धर्मसम्मत और न्यायसंगत है ॥ २ ॥

न त्वहं स्ववशस्तात क्रियमाणं न मे प्रियम् ।
(न मंस्यन्ते दुरात्मानः पुत्रा मम जनार्दन ।)
अङ्ग दुर्योधनं कृष्ण मन्दं शास्त्रातिगं मम ॥ ३ ॥
अनुनेतुं महाबाहो यतस्व पुरुषोत्तम ।

'तात ! जनार्दन ! मैं अपने वशमें नहीं हूँ । जो कुछ किया जा रहा है, वह मुझे प्रिय नहीं है । किंतु क्या कहूँ ? मेरे दुरात्मा पुत्र मेरी बात नहीं मानेंगे । प्रिय श्रीकृष्ण ! महाबाहु पुरुषोत्तम ! शास्त्रकी आज्ञाका उल्लङ्घन करनेवाले मेरे इस मूर्ख पुत्र दुर्योधनको आप ही समझा-बुझाकर राहपर लानेका प्रयत्न कीजिये ॥ ३½ ॥

न शृणोति महाबाहो वचनं साधुभाषितम् ॥ ४ ॥
गान्धार्याश्च हृषीकेश विदुरस्य च धीमतः ।
अन्येषां चैव सुहृदां भीष्मादीनां हितैषिणाम् ॥ ५ ॥

'महाबाहु हृषीकेश ! यह सत्पुरुषोंकी कही हुई बातें नहीं सुनता है । गान्धारी, बुद्धिमान् विदुर तथा हित चाहनेवाले भीष्म आदि अन्यान्य सुहृदोंकी भी बातें नहीं सुनता है ॥ ४-५ ॥

स त्वं पापमतिं क्रूरं पापचित्तमचेतनम् ।
अनुशाधि दुरात्मानं स्वयं दुर्योधनं नृपम् ॥ ६ ॥
सुहृत्कार्यं तु सुमहत् कृतं ते स्याज्जनार्दन ।

'जनार्दन ! दुरात्मा राजा दुर्योधनकी बुद्धि पापमें लगी हुई है । यह पापका ही चिन्तन करनेवाला, क्रूर और विवेक-शून्य है । आप ही इसे समझाइये । यदि आप इसे संधिके लिये राजी कर लें तो आपके द्वारा सुहृदोंका यह बहुत बड़ा कार्य सम्पन्न हो जायगा' ॥ ६½ ॥

ततोऽभ्यावृत्य वार्ष्णेयो दुर्योधनममर्षणम् ॥ ७ ॥
अब्रवीन्मधुरां वाचं सर्वधर्मार्थतत्त्ववित् ।

तब सम्पूर्ण धर्म और अर्थके तत्त्वको जाननेवाले वृष्णि-नन्दन भगवान् श्रीकृष्ण अमर्षशील दुर्योधनकी ओर घूमकर मधुर वाणीमें उससे बोले—॥ ७½ ॥

दुर्योधन निबोधेदं मद्वाक्यं कुरुसत्तम ॥ ८ ॥
शर्मार्थं ते विशेषेण सानुबन्धस्य भारत ।

'कुरुश्रेष्ठ दुर्योधन ! तुम मेरी यह बात सुनो । भारत ! मैं विशेषतः सगे-सम्बन्धियोंसहित तुम्हारे कल्याणके लिये ही तुम्हें कुछ परामर्श दे रहा हूँ ॥ ८½ ॥

महाप्राज्ञकुले जातः साध्वेतत् कर्तुमर्हसि ॥ ९ ॥
श्रुतवृत्तोपसम्पन्नः सर्वैः समुदितो गुणैः ।

'तुम परम ज्ञानी महापुरुषोंके कुलमें उत्पन्न हुए हो । स्वयं भी शास्त्रोंके ज्ञान तथा सद्व्यवहारसे सम्पन्न हो । तुममें सभी उत्तम गुण विद्यमान हैं; अतः तुम्हें मेरी यह अच्छी सलाह अवश्य माननी चाहिये ॥ ९½ ॥

दौष्कुलेया दुरात्मानो नृशंसा निरपत्रपाः ॥ १० ॥
त एतदीदृशं कुर्युर्यथा त्वं तात मन्यसे ।

'तात ! जिसे तुम ठीक समझते हो, ऐसा अधम कार्य तो वे लोग करते हैं, जो नीच कुलमें उत्पन्न हुए हैं तथा जो दुष्टचित्त, क्रूर एवं निर्लज्ज हैं ॥ १०½ ॥

धर्मार्थयुक्ता लोकेऽस्मिन् प्रवृत्तिर्लक्ष्यते सताम् ॥ ११ ॥
असतां विपरीता तु लक्ष्यते भरतर्षभ ।

'भरतश्रेष्ठ ! इस जगत्में सत्पुरुषोंका व्यवहार धर्म और अर्थसे युक्त देखा जाता है और दुष्टोंका बर्ताव ठीक इसके विपरीत दृष्टिगोचर होता है ॥ ११½ ॥

विपरीता त्वियं वृत्तिरसकृल्लक्ष्यते त्वयि ॥ १२ ॥
अधर्मश्चानुबन्धोऽत्र घोरः प्राणहरो महान् ।
अनिष्टश्चानिमित्तश्च न च शक्यश्च भारत ॥ १३ ॥

'तुम्हारे भीतर यह विपरीत वृत्ति बार-बार देखनेमें आती है । भारत ! इस समय तुम्हारा जो दुराग्रह है, वह अधर्ममय ही है । उसके होनेका कोई समुचित कारण भी नहीं है । यह भयंकर हठ अनिष्टकारक तथा महान् प्राणनाशक है । तुम इसे सफल बना सको, यह सम्भव नहीं है ॥ १२-१३ ॥

तमनर्थं परिहरन्नात्मश्रेयः करिष्यसि ।
भ्रातृणामथ भृत्यानां मित्राणां च परंतप ॥ १४ ॥

'परंतप ! यदि तुम उस अनर्थकारी दुराग्रहको छोड़ दो तो अपने कल्याणके साथ ही भाइयों, सेवकों तथा मित्रोंका भी महान् हित-साधन करोगे ॥ १४ ॥

अधर्म्यादयशस्याच्च कर्मणस्त्वं प्रमोक्ष्यसे ।
प्राज्ञैः शूरैर्महोत्साहैरात्मवद्भिर्बहुश्रुतैः ॥ १५ ॥
संधत्स्व पुरुषव्याघ्र पाण्डवैर्भरतर्षभ ।

'ऐसा करनेपर तुम्हें अधर्म और अपयशकी प्राप्ति कराने-वाले कर्मसे छुटकारा मिल जायगा । अतः भरतकुलभूषण पुरुषसिंह ! तुम ज्ञानी, परम उत्साही, शूरवीर, मनस्वी एवं अनेक शास्त्रोंके ज्ञाता पाण्डवोंके साथ संधि कर लो ॥१५½॥

तद्धितं च प्रियं चैव धृतराष्ट्रस्य धीमतः ॥ १६ ॥
पितामहस्य द्रोणस्य विदुरस्य महामतेः ।
कृपस्य सोमदत्तस्य वाह्लीकस्य च धीमतः ॥ १७ ॥
अश्वत्थाम्नो विकर्णस्य संजयस्य विविंशतेः ।
ज्ञातीनां चैव भूयिष्ठं मित्राणां च परंतप ॥ १८ ॥

'यही परम बुद्धिमान् राजा धृतराष्ट्रको भी प्रिय एवं हितकर जान पड़ता है । परंतप ! पितामह भीष्म, आचार्य द्रोण, महामति विदुर, कृपाचार्य, सोमदत्त, बुद्धिमान् वाह्लीक,

अश्वत्थामा, विकर्ण, संजय, विविंशति तथा अन्यान्य कुटुम्बी-जनों एवं मित्रोंको भी यही अधिक प्रिय है ॥ १६–१८ ॥

शमे शर्म भवेत् तात सर्वस्य जगतस्तथा।
ह्रीमानसि कुले जातः श्रुतवाननृशंसवान्।
तिष्ठ तात पितुः शास्त्रे मातुश्च भरतर्षभ ॥ १९ ॥

'तात ! संधि होनेपर ही सम्पूर्ण जगत्का भला हो सकता है। तुम श्रेष्ठ कुलमें उत्पन्न, लज्जाशील, शास्त्रज्ञ और क्रूरतासे रहित हो। अतः भरतश्रेष्ठ ! तुम पिता और माताके शासनके अधीन रहो ॥ १९ ॥

एतच्छ्रेयो हि मन्यन्ते पिता यच्छास्ति भारत।
उत्तमापद्गतः सर्वः पितुः स्मरति शासनम् ॥ २० ॥

'भारत ! पिता जो कुछ शिक्षा देते हैं, उसीको श्रेष्ठ पुरुष अपने लिये कल्याणकारी मानते हैं। भारी आपत्तिमें पड़नेपर सब लोग अपने पिताके उपदेशका ही स्मरण करते हैं ॥ २० ॥

रोचते ते पितुस्तात पाण्डवैः सह संगमः।
सामात्यस्य कुरुश्रेष्ठ तत् तुभ्यं तात रोचताम् ॥ २१ ॥

'तात ! मन्त्रियोंसहित तुम्हारे पिताको पाण्डवोंके साथ संधि कर लेना ही अच्छा जान पड़ता है। कुरुश्रेष्ठ ! यही तुम्हें भी पसंद आना चाहिये ॥ २१ ॥

श्रुत्वा यः सुहृदां शास्त्रं मर्त्यो न प्रतिपद्यते।
विपाकान्ते दहत्येनं किम्पाकमिव भक्षितम् ॥ २२ ॥

'जो मनुष्य सुहृदोंके मुखसे शास्त्रसम्मत उपदेश सुनकर भी उसे स्वीकार नहीं करता है, उसका यह अस्वीकार उसे परिणाममें उसी प्रकार शोकदग्ध करता है, जैसे खाया हुआ इन्द्रायण फल पाचनके अन्तमें दाह उत्पन्न करनेवाला होता है ॥ २२ ॥

यस्तु निःश्रेयसं वाक्यं मोहान्न प्रतिपद्यते।
स दीर्घसूत्रो हीनार्थः पश्चात्तापेन युज्यते ॥ २३ ॥

'जो मोहवश अपने हितकी बात नहीं मानता है, वह दीर्घसूत्री मनुष्य अपने स्वार्थसे भ्रष्ट होकर केवल पश्चात्तापका भागी होता है ॥ २३ ॥

यस्तु निःश्रेयसं श्रुत्वा प्राक् तदेवाभिपद्यते।
आत्मनो मतमुत्सृज्य स लोके सुखमेधते ॥ २४ ॥

'जो मानव अपने कल्याणकी बात सुनकर अपने मतका आग्रह छोड़कर पहले उसीको ग्रहण करता है, वह संसारमें सुखपूर्वक उन्नतिशील होता है ॥ २४ ॥

योऽर्थकामस्य वचनं प्रातिकूल्यान्न मृष्यते।
शृणोति प्रतिकूलानि द्विषतां वशमेति सः ॥ २५ ॥

'जो अपनी ही भलाई चाहनेवाले अपने सुहृद्के वचनों-को मनके प्रतिकूल होनेके कारण नहीं सहन करता है और उन असुहृदोंके प्रतिकूल कहे हुए वचनोंको ही सुनता है, वह शत्रुओंके अधीन हो जाता है ॥ २५ ॥

सतां मतमतिक्रम्य योऽसतां वर्तते मते।
शोचन्ते व्यसने तस्य सुहृदो नचिरादिव ॥ २६ ॥

'जो मनुष्य सत्पुरुषोंकी सम्मतिका उल्लङ्घन करके दुष्टोंके मतके अनुसार चलता है, उसके सुहृद् उसे शीघ्र ही विपत्तिमें पड़ा देख शोकके भागी होते हैं ॥ २६ ॥

मुख्यानमात्यानुत्सृज्य यो निहीनान् निषेवते।
स घोरामापदं प्राप्य नोत्तारमधिगच्छति ॥ २७ ॥

'जो अपने मुख्य मन्त्रियोंको छोड़कर नीच प्रकृतिके लोगोंका सेवन करता है, वह भयंकर विपत्तिमें फँसकर अपने उद्धारका कोई मार्ग नहीं देख पाता है ॥ २७ ॥

योऽसत्सेवी वृथाचारो न श्रोता सुहृदां सताम्।
परान् वृणीते स्वान् द्वेष्टि तं गौस्त्यजति भारत ॥ २८ ॥

'भारत ! जो दुष्ट पुरुषोंका संग करनेवाला और मिथ्याचारी होकर अपने श्रेष्ठ सुहृदोंकी बात नहीं सुनता है, दूसरोंको अपनाता और आत्मीयजनोंसे द्वेष रखता है, उसे यह पृथ्वी त्याग देती है ॥ २८ ॥

स त्वं विरुध्य तैर्वीरैरन्येभ्यस्त्राणमिच्छसि।
अशिष्टेभ्योऽसमर्थेभ्यो मूढेभ्यो भरतर्षभ ॥ २९ ॥

'भरतश्रेष्ठ ! तुम उन वीर पाण्डवोंसे विरोध करके दूसरे अशिष्ट, असमर्थ और मूढ़ मनुष्योंसे अपनी रक्षा चाहते हो ॥ २९ ॥

को हि शक्रसमान् ज्ञातीनतिक्रम्य महारथान्।
अन्येभ्यस्त्राणमाशंसेत् त्वदन्यो भुवि मानवः ॥ ३० ॥

'इस भूतलपर तुम्हारे सिवा दूसरा कौन मनुष्य है, जो इन्द्रके समान पराक्रमी एवं महारथी बन्धु-बान्धवोंको त्यागकर दूसरोंसे अपनी रक्षाकी आशा करेगा ? ॥ ३० ॥

जन्मप्रभृति कौन्तेया नित्यं विनिकृतास्त्वया।
न च ते जातु कुप्यन्ति धर्मात्मानो हि पाण्डवाः ॥ ३१ ॥

'तुमने जन्मसे ही कुन्तीपुत्रोंके साथ सदा शठतापूर्ण बर्ताव किया है, परंतु वे इसके लिये कभी कुपित नहीं हुए हैं; क्योंकि पाण्डव धर्मात्मा हैं ॥ ३१ ॥

मिथ्योपचरितास्तात जन्मप्रभृति बान्धवाः।
त्वयि सम्यङ्महाबाहो प्रतिपन्ना यशस्विनः ॥ ३२ ॥

'तात महाबाहो ! यद्यपि तुमने अपने ही भाई पाण्डवोंके साथ जन्मसे ही छल-कपटका बर्ताव किया है, तथापि वे यशस्वी पाण्डव तुम्हारे प्रति सदा सद्भाव ही रखते आये हैं ॥ ३२ ॥

त्वयापि प्रतिपत्तव्यं तथैव भरतर्षभ ।
स्वेषु बन्धुषु मुख्येषु मा मन्युवशमन्वगाः ॥ ३३ ॥

भरतश्रेष्ठ ! तुम्हें भी अपने उन श्रेष्ठ बन्धुओंके प्रति वैसा ही बर्ताव करना चाहिये । तुम क्रोधके वशीभूत न होओ ॥ ३३ ॥

त्रिवर्गयुक्तः प्राज्ञानामारम्भो भरतर्षभ ।
धर्मार्थावनुरुध्यन्ते त्रिवर्गासम्भवे नराः ॥ ३४ ॥

भरतभूषण ! विद्वान् एवं बुद्धिमान् पुरुषोंका प्रत्येक कार्य धर्म, अर्थ और काम इन तीनोंकी सिद्धिके अनुकूल ही होता है। यदि तीनोंकी सिद्धि असम्भव हो तो बुद्धिमान् मानव धर्म और अर्थका ही अनुसरण करते हैं॥ ३४॥

पृथक् च विनिविष्टानां धर्मं धीरोऽनुरुध्यते ।
मध्यमोऽर्थं कलिं बालः काममेवानुरुध्यते ॥ ३५ ॥

पृथक्-पृथक् स्थित हुए धर्म, अर्थ और काममेंसे किसी एकको चुनना हो तो धीर पुरुष धर्मका ही अनुसरण करता है, मध्यम श्रेणीका मनुष्य कलहके कारणभूत अर्थको ही ग्रहण करता है और अधम श्रेणीका अज्ञानी पुरुष कामको ही पाना चाहता है ॥ ३५ ॥

इन्द्रियैः प्राकृतो लोभाद् धर्मं विप्रजहाति यः।
कामार्थावनुपायेन लिप्समानो विनश्यति ॥ ३६ ॥

जो अधम मनुष्य इन्द्रियोंके वशीभूत होकर लोभवश धर्मको छोड़ देता है, वह अयोग्य उपायोंसे अर्थ और कामकी लिप्सामें पड़कर नष्ट हो जाता है ॥ ३६ ॥

कामार्थौ लिप्समानस्तु धर्ममेवादितश्चरेत् ।
न हि धर्मादपैत्यर्थः कामो वापि कदाचन ॥ ३७ ॥

जो अर्थ और काम प्राप्त करना चाहता हो, उसे पहले धर्मका ही आचरण करना चाहिये; क्योंकि अर्थ या काम कभी धर्मसे पृथक् नहीं होता है ॥ ३७ ॥

उपायं धर्ममेवाहुस्त्रिवर्गस्य विशाम्पते ।
लिप्समानो हि तेनाशु कक्षेऽग्निरिव वर्धते ॥ ३८ ॥

प्रजानाथ ! विद्वान् पुरुष धर्मको ही त्रिवर्गकी प्राप्तिका एकमात्र उपाय बताते हैं। अतः जो धर्मके द्वारा अर्थ और कामको पाना चाहता है, वह शीघ्र ही उसी प्रकार उन्नतिकी दिशामें आगे बढ़ जाता है, जैसे सूखे तिनकोंमें लगी हुई आग बढ़ जाती है ॥ ३८ ॥

स त्वं तातानुपायेन लिप्ससे भरतर्षभ ।
आधिराज्यं महद् दीप्तं प्रथितं सर्वराजसु ॥ ३९ ॥

तात ! भरतश्रेष्ठ ! तुम समस्त राजाओंमें विख्यात इस विशाल एवं उज्ज्वल साम्राज्यको अनुचित उपायसे पाना चाहते हो ॥ ३९ ॥

आत्मानं तक्षति ह्येष वनं परशुना यथा ।
यः सम्यग्वर्तमानेषु मिथ्या राजन् प्रवर्तते ॥ ४० ॥

राजन् ! जो उत्तम व्यवहार करनेवाले सत्पुरुषोंके साथ असद्व्यवहार करता है, वह कुल्हाड़ीसे जंगलकी भाँति उस दुर्व्यवहारसे अपने-आपको ही काटता है ॥ ४० ॥

न तस्य हि मतिं छिन्द्याद् यस्य नेच्छेत् पराभवम् ।
अविच्छिन्नमतेरस्य कल्याणे धीयते मतिः ।
आत्मवान् नावमन्येत त्रिषु लोकेषु भारत ॥ ४१ ॥
अप्यन्यं प्राकृतं किंचित् किमु तान् पाण्डवर्षभान् ।
अमर्षवशमापन्नो न किंचिद् बुध्यते जनः ॥ ४२ ॥

'मनुष्य जिसका पराभव न करना चाहे, उसकी बुद्धिका उच्छेद न करे । जिसकी बुद्धि नष्ट नहीं हुई है, उसी पुरुषका मन कल्याणकारी कार्योंमें प्रवृत्त होता है। भरतनन्दन ! मनस्वी पुरुषको चाहिये कि वह तीनों लोकोंमें किसी प्राकृत (निम्न श्रेणीके) पुरुषका भी अपमान न करे, फिर हम श्रेष्ठ पाण्डवोंके अपमानकी तो बात ही क्या है ? ईर्ष्याके वशमें रहनेवाला मनुष्य किसी बातको ठीकसे समझ नहीं पाता ॥ ४१-४२ ॥

छिद्यते ह्याततं सर्वं प्रमाणं पश्य भारत ।
श्रेयस्ते दुर्जनात् तात पाण्डवैः सह संगतम् ॥ ४३ ॥

'भरतनन्दन ! देखो, ईर्ष्यालु मनुष्यके समक्ष प्रस्तुत किये हुए सम्पूर्ण विस्तृत प्रमाण भी उच्छिन्न-से हो जाते हैं। तात ! किसी दुष्ट मनुष्यका साथ करनेकी अपेक्षा पाण्डवोंके साथ मेल-मिलाप रखना तुम्हारे लिये विशेष कल्याणकारी है ॥ ४३ ॥

तैर्हि सम्प्रीयमाणस्त्वं सर्वान् कामानवाप्स्यसि।
पाण्डवैर्निर्मितां भूमिं भुञ्जानो राजसत्तम ॥ ४४ ॥
पाण्डवान् पृष्ठतः कृत्वा त्राणमाशंससेऽन्यतः ।

'पाण्डवोंसे प्रेम रखनेपर तुम सम्पूर्ण मनोरथोंको प्राप्त कर लोगे। नृपश्रेष्ठ ! तुम पाण्डवोंद्वारा स्थापित राज्यका उपभोग कर रहे हो, तो भी उन्हींको पीछे करके अर्थात् उनकी अवहेलना करके दूसरोंसे अपनी रक्षाकी आशा रखते हो ॥ ४४½ ॥

दुःशासने दुर्विषहे कर्णे चापि ससौबले ॥ ४५ ॥
एतेष्वैश्वर्यमाधाय भूतिमिच्छसि भारत ।

'भारत ! तुम दुःशासन, दुर्विषह, कर्ण और शकुनि—इन सबपर अपने ऐश्वर्यका भार रखकर उन्नतिकी इच्छा रखते हो ? ॥ ४५½ ॥

न चैते तव पर्याप्ता ज्ञाने धर्मार्थयोस्तथा ॥ ४६ ॥
विक्रमे चाप्यपर्याप्ताः पाण्डवान् प्रति भारत ।

'भरतनन्दन ! ये तुम्हें ज्ञान, धर्म और अर्थकी प्राप्ति

करानेमें समर्थ नहीं हैं और पाण्डवोंके सामने पराक्रम प्रकट करनेमें भी ये असमर्थ ही हैं ॥ ४६½ ॥

न ह्यमे सर्वराजानः पर्याप्ताः सहितास्त्वया ॥ ४७ ॥
क्रुद्धस्य भीमसेनस्य प्रेक्षितुं मुखमाहवे ।

'तुम्हारे सहित ये सब राजालोग भी युद्धमें कुपित हुए भीमसेनके मुखकी ओर आँख उठाकर देख ही नहीं सकते हैं ॥ ४७½ ॥

इदं संनिहितं तात समग्रं पार्थिवं बलम् ॥ ४८ ॥
अयं भीष्मस्तथा द्रोणः कर्णश्चायं तथा कृपः ।
भूरिश्रवाः सौमदत्तिरश्वत्थामा जयद्रथः ॥ ४९ ॥
अशक्ताः सर्व एवैते प्रतियोद्धुं धनंजयम् ।

'तात ! तुम्हारे निकट जो यह समस्त राजाओंकी सेना एकत्र हुई है, यह तथा भीष्म, द्रोण, कर्ण, कृपाचार्य, सोमदत्तपुत्र भूरिश्रवा, अश्वत्थामा और जयद्रथ–ये सभी मिलकर भी अर्जुनका सामना करनेमें समर्थ नहीं हैं ॥ ४८-४९½ ॥

अजेयो ह्यर्जुनः संख्ये सर्वैरपि सुरासुरैः ।
मानुषैरपि गन्धर्वैर्मा युद्धे चेत आधिथाः ॥ ५० ॥

'सम्पूर्ण देवता और असुर भी युद्धमें अर्जुनको जीत नहीं सकते । वे समस्त मनुष्यों और गन्धर्वोंके द्वारा भी अजेय हैं, अतः तुम युद्धका विचार मत करो ॥ ५० ॥

दृश्यतां वा पुमान् कश्चित् समग्रे पार्थिवे बले ।
योऽर्जुनं समरे प्राप्य स्वस्तिमानाव्रजेद् गृहान् ॥ ५१ ॥

'राजाओंकी इन सम्पूर्ण सेनाओंमें किसी ऐसे पुरुषपर दृष्टिपात तो करो, जो युद्धमें अर्जुनका सामना करके कुशलपूर्वक अपने घर लौट सके ? ॥ ५१ ॥

किं ते जनक्षयेणेह कृतेन भरतर्षभ ।
यस्मिञ्जिते जितं तत् स्यात् पुमानेकः स दृश्यताम् ॥ ५२ ॥

'भरतश्रेष्ठ ! यह नरसंहार करनेसे तुम्हें क्या लाभ होगा ? तुम अपने पक्षमें किसी ऐसे पुरुषको ढूँढ़ निकालो, जो उस अर्जुनपर विजय पा सके; जिसके जीते जानेपर तुम्हारे पक्षकी विजय मान ली जाय ॥ ५२ ॥

यः स देवान् सगन्धर्वान् सयक्षासुरपन्नगान् ।
अजयत् खाण्डवप्रस्थे कस्तं युध्येत मानवः ॥ ५३ ॥

'जिन्होंने खाण्डववनमें गन्धर्वों, यक्षों, असुरों और नागोंसहित सम्पूर्ण देवताओंको जीत लिया था, उन अर्जुनके साथ कौन मनुष्य युद्ध कर सकेगा ? ॥ ५३ ॥

तथा विराटनगरे श्रूयते महदद्भुतम् ।
एकस्य च बहूनां च पर्याप्तं तन्निदर्शनम् ॥ ५४ ॥

'इसके सिवा विराटनगरमें जो बहुत-से महारथी योद्धाओंके साथ एक अर्जुनके युद्धकी अत्यन्त अद्भुत घटना सुनी जाती है, वह एक ही युद्धके भावी परिणामको बतानेके लिये पर्याप्त है ॥ ५४ ॥

युद्धे येन महादेवः साक्षात् संतोषितः शिवः ।
तमजेयमनाधृष्यं विजेतुं जिष्णुमच्युतम् ।
आशंससीह समरे वीरमर्जुनमूर्जितम् ॥ ५५ ॥

'जिन्होंने युद्धमें साक्षात् महादेव शिवको अपने पराक्रमसे संतुष्ट किया है, अपनी मर्यादासे कभी च्युत न होनेवाले उन अजेय, दुर्धर्ष एवं विजयशील बलशाली वीर अर्जुनको तुम युद्धमें जीतनेकी आशा रखते हो, यह बड़े आश्चर्यकी बात है ! ॥ ५५ ॥

मद्द्वितीयं पुनः पार्थं कः प्रार्थयितुमर्हति ।
युद्धे प्रतीपमायान्तमपि साक्षात् पुरंदरः ॥ ५६ ॥

'फिर मैं जिसका सारथि बनकर साथ रहूँ और वह अर्जुन प्रतिपक्षी होकर युद्धके लिये आये, उस समय साक्षात् इन्द्र ही क्यों न हों, कौन अर्जुनके साथ युद्ध करना चाहेगा ? ॥ ५६ ॥

बाहुभ्यामुद्वहेद् भूमिं दहेत् क्रुद्ध इमाः प्रजाः ।
पातयेत् त्रिदिवाद् देवान् योऽर्जुनं समरे जयेत् ॥ ५७ ॥

'जो समरभूमिमें अर्जुनको जीत सकता है, वह मानो अपनी दोनों भुजाओंपर पृथ्वीको उठा सकता है, कुपित होनेपर इस समस्त प्रजाको दग्ध कर सकता है और देवताओंको स्वर्गसे नीचे गिरा सकता है ॥ ५७ ॥

पश्य पुत्रांस्तथा भ्रातॄञ्ज्ञातीन् सम्बन्धिनस्तथा ।
त्वत्कृते न विनश्येयुरिमे भरतसत्तमाः ॥ ५८ ॥

'दुर्योधन ! अपने इन पुत्रों, भाइयों, कुटुम्बीजनों और सगे-सम्बन्धियोंकी ओर तो देखो । ये श्रेष्ठ भरतवंशी तुम्हारे कारण नष्ट न हो जायँ ॥ ५८ ॥

अस्तु शेषं कौरवाणां मा पराभूदिदं कुलम् ।
कुलघ्न इति नोच्येथा नष्टकीर्तिर्नराधिप ॥ ५९ ॥

'नरेश्वर ! कौरववंश बचा रहे, इस कुलका पराभव न हो और तुम भी अपनी कीर्तिका नाश करके कुलघाती न कहलाओ ॥ ५९ ॥

त्वामेव स्थापयिष्यन्ति यौवराज्ये महारथाः ।
महाराज्येऽपि पितरं धृतराष्ट्रं जनेश्वरम् ॥ ६० ॥

'महारथी पाण्डव तुम्हींको युवराजके पदपर स्थापित करेंगे और तुम्हारे पिता राजा धृतराष्ट्रको महाराजके पदपर बनाये रक्खेंगे ॥ ६० ॥

मा तात श्रियमायान्तीमवमंस्थाः समुद्यताम् ।
अर्धं प्रदाय पार्थेभ्यो महतीं श्रियमाप्नुहि ॥ ६१ ॥

'तात ! अपने घरमें आनेको उद्यत हुई राजलक्ष्मीका अपमान न करो। कुन्तीके पुत्रोंको आधा राज्य देकर स्वयं विशाल सम्पत्तिका उपभोग करो ॥ ६१ ॥

पाण्डवैः संशमं कृत्वा कृत्वा च सुहृदां वचः।
सम्प्रीयमाणो मित्रैश्च चिरं भद्राण्यवाप्स्यसि ॥ ६२ ॥

'पाण्डवोंके साथ संधि करके और अपने हितैषी सुहृदोंकी बात मानकर मित्रोंके साथ प्रसन्नतापूर्वक रहते हुए तुम दीर्घकालतक कल्याणके भागी बने रहोगे' ॥ ६२ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि भगवद्वाक्ये चतुर्विंशत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १२४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें भगवद्वाक्यसम्बन्धी एक सौ चौबीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १२४ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका ½ श्लोक मिलाकर कुल ६२½ श्लोक हैं)

पञ्चविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः

भीष्म, द्रोण, विदुर और धृतराष्ट्रका दुर्योधनको समझाना

वैशम्पायन उवाच

ततः शान्तनवो भीष्मो दुर्योधनममर्षणम्।
केशवस्य वचः श्रुत्वा प्रोवाच भरतर्षभ ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—भरतश्रेष्ठ जनमेजय ! भगवान् श्रीकृष्णका पूर्वोक्त वचन सुनकर शान्तनुनन्दन भीष्मने ईर्ष्या और क्रोधमें भरे रहनेवाले दुर्योधनसे इस प्रकार कहा—॥ १ ॥

कृष्णेन वाक्यमुक्तोऽसि सुहृदां शममिच्छता।
अन्वपद्यस्व तत् तात मा मन्युवशमन्वगाः ॥ २ ॥

'तात ! भगवान् श्रीकृष्णने सुहृदोंमें परस्पर शान्ति बनाये रखनेकी इच्छासे जो बात कही है, उसे स्वीकार करो। क्रोधके वशीभूत न होओ ॥ २ ॥

अकृत्वा वचनं तात केशवस्य महात्मनः।
श्रेयो न जातु न सुखं न कल्याणमवाप्स्यसि ॥ ३ ॥

तात ! महात्मा केशवकी बात न माननेसे तुम कभी श्रेय, सुख और कल्याण नहीं पा सकोगे ॥ ३ ॥

धर्म्यमर्थ्यं महाबाहुराह त्वां तात केशवः।
तदर्थमभिपद्यस्व मा राजन् नीनशः प्रजाः ॥ ४ ॥

'वत्स ! महाबाहु केशवने तुमसे धर्म और अर्थके अनुकूल ही बात कही है। राजन् ! तुम उसे स्वीकार कर लो, प्रजाका विनाश न करो ॥ ४ ॥

ज्वलितां त्वमिमां लक्ष्मीं भारतीं सर्वराजसु।
जीवतो धृतराष्ट्रस्य दौरात्म्याद् भ्रंशयिष्यसि ॥ ५ ॥

'बेटा ! यह भरतवंशकी राजलक्ष्मी समस्त राजाओंमें प्रकाशित हो रही है; किंतु मैं देखता हूँ कि तुम अपनी दुष्टताके कारण इसे धृतराष्ट्रके जीते-जी ही नष्ट कर दोगे ॥५॥

आत्मानं च सहामात्यं सपुत्रभ्रातृबान्धवम्।
अहमित्यनया बुद्ध्या जीविताद् भ्रंशयिष्यसि॥ ६ ॥

'शीघ्र ही अपनी इस अहंकारयुक्त बुद्धिके कारण तुम पुत्र, भाई, बान्धवजन तथा मन्त्रियोंसहित अपने आपको भी जीवनसे वञ्चित कर दोगे ॥ ६ ॥

अतिक्रामन् केशवस्य तथ्यं वचनमर्थवत्।
पितुश्च भरतश्रेष्ठ विदुरस्य च धीमतः ॥ ७ ॥
मा कुलघ्नः कुपुरुषो दुर्मतिः कापथं गमः।
मातरं पितरं चैव मा मज्जीः शोकसागरे ॥ ८ ॥

'भरतश्रेष्ठ केशवका वचन सत्य और सार्थक है। तुम उनके, अपने पिताके तथा बुद्धिमान् विदुरके वचनोंकी अवहेलना करके कुमार्गपर न चलो। कुलघाती, कुपुरुष और कुबुद्धिसे कलङ्कित न बनो तथा माता-पिताको शोकके समुद्रमें न डुबाओ' ॥ ७-८ ॥

अथ द्रोणोऽब्रवीत् तत्र दुर्योधनमिदं वचः।
अमर्षवशमापन्नं निःश्वसन्तं पुनः पुनः ॥ ९ ॥

तदनन्तर रोषके वशीभूत होकर बारंबार लम्बी साँस खींचनेवाले दुर्योधनसे द्रोणाचार्यने इस प्रकार कहा—॥ ९ ॥

धर्मार्थयुक्तं वचनमाह त्वां तात केशवः।
तथा भीष्मः शान्तनवस्तज्जुषस्व नराधिप ॥ १० ॥

'तात ! भगवान् श्रीकृष्ण और शान्तनुनन्दन भीष्मने धर्म और अर्थसे युक्त बात कही है। नरेश्वर ! तुम उसे स्वीकार करो ॥ १० ॥

प्राज्ञौ मेधाविनौ दान्तावर्थकामौ बहुश्रुतौ।
आहतुस्त्वां हितं वाक्यं तज्जुषस्व नराधिप ॥ ११ ॥

'राजन् ! ये दोनों महापुरुष विद्वान्, मेधावी, जितेन्द्रिय, तुम्हारा भला चाहनेवाले और अनेक शास्त्रोंके ज्ञाता हैं। इन्होंने तुमसे हितकी ही बात कही है, अतः तुम इसका सेवन करो ॥ ११ ॥

अनुतिष्ठ महाप्राज्ञ कृष्णभीष्मौ यदूचतुः।
(मा वचो लघुबुद्धीनां समास्थास्त्वं परंतप।)
माधवं बुद्धिमोहेन मावमंस्थाः परंतप ॥ १२ ॥

'महामते ! श्रीकृष्ण और भीष्मने जो कुछ कहा है, उसका पालन करो। परंतप ! तुम तुच्छ बुद्धिवाले लोगोंकी बातपर आस्था मत रक्खो। शत्रुदमन ! अपनी बुद्धिके मोहसे माधवका तिरस्कार न करो ॥ १२ ॥

ये त्वां प्रोत्साहयन्त्येते नैते कृत्याय कर्हिचित्।
वैरं परेषां ग्रीवायां प्रतिमोक्ष्यन्ति संयुगे ॥ १३ ॥

'जो लोग तुम्हें युद्धके लिये उत्साहित कर रहे हैं, ये कभी तुम्हारे काम नहीं आ सकते। ये युद्धका अवसर आनेपर वैरका बोझ दूसरेके कंधेपर डाल देंगे ॥ १३ ॥

मा जीघनः प्रजाः सर्वाः पुत्रान् भ्रातृंस्तथैव च।
वासुदेवार्जुनौ यत्र विद्ध्यजेयानलं हि तान् ॥ १४ ॥

'समस्त प्रजाओं, पुत्रों और भाइयोंकी हत्या न कराओ। जिनकी ओर भगवान् श्रीकृष्ण और अर्जुन हैं, उन्हें युद्धमें अजेय समझो ॥ १४ ॥

एतच्चैव मतं सत्यं सुहृदोः कृष्णभीष्मयोः।
यदि नादास्यसे तात पश्चात् तप्स्यसि भारत ॥ १५ ॥

'तात! भरतनन्दन! तुम्हारा वास्तविक हित चाहनेवाले श्रीकृष्ण और भीष्मका यही यथार्थ मत है। यदि तुम इसे ग्रहण नहीं करोगे तो पीछे पछताओगे ॥ १५ ॥

यथोक्तं जामदग्न्येन भूयानेष ततोऽर्जुनः।
कृष्णो हि देवकीपुत्रो देवैरपि सुदुःसहः।
किं ते सुखप्रियेणेह प्रोक्तेन भरतर्षभ ॥ १६ ॥
एतत् ते सर्वमाख्यातं यथेच्छसि तथा कुरु।
न हि त्वामुत्सहे वक्तुं भूयो भरतसत्तम ॥ १७ ॥

'जमदग्निनन्दन परशुरामजीने जैसा बताया है, ये अर्जुन उससे भी महान् हैं और देवकीनन्दन भगवान् श्रीकृष्ण तो देवताओंके लिये भी अत्यन्त दुःसह हैं। भरतश्रेष्ठ! तुम्हें सुखद और प्रिय लगनेवाली अधिक बातें कहनेसे क्या लाभ? ये सब बातें जो हमें कहनी थीं, मैंने कह दीं। अब तुम्हारी जैसी इच्छा हो, वैसा करो। भरतवंशविभूषण! अब तुमसे और कुछ कहनेके लिये मेरे मनमें उत्साह नहीं है' ॥ १६-१७ ॥

वैशम्पायन उवाच

तस्मिन् वाक्यान्तरे वाक्यं क्षत्तापि विदुरोऽब्रवीत्।
दुर्योधनमभिप्रेक्ष्य धार्तराष्ट्रममर्षणम् ॥ १८ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! जब द्रोणाचार्य अपनी बात कह रहे थे, उसी समय विदुरजी भी अमर्षमें भरे हुए धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधनकी ओर देखकर बीचमें ही कहने लगे— ॥ १८ ॥

दुर्योधन न शोचामि त्वामहं भरतर्षभ।
इमौ तु वृद्धौ शोचामि गान्धारीं पितरं च ते ॥ १९ ॥

'भरतभूषण दुर्योधन! मैं तुम्हारे लिये शोक नहीं करता। मुझे तो तुम्हारे इन बूढ़े माता-पिता गान्धारी और धृतराष्ट्रके लिये भारी शोक हो रहा है ॥ १९ ॥

यावनाथौ चरिष्येते त्वया नाथेन दुर्हृदा।
हतमित्रौ हतामात्यौ लूनपक्षाविवाण्डजौ ॥ २० ॥

'क्योंकि ये दोनों तुम-जैसे दुष्ट सहायकके कारण मित्रों और मन्त्रियोंके मारे जानेपर पंख कटे हुए पक्षियोंकी भाँति अनाथ (असहाय) होकर विचरेंगे ॥ २० ॥

भिक्षुकौ विचरिष्येते शोचन्तौ पृथिवीमिमाम्।
कुलघ्नमीदृशं पापं जनयित्वा कुपूरुषम् ॥ २१ ॥

'तुम्हारे-जैसे पापी और कुलघाती कुपुरुष पुत्रको जन्म देनेके कारण ये दोनों शोकमग्न हो भिक्षुककी भाँति इस पृथ्वीपर इधर-उधर भटकते फिरेंगे' ॥ २१ ॥

अथ दुर्योधनं राजा धृतराष्ट्रोऽभ्यभाषत।
आसीनं भ्रातृभिः सार्धं राजभिः परिवारितम् ॥ २२ ॥

तत्पश्चात् राजा धृतराष्ट्रने राजाओंसे घिरकर भाइयोंके साथ बैठे हुए दुर्योधनसे कहा— ॥ २२ ॥

दुर्योधन निबोधेदं शौरिणोक्तं महात्मना।
आदत्स्व शिवमत्यन्तं योगक्षेमवदव्ययम् ॥ २३ ॥

'दुर्योधन! मेरी इस बातपर ध्यान दो। महात्मा श्रीकृष्णने जो बात बतायी है, वह अत्यन्त कल्याणकारक, योगक्षेमकी प्राप्ति करानेवाली तथा दीर्घकालतक स्थिर रहनेवाली है; तुम इसे स्वीकार करो ॥ २३ ॥

अनेन हि सहायेन कृष्णेनाक्लिष्टकर्मणा।
इष्टान् सर्वानभिप्रायान् प्राप्स्यामः सर्वराजसु ॥ २४ ॥

'अनायास ही महान् कर्म करनेवाले इन भगवान् श्रीकृष्णकी सहायतासे हमलोग समस्त राजाओंमें सम्मानित रहकर अपने सभी अभीष्ट मनोरथोंको प्राप्त कर लेंगे ॥ २४ ॥

सुसंहतः केशवेन तात गच्छ युधिष्ठिरम्।
चर स्वस्त्ययनं कृत्स्नं भरतानामनामयम् ॥ २५ ॥

'तात! भगवान् श्रीकृष्णसे मिलकर तुम युधिष्ठिरके पास जाओ और पूर्णरूपसे मङ्गल सम्पादन करो; जिससे भरतवंशियोंको कोई क्षति न उठानी पड़े ॥ २५ ॥

वासुदेवेन तीर्थेन तात गच्छस्व संशमम्।
कालप्राप्तमिदं मन्ये मा त्वं दुर्योधनातिगाः ॥ २६ ॥

'तात! भगवान् श्रीकृष्णको मध्यस्थ बनाकर अब शान्ति धारण करो। मैं तुम्हारे लिये यही समयोचित कर्तव्य मानता हूँ। दुर्योधन! तुम मेरी इस आज्ञाका उल्लङ्घन न करो ॥ २६ ॥

शमं चेद् याचमानं त्वं प्रत्याख्यास्यसि केशवम्।
त्वदर्थमभिजल्पन्तं न तवास्त्यपराभवः ॥ २७ ॥

'यदि तुम शान्तिके लिये प्रार्थना करनेवाले भगवान् श्रीकृष्णका जो तुम्हारे हितकी बात बता रहे हैं, तिरस्कार करोगे—इनकी आज्ञा नहीं मानोगे तो तुम्हारा पराभव हुए बिना नहीं रह सकता' ॥ २७ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि भीष्मादिवाक्ये पञ्चविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १२५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें भीष्म आदिके वचनोंसे सम्बन्ध रखनेवाला एक सौ पचीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका आधा श्लोक मिलाकर कुल २७½ श्लोक हैं)

षड्विंशत्यधिकशततमोऽध्यायः

भीष्म और द्रोणका दुर्योधनको पुनः समझाना

वैशम्पायन उवाच

धृतराष्ट्रवचः श्रुत्वा भीष्मद्रोणौ समव्यथौ ।
दुर्योधनमिदं वाक्यमूचतुः शासनातिगम् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! धृतराष्ट्रका कथन सुनकर युद्धमें जनसंहारकी सम्भावनासे समानरूपसे दुःखका अनुभव करनेवाले भीष्म और द्रोणाचार्यने गुरुजनोंकी आज्ञाका उल्लङ्घन करनेवाले दुर्योधनसे इस प्रकार कहा—॥

यावत् कृष्णावसंनद्धौ यावत् तिष्ठति गाण्डिवम् ।
यावद् धौम्यो न मेधाग्नौ जुहोतीह द्विषद्बलम् ॥ २ ॥
यावन्न प्रेक्षते क्रुद्धः सेनां तव युधिष्ठिरः ।
ह्रीनिषेवो महेष्वासस्तावच्छाम्यतु वैशसम् ॥ ३ ॥

'वत्स ! जबतक श्रीकृष्ण और अर्जुन कवच धारण करके युद्धके लिये उद्यत नहीं होते हैं, जबतक गाण्डीव धनुष घरमें रक्खा हुआ है, जबतक धौम्य मुनि यज्ञाग्निमें शत्रुओंकी सेनाके विनाशके लिये आहुति नहीं डालते हैं और जबतक लज्जाशील महाधनुर्धर युधिष्ठिर तुम्हारी सेनापर क्रोधपूर्ण दृष्टि नहीं डालते हैं, तभीतक यह भावी जनसंहार शान्त हो जाना चाहिये ॥

यावन्न दृश्यते पार्थः स्वेऽप्यनीके व्यवस्थितः ।
भीमसेनो महेष्वासस्तावच्छाम्यतु वैशसम् ॥ ४ ॥

'जबतक कुन्तीपुत्र महाधनुर्धर भीमसेन अपनी सेनाके अग्रभागमें खड़े नहीं दिखायी देते हैं, तभीतक यह मार-काटका संकल्प शान्त हो जाना चाहिये ॥ ४ ॥

यावन्न चरते मार्गान् पृतनामभिधर्षयन् ।
भीमसेनो गदापाणिस्तावत् संशाम्य पाण्डवैः ॥ ५ ॥

'दुर्योधन ! जबतक हाथमें गदा लिये भीमसेन तुम्हारी सेनाका संहार करते हुए युद्धके विभिन्न मार्गोंमें विचरण नहीं कर रहे हैं, तभीतक तुम पाण्डवोंके साथ संधि कर लो ॥

यावन्न शातयत्याजौ शिरांसि गजयोधिनाम् ।
गदया वीरघातिन्या फलानीव वनस्पतेः ॥ ६ ॥
कालेन परिपक्वानि तावच्छाम्यतु वैशसम् ।

'जबतक भीमसेन अपनी वीरघातिनी गदाके द्वारा समयानुसार पके हुए वृक्षके फलोंकी भाँति संग्रामभूमिमें गजारोही योद्धाओंके मस्तकोंको काट-काटकर नहीं गिरा रहे हैं, तभीतक तुम्हारा युद्धविषयक संकल्प शान्त हो जाना चाहिये ॥ ६½ ॥

नकुलः सहदेवश्च धृष्टद्युम्नश्च पार्षतः ॥ ७ ॥
विराटश्च शिखण्डी च शैशुपालिश्च दंशिताः ।
यावन्न प्रविशन्त्येते नक्रा इव महार्णवम् ॥ ८ ॥
कृतास्त्राः क्षिप्रमस्यन्तस्तावच्छाम्यतु वैशसम् ।

'नकुल, सहदेव, द्रुपदपुत्र धृष्टद्युम्न, विराट, शिखण्डी तथा शिशुपालपुत्र धृष्टकेतु—ये अस्त्रविद्यामें निपुण महान् वीर कवच धारण करके महासागरमें घुसे हुए ग्राहोंकी भाँति तुम्हारी सेनाके भीतर जबतक प्रवेश नहीं करते हैं, तभीतक यह जनसंहारका संकल्प शान्त हो जाना चाहिये ॥ ७-८½ ॥

यावन्न सुकुमारेषु शरीरेषु महीक्षिताम् ॥ ९ ॥
गार्ध्रपत्राः पतन्त्युग्रास्तावच्छाम्यतु वैशसम् ।

'जबतक इन भूमिपालोंके सुकुमार शरीरोंपर गीधकी पाँखोंसे युक्त भयंकर बाण नहीं गिर रहे हैं, तभीतक युद्धका संकल्प शान्त हो जाय ॥ ९½ ॥

चन्दनागुरुदिग्धेषु हारनिष्कधरेषु च ।
नोरःसु यावद् योधानां महेष्वासैर्महेषवः ॥ १० ॥
कृतास्त्रैः क्षिप्रमस्यद्भिर्दूरपातिभिरायसाः ।
अभिलक्ष्यैर्निपात्यन्ते तावच्छाम्यतु वैशसम् ॥ ११ ॥

'सामने आते ही लक्ष्यको मार गिरानेवाले, शीघ्रतापूर्वक बाण चलाने और दूरतकका लक्ष्य बींधनेवाले, अस्त्रविद्याके पारंगत महाधनुर्धर विपक्षी वीर जबतक तुम्हारे योद्धाओंके चन्दन और अगुरुसे चर्चित तथा हार और निष्क धारण करनेवाले वक्षःस्थलोंपर विशाल बाणोंकी वर्षा नहीं करते, तभीतक तुम्हें युद्धका विचार त्याग देना चाहिये ॥ १०-११ ॥

अभिवादयमानं त्वां शिरसा राजकुञ्जरः ।
पाणिभ्यां प्रतिगृह्णातु धर्मराजो युधिष्ठिरः ॥ १२ ॥

'हम चाहते हैं कि नृपश्रेष्ठ धर्मराज युधिष्ठिर तुम्हें मस्तक झुकाकर प्रणाम करते देख दोनों हाथोंसे पकड़ (कर हृदयसे लगा) लें ॥ १२ ॥

ध्वजाङ्कुशपताकाङ्कं दक्षिणं ते सुदक्षिणः ।
स्कन्धे निक्षिपतां बाहुं शान्तये भरतर्षभ ॥ १३ ॥

'भरतश्रेष्ठ ! उत्तम दक्षिणा देनेवाले युधिष्ठिर ध्वजा, अंकुश और पताकाओंके चिह्नसे सुशोभित अपनी दाहिनी भुजाको जगत्में शान्ति स्थापित करनेके लिये तुम्हारे कंधेपर रक्खें ॥ १३ ॥

रत्नौषधिसमेतेन रक्ताङ्गुलितलेन च ।
उपविष्टस्य पृष्ठं ते पाणिना परिमार्जतु ॥ १४ ॥

'तथा तुम्हें पास बिठाकर रत्न एवं ओषधियोंसे युक्त लाल हथेलीवाले हाथसे तुम्हारी पीठको धीरे-धीरे सहलायें ॥

शालस्कन्धो महाबाहुस्त्वां स्वजानो वृकोदरः ।
साम्नाभिवदतां चापि शान्तये भरतर्षभ ॥ १५ ॥

'भरतभूषण ! शालवृक्षके तनेके समान ऊँचे डील-डौलवाले

महाबाहु भीमसेन भी शान्तिके लिये तुम्हें हृदयसे लगाकर तुमसे मीठी-मीठी बातें करें ॥ १५ ॥

अर्जुनेन यमाभ्यां च त्रिभिस्तैरभिवादितः ।
मूर्ध्नि तान् समुपाघ्राय प्रेम्णाभिवद पार्थिव ॥ १६ ॥

'राजन् ! अर्जुन और नकुल-सहदेव—ये तीनों भाई तुम्हें प्रणाम करें और तुम उनके मस्तक सूँघकर उनके साथ प्रेमपूर्वक वार्तालाप करो ॥ १६ ॥

दृष्ट्वा त्वां पाण्डवैर्वीरैर्भ्रातृभिः सह संगतम् ।
यावदानन्दजाश्रूणि प्रमुञ्चन्तु नराधिपाः ॥ १७ ॥

'तुम्हें अपने वीर भाई पाण्डवोंके साथ मिला हुआ देख ये सब नरेश अपने नेत्रोंसे आनन्दके आँसू बहायें ॥ १७ ॥

घुष्यतां राजधानीषु सर्वसम्पन्महीक्षिताम् ।
पृथिवी भ्रातृभावेन भुज्यतां विज्वरो भव ॥ १८ ॥

'राजाओंकी सभी राजधानियोंमें यह घोषणा करा दी जाय कि कौरव-पाण्डवोंका सारा झगड़ा समाप्त होकर परस्पर प्रेमपूर्वक उनका समस्त कार्य सम्पन्न हो गया। फिर तुम और युधिष्ठिर परस्पर भ्रातृभाव रखते हुए इस राज्यका समानरूपसे उपभोग करो, तुम्हारी सारी चिन्ताएँ दूर हो जायँ' ॥ १८ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि भीष्मद्रोणवाक्ये षड्विंशत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १२६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें भीष्म और द्रोणके वाक्यसे सम्बन्ध रखनेवाला एक सौ छब्बीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १२६ ॥

सप्तविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः

श्रीकृष्णको दुर्योधनका उत्तर, उसका पाण्डवोंको राज्य न देनेका निश्चय

वैशम्पायन उवाच

श्रुत्वा दुर्योधनो वाक्यमप्रियं कुरुसंसदि ।
प्रत्युवाच महाबाहुं वासुदेवं यशस्विनम् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! कौरवसभामें यह अप्रिय वचन सुनकर दुर्योधनने यशस्वी महाबाहु वसुदेवनन्दन श्रीकृष्णको इस प्रकार उत्तर दिया—॥ १ ॥

प्रसमीक्ष्य भवानेतद् वक्तुमर्हति केशव ।
मामेव हि विशेषेण विभाष्य परिगर्हसे ॥ २ ॥

'केशव ! आपको अच्छी तरह सोच-विचारकर ऐसी बातें कहनी चाहिये । आप तो विशेषरूपसे मुझे ही दोषी ठहराकर मेरी निन्दा कर रहे हैं ॥ २ ॥

भक्तिवादेन पार्थानामकस्मान्मधुसूदन ।
भवान् गर्हयते नित्यं किं समीक्ष्य बलाबलम् ॥ ३ ॥

'मधुसूदन ! आप पाण्डवोंके प्रेमकी दुहाई देकर जो अकारण ही सदा हमारी निन्दा करते रहते हैं, इसका क्या कारण है ? क्या आप हमलोगोंके बलाबलका विचार करके ऐसा करते हैं ? ॥ ३ ॥

भवान् क्षत्ता च राजा वाप्याचार्यो वा पितामहः ।
मामेव परिगर्हन्ते नान्यं कंचन पार्थिवम् ॥ ४ ॥

'मैं देखता हूँ; आप, विदुरजी, पिताजी, आचार्य अथवा पितामह भीष्म सभी लोग केवल मुझपर ही दोषारोपण करते हैं; दूसरे किसी राजापर नहीं ॥ ४ ॥

न चाहं लक्षये कंचिद् व्यभिचारमिहात्मनः ।
अथ सर्वे भवन्तो मां विद्विषन्ति सराजकाः ॥ ५ ॥

'परंतु मुझे यहाँ अपना कोई दोष नहीं दिखायी देता है । इधर राजा धृतराष्ट्रसहित आप सब लोग अकारण ही मुझसे द्वेष रखने लगे हैं ॥ ५ ॥

न चाहं कंचिदत्यर्थमपराधमरिंदम ।
विचिन्तयन् प्रपश्यामि सुसूक्ष्ममपि केशव ॥ ६ ॥

'शत्रुदमन केशव ! मैं अत्यन्त सोच-विचारकर दृष्टि डालता हूँ, तो भी मुझे अपना कोई सूक्ष्म-से-सूक्ष्म अपराध भी नहीं दृष्टिगोचर होता है ॥ ६ ॥

प्रियाभ्युपगते द्यूते पाण्डवा मधुसूदन ।
जिताः शकुनिना राज्यं तत्र किं मम दुष्कृतम् ॥ ७ ॥

'मधुसूदन ! पाण्डवोंको जूएका खेल बड़ा प्रिय था। इसीलिये वे उसमें प्रवृत्त हुए । फिर यदि मामा शकुनिने उनका राज्य जीत लिया तो इसमें मेरा क्या अपराध हो गया ? ॥

यत् पुनर्द्रविणं किंचित् तत्राजीयन्त पाण्डवाः ।
तेभ्य एवाभ्यनुज्ञातं तत् तदा मधुसूदन ॥ ८ ॥

'मधुसूदन ! उस जूएमें पाण्डवोंने जो कुछ भी धन हारा था, वह सब उसी समय उन्हींको लौटा दिया गया था ॥ ८ ॥

अपराधो न चास्माकं यत् ते द्यूते पराजिताः ।
अजेया जयतां श्रेष्ठ पार्थाः प्रव्राजिता वनम् ॥ ९ ॥

'विजयी वीरोंमें श्रेष्ठ श्रीकृष्ण ! यदि अजेय पाण्डव जूएमें पुनः पराजित हो गये और वनमें जानेको विवश हुए तो यह हमलोगोंका अपराध नहीं है ॥ ९ ॥

केन वाप्यपराधेन विरुध्यन्त्यरिभिः सह ।
अशक्ताः पाण्डवाः कृष्ण प्रहृष्टाः प्रत्यमित्रवत् ॥ १० ॥

'कृष्ण ! हमारे किस अपराधसे असमर्थ पाण्डव शत्रुओंके साथ मिलकर हमारा विरोध करते हैं और ऐसा करके भी सहज शत्रुकी भाँति प्रसन्न हो रहे हैं ॥ १० ॥

किमस्माभिः कृतं तेषां कस्मिन् वा पुनरागसि ।
धार्तराष्ट्रान् जिघांसन्ति पाण्डवाः सृंजयैः सह ॥ ११ ॥

'हमने उनका क्या बिगाड़ा है ? वे पाण्डव हमारे किस अपराधपर सृञ्जयोंके साथ मिलकर हम धृतराष्ट्रपुत्रोंका वध करना चाहते हैं ? ॥ ११ ॥

न चापि वयमुग्रेण कर्मणा वचनेन वा।
प्रभ्रष्टाः प्रणमामेह भयादपि शतक्रतुम् ॥ १२ ॥

'हमलोग किसीके भयंकर कर्म अथवा भयानक वचनसे भयभीत हो क्षत्रियधर्मसे च्युत होकर साक्षात् इन्द्रके सामने भी नतमस्तक नहीं हो सकते ॥ १२ ॥

न च तं कृष्ण पश्यामि क्षत्रधर्ममनुष्ठितम्।
उत्सहेत युधा जेतुं यो नः शत्रुनिबर्हण ॥ १३ ॥

'शत्रुओंका संहार करनेवाले श्रीकृष्ण ! मैं क्षत्रिय-धर्मका अनुष्ठान करनेवाले किसी भी ऐसे वीरको नहीं देखता, जो युद्धमें हम सब लोगोंको जीतनेका साहस कर सके ॥ १३ ॥

न हि भीष्मकृपद्रोणाः सकर्णा मधुसूदन।
देवैरपि युधा जेतुं शक्याः किमुत पाण्डवैः ॥ १४ ॥

'मधुसूदन ! भीष्म, द्रोण, कृपाचार्य और कर्णको तो देवता भी युद्धमें नहीं जीत सकते; फिर पाण्डवोंकी तो बात ही क्या है ? ॥ १४ ॥

स्वधर्ममनुपश्यन्तो यदि माधव संयुगे।
अस्त्रेण निधनं काले प्राप्स्यामः स्वर्ग्यमेव तत् ॥ १५ ॥

'माधव ! अपने धर्मपर दृष्टि रखते हुए यदि हमलोग युद्धमें किसी समय अस्त्रोंके आघातसे मृत्युको प्राप्त हो जायँ तो वह भी हमारे लिये स्वर्गकी ही प्राप्ति करानेवाली होगी ॥

मुख्यश्चैवैष नो धर्मः क्षत्रियाणां जनार्दन।
यच्छयीमहि संग्रामे शरतल्पगता वयम् ॥ १६ ॥

'जनार्दन ! हम क्षत्रियोंका यही प्रधान धर्म है कि संग्राममें हमें बाण-शय्यापर सोनेका अवसर प्राप्त हो ॥ १६ ॥

ते वयं वीरशयनं प्राप्स्यामो यदि संयुगे।
अप्रणम्यैव शत्रूणां न नस्तप्स्यन्ति माधव ॥ १७ ॥

'अतः माधव ! हम अपने शत्रुओंके सामने नतमस्तक न होकर यदि युद्धमें वीरशय्याको प्राप्त हों तो इससे हमारे भाई-बन्धुओंको संताप नहीं होगा ॥ १७ ॥

कश्च जातु कुले जातः क्षत्रधर्मेण वर्तयन्।
भयाद् वृत्तिं समीक्ष्यैवं प्रणमेदिह कर्हिचित् ॥ १८ ॥

'उत्तम कुलमें उत्पन्न होकर क्षत्रियधर्मके अनुसार जीवन-निर्वाह करनेवाला कौन ऐसा महापुरुष होगा, जो क्षत्रियोचित वृत्तिपर दृष्टि रखते हुए भी इस प्रकार भयके कारण कभी शत्रुके सामने मस्तक झुकायेगा ? ॥ १८ ॥

उद्यच्छेदेव न नमेदुद्यमो ह्येव पौरुषम्।
अप्यपर्वणि भज्येत न नमेदिह कर्हिचित् ॥ १९ ॥

'वीर पुरुषको चाहिये कि वह सदा उद्योग ही करे, किसीके सामने नतमस्तक न हो; क्योंकि उद्योग करना ही पुरुषका कर्तव्य-पुरुषार्थ है। वीर पुरुष असमयमें ही नष्ट भले ही हो जाय, परंतु कभी शत्रुके सामने सिर न झुकावे' ॥ १९ ॥

इति मातङ्गवचनं परीप्सन्ति हितेप्सवः।
धर्माय चैव प्रणमेद् ब्राह्मणेभ्यश्च मद्विधः ॥ २० ॥

'अपना हित चाहनेवाले मनुष्य मातङ्ग मुनिके उपर्युक्त वचनको ही ग्रहण करते हैं; अतः मेरे-जैसा पुरुष केवल धर्म तथा ब्राह्मणको ही प्रणाम कर सकता है (शत्रुओंको नहीं) ॥

अचिन्तयन् कंचिदन्यं यावज्जीवं तथाचरेत्।
एष धर्मः क्षत्रियाणां मतमेतच्च मे सदा ॥ २१ ॥

'वह दूसरे किसीको कुछ भी न समझकर जीवनभर ऐसा ही आचरण (उद्योग) करता रहे; यही क्षत्रियोंका धर्म है और सदाके लिये मेरा मत भी यही है ॥ २१ ॥

राज्यांशश्चाभ्यनुज्ञातो यो मे पित्रा पुराभवत्।
न स लभ्यः पुनर्जातु मयि जीवति केशव ॥ २२ ॥

'केशव ! मेरे पिताजीने पूर्वकालमें जो राज्यभाग मेरे अधीन कर दिया है, उसे कोई मेरे जीते-जी फिर कदापि नहीं पा सकता ॥ २२ ॥

यावच्च राजा ध्रियते धृतराष्ट्रो जनार्दन।
न्यस्तशस्त्रा वयं ते वाप्युपजीवाम माधव।
अप्रदेयं पुरा दत्तं राज्यं परवतो मम ॥ २३ ॥
अज्ञानाद् वा भयाद् वापि मयि बाले जनार्दन।
न तदद्य पुनर्लभ्यं पाण्डवैर्वृष्णिनन्दन ॥ २४ ॥

'जनार्दन ! जबतक राजा धृतराष्ट्र जीवित हैं, तबतक हमें और पाण्डवोंको हथियार न उठाकर शान्तिपूर्वक जीवन बिताना चाहिये। वृष्णिनन्दन श्रीकृष्ण ! पहले भी जो पाण्डवोंको राज्यका अंश दिया गया था, वह उन्हें देना उचित नहीं था; परंतु मैं उन दिनों बालक एवं पराधीन था, अतः अज्ञान अथवा भयसे जो कुछ उन्हें दे दिया गया था, उसे अब पाण्डव पुनः नहीं पा सकते ॥ २३-२४ ॥

ध्रियमाणे महाबाहौ मयि सम्प्रति केशव।
यावद्धि तीक्ष्णया सूच्या विध्येदग्रेण केशव।
तावदप्यपरित्याज्यं भूमेर्नः पाण्डवान् प्रति ॥ २५ ॥

'केशव ! इस समय मुझ महाबाहु दुर्योधनके जीते-जी पाण्डवोंको भूमिका उतना अंश भी नहीं दिया जा सकता, जितना कि एक बारीक सूईकी नोकसे छिद सकता है' ॥ २५ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि दुर्योधनवाक्ये सप्तविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १२७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें दुर्योधनवाक्यविषयक एक सौ सत्ताईसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १२७ ॥

अष्टाविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः

श्रीकृष्णका दुर्योधनको फटकारना और उसे कुपित होकर सभासे जाते देख उसे कैद करनेकी सलाह देना

वैशम्पायन उवाच

ततः प्रशम्य दाशार्हः क्रोधपर्याकुलेक्षणः।
दुर्योधनमिदं वाक्यमब्रवीत् कुरुसंसदि॥ १॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! दुर्योधनकी बातें सुनकर श्रीकृष्णके नेत्र क्रोधसे लाल हो गये। वे कुछ विचार करके कौरव-सभामें दुर्योधनसे पुनः इस प्रकार बोले—॥ १॥

लप्स्यसे वीरशयनं काममेतदवाप्स्यसि।
स्थिरो भव सहामात्यो विमर्दो भविता महान्॥ २॥

'दुर्योधन! तुझे रणभूमिमें वीर-शय्या प्राप्त होगी। तेरी यह इच्छा पूर्ण होगी। तू मन्त्रियोंसहित धैर्यपूर्वक रह। अब बहुत बड़ा नरसंहार होनेवाला है॥ २॥

यच्चैवं मन्यसे मूढ न मे कश्चिद् व्यतिक्रमः।
पाण्डवेष्विति तत् सर्वं निबोधत नराधिपाः॥ ३॥

'मूढ! तू जो ऐसा मानता है कि पाण्डवोंके प्रति मेरा कोई अपराध ही नहीं है तो इसके सम्बन्धमें मैं सब बातें बताता हूँ। राजाओ! आपलोग भी ध्यान देकर सुनें॥

श्रिया संतप्यमानेन पाण्डवानां महात्मनाम्।
त्वया दुर्मन्त्रितं द्यूतं सौबलेन च भारत॥ ४॥

'भारत! महात्मा पाण्डवोंकी बढ़ती हुई समृद्धिसे संतप्त होकर तूने ही शकुनिके साथ यह खोटा विचार किया था कि पाण्डवोंके साथ जूआ खेला जाय॥ ४॥

कथं च ज्ञातयस्तात श्रेयांसः साधुसम्मताः।
अथान्याय्यमुपस्थातुं जिह्मेनाजिह्मचारिणः॥ ५॥

'तात! अन्यथा सदा सरलतापूर्ण बर्ताव करनेवाले और साधु-सम्मानित तेरे श्रेष्ठ बन्धु पाण्डव यहाँ तुम-जैसे कपटीके साथ अन्याययुक्त द्यूतके लिये कैसे उपस्थित हो सकते थे?॥ ५॥

अक्षद्यूतं महाप्राज्ञ सतां मतिविनाशनम्।
असतां तत्र जायन्ते भेदाश्च व्यसनानि च॥ ६॥

'महामते! जूएका खेल तो सत्पुरुषोंकी बुद्धिको भी नाश करनेवाला है और यदि दुष्ट पुरुष उसमें प्रवृत्त हों तो उनमें बड़ा भारी कलह होता है तथा उन सबपर बहुत-से संकट छा जाते हैं॥ ६॥

तदिदं व्यसनं घोरं त्वया द्यूतमुखं कृतम्।
असमीक्ष्य सदाचारान् सार्धं पापानुबन्धनैः॥ ७॥

'तूने ही सदाचारकी ओर लक्ष्य न रखकर पापासक्त पुरुषोंके सहित भयंकर विपत्तिके कारणभूत ये द्यूतक्रीड़ा आदि कार्य किये हैं॥ ७॥

कश्चान्यो भ्रातृभार्यां वै विप्रकर्तुं तथार्हति।
आनीय च सभां व्यक्तं यथोक्ता द्रौपदी त्वया॥ ८॥

'तेरे सिवा दूसरा कौन ऐसा अधम होगा, जो अपने बड़े भाईकी पत्नीको सभामें लाकर उसके साथ वैसा अनुचित बर्ताव करेगा। जैसा कि तूने द्रौपदीके प्रति स्पष्टरूपसे न कहने योग्य बातें कहकर दुर्व्यवहार किया है॥ ८॥

कुलीना शीलसम्पन्ना प्राणेभ्योऽपि गरीयसी।
महिषी पाण्डुपुत्राणां तथा विनिकृता त्वया॥ ९॥

'द्रौपदी उत्तम कुलमें उत्पन्न, शील और सदाचारसे सम्पन्न तथा पाण्डवोंके लिये प्राणोंसे भी अधिक आदरणीय उन सबकी महारानी है। तथापि तूने उसके प्रति अत्याचार किया॥ ९॥

जानन्ति कुरवः सर्वे यथोक्ताः कुरुसंसदि।
दुःशासनेन कौन्तेयाः प्रव्रजन्तः परंतपाः॥ १०॥

'जिस समय शत्रुओंको संताप देनेवाले कुन्तीकुमार पाण्डव वनको जा रहे थे, उस समय दुःशासनने कौरव-सभामें उनके प्रति जैसी कठोर बातें कही थीं, उन्हें सभी कौरव जानते हैं॥ १०॥

सम्यग्वृत्तेष्वलुब्धेषु सततं धर्मचारिषु।
स्वेषु बन्धुषु कः साधुश्चरेदेवमसाम्प्रतम्॥ ११॥

'सदा धर्ममें ही तत्पर रहनेवाले लोभरहित सदाचारी अपने बन्धुओंके प्रति कौन साधु पुरुष ऐसा अयोग्य बर्ताव करेगा?॥ ११॥

नृशंसानामनार्याणां पुरुषाणां च भाषणम्।
कर्णदुःशासनाभ्यां च त्वया च बहुशः कृतम्॥ १२॥

'दुर्योधन! तूने कर्ण और दुःशासनके साथ अनेक बार निर्दयी तथा अनार्य पुरुषोंकी-सी बातें कही हैं॥ १२॥

सह मात्रा प्रदग्धुं तान् बालकान् वारणावते।
आस्थितः परमं यत्नं न समृद्धं च तत् तव॥ १३॥

'तूने वारणावत नगरमें बाल्यावस्थामें पाण्डवोंको उनकी मातासहित जला डालनेका महान् प्रयत्न किया था, परंतु तेरा वह उद्देश्य सफल न हो सका॥ १३॥

ऊषुश्च सुचिरं कालं प्रच्छन्नाः पाण्डवास्तदा।
मात्रा सहैकचक्रायां ब्राह्मणस्य निवेशने॥ १४॥

'उन दिनों पाण्डव अपनी माताके साथ सुदीर्घकालतक एकचक्रा नगरीमें किसी ब्राह्मणके घरमें छिपे रहे॥ १४॥

विषेण सर्पबन्धैश्च यतिताः पाण्डवास्त्वया।
सर्वोपायैर्विनाशाय न समृद्धं च तत् तव॥ १५॥

'तूने (भीमसेनको) विष देकर, सर्पसे कटाकर और बँधे हुए हाथ-पैरोंसहित जलमें डुबाकर इन सभी उपायोंद्वारा पाण्डवोंको नष्ट कर देनेका प्रयत्न किया है, परंतु तेरा यह प्रयास भी सफल न हो सका ॥ १५ ॥

एवं बुद्धिः पाण्डवेषु मिथ्यावृत्तिः सदा भवान् ।
कथं ते नापराधोऽस्ति पाण्डवेषु महात्मसु ॥ १६ ॥

'ऐसे ही विचार रखकर तू पाण्डवोंके प्रति सदा कपटपूर्ण बर्ताव करता आया है, फिर कैसे मान लिया जाय कि महात्मा पाण्डवोंके प्रति तेरा कोई अपराध ही नहीं है ॥ १६ ॥

यच्चैभ्यो याचमानेभ्यः पित्र्यमंशं न दित्ससि ।
तच्च पाप प्रदातासि भ्रष्टैश्वर्यो निपातितः ॥ १७ ॥

'पापात्मन् ! तू याचना करनेपर इन पाण्डवोंको जो पैतृक राज्य-भाग नहीं देना चाहता है, वही तुझे उस समय देना पड़ेगा, जब कि रणभूमिमें धराशायी होकर तू ऐश्वर्यसे भ्रष्ट हो जायगा ॥ १७ ॥

कृत्वा बहून्यकार्याणि पाण्डवेषु नृशंसवत् ।
मिथ्यावृत्तिरनार्यः सन्नद्य विप्रतिपद्यसे ॥ १८ ॥

'क्रूरकर्मी मनुष्योंकी भाँति तू पाण्डवोंके प्रति बहुत-से अयोग्य बर्ताव करके मिथ्याचारी और अनार्य होकर भी आज अपने उन अपराधोंके प्रति अनभिज्ञता प्रकट करता है ॥१८॥

मातापितृभ्यां भीष्मेण द्रोणेन विदुरेण च ।
शाम्येति मुहुरुक्तोऽसि न च शाम्यसि पार्थिव ॥ १९ ॥

'माता-पिता, भीष्म, द्रोण और विदुर सबने तुझसे बार-बार कहा है कि तू संधि कर ले—शान्त हो जा, परंतु भूपाल ! तू शान्त होनेका नाम ही नहीं लेता ॥ १९ ॥

शमे हि सुमहाँल्लाभस्तव पार्थस्य चोभयोः ।
न च रोचयसे राजन् किमन्यद् बुद्धिलाघवात् ॥ २० ॥

'राजन् ! शान्ति स्थापित होनेपर तेरा और युधिष्ठिरका दोनोंका ही महान् लाभ है, परंतु तुझे यह प्रस्ताव अच्छा नहीं लगता। इसे बुद्धिकी मन्दताके सिवा और क्या कहा जा सकता है ? ॥

न शर्म प्राप्स्यसे राजन्नुत्क्रम्य सुहृदां वचः ।
अधर्म्यमयशस्यं च क्रियते पार्थिव त्वया ॥ २१ ॥

राजन् ! तू हितैषी सुहृदोंकी आज्ञाका उल्लंघन करके कल्याणका भागी नहीं हो सकेगा। भूपाल ! तू सदा अधर्म और अपयशका कार्य करता है' ॥ २१ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवं ब्रुवति दाशार्हे दुर्योधनममर्षणम् ।
दुःशासन इदं वाक्यमब्रवीत् कुरुसंसदि ॥ २२ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जिस समय भगवान् श्रीकृष्ण ये सब बातें कह रहे थे, उसी समय दुःशासनने बीचमें ही अमर्षशील दुर्योधनसे कौरव-सभामें ही कहा—॥

न चेत् संधास्यसे राजन् स्वेन कामेन पाण्डवैः ।
बद्ध्वा किल त्वां दास्यन्ति कुन्तीपुत्राय कौरवाः ॥ २३ ॥

राजन् ! यदि आप अपनी इच्छासे पाण्डवोंके साथ संधि नहीं करेंगे तो जान पड़ता है, कौरवलोग आपको बाँधकर कुन्तीपुत्र युधिष्ठिरके हाथमें सौंप देंगे ॥ २३ ॥

वैकर्तनं त्वां च मां च त्रीनेतान् मनुजर्षभ ।
पाण्डवेभ्यः प्रदास्यन्ति भीष्मो द्रोणः पिता च ते ॥ २४ ॥

'नरश्रेष्ठ ! पितामह भीष्म, आचार्य द्रोण और पिताजी—ये कर्णको, आपको और मुझे—इन तीनोंको ही पाण्डवोंके अधिकारमें दे देंगे' ॥ २४ ॥

भ्रातुरेतद् वचः श्रुत्वा धार्तराष्ट्रः सुयोधनः ।
क्रुद्धः प्रातिष्ठतोत्थाय महानाग इव श्वसन् ॥ २५ ॥
विदुरं धृतराष्ट्रं च महाराजं च बाह्लिकम् ।
कृपं च सोमदत्तं च भीष्मं द्रोणं जनार्दनम् ॥ २६ ॥
सर्वानेताननादृत्य दुर्मतिर्निरपत्रपः ।
अशिष्टवदमर्यादो मानी मान्यावमानिता ॥ २७ ॥

भाईकी यह बात सुनकर धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधन अत्यन्त कुपित हो फुफकारते हुए महान् सर्पकी भाँति लम्बी साँसें खींचता हुआ वहाँसे उठकर चल दिया। वह दुर्बुद्धि, निर्लज्ज, अशिष्ट पुरुषोंकी भाँति मर्यादाशून्य, अभिमानी तथा माननीय पुरुषोंका अपमान करनेवाला था। वह विदुर, धृतराष्ट्र, महाराज बाह्लीक, कृपाचार्य, सोमदत्त, भीष्म, द्रोणाचार्य और भगवान् श्रीकृष्ण—इन सबका अनादर करके वहाँसे चल पड़ा ॥ २५–२७ ॥

तं प्रस्थितमभिप्रेक्ष्य भ्रातरो मनुजर्षभम् ।
अनुजग्मुः सहामात्या राजानश्चापि सर्वशः ॥ २८ ॥

नरश्रेष्ठ दुर्योधनको वहाँसे जाते देख उसके भाई, मन्त्री तथा सहयोगी नरेश सब-के-सब उठकर उसके साथ चल दिये ॥ २८ ॥

सभायामुत्थितं क्रुद्धं प्रस्थितं भ्रातृभिः सह ।
दुर्योधनमभिप्रेक्ष्य भीष्मः शान्तनवोऽब्रवीत् ॥ २९ ॥

इस प्रकार क्रोधमें भरे हुए दुर्योधनको भाइयोंसहित सभासे उठकर जाते देख शान्तनुनन्दन भीष्मने कहा—॥२९॥

धर्मार्थावभिसंत्यज्य संरम्भं योऽनुमन्यते ।
हसन्ति व्यसने तस्य दुर्हृदो नचिरादिव ॥ ३० ॥

'जो धर्म और अर्थका परित्याग करके क्रोधका ही अनुसरण करता है, उसे शीघ्र ही विपत्तिमें पड़ा देख उसके शत्रुगण हँसी उड़ाते हैं ॥ ३० ॥

दुरात्मा राजपुत्रोऽयं धार्तराष्ट्रोऽनुपायकृत् ।
मिथ्याभिमानी राज्यस्य क्रोधलोभवशानुगः ॥ ३१ ॥

'राजा धृतराष्ट्रका यह दुरात्मा पुत्र दुर्योधन लक्ष्यसिद्धिके उपायके विपरीत कार्य करनेवाला तथा क्रोध और लोभके

वशीभूत रहनेवाला है। इसे राजा होनेका मिथ्या अभिमान है ॥ ३१ ॥

कालपक्वमिदं मन्ये सर्वं क्षत्रं जनार्दन।
सर्वे ह्यनुसृता मोहात् पार्थिवाः सह मन्त्रिभिः ॥ ३२ ॥

'जनार्दन! मैं समझता हूँ कि ये समस्त क्षत्रियगण कालसे पके हुए फलकी भाँति मौतके मुँहमें जानेवाले हैं। तभी तो ये सब-के-सब मोहवश अपने मन्त्रियोंके साथ दुर्योधन-का अनुसरण करते हैं' ॥ ३२ ॥

भीष्मस्याथ वचः श्रुत्वा दाशार्हः पुष्करेक्षणः।
भीष्मद्रोणमुखान् सर्वानभ्यभाषत वीर्यवान् ॥ ३३ ॥

भीष्मका यह कथन सुनकर महापराक्रमी दशार्हकुल-नन्दन कमलनयन श्रीकृष्णने भीष्म और द्रोण आदि सब लोगोंसे इस प्रकार कहा—॥ ३३ ॥

सर्वेषां कुरुवृद्धानां महानयमतिक्रमः।
प्रसह्य मन्दमैश्वर्ये न नियच्छत यन्नृपम् ॥ ३४ ॥

'कुरुकुलके सभी बड़े-बूढ़ों लोगोंका यह बहुत बड़ा अन्याय है कि आपलोग इस मूर्ख दुर्योधनको राजाके पदपर बिठाकर अब इसका बलपूर्वक नियन्त्रण नहीं कर रहे हैं ॥ ३४ ॥

तत्र कार्यमहं मन्ये कालप्राप्तमरिंदमाः।
क्रियमाणे भवेच्छ्रेयस्तत् सर्वं शृणुतानघाः ॥ ३५ ॥

'शत्रुओंका दमन करनेवाले निष्पाप कौरवो! इस विषय-में मैंने समयोचित कर्तव्यका निश्चय कर लिया है, जिसका पालन करनेपर सबका भला होगा। वह सब मैं बता रहा हूँ, आपलोग सुनें ॥ ३५ ॥

प्रत्यक्षमेतद् भवतां यद् वक्ष्यामि हितं वचः।
भवतामानुकूल्येन यदि रोचेत भारताः ॥ ३६ ॥

'मैं तो हितकी बात बताने जा रहा हूँ। उसका आप-लोगोंको भी प्रत्यक्ष अनुभव है। भरतवंशियो! यदि वह आपके अनुकूल होनेके कारण ठीक जान पड़े तो आप उसे काममें ला सकते हैं ॥ ३६ ॥

भोजराजस्य वृद्धस्य दुराचारो ह्यनात्मवान्।
जीवतः पितुरैश्वर्यं हृत्वा मृत्युवशं गतः ॥ ३७ ॥

'बूढ़े भोजराज उग्रसेनका पुत्र कंस बड़ा दुराचारी एवं अजितेन्द्रिय था। वह अपने पिताके जीते-जी उनका सारा ऐश्वर्य लेकर स्वयं राजा बन बैठा था, जिसका परिणाम यह हुआ कि वह मृत्युके अधीन हो गया ॥ ३७ ॥

उग्रसेनसुतः कंसः परित्यक्तः स बान्धवैः।
ज्ञातीनां हितकामेन मया शस्तो महामृधे ॥ ३८ ॥

'समस्त भाई-बन्धुओंने उसका त्याग कर दिया था, अतः सजातीय बन्धुओंके हितकी इच्छासे मैंने महान् युद्धमें उस उग्रसेनपुत्र कंसको मार डाला ॥ ३८ ॥

आहुकः पुनरस्माभिर्ज्ञातिभिश्चापि सत्कृतः।
उग्रसेनः कृतो राजा भोजराजन्यवर्धनः ॥ ३९ ॥

'तदनन्तर हम सब कुटुम्बीजनोंने मिलकर भोजवंशी क्षत्रियोंकी उन्नति करनेवाले आहुक उग्रसेनको सत्कारपूर्वक पुनः राजा बना दिया ॥ ३९ ॥

कंसमेकं परित्यज्य कुलार्थे सर्वयादवाः।
सम्भूय सुखमेधन्ते भारतान्धकवृष्णयः ॥ ४० ॥

'भरतनन्दन! कुलकी रक्षाके लिये एकमात्र कंसका परित्याग करके अन्धक और वृष्णि आदि कुलोंके समस्त यादव परस्पर संगठित हो सुखसे रहते और उत्तरोत्तर उन्नति कर रहे हैं ॥ ४० ॥

अपि चाप्यवदद् राजन् परमेष्ठी प्रजापतिः।
व्यूढे देवासुरे युद्धेऽभ्युद्यतेष्वायुधेषु च ॥ ४१ ॥
द्वैधीभूतेषु लोकेषु विनश्यत्सु च भारत।
अब्रवीत् सृष्टिमान् देवो भगवाँल्लोकभावनः ॥ ४२ ॥
पराभविष्यन्त्यसुरा दैतेया दानवैः सह।
आदित्या वसवो रुद्रा भविष्यन्ति दिवौकसः ॥ ४३ ॥
देवासुरमनुष्याश्च गन्धर्वोरगराक्षसाः।
अस्मिन् युद्धे सुसंक्रुद्धा हनिष्यन्ति परस्परम् ॥ ४४ ॥

'राजन्! इसके सिवा एक और उदाहरण लीजिये। एक समय प्रजापति ब्रह्माजीने जो बात कही थी, वही बता रहा हूँ। देवता और असुर युद्धके लिये मोर्चे बाँधकर खड़े थे। सबके अस्त्र-शस्त्र प्रहारके लिये ऊपर उठ गये थे। सारा संसार दो भागोंमें बँटकर विनाशके गर्तमें गिरना चाहता था। भारत! उस अवस्थामें सृष्टिकी रचना करनेवाले लोक-भावन भगवान् ब्रह्माजीने स्पष्टरूपसे बता दिया कि इस युद्ध-में दानवोंसहित दैत्यों तथा असुरोंकी पराजय होगी। आदित्य, वसु तथा रुद्र आदि देवता विजयी होंगे। देवता, असुर, मनुष्य, गन्धर्व, नाग तथा राक्षस—ये युद्धमें अत्यन्त कुपित होकर एक दूसरेका वध करेंगे ॥ ४१—४४ ॥

इति मत्वाब्रवीद् धर्मं परमेष्ठी प्रजापतिः।
वरुणाय प्रयच्छैतान् बद्ध्वा दैतेयदानवान् ॥ ४५ ॥

'यह भावी परिणाम जानकर परमेष्ठी प्रजापति ब्रह्माने धर्मराजसे यह बात कही—'तुम इन दैत्यों और दानवोंको बाँध-कर वरुणदेवको सौंप दो' ॥ ४५ ॥

एवमुक्तस्ततो धर्मो नियोगात् परमेष्ठिनः।
वरुणाय ददौ सर्वान् बद्ध्वा दैतेयदानवान् ॥ ४६ ॥

'उनके ऐसा कहनेपर धर्मने ब्रह्माजीकी आज्ञाके अनुसार सम्पूर्ण दैत्यों और दानवोंको बाँधकर वरुणको सौंप दिया ॥ ४६ ॥

तान् बद्ध्वा धर्मपाशैश्च स्वैश्च पाशैर्जलेश्वरः।
वरुणः सागरे यत्तो नित्यं रक्षति दानवान् ॥ ४७ ॥

'तबसे जलके स्वामी वरुण उन्हें धर्मपाश एवं वारुण-

पाशमें बाँधकर प्रतिदिन सावधान रहकर उन दानवोंको समुद्रकी सीमामें ही रखते हैं ॥ ४७ ॥

तथा दुर्योधनं कर्णं शकुनिं चापि सौबलम्।
बद्ध्वा दुःशासनं चापि पाण्डवेभ्यः प्रयच्छथ ॥ ४८ ॥

'भरतवंशियो ! उसी प्रकार आपलोग दुर्योधन, कर्ण, सुबलपुत्र शकुनि तथा दुःशासनको बंदी बनाकर पाण्डवोंके हाथमें दे दें ॥ ४८ ॥

त्यजेत् कुलार्थे पुरुषं ग्रामस्यार्थे कुलं त्यजेत्।
ग्रामं जनपदस्यार्थे आत्मार्थे पृथिवीं त्यजेत् ॥ ४९ ॥

'समस्त कुलकी भलाईके लिये एक पुरुषको, एक गाँवके हितके लिये कुलको, जनपदके भलेके लिये एक गाँवको और आत्मकल्याणके लिये समस्त भूमण्डलको त्याग दे ॥ ४९ ॥

राजन् दुर्योधनं बद्ध्वा ततः संशाम्य पाण्डवैः।
त्वत्कृते न विनश्येयुः क्षत्रियाः क्षत्रियर्षभ ॥ ५० ॥

'राजन् ! आप दुर्योधनको कैद करके पाण्डवोंसे संधि कर लें। क्षत्रियशिरोमणे ! ऐसा न हो कि आपके कारण समस्त क्षत्रियोंका विनाश हो जाय' ॥ ५० ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि कृष्णवाक्ये अष्टाविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १२८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें श्रीकृष्णवाक्यविषयक एक सौ अट्ठाईसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥१२८॥

एकोनत्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः

धृतराष्ट्रका गान्धारीको बुलाना और उसका दुर्योधनको समझाना

वैशम्पायन उवाच

कृष्णस्य तु वचः श्रुत्वा धृतराष्ट्रो जनेश्वरः।
विदुरं सर्वधर्मज्ञं त्वरमाणोऽभ्यभाषत ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! श्रीकृष्णका यह कथन सुनकर राजा धृतराष्ट्रने सम्पूर्ण धर्मोंके ज्ञाता विदुरसे शीघ्रतापूर्वक कहा—॥ १ ॥

गच्छ तात महाप्राज्ञां गान्धारीं दीर्घदर्शिनीम्।
आनयेह तया सार्धमनुनेष्यामि दुर्मतिम् ॥ २ ॥

'तात ! जाओ, परम बुद्धिमती और दूरदर्शिनी गान्धारीदेवीको यहाँ बुला लाओ। मैं उसीके साथ इस दुर्बुद्धिको समझा-बुझाकर राहपर लानेकी चेष्टा करूँगा ॥ २ ॥

यदि सापि दुरात्मानं शमयेद् दुष्टचेतसम्।
अपि कृष्णस्य सुहृदस्तिष्ठेम वचने वयम् ॥ ३ ॥

'यदि वह भी उस दुष्टचित्त दुरात्माको शान्त कर सके तो हमलोग अपने सुहृद् श्रीकृष्णकी आज्ञाका पालन कर सकते हैं॥

अपि लोभाभिभूतस्य पन्थानमनुदर्शयेत्।
दुर्बुद्धेर्दुःसहायस्य शमार्थं ब्रुवती वचः ॥ ४ ॥

'दुर्योधन लोभके अधीन हो रहा है। उसकी बुद्धि दूषित हो गयी है और उसके सहायक दुष्ट स्वभावके ही हैं। सम्भव है, गान्धारी शान्तिस्थापनके लिये कुछ कहकर उसे सन्मार्गका दर्शन करा सके ॥ ४ ॥

अपि नो व्यसनं घोरं दुर्योधनकृतं महत्।
शमयेच्चिररात्राय योगक्षेमवदव्ययम् ॥ ५ ॥

'यदि ऐसा हुआ तो दुर्योधनके द्वारा उपस्थित किया हुआ हमारा महान् एवं भयंकर संकट दीर्घकालके लिये शान्त हो जायगा और चिरस्थायी योगक्षेमकी प्राप्ति सुलभ होगी' ॥ ५ ॥

राज्ञस्तु वचनं श्रुत्वा विदुरो दीर्घदर्शिनीम्।
आनयामास गान्धारीं धृतराष्ट्रस्य शासनात् ॥ ६ ॥

राजाकी यह बात सुनकर विदुर धृतराष्ट्रके आदेशसे दूरदर्शिनी गान्धारीदेवीको वहाँ बुला ले आये ॥ ६ ॥

धृतराष्ट्र उवाच

एष गान्धारि पुत्रस्ते दुरात्मा शासनातिगः।
ऐश्वर्यलोभादैश्वर्यं जीवितं च प्रहास्यति ॥ ७ ॥

उस समय धृतराष्ट्रने कहा—गान्धारि ! तुम्हारा वह दुरात्मा पुत्र गुरुजनोंकी आज्ञाका उल्लङ्घन कर रहा है। वह ऐश्वर्यके लोभमें पड़कर राज्य और प्राण दोनों गँवा देगा ॥ ७ ॥

अशिष्टवदमर्यादः पापैः सह दुरात्मवान्।
सभाया निर्गतो मूढो व्यतिक्रम्य सुहृद्वचः ॥ ८ ॥

मर्यादाका उल्लङ्घन करनेवाला वह मूढ़ दुरात्मा अशिष्ट पुरुषकी भाँति हितैषी सुहृदोंकी आज्ञाको ठुकराकर अपने पापी साथियोंके साथ सभासे बाहर निकल गया है ॥ ८ ॥

वैशम्पायन उवाच

सा भर्तृवचनं श्रुत्वा राजपुत्री यशस्विनी।
अन्विच्छन्ती महच्छ्रेयो गान्धारी वाक्यमब्रवीत् ॥ ९ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! पतिका यह वचन सुनकर यशस्विनी राजपुत्री गान्धारी महान् कल्याणका अनुसंधान करती हुई इस प्रकार बोली ॥ ९ ॥

गान्धार्युवाच

आनायय सुतं क्षिप्रं राज्यकामुकमातुरम्।
न हि राज्यमशिष्टेन शक्यं धर्मार्थलोपिना ॥ १० ॥
आप्तुमाप्तं तथापीदमविनीतेन सर्वथा।

गान्धारीने कहा—महाराज ! राज्यकी कामनासे आतुर हुए अपने पुत्रको शीघ्र बुलवाइये। धर्म और अर्थका लोप करनेवाला कोई भी अशिष्ट पुरुष राज्य नहीं पा सकता, तथापि सर्वथा उद्दण्डताका परिचय देनेवाले उस दुष्टने राज्यको प्राप्त कर लिया है ॥ १०½ ॥

त्वं ह्येवात्र भृशं गर्ह्यो धृतराष्ट्र सुतप्रियः ॥ ११ ॥
यो जानन् पापतामस्य तत्प्रज्ञामनुवर्तसे।

महाराज ! आपको अपना बेटा बहुत प्रिय है, अतः वर्तमान परिस्थितिके लिये आप ही अत्यन्त निन्दनीय हैं; क्योंकि आप उसके पापपूर्ण विचारोंको जानते हुए भी सदा उसीकी बुद्धिका अनुसरण करते हैं ॥ ११½ ॥

स एष काममन्युभ्यां प्रलब्धो लोभमास्थितः ॥ १२ ॥
अशक्योऽद्य त्वया राजन् विनिवर्तयितुं बलात्।

राजन् ! इस दुर्योधनको काम और क्रोधने अपने वशमें कर लिया है, यह लोभमें फँस गया है; अतः आज आपका इसे बलपूर्वक पीछे लौटाना असम्भव है ॥ १२½ ॥

राष्ट्रप्रदाने मूढस्य बालिशस्य दुरात्मनः ॥ १३ ॥
दुःसहायस्य लुब्धस्य धृतराष्ट्रोऽश्नुते फलम्।

दुष्ट सहायकोंसे युक्त, मूढ़, अज्ञानी, लोभी और दुरात्मा पुत्रको अपना राज्य सौंप देनेका फल महाराज धृतराष्ट्र स्वयं भोग रहे हैं ॥ १३½ ॥

कथं हि स्वजने भेदमुपेक्षेत महीपतिः।
भिन्नं हि स्वजनेन त्वां प्रहसिष्यन्ति शत्रवः ॥ १४ ॥
या हि शक्या महाराज साम्ना भेदेन वा पुनः।
निस्तर्तुमापदः स्वेषु दण्डं कस्तत्र पातयेत् ॥ १५ ॥

कोई भी राजा स्वजनोंमें फैलती हुई फूटकी उपेक्षा कैसे कर सकता है ? राजन् ! स्वजनोंमें फूट डालकर उनसे विलग होनेवाले आपकी सभी शत्रु हँसी उड़ायेंगे। महाराज ! जिस आपत्तिको साम अथवा भेदनीतिसे पार किया जा सकता है, उसके लिये आत्मीयजनोंपर दण्डका प्रयोग कौन करेगा ? ॥ १४-१५ ॥

वैशम्पायन उवाच

शासनाद् धृतराष्ट्रस्य दुर्योधनममर्षणम्।
मातुश्च वचनात् क्षत्ता सभां प्रावेशयत् पुनः ॥ १६ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! पिता धृतराष्ट्रके आदेश और माता गान्धारीकी आज्ञासे विदुर असहिष्णु दुर्योधनको पुनः सभामें बुला ले आये ॥ १६ ॥

स मातुर्वचनाकाङ्क्षी प्रविवेश पुनः सभाम्।
अभिताम्रेक्षणः क्रोधान्निःश्वसन्निव पन्नगः ॥ १७ ॥

दुर्योधनकी आँखें क्रोधसे लाल हो रही थीं। वह फुफकारते हुए सर्पकी भाँति लम्बी साँसें खींचता हुआ माताकी बात सुननेकी इच्छासे सभाभवनमें पुनः प्रविष्ट हुआ ॥ १७ ॥

तं प्रविष्टमभिप्रेक्ष्य पुत्रमुत्पथमास्थितम्।
विगर्हमाणा गान्धारी शमार्थं वाक्यमब्रवीत् ॥ १८ ॥

अपने कुमार्गगामी पुत्रको पुनः सभाके भीतर आया देख गान्धारी उसकी निन्दा करती हुई शान्तिस्थापनके लिये इस प्रकार बोली—॥ १८ ॥

दुर्योधन निबोधेदं वचनं मम पुत्रक।
हितं ते सानुबन्धस्य तथाऽऽयत्यां सुखोदयम् ॥ १९ ॥

'बेटा दुर्योधन ! मेरी यह बात सुनो। जो सगे-सम्बन्धियोंसहित तुम्हारे लिये हितकारक और भविष्यमें सुखकी प्राप्ति करानेवाली है ॥ १९ ॥

दुर्योधन यदाह त्वां पिता भरतसत्तम।
भीष्मो द्रोणः कृपः क्षत्ता सुहृदां कुरु तद् वचः ॥ २० ॥

'भरतश्रेष्ठ दुर्योधन ! तुम्हारे पिता, पितामह भीष्म, आचार्य द्रोण, कृपाचार्य और विदुर तुमसे जो कुछ कहते हैं, अपने इन सुहृदोंकी वह बात मान लो ॥ २० ॥

भीष्मस्य तु पितुश्चैव मम चापचितिः कृता।
भवेद् द्रोणमुखानां च सुहृदां शाम्यता त्वया ॥ २१ ॥

'यदि तुम शान्त हो जाओगे तो तुम्हारे द्वारा भीष्मकी, पिताजीकी, मेरी तथा द्रोण आदि अन्य हितैषी सुहृदोंकी भी पूजा सम्पन्न हो जायगी ॥ २१ ॥

न हि राज्यं महाप्राज्ञ स्वेन कामेन शक्यते।
अवाप्तुं रक्षितुं वापि भोक्तुं भरतसत्तम ॥ २२ ॥

'भरतश्रेष्ठ ! महामते ! कोई भी अपनी इच्छामात्रसे राज्यकी प्राप्ति, रक्षा अथवा उपभोग नहीं कर सकता ॥ २२ ॥

न ह्यवश्येन्द्रियो राज्यमश्नीयाद् दीर्घमन्तरम्।
विजितात्मा तु मेधावी स राज्यमभिपालयेत् ॥ २३ ॥

'जिसने अपनी इन्द्रियोंको वशमें नहीं किया है, वह दीर्घकालतक राज्यका उपभोग नहीं कर सकता। जिसने अपने मनको जीत लिया है, वह मेधावी पुरुष ही राज्यकी रक्षा कर सकता है ॥ २३ ॥

कामक्रोधौ हि पुरुषमर्थेभ्यो व्यपकर्षतः।
तौ तु शत्रू विनिर्जित्य राजा विजयते महीम् ॥ २४ ॥

'काम और क्रोध मनुष्यको धनसे दूर खींच ले जाते हैं। उन दोनों शत्रुओंको जीत लेनेपर राजा इस पृथ्वीपर विजय पाता है ॥ २४ ॥



दुर्योधनको गान्धारीकी फटकार

लोकेश्वर प्रभुत्वं हि महदेतद् दुरात्मभिः ।
राज्यं नामेप्सितं स्थानं न शक्यमभिरक्षितुम् ॥ २५ ॥

'जनेश्वर ! यह महान् प्रभुत्व ही राज्य नामक अभीष्ट स्थान है। जिनकी अन्तरात्मा दूषित है, वे इसकी रक्षा नहीं कर सकते ॥ २५ ॥

इन्द्रियाणि महत्प्रेप्सुर्नियच्छेदर्थधर्मयोः ।
इन्द्रियैर्नियतैर्बुद्धिर्वर्धतेऽग्निरिवेन्धनैः ॥ २६ ॥

'महत्पदको प्राप्त करनेकी इच्छावाला पुरुष अपनी इन्द्रियोंको अर्थ और धर्ममें नियन्त्रित करे। इन्द्रियोंको जीत लेनेपर बुद्धि उसी प्रकार बढ़ती है, जैसे ईंधन डालनेसे आग प्रज्वलित हो उठती है ॥ २६ ॥

अविधेयानि हीमानि व्यापादयितुमप्यलम् ।
अविधेया इवादान्ता हयाः पथि कुसारथिम् ॥ २७ ॥

'जैसे उद्दण्ड घोड़े काबूमें न होनेपर मूर्ख सारथिको मार्गमें ही मार डालते हैं, उसी प्रकार यदि इन इन्द्रियोंको काबूमें न रक्खा जाय तो ये मनुष्यका नाश करनेके लिये भी पर्याप्त हैं ॥ २७ ॥

अविजित्य य आत्मानममात्यान् विजिगीषते ।
अमित्रान् वाजितामात्यः सोऽवशः परिहीयते ॥ २८ ॥

'जो पहले अपने मनको न जीतकर मन्त्रियोंको जीतनेकी इच्छा करता है अथवा मन्त्रियोंको जीते बिना शत्रुओंको जीतना चाहता है, वह विवश होकर राज्य और जीवन दोनोंसे वञ्चित हो जाता है ॥ २८ ॥

आत्मानमेव प्रथमं द्वेष्यरूपेण योजयेत् ।
ततोऽमात्यानमित्रांश्च न मोघं विजिगीषते ॥ २९ ॥

'अतः पहले अपने मनको ही शत्रुके स्थानपर रखकर इसे जीते। तत्पश्चात् मन्त्रियों और शत्रुओंपर विजय पानेकी इच्छा करे। ऐसा करनेसे उसकी विजय पानेकी अभिलाषा कभी व्यर्थ नहीं होती है ॥ २९ ॥

वश्येन्द्रियं जितामात्यं धृतदण्डं विकारिषु ।
परीक्ष्यकारिणं धीरमत्यर्थं श्रीर्निषेवते ॥ ३० ॥

'जिसने अपनी इन्द्रियोंको वशमें कर रक्खा है, मन्त्रियोंपर विजय पा ली है तथा जो अपराधियोंको दण्ड प्रदान करता है, खूब सोच-समझकर कार्य करनेवाले उस धीर पुरुषकी लक्ष्मी अत्यन्त सेवा करती है ॥ ३० ॥

क्षुद्राक्षेणेव जालेन झषावपिहितावुभौ ।
कामक्रोधौ शरीरस्थौ प्रज्ञानं तौ विलुम्पतः ॥ ३१ ॥

'छोटे छिद्रवाले जालसे ढकी हुई दो मछलियोंकी भाँति ये काम और क्रोध भी शरीरके भीतर ही छिपे हुए हैं, जो मनुष्यके ज्ञानको नष्ट कर देते हैं ॥ ३१ ॥

याभ्यां हि देवाः स्वर्यातुः स्वर्गस्य पिदधुर्मुखम् ।
बिभ्यतोऽनुपरागस्य कामक्रोधौ स्म वर्धितौ ॥ ३२ ॥

'इन्हीं दोनों (काम और क्रोध) के द्वारा देवताओंने स्वर्गमें जानेवाले पुरुषके लिये उस लोकका दरवाजा बंद कर रक्खा है। वीतराग पुरुषसे डरकर ही देवताओंने स्वर्गप्राप्तिके प्रतिबन्धक काम और क्रोधकी वृद्धि की है ॥ ३२ ॥

कामं क्रोधं च लोभं च दम्भं दर्पं च भूमिपः ।
सम्यग्विजेतुं यो वेद स महीमभिजायते ॥ ३३ ॥

'जो राजा काम, क्रोध, लोभ, दम्भ और दर्पको अच्छी तरह जीतनेकी कला जानता है, वही इस पृथ्वीका शासन कर सकता है ॥ ३३ ॥

सततं निग्रहे युक्त इन्द्रियाणां भवेन्नृपः ।
ईप्सन्नर्थं च धर्मं च द्विषतां च पराभवम् ॥ ३४ ॥

'अतः अर्थ, धर्म तथा शत्रुओंका पराभव चाहनेवाले राजाको सदा अपनी इन्द्रियोंको काबूमें रखनेका प्रयत्न करना चाहिये ॥ ३४ ॥

कामाभिभूतः क्रोधाद् वा यो मिथ्या प्रतिपद्यते ।
स्वेषु चान्येषु वा तस्य न सहाया भवन्त्युत ॥ ३५ ॥

'जो राजा काम अथवा क्रोधसे अभिभूत होकर स्वजनों या दूसरोंके प्रति मिथ्या बर्ताव (कपट एवं अन्याययुक्त आचरण) करता है, उसके कोई सहायक नहीं होते हैं ॥ ३५ ॥

एकीभूतैर्महाप्राज्ञैः शूरैररिनिबर्हणैः ।
पाण्डवैः पृथिवीं तात भोक्ष्यसे सहितः सुखी ॥ ३६ ॥

'तात ! पाण्डव परस्पर संगठित होनेके कारण एकीभूत हो गये हैं। वे परम ज्ञानी, शूरवीर तथा शत्रुसंहारमें समर्थ हैं। तुम उनके साथ मिलकर सुखपूर्वक इस पृथ्वीका राज्य भोग सकोगे ॥ ३६ ॥

यथा भीष्मः शान्तनवो द्रोणश्चापि महारथः ।
आहतुस्तात तत् सत्यमजेयौ कृष्णपाण्डवौ ॥ ३७ ॥

'तात ! शान्तनुनन्दन भीष्म तथा महारथी द्रोणाचार्य जैसा कह रहे हैं, वह सर्वथा सत्य है। वास्तवमें श्रीकृष्ण और अर्जुन अजेय हैं ॥ ३७ ॥

प्रपद्यस्व महाबाहुं कृष्णमक्लिष्टकारिणम् ।
प्रसन्नो हि सुखाय स्यादुभयोरेव केशवः ॥ ३८ ॥

'अतः अनायास ही महान् कर्म करनेवाले महाबाहु भगवान् श्रीकृष्णकी शरण लो; क्योंकि भगवान् केशव प्रसन्न होनेपर दोनों ही पक्षोंको सुखी बना सकते हैं ॥ ३८ ॥

सुहृदामर्थकामानां यो न तिष्ठति शासने ।
प्राज्ञानां कृतविद्यानां स नरः शत्रुनन्दनः ॥ ३९ ॥

'जो मनुष्य अपना भला चाहनेवाले ज्ञानी एवं विद्वान् सुहृदोंके शासनमें नहीं रहता—उनके उपदेशके अनुसार नहीं चलता, वह शत्रुओंका आनन्द बढ़ानेवाला होता है ॥ ३९ ॥

न युद्धे तात कल्याणं न धर्मार्थौ कुतः सुखम् ।
न चापि विजयो नित्यं मा युद्धे चेत आधिथाः ॥ ४० ॥

'तात ! युद्ध करनेमें कल्याण नहीं है । उससे धर्म और अर्थकी भी प्राप्ति नहीं हो सकती, फिर सुख तो मिल ही कैसे सकता है ? युद्धमें सदा विजय ही हो, यह भी निश्चित नहीं है; अतः उसमें मन न लगाओ ॥ ४० ॥

भीष्मेण हि महाप्राज्ञ पित्रा ते बाह्लिकेन च ।
दत्तोंऽशः पाण्डुपुत्राणां भेदाद् भीतैररिंदम ॥ ४१ ॥

'शत्रुदमन ! महाप्राज्ञ ! आपसकी फूटके भयसे ही पितामह भीष्मने, तुम्हारे पिताने और महाराज बाह्लीकने भी पाण्डवों-को राज्यका भाग प्रदान किया है ॥ ४१ ॥

तस्य चैतत्प्रदानस्य फलमद्यानुपश्यसि ।
यद् भुङ्क्षे पृथिवीं कृत्स्नां शूरैर्निहतकण्टकाम् ॥ ४२ ॥

'उसीके देनेका आज तुम यह प्रत्यक्ष फल देखते हो कि उन शूरवीर पाण्डवोंद्वारा निष्कण्टक बनायी हुई इस सम्पूर्ण पृथ्वीका राज्य भोग रहे हो ॥ ४२ ॥

प्रयच्छ पाण्डुपुत्राणां यथोचितमरिंदम ।
यदीच्छसि सहामात्यो भोक्तुमर्धं प्रदीयताम् ॥ ४३ ॥

'शत्रुओंका दमन करनेवाले पुत्र ! यदि तुम अपने मन्त्रियोंसहित राज्य भोगना चाहते हो तो पाण्डवोंको उनका यथोचित भाग—आधा राज्य दे दो ॥ ४३ ॥

अलमर्धं पृथिव्यास्ते सहामात्यस्य जीवितुम् ।
सुहृदां वचने तिष्ठन् यशः प्राप्स्यसि भारत ॥ ४४ ॥

'भारत ! भूमण्डलका आधा राज्य मन्त्रियोंसहित तुम्हारे जीवननिर्वाहके लिये पर्याप्त है । तुम सुहृदोंकी आज्ञाके अनुसार चलकर सुयश प्राप्त करोगे ॥ ४४ ॥

श्रीमद्भिरात्मवद्भिस्तैर्बुद्धिमद्भिर्जितेन्द्रियैः ।
पाण्डवैर्विग्रहस्तात भ्रंशयेन्महतः सुखात् ॥ ४५ ॥

'तात ! श्रीमान्, मनस्वी, बुद्धिमान् तथा जितेन्द्रिय पाण्डवोंके साथ होनेवाला कलह तुम्हें महान् सुखसे वञ्चित कर देगा ॥ ४५ ॥

निगृह्य सुहृदां मन्युं शाधि राज्यं यथोचितम् ।
स्वमंशं पाण्डुपुत्रेभ्यः प्रदाय भरतर्षभ ॥ ४६ ॥

'भरतश्रेष्ठ ! तुम पाण्डवोंको उनका राज्यभाग देकर सुहृदोंके बढ़ते हुए क्रोधको शान्त कर दो और अपने राज्यका यथोचित रीतिसे शासन करते रहो ॥ ४६ ॥

अलमङ्ग निकारोऽयं त्रयोदश समाः कृतः ।
शमयैनं महाप्राज्ञ कामक्रोधसमेधितम् ॥ ४७ ॥

'बेटा ! पाण्डवोंको जो तेरह वर्षोंके लिये निर्वासित कर दिया गया, यही उनका महान् अपकार हुआ है । महामते ! तुम्हारे काम और क्रोधसे इस अपकारकी और भी वृद्धि हुई है । अब तुम संधिके द्वारा इसे शान्त कर दो ॥ ४७ ॥

न चैष शक्तः पार्थानां यस्त्वमर्थमभीप्ससि ।
सूतपुत्रो दृढक्रोधो भ्राता दुःशासनश्च ते ॥ ४८ ॥

'तुम जो कुन्तीके पुत्रोंका धन हड़प लेना चाहते हो, ऐसा करनेकी तुम्हारी शक्ति नहीं है । क्रोधको दृढ़तापूर्वक धारण करनेवाला सूतपुत्र कर्ण तथा तुम्हारा भाई दुःशासन—ये दोनों भी ऐसा करनेमें समर्थ नहीं हैं ॥ ४८ ॥

भीष्मे द्रोणे कृपे कर्णे भीमसेने धनंजये ।
धृष्टद्युम्ने च संक्रुद्धे न स्युः सर्वाः प्रजा ध्रुवम् ॥ ४९ ॥

'जिस समय भीष्म, द्रोण, कृपाचार्य, कर्ण तथा भीमसेन, अर्जुन और धृष्टद्युम्न—ये अत्यन्त कुपित होकर परस्पर युद्ध करेंगे, उस समय सारी प्रजाका विनाश अवश्यम्भावी है ॥ ४९ ॥

अमर्षवशमापन्नो मा कुरूंस्तात जीघनः ।
एषा हि पृथिवी कृत्स्ना मा गमत् त्वत्कृते वधम् ॥ ५० ॥

'तात ! तुम क्रोधके वशीभूत होकर समस्त कौरवोंका वध न कराओ । तुम्हारे लिये इस सम्पूर्ण भूमण्डलका विनाश न हो ॥ ५० ॥

यच्च त्वं मन्यसे मूढ भीष्मद्रोणकृपादयः ।
योत्स्यन्ते सर्वशक्त्येति नैतदद्योपपद्यते ॥ ५१ ॥

'मूढ़ ! तुम जो यह समझ रहे हो कि भीष्म, द्रोण और कृपाचार्य आदि अपनी पूरी शक्ति लगाकर मेरी ओरसे युद्ध करेंगे, यह इस समय कदापि सम्भव नहीं है ॥ ५१ ॥

समं हि राज्यं प्रीतिश्च स्थानं हि विदितात्मनाम् ।
पाण्डवेष्वथ युष्मासु धर्मस्त्वभ्यधिकस्ततः ॥ ५२ ॥

'क्योंकि इन आत्मज्ञानी पुरुषोंकी दृष्टिमें इस राज्यका पाण्डवों अथवा तुमलोगोंके पास रहना समान ही है । इनके हृदयमें दोनोंके लिये एक-सा ही प्रेम और स्थान है तथा राज्यसे भी बढ़कर ये धर्मको महत्त्व देते हैं ॥ ५२ ॥

राजपिण्डभयादेते यदि हास्यन्ति जीवितम् ।
न हि शक्ष्यन्ति राजानं युधिष्ठिरमुदीक्षितुम् ॥ ५३ ॥

'इस राज्यका इन्होंने जो अन्न खाया है, उसके भयसे यद्यपि ये तुम्हारी ओरसे लड़कर अपने प्राणोंका परित्याग कर देंगे, तथापि राजा युधिष्ठिरकी ओर कभी वक्र दृष्टिसे नहीं देख सकेंगे ॥ ५३ ॥

न लोभादर्थसम्पत्तिर्नराणामिह दृश्यते ।
तदलं तात लोभेन प्रशाम्य भरतर्षभ ॥ ५४ ॥

'तात भरतश्रेष्ठ ! इस संसारमें केवल लोभ करनेसे किसीको धनकी प्राप्ति होती नहीं दिखायी देती; अतः लोभसे कुछ सिद्ध होनेवाला नहीं है । तुम पाण्डवोंके साथ संधि कर लो' ॥ ५४ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि गान्धारीवाक्ये एकोनत्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १२९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें गान्धारीवाक्यविषयक एक सौ उन्तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १२९ ॥

त्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः

दुर्योधनके षड्यन्त्रका सात्यकिद्वारा भंडाफोड़, श्रीकृष्णकी सिंहगर्जना तथा धृतराष्ट्र और विदुरका दुर्योधनको पुनः समझाना

वैशम्पायन उवाच

तत् तु वाक्यमनादृत्य सोऽर्थवन्मातृभाषितम् ।
पुनः प्रतस्थे संरम्भात् सकाशमकृतात्मनाम् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! माताके कहे हुए उस नीतियुक्त वचनका अनादर करके दुर्योधन पुनः क्रोधपूर्वक वहाँसे उठकर उन्हीं अजितात्मा मन्त्रियोंके पास चला गया ॥ १ ॥

ततः सभाया निर्गम्य मन्त्रयामास कौरवः ।
सौबलेन मताक्षेण राज्ञा शकुनिना सह ॥ २ ॥

उस सभाभवनसे निकलकर दुर्योधनने द्यूतविद्याके जानकार सुबलपुत्र राजा शकुनिके साथ गुप्तरूपसे मन्त्रणा की ॥

दुर्योधनस्य कर्णस्य शकुनेः सौबलस्य च ।
दुःशासनचतुर्थानामिदमासीद् विचेष्टितम् ॥ ३ ॥

उस समय दुर्योधन, कर्ण, सुबलपुत्र शकुनि तथा दुःशासन—इन चारोंका निश्चय इस प्रकार हुआ ॥ ३ ॥

पुरायमस्मान् गृह्णाति क्षिप्रकारी जनार्दनः ।
सहितो धृतराष्ट्रेण राज्ञा शान्तनवेन च ॥ ४ ॥
वयमेव हृषीकेशं निगृह्णीम बलादिव ।
प्रसह्य पुरुषव्याघ्रमिन्द्रो वैरोचनिं यथा ॥ ५ ॥

वे परस्पर कहने लगे—'शीघ्रतापूर्वक प्रत्येक कार्य करनेवाले श्रीकृष्ण राजा धृतराष्ट्र और भीष्मके साथ मिलकर जबतक हमें कैद करें, उसके पहले हमलोग ही बलपूर्वक इन पुरुषसिंह हृषीकेशको बन्दी बना लें । ठीक उसी तरह, जैसे इन्द्रने विरोचनपुत्र बलिको बाँध लिया था ॥ ४-५ ॥

श्रुत्वा गृहीतं वार्ष्णेयं पाण्डवा हतचेतसः ।
निरुत्साहा भविष्यन्ति भग्नदंष्ट्रा इवोरगाः ॥ ६ ॥

'श्रीकृष्णको कैद हुआ सुनकर पाण्डव दाँत तोड़े हुए सर्पोंके समान अचेत और हतोत्साह हो जायँगे ॥ ६ ॥

अयं ह्येषां महाबाहुः सर्वेषां शर्म वर्म च ।
अस्मिन् गृहीते वरदे ऋषभे सर्वसात्वताम् ॥ ७ ॥
निरुद्यमा भविष्यन्ति पाण्डवाः सोमकैः सह ।

'ये महाबाहु श्रीकृष्ण ही समस्त पाण्डवोंके कल्याण-साधक और कवचकी भाँति रक्षा करनेवाले हैं । सम्पूर्ण यदुवंशियोंके शिरोमणि तथा वरदायक इस श्रीकृष्णके बन्दी बना लिये जानेपर सोमकोंसहित सब पाण्डव उद्योगशून्य हो जायँगे ॥ ७½ ॥

तस्माद् वयमिहैवैनं केशवं क्षिप्रकारिणम् ॥ ८ ॥
क्रोशतो धृतराष्ट्रस्य बद्ध्वा योत्स्यामहे रिपून् ।

'इसलिये हम यहीं शीघ्रतापूर्वक कार्य करनेवाले केशवको राजा धृतराष्ट्रके चीखने-चिल्लानेपर भी कैद करके शत्रुओंके साथ युद्ध करें' ॥ ८½ ॥

तेषां पापमभिप्रायं पापानां दुष्टचेतसाम् ॥ ९ ॥
इङ्गितज्ञः कविः क्षिप्रमन्वबुद्ध्यत सात्यकिः ।

विद्वान् सात्यकि इशारेसे ही दूसरोंके मनकी बात समझ लेनेवाले थे । वे उन दुष्टचित्त पापियोंके उस पापपूर्ण अभिप्रायको शीघ्र ही ताड़ गये ॥ ९½ ॥

तदर्थमभिनिष्क्रम्य हार्दिक्येन सहास्थितः ॥ १० ॥
अब्रवीत् कृतवर्माणं क्षिप्रं योजय वाहिनीम् ।
व्यूढानीकः सभाद्वारमुपतिष्ठस्व दंशितः ॥ ११ ॥
यावदाख्याम्यहं चैतत् कृष्णायाक्लिष्टकारिणे ।

फिर उसके प्रतीकारके लिये वे सभासे बाहर निकलकर कृतवर्मासे मिले और इस प्रकार बोले—'तुम शीघ्र ही अपनी सेनाको तैयार कर लो और स्वयं भी कवच धारण करके व्यूहाकार खड़ी हुई सेनाके साथ सभाभवनके द्वारपर डटे रहो । तबतक मैं अनायास ही महान् कर्म करनेवाले भगवान् श्रीकृष्ण-को कौरवोंके षड्यन्त्रकी सूचना दिये देता हूँ' ॥१०-११½ ॥

स प्रविश्य सभां वीरः सिंहो गिरिगुहामिव ॥ १२ ॥
आचष्ट तमभिप्रायं केशवाय महात्मने ।
धृतराष्ट्रं ततश्चैव विदुरं चान्वभाषत ॥ १३ ॥

ऐसा कहकर वीर सात्यकिने सभामें प्रवेश किया, मानो सिंह पर्वतकी कन्दरामें घुस रहा हो । वहाँ जाकर उन्होंने महात्मा केशवसे कौरवोंका अभिप्राय बताया । फिर धृतराष्ट्र और विदुरको भी इसकी सूचना दी ॥ १२-१३ ॥

तेषामेतमभिप्रायमाचचक्षे स्मयन्निव ।
धर्मादर्थाच्च कामाच्च कर्म साधुविगर्हितम् ॥ १४ ॥
मन्दाः कर्तुमिहेच्छन्ति न चावाप्यं कथंचन ।

सात्यकिने किंचित् मुसकराते हुए-से उन कौरवोंके इस अभिप्रायको इस प्रकार बताया—'सभासदो ! कुछ मूर्ख कौरव एक ऐसा नीच कर्म करना चाहते हैं, जो धर्म, अर्थ

और काम सभी दृष्टियोंसे साधुपुरुषोंद्वारा निन्दित है। यद्यपि इस कार्यमें उन्हें किसी प्रकार सफलता नहीं प्राप्त हो सकती ॥ १४½ ॥

पुरा विकुर्वते मूढाः पापात्मानः समागताः ॥ १५ ॥
धर्षिताः काममन्युभ्यां क्रोधलोभवशानुगाः ।

'क्रोध और लोभके वशीभूत हो काम एवं रोषसे तिरस्कृत होकर कुछ पापात्मा एवं मूढ़ मानव यहाँ आकर भारी बखेड़ा पैदा करना चाहते हैं ॥ १५½ ॥

इमं हि पुण्डरीकाक्षं जिघृक्षन्त्यल्पचेतसः ॥ १६ ॥
पटेनाग्निं प्रज्वलितं यथा बाला यथा जडाः ।

'जैसे बालक और जड़ बुद्धिवाले लोग जलती आगको कपड़ेमें बाँधना चाहें, उसी प्रकार ये मन्दबुद्धि कौरव इन कमलनयन भगवान् श्रीकृष्णको यहाँ कैद करना चाहते हैं' ॥ १६½ ॥

सात्यकेस्तद् वचः श्रुत्वा विदुरो दीर्घदर्शिवान् ॥ १७ ॥
धृतराष्ट्रं महाबाहुमब्रवीत् कुरुसंसदि ।
राजन् परीतकालास्ते पुत्राः सर्वे परंतप ॥ १८ ॥
अशक्यमयशस्यं च कर्तुं कर्म समुद्यताः ।

सात्यकिका यह वचन सुनकर दूरदर्शी विदुरने कौरव-सभामें महाबाहु धृतराष्ट्रसे कहा—'परंतप नरेश ! जान पड़ता है, आपके सभी पुत्र सर्वथा कालके अधीन हो गये हैं। इसीलिये वे यह अकीर्तिकारक और असम्भव कर्म करनेको उतारू हुए हैं ॥ १७-१८½ ॥

इमं हि पुण्डरीकाक्षमभिभूय प्रसह्य च ॥ १९ ॥
निग्रहीतुं किलेच्छन्ति सहिता वासवानुजम् ।
इमं पुरुषशार्दूलमप्रधृष्यं दुरासदम् ॥ २० ॥
आसाद्य न भविष्यन्ति पतङ्गा इव पावकम् ।

'सुननेमें आया है कि वे सब संगठित होकर इन पुरुषसिंह कमलनयन श्रीकृष्णको तिरस्कृत करके हठपूर्वक कैद करना चाहते हैं ! ये भगवान् कृष्ण इन्द्रके छोटे भाई और दुर्धर्ष वीर हैं। इन्हें कोई भी पकड़ नहीं सकता। इनके पास आकर सभी विरोधी जलती आगमें गिरनेवाले फतिंगोंके समान नष्ट हो जायँगे ॥ १९-२०½ ॥

अयमिच्छन् हि तान् सर्वान् युध्यमानाञ्जनार्दनः ॥ २१ ॥
सिंहो नागानिव क्रुद्धो गमयेद् यमसादनम् ।

'जैसे क्रोधमें भरा हुआ सिंह हाथियोंको नष्ट कर देता है, उसी प्रकार ये भगवान् श्रीकृष्ण यदि चाहें तो क्रुद्ध होनेपर समस्त विपक्षी योद्धाओंको यमलोक पहुँचा सकते हैं ॥ २१½ ॥

न त्वयं निन्दितं कर्म कुर्यात् पापं कथंचन ॥ २२ ॥
न च धर्मादपक्रामेदच्युतः पुरुषोत्तमः ।

'परंतु ये पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण किसी प्रकार भी निन्दित अथवा पापकर्म नहीं कर सकते और न कभी धर्मसे ही पीछे हट सकते हैं ॥ २२½ ॥

(यथा वाराणसी दग्धा साश्वा सरथकुंजरा ।
सानुबन्धस्तु कृष्णेन काशीनामृषभो हतः ॥
तथा नागपुरं दग्ध्वा शङ्खचक्रगदाधरः ।
स्वयं कालेश्वरो भूत्वा नाशयिष्यति कौरवान् ॥

'श्रीकृष्णने जिस प्रकार घोड़े, रथ और हाथियोंसहित वाराणसी नगरी जला दी और काशिराजको उनके सगे-सम्बन्धियोंसहित मार डाला, उसी प्रकार ये शंख, चक्र और गदा धारण करनेवाले भगवान् श्रीकृष्ण स्वयं कालेश्वर होकर हस्तिनापुरको दग्ध करके कौरवोंका नाश कर डालेंगे ॥

पारिजातहरं ह्येनमेकं यदुसुखावहम् ।
नाभ्यवर्तत संरब्धो वृत्रहा वसुभिः सह ॥

'यदुकुलको सुख पहुँचानेवाले श्रीकृष्ण जब अकेले पारिजातका अपहरण करने लगे, उस समय अत्यन्त कोपमें भरे हुए इन्द्रने इनके ऊपर वसुओंके साथ आक्रमण किया। परंतु वे भी इन्हें पराजित न कर सके ॥

प्राप्य निर्मोचने पाशान् षट् सहस्रांस्तरस्विनः ।
हतास्ते वासुदेवेन ह्युपसंक्रम्य मौरवान् ॥

'निर्मोचन नामक स्थानमें मुर दैत्यने छः हजार शक्तिशाली पाश लगा रखे थे, जिन्हें इन वसुदेवनन्दन श्रीकृष्णने निकट जाकर काट डाला ॥

द्वारमासाद्य सौभस्य विधूय गदया गिरिम् ।
द्युमत्सेनः सहामात्यः कृष्णेन विनिपातितः ॥

'इन्हीं श्रीकृष्णने सौभके द्वारपर पहुँचकर अपनी गदासे पर्वतको विदीर्ण करते हुए मन्त्रियोंसहित द्युमत्सेनको मार गिराया था ॥

शेषवत्त्वात् कुरूणां तु धर्मापेक्षी तथाच्युतः ।
क्षमते पुण्डरीकाक्षः शक्तः सन् पापकर्मणाम् ॥
एते हि यदि गोविन्दमिच्छन्ति सह राजभिः ।
अद्यैवातिथयः सर्वे भविष्यन्ति यमस्य ते ॥

'अभी कौरवोंकी आयु शेष है, इसीलिये सदा धर्मपर ही दृष्टि रखनेवाले कमलनयन भगवान् श्रीकृष्ण इन पापाचारियोंको दण्ड देनेमें समर्थ होकर भी अभी क्षमा करते जा रहे हैं। यदि ये कौरव अपने सहयोगी राजाओंके साथ गोविन्दको बन्दी बनाना चाहते हैं तो सब-के-सब आज ही यमराजके अतिथि हो जायँगे ॥

यथा वायोस्तृणाग्राणि वशं यान्ति बलीयसः ।
तथा चक्रभृतः सर्वे वशमेष्यन्ति कौरवाः ॥)

'जैसे तिनकोंके अग्रभाग सदा महाबलवान् वायुके वशमें होते हैं, उसी प्रकार समस्त कौरव चक्रधारी श्रीकृष्णके अधीन हो जायँगे' ॥

विदुरेणैवमुक्ते तु केशवो वाक्यमब्रवीत् ॥ २३ ॥
धृतराष्ट्रमभिप्रेक्ष्य सुहृदां शृण्वतां मिथः ।
राजन्नेते यदि क्रुद्धा मां निगृह्णीयुरोजसा ॥ २४ ॥
एते वा मामहं वैनाननुजानीहि पार्थिव ।

विदुरके ऐसा कहनेपर भगवान् केशवने समस्त सुहृदोंके सुनते हुए राजा धृतराष्ट्रकी ओर देखकर कहा—'राजन् ! ये दुष्ट कौरव यदि कुपित होकर मुझे बलपूर्वक पकड़ सकते हों तो आप इन्हें आज्ञा दे दीजिये । फिर देखिये, ये मुझे पकड़ पाते हैं या मैं इन्हें बन्दी बनाता हूँ ॥ २३-२४½ ॥

एतान् हि सर्वान् संरब्धान् नियन्तुमहमुत्सहे ॥ २५ ॥
न त्वहं निन्दितं कर्म कुर्यां पापं कथंचन ।

'यद्यपि क्रोधमें भरे हुए इन समस्त कौरवोंको मैं बाँध लेनेकी शक्ति रखता हूँ, तथापि मैं किसी प्रकार भी कोई निन्दित कर्म अथवा पाप नहीं कर सकता ॥ २५½ ॥

पाण्डवार्थे हि लुभ्यन्तः स्वार्थान् हास्यन्ति ते सुताः ।२६।
एते चेदेवमिच्छन्ति कृतकार्यो युधिष्ठिरः ।

'आपके पुत्र पाण्डवोंका धन लेनेके लिये लुभाये हुए हैं, परंतु इन्हें अपने धनसे भी हाथ धोना पड़ेगा । यदि ये ऐसा ही चाहते हैं, तब तो युधिष्ठिरका काम बन गया ॥ २६½ ॥

अद्यैव ह्यहमेनांश्च ये चैनाननु भारत ॥ २७ ॥
निगृह्य राजन् पार्थेभ्यो दद्यां किं दुष्कृतं भवेत् ।

'भारत ! मैं आज ही इन कौरवों तथा इनके अनुगामियोंको कैद करके यदि कुन्तीपुत्रोंके हाथमें सौंप दूँ तो क्या बुरा होगा ? ॥ २७½ ॥

इदं तु न प्रवर्तेयं निन्दितं कर्म भारत ॥ २८ ॥
संनिधौ ते महाराज क्रोधजं पापबुद्धिजम् ।

'परंतु भारत ! महाराज ! आपके समीप मैं क्रोध अथवा पापबुद्धिसे होनेवाला यह निन्दित कर्म नहीं प्रारम्भ करूँगा ॥ २८½ ॥

एष दुर्योधनो राजन् यथेच्छति तथास्तु तत् ॥ २९ ॥
अहं तु सर्वांस्तनयाननुजानामि ते नृप ।

'नरेश्वर ! यह दुर्योधन जैसा चाहता है वैसा ही हो । मैं आपके सभी पुत्रोंको इसके लिये आज्ञा देता हूँ' ॥२९½॥

एतच्छ्रुत्वा तु विदुरं धृतराष्ट्रोऽभ्यभाषत ।
क्षिप्रमानय तं पापं राज्यलुब्धं सुयोधनम् ॥ ३० ॥
सहमित्रं सहामात्यं ससोदर्यं सहानुगम् ।
शक्नुयां यदि पन्थानमवतारयितुं पुनः ॥ ३१ ॥

यह सुनकर धृतराष्ट्रने विदुरसे कहा—'तुम उस पापात्मा राज्यलोभी दुर्योधनको उसके मित्रों, मन्त्रियों, भाइयों तथा अनुगामी सेवकोंसहित शीघ्र मेरे पास बुला लाओ । यदि पुनः उसे सन्मार्गपर उतार सकूँ तो अच्छा होगा' ॥३०-३१॥

ततो दुर्योधनं क्षत्ता पुनः प्रावेशयत् सभाम् ।
अकामं भ्रातृभिः सार्धं राजभिः परिवारितम् ॥ ३२ ॥

तब विदुरजी राजाओंसे घिरे हुए दुर्योधनको उसकी इच्छा न होते हुए भी भाइयोंसहित पुनः सभामें ले आये ॥३२॥

अथ दुर्योधनं राजा धृतराष्ट्रोऽभ्यभाषत ।
कर्णदुःशासनाभ्यां च राजभिश्चापि संवृतम् ॥ ३३ ॥

उस समय कर्ण, दुःशासन तथा अन्य राजाओंसे भी घिरे हुए दुर्योधनसे राजा धृतराष्ट्रने कहा—॥ ३३ ॥

नृशंस पापभूयिष्ठ क्षुद्रकर्मसहायवान् ।
पापैः सहायैः संहत्य पापं कर्म चिकीर्षसि ॥ ३४ ॥

'नृशंस महापापी ! नीच कर्म करनेवाले ही तेरे सहायक हैं । तू उन पापी सहायकोंसे मिलकर पापकर्म ही करना चाहता है ॥

अशक्यमयशस्यं च सद्भिश्चापि विगर्हितम् ।
यथा त्वादृशको मूढो व्यवस्येत् कुलपांसनः ॥ ३५ ॥

'वह कर्म ऐसा है, जिसकी साधु पुरुषोंने सदा निन्दा की है । वह अपयशकारक तो है ही, तू उसे कर भी नहीं सकता; परंतु तेरे-जैसा कुलाङ्गार और मूर्ख मनुष्य उसे करनेकी चेष्टा करता है ॥ ३५ ॥

त्वमिमं पुण्डरीकाक्षमप्रधृष्यं दुरासदम् ।
पापैः सहायैः संहत्य निग्रहीतुं किलेच्छसि ॥ ३६ ॥

'सुनता हूँ, तू अपने पापी सहायकोंसे मिलकर इन दुर्धर्ष एवं दुर्जय वीर कमलनयन श्रीकृष्णको कैद करना चाहता है ॥

यो न शक्यो बलात् कर्तुं देवैरपि सवासवैः ।
तं त्वं प्रार्थयसे मन्द बालश्चन्द्रमसं यथा ॥ ३७ ॥

'ओ मूढ़ ! इन्द्रसहित सम्पूर्ण देवता भी जिन्हें बलपूर्वक अपने वशमें नहीं कर सकते, उन्हींको तू बंदी बनाना चाहता है । तेरी यह चेष्टा वैसी ही है, जैसे कोई बालक चन्द्रमाको पकड़ना चाहता हो ॥ ३७ ॥

देवैर्मनुष्यैर्गन्धर्वैरसुरैरुरगैश्च यः ।
न सोढुं समरे शक्यस्तं न बुद्ध्यसि केशवम् ॥ ३८ ॥

'देवता, मनुष्य, गन्धर्व, असुर और नाग भी संग्रामभूमिमें जिनका वेग नहीं सह सकते, उन भगवान् श्रीकृष्णको तू नहीं जानता ॥ ३८ ॥

दुर्ग्राह्यः पाणिना वायुर्दुःस्पर्शः पाणिना शशी ।
दुर्धरा पृथिवी मूर्ध्ना दुर्ग्राह्यः केशवो बलात् ॥ ३९ ॥

'जैसे वायुको हाथसे पकड़ना दुष्कर है, चन्द्रमाको हाथसे छूना कठिन है और पृथ्वीको सिरपर धारण करना असम्भव है, उसी प्रकार भगवान् श्रीकृष्णको बलपूर्वक पकड़ना दुष्कर है' ॥ ३९ ॥

इत्युक्ते धृतराष्ट्रेण क्षत्तापि विदुरोऽब्रवीत् ।
दुर्योधनमभिप्रेत्य धार्तराष्ट्रममर्षणम् ॥ ४० ॥

धृतराष्ट्रके ऐसा कहनेपर विदुरने भी अमर्षमें भरे हुए धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधनके पास जाकर इस प्रकार कहा ॥ ४० ॥

विदुर उवाच

दुर्योधन निबोधेदं वचनं मम साम्प्रतम् ।
सौभद्वारे दानवेन्द्रो द्विविदो नाम नामतः ।
शिलावर्षेण महता छादयामास केशवम् ॥ ४१ ॥

विदुर बोले—दुर्योधन ! इस समय मेरी बातपर ध्यान दो । सौभद्वारमें द्विविद नामसे प्रसिद्ध एक वानरोंका राजा रहता था, जिसने एक दिन पत्थरोंकी बड़ी भारी वर्षा करके भगवान् श्रीकृष्णको आच्छादित कर दिया ॥ ४१ ॥

ग्रहीतुकामो विक्रम्य सर्वयत्नेन माधवम् ।
ग्रहीतुं नाशकच्चैनं तं त्वं प्रार्थयसे बलात् ॥ ४१ ॥

वह पराक्रम करके सभी उपायोंसे श्रीकृष्णको पकड़ना चाहता था, परंतु इन्हें कभी पकड़ न सका । उन्हीं श्रीकृष्णको तुम बलपूर्वक अपने वशमें करना चाहते हो ! ॥ ४२ ॥

प्राग्ज्योतिषगतं शौरिं नरकः सह दानवैः ।
ग्रहीतुं नाशकत् तत्र तं त्वं प्रार्थयसे बलात् ॥ ४३ ॥

पहलेकी बात है, प्राग्ज्योतिषपुरमें गये हुए श्रीकृष्णको दानवोंसहित नरकासुरने भी वहाँ बंदी बनानेकी चेष्टा की; परंतु वह भी वहाँ सफल न हो सका । उन्हींको तुम बलपूर्वक अपने वशमें करना चाहते हो ॥ ४३ ॥

अनेकयुगवर्षायुर्निहत्य नरकं मृधे ।
नीत्वा कन्यासहस्राणि उपयेमे यथाविधि ॥ ४४ ॥

अनेक युगों तथा असंख्य वर्षोंकी आयुवाले नरकासुरको युद्धमें मारकर श्रीकृष्ण उसके यहाँसे सहस्रों राजकन्याओंको (उद्धार करके) ले गये और उन सबके साथ उन्होंने विधिपूर्वक विवाह किया ॥ ४४ ॥

निर्मोचने षट् सहस्राः पाशैर्बद्धा महासुराः ।
ग्रहीतुं नाशकंश्चैनं तं त्वं प्रार्थयसे बलात् ॥ ४५ ॥

निर्मोचनमें छः हजार बड़े-बड़े असुरोंको भगवान्ने पाशोंमें बाँध लिया । वे असुर भी जिन्हें बंदी न बना सके, उन्हींको तुम बलपूर्वक वशमें करना चाहते हो ॥ ४५ ॥

अनेन हि हता बाल्ये पूतना शकुनी तथा ।
गोवर्धनो धारितश्च गवार्थे भरतर्षभ ॥ ४६ ॥

भरतश्रेष्ठ ! इन्होंने ही बाल्यावस्थामें शकुनी पूतनाका वध किया था और गौओंकी रक्षाके लिये अपने हाथपर गोवर्धन पर्वतको धारण किया था ॥ ४६ ॥

अरिष्टो धेनुकश्चैव चाणूरश्च महाबलः ।
अश्वराजश्च निहतः कंसश्चारिष्टमाचरन् ॥ ४७ ॥

अरिष्टासुर, धेनुक, महाबली चाणूर, अश्वराज केशी और कंस भी लोकहितके विरुद्ध आचरण करनेपर श्रीकृष्णके ही हाथसे मारे गये थे ॥ ४७ ॥

जरासंधश्च वक्रश्च शिशुपालश्च वीर्यवान् ।
बाणश्च निहतः संख्ये राजानश्च निषूदिताः ॥ ४८ ॥

जरासंध, दंतवक्र, पराक्रमी शिशुपाल और बाणासुर भी इन्हींके हाथसे मारे गये हैं तथा अन्य बहुत-से राजाओंका भी इन्होंने ही संहार किया है ॥ ४८ ॥

वरुणो निर्जितो राजा पावकश्चामितौजसा ।
पारिजातं च हरता जितः साक्षाच्छचीपतिः ॥ ४९ ॥

अमित तेजस्वी श्रीकृष्णने राजा वरुणपर विजय पायी है । इन्होंने अग्निदेवको भी पराजित किया है और पारिजातहरण करते समय साक्षात् शचीपति इन्द्रको भी जीता है ॥ ४९ ॥

एकार्णवे च स्वपता निहतौ मधुकैटभौ ।
जन्मान्तरमुपागम्य हयग्रीवस्तथा हतः ॥ ५० ॥

इन्होंने एकार्णवके जलमें सोते समय मधु और कैटभ नामक दैत्योंको मारा था और दूसरा शरीर धारण करके हयग्रीव नामक राक्षसका भी इन्होंने ही वध किया था ॥ ५० ॥

अयं कर्ता न क्रियते कारणं चापि पौरुषे ।
यद् यदिच्छेदयं शौरिस्तत् तत् कुर्यादयत्नतः ॥ ५१ ॥

ये ही सबके कर्ता हैं, इनका दूसरा कोई कर्ता नहीं है । सबके पुरुषार्थके कारण भी यही हैं । ये भगवान् श्रीकृष्ण जो-जो इच्छा करें, वह सब अनायास ही कर सकते हैं ॥ ५१ ॥

तं न बुद्ध्यसि गोविन्दं घोरविक्रममच्युतम् ।
आशीविषमिव क्रुद्धं तेजोराशिमनिन्दितम् ॥ ५२ ॥

अपनी महिमासे कभी च्युत न होनेवाले इन भगवान् गोविन्दका पराक्रम भयंकर है । तुम इन्हें अच्छी तरह नहीं जानते । ये क्रोधमें भरे हुए विषधर सर्पके समान भयानक हैं । ये सत्पुरुषोंद्वारा प्रशंसित एवं तेजकी राशि हैं ॥ ५२ ॥

प्रधर्षयन् महाबाहुं कृष्णमक्लिष्टकारिणम् ।
पतङ्गोऽग्निमिवासाद्य सामात्यो न भविष्यसि ॥ ५३ ॥

अनायास ही महान् पराक्रम करनेवाले महाबाहु भगवान् श्रीकृष्णका तिरस्कार करनेपर तुम अपने मन्त्रियोंसहित उसी प्रकार नष्ट हो जाओगे जैसे पतंग आगमें पड़कर भस्म हो जाता है ॥ ५३ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि विदुरवाक्ये त्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १३० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें विदुरवाक्यविषयक एक सौ तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १३० ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ८ श्लोक मिलाकर कुल ६१ श्लोक हैं)

केयी
कृष्णके

३८॥
गुर भी
मोंका

।
॥३९।
विश्व
है और
द्को मैं

५०॥
कैटभ
करके
सब

१॥
है।
बो-
१॥

२॥
वान्
हाँ
क
।

३॥
नम्
ती
ल्प



कौरव सभामें विराट् रूप

एकत्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः

भगवान् श्रीकृष्णका विश्वरूप दर्शन कराकर कौरवसभासे प्रस्थान

वैशम्पायन उवाच

विदुरेणैवमुक्तस्तु केशवः शत्रुपूगहा ।
दुर्योधनं धार्तराष्ट्रमभ्यभाषत वीर्यवान् ॥ १ ॥
एकोऽहमिति यन्मोहान्मन्यसे मां सुयोधन ।
परिभूय सुदुर्बुद्धे ग्रहीतुं मां चिकीर्षसि ॥ २ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! विदुरजीके ऐसा कहनेपर शत्रुसमूहका संहार करनेवाले शक्तिशाली श्रीकृष्णने धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधनसे इस प्रकार कहा—'दुर्बुद्धि दुर्योधन ! तू मोहवश जो मुझे अकेला मान रहा है और इसलिये मेरा तिरस्कार करके जो मुझे पकड़ना चाहता है, यह तेरा अज्ञान है ॥ १-२ ॥

इहैव पाण्डवाः सर्वे तथैवान्धकवृष्णयः ।
इहादित्याश्च रुद्राश्च वसवश्च महर्षिभिः ॥ ३ ॥

'देख, सब पाण्डव यहीं हैं । अन्धक और वृष्णिवंशके वीर भी यहीं मौजूद हैं । आदित्यगण, रुद्रगण तथा महर्षियोंसहित वसुगण भी यहीं हैं' ॥ ३ ॥

एवमुक्त्वा जहासोच्चैः केशवः परवीरहा ।
तस्य संस्मयतः शौरेर्विद्युद्रूपा महात्मनः ॥ ४ ॥
अङ्गुष्ठमात्रास्त्रिदशा मुमुचुः पावकार्चिषः ।
तस्य ब्रह्मा ललाटस्थो रुद्रो वक्षसि चाभवत्॥ ५ ॥

ऐसा कहकर विपक्षी वीरोंका विनाश करनेवाले भगवान् केशव उच्चस्वरसे अट्टहास करने लगे । हँसते समय उन महात्मा श्रीकृष्णके श्रीअङ्गोंमें स्थित विद्युत्के समान कान्तिवाले तथा अँगूठेके बराबर छोटे शरीरवाले देवता आगकी लपटें छोड़ने लगे । उनके ललाटमें ब्रह्मा और वक्षःस्थलमें रुद्रदेव विद्यमान थे ॥ ४-५ ॥

लोकपाला भुजेष्वासन्नग्निरास्यादजायत ।
आदित्याश्चैव साध्याश्च वसवोऽथाश्विनावपि ॥६॥
मरुतश्च सहेन्द्रेण विश्वेदेवास्तथैव च ।
बभूवुश्चैव यक्षाश्च गन्धर्वोरगराक्षसाः ॥ ७ ॥

समस्त लोकपाल उनकी भुजाओंमें स्थित थे । मुखसे अग्निकी लपटें निकलने लगीं । आदित्य, साध्य, वसु, दोनों अश्विनीकुमार, इन्द्रसहित मरुद्गण, विश्वेदेव, यक्ष, गन्धर्व, नाग और राक्षस भी उनके विभिन्न अङ्गोंमें प्रकट हो गये ॥ ६-७ ॥

प्रादुरास्तां तथा दोर्भ्यां संकर्षणधनंजयौ ।
दक्षिणेऽथार्जुनो धन्वी हली रामश्च सव्यतः ॥ ८ ॥

उनकी दोनों भुजाओंसे बलराम और अर्जुनका प्रादुर्भाव हुआ । दाहिनी भुजामें धनुर्धर अर्जुन और बायींमें हलधर बलराम विद्यमान थे ॥ ८ ॥

भीमो युधिष्ठिरश्चैव माद्रीपुत्रौ च पृष्ठतः ।
अन्धका वृष्णयश्चैव प्रद्युम्नप्रमुखास्ततः ॥ ९ ॥
अग्रे बभूवुः कृष्णस्य समुद्यतमहायुधाः ।

भीमसेन, युधिष्ठिर तथा माद्रीनन्दन नकुल-सहदेव भगवान्के पृष्ठभागमें स्थित थे । प्रद्युम्न आदि वृष्णिवंशी तथा अन्धकवंशी योद्धा हाथोंमें विशाल आयुध धारण किये भगवान्के अग्रभागमें प्रकट हुए ॥ ९½ ॥

शङ्खचक्रगदाशक्तिशार्ङ्गलाङ्गलनन्दकाः ॥ १० ॥
अदृश्यन्तोद्यतान्येव सर्वप्रहरणानि च ।
नानाबाहुषु कृष्णस्य दीप्यमानानि सर्वशः ॥ ११ ॥

शंख, चक्र, गदा, शक्ति, शार्ङ्गधनुष, हल तथा नन्दक नामक खड्ग—ये ऊपर उठे हुए ही समस्त आयुध श्रीकृष्णकी अनेक भुजाओंमें देदीप्यमान दिखायी देते थे ॥ १०-११ ॥

नेत्राभ्यां नस्ततश्चैव श्रोत्राभ्यां च समन्ततः ।
प्रादुरासन् महारौद्राः सधूमाः पावकार्चिषः ॥ १२ ॥

उनके नेत्रोंसे, नासिकाके छिद्रोंसे और दोनों कानोंसे सब ओर अत्यन्त भयंकर धूमयुक्त आगकी लपटें प्रकट हो रही थीं ॥ १२ ॥

रोमकूपेषु च तथा सूर्यस्येव मरीचयः ।
तं दृष्ट्वा घोरमात्मानं केशवस्य महात्मनः ॥ १३ ॥
न्यमीलयन्त नेत्राणि राजानस्त्रस्तचेतसः ।
ऋते द्रोणं च भीष्मं च विदुरं च महामतिम्॥ १४ ॥
संजयं च महाभागमृषींश्चैव तपोधनान् ।
प्रादात् तेषां स भगवान् दिव्यं चक्षुर्जनार्दनः ॥१५॥

समस्त रोमकूपोंसे सूर्यके समान दिव्य किरणें छिटक रही थीं । महात्मा श्रीकृष्णके उस भयंकर स्वरूपको देखकर समस्त राजाओंके मनमें भय समा गया और उन्होंने अपने नेत्र बंद कर लिये । द्रोणाचार्य, भीष्म, परम बुद्धिमान् विदुर, महाभाग संजय तथा तपस्याके धनी महर्षियोंको छोड़कर अन्य सब लोगोंकी आँखें बंद हो गयी थीं । इन द्रोण आदिको भगवान् जनार्दनने स्वयं ही दिव्य दृष्टि प्रदान की थी (अतः वे आँख खोलकर उन्हें देखनेमें समर्थ हो सके) ॥ १३-१५ ॥

तद् दृष्ट्वा महदाश्चर्यं माधवस्य सभातले ।
देवदुन्दुभयो नेदुः पुष्पवर्षं पपात च ॥ १६ ॥

उस सभाभवनमें भगवान् श्रीकृष्णका वह परम आश्चर्यमय रूप देखकर देवताओंकी दुन्दुभियाँ बजने लगीं और उनके ऊपर फूलोंकी वर्षा होने लगी ॥ १६ ॥

धृतराष्ट्र उवाच

त्वमेव पुण्डरीकाक्ष सर्वस्य जगतो हितः।
तस्मात् त्वं यादवश्रेष्ठ प्रसादं कर्तुमर्हसि ॥ १७ ॥

उस समय धृतराष्ट्रने कहा—कमलनयन ! यदुकुल-तिलक श्रीकृष्ण ! आप ही सम्पूर्ण जगत्के हितैषी हैं, अतः मुझपर भी कृपा कीजिये ॥ १७ ॥

भगवन् मम नेत्राणामन्तर्धानं वृणे पुनः।
भवन्तं द्रष्टुमिच्छामि नान्यं द्रष्टुमिहोत्सहे ॥ १८ ॥

भगवन् ! मेरे नेत्रोंका तिरोधान हो चुका है; परंतु आज मैं आपसे पुनः दोनों नेत्र माँगता हूँ । केवल आपका दर्शन करना चाहता हूँ; आपके सिवा और किसीको मैं नहीं देखना चाहता ॥ १८ ॥

ततोऽब्रवीन्महाबाहुर्धृतराष्ट्रं जनार्दनः।
अदृश्यमाने नेत्रे द्वे भवेतां कुरुनन्दन ॥ १९ ॥

तब महाबाहु जनार्दनने धृतराष्ट्रसे कहा—'कुरुनन्दन ! आपको दो अदृश्य नेत्र प्राप्त हो जायँ' ॥ १९ ॥

तत्राद्भुतं महाराज धृतराष्ट्रस्य चक्षुषी।
लब्धवान् वासुदेवाच्च विश्वरूपदिदृक्षया ॥ २० ॥

महाराज जनमेजय ! वहाँ यह अद्भुत बात हुई कि धृतराष्ट्रने भी भगवान् श्रीकृष्णसे उनके विश्वरूपका दर्शन करनेकी इच्छासे दो नेत्र प्राप्त कर लिये ॥ २० ॥

लब्धचक्षुषमासीनं धृतराष्ट्रं नराधिपाः।
विस्मिता ऋषिभिः सार्धं तुष्टुवुर्मधुसूदनम् ॥ २१ ॥

सिंहासनपर बैठे हुए धृतराष्ट्रको नेत्र प्राप्त हो गये, यह जानकर ऋषियोंसहित सब नरेश आश्चर्यचकित हो मधुसूदनकी स्तुति करने लगे ॥ २१ ॥

चचाल च मही कृत्स्ना सागरश्चापि चुक्षुभे।
विस्मयं परमं जग्मुः पार्थिवा भरतर्षभ ॥ २२ ॥

भरतश्रेष्ठ ! उस समय सारी पृथ्वी डगमगाने लगी, समुद्रमें खलबली पड़ गयी और समस्त भूपाल अत्यन्त विस्मित हो गये ॥ २२ ॥

ततः स पुरुषव्याघ्रः संजहार वपुः स्वकम्।
तां दिव्यामद्भुतां चित्रामृद्धिमत्तामरिंदमः ॥ २३ ॥

तदनन्तर शत्रुओंका दमन करनेवाले पुरुषसिंह श्रीकृष्णने अपने इस स्वरूपको, उस दिव्य, अद्भुत एवं विचित्र ऐश्वर्यको समेट लिया ॥ २३ ॥

ततः सात्यकिमादाय पाणौ हार्दिक्यमेव च।
ऋषिभिस्तैरनुज्ञातो निर्ययौ मधुसूदनः ॥ २४ ॥

तत्पश्चात् वे मधुसूदन ऋषियोंसे आज्ञा ले सात्यकि और कृतवर्माका हाथ पकड़े सभाभवनसे चल दिये ॥ २४ ॥

ऋषयोऽन्तर्हिता जग्मुस्ततस्ते नारदादयः।
तस्मिन् कोलाहले वृत्ते तदद्भुतमिवाभवत् ॥ २५ ॥

उनके जाते ही नारद आदि महर्षि भी अदृश्य हो गये। वह सारा कोलाहल शान्त हो गया। यह सब एक अद्भुत-सी घटना हुई थी ॥ २५ ॥

तं प्रस्थितमभिप्रेक्ष्य कौरवाः सह राजभिः।
अनुजग्मुर्नरव्याघ्रं देवा इव शतक्रतुम् ॥ २६ ॥

पुरुषसिंह श्रीकृष्णको जाते देख राजाओंसहित समस्त कौरव भी उनके पीछे-पीछे गये, मानो देवता देवराज इन्द्रका अनुसरण कर रहे हों ॥ २६ ॥

अचिन्तयन्नमेयात्मा सर्वं तद् राजमण्डलम्।
निश्चक्राम ततः शौरिः सधूम इव पावकः ॥ २७ ॥

परंतु अप्रमेयस्वरूप भगवान् श्रीकृष्ण उस समस्त नरेश-मण्डलकी कोई परवा न करके धूमयुक्त अग्निकी भाँति सभाभवनसे बाहर निकल आये ॥ २७ ॥

ततो रथेन शुभ्रेण महता किङ्किणीकिना।
हेमजालविचित्रेण लघुना मेघनादिना ॥ २८ ॥
सूपस्करेण शुभ्रेण वैयाघ्रेण वरूथिना।
शैब्यसुग्रीवयुक्तेन प्रत्यदृश्यत दारुकः ॥ २९ ॥

बाहर आते ही शैब्य और सुग्रीवनामक घोड़ोंसे जुते हुए परम उज्ज्वल एवं विशाल रथके साथ सारथि दारुक दिखायी दिया । उस रथमें बहुत-सी क्षुद्रघंटिकाएँ शोभा पाती थीं । सोनेकी जालियोंसे उसकी विचित्र छटा दिखायी देती थी । वह शीघ्रगामी रथ चलते समय मेघके समान गम्भीर रव प्रकट करता था । उसके भीतर सब आवश्यक सामग्रियाँ सुन्दर ढंगसे सजाकर रक्खी गयी थीं । उसके ऊपर व्याघ्र-चर्मका आवरण लगा हुआ था और रथकी रक्षाके अन्य आवश्यक प्रबन्ध भी किये गये थे ॥ २८-२९ ॥

तथैव रथमास्थाय कृतवर्मा महारथः।
वृष्णीनां सम्मतो वीरो हार्दिक्यः समदृश्यत ॥ ३० ॥

इसी प्रकार वृष्णिवंशके सम्मानित वीर हृदिकपुत्र महारथी कृतवर्मा भी एक दूसरे रथपर बैठे दिखायी दिये ॥ ३० ॥

उपस्थितरथं शौरिं प्रयास्यन्तमरिंदमम्।
धृतराष्ट्रो महाराजः पुनरेवाभ्यभाषत ॥ ३१ ॥

शत्रुदमन भगवान् श्रीकृष्णका रथ उपस्थित है और अब ये यहाँसे चले जायँगे; ऐसा जानकर महाराज धृतराष्ट्रने पुनः उनसे कहा—॥ ३१ ॥

यावद् बलं मे पुत्रेषु पश्यस्येतज्जनार्दन।
प्रत्यक्षं ते न ते किंचित् परोक्षं शत्रुकर्शन ॥ ३२ ॥

'शत्रुसूदन जनार्दन ! पुत्रोंपर मेरा बल कितना काम

करता है, यह आप देख ही रहे हैं। सब कुछ आपकी आँखोंके सामने है; आपसे कुछ भी छिपा नहीं है ॥ ३२ ॥

कुरूणां शममिच्छन्तं यतमानं च केशव।
विदित्वैतामवस्थां मे नाभिशङ्कितुमर्हसि ॥ ३३ ॥

'केशव ! मैं भी चाहता हूँ कि कौरव-पाण्डवोंमें संधि हो जाय और मैं इसके लिये प्रयत्न भी करता रहता हूँ; परंतु मेरी इस अवस्थाको समझकर आपको मेरे ऊपर संदेह नहीं करना चाहिये ॥ ३३ ॥

न मे पापोऽस्त्यभिप्रायः पाण्डवान् प्रति केशव।
ज्ञातमेव हितं वाक्यं यन्मयोक्तः सुयोधनः ॥ ३४ ॥

'केशव ! पाण्डवोंके प्रति मेरा भाव पापपूर्ण नहीं है। मैंने दुर्योधनसे जो हितकी बात बतायी है, वह आपको ज्ञात ही है ॥ ३४ ॥

जानन्ति कुरवः सर्वे राजानश्चैव पार्थिवाः।
शमे प्रयतमानं मां सर्वयत्नेन माधव ॥ ३५ ॥

'माधव ! मैं सब उपायोंसे शान्तिस्थापनके लिये प्रयत्नशील हूँ, इस बातको ये समस्त कौरव तथा बाहरसे आये हुए राजालोग भी जानते हैं' ॥ ३५ ॥

वैशम्पायन उवाच

ततोऽब्रवीन्महाबाहुर्धृतराष्ट्रं जनार्दनः।
द्रोणं पितामहं भीष्मं क्षत्तारं बाह्लिकं कृपम् ॥ ३६ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तदनन्तर महाबाहु श्रीकृष्णने राजा धृतराष्ट्र, आचार्य द्रोण, पितामह भीष्म, विदुर, बाह्लीक तथा कृपाचार्यसे कहा—॥ ३६ ॥

प्रत्यक्षमेतद् भवतां यद् वृत्तं कुरुसंसदि।
यथा चाशिष्टवन्मन्दो रोषादद्य समुत्थितः ॥ ३७ ॥

'कौरव-सभामें जो घटना घटित हुई है, उसे आप लोगोंने प्रत्यक्ष देखा है। मूर्ख दुर्योधन किस प्रकार अशिष्टकी भाँति आज रोषपूर्वक सभासे उठ गया था ॥ ३७ ॥

वदत्यनीशमात्मानं धृतराष्ट्रो महीपतिः।
आपृच्छे भवतः सर्वान् गमिष्यामि युधिष्ठिरम् ॥३८॥

'महाराज धृतराष्ट्र भी अपने आपको असमर्थ बता रहे हैं। अतः अब मैं आप सब लोगोंसे आज्ञा चाहता हूँ। मैं युधिष्ठिरके पास जाऊँगा' ॥ ३८ ॥

आमन्त्र्य प्रस्थितं शौरिं रथस्थं पुरुषर्षभ।
अनुजग्मुर्महेष्वासाः प्रवीरा भरतर्षभाः ॥ ३९ ॥

नरश्रेष्ठ जनमेजय ! तत्पश्चात् रथपर बैठकर प्रस्थानके लिये उद्यत हुए भगवान् श्रीकृष्णसे पूछकर भरतवंशके महाधनुर्धर उत्कृष्ट वीर उनके पीछे कुछ दूरतक गये ॥ ३९ ॥

भीष्मो द्रोणः कृपः क्षत्ता धृतराष्ट्रोऽथ बाह्लिकः।
अश्वत्थामा विकर्णश्च युयुत्सुश्च महारथः ॥ ४० ॥

उन वीरोंके नाम इस प्रकार हैं—भीष्म, द्रोण, कृप, विदुर, धृतराष्ट्र, बाह्लीक, अश्वत्थामा, विकर्ण और महारथी युयुत्सु ॥ ४० ॥

ततो रथेन शुभ्रेण महता किङ्किणीकिना।
कुरूणां पश्यतां द्रष्टुं स्वसारं स पितुर्ययौ ॥ ४१ ॥

तदनन्तर किंकिणीविभूषित उस विशाल एवं उज्ज्वल रथके द्वारा भगवान् श्रीकृष्ण समस्त कौरवोंके देखते-देखते अपनी बुआ कुन्तीसे मिलनेके लिये गये ॥ ४१ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि विश्वरूपदर्शने एकत्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १३१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें विश्वरूपदर्शनविषयक एक सौ इकतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १३१ ॥

द्वात्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः

श्रीकृष्णके पूछनेपर कुन्तीका उन्हें पाण्डवोंसे कहनेके लिये संदेश देना

वैशम्पायन उवाच

प्रविश्याथ गृहं तस्याश्चरणावभिवाद्य च।
आचख्यौ तत् समासेन यद् वृत्तं कुरुसंसदि ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! कुन्तीके घरमें जाकर उनके चरणोंमें प्रणाम करके भगवान् श्रीकृष्णने कौरव-सभामें जो कुछ हुआ था, वह सब समाचार उन्हें संक्षेपसे कह सुनाया ॥ १ ॥

वासुदेव उवाच

उक्तं बहुविधं वाक्यं ग्रहणीयं सहेतुकम्।
ऋषिभिश्चैव च मया न चासौ तद् गृहीतवान् ॥२॥

भगवान् श्रीकृष्ण बोले—बूआजी ! मैंने तथा महर्षियोंने भी नाना प्रकारके युक्तियुक्त वचन, जो सर्वथा ग्रहण करनेयोग्य थे, सभामें कहे, परंतु दुर्योधनने उन्हें नहीं माना ॥ २ ॥

कालपक्कमिदं सर्वं सुयोधनवशानुगम्।
आपृच्छे भवतीं शीघ्रं प्रयास्ये पाण्डवान् प्रति ॥३॥

जान पड़ता है, दुर्योधनके वशमें होकर उसीके पीछे चलनेवाला यह सारा क्षत्रियसमुदाय कालसे परिपक्व हो गया है। (अतः शीघ्र ही नष्ट होनेवाला है।) अब मैं तुमसे

आज्ञा चाहता हूँ, यहाँसे शीघ्र ही पाण्डवोंके पास जाऊँगा ॥ ३ ॥

किं वाच्याः पाण्डवेयास्ते भवत्या वचनान्मया ।
तद् ब्रूहि त्वं महाप्राज्ञे शुश्रूषे वचनं तव ॥ ४ ॥

महाप्राज्ञे ! मुझे पाण्डवोंसे तुम्हारा क्या संदेश कहना होगा, उसे बताओ । मैं तुम्हारी बात सुनना चाहता हूँ ॥ ४ ॥

कुन्त्युवाच

ब्रूयाः केशव राजानं धर्मात्मानं युधिष्ठिरम् ।
भूयांस्ते हीयते धर्मो मा पुत्रक वृथा कृथाः ॥ ५ ॥

कुन्ती बोली—केशव ! तुम धर्मात्मा राजा युधिष्ठिरके पास जाकर इस प्रकार कहना—बेटा ! तुम्हारे प्रजापालनरूप धर्मकी बड़ी हानि हो रही है । तुम उस धर्मपालनके अवसरको व्यर्थ न खोओ ॥ ५ ॥

श्रोत्रियस्येव ते राजन् मन्दकस्याविपश्चितः ।
अनुवाकहता बुद्धिर्धर्ममेवैकमीक्षते ॥ ६ ॥

राजन् ! जैसे वेदके अर्थको न जाननेवाले अज्ञ वेदपाठीकी बुद्धि केवल वेदके मन्त्रोंकी आवृत्ति करनेमें ही नष्ट हो जाती है और केवल मन्त्रपाठमात्र धर्मपर ही दृष्टि रहती है, उसी प्रकार तुम्हारी बुद्धि भी केवल शान्तिधर्मको ही देखती है ॥ ६ ॥

अङ्गावेक्षस्व धर्मं त्वं यथा सृष्टः स्वयम्भुवा ।
बाहुभ्यां क्षत्रियाः सृष्टा बाहुवीर्योपजीविनः ॥ ७ ॥

बेटा ! ब्रह्माजीने तुम्हारे लिये जैसे धर्मकी सृष्टि की है, उसीपर दृष्टिपात करो। उन्होंने अपनी दोनों भुजाओंसे क्षत्रियोंको उत्पन्न किया है, अतः क्षत्रिय बाहुबलसे ही जीविका चलानेवाले होते हैं ॥ ७ ॥

क्रूराय कर्मणे नित्यं प्रजानां परिपालने ।
शृणु चात्रोपमामेकां या वृद्धेभ्यः श्रुता मया॥ ८ ॥

वे युद्धरूपी कठोर कर्मके लिये रचे गये हैं तथा सदा प्रजापालनरूपी धर्ममें प्रवृत्त होते हैं । मैं इस विषयमें एक उदाहरण देती हूँ, जिसे मैंने बड़े-बूढ़ोंके मुँहसे सुन रक्खा है ॥ ८ ॥

मुचुकुन्दस्य राजर्षेरददात् पृथिवीमिमाम् ।
पुरा वैश्रवणः प्रीतो न चासौ तां गृहीतवान् ॥ ९ ॥

पूर्वकालकी बात है, धनाध्यक्ष कुबेर राजर्षि मुचुकुन्दपर प्रसन्न होकर उन्हें ये सारी पृथ्वी दे रहे थे; परंतु उन्होंने उसे ग्रहण नहीं किया ॥ ९ ॥

बाहुवीर्यार्जितं राज्यमश्नीयामिति कामये ।
ततो वैश्रवणः प्रीतो विस्मितः समपद्यत ॥ १० ॥

वे बोले—'देव ! मेरी इच्छा है कि मैं अपने बाहुबलसे उपार्जित राज्यका उपभोग करूँ ।' इससे कुबेर बड़े प्रसन्न और विस्मित हुए ॥ १० ॥

मुचुकुन्दस्ततो राजा सोऽन्वशासद् वसुन्धराम् ।
बाहुवीर्यार्जितां सम्यक् क्षत्रधर्ममनुव्रतः ॥ ११ ॥

तदनन्तर क्षत्रियधर्ममें तत्पर रहनेवाले राजा मुचुकुन्दने अपने बाहुबलसे प्राप्त की हुई इस पृथ्वीका न्यायपूर्वक शासन किया ॥ ११ ॥

यं हि धर्मं चरन्तीह प्रजा राज्ञा सुरक्षिताः ।
चतुर्थं तस्य धर्मस्य राजा विन्देत भारत ॥ १२ ॥

भारत ! राजाके द्वारा सुरक्षित हुई प्रजा यहाँ जिस धर्मका अनुष्ठान करती है, उसका चौथाई भाग उस राजाको मिल जाता है ॥ १२ ॥

राजा चरति चेद् धर्मं देवत्वायैव कल्पते ।
स चेदधर्मं चरति नरकायैव गच्छति ॥ १३ ॥

यदि राजा धर्मका पालन करता है तो उसे देवत्वकी प्राप्ति होती है और यदि वह अधर्म करता है तो नरकमें ही पड़ता है ॥ १३ ॥

दण्डनीतिः स्वधर्मेण चातुर्वर्ण्यं नियच्छति ।
प्रयुक्ता स्वामिना सम्यगधर्मेभ्यश्च यच्छति ॥ १४ ॥

राजाकी दण्डनीति यदि उसके द्वारा स्वधर्मके अनुसार प्रयुक्त हुई तो वह चारों वर्णोंको नियन्त्रणमें रखती और अधर्मसे निवृत्त करती है ॥ १४ ॥

दण्डनीत्यां यदा राजा सम्यक् कार्त्स्न्येन वर्तते ।
तदा कृतयुगं नाम कालः श्रेष्ठः प्रवर्तते ॥ १५ ॥

यदि राजा दण्डनीतिके प्रयोगमें पूर्णतः न्यायसे काम लेता है तो जगत्में 'सत्ययुग' नामक उत्तम काल आ जाता है ॥ १५ ॥

कालो वा कारणं राज्ञो राजा वा कालकारणम् ।
इति ते संशयो मा भूद् राजा कालस्य कारणम् ॥ १६ ॥

राजाका कारण काल है या कालका कारण राजा है, ऐसा संदेह तुम्हारे मनमें नहीं उठना चाहिये; क्योंकि राजा ही कालका कारण होता है ॥ १६ ॥

राजा कृतयुगस्रष्टा त्रेताया द्वापरस्य च ।
युगस्य च चतुर्थस्य राजा भवति कारणम् ॥ १७ ॥

राजा ही सत्ययुग, त्रेता और द्वापरका स्रष्टा है । चौथे युग कलिके प्रकट होनेमें भी वही कारण है ॥ १७ ॥

कृतस्य करणाद् राजा स्वर्गमत्यन्तमश्नुते ।
त्रेतायाः करणाद् राजा स्वर्गं नात्यन्तमश्नुते ॥ १८ ॥

अपने सत्कर्मोंद्वारा सत्ययुग उपस्थित करनेके कारण राजाको अक्षय स्वर्गकी प्राप्ति होती है । त्रेताकी प्रवृत्ति

करनेसे भी उसे स्वर्गकी ही प्राप्ति होती है, किंतु वह अक्षय नहीं होता ॥ १८ ॥

प्रवर्तनाद् द्वापरस्य यथाभागमुपाश्नुते ।
कलेः प्रवर्तनाद् राजा पापमत्यन्तमश्नुते ॥ १९ ॥

द्वापर उपस्थित करनेसे उसे यथाभाग पुण्य और पापका फल प्राप्त होता है; परंतु कलियुगकी प्रवृत्ति करनेसे राजाको अत्यन्त पाप (कष्ट) भोगना पड़ता है ॥ १९ ॥

ततो वसति दुष्कर्मा नरके शाश्वतीः समाः ।
राजदोषेण हि जगत् स्पृश्यते जगतः स च ॥ २० ॥

ऐसा करनेसे वह दुष्कर्मी राजा अनेक वर्षोंतक नरकमें ही निवास करता है । राजाका दोष जगत्को और जगत्का दोष राजाको प्राप्त होता है ॥ २० ॥

राजधर्मानवेक्षस्व पितृपैतामहोचितान् ।
नैतद् राजर्षिवृत्तं हि यत्र त्वं स्थातुमिच्छसि ॥ २१ ॥

बेटा ! तुम्हारे पिता-पितामहोंने जिनका पालन किया है, उन राजधर्मोंकी ओर ही देखो । तुम जिसका आश्रय लेना चाहते हो, वह राजर्षियोंका आचार अथवा राज-धर्म नहीं है ॥ २१ ॥

न हि वैक्लव्यसंसृष्ट आनृशंस्ये व्यवस्थितः ।
प्रजापालनसम्भूतं फलं किंचन लब्धवान् ॥ २२ ॥

जो सदा दयाभावमें ही स्थित हो विह्वल बना रहता है, ऐसे किसी भी पुरुषने प्रजापालनजनित किसी पुण्यफलको कभी नहीं प्राप्त किया है ॥ २२ ॥

न ह्येतामाशिषं पाण्डुर्न चाहं न पितामहः ।
प्रयुक्तवन्तः पूर्वं ते यया चरसि मेधया ॥ २३ ॥

तुम जिस बुद्धिके सहारे चलते हो, उसके लिये न तो तुम्हारे पिता पाण्डुने, न मैंने और न पितामहने ही पहले कभी आशीर्वाद दिया था (अर्थात् तुममें वैसी बुद्धि होनेकी कामना किसीने नहीं की थी) ॥ २३ ॥

यज्ञो दानं तपः शौर्यं प्रज्ञा संतानमेव च ।
माहात्म्यं बलमोजश्च नित्यमाशंसितं मया ॥ २४ ॥

मैं तो सदा यही मनाती रही हूँ कि तुम्हें यज्ञ, दान, तप, शौर्य, बुद्धि, संतान, महत्त्व, बल और ओजकी प्राप्ति हो ॥ २४ ॥

नित्यं स्वाहा स्वधा नित्यं दद्युर्मानुषदेवताः ।
दीर्घमायुर्धनं पुत्रान् सम्यगाराधिताः शुभाः ॥ २५ ॥

कल्याणकारी ब्राह्मणोंकी भलीभाँति आराधना करनेपर वे भी सदा देवयज्ञ, पितृयज्ञ, दीर्घायु, धन और पुत्रोंकी प्राप्तिके लिये ही आशीर्वाद देते थे ॥ २५ ॥

पुत्रेष्वाशासते नित्यं पितरो दैवतानि च ।
दानमध्ययनं यज्ञं प्रजानां परिपालनम् ॥ २६ ॥

देवता और पितर अपने उपासकों तथा वंशजोंसे सदा दान, स्वाध्याय, यज्ञ तथा प्रजापालनकी ही आशा रखते हैं ॥ २६ ॥

एतद् धर्म्यमधर्म्यं वा जन्मनैवाभ्यजायथाः ।
ते तु वैद्याः कुले जाता अवृत्त्या तात पीडिताः ॥ २७ ॥

श्रीकृष्ण ! मेरा यह कथन धर्मसंगत है या अधर्मयुक्त, यह तुम स्वभावसे ही जानते हो । तात ! वे पाण्डव उत्तम कुलमें उत्पन्न और विद्वान् होकर भी इस समय जीविकाके अभावसे पीड़ित हैं ॥ २७ ॥

यत्र दानपतिं शूरं क्षुधिताः पृथिवीचराः ।
प्राप्य तुष्टाः प्रतिष्ठन्ते धर्मः कोऽभ्यधिकस्ततः ॥ २८ ॥

भूतलपर विचरनेवाले भूखे मानव जहाँ दानपति, शूरवीर क्षत्रियके समीप पहुँचकर अन्न-पानसे पूर्णतः संतुष्ट हो अपने घरको जाते हैं, वहाँ उससे बढ़कर दूसरा धर्म क्या हो सकता है ? ॥ २८ ॥

दानेनान्यं बलेनान्यं तथा सूनृतया परम् ।
सर्वतः प्रतिगृह्णीयाद् राज्यं प्राप्येह धार्मिकः ॥ २९ ॥

धर्मात्मा पुरुष यहाँ राज्य पाकर किसीको दानसे, किसीको बलसे और किसीको मधुर वाणीद्वारा संतुष्ट करे । इस प्रकार सब ओरसे आये हुए लोगोंको दान, मान आदिसे संतुष्ट करके अपना ले ॥ २९ ॥

ब्राह्मणः प्रचरेद् भैक्षं क्षत्रियः परिपालयेत् ।
वैश्यो धनार्जनं कुर्याच्छूद्रः परिचरेच्च तान् ॥ ३० ॥

ब्राह्मण भिक्षावृत्तिसे जीविका चलावे, क्षत्रिय प्रजाका पालन करे, वैश्य धनोपार्जन करे और शूद्र उन तीनों वर्णोंकी सेवा करे ॥ ३० ॥

भैक्षं विप्रतिषिद्धं ते कृषिर्नैवोपपद्यते ।
क्षत्रियोऽसि क्षतात् त्राता बाहुवीर्योपजीविता ॥ ३१ ॥

युधिष्ठिर ! तुम्हारे लिये भिक्षावृत्तिका तो सर्वथा निषेध है और खेती भी तुम्हारे योग्य नहीं है । तुम तो दूसरोंको क्षतिसे त्राण देनेवाले क्षत्रिय हो । तुम्हें तो बाहुबलसे ही जीविका चलानी चाहिये ॥ ३१ ॥

पित्र्यमंशं महाबाहो निमग्नं पुनरुद्धर ।
साम्ना भेदेन दानेन दण्डेनाथ नयेन वा ॥ ३२ ॥

महाबाहो ! तुम्हारा पैतृक राज्य-भाग शत्रुओंके हाथमें पड़कर लुप्त हो गया है । तुम साम, दान, भेद अथवा दण्ड-नीतिसे पुनः उसका उद्धार करो ॥ ३२ ॥

इतो दुःखतरं किं नु यदहं हीनबान्धवा ।
परपिण्डमुदीक्षे वै त्वां सूत्वामित्रनन्दन ॥ ३३ ॥

शत्रुओंका आनन्द बढ़ानेवाले पाण्डव ! इससे बढ़कर दुःखकी बात और क्या हो सकती है कि मैं तुम्हें जन्म देकर भी बन्धु-बान्धवोंसे हीन नारीकी भाँति जीविकाके लिये दूसरोंके दिये हुए अन्न-पिण्डकी आशा लगाये ऊपर देखती रहती हूँ ॥ ३३ ॥

युद्धयस्व राजधर्मेण मा निमज्जीः पितामहान्।
मा गमः क्षीणपुण्यस्त्वं सानुजः पापिकां गतिम्॥ ३४॥

अतः तुम राजधर्मके अनुसार युद्ध करो। कायर बनकर अपने बाप-दादोंका नाम मत डुबाओ और भाइयोंसहित पुण्यसे वञ्चित होकर पापमयी गतिको न प्राप्त होओ॥ ३४॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि कुन्तीवाक्ये द्वात्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १३२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें कुन्तीवाक्यविषयक एक सौ बत्तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १३२ ॥

त्रयस्त्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः

कुन्तीके द्वारा विदुलोपाख्यानका आरम्भ, विदुलाका रणभूमिसे भागकर आये हुए अपने पुत्रको कड़ी फटकार देकर पुनः युद्धके लिये उत्साहित करना

कुन्त्युवाच

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्।
विदुलायाश्च संवादं पुत्रस्य च परंतप॥ १॥

कुन्ती बोली—शत्रुओंको संताप देनेवाले श्रीकृष्ण ! इस प्रसंगमें विद्वान् पुरुष विदुला और उसके पुत्रके संवादरूप इस पुरातन इतिहासका उदाहरण दिया करते हैं॥ १॥

अत्र श्रेयश्च भूयश्च यथावद् वक्तुमर्हसि।
यशस्विनी मन्युमती कुले जाता विभावरी॥ २॥
क्षत्रधर्मरता दान्ता विदुला दीर्घदर्शिनी।
विश्रुता राजसंसत्सु श्रुतवाक्या बहुश्रुता॥ ३॥
विदुला नाम राजन्या जगर्हे पुत्रमौरसम्।
निर्जितं सिन्धुराजेन शयानं दीनचेतसम्॥ ४॥

इस इतिहासमें जो कल्याणकारी उपदेश हो, उसे तुम युधिष्ठिरके सामने यथावत् रूपसे फिर कहना। विदुला नामसे प्रसिद्ध एक क्षत्रिय महिला हो गयी हैं, जो उत्तम कुलमें उत्पन्न, यशस्विनी, तेजस्विनी, मानिनी, जितेन्द्रिया, क्षत्रिय-धर्मपरायणा और दूरदर्शिनी थीं। राजाओंकी मण्डलीमें उनकी बड़ी ख्याति थी। वे अनेक शास्त्रोंको जाननेवाली और महापुरुषोंके उपदेश सुनकर उससे लाभ उठानेवाली थीं। एक समय उनका पुत्र सिन्धुराजसे पराजित हो अत्यन्त दीनभावसे घर आकर सो रहा था। राजरानी विदुलाने अपने उस औरस पुत्रको इस दशामें देखकर उसकी बड़ी निन्दा की॥ २–४॥

विदुलोवाच

अनन्दन मया जात द्विषतां हर्षवर्धन।
न मया त्वं न पित्रा च जातः क्वाभ्यागतो ह्यसि॥ ५॥

विदुला बोली—अरे, तू मेरे गर्भसे उत्पन्न हुआ है तो भी मुझे आनन्दित करनेवाला नहीं है। तू तो शत्रुओंका ही हर्ष बढ़ानेवाला है, इसलिये अब मैं ऐसा समझने लगी हूँ कि तू मेरी कोखसे पैदा ही नहीं हुआ। तेरे पिताने भी तुझे उत्पन्न नहीं किया; फिर तुझ-जैसा कायर कहाँसे आ गया ? ॥ ५॥

निर्मन्युश्चाप्यसंख्येयः पुरुषः क्लीबसाधनः।
यावज्जीवं निराशोऽसि कल्याणाय धुरं वह॥ ६॥

तू सर्वथा क्रोधशून्य है, क्षत्रियोंमें गणना करनेयोग्य नहीं है। तू नाममात्रका पुरुष है। तेरे मन आदि सभी साधन नपुंसकोंके समान हैं। क्या तू जीवनभरके लिये निराश हो गया ? अरे ! अब भी तो उठ और अपने कल्याणके लिये पुनः युद्धका भार वहन कर॥ ६॥

माऽऽत्मानमवमन्यस्व मैनमल्पेन बीभरः।
मनः कृत्वा सुकल्याणं मा भैस्त्वं प्रतिसंहर॥ ७॥

अपनेको दुर्बल मानकर स्वयं ही अपनी अवहेलना न कर, इस आत्माका थोड़े धनसे भरण-पोषण न कर, मनको परम कल्याणमय बनाकर—उसे शुभ संकल्पोंसे सम्पन्न करके निडर हो जा, भयको सर्वथा त्याग दे॥ ७॥

उत्तिष्ठ हे कापुरुष मा शेष्वैवं पराजितः।
अमित्रान् नन्दयन् सर्वान् निर्मानो बन्धुशोकदः॥ ८॥

ओ कायर ! उठ, खड़ा हो, इस तरह शत्रुसे पराजित होकर घरमें शयन न कर (उद्योगशून्य न हो जा)। ऐसा करके तो तू सब शत्रुओंको ही आनन्द दे रहा है और मान-प्रतिष्ठासे वञ्चित होकर बन्धु-बान्धवोंको शोकमें डाल रहा है॥ ८॥

सुपूरा वै कुनदिका सुपूरो मूषिकाञ्जलिः।
सुसंतोषः कापुरुषः स्वल्पकेनैव तुष्यति॥ ९॥

जैसे छोटी नदी थोड़े जलसे अनायास ही भर जाती है और चूहेकी अञ्जलि थोड़े अन्नसे ही भर जाती है, उसी प्रकार कायरको संतोष दिलाना बहुत सुगम है, वह थोड़ेसे ही संतुष्ट हो जाता है॥ ९॥

अप्यहेरारुजन् दंष्ट्रामाश्वेव निधनं व्रज ।
अपि वा संशयं प्राप्य जीवितेऽपि पराक्रमेः ॥ १० ॥

तू शत्रुरूपी साँपके दाँत तोड़ता हुआ तत्काल मृत्युको प्राप्त हो जा । प्राण जानेका संदेह हो तो भी शत्रुके साथ युद्धमें पराक्रम ही प्रकट कर ॥ १० ॥

अप्यरेः श्येनवच्छिद्रं पश्येस्त्वं विपरिक्रमन् ।
विनदन् वाथवा तूष्णीं व्योम्नि वापरिशङ्कितः ॥ ११ ॥

आकाशमें निःशङ्क होकर उड़नेवाले बाज पक्षीकी भाँति रणभूमिमें निर्भय विचरता हुआ तू गर्जना करके अथवा चुप रहकर शत्रुके छिद्र देखता रह ॥ ११ ॥

त्वमेवं प्रेतवच्छेषे कस्माद् वज्रहतो यथा ।
उत्तिष्ठ हे कापुरुष मा स्वाप्सीः शत्रुनिर्जितः ॥ १२ ॥

कायर ! तू इस प्रकार बिजलीके मारे हुए मुर्देकी भाँति यहाँ क्यों निश्चेष्ट होकर पड़ा है ? बस, तू खड़ा हो जा, शत्रुओंसे पराजित होकर यहाँ पड़ा मत रह ॥ १२ ॥

मास्तं गमस्त्वं कृपणो विश्रूयस्व स्वकर्मणा ।
मा मध्ये मा जघन्ये त्वं माधो भूस्तिष्ठ गर्जितः ॥ १३ ॥

तू दीन होकर अस्त न हो जा । अपने शौर्यपूर्ण कर्मसे प्रसिद्धि प्राप्त कर । तू मध्यम, अधम अथवा निकृष्ट भावका आश्रय न ले, वरं युद्धभूमिमें सिंहनाद करके डट जा ॥ १३ ॥

अलातं तिन्दुकस्येव मुहूर्तमपि विज्वल ।
मा तुषाग्निरिवानर्चिर्धूमायस्व जिजीविषुः ॥ १४ ॥

तू तिन्दुककी जलती हुई लकड़ीके समान दो घड़ीके लिये भी प्रज्वलित हो उठ (थोड़ी देरके ही लिये सही, शत्रुके सामने महान् पराक्रम प्रकट कर); परंतु जीनेकी इच्छासे भूसीकी ज्वालारहित आगके समान केवल धूआँ न कर (मन्द पराक्रमसे काम न ले) ॥ १४ ॥

मुहूर्तं ज्वलितं श्रेयो न च धूमायितं चिरम् ।
मा ह स्म कस्यचिद् गेहे जनि राज्ञः खरो मृदुः ॥ १५ ॥

दो घड़ी भी प्रज्वलित रहना अच्छा; परंतु दीर्घकालतक धूआँ छोड़ते हुए सुलगना अच्छा नहीं । किसी भी राजाके घरमें अत्यन्त कठोर अथवा अत्यन्त कोमल स्वभावके पुरुषका जन्म न हो ॥ १५ ॥

कृत्वा मानुष्यकं कर्म सृत्वाजिं यावदुत्तमम् ।
धर्मस्यानृण्यमाप्नोति न चात्मानं विगर्हते ॥ १६ ॥

वीर पुरुष युद्धमें जाकर यथाशक्ति उत्तम पुरुषार्थ प्रकट करके धर्मके ऋणसे उऋण होता है और अपनी निन्दा नहीं कराता है ॥ १६ ॥

अलब्ध्वा यदि वा लब्ध्वा नानुशोचति पण्डितः ।
आनन्तर्यं चारभते न प्राणानां धनायते ॥ १७ ॥

विद्वान् पुरुषको अभीष्ट फलकी प्राप्ति हो या न हो, वह उसके लिये शोक नहीं करता । वह (अपनी पूरी शक्तिके अनुसार) प्राणपर्यन्त निरन्तर चेष्टा करता है और अपने लिये धनकी इच्छा नहीं करता ॥ १७ ॥

उद्भावयस्व वीर्यं वा तां वा गच्छ ध्रुवां गतिम् ।
धर्मं पुत्राग्रतः कृत्वा किंनिमित्तं हि जीवसि ॥ १८ ॥

बेटा ! धर्मको आगे रखकर या तो पराक्रम प्रकट कर अथवा उस गतिको प्राप्त हो जा, जो समस्त प्राणियोंके लिये निश्चित है, अन्यथा किसलिये जी रहा है ? ॥ १८ ॥

इष्टापूर्तं हि ते क्लीब कीर्तिश्च सकला हता ।
विच्छिन्नं भोगमूलं ते किंनिमित्तं हि जीवसि ॥ १९ ॥

कायर ! तेरे इष्ट और आपूर्त कर्म नष्ट हो गये, सारी कीर्ति धूलमें मिल गयी और भोगका मूल साधन राज्य भी छिन गया, अब तू किसलिये जी रहा है ? ॥ १९ ॥

शत्रुर्निमज्जता ग्राह्यो जङ्घायां प्रपतिष्यता ।
विपरिच्छिन्नमूलोऽपि न विषीदेत् कथंचन ॥ २० ॥
उद्यम्य धुरमुत्कर्षेदाजानेयकृतं स्मरन् ।

मनुष्य डूबते समय अथवा ऊँचेसे नीचे गिरते समय भी शत्रुकी टाँग अवश्य पकड़े और ऐसा करते समय यदि अपना मूलोच्छेद हो जाय तो भी किसी प्रकार विषाद न करे । अच्छी जातिके घोड़े न तो थकते हैं और न शिथिल ही होते हैं । उनके इस कार्यको स्मरण करके अपने ऊपर रक्खे हुए युद्ध आदिके भारको उद्योगपूर्वक वहन करे ॥ २०½ ॥

कुरु सत्त्वं च मानं च विद्धि पौरुषमात्मनः ॥ २१ ॥
उद्भावय कुलं मग्नं त्वत्कृते स्वयमेव हि ।

बेटा ! तू धैर्य और स्वाभिमानका अवलम्बन कर । अपने पुरुषार्थको जान और तेरे कारण डूबे हुए इस वंशका तू स्वयं ही उद्धार कर ॥ २१½ ॥

यस्य वृत्तं न जल्पन्ति मानवा महदद्भुतम् ॥ २२ ॥
राशिवर्धनमात्रं स नैव स्त्री न पुनः पुमान् ।

जिसके महान् और अद्भुत पुरुषार्थ एवं चरित्रकी सब लोग चर्चा नहीं करते हैं, वह मनुष्य अपने द्वारा जनसंख्याकी वृद्धिमात्र करनेवाला है । मेरी दृष्टिमें न तो वह स्त्री है और न पुरुष ही है ॥ २२½ ॥

दाने तपसि सत्ये च यस्य नोच्चरितं यशः ॥ २३ ॥
विद्यायामर्थलाभे वा मातुरुच्चार एव सः ।

दान, तपस्या, सत्यभाषण, विद्या तथा धनोपार्जनमें जिसके सुयशका सर्वत्र बखान नहीं होता है, वह मनुष्य अपनी माताका पुत्र नहीं, मलमूत्रमात्र ही है ॥ २३½ ॥

श्रुतेन तपसा वापि श्रिया वा विक्रमेण वा ॥ २४ ॥
जनान् योऽभिभवत्यन्यान् कर्मणा हि स वै पुमान्।

जो शास्त्रज्ञान, तपस्या, धन-सम्पत्ति अथवा पराक्रमके द्वारा दूसरे लोगोंको पराजित कर देता है, वह उसी श्रेष्ठ कर्मके द्वारा पुरुष कहलाता है ॥ २४½ ॥

न त्वेव जाल्मीं कापालीं वृत्तिमेषितुमर्हसि ॥ २५ ॥
नृशंस्यामयशस्यां च दुःखां कापुरुषोचिताम्।

तुझे हिजड़ों, कापालिकों, क्रूर मनुष्यों तथा कायरोंके लिये उचित भिक्षा आदि निन्दनीय वृत्तिका आश्रय कभी नहीं लेना चाहिये; क्योंकि वह अपयश फैलानेवाली और दुःखदायिनी होती है ॥ २५½ ॥

यमेनमभिनन्देयुरमित्राः पुरुषं कृशम् ॥ २६ ॥
लोकस्य समवज्ञातं निहीनासनवाससम्।
अहोलाभकरं हीनमल्पजीवनमल्पकम् ॥ २७ ॥
नेदृशं बन्धुमासाद्य बान्धवः सुखमेधते।

जिस दुर्बल मनुष्यका शत्रुपक्षके लोग अभिनन्दन करते हों, जो सब लोगोंके द्वारा अपमानित होता हो, जिसके आसन और वस्त्र निकृष्ट श्रेणीके हों, जो थोड़े लाभसे ही संतुष्ट होकर विस्मय प्रकट करता हो, जो सब प्रकारसे हीन, क्षुद्र जीवन वितानेवाला और ओछे स्वभावका हो, ऐसे बन्धुको पाकर उसके भाई-बन्धु सुखी नहीं होते ॥ २६-२७½ ॥

अवृत्त्यैव विपत्स्यामो वयं राष्ट्रात् प्रवासिताः ॥ २८ ॥
सर्वकामरसैर्हीनाः स्थानभ्रष्टा अकिंचनाः।

तेरी कायरताके कारण हमलोग इस राज्यसे निर्वासित होनेपर सम्पूर्ण मनोवाञ्छित सुखोंसे हीन, स्थानभ्रष्ट और अकिंचन हो जीविकाके अभावमें ही मर जायँगे ॥ २८½ ॥

अवल्गुकारिणं सत्सु कुलवंशस्य नाशनम् ॥ २९ ॥
कलिं पुत्रप्रवादेन संजय त्वामजीजनम्।

संजय ! तू सत्पुरुषोंके बीचमें अशोभन कार्य करनेवाला है, कुल और वंशकी प्रतिष्ठाका नाश करनेवाला है। जान पड़ता है, तेरे रूपमें पुत्रके नामपर मैंने कलि-पुरुषको ही जन्म दिया है ॥ २९½ ॥

निरमर्षं निरुत्साहं निर्वीर्यमरिनन्दनम् ॥ ३० ॥
मा स्म सीमन्तिनी काचिज्जनयेत् पुत्रमीदृशम्।

संसारकी कोई भी नारी ऐसे पुत्रको जन्म न दे, जो अमर्षशून्य, उत्साहहीन, बल और पराक्रमसे रहित तथा शत्रुओंका आनन्द बढ़ानेवाला हो ॥ ३०½ ॥

मा धूमाय ज्वलात्यन्तमाक्रम्य जहि शात्रवान् ॥ ३१ ॥
ज्वल मूर्धन्यमित्राणां मुहूर्तमपि वा क्षणम्।

अरे ! धूमकी तरह न उठ। जोर-जोरसे प्रज्वलित हो जा और वेगपूर्वक आक्रमण करके शत्रुसैनिकोंका संहार कर डाल। तू एक मुहूर्त या एक क्षणके लिये भी वैरियोंके मस्तकपर जलती हुई आग बनकर छा जा ॥ ३१½ ॥

एतावानेव पुरुषो यदमर्षी यदक्षमी ॥ ३२ ॥
क्षमावान् निरमर्षश्च नैव स्त्री न पुनः पुमान्।

जिस क्षत्रियके हृदयमें अमर्ष है और जो शत्रुओंके प्रति क्षमाभाव धारण नहीं करता, इतने ही गुणोंके कारण वह पुरुष कहलाता है। जो क्षमाशील और अमर्षशून्य है, वह क्षत्रिय न तो स्त्री है और न पुरुष ही कहलाने योग्य है ॥ ३२½ ॥

संतोषो वै श्रियं हन्ति तथानुक्रोश एव च ॥ ३३ ॥
अनुत्थानभये चोभे निरीहो नाश्नुते महत्।

संतोष, दया, उद्योगशून्यता और भय—ये सम्पत्तिका नाश करनेवाले हैं। निश्चेष्ट मनुष्य कभी कोई महत्त्वपूर्ण पद नहीं पा सकता ॥ ३३½ ॥

एभ्यो निकृतिपापेभ्यः प्रमुञ्चात्मानमात्मना ॥ ३४ ॥
आयसं हृदयं कृत्वा मृगयस्व पुनः स्वकम्।

पराजयके कारण जो लोकमें तेरी निन्दा और तिरस्कार हो रहे हैं, इन सब दोषोंसे तू स्वयं ही अपने-आपको मुक्त कर और अपने हृदयको लोहेके समान दृढ़ बनाकर पुनः अपने योग्य पद (राज्यवैभव) का अनुसंधान कर ॥ ३४½ ॥

परं विषहते यस्मात् तस्मात् पुरुष उच्यते ॥ ३५ ॥
तमाहुर्व्यर्थनामानं स्त्रीवद् य इह जीवति।

जो पर अर्थात् शत्रुका सामना करके उसके वेगको सह लेता है, वही उस पुरुषार्थके कारण पुरुष कहलाता है। जो इस जगत्में स्त्रीकी भाँति भीरुतापूर्ण जीवन बिताता है, उसका 'पुरुष' नाम व्यर्थ कहा गया है ॥ ३५½ ॥

शूरस्योर्जितसत्त्वस्य सिंहविक्रान्तचारिणः ॥ ३६ ॥
दिष्टभावं गतस्यापि विषये मोदते प्रजा।

यदि बढ़े हुए तेज और उत्साहवाला, शूरवीर एवं सिंहके समान पराक्रमी राजा युद्धमें दैववश वीरगतिको प्राप्त हो जाय तो भी उसके राज्यमें प्रजा सुखी ही रहती है ॥ ३६½ ॥

य आत्मनः प्रियसुखे हित्वा मृगयते श्रियम् ॥ ३७ ॥
अमात्यानामथो हर्षमादधात्यचिरेण सः ॥ ३८ ॥

जो अपने प्रिय और सुखका परित्याग करके सम्पत्तिका अन्वेषण करता है, वह शीघ्र ही अपने मन्त्रियोंका हर्ष बढ़ाता है ॥ ३७—३८ ॥

पुत्र उवाच

किं नु ते मामपश्यन्त्याः पृथिव्या अपि सर्वया।
किमाभरणकृत्यं ते किं भोगैर्जीवितेन वा ॥ ३९ ॥

पुत्र बोला—माँ ! यदि तू मुझे न देखे तो यह सारी पृथ्वी मिल जानेपर भी तुझे क्या सुख मिलेगा ? मेरे न

रहनेपर तुझे आभूषणोंकी भी क्या आवश्यकता होगी ? भाँति-भाँतिके भोगों और जीवनसे भी तेरा क्या प्रयोजन सिद्ध होगा ? ॥ ३९ ॥

मातोवाच

किमद्यकानां ये लोका द्विषन्तस्तानवाप्नुयुः ।
ये त्वादृतात्मनां लोकाः सुहृदस्तान् व्रजन्तु नः ॥ ४० ॥

विदुला बोली—बेटा ! आज क्या भोजन होगा ? इस प्रकारकी चिन्तामें पड़े हुए दरिद्रोंके जो लोक हैं, वे हमारे शत्रुओंको प्राप्त हों और सर्वत्र सम्मानित होनेवाले पुण्यात्मा पुरुषोंके जो लोक हैं, उनमें हमारे हितैषी सुहृद् पधारें ॥

भृत्यैर्विहीयमानानां परपिण्डोपजीविनाम् ।
कृपणानामसत्त्वानां मा वृत्तिमनुवर्तिथाः ॥ ४१ ॥

संजय ! भृत्यहीन, दूसरोंके अन्नपर जीनेवाले, दीन-दुर्बल मनुष्योंकी वृत्तिका अनुसरण न कर ॥ ४१ ॥

अनु त्वां तात जीवन्तु ब्राह्मणाः सुहृदस्तथा ।
पर्जन्यमिव भूतानि देवा इव शतक्रतुम् ॥ ४२ ॥

तात ! जैसे सब प्राणियोंकी जीविका मेघके अधीन है तथा जैसे सब देवता इन्द्रके आश्रित होकर जीवन धारण करते हैं, उसी प्रकार ब्राह्मण तथा हितैषी सुहृद् तेरे सहारे जीवन-निर्वाह करें ॥ ४२ ॥

यमाजीवन्ति पुरुषं सर्वभूतानि संजय ।
पक्वं द्रुममिवासाद्य तस्य जीवितमर्थवत् ॥ ४३ ॥

संजय ! पके फलवाले वृक्षके समान जिस पुरुषका आश्रय लेकर सब प्राणी जीविका चलाते हैं, उसीका जीवन सार्थक है ॥ ४३ ॥

यस्य शूरस्य विक्रान्तैरेधन्ते बान्धवाः सुखम् ।
त्रिदशा इव शक्रस्य साधु तस्येह जीवितम् ॥ ४४ ॥

जैसे इन्द्रके पराक्रमसे सब देवता सुखी रहते हैं, उसी प्रकार जिस शूरवीर पुरुषके बल और पुरुषार्थसे उसके भाई-बन्धु सुखपूर्वक उन्नति करते हैं, इस संसारमें उसीका जीवन श्रेष्ठ है ॥ ४४ ॥

स्वबाहुबलमाश्रित्य योऽभ्युज्जीवति मानवः ।
स लोके लभते कीर्तिं परत्र च शुभां गतिम् ॥ ४५ ॥

जो मनुष्य अपने बाहुबलका आश्रय लेकर उत्कृष्ट जीवन व्यतीत करता है, वही इस लोकमें उत्तम कीर्ति और परलोकमें शुभ गति पाता है ॥ ४५ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि विदुलापुत्रानुशासने त्रयस्त्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १३३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें विदुलाका अपने पुत्रको उपदेशविषयक एक सौ तैंतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १३३ ॥

चतुस्त्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः

विदुलाका अपने पुत्रको युद्धके लिये उत्साहित करना

विदुलोवाच

अथैतस्यामवस्थायां पौरुषं हातुमिच्छसि ।
निहीनसेवितं मार्गं गमिष्यस्यचिरादिव ॥ १ ॥

विदुला बोली—संजय ! यदि तू इस दशामें पौरुषको छोड़ देनेकी इच्छा करता है तो शीघ्र ही नीच पुरुषोंके मार्ग-पर जा पहुँचेगा ॥ १ ॥

यो हि तेजो यथाशक्ति न दर्शयति विक्रमात् ।
क्षत्रियो जीविताकाङ्क्षी स्तेन इत्येव तं विदुः ॥ २ ॥

जो क्षत्रिय अपने जीवनके लोभसे यथाशक्ति पराक्रम प्रकट करके अपने तेजका परिचय नहीं देता है, उसे सब लोग चोर मानते हैं ॥ २ ॥

अर्थवन्त्युपपन्नानि वाक्यानि गुणवन्ति च ।
नैव सम्प्राप्नुवन्ति त्वां मुमूर्षुमिव भेषजम् ॥ ३ ॥

जैसे मरणासन्न पुरुषको कोई भी दवा लागू नहीं होती, उसी प्रकार ये युक्तियुक्त, गुणकारी और सार्थक वचन भी तेरे हृदयतक पहुँच नहीं पाते हैं (यह कितने दुःखकी बात है) ॥

सन्ति वै सिन्धुराजस्य संतुष्टा न तथा जनाः ।
दौर्बल्यादासते मूढा व्यसनौघप्रतीक्षिणः ॥ ४ ॥

देख, सिन्धुराजकी प्रजा उससे संतुष्ट नहीं है, तथापि तेरी दुर्बलताके कारण किंकर्तव्यविमूढ़ हो उदासीन बैठी हुई है और सिन्धुराजपर विपत्तियोंके आनेकी बाट जोह रही है ॥

सहायोपचितिं कृत्वा व्यवसाय्य ततस्ततः ।
अनुदुष्येयुरपरे पश्यन्तस्तव पौरुषम् ॥ ५ ॥

दूसरे राजा भी तेरा पुरुषार्थ देखकर इधर-उधरसे विशेष चेष्टापूर्वक सहायक साधनोंकी वृद्धि करके सिन्धुराजके शत्रु हो सकते हैं ॥ ५ ॥

तैः कृत्वा सह संघातं गिरिदुर्गालयं चर ।
काले व्यसनमाकाङ्क्षन् नैवायमजरामरः ॥ ६ ॥

तू उन सबके साथ मैत्री करके यथासमय अपने शत्रु सिन्धु-राजपर विपत्ति आनेकी प्रतीक्षा करता हुआ पर्वतोंकी दुर्गम गुफामें विचरता रह; क्योंकि यह सिन्धुराज कोई अजर, अमर तो है नहीं ॥ ६ ॥

संजयो नामतश्च त्वं न च पश्यामि तत् त्वयि ।
अन्वर्थनामा भव मे पुत्र मा व्यर्थनामकः ॥ ७ ॥

तेरा नाम तो संजय है, परंतु तुझमें इस नामके अनुसार गुण मैं नहीं देख रही हूँ। बेटा! युद्धमें विजय प्राप्त करके अपना नाम सार्थक कर, व्यर्थ संजय नाम न धारण कर ॥

सम्यग्दृष्टिर्महाप्राज्ञो बालं त्वां ब्राह्मणोऽब्रवीत्।
अयं प्राप्य महत् कृच्छ्रं पुनर्वृद्धिं गमिष्यति ॥ ८ ॥

जब तू बालक था, उस समय एक उत्तम दृष्टिवाले, परम बुद्धिमान् ब्राह्मणने तेरे विषयमें कहा था कि 'यह महान् संकटमें पड़कर भी पुनः वृद्धिको प्राप्त होगा' ॥ ८ ॥

तस्य स्मरन्ती वचनमाशंसे विजयं तव ।
तस्मात् तात ब्रवीमि त्वां वक्ष्यामि च पुनः पुनः ॥ ९ ॥

उस ब्राह्मणकी बातको याद करके मैं यह आशा करती हूँ कि तेरी विजय होगी। तात! इसीलिये मैं बार-बार तुझसे कहती हूँ और कहती रहूँगी ॥ ९ ॥

यस्य ह्यर्थाभिनिर्वृत्तौ भवन्त्याप्यायिताः परे ।
तस्यार्थसिद्धिर्नियता नयेष्वर्थानुसारिणः ॥ १० ॥

जिसके प्रयोजनकी सिद्धि होनेपर उससे सम्बन्ध रखनेवाले दूसरे लोग भी संतुष्ट एवं उन्नतिको प्राप्त होते हैं, नीतिमार्गपर चलकर अर्थसिद्धिके लिये प्रयत्न करनेवाले उस पुरुषको निश्चय ही अपने अभीष्टकी सिद्धि होती है ॥ १० ॥

समृद्धिरसमृद्धिर्वा पूर्वेषां मम संजय ।
एवं विद्वान् युद्धमना भव मा प्रत्युपाहर ॥ ११ ॥

संजय! युद्धसे हमारे पूर्वजोंका अथवा मेरा कोई लाभ हो या हानि, युद्ध करना क्षत्रियोंका धर्म है, ऐसा समझकर उसीमें मन लगा, युद्ध बंद न कर ॥ ११ ॥

नातः पापीयसीं कांचिदवस्थां शम्बरोऽब्रवीत् ।
यत्र नैवाद्य न प्रातर्भोजनं प्रतिदृश्यते ॥ १२ ॥

जहाँ आजके लिये और कल सबेरेके लिये भी भोजन दिखायी नहीं देता, उससे बढ़कर महान् पापपूर्ण कोई दूसरी अवस्था नहीं है, ऐसा शम्बरासुरका कथन है ॥ १२ ॥

पतिपुत्रवधादेतत् परमं दुःखमब्रवीत् ।
दारिद्र्यमिति यत् प्रोक्तं पर्यायमरणं हि तत् ॥ १३ ॥

जिसका नाम दरिद्रता है, उसे पति और पुत्रके वधसे भी अधिक दुःखदायक बताया गया है। दरिद्रता मृत्युका समानार्थक शब्द है ॥ १३ ॥

अहं महाकुले जाता ह्रदाद्ध्रदमिवागता ।
ईश्वरी सर्वकल्याणी भर्त्रा परमपूजिता ॥ १४ ॥

मैं उच्चकुलमें उत्पन्न हो हंसीकी भाँति एक सरोवरसे दूसरे सरोवरमें आयी और इस राज्यकी स्वामिनी, समस्त कल्याणमय साधनोंसे सम्पन्न तथा पतिदेवके परम आदरकी पात्र हुई ॥ १४ ॥

महार्हमाल्याभरणां सुमृष्टाम्बरवाससम् ।
पुरा हृष्टः सुहृद्वर्गो मामपश्यत् सुहृद्गताम् ॥ १५ ॥

पूर्वकालमें मेरे सुहृदोंने जब मुझे सगे-सम्बन्धियोंके बीच बहुमूल्य हार एवं आभूषणोंसे विभूषित तथा परम सुन्दर स्वच्छ वस्त्रोंसे आच्छादित देखा, तब उन्हें बड़ा हर्ष हुआ ॥ १५ ॥

यदा मां चैव भार्यां च द्रष्टासि भृशदुर्बलाम् ।
न तदा जीवितेनार्थो भविता तव संजय ॥ १६ ॥

संजय! अब जिस समय तू मुझे और अपनी पत्नीको चिन्ताके कारण अत्यन्त दुर्बल देखेगा, उस समय तुझे जीवित रहनेकी इच्छा नहीं होगी ॥ १६ ॥

दासकर्मकरान् भृत्यानाचार्यर्त्विक्पुरोहितान् ।
अवृत्त्यास्मान् प्रजहतो दृष्ट्वा किं जीवितेन ते ॥ १७ ॥

जब सेवाका काम करनेवाले दास, भरण-पोषण पानेवाले कुटुम्बी, आचार्य, ऋत्विक् और पुरोहित जीविकाके अभावमें हमें छोड़कर जाने लगेंगे, उस समय उन्हें देखकर तुझे जीवन-धारणका कोई प्रयोजन नहीं दिखायी देगा ॥ १७ ॥

यदि कृत्यं न पश्यामि तवाद्याहं यथा पुरा ।
श्लाघनीयं यशस्यं च का शान्तिर्हृदयस्य मे ॥ १८ ॥

यदि पहलेके समान आज भी मैं तेरे यशकी वृद्धि करनेवाले प्रशंसनीय कर्मोंको नहीं देखूँगी तो मेरे हृदयको क्या शान्ति मिलेगी ? ॥ १८ ॥

नेति चेद् ब्राह्मणं ब्रूयां दीर्येत हृदयं मम ।
न ह्यहं न च मे भर्ता नेति ब्राह्मणमुक्तवान् ॥ १९ ॥

यदि किसी ब्राह्मणके माँगनेपर मैं उसकी अभीष्ट वस्तुके लिये 'नाहीं' कह दूँगी तो उसी समय मेरा हृदय विदीर्ण हो जायगा। आजतक मैंने या मेरे पतिदेवने किसी ब्राह्मणसे नाहीं नहीं की है ॥ १९ ॥

वयमाश्रयणीयाः स्म नाश्रितारः परस्य च ।
सान्यमासाद्य जीवन्ती परित्यक्ष्यामि जीवितम् ॥ २० ॥

हम सदा लोगोंके आश्रयदाता रहे हैं, दूसरोंके आश्रित कभी नहीं रहे; परंतु अब यदि दूसरेका आश्रय लेकर जीवन धारण करना पड़े तो मैं ऐसे जीवनका परित्याग ही कर दूँगी।

अपारे भव नः पारमप्लवे भव नः प्लवः ।
कुरुष्व स्थानमस्थाने मृतान् संजीवयस्व नः ॥ २१ ॥

बेटा! अपार समुद्रमें डूबते हुए हमलोगोंको तू पार लगानेवाला हो। नौकाविहीन अगाध जलराशि (महान् संकट) में तू हमारे लिये नौका हो जा। हमारे लिये कोई स्थान नहीं रह गया है, तू स्थान बन जा और हम मृतप्राय हो रहे हैं, तू हमें जीवन दान कर ॥ २१ ॥

सर्वे ते शत्रवः शक्या न चेज्जीवितुमिच्छसि ।
अथ चेदीदृशीं वृत्तिं क्लीबामभ्युपपद्यसे ॥ २२ ॥
निर्विण्णात्मा हतमना मुञ्चैतां पापजीविकाम् ।

यदि तुझे जीवनके प्रति अधिक आसक्ति न हो तो तू अपने सभी शत्रुओंको परास्त कर सकता है और यदि इस प्रकार विषादग्रस्त एवं हतोत्साह होकर ऐसी कायरोंकी-सी वृत्ति अपना रहा है तो तुझे इस पापपूर्ण जीविकाको त्याग देना चाहिये ॥ २२½ ॥

एकशत्रुवधेनैव शूरो गच्छति विश्रुतिम् ॥ २३ ॥
इन्द्रो वृत्रवधेनैव महेन्द्रः समपद्यत ।
माहेन्द्रं च गृहं लेभे लोकानां चेश्वरोऽभवत् ॥ २४ ॥

एक शत्रुका वध करनेसे ही शूरवीर पुरुष सम्पूर्ण विश्वमें विख्यात हो जाता है । देवराज इन्द्र केवल वृत्रासुरका वध करके ही 'महेन्द्र' नामसे प्रसिद्ध हो गये । उन्हें रहनेके लिये इन्द्रभवन प्राप्त हुआ और वे तीनों लोकोंके अधीश्वर हो गये ॥

नाम विश्राव्य वै संख्ये शत्रूनाहूय दंशितान् ।
सेनाग्रं चापि विद्राव्य हत्वा वा पुरुषं वरम् ॥ २५ ॥
यदैव लभते वीरः सुयुद्धेन महद् यशः ।
तदैव प्रव्यथन्तेऽस्य शत्रवो विनमन्ति च ॥ २६ ॥

वीर पुरुष युद्धमें अपना नाम सुनाकर, कवचधारी शत्रुओंको ललकारकर, सेनाके अग्रभागको खदेड़कर अथवा शत्रुपक्षके किसी श्रेष्ठ पुरुषका वध करके जभी उत्तम युद्धके द्वारा महान् यश प्राप्त कर लेता है, तभी उसके शत्रु व्यथित होते और उसके सामने मस्तक झुकाते हैं ॥२५-२६॥

त्यक्त्वाऽऽत्मानं रणे दक्षं शूरं कापुरुषा जनाः ।
अवशास्तर्पयन्ति स्म सर्वकामसमृद्धिभिः ॥ २७ ॥

कायर मनुष्य विवश हो युद्धमें अपने शरीरका त्याग करके युद्धकुशल शूरवीरको सम्पूर्ण मनोरथोंकी पूर्ति करनेवाली अपनी समृद्धियोंके द्वारा तृप्त करते हैं ॥ २७ ॥

राज्यं चाप्युग्रविभ्रंशं संशयो जीवितस्य वा ।
न लब्धस्य हि शत्रोर्वै शेषं कुर्वन्ति साधवः ॥ २८ ॥

जिसका भयानक रूपसे पतन हुआ है, वह राज्य प्राप्त हो जाय या जीवन ही संकटमें पड़ जाय, किसी भी दशामें अपने हाथमें आये हुए शत्रुको श्रेष्ठ पुरुष शेष नहीं रहने देते हैं ॥

स्वर्गद्वारोपमं राज्यमथवाप्यमृतोपमम् ।
युद्धमेकायनं मत्वा पतोल्मुक इवारिषु ॥ २९ ॥

युद्धको स्वर्गद्वारके सदृश उत्तम गति अथवा अमृतके सदृश राज्यकी प्राप्तिका एकमात्र मार्ग मानकर तू जलते हुए काठकी भाँति शत्रुओंपर टूट पड़ ॥ २९ ॥

जहि शत्रून् रणे राजन् स्वधर्ममनुपालय ।
मा त्वा दृशं सुकृपणं शत्रूणां भयवर्धनम् ॥ ३० ॥

राजन् ! तू युद्धमें शत्रुओंको मार और अपने धर्मका पालन कर । शत्रुओंका भय बढ़ानेवाले तुझ वीर पुत्रको मैं अत्यन्त दीन या कायरके रूपमें न देखूँ ॥ ३० ॥

अस्मदीयैश्च शोचद्भिर्नदद्भिश्च परैर्वृतम् ।
अपि त्वां नानुपश्येयं दीनाद् दीनमिव स्थितम् ॥ ३१ ॥

मैं तुझे दीनसे भी दीनके समान दयनीय अवस्थामें पड़ा हुआ तथा शोकमग्न हुए अपने पक्षके और गर्जन-तर्जन करते हुए शत्रुपक्षके लोगोंसे घिरा हुआ नहीं देखना चाहती ॥३१॥

हृष्य सौवीरकन्याभिः श्लाघस्वार्थैर्यथा पुरा ।
मा च सैन्धवकन्यानामवसन्नो वशं गमः ॥ ३२ ॥

तू सौवीर देशकी कन्याओं (अपनी पत्नियों) के साथ हर्षका अनुभव कर । पहलेकी भाँति अपने धनकी अधिकताके लिये गर्व कर । विपत्तिमें पड़कर सिन्धुदेशीय (शत्रुदेशकी) कन्याओंके वशमें न हो जा ॥ ३२ ॥

युवा रूपेण सम्पन्नो विद्ययाभिजनेन च ।
यत् त्वादृशो विकुर्वीत यशस्वी लोकविश्रुतः ॥ ३३ ॥
अधुर्यवच्च वोढव्ये मन्ये मरणमेव तत् ।

तू रूप, यौवन, विद्या और कुलीनतासे सम्पन्न है, यशस्वी तथा लोकमें विख्यात है । तुझ-जैसा वीर पुरुष यदि पराक्रमके अवसरपर डर जाय, भार ढोनेके समय बिना नथे हुए बैलके समान बैठ रहे या भाग जाय तो मैं इसे तेरा मरण ही समझती हूँ ॥३३½ ॥

यदि त्वामनुपश्यामि परस्य प्रियवादिनम् ॥ ३४ ॥
पृष्ठतोऽनुव्रजन्तं वा का शान्तिर्हृदयस्य मे ।

यदि मैं यह देखूँ कि तू शत्रुसे मीठी-मीठी बातें करता तथा उसके पीछे-पीछे जाता है तो मेरे हृदयमें क्या शान्ति मिलेगी ? ॥ ३४½ ॥

नास्मिन् जातु कुले जातो गच्छेद् योऽन्यस्य पृष्ठतः ।३५।
न त्वं परस्यानुचरस्तात जीवितुमर्हसि ।

इस कुलमें कभी कोई ऐसा पुरुष नहीं उत्पन्न हुआ, जो दूसरेके पीछे-पीछे चला हो । तात ! तू दूसरेका सेवक होकर जीवित रहनेके योग्य नहीं है ॥ ३५½ ॥

अहं हि क्षत्रहृदयं वेद यत् परिशाश्वतम् ॥ ३६ ॥
पूर्वैः पूर्वतरैः प्रोक्तं परैः परतरैरपि ।
शाश्वतं चाव्ययं चैव प्रजापतिविनिर्मितम् ॥ ३७ ॥

स्वयं विधाताने जिसकी सृष्टि की है, प्राचीन और अत्यन्त प्राचीन पुरुषोंने जिसका वर्णन किया है, परवर्ती और अतिपरवर्ती सत्पुरुष जिसका वर्णन करेंगे तथा जो चिरन्तन एवं अविनाशी है, उस सनातन और उत्तम क्षत्रिय-हृदयको मैं जानती हूँ ॥ ३६-३७ ॥

योवै कश्चिदिहाजातः क्षत्रियः क्षत्रकर्मवित्।
भयाद् वृत्तिसमीक्षो वा न नमेदिह कस्यचित्॥ ३८ ॥

इस जगत्‌में जो कोई भी क्षत्रिय उत्पन्न हुआ है और क्षत्रियधर्मको जाननेवाला है; वह भयसे अथवा आजीविकाकी ओर दृष्टि रखकर भी किसीके सामने नतमस्तक नहीं हो सकता॥ ३८ ॥

उद्यच्छेदेव न नमेदुद्यमो ह्येव पौरुषम् ।
अप्यपर्वणि भज्येत न नमेतेह कस्यचित् ॥ ३९ ॥

सदा उद्यम करे; किसीके आगे सिर न झुकावे । उद्यम ही पुरुषार्थ है। असमयमें नष्ट भले ही हो जाय, परंतु किसीके आगे नतमस्तक न हो ॥ ३९ ॥

मातङ्गो मत्त इव च परीयात् सुमहामनाः ।
ब्राह्मणेभ्यो नमेन्नित्यं धर्मायैव च संजय ॥ ४० ॥

संजय ! महामनस्वी क्षत्रिय मदमत्त हाथीके समान सर्वत्र निर्भय विचरण करे और सदा ब्राह्मणोंको तथा धर्मको ही नमस्कार करे ॥ ४० ॥

नियच्छन्नितरान् वर्णान् विनिघ्नन् सर्वदुष्कृतः।
ससहायोऽसहायो वा यावज्जीवं तथा भवेत् ॥ ४१ ॥

क्षत्रिय ससहाय हो अथवा असहाय, वह अन्य वर्णके लोगोंको काबूमें रखता और समस्त पापियोंको दण्ड देता हुआ जीवनभर वैसा ही उद्यमशील बना रहे ॥ ४१ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि विदुलापुत्रानुशासने चतुस्त्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १३४॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें विदुलाका अपने पुत्रको उपदेशविषयक एक सौ चौंतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १३४ ॥

पञ्चत्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः

विदुला और उसके पुत्रका संवाद—विदुलाके द्वारा कार्यमें सफलता प्राप्त करने तथा शत्रुवशीकरणके उपायोंका निर्देश

पुत्र उवाच

कृष्णायसस्येव च ते संहत्य हृदयं कृतम् ।
मम मातस्त्वकरुणे वीरप्रज्ञे ह्यमर्षणे ॥ १ ॥

पुत्र बोला—माँ ! तेरा हृदय तो ऐसा जान पड़ता है, मानो काले लोहपिण्डको ठोक-पीटकर बनाया गया हो । तू मेरी माता होकर भी इतनी निर्दय है। तेरी बुद्धि वीरोंके समान है और तू सदा अमर्षमें भरी रहती है ॥ १ ॥

अहो क्षत्रसमाचारो यत्र मामितरं यथा ।
नियोजयसि युद्धाय परमातेव मां तथा ॥ २ ॥

अहो ! क्षत्रियोंका आचार-व्यवहार कैसा आश्चर्यजनक है, जिसमें स्थित होकर तू मुझे इस प्रकार युद्धमें लगा रही है, मानो मैं दूसरेका बेटा होऊँ और तू दूसरेकी माँ हो ॥२॥

ईदृशं वचनं ब्रूयाद् भवती पुत्रमेकजम् ।
किं नु ते मामपश्यन्त्याः पृथिव्या अपि सर्वया॥ ३ ॥

मुझ इकलौते पुत्रसे तू ऐसी निष्ठुर बात कहे, आश्चर्य है ! मुझे न देखनेपर यह सारी पृथ्वी भी तुझे मिल जाय तो इससे तुझे क्या सुख मिलेगा ? ॥ ३ ॥

किमाभरणकृत्येन किं भोगैर्जीवितेन वा।
मयि वा संगरहते प्रियपुत्रे विशेषतः ॥ ४ ॥

मैं विशेषतः तेरा प्रिय पुत्र यदि युद्धमें मारा जाऊँ तो तुझे आभूषणोंसे, भोग-सामग्रियोंसे तथा अपने जीवनसे भी कौन-सा सुख प्राप्त होगा ? ॥ ४ ॥

मातोवाच

सर्वावस्था हि विदुषां तात धर्मार्थकारणात् ।
तावेवाभिसमीक्ष्याहं संजय त्वामचूचुदम् ॥ ५ ॥

माता बोली—तात संजय ! विद्वानोंकी सारी अवस्था भी धर्म और अर्थके निमित्त ही होती है । उन्हीं दोनोंकी ओर दृष्टि रखकर मैंने भी तुझे युद्धके लिये प्रेरित किया है ।५।

स समीक्ष्यक्रमोपेतो मुख्यः कालोऽयमागतः ।
अस्मिंश्चेदागते काले कार्यं न प्रतिपद्यसे ॥ ६ ॥
असम्भावितरूपस्त्वमानृशंस्यं करिष्यसि ।
तं त्वामयशसा स्पृष्टं न ब्रूयां यदि संजय ॥ ७ ॥
खरीवात्सल्यमाहुस्तन्निःसामर्थ्यमहेतुकम् ।
सद्भिर्विगर्हितं मार्गं त्यज मूर्खनिषेवितम् ॥ ८ ॥

यह तेरे लिये दर्शनीय पराक्रम करके दिखानेका मुख्य समय प्राप्त हुआ है । ऐसे समयमें भी यदि तू अपने कर्तव्यका पालन नहीं करेगा और तुझसे जैसी सम्भावना थी, उसके विपरीत स्वभावका परिचय देकर शत्रुओंके प्रति क्रूरतापूर्ण बर्ताव नहीं करेगा तो उस दशामें सब ओर तेरा अपयश फैल जायगा । संजय ! ऐसे अवसरपर भी यदि मैं तुझे कुछ न कहूँ तो मेरा वह वात्सल्य गदहीके स्नेहके समान शक्तिहीन तथा निरर्थक होगा । अतः वत्स ! साधु पुरुष जिसकी निन्दा करते हैं और मूर्ख मनुष्य ही जिसपर चलते हैं, उस मार्गको त्याग दे ॥ ६–८ ॥

अविद्या वै महत्यस्ति यामिमां संश्रिताः प्रजाः।
तत्र स्याद् यदि सद्वृत्तं तेन मे त्वं प्रियो भवेः ॥ ९ ॥

प्रजाने जिसका आश्रय ले रक्खा है, वह तो बड़ी भारी अविद्या ही है। तू तो मुझे तभी प्रिय हो सकता है, जब तेरा आचरण सत्पुरुषोंके योग्य हो जाय ॥ ९ ॥

धर्मार्थगुणयुक्तेन नेतरेण कथंचन।
दैवमानुषयुक्तेन सद्भिराचरितेन च ॥ १० ॥

धर्म, अर्थ और गुणोंसे युक्त, देवलोक तथा मनुष्य-लोकमें भी उपयोगी और सत्पुरुषोंद्वारा आचरणमें लाये हुए सत्कर्मसे ही तू मेरा प्रिय हो सकता है, इसके विपरीत असत्कर्मसे किसी प्रकार भी तू मुझे प्रिय नहीं हो सकता ॥१०॥

यो ह्येवमविनीतेन रमते पुत्र नप्तृणा।
अनुत्थानवता चापि दुर्विनीतेन दुर्धिया ॥ ११ ॥
रमते यस्तु पुत्रेण मोघं तस्य प्रजाफलम्।
अकुर्वन्तो हि कर्माणि कुर्वन्तो निन्दितानि च ॥ १२ ॥
सुखं नैवेह नामुत्र लभन्ते पुरुषाधमाः।

बेटा! जो इस प्रकार विनयशून्य एवं अशिक्षित पौत्रसे हर्षको प्राप्त होता है तथा उद्योगरहित, दुर्विनीत एवं दुर्बुद्धि पुत्रसे सुख मानता है, उसका संतानोत्पादन व्यर्थ है; क्योंकि वे अयोग्य पुत्र-पौत्र पहले तो कर्म ही नहीं करते हैं और यदि करते हैं तो निन्दित कर्म ही करते हैं, इससे वे अधम मनुष्य न तो इस लोकमें सुख पाते हैं और न परलोकमें ही ॥ ११-१२½ ॥

युद्धाय क्षत्रियः सृष्टः संजयेह जयाय च ॥ १३ ॥
जयन् वा वध्यमानो वा प्राप्नोतीन्द्रसलोकताम्।
न शक्रभवने पुण्ये दिवि तद् विद्यते सुखम्।
यदमित्रान् वशे कृत्वा क्षत्रियः सुखमश्नुते ॥ १४ ॥

संजय! इस लोकमें युद्ध एवं विजयके लिये ही विधाताने क्षत्रियकी सृष्टि की है। वह विजय प्राप्त करे या युद्धमें मारा जाय, सभी दशाओंमें उसे इन्द्रलोककी प्राप्ति होती है। पुण्यमय स्वर्गलोकके इन्द्रभवनमें भी वह सुख नहीं मिलता, जिसे क्षत्रिय वीर शत्रुओंको वशमें करके सानन्द अनुभव करता है ॥ १३-१४ ॥

मन्युना दह्यमानेन पुरुषेण मनस्विना।
निकृतेनेह बहुशः शत्रून् प्रतिजिगीषया ॥ १५ ॥
आत्मानं वा परित्यज्य शत्रुं वा विनिपात्य च।
अतोऽन्येन प्रकारेण शान्तिरस्य कुतो भवेत् ॥ १६ ॥

अतएव जो मनस्वी क्षत्रिय अनेक बार पराजित हो क्रोधसे दग्ध हो रहा हो, वह अवश्य ही विजयकी इच्छासे शत्रुओंपर आक्रमण करे। फिर तो वह अपने शरीरका परित्याग करके अथवा शत्रुको मार गिराकर ही शान्ति लाभ करता है। इसके सिवा दूसरे किसी प्रकारसे उसे कैसे शान्ति प्राप्त हो सकती है? ॥ १५-१६ ॥

इह प्राज्ञो हि पुरुषः स्वल्पमप्रियमिच्छति।
यस्य स्वल्पं प्रियं लोके ध्रुवं तस्याल्पमप्रियम् ॥ १७ ॥

बुद्धिमान् पुरुष इस जगत्‌में अत्यन्त अल्पमात्रामें अप्रिय की इच्छा करता है। लोकमें जिसका प्रिय अल्प होता है, उसका अप्रिय भी निश्चय ही अल्प होगा ॥ १७ ॥

प्रियाभावाच्च पुरुषो नैव प्राप्नोति शोभनम्।
ध्रुवं चाभावमभ्येति गत्वा गङ्गेव सागरम् ॥ १८ ॥

प्रियके अभावमें मनुष्यकी शोभा नहीं होती है। जैसे गङ्गा समुद्रमें जाकर विलुप्त हो जाती है, उसी प्रकार वह अभावग्रस्त पुरुष भी निश्चय ही लुप्त हो जाता है ॥ १८ ॥

पुत्र उवाच

नेयं मतिस्त्वया वाच्या मातः पुत्रे विशेषतः।
कारुण्यमेवात्र पश्य भूत्वेह जडमूकवत् ॥ १९ ॥

पुत्रने कहा—माँ! तुझे अपने मुखसे ऐसा विचार नहीं व्यक्त करना चाहिये, अतः तू जड और मूककी भाँति होकर मुझ अपने पुत्रको विशेषरूपसे करुणापूर्ण दृष्टिसे ही देखो ॥

मातोवाच

अतो मे भूयसी नन्दिर्यदेवमनुपश्यसि।
चोद्यं मां चोदयस्येतद् भृशं वै चोदयामि ते ॥ २० ॥

माता बोली—तेरे इस कथनसे मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई है। तू इस प्रकार विचार तो करता है। मुझे मेरे कर्तव्य (पुत्रपर दयादृष्टि करने) की प्रेरणा दे रहा है, इसीलिये मैं भी तुझे बार-बार तेरा कर्तव्य सुझा रही हूँ ॥ २० ॥

अथ त्वां पूजयिष्यामि हत्वा वै सर्वसैन्धवान्।
अहं पश्यामि विजयं कृच्छ्रभावितमेव ते ॥ २१ ॥

जब तू सिन्धुदेशके समस्त योद्धाओंको मारकर आयेगा, उस समय मैं तेरा स्वागत करूँगी। मुझे विश्वास है कि बड़े कष्टसे प्राप्त होनेवाली तेरी विजय मैं अवश्य देखूँगी ॥ २१॥

पुत्र उवाच

अकोशस्यासहायस्य कुतः सिद्धिर्जयो मम।
इत्यवस्थां विदित्वैतामात्मनाऽऽत्मनि दारुणाम् ॥ २२॥
राज्याद् भावो निवृत्तो मे त्रिदिवादिव दुष्कृतेः।
ईदृशं भवती कंचिदुपायमनुपश्यति ॥ २३ ॥

पुत्र बोला—माँ! मेरे पास न तो खजाना है और न

सहायता करनेवाले सैनिक ही हैं, फिर मुझे विजयरूप अभीष्टकी सिद्धि कैसे प्राप्त होगी ? अपनी इस दारुण अवस्थाके विषयमें स्वयं ही विचार करके मैंने राज्यकी ओरसे अपना अनुराग उसी प्रकार दूर हटा लिया है, जैसे स्वर्गकी ओरसे पापीका भाव हट जाता है। क्या तू ऐसा कोई उपाय देख रही है, जिससे मैं विजय पा सकूँ ॥ २२-२३ ॥

तन्मे परिणतप्रज्ञे सम्यक् प्रब्रूहि पृच्छते ।
करिष्यामि हि तत् सर्वं यथावदनुशासनम् ॥ २४ ॥

परिपक्व बुद्धिवाली माँ ! मेरे इस प्रश्नके अनुसार तू कोई उत्तम उपाय बता दे। मैं तेरे सम्पूर्ण आदेशोंका यथोचित रीतिसे पालन करूँगा ॥ २४ ॥

मातोवाच

पुत्र नात्मावमन्तव्यः पूर्वाभिरसमृद्धिभिः ।
अभूत्वा हि भवन्त्यर्था भूत्वा नश्यन्ति चापरे ।
अमर्षेणैव चाप्यर्था नारब्धव्याः सुबालिशैः ॥ २५ ॥

माता बोली—बेटा ! पहलेकी सम्पत्ति नष्ट हो गयी है—यह सोचकर तुझे अपनी अवज्ञा नहीं करनी चाहिये, क्योंकि धन-वैभव तो नष्ट होकर पुनः प्राप्त हो जाते हैं और प्राप्त होकर भी फिर नष्ट हो जाते हैं; अतः बुद्धिहीन पुरुषोंको ईर्ष्यावश ही धनकी प्राप्तिके लिये कर्मोंका आरम्भ नहीं करना चाहिये ॥ २५ ॥

सर्वेषां कर्मणां तात फले नित्यमनित्यता ।
अनित्यमिति जानन्तो न भवन्ति भवन्ति च ॥ २६ ॥

तात ! सभी कर्मोंके फलमें सदा अनित्यता रहती है—कभी उनका फल मिलता है और कभी नहीं भी मिलता है। इस अनित्यताको जानते हुए भी बुद्धिमान् पुरुष कर्म करते हैं और वे कभी असफल होते हैं, तो कभी सफल भी हो जाते हैं ॥ २६ ॥

अथ ये नैव कुर्वन्ति नैव जातु भवन्ति ते ।
ऐकगुण्यमनीहायामभावः कर्मणां फलम् ॥ २७ ॥
अथ द्वैगुण्यमीहायां फलं भवति वा न वा ।

परंतु जो कर्मोंका आरम्भ ही नहीं करते, वे तो कभी अपने अभीष्टकी सिद्धिमें सफल नहीं होते, अतः कर्मोंको छोड़कर निश्चेष्ट बैठनेका यह एक ही परिणाम होता है कि मनुष्योंको कभी अभीष्ट मनोरथकी प्राप्ति नहीं हो सकती। परंतु कर्मोंमें उत्साहपूर्वक लगे रहनेपर तो दोनों प्रकारके परिणामोंकी सम्भावना रहती है—कर्मोंका वाञ्छनीय फल प्राप्त भी हो सकता है और नहीं भी ॥ २७½ ॥

यस्य प्रागेव विदिता सर्वार्थानामनित्यता ॥ २८ ॥
नुदेद् वृद्ध्यसमृद्धी स प्रतिकूले नृपात्मज ।

राजकुमार ! जिसे पहलेसे ही सभी पदार्थोंकी अनित्यताका ज्ञान होता है, वह ज्ञानी पुरुष अपने प्रतिकूल शत्रुकी उन्नति और अपनी अवनतिसे प्राप्त हुए दुःखका विचार द्वारा निवारण कर सकता है ॥ २८½ ॥

उत्थातव्यं जागृतव्यं योक्तव्यं भूतिकर्मसु ॥ २९ ॥
भविष्यतीत्येव मनः कृत्वा सततमव्यथैः ।

सफलता होगी ही, ऐसा मनमें दृढ़ विश्वास लेकर निरन्तर विषादरहित होकर तुझे उठना, सजग होना और ऐश्वर्यकी प्राप्ति करानेवाले कर्मोंमें लग जाना चाहिये॥२९½॥

मङ्गलानि पुरस्कृत्य ब्राह्मणांश्चेश्वरैः सह ॥ ३० ॥
प्राज्ञस्य नृपतेराशु वृद्धिर्भवति पुत्रक ।
अभिवर्तति लक्ष्मीस्तं प्राचीमिव दिवाकरः ॥ ३१ ॥

वत्स ! देवताओंसहित ब्राह्मणोंका पूजन तथा अन्यान्य माङ्गलिक कार्य सम्पन्न करके प्रत्येक कार्यका आरम्भ करनेवाले बुद्धिमान् राजाकी शीघ्र उन्नति होती है। जैसे सूर्य अवश्य ही पूर्व दिशाका आश्रय ले उसे प्रकाशित करते हैं, उसी प्रकार राजलक्ष्मी पूर्वोक्त राजाको सब ओरसे प्राप्त होकर उसे यश एवं तेजसे सम्पन्न कर देती है ॥ ३०-३१ ॥

निदर्शनान्युपायांश्च बहून्युद्धर्षणानि च ।
अनुदर्शितरूपोऽसि पश्यामि कुरु पौरुषम् ॥ ३२ ॥

बेटा ! मैंने तुझे अनेक प्रकारके दृष्टान्त, बहुतसे उपाय और कितने ही उत्साहजनक वचन सुनाये हैं। लोकवृत्तान्तका भी बारंबार दिग्दर्शन कराया है। अब तू पुरुषार्थ कर। मैं तेरा पराक्रम देखूँगी ॥ ३२ ॥

पुरुषार्थमभिप्रेतं समाहर्तुमिहार्हसि ।
क्रुद्धाँल्लुब्धान् परिक्षीणानवलिप्तान् विमानितान् ।३३।
स्पर्धिनश्चैव ये केचित् तान् युक्त उपधारय ।
एतेन त्वं प्रकारेण महतो भेत्स्यसे गणान् ॥ ३४ ॥
महावेग इवोद्धूतो मातरिश्वा बलाहकान् ।

तुझे यहाँ अभीष्ट पुरुषार्थ प्रकट करना चाहिये। जो लोग सिन्धुराजपर कुपित हों, जिनके मनमें धनका लोभ हो, जो सिन्धुनरेशके आक्रमणसे सर्वथा क्षीण हो गये हों, जिन्हें अपने बल और पौरुषपर गर्व हो तथा जो तेरे शत्रुओंद्वारा अपमानित हों उनसे बदला लेनेके लिये होड़ लगाये बैठे हों, उन सबको तू सावधान होकर दान-मानके द्वारा अपने पक्षमें कर ले। इस प्रकार तू बड़े-से-बड़े समुदायको फोड़ लेगा। ठीक उसी तरह, जैसे महान् वेगशाली वायु वेगपूर्वक उठकर बादलोंको छिन्न-भिन्न कर देती है ॥ ३३-३४½ ॥

तेषामग्रप्रदायी स्याः कल्योत्थायी प्रियंवदः ॥ ३५ ॥
ते त्वां प्रियं करिष्यन्ति पुरो धास्यन्ति च ध्रुवम् ।

तू उन्हें अग्रिम वेतन दे दिया कर। प्रतिदिन प्रातःकाल सोकर उठ जा और सबके साथ प्रिय वचन बोल। ऐसा करनेसे वे अवश्य तेरा प्रिय करेंगे और निश्चय ही तुझे अपना अगुआ बना लेंगे ॥ ३५½ ॥

यदैव शत्रुर्जानीयात् सपत्नं त्यक्तजीवितम्।
तदैवास्मादुद्विजते सर्पाद् वेश्मगतादिव ॥ ३६ ॥

शत्रुको ज्यों ही यह मालूम हो जाता है कि उसका विपक्षी प्राणोंका मोह छोड़कर युद्ध करनेके लिये तैयार है, तभी घरमें रहनेवाले सर्पकी भाँति उसके भयसे वह उद्विग्न हो उठता है ॥ ३६ ॥

तं विदित्वा पराक्रान्तं वशे न कुरुते यदि।
निर्वादैर्निर्वदेदेनमन्ततस्तद् भविष्यति ॥ ३७ ॥

यदि शत्रुको पराक्रमसम्पन्न जानकर अपनी असमर्थताके कारण उसे वशमें न कर सके तो उसे विश्वसनीय दूतोंद्वारा साम एवं दान नीतिका प्रयोग करके अनुकूल बना ले (जिससे वह आक्रमण न करके शान्त बैठा रहे)। ऐसा करनेसे अन्ततोगत्वा उसका वशीकरण हो जायगा ॥ ३७॥

निर्वादादास्पदं लब्ध्वा धनवृद्धिर्भविष्यति।
धनवन्तं हि मित्राणि भजन्ते चाश्रयन्ति च ॥ ३८ ॥

इस प्रकार शत्रुको शान्त कर देनेसे निर्भय आश्रय प्राप्त होता है। उसे प्राप्त कर लेनेपर युद्ध आदिमें न फँसनेके कारण अपने धनकी वृद्धि होती है। फिर धनसम्पन्न राजाका बहुतसे मित्र आश्रय लेते और उसकी सेवा करते हैं ॥ ३८ ॥

स्खलितार्थं पुनस्तात संत्यजन्ति च बान्धवाः।
अप्यस्मिन् नाश्वसन्ते च जुगुप्सन्ते च तादृशम्॥ ३९ ॥

इसके विपरीत जिसका धन नष्ट हो गया है, उसके मित्र और भाई-बन्धु भी उसे त्याग देते हैं। उसपर विश्वास नहीं करते हैं तथा उसके-जैसे लोगोंकी निन्दा भी करते रहते हैं ॥

शत्रुं कृत्वा यः सहायं विश्वासमुपगच्छति।
स न सम्भाव्यमेवैतद् यद् राज्यं प्राप्नुयादिति ॥ ४० ॥

जो शत्रुको सहायक बनाकर उसका विश्वास करता है, वह राज्य प्राप्त कर लेगा, इसकी कभी सम्भावना ही नहीं करनी चाहिये ॥ ४० ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि विदुलापुत्रानुशासने पञ्चत्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १३५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें विदुलाको पुत्रका उपदेशविषयक एक सौ पैंतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १३५ ॥

षट्त्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः

विदुलाके उपदेशसे उसके पुत्रका युद्धके लिये उद्यत होना

मातोवाच

नैव राज्ञा दरः कार्यो जातु कस्याञ्चिदापदि।
अथ चेदपि दीर्णः स्यान्नैव वर्तेत दीर्णवत् ॥ १ ॥

माता बोली—पुत्र! कैसी भी आपत्ति क्यों न आ जाय, राजाको कभी भयभीत होना या घबराना नहीं चाहिये। यदि वह डरा हुआ हो तो भी डरे हुएके समान कोई बर्ताव न करे ॥ १ ॥

दीर्णं हि दृष्ट्वा राजानं सर्वमेवानुदीर्यते।
राष्ट्रं बलममात्याश्च पृथक् कुर्वन्ति ते मतीः ॥ २ ॥

राजाको भयभीत देखकर उसके पक्षके सभी लोग भयभीत हो जाते हैं। राज्यकी प्रजा, सेना और मन्त्री भी उससे भिन्न विचार रखने लगते हैं ॥ २ ॥

शत्रूनेके प्रपद्यन्ते प्रजहत्यपरे पुनः।
अन्ये तु प्रजिहीर्षन्ति ये पुरस्ताद् विमानिताः ॥ ३ ॥

उनमेंसे कुछ लोग तो उस राजाके शत्रुओंकी शरणमें चले जाते हैं, दूसरे लोग उसका त्यागमात्र कर देते हैं और कुछ लोग जो पहले राजाद्वारा अपमानित हुए होते हैं, वे उस अवस्थामें उसके ऊपर प्रहार करनेकी भी इच्छा कर लेते हैं ॥ ३ ॥

य एवात्यन्तसुहृदस्त एनं पर्युपासते।
अशक्तयः स्वस्तिकामा बद्धवत्सा इडा इव ॥ ४ ॥

जो लोग अत्यन्त सुहृद् होते हैं, वे ही उस संकटके समय उस राजाके पास रह जाते हैं; परंतु वे भी असमर्थ होनेके कारण बँधे हुए बछड़ेवाली गायोंकी भाँति कुछ कर नहीं पाते, केवल मन-ही-मन उसकी मङ्गलकामना करते रहते हैं ॥ ४ ॥

शोचन्तमनुशोचन्ति पतितानिव बान्धवान्।
अपि ते पूजिताः पूर्वमपि ते सुहृदो मताः ॥ ५ ॥

जो विपत्तिकी अवस्थामें शोक करते हुए राजाके साथ-साथ स्वयं भी वैसे ही शोकमग्न हो जाते हैं, मानो उनके कोई सगे भाई-बन्धु विपन्न हो गये हों, क्या ऐसे ही लोगोंको तूने सुहृद् माना है? क्या तूने भी पहले ऐसे सुहृदोंका सम्मान किया है? ॥ ५ ॥

ये राष्ट्रमभिमन्यन्ते राज्ञो व्यसनमीयुषः ।
मा दीदरस्त्वं सुहृदो मा त्वां दीर्णं प्रहासिषुः ॥ ६ ॥

जो संकटमें पड़े हुए राजाके राज्यको अपना ही मानकर उसकी तथा राजाकी रक्षाके लिये कृतसंकल्प होते हैं, ऐसे सुहृदोंको तू कभी अपनेसे विलग न कर और वे भी भयभीत अवस्थामें तेरा परित्याग न करें ॥ ६ ॥

प्रभावं पौरुषं बुद्धिं जिज्ञासन्त्या मया तव ।
विदधत्या समाश्वासमुक्तं तेजोविवृद्धये ॥ ७ ॥

मैं तेरे प्रभाव, पुरुषार्थ और बुद्धि-बलको जानना चाहती थी, अतः तुझे आश्वासन देते हुए तेरे तेज (उत्साह) की वृद्धिके लिये मैंने उपर्युक्त बातें कही हैं ॥ ७ ॥

यद्येतत् संविजानासि यदि सम्यग् ब्रवीम्यहम् ।
कृत्वासौम्यमिवात्मानं जयायोत्तिष्ठ संजय ॥ ८ ॥

संजय ! यदि मैं यह सब ठीक कह रही हूँ और यदि तू भी मेरी इन बातोंको ठीक समझ रहा है तो अपने आपको उग्र-सा बनाकर विजयके लिये उठ खड़ा हो ॥ ८ ॥

अस्ति नः कोशनिचयो महान् ह्यविदितस्तव ।
तमहं वेद नान्यस्तमुपसम्पादयामि ते ॥ ९ ॥

अभी हमलोगोंके पास बड़ा भारी खजाना है जिसका तुझे पता नहीं है, उसे मैं ही जानती हूँ, दूसरा नहीं । वह खजाना मैं तुझे सौंपती हूँ ॥ ९ ॥

सन्ति नैकतमा भूयः सुहृदस्तव संजय ।
सुखदुःखसहा वीर संग्रामादनिवर्तिनः ॥ १० ॥

वीर संजय ! अभी तो तेरे सैकड़ों सुहृद् हैं । वे सभी सुख-दुःखको सहन करनेवाले तथा युद्धसे पीछे न हटनेवाले हैं ॥ १० ॥

तादृशा हि सहाया वै पुरुषस्य बुभूषतः ।
इष्टं जिहीर्षतः किंचित् सचिवाः शत्रुकर्शन ॥ ११ ॥

शत्रुसूदन ! जो पुरुष अपनी उन्नति चाहता है और शत्रुके हाथसे अपनी अभीष्ट सम्पत्तिको हर लाना चाहता है उसके सहायक और मन्त्री पूर्वोक्त गुणोंसे युक्त सुहृद् हुआ करते हैं ॥ ११ ॥

यस्यास्त्वीदृशकं वाक्यं श्रुत्वापि स्वल्पचेतसः ।
तमस्त्वपागमत् तस्य सुचित्रार्थपदाक्षरम् ॥ १२ ॥

(कुन्ती बोली—) श्रीकृष्ण ! संजयका हृदय यद्यपि बहुत दुर्बल था तो भी विदुलाका वह विचित्र अर्थ, पद और अक्षरोंसे युक्त वचन सुनकर उसका तमोगुणजनित भय और विषाद भाग गया ॥ १२ ॥

पुत्र उवाच

उदके भूरियं धार्या मर्तव्यं प्रवणे मया ।
यस्य मे भवती नेत्री भविष्यद्भूतिदर्शिनी ॥ १३ ॥

पुत्र बोला—माँ ! मेरा यह राज्य शत्रुरूपी जलमें डूब गया, है अब मुझे इसका उद्धार करना है, नहीं तो युद्धमें शत्रुओंका सामना करते हुए अपने प्राणोंका विसर्जन कर देना है; जब मुझे भावी वैभवका दर्शन करानेवाली तुझ-जैसी संचालिका प्राप्त है, तब मुझमें ऐसा साहस होना ही चाहिये ॥ १३ ॥

अहं हि वचनं त्वत्तः शुश्रूषुरपरापरम् ।
किंचित् किंचित् प्रतिवदंस्तूष्णीमासं मुहुर्मुहुः ॥ १४ ॥

मैं बराबर तेरी नयी-नयी बातें सुनना चाहता था । इसीलिये बारंबार बीच-बीचमें कुछ-कुछ बोलकर फिर मौन हो जाता था ॥ १४ ॥

अतृप्यन्नमृतस्येव कृच्छ्राल्लब्धस्य बान्धवात् ।
उद्यच्छाम्येष शत्रूणां नियमाय जयाय च ॥ १५ ॥

तेरे ये अमृतके समान वचन बड़ी कठिनाईसे सुननेको मिले थे । उन्हें सुनकर मैं तृप्त नहीं होता था । यह देखो, अब मैं शत्रुओंका दमन और विजयकी प्राप्ति करनेके लिये बन्धु-बान्धवोंके साथ उद्योग कर रहा हूँ ॥ १५ ॥

कुन्त्युवाच

सदश्व इव स क्षिप्तः प्रणुन्नो वाक्यसायकैः ।
तच्चकार तथा सर्वं यथावदनुशासनम् ॥ १६ ॥

कुन्ती कहती हैं—श्रीकृष्ण ! माताके वाग्बाणोंसे बिंधकर और तिरस्कृत होकर चाबुककी मार खाये हुए अच्छे घोड़ेके समान संजयने माताके उस समस्त उपदेशका यथावत्रूपसे पालन किया ॥ १६ ॥

इदमुद्धर्षणं भीमं तेजोवर्धनमुत्तमम् ।
राजानं श्रावयेन्मन्त्री सीदन्तं शत्रुपीडितम् ॥ १७ ॥

यह उत्तम उपाख्यान वीरोंके लिये अत्यन्त उत्साहवर्धक और कायरोंके लिये भयंकर है । यदि कोई राजा शत्रुसे पीडित होकर दुखी एवं हताश हो रहा हो तो मन्त्रीको चाहिये कि उसे यह प्रसंग सुनाये ॥ १७ ॥

जयो नामेतिहासोऽयं श्रोतव्यो विजिगीषुणा ।
महीं विजयते क्षिप्रं श्रुत्वा शत्रूंश्च मर्दति ॥ १८ ॥

यह जय नामक इतिहास है । विजयकी इच्छा रखनेवाले पुरुषको इसका श्रवण करना चाहिये । इसे सुनकर युद्धमें जानेवाला राजा शीघ्र ही पृथ्वीपर विजय पाता और शत्रुओंको रौंद डालता है ॥ १८ ॥

इदं पुंसवनं चैव वीराजननमेव च।
अभीक्ष्णं गर्भिणी श्रुत्वा ध्रुवं वीरं प्रजायते ॥ १९ ॥

यह आख्यान पुत्रकी प्राप्ति करानेवाला है तथा साधारण पुरुषमें वीरभाव उत्पन्न करनेवाला है। यदि गर्भवती स्त्री इसे बारंबार सुने तो वह निश्चय ही वीर पुत्रको जन्म देती है ॥ १९ ॥

विद्याशूरं तपःशूरं दानशूरं तपस्विनम्।
ब्राह्मया श्रिया दीप्यमानं साधुवादे च सम्मतम्॥ २० ॥
अर्चिष्मन्तं बलोपेतं महाभागं महारथम्।
धृतिमन्तमनाधृष्यं जेतारमपराजितम् ॥ २१ ॥
नियन्तारमसाधूनां गोतारं धर्मचारिणाम्।
ईदृशं क्षत्रिया सूते वीरं सत्यपराक्रमम् ॥ २२ ॥

इसे सुनकर प्रत्येक क्षत्राणी विद्याशूर, तपःशूर, दानशूर, तपस्वी, ब्राह्मी शोभासे सम्पन्न, साधुवादके योग्य, तेजस्वी, बलवान्, परम सौभाग्यशाली, महारथी, धैर्यवान्, दुर्धर्ष विजयी, किसीसे भी पराजित न होनेवाले, दुष्टोंका दमन करनेवाले, धर्मात्माओंके रक्षक तथा सत्य-पराक्रमी वीर पुत्रको उत्पन्न करती है ॥ २०—२२ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि विदुलापुत्रानुशासनसमाप्तौ षट्त्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १३६॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें विदुलाके द्वारा पुत्रको दिये जानेवाले उपदेशकी समाप्तिविषयक एक सौ छत्तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १३६ ॥

सप्तत्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः

कुन्तीका पाण्डवोंके लिये संदेश देना और श्रीकृष्णका उनसे विदा लेकर उपप्लव्य नगरमें जाना

कुन्त्युवाच

अर्जुनं केशव ब्रूयास्त्वयि जाते स्म सूतके।
उपोपविष्टा नारीभिराश्रमे परिवारिता ॥ १ ॥
अथान्तरिक्षे वागासीद् दिव्यरूपा मनोरमा।
सहस्राक्षसमः कुन्ति भविष्यत्येष ते सुतः ॥ २ ॥

कुन्ती बोली—केशव ! तुम अर्जुनसे जाकर कहना, तुम्हारे जन्मके समय जब मैं नारियोंसे घिरी हुई आश्रमके सूतिकागारमें बैठी थी, उसी समय आकाशमें यह दिव्यरूपा मनोरम वाणी सुनायी दी—'कुन्ती ! तेरा यह पुत्र इन्द्रके समान पराक्रमी होगा ॥ १-२ ॥

एष जेष्यति संग्रामे कुरून् सर्वान् समागतान्।
भीमसेनद्वितीयश्च लोकमुद्वर्तयिष्यति ॥ ३ ॥

'यह भीमसेनके साथ रहकर युद्धमें आये हुए समस्त कौरवोंको जीत लेगा और शत्रु-समुदायको व्याकुल कर देगा ॥ ३ ॥

पुत्रस्ते पृथिवीं जेता यशश्चास्य दिवं स्पृशेत्।
हत्वा कुरूंश्च संग्रामे वासुदेवसहायवान् ॥ ४ ॥
पित्र्यमंशं प्रणष्टं च पुनरप्युद्धरिष्यति।
भ्रातृभिः सहितः श्रीमांस्त्रीन् मेधानाहरिष्यति ॥ ५ ॥

'तेरा यह पुत्र भगवान् श्रीकृष्णके साथ रहकर इस भूमण्डलको जीत लेगा, इसका यश स्वर्गलोकतक फैल जायगा और यह संग्राममें विपक्षी कौरवोंको मारकर अपने पैतृक राज्य-भागका पुनरुद्धार करेगा। यह शोभासम्पन्न बालक अपने भाइयोंके साथ तीन अश्वमेध यज्ञोंका अनुष्ठान करेगा' ॥ ४-५ ॥

स सत्यसंधो बीभत्सुः सव्यसाची यथाच्युत।
तथा त्वमेव जानासि बलवन्तं दुरासदम् ॥ ६ ॥

अच्युत ! सव्यसाची अर्जुन जैसा सत्यप्रतिज्ञ है तथा उसमें जितना बल एवं दुर्जय शक्ति है, उसे तुम्हीं जानते हो ॥६॥

तथा तदस्तु दाशार्ह यथा वागभ्यभाषत।
धर्मश्चेदस्ति वार्ष्णेय तथा सत्यं भविष्यति ॥ ७ ॥

दशार्हकुलनन्दन श्रीकृष्ण ! आकाशवाणीने जैसा कहा है, वैसा ही हो, यही मेरी भी इच्छा है। वृष्णिनन्दन ! यदि धर्मकी सत्ता है तो वह सब उसी रूपमें सत्य होगा ॥ ७ ॥

त्वं चापि तत् तथा कृष्ण सर्वं सम्पादयिष्यसि।
नाहं तदभ्यसूयामि यथा वागभ्यभाषत ॥ ८ ॥

श्रीकृष्ण ! तुम स्वयं भी वह सब कुछ उसी रूपमें पूर्ण करोगे। आकाशवाणीने जैसा कहा है, उसमें मैं किसी दोषकी उद्भावना नहीं करती हूँ ॥ ८ ॥

नमो धर्माय महते धर्मो धारयति प्रजाः।
एतद् धनंजयो वाच्यो नित्योद्युक्तो वृकोदरः ॥ ९ ॥
यदर्थं क्षत्रिया सूते तस्य कालोऽयमागतः।
न हि वैरं समासाद्य सीदन्ति पुरुषर्षभाः ॥ १० ॥

मैं तो उस महान् धर्मको नमस्कार करती हूँ, क्योंकि धर्म ही समस्त प्रजाको धारण करता है। तुम अर्जुनसे तथा युद्धके लिये सदा उद्यत रहनेवाले भीमसेनसे भी जाकर कहना—'क्षत्राणी जिसके लिये पुत्रको जन्म देती है, उसका यह उपयुक्त अवसर आ गया है। श्रेष्ठ मनुष्य किसीसे वैर ठन जानेपर उत्साहहीन नहीं होते' ॥ ९-१० ॥

विदिता ते सदा बुद्धिर्भीमस्य न स शाम्यति ।
यावदन्तं न कुरुते शत्रूणां शत्रुकर्शन ॥ ११ ॥

शत्रुदमन श्रीकृष्ण ! तुम्हें भीमसेनका विचार तो सदासे ज्ञात ही है, वह जबतक शत्रुओंका अन्त नहीं कर लेगा, तबतक शान्त नहीं होगा ॥ ११ ॥

सर्वधर्मविशेषज्ञां स्नुषां पाण्डोर्महात्मनः ।
ब्रूया माधव कल्याणीं कृष्ण कृष्णां यशस्विनीम् ।१२।
युक्तमेतन्महाभागे कुले जाते यशस्विनि ।
यन्मे पुत्रेषु सर्वेषु यथावत् त्वमवर्तिथाः ॥ १३ ॥

माधव ! श्रीकृष्ण ! तुम सब धर्मोंको विशेषरूपसे जाननेवाली महात्मा पाण्डुकी पुत्रवधू कल्याणमयी, यशस्विनी द्रौपदीसे कहना—'बेटी ! तू परम सौभाग्यशाली यशस्वी कुलमें उत्पन्न हुई है । तूने मेरे सभी पुत्रोंके साथ जो धर्मानुसार यथोचित बर्ताव किया है, यह तेरे ही योग्य है' ॥ १२-१३ ॥

माद्रीपुत्रौ च वक्तव्यौ क्षत्रधर्मरतावुभौ ।
विक्रमेणार्जितान् भोगान् वृणीतं जीवितादपि ॥ १४ ॥
विक्रमाधिगता ह्यर्थाः क्षत्रधर्मेण जीवतः ।
मनो मनुष्यस्य सदा प्रीणन्ति पुरुषोत्तम ॥ १५ ॥

पुरुषोत्तम ! तदनन्तर क्षत्रियधर्ममें तत्पर रहनेवाले दोनों माद्रीकुमारोंसे भी मेरा यह संदेश कहना—'वीरो ! तुम प्राणोंकी बाजी लगाकर भी अपने पराक्रमसे प्राप्त हुए भोगोंका ही उपभोग करो । क्षत्रियधर्मसे निर्वाह करनेवाले मनुष्यके मनको पराक्रमद्वारा प्राप्त किये हुए पदार्थ ही सदा संतुष्ट रखते हैं ॥ १४-१५ ॥

यच्च वः प्रेक्षमाणानां सर्वधर्मोपचायिनाम् ।
पाञ्चाली परुषाण्युक्ता को नु तत् क्षन्तुमर्हति ॥ १६ ॥

'पाण्डवो ! सब प्रकारसे धर्मकी वृद्धि करनेवाले तुम सब लोगोंके देखते-देखते पाञ्चालराजकुमारी द्रौपदीको जो कटुवचन सुनाये गये हैं, उन्हें कौन वीर क्षमा कर सकता है !' ॥ १६ ॥

न राज्यहरणं दुःखं द्यूते चापि पराजयः ।
प्रव्राजनं सुतानां वा न मे तद् दुःखकारणम् ॥ १७ ॥
यत्र सा बृहती श्यामा सभायां रुदती तदा ।
अश्रौषीत् परुषा वाचस्तन्मे दुःखतरं महत् ॥ १८ ॥

श्रीकृष्ण ! मुझे राज्यके छिन जानेका उतना दुःख नहीं है । जुएमें हारने और पुत्रोंके वनवास होनेका भी मेरे मनमें उतना महान् दुःख नहीं है, परंतु भरी सभामें मेरी सुन्दरी युवती पुत्रवधू द्रौपदीने रोते हुए जो दुर्योधनके कटुवचन सुने थे, वही मेरे लिये महान् दुःखका कारण बन गया है ॥ ॥ १७-१८ ॥

स्त्रीधर्मिणी वरारोहा क्षत्रधर्मरता सदा ।
नाध्यगच्छत् तदा नाथं कृष्णा नाथवती सती॥१९॥

क्षत्रियधर्ममें सदा तत्पर रहनेवाली मेरी सर्वाङ्गसुन्दरी सती-साध्वी बहू कृष्णा उन दिनों रजस्वलावस्थामें थी । वह सब प्रकारसे सनाथ थी, तो भी उस दिन कौरवसभामें उसे कोई रक्षक नहीं मिला (वह अनाथ-सी रोती हुई अपमान सह रही थी) ॥ १९ ॥

तं वै ब्रूहि महाबाहो सर्वशस्त्रभृतां वरम् ।
अर्जुनं पुरुषव्याघ्रं द्रौपद्याः पदवीं चर ॥ २० ॥

महाबाहो ! समस्त शस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ पुरुषसिंह अर्जुनसे कहना कि 'तुम द्रौपदीके इच्छित पथपर चलो' ॥ २० ॥

विदितं हि तवात्यन्तं क्रुद्धाविव यमान्तकौ ।
भीमार्जुनौ नयेतां हि देवानपि परां गतिम् ॥ २१ ॥

श्रीकृष्ण ! तुम तो अच्छी तरह जानते ही हो कि भीमसेन और अर्जुन कुपित हो जायँ तो वे यमराज तथा अन्तकके समान भयंकर हो जाते हैं और देवताओंको भी यमलोक पहुँचा सकते हैं ॥ २१ ॥

तयोश्चैतदवज्ञानं यत् सा कृष्णा सभागता ।
दुःशासनश्च यद् भीमं कटुकान्यभ्यभाषत ॥ २२ ॥
पश्यतां कुरुवीराणां तच्च संस्मारयेः पुनः ।

जुएके समय द्रौपदीको जो सभामें जाना पड़ा और कौरव वीरोंके सामने ही दुर्योधन और दुःशासनने जो उसे गालियाँ दीं, वह सब भीमसेन और अर्जुनका ही तिरस्कार है । मैं पुनः उसकी याद दिला देती हूँ ॥ २२½ ॥

पाण्डवान् कुशलं पृच्छेः सपुत्रान् कृष्णया सह।२३।
मां च कुशलिनीं ब्रूयास्तेषु भूयो जनार्दन ।
अरिष्टं गच्छ पन्थानं पुत्रान् मे प्रतिपालय ॥ २४ ॥

जनार्दन ! तुम मेरी ओरसे द्रौपदी और पुत्रोंसहित पाण्डवोंसे कुशल पूछना और फिर मुझे भी सकुशल बताना । जाओ, तुम्हारा मार्ग मङ्गलमय हो, मेरे पुत्रोंकी रक्षा करना ॥ २३-२४ ॥

वैशम्पायन उवाच

अभिवाद्याथ तां कृष्णः कृत्वा चापि प्रदक्षिणम् ।
निश्चक्राम महाबाहुः सिंहखेलगतिस्ततः ॥ २५ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तदनन्तर महाबाहु श्रीकृष्णने कुन्तीदेवीको प्रणाम करके उनकी परिक्रमा भी की और फिर सिंहके समान मस्तानी चालसे वहाँसे निकल गये॥२५॥

ततो विसर्जयामास भीष्मादीन् कुरुपुङ्गवान् ।
आरोप्याथ रथे कर्णं प्रायात् सात्यकिना सह ॥ २६ ॥

फिर भीष्म आदि प्रधान कुरुवंशियोंको उन्होंने विदा कर दिया और कर्णको रथपर बिठाकर सात्यकिके साथ वहाँसे प्रस्थान किया ॥ २६ ॥

ततः प्रयाते दाशार्हे कुरवः संगता मिथः ।
जजल्पुर्महदाश्चर्यं केशवे परमाद्भुतम् ॥ २७ ॥

दशार्हकुलभूषण श्रीकृष्णके चले जानेपर सब कौरव आपसमें मिले और उनके अत्यन्त अद्भुत एवं महान् आश्चर्यजनक बल-वैभवकी चर्चा करने लगे ॥ २७ ॥

प्रमूढा पृथिवी सर्वा मृत्युपाशवशीकृता ।
दुर्योधनस्य बालिश्यान्नैतदस्तीति चाब्रुवन् ॥ २८ ॥

वे बोले—'यह सारी पृथ्वी मृत्युपाशमें आबद्ध हो मोहाच्छन्न हो गयी है । जान पड़ता है, दुर्योधनकी मूर्खतासे इसका विनाश हो जायगा' ॥ २८ ॥

ततो निर्याय नगरात् प्रययौ पुरुषोत्तमः ।
मन्त्रयामास च तदा कर्णेन सुचिरं सह ॥ २९ ॥

उधर पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्ण जब नगरसे निकलकर उपप्लव्यकी ओर चले, तब उन्होंने दीर्घकालतक कर्णके साथ मन्त्रणा की ॥ २९ ॥

विसर्जयित्वा राधेयं सर्वयादवनन्दनः ।
ततो जवेन महता तूर्णमश्वानचोदयत् ॥ ३० ॥

फिर राधानन्दन कर्णको विदा करके सम्पूर्ण यदुकुलको आनन्दित करनेवाले श्रीकृष्णने तुरंत ही बड़े वेगसे अपने रथके घोड़े हँकवाये ॥ ३० ॥

ते पिबन्त इवाकाशं दारुकेण प्रचोदिताः ।
हया जग्मुर्महावेगा मनोमारुतरंहसः ॥ ३१ ॥

दारुकके हाँकनेपर वे महान् वेगशाली अश्व मन और वायुके समान तीव्र गतिसे आकाशको पीते हुए-से चले ॥ ३१ ॥

ते व्यतीत्य महाध्वानं क्षिप्रं श्येना इवाशुगाः ।
उच्चैर्जग्मुरुपप्लव्यं शार्ङ्गधन्वानमावहन् ॥ ३२ ॥

उन्होंने शीघ्रगामी बाज पक्षीकी भाँति उस विशाल पथको तुरंत ही तै कर लिया और शार्ङ्गधनुष धारण करनेवाले भगवान् श्रीकृष्णको उपप्लव्य नगरमें पहुँचा दिया ॥ ३२ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि कुन्तीवाक्ये सप्तत्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १३७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें कुन्तीवाक्यविषयक एक सौ सैंतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १३७ ॥

अष्टात्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः

भीष्म और द्रोणका दुर्योधनको समझाना

वैशम्पायन उवाच

कुन्त्यास्तु वचनं श्रुत्वा भीष्मद्रोणौ महारथौ ।
दुर्योधनमिदं वाक्यमूचतुः शासनातिगम् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! कुन्तीका कथन सुनकर महारथी भीष्म और द्रोणने अपनी आज्ञाका उल्लङ्घन करनेवाले दुर्योधनसे इस प्रकार कहा— ॥ १ ॥

श्रुतं ते पुरुषव्याघ्र कुन्त्याः कृष्णस्य संनिधौ ।
वाक्यमर्थवदत्युग्रमुक्तं धर्म्यमनुत्तमम् ॥ २ ॥

'पुरुषसिंह ! कुन्तीने श्रीकृष्णके समीप जो अर्थयुक्त, धर्मसंगत, परम उत्तम एवं अत्यन्त भयंकर बात कही है, उसे तुमने भी सुना ही होगा ॥ २ ॥

तत् करिष्यन्ति कौन्तेया वासुदेवस्य सम्मतम् ।
न हि ते जातु शाम्येरन्नृते राज्येन कौरव ॥ ३ ॥

'कुरुनन्दन ! कुन्तीके पुत्र श्रीकृष्णकी सम्मतिके अनुसार वह सब कार्य करेंगे । अब राज्य लिये बिना वे कदापि शान्त नहीं रह सकते ॥ ३ ॥

क्लेशिता हि त्वया पार्था धर्मपाशसितास्तदा ।
सभायां द्रौपदी चैव तैश्च तन्मर्षितं तव ॥ ४ ॥

'तुमने द्यूतक्रीडाके समय धर्मके बन्धनमें बँधे हुए पाण्डवोंको तथा कौरवसभामें द्रौपदीको भी भारी क्लेश पहुँचाया था; किंतु उन्होंने तुम्हारा वह सब अपराध चुपचाप सह लिया ॥ ४ ॥

कृतास्त्रं ह्यर्जुनं प्राप्य भीमं च कृतनिश्चयम् ।
गाण्डीवं चेषुधी चैव रथं च ध्वजमेव च ॥ ५ ॥
नकुलं सहदेवं च बलवीर्यसमन्वितौ ।
सहायं वासुदेवं च न क्षंस्यति युधिष्ठिरः ॥ ६ ॥

'अब अस्त्रविद्यामें पारंगत अर्जुन और युद्धका दृढ़ निश्चय रखनेवाले भीमसेनको पाकर गाण्डीव धनुष, अक्षय बाणोंसे भरे हुए दो तरकस, दिव्य रथ और ध्वजको हस्तगत करके, बल और पराक्रमसे सम्पन्न नकुल और सहदेवको युद्धके लिये उद्यत देखकर तथा भगवान् श्रीकृष्णको भी अपनी सहायताके रूपमें पाकर युधिष्ठिर तुम्हारे पूर्व अपराधोंको क्षमा नहीं करेंगे ॥ ५-६ ॥

प्रत्यक्षं ते महाबाहो यथा पार्थेन धीमता ।
विराटनगरे पूर्वं सर्वे स्म युधि निर्जिताः ॥ ७ ॥

'महाबाहो ! थोड़े ही दिनों पहलेकी बात है, परम बुद्धिमान् अर्जुनने विराटनगरके युद्धमें हम सब लोगोंको परास्त कर दिया था और वह सब घटना तुम्हारी आँखोंके सामने घटित हुई थी ॥ ७ ॥

दानवा घोरकर्माणो निवातकवचा युधि ।
रौद्रमस्त्रं समादाय दग्धा वानरकेतुना ॥ ८ ॥

'कपिध्वज अर्जुनने युद्धमें भयंकर कर्म करनेवाले निवात-कवच नामक दानवोंको रुद्रदेवतासम्बन्धी पाशुपत अस्त्र लेकर दग्ध कर डाला था ॥ ८ ॥

कर्णप्रभृतयश्चेमे त्वं चापि कवची रथी ।
मोक्षितो घोषयात्रायां पर्याप्तं तन्निदर्शनम् ॥ ९ ॥
प्रशाम्य भरतश्रेष्ठ भ्रातृभिः सह पाण्डवैः ।

'घोषयात्राके समय ये कर्ण आदि योद्धा तुम्हारे साथ थे। तुम स्वयं भी रथ और कवच आदिसे सम्पन्न थे, तथापि अर्जुनने ही तुम्हें गन्धर्वोंके हाथसे छुड़ाया था। उनकी शक्तिको समझनेके लिये यही उदाहरण पर्याप्त होगा। अतः भरतश्रेष्ठ ! तुम अपने ही भाई पाण्डवोंके साथ संधि कर लो ॥ ९½ ॥

रक्षेमां पृथिवीं सर्वां मृत्योर्दंष्ट्रान्तरं गताम् ॥ १० ॥
ज्येष्ठो भ्राता धर्मशीलो वत्सलः श्लक्ष्णवाक् कविः ।
तं गच्छ पुरुषव्याघ्रं व्यपनीयेह किल्बिषम् ॥ ११ ॥

'यह सारी पृथ्वी मौतकी दाढ़ोंके बीचमें जा पहुँची है। तुम संधिके द्वारा इसकी रक्षा करो। तुम्हारे बड़े भाई युधिष्ठिर धर्मात्मा, दयालु, मधुरभाषी और विद्वान् हैं। तुम अपने मनका सारा कलुष यहीं धो-बहाकर उन पुरुषसिंह युधिष्ठिरकी शरणमें जाओ ॥ १०-११ ॥

दृष्टश्च त्वं पाण्डवेन व्यपनीतशरासनः ।
प्रशान्तभ्रुकुटिः श्रीमान् कृता शान्तिः कुलस्य नः १२

'जब पाण्डुपुत्र युधिष्ठिर यह देख लेंगे कि तुमने धनुष उतार दिया है और तुम्हारी टेढ़ी भौंहें शान्त एवं सीधी हो गयी हैं तथा तुम क्रोध त्यागकर अपनी सहज शोभासे सम्पन्न हो रहे हो, तब हमें विश्वास हो जायगा कि तुमने हमारे कुलमें शान्ति स्थापित कर दी ॥ १२ ॥

तमभ्येत्य सहामात्यः परिष्वज्य नृपात्मजम् ।
अभिवादय राजानं यथापूर्वमरिंदम ॥ १३ ॥

'शत्रुदमन ! तुम अपने मन्त्रियोंके साथ पाण्डुकुमार राजा युधिष्ठिरके पास जाओ और पहलेहीकी भाँति उनके हृदयसे लगकर उन्हें प्रणाम करो ॥ १३ ॥

अभिवादयमानं त्वां पाणिभ्यां भीमपूर्वजः ।
प्रतिगृह्णातु सौहार्दात् कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ॥ १४ ॥

'भीमके बड़े भाई कुन्तीपुत्र युधिष्ठिर तुम्हें प्रणाम करते देख सौहार्दवश अपने दोनों हाथोंसे पकड़कर हृदयसे लगा लें ॥

सिंहस्कन्धोरुबाहुस्त्वां वृत्तायतमहाभुजः ।
परिष्वजतु बाहुभ्यां भीमः प्रहरतां वरः ॥ १५ ॥

'जिनके कंधे सिंहके समान और भुजाएँ बड़ी, गोलाकार तथा अधिक मोटी हैं, वे योद्धाओंमें श्रेष्ठ भीमसेन भी तुम्हें अपनी दोनों भुजाओंमें भरकर छातीसे चिपका लें ॥ १५ ॥

कम्बुग्रीवो गुडाकेशस्ततस्त्वां पुष्करेक्षणः ।
अभिवादयतां पार्थः कुन्तीपुत्रो धनंजयः ॥ १६ ॥

'शङ्खके समान ग्रीवा और कमलसदृश नेत्रोंवाले निद्राविजयी कुन्तीपुत्र धनंजय तुम्हें हाथ जोड़कर प्रणाम करें ॥

आश्विनेयौ नरव्याघ्रौ रूपेणाप्रतिमौ भुवि ।
तौ च त्वां गुरुवत् प्रेम्णा पूजया प्रत्युदीयताम् ।१७।

'इस भूतलपर जिनके रूपकी कहीं तुलना नहीं है, वे अश्विनीकुमारोंके पुत्र नरश्रेष्ठ नकुल-सहदेव तुम्हारे प्रति गुरुजनोचित प्रेम और आदरका भाव लेकर तुम्हारी सेवामें उपस्थित हों ॥ १७ ॥

मुञ्चन्त्वानन्दजाश्रूणि दाशार्हप्रमुखा नृपाः ।
संगच्छ भ्रातृभिः सार्धं मानं संत्यज्य पार्थिव ॥१८॥

'भूपाल ! तुम अभिमान छोड़कर अपने उन बिछुड़े हुए भाइयोंसे मिल जाओ और यह अपूर्व मिलन देखकर श्रीकृष्ण आदि सब नरेश अपने नेत्रोंसे आनन्दके आँसू बहावें ॥

प्रशाधि पृथिवीं कृत्स्नां ततस्त्वं भ्रातृभिः सह ।
समालिङ्ग्य च हर्षेण नृपा यान्तु परस्परम् ॥ १९ ॥

'तदनन्तर तुम अपने भाइयोंके साथ इस सारी पृथ्वीका शासन करो और ये राजा लोग एक दूसरेसे मिल-जुलकर हर्षपूर्वक यहाँसे पधारें ॥ १९ ॥

अलं युद्धेन राजेन्द्र सुहृदां शृणु वारणम् ।
ध्रुवं विनाशो युद्धे हि क्षत्रियाणां प्रदृश्यते ॥ २० ॥

'राजेन्द्र ! इस युद्धसे तुम्हें कोई लाभ नहीं होगा। तुम्हारे हितैषी सुहृद् जो तुम्हें युद्धसे रोकते हैं, उनकी वह बात सुनो और मानो; क्योंकि युद्ध छिड़ जानेपर क्षत्रियोंका निश्चय ही विनाश दिखायी दे रहा है ॥ २० ॥

ज्योतींषि प्रतिकूलानि दारुणा मृगपक्षिणः ।
उत्पाता विविधा वीर दृश्यन्ते क्षत्रनाशनाः ॥ २१ ॥

'वीर ! ग्रह और नक्षत्र प्रतिकूल हो रहे हैं। पशु और पक्षी भयंकर शब्द कर रहे हैं तथा नाना प्रकारके ऐसे उत्पात (अपशकुन) दिखायी देते हैं, जो क्षत्रियोंके विनाशकी सूचना देते हैं ॥ २१ ॥

विशेषत इहास्माकं निमित्तानि निवेशने ।
उल्काभिर्हि प्रदीप्ताभिर्बाध्यते पृतना तव ॥ २२ ॥

'विशेषतः यहाँ हमारे घरमें बुरे निमित्त दृष्टिगोचर होते हैं। जलती हुई उल्काएँ गिरकर तुम्हारी सेनाको पीड़ित कर रही हैं ॥ २२ ॥

वाहनान्यप्रहृष्टानि रुदन्तीव विशाम्पते ।
गृध्रास्ते पर्युपासन्ते सैन्यानि च समन्ततः ॥ २३ ॥

'प्रजानाथ ! हमारे सारे वाहन अप्रसन्न एवं रोते-से

दिखायी देते हैं। गीध तुम्हारी सेनाओंको चारों ओरसे घेरकर बैठते हैं ॥ २३ ॥

नगरं न यथापूर्वं तथा राजनिवेशनम्।
शिवाश्चाशिवनिर्घोषा दीप्तां सेवन्ति वै दिशम् ॥२४॥

'इस नगर तथा राजभवनकी शोभा अब पहले-जैसी नहीं रही। सारी दिशाएँ जलती-सी प्रतीत होती हैं और उनमें अमङ्गलसूचक शब्द करती हुई गीदड़ियाँ फिर रही हैं ॥२४॥

कुरु वाक्यं पितुर्मातुरस्माकं च हितैषिणाम्।
त्वय्यायत्तो महाबाहो शमो व्यायाम एव च॥ २५ ॥

'महाबाहो! तुम पिता, माता तथा हम हितैषियोंका कहना मानो। अब शान्तिस्थापन और युद्ध दोनों तुम्हारे ही अधीन हैं ॥ २५ ॥

न चेत् करिष्यसि वचः सुहृदामरिकर्शन।
तप्स्यसे वाहिनीं दृष्ट्वा पार्थबाणप्रपीडिताम् ॥ २६ ॥

'शत्रुसूदन! यदि तुम सुहृदोंकी बातें नहीं मानोगे तो अपनी सेनाको अर्जुनके बाणोंसे अत्यन्त पीड़ित होती देखकर पछताओगे ॥ २६ ॥

भीमस्य च महानादं नदतः शुष्मिणो रणे।
श्रुत्वा स्मर्तासि मे वाक्यं गाण्डीवस्य च निःस्वनम्
यद्येतदपसव्यं ते वचो मम भविष्यति ॥ २७ ॥

'यदि हमारी ये बातें तुम्हें विपरीत जान पड़ती हैं तो जिस समय युद्धमें गर्जना करनेवाले महाबली भीमसेनका विकट सिंहनाद और अर्जुनके गाण्डीव धनुषकी टंकार सुनोगे, उस समय तुम्हें ये बातें याद आयेंगी' ॥ २७ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि भीष्मद्रोणवाक्ये अष्टात्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १३८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें भीष्म-द्रोण-वाक्यविषयक एक सौ अड़तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥१३८॥

एकोनचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः

भीष्मसे वार्तालाप आरम्भ करके द्रोणाचार्यका दुर्योधनको पुनः संधिके लिये समझाना

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तस्तु विमनास्तिर्यग्दृष्टिरधोमुखः।
संहत्य च भ्रुवोर्मध्यं न किंचिद् व्याजहार ह॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! भीष्म और द्रोणाचार्यके इस प्रकार कहनेपर दुर्योधनका मन उदास हो गया। उसने टेढ़ी आँखोंसे देखकर और भौंहोंको बीचसे सिकोड़कर मुँह नीचा कर लिया। वह उन दोनोंसे कुछ बोला नहीं ॥ १ ॥

तं वै विमनसं दृष्ट्वा सम्प्रेक्ष्यान्योन्यमन्तिकात्।
पुनरेवोत्तरं वाक्यमुक्तवन्तौ नरर्षभौ ॥ २ ॥

उसे उदास देख नरश्रेष्ठ भीष्म और द्रोण एक दूसरेकी ओर देखते हुए उसके निकट ही पुनः इस प्रकार बात करने लगे ॥ २ ॥

भीष्म उवाच

शुश्रूषुमनसूयं च ब्रह्मण्यं सत्यवादिनम्।
प्रतियोत्स्यामहे पार्थमतो दुःखतरं नु किम् ॥ ३ ॥

भीष्म बोले—अहो! जो गुरुजनोंकी सेवाके लिये उत्सुक, किसीके भी दोष न देखनेवाले, ब्राह्मणभक्त और सत्यवादी हैं, उन्हीं युधिष्ठिरसे हमें युद्ध करना पड़ेगा; इससे बढ़कर महान् दुःखकी बात और क्या होगी? ॥ ३ ॥

द्रोण उवाच

अश्वत्थाम्नि यथा पुत्रे भूयो मम धनंजये।
बहुमानः परो राजन् संनतिश्च कपिध्वजे ॥ ४ ॥

द्रोणाचार्यने कहा—राजन्! मेरा अपने पुत्र अश्वत्थामाके प्रति जैसा आदर है, उससे भी अधिक अर्जुनके प्रति है। कपिध्वज अर्जुनमें मेरे प्रति बहुत विनयभाव है॥४॥

तं च पुत्रात् प्रियतमं प्रतियोत्स्ये धनंजयम्।
क्षात्रं धर्ममनुष्ठाय धिगस्तु क्षत्रजीविकाम् ॥ ५ ॥

मेरे पुत्रसे भी बढ़कर प्रियतम उन्हीं अर्जुनसे मुझे क्षत्रियधर्मका आश्रय लेकर युद्ध करना पड़ेगा। क्षात्रवृत्तिको धिक्कार है! ॥ ५ ॥

यस्य लोके समो नास्ति कश्चिदन्यो धनुर्धरः।
मत्प्रसादात् स बीभत्सुः श्रेयानन्यैर्धनुर्धरैः ॥ ६ ॥

मेरी ही कृपासे अर्जुन अन्य धनुर्धरोंसे श्रेष्ठ हो गये हैं। इस समय जगत्‌में उनके समान दूसरा कोई धनुर्धर नहीं है ॥ ६ ॥

मित्रध्रुग् दुष्टभावश्च नास्तिकोऽथानृजुः शठः।
न सत्सु लभते पूजां यज्ञे मूर्ख इवागतः ॥ ७ ॥

जैसे यज्ञमें आया हुआ मूर्ख ब्राह्मण प्रतिष्ठा नहीं पाता, उसी प्रकार जो मित्रद्रोही, दुर्भावनायुक्त, नास्तिक, कुटिल और शठ है, वह सत्पुरुषोंमें कभी सम्मान नहीं पाता है ॥७॥

वार्यमाणोऽपि पापेभ्यः पापात्मा पापमिच्छति।
चोद्यमानोऽपि पापेन शुभात्मा शुभमिच्छति ॥ ८ ॥

पापात्मा मनुष्यको पापोंसे रोका जाय तो भी वह पाप ही करना चाहता है और जिसका हृदय शुभ संकल्पसे युक्त है, वह पुण्यात्मा पुरुष किसी पापीके द्वारा पापके लिये प्रेरित होनेपर भी शुभ कर्म करनेकी ही इच्छा रखता है॥८॥

मिथ्योपचरिता ह्येते वर्तमाना ह्यनु प्रिये ।
अहितत्वाय कल्पन्ते दोषा भरतसत्तम ॥ ९ ॥

भरतश्रेष्ठ ! तुमने पाण्डवोंके साथ सदा मिथ्या बर्ताव—छल-कपट ही किया है तो भी ये सदा तुम्हारा प्रिय करनेमें ही लगे रहे हैं। अतः तुम्हारे ये ईर्ष्या-द्वेष आदि दोष तुम्हारा ही अहित करनेवाले होंगे ॥ ९ ॥

त्वमुक्तः कुरुवृद्धेन मया च विदुरेण च ।
वासुदेवेन च तथा श्रेयो नैवाभिमन्यसे ॥ १० ॥

कुरुकुलके वृद्ध पुरुष भीष्मजीने, मैंने, विदुरजीने तथा भगवान् श्रीकृष्णने भी तुमसे तुम्हारे कल्याणकी ही बात बतायी है; तथापि तुम उसे मान नहीं रहे हो ॥ १० ॥

अस्ति मे बलमित्येव सहसा त्वं तितीर्षसि ।
सग्राहनक्रमकरं गङ्गावेगमिवोष्णगे ॥ ११ ॥

जैसे कोई अविवेकी मनुष्य वर्षाकालमें बढ़े हुए ग्राह और मकर आदि जलजन्तुओंसे युक्त गङ्गाजीके वेगको दोनों बाहुओंसे तैरना चाहता हो, उसी प्रकार तुम मेरे पास बल है, ऐसा समझकर पाण्डव-सेनाको सहसा लाँघ जानेकी इच्छा रखते हो ॥ ११ ॥

वास एव यथा त्यक्तं प्रावृण्वानोऽभिमन्यसे ।
स्रजं त्यक्तामिव प्राप्य लोभाद् यौधिष्ठिरीं श्रियम्॥१२॥

जैसे कोई दूसरेका छोड़ा हुआ वस्त्र पहन ले और उसे अपना मानने लगे, उसी प्रकार तुम त्यागी हुई मालाकी भाँति युधिष्ठिरकी राजलक्ष्मीको पाकर अब उसे लोभवश अपनी समझते हो ॥ १२ ॥

द्रौपदीसहितं पार्थं सायुधैर्भ्रातृभिर्वृतम् ।
वनस्थमपि राज्यस्थः पाण्डवं को विजेष्यति ॥ १३ ॥

अपने अस्त्र-शस्त्रधारी भाइयोंसे घिरे हुए द्रौपदीसहित पाण्डुनन्दन युधिष्ठिर वनमें रहें तो भी उन्हें राज्यसिंहासनपर बैठा हुआ कौन नरेश युद्धमें जीत सकेगा ? ॥ १३ ॥

निदेशे यस्य राजानः सर्वे तिष्ठन्ति किङ्कराः ।
तमैलविलमासाद्य धर्मराजो व्यराजत ॥ १४ ॥

समस्त राजा जिनकी आज्ञामें किंकरकी भाँति खड़े रहते हैं, उन्हीं राजराज कुबेरसे मिलकर धर्मराज युधिष्ठिर उनके साथ विराजमान हुए थे ॥ १४ ॥

कुबेरसदनं प्राप्य ततो रत्नान्यवाप्य च ।
स्फीतमाक्रम्य ते राष्ट्रं राज्यमिच्छन्ति पाण्डवाः॥ १५ ॥

कुबेरके भवनमें जाकर उनसे भाँति-भाँतिके रत्न लेकर अब पाण्डव तुम्हारे समृद्धिशाली राष्ट्रपर आक्रमण करके अपना राज्य वापस लेना चाहते हैं ॥ १५ ॥

दत्तं हुतमधीतं च ब्राह्मणास्तर्पिता धनैः ।
आवयोर्गतमायुश्च कृतकृत्यौ च विद्धि नौ ॥ १६ ॥

हम दोनोंने तो दान, यज्ञ और स्वाध्याय कर लिये। धनसे ब्राह्मणोंको तृप्त कर लिया। अब हमारी आयु समाप्त हो चुकी है, अतः हमें तो तुम कृतकृत्य ही समझो ॥ १६ ॥

त्वं तु हित्वा सुखं राज्यं मित्राणि च धनानि च ।
विग्रहं पाण्डवैः कृत्वा महद् व्यसनमाप्स्यसि ॥ १७ ॥

परंतु तुम पाण्डवोंसे युद्ध ठानकर सुख, राज्य, मित्र और धन सब कुछ खोकर बड़े भारी संकटमें पड़ जाओगे ॥१७॥

द्रौपदी यस्य चाशास्ते विजयं सत्यवादिनी ।
तपोघोरव्रता देवी कथं जेष्यसि पाण्डवम् ॥ १८ ॥

तपस्या एवं घोर व्रतका पालन करनेवाली सत्यवादिनी देवी द्रौपदी जिनकी विजयकी कामना करती है, उन पाण्डु-नन्दन युधिष्ठिरको तुम कैसे जीत सकोगे ? ॥ १८ ॥

मन्त्री जनार्दनो यस्य भ्राता यस्य धनंजयः ।
सर्वशस्त्रभृतां श्रेष्ठः कथं जेष्यसि पाण्डवम् ॥ १९ ॥

भगवान् श्रीकृष्ण जिनके मन्त्री और समस्त शस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ अर्जुन जिनके भाई हैं, उन पाण्डुपुत्र युधिष्ठिरको तुम कैसे जीतोगे ? ॥ १९ ॥

सहाया ब्राह्मणा यस्य धृतिमन्तो जितेन्द्रियाः ।
तमुग्रतपसं वीरं कथं जेष्यसि पाण्डवम् ॥ २० ॥

धैर्यवान् और जितेन्द्रिय ब्राह्मण जिनके सहायक हैं, उन उग्र तपस्वी वीर पाण्डवको तुम कैसे जीत सकोगे ? ॥ २० ॥

पुनरुक्तं च वक्ष्यामि यत् कार्यं भूतिमिच्छता ।
सुहृदा मज्जमानेषु सुहृत्सु व्यसनार्णवे ॥ २१ ॥

जिस समय अपने बहुत-से सुहृद् संकटके समुद्रमें डूब रहे हों, उस समय कल्याणकी इच्छा रखनेवाले एक सुहृद्का जो कर्तव्य है—उस अवसरपर उसे जैसी बात कहनी चाहिये, वह यद्यपि पहले कही जा चुकी है, तथापि मैं उसे दुबारा कहूँगा ॥ २१ ॥

अलं युद्धेन तैर्वीरैः शाम्य त्वं कुरुवृद्धये ।
मा गमः ससुतामात्यः सबलश्च यमक्षयम् ॥ २२ ॥

राजन् ! युद्धसे तुम्हें कोई लाभ नहीं होगा। तुम कुरुकुलकी वृद्धिके लिये उन वीर पाण्डवोंके साथ संधि कर लो। पुत्रों, मन्त्रियों तथा सेनाओंसहित यमलोकमें जानेकी तैयारी न करो ॥ २२ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि भीष्मद्रोणवाक्ये एकोनचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १३९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें भीष्म-द्रोणवाक्यविषयक एक सौ उन्तालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥१३९॥



भगवान् श्रीकृष्ण कर्णको समझा रहे हैं

चत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः

भगवान् श्रीकृष्णका कर्णको पाण्डवपक्षमें आ जानेके लिये समझाना

धृतराष्ट्र उवाच

राजपुत्रैः परिवृतस्तथा भृत्यैश्च संजय।
उपारोप्य रथे कर्णं निर्यातो मधुसूदनः ॥ १ ॥
किमब्रवीदमेयात्मा राधेयं परवीरहा।
कानि सान्त्वानि गोविन्दः सूतपुत्रे प्रयुक्तवान् ॥ २ ॥

धृतराष्ट्रने पूछा—संजय! राजपुत्रों तथा सेवकोंसे घिरे हुए, शत्रुवीरोंका संहार करनेवाले, अप्रमेयस्वरूप, भगवान् श्रीकृष्ण जब राधानन्दन कर्णको रथपर बिठाकर हस्तिनापुरसे बाहर निकल गये, तब उन्होंने उससे क्या कहा? गोविन्दने सूतपुत्र कर्णको क्या सान्त्वनाएँ दीं? ॥ १-२ ॥

उद्यन्मेघस्वनः काले कृष्णः कर्णमथाब्रवीत्।
मृदु वा यदि वा तीक्ष्णं तन्ममाचक्ष्व संजय ॥ ३ ॥

संजय! मेघके समान गम्भीर स्वरसे बोलनेवाले भगवान् श्रीकृष्णने उस समय कर्णसे जो मधुर अथवा कठोर वचन कहा हो—वह सब मुझे बताओ ॥ ३ ॥

संजय उवाच

आनुपूर्व्येण वाक्यानि तीक्ष्णानि च मृदूनि च।
प्रियाणि धर्मयुक्तानि सत्यानि च हितानि च ॥ ४ ॥
हृदयग्रहणीयानि राधेयं मधुसूदनः।
यान्यब्रवीदमेयात्मा तानि मे शृणु भारत ॥ ५ ॥

संजय बोले—भारत! अप्रमेयस्वरूप मधुसूदन श्रीकृष्णने राधानन्दन कर्णसे जो तीक्ष्ण, मधुर, प्रिय, धर्म-सम्मत, सत्य, हितकर एवं हृदयग्राह्य बातें क्रमशः कही थीं, उन सबको आप मुझसे सुनिये ॥ ४-५ ॥

वासुदेव उवाच

उपासितास्ते राधेय ब्राह्मणा वेदपारगाः।
तत्त्वार्थं परिपृष्टाश्च नियतेनानसूयया ॥ ६ ॥

श्रीकृष्णने कहा—राधानन्दन! तुमने वेदोंके पारंगत ब्राह्मणोंकी उपासना की है। तत्त्वज्ञानके लिये संयम-नियमसे रहकर दोष-दृष्टिका परित्याग करके उन ब्राह्मणोंसे अपनी शङ्काएँ पूछी हैं ॥ ६ ॥

त्वमेव कर्ण जानासि वेदवादान् सनातनान्।
त्वमेव धर्मशास्त्रेषु सूक्ष्मेषु परिनिष्ठितः ॥ ७ ॥

कर्ण! सनातन वैदिक सिद्धान्त क्या है? इसे तुम अच्छी तरह जानते हो। धर्मशास्त्रोंके सूक्ष्म विषयोंके भी तुम परिनिष्ठित विद्वान् हो ॥ ७ ॥

कानीनश्च सहोढश्च कन्यायां यश्च जायते।
वोढारं पितरं तस्य प्राहुः शास्त्रविदो जनाः ॥ ८ ॥

कर्ण! कन्याके गर्भसे जो पुत्र उत्पन्न होता है, उसके दो भेद बताये जाते हैं—कानीन और सहोढ़। (जो विवाहसे पहले उत्पन्न होता है, वह कानीन है और जो विवाहके पहले गर्भमें आकर विवाहके बाद उत्पन्न होता है, वह सहोढ कहलाता है।) वैसे पुत्रकी माताका जिसके साथ विवाह होता है, शास्त्रज्ञोंने उसीको उसका पिता बताया है ॥ ८ ॥

सोऽसि कर्ण तथा जातः पाण्डोः पुत्रोऽसि धर्मतः।
निग्रहाद् धर्मशास्त्राणामेहि राजा भविष्यसि ॥ ९ ॥

कर्ण! तुम्हारा जन्म भी इसी प्रकार हुआ है; (तुम कुन्तीके ही कन्यावस्थामें उत्पन्न हुए पुत्र हो;) अतः तुम भी धर्मानुसार पाण्डुके ही पुत्र हो। इसलिये आओ, धर्मशास्त्रोंके निश्चयके अनुसार तुम्हीं राजा होओगे ॥ ९ ॥

पितृपक्षे च ते पार्था मातृपक्षे च वृष्णयः।
द्वौ पक्षावभिजानीहि त्वमेतौ पुरुषर्षभ ॥ १० ॥

पिताके पक्षमें कुन्तीके सभी पुत्र तुम्हारे सहायक हैं और मातृपक्षमें समस्त वृष्णिवंशी तुम्हारे साथ हैं। पुरुषश्रेष्ठ! तुम अपने इन दोनों पक्षोंको जान लो ॥ १० ॥

मया सार्धमितो यातमद्य त्वां तात पाण्डवाः।
अभिजानन्तु कौन्तेयं पूर्वजातं युधिष्ठिरात् ॥ ११ ॥

तात! मेरे साथ यहाँसे चलनेपर आज पाण्डवोंको तुम्हारे विषयमें यह पता चल जाय कि तुम कुन्तीके ही पुत्र हो और युधिष्ठिरसे भी पहले तुम्हारा जन्म हुआ है ॥ ११ ॥

पादौ तव ग्रहीष्यन्ति भ्रातरः पञ्च पाण्डवाः।
द्रौपदेयास्तथा पञ्च सौभद्रश्चापराजितः ॥ १२ ॥

पाँचों भाई पाण्डव, द्रौपदीके पाँचों पुत्र तथा किसीसे परास्त न होनेवाला सुभद्राकुमार वीर अभिमन्यु—ये सभी तुम्हारे चरणोंका स्पर्श करेंगे ॥ १२ ॥

राजानो राजपुत्राश्च पाण्डवार्थे समागताः।
पादौ तव ग्रहीष्यन्ति सर्वे चान्धकवृष्णयः ॥ १३ ॥

इसके सिवा, पाण्डवोंकी सहायताके लिये आये हुए समस्त राजा, राजकुमार तथा अन्धक और वृष्णिवंशके योद्धा भी तुम्हारे चरणोंमें नतमस्तक होंगे ॥ १३ ॥

हिरण्मयांश्च ते कुम्भान् राजतान् पार्थिवांस्तथा।
ओषध्यः सर्वबीजानि सर्वरत्नानि वीरुधः ॥ १४ ॥
राजन्या राजकन्याश्चाप्यानयन्त्वभिषेचनम् ॥ १५ ॥

बहुत-से राजपुत्र और राजकन्याएँ तुम्हारे लिये सोने, चाँदी तथा मिट्टीके बने हुए कलश, औषधसमूह, सब प्रकारके बीज, सम्पूर्ण रत्न और लता आदि अभिषेक-सामग्री लेकर आयेंगी ॥ १४-१५ ॥

अग्निं जुहोतु वै धौम्यः संशितात्मा द्विजोत्तमः ।
अद्य त्वामभिषिञ्चन्तु चातुर्वैद्या द्विजातयः ॥ १६ ॥
पुरोहितः पाण्डवानां ब्रह्मकर्मण्यवस्थितः ।

विशुद्ध हृदयवाले द्विजश्रेष्ठ धौम्य आज तुम्हारे लिये होम करें और चारों वेदोंके विद्वान् ब्राह्मण तथा सदा ब्राह्मणोचित धर्मके पालनमें स्थित रहनेवाले पाण्डवोंके पुरोहित धौम्यजी भी तुम्हारा राज्याभिषेक करें ॥ १६½ ॥

तथैव भ्रातरः पञ्च पाण्डवाः पुरुषर्षभाः ॥ १७ ॥
द्रौपदेयास्तथा पञ्च पञ्चालाश्चेदयस्तथा ।
अहं च त्वाभिषेक्ष्यामि राजानं पृथिवीपतिम् ॥ १८ ॥
युवराजोऽस्तु ते राजा धर्मपुत्रो युधिष्ठिरः ।
गृहीत्वा व्यजनं श्वेतं धर्मात्मा संशितव्रतः ॥ १९ ॥
उपान्वारोहतु रथं कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ।
छत्रं च ते महाश्वेतं भीमसेनो महाबलः ॥ २० ॥
अभिषिक्तस्य कौन्तेयो धारयिष्यति मूर्धनि ।

इसी प्रकार पाँचों भाई पुरुषसिंह पाण्डव, द्रौपदीके पाँचों पुत्र, पाञ्चाल और चेदिदेशके नरेश तथा मैं—ये सब लोग तुम्हें पृथ्वीपालक सम्राट्के पदपर अभिषिक्त करेंगे। कठोर व्रतका पालन करनेवाले धर्मपुत्र धर्मात्मा कुन्तीनन्दन राजा युधिष्ठिर तुम्हारे युवराज होंगे, जो हाथमें श्वेत चँवर लेकर तुम्हारे पीछे रथपर बैठेंगे और महाबली कुन्तीकुमार भीमसेन राज्याभिषेक होनेके पश्चात् तुम्हारे मस्तकपर महान् श्वेत छत्र धारण करेंगे ॥ १७—२०½ ॥

किङ्किणीशतनिर्घोषं वैयाघ्रपरिवारणम् ॥ २१ ॥
रथं श्वेतहयैर्युक्तमर्जुनो वाहयिष्यति ।
अभिमन्युश्च ते नित्यं प्रत्यासन्नो भविष्यति ॥ २२ ॥

सैकड़ों क्षुद्र घण्टिकाओंकी सुमधुर ध्वनिसे युक्त, व्याघ्रचर्मसे आच्छादित तथा श्वेत घोड़ोंसे जुते हुए तुम्हारे रथको अर्जुन सारथि बनकर हाँकेंगे और अभिमन्यु सदा तुम्हारी सेवाके लिये निकट खड़ा रहेगा ॥ २१-२२ ॥

नकुलः सहदेवश्च द्रौपदेयाश्च पञ्च ये ।
पञ्चालाश्चानुयास्यन्ति शिखण्डी च महारथः ॥ २३ ॥

नकुल, सहदेव, द्रौपदीके पाँच पुत्र, पञ्चालदेशीय क्षत्रिय तथा महारथी शिखण्डी—ये सब तुम्हारे पीछे-पीछे चलेंगे ॥

अहं च त्वानुयास्यामि सर्वे चान्धकवृष्णयः ।
दाशार्हाः परिवारास्ते दाशार्णाश्च विशाम्पते ॥ २४ ॥

मैं तथा समस्त अन्धक और वृष्णिवंशके लोग भी तुम्हारा अनुसरण करेंगे। प्रजानाथ ! दशार्ह तथा दशार्णकुलके समस्त क्षत्रिय तुम्हारे परिवार हो जायँगे ॥ २४ ॥

भुङ्क्ष्व राज्यं महाबाहो भ्रातृभिः सह पाण्डवैः।
जपैर्होमैश्च संयुक्तो मङ्गलैश्च पृथग्विधैः ॥ २५ ॥

महाबाहो ! तुम अपने भाई पाण्डवोंके साथ राज्य भोगो । जप, होम तथा नाना प्रकारके माङ्गलिक कर्मोंमें संलग्न रहो ॥ २५ ॥

पुरोगमाश्च ते सन्तु द्रविडाः सह कुन्तलैः ।
आन्ध्रास्तालचराश्चैव चूचुपा वेणुपास्तथा ॥ २६ ॥

द्रविड़, कुन्तल, आन्ध्र, तालचर, चूचुप तथा वेणुप देशके लोग तुम्हारे अग्रगामी सेवक हों ॥ २६ ॥

स्तुवन्तु त्वां च बहुभिः स्तुतिभिः सूतमागधाः।
विजयं वसुषेणस्य घोषयन्तु च पाण्डवाः ॥ २७ ॥

सूत, मागध और वन्दीजन नाना प्रकारकी स्तुतियोंद्वारा तुम्हारा यशोगान करें और पाण्डवलोग महाराज वसुषेण कर्णकी विजय घोषित कर दें ॥ २७ ॥

स त्वं परिवृतः पार्थैर्नक्षत्रैरिव चन्द्रमाः ।
प्रशाधि राज्यं कौन्तेय कुन्तीं च प्रतिनन्दय ॥ २८ ॥

कुन्तीकुमार ! नक्षत्रोंसे घिरे हुए चन्द्रमाकी भाँति तुम अपने अन्य भाइयोंसे घिरे रहकर राज्यका पालन और कुन्तीको आनन्दित करो ॥ २८ ॥

मित्राणि ते प्रहृष्यन्तु व्यथन्तु रिपवस्तथा ।
सौभ्रात्रं चैव तेऽद्यास्तु भ्रातृभिः सह पाण्डवैः ॥२९ ॥

तुम्हारे मित्र प्रसन्न हों और शत्रुओंके मनमें व्यथा हो । कर्ण ! आजसे अपने भाई पाण्डवोंके साथ तुम्हारा एक अच्छे बन्धुकी भाँति स्नेहपूर्ण बर्ताव हो ॥ २९ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि श्रीकृष्णवाक्ये चत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १४० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें श्रीकृष्णवाक्यविषयक एक सौ चालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ॥१४०॥

एकचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः

कर्णका दुर्योधनके पक्षमें रहनेके निश्चित विचारका प्रतिपादन करते हुए समरयज्ञके रूपकका वर्णन करना

कर्ण उवाच

असंशयं सौहृदान्मे प्रणयाच्चात्थ केशव ।
सख्येन चैव वार्ष्णेय श्रेयस्कामतयैव च ॥ १ ॥

कर्णने कहा—केशव ! आपने सौहार्द, प्रेम, मैत्री और मेरे हितकी इच्छासे जो कुछ कहा है, वह निःसंदेह ठीक है ॥ १ ॥

सर्वं चैवाभिजानामि पाण्डोः पुत्रोऽस्मि धर्मतः ।
निग्रहाद् धर्मशास्त्राणां यथा त्वं कृष्ण मन्यसे ॥ २ ॥

श्रीकृष्ण ! जैसा कि आप मानते हैं, धर्मशास्त्रोंके निर्णयके अनुसार मैं धर्मतः पाण्डुका ही पुत्र हूँ। इन सब बातोंको मैं अच्छी तरह जानता और समझता हूँ ॥ २ ॥

कन्या गर्भं समाधत्त भास्करान्मां जनार्दन ।
आदित्यवचनाच्चैव जातं मां सा व्यसर्जयत् ॥ ३ ॥

जनार्दन ! कुन्तीने कन्यावस्थामें भगवान् सूर्यके संयोगसे मुझे गर्भमें धारण किया था और मेरा जन्म हो जानेपर उन सूर्यदेवकी आज्ञासे ही मुझे जलमें विसर्जित कर दिया था ॥ ३ ॥

सोऽस्मि कृष्ण तथा जातः पाण्डोः पुत्रोऽस्मि धर्मतः ।
कुन्त्या त्वहमपाकीर्णो यथा न कुशलं तथा ॥ ४ ॥

श्रीकृष्ण ! इस प्रकार मेरा जन्म हुआ है। अतः मैं धर्मतः पाण्डुका ही पुत्र हूँ; परंतु कुन्तीदेवीने मुझे इस तरह त्याग दिया, जिससे मैं सकुशल नहीं रह सकता था ॥

सूतो हि मामधिरथो दृष्ट्वैवाभ्यानयद् गृहान् ।
राधायाश्चैव मां प्रादात् सौहार्दान्मधुसूदन ॥ ५ ॥

मधुसूदन ! उसके बाद अधिरथ नामक सूत मुझे जलमें देखते ही निकालकर अपने घर ले आये और बड़े स्नेहसे मुझे अपनी पत्नी राधाकी गोदमें दे दिया ॥ ५ ॥

मत्स्नेहाच्चैव राधायां सद्यः क्षीरमवातरत् ।
सा मे मूत्रं पुरीषं च प्रतिजग्राह माधव ॥ ६ ॥

उस समय मेरे प्रति अधिक स्नेहके कारण राधाके स्तनोंमें तत्काल दूध उतर आया। माधव ! उस अवस्थामें उसीने मेरा मल-मूत्र उठाना स्वीकार किया ॥ ६ ॥

तस्याः पिण्डव्यपनयं कुर्यादस्मद्विधः कथम् ।
धर्मविद् धर्मशास्त्राणां श्रवणे सततं रतः ॥ ७ ॥

अतः सदा धर्मशास्त्रोंके श्रवणमें तत्पर रहनेवाला मुझ जैसा धर्मज्ञ पुरुष राधाके मुखका ग्रास कैसे छीन सकता है ? (उसका पालन-पोषण न करके उसे त्याग देनेकी क्रूरता कैसे कर सकता है ?) ॥ ७ ॥

तथा मामभिजानाति सूतश्चाधिरथः सुतम् ।
पितरं चाभिजानामि तमहं सौहृदात् सदा ॥ ८ ॥

अधिरथ सूत भी मुझे अपना पुत्र ही समझते हैं और मैं भी सौहार्दवश उन्हें सदासे अपना पिता ही मानता आया हूँ ॥ ८ ॥

स हि मे जातकर्मादि कारयामास माधव ।
शास्त्रदृष्टेन विधिना पुत्रप्रीत्या जनार्दन ॥ ९ ॥
नाम वै वसुषेणेति कारयामास वै द्विजैः ।

माधव ! उन्होंने मेरे जातकर्म आदि संस्कार करवाये तथा जनार्दन ! उन्होंने ही पुत्रप्रेमवश शास्त्रीय विधिसे ब्राह्मणोंद्वारा मेरा 'वसुषेण' नाम रखवाया ॥ ९½ ॥

भार्याश्चोढा मम प्राप्ते यौवने तत्परिग्रहात् ॥ १० ॥
तासु पुत्राश्च पौत्राश्च मम जाता जनार्दन ।
तासु मे हृदयं कृष्ण संजातं कामबन्धनम् ॥ ११ ॥

श्रीकृष्ण ! मेरी युवावस्था होनेपर अधिरथने सूतजातिकी कई कन्याओंके साथ मेरा विवाह करवाया। अब उनसे मेरे पुत्र और पौत्र भी पैदा हो चुके हैं। जनार्दन ! उन स्त्रियोंमें मेरा हृदय कामभावसे आसक्त रहा है ॥ १०-११ ॥

न पृथिव्या सकलया न सुवर्णस्य राशिभिः ।
हर्षाद् भयाद् वा गोविन्द मिथ्या कर्तुं तदुत्सहे ॥ १२ ॥

गोविन्द ! अब मैं सम्पूर्ण पृथिवीका राज्य पाकर, सुवर्णकी राशियाँ लेकर अथवा हर्ष या भयके कारण भी वह सब सम्बन्ध मिथ्या नहीं करना चाहता ॥ १२ ॥

धृतराष्ट्रकुले कृष्ण दुर्योधनसमाश्रयात् ।
मया त्रयोदश समा भुक्तं राज्यमकण्टकम् ॥ १३ ॥

श्रीकृष्ण ! मैंने दुर्योधनका सहारा पाकर धृतराष्ट्रके कुलमें रहते हुए तेरह वर्षोंतक अकण्टक राज्यका उपभोग किया है ॥ १३ ॥

इष्टं च बहुभिर्यज्ञैः सह सूतैर्मयासकृत् ।
आवाहाश्च विवाहाश्च सह सूतैर्मया कृताः ॥ १४ ॥

वहाँ मैंने सूतोंके साथ मिलकर बहुत-से यज्ञोंका अनुष्ठान किया है तथा उन्हींके साथ रहकर अनेकानेक कुलधर्म एवं वैवाहिक कार्य सम्पन्न किये हैं ॥ १४ ॥

मां च कृष्ण समासाद्य कृतः शस्त्रसमुद्यमः ।
दुर्योधनेन वार्ष्णेय विग्रहश्चापि पाण्डवैः ॥ १५ ॥

वृष्णिनन्दन श्रीकृष्ण ! दुर्योधनने मेरे ही भरोसे हथियार उठाने तथा पाण्डवोंके साथ विग्रह करनेका साहस किया है॥१५॥

तस्माद् रणे द्वैरथे मां प्रत्युद्यातारमच्युत ।
वृतवान् परमं कृष्ण प्रतीपं सव्यसाचिनः ॥ १६ ॥

अतः अच्युत ! मुझे द्वैरथ युद्धमें सव्यसाची अर्जुनके विरुद्ध लोहा लेने तथा उनका सामना करनेके लिये उसने चुन लिया है ॥ १६ ॥

वधाद् बन्धाद् भयाद् वापि लोभाद् वापि जनार्दन ।
अनृतं नोत्सहे कर्तुं धार्तराष्ट्रस्य धीमतः ॥ १७ ॥

जनार्दन ! इस समय मैं वध, बन्धन, भय अथवा लोभसे भी बुद्धिमान् धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधनके साथ मिथ्या व्यवहार नहीं करना चाहता ॥ १७ ॥

यदि ह्यद्य न गच्छेयं द्वैरथं सव्यसाचिना ।
अकीर्तिः स्याद्धृषीकेश मम पार्थस्य चोभयोः ॥ १८ ॥

हृषीकेश ! अब यदि मैं अर्जुनके साथ द्वैरथ युद्ध न

करूँ तो यह मेरे और अर्जुन दोनोंके लिये अपयशकी बात होगी ॥ १८ ॥

असंशयं हितार्थाय ब्रूयास्त्वं मधुसूदन ।
सर्वं च पाण्डवाः कुर्युस्त्वद्वशित्वान्न संशयः ॥१९॥

मधुसूदन ! इसमें संदेह नहीं कि आप मेरे हितके लिये ही ये सब बातें कहते हैं । पाण्डव आपके अधीन हैं; इसलिये आप उनसे जो कुछ भी कहेंगे, वह सब वे अवश्य ही कर सकते हैं ॥ १९ ॥

मन्त्रस्य नियमं कुर्यास्त्वमत्र मधुसूदन ।
एतदत्र हितं मन्ये सर्वं यादवनन्दन ॥ २० ॥

परंतु मधुसूदन ! मेरे और आपके बीचमें जो यह गुप्त परामर्श हुआ है, उसे आप यहीं तक सीमित रक्खें । यादवनन्दन ! ऐसा करनेमें ही मैं यहाँ सब प्रकारसे हित समझता हूँ ॥ २० ॥

यदि जानाति मां राजा धर्मात्मा संयतेन्द्रियः।
कुन्त्याः प्रथमजं पुत्रं न स राज्यं ग्रहीष्यति ॥ २१ ॥

अपनी इन्द्रियोंको संयममें रखनेवाले धर्मात्मा राजा युधिष्ठिर यदि यह जान लेंगे कि मैं (कर्ण) कुन्तीका प्रथम पुत्र हूँ, तब वे राज्य ग्रहण नहीं करेंगे ॥ २१ ॥

प्राप्य चापि महद् राज्यं तदहं मधुसूदन ।
स्फीतं दुर्योधनायैव सम्प्रदद्यामरिंदम ॥ २२ ॥

शत्रुदमन मधुसूदन ! उस दशामें मैं उस समृद्धिशाली विशाल राज्यको पाकर भी दुर्योधनको ही सौंप दूँगा ॥२२॥

स एव राजा धर्मात्मा शाश्वतोऽस्तु युधिष्ठिरः।
नेता यस्य हृषीकेशो योद्धा यस्य धनंजयः ॥ २३ ॥

मैं भी यही चाहता हूँ कि जिनके नेता हृषीकेश और योद्धा अर्जुन हैं, वे धर्मात्मा युधिष्ठिर ही सर्वदा राजा बने रहें।२३।

पृथिवी तस्य राष्ट्रं च यस्य भीमो महारथः ।
नकुलः सहदेवश्च द्रौपदेयाश्च माधव ॥ २४ ॥
धृष्टद्युम्नश्च पाञ्चाल्यः सात्यकिश्च महारथः ।
उत्तमौजा युधामन्युः सत्यधर्मा च सौमकिः ॥ २५ ॥
चैद्यश्च चेकितानश्च शिखण्डी चापराजितः ।
इन्द्रगोपकवर्णाश्च केकया भ्रातरस्तथा ।
इन्द्रायुधसवर्णश्च कुन्तिभोजो महामनाः ॥ २६ ॥
मातुलो भीमसेनस्य श्येनजिच्च महारथः ।
शङ्खः पुत्रो विराटस्य निधिस्त्वं च जनार्दन ॥ २७ ॥

माधव ! जनार्दन ! जिनके सहायक महारथी भीम, नकुल, सहदेव, द्रौपदीके पाँचों पुत्र, पाञ्चालराजकुमार धृष्टद्युम्न, महारथी सात्यकि, उत्तमौजा, युधामन्यु, सोमकवंशी सत्यधर्मा, चेदिराज धृष्टकेतु, चेकितान, अपराजित वीर शिखण्डी, इन्द्रगोपके समान वर्णवाले पाँचों भाई केकय-राजकुमार, इन्द्रधनुषके समान रंगवाले महामना कुन्तिभोज, भीमसेनके मामा महारथी श्येनजित्, विराटपुत्र शंख तथा अक्षयनिधिके समान आप हैं, उन्हीं युधिष्ठिरके अधिकारमें यह सारा भूमण्डल तथा कौरव-राज्य रहेगा ॥ २४—२७ ॥

महानयं कृष्ण कृतः क्षत्रस्य समुदानयः ।
राज्यं प्राप्तमिदं दीप्तं प्रथितं सर्वराजसु ॥ २८ ॥

श्रीकृष्ण ! दुर्योधनने यह क्षत्रियोंका बहुत बड़ा समुदाय एकत्र कर लिया है तथा समस्त राजाओंमें विख्यात एवं उज्ज्वल यह कुरुदेशका राज्य भी उसे प्राप्त हो गया है।२८।

धार्तराष्ट्रस्य वार्ष्णेय शस्त्रयज्ञो भविष्यति ।
अस्य यज्ञस्य वेत्ता त्वं भविष्यसि जनार्दन ॥ २९ ॥

जनार्दन ! वृष्णिनन्दन ! अब दुर्योधनके यहाँ एक शस्त्र-यज्ञ होगा, जिसके साक्षी आप होंगे ॥ २९ ॥

आध्वर्यवं च ते कृष्ण क्रतावस्मिन् भविष्यति।
होता चैवात्र बीभत्सुः संनद्धः स कपिध्वजः ॥ ३० ॥

श्रीकृष्ण ! इस यज्ञमें अध्वर्युका काम भी आपको ही करना होगा । कवच आदिसे सुसज्जित कपिध्वज अर्जुन इसमें होता बनेंगे ॥ ३० ॥

गाण्डीवं स्रुक् तथा चाज्यं वीर्यं पुंसां भविष्यति।
ऐन्द्रं पाशुपतं ब्राह्मं स्थूणाकर्णं च माधव ।
मन्त्रास्तत्र भविष्यन्ति प्रयुक्ताः सव्यसाचिना ॥ ३१ ॥

गाण्डीव धनुष स्रुवाका काम करेगा और विपक्षी वीरोंका पराक्रम ही हवनीय घृत होगा । माधव ! सव्यसाची अर्जुन द्वारा प्रयुक्त होनेवाले ऐन्द्र, पाशुपत, ब्राह्म और स्थूणाकर्ण आदि अस्त्र ही वेद-मन्त्र होंगे ॥ ३१ ॥

अनुयातश्च पितरमधिको वा पराक्रमे ।
गीतं स्तोत्रं स सौभद्रः सम्यक् तत्र भविष्यति ॥ ३२ ॥

सुभद्राकुमार अभिमन्यु भी अस्त्रविद्यामें अपने पिताका ही अनुसरण करनेवाला अथवा पराक्रममें उनसे भी बढ़कर है । वह इस शस्त्रयज्ञमें उत्तम स्तोत्रगान (उद्गातृकर्म) की पूर्ति करेगा ॥ ३२ ॥

उद्गातात्र पुनर्भीमः प्रस्तोता सुमहाबलः ।
विनदन् स नरव्याघ्रो नागानीकान्तकृद् रणे ॥ ३३ ॥

अभिमन्यु ही उद्गाता और महाबली नरश्रेष्ठ भीमसेन ही प्रस्तोता होंगे, जो रणभूमिमें गर्जना करते हुए शत्रुपक्षके हाथियोंकी सेनाका विनाश कर डालेंगे ॥ ३३ ॥

स चैव तत्र धर्मात्मा शश्वद् राजा युधिष्ठिरः।
जपैर्होमैश्च संयुक्तो ब्रह्मत्वं कारयिष्यति ॥ ३४ ॥

वे धर्मात्मा राजा युधिष्ठिर ही सदा जप और होममें संलग्न रहकर उस यज्ञमें ब्रह्माका कार्य सम्पन्न करेंगे ॥ ३४ ॥

शङ्खशब्दाः समुरजा भेर्यश्च मधुसूदन ।
उत्कृष्टसिंहनादश्च सुब्रह्मण्यो भविष्यति ॥ ३५ ॥

मधुसूदन ! शङ्ख, मुरज तथा भेरियोंके शब्द और उच्च स्वरसे किये हुए सिंहनाद ही सुब्रह्मण्यनाद होंगे ॥ ३५ ॥

नकुलः सहदेवश्च माद्रीपुत्रौ यशस्विनौ ।
शामित्रं तौ महावीर्यौ सम्यक् तत्र भविष्यतः ॥ ३६ ॥

माद्रीके यशस्वी पुत्र महापराक्रमी नकुल-सहदेव उसमें भलीभाँति शामित्रकर्मका सम्पादन करेंगे ॥ ३६ ॥

कल्माषदण्डा गोविन्द विमला रथपङ्क्तयः ।
यूपाः समुपकल्पन्तामस्मिन् यज्ञे जनार्दन ॥ ३७ ॥

गोविन्द ! जनार्दन ! विचित्र ध्वजदण्डोंसे सुशोभित निर्मल रथ-पंक्तियाँ ही इस रणयज्ञमें यूपोंका काम करेंगी। ३७।

कर्णिनालीकनाराचा वत्सदन्तोपबृंहणाः ।
तोमराः सोमकलशाः पवित्राणि धनूंषि च ॥ ३८ ॥

कर्णि, नालीक, नाराच और वत्सदन्त आदि बाण उपबृंहण (सोमाहुतिके साधनभूत चमस आदि पात्र) होंगे। तोमर सोमकलशका और धनुष पवित्रीका काम करेंगे। ३८।

असयोऽत्र कपालानि पुरोडाशाः शिरांसि च ।
हविस्तु रुधिरं कृष्ण तस्मिन् यज्ञे भविष्यति ॥ ३९ ॥

श्रीकृष्ण ! उस यज्ञमें खड्ग ही कपाल, शत्रुओंके मस्तक ही पुरोडाश तथा रुधिर ही हविष्य होंगे ॥ ३९ ॥

इध्माः परिधयश्चैव शक्तयो विमला गदाः ।
सदस्या द्रोणशिष्याश्च कृपस्य च शरद्वतः ॥ ४० ॥

निर्मल शक्तियाँ और गदाएँ सब ओर बिखरी हुई समिधाएँ होंगी । द्रोण और कृपाचार्यके शिष्य ही सदस्यका कार्य करेंगे ॥ ४० ॥

इषवोऽत्र परिस्तोमा मुक्ता गाण्डीवधन्वना ।
महारथप्रयुक्ताश्च द्रोणद्रौणिप्रचोदिताः ॥ ४१ ॥

गाण्डीवधारी अर्जुनके छोड़े हुए तथा द्रोणाचार्य, अश्वत्थामा एवं अन्य महारथियोंके चलाये हुए बाण यज्ञ-कुण्डके सब ओर बिछाये जानेवाले कुशोंका काम देंगे ॥४१॥

प्रतिप्रास्थानिकं कर्म सात्यकिस्तु करिष्यति ।
दीक्षितो धार्तराष्ट्रोऽत्र पत्नी चास्य महाचमूः ॥ ४२ ॥

सात्यकि प्रतिस्थाता (अध्वर्युके दूसरे सहयोगी) का कार्य करेंगे। धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधन इस रणयज्ञकी दीक्षा लेगा और उसकी विशाल सेना ही यजमानपत्नीका काम करेगी ॥

घटोत्कचोऽत्र शामित्रं करिष्यति महाबलः ।
अतिरात्रे महाबाहो वितते यज्ञकर्मणि ॥ ४३ ॥

महाबाहो ! इस महायज्ञका अनुष्ठान आरम्भ हो जानेपर उसके अतिरात्रयागमें (अथवा आधी रातके समय) महाबली घटोत्कच शामित्रकर्म करेगा ॥ ४३ ॥

दक्षिणा त्वस्य यज्ञस्य धृष्टद्युम्नः प्रतापवान् ।
वैतानिके कर्ममुखे जातो यः कृष्ण पावकात् ॥ ४४ ॥

श्रीकृष्ण ! जो श्रौत यज्ञके आरम्भमें ही साक्षात् अग्नि-कुण्डसे प्रकट हुआ था, वह प्रतापी वीर धृष्टद्युम्न इस यज्ञकी दक्षिणाका कार्य सम्पादन करेगा ॥ ४४ ॥

यदब्रुवमहं कृष्ण कटुकानि स्म पाण्डवान् ।
प्रियार्थं धार्तराष्ट्रस्य तेन तप्ये ह्यकर्मणा ॥ ४५ ॥

श्रीकृष्ण ! मैंने जो धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधनका प्रिय करनेके लिये पाण्डवोंको बहुतसे कटुवचन सुनाये हैं, उस अयोग्य कर्मके कारण आज मुझे बड़ा पश्चात्ताप हो रहा है ॥ ४५ ॥

यदा द्रक्ष्यसि मां कृष्ण निहतं सव्यसाचिना ।
पुनश्चितिस्तदा चास्य यज्ञस्याथ भविष्यति ॥ ४६ ॥

श्रीकृष्ण ! जब आप सव्यसाची अर्जुनके हाथसे मुझे मारा गया देखेंगे, उस समय इस यज्ञका पुनश्चिति-कर्म (यज्ञके अनन्तर किया जानेवाला चयनारम्भ) सम्पन्न होगा ४६

दुःशासनस्य रुधिरं यदा पास्यति पाण्डवः ।
आनर्दं नर्दतः सम्यक् तदा सुत्यं भविष्यति ॥ ४७ ॥

जब पाण्डुनन्दन भीमसेन सिंहनाद करते हुए दुःशासनका रक्त पान करेंगे, उस समय इस यज्ञका सुत्य (सोमाभिषव) कर्म पूरा होगा ॥ ४७ ॥

यदा द्रोणं च भीष्मं च पाञ्चाल्यौ पातयिष्यतः ।
तदा यज्ञावसानं तद् भविष्यति जनार्दन ॥ ४८ ॥

जनार्दन ! जब दोनों पाञ्चालराजकुमार धृष्टद्युम्न और शिखण्डी द्रोणाचार्य और भीष्मको मार गिरायेंगे, उस समय इस रणयज्ञका अवसान (बीच-बीचमें होनेवाला विराम) कार्य सम्पन्न होगा ॥ ४८ ॥

दुर्योधनं यदा हन्ता भीमसेनो महाबलः ।
तदा समाप्स्यते यज्ञो धार्तराष्ट्रस्य माधव ॥ ४९ ॥

माधव ! जब महाबली भीमसेन दुर्योधनका वध करेंगे उस समय धृतराष्ट्रपुत्रका प्रारम्भ किया हुआ यह यज्ञ समाप्त हो जायगा ॥ ४९ ॥

स्नुषाश्च प्रस्नुषाश्चैव धृतराष्ट्रस्य सङ्गताः ।
हतेश्वरा नष्टपुत्रा हतनाथाश्च केशव ॥ ५० ॥
रुदत्यः सह गान्धार्या श्वगृध्रकुरराकुले ।
स यज्ञेऽस्मिन्नवभृथो भविष्यति जनार्दन ॥ ५१ ॥

केशव ! जिनके पति, पुत्र और संरक्षक मार दिये गये होंगे, वे धृतराष्ट्रके पुत्रों और पौत्रोंकी बहुएँ जब गान्धारीके साथ एकत्र होकर कुत्तों, गीधों और कुरर पक्षियोंसे भरे हुए समराङ्गणमें रोती हुई विचरेंगी, जनार्दन ! वही उस यज्ञका अवभृथस्नान होगा ॥ ५०-५१ ॥

विद्यावृद्धा वयोवृद्धाः क्षत्रियाः क्षत्रियर्षभ ।
वृथा मृत्युं न कुर्वीरंस्त्वत्कृते मधुसूदन ॥ ५२ ॥

क्षत्रियशिरोमणि मधुसूदन ! तुम्हारे इस शान्तिस्थापनके प्रयत्नसे कहीं ऐसा न हो कि विद्यावृद्ध और वयोवृद्ध क्षत्रियगण व्यर्थ मृत्युको प्राप्त हों (युद्धमें शस्त्रोंसे होनेवाली मृत्युसे वञ्चित रह जायँ) ॥ ५२ ॥

शस्त्रेण निधनं गच्छेत् समृद्धं क्षत्रमण्डलम् ।
कुरुक्षेत्रे पुण्यतमे त्रैलोक्यस्यापि केशव ॥ ५३ ॥

केशव ! कुरुक्षेत्र तीनों लोकोंके लिये परम पुण्यतम तीर्थ है । यह समृद्धिशाली क्षत्रियसमुदाय वहीं जाकर शस्त्रोंके आघातसे मृत्युको प्राप्त हो ॥ ५३ ॥

तदत्र पुण्डरीकाक्ष विधत्स्व यदभीप्सितम् ।
यथा कार्त्स्न्येन वार्ष्णेय क्षत्रं स्वर्गमवाप्नुयात् ॥ ५४ ॥

कमलनयन वृष्णिनन्दन ! आप भी इसकी सिद्धिके लिये ही ऐसा मनोवाञ्छित प्रयत्न करें, जिससे यह सारा-का-सारा क्षत्रियसमूह स्वर्गलोकमें पहुँच जाय ॥ ५४ ॥

यावत् स्थास्यन्ति गिरयः सरितश्च जनार्दन ।
तावत् कीर्तिभवः शब्दः शाश्वतोऽयं भविष्यति ॥ ५५ ॥

जनार्दन ! जबतक ये पर्वत और सरिताएँ रहेंगी, तबतक इस युद्धकी कीर्ति-कथा अक्षय बनी रहेगी ॥ ५५ ॥

ब्राह्मणाः कथयिष्यन्ति महाभारतमाहवम् ।
समागमेषु वार्ष्णेय क्षत्रियाणां यशोधनम् ॥ ५६ ॥

वार्ष्णेय ! ब्राह्मणलोग क्षत्रियोंके समाजमें इस महाभारतयुद्धका, जिसमें राजाओंके सुयशरूपी धनका संग्रह होनेवाला है, वर्णन करेंगे ॥ ५६ ॥

समुपानय कौन्तेयं युद्धाय मम केशव ।
मन्त्रसंवरणं कुर्वन् नित्यमेव परंतप ॥ ५७ ॥

शत्रुओंको संताप देनेवाले केशव ! आप इस मन्त्रणाको सदा गुप्त रखते हुए ही कुन्तीकुमार अर्जुनको मेरे साथ युद्ध करनेके लिये ले आवें ॥ ५७ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि कर्णोपनिवादे एकचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥१४१॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें कर्णके द्वारा अपने निश्चित विचारका प्रतिपादनविषयक एक सौ इकतालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १४१ ॥

द्विचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः

भगवान् श्रीकृष्णका कर्णसे पाण्डवपक्षकी निश्चित विजयका प्रतिपादन

संजय उवाच

कर्णस्य वचनं श्रुत्वा केशवः परवीरहा ।
उवाच प्रहसन् वाक्यं स्मितपूर्वमिदं यथा ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—राजन् ! विपक्षी वीरोंका वध करनेवाले भगवान् केशव कर्णकी उपर्युक्त बात सुनकर ठठाकर हँस पड़े और मुसकराते हुए इस प्रकार बोले ॥ १ ॥

श्रीभगवानुवाच

अपि त्वां न लभेत् कर्ण राज्यलम्भोपपादनम् ।
मया दत्तां हि पृथिवीं न प्रशासितुमिच्छसि ॥ २ ॥

श्रीभगवान् बोले—कर्ण ! मैं जो राज्यकी प्राप्तिका उपाय बता रहा हूँ, जान पड़ता है वह तुम्हें ग्राह्य नहीं प्रतीत होता है । तुम मेरी दी हुई पृथ्वीका शासन नहीं करना चाहते हो ॥२॥

ध्रुवो जयः पाण्डवानामितीदं
न संशयः कश्चन विद्यतेऽत्र ।
जयध्वजो दृश्यते पाण्डवस्य
समुच्छ्रितो वानरराज उग्रः ॥ ३ ॥

पाण्डवोंकी विजय अवश्यम्भावी है । इस विषयमें कोई भी संशय नहीं है । पाण्डुनन्दन अर्जुनका वानरराज हनुमान्से उपलक्षित वह भयंकर विजयध्वज बहुत ऊँचा दिखायी देता है॥

दिव्या माया विहिता भौमनेन
समुच्छ्रिता इन्द्रकेतुप्रकाशा ।
दिव्यानि भूतानि जयावहानि
दृश्यन्ति चैवात्र भयानकानि ॥ ४ ॥

विश्वकर्माने उस ध्वजमें दिव्य मायाकी रचना की है । वह ऊँची ध्वजा इन्द्रध्वजके समान प्रकाशित होती है । उसके ऊपर विजयकी प्राप्ति करानेवाले दिव्य एवं भयंकर प्राणी दृष्टिगोचर होते हैं ॥ ४ ॥

न सज्जते शैलवनस्पतिभ्य
ऊर्ध्वं तिर्यग्योजनमात्ररूपः ।
श्रीमान् ध्वजः कर्ण धनंजयस्य
समुच्छ्रितः पावकतुल्यरूपः ॥ ५ ॥

कर्ण ! धनंजयका वह अग्निके समान तेजस्वी तथा कान्तिमान् ऊँचा ध्वज एक योजन लम्बा है । वह ऊपर अथवा अगल-बगलमें पर्वतों तथा वृक्षोंसे कहीं अटकता नहीं है ५

यदा द्रक्ष्यसि संग्रामे श्वेताश्वं कृष्णसारथिम् ।
ऐन्द्रमस्त्रं विकुर्वाणमुभे चाप्यग्निमारुते ॥ ६ ॥
गाण्डीवस्य च निर्घोषं विस्फूर्जितमिवाशनेः ।
न तदा भविता त्रेता न कृतं द्वापरं न च ॥ ७ ॥

कर्ण ! जब युद्धमें मुझ श्रीकृष्णको सारथि बनाकर आये हुए श्वेतवाहन अर्जुनको तुम ऐन्द्र, आग्नेय तथा वायव्य अस्त्र प्रकट करते देखोगे और जब गाण्डीवकी वज्र-गर्जनाके समान भयंकर टंकार तुम्हारे कानोंमें पड़ेगी, उस समय

तुम्हें सत्ययुग, त्रेता और द्वापरकी प्रतीति नहीं होगी (केवल कलहस्वरूप भयंकर कलि ही दृष्टिगोचर होगा)॥६-७॥

यदा द्रक्ष्यसि संग्रामे कुन्तीपुत्रं युधिष्ठिरम्।
जपहोमसमायुक्तं स्वां रक्षन्तं महाचमूम्॥ ८॥
आदित्यमिव दुर्धर्षं तपन्तं शत्रुवाहिनीम्।
न तदा भविता त्रेता न कृतं द्वापरं न च॥ ९॥

जब जप और होममें लगे हुए कुन्तीपुत्र युधिष्ठिरको संग्राममें अपनी विशाल सेनाकी रक्षा करते तथा सूर्यके समान दुर्धर्ष होकर शत्रुसेनाको संतप्त करते देखोगे, उस समय तुम्हें सत्ययुग, त्रेता और द्वापरकी प्रतीति नहीं होगी ८-९

यदा द्रक्ष्यसि संग्रामे भीमसेनं महाबलम्।
दुःशासनस्य रुधिरं पीत्वा नृत्यन्तमाहवे॥ १०॥
प्रभिन्नमिव मातङ्गं प्रतिद्विरदघातिनम्।
न तदा भविता त्रेता न कृतं द्वापरं न च॥ ११॥

जब तुम युद्धमें महाबली भीमसेनको दुःशासनका रक्त पीकर नाचते तथा मदकी धारा बहानेवाले गजराजके समान उन्हें शत्रुपक्षकी गजसेनाका संहार करते देखोगे, उस समय तुम्हें सत्ययुग, त्रेता और द्वापरकी प्रतीति नहीं होगी।१०-११।

यदा द्रक्ष्यसि संग्रामे द्रोणं शान्तनवं कृपम्।
सुयोधनं च राजानं सैन्धवं च जयद्रथम्॥ १२॥
युद्धायापततस्तूर्णं वारितान् सव्यसाचिना।
न तदा भविता त्रेता न कृतं द्वापरं न च॥ १३॥

जब तुम देखोगे कि युद्धमें आचार्य द्रोण, शान्तनुनन्दन भीष्म, कृपाचार्य, राजा दुर्योधन और सिन्धुराज जयद्रथ ज्यों ही युद्धके लिये आगे बढ़े हैं त्यों ही सव्यसाची अर्जुनने तुरंत उन सबकी गति रोक दी है, तब तुम हक्के-बक्के-से रह जाओगे और उस समय तुम्हें सत्ययुग, त्रेता और द्वापर कुछ भी सूझ नहीं पड़ेगा॥ १२-१३॥

यदा द्रक्ष्यसि संग्रामे माद्रीपुत्रौ महाबलौ।
वाहिनीं धार्तराष्ट्राणां क्षोभयन्तौ गजाविव॥ १४॥
विगाढे शस्त्रसम्पाते परवीररथारुजौ।
न तदा भविता त्रेता न कृतं द्वापरं न च॥ १५॥

जब युद्धस्थलमें अस्त्र-शस्त्रोंका प्रहार प्रगाढ़ अवस्थाको पहुँच जायगा (जोर-जोरसे होने लगेगा) और शत्रुवीरोंके रथको नष्ट-भ्रष्ट करनेवाले महाबली माद्रीकुमार नकुल-सहदेव दो गजराजोंकी भाँति धृतराष्ट्रपुत्रोंकी सेनाको क्षुब्ध करने लगेंगे तथा जब तुम अपनी आँखोंसे यह अवस्था देखोगे, उस समय तुम्हारे सामने न सत्ययुग होगा, न त्रेता और न द्वापर ही रह जायगा॥ १४-१५॥

ब्रूयाः कर्ण इतो गत्वा द्रोणं शान्तनवं कृपम्।
सौम्योऽयं वर्तते मासः सुप्रापयवसेन्धनः॥ १६॥

कर्ण! तुम यहाँसे जाकर आचार्य द्रोण, शान्तनुनन्दन भीष्म और कृपाचार्यसे कहना कि 'यह सौम्य (सुखद) मास चल रहा है। इसमें पशुओंके लिये घास और जलानेके लिये लकड़ी आदि वस्तुएँ सुगमतासे मिल सकती हैं॥ १६॥

सर्वौषधिवनस्फीतः फलवानल्पमक्षिकः।
निष्पङ्को रसवत्तोयो नात्युष्णशिशिरः सुखः॥ १७॥

'सब प्रकारकी ओषधियों तथा फल-फूलोंसे वनकी समृद्धि बढ़ी हुई है, धानके खेतोंमें खूब फल लगे हुए हैं, मक्खियाँ बहुत कम हो गयी हैं, धरतीपर कीचड़का नाम नहीं है। जल स्वच्छ एवं सुस्वादु प्रतीत होता है, इस सुखद समयमें न तो अधिक गर्मी है और न अधिक सर्दी ही (यह मार्गशीर्ष मास चल रहा है)

सप्तमाच्चापि दिवसादमावास्या भविष्यति।
संग्रामो युज्यतां तस्यां तामाहुः शक्रदेवताम्॥ १८॥

'आजसे सातवें दिनके बाद अमावास्या होगी। उसके देवता इन्द्र कहे गये हैं। उसीमें युद्ध आरम्भ किया जाय'॥

तथा राज्ञो वदेः सर्वान् ये युद्धायाभ्युपागताः।
यद् वो मनीषितं तद् वै सर्वं सम्पादयाम्यहम्॥ १९॥

इसी प्रकार जो युद्धके लिये यहाँ पधारे हैं, उन समस्त राजाओंसे भी कह देना 'आपलोगोंके मनमें जो अभिलाषा है, वह सब मैं अवश्य पूर्ण करूँगा'॥ १९॥

राजानो राजपुत्राश्च दुर्योधनवशानुगाः।
प्राप्य शस्त्रेण निधनं प्राप्स्यन्ति गतिमुत्तमाम्॥ २०॥

दुर्योधनके वशमें रहनेवाले जितने राजा और राजकुमार हैं, वे शस्त्रोंद्वारा मृत्युको प्राप्त होकर उत्तम गति लाभ करेंगे।२०।

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि कर्णोपनिवादे भगवद्वाक्ये द्विचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः॥१४२॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें कर्णके द्वारा अपने अभिप्रायनिवेदनके प्रसङ्गमें भगवद्वाक्यविषयक एक सौ बयालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ १४२॥

त्रिचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः

कर्णके द्वारा पाण्डवोंकी विजय और कौरवोंकी पराजय सूचित करनेवाले लक्षणों एवं अपने स्वप्नका वर्णन

संजय उवाच

केशवस्य तु तद् वाक्यं कर्णः श्रुत्वा हितं शुभम्।
अब्रवीदभिसम्पूज्य कृष्णं तं मधुसूदनम्॥ १॥

संजय कहते हैं—राजन्! भगवान् केशवका वह

हितकर एवं कल्याणकारी वचन सुनकर कर्ण मधुसूदन श्रीकृष्णके प्रति सम्मानका भाव प्रदर्शित करते हुए इस प्रकार बोला—॥ १ ॥

जानन् मां किं महाबाहो सम्मोहयितुमिच्छसि ।
योऽयं पृथिव्याः कात्स्न्येंन विनाशः समुपस्थितः ॥ २ ॥
निमित्तं तत्र शकुनिरहं दुःशासनस्तथा ।
दुर्योधनश्च नृपतिर्धृतराष्ट्रसुतोऽभवत् ॥ ३ ॥

'महाबाहो ! आप सब कुछ जानते हुए भी मुझे मोहमें क्यों डालना चाहते हैं ! यह जो इस भूतलका पूर्णरूपसे विनाश उपस्थित हुआ है, उसमें मैं, शकुनि, दुःशासन तथा धृतराष्ट्रपुत्र राजा दुर्योधन निमित्तमात्र हुए हैं ॥ २-३ ॥

असंशयमिदं कृष्ण महद् युद्धमुपस्थितम् ।
पाण्डवानां कुरूणां च घोरं रुधिरकर्दमम् ॥ ४ ॥

'श्रीकृष्ण ! इसमें संदेह नहीं कि कौरवों और पाण्डवोंका यह बड़ा भयंकर युद्ध उपस्थित हुआ है, जो रक्तकी कीच मचा देनेवाला है ॥ ४ ॥

राजानो राजपुत्राश्च दुर्योधनवशानुगाः ।
रणे शस्त्राग्निना दग्धाः प्राप्स्यन्ति यमसादनम् ॥ ५ ॥

'दुर्योधनके वशमें रहनेवाले जो राजा और राजकुमार हैं, वे रणभूमिमें अस्त्र-शस्त्रोंकी आगसे जलकर निश्चय ही यमलोकमें जा पहुँचेंगे ॥ ५ ॥

स्वप्ना हि बहवो घोरा दृश्यन्ते मधुसूदन ।
निमित्तानि च घोराणि तथोत्पाताः सुदारुणाः ॥ ६ ॥

'मधुसूदन ! मुझे बहुतसे भयंकर स्वप्न दिखायी देते हैं । घोर अपशकुन तथा अत्यन्त दारुण उत्पात दृष्टिगोचर होते हैं ॥

पराजयं धार्तराष्ट्रे विजयं च युधिष्ठिरे ।
शंसन्त इव वार्ष्णेय विविधा रोमहर्षणाः ॥ ७ ॥

'वृष्णिनन्दन ! वे रोंगटे खड़े कर देनेवाले विविध उत्पात मानो दुर्योधनकी पराजय और युधिष्ठिरकी विजय घोषित करते हैं ॥ ७ ॥

प्राजापत्यं हि नक्षत्रं ग्रहस्तीक्ष्णो महाद्युतिः ।
शनैश्चरः पीडयति पीडयन् प्राणिनोऽधिकम् ॥ ८ ॥

'महातेजस्वी एवं तीक्ष्ण ग्रह शनैश्चर प्रजापतिसम्बन्धी रोहिणीनक्षत्रको पीड़ित करते हुए जगत्‌के प्राणियोंको अधिक-से-अधिक पीड़ा दे रहे हैं ॥ ८ ॥

कृत्वा चाङ्गारको वक्रं ज्येष्ठायां मधुसूदन ।
अनुराधां प्रार्थयते मैत्रं संगमयन्निव ॥ ९ ॥

'मधुसूदन ! मंगल ग्रह ज्येष्ठाके निकटसे वक्रगतिका आश्रय ले अनुराधा नक्षत्रपर आना चाहते हैं । जो राज्यस्थ राजाके मित्रमण्डलका विनाश-सा सूचित कर रहे हैं ॥ ९ ॥

नूनं महद्भयं कृष्ण कुरूणां समुपस्थितम् ।
विशेषेण हि वार्ष्णेय चित्रां पीडयते ग्रहः ॥ १० ॥

'वृष्णिनन्दन श्रीकृष्ण ! निश्चय ही कौरवोंपर महान् भय उपस्थित हुआ है । विशेषतः 'महापात' नामक ग्रह चित्राको पीड़ा दे रहा है (जो राजाओंके विनाशका सूचक है) ॥ १० ॥

सोमस्य लक्ष्म व्यावृत्तं राहुरर्कमुपैति च ।
दिवश्चोल्काः पतन्त्येताः सनिर्घाताः सकम्पनाः ॥ ११ ॥

'चन्द्रमाका कलंक (काला चिह्न) मिट-सा गया है, राहु सूर्यके समीप जा रहा है । आकाशसे ये उल्काएँ गिर रही हैं, वज्रपातके-से शब्द हो रहे हैं और धरती डोलती-सी जान पड़ती है ॥ ११ ॥

निष्टनन्ति च मातङ्गा मुञ्चन्त्यश्रूणि वाजिनः ।
पानीयं यवसं चापि नाभिनन्दन्ति माधव ॥ १२ ॥

'माधव ! गजराज परस्पर टकराते और विकृत शब्द करते हैं । घोड़े नेत्रोंसे आँसू बहा रहे हैं । वे घास और पानी भी प्रसन्नतापूर्वक नहीं ग्रहण करते हैं ॥ १२ ॥

प्रादुर्भूतेषु चैतेषु भयमाहुरुपस्थितम् ।
निमित्तेषु महाबाहो दारुणं प्राणिनाशनम् ॥ १३ ॥

'महाबाहो ! कहते हैं, इन निमित्तों (उत्पातसूचक लक्षणों) के प्रकट होनेपर प्राणियोंके विनाश करनेवाले दारुण भयकी उपस्थिति होती है ॥ १३ ॥

अल्पे भुक्ते पुरीषं च प्रभूतमिह दृश्यते ।
वाजिनां वारणानां च मनुष्याणां च केशव ॥ १४ ॥

'केशव ! हाथी, घोड़े तथा मनुष्य भोजन तो थोड़ा ही करते है; परंतु उनके पेटसे मल अधिक निकलता देखा जाता है ॥ १४ ॥

धार्तराष्ट्रस्य सैन्येषु सर्वेषु मधुसूदन ।
पराभवस्य तल्लिङ्गमिति प्राहुर्मनीषिणः ॥ १५ ॥

'मधुसूदन ! दुर्योधनकी समस्त सेनाओंमें ये बातें पायी जाती हैं । मनीषी पुरुष इन्हें पराजयका लक्षण कहते हैं ॥

प्रहृष्टं वाहनं कृष्ण पाण्डवानां प्रचक्षते ।
प्रदक्षिणा मृगाश्चैव तत् तेषां जयलक्षणम् ॥ १६ ॥

'श्रीकृष्ण ! पाण्डवोंके वाहन प्रसन्न बताये जाते हैं और मृग उनके दाहिनेसे जाते देखे जाते हैं; यह लक्षण उनकी विजयका सूचक है ॥ १६ ॥

अपसव्या मृगाः सर्वे धार्तराष्ट्रस्य केशव ।
वाचश्चाप्यशरीरिण्यस्तत् पराभवलक्षणम् ॥ १७ ॥

'केशव ! सभी मृग दुर्योधनके बाँयेंसे निकलते हैं और उसे प्रायः ऐसी वाणी सुनायी देती है, जिसके बोलनेवालेका शरीर नहीं दिखायी देता । यह उसकी पराजयका चिह्न है १७

मयूराः पुण्यशकुना हंससारसचातकाः ।
जीवंजीवकसङ्घाश्चाप्यनुगच्छन्ति पाण्डवान् ॥ १८ ॥

'मोर, शुभ शकुन सूचित करनेवाले मुर्गे, हंस, सारस, चातक तथा चकोरोंके समुदाय पाण्डवोंका अनुसरण करते हैं ॥

गृध्राः कङ्का बकाः श्येना यातुधानास्तथा वृकाः ।
मक्षिकाणां च सङ्घाता अनुधावन्ति कौरवान् ॥ १९ ॥

'इसी प्रकार गीध, कङ्क, बक, श्येन (बाज), राक्षस, भेड़िये तथा मक्खियोंके समूह कौरवोंके पीछे दौड़ते हैं ॥१९॥

धार्तराष्ट्रस्य सैन्येषु भेरीणां नास्ति निःस्वनः ।
अनाहताः पाण्डवानां नदन्ति पटहाः किल ॥ २० ॥

'दुर्योधनकी सेनाओंमें बजानेपर भी भेरियोंके शब्द प्रकट नहीं होते हैं और पाण्डवोंके डंके बिना बजाये ही बज उठते हैं ॥ २० ॥

उदपानाश्च नर्दन्ति यथा गोवृषभास्तथा ।
धार्तराष्ट्रस्य सैन्येषु तत् पराभवलक्षणम् ॥ २१ ॥

'दुर्योधनकी सेनाओंमें कुएँ आदि जलाशय गाय-बैलोंके समान शब्द करते हैं । यह उसकी पराजयका लक्षण है॥२१॥

मांसशोणितवर्षं च वृष्टं देवेन माधव ।
तथा गन्धर्वनगरं भानुमत् समुपस्थितम् ॥ २२ ॥
सप्राकारं सपरिखं सवप्रं चारुतोरणम् ।
कृष्णश्च परिघस्तत्र भानुमावृत्य तिष्ठति ॥ २३ ॥

'माधव ! बादल आकाशसे मांस और रक्तकी वर्षा करते हैं । अन्तरिक्षमें चहारदिवारी, खाई, वप्र और सुन्दर फाटकोंसहित सूर्ययुक्त गन्धर्वनगर प्रकट दिखायी देता है । वहाँ सूर्यको चारों ओरसे घेरकर एक काला परिघ प्रकट होता है ॥ २२-२३ ॥

उदयास्तमने संध्ये वेदयन्ती महद्भयम् ।
शिवा च वाशते घोरं तत् पराभवलक्षणम् ॥ २४ ॥

'सूर्योदय और सूर्यास्त दोनों संध्याओंके समय एक गीदड़ी महान् भयकी सूचना देती हुई भयंकर आवाजमें रोती है । यह भी कौरवोंकी पराजयका लक्षण है ॥ २४ ॥

एकपक्षाक्षिचरणाः पक्षिणो मधुसूदन ।
उत्सृजन्ति महद् घोरं तत् पराभवलक्षणम् ॥ २५ ॥

'मधुसूदन ! एक पाँख, एक आँख और एक पैरवाले पक्षी अत्यन्त भयंकर शब्द करते हैं । यह भी कौरवपक्षकी पराजयका ही लक्षण है ॥ २५ ॥

कृष्णग्रीवाश्च शकुना रक्तपादा भयानकाः ।
संध्यामभिमुखा यान्ति तत् पराभवलक्षणम् ॥ २६ ॥

'संध्याकालमें काली ग्रीवा और लाल पैरवाले भयानक पक्षी सामने आ जाते हैं, वह भी पराजयका ही चिह्न है ॥२६॥

ब्राह्मणान् प्रथमं द्वेष्टि गुरूंश्च मधुसूदन ।
भृत्यान् भक्तिमतश्चापि तत् पराभवलक्षणम् ॥ २७ ॥

'मधुसूदन ! दुर्योधन पहले ब्राह्मणोंसे द्वेष करता है; फिर गुरुजनोंसे तथा अपने प्रति भक्ति रखनेवाले भृत्योंसे भी द्रोह करने लगता है, यह उसकी पराजयका ही लक्षण है २७

पूर्वा दिग् लोहिताकारा शस्त्रवर्णा च दक्षिणा ।
आमपात्रप्रतीकाशा पश्चिमा मधुसूदन ।
उत्तरा शङ्खवर्णाभा दिशां वर्णा उदाहृताः ॥ २८ ॥

'श्रीकृष्ण ! पूर्व दिशा लाल, दक्षिण दिशा शस्त्रोंके समान रंगवाली (काली), पश्चिम दिशा मिट्टीके कच्चे बर्तनोंकी भाँति मटमैली तथा उत्तर दिशा शङ्खके समान श्वेत दिखायी देती है । इस प्रकार ये दिशाओंके पृथक्-पृथक् वर्ण बताये गये हैं ॥ २८ ॥

प्रदीप्ताश्च दिशः सर्वा धार्तराष्ट्रस्य माधव ।
महद् भयं वेदयन्ति तस्मिन्नुत्पातदर्शने ॥ २९ ॥

'माधव ! दुर्योधनको इन उत्पातोंका दर्शन तो होता ही है । उसके लिये सारी दिशाएँ भी प्रज्वलित-सी होकर महान् भयकी सूचना दे रही हैं ॥ २९ ॥

सहस्रपादं प्रासादं स्वप्नान्ते स्म युधिष्ठिरः ।
अधिरोहन् मया दृष्टः सह भ्रातृभिरच्युत ॥ ३० ॥

'अच्युत ! मैंने स्वप्नके अन्तिम भागमें युधिष्ठिरको एक हजार खंभोंवाले महलपर भाइयोंसहित चढ़ते देखा है ॥३०॥

श्वेतोष्णीषाश्च दृश्यन्ते सर्वे वै शुक्लवाससः ।
आसनानि च शुभ्राणि सर्वेषामुपलक्षये ॥ ३१ ॥

'उन सबके सिरपर सफेद पगड़ी और अङ्गोंमें श्वेत वस्त्र शोभित दिखायी दिये हैं । मैंने उन सबके आसनोंको भी श्वेत वर्णका ही देखा है ॥ ३१ ॥

तव चापि मया कृष्ण स्वप्नान्ते रुधिराविला ।
अन्त्रेण पृथिवी दृष्टा परिक्षिप्ता जनार्दन ॥ ३२ ॥

'जनार्दन ! श्रीकृष्ण ! मैंने स्वप्नके अन्तमें आपकी इस पृथ्वीको भी रक्तसे मलिन और आँतसे लिपटी हुई देखा है ३२

अस्थिसंचयमारूढश्चामितौजा युधिष्ठिरः ।
सुवर्णपात्र्यां संहृष्टो भुक्तवान् घृतपायसम् ॥ ३३ ॥

'मैंने स्वप्नमें देखा, अमिततेजस्वी युधिष्ठिर सफेद हड्डियोंके ढेरपर बैठे हुए हैं और सोनेके पात्रमें रक्खी हुई घृतमिश्रित खीरको बड़ी प्रसन्नताके साथ खा रहे हैं ॥ ३३ ॥

युधिष्ठिरो मया दृष्टो ग्रसमानो वसुन्धराम् ।
त्वया दत्तामिमां व्यक्तं भोक्ष्यते स वसुन्धराम् ॥३४॥

'मैंने यह भी देखा कि युधिष्ठिर इस पृथ्वीको अपना ग्रास बनाये जा रहे हैं; अतः यह निश्चित है कि आपकी दी हुई वसुन्धराका वे ही उपभोग करेंगे ॥ ३४ ॥

उच्चं पर्वतमारूढो भीमकर्मा वृकोदरः ।
गदापाणिर्नरव्याघ्रो ग्रसन्निव महीमिमाम् ॥ ३५ ॥

'भयंकर कर्म करनेवाले नरश्रेष्ठ भीमसेन भी हाथमें गदा

लिये ऊँचे पर्वतपर आरूढ़ हो इस पृथ्वीको ग्रसते हुए-से स्वप्नमें दिखायी दिये हैं ॥ ३५ ॥

क्षपयिष्यति नः सर्वान् स सुव्यक्तं महारणे ।
विदितं मे हृषीकेश यतो धर्मस्ततो जयः ॥ ३६ ॥

अतः यह स्पष्टरूपसे जान पड़ता है कि वे इस महायुद्धमें हम सब लोगोंका संहार कर डालेंगे । हृषीकेश ! मुझे यह भी विदित है कि जहाँ धर्म है उसी पक्षकी विजय होती है ॥

पाण्डुरं गजमारूढो गाण्डीवी स धनंजयः ।
त्वया सार्धं हृषीकेश श्रिया परमया ज्वलन् ॥ ३७ ॥

'श्रीकृष्ण ! इसी प्रकार गाण्डीवधारी धनंजय भी आपके साथ श्वेत गजराजपर आरूढ़ हो अपनी परम कान्तिसे प्रकाशित होते हुए मुझे स्वप्नमें दृष्टिगोचर हुए हैं ॥ ३७ ॥

यूयं सर्वे वधिष्यध्वं तत्र मे नास्ति संशयः ।
पार्थिवान् समरे कृष्ण दुर्योधनपुरोगमान् ॥ ३८ ॥

'अतः श्रीकृष्ण ! आप सब लोग इस युद्धमें दुर्योधन आदि समस्त राजाओंका वध कर डालेंगे, इसमें मुझे संशय नहीं है ॥

नकुलः सहदेवश्च सात्यकिश्च महारथः ।
शुक्लकेयूरकण्ठत्राः शुक्लमाल्याम्बरावृताः ॥ ३९ ॥
अधिरूढा नरव्याघ्रा नरवाहनमुत्तमम् ।
त्रय एते मया दृष्टाः पाण्डुरच्छत्रवाससः ॥ ४० ॥

'नकुल, सहदेव तथा महारथी सात्यकि—ये तीन नरश्रेष्ठ मुझे स्वप्नमें श्वेत भुजबन्द, श्वेत कण्ठहार, श्वेत वस्त्र और श्वेत मालाओंसे विभूषित हो उत्तम नरयान (पालकी) पर चढ़े दिखायी दिये हैं । ये तीनों ही श्वेत छत्र और श्वेत वस्त्रोंसे सुशोभित थे ॥ ३९-४० ॥

श्वेतोष्णीषाश्च दृश्यन्ते त्रय एते जनार्दन ।
धार्तराष्ट्रेषु सैन्येषु तान् विजानीहि केशव ॥ ४१ ॥
अश्वत्थामा कृपश्चैव कृतवर्मा च सात्वतः ।
रक्तोष्णीषाश्च दृश्यन्ते सर्वे माधव पार्थिवाः ॥ ४२ ॥

'जनार्दन ! दुर्योधनकी सेनाओंमेंसे मुझे तीन ही व्यक्ति स्वप्नमें श्वेत पगड़ीसे सुशोभित दिखायी दिये हैं । केशव ! आप उनके नाम मुझसे जान लें । वे हैं—अश्वत्थामा, कृपाचार्य और यादव कृतवर्मा । माधव ! अन्य सब नरेश मुझे लाल पगड़ी धारण किये दिखायी दिये हैं ॥ ४१-४२ ॥

उष्ट्रप्रयुक्तमारूढौ भीष्मद्रोणौ महारथौ ।
मया सार्धं महाबाहो धार्तराष्ट्रेण वा विभो ॥ ४३ ॥
अगस्त्यशास्तां च दिशं प्रयातौ स्म जनार्दन ।
अचिरेणैव कालेन प्राप्स्यामो यमसादनम् ॥ ४४ ॥

'महाबाहु जनार्दन ! मैंने स्वप्नमें देखा, भीष्म और द्रोणाचार्य दोनों महारथी मेरे तथा दुर्योधनके साथ ऊँट जुते हुए रथपर आरूढ़ हो दक्षिण दिशाकी ओर जा रहे थे । विभो ! इसका फल यह होगा कि हमलोग थोड़े ही दिनोंमें यमलोक पहुँच जायँगे ॥ ४३-४४ ॥

अहं चान्ये च राजानो यच्च तत् क्षत्रमण्डलम् ।
गाण्डीवाग्निं प्रवेक्ष्याम इति मे नास्ति संशयः ॥ ४५ ॥

'मैं अन्यान्य नरेश तथा वह सारा क्षत्रियसमाज सब-के-सब गाण्डीवकी अग्निमें प्रवेश कर जायँगे, इसमें संशय नहीं है' ॥

श्रीकृष्ण उवाच

उपस्थितविनाशेयं नूनमद्य वसुन्धरा ।
यथा हि मे वचः कर्ण नोपैति हृदयं तव ॥ ४६ ॥

श्रीकृष्ण बोले—कर्ण ! निश्चय ही अब इस पृथ्वीका विनाशकाल उपस्थित हो गया है ; इसीलिये मेरी बात तुम्हारे हृदयतक नहीं पहुँचती है ॥ ४६ ॥

सर्वेषां तात भूतानां विनाशे प्रत्युपस्थिते ।
अनयो नयसंकाशो हृदयान्नापसर्पति ॥ ४७ ॥

तात ! जब समस्त प्राणियोंका विनाश निकट आ जाता है, तब अन्याय भी न्यायके समान प्रतीत होकर हृदयसे निकल नहीं पाता है ॥ ४७ ॥

कर्ण उवाच

अपि त्वां कृष्ण पश्याम जीवन्तोऽस्मान्महारणात् ।
समुत्तीर्णा महाबाहो वीरक्षत्रविनाशनात् ॥ ४८ ॥

कर्ण बोला—महाबाहु श्रीकृष्ण ! वीर क्षत्रियोंका विनाश करनेवाले इस महायुद्धसे पार होकर यदि हम जीवित बच गये तो पुनः आपका दर्शन करेंगे ॥ ४८ ॥

अथवा सङ्गमः कृष्ण स्वर्गे नो भविता ध्रुवम् ।
तत्रेदानीं समेष्यामः पुनः सार्धं त्वयानघ ॥ ४९ ॥

अथवा श्रीकृष्ण ! अब हमलोग स्वर्गमें ही मिलेंगे, यह निश्चित है । अनघ ! वहाँ आजकी ही भाँति पुनः आपसे हमारी भेंट होगी ॥ ४९ ॥

संजय उवाच

इत्युक्त्वा माधवं कर्णः परिष्वज्य च पीडितम् ।
विसर्जितः केशवेन रथोपस्थादवातरत् ॥ ५० ॥

संजय कहते हैं—ऐसा कहकर कर्ण भगवान् श्रीकृष्णका प्रगाढ़ आलिङ्गन करके उनसे विदा ले रथके पिछले भागसे उतर गया ॥ ५० ॥

ततः स्वरथमास्थाय जाम्बूनदविभूषितम् ।
सहास्माभिर्निववृते राधेयो दीनमानसः ॥ ५१ ॥

तदनन्तर अपने सुवर्णभूषित रथपर आरूढ़ हो राधानन्दन कर्ण दीनचित्त होकर हमलोगोंके साथ लौट आया ॥

ततः शीघ्रतरं प्रायात् केशवः सहसात्यकिः ।

पुनरुच्चारयन् वाणीं याहि याहीति सारथिम् ॥ ५२॥

तदनन्तर सात्यकिसहित श्रीकृष्ण सारथिसे बार-बार 'चलो-चलो' ऐसा कहते हुए अत्यन्त तीव्र गतिसे उपप्लव्य नगरकी ओर चल दिये ॥ ५२ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि कर्णोपनिवादे कृष्णकर्णसंवादे त्रिचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १४३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें कर्णके द्वारा अपने अभिप्राय निवेदनके प्रसङ्गमें भगवद्वाक्यविषयक एक सौ तैंतालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १४३ ॥

चतुश्चत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः

विदुरकी बात सुनकर युद्धके भावी दुष्परिणामसे व्यथित हुई कुन्तीका बहुत सोच-विचारके बाद कर्णके पास जाना

वैशम्पायन उवाच

असिद्धानुनये कृष्णे कुरुभ्यः पाण्डवान् गते ।
अभिगम्य पृथां क्षत्ता शनैः शोचन्निवाब्रवीत्॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! जब श्रीकृष्णका अनुनय असफल हो गया और वे कौरवोंके यहाँसे पाण्डवोंके पास चले गये, तब विदुरजी कुन्तीके पास जाकर शोकमग्न-से हो धीरे-धीरे इस प्रकार बोले—॥ १ ॥

जानासि मे जीवपुत्रि भावं नित्यमविग्रहे ।
क्रोशतो न च गृह्णीते वचनं मे सुयोधनः ॥ २ ॥

'चिरंजीवी पुत्रोंको जन्म देनेवाली देवि ! तुम तो जानती ही हो कि मेरी इच्छा सदासे यही रही है कि कौरवों और पाण्डवोंमें युद्ध न हो । इसके लिये मैं पुकार-पुकारकर कहता रह गया; परंतु दुर्योधन मेरी बात मानता ही नहीं है॥

उपपन्नो ह्यसौ राजा चेदिपाञ्चालकेकयैः ।
भीमार्जुनाभ्यां कृष्णेन युयुधानयमैरपि ॥ ३ ॥

'राजा युधिष्ठिर चेदि, पाञ्चाल तथा केकयदेशके वीर सैनिकगण, भीमसेन, अर्जुन, श्रीकृष्ण, सात्यकि तथा नकुल-सहदेव आदि श्रेष्ठ सहायकोंसे सम्पन्न हैं ॥ ३ ॥

उपप्लव्ये निविष्टोऽपि धर्ममेव युधिष्ठिरः ।
काङ्क्षते ज्ञातिसौहार्दाद् बलवान् दुर्बलो यथा ॥ ४ ॥

'वे युद्धके लिये उद्यत हो उपप्लव्य नगरमें छावनी डालकर बैठे हुए हैं, तथापि भाई-बन्धुओंके सौहार्दवश धर्मकी ही आकाङ्क्षा रखते हैं । बलवान् होकर भी दुर्बलकी भाँति संधि करना चाहते हैं ॥ ४ ॥

राजा तु धृतराष्ट्रोऽयं वयोवृद्धो न शाम्यति ।
मत्तः पुत्रमदेनैव विधर्मे पथि वर्तते ॥ ५ ॥

'यह राजा धृतराष्ट्र बूढ़े हो जानेपर भी शान्त नहीं हो रहे हैं । पुत्रोंके मदसे उन्मत्त हो अधर्मके मार्गपर ही चलते हैं ॥

जयद्रथस्य कर्णस्य तथा दुःशासनस्य च ।
सौबलस्य च दुर्बुद्ध्या मिथो भेदः प्रपत्स्यते॥ ६ ॥

'जयद्रथ, कर्ण, दुःशासन तथा शकुनिकी खोटी बुद्धिसे कौरव-पाण्डवोंमें परस्पर फूट होकर ही रहेगी ॥ ६ ॥

अधर्मेण हि धर्मिष्ठं कृतं वैकार्यमीदृशम् ।
येषां तेषामयं धर्मः सानुबन्धो भविष्यति ॥ ७ ॥

'(कौरवोंने चौदहवें वर्षमें पाण्डवोंको राज्य लौटा देनेकी प्रतिज्ञा करके भी उसका पालन नहीं किया ।) जिन्हें ऐसा अधर्मजनित कार्य भी, जो परस्पर बिगाड़ करनेवाला है, धर्मसंगत प्रतीत होता है, उनका यह विकृत धर्म सफल होकर ही रहेगा (अधर्मका फल है दुःख और विनाश । वह उन्हें प्राप्त होगा ही) ॥ ७ ॥

क्रियमाणे बलाद् धर्मे कुरुभिः को न संज्वरेत् ।
असाम्ना केशवे याते समुद्योक्ष्यन्ति पाण्डवाः ॥ ८ ॥

'कौरवोंके द्वारा धर्म मानकर किये जानेवाले इस बलात्कारसे किसको चिन्ता नहीं होगी । भगवान् श्रीकृष्ण संधिके प्रयत्नमें असफल होकर गये हैं; अतः पाण्डव भी अब युद्धके लिये महान् उद्योग करेंगे ॥ ८ ॥

ततः कुरूणामनयो भविता वीरनाशनः ।
चिन्तयन् न लभे निद्रामहःसु च निशासु च॥ ९ ॥

'इस प्रकार यह कौरवोंका अन्याय समस्त वीरोंका विनाश करनेवाला होगा । इन सब बातोंको सोचते हुए मुझे न तो दिनमें नींद आती है और न रातमें ही' ॥ ९ ॥

श्रुत्वा तु कुन्ती तद्वाक्यमर्थकामेन भाषितम् ।
सा निःश्वसन्ती दुःखार्ता मनसा विममर्श ह ॥ १० ॥

विदुरजीने उभय पक्षके हितकी इच्छासे ही यह बात कही थी । इसे सुनकर कुन्ती दुःखसे आतुर हो उठी और लम्बी साँस खींचती हुई मन-ही-मन इस प्रकार विचार करने लगी—॥ १० ॥

धिगस्त्वर्थं यत्कृतेऽयं महान् ज्ञातिवधः कृतः ।
वर्त्स्यते सुहृदां चैव युद्धेऽस्मिन् वै पराभवः ॥ ११ ॥

'अहो ! इस धनको धिक्कार है, जिसके लिये परस्पर बन्धु-बान्धवोंका यह महान् संहार किया जानेवाला है । इस युद्धमें अपने सगे-सम्बन्धियोंका भी पराभव होगा ही ॥ ११ ॥

पाण्डवाश्चेदिपञ्चाला यादवाश्च समागताः ।
भारतैः सह योत्स्यन्ति किं नु दुःखमतः परम्॥ १२ ॥

'पाण्डव, चेदि, पाञ्चाल और यादव एकत्र होकर भरतवंशियोंके साथ युद्ध करेंगे, इससे बढ़कर दुःखकी बात और क्या हो सकती है ? ॥ १२ ॥

पश्ये दोषं ध्रुवं युद्धे तथायुद्धे पराभवम् ।
अधनस्य मृतं श्रेयो न हि ज्ञातिक्षयो जयः ॥ १३ ॥

'युद्धमें निश्चय ही मुझे बड़ा भारी दोष दिखायी देता है; परंतु युद्ध न होनेपर भी पाण्डवोंका पराभव स्पष्ट है। निर्धन होकर मृत्युको वरण कर लेना अच्छा है; परंतु बन्धु-बान्धवोंका विनाश करके विजय पाना कदापि अच्छा नहीं है ॥ १३ ॥

इति मे चिन्तयन्त्या वै हृदि दुःखं प्रवर्तते ।
पितामहः शान्तनव आचार्यश्च युधां पतिः ॥ १४ ॥
कर्णश्च धार्तराष्ट्रार्थं वर्धयन्ति भयं मम ।

'यह सब सोचकर मेरे हृदयमें बड़ा दुःख हो रहा है। शान्तनुनन्दन पितामह भीष्म, योद्धाओंमें श्रेष्ठ आचार्य द्रोण तथा कर्ण भी दुर्योधनके लिये ही युद्ध-भूमिमें उतरेंगे; अतः ये मेरे भयकी ही वृद्धि कर रहे हैं ॥ १४½ ॥

नाचार्यः कामवान् शिष्यैर्द्रोणो युद्ध्येत जातुचित् ॥ १५
पाण्डवेषु कथं हार्दं कुर्यान्न च पितामहः ।

'आचार्य द्रोण तो सदा हमारे हितकी इच्छा रखनेवाले हैं। वे अपने शिष्योंके साथ कभी युद्ध नहीं कर सकते। इसी प्रकार पितामह भीष्म भी पाण्डवोंके प्रति हार्दिक स्नेह कैसे नहीं रक्खेंगे ? ॥ १५½ ॥

अयं त्वेको वृथादृष्टिर्धार्तराष्ट्रस्य दुर्मतेः ॥ १६ ॥
मोहानुवर्ती सततं पापो द्वेष्टि च पाण्डवान् ।

'परंतु यह एकमात्र मिथ्यादर्शी कर्ण मोहवश सदा दुर्बुद्धि दुर्योधनका ही अनुसरण करनेवाला है। इसीलिये यह पापात्मा सर्वदा पाण्डवोंसे द्वेष ही रखता है ॥ १६½ ॥

महत्यनर्थे निर्बन्धी बलवांश्च विशेषतः ॥ १७ ॥
कर्णः सदा पाण्डवानां तन्मे दहति सम्प्रति ।
आशंसे त्वद्य कर्णस्य मनोऽहं पाण्डवान् प्रति ॥ १८ ॥
प्रसादयितुमासाद्य दर्शयन्ती यथातथम् ।

'इसने सदा पाण्डवोंका बड़ा भारी अनर्थ करनेके लिये हठ ठान लिया है। साथ ही कर्ण अत्यन्त बलवान् भी है। यह बात इस समय मेरे हृदयको दग्ध किये देती है। अच्छा, आज मैं कर्णके मनको पाण्डवोंके प्रति प्रसन्न करनेके लिये उसके पास जाऊँगी और यथार्थ सम्बन्धका परिचय देती हुई उससे बातचीत करूँगी ॥ १७-१८½ ॥

तोषितो भगवान् यत्र दुर्वासा मे वरं ददौ ॥ १९ ॥
आह्वानं मन्त्रसंयुक्तं वसन्त्याः पितृवेश्मनि ।
साहमन्तःपुरे राज्ञः कुन्तिभोजपुरस्कृता ॥ २० ॥
चिन्तयन्ती बहुविधं हृदयेन विदूयता ।
बलाबलं च मन्त्राणां ब्राह्मणस्य च वाग्बलम् ॥ २१ ॥

'जब मैं पिताके घर रहती थी, उन्हीं दिनों अपनी सेवाओंद्वारा मैंने भगवान् दुर्वासाको संतुष्ट किया और उन्होंने मुझे यह वर दिया कि मन्त्रोच्चारणपूर्वक आवाहन करनेपर मैं किसी भी देवताको अपने पास बुला सकती हूँ। मेरे पिता कुन्तिभोज मेरा बड़ा आदर करते थे। मैं राजाके अन्तःपुरमें रहकर व्यथित हृदयसे मन्त्रोंके बलाबल और ब्राह्मणकी वाक्शक्तिके विषयमें अनेक प्रकारका विचार करने लगी ॥ १९–२१ ॥

स्त्रीभावाद् बालभावाच्च चिन्तयन्ती पुनः पुनः ।
धात्र्या विस्रब्धया गुप्ता सखीजनवृता तदा ॥ २२ ॥

'स्त्री-स्वभाव और बाल्यावस्थाके कारण मैं बार-बार इस प्रश्नको लेकर चिन्तामग्न रहने लगी। उन दिनों एक विश्वस्त धाय मेरी रक्षा करती थी और सखियाँ मुझे सदा घेरे रहती थीं ॥ २२ ॥

दोषं परिहरन्ती च पितुश्चारित्र्यरक्षिणी ।
कथं नु सुकृतं मे स्यान्नापराधवती कथम् ॥ २३ ॥
भवेयमिति संचिन्त्य ब्राह्मणं तं नमस्य च ।
कौतूहलात् तु तं लब्ध्वा बालिश्यादाचरं तदा ।
कन्या सती देवमर्कमासादयमहं ततः ॥ २४ ॥

'मैं अपने ऊपर आनेवाले सब प्रकारके दोषोंका निवारण करती हुई पिताकी दृष्टिमें अपने सदाचारकी रक्षा करती रहती थी। मैंने सोचा, क्या करूँ, जिससे मुझे पुण्य हो और मैं अपराधिनी न होऊँ। यह सोचकर मैंने मन-ही-मन उन ब्राह्मण-देवताको नमस्कार किया और उस मन्त्रको पाकर कौतूहल तथा अविवेकके कारण मैंने उसका प्रयोग आरम्भ कर दिया। उसका परिणाम यह हुआ कि कन्यावस्थामें ही मुझे भगवान् सूर्यदेवका संयोग प्राप्त हुआ ॥ २३-२४ ॥

योऽसौ कानीनगर्भो मे पुत्रवत् परिरक्षितः ।
कस्मान्न कुर्याद् वचनं पथ्यं भ्रातृहितं तथा ॥ २५ ॥

'जो मेरा कानीन गर्भ है, इसे मैंने पुत्रकी भाँति अपने उदरमें पाला है। वह कर्ण अपने भाइयोंके हितके लिये कही हुई मेरी लाभदायक बात क्यों नहीं मानेगा ?' ॥ २५ ॥

इति कुन्ती विनिश्चित्य कार्यनिश्चयमुत्तमम् ।
कार्यार्थमभिनिश्चित्य ययौ भागीरथीं प्रति ॥ २६ ॥

इस प्रकार उत्तम कर्तव्यका निश्चय करके अभीष्ट प्रयोजनकी सिद्धिके लिये एक निर्णयपर पहुँचकर कुन्ती भागीरथी गङ्गाके तटपर गयी ॥ २६ ॥

आत्मजस्य ततस्तस्य घृणिनः सत्यसङ्गिनः ।
गङ्गातीरे पृथाश्रौषीद् वेदाध्ययननिःस्वनम् ॥ २७ ॥

वहाँ गङ्गाके किनारे पहुँचकर कुन्तीने अपने दयालु और सत्यपरायण पुत्र कर्णके मुखसे वेदपाठकी गम्भीर ध्वनि सुनी ॥

प्राङ्मुखस्योर्ध्वबाहोः सा पर्यतिष्ठत पृष्ठतः।
जप्यावसानं कार्यार्थं प्रतीक्षन्ती तपस्विनी ॥ २८ ॥

वह अपनी दोनों बाँहें ऊपर उठाकर पूर्वाभिमुख हो जप कर रहा था और तपस्विनी कुन्ती उसके जपकी समाप्तिकी प्रतीक्षा करती हुई कार्यवश उसके पीछेकी ओर खड़ी रही ॥ २८ ॥

अतिष्ठत् सूर्यतापार्ता कर्णस्योत्तरवाससि।
कौरव्यपत्नी वार्ष्णेयी पद्ममालेव शुष्यती ॥ २९ ॥

वृष्णिकुलनन्दिनी पाण्डुपत्नी कुन्ती वहाँ सूर्यदेवके तापसे पीड़ित हो कुम्हलाती हुई कमलमालाके समान कर्णके उत्तरीय वस्त्रकी छायामें खड़ी हो गयी ॥ २९ ॥

आपृष्ठतापाज्जप्त्वा स परिवृत्य यतव्रतः।
दृष्ट्वा कुन्तीमुपातिष्ठदभिवाद्य कृताञ्जलिः ॥ ३० ॥

जबतक सूर्यदेव पीठकी ओर ताप न देने लगे (जबतक वे पूर्वसे पश्चिमकी ओर चले नहीं गये); तबतक जप करके नियमपूर्वक व्रतका पालन करनेवाला कर्ण जब पीछेकी ओर घूमा, तब कुन्तीको सामने पाकर उसने हाथ जोड़कर प्रणाम किया और उनके पास खड़ा हो गया ॥ ३० ॥

यथान्यायं महातेजा मानी धर्मभृतां वरः।
उत्स्मयन् प्रणतः प्राह कुन्तीं वैकर्तनो वृषः ॥ ३१ ॥

धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ, अभिमानी और महातेजस्वी सूर्यपुत्र कर्ण जिसका दूसरा नाम वृष भी था, कुन्तीको यथोचित रीतिसे प्रणाम करके मुसकराता हुआ बोला ॥ ३१ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि कुन्तीकर्णसमागमे चतुश्चत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १४४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें कुन्ती और कर्णकी भेंटविषयक एक सौ चौवालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १४४ ॥

पञ्चचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः

कुन्तीका कर्णको अपना प्रथम पुत्र बताकर उससे पाण्डवपक्षमें मिल जानेका अनुरोध

कर्ण उवाच

राधेयोऽहमाधिरथिः कर्णस्त्वामभिवादये।
प्राप्ता किमर्थं भवती ब्रूहि किं करवाणि ते ॥ १ ॥

कर्ण बोला—देवि ! मैं राधा तथा अधिरथका पुत्र कर्ण हूँ और आपके चरणोंमें प्रणाम करता हूँ। आपने किस लिये यहाँतक आनेका कष्ट किया है ? बताइये, मैं आपकी क्या सेवा करूँ ? ॥ १ ॥

कुन्त्युवाच

कौन्तेयस्त्वं न राधेयो न तवाधिरथः पिता।
नासि सूतकुले जातः कर्ण तद् विद्धि मे वचः ॥ २ ॥

कुन्तीने कहा—कर्ण ! तुम राधाके नहीं, कुन्तीके पुत्र हो। तुम्हारे पिता अधिरथ नहीं हैं और तुम सूतकुलमें नहीं उत्पन्न हुए हो। मेरी इस बातको ठीक मानो ॥ २ ॥

कानीनस्त्वं मया जातः पूर्वजः कुक्षिणा धृतः।
कुन्तिराजस्य भवने पार्थस्त्वमसि पुत्रक ॥ ३ ॥

तुम कन्यावस्थामें मेरे गर्भसे उत्पन्न हुए प्रथम पुत्र हो। महाराज कुन्तिभोजके घरमें रहते समय मैंने तुम्हें गर्भमें धारण किया था; अतः बेटा ! तुम पार्थ हो ॥ ३ ॥

प्रकाशकर्मा तपनो योऽयं देवो विरोचनः।
अजीजनत् त्वां मय्येष कर्ण शस्त्रभृतां वरम् ॥ ४ ॥

कर्ण ! ये जो जगत्में प्रकाश और उष्णता प्रदान करनेवाले भगवान् सूर्यदेव हैं, इन्होंने शस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ तुम-जैसे वीर पुत्रको मेरे गर्भसे उत्पन्न किया है ॥ ४ ॥

कुण्डली बद्धकवचो देवगर्भः श्रिया वृतः।
जातस्त्वमसि दुर्धर्ष मया पुत्र पितुर्गृहे ॥ ५ ॥

दुर्धर्ष पुत्र ! मैंने पिताके घरमें तुम्हें जन्म दिया था। तुम जन्मकालसे ही कुण्डल और कवच धारण किये देव-बालकके समान शोभासम्पन्न रहे हो ॥ ५ ॥

स त्वं भ्रातॄनसम्बुद्ध्य मोहाद् यदुपसेवसे।
धार्तराष्ट्रान् न तद् युक्तं त्वयि पुत्र विशेषतः ॥ ६ ॥

बेटा ! तुम जो अपने भाइयोंसे अपरिचित रहकर मोहवश धृतराष्ट्रके पुत्रोंकी सेवा कर रहे हो, वह तुम्हारे लिये कदापि योग्य नहीं है ॥ ६ ॥

एतद् धर्मफलं पुत्र नराणां धर्मनिश्चये।
यत् तुष्यन्त्यस्य पितरो माता चाप्येकदर्शिनी ॥ ७ ॥

बेटा ! धर्मशास्त्रमें मनुष्योंके लिये यही धर्मका उत्तम फल बताया गया है कि उनके पिता आदि गुरुजन तथा एकमात्र पुत्रपर ही दृष्टि रखनेवाली माता उनसे संतुष्ट रहें ॥ ७ ॥

अर्जुनेनार्जितां पूर्वं हृतां लोभादसाधुभिः।
आच्छिद्य धार्तराष्ट्रेभ्यो भुङ्क्ष्व यौधिष्ठिरीं श्रियम् ॥ ८ ॥

अर्जुनने पूर्वकालमें जिसका उपार्जन किया था और दुष्टोंने लोभवश जिसे हर लिया है, युधिष्ठिरकी उस राज्य-लक्ष्मीको तुम धृतराष्ट्रपुत्रोंसे छीनकर भाइयोंसहित उसका उपभोग करो ॥ ८ ॥

अद्य पश्यन्तु कुरवः कर्णार्जुनसमागमम्।
सौभ्रात्रेण समालक्ष्य संनमन्तामसाधवः ॥ ९ ॥

आज उत्तम बन्धुजनोचित स्नेहके साथ कर्ण और अर्जुनका मिलन कौरवलोग देखें और इसे देखकर दुष्टलोग नतमस्तक हों ॥ ९ ॥

कर्णार्जुनौ वै भवेतां यथा रामजनार्दनौ ।
असाध्यं किं तु लोके स्याद् युवयोःसंहितात्मनोः॥ १० ॥

कर्ण और अर्जुन दोनों मिलकर वैसे ही बलशाली हैं जैसे बलराम और श्रीकृष्ण। बेटा! तुम दोनों हृदयसे संगठित हो जाओ तो इस जगत्में तुम्हारे लिये कौन-सा कार्य असाध्य होगा ? ॥ १० ॥

कर्ण शोभिष्यसे नूनं पञ्चभिर्भ्रातृभिर्वृतः ।
देवैः परिवृतो ब्रह्मा वेद्यामिव महाध्वरे ॥ ११ ॥

कर्ण! जिस प्रकार महान् यज्ञकी वेदीपर देवगणोंसे घिरे हुए ब्रह्माजी सुशोभित होते हैं, उसी प्रकार अपने पाँचों भाइयोंसे घिरे हुए तुम भी शोभा पाओगे ॥ ११ ॥

उपपन्नो गुणैः सर्वैर्ज्येष्ठः श्रेष्ठेषु बन्धुषु ।
सूतपुत्रेति मा शब्दः पार्थस्त्वमसि वीर्यवान् ॥ १२ ॥

अपने श्रेष्ठ स्वभाववाले बन्धुओंके बीचमें तुम सर्वगुण-सम्पन्न ज्येष्ठ भ्राता परम पराक्रमी कुन्तीपुत्र कर्ण हो। तुम्हारे लिये सूतपुत्र शब्दका प्रयोग नहीं होना चाहिये॥१२॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि कुन्तीकर्णसमागमे पञ्चचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १४५॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें कुन्ती और कर्णकी भेंटके प्रसङ्गमें एक सौ पैंतालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥१४५॥

षट्चत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः

कर्णका कुन्तीको उत्तर तथा अर्जुनको छोड़कर शेष चारों पाण्डवोंको न मारनेकी प्रतिज्ञा

वैशम्पायन उवाच

ततः सूर्यान्निश्चरितां कर्णः शुश्राव भारतीम् ।
दुरत्ययां प्रणयिनीं पितृवद् भास्करेरिताम् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तदनन्तर सूर्यमण्डलसे एक वाणी प्रकट हुई, जो सूर्यदेवकी ही कही हुई थी। उसमें पिताके समान स्नेह भरा हुआ था और वह दुर्लङ्घ्य प्रतीत होती थी। कर्णने उसे सुना ॥ १ ॥

सत्यमाह पृथा वाक्यं कर्ण मातृवचः कुरु ।
श्रेयस्ते स्यान्नरव्याघ्र सर्वमाचरतस्तथा ॥ २ ॥

(वह वाणी इस प्रकार थी—) 'नरश्रेष्ठ कर्ण! कुन्ती सत्य कहती है। तुम माताकी आज्ञाका पालन करो। उसका पूर्णरूपसे पालन करनेपर तुम्हारा कल्याण होगा' ॥ २ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तस्य मात्रा च स्वयं पित्रा च भानुना ।
चचाल नैव कर्णस्य मतिः सत्यधृतेस्तदा ॥ ३ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! माता कुन्ती और पिता साक्षात् सूर्यदेवके ऐसा कहनेपर भी उस समय सच्चे धैर्यवाले कर्णकी बुद्धि विचलित नहीं हुई ॥ ३ ॥

कर्ण उवाच

न चैतच्छ्रद्दधे वाक्यं क्षत्रिये भाषितं त्वया ।
धर्मद्वारं ममैतत् स्यान्नियोगकरणं तव ॥ ४ ॥

कर्ण बोला—राजपुत्रि! तुमने जो कुछ कहा है, उसपर मेरी श्रद्धा नहीं होती। तुम्हारी इस आज्ञाका पालन करना मेरे लिये धर्मका द्वार है, इसपर भी मैं विश्वास नहीं करता ॥ ४ ॥

अकरोन्मयि यत् पापं भवती सुमहात्ययम् ।
अपाकीर्णोऽस्मि यन्मातस्तद् यशःकीर्तिनाशनम् ॥५॥

तुमने मेरे प्रति जो अत्याचार किया है, वह महान् कष्टदायक है। माता! तुमने जो मुझे पानीमें फेंक दिया, वह मेरे लिये यश और कीर्तिका नाशक बन गया ॥ ५ ॥

अहं चेत् क्षत्रियो जातो न प्राप्तः क्षत्रसत्क्रियाम् ।
त्वत्कृते किं नु पापीयः शत्रुः कुर्यान्ममाहितम् ॥ ६ ॥

यद्यपि मैं क्षत्रियकुलमें उत्पन्न हुआ था तो भी तुम्हारे कारण क्षत्रियोचित संस्कारसे वञ्चित रह गया। कोई शत्रु भी मेरा इससे बढ़कर कष्टदायक एवं अहितकारक कार्य और क्या कर सकता है ? ॥ ६ ॥

क्रियाकाले त्वनुक्रोशमकृत्वा त्वमिमं मम ।
हीनसंस्कारसमयमद्य मां समचूचुदः ॥ ७ ॥

जब मेरे लिये कुछ करनेका अवसर था, उस समय तो तुमने यह दया नहीं दिखायी और आज जब मेरे संस्कार-का समय बीत गया है, ऐसे समयमें तुम मुझे क्षात्रधर्मकी ओर प्रेरित करने चली हो ॥ ७ ॥

न वै मम हितं पूर्वं मातृवच्चेष्टितं त्वया ।
सा मां सम्बोधयस्यद्य केवलात्महितैषिणी ॥ ८ ॥

पूर्वकालमें तुमने माताके समान मेरे हितकी चेष्टा कभी नहीं की और आज केवल अपने हितकी कामना रखकर मुझे मेरे कर्तव्यका उपदेश दे रही हो ॥ ८ ॥

कृष्णेन सहितात् को वै न व्यथेत धनंजयात् ।
कोऽद्य भीतं न मां विद्यात् पार्थानां समितिं गतम् ॥

श्रीकृष्णके साथ मिले हुए अर्जुनसे आज कौन वीर भय मानकर पीड़ित नहीं होता ? यदि इस समय मैं पाण्डवोंकी सभामें सम्मिलित हो जाऊँ तो मुझे कौन भयभीत नहीं समझेगा ? ॥ ९ ॥

अभ्राता विदितः पूर्वं युद्धकाले प्रकाशितः ।
पाण्डवान् यदि गच्छामि किं मां क्षत्रं वदिष्यति ॥

आजसे पहले मुझे कोई नहीं जानता था कि मैं पाण्डवों-

का भाई हूँ। युद्धके समय मेरा यह सम्बन्ध प्रकाशमें आया है। इस समय यदि पाण्डवोंसे मिल जाऊँ तो क्षत्रियसमाज मुझे क्या कहेगा ? ॥ १० ॥

सर्वकामैः संविभक्तः पूजितश्च यथासुखम्।
अहं वै धार्तराष्ट्राणां कुर्यां तदफलं कथम् ॥ ११ ॥

धृतराष्ट्रके पुत्रोंने मुझे सब प्रकारकी मनोवाञ्छित वस्तुएँ दी हैं और मुझे सुखपूर्वक रखते हुए सदा मेरा सम्मान किया है। उनके उस उपकारको मैं निष्फल कैसे कर सकता हूँ ? ॥ ११ ॥

उपनह्य परैर्वैरं ये मां नित्यमुपासते।
नमस्कुर्वन्ति च सदा वसवो वासवं यथा ॥ १२ ॥
मम प्राणेन ये शत्रूञ्शक्ताः प्रतिसमासितुम्।
मन्यन्ते ते कथं तेषामहं छिन्द्यां मनोरथम् ॥ १३ ॥

शत्रुओंसे वैर बाँधकर जो नित्य मेरी उपासना करते हैं तथा जैसे वसुगण इन्द्रको प्रणाम करते हैं, उसी प्रकार जो सदा मुझे मस्तक झुकाते हैं, मेरी ही प्राणशक्तिके भरोसे जो शत्रुओंके सामने डटकर खड़े होनेका साहस करते हैं और इसी आशासे जो मेरा आदर करते हैं, उनके मनोरथको मैं छिन्न-भिन्न कैसे करूँ ? ॥ १२-१३ ॥

मया प्लवेन संग्रामं तितीर्षन्ति दुरत्ययम्।
अपारे पारकामा ये त्यजेयं तानहं कथम् ॥ १४ ॥

जो मुझको ही नौका बनाकर उसके सहारे दुर्लङ्घ्य समरसागरको पार करना चाहते हैं और मेरे ही भरोसे अपार संकटसे पार होनेकी इच्छा रखते हैं, उन्हें इस संकट-के समयमें कैसे त्याग दूँ ? ॥ १४ ॥

अयं हि कालः सम्प्राप्तो धार्तराष्ट्रोपजीविनाम्।
निर्वेष्टव्यं मया तत्र प्राणानपरिरक्षता ॥ १५ ॥

दुर्योधनके आश्रित रहकर जीवन-निर्वाह करनेवालोंके लिये यही उपकारका बदला चुकानेके योग्य अवसर आया है। इस समय मुझे अपने प्राणोंकी रक्षा न करते हुए उनके ऋणसे उऋण होना है ॥ १५ ॥

कृतार्थाः सुभृता ये हि कृत्यकाले ह्युपस्थिते।
अनवेक्ष्य कृतं पापा विकुर्वन्त्यनवस्थिताः ॥ १६ ॥
राजकिल्बिषिणां तेषां भर्तृपिण्डापहारिणाम्।
नैवायं न परो लोको विद्यते पापकर्मणाम् ॥ १७ ॥

जो किसीके द्वारा अच्छी तरह पालित-पोषित होकर कृतार्थ होते हैं; परंतु उस उपकारका बदला चुकाने योग्य समय आनेपर जो अस्थिरचित्त पापात्मा पुरुष पूर्वकृत उपकारोंको न देखकर बदल जाते हैं, वे स्वामीके अन्नका अपहरण करनेवाले तथा उपकारी राजाके प्रति अपराधी हैं। उन पापाचारी कृतघ्नोंके लिये न तो यह लोक सुखद होता है न परलोक ही ॥ १६-१७ ॥

धृतराष्ट्रस्य पुत्राणामर्थे योत्स्यामि ते सुतैः।
बलं च शक्तिं चास्थाय न वै त्वय्यनृतं वदे ॥ १८ ॥

मैं तुमसे झूठ नहीं बोलता। धृतराष्ट्रके पुत्रोंके लिये मैं अपनी शक्ति और बलके अनुसार तुम्हारे पुत्रोंके साथ युद्ध अवश्य करूँगा ॥ १८ ॥

आनृशंस्यमथो वृत्तं रक्षन् सत्पुरुषोचितम्।
अतोऽर्थकरमप्येतन्न करोम्यद्य ते वचः ॥ १९ ॥

परंतु उस दशामें भी दयालुता तथा सज्जनोचित सदाचार-की रक्षा करता रहूँगा। इसीलिये लाभदायक होते हुए भी तुम्हारे इस आदेशको आज मैं नहीं मानूँगा ॥ १९ ॥

न च तेऽयं समारम्भो मयि मोघो भविष्यति।
वध्यान् विषह्यान् संग्रामे न हनिष्यामि ते सुतान् ॥
युधिष्ठिरं च भीमं च यमौ चैवार्जुनादृते।
अर्जुनेन समं युद्धमपि यौधिष्ठिरे बले ॥ २१ ॥

परंतु मेरे पास आनेका जो कष्ट तुमने उठाया है, वह भी व्यर्थ नहीं होगा। संग्राममें तुम्हारे चार पुत्रोंको काबूके अंदर तथा वधके योग्य अवस्थामें पाकर भी मैं नहीं मारूँगा। वे चार हैं, अर्जुनको छोड़कर युधिष्ठिर, भीम, नकुल और सहदेव। युधिष्ठिरकी सेनामें अर्जुनके साथ ही मेरा युद्ध होगा ॥ २०-२१ ॥

अर्जुनं हि निहत्याजौ सम्प्राप्तं स्यात् फलं मया।
यशसा चापि युज्येयं निहतः सव्यसाचिना ॥ २२ ॥

अर्जुनको युद्धमें मार देनेपर मुझे संग्रामका फल प्राप्त हो जायगा अथवा स्वयं ही सव्यसाची अर्जुनके हाथसे मारा जाकर मैं यशका भागी बनूँगा ॥ २२ ॥

न ते जातु न शिष्यन्ति पुत्राः पञ्च यशस्विनि।
निरर्जुनाः सकर्णा वा सार्जुना वा हते मयि ॥ २३ ॥

यशस्विनि ! किसी भी दशामें तुम्हारे पाँच पुत्र अवश्य शेष रहेंगे। यदि अर्जुन मारे गये तो कर्णसहित और यदि मैं मारा गया तो अर्जुनसहित तुम्हारे पाँच पुत्र रहेंगे ॥२३॥

इति कर्णवचः श्रुत्वा कुन्ती दुःखात् प्रवेपती।
उवाच पुत्रमाश्लिष्य कर्णं धैर्यादकम्पनम् ॥ २४ ॥

कर्णकी यह बात सुनकर कुन्ती धैर्यसे विचलित न होने-वाले अपने पुत्र कर्णको हृदयसे लगाकर दुःखसे काँपती हुई बोली—॥ २४ ॥

एवं वै भाव्यमेतेन क्षयं यास्यन्ति कौरवाः।
यथा त्वं भाषसे कर्ण दैवं तु बलवत्तरम् ॥ २५ ॥

'कर्ण ! दैव बड़ा बलवान् है। तुम जैसा कहते हो वैसा ही हो। इस युद्धके द्वारा कौरवोंका संहार होगा ॥ २५ ॥

त्वया चतुर्णां भ्रातॄणामभयं शत्रुकर्शन।
दत्तं तत् प्रतिजानीहि संगरप्रतिमोचनम् ॥ २६ ॥

'शत्रुसूदन ! तुमने अपने चार भाइयोंको अभयदान दिया है । युद्धमें उन्हें छोड़ देनेकी प्रतिज्ञापर दृढ़ रहना ॥

अनामयं स्वस्ति चेति पृथाथो कर्णमब्रवीत् ।
तां कर्णोऽथ तथेत्युक्त्वा ततस्तौ जग्मतुः पृथक् ॥

'तुम्हारा कल्याण हो । तुम्हें किसी प्रकारका कष्ट न हो।' इस प्रकार जब कुन्तीने कर्णसे कहा, तब कर्णने भी 'तथास्तु' कहकर उसकी बात मान ली । फिर वे दोनों पृथक्-पृथक् अपने स्थानको चले गये ॥ २७ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि कुन्तीकर्णसमागमे षट्चत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १४६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें कुन्ती और कर्णकी भेंटविषयक एक सौ छियालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १४६ ॥

सप्तचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः

युधिष्ठिरके पूछनेपर श्रीकृष्णका कौरवसभामें व्यक्त किये हुए भीष्मजीके वचन सुनाना

वैशम्पायन उवाच

आगम्य हास्तिनपुरादुपप्लव्यमरिंदमः ।
पाण्डवानां यथावृत्तं केशवः सर्वमुक्तवान् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! शत्रुओंका दमन करनेवाले भगवान् श्रीकृष्णने हस्तिनापुरसे उपप्लव्यमें आकर पाण्डवोंसे वहाँका सारा वृत्तान्त ज्यों-का-त्यों कह सुनाया ॥

सम्भाष्य सुचिरं कालं मन्त्रयित्वा पुनः पुनः ।
स्वमेव भवनं शौरिर्विश्रामार्थं जगाम ह ॥ २ ॥

दीर्घकालतक बातचीत करके बारंबार गुप्त मन्त्रणा करनेके पश्चात् भगवान् श्रीकृष्ण विश्रामके लिये अपने वासस्थानको गये ॥ २ ॥

विसृज्य सर्वान् नृपतीन् विराटप्रमुखांस्तदा ।
पाण्डवा भ्रातरः पञ्च भानावस्तं गते सति ॥ ३ ॥
संध्यामुपास्य ध्यायन्तस्तमेव गतमानसाः ।
आनाय्य कृष्णं दाशार्हं पुनर्मन्त्रममन्त्रयन् ॥ ४ ॥

तदनन्तर सूर्यास्त होनेपर पाँचों भाई पाण्डव विराट आदि सब राजाओंको विदा करके संध्योपासना करनेके पश्चात् भगवान् श्रीकृष्णमें ही मन लगाकर कुछ कालतक उन्हींका ध्यान करते रहे । फिर दशार्हकुलभूषण श्रीकृष्णको बुलाकर वे उनके साथ गुप्त मन्त्रणा करने लगे ॥ ३-४ ॥

युधिष्ठिर उवाच

त्वया नागपुरं गत्वा सभायां धृतराष्ट्रजः ।
किमुक्तः पुण्डरीकाक्ष तन्नः शंसितुमर्हसि ॥ ५ ॥

युधिष्ठिर बोले—कमलनयन ! आपने हस्तिनापुर जाकर कौरवसभामें धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधनसे क्या कहा, यह हमें बतानेकी कृपा करें ॥ ५ ॥

वासुदेव उवाच

मया नागपुरं गत्वा सभायां धृतराष्ट्रजः ।
तथ्यं पथ्यं हितं चोक्तो न च गृह्णाति दुर्मतिः ॥ ६ ॥

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—राजन् ! मैंने हस्तिनापुर जाकर कौरवसभामें धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधनसे यथार्थ लाभदायक और हितकर बात कही थी; परंतु वह दुर्बुद्धि उसे स्वीकार ही नहीं करता था ॥ ६ ॥



युधिष्ठिर उवाच

तस्मिन्नुत्पथमापन्ने कुरुवृद्धः पितामहः ।
किमुक्तवान् हृषीकेश दुर्योधनममर्षणम् ॥ ७ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—हृषीकेश ! दुर्योधनके कुमार्गका आश्रय लेनेपर कुरुकुलके वृद्ध पुरुष पितामह भीष्मने ईर्ष्या और अमर्षमें भरे हुए दुर्योधनसे क्या कहा ? ॥ ७ ॥

आचार्यो वा महाभाग भारद्वाजः किमब्रवीत् ।
पिता वा धृतराष्ट्रस्तं गान्धारी वा किमब्रवीत् ॥ ८ ॥

महाभाग ! भरद्वाजनन्दन आचार्य द्रोणने उस समय

क्या कहा ? पिता धृतराष्ट्र और माता गान्धारीने भी दुर्योधन-से उस समय क्या बात कही ? ॥ ८ ॥

पिता यवीयानस्माकं क्षत्ता धर्मविदां वरः।
पुत्रशोकाभिसंतप्तः किमाह धृतराष्ट्रजम् ॥ ९ ॥

हमारे छोटे चाचा धर्मज्ञोंमें श्रेष्ठ विदुरने भी, जो हम पुत्रोंके शोकसे सदा संतप्त रहते हैं, दुर्योधनसे क्या कहा ? ९

किं च सर्वे नृपतयः सभायां ये समासते।
उक्तवन्तो यथातत्त्वं तद् ब्रूहि त्वं जनार्दन ॥ १० ॥

जनार्दन ! इसके सिवा जो समस्त राजालोग सभामें बैठे थे, उन्होंने अपना विचार किस रूपमें प्रकट किया ? आप इन सब बातोंको ठीक-ठीक बताइये ॥ १०॥

उक्तवान् हि भवान् सर्वं वचनं कुरुमुख्ययोः।
धार्तराष्ट्रस्य तेषां हि वचनं कुरुसंसदि ॥ ११ ॥
कामलोभाभिभूतस्य मन्दस्य प्राज्ञमानिनः।
अप्रियं हृदये मह्यं तन्न तिष्ठति केशव ॥ १२ ॥

कृष्ण ! आपने कौरवसभामें निश्चय ही कुरुश्रेष्ठ भीष्म और धृतराष्ट्रके समीप सब बातें कह दी थीं। परंतु आप-की और उनकी उन सब बातोंको मेरे लिये हितकर होनेके कारण अपने लिये अप्रिय मानकर सम्भवतः काम और लोभसे अभिभूत मूर्ख एवं पण्डितमानी दुर्योधन अपने हृदयमें स्थान नहीं देता ॥ ११-१२ ॥

तेषां वाक्यानि गोविन्द श्रोतुमिच्छाम्यहं विभो।
यथा च नाभिपद्येत कालस्तात तथा कुरु।
भवान् हि नो गतिः कृष्ण भवान् नाथो भवान् गुरुः ॥

गोविन्द ! मैं उन सबकी कही हुई बातोंको सुनना चाहता हूँ। तात ! ऐसा कीजिये, जिससे हमलोगोंका समय व्यर्थ न बीते। श्रीकृष्ण ! आप ही हमलोगोंके आश्रय, आप ही रक्षक तथा आप ही गुरु हैं ॥ १३ ॥

वासुदेव उवाच

शृणु राजन् यथा वाक्यमुक्तो राजा सुयोधनः।
मध्ये कुरूणां राजेन्द्र सभायां तन्निबोध मे ॥ १४ ॥

श्रीकृष्ण बोले—राजेन्द्र ! मैंने कौरवसभामें राजा दुर्योधनसे जिस प्रकार बातें की हैं, वह बताता हूँ; सुनिये १४

मया विश्राविते वाक्ये जहास धृतराष्ट्रजः।
अथ भीष्मः सुसंक्रुद्ध इदं वचनमब्रवीत् ॥ १५ ॥

मैंने जब अपनी बात दुर्योधनसे सुनायी, तब वह हँसने लगा। यह देख भीष्मजी अत्यन्त कुपित हो उससे इस प्रकार बोले—॥ १५ ॥

दुर्योधन निबोधेदं कुलार्थे यद् ब्रवीमि ते।
तच्छ्रुत्वा राजशार्दूल स्वकुलस्य हितं कुरु ॥ १६ ॥

'दुर्योधन ! मैं अपने कुलके हितके लिये तुमसे जो कुछ कहता हूँ, उसे ध्यान देकर सुनो। नृपश्रेष्ठ ! उसे सुनकर अपने कुलका हितसाधन करो ॥ १६ ॥

मम तात पिता राजन् शान्तनुर्लोकविश्रुतः।
तस्याहमेक एवासं पुत्रः पुत्रवतां वरः ॥ १७ ॥

'तात ! मेरे पिता शान्तनु विश्वविख्यात नरेश थे, जो पुत्रवानोंमें श्रेष्ठ समझे जाते थे। राजन् ! मैं उनका इक-लौता पुत्र था ॥ १७ ॥

तस्य बुद्धिः समुत्पन्ना द्वितीयः स्यात् कथं सुतः।
एकपुत्रमपुत्रं वै प्रवदन्ति मनीषिणः ॥ १८ ॥

'अतः उनके मनमें यह विचार उत्पन्न हुआ कि 'मेरे दूसरा पुत्र कैसे हो ? क्योंकि मनीषी पुरुष एक पुत्रवाले-को पुत्रहीन ही बताते हैं ॥ १८ ॥

न चोच्छेदं कुलं यायाद् विस्तीर्येच्च कथं यशः।
तस्याहमीप्सितं बुद्ध्वा कालीं मातरमावहम् ॥ १९ ॥
प्रतिज्ञां दुष्करां कृत्वा पितुरर्थे कुलस्य च।
अराजा चोर्ध्वरेताश्च यथा सुविदितं तव।
प्रतीतो निवसाम्येष प्रतिज्ञामनुपालयन् ॥ २० ॥

'किस प्रकार इस कुलका उच्छेद न हो और इसके यशका सदा विस्तार होता रहे'—उनकी आन्तरिक इच्छा जानकर मैं कुलकी भलाई और पिताकी प्रसन्नताके लिये राजा न होने और जीवनभर ऊर्ध्वरेता (नैष्ठिक ब्रह्मचारी) रहनेकी दुष्कर प्रतिज्ञा करके माता काली (सत्यवती) को ले आया। ये सारी बातें तुमको अच्छी तरह ज्ञात हैं। मैं उसी प्रतिज्ञाका पालन करता हुआ सदा प्रसन्नतापूर्वक यहाँ निवास करता हूँ ॥ १९-२० ॥

तस्यां जज्ञे महाबाहुः श्रीमान् कुरुकुलोद्वहः।
विचित्रवीर्यो धर्मात्मा कनीयान् मम पार्थिव ॥ २१॥

'राजन् ! सत्यवतीके गर्भसे कुरुकुलका भार वहन करने-वाले धर्मात्मा महाबाहु श्रीमान् विचित्रवीर्य उत्पन्न हुए, जो मेरे छोटे भाई थे ॥ २१ ॥

स्वर्याते ऽहं पितरि तं स्वराज्ये संन्यवेशयम्।
विचित्रवीर्यं राजानं भृत्यो भूत्वा ह्यधश्चरः ॥ २२ ॥

'पिताके स्वर्गवासी हो जानेपर मैंने अपने राज्यपर राजा विचित्रवीर्यको ही बिठाया और स्वयं उनका सेवक होकर राज्यसिंहासनसे नीचे खड़ा रहा ॥ २२ ॥

तस्याहं सदृशान् दारान् राजेन्द्र समुपाहरम्।
जित्वा पार्थिवसङ्घातमपि ते बहुशः श्रुतम् ॥ २३ ॥

'राजेन्द्र ! उनके लिये राजाओंके समूहको जीतकर मैंने योग्य पत्नियाँ ला दीं। यह वृत्तान्त भी तुमने बहुत बार सुना होगा ॥ २३ ॥

ततो रामेण समरे द्वन्द्वयुद्धमुपागमम् ।
स हि रामभयादेभिर्नागरैर्विप्रवासितः ॥ २४ ॥

'तदनन्तर एक समय मैं परशुरामजीके साथ द्वन्द्वयुद्धके लिये समरभूमिमें उतरा । उन दिनों परशुरामजीके भयसे यहाँके नागरिकोंने राजा विचित्रवीर्यको इस नगरसे दूर हटा दिया था ॥ २४ ॥

दारेष्वप्यतिसक्तश्च यक्ष्माणं समपद्यत ।
यदा त्वराजके राष्ट्रे न ववर्ष सुरेश्वरः ।
तदाभ्यधावन् मामेव प्रजाः क्षुद्भयपीडिताः ॥ २५ ॥

'वे अपनी पत्नियोंमें अधिक आसक्त होनेके कारण राजयक्ष्माके रोगसे पीड़ित हो मृत्युको प्राप्त हो गये । तब बिना राजाके राज्यमें देवराज इन्द्रने वर्षा बंद कर दी, उस दशामें सारी प्रजा क्षुधाके भयसे पीड़ित हो मेरे ही पास दौड़ी आयी ॥'

प्रजा ऊचुः

उपक्षीणाः प्रजाः सर्वा राजा भव भवाय नः ।
ईतीः प्रणुद भद्रं ते शान्तनोः कुलवर्धन ॥ २६ ॥

प्रजा बोली--शान्तनुके कुलकी वृद्धि करनेवाले महाराज ! आपका कल्याण हो । राज्यकी सारी प्रजा क्षीण होती चली जा रही है । आप हमारे अभ्युदयके लिये राजा होना स्वीकार करें और अनावृष्टि आदि ईतियोंका भय दूर कर दें ॥ २६ ॥

पीड्यन्ते ते प्रजाः सर्वा व्याधिभिर्भृशदारुणैः ।
अल्पावशिष्टा गाङ्गेय ताः परित्रातुमर्हसि ॥ २७ ॥

गङ्गानन्दन ! आपकी सारी प्रजा अत्यन्त भयंकर रोगोंसे पीडित है । प्रजाओंमेंसे बहुत थोड़े लोग जीवित बचे हैं । अतः आप उन सबकी रक्षा करें ॥ २७ ॥

व्याधीन् प्रणुद वीर त्वं प्रजा धर्मेण पालय ।
त्वयि जीवति मा राष्ट्रं विनाशमुपगच्छतु ॥ २८ ॥

वीर ! आप रोगोंको हटावें और धर्मपूर्वक प्रजाका पालन करें । आपके जीते-जी इस राज्यका विनाश न हो जाय ॥ २८ ॥

भीष्म उवाच

प्रजानां क्रोशतीनां वै नैवाक्षुभ्यत मे मनः ।
प्रतिज्ञां रक्षमाणस्य सद् वृत्तं स्मरतस्तथा ॥ २९ ॥

भीष्म कहते हैं—प्रजाओंकी यह करुण पुकार सुनकर भी प्रतिज्ञाकी रक्षा और सदाचारका स्मरण करके मेरा मन क्षुब्ध नहीं हुआ ॥ २९ ॥

ततः पौरा महाराज माता काली च मे शुभा ।
भृत्याः पुरोहिताचार्या ब्राह्मणाश्च बहुश्रुताः ।
मामूचुर्भृशसंतप्ता भव राजेति संततम् ॥ ३० ॥
प्रतीपरक्षितं राष्ट्रं त्वां प्राप्य विनशिष्यति ।
स त्वमस्मद्धितार्थं वै राजा भव महामते ॥ ३१ ॥

महाराज ! तदनन्तर मेरी कल्याणमयी माता सत्यवती, पुरवासी, सेवक, पुरोहित, आचार्य और बहुश्रुत ब्राह्मण अत्यन्त संतप्त हो मुझसे बार-बार कहने लगे—'तुम्हीं राजा होओ, नहीं तो महाराज प्रतीपके द्वारा सुरक्षित राष्ट्र तुम्हारे निकट पहुँचकर नष्ट हो जायगा । अतः महामते ! तुम हमारे हितके लिये राजा हो जाओ' ॥ ३०-३१ ॥

इत्युक्तः प्राञ्जलिर्भूत्वा दुःखितो भृशमातुरः ।
तेभ्यो न्यवेदयं तत्र प्रतिज्ञां पितृगौरवात् ॥ ३२ ॥

उनके ऐसा कहनेपर मैं अत्यन्त आतुर और दुखी हो गया और मैंने हाथ जोड़कर उन सबसे पिताके महत्त्वकी ओर दृष्टि रखकर की हुई प्रतिज्ञाके विषयमें निवेदन किया ॥

ऊर्ध्वरेता ह्यराजा च कुलस्यार्थे पुनः पुनः ।
विशेषतस्त्वदर्थं च धुरि मा मां नियोजय ॥ ३३ ॥

फिर माता सत्यवतीसे कहा—'माँ ! मैंने इस कुलकी वृद्धिके लिये और विशेषतः तुम्हें ही यहाँ ले आनेके लिये राजा न होने और नैष्ठिक ब्रह्मचारी रहनेकी बारंबार प्रतिज्ञा की है । अतः तुम इस राज्यका बोझ सँभालनेके लिये मुझे नियुक्त न करो' ॥ ३३ ॥

ततोऽहं प्राञ्जलिर्भूत्वा मातरं सम्प्रसादयम् ।
नाम्ब शान्तनुना जातः कौरवं वंशमुद्वहन् ॥ ३४ ॥
प्रतिज्ञां वितथां कुर्यामिति राजन् पुनः पुनः ।
विशेषतस्त्वदर्थं च प्रतिज्ञां कृतवानहम् ॥ ३५ ॥
अहं प्रेष्यश्च दासश्च तवाद्य सुतवत्सले ।

राजन् ! तत्पश्चात् पुनः हाथ जोड़कर माताको प्रसन्न करनेके लिये मैंने विनयपूर्वक कहा—'अम्ब ! मैं राजा शान्तनुसे उत्पन्न होकर कौरववंशकी मर्यादाका वहन करता हूँ । अतः अपनी की हुई प्रतिज्ञाको झूठी नहीं कर सकता ।' यह बात मैंने बार-बार दुहरायी । इसके बाद फिर कहा—'पुत्रवत्सले ! विशेषतः तुम्हारे ही लिये मैंने यह प्रतिज्ञा की थी । मैं तुम्हारा सेवक और दास हूँ (मुझसे वह प्रतिज्ञा तोड़नेके लिये न कहो)' ॥ ३४-३५½ ॥

एवं तामनुनीयाहं मातरं जनमेव च ॥ ३६ ॥
अयाचं भ्रातृदारेषु तदा व्यासं महामुनिम् ।
सह मात्रा महाराज प्रसाद्य तमृषिं तदा ॥ ३७ ॥
अपत्यार्थं महाराज प्रसादं कृतवांश्च सः ।
त्रीन् स पुत्रानजनयत् तदा भरतसत्तम ॥ ३८ ॥

महाराज ! इस प्रकार माता तथा अन्य लोगोंको अनुनय-विनयके द्वारा अनुकूल करके माताके सहित मैंने महामुनि व्यासको प्रसन्न करके भाईकी स्त्रियोंसे पुत्र उत्पन्न करनेके लिये उनसे प्रार्थना की । भरतकुलभूषण ! महर्षिने कृपा की और उन स्त्रियोंसे तीन पुत्र उत्पन्न किये ॥ ३६–३८ ॥

अन्धः करणहीनत्वान्न वै राजा पिता तव ।
राजा तु पाण्डुरभवन्महात्मा लोकविश्रुतः ॥ ३९ ॥

तुम्हारे पिता अंधे थे, अतः नेत्रेन्द्रियसे हीन होनेके कारण राजा न हो सके। तब लोकविख्यात महामना पाण्डु इस देशके राजा हुए ॥ ३९ ॥

स राजा तस्य ते पुत्राः पितुर्दायाद्यहारिणः ।
मा तात कलहं कार्षी राज्यस्यार्धं प्रदीयताम् ॥ ४० ॥

पाण्डु राजा थे और उनके पुत्र पाण्डव पिताकी सम्पत्तिके उत्तराधिकारी हैं। अतः वत्स दुर्योधन ! तुम कलह न करो। आधा राज्य पाण्डवोंको दे दो ॥ ४० ॥

मयि जीवति राज्यं कः सम्प्रशासेत् पुमानिह ।
मावमंस्था वचो मह्यं शममिच्छामि वः सदा ॥ ४१ ॥

मेरे जीते-जी मेरी इच्छाके विरुद्ध दूसरा कौन पुरुष यहाँ राज्य-शासन कर सकता है ? ऐसा समझकर मेरे कथनकी अवहेलना न करो। मैं सदा तुमलोगोंमें शान्ति बनी रहनेकी शुभ कामना करता हूँ ॥ ४१ ॥

न विशेषोऽस्ति मे पुत्र त्वयि तेषु च पार्थिव ।
मतमेतत् पितुस्तुभ्यं गान्धार्या विदुरस्य च ॥ ४२ ॥

राजन् ! मेरे लिये तुममें और पाण्डवोंमें कोई अन्तर नहीं है। तुम्हारे पिताका, गान्धारीका और विदुरका भी यही मत है ॥ ४२ ॥

श्रोतव्यं खलु वृद्धानां नाभिशङ्कीर्वचो मम ।
नाशयिष्यसि मा सर्वमात्मानं पृथिवीं तथा ॥ ४३ ॥

तुम्हें बड़े-बूढ़ोंकी बातें सुननी चाहिये। मेरी बातपर शङ्का न करो, नहीं तो तुम सबको, अपनेको और इस भूतलको भी नष्ट कर दोगे ॥ ४३ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि भगवद्वाक्ये सप्तचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १४७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें भगवद्वाक्यसम्बन्धी एक सौ सैंतालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १४७ ॥

अष्टचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः

द्रोणाचार्य, विदुर तथा गान्धारीके युक्तियुक्त एवं महत्त्वपूर्ण वचनोंका भगवान् श्रीकृष्णके द्वारा कथन

वासुदेव उवाच

भीष्मेणोक्ते ततो द्रोणो दुर्योधनमभाषत ।
मध्ये नृपाणां भद्रं ते वचनं वचनक्षमः ॥ १ ॥

भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—राजन् ! तुम्हारा कल्याण हो। भीष्मजीकी बात समाप्त होनेपर प्रवचन करनेमें समर्थ द्रोणाचार्यने राजाओंके बीचमें दुर्योधनसे इस प्रकार कहा—॥

प्रातीपः शान्तनुस्तात कुलस्यार्थे यथा स्थितः ।
यथा देवव्रतो भीष्मः कुलस्यार्थे स्थितोऽभवत् ॥ २ ॥
तथा पाण्डुर्नरपतिः सत्यसंधो जितेन्द्रियः ।
राजा कुरूणां धर्मात्मा सुव्रतः सुसमाहितः ॥ ३ ॥

'तात ! जैसे प्रतीपपुत्र शान्तनु इस कुलकी भलाईमें ही लगे रहे, जैसे देवव्रत भीष्म इस कुलकी वृद्धिके लिये ही यहाँ स्थित हैं, उसी प्रकार सत्यप्रतिज्ञ एवं जितेन्द्रिय राजा पाण्डु भी रहे हैं। वे कुरुकुलके राजा होते हुए भी सदा धर्ममें ही मन लगाये रहते थे। वे उत्तम व्रतके पालक तथा चित्तको एकाग्र रखनेवाले थे ॥ २-३ ॥

ज्येष्ठाय राज्यमददाद् धृतराष्ट्राय धीमते ।
यवीयसे तथा क्षत्त्रे कुरूणां वंशवर्धनः ॥ ४ ॥

'कुरुवंशकी वृद्धि करनेवाले पाण्डुने अपने बड़े भाई बुद्धिमान् धृतराष्ट्रको तथा छोटे भाई विदुरको अपना राज्य धरोहररूपसे दिया ॥ ४ ॥

ततः सिंहासने राजन् स्थापयित्वैनमच्युतम् ।
वनं जगाम कौरव्यो भार्याभ्यां सहितो नृपः ॥ ५ ॥

'राजन् ! कुरुकुलरत्न पाण्डुने अपनी मर्यादासे कभी च्युत न होनेवाले धृतराष्ट्रको सिंहासनपर बिठाकर स्वयं अपनी दोनों स्त्रियोंके साथ वनको प्रस्थान किया था ॥ ५ ॥

नीचैः स्थित्वा तु विदुर उपास्ते स्म विनीतवत् ।
प्रेष्यवत् पुरुषव्याघ्रो वालव्यजनमुत्क्षिपन् ॥ ६ ॥

'तदनन्तर पुरुषसिंह विदुर सेवककी भाँति नीचे खड़े होकर चँवर डुलाते हुए विनीतभावसे धृतराष्ट्रकी सेवामें रहने लगे ॥ ६ ॥

ततः सर्वाः प्रजास्तात धृतराष्ट्रं जनेश्वरम् ।
अन्वपद्यन्त विधिवद् यथा पाण्डुं जनाधिपम् ॥ ७ ॥

'तात ! तदनन्तर सारी प्रजा जैसे राजा पाण्डुके अनुगत रहती थी, उसी प्रकार विधिपूर्वक राजा धृतराष्ट्रके अधीन रहने लगी ॥ ७ ॥

विसृज्य धृतराष्ट्राय राज्यं सविदुराय च ।
चचार पृथिवीं पाण्डुः सर्वां परपुरञ्जयः ॥ ८ ॥

'इस प्रकार शत्रुओंकी राजधानीपर विजय पानेवाले पाण्डु विदुरसहित धृतराष्ट्रको अपना राज्य सौंपकर सारी पृथ्वीपर विचरने लगे ॥ ८ ॥

कोशसंवनने दाने भृत्यानां चान्ववेक्षणे ।
भरणे चैव सर्वस्य विदुरः सत्यसङ्गरः ॥ ९ ॥

'सत्यप्रतिज्ञ विदुर कोषको सँभालने, दान देने, भृत्यवर्गकी देख-भाल करने तथा सबके भरण-पोषणके कार्यमें संलग्न रहते थे ॥ ९ ॥

संधिविग्रहसंयुक्तो राज्ञां संवाहनक्रियाः ।
अवैक्षत महातेजा भीष्मः परपुरञ्जयः ॥ १० ॥

'शत्रु-नगरीको जीतनेवाले महातेजस्वी भीष्म संधि-विग्रहके कार्यमें संयुक्त हो राजाओंसे सेवा और कर आदि लेनेका काम सँभालते थे ॥ १० ॥

सिंहासनस्थो नृपतिर्धृतराष्ट्रो महाबलः ।
अन्वास्यमानः सततं विदुरेण महात्मना ॥ ११ ॥

'महाबली राजा धृतराष्ट्र केवल सिंहासनपर बैठे रहते और महात्मा विदुर सदा उनकी सेवामें उपस्थित रहते थे ॥ ११ ॥

कथं तस्य कुले जातः कुलभेदं व्यवस्यसि ।
सम्भूय भ्रातृभिः सार्धं भुङ्क्ष्व भोगान् जनाधिप ॥ १२ ॥

'उन्हींके वंशमें उत्पन्न होकर तुम इस कुलमें फूट क्यों डालते हो ? राजन् ! भाइयोंके साथ मिलकर मनोवाञ्छित भोगोंका उपभोग करो ॥ १२ ॥

ब्रवीम्यहं न कार्पण्यान्नार्थहेतोः कथंचन ।
भीष्मेण दत्तमिच्छामि न त्वया राजसत्तम ॥ १३ ॥

'नृपश्रेष्ठ ! मैं दीनतासे या धन पानेके लिये किसी प्रकार कोई बात नहीं कहता हूँ । मैं भीष्मका दिया हुआ पाना चाहता हूँ, तुम्हारा दिया नहीं ॥ १३ ॥

नाहं त्वत्तोऽभिकाङ्क्षिष्ये वृत्त्युपायं जनाधिप ।
यतो भीष्मस्ततो द्रोणो यद् भीष्मस्त्वाह तत् कुरु ॥ १४ ॥

'जनेश्वर ! मैं तुमसे कोई जीविकाका साधन प्राप्त करनेकी इच्छा नहीं करूँगा । जहाँ भीष्म हैं, वहीं द्रोण हैं । जो भीष्म कहते हैं, उसका पालन करो ॥ १४ ॥

दीयतां पाण्डुपुत्रेभ्यो राज्यार्धमरिकर्शन ।
सममाचार्यकं तात तव तेषां च मे सदा ॥ १५ ॥

'शत्रुसूदन ! तुम पाण्डवोंका आधा राज्य दे दो । तात ! मेरा यह आचार्यत्व तुम्हारे और पाण्डवोंके लिये सदा समान है ॥

अश्वत्थामा यथा मह्यं तथा श्वेतहयो मम ।
बहुना किं प्रलापेन यतो धर्मस्ततो जयः ॥ १६ ॥

'मेरे लिये जैसा अश्वत्थामा है वैसा ही श्वेत घोड़ोंवाला अर्जुन भी है । अधिक बकवाद करनेसे क्या लाभ ? जहाँ धर्म है, उसी पक्षकी विजय निश्चित है' ॥ १६ ॥

वासुदेव उवाच

एवमुक्ते महाराज द्रोणेनामिततेजसा ।
व्याजहार ततो वाक्यं विदुरः सत्यसङ्गरः ।
पितुर्वदनमन्वीक्ष्य परिवृत्य च धर्मवित् ॥ १७ ॥

भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—महाराज ! अमित-तेजस्वी द्रोणाचार्यके इस प्रकार कहनेपर सत्यप्रतिज्ञ धर्मज्ञ विदुरने ज्येष्ठ पिता भीष्मकी ओर घूमकर उनके मुँहकी ओर देखते हुए इस प्रकार कहा ॥ १७ ॥

विदुर उवाच

देवव्रत निबोधेदं वचनं मम भाषतः ।
प्रणष्टः कौरवो वंशस्त्वयायं पुनरुद्धृतः ॥ १८ ॥

विदुर बोले—देवव्रतजी ! मेरी यह बात सुनिये । यह कौरववंश नष्ट हो चला था, जिसका आपने पुनः उद्धार किया था ॥ १८ ॥

तन्मे विलपमानस्य वचनं समुपेक्षसे ।
कोऽयं दुर्योधनो नाम कुलेऽस्मिन् कुलपांसनः ॥ १९ ॥
यस्य लोभाभिभूतस्य मतिं समनुवर्तसे ।
अनार्यस्याकृतज्ञस्य लोभेन हृतचेतसः ॥ २० ॥

मैं भी उसी वंशकी रक्षाके लिये विलाप कर रहा हूँ; परंतु न जाने क्यों आप मेरे कथनकी उपेक्षा कर रहे हैं । मैं पूछता हूँ, यह कुलाङ्गार दुर्योधन इस कुलका कौन है ? जिसके लोभके वशीभूत होनेपर भी आप उसकी बुद्धिका अनुसरण कर रहे हैं । लोभने इसकी विवेकशक्ति हर ली है । इसकी बुद्धि दूषित हो गयी है तथा यह पूरा अनार्य बन गया है ॥ १९-२० ॥

अतिक्रामति यः शास्त्रं पितुर्धर्मार्थदर्शिनः ।
एते नश्यन्ति कुरवो दुर्योधनकृतेन वै ॥ २१ ॥

यह शास्त्रकी आज्ञाका तो उल्लङ्घन करता ही है । धर्म और अर्थपर दृष्टि रखनेवाले अपने पिताकी भी बात नहीं मानता है । निश्चय ही एकमात्र दुर्योधनके कारण ये समस्त कौरव नष्ट हो रहे हैं ॥ २१ ॥

यथा ते न प्रणश्येयुर्महाराज तथा कुरु ।
मां चैव धृतराष्ट्रं च पूर्वमेव महामते ॥ २२ ॥
चित्रकार इवालेख्यं कृत्वा स्थापितवानसि ।

महाराज ! ऐसा कोई उपाय कीजिये, जिससे इनका नाश न हो । महामते ! जैसे चित्रकार किसी चित्रको बनाकर एक जगह रख देता है, उसी प्रकार आपने मुझको और धृतराष्ट्रको पहलेसे ही निकम्मा बनाकर रख दिया है ॥

प्रजापतिः प्रजाः सृष्ट्वा यथा संहरते तथा ॥ २३ ॥
नोपेक्षस्व महाबाहो पश्यमानः कुलक्षयम् ।

महाबाहो ! जैसे प्रजापति प्रजाकी सृष्टि करके पुनः उसका संहार करते हैं, उसी प्रकार आप भी अपने कुलका विनाश देखकर उसकी उपेक्षा न कीजिये ॥ २३½ ॥

अथ तेऽद्य मतिर्नष्टा विनाशे प्रत्युपस्थिते ॥ २४ ॥
वनं गच्छ मया सार्धं धृतराष्ट्रेण चैव ह ।

यदि इन दिनों विनाशकाल उपस्थित होनेके कारण आपकी बुद्धि नष्ट हो गयी हो तो मेरे और धृतराष्ट्रके साथ वनमें पधारिये ॥ २४½ ॥

बद्ध्वा वा निकृतिप्रज्ञं धार्तराष्ट्रं सुदुर्मतिम् ॥ २५ ॥

शाधीदं राज्यमद्याशु पाण्डवैरभिरक्षितम् ।

अथवा जिसकी बुद्धि सदा छल-कपटमें ही लगी रहती है उस परम दुर्बुद्धि धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधनको शीघ्र ही बाँधकर पाण्डवोंद्वारा सुरक्षित इस राज्यका शासन कीजिये ॥२५½॥

प्रसीद राजशार्दूल विनाशो दृश्यते महान् ॥ २६ ॥
पाण्डवानां कुरूणां च राज्ञाममिततेजसाम् ।
विररामैवमुक्त्वा तु विदुरो दीनमानसः ।
प्रध्यायमानः स तदा निःश्वसंश्च पुनः पुनः ॥ २७ ॥

नृपश्रेष्ठ ! प्रसन्न होइये । पाण्डवों, कौरवों तथा अमित-तेजस्वी राजाओंका महान् विनाश दृष्टिगोचर हो रहा है। ऐसा कहकर दीनचित्त विदुरजी चुप हो गये और विशेष चिन्तामें मग्न होकर उस समय बार-बार लंबी साँसें खींचने लगे ॥ २६-२७ ॥

ततोऽथ राज्ञः सुबलस्य पुत्री
धर्मार्थयुक्तं कुलनाशभीता ।
दुर्योधनं पापमतिं नृशंसं
राज्ञां समक्षं सुतमाह कोपात् ॥ २८ ॥

तदनन्तर राजा सुबलकी पुत्री गान्धारी अपने कुलके विनाशसे भयभीत हो क्रूर स्वभाववाले पापबुद्धि पुत्र दुर्योधन-से समस्त राजाओंके समक्ष क्रोधपूर्वक यह धर्म और अर्थसे युक्त वचन बोली—॥ २८ ॥

ये पार्थिवा राजसभां प्रविष्टा
ब्रह्मर्षयो ये च सभासदोऽन्ये ।
शृण्वन्तु वक्ष्यामि तवापराधं
पापस्य सामात्यपरिच्छदस्य ॥ २९ ॥

'जो-जो राजा, ब्रह्मर्षि तथा अन्य सभासद् इस राजसभाके भीतर आये हैं, वे सब लोग मन्त्री और सेवकोंसहित तुझ पापी दुर्योधनके अपराधोंको सुनें । मैं वर्णन करती हूँ ॥

राज्यं कुरूणामनुपूर्वभोज्यं
क्रमागतो नः कुलधर्म एषः ।
त्वं पापबुद्धेऽतिनृशंसकर्मन्
राज्यं कुरूणामनयाद् विहंसि ॥ ३० ॥

'हमारे यहाँ परम्परासे चला आनेवाला कुलधर्म यही है कि यह कुरुराज्य पूर्व-पूर्व अधिकारीके क्रमसे उपभोगमें आवे (अर्थात् पहले पिताके अधिकारमें रहे, फिर पुत्रके, पिताके जीते-जी पुत्र राज्यका अधिकारी नहीं हो सकता); परंतु अत्यन्त क्रूर कर्म करनेवाले पापबुद्धि दुर्योधन ! तू अपने अन्यायसे इस कौरवराज्यका विनाश कर रहा है ॥ ३० ॥

राज्ये स्थितो धृतराष्ट्रो मनीषी
तस्यानुजो विदुरो दीर्घदर्शी ।
एतावतिक्रम्य कथं नृपत्वं
दुर्योधन प्रार्थयसेऽद्य मोहात् ॥ ३१ ॥

'इस राज्यपर अधिकारीके रूपमें परम बुद्धिमान् धृतराष्ट्र और उनके छोटे भाई दूरदर्शी विदुर स्थापित किये गये थे । दुर्योधन ! इन दोनोंका उल्लङ्घन करके तू आज मोहवश अपना प्रभुत्व कैसे जमाना चाहता है ॥ ३१ ॥

राजा च क्षत्ता च महानुभावौ
भीष्मे स्थिते परवन्तौ भवेताम् ।
अयं तु धर्मज्ञतया महात्मा
न कामयेद् यो नृवरो नदीजः ॥ ३२ ॥

'राजा धृतराष्ट्र और विदुर—ये दोनों महानुभाव भी भीष्म-के जीते-जी पराधीन ही रहेंगे (भीष्मके रहते इन्हें राज्य लेनेका कोई अधिकार नहीं है); परंतु धर्मज्ञ होनेके कारण ये नरश्रेष्ठ महात्मा गङ्गानन्दन राज्य लेनेकी इच्छा ही नहीं रखते हैं ॥ ३२ ॥

राज्यं तु पाण्डोरिदमप्रधृष्यं
तस्याद्य पुत्राः प्रभवन्ति नान्ये ।
राज्यं तदेतन्निखिलं पाण्डवानां
पैतामहं पुत्रपौत्रानुगामि ॥ ३३ ॥

'वास्तवमें यह दुर्धर्ष राज्य महाराज पाण्डुका है । उन्हींके पुत्र इसके अधिकारी हो सकते हैं, दूसरे नहीं । अतः यह सारा राज्य पाण्डवोंका है; क्योंकि बाप-दादोंका राज्य पुत्र-पौत्रोंके पास ही जाता है ॥ ३३ ॥

यद् वै ब्रूते कुरुमुख्यो महात्मा
देवव्रतः सत्यसंधो मनीषी ।
सर्वं तदस्माभिरहत्य कार्यं
राज्यं स्वधर्मान् परिपालयद्भिः ॥ ३४ ॥

'कुरुकुलके श्रेष्ठ पुरुष सत्यप्रतिज्ञ एवं बुद्धिमान् महात्मा देवव्रत जो कुछ कहते हैं, उसे राज्य और स्वधर्मका पालन करनेवाले हम सब लोगोंको बिना काट-छाँट किये पूर्णरूपसे मान लेना चाहिये ॥ ३४ ॥

अनुज्ञया चाथ महाव्रतस्य
ब्रूयान्नृपोऽयं विदुरस्तथैव ।
कार्यं भवेत् तत् सुहृद्भिर्नियोज्यं
धर्मं पुरस्कृत्य सुदीर्घकालम् ॥ ३५ ॥

'अथवा इन महान् व्रतधारी भीष्मजीकी आज्ञासे यह राजा धृतराष्ट्र तथा विदुर भी इस विषयमें कुछ कह सकते हैं और अन्य सुहृदोंको भी धर्मको सामने रखते हुए उसीका सुदीर्घ कालतक पालन करना चाहिये ॥ ३५ ॥

न्यायागतं राज्यमिदं कुरूणां
युधिष्ठिरः शास्तु वै धर्मपुत्रः ।
प्रचोदितो धृतराष्ट्रेण राज्ञा
पुरस्कृतः शान्तनवेन चैव ॥ ३६ ॥

'कौरवोंके इस न्यायतः प्राप्त राज्यका धर्मपुत्र युधिष्ठिर ही शासन करें और वे राजा धृतराष्ट्र तथा शान्तनुनन्दन भीष्मसे कर्तव्यकी शिक्षा लेते रहें' ॥ ३६ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि कृष्णवाक्ये अष्टचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १४८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें श्रीकृष्णवाक्यविषयक एक सौ अड़तालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १४८ ॥

एकोनपञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः

दुर्योधनके प्रति धृतराष्ट्रके युक्तिसंगत वचन—पाण्डवोंको आधा राज्य देनेके लिये आदेश

वासुदेव उवाच

एवमुक्ते तु गान्धार्या धृतराष्ट्रो जनेश्वरः ।
दुर्योधनमुवाचेदं राजमध्ये जनाधिप ॥ १ ॥

भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—राजन्! गान्धारीके ऐसा कहनेपर राजा धृतराष्ट्रने समस्त राजाओंके बीच दुर्योधनसे इस प्रकार कहा—॥ १ ॥

दुर्योधन निबोधेदं यत् त्वां वक्ष्यामि पुत्रक ।
तथा तत् कुरु भद्रं ते यद्यस्ति पितृगौरवम् ॥ २ ॥

'बेटा दुर्योधन! मेरी यह बात सुन। तेरा कल्याण हो। यदि तेरे मनमें पिताके लिये कुछ भी गौरव है तो तुझसे जो कुछ कहूँ, उसका पालन कर ॥ २ ॥

सोमः प्रजापतिः पूर्वं कुरूणां वंशवर्धनः ।
सोमाद् बभूव षष्ठोऽयं ययातिर्नहुषात्मजः ॥ ३ ॥

'सबसे पहले प्रजापति सोम हुए, जो कौरववंशकी वृद्धिके आदि कारण हैं। सोमसे छठी पीढ़ीमें नहुषपुत्र ययातिका जन्म हुआ ॥ ३ ॥

तस्य पुत्रा बभूवुर्हि पञ्च राजर्षिसत्तमाः ।
तेषां यदुर्महातेजा ज्येष्ठः समभवत् प्रभुः ॥ ४ ॥
पूरुर्यवीयांश्च ततो योऽस्माकं वंशवर्धनः ।
शर्मिष्ठया सम्प्रसूतो दुहित्रा वृषपर्वणः ॥ ५ ॥

'ययातिके पाँच पुत्र हुए, जो सब-के-सब श्रेष्ठ राजर्षि थे। उनमें महातेजस्वी एवं शक्तिशाली ज्येष्ठ पुत्र यदु थे और सबसे छोटे पुत्रका नाम पूरु हुआ, जिन्होंने हमारे इस वंशकी वृद्धि की है। वे वृषपर्वाकी पुत्री शर्मिष्ठाके गर्भसे उत्पन्न हुए थे ॥ ४-५ ॥

यदुश्च भरतश्रेष्ठ देवयान्याः सुतोऽभवत् ।
दौहित्रस्तात शुक्रस्य काव्यस्यामिततेजसः ॥ ६ ॥

'भरतश्रेष्ठ! यदु देवयानीके पुत्र थे। तात! वे अमित तेजस्वी शुक्राचार्यके दौहित्र लगते थे ॥ ६ ॥

यादवानां कुलकरो बलवान् वीर्यसम्मतः ।
अवमेने स तु क्षत्रं दर्पपूर्णः सुमन्दधीः ॥ ७ ॥

'वे बलवान्, उत्तम पराक्रमसे सम्पन्न एवं यादवोंके वंश-प्रवर्तक हुए थे। उनकी बुद्धि बड़ी मन्द थी और उन्होंने घमंडमें आकर समस्त क्षत्रियोंका अपमान किया था ॥ ७ ॥

न चातिष्ठत् पितुः शास्त्रे बलदर्पविमोहितः ।
अवमेने च पितरं भ्रातॄंश्चाप्यपराजितः ॥ ८ ॥

'बलके घमंडसे वे इतने मोहित हो रहे थे कि पिताके आदेशपर चलते ही नहीं थे। किसीसे पराजित न होनेवाले यदु अपने भाइयों और पिताका भी अपमान करते थे ॥ ८ ॥

पृथिव्यां चतुरन्तायां यदुरेवाभवद् बली ।
वशे कृत्वा स नृपतीन् न्यवसन्नागसाह्वये ॥ ९ ॥

'चारों समुद्र जिसके अन्तमें हैं, उस भूमण्डलमें यदु ही सबसे अधिक बलवान् थे। वे समस्त राजाओंको वशमें करके हस्तिनापुरमें निवास करते थे ॥ ९ ॥

तं पिता परमक्रुद्धो ययातिर्नहुषात्मजः ।
शशाप पुत्रं गान्धारे राज्याच्चापि व्यरोपयत् ॥ १० ॥

'गान्धारीपुत्र! यदुके पिता नहुषनन्दन ययातिने अत्यन्त कुपित होकर यदुको शाप दे दिया और उन्हें राज्यसे भी उतार दिया ॥ १० ॥

ये चैनमन्ववर्तन्त भ्रातरो बलदर्पिताः ।
शशाप तानभिक्रुद्धो ययातिस्तनयानथ ॥ ११ ॥

'अपने बलका घमंड रखनेवाले जिन-जिन भाइयोंने यदुका अनुसरण किया, ययातिने कुपित होकर अपने उन पुत्रोंको भी शाप दे दिया ॥ ११ ॥

यवीयांसं ततः पूरुं पुत्रं स्ववशवर्तिनम् ।
राज्ये निवेशयामास विधेयं नृपसत्तमः ॥ १२ ॥

'तदनन्तर अपने अधीन रहनेवाले आज्ञापालक छोटे पुत्र पूरुको नृपश्रेष्ठ ययातिने राज्यपर बिठाया ॥ १२ ॥

एवं ज्येष्ठोऽप्यथोत्सिक्तो न राज्यमभिजायते ।
यवीयांसोऽपि जायन्ते राज्यं वृद्धोपसेवया ॥ १३ ॥

'इस प्रकार यह सिद्ध है कि ज्येष्ठ पुत्र भी यदि अहंकारी हो तो उसे राज्यकी प्राप्ति नहीं होती और छोटे पुत्र भी वृद्ध पुरुषोंकी सेवा करनेसे राज्य पानेके अधिकारी हो जाते हैं ॥

तथैव सर्वधर्मज्ञः पितुर्मम पितामहः ।
प्रतीपः पृथिवीपालस्त्रिषु लोकेषु विश्रुतः ॥ १४ ॥

'इसी प्रकार मेरे पिताके पितामह राजा प्रतीप सब धर्मोंके ज्ञाता एवं तीनों लोकोंमें विख्यात थे ॥ १४ ॥

तस्य पार्थिवसिंहस्य राज्यं धर्मेण शासतः ।
त्रयः प्रजज्ञिरे पुत्रा देवकल्पा यशस्विनः ॥ १५ ॥

'धर्मपूर्वक राज्यका शासन करते हुए नृपप्रवर प्रतीपके तीन पुत्र उत्पन्न हुए, जो देवताओंके समान तेजस्वी और यशस्वी थे ॥ १५ ॥

देवापिरभवच्छ्रेष्ठो बाह्लीकस्तदनन्तरम् ।
तृतीयः शान्तनुस्तात धृतिमान् मे पितामहः ॥ १६ ॥

'तात ! उन तीनोंमें सबसे श्रेष्ठ थे देवापि । उनके बादवाले राजकुमारका नाम बाह्लीक था तथा प्रतीपके तीसरे पुत्र मेरे धैर्यवान् पितामह शान्तनु थे ॥ १६ ॥

देवापिस्तु महातेजास्त्वग्दोषी राजसत्तमः ।
धार्मिकः सत्यवादी च पितुः शुश्रूषणे रतः ॥ १७ ॥
पौरजानपदानां च सम्मतः साधुसत्कृतः ।
सर्वेषां बालवृद्धानां देवापिर्हृदयंगमः ॥ १८ ॥

'नृपश्रेष्ठ देवापि महान् तेजस्वी होते हुए भी चर्मरोगसे पीड़ित थे । वे धार्मिक, सत्यवादी, पिताकी सेवामें तत्पर, साधु पुरुषोंद्वारा सम्मानित तथा नगर एवं जनपद-निवासियोंके लिये आदरणीय थे । देवापिने बालकोंसे लेकर वृद्धोंतक सभीके हृदयमें अपना स्थान बना लिया था ॥ १७-१८ ॥

वदान्यः सत्यसंधश्च सर्वभूतहिते रतः ।
वर्तमानः पितुः शास्त्रे ब्राह्मणानां तथैव च ॥ १९ ॥

'वे उदार, सत्यप्रतिज्ञ और समस्त प्राणियोंके हितमें तत्पर रहनेवाले थे । पिता तथा ब्राह्मणोंके आदेशके अनुसार चलते थे ॥ १९ ॥

बाह्लीकस्य प्रियो भ्राता शान्तनोश्च महात्मनः ।
सौभ्रात्रं च परं तेषां सहितानां महात्मनाम् ॥ २० ॥

'वे बाह्लीक तथा महात्मा शान्तनुके प्रिय बन्धु थे । परस्पर संगठित रहनेवाले उन तीनों महामना बन्धुओंका परस्पर अच्छे भाईका-सा स्नेहपूर्ण बर्ताव था ॥ २० ॥

अथ कालस्य पर्याये वृद्धो नृपतिसत्तमः ।
सम्भारानभिषेकार्थं कारयामास शास्त्रतः ॥ २१ ॥

'तदनन्तर कुछ काल बीतनेपर बूढ़े नृपश्रेष्ठ प्रतीपने शास्त्रीय विधिके अनुसार राज्याभिषेकके लिये सामग्रियोंका संग्रह कराया ॥

कारयामास सर्वाणि मङ्गलार्थानि वै विभुः ।
तं ब्राह्मणाश्च वृद्धाश्च पौरजानपदैः सह ॥ २२ ॥
सर्वे निवारयामासुर्देवापेरभिषेचनम् ।

'उन्होंने देवापिके मङ्गलके लिये सभी आवश्यक कृत्य सम्पन्न कराये; परंतु उस समय सब ब्राह्मणों तथा वृद्ध पुरुषोंने नगर और जनपदके लोगोंके साथ आकर देवापिका राज्याभिषेक रोक दिया ॥ २२½ ॥

स तच्छ्रुत्वा तु नृपतिरभिषेकनिवारणम् ।
अश्रुकण्ठोऽभवद् राजा पर्यशोचत चात्मजम् ॥ २३ ॥

'किंतु राज्याभिषेक रोकनेकी बात सुनकर राजा प्रतीपका गला भर आया और वे अपने पुत्रके लिये शोक करने लगे ॥

एवं वदान्यो धर्मज्ञः सत्यसंधश्च सोऽभवत् ।
प्रियः प्रजानामपि संस्त्वग्दोषेण प्रदूषितः ॥ २४ ॥

'इस प्रकार यद्यपि देवापि उदार, धर्मज्ञ, सत्यप्रतिज्ञ तथा प्रजाओंके प्रिय थे, तथापि पूर्वोक्त चर्मरोगके कारण दूषित मान लिये गये ॥ २४ ॥

हीनाङ्गं पृथिवीपालं नाभिनन्दन्ति देवताः ।
इति कृत्वा नृपश्रेष्ठं प्रत्यषेधन् द्विजर्षभाः ॥ २५ ॥

'जो किसी अङ्गसे हीन हो उस राजाका देवतालोग अभिनन्दन नहीं करते हैं; इसीलिये उन श्रेष्ठ ब्राह्मणोंने नृपप्रवर प्रतीपको देवापिका अभिषेक करनेसे मना कर दिया था ॥

ततः प्रव्यथिताङ्गोऽसौ पुत्रशोकसमन्वितः ।
निवारितं नृपं दृष्ट्वा देवापिः संश्रितो वनम् ॥ २६ ॥

'इससे राजाको बड़ा कष्ट हुआ । वे पुत्रके लिये शोकमग्न हो गये । राजाको रोका गया देखकर देवापि वनमें चले गये ॥ २६ ॥

बाह्लीको मातुलकुलं त्यक्त्वा राज्यं समाश्रितः ।
पितृभ्रातॄन् परित्यज्य प्राप्तवान् परमर्द्धिमत् ॥ २७ ॥

'बाह्लीक परम समृद्धिशाली राज्य तथा पिता और भाइयोंको छोड़कर मामाके घर चले गये ॥ २७ ॥

बाह्लीकेन त्वनुज्ञातः शान्तनुर्लोकविश्रुतः ।
पितर्युपरते राजन् राजा राज्यमकारयत् ॥ २८ ॥

'राजन् ! तदनन्तर पिताकी मृत्यु होनेके पश्चात् बाह्लीककी आज्ञा लेकर लोकविख्यात राजा शान्तनुने राज्यका शासन किया ॥ २८ ॥

तथैवाहं मतिमता परिचिन्त्येह पाण्डुना ।
ज्येष्ठः प्रभ्रंशितो राज्याद्धीनाङ्ग इति भारत ॥ २९ ॥

'भारत ! इसी प्रकार मैं भी अङ्गहीन था; इसलिये ज्येष्ठ होनेपर भी बुद्धिमान् पाण्डु एवं प्रजाजनोंके द्वारा खूब सोच-विचारकर राज्यसे वञ्चित कर दिया गया ॥ २९ ॥

पाण्डुस्तु राज्यं सम्प्राप्तः कनीयानपि सन् नृपः ।
विनाशे तस्य पुत्राणामिदं राज्यमरिंदम ॥ ३० ॥

'पाण्डुने अवस्थामें छोटे होनेपर भी राज्य प्राप्त किया और वे एक अच्छे राजा बनकर रहे हैं । शत्रुदमन दुर्योधन! पाण्डुकी मृत्युके पश्चात् उनके पुत्रोंका ही यह राज्य है ॥

मय्यभागिनि राज्याय कथं त्वं राज्यमिच्छसि ।
अराजपुत्रो ह्यस्वामी परस्वं हर्तुमिच्छसि ॥ ३१ ॥

'मैं तो राज्यका अधिकारी था ही नहीं, फिर तू कैसे राज्य लेना चाहता है ? जो राजाका पुत्र नहीं है, वह उसके राज्यका स्वामी नहीं हो सकता । तू पराये धनका अपहरण करना चाहता है ॥ ३१ ॥

युधिष्ठिरो राजपुत्रो महात्मा
न्यायागतं राज्यमिदं च तस्य।
स कौरवस्यास्य कुलस्य भर्ता
प्रशासिता चैव महानुभावः ॥ ३२ ॥

'महात्मा युधिष्ठिर राजाके पुत्र हैं, अतः न्यायतः प्राप्त हुए इस राज्यपर उन्हींका अधिकार है। वे ही इस कौरव-कुलका भरण-पोषण करनेवाले, स्वामी तथा इस राज्यके शासक हैं। उनका प्रभाव महान् है ॥ ३२ ॥

स सत्यसंधः स तथाप्रमत्तः
शास्त्रे स्थितो बन्धुजनस्य साधुः।
प्रियः प्रजानां सुहृदानुकम्पी
जितेन्द्रियः साधुजनस्य भर्ता ॥ ३३ ॥

'वे सत्यप्रतिज्ञ और प्रमादरहित हैं। शास्त्रकी आज्ञाके अनुसार चलते और भाई-बन्धुओंपर सद्भाव रखते हैं। युधिष्ठिरपर प्रजावर्गका विशेष प्रेम है। वे अपने सुहृदोंपर कृपा करनेवाले, जितेन्द्रिय तथा सज्जनोंका पालन-पोषण करनेवाले हैं॥

क्षमा तितिक्षा दम आर्जवं च
सत्यव्रतत्वं श्रुतमप्रमादः।
भूतानुकम्पा ह्यनुशासनं च
युधिष्ठिरे राजगुणाः समस्ताः ॥ ३४ ॥

'क्षमा, सहनशीलता, इन्द्रियसंयम, सरलता, सत्य-परायणता, शास्त्रज्ञान, प्रमादशून्यता, समस्त प्राणियोंपर दयाभाव तथा गुरुजनोंके अनुशासनमें रहना आदि समस्त राजोचित गुण युधिष्ठिरमें विद्यमान हैं ॥ ३४ ॥

अराजपुत्रस्त्वमनार्यवृत्तो
लुब्धः सदा बन्धुषु पापबुद्धिः।
क्रमागतं राज्यमिदं परेषां
हर्तुं कथं शक्ष्यसि दुर्विनीत ॥ ३५ ॥

'तू राजाका पुत्र नहीं है। तेरा बर्ताव भी दुष्टोंके समान है। तू लोभी तो है ही, बन्धु-बान्धवोंके प्रति सदा पापपूर्ण विचार रखता है। दुर्विनीत ! यह परम्परागत राज्य दूसरोंका है। तू कैसे इसका अपहरण कर सकेगा ? ॥ ३५ ॥

प्रयच्छ राज्यार्धमपेतमोहः
सवाहनं त्वं सपरिच्छदं च।
ततोऽवशेषं तव जीवितस्य
सहानुजस्यैव भवेन्नरेन्द्र ॥ ३६ ॥

नरेन्द्र ! तू मोह छोड़कर वाहनों और अन्यान्य सामग्रियों-सहित (कम-से-कम) आधा राज्य पाण्डवोंको दे दे। तभी अपने छोटे भाइयोंके साथ तेरा जीवन बचा रह सकता है' ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि धृतराष्ट्रवाक्यकथने एकोनपञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः ॥१४९॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें धृतराष्ट्रवाक्यकथनविषयक एक सौ उनचासवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १४९ ॥

पञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः

श्रीकृष्णका कौरवोंके प्रति साम, दान और भेदनीतिके प्रयोगकी असफलता बताकर दण्डके प्रयोगपर जोर देना

वासुदेव उवाच

एवमुक्ते तु भीष्मेण द्रोणेन विदुरेण च।
गान्धार्या धृतराष्ट्रेण न वै मन्दोऽन्वबुद्ध्यत ॥ १ ॥

भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—राजन्! भीष्म, द्रोण, विदुर, गान्धारी तथा धृतराष्ट्रके ऐसा कहनेपर भी मन्दबुद्धि दुर्योधनको तनिक भी चेत नहीं हुआ ॥ १ ॥

अवधूयोत्थितो मन्दः क्रोधसंरक्तलोचनः।
अन्वद्रवन्त तं पश्चाद् राजानस्त्यक्तजीविताः ॥ २ ॥

वह मूर्ख क्रोधसे लाल आँखें किये उन सबकी अवहेलना करके सभासे उठकर चला गया। उसीके पीछे अन्य राजा भी अपने जीवनका मोह छोड़कर सभासे उठकर चल दिये ॥

आज्ञापयच्च राज्ञस्तान् पार्थिवान् नष्टचेतसः।
प्रयाध्वं वै कुरुक्षेत्रं पुष्योऽद्येति पुनः पुनः ॥ ३ ॥

ज्ञात हुआ है, दुर्योधनने उन विवेकशून्य राजाओंको यह बार-बार आज्ञा दे दी कि तुम सब लोग कुरुक्षेत्रको चलो। आज पुष्य नक्षत्र है ॥ ३ ॥

ततस्ते पृथिवीपालाः प्रययुः सहसैनिकाः।
भीष्मं सेनापतिं कृत्वा संहृष्टाः कालचोदिताः ॥ ४ ॥

तदनन्तर वे सभी भूपाल कालसे प्रेरित हो भीष्मको सेनापति बनाकर बड़े हर्षके साथ सैनिकोंसहित वहाँसे चल दिये हैं ॥ ४ ॥

अक्षौहिण्यो दशैका च कौरवाणां समागताः।
तासां प्रमुखतो भीष्मस्तालकेतुर्व्यरोचत ॥ ५ ॥

कौरवोंकी ग्यारह अक्षौहिणी सेनाएँ आ गयी हैं। उन सबमें प्रधान हैं भीष्मजी, जो अपने तालध्वजके साथ सुशोभित हो रहे हैं ॥ ५ ॥

यदत्र युक्तं प्राप्तं च तद् विधत्स्व विशाम्पते।
उक्तं भीष्मेण यद् वाक्यं द्रोणेन विदुरेण च ॥ ६ ॥

गान्धार्यां धृतराष्ट्रेण समक्षं मम भारत ।
एतत् ते कथितं राजन् यद् वृत्तं कुरुसंसदि ॥ ७ ॥

प्रजानाथ ! अब तुम्हें भी जो उचित जान पड़े, वह करो। भारत ! कौरवसभामें भीष्म, द्रोण, विदुर, गान्धारी तथा धृतराष्ट्रने मेरे सामने जो बातें कही थीं, वे सब आपको सुना दीं। राजन् ! यही वहाँका वृत्तान्त है ॥ ६-७ ॥

साम्यमादौ प्रयुक्तं मे राजन् सौभ्रात्रमिच्छता ।
अभेदायास्य वंशस्य प्रजानां च विवृद्धये ॥ ८ ॥

राजन् ! मैंने सब भाइयोंमें उत्तम बन्धुजनोचित प्रेम बने रहनेकी इच्छासे पहले सामनीतिका प्रयोग किया था, जिससे इस वंशमें फूट न हो और प्रजाजनोंकी निरन्तर उन्नति होती रहे ॥ ८ ॥

पुनर्भेदश्च मे युक्तो यदा साम न गृह्यते ।
कर्मानुकीर्तनं चैव देवमानुषसंहितम् ॥ ९ ॥

जब वे सामनीति न ग्रहण कर सके, तब मैंने भेदनीतिका प्रयोग किया (उनमें फूट डालनेकी चेष्टा की)। पाण्डवोंके देव-मनुष्योचित कर्मोंका बारंबार वर्णन किया ॥ ९ ॥

यदा नाद्रियते वाक्यं सामपूर्वं सुयोधनः ।
तदा मया समानीय भेदिताः सर्वपार्थिवाः ॥ १० ॥

जब मैंने देखा दुर्योधन मेरे सान्त्वनापूर्ण वचनोंका पालन नहीं कर रहा है, तब मैंने सब राजाओंको बुलाकर उनमें फूट डालनेका प्रयत्न किया ॥ १० ॥

अद्भुतानि च घोराणि दारुणानि च भारत ।
अमानुषाणि कर्माणि दर्शितानि मया विभो ॥ ११ ॥

भारत ! वहाँ मैंने बहुत-से अद्भुत, भयंकर, निष्ठुर एवं अमानुषिक कर्मोंका प्रदर्शन किया ॥ ११ ॥

निर्भर्त्सयित्वा राज्ञस्तांस्तृणीकृत्य सुयोधनम् ।
राधेयं भीषयित्वा च सौबलं च पुनः पुनः ॥ १२ ॥
द्यूततो धार्तराष्ट्राणां निन्दां कृत्वा तथा पुनः ।
भेदयित्वा नृपान् सर्वान् वाग्भिर्मन्त्रेण चासकृत्॥१३॥
पुनः सामाभिसंयुक्तं सम्प्रदानमथाब्रुवम् ।
अभेदात् कुरुवंशस्य कार्ययोगात् तथैव च ॥ १४ ॥

समस्त राजाओंको डाँट बताकर दुर्योधनको तिनकेके समान समझकर तथा राधानन्दन कर्ण और सुबलपुत्र शकुनिको बार-बार डराकर जूएसे धृतराष्ट्रपुत्रोंकी निन्दा करके वाणी तथा गुप्त मन्त्रणाद्वारा सब राजाओंके मनमें अनेक बार भेद उत्पन्न करनेके पश्चात् फिर सामसहित दानकी बात उठायी, जिससे कुरुवंशकी एकता बनी रहे और अभीष्ट कार्यकी सिद्धि हो जाय ॥ १२-१४ ॥

ते शूरा धृतराष्ट्रस्य भीष्मस्य विदुरस्य च ।
तिष्ठेयुः पाण्डवाः सर्वे हित्वा मानमधश्चराः ॥ १५ ॥
प्रयच्छन्तु च ते राज्यमनीशास्ते भवन्तु च ।
यथाऽऽह राजा गाङ्गेयो विदुरश्च हितं तव ॥ १६ ॥
सर्वं भवतु ते राज्यं पञ्च ग्रामान् विसर्जय ।
अवश्यं भरणीया हि पितुस्ते राजसत्तम ॥ १७ ॥

मैंने कहा—नृपश्रेष्ठ ! यद्यपि पाण्डव शौर्यसे सम्पन्न हैं, तथापि वे सब-के-सब अभिमान छोड़कर भीष्म, धृतराष्ट्र और विदुरके नीचे रह सकते हैं। वे अपना राज्य भी तुम्हींको दे दें और सदा तुम्हारे अधीन होकर रहें। राजा धृतराष्ट्र, भीष्म और विदुरजीने तुम्हारे हितके लिये जैसी बात कही है, वैसा ही करो। सारा राज्य तुम्हारे ही पास रहे। तुम पाण्डवोंको पाँच ही गाँव दे दो; क्योंकि तुम्हारे पिताके लिये पाण्डवोंका भरण-पोषण करना भी परम आवश्यक है ॥ १५-१७ ॥

एवमुक्तोऽपि दुष्टात्मा नैव भागं व्यमुञ्चत ।
दण्डं चतुर्थं पश्यामि तेषु पापेषु नान्यथा ॥ १८ ॥

मेरे इस प्रकार कहनेपर भी उस दुष्टात्माने राज्यका कोई भाग तुम्हारे लिये नहीं छोड़ा अर्थात् देना नहीं स्वीकार किया। अब तो मैं उन पापियोंपर चौथे उपाय दण्डके प्रयोगकी ही आवश्यकता देखता हूँ, अन्यथा उन्हें मार्गपर लाना असम्भव है ॥ १८ ॥

निर्याताश्च विनाशाय कुरुक्षेत्रं नराधिपाः ।
एतत् ते कथितं राजन् यद् वृत्तं कुरुसंसदि ॥ १९ ॥

सब राजा अपने विनाशके लिये कुरुक्षेत्रको प्रस्थान कर चुके हैं। राजन् ! कौरव-सभामें जो कुछ हुआ था, वह सारा वृत्तान्त मैंने तुमसे कह सुनाया ॥ १९ ॥

न ते राज्यं प्रयच्छन्ति विना युद्धेन पाण्डव ।
विनाशहेतवः सर्वे प्रत्युपस्थितमृत्यवः ॥ २० ॥

पाण्डुनन्दन ! वे कौरव बिना युद्ध किये तुम्हें राज्य नहीं देंगे। उन सबके विनाशका कारण जुट गया है और उनका मृत्युकाल भी आ पहुँचा है ॥ २० ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि भगवद्यानपर्वणि कृष्णवाक्ये पञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १५० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत भगवद्यानपर्वमें श्रीकृष्णवाक्यविषयक एक सौ पचासवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १५० ॥

(सैन्यनिर्याणपर्व)

एकपञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः

पाण्डवपक्षके सेनापतिका चुनाव तथा पाण्डव-सेनाका कुरुक्षेत्रमें प्रवेश

वैशम्पायन उवाच

जनार्दनवचः श्रुत्वा धर्मराजो युधिष्ठिरः ।
भ्रातॄनुवाच धर्मात्मा समक्षं केशवस्य ह ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! भगवान्

श्रीकृष्णकी यह बात सुनकर धर्ममें ही मन लगाये रखनेवाले धर्मराज युधिष्ठिरने भगवान्‌के सामने ही अपने भाइयोंसे कहा—॥ १ ॥

श्रुतं भवद्भिर्यद् वृत्तं सभायां कुरुसंसदि ।
केशवस्यापि यद् वाक्यं तत् सर्वमवधारितम् ॥ २ ॥

'कौरवसभामें जो कुछ हुआ है वह सब वृत्तान्त तुम-लोगोंने सुन लिया। फिर भगवान् श्रीकृष्णने भी जो बात कही है, उसे भी अच्छी तरह समझ लिया होगा ॥ २ ॥

तस्मात् सेनाविभागं मे कुरुध्वं नरसत्तमाः ।
अक्षौहिण्यश्च सप्तैताः समेता विजयाय वै ॥ ३ ॥

'अतः नरश्रेष्ठ वीरो ! अब तुमलोग भी अपनी सेनाका विभाग करो। ये सात अक्षौहिणी सेनाएँ एकत्र हो गयी हैं, जो अवश्य ही हमारी विजय करानेवाली होंगी ॥ ३ ॥

तासां ये पतयः सप्त विख्यातास्तान् निबोधत ।
द्रुपदश्च विराटश्च धृष्टद्युम्नशिखण्डिनौ ॥ ४ ॥
सात्यकिश्चेकितानश्च भीमसेनश्च वीर्यवान् ।
एते सेनाप्रणेतारो वीराः सर्वे तनुत्यजः ॥ ५ ॥

'इन सातों अक्षौहिणियोंके जो सात विख्यात सेनापति हैं, उनके नाम बताता हूँ, सुनो। द्रुपद, विराट, धृष्टद्युम्न, शिखण्डी, सात्यकि, चेकितान और पराक्रमी भीमसेन। ये सभी वीर हमारे लिये अपने शरीरका भी त्याग कर देनेको उद्यत हैं; अतः ये ही पाण्डवसेनाके संचालक होने योग्य हैं ॥

सर्वे वेदविदः शूराः सर्वे सुचरितव्रताः ।
ह्रीमन्तो नीतिमन्तश्च सर्वे युद्धविशारदाः ॥ ६ ॥

'ये सब-के-सब वेदवेत्ता, शूरवीर, उत्तम व्रतका पालन करनेवाले, लज्जाशील, नीतिज्ञ और युद्धकुशल हैं ॥ ६ ॥

इष्वस्त्रकुशलाः सर्वे तथा सर्वास्त्रयोधिनः ।
सप्तानामपि यो नेता सेनानां प्रविभागवित् ॥ ७ ॥
यः सहेत रणे भीष्मं शरार्चिः पावकोपमम् ।
तं तावत् सहदेवात्र प्रब्रूहि कुरुनन्दन ।
स्वमतं पुरुषव्याघ्र को नः सेनापतिः क्षमः ॥ ८ ॥

'इन सबने धनुर्वेदमें निपुणता प्राप्त की है तथा ये सब प्रकारके अस्त्रोंद्वारा युद्ध करनेमें समर्थ हैं। अब यह विचार करना चाहिये कि इन सातोंका भी नेता कौन हो ? जो सभी सेना-विभागोंको अच्छी तरह जानता हो तथा युद्धमें बाण-रूपी ज्वालाओंसे प्रज्वलित अग्निके समान तेजस्वी भीष्मका आक्रमण सह सकता हो। पुरुषसिंह कुरुनन्दन सहदेव ! पहले तुम अपना विचार प्रकट करो। हमारा प्रधान सेनापति होने योग्य कौन है ?' ॥ ७-८ ॥

सहदेव उवाच

संयुक्त एकदुःखश्च वीर्यवांश्च महीपतिः ।
यं समाश्रित्य धर्मज्ञं स्वमंशमनुयुञ्ज्महे ॥ ९ ॥
मत्स्यो विराटो बलवान् कृतास्त्रो युद्धदुर्मदः ।
प्रसहिष्यति संग्रामे भीष्मं तांश्च महारथान् ॥ १० ॥

सहदेव बोले—जो हमारे सम्बन्धी हैं, दुःखमें हमारे साथ एक होकर रहनेवाले और पराक्रमी भूपाल हैं, जिन धर्मज्ञ वीरका आश्रय लेकर हम अपना राज्यभाग प्राप्त कर सकते हैं तथा जो बलवान्, अस्त्रविद्यामें निपुण और युद्धमें उन्मत्त होकर लड़नेवाले हैं, वे मत्स्यनरेश विराट संग्रामभूमिमें भीष्म तथा अन्य महारथियोंका सामना अच्छी तरह सहन कर सकेंगे ॥ ९-१० ॥

वैशम्पायन उवाच

तथोक्ते सहदेवेन वाक्ये वाक्यविशारदः ।
नकुलोऽनन्तरं तस्मादिदं वचनमाददे ॥ ११ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! सहदेवके इस प्रकार कहनेपर प्रवचनकुशल नकुलने उनके बाद यह बात कही—॥

वयसा शास्त्रतो धैर्यात् कुलेनाभिजनेन च ।
ह्रीमान् बलान्वितः श्रीमान् सर्वशास्त्रविशारदः ॥ १२ ॥
वेद चास्त्रं भरद्वाजाद् दुर्धर्षः सत्यसङ्गरः ।
यो नित्यं स्पर्धते द्रोणं भीष्मं चैव महाबलम् ॥ १३ ॥
श्लाघ्यः पार्थिववंशस्य प्रमुखे वाहिनीपतिः ।
पुत्रपौत्रैः परिवृतः शतशाख इव द्रुमः ॥ १४ ॥
यस्तताप तपो घोरं सदारः पृथिवीपतिः ।
रोषाद् द्रोणविनाशाय वीरः समितिशोभनः ॥ १५ ॥
पितेवास्मान् समाधत्ते यः सदा पार्थिवर्षभः ।
श्वशुरो द्रुपदोऽस्माकं सेनाग्रं स प्रकर्षतु ॥ १६ ॥
स द्रोणभीष्मावायातौ सहेदिति मतिर्मम ।
स हि दिव्यास्त्रविद् राजा सखा चाङ्गिरसो नृपः॥ १७ ॥

'जो अवस्था, शास्त्रज्ञान, धैर्य, कुल और स्वजनसमूह सभी दृष्टियोंसे बड़े हैं, जिनमें लज्जा, बल और श्री तीनों विद्यमान हैं, जो समस्त शास्त्रोंके ज्ञानमें प्रवीण हैं, जिन्हें महर्षि भरद्वाजसे अस्त्रोंकी शिक्षा प्राप्त हुई है, जो सत्यप्रतिज्ञ एवं दुर्धर्ष योद्धा हैं, महाबली भीष्म और द्रोणाचार्यसे सदा स्पर्धा रखते हैं, जो समस्त राजाओंके समूहकी प्रशंसाके पात्र हैं और युद्धके मुहानेपर खड़े हो समस्त सेनाओंकी रक्षा करनेमें समर्थ हैं, बहुत-से पुत्र-पौत्रोंद्वारा घिरे रहनेके कारण जिनकी सैकड़ों शाखाओंसे सम्पन्न वृक्षकी भाँति शोभा होती है, जिन महाराजने रोषपूर्वक द्रोणाचार्यके विनाशके लिये पत्नीसहित घोर तपस्या की है, जो संग्रामभूमिमें सुशोभित होनेवाले शूरवीर हैं और हमलोगोंपर सदा ही पिताके समान स्नेह रखते हैं, वे हमारे श्वशुर भूपालशिरोमणि द्रुपद हमारी सेनाके प्रमुख भागका संचालन करें। मेरे विचारसे राजा द्रुपद ही युद्धके लिये सम्मुख आये हुए द्रोणाचार्य और भीष्म-पितामहका सामना कर सकते हैं; क्योंकि वे दिव्यास्त्रोंके ज्ञाता और द्रोणाचार्यके सखा हैं' ॥ १२-१७ ॥

माद्रीसुताभ्यामुक्ते तु स्वमते कुरुनन्दनः।
वासविर्वासवसमः सव्यसाच्यब्रवीद् वचः ॥ १८ ॥

माद्रीकुमारोंके इस प्रकार अपना विचार प्रकट करनेपर कुरुकुलको आनन्दित करनेवाले इन्द्रके समान पराक्रमी, इन्द्रपुत्र सव्यसाची अर्जुनने इस प्रकार कहा— ॥ १८ ॥

योऽयं तपःप्रभावेण ऋषिसंतोषणेन च।
दिव्यः पुरुष उत्पन्नो ज्वालावर्णो महाभुजः ॥ १९ ॥
धनुष्मान् कवची खड्गी रथमारुह्य दंशितः।
दिव्यैर्हयवरैर्युक्तमग्निकुण्डात् समुत्थितः ॥ २० ॥
गर्जन्निव महामेघो रथघोषेण वीर्यवान्।
सिंहसंहननो वीरः सिंहतुल्यपराक्रमः ॥ २१ ॥
सिंहोरस्कः सिंहभुजः सिंहवक्षा महाबलः।
सिंहप्रगर्जनो वीरः सिंहस्कन्धो महाद्युतिः ॥ २२ ॥
सुभ्रूः सुदंष्ट्रः सुहनुः सुबाहुः सुमुखोऽकृशः।
सुजत्रुः सुविशालाक्षः सुपादः सुप्रतिष्ठितः ॥ २३ ॥
अभेद्यः सर्वशस्त्राणां प्रभिन्न इव वारणः।
जज्ञे द्रोणविनाशाय सत्यवादी जितेन्द्रियः ॥ २४ ॥
धृष्टद्युम्नमहं मन्ये सहेद् भीष्मस्य सायकान्।
वज्राशनिसमस्पर्शान् दीप्तास्यानुरगानिव ॥ २५ ॥

'जो अग्निकी ज्वालाके समान कान्तिमान् महाबाहु वीर अपने पिताकी तपस्याके प्रभावसे तथा महर्षियोंके कृपा-प्रसाद-से उत्पन्न हुआ दिव्य पुरुष है, जो अग्निकुण्डसे कवच, धनुष और खड्ग धारण किये प्रकट हुआ और तत्काल ही दिव्य एवं उत्तम अश्वोंसे जुते हुए रथपर आरूढ़ हो युद्धके लिये सुसज्जित देखा गया था, जो पराक्रमी वीर अपने रथ-की घरघराहटसे गर्जते हुए महामेघके समान जान पड़ता है, जिसके शरीरकी गठन, पराक्रम, हृदय, वक्षःस्थल, बाहु, कंधे और गर्जना–ये सभी सिंहके समान हैं, जो महाबली, महा-तेजस्वी और महान् वीर है, जिसकी भौंहें, दन्तपंक्ति, ठोड़ी, भुजाएँ और मुख बहुत सुन्दर हैं, जो सर्वथा हृष्ट-पुष्ट है, जिसके गलेकी हँसुली सुन्दर दिखायी देती है, जिसके बड़े-बड़े नेत्र और चरण परम सुन्दर हैं, जिसका किसी भी अस्त्र-शस्त्रसे भेद नहीं हो सकता, जो मदकी धारा बहानेवाले गज-राजके सदृश पराक्रमी वीर द्रोणाचार्यका विनाश करनेके लिये उत्पन्न हुआ है तथा जो सत्यवादी एवं जितेन्द्रिय है, उस धृष्टद्युम्नको ही मैं प्रधान सेनापति बनानेके योग्य मानता हूँ। पितामह भीष्मके बाण प्रज्वलित मुखवाले सर्पोंके समान भयंकर हैं, उनका स्पर्श वज्र और अशनिके समान दुःसह है, वीर धृष्टद्युम्न ही उन बाणोंका आघात सह सकता है ॥ १९—२५ ॥

यमदूतसमान् वेगे निपाते पावकोपमान्।
रामेणाजौ विषहितान् वज्रनिष्पेषदारुणान् ॥ २६ ॥
पुरुषं तं न पश्यामि यः सहेत महाव्रतम्।
धृष्टद्युम्नमृते राजन्निति मे धीयते मतिः ॥ २७ ॥

'पितामह भीष्मके बाण आघात करनेमें अग्निके समान तेजस्वी एवं यमदूतोंके समान प्राणोंका हरण करनेवाले हैं। वज्रकी गड़गड़ाहटके समान गम्भीर शब्द करनेवाले उन बाणोंको पहले युद्धमें परशुरामजीने ही सहा था। राजन्! मैं धृष्टद्युम्नके सिवा ऐसे किसी पुरुषको नहीं देखता, जो महान् व्रतधारी भीष्मका वेग सह सके। मेरा तो यही निश्चय है ॥ २६-२७ ॥

क्षिप्रहस्तश्चित्रयोधी मतः सेनापतिर्मम।
अभेद्यकवचः श्रीमान् मातङ्ग इव यूथपः ॥ २८ ॥

'जो शीघ्रतापूर्वक हस्तसंचालन करनेवाला, विचित्र पद्धतिसे युद्ध करनेमें कुशल, अभेद्य कवचसे सम्पन्न एवं यूथपति गजराजकी भाँति सुशोभित होनेवाला है, मेरी सम्मतिमें वह श्रीमान् धृष्टद्युम्न ही सेनापति होनेके योग्य है ॥'

(*वैशम्पायन उवाच*

अर्जुनेनैवमुक्ते तु भीमो वाक्यं समाददे ॥)

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! अर्जुनके ऐसा कहनेपर भीमसेनने अपना विचार इस प्रकार प्रकट किया ॥

भीमसेन उवाच

वधार्थं यः समुत्पन्नः शिखण्डी द्रुपदात्मजः।
वदन्ति सिद्धा राजेन्द्र ऋषयश्च समागताः ॥ २९ ॥
यस्य संग्राममध्ये तु दिव्यमस्त्रं प्रकुर्वतः।
रूपं द्रक्ष्यन्ति पुरुषा रामस्येव महात्मनः ॥ ३० ॥
न तं युद्धे प्रपश्यामि यो भिन्द्यात् तु शिखण्डिनम्।
शस्त्रेण समरे राजन् संनद्धं स्यन्दने स्थितम् ॥ ३१ ॥
द्वैरथे समरे नान्यो भीष्मं हन्यान्महाव्रतम्।
शिखण्डिनमृते वीरं स मे सेनापतिर्मतः ॥ ३२ ॥

भीमसेनने कहा—राजेन्द्र! द्रुपदकुमार शिखण्डी पितामह भीष्मका वध करनेके लिये ही उत्पन्न हुआ है। यह बात यहाँ पधारे हुए सिद्धों एवं महर्षियोंने बतायी है! संग्रामभूमिमें जब वह अपना दिव्यास्त्र प्रकट करता है, उस समय लोगोंको उसका स्वरूप महात्मा परशुरामके समान दिखायी देता है। मैं ऐसे किसी वीरको नहीं देखता, जो युद्धमें शिखण्डीको मार सके। राजन्! जब महाव्रती भीष्म रथपर बैठकर अस्त्र-शस्त्रोंसे सुसज्जित हो सामने आयेंगे, उस समय द्वैरथ युद्धमें शूरवीर शिखण्डीके सिवा दूसरा कोई योद्धा उन्हें नहीं मार सकता। अतः मेरे मतमें वही प्रधान सेनापति होनेके योग्य है ॥ २९—३२ ॥

युधिष्ठिर उवाच

सर्वस्य जगतस्तात सारासारं बलाबलम्।
सर्वं जानाति धर्मात्मा मतमेषां च केशवः ॥ ३३ ॥

युधिष्ठिर बोले—तात ! धर्मात्मा भगवान् श्रीकृष्ण सम्पूर्ण जगत्के समस्त सारासार और बलाबलको जानते हैं तथा इस विषयमें इन सब राजाओंका क्या मत है—इससे भी ये पूर्ण परिचित हैं ॥ ३३ ॥

यमाह कृष्णो दाशार्हः सोऽस्तु सेनापतिर्मम ।
कृतास्त्रोऽप्यकृतास्त्रो वा वृद्धो वा यदि वा युवा ॥ ३४ ॥

अतः दशार्हकुलभूषण श्रीकृष्ण जिसका नाम बतायें, वही हमारी सेनाका प्रधान सेनापति हो । फिर वह अस्त्र-विद्यामें निपुण हो या न हो, वृद्ध हो या युवा हो (इसकी चिन्ता अपने लोगोंको नहीं करनी चाहिये) ॥ ३४ ॥

एष नो विजये मूलमेष तात विपर्यये ।
अत्र प्राणाश्च राज्यं च भावाभावौ सुखासुखे ॥ ३५ ॥

तात ! ये भगवान् ही हमारी विजय अथवा पराजयके मूल कारण हैं । हमारे प्राण, राज्य, भाव, अभाव तथा सुख और दुःख इन्हींपर अवलम्बित हैं ॥ ३५ ॥

एष धाता विधाता च सिद्धिरत्र प्रतिष्ठिता ।
यमाह कृष्णो दाशार्हः सोऽस्तु नो वाहिनीपतिः ॥ ३६ ॥

यही सबके कर्ता-धर्ता हैं । हमारे समस्त कार्योंकी सिद्धि इन्हींपर निर्भर करती है । अतः भगवान् श्रीकृष्ण जिसके लिये प्रस्ताव करें, वही हमारी विशाल वाहिनीका प्रधान अधिनायक हो ॥ ३६ ॥

ब्रवीतु वदतां श्रेष्ठो निशा समभिवर्तते ।
ततः सेनापतिं कृत्वा कृष्णस्य वशवर्तिनः ॥ ३७ ॥
रात्रेः शेषे व्यतिक्रान्ते प्रयास्यामो रणाजिरम् ।
अधिवासितशस्त्राश्च कृतकौतुकमङ्गलाः ॥ ३८ ॥

अतः वक्ताओंमें श्रेष्ठ श्रीकृष्ण अपना विचार प्रकट करें । इस समय रात्रि है । हम अभी सेनापतिका निर्वाचन करके रात बीतनेपर अस्त्र-शस्त्रोंका अधिवासन (गन्ध आदि उपचारोंद्वारा पूजन), कौतुक (रक्षाबन्धन आदि) तथा मङ्गलकृत्य (स्वस्तिवाचन आदि) करनेके अनन्तर श्रीकृष्ण-के अधीन हो समराङ्गणकी यात्रा करेंगे ॥ ३७-३८ ॥

वैशम्पायन उवाच

तस्य तद् वचनं श्रुत्वा धर्मराजस्य धीमतः ।
अब्रवीत् पुण्डरीकाक्षो धनंजयमवेक्ष्य ह ॥ ३९ ॥
ममाप्येते महाराज भवद्भिर्य उदाहृताः ।
नेतारस्तव सेनाया मता विक्रान्तयोधिनः ॥ ४० ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! बुद्धिमान् धर्मराज युधिष्ठिरकी यह बात सुनकर कमलनयन भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनकी ओर देखते हुए कहा—'महाराज ! आपलोगोंने जिन-जिन वीरोंके नाम लिये हैं, ये सभी मेरी रायमें भी सेनापति होनेके योग्य हैं; क्योंकि ये सभी बड़े पराक्रमी योद्धा हैं ॥ ३९-४० ॥

सर्वे एव समर्था हि तव शत्रुं प्रबाधितुम् ।
इन्द्रस्यापि भयं ह्येते जनयेयुर्महाहवे ॥ ४१ ॥
किं पुनर्धार्तराष्ट्राणां लुब्धानां पापचेतसाम् ।

'आपके शत्रुओंको परास्त करनेकी शक्ति इन सबमें विद्यमान है । ये महान् संग्राममें इन्द्रके मनमें भी भय उत्पन्न कर सकते हैं; फिर पापात्मा और लोभी धृतराष्ट्र-पुत्रोंकी तो बात ही क्या है ? ॥ ४१½ ॥

मयापि हि महाबाहो त्वत्प्रियार्थं महाहवे ॥ ४२ ॥
कृतो यत्नो महांस्तत्र शमः स्यादिति भारत ।
धर्मस्य गतमानृण्यं न स्म वाच्या विवक्षताम् ॥ ४३ ॥

'महाबाहु भरतनन्दन ! मैंने भी महान् युद्धकी सम्भावना देखकर तुम्हारा प्रिय करनेके लिये शान्ति-स्थापनके निमित्त महान् प्रयत्न किया था । इससे हमलोग धर्मके ऋणसे भी उऋण हो गये हैं । दूसरोंके दोष बतानेवाले लोग भी अब हमारे ऊपर दोषारोपण नहीं कर सकते ॥ ४२-४३ ॥

कृतास्त्रं मन्यते बाल आत्मानमविचक्षणः ।
धार्तराष्ट्रो बलस्थं च पश्यत्यात्मानमातुरः ॥ ४४ ॥

'धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधन युद्धके लिये आतुर हो रहा है । वह मूर्ख और अयोग्य होकर भी अपनेको अस्त्रविद्यामें पारङ्गत मानता है और दुर्बल होकर भी अपनेको बलवान् समझता है ॥ ४४ ॥

युज्यतां वाहिनी साधु वधसाध्या हि मे मताः ।
न धार्तराष्ट्राः शक्ष्यन्ति स्थातुं दृष्ट्वा धनंजयम् ॥ ४५ ॥
भीमसेनं च संक्रुद्धं यमौ चापि यमोपमौ ।
युयुधानद्वितीयं च धृष्टद्युम्नममर्षणम् ॥ ४६ ॥
अभिमन्युं द्रौपदेयान् विराटद्रुपदावपि ।
अक्षौहिणीपतींश्चान्यान् नरेन्द्रान् भीमविक्रमान् ॥ ४७ ॥

'अतः आप अपनी सेनाको युद्धके लिये अच्छी तरहसे सुसज्जित कीजिये; क्योंकि मेरे मतमें वे शत्रुवधसे ही वशीभूत हो सकते हैं । वीर अर्जुन, क्रोधमें भरे हुए भीमसेन, यम-राजके समान नकुल-सहदेव, सात्यकिसहित अमर्षशील धृष्टद्युम्न, अभिमन्यु, द्रौपदीके पाँचों पुत्र, विराट, द्रुपद तथा अक्षौहिणी सेनाओंके अधिपति अन्यान्य भयंकर पराक्रमी नरेशोंको युद्धके लिये उद्यत देखकर धृतराष्ट्रके पुत्र रणभूमि-में टिक नहीं सकेंगे ॥ ४५—४७ ॥

सारवद् बलमस्माकं दुष्प्रधर्षं दुरासदम् ।
धार्तराष्ट्रबलं संख्ये हनिष्यति न संशयः ॥ ४८ ॥
धृष्टद्युम्नमहं मन्ये सेनापतिमरिंदम ।

'हमारी सेना अत्यन्त शक्तिशाली, दुर्धर्ष और दुर्गम है । वह युद्धमें धृतराष्ट्रपुत्रोंकी सेनाका संहार कर डालेगी, इसमें संशय नहीं है । शत्रुदमन ! मैं धृष्टद्युम्नको ही प्रधान सेनापति होने योग्य मानता हूँ' ॥ ४८½ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्ते तु कृष्णेन सम्प्राहृष्यन्नरोत्तमाः ॥ ४९ ॥
तेषां प्रहृष्टमनसां नादः समभवन्महान् ।
योग इत्यथ सैन्यानां त्वरतां सम्प्रधावताम् ॥ ५० ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! भगवान् श्रीकृष्णके ऐसा कहनेपर वे नरश्रेष्ठ पाण्डव बड़े प्रसन्न हुए। फिर तो युद्धके लिये 'सुसज्जित हो जाओ, सुसज्जित हो जाओ' ऐसा कहते हुए समस्त सैनिक बड़ी उतावलीके साथ दौड़-धूप करने लगे। उस समय प्रसन्न चित्तवाले उन वीरोंका महान् हर्षनाद सब ओर गूँज उठा ॥ ४९-५० ॥

हयवारणशब्दाश्च नेमिघोषाश्च सर्वतः ।
शङ्खदुन्दुभिघोषाश्च तुमुलाः सर्वतोऽभवन् ॥ ५१ ॥

सब ओर घोड़े, हाथी और रथोंका घोष होने लगा। सभी ओर शंख और दुन्दुभियोंकी भयानक ध्वनि गूँजने लगी॥

तदुग्रं सागरनिभं क्षुब्धं बलसमागमम् ।
रथपत्तिगजोदग्रं महोर्मिभिरिवाकुलम् ॥ ५२ ॥

रथ, पैदल और हाथियोंसे भरी हुई वह भयंकर सेना उत्ताल तरङ्गोंसे व्याप्त महासागरके समान क्षुब्ध हो उठी॥

धावतामाह्वयानानां तनुत्राणि च बध्नताम् ।
प्रयास्यतां पाण्डवानां ससैन्यानां समन्ततः ॥ ५३ ॥
गङ्गेव पूर्णा दुर्धर्षा समदृश्यत वाहिनी ।

रणयात्राके लिये उद्यत हुए पाण्डव और उनके सैनिक सब ओर दौड़ते, पुकारते और कवच बाँधते दिखायी दिये। उनकी वह विशाल वाहिनी जलसे परिपूर्ण गङ्गाके समान दुर्गम दिखायी देती थी ॥ ५३½ ॥

अग्रानीके भीमसेनो माद्रीपुत्रौ च दंशितौ ॥ ५४ ॥
सौभद्रो द्रौपदेयाश्च धृष्टद्युम्नश्च पार्षतः ।
प्रभद्रकाश्च पञ्चाला भीमसेनमुखा ययुः ॥ ५५ ॥

सेनाके आगे-आगे भीमसेन, कवचधारी माद्रीकुमार नकुल-सहदेव, सुभद्राकुमार अभिमन्यु, द्रौपदीके सभी पुत्र, द्रुपद-कुमार धृष्टद्युम्न, प्रभद्रकगण और पाञ्चालदेशीय क्षत्रिय वीर चले। इन सबने भीमसेनको अपने आगे कर लिया था॥

ततः शब्दः समभवत् समुद्रस्येव पर्वणि ।
हृष्टानां सम्प्रयातानां घोषो दिवमिवास्पृशत् ॥ ५६ ॥

तदनन्तर जैसे पूर्णिमाके दिन बढ़ते हुए समुद्रका कोलाहल सुनायी देता है, उसी प्रकार हर्ष और उत्साहमें भरकर युद्धके लिये यात्रा करनेवाले उन सैनिकोंका महान् घोष सब ओर फैलकर मानो स्वर्गलोकतक जा पहुँचा ॥ ५६ ॥

प्रहृष्टा दंशिता योधाः परानीकविदारणाः ।
तेषां मध्ये ययौ राजा कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ॥ ५७ ॥

हर्षमें भरे हुए और कवच आदिसे सुसज्जित वे समस्त सैनिक शत्रु-सेनाको विदीर्ण करनेका उत्साह रखते थे। कुन्तीपुत्र राजा युधिष्ठिर समस्त सैनिकोंके बीचमें होकर चले॥

शकटापणवेशाश्च यानयुग्यं च सर्वशः ।
कोशं यन्त्रायुधं चैव ये च वैद्याश्चिकित्सकाः ॥ ५८ ॥

सामान ढोनेवाली गाड़ी, बाजार, डेरे-तम्बू, रथ आदि सवारी, खजाना, यन्त्रचालित अस्त्र और चिकित्साकुशल वैद्य भी उनके साथ-साथ चले ॥ ५८ ॥

फल्गु यच्च बलं किंचिद् यच्चापि कृशदुर्बलम् ।
तत् संगृह्य ययौ राजा ये चापि परिचारकाः ॥ ५९ ॥

राजा युधिष्ठिरने जो कोई भी सेना सारहीन, कृशकाय अथवा दुर्बल थी, सबको एवं अन्य परिचारकोंको उपप्लव्यमें एकत्र करके वहाँसे प्रस्थान कर दिया ॥ ५९ ॥

उपप्लव्ये तु पाञ्चाली द्रौपदी सत्यवादिनी ।
सह स्त्रीभिर्निववृते दासीदाससमावृता ॥ ६० ॥

पाञ्चालराजकुमारी सत्यवादिनी द्रौपदी दास-दासियोंसे घिरी हुई कुछ दूरतक महाराजके साथ गयी। फिर सभी स्त्रियोंके साथ उपप्लव्य नगरमें लौट आयी ॥ ६० ॥

कृत्वा मूलप्रतीकारं गुल्मैः स्थावरजङ्गमैः ।
स्कन्धावारेण महता प्रययुः पाण्डुनन्दनाः ॥ ६१ ॥

पाण्डवलोग दुर्गकी रक्षाके लिये आवश्यक स्थावर (परकोटे और खाईं आदि) तथा जङ्गम (पहरेदार सैनिकोंकी नियुक्ति आदि) उपायोंद्वारा स्त्रियों और धन आदिकी सुरक्षाकी समुचित व्यवस्था करके बहुत-से खेमे और तम्बू आदि साथ लेकर प्रस्थित हुए ॥ ६१ ॥

ददतो गां हिरण्यं च ब्राह्मणैरभिसंवृताः ।
स्तूयमाना ययू राजन् रथैर्मणिविभूषितैः ॥ ६२ ॥

राजन्! ब्राह्मणलोग चारों ओरसे घेरकर पाण्डवोंके गुण गाते और पाण्डवलोग उन्हें गौओं तथा सुवर्ण आदिका दान देते थे। इस प्रकार वे मणिभूषित रथोंपर बैठकर यात्रा कर रहे थे ॥ ६२ ॥

केकया धृष्टकेतुश्च पुत्रः काश्यस्य चाभिभूः ।
श्रेणिमान् वसुदानश्च शिखण्डी चापराजितः ॥ ६३ ॥
हृष्टास्तुष्टाः कवचिनः सशस्त्राः समलंकृताः ।
राजानमन्वयुः सर्वे परिवार्य युधिष्ठिरम् ॥ ६४ ॥

(पाँचों भाई) केकयराजकुमार, धृष्टकेतु, काशिराजके पुत्र अभिभू, श्रेणिमान्, वसुदान और अपराजित वीर शिखण्डी—ये सब लोग आभूषण और कवच धारण करके हाथोंमें शस्त्र लिये हर्ष और उल्लासमें भरकर राजा युधिष्ठिरको सब ओरसे घेरकर उनके साथ-साथ जा रहे थे ॥ ६३-६४ ॥

जघनार्धे विराटश्च याज्ञसेनिश्च सोमकिः ।
सुधर्मा कुन्तिभोजश्च धृष्टद्युम्नस्य चात्मजाः ॥ ६५ ॥
रथायुतानि चत्वारि हयाः पञ्चगुणास्तथा ।
पत्तिसैन्यं दशगुणं गजानामयुतानि षट् ॥ ६६ ॥

सेनाके पिछले आधे भागमें राजा विराट, सोमकवंशी द्रुपदकुमार धृष्टद्युम्न, सुधर्मा, कुन्तिभोज और धृष्टद्युम्नके पुत्र जा रहे थे। इनके साथ चालीस हजार रथ, दो लाख घोड़े, चार लाख पैदल और साठ हजार हाथी थे ।६५-६६।

अनाधृष्टिश्चेकितानो धृष्टकेतुश्च सात्यकिः ।
परिवार्य ययुः सर्वे वासुदेवधनंजयौ ॥ ६७ ॥

अनाधृष्टि, चेकितान, धृष्टकेतु तथा सात्यकि—ये सब लोग भगवान् श्रीकृष्ण और अर्जुनको घेरकर चल रहे थे ॥ ६७॥

आसाद्य तु कुरुक्षेत्रं व्यूढानीकाः प्रहारिणः ।
पाण्डवाः समदृश्यन्त नर्दन्तो वृषभा इव ॥ ६८ ॥

इस प्रकार सेनाकी व्यूहरचना करके प्रहार करनेके लिये उद्यत हुए पाण्डवसैनिक कुरुक्षेत्रमें पहुँचकर साँड़ोंके समान गर्जन करते हुए दिखायी देने लगे ॥ ६८ ॥

तेऽवगाह्य कुरुक्षेत्रं शङ्खान् दध्मुररिंदमाः ।
तथैव दध्मतुः शङ्खं वासुदेवधनंजयौ ॥ ६९ ॥

उन शत्रुदमन वीरोंने कुरुक्षेत्रकी सीमामें पहुँचकर अपने-अपने शङ्ख बजाये । इसी प्रकार श्रीकृष्ण और अर्जुनने भी शङ्खध्वनि की ॥ ६९ ॥

पाञ्चजन्यस्य निर्घोषं विस्फूर्जितमिवाशनेः ।
निशम्य सर्वसैन्यानि समहृष्यन्त सर्वशः ॥ ७० ॥

बिजलीकी गड़गड़ाहटके समान पाञ्चजन्यका गम्भीर घोष सुनकर सब ओर फैले हुए समस्त पाण्डव-सैनिक हर्षसे उल्लसित एवं रोमाञ्चित हो उठे ॥ ७० ॥

शङ्खदुन्दुभिसंसृष्टः सिंहनादस्तरस्विनाम् ।
पृथिवीं चान्तरिक्षं च सागरांश्चान्वनादयत् ॥ ७१ ॥

शङ्ख और दुन्दुभियोंकी ध्वनिसे मिला हुआ वेगवान् वीरोंका सिंहनाद पृथ्वी, आकाश तथा समुद्रोंतक फैलकर उस सबको प्रतिध्वनित करने लगा ॥७१ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि सैन्यनिर्याणपर्वणि कुरुक्षेत्रप्रवेशे एकपञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १५१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत सैन्यनिर्याणपर्वमें पाण्डवसेनाका कुरुक्षेत्रमें प्रवेशविषयक एक सौ इक्यावनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १५१ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका ½ श्लोक मिलाकर कुल ७१½ श्लोक हैं)

द्विपञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः

कुरुक्षेत्रमें पाण्डवसेनाका पड़ाव तथा शिविर-निर्माण

वैशम्पायन उवाच

ततो देशे समे स्निग्धे प्रभूतयवसेन्धने ।
निवेशयामास तदा सेनां राजा युधिष्ठिरः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तदनन्तर राजा युधिष्ठिरने एक चिकने और समतल प्रदेशमें जहाँ घास और ईंधनकी अधिकता थी, अपनी सेनाका पड़ाव डाला ॥ १ ॥

परिहृत्य श्मशानानि देवतायतनानि च ।
आश्रमांश्च महर्षीणां तीर्थान्यायतनानि च ॥ २ ॥
मधुरानूषरे देशे शुचौ पुण्ये महामतिः ।
निवेशं कारयामास कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ॥ ३ ॥

श्मशान, देवमन्दिर, महर्षियोंके आश्रम, तीर्थ और सिद्धक्षेत्र—इन सबका परित्याग करके उन स्थानोंसे बहुत दूर ऊसररहित मनोहर शुद्ध एवं पवित्र स्थानमें जाकर कुन्तीपुत्र महामति युधिष्ठिरने अपनी सेनाको ठहराया ॥ २-३ ॥

ततश्च पुनरुत्थाय सुखी विश्रान्तवाहनः ।
प्रययौ पृथिवीपालैर्वृतः शतसहस्रशः ॥ ४ ॥
विद्राव्य शतशो गुल्मान् धार्तराष्ट्रस्य सैनिकान् ।
पर्यक्रामत् समन्ताच्च पार्थेन सह केशवः ॥ ५ ॥

तत्पश्चात् समस्त वाहनोंके विश्राम कर लेनेपर स्वयं भी विश्राम-सुखका अनुभव करके भगवान् श्रीकृष्ण उठे और सैकड़ों-हजारों भूमिपालोंसे घिरकर कुन्तीपुत्र अर्जुनके साथ आगे बढ़े । उन्होंने दुर्योधनके सैकड़ों सैनिक दलोंको दूर भगाकर वहाँ सब ओर विचरण करना प्रारम्भ किया । ४-५ ।

शिबिरं मापयामास धृष्टद्युम्नश्च पार्षतः ।
सात्यकिश्च रथोदारो युयुधानः प्रतापवान् ॥ ६ ॥

द्रुपदकुमार धृष्टद्युम्न तथा प्रतापशाली एवं उदाररथी सत्यकपुत्र युयुधानने शिविर बनाने योग्य भूमि नापी ॥

आसाद्य सरितं पुण्यां कुरुक्षेत्रे हिरण्वतीम् ।
सूपतीर्थां शुचिजलां शर्करापङ्कवर्जिताम् ॥ ७ ॥
खानयामास परिखां केशवस्तत्र भारत ।
गुप्त्यर्थमपि चादिश्य बलं तत्र न्यवेशयत् ॥ ८ ॥
विधिर्यः शिबिरस्यासीत् पाण्डवानां महात्मनाम् ।
तद्विधानि नरेन्द्राणां कारयामास केशवः ॥ ९ ॥

भरतनन्दन जनमेजय ! कुरुक्षेत्रमें हिरण्वती नामक एक पवित्र नदी है, जो स्वच्छ एवं विशुद्ध जलसे भरी है । उसके तटपर अनेक सुन्दर घाट हैं । उस नदीमें कंकड़, पत्थर और कीचड़का नाम नहीं है । उसके समीप पहुँचकर भगवान् श्रीकृष्णने खाई खुदवायी और उसकी रक्षाके लिये पहरेदारोंको नियुक्त करके वहीं सेनाको ठहराया । महात्मा पाण्डवोंके लिये शिविरका निर्माण जिस विधिसे किया गया था, उसी प्रकारके भगवान् केशवने अन्य राजाओंके लिये शिविर बनवाये ॥ ७–९ ॥

प्रभूततरकाष्ठानि दुराधर्षतराणि च ।
भक्ष्यभोज्यान्नपानानि शतशोऽथ सहस्रशः ॥ १० ॥
शिबिराणि महार्हाणि राज्ञां तत्र पृथक् पृथक् ।
विमानानीव राजेन्द्र निविष्टानि महीतले ॥ ११ ॥

राजेन्द्र ! उस समय राजाओंके लिये सैकड़ों और हजारों-की संख्यामें दुर्धर्ष एवं बहुमूल्य शिविर पृथक्-पृथक् बनवाये गये थे । उनके भीतर बहुत-से काष्ठों तथा प्रचुर मात्रामें भक्ष्य-भोज्य अन्न एवं पान-सामग्रीका संग्रह किया गया था । वे समस्त शिविर भूतलपर रहते हुए विमानोंके समान सुशोभित हो रहे थे ॥ १०-११ ॥

तत्रासञ्शिल्पिनः प्राज्ञाः शतशो दत्तवेतनाः ।
सर्वोपकरणैर्युक्ता वैद्याः शास्त्रविशारदाः ॥ १२ ॥

वहाँ सैकड़ों विद्वान् शिल्पी और शास्त्रविशारद वैद्य वेतन देकर रक्खे गये थे, जो समस्त आवश्यक उपकरणोंके साथ वहाँ रहते थे ॥ १२ ॥

ज्याधनुर्वर्मशस्त्राणां तथैव मधुसर्पिषोः ।
ससर्जरसपांसूनां राशयः पर्वतोपमाः ॥ १३ ॥

प्रत्येक शिविरमें प्रत्यञ्चा, धनुष, कवच, अस्त्र-शस्त्र, मधु, घी तथा रालका चूरा—इन सबके पहाड़ों-जैसे ढेर लगे हुए थे ॥

बहूदकं सुयवसं तुषाङ्गारसमन्वितम् ।
शिबिरे शिबिरे राजा संचकार युधिष्ठिरः ॥ १४ ॥

राजा युधिष्ठिरने प्रत्येक शिविरमें प्रचुर जल, सुन्दर घास, भूसी और अग्निका संग्रह करा रक्खा था ॥ १४ ॥

महायन्त्राणि नाराचास्तोमराणि परश्वधाः ।
धनूंषि कवचादीनि ऋष्टयस्तूणसंयुताः ॥ १५ ॥

बड़े-बड़े यन्त्र, नाराच, तोमर, फरसे, धनुष, कवच, ऋष्टि और तरकस—ये सब वस्तुएँ भी उन सभी शिविरों-में संगृहीत थीं ॥ १५ ॥

गजाः कण्टकसंनाहा लोहवर्मोत्तरच्छदाः ।
दृश्यन्ते तत्र गिर्याभाः सहस्रशतयोधिनः ॥ १६ ॥

वहाँ लाखों योद्धाओंके साथ युद्ध करनेमें समर्थ पर्वतोंके समान विशालकाय बहुत-से हाथी दिखायी देते थे, जो काँटेदार साज-सामान, लोहेके कवच तथा लोहेकी ही झूल धारण किये हुए थे ॥ १६ ॥

निविष्टान् पाण्डवांस्तत्र ज्ञात्वा मित्राणि भारत ।
अभिसस्रुर्यथादेशं सबलाः सहवाहनाः ॥ १७ ॥

भारत ! पाण्डवोंने कुरुक्षेत्रमें जाकर अपनी सेनाका पड़ाव डाल दिया है, यह जानकर उनसे मित्रता रखनेवाले बहुत-से राजा अपनी सेना और सवारियोंके साथ उनके पास, जहाँ वे ठहरे थे, आये ॥ १७ ॥

चरितब्रह्मचर्यास्ते सोमपा भूरिदक्षिणाः ।
जयाय पाण्डुपुत्राणां समाजग्मुर्महीक्षितः ॥ १८ ॥

जिन्होंने यथासमय ब्रह्मचर्यव्रतका पालन, यज्ञोंमें सोमरस-का पान तथा प्रचुर दक्षिणाओंका दान किया था, ऐसे भूपालगण पाण्डवोंकी विजयके लिये कुरुक्षेत्रमें पधारे ॥१८॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि सैन्यनिर्याणपर्वणि शिबिरादिनिर्माणे द्विपञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १५२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत सैन्यनिर्याणपर्वमें शिविर आदिका निर्माणविषयक एक सौ बावनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १५२ ॥

त्रिपञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः

दुर्योधनका सेनाको सुसज्जित होने और शिविर निर्माण करनेके लिये आज्ञा देना तथा सैनिकोंकी रणयात्राके लिये तैयारी

जनमेजय उवाच

युधिष्ठिरं सहानीकमुपायान्तं युयुत्सया ।
संनिविष्टं कुरुक्षेत्रे वासुदेवेन पालितम् ॥ १ ॥
विराटद्रुपदाभ्यां च सपुत्राभ्यां समन्वितम् ।
केकयैर्वृष्णिभिश्चैव पार्थिवैः शतशो वृतम् ॥ २ ॥
महेन्द्रमिव चादित्यैरभिगुप्तं महारथैः ।
श्रुत्वा दुर्योधनो राजा किं कार्यं प्रत्यपद्यत ॥ ३ ॥

जनमेजयने पूछा—मुने ! दुर्योधनने जब यह सुना कि राजा युधिष्ठिर युद्धकी इच्छासे सेनाओंके साथ यात्रा करके भगवान् श्रीकृष्णके द्वारा सुरक्षित हो कुरुक्षेत्रमें पहुँच गये और वहाँ सेनाका पड़ाव डाले बैठे हैं, पुत्रोंसहित राजा विराट और द्रुपद भी उनके साथ हैं, केकयराजकुमार, वृष्णिवंशी योद्धा तथा सैकड़ों भूपाल उन्हें घेरे रहते हैं तथा वे आदित्योंसहित घिरे हुए देवराज इन्द्रकी भाँति अनेक महारथी योद्धाओंद्वारा सुरक्षित हैं, तब उसने क्या किया ? १–३

एतदिच्छाम्यहं श्रोतुं विस्तरेण महामते ।
सम्भ्रमे तुमुले तस्मिन् यदासीत् कुरुजाङ्गले ॥ ४ ॥

महामते ! कुरुक्षेत्रके उस भयंकर समारोहमें जो कुछ हुआ हो वह सब मैं विस्तारपूर्वक सुनना चाहता हूँ ॥४॥

व्यथयेयुरिमे देवान् सेन्द्रानपि समागमे ।
पाण्डवा वासुदेवश्च विराटद्रुपदौ तथा ॥ ५ ॥
धृष्टद्युम्नश्च पाञ्चाल्यः शिखण्डी च महारथः ।

युधामन्युश्च विक्रान्तो देवैरपि दुरासदः ॥ ६॥
एतदिच्छाम्यहं श्रोतुं विस्तरेण तपोधन।
कुरूणां पाण्डवानां च यद् यदासीद् विचेष्टितम् ॥७॥

तपोधन! पाण्डव, भगवान् श्रीकृष्ण, विराट, द्रुपद, पाञ्चाल-राजकुमार धृष्टद्युम्न, महारथी शिखण्डी तथा देवताओंके लिये भी दुर्जय महापराक्रमी युधामन्यु—ये सब तो संग्राममें एकत्र होनेपर इन्द्रसहित सम्पूर्ण देवताओंको भी पीड़ित कर सकते हैं; अतः वहाँ कौरवों तथा पाण्डवोंने जो-जो कर्म किया था वह सब विस्तारपूर्वक सुननेकी मेरी इच्छा है ॥ ५–७ ॥

वैशम्पायन उवाच

प्रतियाते तु दाशार्हे राजा दुर्योधनस्तदा।
कर्णं दुःशासनं चैव शकुनिं चाब्रवीदिदम् ॥ ८ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! भगवान् श्रीकृष्णके चले जानेपर उस समय राजा दुर्योधनने कर्ण, दुःशासन और शकुनिसे इस प्रकार कहा—॥ ८ ॥

अकृतेनैव कार्येण गतः पार्थानधोक्षजः।
स एनान्मन्युनाऽऽविष्टो ध्रुवं धक्ष्यत्यसंशयम् ॥ ९ ॥

'श्रीकृष्ण यहाँसे कृतकार्य होकर नहीं गये हैं। इसके लिये वे क्रोधमें भरकर पाण्डवोंको निश्चय ही युद्धके लिये उत्तेजित करेंगे, इसमें तनिक भी संशय नहीं है ॥ ९ ॥

इष्टो हि वासुदेवस्य पाण्डवैर्मम विग्रहः।
भीमसेनार्जुनौ चैव दाशार्हस्य मते स्थितौ ॥ १० ॥

'वास्तवमें श्रीकृष्ण यही चाहते हैं कि पाण्डवोंके साथ मेरा युद्ध हो। भीमसेन और अर्जुन—ये दोनों भाई तो श्रीकृष्णके ही मतमें रहनेवाले हैं ॥ १० ॥

अजातशत्रुरत्यर्थं भीमसेनवशानुगः।
निकृतश्च मया पूर्वं सह सर्वैः सहोदरैः ॥ ११ ॥

'अजातशत्रु युधिष्ठिर भी अधिकतर भीमसेनके वशमें रहा करते हैं। इसके सिवा मैंने पहले सब भाइयोंसहित उनका तिरस्कार भी किया है ॥ ११ ॥

विराटद्रुपदौ चैव कृतवैरौ मया सह।
तौ च सेनाप्रणेतारौ वासुदेववशानुगौ ॥ १२ ॥

'विराट और द्रुपद तो मेरे साथ पहलेसे ही वैर रखते हैं। वे दोनों पाण्डव-सेनाके संचालक तथा श्रीकृष्णकी आज्ञाके अधीन रहनेवाले हैं ॥ १२ ॥

भविता विग्रहः सोऽयं तुमुलो लोमहर्षणः।
तस्मात् सांग्रामिकं सर्वं कारयध्वमतन्द्रिताः ॥ १३ ॥

'अतः अब हमलोगोंका पाण्डवोंके साथ होनेवाला यह युद्ध बड़ा ही भयंकर और रोमाञ्चकारी होगा। इसलिये राजाओ! आप सब लोग आलस्य छोड़कर युद्धकी सारी तैयारी करें ॥

शिबिराणि कुरुक्षेत्रे क्रियन्तां वसुधाधिपाः।
सुपर्याप्तावकाशानि दुरादेयानि शत्रुभिः ॥ १४ ॥
आसन्नजलकाष्ठानि शतशोऽथ सहस्रशः।
अच्छेद्याहारमार्गाणि वन्धोच्छ्रयचितानि च ॥ १५ ॥

'भूमिपालो! आप कुरुक्षेत्रमें सैकड़ों और हजारोंकी संख्यामें ऐसे शिविर तैयार करावें, जिनमें अपनी आवश्यकता-के अनुसार पर्याप्त अवकाश हों तथा शत्रुलोग जिनपर अधिकार न कर सकें। उनमें पास ही जल और काष्ठ आदि मिलनेकी सुविधाएँ हों। उनमें ऐसे मार्ग होने चाहिये जिनके द्वारा खाद्यसामग्री सुविधासे लायी जा सके और शत्रुलोग उसे नष्ट न कर सकें तथा उनके चारों तरफ किलेबन्दी कर देनी चाहिये ॥ १४-१५ ॥

विविधायुधपूर्णानि पताकाध्वजवन्ति च।
समाश्च तेषां पन्थानः क्रियन्तां नगराद् बहिः ॥ १६ ॥

'उन शिविरोंको नाना प्रकारके अस्त्र-शस्त्रोंसे भरपूर तथा ध्वजा-पताकाओंसे सुशोभित रखना चाहिये। शिविरोंका जो नगर बसाया जाय, उससे बाहर अनेक सीधे तथा समतल मार्ग उन शिविरोंमें जानेके लिये बनाये जायँ ॥१६॥

प्रयाणं घुष्यतामद्य श्वोभूत इति मा चिरम्।
ते तथेति प्रतिज्ञाय श्वोभूते चक्रिरे तथा ॥ १७ ॥
हृष्टरूपा महात्मानो निवासाय महीक्षिताम्।

'आज ही यह घोषणा करा दी जाय कि कल सबेरे ही युद्धके लिये प्रस्थान करना है। इसमें विलम्ब नहीं होना चाहिये।' दुर्योधनका यह आदेश सुनकर 'बहुत अच्छा—ऐसा ही होगा' यह प्रतिज्ञा करके महामना कर्ण आदिने अत्यन्त प्रसन्न होकर सबेरा होते ही राजाओंके निवासके लिये शिविर बनवाने आरम्भ कर दिये ॥ १७½ ॥

ततस्ते पार्थिवाः सर्वे तच्छ्रुत्वा राजशासनम् ॥ १८ ॥
आसनेभ्यो महार्हेभ्य उदतिष्ठन्नमर्षिताः।
बाहून् परिघसंकाशान् संस्पृशन्तः शनैः शनैः ॥ १९ ॥
काञ्चनाङ्गददीप्तांश्च चन्दनागुरुभूषितान्।

तदनन्तर वहाँ आये हुए सब नरेश राजा दुर्योधनकी यह आज्ञा सुनकर रोषावेशसे परिपूर्ण हो चन्दन और अगुरुसे चर्चित तथा सोनेके भुजबंदोंसे प्रकाशित अपनी परिघके समान मोटी भुजाओंका धीरे-धीरे स्पर्श करते हुए बहुमूल्य आसनों-से उठकर खड़े हो गये ॥ १८-१९½ ॥

उष्णीषाणि नियच्छन्तः पुण्डरीकनिभैः करैः।
अन्तरीयोत्तरीयाणि भूषणानि च सर्वशः ॥ २० ॥

उन्होंने अपने कमलसदृश करोंसे मस्तकपर पगड़ी बाँध ली; फिर धोती, चादर और सब प्रकारके आभूषण धारण कर लिये ॥ २० ॥

ते रथान् रथिनः श्रेष्ठा हयांश्च हयकोविदाः ।
सज्जयन्ति स्म नागांश्च नागशिक्षास्वनुष्ठिताः ॥ २१ ॥

श्रेष्ठ रथी अपने रथोंको, अश्वसंचालनकी कलामें कुशल योद्धा घोड़ोंको और हस्तिशिक्षामें निपुण सैनिक हाथियोंको सुसज्जित करने लगे ॥ २१ ॥

अथ वर्माणि चित्राणि काञ्चनानि बहूनि च ।
विविधानि च शस्त्राणि चक्रुः सर्वाणि सर्वशः ॥ २२ ॥

उन्होंने सोनेके बने हुए बहुत-से विचित्र कवच तथा सब प्रकारके विभिन्न अनेक अस्त्र-शस्त्र धारण कर लिये ।२२।

पदातयश्च पुरुषाः शस्त्राणि विविधानि च ।
उपाजह्रुः शरीरेषु हेमचित्राण्यनेकशः ॥ २३ ॥

पैदल योद्धाओंने भी अपने अङ्गोंमें सुवर्णजटित कवच तथा भाँति-भाँतिके अनेक अस्त्र-शस्त्र धारण कर लिये ॥२३॥

तदुत्सव इवोदग्रं सम्प्रहृष्टनरावृतम् ।
नगरं धार्तराष्ट्रस्य भारतासीत् समाकुलम् ॥ २४ ॥

जनमेजय ! दुर्योधनका वह हस्तिनापुर नगर मानो वहाँ कोई उत्सव हो रहा हो, इस प्रकार समृद्ध और हर्षोत्फुल्ल मनुष्योंसे भर गया था, इससे वहाँ बड़ी हलचल मच गयी थी ॥ २४ ॥

जनौघसलिलावर्तो रथनागाश्वमीनवान् ।
शङ्खदुन्दुभिनिर्घोषः कोशसंचयरत्नवान् ॥ २५ ॥
चित्राभरणवर्मोर्मिः शस्त्रनिर्मलफेनवान् ।
प्रासादमालाद्रिवृतो रथ्यापणमहाह्रदः ॥ २६ ॥
योधचन्द्रोदयोद्भूतः कुरुराजमहार्णवः ।
व्यदृश्यत तदा राजंश्चन्द्रोदय इवोदधिः ॥ २७ ॥

राजन् ! जैसे चन्द्रोदयकालमें समुद्र उत्ताल तरङ्गोंसे व्याप्त हो जाता है, उसी प्रकार कुरुराज दुर्योधनरूपी महासागर सैनिक-समुदायरूपी चन्द्रमाके उदयसे अत्यन्त उल्लसित दिखायी देने लगा । सब ओर घूमता हुआ जनसमुदाय ही वहाँ जलमें उठनेवाली भँवरोंके समान जान पड़ता था । रथ, हाथी और घोड़े उसमें मछलीके समान प्रतीत होते थे । शंख और दुन्दुभियोंकी ध्वनि ही उस कुरुराजरूपी समुद्रकी गर्जना थी । खजानोंका संग्रह ही रत्नराशिका प्रतिनिधित्व कर रहा था । योद्धाओंके विचित्र आभूषण और कवच ही उस समुद्रकी उठती हुई तरङ्गोंके समान जान पड़ते थे । चमकीले शस्त्र ही निर्मल फेन-से प्रतीत होते थे । महलोंकी पंक्तियाँ ही तटवर्ती पर्वत-सी जान पड़ती थीं । सड़कोंपर स्थित दूकानें ही मानो गुफाएँ थीं ॥ २५—२७ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि सैन्यनिर्याणपर्वणि दुर्योधनसैन्यसज्जकरणे त्रिपञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः ॥१५३॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत सैन्यनिर्याणपर्वमें 'दुर्योधनका अपनी सेनाको सुसज्जित करना' इस विषयसे सम्बन्ध रखनेवाला एक सौ तिरपनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥१५३॥

चतुष्पञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः

युधिष्ठिरका भगवान् श्रीकृष्णसे अपने समयोचित कर्तव्यके विषयमें पूछना, भगवान्‌का युद्धको ही कर्तव्य बताना तथा इस विषयमें युधिष्ठिरका संताप और अर्जुनद्वारा श्रीकृष्णके वचनोंका समर्थन

वैशम्पायन उवाच

वासुदेवस्य तद् वाक्यमनुस्मृत्य युधिष्ठिरः ।
पुनः पप्रच्छ वार्ष्णेयं कथं मन्दोऽब्रवीदिदम् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! भगवान् श्रीकृष्णके पूर्वोक्त कथनका स्मरण करके युधिष्ठिरने पुनः उनसे पूछा—'भगवन् ! मन्दबुद्धि दुर्योधनने क्यों ऐसी बात कही ? ॥ १ ॥

अस्मिन्नभ्यागते काले किं च नः क्षममच्युत ।
कथं च वर्तमाना वै स्वधर्मान्न च्यवेमहि ॥ २ ॥

'अच्युत ! इस वर्तमान समयमें हमारे लिये क्या करना उचित है ? हम कैसा बर्ताव करें ? जिससे अपने धर्मसे नीचे न गिरें ॥ २ ॥

दुर्योधनस्य कर्णस्य शकुनेः सौबलस्य च ।
वासुदेव मतज्ञोऽसि मम सभ्रातृकस्य च ॥ ३ ॥

'वासुदेव ! दुर्योधन, कर्ण और शकुनिके तथा भाइयों-सहित मेरे विचारोंको भी आप जानते हैं ॥ ३ ॥

विदुरस्यापि तद् वाक्यं श्रुतं भीष्मस्य चोभयोः ।
कुन्त्याश्च विपुलप्रज्ञ प्रज्ञा कार्त्स्न्येन ते श्रुता ॥ ४ ॥

'विदुरने और भीष्मजीने भी जो बातें कही हैं, उन्हें भी आपने सुना है । विशालबुद्धे ! माता कुन्तीका विचार भी आपने पूर्णरूपसे सुन लिया है ॥ ४ ॥

सर्वमेतदतिक्रम्य विचार्य च पुनः पुनः ।
क्षमं यन्नो महाबाहो तद् ब्रवीह्यविचारयन् ॥ ५ ॥

'महाबाहो ! इन सब विचारोंको लाँघकर स्वयं ही इस विषयपर बारंबार विचार करके हमारे लिये जो उचित हो, उसे निःसंकोच कहिये' ॥ ५ ॥

श्रुत्वैतद् धर्मराजस्य धर्मार्थसहितं वचः ।
मेघदुन्दुभिनिर्घोषः कृष्णो वाक्यमथाब्रवीत् ॥ ६ ॥

धर्मराजका यह धर्म और अर्थसे युक्त वचन सुनकर भगवान् श्रीकृष्णने मेघ और दुन्दुभिके समान गम्भीर स्वरमें यह बात कही ॥ ६ ॥

कृष्ण उवाच

उक्तवानस्मि यद् वाक्यं धर्मार्थसहितं हितम् ।
न तु तन्निकृतिप्रज्ञे कौरव्ये प्रतितिष्ठति ॥ ७ ॥

श्रीकृष्ण बोले—मैंने जो धर्म और अर्थसे युक्त हितकर बात कही है, वह छल-कपट करनेमें ही कुशल कुरुवंशी दुर्योधनके मनमें नहीं बैठती है ॥ ७ ॥

न च भीष्मस्य दुर्मेधाः शृणोति विदुरस्य वा ।
मम वा भाषितं किंचित् सर्वमेवातिवर्तते ॥ ८ ॥

खोटी बुद्धिवाला वह दुष्ट न भीष्मकी, न विदुरकी और न मेरी ही कोई बात सुनता है। वह सबकी सभी बातोंको लाँघ जाता है ॥ ८ ॥

नैष कामयते धर्मं नैष कामयते यशः ।
जितं स मन्यते सर्वं दुरात्मा कर्णमाश्रितः ॥ ९ ॥

दुरात्मा दुर्योधन कर्णका आश्रय लेकर सभी वस्तुओंको जीती हुई ही समझता है। इसीलिये न यह धर्मकी इच्छा रखता है और न यशकी ही कामना करता है ॥ ९ ॥

बन्धमाज्ञापयामास मम चापि सुयोधनः ।
न च तं लब्धवान् कामं दुरात्मा पापनिश्चयः ॥ १० ॥

पापपूर्ण निश्चयवाले उस दुरात्मा दुर्योधनने तो मुझे भी कैद कर लेनेकी आज्ञा दे दी थी; परंतु वह उस मनोरथको पूर्ण न कर सका ॥ १० ॥

न च भीष्मो न च द्रोणो युक्तं तत्राहतुर्वचः ।
सर्वे तमनुवर्तन्ते ऋते विदुरमच्युत ॥ ११ ॥

अच्युत ! वहाँ भीष्म तथा द्रोणाचार्य भी सदा उचित बात नहीं कहते हैं । विदुरको छोड़कर अन्य सब लोग दुर्योधनका ही अनुसरण कर लेते हैं ॥ ११ ॥

शकुनिः सौबलश्चैव कर्णदुःशासनावपि ।
त्वय्ययुक्तान्यभाषन्त मूढा मूढममर्षणम् ॥ १२ ॥

सुबलपुत्र शकुनि, कर्ण और दुःशासन—इन तीनों मूर्खोंने मूढ़ और असहिष्णु दुर्योधनके समीप आपके विषयमें अनेक अनुचित बातें कही थीं ॥ १२ ॥

किं च तेन मयोक्तेन यान्यभाषत कौरवः ।
संक्षेपेण दुरात्मासौ न युक्तं त्वयि वर्तते ॥ १३ ॥

उन लोगोंने जो-जो बातें कहीं, उन्हें यदि मैं पुनः यहाँ दोहराऊँ तो इससे क्या लाभ है ? थोड़ेमें इतना ही समझ लीजिये कि वह दुरात्मा कौरव आपके प्रति न्याययुक्त बर्ताव नहीं कर रहा है ॥ १३ ॥

पार्थिवेषु न सर्वेषु य इमे तव सैनिकाः ।
यत् पापं यन्नकल्याणं सर्वं तस्मिन् प्रतिष्ठितम् ॥१४॥

इन सब राजाओंमें, जो आपकी सेनामें स्थित हैं, जो पाप और अमङ्गलकारक भाव नहीं है, वह सब अकेले दुर्योधनमें विद्यमान है ॥ १४ ॥

न चापि वयमत्यर्थं परित्यागेन कर्हिचित् ।
कौरवैः शममिच्छामस्तत्र युद्धमनन्तरम् ॥ १५ ॥

हमलोग भी बहुत अधिक त्याग करके (सर्वस्व खोकर) कभी किसी भी दशामें कौरवोंके साथ संधिकी इच्छा नहीं रखते हैं। अतः इसके बाद हमारे लिये युद्ध ही करना उचित है ॥ १५ ॥

वैशम्पायन उवाच

तच्छ्रुत्वा पार्थिवाः सर्वे वासुदेवस्य भाषितम् ।
अब्रुवन्तो मुखं राज्ञः समुदैक्षन्त भारत ॥ १६ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—भरतनन्दन ! भगवान् श्रीकृष्णका यह कथन सुनकर सब राजा कुछ न बोलते हुए केवल महाराज युधिष्ठिरके मुँहकी ओर देखने लगे ॥ १६ ॥

युधिष्ठिरस्त्वभिप्रायमभिलक्ष्य महीक्षिताम् ।
योगमाज्ञापयामास भीमार्जुनयमैः सह ॥ १७ ॥

युधिष्ठिरने राजाओंका अभिप्राय समझकर भीम, अर्जुन तथा नकुल-सहदेवके साथ उन्हें युद्धके लिये तैयार हो जानेकी आज्ञा दे दी ॥ १७ ॥

ततः किलकिलाभूतमनीकं पाण्डवस्य ह ।
आज्ञापिते तदा योगे समहृष्यन्त सैनिकाः ॥ १८ ॥

उस समय युद्धके लिये तैयार होनेकी आज्ञा मिलते ही समस्त योद्धा हर्षसे खिल उठे, फिर तो पाण्डवोंके सैनिक किलकारियाँ करने लगे ॥ १८ ॥

अवध्यानां वधं पश्यन् धर्मराजो युधिष्ठिरः ।
निःश्वसन् भीमसेनं च विजयं चेदमब्रवीत् ॥ १९ ॥

धर्मराज युधिष्ठिर यह देखकर कि युद्ध छिड़नेपर अवध्य पुरुषोंका भी वध करना पड़ेगा, खेदसे लम्बी साँसें खींचते हुए भीमसेन और अर्जुनसे इस प्रकार बोले—॥ १९ ॥

यदर्थं वनवासश्च प्राप्तं दुःखं च यन्मया ।
सोऽयमस्मानुपैत्येव परोऽनर्थः प्रयत्नतः ॥ २० ॥

'जिससे बचनेके लिये मैंने वनवासका कष्ट स्वीकार किया और नाना प्रकारके दुःख सहन किये, वही महान् अनर्थ मेरे प्रयत्नसे भी टल न सका। वह हमलोगोंपर आना ही चाहता है ॥ २० ॥

तस्मिन् यत्नः कृतोऽस्माभिः स नो हीनः प्रयत्नतः ।
अकृते तु प्रयत्नेऽस्मानुपावृत्तः कलिर्महान् ॥ २१ ॥

'यद्यपि उसे टालनेके लिये हमारी ओरसे पूरा प्रयत्न किया गया, किंतु हमारे प्रयाससे उसका निवारण नहीं हो सका और जिसके लिये कोई प्रयत्न नहीं किया गया था, वह महान् कलह स्वतः हमारे ऊपर आ गया ॥ २१ ॥

कथं ह्यवध्यैः संग्रामः कार्यः सह भविष्यति ।
कथं हत्वा गुरून् वृद्धान् विजयो नो भविष्यति ॥ २२ ॥

'जो लोग मारने योग्य नहीं हैं, उनके साथ युद्ध करना कैसे उचित होगा ? वृद्ध गुरुजनोंका वध करके हमें विजय किस प्रकार प्राप्त होगी ?' ॥ २२ ॥

तच्छ्रुत्वा धर्मराजस्य सव्यसाची परंतपः ।
यदुक्तं वासुदेवेन श्रावयामास तद् वचः ॥ २३ ॥

धर्मराजकी यह बात सुनकर शत्रुओंको संताप देनेवाले सव्यसाची अर्जुनने भगवान् श्रीकृष्णकी कही हुई बातोंको उनसे कह सुनाया ॥ २३ ॥

उक्तवान् देवकीपुत्रः कुन्त्याश्च विदुरस्य च ।
वचनं तत् त्वया राजन् निखिलेनावधारितम् ॥ २४ ॥

वे कहने लगे—'राजन् ! देवकीनन्दन श्रीकृष्णने माता कुन्ती तथा विदुरजीके कहे हुए जो वचन आपको सुनाये थे, उनपर आपने पूर्णरूपसे विचार किया होगा ॥ २४ ॥

न च तौ वक्ष्यतोऽधर्ममिति मे नैष्ठिकी मतिः ।
नापि युक्तं च कौन्तेय निवर्तितुमयुध्यतः ॥ २५ ॥

'मेरा तो यह निश्चित मत है कि वे दोनों अधर्मकी बात नहीं कहेंगे । कुन्तीनन्दन ! अब हमारे लिये युद्धसे निवृत्त हो जाना भी उचित नहीं है' ॥ २५ ॥

तच्छ्रुत्वा वासुदेवोऽपि सव्यसाचिवचस्तदा ।
स्मयमानोऽब्रवीद् वाक्यं पार्थमेवमिति ब्रुवन् ॥ २६॥

अर्जुनका यह वचन सुनकर भगवान् श्रीकृष्ण भी युधिष्ठिरसे मुसकराते हुए बोले—'हाँ, अर्जुन ठीक कहते हैं' ॥

ततस्ते धृतसंकल्पा युद्धाय सहसैनिकाः ।
पाण्डवेया महाराज तां रात्रिं सुखमावसन् ॥ २७ ॥

महाराज जनमेजय ! तदनन्तर योद्धाओंसहित पाण्डव युद्धके लिये दृढ़ निश्चय करके उस रातमें वहाँ सुखपूर्वक रहे ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि सैन्यनिर्याणपर्वणि युधिष्ठिरार्जुनसंवादे चतुष्पञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १५४॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत सैन्यनिर्याणपर्वमें युधिष्ठिर-अर्जुन-संवादविषयक एक सौ चौवनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १५४॥

पञ्चपञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः

दुर्योधनके द्वारा सेनाओंका विभाजन और पृथक्-पृथक् अक्षौहिणियोंके सेनापतियोंका अभिषेक

वैशम्पायन उवाच

व्युष्टायां वै रजन्यां हि राजा दुर्योधनस्ततः ।
व्यभजत् तान्यनीकानि दश चैकं च भारत ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! रात बीतनेपर जब सबेरा हुआ, तब राजा दुर्योधनने अपनी ग्यारह अक्षौहिणी सेनाओंका विभाग किया ॥ १ ॥

नरहस्तिरथाश्वानां सारं मध्यं च फल्गु च ।
सर्वेष्वेतेष्वनीकेषु संदिदेश नराधिपः ॥ २ ॥

राजा दुर्योधनने पैदल, हाथी, रथ और घुड़सवार—इन सभी सेनाओंमेंसे उत्तम, मध्यम और निकृष्ट श्रेणियोंको पृथक्-पृथक् करके उन्हें यथास्थान नियुक्त कर दिया ॥ २ ॥

सानुकर्षाः सतूणीराः सवरूथाः सतोमराः ।
सोपासङ्गाः सशक्तीकाः सनिषङ्गाः सहर्ष्टयः॥ ३ ॥
सध्वजाः सपताकाश्च सशरासनतोमराः ।
रज्जुभिश्च विचित्राभिः सपाशाः सपरिच्छदाः॥ ४ ॥
सकचग्रहविक्षेपाः सतैलगुडवालुकाः ।
साशीविषघटाः सर्वे ससर्जरसपांसवः ॥ ५ ॥
सघण्टफलकाः सर्वे सायोगुडजलोपलाः ।
सशालभिन्दिपालाश्च समधूच्छिष्टमुद्गराः ॥ ६ ॥
सकाण्डदण्डकाः सर्वे ससीरविषतोमराः ।
सशूर्पपिटकाः सर्वे सदात्राङ्कुशतोमराः ॥ ७ ॥
सकीलकवचाः सर्वे वासीवृक्षादनान्विताः ।
व्याघ्रचर्मपरीवारा द्वीपिचर्मावृताश्च ते ॥ ८ ॥
सहर्ष्टयः सशृङ्गाश्च सप्रासविविधायुधाः ।
सकुठाराः सकुद्दालाः सतैलक्षौमसर्पिषः ॥ ९ ॥

वे सब वीर अनुकर्ष (रथकी मरम्मतके लिये उसके नीचे बँधा हुआ काष्ठ), तरकस, वरूथ (रथको ढकनेका बाघ आदिका चमड़ा), उपासङ्ग (जिन्हें हाथी या घोड़े उठा सकें, ऐसे तरकस), तोमर, शक्ति, निषङ्ग (पैदलों-द्वारा ले जाये जानेवाले तरकस), ऋष्टि (एक प्रकारकी लोहेकी लाठी), ध्वजा, पताका, धनुष-बाण, तरह-तरहकी रस्सियाँ, पाश, बिस्तर, कचग्रह-विक्षेप (बाल पकड़कर गिरानेका यन्त्र); तेल, गुड़, बालू, विषधर सर्पोंके घड़े, रालका चूरा, घण्टफलक (घुँघुरुओंवाली ढाल), खड्गादि लोहेके शस्त्र, औंटा हुआ गुड़का पानी, ढेले, साल, भिन्दि-पाल (गोफियाँ), मोम चुपड़े हुए मुद्गर, काँटीदार लाठियाँ, हल, विष लगे हुए बाण, सूप तथा टोकरियाँ, दरात, अङ्कुश, तोमर, काँटेदार कवच, बसूले, आरे आदि, बाघ और गैंड़ेके चमड़ेसे मढ़े हुए रथ, ऋष्टि, सींग, प्रास, भाँति-भाँतिके आयुध, कुठार, कुदाल, तेलमें भीगे हुए रेशमी वस्त्र तथा घी लिये हुए थे ॥ ३–९ ॥

रुक्मजालप्रतिच्छन्ना नानामणिविभूषिताः ।
चित्रानीकाः सुवपुषो ज्वलिता इव पावकाः ॥ १० ॥

वे सभी सैनिक सोनेके जालीदार कवच धारण किये नाना प्रकारके मणिमय आभूषणोंसे विभूषित हो समस्त सेनाको ही विचित्र शोभासे सम्पन्न करते हुए अपने सुन्दर शरीरसे प्रज्वलित अग्निके समान प्रकाशित हो रहे थे ॥ १० ॥

तथा कवचिनः शूराः शस्त्रेषु कृतनिश्चयाः ।
कुलीना हययोनिज्ञाः सारथ्ये विनिवेशिताः ॥ ११ ॥

इसी प्रकार जो शस्त्र-विद्याका निश्चित ज्ञान रखनेवाले, कुलीन तथा घोड़ोंकी नस्लको पहचाननेवाले थे, वे कवचधारी शूरवीर ही सारथिके कामपर नियुक्त किये गये थे ॥ ११ ॥

बद्धारिष्टा बद्धकक्षा बद्धध्वजपताकिनः ।
बद्धाभरणनिर्यूहा बद्धचर्मासिपट्टिशाः ॥ १२ ॥

उस सेनाके रथोंमें अमङ्गल-निवारणके लिये यन्त्र और ओषधियाँ बाँधी गयी थीं । वे रस्सियोंसे खूब कसे गये थे । उन रथोंपर बँधी हुई ध्वजा-पताकाएँ फहरा रही थीं । उनके ऊपर छोटी-छोटी घंटियाँ बँधी थीं और कँगूरे जोड़े गये थे । उन सबमें ढाल-तलवार और पट्टिश आबद्ध थे ॥ १२॥

चतुर्युजो रथाः सर्वे सर्वे चोत्तमवाजिनः ।
सप्रासऋष्टिकाः सर्वे सर्वे शतशरासनाः ॥ १३ ॥

उन सभी रथोंमें चार-चार घोड़े जुते हुए थे, वे सभी घोड़े अच्छी जातिके थे और सम्पूर्ण रथोंमें प्रास, ऋष्टि एवं सौ-सौ धनुष रक्खे गये थे ॥ १३ ॥

धुर्ययोर्हययोरेकस्तथान्यौ पार्ष्णिसारथी ।
तौ चापि रथिनां श्रेष्ठौ रथी च हयवित् तथा ॥ १४ ॥
नगराणीव गुप्तानि दुराधर्षाणि शत्रुभिः ।
आसन् रथसहस्राणि हेममालीनि सर्वशः ॥ १५ ॥

प्रत्येक रथके दो-दो घोड़ोंपर एक-एक रक्षक नियुक्त था, एक-एक रथके लिये दो चक्ररक्षक नियत किये गये थे। वे दोनों ही रथियोंमें श्रेष्ठ थे तथा रथी भी अश्वसंचालनकी कलामें निपुण थे । सब ओर सुवर्णमालाओंसे अलंकृत हजारों रथ शोभा पाते थे । शत्रुओंके लिये उनका भेदन करना अत्यन्त कठिन था । वे सब-के-सब नगरोंकी भाँति सुरक्षित थे ॥ १४-१५ ॥

यथा रथास्तथा नागा बद्धकक्षाः स्वलंकृताः।
बभूवुः सप्तपुरुषा रत्नवन्त इवाद्रयः ॥ १६ ॥

जिस प्रकार रथ सजाये गये थे, उसी प्रकार हाथियोंको भी स्वर्णमालाओंसे सुसज्जित किया गया था । उन सबको रस्सोंसे कसा गया था । उनपर सात-सात पुरुष बैठे हुए थे, जिससे वे हाथी रत्नयुक्त पर्वतोंके समान जान पड़ते थे ॥१६॥

द्वावङ्कुशधरौ तत्र द्वावुत्तमधनुर्धरौ ।
द्वौ वरासिधरौ राजन्नेकः शक्तिपिनाकधृक् ॥ १७ ॥

राजन्! उनमेंसे दो पुरुष अङ्कुश लेकर महावतका काम करते थे, दो उत्तम धनुर्धर योद्धा थे, दो पुरुष अच्छी तलवारें लिये रहते थे और एक पुरुष शक्ति तथा त्रिशूल धारण करता था ॥

गजैर्मत्तैः समाकीर्णं सर्वमायुधकोशकैः ।
तद् बभूव बलं राजन् कौरव्यस्य महात्मनः ॥ १८ ॥

राजन्! महामना दुर्योधनकी वह सारी सेना ही अस्त्र-शस्त्रोंके भण्डारसे युक्त मदमत्त गजराजोंसे व्याप्त हो रही थी ॥

आमुक्तकवचैर्युक्तैः सपताकैः स्वलङ्कृतैः ।
सादिभिश्चोपपन्नास्तु तथा चायुतशो हयाः ॥ १९ ॥

इसी प्रकार कवचधारी, युद्धके लिये उद्यत, आभूषणोंसे विभूषित तथा पताकाधारी सवारोंसे युक्त हजारों-लाखों घोड़े उस सेनामें मौजूद थे ॥ १९ ॥

असंग्राहाः सुसम्पन्ना हेमभाण्डपरिच्छदाः ।
अनेकशतसाहस्राः सर्वे सादिवशे स्थिताः ॥ २० ॥

वे घोड़े उछल-कूद मचाने आदि दोषोंसे रहित होनेके कारण सदा अपने सवारोंके वशमें रहते थे । उन्हें अच्छी शिक्षा मिली थी । वे सुनहरे साजोंसे सुसज्जित थे । उनकी संख्या कई लाख थी ॥ २० ॥

नानारूपविकाराश्च नानाकवचशस्त्रिणः ।
पदातिनो नरास्तत्र बभूवुर्हेममालिनः ॥ २१ ॥

उस सेनामें जो पैदल मनुष्य थे, वे भी सोनेके हारोंसे अलंकृत थे । उनके रूप-रंग, कवच और अस्त्र-शस्त्र नाना प्रकारके दिखायी देते थे ॥ २१ ॥

रथस्यासन् दश गजा गजस्य दश वाजिनः ।
नरा दश हयस्यासन् पादरक्षाः समन्ततः ॥ २२ ॥

एक-एक रथके पीछे दस-दस हाथी, एक-एक हाथीके पीछे दस-दस घोड़े और एक-एक घोड़ेके पीछे दस-दस पैदल सैनिक सब ओर पादरक्षक नियुक्त किये गये थे ॥

रथस्य नागाः पञ्चाशन्नागस्यासन् शतं हयाः ।
हयस्य पुरुषाः सप्त भिन्नसंधानकारिणः ॥ २३ ॥

एक-एक रथके पीछे पचास-पचास हाथी, एक-एक हाथीके पीछे सौ-सौ घोड़े और एक-एक घोड़ेके साथ सात-सात पैदल सैनिक इस उद्देश्यसे संगठित किये गये थे कि वे समूहसे बिछुड़ी हुई दो सैनिक टुकड़ियोंको परस्पर मिला दें ॥

सेना पञ्चशतं नागा रथास्तावन्त एव च ।
दश सेना च पृतना पृतना दशवाहिनी ॥ २४ ॥

पाँच सौ हाथियों और पाँच सौ रथोंकी एक सेना होती है । दस सेनाओंकी एक पृतना और दस पृतनाओंकी एक वाहिनी होती है ॥ २४ ॥

सेना च वाहिनी चैव पृतना ध्वजिनी चमूः ।
अक्षौहिणीति पर्यायैर्निरुक्ता च वरूथिनी ॥ २५ ॥

इसके सिवा सेना, वाहिनी, पृतना, ध्वजिनी, चमू, वरूथिनी और अक्षौहिणी—इन पर्यायवाची (समानार्थक) नामोंद्वारा भी सेनाका वर्णन किया गया है ॥ २५ ॥

एवं व्यूढान्यनीकानि कौरवेयेण धीमता ।
अक्षौहिण्यो दशैका च संख्याताः सप्त चैव ह ॥२६॥

इस प्रकार बुद्धिमान् दुर्योधनने अपनी सेनाओंको व्यूहरचनापूर्वक संगठित किया था । कुरुक्षेत्रमें ग्यारह और सात मिलकर अठारह अक्षौहिणी सेनाएँ एकत्र हुई थीं ॥

अक्षौहिण्यस्तु सप्तैव पाण्डवानामभूद् बलम् ।
अक्षौहिण्यो दशैका च कौरवाणामभूद् बलम् ॥ २७॥

पाण्डवोंकी सेना केवल सात अक्षौहिणी थी और कौरवोंके पक्षमें ग्यारह अक्षौहिणी सेनाएँ एकत्र हो गयी थीं ॥

नराणां पञ्चपञ्चाशदेषा पत्तिर्विधीयते ।
सेनामुखं च तिस्रस्ता गुल्म इत्यभिशब्दितम् ॥ २८ ॥

पचपन पैदलोंकी एक टुकड़ीको पत्ति कहते हैं । तीन पत्तियाँ मिलकर एक सेनामुख कहलाती हैं । सेनामुखका ही दूसरा नाम गुल्म है ॥ २८ ॥

त्रयो गुल्मा गणस्त्वासीद् गणास्त्वयुतशोऽभवन् ।
दुर्योधनस्य सेनासु योत्स्यमानाः प्रहारिणः ॥ २९ ॥

तीन गुल्मोंका एक गण होता है । दुर्योधनकी सेनाओंमें युद्ध करनेवाले पैदल योद्धाओंके ऐसे-ऐसे गण दस हजारसे भी अधिक थे ॥ २९ ॥

तत्र दुर्योधनो राजा शूरान् बुद्धिमतो नरान् ।
प्रसमीक्ष्य महाबाहुश्चक्रे सेनापतींस्तदा ॥ ३० ॥

उस समय वहाँ महाबाहु राजा दुर्योधनने अच्छी तरह सोच-विचारकर बुद्धिमान् एवं शूरवीर पुरुषोंको सेनापति बनाया ॥

पृथगक्षौहिणीनां च प्रणेतॄन् नरसत्तमान् ।
विधिवत् पूर्वमानीय पार्थिवानभ्यषेचयत् ॥ ३१ ॥
कृपं द्रोणं च शल्यं च सैन्धवं च जयद्रथम् ।
सुदक्षिणं च काम्बोजं कृतवर्माणमेव च ॥ ३२ ॥
द्रोणपुत्रं च कर्णं च भूरिश्रवसमेव च ।
शकुनिं सौबलं चैव बाह्लीकं च महाबलम् ॥ ३३ ॥

कृपाचार्य, द्रोणाचार्य और अश्वत्थामा—इन श्रेष्ठ पुरुषोंको एवं मद्रराज शल्य, सिंधुराज जयद्रथ, कम्बोजराज सुदक्षिण, कृतवर्मा, कर्ण, भूरिश्रवा, सुबलपुत्र शकुनि तथा महाबली बाह्लीक—इन राजाओंको पहले अपने सामने बुलाकर उन सबको पृथक्-पृथक् एक-एक अक्षौहिणी सेनाका नायक निश्चित करके विधिपूर्वक उनका अभिषेक किया ॥३१—३३॥

दिवसे दिवसे तेषां प्रतिवेलं च भारत ।
चक्रे स विविधाः पूजाः प्रत्यक्षं च पुनः पुनः ॥ ३४ ॥

भारत ! दुर्योधन प्रतिदिन और प्रत्येक वेलामें उन सेनापतियोंका बारंबार विविध प्रकारसे प्रत्यक्ष पूजन करता था ॥

तथा विनियताः सर्वे ये च तेषां पदानुगाः ।
बभूवुः सैनिका राज्ञां प्रियं राज्ञश्चिकीर्षवः ॥ ३५ ॥

उनके जो अनुयायी थे, उनको भी उसी प्रकार यथायोग्य स्थानोंपर नियुक्त कर दिया गया । वे राजाओंके सैनिक राजा दुर्योधनका प्रिय करनेकी इच्छा रखकर अपने-अपने कार्यमें तत्पर हो गये ॥ ३५ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि सैन्यनिर्याणपर्वणि दुर्योधनसैन्यविभागे पञ्चपञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः ॥१५५॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत सैन्यनिर्याणपर्वमें दुर्योधनकी सेनाका विभागविषयक एक सौ पचपनवाँ अध्याय पूरा हुआ॥१५५

षट्पञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः

दुर्योधनके द्वारा भीष्मजीका प्रधान सेनापतिके पदपर अभिषेक और कुरुक्षेत्रमें पहुँचकर शिविर-निर्माण

वैशम्पायन उवाच

ततः शान्तनवं भीष्मं प्राञ्जलिर्धृतराष्ट्रजः ।
सह सर्वैर्महीपालैरिदं वचनमब्रवीत् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तदनन्तर धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधन समस्त राजाओंके साथ शान्तनुनन्दन भीष्मके पास जा हाथ जोड़कर इस प्रकार बोला—॥ १ ॥

ऋते सेनाप्रणेतारं पृतना सुमहत्यपि ।
दीर्यते युद्धमासाद्य पिपीलिकपुटं यथा ॥ २ ॥

'पितामह ! कितनी ही बड़ी सेना क्यों न हो ? किसी योग्य सेनापतिके बिना युद्धमें जाकर चींटियोंकी पंक्तिके समान छिन्न-भिन्न हो जाती है ॥ २ ॥

न हि जातु द्वयोर्बुद्धिः समा भवति कर्हिचित् ।
शौर्यं च बलनेतॄणां स्पर्धते च परस्परम् ॥ ३ ॥

'दो पुरुषोंकी बुद्धि कभी समान नहीं होती । यदि दोनों ओर योग्य सेनापति हों तो उनका शौर्य एक-दूसरेकी होड़में बढ़ता है ॥ ३ ॥

श्रूयते च महाप्राज्ञ हैहयानमितौजसः ।
अभ्ययुर्ब्राह्मणाः सर्वे समुच्छ्रितकुशध्वजाः ॥ ४ ॥

'महामते ! सुना जाता है कि समस्त ब्राह्मणोंने अपनी कुशमयी ध्वजा फहराते हुए पहले कभी अमिततेजस्वी हैहयवंशके क्षत्रियोंपर आक्रमण किया था ॥ ४ ॥

तानभ्ययुस्तदा वैश्याः शूद्राश्चैव पितामह ।
एकतस्तु त्रयो वर्णा एकतः क्षत्रियर्षभाः ॥ ५ ॥

'पितामह ! उस समय ब्राह्मणोंके साथ वैश्यों और शूद्रोंने भी उनपर धावा किया था। एक ओर तीनों वर्णके लोग थे और दूसरी ओर चुने हुए श्रेष्ठ क्षत्रिय ॥ ५ ॥

ततो युद्धेष्वभज्यन्त त्रयो वर्णाः पुनः पुनः ।
क्षत्रियाश्च जयन्त्येव बहुलं चैकतो बलम् ॥ ६ ॥

'तदनन्तर जब युद्ध आरम्भ हुआ, तब तीनों वर्णोंके लोग बारंबार पीठ दिखाकर भागने लगे। यद्यपि इनकी सेना अधिक थी तो भी क्षत्रियोंने एकमत होकर उनपर विजय पायी ॥ ६ ॥

ततस्ते क्षत्रियानेव पप्रच्छुर्द्विजसत्तमाः ।
तेभ्यः शशंसुर्धर्मज्ञा याथातथ्यं पितामह ॥ ७ ॥

'पितामह ! तब उन श्रेष्ठ ब्राह्मणोंने क्षत्रियोंसे ही पूछा—हमारी पराजयका क्या कारण है? उस समय धर्मज्ञ क्षत्रियोंने उनसे यथार्थ कारण बता दिया ॥ ७ ॥

वयमेकस्य शृण्वाना महाबुद्धिमतो रणे ।
भवन्तस्तु पृथक् सर्वे स्वबुद्धिवशवर्तिनः ॥ ८ ॥

'वे बोले—हमलोग एक परम बुद्धिमान् पुरुषको सेनापति बनाकर युद्धमें उसीका आदेश सुनते और मानते हैं। परंतु आप सब लोग पृथक्-पृथक् अपनी ही बुद्धिके अधीन हो मनमाना बर्ताव करते हैं ॥ ८ ॥

ततस्ते ब्राह्मणाश्चक्रुरेकं सेनापतिं द्विजम् ।
नये सुकुशलं शूरमजयन् क्षत्रियांस्ततः ॥ ९ ॥

'यह सुनकर उन ब्राह्मणोंने एक शूरवीर एवं नीतिनिपुण ब्राह्मणको सेनापति बनाया और क्षत्रियोंपर विजय प्राप्त की॥

एवं ये कुशलं शूरं हितेप्सितमकल्मषम् ।
सेनापतिं प्रकुर्वन्ति ते जयन्ति रणे रिपून् ॥ १० ॥

'इस प्रकार जो लोग किसी हितैषी, पापरहित तथा युद्धकुशल शूरवीरको सेनापति बना लेते हैं, वे संग्राममें शत्रुओंपर अवश्य विजय पाते हैं ॥ १० ॥

भवानुशनसा तुल्यो हितैषी च सदा मम ।
असंहार्यः स्थितो धर्मे स नः सेनापतिर्भव ॥ ११ ॥

'आप सदा मेरा हित चाहनेवाले तथा नीतिमें शुक्राचार्यके समान हैं। आपको आपकी इच्छाके बिना कोई मार नहीं सकता। आप सदा धर्ममें ही स्थित रहते हैं, अतः हमारे प्रधान सेनापति हो जाइये ॥ ११ ॥

रश्मिवतामिवादित्यो वीरुधामिव चन्द्रमाः ।
कुबेर इव यक्षाणां देवानामिव वासवः ॥ १२ ॥
पर्वतानां यथा मेरुः सुपर्णः पक्षिणां यथा ।
कुमार इव देवानां वसूनामिव हव्यवाट् ॥ १३ ॥

'जैसे किरणोंवाले तेजस्वी पदार्थोंके सूर्य, वृक्ष और ओषधियोंके चन्द्रमा, यक्षोंके कुबेर, देवताओंके इन्द्र, पर्वतोंके मेरु, पक्षियोंके गरुड़, समस्त देवयोनियोंके कार्तिकेय और वसुओंके अग्निदेव अधिपति एवं संरक्षक हैं (उसी प्रकार आप हमारी समस्त सेनाओंके अधिनायक और संरक्षक हों) ॥ १२-१३ ॥

भवता हि वयं गुप्ताः शक्रेणेव दिवौकसः ।
अनाधृष्या भविष्यामस्त्रिदशानामपि ध्रुवम् ॥ १४ ॥

'इन्द्रके द्वारा सुरक्षित देवताओंकी भाँति आपके संरक्षणमें रहकर हमलोग निश्चय ही देवगणोंके लिये भी अजेय हो जायँगे॥

प्रयातु नो भवानग्रे देवानामिव पावकिः ।
वयं त्वामनुयास्यामः सौरभेया इवर्षभम् ॥ १५ ॥

'जैसे कार्तिकेय देवताओंके आगे-आगे चलते हैं, वैसे ही आप हमारे अगुआ हों। जैसे बछड़े साँड़के पीछे चलते हैं, उसी प्रकार हम आपका अनुसरण करेंगे' ॥ १५ ॥

भीष्म उवाच

एवमेतन्महाबाहो यथा वदसि भारत ।
यथैव हि भवन्तो मे तथैव मम पाण्डवाः ॥ १६ ॥

भीष्मने कहा—भारत ! तुम जैसा कहते हो वह ठीक है, पर मेरे लिये जैसे तुम हो, वैसे ही पाण्डव हैं ॥ १६ ॥

अपि चैव मया श्रेयो वाच्यं तेषां नराधिप ।
संयोद्धव्यं तवार्थाय यथा मे समयः कृतः ॥ १७ ॥

नरेश्वर ! मैं पाण्डवोंको उनके पूछनेपर अवश्य ही हितकी बात बताऊँगा और तुम्हारे लिये युद्ध करूँगा। ऐसी ही मैंने प्रतिज्ञा की है ॥ १७ ॥

न तु पश्यामि योद्धारमात्मनः सदृशं भुवि ।
ऋते तस्मान्नरव्याघ्रात् कुन्तीपुत्राद् धनंजयात्॥ १८ ॥

मैं इस भूतलपर नरश्रेष्ठ कुन्तीपुत्र अर्जुनके सिवा दूसरे किसी योद्धाको अपने समान नहीं देखता हूँ ॥ १८ ॥

स हि वेद महाबुद्धिर्दिव्यान्यस्त्राण्यनेकशः ।
न तु मां विवृतो युद्धे जातु युध्येत पाण्डवः ॥ १९ ॥

महाबुद्धिमान् पाण्डुकुमार अर्जुन अनेक दिव्यास्त्रोंका ज्ञान रखते हैं; परंतु वे मेरे सामने आकर प्रकट रूपमें कभी युद्ध नहीं कर सकते ॥ १९ ॥

अहं चैव क्षणेनैव निर्मनुष्यमिदं जगत् ।
कुर्यां शस्त्रबलेनैव ससुरासुरराक्षसम् ॥ २० ॥

अर्जुनकी ही भाँति मैं भी यदि चाहूँ तो अपने शस्त्रोंके बलसे देवता, मनुष्य, असुर तथा राक्षसोंसहित इस सम्पूर्ण जगत्‌को क्षणभरमें निर्जीव बना दूँ ॥ २० ॥

न त्वेवोत्सादनीया मे पाण्डोः पुत्रा जनाधिप ।
तस्माद् योधान् हनिष्यामि प्रयोगेणायुतं सदा ॥ २१ ॥
एवमेषां करिष्यामि निधनं कुरुनन्दन ।
न चेत् ते मां हनिष्यन्ति पूर्वमेव समागमे ॥ २२ ॥

परंतु जनेश्वर ! मैं पाण्डुके पुत्रोंकी किसी तरह हत्या

नहीं करूँगा । कुरुनन्दन ! यदि पाण्डव इस युद्धमें मुझे पहले ही नहीं मार डालेंगे तो मैं अपने अस्त्रोंके प्रयोगद्वारा प्रतिदिन उनके पक्षके दस हजार योद्धाओंका वध करता रहूँगा, मैं इस प्रकार इनकी सेनाका संहार करूँगा ॥ २१-२२ ॥

सेनापतिस्त्वहं राजन् समये नापरेण ते ।
भविष्यामि यथाकामं तन्मे श्रोतुमिहार्हसि ॥ २३ ॥

राजन् ! मैं अपनी इच्छाके अनुसार एक शर्तपर तुम्हारा सेनापति होऊँगा । उसके बदले दूसरी शर्त नहीं मानूँगा । उस शर्तको तुम मुझसे यहाँ सुन लो ॥ २३ ॥

कर्णो वा युध्यतां पूर्वमहं वा पृथिवीपते ।
स्पर्धते हि सदात्यर्थं सूतपुत्रो मया रणे ॥ २४ ॥

पृथ्वीपते ! या तो पहले कर्ण ही युद्ध कर ले या मैं ही युद्ध करूँ; क्योंकि यह सूतपुत्र सदा युद्धमें मुझसे अत्यन्त स्पर्धा रखता है ॥ २४ ॥

कर्ण उवाच

नाहं जीवति गाङ्गेये राजन् योत्स्ये कथंचन ।
हते भीष्मे तु योत्स्यामि सह गाण्डीवधन्वना ॥ २५ ॥

कर्ण बोला—राजन् ! मैं गङ्गानन्दन भीष्मके जीते-जी किसी प्रकार युद्ध नहीं करूँगा । इनके मारे जानेपर ही गाण्डीवधारी अर्जुनके साथ लडूँगा ॥ २५ ॥

वैशम्पायन उवाच

ततः सेनापतिं चक्रे विधिवद् भूरिदक्षिणम् ।
धृतराष्ट्रात्मजो भीष्मं सोऽभिषिक्तो व्यरोचत ॥ २६ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तदनन्तर धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधनने प्रचुर दक्षिणा देनेवाले भीष्मजीका प्रधान सेनापतिके पदपर विधिपूर्वक अभिषेक किया ।



अभिषेक हो जानेपर उनकी बड़ी शोभा हुई ॥ २६ ॥

ततो भेरीश्च शङ्खांश्च शतशोऽथ सहस्रशः ।
वादयामासुरव्यग्रा वादका राजशासनात् ॥ २७ ॥

तदनन्तर बाजा बजानेवालोंने राजाकी आज्ञासे निर्भय होकर सैकड़ों और हजारों भेरियों तथा शंखोंको बजाया ॥

सिंहनादाश्च विविधा वाहनानां च निःस्वनाः ।
प्रादुरासन्ननभ्रे च वर्षं रुधिरकर्दमम् ॥ २८ ॥

उस समय वीरोंके सिंहनाद तथा वाहनोंके नाना प्रकारके शब्द सब ओर गूँज उठे । बिना बादलके ही आकाशसे रक्तकी वर्षा होने लगी, जिसकी कीच जम गयी ॥ २८ ॥

निर्घाताः पृथिवीकम्पा गजबृंहितनिःस्वनाः ।
आसंश्च सर्वयोधानां पातयन्तो मनांस्युत ॥ २९ ॥

हाथियोंके चिग्घाड़नेके साथ ही बिजलीकी गड़गड़ाहटके समान भयंकर शब्द होने लगे । धरती डोलने लगी । इन सब उत्पातोंने प्रकट होकर समस्त योद्धाओंके मानसिक उत्साहको दबा दिया ॥ २९ ॥

वाचश्चाप्यशरीरिण्यो दिवश्चोल्काः प्रपेदिरे ।
शिवाश्च भयवेदिन्यो नेदुर्दीप्ततरा भृशम् ॥ ३० ॥

अशुभ आकाशवाणी सुनायी देने लगी, आकाशसे उल्काएँ गिरने लगीं, भयकी सूचना देनेवाली सियारिनियाँ जोर-जोरसे अमङ्गलजनक शब्द करने लगीं ॥ ३० ॥

सैनापत्ये यदा राजा गाङ्गेयमभिषिक्तवान् ।
तदैतान्युग्ररूपाणि बभूवुः शतशो नृप ॥ ३१ ॥

नरेश्वर ! राजा दुर्योधनने जब गङ्गानन्दन भीष्मको सेनापतिके पदपर अभिषिक्त किया, उसी समय ये सैकड़ों भयानक उत्पात प्रकट हुए ॥ ३१ ॥

ततः सेनापतिं कृत्वा भीष्मं परबलार्दनम् ।
वाचयित्वा द्विजश्रेष्ठान् गोभिर्निष्कैश्च भूरिशः ॥ ३२ ॥
वर्धमानो जयाशीर्भिर्निर्ययौ सैनिकैर्वृतः ।
आपगेयं पुरस्कृत्य भ्रातृभिः सहितस्तदा ॥ ३३ ॥
स्कन्धावारेण महता कुरुक्षेत्रं जगाम ह ॥ ३४ ॥

इस प्रकार शत्रुसेनाको पीड़ित करनेवाले भीष्मको सेनापति बनाकर दुर्योधनने श्रेष्ठ ब्राह्मणोंसे स्वस्तिवाचन कराया और उन्हें गौओं तथा सुवर्णमुद्राओंकी भूरि-भूरि दक्षिणाएँ दीं । उस समय ब्राह्मणोंने विजयसूचक आशीर्वादोंद्वारा राजाका अभ्युदय मनाया और वह सैनिकोंसे घिरकर भीष्मजीको आगे करके भाइयोंके साथ हस्तिनापुरसे बाहर निकला तथा विशाल तम्बू-शामियानोंके साथ कुरुक्षेत्रको गया ३२—३४

परिक्रम्य कुरुक्षेत्रं कर्णेन सह कौरवः ।
शिबिरं मापयामास समे देशे जनाधिप ॥ ३५ ॥

जनमेजय ! कर्णके साथ कुरुक्षेत्रमें जाकर दुर्योधनने

एक समतल प्रदेशमें शिविरके लिये भूमिको नपवाया ॥ ३५ ॥

मधुरानूषरे देशे प्रभूतयवसेन्धने ।
यथैव हास्तिनपुरं तद्वच्छिबिरमाबभौ ॥ ३६ ॥

ऊसररहित मनोहर प्रदेशमें जहाँ घास और ईंधनकी बहुतायत थी, दुर्योधनकी सेनाका शिविर हस्तिनापुरकी भाँति सुशोभित होने लगा ॥ ३६ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि सैन्यनिर्याणपर्वणि भीष्मसैनापत्ये षट्पञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १५६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत सैन्यनिर्याणपर्वमें भीष्मका सेनापतित्वविषयक एक सौ छप्पनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १५६ ॥

सप्तपञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः

युधिष्ठिरके द्वारा अपने सेनापतियोंका अभिषेक, यदुवंशियोंसहित बलरामजीका आगमन तथा पाण्डवोंसे विदा लेकर उनका तीर्थयात्राके लिये प्रस्थान

जनमेजय उवाच

आपगेयं महात्मानं भीष्मं शस्त्रभृतां वरम् ।
पितामहं भारतानां ध्वजं सर्वमहीक्षिताम् ॥ १ ॥
बृहस्पतिसमं बुद्ध्या क्षमया पृथिवीसमम् ।
समुद्रमिव गाम्भीर्ये हिमवन्तमिव स्थिरम् ॥ २ ॥
प्रजापतिमिवौदार्ये तेजसा भास्करोपमम् ।
महेन्द्रमिव शत्रूणां ध्वंसनं शरवृष्टिभिः ॥ ३ ॥
रणयज्ञे प्रवितते सुभीमे लोमहर्षणे ।
दीक्षितं चिररात्राय श्रुत्वा तत्र युधिष्ठिरः ॥ ४ ॥
किमब्रवीन्महाबाहुः सर्वशस्त्रभृतां वरः ।
भीमसेनार्जुनौ वापि कृष्णो वा प्रत्यभाषत ॥ ५ ॥

जनमेजयने पूछा—भगवन् ! भरतवंशियोंके पितामह गङ्गानन्दन महात्मा भीष्म सम्पूर्ण शस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ थे । समस्त राजाओंमें ध्वजके समान उनका बहुत ऊँचा स्थान था । वे बुद्धिमें बृहस्पति, क्षमामें पृथ्वी, गम्भीरतामें समुद्र, स्थिरतामें हिमवान्, उदारतामें प्रजापति और तेजमें भगवान् सूर्यके समान थे । वे अपने बाणोंकी वर्षाद्वारा देवराज इन्द्रके समान शत्रुओंका विध्वंस करनेवाले थे । उस समय जो अत्यन्त भयंकर तथा रोमाञ्चकारी रणयज्ञ आरम्भ हुआ था, उसमें उन्होंने जब दीर्घकालके लिये दीक्षा ले ली, तब इस समाचारको सुननेके पश्चात् सम्पूर्ण शस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ महाबाहु युधिष्ठिरने क्या कहा ? भीमसेन तथा अर्जुनने भी उसके बारेमें क्या कहा ? अथवा भगवान् श्रीकृष्णने अपना मत किस प्रकार व्यक्त किया ? ॥ १–५ ॥

वैशम्पायन उवाच

आपद्धर्मार्थकुशलो महाबुद्धिर्युधिष्ठिरः ।
सर्वान् भ्रातॄन् समानीय वासुदेवं च शाश्वतम् ॥ ६ ॥
उवाच वदतां श्रेष्ठः सान्त्वपूर्वमिदं वचः ।

वैशम्पायनजीने कहा—राजन् ! आपद्धर्मके विषयमें कुशल, वक्ताओंमें श्रेष्ठ, परम बुद्धिमान् युधिष्ठिरने उस समय सम्पूर्ण भाइयों तथा सनातन भगवान् वासुदेवको बुलाकर सान्त्वनापूर्वक इस प्रकार कहा—॥ ६½ ॥

पर्याक्रामत सैन्यानि यत्तास्तिष्ठत दंशिताः ॥ ७ ॥
पितामहेन वो युद्धं पूर्वमेव भविष्यति ।
तस्मात् सप्तसु सेनासु प्रणेतॄन् मम पश्यत ॥ ८ ॥

'तुम सब लोग सब ओर घूम-फिरकर अपनी सेनाओंका निरीक्षण करो और कवच आदिसे सुसज्जित होकर खड़े हो जाओ । सबसे पहले पितामह भीष्मसे तुम्हारा युद्ध होगा । इसलिये अपनी सात अक्षौहिणी सेनाओंके सेनापतियोंकी देखभाल कर लो' ॥ ७-८ ॥

कृष्ण उवाच

यथार्हति भवान् वक्तुमस्मिन् काले ह्युपस्थिते ।
तथेदमर्थवद् वाक्यमुक्तं ते भरतर्षभ ॥ ९ ॥

भगवान् श्रीकृष्ण बोले—भरतकुलभूषण ! ऐसा अवसर उपस्थित होनेपर आपको जैसी बात कहनी चाहिये, वैसी ही यह अर्थयुक्त बात आपने कही है ॥ ९ ॥

रोचते मे महाबाहो क्रियतां यदनन्तरम् ।
नायकास्तव सेनायां क्रियन्तामिह सप्त वै ॥ १० ॥

महाबाहो ! मुझे आपकी बात ठीक लगती है; अतः इस समय जो आवश्यक कर्तव्य है, उसका पालन कीजिये । अपनी सेनाके सात सेनापतियोंको यहाँ निश्चित कर लीजिये ॥

वैशम्पायन उवाच

ततो द्रुपदमानाय्य विराटं शिनिपुङ्गवम् ।
धृष्टद्युम्नं च पाञ्चाल्यं धृष्टकेतुं च पार्थिवम् ॥ ११ ॥
शिखण्डिनं च पाञ्चाल्यं सहदेवं च मागधम् ।
एतान् सप्त महाभागान् वीरान् युद्धाभिकांक्षिणः ॥ १२ ॥
सेनाप्रणेतॄन् विधिवदभ्यषिञ्चद् युधिष्ठिरः ।
सर्वसेनापतिं चात्र धृष्टद्युम्नं चकार ह ॥ १३ ॥
द्रोणान्तहेतोरुत्पन्नो य इद्धाज्जातवेदसः ।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तदनन्तर



पाण्डवोंके डेरेमें बलरामजी

राजा द्रुपद, विराट, सात्यकि, पाञ्चालराजकुमार धृष्टद्युम्न, धृष्टकेतु, पाञ्चालवीर शिखण्डी और मगधराज सहदेव—इन सात युद्धाभिलाषी महाभाग वीरोंको युधिष्ठिरने विधिपूर्वक सेनापतिके पदपर अभिषिक्त कर दिया और धृष्टद्युम्नको सम्पूर्ण सेनाओंका प्रधान सेनापति बना दिया, जो द्रोणाचार्य-का अन्त करनेके लिये प्रज्वलित अग्निसे उत्पन्न हुए थे ॥ ११—१३½॥

सर्वेषामेव तेषां तु समस्तानां महात्मनाम् ॥ १४ ॥
सेनापतिपतिं चक्रे गुडाकेशं धनंजयम् ।

तदनन्तर उन्होंने निद्राविजयी वीर धनंजयको उन समस्त महामना वीर सेनापतियोंका भी अधिपति बना दिया॥ १४½ ॥

अर्जुनस्यापि नेता च संयन्ता चैव वाजिनाम् ॥ १५ ॥
संकर्षणानुजः श्रीमान् महाबुद्धिर्जनार्दनः ।

अर्जुनके भी नेता और उनके घोड़ोंके भी नियन्ता हुए बलरामजीके छोटे भाई परम बुद्धिमान् श्रीमान् भगवान् श्रीकृष्ण ॥ १५½ ॥

तद् दृष्ट्वोपस्थितं युद्धं समासन्नं महात्ययम् ॥ १६ ॥
प्राविशद् भवनं राजन् पाण्डवानां हलायुधः ।
सहाक्रूरप्रभृतिभिर्गदसाम्बोद्धवादिभिः ॥ १७ ॥
रौक्मिणेयाहुकसुतैश्चारुदेष्णपुरोगमैः ।
वृष्णिमुख्यैरधिगतैर्व्याघ्रैरिव बलोत्कटैः ॥ १८ ॥
अभिगुप्तो महाबाहुर्मरुद्भिरिव वासवः ।
नीलकौशेयवसनः कैलासशिखरोपमः ॥ १९ ॥
सिंहखेलगतिः श्रीमान् मदरक्तान्तलोचनः ।

राजन् ! तदनन्तर उस महान् संहारकारी युद्धको अत्यन्त संनिकट और प्रायः उपस्थित हुआ देख नीले रंगका रेशमी वस्त्र पहने कैलासशिखरके समान गौरवर्णवाले हलधारी महाबाहु श्रीमान् बलरामजीने पाण्डवोंके शिविरमें सिंहके समान लीला-पूर्वक गतिसे प्रवेश किया। उनके नेत्रोंके कोने मदसे अरुण हो रहे थे। उनके साथ अक्रूर आदि यदुवंशी तथा गद, साम्ब, उद्धव, प्रद्युम्न, चारुदेष्ण तथा आहुकपुत्र आदि प्रमुख वृष्णिवंशी भी जो सिंह और व्याघ्रोंके समान अत्यन्त उत्कट बलशाली थे, उन सबसे सुरक्षित बलरामजी वैसे ही सुशोभित हुए, मानो मरुद्गणोंके साथ महेन्द्र शोभा पा रहे हों। १६—१९½।

तं दृष्ट्वा धर्मराजश्च केशवश्च महाद्युतिः ॥ २० ॥
उदतिष्ठत् ततः पार्थो भीमकर्मा वृकोदरः ।
गाण्डीवधन्वा ये चान्ये राजानस्तत्र केचन ॥ २१ ॥

उन्हें देखते ही धर्मराज युधिष्ठिर, महातेजस्वी श्रीकृष्ण, भयंकर कर्म करनेवाले कुन्तीपुत्र भीमसेन तथा अन्य जो कोई भी राजा वहाँ विद्यमान थे, वे सब-के-सब उठकर खड़े हो गये ॥ २०-२१ ॥

पूजयांचक्रिरे ते वै समायान्तं हलायुधम् ।
ततस्तं पाण्डवो राजा करे पस्पर्श पाणिना ॥ २२ ॥

हलायुध बलरामजीको आया देख सबने उनका समादर किया। तदनन्तर पाण्डुनन्दन राजा युधिष्ठिरने अपने हाथसे उनके हाथका स्पर्श किया ॥ २२ ॥

वासुदेवपुरोगास्तं सर्व एवाभ्यवादयन् ।
विराटद्रुपदौ वृद्धावभिवाद्य हलायुधः ॥ २३ ॥
युधिष्ठिरेण सहित उपाविशदरिंदमः ।

श्रीकृष्ण आदि सब लोगोंने उन्हें प्रणाम किया। तत्पश्चात् बूढ़े राजा विराट और द्रुपदको प्रणाम करके शत्रुदमन बलराम युधिष्ठिरके साथ बैठे ॥ २३½ ॥

ततस्तेषूपविष्टेषु पार्थिवेषु समन्ततः ।
वासुदेवमभिप्रेक्ष्य रौहिणेयोऽभ्यभाषत ॥ २४ ॥

फिर उन सब राजाओंके चारों ओर बैठ जानेपर रोहिणी-नन्दन बलरामने भगवान् श्रीकृष्णकी ओर देखते हुए कहा—॥

भवितायं महारौद्रो दारुणः पुरुषक्षयः ।
दिष्टमेतद् ध्रुवं मन्ये न शक्यमतिवर्तितुम् ॥ २५ ॥

'जान पड़ता है यह महाभयंकर और दारुण नरसंहार



होगा ही। प्रारब्धके इस विधानको मैं अटल मानता हूँ। अब इसे हटाया नहीं जा सकता ॥ २५ ॥

तस्माद् युद्धात् समुत्तीर्णानपि वः ससुहृज्जनान् ।
अरोगानक्षतैर्देहैर्द्रष्टास्मीति मतिर्मम ॥ २६ ॥

'इस युद्धसे पार हुए आप सब सुहृदोंको मैं अक्षत शरीरसे युक्त और नीरोग देखूँगा। ऐसा मेरा विश्वास है ॥

समेतं पार्थिवं क्षत्रं कालपक्वमसंशयम् ।
विमर्दश्च महान् भावी मांसशोणितकर्दमः ॥ २७ ॥

'इसमें संदेह नहीं कि यहाँ जो-जो क्षत्रिय नरेश एकत्र हुए हैं, उन सबको कालने अपना ग्रास बनानेके लिये पका दिया है। महान् जनसंहार होनेवाला है। इसमें रक्त और मांसकी कीच जम जायगी ॥ २७ ॥

उक्तो मया वासुदेवः पुनः पुनरुपह्वरे ।
सम्बन्धिषु समां वृत्तिं वर्तस्व मधुसूदन ॥ २८ ॥
पाण्डवा हि यथास्माकं तथा दुर्योधनो नृपः ।
तस्यापि क्रियतां साह्यं स पर्येति पुनः पुनः ॥ २९ ॥

'मैंने एकान्तमें श्रीकृष्णसे बार-बार कहा था कि मधुसूदन! अपने सभी सम्बन्धियोंके प्रति एक-सा बर्ताव करो; क्योंकि हमारे लिये जैसे पाण्डव हैं, वैसा ही राजा दुर्योधन है। उसकी भी सहायता करो। वह बार-बार अपने यहाँ चक्कर लगाता है ॥ २८-२९ ॥

तच्च मे नाकरोद् वाक्यं त्वदर्थे मधुसूदनः ।
निर्विष्टः सर्वभावेन धनंजयमवेक्ष्य ह ॥ ३० ॥

'परंतु युधिष्ठिर! तुम्हारे लिये ही मधुसूदन श्रीकृष्णने मेरी उस बातको नहीं माना है। ये अर्जुनको देखकर सब प्रकारसे उसीपर निछावर हो रहे हैं ॥ ३० ॥

ध्रुवो जयः पाण्डवानामिति मे निश्चिता मतिः ।
तथा ह्यभिनिवेशोऽयं वासुदेवस्य भारत ॥ ३१ ॥

'मेरा निश्चित विश्वास है कि इस युद्धमें पाण्डवोंकी अवश्य विजय होगी। भारत! श्रीकृष्णका भी ऐसा दृढ़ संकल्प है ॥ ३१ ॥

न चाहमुत्सहे कृष्णमृते लोकमुदीक्षितुम् ।
ततोऽहमनुवर्तामि केशवस्य चिकीर्षितम् ॥ ३२ ॥

'मैं तो श्रीकृष्णके बिना इस सम्पूर्ण जगत्‌की ओर आँख उठाकर देख भी नहीं सकता; अतः ये केशव जो कुछ करना चाहते हैं, मैं उसीका अनुसरण करता हूँ ॥ ३२ ॥

उभौ शिष्यौ हि मे वीरौ गदायुद्धविशारदौ ।
तुल्यस्नेहोऽस्म्यतो भीमे तथा दुर्योधने नृपे ॥ ३३ ॥

'भीमसेन और दुर्योधन ये दोनों ही वीर मेरे शिष्य एवं गदायुद्धमें कुशल हैं; अतः मैं इन दोनोंपर एक-सा स्नेह रखता हूँ ॥ ३३ ॥

तस्माद् यास्यामि तीर्थानि सरस्वत्या निषेवितुम् ।
न हि शक्ष्यामि कौरव्यान् नश्यमानानुपेक्षितुम् ॥ ३४ ॥

'इसलिये मैं सरस्वती नदीके तटवर्ती तीर्थोंका सेवन करनेके लिये जाऊँगा; क्योंकि मैं नष्ट होते हुए कुरुवंशियोंको उस अवस्थामें देखकर उनकी उपेक्षा नहीं कर सकूँगा' ॥

एवमुक्त्वा महाबाहुरनुज्ञातश्च पाण्डवैः ।
तीर्थयात्रां ययौ रामो निवर्त्य मधुसूदनम् ॥ ३५ ॥

ऐसा कहकर महाबाहु बलरामजी पाण्डवोंसे विदा ले मधुसूदन श्रीकृष्णको संतुष्ट करके तीर्थयात्राके लिये चले गये ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि सैन्यनिर्याणपर्वणि बलरामतीर्थयात्रागमने सप्तपञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १५७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत सैन्यनिर्याणपर्वमें बलरामजीके तीर्थयात्राके लिये जानेसे सम्बन्ध रखनेवाला एक सौ सत्तावनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १५७ ॥

अष्टपञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः

रुक्मीका सहायता देनेके लिये आना; परंतु पाण्डव और कौरव दोनों पक्षोंके द्वारा कोरा उत्तर पाकर लौट जाना

वैशम्पायन उवाच

एतस्मिन्नेव काले तु भीष्मकस्य महात्मनः ।
हिरण्यरोम्णो नृपतेः साक्षादिन्द्रसखस्य वै ॥ १ ॥
आकृतीनामधिपतिर्भोजस्यातियशस्विनः ।
दाक्षिणात्यपतेः पुत्रो दिक्षु रुक्मीति विश्रुतः ॥ २ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! इसी समय अति यशस्वी दाक्षिणात्य देशके अधिपति भोजवंशी तथा इन्द्रके सखा हिरण्यरोमा नामवाले संकल्पोंके स्वामी महामना भीष्मकका सगा पुत्र, सम्पूर्ण दिशाओंमें विख्यात रुक्मी, पाण्डवोंके पास आया ॥ १-२ ॥

यः किंपुरुषसिंहस्य गन्धमादनवासिनः ।
कृत्स्नं शिष्यो धनुर्वेदं चतुष्पादमवाप्तवान् ॥ ३ ॥

जिसने गन्धमादननिवासी किंपुरुषप्रवर द्रुमका शिष्य होकर चारों पादोंसे युक्त सम्पूर्ण धनुर्वेदकी शिक्षा प्राप्त की थी ॥

यो माहेन्द्रं धनुर्लेभे तुल्यं गाण्डीवतेजसा ।
शार्ङ्गेण च महाबाहुः सम्मितं दिव्यलक्षणम् ॥ ४ ॥

जिस महाबाहुने गाण्डीवधनुषके तेजके समान ही तेजस्वी विजय नामक धनुष इन्द्रदेवतासे प्राप्त किया था। वह दिव्य लक्षणोंसे सम्पन्न धनुष शार्ङ्गधनुषकी समानता करता था ॥ ४ ॥

त्रीण्येवैतानि दिव्यानि धनूंषि दिविचारिणाम्।
वारुणं गाण्डिवं तत्र माहेन्द्रं विजयं धनुः।
शार्ङ्गं तु वैष्णवं प्राहुर्दिव्यं तेजोमयं धनुः ॥ ५ ॥

द्युलोकमें विचरनेवाले देवताओंके ये तीन ही धनुष दिव्य माने गये हैं। उनमेंसे गाण्डीव धनुष वरुणका, विजय देवराज इन्द्रका तथा शार्ङ्ग नामक दिव्य तेजस्वी धनुष भगवान् विष्णुका बताया गया है ॥ ५ ॥

धारयामास तत् कृष्णः परसेनाभयावहम्।
गाण्डीवं पावकाल्लेभे खाण्डवे पाकशासनिः ॥ ६ ॥

शत्रुसेनाको भयभीत करनेवाले उस शार्ङ्ग धनुषको भगवान् श्रीकृष्णने धारण किया और खाण्डवदाहके समय इन्द्रकुमार अर्जुनने साक्षात् अग्निदेवसे गाण्डीवधनुष प्राप्त किया था ॥ ६ ॥

द्रुमाद् रुक्मी महातेजा विजयं प्रत्यपद्यत।
संछिद्य मौरवान् पाशान् निहत्य मुरमोजसा ॥ ७ ॥
निर्जित्य नरकं भौममाहृत्य मणिकुण्डले।
षोडश स्त्रीसहस्राणि रत्नानि विविधानि च ॥ ८ ॥
प्रतिपेदे हृषीकेशः शार्ङ्गं च धनुरुत्तमम्।

महातेजस्वी रुक्मीने द्रुमसे विजय नामक धनुष पाया था। भगवान् श्रीकृष्णने अपने तेज और बलसे मुर दैत्यके पाशोंका उच्छेद करके भूमिपुत्र नरकासुरको जीतकर जब उसके यहाँसे अदितिके मणिमय कुण्डल वापस ले लिये और सोलह हजार स्त्रियों तथा नाना प्रकारके रत्नोंको अपने अधिकारमें कर लिया, उसी समय उन्हें शार्ङ्ग नामक उत्तम धनुष भी प्राप्त हुआ था ॥ ७-८½ ॥

रुक्मी तु विजयं लब्ध्वा धनुर्मेघनिभस्वनम् ॥ ९ ॥
विभीषयन्निव जगत् पाण्डवानभ्यवर्तत।

रुक्मी मेघकी गर्जनाके समान भयानक टंकार करनेवाले विजय नामक धनुषको पाकर सम्पूर्ण जगत्को भयभीत-सा करता हुआ पाण्डवोंके यहाँ आया ॥ ९½ ॥

नामृष्यत पुरा योऽसौ स्वबाहुबलगर्वितः ॥ १० ॥
रुक्मिण्या हरणं वीरो वासुदेवेन धीमता।

यह वही वीर रुक्मी था, जो अपने बाहुबलके घमंडमें आकर पहले परम बुद्धिमान् भगवान् श्रीकृष्णके द्वारा किये गये रुक्मिणीके अपहरणको नहीं सह सका था ॥ १०½ ॥

कृत्वा प्रतिज्ञां नाहत्वा निवर्तिष्ये जनार्दनम् ॥ ११ ॥
ततोऽन्वधावद् वार्ष्णेयं सर्वशस्त्रभृतां वरः।

वह सम्पूर्ण शस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ था। उसने यह प्रतिज्ञा करके कि मैं वृष्णिवंशी श्रीकृष्णको मारे बिना अपने नगरको नहीं लौटूँगा, उनका पीछा किया था ॥ ११½ ॥

सेनया चतुरङ्गिण्या महत्या दूरपातया ॥ १२ ॥
विचित्रायुधवर्मिण्या गङ्गयेव प्रवृद्धया।

उस समय उसके साथ विचित्र आयुधों और कवचोंसे सुशोभित, दूरतकके लक्ष्यको मार गिरानेमें समर्थ तथा बढ़ी हुई गङ्गाके समान विशाल चतुरंगिणी सेना थी ॥ १२½ ॥

स समासाद्य वार्ष्णेयं योगानामीश्वरं प्रभुम् ॥ १३ ॥
व्यंसितो व्रीडितो राजन् नाजगाम स कुण्डिनम्।

राजन्! योगेश्वर भगवान् श्रीकृष्णके पास पहुँचकर उनसे पराजित होनेके कारण लज्जित हो वह पुनः कुण्डिनपुरको नहीं लौटा ॥ १३½ ॥

यत्रैव कृष्णेन रणे निर्जितः परवीरहा ॥ १४ ॥
तत्र भोजकटं नाम कृतं नगरमुत्तमम्।

भगवान् श्रीकृष्णने जहाँ युद्धमें शत्रुवीरोंका हनन करनेवाले रुक्मीको हराया था, वहीं रुक्मीने भोजकट नामक उत्तम नगर बसाया ॥ १४½ ॥

सैन्येन महता तेन प्रभूतगजवाजिना ॥ १५ ॥
पुरं तद् भुवि विख्यातं नाम्ना भोजकटं नृप।

राजन्! प्रचुर हाथी-घोड़ोंवाली विशाल सेनासे सम्पन्न वह भोजकट नामक नगर सम्पूर्ण भूमण्डलमें विख्यात है १५½

स भोजराजः सैन्येन महता परिवारितः ॥ १६ ॥
अक्षौहिण्या महावीर्यः पाण्डवान् क्षिप्रमागमत्।

महापराक्रमी भोजराज रुक्मी एक अक्षौहिणी विशाल सेनासे घिरा हुआ शीघ्रतापूर्वक पाण्डवोंके पास आया।१६½।

ततः स कवची धन्वी तली खड्गी शरासनी ॥ १७ ॥
ध्वजेनादित्यवर्णेन प्रविवेश महाचमूम्।

उसने कवच, धनुष, दस्ताने, खड्ग और तरकस धारण किये सूर्यके समान तेजस्वी ध्वजके साथ पाण्डवोंकी विशाल सेनामें प्रवेश किया ॥ १७½ ॥

विदितः पाण्डवेयानां वासुदेवप्रियेप्सया ॥ १८ ॥
युधिष्ठिरस्तु तं राजा प्रत्युद्गम्याभ्यपूजयत्।

वह वसुदेवनन्दन भगवान् श्रीकृष्णका प्रिय करनेकी इच्छासे आया था। पाण्डवोंको उसके आगमनकी सूचना दी गयी, तब राजा युधिष्ठिरने आगे बढ़कर उसकी अगवानी की और उसका यथायोग्य आदर-सत्कार किया ॥ १८½ ॥

स पूजितः पाण्डुपुत्रैर्यथान्यायं सुसंस्तुतः ॥ १९ ॥
प्रतिगृह्य तु तान् सर्वान् विश्रान्तः सहसैनिकः।

पाण्डवोंने रुक्मीका विधिपूर्वक आदर-सत्कार करके उसकी भूरि-भूरि प्रशंसा की। रुक्मीने भी उन सबको प्रेमपूर्वक अपनाकर सैनिकोंसहित विश्राम किया ॥ १९½ ॥

उवाच मध्ये वीराणां कुन्तीपुत्रं धनंजयम् ॥ २० ॥
सहायोऽस्मि स्थितो युद्धे यदि भीतोऽसि पाण्डव।
करिष्यामि रणे साह्यमसह्यं तव शत्रुभिः ॥ २१ ॥

तदनन्तर वीरोंके बीचमें बैठकर उसने कुन्तीकुमार अर्जुनसे कहा—'पाण्डुनन्दन! यदि तुम डरे हुए हो तो मैं

युद्धमें तुम्हारी सहायताके लिये आ पहुँचा हूँ । मैं इस महायुद्धमें तुम्हारी वह सहायता करूँगा, जो तुम्हारे शत्रुओंके लिये असह्य हो उठेगी ॥ २०-२१ ॥

न हि मे विक्रमे तुल्यः पुमानस्तीह कश्चन ।
हनिष्यामि रणे भागं यन्मे दास्यसि पाण्डव ॥ २२ ॥

'इस जगत्में मेरे समान पराक्रमी दूसरा कोई पुरुष नहीं है । पाण्डुकुमार ! तुम शत्रुओंका जो भाग मुझे सौंप दोगे, मैं समरभूमिमें उसका संहार कर डालूँगा ॥ २२ ॥

अपि द्रोणकृपौ वीरौ भीष्मकर्णावथो पुनः ।
अथवा सर्व एवैते तिष्ठन्तु वसुधाधिपाः ॥ २३ ॥
निहत्य समरे शत्रूंस्तव दास्यामि मेदिनीम् ।

'मेरे हिस्सेमें द्रोणाचार्य, कृपाचार्य तथा वीरवर भीष्म एवं कर्ण ही क्यों न हों, किसीको जीवित नहीं छोड़ूँगा। अथवा यहाँ पधारे हुए ये सब राजा चुपचाप खड़े रहें । मैं अकेला ही समरभूमिमें तुम्हारे सारे शत्रुओंका वध करके तुम्हें पृथ्वीका राज्य अर्पित कर दूँगा' ॥ २३½ ॥

इत्युक्तो धर्मराजस्य केशवस्य च संनिधौ ॥ २४ ॥
शृण्वतां पार्थिवेन्द्राणामन्येषां चैव सर्वशः ।
वासुदेवमभिप्रेक्ष्य धर्मराजं च पाण्डवम् ॥ २५ ॥
उवाच धीमान् कौन्तेयः प्रहस्य सखिपूर्वकम् ।

धर्मराज युधिष्ठिर तथा भगवान् श्रीकृष्णके समीप अन्य सब राजाओंके सुनते हुए रुक्मीके ऐसा कहनेपर परमबुद्धिमान् कुन्तीपुत्र अर्जुनने वसुदेवनन्दन श्रीकृष्ण और धर्मराज युधिष्ठिर-की ओर देखते हुए मित्रभावसे हँसकर कहा—॥ २४-२५½ ॥

कौरवाणां कुले जातः पाण्डोः पुत्रो विशेषतः ॥ २६ ॥
द्रोणं व्यपदिशञ्छिष्यो वासुदेवसहायवान् ।
भीतोऽस्मीति कथं ब्रूयां दधानो गाण्डिवं धनुः ॥ २७ ॥

'वीर ! मैं कौरवोंके कुलमें उत्पन्न हुआ हूँ । विशेषतः महाराज पाण्डुका पुत्र हूँ । आचार्य द्रोणको अपना गुरु कहता हूँ और स्वयं उनका शिष्य कहलाता हूँ । इसके सिवा साक्षात् भगवान् श्रीकृष्ण हमारे सहायक हैं और मैं अपने हाथमें गाण्डीव धनुष धारण करता हूँ । ऐसी स्थितिमें मैं अपने-आपको डरा हुआ कैसे कह सकता हूँ ? ॥२६-२७॥

युध्यमानस्य मे वीर गन्धर्वैः सुमहाबलैः ।
सहायो घोषयात्रायां कस्तदाऽऽसीत् सखा मम ॥ २८ ॥

'वीरवर ! कौरवोंकी घोषयात्राके समय जब मैंने महाबली गन्धर्वोंके साथ युद्ध किया था, उस समय कौन-सा मित्र मेरी सहायताके लिये आया था ? ॥ २८ ॥

तथा प्रतिभये तस्मिन् देवदानवसंकुले ।
खाण्डवे युध्यमानस्य कः सहायस्तदाभवत्॥ २९ ॥

'खाण्डववनमें देवताओं और दानवोंसे परिपूर्ण भयंकर युद्धमें जब मैं अपने प्रतिपक्षियोंके साथ युद्ध कर रहा था, उस समय मेरा कौन सहायक था ? ॥ २९ ॥

निवातकवचैर्युद्धे कालकेयैश्च दानवैः ।
तत्र मे युध्यमानस्य कः सहायस्तदाभवत् ॥ ३० ॥

'जब निवातकवच तथा कालकेय नामक दानवोंके साथ छिड़े हुए युद्धमें मैं अकेला ही लड़ रहा था, उस समय मेरी सहायताके लिये कौन आया था ? ॥ ३० ॥

तथा विराटनगरे कुरुभिः सह संगरे ।
युध्यतो बहुभिस्तत्र कः सहायोऽभवन्मम ॥ ३१ ॥

'इसी प्रकार विराटनगरमें जब कौरवोंके साथ होनेवाले संग्राममें मैं अकेला ही बहुत-से वीरोंके साथ युद्ध कर रहा था, उस समय मेरा सहायक कौन था ? ॥ ३१ ॥

उपजीव्य रणे रुद्रं शक्रं वैश्रवणं यमम् ।
वरुणं पावकं चैव कृपं द्रोणं च माधवम् ॥ ३२ ॥
धारयन् गाण्डिवं दिव्यं धनुस्तेजोमयं दृढम् ।
अक्षय्यशरसंयुक्तो दिव्यास्त्रपरिबृंहितः ॥ ३३ ॥
कथमस्मद्विधो ब्रूयाद् भीतोऽस्मीति यशोहरम् ।
वचनं नरशार्दूल वज्रायुधमपि स्वयम् ॥ ३४ ॥

'मैंने युद्धमें सफलताके लिये रुद्र, इन्द्र, यम, कुबेर, वरुण, अग्नि, कृपाचार्य, द्रोणाचार्य तथा भगवान् श्रीकृष्ण-की आराधना की है । मैं तेजस्वी, दृढ़ एवं दिव्य गाण्डीव धनुष धारण करता हूँ । मेरे पास अक्षय बाणोंसे भरे हुए तरकस मौजूद हैं और दिव्यास्त्रोंके ज्ञानसे मेरी शक्ति बढ़ी हुई है । नरश्रेष्ठ ! फिर मेरे-जैसा पुरुष साक्षात् वज्रधारी इन्द्रके सामने भी 'मैं डरा हुआ हूँ' यह सुयशका नाश करने-वाला वचन कैसे कह सकता है ? ॥ ३२–३४ ॥

नास्मि भीतो महाबाहो सहायार्थश्च नास्ति मे ।
यथाकामं यथायोगं गच्छ वान्यत्र तिष्ठ वा ॥ ३५ ॥

'महाबाहो ! मैं डरा हुआ नहीं हूँ तथा मुझे सहायककी भी आवश्यकता नहीं है । आप अपनी इच्छाके अनुसार जैसा उचित समझें अन्यत्र चले जाइये या यहीं रहिये' ॥ ३५॥

वैशम्पायन उवाच

(तच्छ्रुत्वा वचनं तस्य विजयस्य हि धीमतः ।)
विनिवर्त्य ततो रुक्मी सेनां सागरसंनिभाम् ।
दुर्योधनमुपागच्छत् तथैव भरतर्षभ ॥ ३६ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—भरतश्रेष्ठ ! उन परम बुद्धिमान् अर्जुनका यह वचन सुनकर रुक्मी अपनी समुद्र-सदृश विशाल सेनाको लौटाकर उसी प्रकार दुर्योधनके पास गया ॥३६॥

तथैव चाभिगम्यैनमुवाच वसुधाधिपः ।
प्रत्याख्यातश्च तेनापि स तदा शूरमानिना ॥ ३७ ॥

दुर्योधनसे मिलकर राजा रुक्मीने उससे भी वैसी ही

बातें कहीं । तब अपनेको शूरवीर माननेवाले दुर्योधनने भी उसकी सहायता लेनेसे इन्कार कर दिया ॥ ३७ ॥

द्वावेव तु महाराज तस्माद् युद्धादपेयतुः ।
रौहिणेयश्च वार्ष्णेयो रुक्मी च वसुधाधिपः ॥ ३८ ॥

महाराज ! उस युद्धसे दो ही वीर अलग हो गये थे—एक तो वृष्णिवंशी रोहिणीनन्दन बलराम और दूसरा राजा रुक्मी ॥ ३८ ॥

गते रामे तीर्थयात्रां भीष्मकस्य सुते तथा ।
उपाविशन् पाण्डवेया मन्त्राय पुनरेव च ॥ ३९ ॥

बलरामजीके तीर्थयात्रामें और भीष्मकपुत्र रुक्मीके अपने नगरको चले जानेपर पाण्डवोंने पुनः गुप्त मन्त्रणाके लिये बैठक की ॥ ३९ ॥

समितिर्धर्मराजस्य सा पार्थिवसमाकुला ।
शुशुभे तारकैश्चित्रा द्यौश्चन्द्रेणेव भारत ॥ ४० ॥

भारत ! राजाओंसे भरी हुई धर्मराजकी वह सभा तारों और चन्द्रमासे विचित्र शोभा धारण करनेवाले आकाशकी भाँति सुशोभित हुई ॥ ४० ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि सैन्यनिर्याणपर्वणि रुक्मिप्रत्याख्याने अष्टपञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १५८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत सैन्यनिर्याणपर्वमें रुक्मीप्रत्याख्यानविषयक एक सौ अट्ठावनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १५८ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका ½ श्लोक मिलाकर कुल ४०½ श्लोक हैं)

एकोनषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः

धृतराष्ट्र और संजयका संवाद

जनमेजय उवाच

तथा व्यूढेष्वनीकेषु कुरुक्षेत्रे द्विजर्षभ ।
किमकुर्वंश्च कुरवः कालेनाभिप्रचोदिताः ॥ १ ॥

जनमेजयने पूछा—द्विजश्रेष्ठ ! जब इस प्रकार कुरुक्षेत्रमें सेनाएँ मोर्चा बाँधकर खड़ी हो गयीं, तब कालप्रेरित कौरवोंने क्या किया ? ॥ १ ॥

वैशम्पायन उवाच

तथा व्यूढेष्वनीकेषु यत्तेषु भरतर्षभ ।
धृतराष्ट्रो महाराज संजयं वाक्यमब्रवीत् ॥ २ ॥

वैशम्पायनजीने कहा—भरतकुलभूषण महाराज ! जब वे सभी सेनाएँ कुरुक्षेत्रमें व्यूहरचनापूर्वक डट गयीं, तब धृतराष्ट्रने संजयसे कहा—॥ २ ॥

एहि संजय सर्वं मे आचक्ष्वानवशेषतः ।
सेनानिवेशे यद् वृत्तं कुरुपाण्डवसेनयोः ॥ ३ ॥

'संजय ! यहाँ आओ और कौरवों तथा पाण्डवोंकी सेनाके पड़ाव पड़ जानेपर वहाँ जो कुछ हुआ हो, वह सब मुझे पूर्णरूपसे बताओ ॥ ३ ॥

दिष्टमेव परं मन्ये पौरुषं चाप्यनर्थकम् ।
यदहं बुद्ध्यमानोऽपि युद्धदोषान् क्षयोदयान् ॥ ४ ॥
तथापि निकृतिप्रज्ञं पुत्रं दुर्द्यूतदेविनम् ।
न शक्नोमि नियन्तुं वा कर्तुं वा हितमात्मनः ॥ ५ ॥

'मैं तो समझता हूँ' दैव ही प्रबल है । उसके सामने पुरुषार्थ व्यर्थ है; क्योंकि मैं युद्धके दोषोंको अच्छी तरह जानता हूँ । वे दोष भयंकर संहार उपस्थित करनेवाले हैं, इस बातको भी समझता हूँ, तथापि ठगविद्याके पण्डित तथा कपट-द्यूत करनेवाले अपने पुत्रको न तो रोक सकता हूँ और न अपना हित-साधन ही कर सकता हूँ ॥ ४-५ ॥

भवत्येव हि मे सूत बुद्धिर्दोषानुदर्शिनी ।
दुर्योधनं समासाद्य पुनः सा परिवर्तते ॥ ६ ॥

'सूत ! मेरी बुद्धि उपर्युक्त दोषोंको बारंबार देखती और समझती है तो भी दुर्योधनसे मिलनेपर पुनः बदल जाती है ॥ ६ ॥

एवं गते वै यद् भावि तद् भविष्यति संजय ।
क्षत्रधर्मः किल रणे तनुत्यागो हि पूजितः ॥ ७ ॥

'संजय ! ऐसी दशामें अब जो कुछ होनेवाला है, वह होकर ही रहेगा । कहते हैं, युद्धमें शरीरका त्याग करना निश्चय ही सबके द्वारा सम्मानित क्षत्रियधर्म है' ॥ ७ ॥

संजय उवाच

त्वद्युक्तोऽयमनुप्रश्नो महाराज यथेच्छसि ।
न तु दुर्योधने दोषमिममाधातुमर्हसि ॥ ८ ॥

संजयने कहा—महाराज ! आपने जो कुछ पूछा है और आप जैसा चाहते हैं, वह सब आपके योग्य है; परंतु आपको युद्धका दोष दुर्योधनके माथेपर नहीं मढ़ना चाहिये ॥

शृणुष्वानवशेषेण वदतो मम पार्थिव ।
य आत्मनो दुश्चरितादशुभं प्राप्नुयान्नरः ।
न स कालं न वा देवानेनसा गन्तुमर्हति ॥ ९ ॥

भूपाल ! मैं सारी बातें बता रहा हूँ, आप सुनिये । जो मनुष्य अपने बुरे आचरणसे अशुभ फल पाता है, वह काल अथवा देवताओंपर दोषारोपण करनेका अधिकारी नहीं है ॥

महाराज मनुष्येषु निन्द्यं यः सर्वमाचरेत् ।
स वध्यः सर्वलोकस्य निन्दितानि समाचरन् ॥ १० ॥

महाराज ! जो पुरुष दूसरे मनुष्योंके साथ सर्वथा निन्दनीय व्यवहार करता है, वह निन्दित आचरण करनेवाला पापात्मा सब लोगोंके लिये वध्य है ॥ १० ॥

निकारा मनुजश्रेष्ठ पाण्डवैस्त्वत्प्रतीक्षया ।
अनुभूताः सहामात्यैर्निकृतैरधिदेवने ॥ ११ ॥

नरश्रेष्ठ ! जूएके समय जो बारंबार छल-कपट और अपमानके शिकार हुए थे, अपने मन्त्रियोंसहित उन पाण्डवोंने केवल आपका ही मुँह देखकर सब तरहके तिरस्कार सहन किये हैं ॥ ११ ॥

हयानां च गजानां च राज्ञां चामिततेजसाम् ।
वैशसं समरे वृत्तं यत् तन्मे शृणु सर्वशः ॥ १२ ॥

इस समय युद्धके कारण घोड़ों, हाथियों तथा अमिततेजस्वी राजाओंका जो विनाश प्राप्त हुआ है, उनका सम्पूर्ण वृत्तान्त आप मुझसे सुनिये ॥ १२ ॥

स्थिरो भूत्वा महाप्राज्ञ सर्वलोकक्षयोदयम् ।
यथाभूतं महायुद्धे श्रुत्वा चैकमना भव ॥ १३ ॥

महामते ! इस महायुद्धमें सम्पूर्ण लोकोंके विनाशको सूचित करनेवाला जो-जो वृत्तान्त जैसे-जैसे घटित हुआ है, वह सब स्थिर होकर सुनिये और सुनकर एकचित्त बने रहिये (व्याकुल न होइये) ॥ १३ ॥

न ह्येव कर्ता पुरुषः कर्मणोः शुभपापयोः ।
अस्वतन्त्रो हि पुरुषः कार्यते दारुयन्त्रवत् ॥ १४ ॥

क्योंकि मनुष्य पुण्य और पापके फलभोगकी प्रक्रियामें स्वतन्त्र कर्ता नहीं है; क्योंकि मनुष्य प्रारब्धके अधीन है, उसे तो कठपुतलीकी भाँति उस कार्यमें प्रवृत्त होना पड़ता है ॥

केचिदीश्वरनिर्दिष्टाः केचिदेव यदृच्छया ।
पूर्वकर्मभिरप्यन्ये त्रैधमेतत् प्रदृश्यते ।
तस्मादनर्थमापन्नः स्थिरो भूत्वा निशामय ॥ १५ ॥

कोई ईश्वरकी प्रेरणासे कार्य करते हैं, कुछ लोग आकस्मिक संयोगवश कर्मोंमें प्रवृत्त होते हैं तथा दूसरे बहुत-से लोग अपने पूर्वकर्मोंकी प्रेरणासे कार्य करते हैं । इस प्रकार ये कार्यकी त्रिविध अवस्थाएँ देखी जाती हैं, इसलिये इस महान् संकटमें पड़कर आप स्थिरभावसे (स्वस्थ चित्त होकर) सारा वृत्तान्त सुनिये ॥ १५ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि सैन्यनिर्याणपर्वणि संजयवाक्ये एकोनषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १५९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत सैन्यनिर्याणपर्वमें संजयवाक्यविषयक एक सौ उनसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १५९ ॥

(उलूकदूतागमनपर्व)

षष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः

दुर्योधनका उलूकको दूत बनाकर पाण्डवोंके पास भेजना और उनसे कहनेके लिये संदेश देना

संजय उवाच

हिरण्वत्यां निविष्टेषु पाण्डवेषु महात्मसु ।
न्यविशन्त महाराज कौरवेया यथाविधि ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—महाराज ! महात्मा पाण्डवोंने जब हिरण्वती नदीके तटपर अपना पड़ाव डाल दिया, तब कौरवोंने भी विधिपूर्वक दूसरे स्थानपर अपनी छावनी डाली ॥

तत्र दुर्योधनो राजा निवेश्य बलमोजसा ।
सम्मानयित्वा नृपतीन् यस्य गुल्मांस्तथैव च ॥ २ ॥

राजा दुर्योधनने वहाँ अपनी शक्तिशालिनी सेना ठहराकर समस्त राजाओंका समादर करके उन सबकी रक्षाके लिये कई गुल्म सैनिकोंकी टुकड़ियोंको तैनात कर दिया ॥ २ ॥

आरक्षस्य विधिं कृत्वा योधानां तत्र भारत ।
कर्णं दुःशासनं चैव शकुनिं चापि सौबलम् ॥ ३ ॥
आनाय्य नृपतिस्तत्र मन्त्रयामास भारत ।

भारत ! इस प्रकार योद्धाओंके संरक्षणकी व्यवस्था करके राजा दुर्योधनने कर्ण, दुःशासन तथा सुबलपुत्र शकुनिको बुलाकर गुप्तरूपसे मन्त्रणा की ॥ ३½ ॥

तत्र दुर्योधनो राजा कर्णेन सह भारत ॥ ४ ॥
सम्भाषित्वा च कर्णेन भ्रात्रा दुःशासनेन च ।
सौबलेन च राजेन्द्र मन्त्रयित्वा नरर्षभ ॥ ५ ॥
आहूयोपह्वरे राजन्नुलूकमिदमब्रवीत् ।

राजेन्द्र ! भरतनन्दन ! नरश्रेष्ठ ! दुर्योधनने कर्ण, भाई दुःशासन तथा सुबलपुत्र शकुनिसे सम्भाषण एवं सलाह करके उलूकको एकान्तमें बुलाकर उसे इस प्रकार कहा—॥

उलूक गच्छ कैतव्य पाण्डवान् सहसोमकान् ॥ ६ ॥
गत्वा मम वचो ब्रूहि वासुदेवस्य शृण्वतः ।
इदं तत् समनुप्राप्तं वर्षपूगाभिचिन्तितम् ॥ ७ ॥
पाण्डवानां कुरूणां च युद्धं लोकभयंकरम् ।

द्यूतकुशल शकुनिके पुत्र उलूक ! तुम सोमकों और पाण्डवोंके पास जाओ तथा वहाँ पहुँचकर वासुदेव श्रीकृष्णके सामने ही उनसे मेरा यह संदेश कहो—'कितने ही वर्षोंसे जिसका विचार चल रहा था, वह सम्पूर्ण जगत्के लिये

अत्यन्त भयंकर कौरव-पाण्डवोंका युद्ध अब सिरपर आ पहुँचा है ॥ ६-७½ ॥

यदेतत् कत्थनावाक्यं संजयो महदब्रवीत् ॥ ८ ॥
वासुदेवसहायस्य गर्जतः सानुजस्य ते।
मध्ये कुरूणां कौन्तेय तस्य कालोऽयमागतः ॥ ९ ॥
यथा वः सम्प्रतिज्ञातं तत् सर्वं क्रियतामिति।

'कुन्तीकुमार युधिष्ठिर ! श्रीकृष्णकी सहायता पाकर भाइयोंसहित गर्जना करते हुए तुमने संजयसे जो आत्मश्लाघापूर्ण बातें कही थीं और जिन्हें संजयने कौरवोंकी सभामें बहुत बढ़ा-चढ़ाकर सुनाया था, उन सबको सत्य करके दिखानेका यह अवसर आ गया है। तुमलोगोंने जो-जो प्रतिज्ञाएँ की हैं, उन सबको पूर्ण करो' ॥ ८-९½ ॥

ज्येष्ठं तथैव कौन्तेयं ब्रूयास्त्वं वचनान्मम ॥ १० ॥

उलूक ! तुम मेरे कहनेसे कुन्तीके ज्येष्ठ पुत्र युधिष्ठिरके सामने जाकर इस प्रकार कहना—॥ १० ॥

भ्रातृभिः सहितः सर्वैः सोमकैश्च सकेकयैः।
कथं वा धार्मिको भूत्वा त्वमधर्मे मनः कृथाः ॥ ११ ॥

'राजन् ! तुम तो अपने सभी भाइयों, सोमकों और केकयोंसहित बड़े धर्मात्मा बनते हो। धर्मात्मा होकर अधर्ममें कैसे मन लगा रहे हो ? ॥ ११ ॥

य इच्छसि जगत् सर्वं नश्यमानं नृशंसवत्।
अभयं सर्वभूतेभ्यो दाता त्वमिति मे मतिः ॥ १२ ॥

'मेरा तो ऐसा विश्वास था कि तुमने समस्त प्राणियोंको अभयदान दे दिया है; परंतु इस समय तुम एक निर्दय मनुष्यकी भाँति सम्पूर्ण जगत्का विनाश देखना चाहते हो॥

श्रूयते हि पुरा गीतः श्लोकोऽयं भरतर्षभ।
प्रह्लादेनाथ भद्रं ते हृते राज्ये तु दैवतैः ॥ १३ ॥

'भरतश्रेष्ठ ! तुम्हारा कल्याण हो। सुना जाता है कि पूर्वकालमें जब देवताओंने प्रह्लादका राज्य छीन लिया था, तब उन्होंने इस श्लोकका गान किया था ॥ १३ ॥

यस्य धर्मध्वजो नित्यं सुरा ध्वज इवोच्छ्रितः।
प्रच्छन्नानि च पापानि बैडालं नाम तद् व्रतम् ॥ १४ ॥

'देवताओ ! साधारण ध्वजकी भाँति जिसकी धर्ममयी ध्वजा सदा ऊँचेतक फहराती रहती है; परंतु जिसके द्वारा गुप्तरूपसे पाप भी होते रहते हैं, उसके उस व्रतको विडालव्रत कहते हैं ॥ १४ ॥

अत्र ते वर्तयिष्यामि आख्यानमिदमुत्तमम्।
कथितं नारदेनेह पितुर्मम नराधिप ॥ १५ ॥

'नरेश्वर ! इस विषयमें तुम्हें यह उत्तम आख्यान सुना रहा हूँ, जिसे नारदजीने मेरे पिताजीसे कहा था ॥ १५ ॥

मार्जारः किल दुष्टात्मा निश्चेष्टः सर्वकर्मसु।
ऊर्ध्वबाहुः स्थितो राजन् गङ्गातीरे कदाचन ॥ १६ ॥

'राजन् ! यह प्रसिद्ध है कि किसी समय एक दुष्ट बिलाव दोनों भुजाएँ ऊपर किये गङ्गाजीके तटपर खड़ा रहा। वह किसी भी कार्यके लिये तनिक भी चेष्टा नहीं करता था ॥ १६ ॥

स वै कृत्वा मनःशुद्धिं प्रत्ययार्थं शरीरिणाम्।
करोमि धर्ममित्याह सर्वानेव शरीरिणः ॥ १७ ॥

'इस प्रकार समस्त देहधारियोंपर विश्वास जमानेके लिये वह सभी प्राणियोंसे यही कहा करता था कि अब मैं मानसिक शुद्धि करके—हिंसा छोड़कर धर्माचरण कर रहा हूँ ॥१७॥

तस्य कालेन महता विश्रम्भं जग्मुरण्डजाः।
समेत्य च प्रशंसन्ति मार्जारं तं विशाम्पते ॥ १८ ॥

'राजन् ! दीर्घकालके पश्चात् धीरे-धीरे पक्षियोंने उसपर विश्वास कर लिया। अब वे उस बिलावके पास आकर उसकी भूरि-भूरि प्रशंसा करने लगे ॥ १८ ॥

पूज्यमानस्तु तैः सर्वैः पक्षिभिः पक्षिभोजनः।
आत्मकार्यं कृतं मेने चर्यायाश्च कृतं फलम् ॥ १९ ॥

'पक्षियोंको अपना आहार बनानेवाला वह बिलाव जब उन समस्त पक्षियोंद्वारा अधिक आदर-सत्कार पाने लगा, तब उसने यह समझ लिया कि मेरा काम बन गया और मुझे धर्मानुष्ठानका भी अभीष्ट फल प्राप्त हो गया ॥ १९ ॥

अथ दीर्घस्य कालस्य तं देशं मूषिका ययुः।
ददृशुस्तं च ते तत्र धार्मिकं व्रतचारिणम् ॥ २० ॥

'तदनन्तर बहुत समयके पश्चात् उस स्थानमें चूहे भी गये। वहाँ जाकर उन्होंने कठोर व्रतका पालन करनेवाले उस धर्मात्मा बिलावको देखा ॥ २० ॥

कार्येण महता युक्तं दम्भयुक्तेन भारत।
तेषां मतिरियं राजन्नासीत् तत्र विनिश्चये ॥ २१ ॥

'भारत ! दम्भयुक्त महान् कर्मोंके अनुष्ठानमें लगे हुए उस बिलावको देखकर उनके मनमें यह विचार उत्पन्न हुआ ॥

बहुमित्रा वयं सर्वे तेषां नो मातुलो ह्ययम्।
रक्षां करोतु सततं वृद्धबालस्य सर्वशः ॥ २२ ॥

'हम सब लोगोंके बहुत-से मित्र हैं, अतः अब यह बिलाव भी हमारा मामा होकर रहे और हमारे यहाँ जो वृद्ध तथा बालक हैं, उन सबकी सदा रक्षा करता रहे ॥ २२ ॥

उपगम्य तु ते सर्वे बिडालमिदमब्रुवन्।
भवत्प्रसादादिच्छामश्चर्तुं चैव यथासुखम् ॥ २३ ॥
भवान् नो गतिरव्यग्रा भवान् नः परमः सुहृत्।
ते वयं सहिताः सर्वे भवन्तं शरणं गताः ॥ २४ ॥

'यह सोचकर वे सभी उस बिलावके पास गये और इस प्रकार बोले—'मामाजी ! हम सब लोग आपकी कृपासे सुख-

पूर्वक विचरना चाहते हैं । आप ही हमारे निर्भय आश्रय हैं और आप ही हमारे परम सुहृद् हैं । हम सब लोग एक साथ संगठित होकर आपकी शरणमें आये हैं ॥ २३-२४ ॥

भवान् धर्मपरो नित्यं भवान् धर्मे व्यवस्थितः ।
स नो रक्ष महाप्रज्ञ त्रिदशानिव वज्रभृत् ॥ २५ ॥

'आप सदा धर्ममें तत्पर रहते हैं और धर्ममें ही आपकी निष्ठा है । महामते ! जैसे वज्रधारी इन्द्र देवताओंकी रक्षा करते हैं, उसी प्रकार आप हमारा संरक्षण करें' ॥२५॥

एवमुक्तस्तु तैः सर्वैर्मूषिकैः स विशाम्पते ।
प्रत्युवाच ततः सर्वान् मूषिकान् मूषिकान्तकृत् ॥२६॥
द्वयोर्योगं न पश्यामि तपसो रक्षणस्य च ।
अवश्यं तु मया कार्यं वचनं भवतां हितम् ॥ २७ ॥

'प्रजानाथ ! उन सम्पूर्ण चूहोंके द्वारा इस प्रकार कहे जानेपर मूषकोंके लिये यमराजस्वरूप उस बिलावने उन सबको इस प्रकार उत्तर दिया—'मैं तपस्या भी करूँ और तुम्हारी रक्षा भी—इन दोनों कार्योंका परस्पर सम्बन्ध मुझे दिखायी नहीं देता है—ये दोनों काम एक साथ नहीं चल सकते हैं । तथापि मुझे तुमलोगोंके हितकी बात भी अवश्य करनी चाहिये ॥ २६-२७ ॥

युष्माभिरपि कर्तव्यं वचनं मम नित्यशः ।
तपसास्मि परिश्रान्तो दृढं नियममास्थितः ॥ २८ ॥
न चापि गमने शक्तिं काञ्चित् पश्यामि चिन्तयन् ।
सोऽस्मि नेयः सदा ताता नदीकूलमितः परम् ॥ २९ ॥

'तुम्हें भी प्रतिदिन मेरी एक आज्ञाका पालन करना होगा । मैं तपस्या करते-करते बहुत थक गया हूँ और दृढ़तापूर्वक संयम-नियमके पालनमें लगा रहता हूँ । बहुत सोचनेपर भी मुझे अपने भीतर चलने-फिरनेकी कोई शक्ति नहीं दिखायी देती; अतः तात ! तुम्हें सदा मुझे यहाँसे नदीके तटतक पहुँचाना पड़ेगा' ॥ २८-२९ ॥

तथेति तं प्रतिज्ञाय मूषिका भरतर्षभ ।
वृद्धबालमथो सर्वं मार्जाराय न्यवेदयन् ॥ ३० ॥

'भरतश्रेष्ठ ! 'बहुत अच्छा' कहकर चूहोंने बिलावकी आज्ञाका पालन करनेके लिये हामी भर ली और वृद्ध तथा बालकोंसहित अपना सारा परिवार उस बिलावको सौंप दिया ॥

ततः स पापो दुष्टात्मा मूषिकानथ भक्षयन् ।
पीवरश्च सुवर्णश्च दृढबन्धश्च जायते ॥ ३१ ॥

'फिर तो वह पापी एवं दुष्टात्मा बिलाव प्रतिदिन चूहोंको खा-खाकर मोटा और सुन्दर होने लगा । उसके अङ्गोंकी एक-एक जोड़ मजबूत हो गयी ॥ ३१ ॥

मूषिकाणां गणश्चात्र भृशं संक्षीयतेऽथ सः ।
मार्जारो वर्धते चापि तेजोबलसमन्वितः ॥ ३२ ॥

'इधर चूहोंकी संख्या बड़े वेगसे घटने लगी और वह बिलाव तेज और बलसे सम्पन्न हो प्रतिदिन बढ़ने लगा ॥

ततस्ते मूषिकाः सर्वे समेत्यान्योऽन्यमब्रुवन् ।
मातुलो वर्धते नित्यं वयं क्षीयामहे भृशम् ॥ ३३ ॥

'तब वे चूहे परस्पर मिलकर एक-दूसरेसे कहने लगे—'क्यों जी ! क्या कारण है कि मामा तो नित्य मोटा-ताजा होता जा रहा है और हमारी संख्या बड़े वेगसे घटती चली जा रही है' ॥ ३३ ॥

ततः प्राज्ञतमः कश्चिड्डिण्डिको नाम मूषिकः ।
अब्रवीद् वचनं राजन् मूषिकाणां महागणम् ॥ ३४ ॥
गच्छतां वो नदीतीरं सहितानां विशेषतः ।
पृष्ठतोऽहं गमिष्यामि सहैव मातुलेन तु ॥ ३५ ॥

'राजन् ! उन चूहोंमें कोई डिंडिक नामवाला चूहा सबसे अधिक समझदार था । उसने मूषकोंके उस महान् समुदायसे इस प्रकार कहा—'तुम सब लोग विशेषतः एक साथ नदीके तटपर जाओ । पीछेसे मैं भी मामाके साथ ही वहाँ जाऊँगा' ॥ ३४-३५ ॥

साधु साध्विति ते सर्वे पूजयांचक्रिरे तदा ।
चक्रुश्चैव यथान्यायं डिण्डिकस्य वचोऽर्थवत् ॥ ३६ ॥

'तब 'बहुत अच्छा, बहुत अच्छा' कहकर उन सबने डिंडिककी बड़ी प्रशंसा की और यथोचितरूपसे उसके सार्थक वचनोंका पालन किया ॥ ३६ ॥

अविज्ञानात् ततः सोऽथ डिण्डिकं ह्युपभुक्तवान् ।
ततस्ते सहिताः सर्वे मन्त्रयामासुरञ्जसा ॥ ३७ ॥

'बिलावको चूहोंकी जागरूकताका कुछ पता नहीं था । अतः वह डिंडिकको भी खा गया । तदनन्तर एक दिन सब चूहे एक साथ मिलकर आपसमें सलाह करने लगे ॥ ३७ ॥

तत्र वृद्धतमः कश्चित् कोलिको नाम मूषिकः ।
अब्रवीद् वचनं राजञ् ज्ञातिमध्ये यथातथम् ॥ ३८ ॥

'उनमें कोलिक नामसे प्रसिद्ध कोई चूहा था, जो अपने भाई-बन्धुओंमें सबसे बूढ़ा था । उसने सब लोगोंको यथार्थ बात बतायी—॥ ३८ ॥

न मातुलो धर्मकामश्छद्ममात्रं कृता शिखा ।
न मूलफलभक्षस्य विष्ठा भवति लोमशा ॥ ३९ ॥

'भाइयो ! मामाको धर्माचरणकी रत्तीभर भी कामना नहीं है । उसने हम-जैसे लोगोंको धोखा देनेके लिये ही जटा बढ़ा रक्खी है । जो फल—मूल खानेवाला है, उसकी विष्ठामें बाल नहीं होते ॥ ३९ ॥

अस्य गात्राणि वर्धन्ते गणश्च परिहीयते ।
अद्य सप्ताष्टदिवसान् डिण्डिकोऽपि न दृश्यते ॥ ४० ॥

'उसके अङ्ग दिनों-दिन हृष्ट-पुष्ट होते जाते हैं और हमारा यह दल रोज-रोज घटता जा रहा है । आज सात-

आठ दिनोंसे डिंडिकका भी दर्शन नहीं हो रहा है' ॥ ४० ॥

एतच्छ्रुत्वा वचः सर्वे मूषिका विप्रदुद्रुवुः ।
बिडालोऽपि स दुष्टात्मा जगामैव यथागतम् ॥ ४१ ॥

'कोलिककी यह बात सुनकर सब चूहे भाग गये और वह दुष्टात्मा बिलाव भी अपना-सा मुँह लेकर जैसे आया था, वैसे चला गया ॥ ४१ ॥

तथा त्वमपि दुष्टात्मन् बैडालं व्रतमास्थितः ।
चरसि ज्ञातिषु सदा बिडालो मूषिकेष्विव ॥ ४२ ॥

'दुष्टात्मन् ! तुमने भी इसी प्रकार बिडालव्रत धारण कर रक्खा है । जैसे चूहोंमें बिडालने धर्माचरणका ढोंग रच रक्खा था, उसी प्रकार तुम भी जाति-भाइयोंमें धर्माचारी बने फिरते हो ॥ ४२ ॥

अन्यथा किल ते वाक्यमन्यथा कर्म दृश्यते ।
दम्भनार्थाय लोकस्य वेदाश्चोपशमश्च ते ॥ ४३ ॥

'तुम्हारी बातें तो कुछ और हैं; परंतु कर्म कुछ और ही ढंगका दिखायी देता है । तुम्हारा वेदाध्ययन और शान्त स्वभाव लोगोंको दिखानेके लिये पाखण्डमात्र है ॥४३॥

त्यक्त्वा छद्म त्विदं राजन् क्षत्रधर्मं समाश्रितः ।
कुरु कार्याणि सर्वाणि धर्मिष्ठोऽसि नरर्षभ ॥ ४४ ॥

'राजन् ! नरश्रेष्ठ ! यदि तुम धर्मनिष्ठ हो तो यह छल-छद्म छोड़कर क्षत्रिय-धर्मका आश्रय ले उसीके अनुसार सब कार्य करो ॥ ४४ ॥

बाहुवीर्येण पृथिवीं लब्ध्वा भरतसत्तम ।
देहि दानं द्विजातिभ्यः पितृभ्यश्च यथोचितम् ॥ ४५ ॥

'भरतश्रेष्ठ ! अपने बाहुबलसे इस पृथ्वीका राज्य प्राप्त करके तुम ब्राह्मणोंको दान दो और पितरोंको उनका यथोचित भाग अर्पण करो ॥ ४५ ॥

क्लिष्टाया वर्षपूगांश्च मातुर्मातृहिते स्थितः ।
प्रमार्जाश्रु रणे जित्वा सम्मानं परमावह ॥ ४६ ॥

'तुम्हारी माता वर्षोंसे कष्ट भोग रही है; अतः माताके हितमें तत्पर हो उसके आँसू पोंछो और युद्धमें विजय प्राप्त करके परम सम्मानके भागी बनो ॥ ४६ ॥

पञ्च ग्रामा वृता यत्नान्नास्माभिरपवर्जिताः ।
युध्यामहे कथं संख्ये कोपयेम च पाण्डवान् ॥ ४७ ॥

'तुमने केवल पाँच गाँव माँगे थे, परंतु हमने प्रयत्नपूर्वक तुम्हारी वह माँग इसलिये ठुकरा दी है कि पाण्डवोंको किसी प्रकार कुपित करें, जिससे संग्राम-भूमिमें उनके साथ युद्ध करनेका अवसर प्राप्त हो ॥ ४७ ॥

त्वत्कृते दुष्टभावस्य संत्यागो विदुरस्य च ।
जातुषे च गृहे दाहं स्मर तं पुरुषो भव ॥ ४८ ॥

'तुम्हारे लिये ही मैंने दुष्टात्मा विदुरका परित्याग कर दिया है । लाक्षागृहमें अपने जलाये जानेकी घटनाका स्मरण करो और अबसे भी मर्द बन जाओ ॥ ४८ ॥

यच्च कृष्णमवोचस्त्वमायान्तं कुरुसंसदि ।
अयमस्मि स्थितो राजन् शमाय समराय च ॥ ४९ ॥
तस्यायमागतः कालः समरस्य नराधिप ।
एतदर्थं मया सर्वं कृतमेतद् युधिष्ठिर ॥ ५० ॥

'तुमने कौरव-सभामें आये हुए श्रीकृष्णसे जो यह संदेश दिलाया था कि 'राजन् ! मैं शान्ति और युद्ध दोनोंके लिये तैयार हूँ ।' नरेश्वर ! उस समरका यह उपयुक्त अवसर आ गया है । युधिष्ठिर ! इसीके लिये मैंने यह सब कुछ किया है ॥ ४९-५० ॥

किं नु युद्धात् परं लाभं क्षत्रियो बहु मन्यते ।
किं च त्वं क्षत्रियकुले जातः सम्प्रथितो भुवि ॥ ५१ ॥

'भला, क्षत्रिय युद्धसे बढ़कर दूसरे किस लाभको महत्त्व देता है ? इसके सिवा, तुमने भी तो क्षत्रियकुलमें उत्पन्न होकर इस पृथ्वीपर बड़ी ख्याति प्राप्त की है ॥ ५१ ॥

द्रोणादस्त्राणि संप्राप्य कृपाच्च भरतर्षभ ।
तुल्ययोनौ समबले वासुदेवं समाश्रितः ॥ ५२ ॥

'भरतश्रेष्ठ ! द्रोणाचार्य और कृपाचार्यसे अस्त्र-विद्या प्राप्त करके जाति और बलमें हमारे समान होते हुए भी तुमने वसुदेवनन्दन श्रीकृष्णका आश्रय ले रक्खा है (फिर तुम्हें युद्धसे क्यों डरना या पीछे हटना चाहिये ?)' ॥५२॥

ब्रूयास्त्वं वासुदेवं च पाण्डवानां समीपतः ।
आत्मार्थं पाण्डवार्थं च यत्तो मां प्रति योधय ॥ ५३ ॥

उलूक ! तुम पाण्डवोंके समीप वासुदेव श्रीकृष्णसे भी कहना—'जनार्दन ! अब तुम पूरी तैयारी और तत्परताके साथ अपनी और पाण्डवोंकी भलाईके लिये मेरे साथ युद्ध करो ॥

सभामध्ये च यद् रूपं मायया कृतवानसि ।
तत् तथैव पुनः कृत्वा सार्जुनो मामभिद्रव ॥ ५४ ॥

'तुमने सभामें मायाद्वारा जो विकट रूप बना लिया था; उसे पुनः उसी रूपमें प्रकट करके अर्जुनके साथ मुझपर धावा बोल दो ॥ ५४ ॥

इन्द्रजालं च माया वै कुहका वापि भीषणा ।
आत्तशस्त्रस्य संग्रामे वहन्ति प्रतिगर्जनाः ॥ ५५ ॥

'इन्द्रजाल, माया अथवा भयानक कृत्या—ये युद्धमें हथियार उठाये हुए शूरवीरके क्रोध एवं सिंहनादको और भी बढ़ा देती हैं (उसे डरा नहीं सकतीं) ॥ ५५ ॥

वयमप्युत्सहेम द्यां खं च गच्छेम मायया ।
रसातलं विशामोऽपि ऐन्द्रं वा पुरमेव तु ॥ ५६ ॥

'हम भी मायासे आकाशमें उड़ सकते हैं, अन्तरिक्षमें जा सकते हैं तथा रसातल या इन्द्रपुरीमें भी प्रवेश कर सकते हैं ॥ ५६ ॥

दर्शयेम च रूपाणि स्वशरीरे बहून्यपि ।
न तु पर्यायतः सिद्धिर्बुद्धिमाप्नोति मानुषीम् ॥ ५७ ॥

'इतना ही नहीं, हम अपने शरीरमें बहुत-से रूप भी प्रकट करके दिखा सकते हैं; परंतु इन सब प्रदर्शनोंसे न तो अपने अभीष्टकी सिद्धि होती है और न अपना शत्रु ही मानवीय बुद्धि अर्थात् भयको प्राप्त हो सकता है ॥ ५७ ॥

मनसैव हि भूतानि धातैव कुरुते वशे ।
यद् ब्रवीषि च वार्ष्णेय धार्तराष्ट्रानहं रणे ॥ ५८ ॥
घातयित्वा प्रदास्यामि पार्थेभ्यो राज्यमुत्तमम् ।
आचचक्षे च मे सर्वं संजयस्तव भाषितम् ॥ ५९ ॥

'एकमात्र विधाता ही अपने मानसिक संकल्पमात्रसे समस्त प्राणियोंको वशमें कर लेता है । वार्ष्णेय ! तुम जो यह कहा करते थे कि मैं युद्धमें धृतराष्ट्रके सभी पुत्रोंको मरवाकर उनका सारा उत्तम राज्य कुन्तीके पुत्रोंको दे दूँगा । तुम्हारा वह सारा भाषण संजयने मुझे सुना दिया था ॥

मद्द्वितीयेन पार्थेन वैरं वः सव्यसाचिना ।
स सत्यसंगरो भूत्वा पाण्डवार्थे पराक्रमी ॥ ६० ॥

'तुमने यह भी कहा था कि 'कौरवो ! मैं जिनका सहायक हूँ, उन्हीं सव्यसाची अर्जुनके साथ तुम्हारा वैर बढ़ रहा है,' इत्यादि । अतः अब सत्यप्रतिज्ञ होकर पाण्डवोंके लिये पराक्रमी बनो ॥ ६० ॥

युध्यस्वाद्य रणे यत्तः पश्यामः पुरुषो भव ।
यस्तु शत्रुमभिज्ञाय शुद्धं पौरुषमास्थितः ॥ ६१ ॥
करोति द्विषतां शोकं स जीवति सुजीवितम् ।

'युद्धमें अब प्रयत्नपूर्वक डट जाओ । हम तुम्हारी राह देखते हैं । अपने पुरुषत्वका परिचय दो । जो पुरुष शत्रुको अच्छी तरह समझ-बूझकर विशुद्ध पुरुषार्थका आश्रय ले शत्रुओंको शोकमग्न कर देता है, वही श्रेष्ठ जीवन व्यतीत करता है ॥ ६१½ ॥

अकस्माच्चैव ते कृष्ण ख्यातं लोके महद् यशः ॥ ६२ ॥
अद्येदानीं विजानीमः सन्ति षण्ढाः सशृङ्गकाः ।

'श्रीकृष्ण ! मैं देखता हूँ संसारमें अकस्मात् ही तुम्हारा महान् यश फैल गया है; परंतु अब इस समय हमें मालूम हुआ है कि जो लोग तुम्हारे पूजक हैं, वे वास्तवमें पुरुषत्वका चिह्न धारण करनेवाले हिजड़े ही हैं ॥ ६२½ ॥

मद्विधो नापि नृपतिस्त्वयि युक्तः कथञ्चन ॥ ६३ ॥
संनाहं संयुगे कर्तुं कंसभृत्ये विशेषतः ।

'मेरे-जैसे राजाको तुम्हारे साथ, विशेषतः कंसके एक सेवकके साथ लड़नेके लिये कवच धारण करके युद्धभूमिमें उतरना किसी तरह उचित नहीं है' ॥ ६३½ ॥

तं च तूबरकं बालं बह्वाशिनमविद्यकम् ॥ ६४ ॥
उलूक मद्वचो ब्रूहि असकृद्भीमसेनकम् ।
विराटनगरे पार्थ यस्त्वं सूदो ह्यभूः पुरा ॥ ६५ ॥
बल्लवो नाम विख्यातस्तन्ममैव हि पौरुषम् ।

'उलूक ! उस बिना मूँछोंके मर्द (अथवा बोझ ढोनेवाले बैल), अधिक खानेवाले, अज्ञानी और मूर्ख भीमसेनसे भी बारंबार मेरा यह संदेश कहना 'कुन्तीकुमार ! पहले विराटनगरमें जो तू रसोइया बनकर रहा और बल्लवके नामसे विख्यात हुआ, वह सब मेरा ही पुरुषार्थ था ६४-६५½

प्रतिज्ञातं सभामध्ये न तन्मिथ्या त्वया पुरा ॥ ६६ ॥
दुःशासनस्य रुधिरं पीयतां यदि शक्यते ।

'पहले कौरवसभामें तूने जो प्रतिज्ञा की थी, वह मिथ्या नहीं होनी चाहिये । यदि तुझमें शक्ति हो तो आकर दुःशासनका रक्त पी लेना ॥ ६६½ ॥

यद् ब्रवीषि च कौन्तेय धार्तराष्ट्रानहं रणे ॥ ६७ ॥
निहनिष्यामि तरसा तस्य कालोऽयमागतः ।

'कुन्तीकुमार ! तुम जो कहा करते हो कि मैं युद्धमें धृतराष्ट्रके पुत्रोंको वेगपूर्वक मार डालूँगा, उसका यह समय आ गया है ॥ ६७½ ॥

त्वं हि भोज्ये पुरस्कार्यो भक्ष्ये पेये च भारत ॥ ६८ ॥
क्व युद्धं क्व च भोक्तव्यं युध्यस्व पुरुषो भव ।

'भारत ! तुम निरे भोजनभट्ट हो । अतः अधिक खानेपीनेमें पुरस्कार पानेके योग्य हो । किंतु कहाँ युद्ध और कहाँ भोजन ? शक्ति हो तो युद्ध करो और मर्द बनो ।६८½।

शयिष्यसे हतो भूमौ गदामालिङ्ग्य भारत ॥ ६९ ॥
तद् वृथा च सभामध्ये वल्गितं ते वृकोदर ।

'भारत ! युद्धभूमिमें मेरे हाथसे मारे जाकर तुम गदाको छातीसे लगाये सदाके लिये सो जाओगे । वृकोदर ! तुमने सभामें जाकर जो उछल-कूद मचायी थी, वह व्यर्थ ही है' ॥ ६९½ ॥

उलूक नकुलं ब्रूहि वचनान्मम भारत ॥ ७० ॥
युध्यस्वाद्य स्थिरो भूत्वा पश्यामस्तव पौरुषम् ।
युधिष्ठिरानुरागं च द्वेषं च मयि भारत ।
कृष्णायाश्च परिक्लेशं स्मरेदानीं यथातथम् ॥ ७१ ॥

उलूक ! नकुलसे भी कहना—'भारत ! तुम मेरे कहनेसे अब स्थिरतापूर्वक युद्ध करो । हम तुम्हारा पुरुषार्थ देखेंगे । तुम युधिष्ठिरके प्रति अपने अनुरागको, मेरे प्रति बढ़े हुए द्वेषको तथा द्रौपदीके क्लेशको भी इन दिनों अच्छी तरहसे याद कर लो' ॥ ७०-७१ ॥

ब्रूयास्त्वं सहदेवं च राजमध्ये वचो मम ।
युद्ध्येदानीं रणे यत्तः क्लेशान् स्मर च पाण्डव ॥ ७२ ॥

उलूक ! तुम राजाओंके बीच सहदेवसे भी मेरी यह बात कहना—'पाण्डुनन्दन ! पहलेके दिये हुए क्लेशोंको याद कर लो और अब तत्पर होकर समरभूमिमें युद्ध करो' ॥

विराटद्रुपदौ चोभौ ब्रूयास्त्वं वचनान्मम ।
न दृष्टपूर्वा भर्तारो भृत्यैरपि महागुणैः ॥ ७३ ॥
तथार्थपतिभिर्भृत्या यतः सृष्टाः प्रजास्ततः ।
अश्लाघ्योऽयं नरपतिर्युवयोरिति चागतम् ॥ ७४ ॥

'तदनन्तर विराट और द्रुपदसे भी मेरी ओरसे कहना—'विधाताने जबसे प्रजाकी सृष्टि की है, तभीसे परम गुणवान् सेवकोंने भी अपने स्वामियोंकी अच्छी तरह परख नहीं की; उनके गुण-अवगुणको भलीभाँति नहीं पहिचाना। इसी प्रकार स्वामियोंने भी सेवकोंको ठीक-ठीक नहीं समझा। इसीलिये युधिष्ठिर श्रद्धाके योग्य नहीं हैं, तो भी तुम दोनों उन्हें अपना राजा मानकर उनकी ओरसे युद्धके लिये यहाँ आये हो ॥ ७३-७४ ॥

ते यूयं संहता भूत्वा तद्वधार्थं ममापि च ।
आत्मार्थं पाण्डवार्थं च प्रयुद्ध्यध्वं मया सह ॥ ७५ ॥

'इसलिये तुम सब लोग संगठित होकर मेरे वधके लिये प्रयत्न करो। अपनी और पाण्डवोंकी भलाईके लिये मेरे साथ युद्ध करो' ॥ ७५ ॥

धृष्टद्युम्नं च पाञ्चाल्यं ब्रूयास्त्वं वचनान्मम ।
एष ते समयः प्राप्तो लब्धव्यश्च त्वयापि सः ॥ ७६ ॥

'फिर पाञ्चालराजकुमार धृष्टद्युम्नको भी मेरा यह संदेश सुना देना—'राजकुमार! यह तुम्हारे योग्य समय प्राप्त हुआ है। तुम्हें आचार्य द्रोण अपने सामने ही मिल जायँगे ॥ ७६ ॥

द्रोणमासाद्य समरे ज्ञास्यसे हितमुत्तमम् ।
युध्यस्व ससुहृत् पापं कुरु कर्म सुदुष्करम् ॥ ७७ ॥

'समरभूमिमें द्रोणाचार्यके सामने जाकर ही तुम यह जान सकोगे कि तुम्हारा उत्तम हित किस बातमें है। आओ, अपने सुहृदोंके साथ रहकर युद्ध करो और गुरुके वधका अत्यन्त दुष्कर पाप कर डालो' ॥ ७७ ॥

शिखण्डिनमथो ब्रूहि उलूक वचनान्मम ।
स्त्रीति मत्वा महाबाहुर्न हनिष्यति कौरवः ॥ ७८ ॥
गाङ्गेयो धन्विनां श्रेष्ठो युद्ध्येदानीं सुनिर्भयः ।
कुरु कर्म रणे यत्तः पश्यामः पौरुषं तव ॥ ७९ ॥

'उलूक! इसके बाद तुम शिखण्डीसे भी मेरी यह बात कहना—'धनुर्धारियोंमें श्रेष्ठ गङ्गापुत्र कुरुवंशी महाबाहु भीष्म तुम्हें स्त्री समझकर नहीं मारेंगे; इसलिये तुम अब निर्भय होकर युद्ध करना और समरभूमिमें यत्नपूर्वक पराक्रम प्रकट करना। हम तुम्हारा पुरुषार्थ देखेंगे' ॥ ७८-७९ ॥

एवमुक्त्वा ततो राजा प्रहस्योलूकमब्रवीत् ।
धनंजयं पुनर्ब्रूहि वासुदेवस्य शृण्वतः ॥ ८० ॥

ऐसा कहते-कहते राजा दुर्योधन खिलखिलाकर हँस पड़ा। तत्पश्चात् उलूकसे पुनः इस प्रकार बोला—'उलूक! तुम वसुदेवनन्दन श्रीकृष्णके सामने ही अर्जुनसे पुनः इस प्रकार कहना—॥ ८० ॥

अस्मान् वा त्वं पराजित्य प्रशाधि पृथिवीमिमाम् ।
अथवा निर्जितोऽस्माभी रणे वीर शयिष्यसि ॥ ८१ ॥

'वीर धनंजय! या तो तुम्हीं हमलोगोंको परास्त करके इस पृथ्वीका शासन करो या हमारे ही हाथोंसे मारे जाकर रणभूमिमें सदाके लिये सो जाओ ॥ ८१ ॥

राष्ट्रान्निर्वासनक्लेशं वनवासं च पाण्डव ।
कृष्णायाश्च परिक्लेशं संस्मरन् पुरुषो भव ॥ ८२ ॥

'पाण्डुनन्दन! राज्यसे निर्वासित होने, वनमें निवास करने तथा द्रौपदीके अपमानित होनेके क्लेशोंको याद करके अब भी तो मर्द बनो ॥ ८२ ॥

यदर्थं क्षत्रिया सूते सर्वं तदिदमागतम् ।
बलं वीर्यं च शौर्यं च परं चाप्यस्त्रलाघवम् ॥ ८३ ॥
पौरुषं दर्शयन् युद्धे कोपस्य कुरु निष्कृतिम् ।

'क्षत्राणी जिसके लिये पुत्र पैदा करती है, वह सब प्रयोजन सिद्ध करनेका यह समय आ गया है। तुम युद्धमें बल, पराक्रम, उत्तम शौर्य, अस्त्र-संचालनकी फुर्ती और पुरुषार्थ दिखाते हुए अपने बढ़े हुए क्रोधको (हमारे ऊपर प्रयोग करके) शान्त कर लो ॥ ८३½ ॥

परिक्लिष्टस्य दीनस्य दीर्घकालोषितस्य च ।
हृदयं कस्य न स्फोटेदैश्वर्याद् भ्रंशितस्य च ॥ ८४ ॥

'जिसे नाना प्रकारका क्लेश दिया गया हो, दीर्घकालके लिये राज्यसे निर्वासित किया गया हो तथा जिसे राज्यसे वञ्चित होकर दीनभावसे जीवन बिताना पड़ा हो, ऐसे किस स्वाभिमानी पुरुषका हृदय विदीर्ण न हो जायगा? ॥

कुले जातस्य शूरस्य परवित्तेष्वगृध्यतः ।
आस्थितं राज्यमाक्रम्य कोपं कस्य न दीपयेत् ॥ ८५ ॥

'जो उत्तम कुलमें उत्पन्न, शूरवीर तथा पराये धनके प्रति लोभ न रखनेवाला हो, उसके राज्यको यदि कोई दबा बैठा हो तो वह किस वीरके क्रोधको उद्दीप्त न कर देगा? ॥ ८५ ॥

यत् तदुक्तं महद् वाक्यं कर्मणा तद् विभाव्यताम् ।
अकर्मणा कत्थितेन सन्तः कुपुरुषं विदुः ॥ ८६ ॥

'तुमने जो बड़ी-बड़ी बातें कही हैं, उन्हें कार्यरूपमें परिणत करके दिखाओ। जो क्रियाद्वारा कुछ न करके केवल मुँहसे बातें बनाता है, उसे सज्जन पुरुष कायर मानते हैं ॥

अमित्राणां वशे स्थानं राज्यं च पुनरुद्धर ।
द्वावर्थौ युद्धकामस्य तस्मात् तत् कुरु पौरुषम् ॥ ८७ ॥

'तुम्हारा स्थान और राज्य शत्रुओंके हाथमें पड़ा है, उसका पुनरुद्धार करो। युद्धकी इच्छा रखनेवाले पुरुषके ये दो ही प्रयोजन होते हैं; अतः उनकी सिद्धिके लिये पुरुषार्थ करो ॥

पराजितोऽसि द्यूतेन कृष्णा चानायिता सभाम् ।
शक्योऽमर्षो मनुष्येण कर्तुं पुरुषमानिना ॥ ८८ ॥

'तुम जूएमें पराजित हुए और तुम्हारी स्त्री द्रौपदीको सभामें लाया गया। अपनेको पुरुष माननेवाले किसी भी मनुष्यको इन बातोंके लिये भारी अमर्ष हो सकता है ॥ ८८ ॥

द्वादशैव तु वर्षाणि वने धिष्ण्याद् विवासितः ।
संवत्सरं विराटस्य दास्यमास्थाय चोषितः ॥ ८९ ॥

'तुम बारह वर्षोंतक राज्यसे निर्वासित होकर वनमें रहे हो और एक वर्षतक तुम्हें विराटका दास होकर रहना पड़ा है ॥

राष्ट्रान्निर्वासनक्लेशं वनवासं च पाण्डव ।
कृष्णायाश्च परिक्लेशं संस्मरन् पुरुषो भव ॥ ९० ॥

'पाण्डुनन्दन ! राज्यसे निर्वासनका, वनवासका और द्रौपदीके अपमानका क्लेश याद करके तो मर्द बनो ॥ ९० ॥

अप्रियाणां च वचनं प्रब्रुवत्सु पुनः पुनः ।
अमर्षं दर्शयस्व त्वममर्षो ह्येव पौरुषम् ॥ ९१ ॥

'हमलोग बार-बार तुमलोगोंके प्रति अप्रिय वचन कहते हैं। तुम हमारे ऊपर अपना अमर्ष तो दिखाओ; क्योंकि अमर्ष ही पौरुष है ॥ ९१ ॥

क्रोधो बलं तथा वीर्यं ज्ञानयोगोऽस्त्रलाघवम् ।
इह ते दृश्यतां पार्थ युद्ध्यस्व पुरुषो भव ॥ ९२ ॥

'पार्थ ! यहाँ लोग तुम्हारे क्रोध, बल, वीर्य, ज्ञानयोग और अस्त्र चलानेकी फुर्ती आदि गुणोंको देखें। युद्ध करो और अपने पुरुषत्वका परिचय दो ॥ ९२ ॥

लोहाभिसारो निर्वृत्तः कुरुक्षेत्रमकर्दमम् ।
पुष्टास्तेऽश्वा भृता योधाः श्वो युद्ध्यस्व सकेशवः॥९३॥

'अब लोहमय अस्त्र-शस्त्रोंको बाहर निकालकर तैयार करनेका कार्य पूरा हो चुका है। कुरुक्षेत्रकी कीच भी सूख गयी है। तुम्हारे घोड़े खूब हृष्ट-पुष्ट हैं और सैनिकोंका भी तुमने अच्छी तरह भरण-पोषण किया है; अतः कल सबेरेसे ही श्रीकृष्णके साथ आकर युद्ध करो ॥ ९३ ॥

असमागम्य भीष्मेण संयुगे किं विकत्थसे ।
आरुरुक्षुर्यथा मन्दः पर्वतं गन्धमादनम् ॥ ९४ ॥
एवं कत्थसि कौन्तेय अकत्थन् पुरुषो भव ।

'अभी युद्धमें भीष्मजीके साथ मुठभेड़ किये बिना तुम क्यों अपनी झूठी प्रशंसा करते हो ? कुन्तीनन्दन ! जैसे कोई शक्तिहीन एवं मन्दबुद्धि पुरुष गन्धमादन पर्वतपर चढ़ना चाहता हो, उसी प्रकार तुम भी अपनी झूठी बड़ाई करते हो। मिथ्या आत्मप्रशंसा न करके पुरुष बनो ॥ ९४½ ॥

सूतपुत्रं सुदुर्धर्षं शल्यं च बलिनां वरम् ॥ ९५ ॥
द्रोणं च बलिनां श्रेष्ठं शचीपतिसमं युधि ।
अजित्वा संयुगे पार्थ राज्यं कथमिहेच्छसि ॥ ९६ ॥

'पार्थ ! अत्यन्त दुर्जय वीर सूतपुत्र कर्ण, बलवानोंमें श्रेष्ठ शल्य तथा युद्धमें इन्द्रके समान पराक्रमी एवं बलवानोंमें अग्रगण्य द्रोणाचार्यको युद्धमें परास्त किये बिना तुम यहाँ राज्य कैसे लेना चाहते हो ? ॥ ९५-९६ ॥

ब्राह्मे धनुषि चाचार्यं वेदयोरन्तगं द्वयोः ।
युधि धुर्यमविक्षोभ्यमनीकचरमच्युतम् ॥ ९७ ॥
द्रोणं महाद्युतिं पार्थ जेतुमिच्छसि तन्मृषा ।
न हि शुश्रुम वातेन मेरुमुन्मथितं गिरिम् ॥ ९८ ॥

'कुन्तीपुत्र ! आचार्य द्रोण ब्राह्मवेद और धनुर्वेद इन दोनोंके पारङ्गत पण्डित हैं। ये युद्धका भार वहन करनेमें समर्थ, अक्षोभ्य, सेनाके मध्यभागमें विचरनेवाले तथा युद्धके मैदानसे पीछे न हटनेवाले हैं। इन महातेजस्वी द्रोणको जो तुम जीतनेकी इच्छा रखते हो, वह मिथ्या साहसमात्र है। वायुने सुमेरु पर्वतको उखाड़ फेंका हो, यह कभी हमारे सुननेमें नहीं आया है (इसी प्रकार तुम्हारे लिये भी आचार्यको जीतना असम्भव है) ॥ ९७-९८ ॥

अनिलो वा वहेन्मेरुं द्यौर्वापि निपतेन्महीम् ।
युगं वा परिवर्तेत यद्येवं स्याद् यथाऽऽत्थ माम्॥९९॥

'तुमने मुझसे जो कुछ कहा है, वह यदि सत्य हो जाय, तब तो हवा मेरुको उठा ले, स्वर्गलोक इस पृथ्वीपर गिर पड़े अथवा युग ही बदल जाय ॥ ९९ ॥

को ह्यस्ति जीविताकाङ्क्षी प्राप्येममरिमर्दनम् ।
पार्थो वा इतरो वापि कोऽन्यः स्वस्ति गृहान् व्रजेत्।१००।

'अर्जुन हो या दूसरा कोई, जीवनकी इच्छा रखनेवाला कौन ऐसा वीर है, जो युद्धमें इन शत्रुदमन आचार्यके पास पहुँचकर कुशलपूर्वक घरको लौट सके ? ॥ १०० ॥

कथमाभ्यामभिध्यातः संस्पृष्टो दारुणेन वा ।
रणे जीवन् प्रमुच्येत पदा भूमिमुपस्पृशन् ॥१०१॥

'ये दोनों द्रोण और भीष्म जिसे मारनेका निश्चय कर लें अथवा उनके भयानक अस्त्र आदिसे जिसके शरीरका स्पर्श हो जाय, ऐसा कोई भी भूतलनिवासी मरणधर्मा मनुष्य युद्धमें जीवित कैसे बच सकता है ? ॥ १०१ ॥

किं दर्दुरः कूपशयो यथेमां
न बुध्यसे राजचमूं समेताम् ।
दुराधर्षां देवचमूप्रकाशां
गुप्तां नरेन्द्रैस्त्रिदशैरिव द्याम् ॥१०२॥
प्राच्यैः प्रतीच्यैरथ दाक्षिणात्यै-
रुदीच्यकाम्बोजशकैः खशैश्च ।
शाल्वैः समत्स्यैः कुरुमध्यदेश्यै-
र्म्लेच्छैः पुलिन्दैर्द्रविडान्ध्रकाञ्च्यैः॥१०३॥

'जैसे देवता स्वर्गकी रक्षा करते हैं, उसी प्रकार पूर्व, पश्चिम, दक्षिण और उत्तर दिशाओंके नरेश तथा काम्बोज, शक, खश, शाल्व, मत्स्य, कुरु और मध्यप्रदेशके सैनिक एवं म्लेच्छ, पुलिन्द, द्रविड़, आन्ध्र और काञ्चीदेशीय योद्धा जिस सेनाकी रक्षा करते हैं, जो देवताओंकी सेनाके समान दुर्धर्ष एवं संगठित है, कौरवराजकी (समुद्रतुल्य) उस सेनाको क्या तुम कूपमण्डूककी भाँति अच्छी तरह समझ नहीं पाते ? ॥ १०२-१०३ ॥

नानाजनौघं युधि सम्प्रवृद्धं
गाङ्गं यथा वेगमपारणीयम् ।
मां च स्थितं नागबलस्य मध्ये
युयुत्ससे मन्द किमल्पबुद्धे ॥१०४॥

'ओ अल्पबुद्धि मूढ़ अर्जुन ! जिसका वेग युद्धकालमें गङ्गाके वेगके समान बढ़ जाता है और जिसे पार करना

असम्भव है, नाना प्रकारके जनसमुदायसे भरी हुई मेरी उस विशाल वाहिनीके साथ तथा गजसेनाके बीचमें खड़े हुए मुझ दुर्योधनके साथ भी तुम युद्धकी इच्छा कैसे रखते हो ? ॥

अक्षय्याविषुधी चैव अग्निदत्तं च ते रथम्।
जानीमो हि रणे पार्थ केतुं दिव्यं च भारत ॥१०५॥

'भारत ! हम अच्छी तरह जानते हैं कि तुम्हारे पास अक्षय बाणोंसे भरे हुए दो तरकस हैं, अग्निदेवका दिया हुआ दिव्य रथ है और युद्धकालमें उसपर दिव्य ध्वजा फहराने लगती है ॥ १०५ ॥

अकत्थमानो युद्ध्यस्व कत्थसेऽर्जुन किं बहु।
पर्यायात् सिद्धिरेतस्य नैतत् सिध्यति कत्थनात् ॥१०६॥

'अर्जुन ! बातें न बनाकर युद्ध करो। बहुत शेखी क्यों बघारते हो ? विभिन्न प्रकारोंसे युद्ध करनेपर ही राज्यकी सिद्धि हो सकती है। झूठी आत्मप्रशंसा करनेसे इस कार्यमें सफलता नहीं मिल सकती ॥ १०६ ॥

यदीदं कत्थनाल्लोके सिध्येत् कर्म धनंजय।
सर्वे भवेयुः सिद्धार्थाः कत्थने को हि दुर्गतः ॥१०७॥

'धनंजय ! यदि जगत्‌में अपनी झूठी प्रशंसा करनेसे ही अभीष्ट कार्यकी सिद्धि हो जाती, तब तो सब लोग सिद्धकाम हो जाते; क्योंकि बातें बनानेमें कौन दरिद्र और दुर्बल होगा ?

जानामि ते वासुदेवं सहायं
जानामि ते गाण्डिवं तालमात्रम्।
जानाम्यहं त्वादृशो नास्ति योद्धा
जानानस्ते राज्यमेतद्धरामि ॥१०८॥

'मैं जानता हूँ कि तुम्हारे सहायक वसुदेवनन्दन श्रीकृष्ण हैं, मैं यह भी जानता हूँ कि तुम्हारे पास चार हाथ लंबा गाण्डीव धनुष है तथा मुझे यह भी मालूम है कि तुम्हारे-जैसा दूसरा कोई योद्धा नहीं है; यह सब जानकर भी मैं तुम्हारे इस राज्यका अपहरण करता हूँ ॥ १०८ ॥

न तु पर्यायधर्मेण सिद्धिं प्राप्नोति मानवः।
मनसैवानुकूलानि धातैव कुरुते वशे ॥१०९॥

'कोई भी मनुष्य नाममात्रके धर्मद्वारा सिद्धि नहीं पाता, केवल विधाता ही मानसिक संकल्पमात्रसे सबको अपने अनुकूल और अधीन कर लेता है ॥ १०९ ॥

त्रयोदश समा भुक्तं राज्यं विलपतस्तव।
भूयश्चैव प्रशासिष्ये त्वां निहत्य सबान्धवम् ॥११०॥

'तुम रोते-बिलखते रह गये और मैंने तेरह वर्षोंतक तुम्हारा राज्य भोगा। अब भाइयोंसहित तुम्हारा वध करके आगे भी मैं ही इस राज्यका शासन करूँगा ॥११०॥

क्व तदा गाण्डिवं तेऽभूद् यत् त्वं दासपणैर्जितः।
क्व तदा भीमसेनस्य बलमासीच्च फाल्गुन ॥१११॥

'दास अर्जुन ! जब तुम जूएके दाँवपर जीत लिये गये, उस समय तुम्हारा गाण्डीव धनुष कहाँ था ? भीमसेनका बल भी उस समय कहाँ चला गया था ? ॥ १११ ॥

सगदाद् भीमसेनाद् वा फाल्गुनाद् वा सगाण्डिवात्।
न वै मोक्षस्तदाभूद् वो विना कृष्णामनिन्दिताम् ॥११२॥

'गदाधारी भीमसेन अथवा गाण्डीवधारी अर्जुनसे भी उस समय सती साध्वी द्रौपदीका सहारा लिये बिना तुमलोगोंका दासभावसे उद्धार न हो सका ॥ ११२ ॥

सा वो दास्ये समापन्नान् मोचयामास पार्षती।
अमानुष्यं समापन्नान् दासकर्मण्यवस्थितान् ॥११३॥

'तुम सब लोग अमनुष्योचित दीन दशाको प्राप्त हो दासभावमें स्थित थे। उस समय द्रुपदकुमारी कृष्णाने ही दासताके संकटमें पड़े हुए तुम सब लोगोंको छुड़ाया था ॥ ११३ ॥

अवोचं यत् षण्ढतिलानहं वस्तथ्यमेव तत्।
धृता हि वेणी पार्थेन विराटनगरे तदा ॥११४॥

'मैंने जो उन दिनों तुमलोगोंको हिजड़ा या नपुंसक कहा था, वह ठीक ही निकला; क्योंकि अज्ञातवासके समय विराटनगरमें अर्जुनको अपने सिरपर स्त्रियोंकी भाँति वेणी धारण करनी पड़ी ॥ ११४ ॥

सूदकर्मणि विश्रान्तं विराटस्य महानसे।
भीमसेनेन कौन्तेय यत् तु तन्मम पौरुषम् ॥११५॥

'कुन्तीकुमार ! तुम्हारे भाई भीमसेनको राजा विराटके रसोईघरमें रसोइयेके काममें ही संलग्न रहकर जो भारी श्रम उठाना पड़ा, वह सब मेरा ही पुरुषार्थ है ॥ ११५ ॥

एवमेव सदा दण्डं क्षत्रियाः क्षत्रिये दधुः।
वेणीं कृत्वा षण्ढवेषः कन्यां नर्तितवानसि ॥११६॥

'इसी प्रकार सदासे ही क्षत्रियोंने अपने विरोधी क्षत्रियको दण्ड दिया है। इसीलिये तुम्हें भी सिरपर वेणी रखाकर और हिजड़ोंका वेष बनाकर राजाके अन्तःपुरमें लड़कियोंको नचानेका काम करना पड़ा ॥ ११६ ॥

न भयाद् वासुदेवस्य न चापि तव फाल्गुन।
राज्यं प्रतिप्रदास्यामि युद्ध्यस्व सहकेशवः ॥११७॥

'फाल्गुन ! श्रीकृष्णके या तुम्हारे भयसे मैं राज्य नहीं लौटाऊँगा। तुम श्रीकृष्णके साथ आकर युद्ध करो ॥११७॥

न माया हीन्द्रजालं वा कुहका वापि भीषणा।
आत्तशस्त्रस्य संग्रामे वहन्ति प्रतिगर्जनाः ॥११८॥

'माया, इन्द्रजाल अथवा भयानक छलना संग्रामभूमिमें हथियार उठाये हुए वीरके क्रोध और सिंहनादको ही बढ़ाती हैं (उसे भयभीत नहीं कर सकती हैं) ॥ ११८ ॥

वासुदेवसहस्रं वा फाल्गुनानां शतानि वा।
आसाद्य माममोघेषुं द्रविष्यन्ति दिशो दश ॥११९॥

'हजारों श्रीकृष्ण और सैकड़ों अर्जुन भी अमोघ बाणोंवाले मुझ वीरके पास आकर दसों दिशाओंमें भाग जायँगे ॥

संयुगं गच्छ भीष्मेण भिन्धि वा शिरसा गिरिम्।
तरस्व वा महागाधं बाहुभ्यां पुरुषोदधिम् ॥१२०॥

'तुम भीष्मके साथ युद्ध करो या सिरसे पहाड़ फोड़ो

या सैनिकोंके अत्यन्त गहरे महासागरको दोनों बाँहोंसे तैरकर पार करो ॥ १२० ॥

शारद्वतमहामीनं विविंशतिमहोरगम् ।
बृहद्बलमहोद्वेलं सौमदत्तितिमिङ्गिलम् ॥१२१॥

'हमारे सैन्यरूपी महासमुद्रमें कृपाचार्य महामत्स्यके समान हैं, विविंशति उसके भीतर रहनेवाला महान् सर्प है, बृहद्बल उसके भीतर उठनेवाले विशाल ज्वारके समान है, भूरिश्रवा तिमिंगिल नामक मत्स्यके स्थानमें है ॥ १२१ ॥

भीष्मवेगमपर्यन्तं द्रोणग्राहदुरासदम् ।
कर्णशल्यझषावर्तं काम्बोजवडवामुखम् ॥१२२॥

'भीष्म उसके असीम वेग हैं, द्रोणाचार्यरूपी ग्राहके होनेसे इस सैन्यसागरमें प्रवेश करना अत्यन्त दुष्कर है, कर्ण और शल्य क्रमशः मत्स्य तथा आवर्त (भँवर) का काम करते हैं और काम्बोजराज सुदक्षिण इसमें बड़वानल हैं ॥

दुःशासनौघं शलशल्यमत्स्यं
सुषेणचित्रायुधनागनक्रम् ।
जयद्रथाद्रिं पुरुमित्रगाधं
दुर्मर्षणोदं शकुनिप्रपातम् ॥१२३॥

'दुःशासन उसके तीव्र प्रवाहके समान है, शल और शल्य मत्स्य हैं, सुषेण और चित्रायुध नाग और मकरके समान हैं, जयद्रथ पर्वत है, पुरुमित्र उसकी गम्भीरता है, दुर्मर्षण जल है और शकुनि प्रपात (झरने) का काम देता है ॥ १२३ ॥

शस्त्रौघमक्षय्यमभिप्रवृद्धं
यदावगाह्य श्रमनष्टचेताः ।
भविष्यसि त्वं हतसर्वबान्धव-
स्तदा मनस्ते परितापमेष्यति ॥१२४॥

'भाँति-भाँतिके शस्त्र इस सैन्यसागरके जलप्रवाह हैं। यह अक्षय होनेके साथ ही खूब बढ़ा हुआ है। इसमें प्रवेश करनेपर अधिक श्रमके कारण जब तुम्हारी चेतना नष्ट हो जायगी, तुम्हारे समस्त बन्धु मार दिये जायँगे, उस समय तुम्हारे मनको बड़ा संताप होगा ॥ १२४ ॥

तदा मनस्ते त्रिदिवादिवाशुचे-
र्निवर्तितां पार्थ महीप्रशासनात् ।
प्रशाम्य राज्यं हि सुदुर्लभं त्वया
बुभूषितः स्वर्ग इवातपस्विना ॥१२५॥

'पार्थ ! जैसे अपवित्र मनुष्यका मन स्वर्गकी ओरसे निवृत्त हो जाता है (क्योंकि उसके लिये स्वर्गकी प्राप्ति असम्भव है); उसी प्रकार तुम्हारा मन भी उस समय इस पृथ्वीपर राज्यशासन करनेसे निराश होकर निवृत्त हो जायगा। अर्जुन ! शान्त होकर बैठ जाओ। राज्य तुम्हारे लिये अत्यन्त दुर्लभ है। जिसने तपस्या नहीं की है, वह जैसे स्वर्ग पाना चाहे, उसी प्रकार तुमने भी राज्यकी अभिलाषा की है।

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि उलूकदूतागमनपर्वणि दुर्योधनवाक्ये षष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १६० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत उलूकदूतागमनपर्वमें दुर्योधनवाक्यविषयक एक सौ साठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥१६०॥

एकषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः

पाण्डवोंके शिविरमें पहुँचकर उलूकका भरी सभामें दुर्योधनका संदेश सुनाना

संजय उवाच

सेनानिवेशं सम्प्राप्तः कैतव्यः पाण्डवस्य ह ।
समागतः पाण्डवेयैर्युधिष्ठिरमभाषत ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—राजन् ! तदनन्तर जुआरी शकुनिका पुत्र उलूक पाण्डवोंकी छावनीमें जाकर उनसे मिला और युधिष्ठिरसे इस प्रकार बोला—॥१॥

अभिज्ञो दूतवाक्यानां यथोक्तं ब्रुवतो मम ।
दुर्योधनसमादेशं श्रुत्वा न क्रोद्धुमर्हसि ॥ २ ॥

'राजन् ! आप दूतके वचनोंका मर्म जाननेवाले हैं। दुर्योधनने जो संदेश दिया है, उसे मैं ज्यों-का-त्यों दोहरा दूँगा। उसे सुनकर आपको मुझपर क्रोध नहीं करना चाहिये'।२।

युधिष्ठिर उवाच

उलूक न भयं तेऽस्ति ब्रूहि त्वं विगतज्वरः ।
यन्मतं धार्तराष्ट्रस्य लुब्धस्यादीर्घदर्शिनः ॥ ३ ॥

युधिष्ठिरने कहा—उलूक ! तुम्हें (तनिक भी) भय नहीं है। तुम निश्चिन्त होकर लोभी और अदूरदर्शी दुर्योधनका अभिप्राय सुनाओ ॥ ३ ॥

ततो द्युतिमतां मध्ये पाण्डवानां महात्मनाम् ।
सृञ्जयानां च मत्स्यानां कृष्णस्य च यशस्विनः ॥ ४ ॥
द्रुपदस्य सपुत्रस्य विराटस्य च संनिधौ ।
भूमिपानां च सर्वेषां मध्ये वाक्यं जगाद ह ॥ ५ ॥

(संजय कहते हैं—) तब वहाँ बैठे हुए तेजस्वी महात्मा पाण्डवों, सृञ्जयों, मत्स्यों, यशस्वी श्रीकृष्ण तथा पुत्रोंसहित द्रुपद और विराटके समीप समस्त राजाओंके बीचमें उलूकने यह बात कही ॥ ४-५ ॥

उलूक उवाच

इदं त्वामब्रवीद् राजा धार्तराष्ट्रो महामनाः ।
शृण्वतां कुरुवीराणां तन्निबोध युधिष्ठिर ॥ ६ ॥

उलूक बोला—महाराज युधिष्ठिर ! महामना धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधनने कौरववीरोंके समक्ष आपको यह संदेश कहलाया है, इसे सुनिये ॥ ६ ॥

पराजितोऽसि द्यूतेन कृष्णा चानायिता सभाम् ।
शक्योऽमर्षो मनुष्येण कर्तुं पुरुषमानिना ॥ ७ ॥

'तुम जूएमें हारे और तुम्हारी पत्नी द्रौपदीको सभामें

लाया गया। इस दशामें अपनेको पुरुष माननेवाला प्रत्येक मनुष्य क्रोध कर सकता है ॥ ७ ॥

द्वादशैव तु वर्षाणि वने धिष्ण्याद् विवासितः ।
संवत्सरं विराटस्य दास्यमास्थाय चोषितः ॥ ८ ॥

'बारह वर्षोंतक तुम राज्यसे निर्वासित होकर वनमें रहे और एक वर्षतक तुम्हें राजा विराटका दास बनकर रहना पड़ा ॥

अमर्षं राज्यहरणं वनवासं च पाण्डव ।
द्रौपद्याश्च परिक्लेशं संस्मरन् पुरुषो भव ॥ ९ ॥

'पाण्डुनन्दन ! तुम अपने अमर्षको, राज्यके अपहरणको, वनवासको और द्रौपदीको दिये गये क्लेशको भी याद करके मर्द बनो ॥ ९ ॥

अशक्तेन च यच्छप्तं भीमसेनेन पाण्डव ।
दुःशासनस्य रुधिरं पीयतां यदि शक्यते ॥ १० ॥

'पाण्डुपुत्र ! तुम्हारे भाई भीमसेनने उस समय कुछ करनेमें असमर्थ होनेके कारण जो दुर्वचन कहा था, उसे याद करके वे आवें और यदि शक्ति हो, तो दुःशासनका रक्त पीयें ॥

लोहाभिसारो निर्वृत्तः कुरुक्षेत्रमकर्दमम् ।
समः पन्था भृतास्तेऽश्वाः श्वो युध्यस्व सकेशवः ॥ ११ ॥

'लोहेके अस्त्र-शस्त्रोंको बाहर निकालकर उन्हें तैयार करने आदिका कार्य पूरा हो गया है, कुरुक्षेत्रकी कीचड़ सूख गयी है, मार्ग बराबर हो गया है और तुम्हारे अश्व भी खूब पले हुए हैं; अतः कल सबेरेसे ही श्रीकृष्णके साथ आकर युद्ध करो ॥ ११ ॥

असमागम्य भीष्मेण संयुगे किं विकत्थसे ।
आरुरुक्षुर्यथा मन्दः पर्वतं गन्धमादनम् ॥ १२ ॥
एवं कत्थसि कौन्तेय अकत्थन् पुरुषो भव ।

'युद्धक्षेत्रमें भीष्मका सामना किये बिना ही तुम क्यों अपनी झूठी प्रशंसा करते हो ? कुन्तीनन्दन ! जैसे कोई अशक्त एवं मन्दबुद्धि पुरुष गन्धमादन पर्वतपर चढ़नेकी इच्छा करे, उसी प्रकार तुम भी अपने बारेमें बड़ी-बड़ी बातें किया करते हो ! बातें न बनाओ; पुरुष बनो (पुरुषत्वका परिचय दो) ॥ १२½ ॥

सूतपुत्रं सुदुर्धर्षं शल्यं च बलिनां वरम् ॥ १३ ॥
द्रोणं च बलिनां श्रेष्ठं शचीपतिसमं युधि ।
अजित्वा संयुगे पार्थ राज्यं कथमिहेच्छसि ॥ १४ ॥

'पार्थ ! अत्यन्त दुर्जय वीर सूतपुत्र कर्ण, बलवानोंमें श्रेष्ठ शल्य तथा युद्धमें शचीपति इन्द्रके समान पराक्रमी महाबली द्रोणको युद्धमें जीते बिना तुम यहाँ राज्य कैसे लेना चाहते हो ? ॥ १३-१४ ॥

ब्राह्मे धनुषि चाचार्यं वेदयोरन्तगं द्वयोः ।
युधि धुर्यमविक्षोभ्यमनीकचरमच्युतम् ॥ १५ ॥
द्रोणं महाद्युतिं पार्थ जेतुमिच्छसि तन्मृषा ।
न हि शुश्रुम वातेन मेरुमुन्मथितं गिरिम् ॥ १६ ॥

'आचार्य द्रोण ब्राह्मवेद और धनुर्वेद दोनोंके पारङ्गत पण्डित हैं। वे युद्धका भार वहन करनेमें समर्थ, अक्षोभ्य, सेनाके मध्यमें विचरनेवाले तथा संग्रामभूमिसे कभी पीछे न हटनेवाले हैं। पार्थ ! तुम उन्हीं महातेजस्वी द्रोणको जो जीतनेकी इच्छा करते हो, वह व्यर्थ दुःसाहसमात्र है। वायुने कभी सुमेरु पर्वतको उखाड़ फेंका हो, यह कभी हमारे सुननेमें नहीं आया ॥ १५-१६ ॥

अनिलो वा वहेन्मेरुं द्यौर्वापि निपतेन्महीम् ।
युगं वा परिवर्तेत यद्येवं स्याद् यथाऽऽत्थ माम् ॥ १७ ॥

'तुम जैसा मुझसे कहते हो, वैसा ही यदि सम्भव हो जाय, तब तो वायु भी सुमेरु पर्वतको उठा ले, स्वर्गलोक पृथ्वीपर गिर पड़े अथवा युग ही बदल जाय ॥ १७ ॥

को ह्यस्ति जीविताकाङ्क्षी प्राप्येममरिमर्दनम् ।
गजो वाजी रथो वापि पुनः स्वस्ति गृहान् व्रजेत् ॥ १८ ॥

'जीवित रहनेकी इच्छावाला कौन ऐसा हाथीसवार, घुड़सवार अथवा रथी है, जो इन शत्रुमर्दन द्रोणसे भिड़कर कुशलपूर्वक अपने घरको लौट सके ? ॥ १८ ॥

कथमाभ्यामभिध्यातः संस्पृष्टो दारुणेन वा ।
रणे जीवन् विमुच्येत पदा भूमिमुपस्पृशन् ॥ १९ ॥

'भीष्म और द्रोणने जिसे मारनेका निश्चय कर लिया हो अथवा जो युद्धमें इनके भयंकर अस्त्रोंसे छू गया हो, ऐसा कौन भूतलनिवासी जीवित बच सकता है ? ॥ १९ ॥

किं दर्दुरः कूपशयो यथेमां
न बुध्यसे राजचमूं समेताम् ।
दुराधर्षां देवचमूप्रकाशां
गुप्तां नरेन्द्रैस्त्रिदशैरिव द्याम् ॥ २० ॥
प्राच्यैः प्रतीच्यैरथ दाक्षिणात्यै-
रुदीच्यकाम्बोजशकैः खशैश्च ।
शाल्वैः समत्स्यैः कुरुमुख्यदेश्यै-
र्म्लेच्छैः पुलिन्दैर्द्रविडान्ध्रकाञ्च्यैः ॥ २१ ॥

'जैसे देवता स्वर्गकी रक्षा करते हैं, उसी प्रकार पूर्व, पश्चिम, दक्षिण और उत्तर दिशाओंके नरेश तथा काम्बोज, शक, खश, शाल्व, मत्स्य, कुरु और मध्यप्रदेशके सैनिक एवं म्लेच्छ, पुलिन्द, द्रविड़, आन्ध्र और काञ्चीदेशीय योद्धा जिस सेनाकी रक्षा करते हैं, जो देवताओंकी सेनाके समान दुर्धर्ष एवं संगठित है, कौरवराजकी उस (समुद्रतुल्य) सेनाको क्या तुम कूपमण्डूककी भाँति अच्छी तरह समझ नहीं पाते ? ॥ २०-२१ ॥

नानाजनौघं युधि सम्प्रवृद्धं
गाङ्गं यथा वेगमपारणीयम् ।
मां च स्थितं नागबलस्य मध्ये
युयुत्ससे मन्द किमल्पबुद्धे ॥ २२ ॥

'अल्पबुद्धि मूढ़ युधिष्ठिर ! जिसका वेग युद्धकालमें गङ्गाके वेगके समान बढ़ जाता है और जिसे पार करना असम्भव है, नाना प्रकारके जनसमुदायसे भरी हुई मेरी उस विशाल वाहिनीके साथ तथा गजसेनाके बीचमें खड़े हुए मुझ

दुर्योधनके साथ भी तुम युद्धकी इच्छा कैसे रखते हो ?' । २२ ।

इत्येवमुक्त्वा राजानं धर्मपुत्रं युधिष्ठिरम् ।
अभ्यावृत्य पुनर्जिष्णुमुलूकः प्रत्यभाषत ॥ २३ ॥

धर्मपुत्र राजा युधिष्ठिरसे ऐसा कहकर उलूक अर्जुनकी ओर मुड़ा और तत्पश्चात् उनसे भी इस प्रकार कहने लगा—॥ २३॥

अकत्थमानो युध्यस्व कत्थसेऽर्जुन किं बहु ।
पर्यायात् सिद्धिरेतस्य नैतत् सिध्यति कत्थनात् ॥ २४॥

'अर्जुन ! बातें न बनाकर युद्ध करो । बहुत आत्मप्रशंसा क्यों करते हो ? विभिन्न प्रकारोंसे युद्ध करनेपर ही राज्यकी सिद्धि हो सकती है । झूठी आत्मप्रशंसा करनेसे इस कार्यमें सफलता नहीं मिल सकती ॥ २४ ॥

यदीदं कत्थनाल्लोके सिध्येत् कर्म धनंजय ।
सर्वे भवेयुः सिद्धार्थाः कत्थने को हि दुर्गतः ॥ २५ ॥

'धनंजय ! यदि जगत्में अपनी झूठी प्रशंसा करनेसे ही अभीष्ट कार्यकी सिद्धि हो जाती, तब तो सब लोग सिद्धकाम हो जाते; क्योंकि बातें बनानेमें कौन दरिद्र और दुर्बल होगा ? । २५ ।

जानामि ते वासुदेवं सहायं
जानामि ते गाण्डिवं तालमात्रम् ।
जानाम्येतत् त्वादृशो नास्ति योद्धा
जानानस्ते राज्यमेतद्धरामि ॥ २६ ॥

'मैं जानता हूँ कि तुम्हारे सहायक वसुदेवनन्दन श्रीकृष्ण हैं, मैं यह भी जानता हूँ कि तुम्हारे पास चार हाथ लम्बा गाण्डीव धनुष है तथा मुझे यह भी मालूम है कि तुम्हारे-जैसा दूसरा कोई योद्धा नहीं है; यह सब जानकर भी मैं तुम्हारे इस राज्यका अपहरण करता हूँ ॥ २६ ॥

न तु पर्यायधर्मेण राज्यं प्राप्नोति मानुषः ।
मनसैवानुकूलानि विधाता कुरुते वशे ॥ २७ ॥

'कोई भी मनुष्य नाममात्रके धर्मद्वारा राज्य नहीं पाता; केवल विधाता ही मानसिक संकल्पमात्रसे सबको अपने अनुकूल और अधीन कर लेता है ॥ २७ ॥

त्रयोदश समा भुक्तं राज्यं विलपतस्तव ।
भूयश्चैव प्रशासिष्ये निहत्य त्वां सबान्धवम् ॥ २८ ॥

'तुम रोते-विलखते रह गये और मैंने तेरह वर्षोंतक तुम्हारा राज्य भोगा । अब भाइयोंसहित तुम्हारा वध करके आगे भी मैं ही इस राज्यका शासन करूँगा ॥ २८ ॥

क्व तदा गाण्डिवं तेऽभूद् यत् त्वं दास पणैर्जितः ।
क्व तदा भीमसेनस्य बलमासीच्च फाल्गुन ॥ २९ ॥

'दास अर्जुन ! जब तुमलोग जूएके दाँवपर जीत लिये गये, उस समय तुम्हारा गाण्डीव धनुष कहाँ था ? भीमसेनका बल भी उस समय कहाँ चला गया था ? ॥ २९ ॥

सगदाद् भीमसेनाद् वा पार्थाद् वापि सगाण्डिवात् ।
न वै मोक्षस्तदा वोऽभूद् विना कृष्णामनिन्दिताम् ॥ ३०॥

'गदाधारी भीमसेन अथवा गाण्डीवधारी अर्जुनसे भी उस समय सती साध्वी द्रौपदीका सहारा लिये बिना तुमलोगोंका दासभावसे उद्धार न हो सका ॥ ३० ॥

सा वो दास्ये समापन्नान् मोक्षयामास पार्षती ।
अमानुष्यं समापन्नान् दासकर्मण्यवस्थितान् ॥ ३१ ॥

'तुम सब लोग अमनुष्योचित दीन दशाको प्राप्त हो दासभावमें स्थित थे । उस समय उस द्रुपदकुमारी कृष्णाने ही दासताके संकटमें पड़े हुए तुम सब लोगोंको छुड़ाया था ॥

अवोचं यत् षण्ढतिलानहं वस्तथ्यमेव तत् ।
धृता हि वेणी पार्थेन विराटनगरे तदा ॥ ३२ ॥

'मैंने जो उन दिनों तुमलोगोंको हिजड़ा या नपुंसक कहा था, वह ठीक ही निकला; क्योंकि अज्ञातवासके समय विराटनगरमें अर्जुनको अपने सिरपर स्त्रियोंकी भाँति वेणी धारण करनी पड़ी ॥ ३२ ॥

सूदकर्मणि च श्रान्तं विराटस्य महानसे ।
भीमसेनेन कौन्तेय यच्च तन्मम पौरुषम् ॥ ३३ ॥

'कुन्तीकुमार ! तुम्हारे भाई भीमसेनको राजा विराटके रसोईघरमें रसोइयेके काममें ही संलग्न रहकर जो भारी श्रम उठाना पड़ा, वह सब मेरा ही पुरुषार्थ है ॥ ३३ ॥

एवमेतत् सदा दण्डं क्षत्रियाः क्षत्रिये दधुः ।
वेणीं कृत्वा षण्ढवेषः कन्यां नर्तितवानसि ॥ ३४॥

'इसी प्रकार सदासे ही क्षत्रियोंने अपने विरोधी क्षत्रियको दण्ड दिया है । इसीलिये तुम्हें भी सिरपर वेणी रखाकर और हिजड़ोंका वेष बनाकर राजा विराटकी कन्याको नचानेका काम करना पड़ा ॥ ३४ ॥

न भयाद् वासुदेवस्य न चापि तव फाल्गुन ।
राज्यं प्रतिप्रदास्यामि युद्ध्यस्व सहकेशवः ॥ ३५ ॥

'फाल्गुन ! श्रीकृष्णके या तुम्हारे भयसे मैं राज्य नहीं लौटाऊँगा । तुम श्रीकृष्णके साथ आकर युद्ध करो ॥ ३५ ॥

न माया हीन्द्रजालं वा कुहका वापि भीषणा ।
आत्तशस्त्रस्य मे युद्धे वहन्ति प्रतिगर्जनाः ॥ ३६ ॥

'माया, इन्द्रजाल अथवा भयानक छलना संग्रामभूमिमें हथियार उठाये हुए मुझ दुर्योधनके क्रोध और सिंहनादको ही बढ़ाती हैं (मुझे भयभीत नहीं कर सकती हैं) ॥ ३६ ॥

वासुदेवसहस्रं वा फाल्गुनानां शतानि वा ।
आसाद्य माममोघेषुं द्रविष्यन्ति दिशो दश ॥ ३७ ॥

'हजारों श्रीकृष्ण और सैकड़ों अर्जुन भी अमोघ बाणोंवाले मुझ वीरके पास आकर दसों दिशाओंमें भाग जायँगे। ३७।

संयुगं गच्छ भीष्मेण भिन्धि वा शिरसा गिरिम् ।
तरेमं वा महागाधं बाहुभ्यां पुरुषोदधिम् ॥ ३८ ॥

'तुम भीष्मके साथ युद्ध करो या सिरसे पहाड़ फोड़ो या सैनिकोंके अत्यन्त गहरे महासागरको दोनों बाँहोंसे तैरकर पार करो ॥

शारद्वतमहामीनं विविंशतिमहोरगम् ।
बृहद्बलमहोद्वेलं सौमदत्तितिमिङ्गिलम् ॥ ३९ ॥

'हमारे सैन्यरूपी महासमुद्रमें कृपाचार्य महामत्स्यके समान हैं, विविंशति उसके भीतर रहनेवाला महासर्प है,

बृहद्बल उसके भीतर उठनेवाले महान् ज्वारके समान हैं, भूरिश्रवा तिमिंगिल नामक मत्स्यके स्थानमें हैं ॥ ३९ ॥

भीष्मवेगमपर्यन्तं द्रोणग्राहदुरासदम्।
कर्णशल्यझषावर्तं काम्बोजवडवामुखम् ॥ ४० ॥

'भीष्म उसके असीम वेग हैं, द्रोणाचार्यरूपी ग्राहके होनेसे इस सैन्यसागरमें प्रवेश करना अत्यन्त दुष्कर है, कर्ण और शल्य मत्स्य तथा आवर्त (भँवर) का काम करते हैं और काम्बोजराज सुदक्षिण इसमें वड़वानल हैं ॥ ४० ॥

दुःशासनौघं शलशल्यमत्स्यं
सुषेणचित्रायुधनागनक्रम् ।
जयद्रथाद्रिं पुरुमित्रगाधं
दुर्मर्षणोदं शकुनिप्रपातम् ॥ ४१ ॥

'दुःशासन इसके तीव्र प्रवाहके समान है, शल और शल्य मत्स्य हैं, सुषेण और चित्रायुध नाग और मकरके समान हैं, जयद्रथ पर्वत है, पुरुमित्र उसकी गम्भीरता है, दुर्मर्षण जल है और शकुनि प्रपात (झरने) का काम देता है।४१।

शस्त्रौघमक्षय्यमतिप्रवृद्धं
यदावगाह्य श्रमनष्टचेताः ।
भविष्यसि त्वं हतसर्वबान्धव-
स्तदा मनस्ते परितापमेष्यति ॥ ४२ ॥

'भाँति-भाँतिके शस्त्र इस सैन्यसागरके जलप्रवाह हैं। यह अक्षय होनेके साथ ही खूब बढ़ा हुआ है। इसमें प्रवेश करनेपर अधिक श्रमके कारण जब तुम्हारी चेतना नष्ट हो जायगी, तुम्हारे समस्त बन्धु मार दिये जायँगे, उस समय तुम्हारे मनको बड़ा संताप होगा ॥ ४२ ॥

तदा मनस्ते त्रिदिवादिवाशुचे-
र्निवर्तिता पार्थ महीप्रशासनात्।
प्रशाम्य राज्यं हि सुदुर्लभं त्वया
बुभूषितः स्वर्ग इवातपस्विना ॥ ४३ ॥

'पार्थ ! जैसे अपवित्र मनुष्यका मन स्वर्गकी ओरसे निवृत्त हो जाता है; क्योंकि उसके लिये स्वर्गकी प्राप्ति असम्भव है, उसी प्रकार तुम्हारा मन भी उस समय इस पृथ्वीके राज्य-शासनसे निराश होकर निवृत्त हो जायगा। अर्जुन ! शान्त होकर बैठ जाओ। राज्य तुम्हारे लिये अत्यन्त दुर्लभ है। जिसने तपस्या नहीं की है, वह जैसे स्वर्ग पाना चाहे, उसी प्रकार तुमने भी राज्यकी अभिलाषा की है' ॥४३॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि उलूकदूतागमनपर्वणि उलूकवाक्ये एकषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १६१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत उलूकदूतागमनपर्वमें उलूकवाक्यविषयक एक सौ इकसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १६१ ॥

द्विषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः

पाण्डवपक्षकी ओरसे दुर्योधनको उसके संदेशका उत्तर

संजय उवाच

उलूकस्त्वर्जुनं भूयो यथोक्तं वाक्यमब्रवीत्।
आशीविषमिव क्रुद्धं तुदन् वाक्यशलाकया ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—राजन्! उलूकने विषधर सर्पके समान क्रोधमें भरे हुए अर्जुनको अपने वाग्बाणोंसे और भी पीड़ा देते हुए दुर्योधनकी कही हुई सारी बातें कह सुनायीं ॥ १ ॥

तस्य तद् वचनं श्रुत्वा रुषिताः पाण्डवा भृशम्।
प्रागेव भृशसंक्रुद्धाः कैतव्येनापि धर्षिताः ॥ २ ॥

उसकी बात सुनकर पाण्डवोंको बड़ा रोष हुआ। एक तो वे पहलेसे ही अधिक क्रुद्ध थे, दूसरे जुआरी शकुनिके बेटेने भी उनका बड़ा तिरस्कार किया ॥ २ ॥

आसनेषूदतिष्ठन्त बाहूंश्चैव प्रचिक्षिपुः।
आशीविषा इव क्रुद्धा वीक्षांचक्रुः परस्परम् ॥ ३ ॥

वे आसनोंसे उठकर खड़े हो गये और अपनी भुजाओंको इस प्रकार हिलाने लगे, मानो प्रहार करनेके लिये उद्यत हों। वे विषैले सर्पोंके समान अत्यन्त कुपित हो एक-दूसरेकी ओर देखने लगे ॥ ३ ॥

अवाक्शिरा भीमसेनः समुदैक्षत केशवम्।
नेत्राभ्यां लोहितान्ताभ्यामाशीविष इव श्वसन् ॥ ४ ॥

भीमसेनने फुफकारते हुए विषधर नागकी भाँति लम्बी साँसें खींचते हुए सिर नीचे किये लाल नेत्रोंसे भगवान् श्रीकृष्णकी ओर देखा ॥ ४ ॥

आर्तं वातात्मजं दृष्ट्वा क्रोधेनाभिहतं भृशम्।
उत्स्मयन्निव दाशार्हः कैतव्यं प्रत्यभाषत ॥ ५ ॥

वायुपुत्र भीमको क्रोधसे अत्यन्त पीड़ित और आहत देख दशार्हकुलभूषण श्रीकृष्णने उलूकसे मुसकराते हुए-से कहा—।

प्रयाहि शीघ्रं कैतव्य ब्रूयाश्चैव सुयोधनम्।
श्रुतं वाक्यं गृहीतोऽर्थो मतं यत् ते तथास्तु तत् ॥ ६ ॥

'जुआरी शकुनिके पुत्र उलूक ! तू शीघ्र लौट जा और दुर्योधनसे कह दे—'पाण्डवोंने तुम्हारा संदेश सुना और उसके अर्थको समझकर स्वीकार किया। युद्धके विषयमें जैसा तुम्हारा मत है, वैसा ही हो' ॥ ६ ॥

एवमुक्त्वा महाबाहुः केशवो राजसत्तम।
पुनरेव महाप्राज्ञं युधिष्ठिरमुदैक्षत ॥ ७ ॥

नृपश्रेष्ठ ! ऐसा कहकर महाबाहु केशवने पुनः परम बुद्धिमान् राजा युधिष्ठिरकी ओर देखा ॥ ७ ॥

सृञ्जयानां च सर्वेषां कृष्णस्य च यशस्विनः।
द्रुपदस्य सपुत्रस्य विराटस्य च संनिधौ ॥ ८ ॥
भूमिपानां च सर्वेषां मध्ये वाक्यं जगाद ह।
उलूकोऽप्यर्जुनं भूयो यथोक्तं वाक्यमब्रवीत् ॥ ९ ॥

आशीविषमिव क्रुद्धं तुदन् वाक्यशलाकया ।
कृष्णादींश्चैव तान् सर्वान् यथोक्तं वाक्यमब्रवीत् ॥ १० ॥

फिर उलूकने भी समस्त सृंजयवंशी क्षत्रियसमुदाय, यशस्वी श्रीकृष्ण तथा पुत्रोंसहित द्रुपद और विराटके समीप सम्पूर्ण राजाओंकी मण्डलीमें शेष बातें कहीं । उसने विषधर सर्पके सदृश कुपित हुए अर्जुनको पुनः अपने वाग्बाणोंसे पीड़ा देते हुए दुर्योधनकी कही हुई सब बातें कह सुनायीं । साथ ही श्रीकृष्ण आदि अन्य सब लोगोंसे कहनेके लिये भी उसने जो-जो संदेश दिये थे, उन्हें भी उन सबको यथावत्‌रूपसे सुना दिया ॥ ८–१० ॥

उलूकस्य तु तद् वाक्यं पापं दारुणमीरितम् ।
श्रुत्वा विचुक्षुभे पार्थो ललाटं चाप्यमार्जयत् ॥ ११ ॥

उलूकके कहे हुए उस पापपूर्ण दारुण वचनको सुनकर कुन्तीपुत्र अर्जुनको बड़ा क्षोभ हुआ । उन्होंने हाथसे ललाटका पसीना पोंछा ॥ ११ ॥

तदवस्थं तदा दृष्ट्वा पार्थं सा समितिर्नृप ।
नामृष्यन्त महाराज पाण्डवानां महारथाः ॥ १२ ॥

नरेश्वर ! अर्जुनको उस अवस्थामें देखकर राजाओंकी वह समिति तथा पाण्डव महारथी सहन न कर सके ॥१२॥

अधिक्षेपेण कृष्णस्य पार्थस्य च महात्मनः ।
श्रुत्वा ते पुरुषव्याघ्राः क्रोधाज्जज्वलुरच्युताः ॥ १३ ॥

राजन् ! महात्मा अर्जुन तथा श्रीकृष्णके प्रति आक्षेपपूर्ण वचन सुनकर वे पुरुषसिंह शूरवीर क्रोधसे जल उठे ॥

धृष्टद्युम्नः शिखण्डी च सात्यकिश्च महारथः ।
केकया भ्रातरः पञ्च राक्षसश्च घटोत्कचः ॥ १४ ॥
द्रौपदेयाभिमन्युश्च धृष्टकेतुश्च पार्थिवः ।
भीमसेनश्च विक्रान्तो यमजौ च महारथौ ॥ १५ ॥
उत्पेतुरासनात् सर्वे क्रोधसंरक्तलोचनाः ।
बाहून् प्रगृह्य रुचिरान् रक्तचन्दनरूषितान् ।
अङ्गदैः पारिहार्यैश्च केयूरैश्च विभूषितान् ॥ १६ ॥
दन्तान् दन्तेषु निष्पिष्य सृक्किणी परिलेलिहन् ।

धृष्टद्युम्न, शिखण्डी, महारथी सात्यकि, पाँच भाई केकयराजकुमार, राक्षस घटोत्कच, द्रौपदीके पाँचों पुत्र, अभिमन्यु, राजा धृष्टकेतु, पराक्रमी भीमसेन तथा महारथी नकुल-सहदेव—ये सबके सब क्रोधसे लाल आँखें किये अपने आसनोंसे उछलकर खड़े हो गये और अङ्गद, पारिहार्य (मोतियोंके गुच्छों) तथा केयूरोंसे विभूषित एवं लाल चन्दनसे चर्चित अपनी सुन्दर भुजाओंको थामकर दाँतोंपर दाँत रगड़ते हुए ओटोंके दोनों कोने चाटने लगे ॥

तेषामाकारभावज्ञः कुन्तीपुत्रो वृकोदरः ॥ १७ ॥
उदतिष्ठत् स वेगेन क्रोधेन प्रज्वलन्निव ।
उद्वृत्य सहसा नेत्रे दन्तान् कटकटाय्य च ॥ १८ ॥
हस्तं हस्तेन निष्पिष्य उलूकं वाक्यमब्रवीत् ।

उनकी आकृति और भावको जानकर कुन्तीपुत्र वृकोदर बड़े वेगसे उठे और क्रोधसे जलते हुएके समान सहसा आँखें फाड़-फाड़कर देखते, दाँत कटकटाते और हाथसे हाथ रगड़ते हुए उलूकसे इस प्रकार बोले—॥ १७-१८½ ॥

अशक्तानामिवास्माकं प्रोत्साहननिमित्तकम् ॥ १९ ॥
श्रुतं ते वचनं मूर्ख यत् त्वां दुर्योधनोऽब्रवीत् ।

'ओ मूर्ख ! दुर्योधनने तुझसे जो कुछ कहा है, वह तेरा वचन हमने सुन लिया । मानो हम असमर्थ हों और तू हमें प्रोत्साहन देनेके निमित्त यह सब कुछ कह रहा हो ॥ १९½ ॥

तन्मे कथयतो मन्द शृणु वाक्यं दुरासदम् ॥ २० ॥
सर्वक्षत्रस्य मध्ये तं यद् वक्ष्यसि सुयोधनम् ।
शृण्वतः सूतपुत्रस्य पितुश्च त्वं दुरात्मनः ॥ २१ ॥

'मूर्ख उलूक ! अब तू मेरी कही हुई दुःसह बातें सुन और समस्त राजाओंकी मण्डलीमें सूतपुत्र कर्ण और अपने दुरात्मा पिता शकुनिके सामने दुर्योधनको सुना देना—॥ २०-२१ ॥

अस्माभिः प्रीतिकामैस्तु भ्रातुर्ज्येष्ठस्य नित्यशः ।
मर्षितं ते दुराचार तत् त्वं न बहु मन्यसे ॥ २२ ॥

'दुराचारी दुर्योधन ! हमलोगोंने सदा अपने बड़े भाईको प्रसन्न रखनेकी इच्छासे तेरे बहुत-से अत्याचारोंको चुपचाप सह लिया है; परंतु तू इन बातोंको अधिक महत्त्व नहीं दे रहा है ॥ २२ ॥

प्रेषितश्च हृषीकेशः शमाकाङ्क्षी कुरून् प्रति ।
कुलस्य हितकामेन धर्मराजेन धीमता ॥ २३ ॥

'बुद्धिमान् धर्मराजने कौरवकुलके हितकी इच्छासे शान्ति चाहनेवाले भगवान् श्रीकृष्णको कौरवोंके पास भेजा था ॥

त्वं कालचोदितो नूनं गन्तुकामो यमक्षयम् ।
गच्छस्वाहवमस्माभिस्तच्च श्वो भविता ध्रुवम् ॥ २४ ॥

'परंतु तू निश्चय ही कालसे प्रेरित हो यमलोकमें जाना चाहता है (इसीलिये संधिकी बात नहीं मान सका) । अच्छा, हमारे साथ युद्धमें चल । कल निश्चय ही युद्ध होगा ॥२४॥

मयापि च प्रतिज्ञातो वधः सभ्रातृकस्य ते ।
स तथा भविता पाप नात्र कार्या विचारणा ॥ २५ ॥

'पापात्मन् ! मैंने भी जो तेरे और तेरे भाइयोंके वधकी प्रतिज्ञा की है, वह उसी रूपमें पूर्ण होगी । इस विषयमें तुझे कोई अन्यथा विचार नहीं करना चाहिये ॥ २५ ॥

वेलामतिक्रमेत् सद्यः सागरो वरुणालयः ।
पर्वताश्च विशीर्येयुर्मयोक्तं न मृषा भवेत् ॥ २६ ॥

'वरुणालय समुद्र शीघ्र ही अपनी सीमाका उल्लङ्घन कर जाय और पर्वत जीर्ण-शीर्ण होकर बिखर जायँ, परंतु मेरी कही हुई बात झूठी नहीं हो सकती ॥ २६ ॥

सहायस्ते यदि यमः कुबेरो रुद्र एव वा ।
यथाप्रतिज्ञं दुर्बुद्धे प्रकरिष्यन्ति पाण्डवाः ।
दुःशासनस्य रुधिरं पाता चास्मि यथेप्सितम् ॥ २७ ॥

'दुर्बुद्धे ! तेरी सहायताके लिये यमराज, कुबेर अथवा

भगवान् रुद्र ही क्यों न आ जायँ, पाण्डव अपनी प्रतिज्ञाके अनुसार सब कार्य अवश्य करेंगे। मैं अपनी इच्छाके अनुसार दुःशासनका रक्त अवश्य पीऊँगा ॥ २७ ॥

यश्चेह प्रतिसंरब्धः क्षत्रियो माभियास्यति।
अपि भीष्मं पुरस्कृत्य तं नेष्यामि यमक्षयम् ॥ २८ ॥

'उस समय साक्षात् भीष्मको भी आगे करके जो कोई भी क्षत्रिय क्रोधपूर्वक मेरे ऊपर धावा करेगा, उसे उसी क्षण यमलोक पहुँचा दूँगा ॥२८॥

यच्चैतदुक्तं वचनं मया क्षत्रस्य संसदि।
यथैतद् भविता सत्यं तथैवात्मानमालभे ॥ २९ ॥

'मैंने क्षत्रियोंकी सभामें यह बात कही है, जो अवश्य सत्य होगी। यह मैं अपनी सौगन्ध खाकर कहता हूँ' ॥२९॥

भीमसेनवचः श्रुत्वा सहदेवोऽप्यमर्षणः।
क्रोधसंरक्तनयनस्ततो वाक्यमुवाच ह ॥ ३० ॥

भीमसेनका वचन सुनकर सहदेवका भी अमर्ष जाग उठा। तब उन्होंने भी क्रोधसे आँखें लाल करके यह बात कही—॥

शौटीरशूरसदृशमनीकजनसंसदि।
शृणु पाप वचो मह्यं यद्वाच्यो हि पिता त्वया ॥ ३१ ॥

'ओ पापी ! मैं इन वीर सैनिकोंकी सभामें गर्वीले शूरवीरके योग्य वचन बोल रहा हूँ। तू इसे सुन ले और अपने पिताके पास जाकर सुना दे ॥ ३१ ॥

नास्माकं भविता भेदः कदाचित् कुरुभिः सह।
धृतराष्ट्रस्य सम्बन्धो यदि न स्यात् त्वया सह ॥ ३२ ॥

'यदि धृतराष्ट्रका तेरे साथ सम्बन्ध न होता, तो कभी कौरवोंके साथ हमलोगोंकी फूट नहीं होती ॥३२॥

त्वं तु लोकविनाशाय धृतराष्ट्रकुलस्य च।
उत्पन्नो वैरपुरुषः स्वकुलघ्नश्च पापकृत् ॥ ३३ ॥

'तू सम्पूर्ण जगत् तथा धृतराष्ट्रकुलके विनाशके लिये पापाचारी मूर्तिमान् वैरपुरुष होकर उत्पन्न हुआ है। तू अपने कुलका भी नाश करनेवाला है ॥३३॥

जन्मप्रभृति चास्माकं पिता ते पापपूरुषः।
अहितानि नृशंसानि नित्यशः कर्तुमिच्छति ॥ ३४ ॥

'उलूक ! तेरा पापात्मा पिता जन्मसे ही हमलोगोंके प्रति प्रतिदिन क्रूरतापूर्ण अहितकर बर्ताव करना चाहता है ॥

तस्य वैरानुषङ्गस्य गन्तास्म्यन्तं सुदुर्गमम्।
अहमादौ निहत्य त्वां शकुनेः सम्प्रपश्यतः ॥ ३५ ॥
ततोऽस्मि शकुनिं हन्ता मिषतां सर्वधन्विनाम्।

'इसलिये मैं शकुनिके देखते देखते सबसे पहले तेरा वध करके सम्पूर्ण धनुर्धरोंके सामने शकुनिको भी मार डालूँगा और इस प्रकार अत्यन्त दुर्गम शत्रुतासे पार हो जाऊँगा' ॥ ३५½ ॥

भीमस्य वचनं श्रुत्वा सहदेवस्य चोभयोः ॥ ३६ ॥
उवाच फाल्गुनो वाक्यं भीमसेनं स्मयन्निव।
भीमसेन न ते सन्ति येषां वैरं त्वया सह ॥ ३७ ॥
मन्दा गृहेषु सुखिनो मृत्युपाशवशं गताः।

भीमसेन और सहदेव दोनोंके वचन सुनकर अर्जुनने भीमसेनसे मुसकराते हुए कहा—'आर्य भीम ! जिनका आपके साथ वैर ठन गया है, वे घरमें बैठकर सुखका अनुभव करनेवाले मूर्ख कौरव कालके पाशमें बँध गये हैं (अर्थात् उनका जीवन नहींके बराबर है) ॥३६-३७½॥

उलूकश्च न ते वाच्यः परुषं पुरुषोत्तम ॥ ३८ ॥
दूताः किमपराध्यन्ते यथोक्तस्यानुभाषिणः।

'पुरुषोत्तम ! आपको इस उलूकसे कोई कठोर बात नहीं कहनी चाहिये। बेचारे दूतोंका क्या अपराध है ? वे तो कही हुई बातका अनुवादमात्र करनेवाले हैं' ॥३८½॥

एवमुक्त्वा महाबाहुर्भीमं भीमपराक्रमम् ॥ ३९ ॥
धृष्टद्युम्नमुखान् वीरान् सुहृदः समभाषत।

भयंकर पराक्रमी भीमसेनसे ऐसा कहकर महाबाहु अर्जुनने धृष्टद्युम्न आदि वीर सुहृदोंसे कहा—॥३९½॥

श्रुतं वस्तस्य पापस्य धार्तराष्ट्रस्य भाषितम् ॥ ४० ॥
कुत्सनं वासुदेवस्य मम चैव विशेषतः।
श्रुत्वा भवन्तः संरब्धा अस्माकं हितकाम्यया ॥ ४१ ॥

'बन्धुओ ! आपलोगोंने उस पापी दुर्योधनकी बात सुनी है न ? इसमें उसके द्वारा विशेषतः मेरी और भगवान् श्रीकृष्णकी निन्दा की गयी है। आपलोग हमारे हितकी कामना रखते हैं, इसलिये इस निन्दाको सुनकर कुपित हो उठे हैं ॥४०-४१॥

प्रभावाद् वासुदेवस्य भवतां च प्रयत्नतः।
समग्रं पार्थिवं क्षत्रं सर्वं न गणयाम्यहम् ॥ ४२ ॥

'परंतु भगवान् वासुदेवके प्रभाव और आपलोगोंके प्रयत्नसे मैं इस समस्त भूमण्डलके सम्पूर्ण क्षत्रियोंको भी कुछ नहीं गिनता हूँ ॥ ४२ ॥

भवद्भिः समनुज्ञातो वाक्यमस्य यदुत्तरम्।
उलूके प्रापयिष्यामि यद् वक्ष्यति सुयोधनम् ॥ ४३ ॥

'यदि आपलोगोंकी आज्ञा हो तो मैं इस बातका उत्तर उलूकको दे दूँ, जिसे यह दुर्योधनको सुना देगा ॥४३॥

श्वोभूते कत्थितस्यास्य प्रतिवाक्यं चमूमुखे।
गाण्डीवेनाभिधास्यामि क्लीबा हि वचनोत्तराः ॥ ४४ ॥

'अथवा आपकी सम्मति हो, तो कल सबेरे सेनाके मुहानेपर उसकी इन शेखीभरी बातोंका ठीक-ठीक उत्तर गाण्डीव धनुषद्वारा दे दूँगा; क्योंकि केवल बातोंमें उत्तर देनेवाले तो नपुंसक होते हैं' ॥ ४४ ॥

ततस्ते पार्थिवाः सर्वे प्रशशंसुर्धनंजयम्।
तेन वाक्योपचारेण विस्मिता राजसत्तमाः ॥ ४५ ॥

अर्जुनकी इस प्रवचन-शैलीसे सभी श्रेष्ठ भूपाल आश्चर्यचकित हो उठे और वे सबके सब उनकी भूरि-भूरि प्रशंसा करने लगे ॥ ४५ ॥

अनुनीय च तान् सर्वान् यथामान्यं यथावयः।

धर्मराजस्तदा वाक्यं तत्प्राप्यं प्रत्यभाषत ॥ ४६ ॥

तदनन्तर धर्मराजने उन समस्त राजाओंको उनकी अवस्था और प्रतिष्ठाके अनुसार अनुनय-विनय करके शान्त किया और दुर्योधनको देने योग्य जो संदेश था, उसे इस प्रकार कहा—॥ ४६ ॥

आत्मानमवमन्वानो न हि स्यात् पार्थिवोत्तमः।
तत्रोत्तरं प्रवक्ष्यामि तव शुश्रूषणे रतः ॥ ४७ ॥

'उलूक ! कोई भी श्रेष्ठ राजा शान्त रहकर अपनी अवज्ञा सहन नहीं कर सकता। मैंने तुम्हारी बात ध्यान देकर सुनी है। अब मैं तुम्हें उत्तर देता हूँ, उसे सुनो' ॥ ४७ ॥

उलूकं भरतश्रेष्ठ सामपूर्वमथोर्जितम्।
दुर्योधनस्य तद् वाक्यं निशम्य भरतर्षभः ॥ ४८ ॥
अतिलोहितनेत्राभ्यामाशीविष इव श्वसन्।
स्मयमान इव क्रोधात् सृक्किणी परिसंलिहन् ॥ ४९ ॥
जनार्दनमभिप्रेक्ष्य भ्रातॄंश्चैवेदमब्रवीत्।
अभ्यभाषत कैतव्यं प्रगृह्य विपुलं भुजम् ॥ ५० ॥

भरतश्रेष्ठ जनमेजय ! इस प्रकार युधिष्ठिरने उलूकसे पहले मधुर वचन बोलकर फिर ओजस्वी शब्दोंमें उत्तर दिया। (उलूकके मुखसे) पहले दुर्योधनके पूर्वोक्त संदेशको सुनकर भरतकुलभूषण युधिष्ठिर रोषसे अत्यन्त लाल हुए नेत्रों-द्वारा देखते हुए विषधर सर्पके समान उच्छ्वास लेने लगे। फिर ओठोंके दोनों कोनोंको चाटते हुए वे श्रीकृष्ण तथा भाइयोंकी ओर देखकर बोलनेको प्रस्तुत हुए। वे अपनी विशाल भुजा ऊपर उठा धूर्त जुआरी शकुनिके पुत्र उलूकसे मुसकराते हुए-से बोले—॥ ४८—५० ॥

उलूक गच्छ कैतव्य ब्रूहि तात सुयोधनम्।
कृतघ्नं वैरपुरुषं दुर्मतिं कुलपांसनम् ॥ ५१ ॥

'जुआरी शकुनिके पुत्र तात उलूक ! तुम जाओ और वैरके मूर्तिमान् स्वरूप उस कृतघ्न, दुर्बुद्धि एवं कुलाङ्गार दुर्योधनसे इस प्रकार कह दो—॥५१॥

पाण्डवेषु सदा पाप नित्यं जिह्मं प्रवर्तसे।
स्ववीर्याद् यः पराक्रम्य पाप आह्वयते परान्।
अभीतः पूरयन् वाक्यमेष वै क्षत्रियः पुमान् ॥ ५२ ॥

'पापी दुर्योधन ! तू पाण्डवोंके साथ सदा कुटिल बर्ताव करता आ रहा है। पापात्मन् ! जो किसीसे भय-भीत न होकर अपने वचनोंका पालन करता है और अपने ही बाहुबलसे पराक्रम प्रकट करके शत्रुओंको युद्धके लिये बुलाता है, वही पुरुष क्षत्रिय है ॥ ५२ ॥

स पापः क्षत्रियो भूत्वा अस्मानाहूय संयुगे।
मान्यामान्यान् पुरस्कृत्य युद्धं मा गाः कुलाधम ॥ ५३ ॥

'कुलाधम ! तू पापी है ! देख, क्षत्रिय होकर और हमलोगोंको युद्धके लिये बुलाकर ऐसे लोगोंको आगे करके रणभूमिमें न आना, जो हमारे माननीय वृद्ध गुरुजन और स्नेहास्पद बालक हों ॥५३॥

आत्मवीर्यं समाश्रित्य भृत्यवीर्यं च कौरव।
आह्वयस्व रणे पार्थान् सर्वथा क्षत्रियो भव ॥ ५४ ॥

'कुरुनन्दन ! तू अपने तथा भरणीय सेवकवर्गके बल और पराक्रमका आश्रय लेकर ही कुन्तीके पुत्रोंका युद्धके लिये आह्वान कर। सब प्रकारसे क्षत्रियत्वका परिचय दे ॥

परवीर्यं समाश्रित्य यः समाह्वयते परान्।
अशक्तः स्वयमादातुमेतदेव नपुंसकम् ॥ ५५ ॥

'जो स्वयं सामना करनेमें असमर्थ होनेके कारण दूसरोंके पराक्रमका भरोसा करके शत्रुओंको युद्धके लिये लल-कारता है, उसका यह कार्य उसकी नपुंसकताका ही सूचक है॥

स त्वं परेषां वीर्येण आत्मानं बहु मन्यसे।
कथमेवमशक्तस्त्वमस्मान् समभिगर्जसि ॥ ५६ ॥

'तू तो दूसरोंके ही बलसे अपने आपको बहुत अधिक शक्तिशाली मानता है; परंतु ऐसा असमर्थ होकर तू हमारे सामने गर्जना कैसे कर रहा है?' ॥५६॥

श्रीकृष्ण उवाच

मद्वचश्चापि भूयस्ते वक्तव्यः स सुयोधनः।
श्व इदानीं प्रपद्येथाः पुरुषो भव दुर्मते ॥ ५७ ॥

तत्पश्चात् भगवान् श्रीकृष्णने कहा—उलूक ! इसके बाद तू दुर्योधनसे मेरी यह बात भी कह देना—'दुर्मते ! अब कल ही तू रणभूमिमें आ जा और अपने पुरुषत्वका परिचय दे ॥

मन्यसे यच्च मूढ त्वं न योत्स्यति जनार्दनः।
सारथ्येन वृतः पार्थैरिति त्वं न बिभेषि च ॥ ५८ ॥

'मूढ ! तू जो यह समझता है कि कुन्तीके पुत्रोंने श्रीकृष्णसे सारथि बननेका अनुरोध किया है, अतः वे युद्ध नहीं करेंगे। सम्भवतः इसीलिये तू मुझसे डर नहीं रहा है।५८।

जघन्यकालमप्येतन्न भवेत् सर्वपार्थिवान्।
निर्दहेयमहं क्रोधात् तृणानीव हुताशनः ॥ ५९ ॥

'परंतु याद रख, मैं चाहूँ, तो इन सम्पूर्ण नरेशोंको अपनी क्रोधाग्निसे उसी प्रकार भस्म कर सकता हूँ, जैसे आग घास-फूसको जला डालती है। किंतु युद्धके अन्त-तक मुझे ऐसा करनेका अवसर न मिले; यही मेरी इच्छा है॥

युधिष्ठिरनियोगात् तु फाल्गुनस्य महात्मनः।
करिष्ये युध्यमानस्य सारथ्यं विजितात्मनः॥ ६० ॥

'राजा युधिष्ठिरके अनुरोधसे मैं जितेन्द्रिय महात्मा अर्जुन-के युद्ध करते समय उनके सारथिका काम अवश्य करूँगा॥

यद्युत्पतसि लोकांस्त्रीन् यद्याविशसि भूतलम्।
तत्र तत्रार्जुनरथं प्रभाते द्रक्ष्यसे पुनः ॥ ६१ ॥

'अब तू यदि तीनों लोकोंसे ऊपर उड़ जाय अथवा धरती-में समा जाय, तो भी (तू जहाँ-जहाँ जायगा), वहाँ-वहाँ कल प्रातःकाल अर्जुनका रथ पहुँचा हुआ देखेगा ॥६१॥

यच्चापि भीमसेनस्य मन्यसे मोघभाषितम्।
दुःशासनस्य रुधिरं पीतमद्यावधारय ॥ ६२ ॥

'इसके सिवा, तू जो भीमसेनकी कही हुई बातोंको व्यर्थ मानने लगा है, यह ठीक नहीं है। तू आज ही निश्चितरूपसे समझ ले कि भीमसेनने दुःशासनका रक्त पी लिया ॥६२॥

न त्वां समीक्षते पार्थो नापि राजा युधिष्ठिरः।
न भीमसेनो न यमौ प्रतिकूलप्रभाषिणम् ॥ ६३ ॥

'तू पाण्डवोंके विपरीत कटुभाषण करता जा रहा है, परंतु अर्जुन, राजा युधिष्ठिर, भीमसेन तथा नकुल-सहदेव तुझे कुछ भी नहीं समझते हैं' ॥६३॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि उलूकदूताभिगमनपर्वणि कृष्णादिवाक्ये द्विषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १६२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत उलूकदूताभिगमनपर्वमें श्रीकृष्ण आदिके वचनविषयक एक सौ बासठवाँ अध्याय पूरा हुआ॥१६२॥

त्रिषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः

पाँचों पाण्डवों, विराट, द्रुपद, शिखण्डी और धृष्टद्युम्नका संदेश लेकर उलूकका लौटना और उलूककी बात सुनकर दुर्योधनका सेनाको युद्धके लिये तैयार होनेका आदेश देना

संजय उवाच

दुर्योधनस्य तद् वाक्यं निशम्य भरतर्षभ।
नेत्राभ्यामतिताम्राभ्यां कैतव्यं समुदैक्षत ॥ १ ॥
स केशवमभिप्रेक्ष्य गुडाकेशो महायशाः।
अभ्यभाषत कैतव्यं प्रगृह्य विपुलं भुजम् ॥ २ ॥

संजय कहते हैं—भरतश्रेष्ठ ! दुर्योधनके पूर्वोक्त वचनको सुनकर महायशस्वी अर्जुनने क्रोधसे लाल आँखें करके शकुनिकुमार उलूककी ओर देखा। तत्पश्चात् अपनी विशाल भुजाको ऊपर उठाकर श्रीकृष्णकी ओर देखते हुए उन्होंने कहा—॥ १-२ ॥

स्ववीर्यं यः समाश्रित्य समाह्वयति वै परान्।
अभीतो युध्यते शत्रून् स वै पुरुष उच्यते ॥ ३ ॥

'जो अपने ही बल-पराक्रमका भरोसा करके शत्रुओंको ललकारता है और उनके साथ निर्भय होकर युद्ध करता है, वही पुरुष कहलाता है ॥ ३ ॥

परवीर्यं समाश्रित्य यः समाह्वयते परान्।
क्षत्रबन्धुरशक्तत्वाल्लोके स पुरुषाधमः ॥ ४ ॥

'जो दूसरेके बल-पराक्रमका आश्रय ले शत्रुओंको युद्धके लिये बुलाता है, वह क्षत्रबन्धु असमर्थ होनेके कारण लोकमें पुरुषाधम कहा गया है ॥ ४ ॥

स त्वं परेषां वीर्येण मन्यसे वीर्यमात्मनः।
स्वयं कापुरुषो मूढ परांश्च क्षेप्तुमिच्छसि ॥ ५ ॥

'मूढ़ ! तू दूसरोंके पराक्रमसे ही अपनेको बल-पराक्रमसे सम्पन्न मानता है और स्वयं कायर होकर दूसरोंपर आक्षेप करना चाहता है ॥ ५ ॥

यस्त्वं वृद्धं सर्वराज्ञां हितबुद्धिं जितेन्द्रियम्।
मरणाय महाप्रज्ञं दीक्षयित्वा विकत्थसे ॥ ६ ॥

'जो समस्त राजाओंमें वृद्ध, सबके प्रति हितबुद्धि रखनेवाले, जितेन्द्रिय तथा महाज्ञानी हैं, उन्हीं पितामहको तू मरणके लिये रणकी दीक्षा दिलाकर अपनी बहादुरीकी बातें करता है ॥ ६ ॥

भावस्ते विदितोऽस्माभिर्दुर्बुद्धे कुलपांसन।
न हनिष्यन्ति गाङ्गेयं पाण्डवा घृणयेति हि ॥ ७ ॥

'खोटी बुद्धिवाले कुलाङ्गार ! तेरा मनोभाव हमने समझ लिया है। तू जानता है कि पाण्डवलोग दयावश गङ्गानन्दन भीष्मका वध नहीं करेंगे ॥ ७ ॥

यस्य वीर्यं समाश्रित्य धार्तराष्ट्र विकत्थसे।
हन्तास्मि प्रथमं भीष्मं मिषतां सर्वधन्विनाम् ॥ ८ ॥

'धृतराष्ट्रपुत्र ! तू जिनके पराक्रमका आश्रय लेकर बड़ी-बड़ी बातें बनाता है, उन पितामह भीष्मको ही मैं सबसे पहले तेरे समस्त धनुर्धरोंके देखते-देखते मार डालूँगा ॥ ८ ॥

कैतव्य गत्वा भरतान् समेत्य
सुयोधनं धार्तराष्ट्रं वदस्व।
तथेत्युवाचार्जुनः सव्यसाची
निशाव्यपाये भविता विमर्दः ॥ ९ ॥

'उलूक ! तू भरतवंशियोंके यहाँ जाकर धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधनसे कह दे कि सव्यसाची अर्जुनने 'बहुत अच्छा' कहकर तेरी चुनौती स्वीकार कर ली है। आजकी रात बीतते ही युद्ध आरम्भ हो जायगा ॥ ९ ॥

यद् वाब्रवीद् वाक्यमदीनसत्त्वो
मध्ये कुरूनू हर्षयन् सत्यसंधः।
अहं हन्ता सृञ्जयानामनीकं
शाल्वेयकांश्चेति ममैष भारः ॥ १० ॥
हन्यामहं द्रोणमृतेऽपि लोकं
न ते भयं विद्यते पाण्डवेभ्यः।
ततो हि ते लब्धतमं च राज्य-
मापद्गताः पाण्डवाश्चेति भावः ॥ ११ ॥

'सत्यप्रतिज्ञ और महान् शक्तिशाली भीष्मजीने कौरव-सैनिकोंके बीचमें उनका हर्ष बढ़ाते हुए जो यह कहा था कि मैं सृंजय वीरोंकी सेनाका तथा शाल्वदेशके सैनिकोंका भी संहार कर डालूँगा। इन सबके मारनेका भार मेरे ही ऊपर है। दुर्योधन ! मैं द्रोणाचार्यके बिना भी सम्पूर्ण जगत्का संहार कर सकता हूँ; अतः तुम्हें पाण्डवोंसे कोई भय नहीं है। भीष्मके इस वचनसे ही तूने अपने मनमें यह धारणा बना ली है कि राज्य मुझे ही प्राप्त होगा और पाण्डव भारी विपत्तिमें पड़ जायँगे ॥ १०-११ ॥

स दर्पपूर्णो न समीक्षसे त्व-
मनर्थमात्मन्यपि वर्तमानम्।
तस्मादहं ते प्रथमं समूहे
हन्ता समक्षं कुरुवृद्धमेव ॥ १२ ॥

'इसीलिये तू घमंडमें भरकर अपने ऊपर आये हुए

वर्तमान संकटको नहीं देख पाता है, अतः मैं सबसे पहले तेरे सेनासमूहमें प्रवेश करके कुरुकुलके वृद्ध पुरुष भीष्मका ही तेरी आँखोंके सामने वध करूँगा ॥ १२ ॥

सूर्योदये युक्तसेनः प्रतीक्ष्य
ध्वजी रथी रक्ष तं सत्यसंधम् ।
अहं हि वः पश्यतां द्वीपमेनं
भीष्मं रथात् पातयिष्यामि बाणैः॥१३॥

'तू सूर्योदयके समय सेनाको सुसज्जित करके ध्वज और रथसे सम्पन्न हो सब ओर दृष्टि रखते हुए सत्यप्रतिज्ञ भीष्मकी रक्षा कर । मैं तेरे सैनिकोंके देखते-देखते तेरे लिये आश्रय बने हुए इन भीष्मजीको बाणोंद्वारा मारकर रथसे नीचे गिरा दूँगा ॥ १३ ॥

श्वोभूते कत्थनावाक्यं विज्ञास्यति सुयोधनः ।
आचितं शरजालेन मया दृष्ट्वा पितामहम् ॥ १४ ॥

'कल सबेरे पितामहको मेरे द्वारा चलाये हुए बाणोंके समूहसे व्याप्त देखकर दुर्योधनको अपनी बढ़-बढ़कर कही हुई बातोंका परिणाम ज्ञात होगा ॥ १४ ॥

यदुक्तश्च सभामध्ये पुरुषो ह्रस्वदर्शनः ।
क्रुद्धेन भीमसेनेन भ्राता दुःशासनस्तव ॥ १५ ॥
अधर्मज्ञो नित्यवैरी पापबुद्धिर्नृशंसकृत् ।
सत्यां प्रतिज्ञामचिराद् द्रक्ष्यसे तां सुयोधन ॥ १६ ॥

'सुयोधन ! क्रोधमें भरे हुए भीमसेनने उस क्षुद्र विचारवाले, अधर्मज्ञ, नित्य वैरी, पापबुद्धि और क्रूरकर्मा तेरे भाई दुःशासनके प्रति जो बात कही है, उस प्रतिज्ञाको तू शीघ्र ही सत्य हुई देखेगा ॥ १५-१६॥

अभिमानस्य दर्पस्य क्रोधपारुष्ययोस्तथा ।
नैष्ठुर्यस्यावलेपस्य आत्मसम्भावनस्य च ॥ १७ ॥
नृशंसतायास्तैक्ष्ण्यस्य धर्मविद्वेषणस्य च ।
अधर्मस्यातिवादस्य वृद्धातिक्रमणस्य च ॥ १८ ॥
दर्शनस्य च वक्रस्य कृत्स्नस्यापनयस्य च ।
द्रक्ष्यसि त्वं फलं तीव्रमचिरेण सुयोधन ॥ १९ ॥

'दुर्योधन ! तू अभिमान, दर्प, क्रोध, कटुभाषण, निष्ठुरता, अहंकार, आत्मप्रशंसा, क्रूरता, तीक्ष्णता, धर्मविद्वेष, अधर्म, अतिवाद, वृद्ध पुरुषोंके अपमान तथा टेढ़ी आँखोंसे देखनेका और अपने समस्त अन्याय एवं अत्याचारोंका घोर फल शीघ्र ही देखेगा ॥ १७–१९ ॥

वासुदेवद्वितीये हि मयि क्रुद्धे नराधम ।
आशा ते जीविते मूढ राज्ये वा केन हेतुना ॥ २० ॥

'मूढ़ नराधम ! भगवान् श्रीकृष्णके साथ मेरे कुपित होनेपर तू किस कारणसे जीवन तथा राज्यकी आशा करता है ? ॥

शान्ते भीष्मे तथा द्रोणे सूतपुत्रे च पातिते ।
निराशो जीविते राज्ये पुत्रेषु च भविष्यसि ॥ २१ ॥

'भीष्म, द्रोणाचार्य तथा सूतपुत्र कर्णके मारे जानेपर तू अपने जीवन, राज्य तथा पुत्रोंकी रक्षाकी ओरसे निराश हो जायगा ॥ २१ ॥

भ्रातॄणां निधनं श्रुत्वा पुत्राणां च सुयोधन ।
भीमसेनेन निहतो दुष्कृतानि स्मरिष्यसि ॥ २२ ॥

'सुयोधन ! तू अपने भाइयों और पुत्रोंका मरण सुनकर और भीमसेनके हाथसे स्वयं भी मारा जाकर अपने पापोंको याद करेगा ॥ २२ ॥

न द्वितीयां प्रतिज्ञां हि प्रतिजानामि कैतव ।
सत्यं ब्रवीम्यहं ह्येतत् सर्वं सत्यं भविष्यति ॥ २३ ॥
युधिष्ठिरोऽपि कैतव्यमुलूकमिदमब्रवीत् ।
उलूक मद्वचो ब्रूहि गत्वा तात सुयोधनम् ॥ २४ ॥

'शकुनिपुत्र ! मैं दूसरी बार प्रतिज्ञा करना नहीं जानता । तुझसे सच्ची बात कहता हूँ । यह सब कुछ सत्य होकर रहेगा ।' तत्पश्चात् युधिष्ठिरने भी धूर्त जुआरीके पुत्र उलूकसे इस प्रकार कहा—'वत्स उलूक ! तू दुर्योधनके पास जाकर मेरी यह बात कहना—॥ २३-२४ ॥

स्वेन वृत्तेन मे वृत्तं नाधिगन्तुं त्वमर्हसि ।
उभयोरन्तरं वेद सूनृतानृतयोरपि ॥ २५ ॥

'सुयोधन ! तुझे अपने आचरणके अनुसार ही मेरे आचरणको नहीं समझना चाहिये । मैं दोनोंके बर्तावका तथा सत्य और झूठका भी अन्तर समझता हूँ ॥ २५ ॥

न चाहं कामये पापमपि कीटपिपीलयोः ।
किं पुनर्ज्ञातिषु वधं कामयेयं कथंचन ॥ २६ ॥

'मैं तो कीड़ों और चींटियोंको भी कष्ट पहुँचाना नहीं चाहता; फिर अपने भाई-बन्धुओं अथवा कुटुम्बीजनोंके वधकी कामना किसी प्रकार भी कैसे कर सकता हूँ ! ॥ २६ ॥

एतदर्थं मया तात पञ्च ग्रामा वृताः पुरा ।
कथं तव सुदुर्बुद्धे न प्रेक्षे व्यसनं महत् ॥ २७ ॥

'तात ! इसीलिये पहले मैंने केवल पाँच ही गाँव माँगे थे । दुर्बुद्धे ! मेरे ऐसा करनेका यही उद्देश्य था कि किसी तरह तेरे ऊपर महान् संकट आया हुआ न देखूँ ॥ २७ ॥

स त्वं कामपरीतात्मा मूढभावाच्च कत्थसे ।
तथैव वासुदेवस्य न गृह्णासि हितं वचः ॥ २८ ॥

'परंतु तेरा मन लोभ और तृष्णामें डूबा हुआ है । तू मूर्खताके कारण अपनी झूठी प्रशंसा करता है और भगवान् श्रीकृष्णके हितकारक वचनको भी नहीं मान रहा है ॥ २८॥

किं चेदानीं बहूक्तेन युध्यस्व सह बान्धवैः ।

'अब इस समय अधिक कहनेसे क्या लाभ ? तू अपने भाई-बन्धुओंके साथ आकर युद्ध कर' ॥ २८½ ॥

मम विप्रियकर्तारं कैतव्य ब्रूहि कौरवम् ॥ २९ ॥
श्रुतं वाक्यं गृहीतोऽर्थो मतं यत् ते तथास्तु तत् ।

'उलूक ! तू मेरा अप्रिय करनेवाले दुर्योधनसे कहना—'तेरा संदेश सुना और उसका अभिप्राय समझ लिया । तेरी जैसी इच्छा है, वैसा ही हो' ॥ २९½ ॥

भीमसेनस्ततो वाक्यं भूय आह नृपात्मजम् ॥ ३० ॥
उलूक मद्वचो ब्रूहि दुर्मतिं पापपूरुषम् ।

शठं नैकृतिकं पापं दुराचारं सुयोधनम् ॥ ३१ ॥

तदनन्तर भीमसेनने पुनः राजकुमार उलूकसे यह बात कही—'उलूक ! तू दुर्बुद्धि, पापात्मा, शठ, कपटी, पापी तथा दुराचारी दुर्योधनसे मेरी यह बात भी कह देना—॥

गृध्रोदरे वा वस्तव्यं पुरे वा नागसाह्वये।
प्रतिज्ञातं मया तच्च सभामध्ये नराधम ॥ ३२ ॥
कर्ताहं तद् वचः सत्यं सत्येनैव शपामि ते।

'नराधम ! तुझे या तो मरकर गीधके पेटमें निवास करना चाहिये या हस्तिनापुरमें जाकर छिप जाना चाहिये। मैंने सभामें जो प्रतिज्ञा की है, उसे अवश्य सत्य कर दिखाऊँगा। यह बात मैं सत्यकी ही शपथ खाकर तुझसे कहता हूँ ॥ ३२½ ॥

दुःशासनस्य रुधिरं हत्वा पास्याम्यहं मृधे ॥ ३३ ॥
सक्थिनी तव भङ्क्त्वैव हत्वा हि तव सोदरान्।
सर्वेषां धार्तराष्ट्राणामहं मृत्युः सुयोधन ॥ ३४ ॥

'मैं युद्धमें दुःशासनको मारकर उसका रक्त पीऊँगा और तेरे सारे भाइयोंको मारकर तेरी जाँघें भी तोड़कर ही रहूँगा। सुयोधन ! मैं धृतराष्ट्रके सभी पुत्रोंकी मृत्यु हूँ ॥

सर्वेषां राजपुत्राणामभिमन्युरसंशयम्।
कर्मणा तोषयिष्यामि भूयश्चैव वचः शृणु ॥ ३५ ॥

'इसी प्रकार सारे राजकुमारोंकी मृत्युका कारण अभिमन्यु होगा, इसमें संशय नहीं है। मैं अपने पराक्रमद्वारा तुझे अवश्य संतुष्ट करूँगा। तू मेरी एक बात और सुन ले ॥

हत्वा सुयोधन त्वां वै सहितं सर्वसोदरैः।
आक्रमिष्ये पदा मूर्ध्नि धर्मराजस्य पश्यतः ॥ ३६ ॥

'सुयोधन ! तुझे समस्त भाइयोंसहित मारकर धर्मराज युधिष्ठिरके देखते-देखते तेरे मस्तकको पैरसे कुचल दूँगा' ॥

नकुलस्तु ततो वाक्यमिदमाह महीपते।
उलूक ब्रूहि कौरव्यं धार्तराष्ट्रं सुयोधनम् ॥ ३७ ॥
श्रुतं ते गदतो वाक्यं सर्वमेव यथातथम्।
तथा कर्तास्मि कौरव्य यथा त्वमनुशास्सि माम् ॥ ३८ ॥

जनमेजय ! तत्पश्चात् नकुलने भी इस प्रकार कहा—'उलूक ! तू कुरुकुलकलंक धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधनसे कहना, तेरी कही हुई सारी बातें मैंने यथार्थरूपसे सुन लीं। कौरव ! तू मुझे जैसा उपदेश दे रहा है, उसके अनुसार ही मैं सब कुछ करूँगा' ॥ ३७-३८ ॥

सहदेवोऽपि नृपते इदमाह वचोऽर्थवत्।
सुयोधन मतिर्या ते वृथैषा ते भविष्यति ॥ ३९ ॥
शोचिष्यसे महाराज सपुत्रज्ञातिबान्धवः।
इमं च क्लेशमस्माकं हृष्टो यत् त्वं विकत्थसे ॥ ४० ॥

राजन् ! तदनन्तर सहदेवने भी यह सार्थक वचन कहा—'महाराज दुर्योधन ! आज जो तेरी बुद्धि है, वह व्यर्थ हो जायगी। इस समय हमारे इस महान् क्लेशका जो तू हर्षोत्फुल्ल होकर वर्णन कर रहा है, इसका फल यह होगा कि तू अपने पुत्र, कुटुम्बी तथा बन्धुजनोंसहित शोकमें डूब जायगा' ॥

विराटद्रुपदौ वृद्धावुलूकमिदमूचतुः।
दासभावं नियच्छेव साधोरिति मतिः सदा।
तौ च दासावदासौ वा पौरुषं यस्य यादृशम् ॥ ४१ ॥

तदनन्तर बूढ़े राजा विराट और द्रुपदने उलूकसे इस प्रकार कहा—'उलूक ! तू दुर्योधनसे कहना, राजन् ! हम दोनोंका विचार सदा यही रहता है कि हम साधु पुरुषोंके दास हो जायँ। वे दोनों हम विराट और द्रुपद दास हैं या अदास; इसका निर्णय युद्धमें जिसका जैसा पुरुषार्थ होगा, उसे देखकर किया जायगा' ॥ ४१ ॥

शिखण्डी तु ततो वाक्यमुलूकमिदमब्रवीत्।
वक्तव्यो भवता राजा पापेष्वभिरतः सदा ॥ ४२ ॥

तत्पश्चात् शिखण्डीने उलूकसे इस प्रकार कहा—'उलूक ! सदा पापमें ही तत्पर रहनेवाले अपने राजाके पास जाकर तू इस प्रकार कहना—॥ ४२ ॥

पश्य त्वं मां रणे राजन् कुर्वाणं कर्म दारुणम्।
यस्य वीर्यं समासाद्य मन्यसे विजयं युधि ॥ ४३ ॥
तमहं पातयिष्यामि रथात् तव पितामहम्।

'राजन् ! तुम संग्राममें मुझे भयानक कर्म करते हुए देखना। जिसके पराक्रमका भरोसा करके तुम युद्धमें अपनी विजय हुई मानते हो, तुम्हारे उस पितामहको मैं रथसे मार गिराऊँगा ॥ ४३½ ॥

अहं भीष्मवधात् सृष्टो नूनं धात्रा महात्मना ॥ ४४ ॥
सोऽहं भीष्मं हनिष्यामि मिषतां सर्वधन्विनाम्।

'निश्चय ही महामना विधाताने भीष्मके वधके लिये ही मेरी सृष्टि की है। अतः मैं समस्त धनुर्धरोंके देखते-देखते भीष्मको मार डालूँगा' ॥ ४४½ ॥

धृष्टद्युम्नोऽपि कैतव्यमुलूकमिदमब्रवीत् ॥ ४५ ॥
सुयोधनो मम वचो वक्तव्यो नृपतेः सुतः।
अहं द्रोणं हनिष्यामि सगणं सहबान्धवम् ॥ ४६ ॥

इसके बाद धृष्टद्युम्नने भी कितवकुमार उलूकसे यह बात कही—'उलूक ! तू राजपुत्र दुर्योधनसे मेरी यह बात कह देना, मैं द्रोणाचार्यको उनके गणों और बन्धु-बान्धवोंसहित मार डालूँगा ॥ ४५-४६ ॥

अवश्यं च मया कार्यं पूर्वेषां चरितं महत्।
कर्ता चाहं तथा कर्म यथा नान्यः करिष्यति ॥ ४७ ॥

'मुझे अपने पूर्वजोंके महान् चरित्रका अनुकरण अवश्य करना चाहिये। अतः मैं युद्धमें वह पराक्रम कर दिखाऊँगा, जैसा दूसरा कोई नहीं करेगा' ॥ ४७ ॥

तमब्रवीद् धर्मराजः कारुण्यार्थं वचो महत्।
नाहं ज्ञातिवधं राजन् कामयेयं कथंचन ॥ ४८ ॥

तदनन्तर धर्मराज युधिष्ठिरने करुणावश फिर यह महत्त्वपूर्ण बात कही—'राजन् ! मैं किसी प्रकार भी अपने कुटुम्बियोंका वध नहीं कराना चाहता ॥ ४८ ॥

तवैव दोषाद् दुर्बुद्धे सर्वमेतत् त्वनावृतम् ।
स गच्छ मा चिरं तात उलूक यदि मन्यसे ॥ ४९ ॥
इह वा तिष्ठ भद्रं ते वयं हि तव बान्धवाः ।

'किंतु दुर्बुद्धे ! यह सब कुछ तेरे ही दोषसे प्राप्त हुआ है । तात उलूक ! तेरी इच्छा हो, तो शीघ्र चला जा । अथवा तेरा कल्याण हो, तू यहीं रह; क्योंकि हम भी तेरे भाई-बन्धु ही हैं' ॥ ४९½ ॥

उलूकस्तु ततो राजन् धर्मपुत्रं युधिष्ठिरम् ॥ ५० ॥
आमन्त्र्य प्रययौ तत्र यत्र राजा सुयोधनः ।

जनमेजय ! तदनन्तर उलूक धर्मपुत्र राजा युधिष्ठिरसे विदा ले जहाँ राजा दुर्योधन था, वहीं चला गया ॥ ५०½ ॥

उलूकस्तत आगम्य दुर्योधनममर्षणम् ॥ ५१ ॥
अर्जुनस्य समादेशं यथोक्तं सर्वमब्रवीत् ।
वासुदेवस्य भीमस्य धर्मराजस्य पौरुषम् ॥ ५२ ॥

वहाँ आकर उलूकने अमर्षशील दुर्योधनको अर्जुनका सारा संदेश ज्यों-का-त्यों सुना दिया । इसी प्रकार उसने भगवान् श्रीकृष्ण, भीमसेन और धर्मराज युधिष्ठिरकी पुरुषार्थ-भरी बातोंका भी वर्णन किया ॥ ५१-५२ ॥

नकुलस्य विराटस्य द्रुपदस्य च भारत ।
सहदेवस्य च वचो धृष्टद्युम्नशिखण्डिनोः ।
केशवार्जुनयोर्वाक्यं यथोक्तं सर्वमब्रवीत् ॥ ५३ ॥

भारत ! फिर उसने नकुल, सहदेव, विराट, द्रुपद, धृष्टद्युम्न, शिखण्डी, भगवान् श्रीकृष्ण तथा अर्जुनके भी सारे वचनोंको ज्यों-का-त्यों कह दिया ॥ ५३ ॥

कैतव्यस्य तु तद् वाक्यं निशम्य भरतर्षभः ।
दुःशासनं च कर्णं च शकुनिं चापि भारत ॥ ५४ ॥

भारत ! उलूकका वह कथन सुनकर भरतश्रेष्ठ दुर्योधनने दुःशासन, कर्ण तथा शकुनिसे कहा—॥ ५४ ॥

आज्ञापयत राज्ञश्च बलं मित्रबलं तथा ।
यथा प्रागुदयात् सर्वे युक्तास्तिष्ठन्त्वनीकिनः ॥ ५५ ॥

'बन्धुओ ! राजाओं तथा मित्रोंकी सेनाओंको आज्ञा दे दो, जिससे समस्त सैनिक कल सूर्योदयसे पूर्व ही तैयार होकर युद्धके मैदानमें डट जायँ' ॥ ५५ ॥

ततः कर्णसमादिष्टा दूताः संत्वरिता रथैः ।
उष्ट्रवामीभिरप्यन्ये सदश्वैश्च महाजवैः ॥ ५६ ॥
तूर्णं परिययुः सेनां कृत्स्नां कर्णस्य शासनात् ।
आज्ञापयन्तो राज्ञश्च योगः प्रागुदयादिति ॥ ५७ ॥

तत्पश्चात् कर्णके भेजे हुए दूत बड़ी उतावलीके साथ रथों, ऊँट-ऊँटनियों तथा अत्यन्त वेगशाली अच्छे-अच्छे घोड़ोंपर सवार हो तीव्र गतिसे सम्पूर्ण सेनाओंमें गये और कर्णके आदेशके अनुसार सबको राजाकी यह आज्ञा सुनाने लगे कि कल सूर्योदयसे पहले ही युद्धके लिये तैयार हो जाना चाहिये ॥ ५६-५७ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि उलूकदूतागमनपर्वणि उलूकापयाने त्रिषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १६३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत उलूकदूतागमनपर्वमें उलूकके लौट जानेसे सम्बन्ध रखनेवाला एक सौ तिरसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १६३ ॥

चतुःषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः

पाण्डवसेनाका युद्धके मैदानमें जाना और धृष्टद्युम्नके द्वारा योद्धाओंकी अपने-अपने योग्य विपक्षियोंके साथ युद्ध करनेके लिये नियुक्ति

संजय उवाच

उलूकस्य वचः श्रुत्वा कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ।
सेनां निर्यापयामास धृष्टद्युम्नपुरोगमाम् ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—राजन् ! इधर उलूककी बातें सुनकर कुन्तीनन्दन युधिष्ठिरने भी धृष्टद्युम्नके नेतृत्वमें अपनी सेनाका युद्धके लिये प्रस्थान कराया ॥ १ ॥

पदातिनीं नागवतीं रथिनीमश्ववृन्दिनीम् ।
चतुर्विधबलां भीमामकम्प्यां पृथिवीमिव ॥ २ ॥

उसमें पैदल, हाथी, रथ और अश्वसमूह भी थे । इस प्रकार वह चतुरंगिणी सेना बड़ी भयंकर और पृथ्वीके समान अविचल थी ॥ २ ॥

भीमसेनादिभिर्गुप्तां सार्जुनैश्च महारथैः ।
धृष्टद्युम्नवशां दुर्गां सागरस्तिमितोपमाम् ॥ ३ ॥

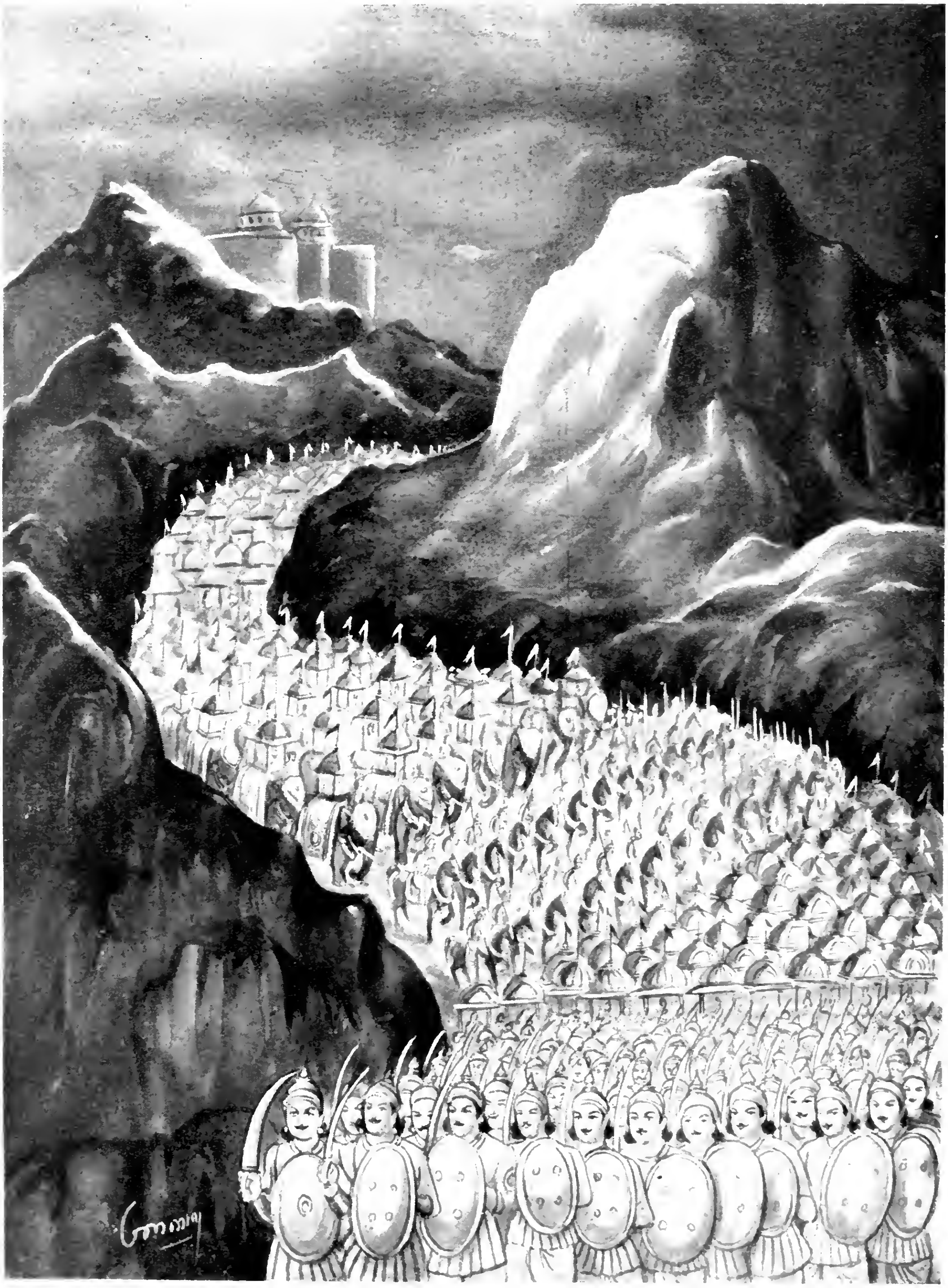
अर्जुन और भीमसेन आदि महारथी उसकी रक्षा करते थे । वह दुर्गम सेना धृष्टद्युम्नके अधीन थी और प्रशान्त एवं स्थिर समुद्रके समान जान पड़ती थी ॥ ३ ॥

तस्यास्त्वग्रे महेष्वासः पाञ्चाल्यो युद्धदुर्मदः ।
द्रोणप्रेप्सुरनीकानि धृष्टद्युम्नो व्यकर्षत ॥ ४ ॥

उसके आगे-आगे रणदुर्मद पाञ्चालराजकुमार महाधनुर्धर धृष्टद्युम्न चल रहे थे, जो सदा आचार्य द्रोणसे युद्ध करनेकी इच्छा रखते थे । वे सारी सेनाको अपने पीछे खींचे लिये जाते थे ॥ ४ ॥

यथाबलं यथोत्साहं रथिनः समुपादिशत् ।
अर्जुनं सूतपुत्राय भीमं दुर्योधनाय च ॥ ५ ॥

उन्होंने जिस वीरका जैसा बल और उत्साह था, उसका विचार करते हुए अपने रथियोंको योग्य प्रतिपक्षीके साथ युद्ध करनेका आदेश दिया। अर्जुनको सूतपुत्र कर्णका और भीम-



पाण्डवोंकी विशाल सेना

सेनको दुर्योधनका सामना करनेके लिये नियुक्त किया ॥५॥

धृष्टकेतुं च शल्याय गौतमायोत्तमौजसम्।
अश्वत्थाम्ने च नकुलं शैब्यं च कृतवर्मणे ॥ ६ ॥
सैन्धवाय च वार्ष्णेयं युयुधानं समादिशत्।
शिखण्डिनं च भीष्माय प्रमुखे समकल्पयत् ॥ ७ ॥

धृष्टकेतुको शल्यसे, उत्तमौजाको कृपाचार्यसे, नकुलको अश्वत्थामासे, शैब्यको कृतवर्मासे, वृष्णिवंशी सात्यकिको सिन्धुराज जयद्रथसे और शिखण्डीको भीष्मसे मुख्यतः युद्ध करनेका आदेश दिया ॥ ६-७ ॥

सहदेवं शकुनये चेकितानं शलाय वै।
द्रौपदेयांस्तथा पञ्च त्रिगर्तेभ्यः समादिशत् ॥ ८ ॥

सहदेवको शकुनिका, चेकितानको शलका और द्रौपदीके पाँचों पुत्रोंको त्रिगर्तोंका सामना करनेके लिये नियत कर दिया ॥ ८ ॥

वृषसेनाय सौभद्रं शेषाणां च महीक्षिताम्।
स समर्थं हि तं मेने पार्थादभ्यधिकं रणे ॥ ९ ॥

कर्णपुत्र वृषसेन तथा शेष राजाओंके साथ युद्ध करनेका काम सुभद्राकुमार अभिमन्युको सौंपा, क्योंकि वे उसे युद्धमें अर्जुनसे भी अधिक शक्तिशाली समझते थे ॥ ९ ॥

एवं विभज्य योधांस्तान् पृथक् च सह चैव ह।
ज्वालावर्णो महेष्वासो द्रोणमंशमकल्पयत् ॥ १० ॥
धृष्टद्युम्नो महेष्वासः सेनापतिपतिस्ततः।

इस प्रकार समस्त योद्धाओंका पृथक्-पृथक् और एक साथ विभाजन करके सेनापतियोंके पति प्रज्वलित अग्निके समान कान्तिमान् महाधनुर्धर धृष्टद्युम्नने द्रोणाचार्यको अपने हिस्सेमें रक्खा ॥ १०½ ॥

विधिवद् व्यूह्य मेधावी युद्धाय धृतमानसः ॥ ११ ॥
यथोद्दिष्टानि सैन्यानि पाण्डवानामयोजयत्।
जयाय पाण्डुपुत्राणां यत्तस्तस्थौ रणाजिरे ॥ १२ ॥

उनके मनमें युद्धके लिये दृढ निश्चय था। मेधावी धृष्टद्युम्नने पाण्डवोंकी पूर्वोक्त सेनाओंकी विधिपूर्वक व्यूह-रचना करके उन सबको युद्धके लिये नियुक्त किया। तत्पश्चात् वे पाण्डवोंकी विजयके लिये संनद्ध होकर समराङ्गणमें खड़े हुए ॥ ११-१२ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि उलूकदूतागमनपर्वणि सेनापतिनियोगे चतुःषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १६४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत उलूकदूतागमनपर्वमें सेनापतिके द्वारा सैनिकोंकी युद्धमें नियुक्तिविषयक एक सौ चौंसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १६४ ॥

(रथातिरथसंख्यानपर्व)

पञ्चषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः

दुर्योधनके पूछनेपर भीष्मका कौरवपक्षके रथियों और अतिरथियोंका परिचय देना

धृतराष्ट्र उवाच

प्रतिज्ञाते फाल्गुनेन वधे भीष्मस्य संयुगे।
किमकुर्वत मे मन्दाः पुत्रा दुर्योधनादयः ॥ १ ॥

धृतराष्ट्रने पूछा—संजय! जब अर्जुनने युद्धभूमिमें भीष्मका वध करनेकी प्रतिज्ञा कर ली, तब दुर्योधन आदि मेरे मूर्ख पुत्रोंने क्या किया? ॥ १ ॥

हतमेव हि पश्यामि गाङ्गेयं पितरं रणे।
वासुदेवसहायेन पार्थेन दृढधन्वना ॥ २ ॥

अर्जुन सुदृढ़ धनुष धारण करते हैं। इसके सिवा भगवान् श्रीकृष्ण उनके सहायक हैं; अतः मैं रणभूमिमें अपने पिता गङ्गानन्दन भीष्मको उनके द्वारा मारा गया ही मानता हूँ॥

स चापरिमितप्रज्ञस्तच्छ्रुत्वा पार्थभाषितम्।
किमुक्तवान् महेष्वासो भीष्मः प्रहरतां वरः ॥ ३ ॥

अर्जुनकी उस प्रतिज्ञाको सुनकर अमित बुद्धिमान् योद्धाओंमें श्रेष्ठ महाधनुर्धर भीष्मने क्या कहा? ॥ ३ ॥

सैनापत्यं च सम्प्राप्य कौरवाणां धुरन्धरः।
किमचेष्टत गाङ्गेयो महाबुद्धिपराक्रमः ॥ ४ ॥

कौरवकुलका भार वहन करनेवाले परम बुद्धिमान् और पराक्रमी गङ्गापुत्र भीष्मने सेनापतिका पद प्राप्त करनेके पश्चात् युद्धके लिये कौन-सी चेष्टा की? ॥ ४ ॥

वैशम्पायन उवाच

ततस्तत् संजयस्तस्मै सर्वमेव न्यवेदयत्।
यथोक्तं कुरुवृद्धेन भीष्मेणामिततेजसा ॥ ५ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तदनन्तर संजयने अमिततेजस्वी कुरुवृद्ध भीष्मने जैसा कहा था, वह सब कुछ राजा धृतराष्ट्रको बताया ॥ ५ ॥

संजय उवाच

सैनापत्यमनुप्राप्य भीष्मः शान्तनवो नृप।
दुर्योधनमुवाचेदं वचनं हर्षयन्निव ॥ ६ ॥

संजय बोले—नरेश्वर! सेनापतिका पद प्राप्त करके शान्तनुनन्दन भीष्मने दुर्योधनका हर्ष बढ़ाते हुए-से उससे यह बात कही—॥ ६ ॥

नमस्कृत्य कुमाराय सेनान्ये शक्तिपाणये।
अहं सेनापतिस्तेऽद्य भविष्यामि न संशयः ॥ ७ ॥

'राजन्! मैं हाथमें शक्ति धारण करनेवाले देवसेनापति कुमार कार्तिकेयको नमस्कार करके अब तुम्हारी सेनाका अधिपति होऊँगा, इसमें संशय नहीं है ॥ ७ ॥

सेनाकर्मण्यभिज्ञोऽस्मि व्यूहेषु विविधेषु च ।
कर्म कारयितुं चैव भृतानप्यभृतांस्तथा ॥ ८ ॥

'मुझे सेनासम्बन्धी प्रत्येक कर्मका ज्ञान है । मैं नाना प्रकारके व्यूहोंके निर्माणमें भी कुशल हूँ । तुम्हारी सेनामें जो वेतनभोगी अथवा वेतन न लेनेवाले मित्रसेनाके सैनिक हैं, उन सबसे यथायोग्य काम करा लेनेकी भी कला मुझे ज्ञात है ॥ ८ ॥

यात्रायाने च युद्धे च तथा प्रशमनेषु च ।
भृशं वेद महाराज यथा वेद बृहस्पतिः ॥ ९ ॥

'महाराज ! मैं युद्धके लिये यात्रा करने युद्ध करने, तथा विपक्षीके चलाये हुए अस्त्रोंका प्रतीकार करनेके विषयमें जैसा बृहस्पति जानते हैं, उसी प्रकार सम्पूर्ण आवश्यक बातोंकी विशेष जानकारी रखता हूँ ॥ ९ ॥

व्यूहानां च समारम्भान् दैवगान्धर्वमानुषान् ।
तैरहं मोहयिष्यामि पाण्डवान् व्येतु ते ज्वरः ॥ १० ॥

'मुझे देवता, गन्धर्व और मनुष्य—तीनोंकी ही व्यूहरचनाका ज्ञान है । उनके द्वारा मैं पाण्डवोंको मोहित कर दूँगा । अतः तुम्हारी मानसिक चिन्ता दूर हो जानी चाहिये ॥ १० ॥

सोऽहं योत्स्यामि तत्त्वेन पालयंस्तव वाहिनीम् ।
यथावच्छास्त्रतो राजन् व्येतु ते मानसो ज्वरः ॥ ११ ॥

'राजन् ! मैं तुम्हारी सेनाकी रक्षा करता हुआ शास्त्रीय विधानके अनुसार यथार्थरूपसे पाण्डवोंके साथ युद्ध करूँगा । अतः तुम्हारी मानसिक चिन्ता दूर हो जाय' ॥ ११ ॥

दुर्योधन उवाच

विद्यते मे न गाङ्गेय भयं देवासुरेष्वपि ।
समस्तेषु महाबाहो सत्यमेतद् ब्रवीमि ते ॥ १२ ॥

दुर्योधन बोला—महाबाहु गङ्गानन्दन ! मैं आपसे सत्य कहता हूँ, मुझे सम्पूर्ण देवताओं और असुरोंसे भी कभी भय नहीं होता है ॥ १२ ॥

किं पुनस्त्वयि दुर्धर्षे सैनापत्ये व्यवस्थिते ।
द्रोणे च पुरुषव्याघ्रे स्थिते युद्धाभिनन्दिनि ॥ १३ ॥

फिर जब आप-जैसे दुर्धर्ष वीर हमारे सेनापतिके पदपर स्थित हैं तथा युद्धका अभिनन्दन करनेवाले पुरुषसिंह द्रोणाचार्य-जैसे योद्धा मेरे लिये युद्धभूमिमें उपस्थित हैं, तब तो मुझे भय हो ही कैसे सकता है ? ॥ १३ ॥

भवद्भ्यां पुरुषाग्र्याभ्यां स्थिताभ्यां विजये मम ।
न दुर्लभं कुरुश्रेष्ठ देवराज्यमपि ध्रुवम् ॥ १४ ॥

कुरुश्रेष्ठ ! जब आप दोनों पुरुषप्रवर वीर मेरी विजयके लिये यहाँ खड़े हैं, तब तो अवश्य ही मेरे लिये देवताओंका राज्य भी दुर्लभ नहीं है ॥ १४ ॥

रथसंख्यां तु कार्त्स्न्येन परेषामात्मनस्तथा ।
तथैवातिरथानां च वेत्तुमिच्छामि कौरव ॥ १५ ॥
पितामहो हि कुशलः परेषामात्मनस्तथा ।
श्रोतुमिच्छाम्यहं सर्वैः सहैभिर्वसुधाधिपैः ॥ १६ ॥

कुरुनन्दन ! आप शत्रुओंके तथा अपने पक्षके रथियों और अतिरथियोंकी संख्याको पूर्णरूपसे जानते हैं, अतः मैं भी आपसे इस विषयकी जानकारी प्राप्त करना चाहता हूँ; क्योंकि पितामह शत्रुपक्ष तथा अपने पक्षकी सभी बातोंके ज्ञानमें निपुण हैं, अतः मैं इन सब राजाओंके साथ आपके मुँहसे इस विषयको सुनना चाहता हूँ ॥ १५-१६ ॥

भीष्म उवाच

गान्धारे शृणु राजेन्द्र रथसंख्यां स्वके बले ।
ये रथाः पृथिवीपाल तथैवातिरथाश्च ये ॥ १७ ॥

भीष्म बोले—राजेन्द्र गान्धारीनन्दन ! तुम अपनी सेनाके रथियोंकी संख्या श्रवण करो । भूपाल ! तुम्हारी सेनामें जो रथी और अतिरथी हैं, उन सबका वर्णन करता हूँ ।१७।

बहूनीह सहस्राणि प्रयुतान्यर्बुदानि च ।
रथानां तव सेनायां यथामुख्यं तु मे शृणु ॥ १८ ॥

तुम्हारी सेनामें रथियोंकी संख्या अनेक सहस्र, लक्ष और अर्बुदों (करोड़ों) तक पहुँच जाती है; तथापि उनमें जो प्रधान-प्रधान हैं, उनके नाम मुझसे सुनो ॥ १८ ॥

भवानग्रे रथोदारः सह सर्वैः सहोदरैः ।
दुःशासनप्रभृतिभिर्भ्रातृभिः शतसम्मितैः ॥ १९ ॥

सबसे पहले अपने दुःशासन आदि सौ सहोदर भाइयोंके साथ तुम्हीं बहुत बड़े उदार रथी हो ॥ १९ ॥

सर्वे कृतप्रहरणाश्छेदभेदविशारदाः ।
रथोपस्थे गजस्कन्धे गदाप्रासासिचर्मणि ॥ २० ॥

तुम सब लोग अस्त्रविद्याके ज्ञाता तथा छेदन-भेदनमें कुशल हो । रथपर और हाथीकी पीठपर बैठकर भी युद्ध कर सकते हो । गदा, प्रास तथा ढाल-तलवारके प्रयोगमें भी कुशल हो ॥

संयन्तारः प्रहर्तारः कृतास्त्रा भारसाधनाः ।
इष्वस्त्रे द्रोणशिष्याश्च कृपस्य च शरद्वतः ॥ २१ ॥

तुमलोग रथके संचालन और अस्त्रोंके प्रहारमें भी निपुण हो । अस्त्रविद्याके ज्ञाता तथा भार उठानेमें भी समर्थ हो । धनुष-बाणकी विद्यामें तो तुमलोग द्रोणाचार्य और कृपाचार्यके सुयोग्य शिष्य हो ॥ २१ ॥

एते हनिष्यन्ति रणे पञ्चालान् युद्धदुर्मदान् ।
कृतकिल्बिषाः पाण्डवेयैर्धार्तराष्ट्रा मनस्विनः ॥ २२ ॥

धृतराष्ट्रके ये सभी मनस्वी पुत्र पाण्डवोंके साथ वैर बाँधे हुए हैं; अतः युद्धमें उन्मत्त होकर लड़नेवाले पाञ्चाल योद्धाओंको ये समरभूमिमें मार डालेंगे ॥ २२ ॥

तथाहं भरतश्रेष्ठ सर्वसेनापतिस्तव ।
शत्रून् विध्वंसयिष्यामि कदर्थीकृत्य पाण्डवान् ॥ २३ ॥

भरतश्रेष्ठ ! मैं तो तुम्हारी सम्पूर्ण सेनाका प्रधान सेनापति ही हूँ; अतः पाण्डवोंको कष्ट देकर शत्रुसेनाके सैनिकोंका संहार करूँगा ॥ २३ ॥

न त्वात्मनो गुणान् वक्तुमर्हामि विदितोऽस्मि ते ।
कृतवर्मा त्वतिरथो भोजः शस्त्रभृतां वरः ॥ २४ ॥



भीष्म-दुर्योधन-संवाद

मैं अपने मुँहसे अपने ही गुणोंका बखान करना उचित नहीं समझता। तुम तो मुझे जानते ही हो। शस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ भोजवंशी कृतवर्मा तुम्हारे दलमें अतिरथी वीर हैं ।२४।

अर्थसिद्धिं तव रणे करिष्यति न संशयः।
शस्त्रविद्भिरनाधृष्यो दूरपाती दृढायुधः ॥ २५ ॥
हनिष्यति चमूं तेषां महेन्द्रो दानवानिव।

ये युद्धमें तुम्हारे अभीष्ट अर्थकी सिद्धि करेंगे। इसमें संशय नहीं है। बड़े-बड़े शस्त्रवेत्ता भी इन्हें परास्त नहीं कर सकते। इनके आयुध अत्यन्त दृढ़ हैं और ये दूरके लक्ष्यको भी मार गिरानेमें समर्थ हैं। जैसे देवराज इन्द्र दानवोंका संहार करते हैं, उसी प्रकार ये भी पाण्डवोंकी सेनाका विनाश करेंगे ॥ २५½ ॥

मद्रराजो महेष्वासः शल्यो मेऽतिरथो मतः ॥ २६ ॥
स्पर्धते वासुदेवेन नित्यं यो वै रणे रणे।

महाधनुर्धर मद्रराज शल्यको भी मैं अतिरथी मानता हूँ, जो प्रत्येक युद्धमें सदा भगवान् श्रीकृष्णके साथ स्पर्धा रखते हैं ॥ २६½ ॥

भागिनेयान् निजांस्त्यक्त्वा शल्यस्तेऽतिरथो मतः।
एष योत्स्यति संग्रामे पाण्डवांश्च महारथान् ॥ २७ ॥
सागरोर्मिसमैर्बाणैः प्लावयन्निव शात्रवान्।

ये अपने सगे भानजों नकुल-सहदेवको छोड़कर अन्य सभी पाण्डव महारथियोंसे समरभूमिमें युद्ध करेंगे। तुम्हारी सेनाके इन वीरशिरोमणि शल्यको मैं अतिरथी ही समझता हूँ। ये समुद्रकी लहरोंके समान अपने बाणोंद्वारा शत्रुपक्षके सैनिकोंको डुबाते हुए-से युद्ध करेंगे ॥ २७½ ॥

भूरिश्रवाः कृतास्त्रश्च तव चापि हितः सुहृत् ॥ २८ ॥
सौमदत्तिर्महेष्वासो रथयूथपयूथपः।
बलक्षयममित्राणां सुमहान्तं करिष्यति ॥ २९ ॥

सोमदत्तके पुत्र महाधनुर्धर भूरिश्रवा भी अस्त्र-विद्याके पण्डित और तुम्हारे हितैषी सुहृद् हैं। ये रथियोंके यूथपतियोंके भी यूथपति हैं, अतः तुम्हारे शत्रुओंकी सेनाका महान् संहार करेंगे ॥ २८-२९ ॥

सिन्धुराजो महाराज मतो मे द्विगुणो रथः।
योत्स्यते समरे राजन् विक्रान्तो रथसत्तमः ॥ ३० ॥

महाराज! सिन्धुराज जयद्रथको मैं दो रथियोंके बराबर समझता हूँ। ये बड़े पराक्रमी तथा रथी योद्धाओंमें श्रेष्ठ हैं। राजन्! ये भी समराङ्गणमें पाण्डवोंके साथ युद्ध करेंगे ॥३०॥

द्रौपदीहरणे राजन् परिक्लिष्टश्च पाण्डवैः।
संस्मरंस्तं परिक्लेशं योत्स्यते परवीरहा ॥ ३१ ॥

नरेश्वर! द्रौपदीहरणके समय पाण्डवोंने इन्हें बहुत कष्ट पहुँचाया था। उस महान् क्लेशको याद करके शत्रु-वीरोंका नाश करनेवाले जयद्रथ अवश्य युद्ध करेंगे ॥ ३१॥

एतेन हि तदा राजंस्तप आस्थाय दारुणम्।
सुदुर्लभो वरो लब्धः पाण्डवान् योद्धुमाहवे ॥ ३२ ॥

राजन्! उस समय इन्होंने कठोर तपस्या करके युद्धमें पाण्डवोंसे मुठभेड़ कर सकनेका अत्यन्त दुर्लभ वर प्राप्त किया था ॥ ३२ ॥

स एष रथशार्दूलस्तद् वैरं संस्मरन् रणे।
योत्स्यते पाण्डवैस्तात प्राणांस्त्यक्त्वा सुदुस्त्यजान् ३३

तात! ये रथियोंमें श्रेष्ठ जयद्रथ युद्धमें उस पुराने वैरको याद करके अपने दुस्त्यज प्राणोंकी भी बाजी लगाकर पाण्डवोंके साथ संग्राम करेंगे ॥ ३३ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि रथातिरथसंख्यानपर्वणि पञ्चषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १६५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत रथातिरथसंख्यानपर्वमें एक सौ पैंसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १६५ ॥

षट्षष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः

कौरवपक्षके रथियोंका परिचय

भीष्म उवाच

सुदक्षिणस्तु काम्बोजो रथ एकगुणो मतः।
तवार्थसिद्धिमाकाङ्क्षन् योत्स्यते समरे परैः ॥ १ ॥

भीष्मने कहा—राजन्! काम्बोजदेशके राजा सुदक्षिण एक रथी माने गये हैं। ये तुम्हारे कार्यकी सिद्धि चाहते हुए समराङ्गणमें शत्रुओंके साथ युद्ध करेंगे ॥ १ ॥

एतस्य रथसिंहस्य तवार्थे राजसत्तम।
पराक्रमं यथेन्द्रस्य द्रक्ष्यन्ति कुरवो युधि ॥ २ ॥

नृपश्रेष्ठ! रथियोंमें सिंहके समान पराक्रमी ये काम्बोजराज तुम्हारे लिये युद्धमें इन्द्रके समान पराक्रम प्रकट करेंगे और समस्त कौरव इनके पराक्रमको देखेंगे ॥ २ ॥

एतस्य रथवंशे हि तिग्मवेगप्रहारिणः।
काम्बोजानां महाराज शलभानामिवायतिः ॥ ३ ॥

महाराज! प्रचण्ड वेगसे प्रहार करनेवाले इन काम्बोज-नरेशके रथियोंके समुदायमें काम्बोजदेशीय सैनिकोंकी श्रेणी टिड्डियोंके दल-सी दृष्टिगोचर होती है ॥ ३ ॥

नीलो माहिष्मतीवासी नीलवर्मा रथस्तव।
रथवंशेन कदनं शत्रूणां वै करिष्यति ॥ ४ ॥

माहिष्मतीपुरीके निवासी राजा नील भी तुम्हारे दलके एक रथी हैं। इन्होंने नीले रंगका कवच पहन रक्खा है। ये अपने रथसमूहद्वारा शत्रुओंका संहार कर डालेंगे ॥ ४ ॥

कृतवैरः पुरा चैव सहदेवेन मारिष।
योत्स्यते सततं राजंस्तवार्थे कुरुनन्दन ॥ ५ ॥

कुरुनन्दन! पूर्वकालमें सहदेवके साथ इनकी शत्रुता हो गयी थी। राजन्! ये सदा तुम्हारे शत्रुओंके साथ युद्ध करेंगे ॥

विन्दानुविन्दावावन्त्यौ संमतौ रथसत्तमौ ।
कृतिनौ समरे तात दृढवीर्यपराक्रमौ ॥ ६ ॥

अवन्तीदेशके दोनों वीर राजकुमार विन्द और अनुविन्द श्रेष्ठ रथी माने गये हैं । तात ! वे युद्धकलाके पण्डित तथा सुदृढ़ बल एवं पराक्रमसे सम्पन्न हैं ॥ ६ ॥

एतौ तौ पुरुषव्याघ्रौ रिपुसैन्यं प्रधक्ष्यतः ।
गदाप्रासासिनाराचैस्तोमरैश्च करच्युतैः ॥ ७ ॥

ये दोनों पुरुषसिंह अपने हाथसे छूटे हुए गदा, प्रास, खड्ग, नाराच तथा तोमरोंद्वारा शत्रुसेनाको दग्ध कर डालेंगे ॥

युद्धाभिकामौ समरे क्रीडन्ताविव यूथपौ ।
यूथमध्ये महाराज विचरन्तौ कृतान्तवत् ॥ ८ ॥

महाराज ! जैसे दो यूथपति गजराज हाथियोंके झुंडमें खेल-सा करते हुए विचरते हैं, उसी प्रकार युद्धकी अभिलाषा रखनेवाले विन्द और अनुविन्द समराङ्गणमें यमराजके समान विचरण करते हैं ॥ ८ ॥

त्रिगर्ता भ्रातरः पञ्च रथोदारा मता मम ।
कृतवैराश्च पार्थैस्ते विराटनगरे तदा ॥ ९ ॥

त्रिगर्तदेशीय पाँचों भ्राताओंको मैं उदार रथी मानता हूँ । विराटनगरमें दक्षिणगोग्रहके युद्धके समय चार पाण्डवोंके साथ इनका वैर बढ़ गया था ॥ ९ ॥

मकरा इव राजेन्द्र समुद्धततरङ्गिणीम् ।
गङ्गां विक्षोभयिष्यन्ति पार्थानां युधि वाहिनीम् ॥ १० ॥

राजेन्द्र ! जैसे ग्राहगण उत्ताल तरङ्गोंवाली गङ्गाको मथ डालते हैं, उसी प्रकार ये त्रिगर्तदेशीय पाँचों क्षत्रिय वीर पाण्डवोंकी सेनामें हलचल मचा देंगे ॥ १० ॥

ते रथाः पञ्च राजेन्द्र येषां सत्यरथो मुखम् ।
एते योत्स्यन्ति संग्रामे संस्मरन्तः पुराकृतम् ॥ ११ ॥
व्यलीकं पाण्डवेयेन भीमसेनानुजेन ह ।
दिशो विजयता राजन् श्वेतवाहेन भारत ॥ १२ ॥

महाराज ! ये पाँचों भाई रथी हैं और सत्यरथ उनमें प्रधान है । भारत ! भीमसेनके छोटे भाई श्वेत घोड़ोंवाले पाण्डुनन्दन अर्जुनने दिग्विजयके समय जो त्रिगर्तोंका अप्रिय किया था, उस पहलेके वैरको याद रखते हुए ये पाँचों वीर संग्रामभूमिमें मन लगाकर युद्ध करेंगे ॥ ११-१२ ॥

ते हनिष्यन्ति पार्थानां तानासाद्य महारथान् ।
वरान् वरान् महेष्वासान् क्षत्रियाणां धुरन्धरान् ॥ १३ ॥

ये पाण्डवोंके बड़े-बड़े महारथियोंके पास जा उन महाधनुर्धर क्षत्रियशिरोमणि वीरोंका संहार कर डालेंगे ॥ १३ ॥

लक्ष्मणस्तव पुत्रश्च तथा दुःशासनस्य च ।
उभौ तौ पुरुषव्याघ्रौ संग्रामेष्वपलायिनौ ॥ १४ ॥

तुम्हारा पुत्र लक्ष्मण और दुःशासनका पुत्र—ये दोनों पुरुषसिंह युद्धसे पलायन करनेवाले नहीं हैं ॥ १४ ॥

तरुणौ सुकुमारौ च राजपुत्रौ तरस्विनौ ।
युद्धानां च विशेषज्ञौ प्रणेतारौ च सर्वशः ॥ १५ ॥

ये दोनों तरुण और सुकुमार राजपुत्र बड़े वेगशाली हैं, अनेक युद्धोंके विशेषज्ञ हैं और सब प्रकारसे सेनानायक होने योग्य हैं ॥ १५ ॥

रथौ तौ कुरुशार्दूल मतौ मे रथसत्तमौ ।
क्षत्रधर्मरतौ वीरौ महत् कर्म करिष्यतः ॥ १६ ॥

कुरुश्रेष्ठ ! ये दोनों वीर रथी तो हैं ही, रथियोंमें श्रेष्ठ भी हैं । ये क्षत्रियधर्ममें तत्पर होकर युद्धमें महान् पराक्रम करेंगे ॥

दण्डधारो महाराज रथ एको नरर्षभ ।
योत्स्यते तव संग्रामे स्वेन सैन्येन पालितः ॥ १७ ॥

महाराज ! नरश्रेष्ठ ! अपनी सेनामें दण्डधार भी एक रथी हैं, जो तुम्हारे लिये संग्राममें अपनी सेनासे सुरक्षित होकर लड़ेंगे ॥

बृहद्बलस्तथा राजा कौसल्यो रथसत्तमः ।
रथो मम मतस्तात महावेगपराक्रमः ॥ १८ ॥

तात ! महान् वेग और पराक्रमसे सम्पन्न कोसलदेशके राजा बृहद्बल भी मेरी दृष्टिमें एक रथी हैं और रथियोंमें इनका स्थान बहुत ऊँचा है ॥ १८ ॥

एष योत्स्यति संग्रामे स्वान् बन्धून् सम्प्रहर्षयन् ।
उग्रायुधो महेष्वासो धार्तराष्ट्रहिते रतः ॥ १९ ॥

ये धृतराष्ट्रपुत्रोंके हितमें तत्पर हो भयंकर अस्त्र-शस्त्र तथा महान् धनुष धारण किये अपने बन्धुओंका हर्ष बढ़ाते हुए समराङ्गणमें बड़े उत्साहसे युद्ध करेंगे ॥ १९ ॥

कृपः शारद्वतो राजन् रथयूथपयूथपः ।
प्रियान् प्राणान् परित्यज्य प्रधक्ष्यति रिपूंस्तव ॥ २० ॥

राजन् ! शरद्वान्के पुत्र कृपाचार्य तो रथयूथपतियोंके भी यूथपति हैं । ये अपने प्यारे प्राणोंकी परवा न करके तुम्हारे शत्रुओंको जला डालेंगे ॥ २० ॥

गौतमस्य महर्षेर्य आचार्यस्य शरद्वतः ।
कार्तिकेय इवाजेयः शरस्तम्बात् सुतोऽभवत् ॥ २१ ॥

गौतमवंशी महर्षि आचार्य शरद्वान्के पुत्र कृपाचार्य कार्तिकेयकी भाँति सरकण्डोंसे उत्पन्न हुए हैं और उन्हींकी भाँति अजेय भी हैं ॥ २१ ॥

एष सेनाः सुबहुला विविधायुधकार्मुकाः ।
अग्निवत् समरे तात चरिष्यति विनिर्दहन् ॥ २२ ॥

तात ! ये नाना प्रकारके अस्त्र-शस्त्र एवं धनुष धारण करनेवाली बहुत-सी सेनाओंको अग्निके समान दग्ध करते हुए समरभूमिमें विचरण करेंगे ॥ २२ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि रथातिरथसंख्यानपर्वणि षट्षष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १६६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत रथातिरथसंख्यानपर्वमें एक सौ छाछठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १६६ ॥

सप्तषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः

कौरवपक्षके रथी, महारथी और अतिरथियोंका वर्णन

भीष्म उवाच

शकुनिर्मातुलस्तेऽसौ रथ एको नराधिप।
प्रयुज्य पाण्डवैर्वैरं योत्स्यते नात्र संशयः॥ १ ॥

भीष्मने कहा—नरेश्वर! यह तुम्हारा मामा शकुनि भी एक रथी है। यह पाण्डवोंसे वैर बाँधकर युद्ध करेगा, इसमें संशय नहीं है॥ १॥

एतस्य सेना दुर्धर्षा समरे प्रतियायिनः।
विकृतायुधभूयिष्ठा वायुवेगसमा जवे॥ २ ॥

युद्धमें डटकर शत्रुओंका सामना करनेवाले इस शकुनिकी सेना दुर्धर्ष है। इसका वेग वायुके समान है तथा यह विविध आकारवाले अनेक आयुधोंसे विभूषित है॥ २॥

द्रोणपुत्रो महेष्वासः सर्वानेवाति धन्विनः।
समरे चित्रयोधी च दृढास्त्रश्च महारथः॥ ३ ॥

महाधनुर्धर द्रोणपुत्र अश्वत्थामा तो सभी धनुर्धरोंसे बढ़कर है। वह युद्धमें विचित्र ढंगसे शत्रुओंका सामना करनेवाला, सुदृढ़ अस्त्रोंसे सम्पन्न तथा महारथी है॥ ३॥

एतस्य हि महाराज यथा गाण्डीवधन्वनः।
शरासनविनिर्मुक्ताः संसक्ता यान्ति सायकाः॥ ४ ॥

महाराज! गाण्डीवधारी अर्जुनकी भाँति इसके धनुषसे एक साथ छूटे हुए बहुत-से बाण भी परस्पर सटे हुए ही लक्ष्यतक पहुँचते हैं॥ ४॥

नैष शक्यो मया वीरः संख्यातुं रथसत्तमः।
निर्दहेदपि लोकांस्त्रीनिच्छन्नेष महारथः॥ ५ ॥

रथियोंमें श्रेष्ठ इस वीर पुरुषके महत्त्वकी गणना नहीं की जा सकती। यह महारथी चाहे, तो तीनों लोकोंको दग्ध कर सकता है॥ ५॥

क्रोधस्तेजश्च तपसा सम्भृतोऽऽश्रमवासिनाम्।
द्रोणेनानुगृहीतश्च दिव्यैरस्त्रैरुदारधीः॥ ६ ॥

इसमें क्रोध है, तेज है और आश्रमवासी महर्षियोंके योग्य तपस्या भी संचित है। इसकी बुद्धि उदार है। द्रोणाचार्यने सम्पूर्ण दिव्यास्त्रोंका ज्ञान देकर इसपर महान् अनुग्रह किया है॥ ६॥

दोषस्त्वस्य महानेको येनैव भरतर्षभ।
न मे रथो नातिरथो मतः पार्थिवसत्तम॥ ७ ॥

किंतु भरतश्रेष्ठ! नृपशिरोमणे! इसमें एक ही बहुत बड़ा दोष है, जिससे मैं इसे न तो अतिरथी मानता हूँ और न रथी ही॥ ७॥

जीवितं प्रियमत्यर्थमायुष्कामः सदा द्विजः।
न ह्यस्य सदृशः कश्चिदुभयोः सेनयोरपि॥ ८ ॥

इस ब्राह्मणको अपना जीवन बहुत प्रिय है, अतः यह सदा दीर्घायु बना रहना चाहता है (यही इसका दोष है)। अन्यथा दोनों सेनाओंमें इसके समान शक्तिशाली कोई नहीं है॥ ८॥

हन्यादेकरथेनैव देवानामपि वाहिनीम्।
वपुष्मांस्तलघोषेण स्फोटयेदपि पर्वतान्॥ ९ ॥

यह एकमात्र रथका सहारा लेकर देवताओंकी सेनाका भी संहार कर सकता है। इसका शरीर हृष्ट-पुष्ट एवं विशाल है। यह अपनी तालीकी आवाजसे पर्वतोंको भी विदीर्ण कर सकता है॥ ९॥

असंख्येयगुणो वीरः प्रहर्ता दारुणद्युतिः।
दण्डपाणिरिवासह्यः कालवत् प्रचरिष्यति॥ १० ॥

इस वीरमें असंख्य गुण हैं। यह प्रहार करनेमें कुशल और भयंकर तेजसे सम्पन्न है; अतः दण्डधारी कालके समान असह्य होकर युद्धभूमिमें विचरण करेगा॥ १०॥

युगान्ताग्निसमः क्रोधात् सिंहग्रीवो महाद्युतिः।
एष भारतयुद्धस्य पृष्ठं संशमयिष्यति॥ ११ ॥

क्रोधमें यह प्रलयकालकी अग्निके समान जान पड़ता है। इसकी ग्रीवा सिंहके समान है। यह महातेजस्वी अश्वत्थामा महाभारत-युद्धके शेषभागका शमन करेगा॥ ११॥

पिता त्वस्य महातेजा वृद्धोऽपि युवभिर्वरः।
रणे कर्म महत् कर्ता अत्र मे नास्ति संशयः॥ १२ ॥

अश्वत्थामाके पिता द्रोणाचार्य महान् तेजस्वी हैं। ये बूढ़े होनेपर भी नवयुवकोंसे अच्छे हैं। इस युद्धमें ये अपना महान् पराक्रम प्रकट करेंगे, इसमें मुझे संशय नहीं है॥ १२॥

अस्त्रवेगानिलोद्धूतः सेनाकक्षेन्धनोत्थितः।
पाण्डुपुत्रस्य सैन्यानि प्रधक्ष्यति रणे धृतः॥ १३ ॥

समरभूमिमें डटे हुए द्रोणाचार्य अग्निके समान हैं। अस्त्रवेग-रूपी वायुका सहारा पाकर ये उद्दीप्त होंगे और सेनारूपी घास-फूस तथा ईंधनोंको पाकर प्रज्वलित हो उठेंगे। इस प्रकार ये प्रज्वलित होकर पाण्डुपुत्र युधिष्ठिरकी सेनाओंको जलाकर भस्म कर डालेंगे॥ १३॥

रथयूथपयूथानां यूथपोऽयं नरर्षभः।
भारद्वाजात्मजः कर्ता कर्म तीव्रं हितं तव॥ १४ ॥

ये नरश्रेष्ठ भरद्वाजनन्दन रथयूथपतियोंके समुदायके भी यूथपति हैं। ये तुम्हारे हितके लिये तीव्र पराक्रम प्रकट करेंगे॥

सर्वमूर्धाभिषिक्तानामाचार्यः स्थविरो गुरुः।
गच्छेदन्तं सृंजयानां प्रियस्त्वस्य धनंजयः॥ १५ ॥

सम्पूर्ण मूर्धाभिषिक्त राजाओंके ये आचार्य एवं वृद्ध गुरु हैं। ये सृंजयवंशी क्षत्रियोंका विनाश कर डालेंगे; परंतु अर्जुन इन्हें बहुत प्रिय हैं॥ १५॥

नैष जातु महेष्वासः पार्थमक्लिष्टकारिणम्।
हन्यादाचार्यकं दीप्तं संस्मृत्य गुणनिर्जितम्॥ १६ ॥

महाधनुर्धर द्रोणाचार्यका समुज्ज्वल आचार्यभाव अर्जुनके गुणोंद्वारा जीत लिया गया है। उसका स्मरण करके ये अनायास ही महान् कर्म करनेवाले कुन्तीपुत्र अर्जुनको कदापि नहीं मारेंगे ॥ १६ ॥

श्लाघतेऽयं सदा वीर पार्थस्य गुणविस्तरैः।
पुत्रादभ्यधिकं चैनं भारद्वाजोऽनुपश्यति ॥ १७ ॥

वीर ! ये आचार्य द्रोण अर्जुनके गुणोंका विस्तारपूर्वक उल्लेख करते हुए सदा उनकी प्रशंसा करते हैं और उन्हें पुत्रसे भी अधिक प्रिय मानते हैं ॥ १७ ॥

हन्यादेकरथेनैव देवगन्धर्वमानुषान्।
एकीभूतानपि रणे दिव्यैरस्त्रैः प्रतापवान् ॥ १८ ॥

प्रतापी द्रोणाचार्य एकमात्र रथका ही आश्रय ले रणभूमिमें एकत्र एवं एकीभूत हुए सम्पूर्ण देवताओं, गन्धर्वों और मनुष्योंको अपने दिव्यास्त्रोंद्वारा नष्ट कर सकते हैं ॥ १८ ॥

पौरवो राजशार्दूलस्तव राजन् महारथः।
मतो मम रथोदारः परवीररथारुजः ॥ १९ ॥

राजन् ! तुम्हारी सेनामें जो नृपश्रेष्ठ पौरव हैं, वे मेरे मतमें रथियोंमें उदार महारथी हैं। वे विपक्षके वीर रथियोंको पीड़ा देनेमें समर्थ हैं ॥ १९ ॥

स्वेन सैन्येन महता प्रतपन् शत्रुवाहिनीम्।
प्रधक्ष्यति स पञ्चालान् कक्षमग्निगतिर्यथा ॥ २० ॥

राजा पौरव अपनी विशाल सेनाके द्वारा शत्रुवाहिनीको संतप्त करते हुए पाञ्चालोंको उसी प्रकार भस्म कर डालेंगे, जैसे आग घास-फूसको ॥ २० ॥

सत्यश्रवा रथस्त्वेको राजपुत्रो बृहद्बलः।
तव राजन् रिपुबले कालवत् प्रचरिष्यति ॥ २१ ॥

राजन् ! राजकुमार बृहद्बल भी एक रथी हैं। संसारमें उनकी सच्ची कीर्तिका विस्तार हुआ है। वे तुम्हारे शत्रुओंकी सेनामें कालके समान विचरेंगे ॥ २१ ॥

एतस्य योधा राजेन्द्र विचित्रकवचायुधाः।
विचरिष्यन्ति संग्रामे निघ्नन्तः शात्रवांस्तव ॥ २२ ॥

राजेन्द्र ! उनके सैनिक विचित्र कवच और अस्त्र-शस्त्र धारण करके तुम्हारे शत्रुओंका संहार करते हुए संग्रामभूमिमें विचरण करेंगे ॥ २२ ॥

वृषसेनो रथस्तेऽग्र्यः कर्णपुत्रो महारथः।
प्रधक्ष्यति रिपूणां ते बलं तु बलिनां वरः ॥ २३ ॥

कर्णका पुत्र वृषसेन भी तुम्हारी सेनाका एक श्रेष्ठ रथी है। इसे महारथी भी कह सकते हैं। बलवानोंमें श्रेष्ठ वृषसेन तुम्हारे वैरियोंकी विशाल वाहिनीको भस्म कर डालेगा ॥ २३ ॥

जलसंधो महातेजा राजन् रथवरस्तव।
त्यक्ष्यते समरे प्राणान् माधवः परवीरहा ॥ २४ ॥

राजन् ! शत्रुवीरोंका संहार करनेवाले मधुवंशी महातेजस्वी जलसंध तुम्हारी सेनामें श्रेष्ठ रथी हैं। ये तुम्हारे लिये युद्धमें अपने प्राणतक दे डालेंगे ॥ २४ ॥

एष योत्स्यति संग्रामे गजस्कन्धविशारदः।
रथेन वा महाबाहुः क्षपयन् शत्रुवाहिनीम् ॥ २५ ॥

महाबाहु जलसंध रथ अथवा हाथीकी पीठपर बैठकर युद्ध करनेमें कुशल हैं। ये संग्राममें शत्रुसेनाका संहार करते हुए लड़ेंगे ॥ २५ ॥

रथ एष महाराज मतो मे राजसत्तम।
त्वदर्थे त्यक्ष्यते प्राणान् सहसैन्यो महारणे ॥ २६ ॥

महाराज ! नृपश्रेष्ठ ! ये मेरे मतमें रथी ही हैं और इस महायुद्धमें तुम्हारे लिये अपनी सेनासहित प्राणत्याग करेंगे ॥

एष विक्रान्तयोधी च चित्रयोधी च सङ्गरे।
वीतभीश्चापि ते राजन् शत्रुभिः सह योत्स्यते ॥ २७ ॥

राजन् ! ये समराङ्गणमें महान् पराक्रम प्रकट करते हुए विचित्र ढंगसे युद्ध करनेवाले हैं। ये तुम्हारे शत्रुओंके साथ निर्भय होकर युद्ध करेंगे ॥ २७ ॥

बाह्लीकोऽतिरथश्चैव समरे चानिवर्तनः।
मम राजन् मतो युद्धे शूरो वैवस्वतोपमः ॥ २८ ॥

बाह्लीक अतिरथी वीर हैं। ये युद्धसे कभी पीछे नहीं हटते हैं। राजन् ! मैं समरभूमिमें इन्हें यमराजके समान शूरवीर मानता हूँ ॥ २८ ॥

न ह्येष समरं प्राप्य निवर्तेत कथञ्चन।
यथा सततगो राजन् स हि हन्यात् परान् रणे ॥ २९ ॥

ये रणक्षेत्रमें पहुँचकर किसी तरह पीछे पैर नहीं हटा सकते। राजन् ! ये वायुके समान वेगसे रणभूमिमें शत्रुओंको मारेंगे ॥ २९ ॥

सेनापतिर्महाराज सत्यवांस्ते महारथः।
रणेष्वद्भुतकर्मा च रथी पररथारुजः ॥ ३० ॥

महाराज ! रथारूढ हो युद्धमें अद्भुत पराक्रम दिखाने और शत्रुपक्षके रथियोंको मार भगानेवाले तुम्हारे सेनापति सत्यवान् भी महारथी हैं ॥ ३० ॥

एतस्य समरं दृष्ट्वा न व्यथास्ति कथञ्चन।
उत्स्मयन्नुत्पतत्येष परान् रथपथे स्थितान् ॥ ३१ ॥

युद्ध देखकर इनके मनमें किसी प्रकार भी भय एवं दुःख नहीं होता। ये रथके मार्गमें खड़े हुए शत्रुओंपर हँसते-हँसते कूद पड़ते हैं ॥ ३१ ॥

एष चारिषु विक्रान्तः कर्म सत्पुरुषोचितम्।
कर्ता विमर्दे सुमहत् त्वदर्थे पुरुषोत्तमः ॥ ३२ ॥

पुरुषश्रेष्ठ सत्यवान् शत्रुओंपर महान् पराक्रम दिखाते हैं। ये युद्धमें तुम्हारे लिये श्रेष्ठ पुरुषोंके योग्य महान् कर्म करेंगे ॥ ३२ ॥

अलम्बुषो राक्षसेन्द्रः क्रूरकर्मा महारथः।
हनिष्यति परान् राजन् पूर्ववैरमनुस्मरन् ॥ ३३ ॥

क्रूरकर्मा राक्षसराज अलम्बुष भी महारथी है। राजन् ! यह पहलेके वैरको याद करके शत्रुओंका संहार करेगा ॥ ३३ ॥

एष राक्षससैन्यानां सर्वेषां रथसत्तमः।
मायावी दृढवैरश्च समरे विचरिष्यति ॥ ३४ ॥

मायावी, वैरभावको दृढ़तापूर्वक सुरक्षित रखनेवाला तथा समस्त राक्षस सैनिकोंमें श्रेष्ठ रथी यह अलम्बुष संग्राम-भूमिमें (निर्भय होकर) विचरेगा ॥ ३४ ॥

प्राग्ज्योतिषाधिपो वीरो भगदत्तः प्रतापवान् ।
गजाङ्कुशधरश्रेष्ठो रथे चैव विशारदः ॥ ३५ ॥

प्राग्ज्योतिषपुरके राजा भगदत्त बड़े वीर और प्रतापी हैं । हाथमें अङ्कुश लेकर हाथियोंको काबूमें रखनेवाले वीरोंमें इनका सबसे ऊँचा स्थान है । ये रथयुद्धमें भी कुशल हैं॥३५॥

एतेन युद्धमभवत् पुरा गाण्डीवधन्वनः ।
दिवसान् सुबहून् राजन्नुभयोर्जयगृद्धिनोः ॥ ३६ ॥

राजन् ! पहले इनके साथ गाण्डीवधारी अर्जुनका युद्ध हुआ था । उस संग्राममें दोनों अपनी-अपनी विजय चाहते हुए बहुत दिनोंतक लड़ते रहे ॥ ३६ ॥

ततः सखायं गान्धारे मानयन् पाकशासनम् ।
अकरोत् संविदं तेन पाण्डवेन महात्मना ॥ ३७ ॥

गान्धारीकुमार ! कुछ दिनों बाद भगदत्तने अपने सखा इन्द्रका सम्मान करते हुए महात्मा पाण्डुनन्दन अर्जुनके साथ संधि कर ली थी ॥ ३७ ॥

एष योत्स्यति संग्रामे गजस्कन्धविशारदः ।
ऐरावतगतो राजा देवानामिव वासवः ॥ ३८ ॥

राजा भगदत्त हाथीकी पीठपर बैठकर युद्ध करनेमें अत्यन्त कुशल हैं । ये ऐरावतपर बैठे हुए देवराज इन्द्रके समान संग्राममें तुम्हारे शत्रुओंके साथ युद्ध करेंगे ॥ ३८ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि रथातिरथसंख्यानपर्वणि सप्तषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १६७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत रथातिरथसंख्यानपर्वमें एक सौ सरसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १६७ ॥

अष्टषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः

कौरवपक्षके रथियों और अतिरथियोंका वर्णन, कर्ण और भीष्मका रोषपूर्वक संवाद तथा दुर्योधनद्वारा उसका निवारण

भीष्म उवाच

अचलो वृषकश्चैव सहितौ भ्रातरावुभौ ।
रथौ तव दुराधर्षौ शत्रून् विध्वंसयिष्यतः ॥ १ ॥

भीष्म कहते हैं—अचल और वृषक—ये साथ रहनेवाले दोनों भाई दुर्धर्ष रथी हैं, जो तुम्हारे शत्रुओंका विध्वंस कर डालेंगे ॥ १ ॥

बलवन्तौ नरव्याघ्रौ दृढक्रोधौ प्रहारिणौ ।
गान्धारमुख्यौ तरुणौ दर्शनीयौ महाबलौ ॥ २ ॥

गान्धारदेशके ये प्रधान वीर मनुष्योंमें सिंहके समान पराक्रमी, बलवान्, अत्यन्त क्रोधी, प्रहार करनेमें कुशल, तरुण, दर्शनीय एवं महाबली हैं ॥ २ ॥

सखा ते दयितो नित्यं य एष रणकर्कशः ।
उत्साहयति राजंस्त्वां विग्रहे पाण्डवैः सह ॥ ३ ॥
परुषः कत्थनो नीचः कर्णो वैकर्तनस्तव ।
मन्त्री नेता च बन्धुश्च मानी चात्यन्तमुच्छ्रितः ॥ ४ ॥

राजन् ! यह जो तुम्हारा प्रिय सखा कर्ण है, जो तुम्हें पाण्डवोंके साथ युद्धके लिये सदा उत्साहित करता रहता है और रणक्षेत्रमें सदा अपनी क्रूरताका परिचय देता है, बड़ा ही कटुभाषी, आत्मप्रशंसी और नीच है । यह कर्ण तुम्हारा मन्त्री, नेता और बन्धु बना हुआ है । यह अभिमानी तो है ही, तुम्हारा आश्रय पाकर बहुत ऊँचे चढ़ गया है ॥३-४॥

एष नैव रथः कर्णो न चाप्यतिरथो रणे ।
वियुक्तः कवचेनैष सहजेन विचेतनः ॥ ५ ॥
कुण्डलाभ्यां च दिव्याभ्यां वियुक्तः सततं घृणी ।
अभिशापाच्च रामस्य ब्राह्मणस्य च भाषणात् ॥ ६ ॥
करणानां वियोगाच्च तेन मेऽर्धरथो मतः ।
नैष फाल्गुनमासाद्य पुनर्जीवन् विमोक्ष्यते ॥ ७ ॥

यह कर्ण युद्धभूमिमें न तो अतिरथी है और न रथी ही कहलाने योग्य है, क्योंकि यह मूर्ख अपने सहज कवच तथा दिव्य कुण्डलोंसे हीन हो चुका है । यह दूसरोंके प्रति सदा घृणाका भाव रखता है । परशुरामजीके अभिशापसे, ब्राह्मणकी शापोक्तिसे तथा विजयसाधक उपर्युक्त उपकरणोंको खो देनेसे मेरी दृष्टिमें यह कर्ण अर्धरथी है । अर्जुनसे भिड़नेपर यह कदापि जीवित नहीं बच सकता ॥ ५—७ ॥

ततोऽब्रवीत् पुनर्द्रोणः सर्वशस्त्रभृतां वरः ।
एवमेतद् यथाऽऽत्थ त्वं न मिथ्यास्ति कदाचन ॥ ८ ॥

यह सुनकर समस्त शस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ द्रोणाचार्य भी बोल उठे—'आप जैसा कहते हैं, बिल्कुल ठीक है । आपका यह मत कदापि मिथ्या नहीं है ॥ ८ ॥

रणे रणेऽभिमानी च विमुखश्चापि दृश्यते ।
घृणी कर्णः प्रमादी च तेन मेऽर्धरथो मतः ॥ ९ ॥

'यह प्रत्येक युद्धमें घमंड तो बहुत दिखाता है; परंतु वहाँसे भागता ही देखा जाता है । कर्ण दयालु और प्रमादी है । इसलिये मेरी रायमें भी यह अर्धरथी ही है' ॥ ९ ॥

एतच्छ्रुत्वा तु राधेयः क्रोधादुत्फाल्य लोचने ।
उवाच भीष्मं राधेयस्तुदन् वाग्भिः प्रतोदवत् ॥ १० ॥

यह सुनकर राधानन्दन कर्ण क्रोधसे आँखें फाड़-फाड़कर देखने लगा और अपने वचनरूपी चाबुकसे पीड़ा देता हुआ भीष्मसे बोला—॥ १० ॥

पितामह यथेष्टं मां वाक्शरैरुपकृन्तसि ।
अनागसं सदा द्वेषादेवमेव पदे पदे ॥ ११ ॥

'पितामह ! यद्यपि मैंने तुम्हारा कोई अपराध नहीं किया है, तो भी सदा मुझसे द्वेष रखनेके कारण तुम इसी प्रकार पग-पगपर मुझे अपने वाग्बाणोंद्वारा इच्छानुसार चोट पहुँचाते रहते हो ॥ ११ ॥

मर्षयामि च तत् सर्वं दुर्योधनकृतेन वै।
त्वं तु मां मन्यसे मन्दं यथा कापुरुषं तथा ॥१२॥

'मैं दुर्योधनके कारण यह सब कुछ चुपचाप सह लेता हूँ; परंतु तुम मुझे मूर्ख और कायरके समान समझते हो।१२।

भवानर्धरथो मह्यं मतो वै नात्र संशयः।
सर्वस्य जगतश्चैव गाङ्गेयो न मृषा वदेत् ॥ १३ ॥

'तुम मेरे विषयमें जो अर्धरथी होनेका मत प्रकट कर रहे हो, इससे सम्पूर्ण जगत्को निःसंदेह ऐसा ही प्रतीत होने लगेगा; क्योंकि सब यही जानते हैं कि गङ्गानन्दन भीष्म झूठ नहीं बोलते ॥ १३ ॥

कुरूणामहितो नित्यं न च राजावबुध्यते।
को हि नाम समानेषु राजसूदारकर्मसु ॥ १४ ॥
तेजोवधमिमं कुर्याद् विभेदयिषुराहवे।
यथा त्वं गुणविद्वेषादपरागं चिकीर्षसि ॥ १५ ॥

'तुम कौरवोंका सदा अहित करते हो; परंतु राजा दुर्योधन इस बातको नहीं समझते हैं। तुम मेरे गुणोंके प्रति द्वेष रखनेके कारण जिस प्रकार राजाओंकी मुझपर विरक्ति कराना चाहते हो, वैसा प्रयत्न तुम्हारे सिवा दूसरा कौन कर सकता है ? इस समय युद्धका अवसर उपस्थित है और समान श्रेणीके उदारचरित राजा एकत्र हुए हैं; ऐसे अवसरपर आपसमें भेद (फूट) उत्पन्न करनेकी इच्छा रखकर कौन पुरुष अपने ही पक्षके योद्धाका इस प्रकार तेज और उत्साह नष्ट करेगा ? ॥१४-१५॥

न हायनैर्न पलितैर्न वित्तैर्न च बन्धुभिः।
महारथत्वं संख्यातुं शक्यं क्षत्रस्य कौरव ॥ १६ ॥

'कौरव ! केवल बड़ी अवस्था हो जाने, बाल पक जाने, अधिक धनका संग्रह कर लेने तथा बहुसंख्यक भाई-बन्धुओंके होनेसे ही किसी क्षत्रियको महारथी नहीं गिना जा सकता ॥ १६ ॥

बलज्येष्ठं स्मृतं क्षत्रं मन्त्रज्येष्ठा द्विजातयः।
धनज्येष्ठाः स्मृता वैश्याः शूद्रास्तु वयसाधिकाः ॥१७॥

'क्षत्रियजातिमें जो बलमें अधिक हो, वही श्रेष्ठ माना गया है। ब्राह्मण वेदमन्त्रोंके ज्ञानसे, वैश्य अधिक धनसे और शूद्र अधिक आयु होनेसे श्रेष्ठ समझे जाते हैं ॥ १७ ॥

यथेच्छकं स्वयं ब्रूया रथानतिरथांस्तथा।
कामद्वेषसमायुक्तो मोहात् प्रकुरुते भवान् ॥ १८ ॥

'तुम राग-द्वेषसे भरे हुए हो; अतः मोहवश मनमाने ढंगसे रथी-अतिरथियोंका विभाग कर रहे हो ॥ १८ ॥

दुर्योधन महाबाहो साधु सम्यगवेक्ष्यताम्।
त्यज्यतां दुष्टभावोऽयं भीष्मः किल्बिषकृत् तव ॥१९॥

'महाबाहु दुर्योधन ! तुम अच्छी तरह विचार करके देख लो। ये भीष्म दुर्भावसे दूषित होकर तुम्हारी बुराई कर रहे हैं। तुम इन्हें अभी त्याग दो ॥ १९ ॥

भिन्ना हि सेना नृपते दुःसंधेया भवत्युत।
मौला हि पुरुषव्याघ्र किमु नानासमुत्थिताः ॥ २० ॥

'नरेश्वर ! पुरुषसिंह ! एक बार सेनामें फूट पड़ जानेपर उसमें पुनः मेल कराना कठिन हो जाता है। उस दशामें मौलिक (पीढ़ियोंसे चले आनेवाले) सेवक भी हाथसे निकल जाते हैं। फिर जो भिन्न-भिन्न स्थानोंके लोग किसी एक कार्यके लिये उद्यत होकर एकत्र हुए हों, उनकी तो बात ही क्या है ? ॥ २० ॥

एषां द्वैधं समुत्पन्नं योधानां युधि भारत।
तेजोवधो नः क्रियते प्रत्यक्षेण विशेषतः ॥ २१ ॥

'भारत ! इन योद्धाओंमें युद्धके अवसरपर दुविधा उत्पन्न हो गयी है। तुम प्रत्यक्ष देख रहे हो, हमारे तेज और उत्साहकी विशेषरूपसे हत्या की जा रही है ॥ २१ ॥

रथानां क्व च विज्ञानं क्व च भीष्मोऽल्पचेतनः।
अहमावारयिष्यामि पाण्डवानामनीकिनीम् ॥ २२ ॥

'कहाँ रथियोंको समझना और कहाँ अल्पबुद्धि भीष्म ! मैं अकेला ही पाण्डवोंकी सेनाको आगे बढ़नेसे रोक दूँगा ॥

आसाद्य माममोघेषुं गमिष्यन्ति दिशो दश।
पाण्डवाः सहपञ्चालाः शार्दूलं वृषभा इव ॥ २३ ॥

'मेरे बाण अमोघ हैं। मेरे सामने आकर पाण्डव और पाञ्चाल उसी प्रकार दसों दिशाओंमें भाग जायँगे, जैसे सिंहको देखकर बैल भागते हैं ॥ २३ ॥

क्व च युद्धं विमर्दो वा मन्त्रे सुव्याहृतानि च।
क्व च भीष्मो गतवया मन्दात्मा कालचोदितः ॥ २४ ॥

'कहाँ युद्ध, मारकाट और गुप्त मन्त्रणामें अच्छी बातें बतानेका कार्य और कहाँ कालप्रेरित मन्दबुद्धि भीष्म, जिनकी आयु समाप्त हो चुकी है ॥ २४ ॥

एकाकी स्पर्धते नित्यं सर्वेण जगता सह।
न चान्यं पुरुषं कंचिन्मन्यते मोघदर्शनः ॥ २५ ॥

'ये अकेले ही सदा सम्पूर्ण जगत्के साथ स्पर्धा रखते हैं और अपनी व्यर्थ दृष्टिके कारण दूसरे किसीको पुरुष ही नहीं समझते हैं ॥ २५ ॥

श्रोतव्यं खलु वृद्धानामिति शास्त्रनिदर्शनम्।
न त्वेव ह्यतिवृद्धानां पुनर्बाला हि ते मताः ॥ २६ ॥

'वृद्धोंकी बातें सुननी चाहिये; यह शास्त्रका आदेश है। परंतु जो अत्यन्त बूढ़े हो गये हैं, उनकी बातें श्रवण करने योग्य नहीं हैं; क्योंकि वे तो फिर बालकोंके ही समान माने गये हैं ॥ २६ ॥

अहमेको हनिष्यामि पाण्डवानामनीकिनीम्।
सुयुद्धे राजशार्दूल यशो भीष्मं गमिष्यति ॥ २७ ॥

'नृपश्रेष्ठ ! मैं इस युद्धमें अकेला ही पाण्डवोंकी सेनाका

विनाश करूँगा; परंतु सारा यश भीष्मको मिल जायगा ॥

कृतः सेनापतिस्त्वेष त्वया भीष्मो नराधिप ।
सेनापतौ यशो गन्ता न तु योधान् कथंचन ॥ २८ ॥

'नरेश्वर ! तुमने इन भीष्मको ही सेनापति बनाया है। विजयका यश सेनापतिको ही प्राप्त होता है; योद्धाओंको किसी प्रकार नहीं मिलता ॥ २८ ॥

नाहं जीवति गाङ्गेये योत्स्ये राजन् कथंचन ।
हते भीष्मे तु योद्धास्मि सर्वैरेव महारथैः ॥ २९ ॥

'अतः राजन् ! मैं भीष्मके जीते-जी किसी प्रकार युद्ध नहीं करूँगा; परंतु भीष्मके मारे जानेपर सम्पूर्ण महारथियों-के साथ टक्कर लूँगा' ॥ २९ ॥

भीष्म उवाच

समुद्यतोऽयं भारो मे सुमहान् सागरोपमः ।
धार्तराष्ट्रस्य संग्रामे वर्षपूगाभिचिन्तितः ॥ ३० ॥
तस्मिन्नभ्यागते काले प्रतप्ते लोमहर्षणे ।
मिथो भेदो न मे कार्यस्तेन जीवसि सूतज ॥ ३१ ॥

भीष्मने कहा—सूतपुत्र ! इस युद्धमें दुर्योधनका यह समुद्रके समान अत्यन्त गुरुतर भार मैंने अपने कंधोंपर उठाया है। जिसके लिये मैं बहुत वर्षोंसे चिन्तित हो रहा था, वह संतापदायक रोमाञ्चकारी समय अब आकर उपस्थित हो ही गया, ऐसे अवसरमें मुझे यह पारस्परिक भेद नहीं उत्पन्न करना चाहिये, इसीलिये तू अभीतक जी रहा है ॥३०-३१॥

न ह्यहं त्वद्य विक्रम्य स्थविरोऽपि शिशोस्तव ।
युद्धश्रद्धामहं छिन्द्यां जीवितस्य च सूतज ॥ ३२ ॥

सूतकुमार ! यदि ऐसी बात न होती तो मैं वृद्ध होनेपर भी पराक्रम करके आज तुझ बालककी युद्धविषयक श्रद्धा और जीवनकी आशाका एक ही साथ उच्छेद कर डालता ॥

जामदग्न्येन रामेण महास्त्राणि विमुञ्चता ।
न मे व्यथा कृता काचित् त्वं तु मे किं करिष्यसि ॥३३॥

जमदग्निनन्दन परशुरामने मेरे ऊपर बड़े-बड़े अस्त्रों-का प्रयोग किया था; परंतु वे भी मुझे कोई पीड़ा न दे सके। फिर तू तो मेरा कर ही क्या लेगा ? ॥ ३३ ॥

कामं नैतत् प्रशंसन्ति सन्तः स्वबलसंस्तवम् ।
वक्ष्यामि तु त्वां संतप्तो निहीनकुलपांसन ॥ ३४ ॥

नीचकुलाङ्गार ! साधु पुरुष अपने बलकी प्रशंसा करना कदापि अच्छा नहीं मानते हैं, तथापि तेरे व्यवहारसे संतप्त होकर मैं अपनी प्रशंसाकी बात भी कह रहा हूँ ॥

समेतं पार्थिवं क्षत्रं काशिराजस्वयंवरे ।
निर्जित्यैकरथेनैव याः कन्यास्तरसा हृताः ॥ ३५ ॥

काशिराजके यहाँ स्वयंवरमें समस्त भूमण्डलके क्षत्रिय-नरेश एकत्र हुए थे, परंतु मैंने केवल एक रथपर ही आरूढ़ होकर उन सबको जीतकर बलपूर्वक काशिराजकी कन्याओंका अपहरण किया था ॥ ३५ ॥

ईदृशानां सहस्राणि विशिष्टानामथो पुनः ।
मयैकेन निरस्तानि ससैन्यानि रणाजिरे ॥ ३६ ॥

यहाँ जो लोग एकत्र हुए हैं, ऐसे तथा इनसे भी बढ़-चढ़कर पराक्रमी हजारों नरेश वहाँ एकत्र थे; परंतु मैंने समराङ्गणमें अकेले ही उन सबको सेनाओंसहित परास्त कर दिया था ॥ ३६ ॥

त्वां प्राप्य वैरपुरुषं कुरूणामनयो महान् ।
उपस्थितो विनाशाय यतस्व पुरुषो भव ॥ ३७ ॥

तू वैरका मूर्तिमान् स्वरूप है । तेरा सहारा पाकर कुरुकुलके विनाशके लिये बहुत बड़ा अन्याय उपस्थित हो गया है। अब तू रक्षाका प्रबन्ध कर और पुरुषत्वका परिचय दे ॥

युद्ध्यस्व समरे पार्थं येन विस्पर्धसे सह ।
द्रक्ष्यामि त्वां विनिर्मुक्तमस्माद् युद्धात् सुदुर्मते॥ ३८ ॥

दुर्मते ! तू जिसके साथ सदा स्पर्धा रखता है, उस अर्जुनके साथ समरभूमिमें युद्ध कर। मैं देखूँगा कि तू इस संग्रामसे किस प्रकार बच पाता है ? ॥ ३८ ॥

तमुवाच ततो राजा धार्तराष्ट्रः प्रतापवान् ।
मां समीक्षस्व गाङ्गेय कार्यं हि महदुद्यतम् ॥ ३९ ॥

तदनन्तर प्रतापी राजा दुर्योधनने भीष्मजीसे कहा—'गङ्गानन्दन ! आप मेरी ओर देखिये; क्योंकि इस समय महान् कार्य उपस्थित है ॥ ३९ ॥

चिन्त्यतामिदमेकाग्रं मम निःश्रेयसं परम् ।
उभावपि भवन्तौ मे महत् कर्म करिष्यतः ॥ ४० ॥

'आप एकाग्रचित्त होकर मेरे परम कल्याणकी बात सोचिये। आप और कर्ण दोनों ही मेरा महान् कार्य सिद्ध करेंगे॥

भूयश्च श्रोतुमिच्छामि परेषां रथसत्तमान् ।
ये चैवातिरथास्तत्र ये चैव रथयूथपाः ॥ ४१ ॥

'अब मैं पुनः शत्रुपक्षके श्रेष्ठ रथियों, अतिरथियों तथा रथयूथपतियोंका परिचय सुनना चाहता हूँ ॥ ४१ ॥

बलाबलममित्राणां श्रोतुमिच्छामि कौरव ।
प्रभातायां रजन्यां वै इदं युद्धं भविष्यति ॥ ४२ ॥

'कुरुनन्दन ! शत्रुओंके बलाबलको सुननेकी मेरी इच्छा है । आजकी रात बीतते ही कल प्रातःकाल यह युद्ध प्रारम्भ हो जायगा' ॥ ४२ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि रथातिरथसंख्यानपर्वणि भीष्मकर्णसंवादे अष्टषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १६८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत रथातिरथसंख्यानपर्वमें भीष्मकर्णसंवादविषयक एक सौ अड़सठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥१६८॥

एकोनसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः

पाण्डवपक्षके रथी आदिका एवं उनकी महिमाका वर्णन

भीष्म उवाच

एते रथास्तवाख्यातास्तथैवातिरथा नृप।
ये चाप्यर्धरथा राजन् पाण्डवानामतः शृणु ॥ १ ॥

भीष्मजी कहते हैं—नरेश्वर ! ये तुम्हारे पक्षके रथी, अतिरथी और अर्धरथी बताये गये हैं । राजन् ! अब तुम पाण्डवपक्षके रथी आदिका वर्णन सुनो ॥ १ ॥

यदि कौतूहलं तेऽद्य पाण्डवानां बले नृप।
रथसंख्यां शृणुष्व त्वं सहैभिर्वसुधाधिपैः ॥ २ ॥

नरेश ! अब यदि पाण्डवोंकी सेनाके विषयमें भी जानकारी करनेके लिये तुम्हारे मनमें कौतूहल हो तो इन भूमिपालोंके साथ तुम उनके रथियोंकी गणना सुनो ॥

स्वयं राजा रथोदारः पाण्डवः कुन्तिनन्दनः।
अग्निवत् समरे तात चरिष्यति न संशयः ॥ ३ ॥

तात ! कुन्तीका आनन्द बढ़ानेवाले स्वयं पाण्डुपुत्र राजा युधिष्ठिर एक श्रेष्ठ रथी (महारथी) हैं ! वे समरभूमिमें अग्निके समान सब ओर विचरेंगे, इसमें संशय नहीं है ॥३॥

भीमसेनस्तु राजेन्द्र रथोऽष्टगुणसम्मितः।
न तस्यास्ति समो युद्धे गदया सायकैरपि ॥ ४ ॥
नागायुतबलो मानी तेजसा न स मानुषः।

राजेन्द्र ! भीमसेन तो अकेले आठ रथियोंके बराबर हैं । गदा और बाणोंद्वारा किये जानेवाले युद्धमें उनके समान दूसरा कोई योद्धा नहीं है । उनमें दस हजार हाथियोंका बल है । वे बड़े ही मानी तथा अलौकिक तेजसे सम्पन्न हैं ॥ ४½ ॥

माद्रीपुत्रौ च रथिनौ द्वावेव पुरुषर्षभौ ॥ ५ ॥
अश्विनाविव रूपेण तेजसा च समन्वितौ।

माद्रीके दोनों पुत्र अश्विनीकुमारोंके समान रूपवान् और तेजस्वी हैं । वे दोनों ही पुरुषरत्न रथी हैं ॥५½॥

एते चमूमुपगताः स्मरन्तः क्लेशमुत्तमम् ॥ ६ ॥
रुद्रवत् प्रचरिष्यन्ति तत्र मे नास्ति संशयः।

ये चारों भाई महान् क्लेशोंका स्मरण करके तुम्हारी सेनामें घुसकर रुद्रदेवके समान संहार करते हुए विचरेंगे; इस विषयमें मुझे संशय नहीं है ॥ ६½ ॥

सर्व एव महात्मानः शालस्तम्भा इवोद्गताः ॥ ७ ॥
प्रादेशेनाधिकाः पुम्भिरन्यैस्ते च प्रमाणतः।

ये सभी महामना पाण्डव शालवृक्षके स्तम्भोंके समान ऊँचे हैं । उनकी ऊँचाईका मान अन्य पुरुषोंसे एक बित्ता अधिक है ॥ ७½ ॥

सिंहसंहननाः सर्वे पाण्डुपुत्रा महाबलाः ॥ ८ ॥
चरितब्रह्मचर्याश्च सर्वे तात तपस्विनः।
ह्रीमन्तः पुरुषव्याघ्रा व्याघ्रा इव बलोत्कटाः ॥ ९ ॥

सभी पाण्डव सिंहके समान सुगठित शरीरवाले और महान् बलवान् हैं । तात ! उन सबने ब्रह्मचर्यव्रतका पालन किया है, पुरुषोंमें सिंहके समान पराक्रमी पाण्डव तपस्वी, लज्जाशील और व्याघ्रके समान उत्कट बलशाली हैं ॥ ८-९ ॥

जवे प्रहारे सम्मर्दे सर्व एवातिमानुषाः।
सर्वैर्जिता महीपाला दिग्जये भरतर्षभ ॥ १० ॥

भरतश्रेष्ठ ! वे वेग, प्रहार और संघर्षमें अमानुषिक शक्तिसे सम्पन्न हैं । उन सबने दिग्विजयके समय बहुत-से राजाओंपर विजय पायी है ॥ १० ॥

न चैषां पुरुषाः केचिदायुधानि गदाः शरान्।
विषहन्ति सदा कर्तुमधिज्यान्यपि कौरव ॥ ११ ॥
उद्यन्तुं वा गदा गुर्वीः शरान् वा क्षेप्तुमाहवे।
जवे लक्ष्यस्य हरणे भोज्ये पांसुविकर्षणे ॥ १२ ॥
बालैरपि भवन्तस्तैः सर्व एव विशेषिताः।

कुरुनन्दन ! इनके आयुधों, गदाओं और बाणोंका आघात कोई भी नहीं सह सकते हैं । इसके सिवा न तो कोई इनके धनुषपर प्रत्यञ्चा ही चढ़ा पाते हैं, न युद्धमें इनकी भारी गदाको ही उठा सकते हैं और न इनके बाणोंका ही प्रयोग कर सकते हैं । वेगसे चलने, लक्ष्य-भेद करने, खाने-पीने तथा धूलि-क्रीड़ा करने आदिमें उन सबने बाल्यावस्थामें भी तुम्हें पराजित कर दिया था ॥ ११-१२½ ॥

एतत् सैन्यं समासाद्य सर्व एव बलोत्कटाः ॥ १३ ॥
विध्वंसयिष्यन्ति रणे मा स्म तैः सह सङ्गमः।

इस सेनामें आकर वे सभी उत्कट बलशाली हो गये हैं । युद्धमें आनेपर वे तुम्हारी सेनाका विध्वंस कर डालेंगे । मैं चाहता हूँ उनसे कहीं भी तुम्हारी मुठभेड़ न हो ॥ १३½ ॥

एकैकशस्ते सम्मर्दे हन्युः सर्वान् महीक्षितः ॥ १४ ॥
प्रत्यक्षं तव राजेन्द्र राजसूये यथाभवत्।

उनमेंसे एक-एकमें इतनी शक्ति है कि वे समस्त राजाओंका युद्धमें संहार कर सकते हैं । राजेन्द्र ! राजसूय-यज्ञमें जैसा जो कुछ हुआ था, वह सब तुमने अपनी आँखों देखा था॥

द्रौपद्याश्च परिक्लेशं द्यूते च परुषा गिरः ॥ १५ ॥
ते स्मरन्तश्च संग्रामे चरिष्यन्ति च रुद्रवत्।

द्यूतक्रीड़ाके समय द्रौपदीको जो महान् क्लेश दिया गया और पाण्डवोंके प्रति कठोर बातें सुनायी गयीं, उन सबको याद करके वे संग्रामभूमिमें रुद्रके समान विचरेंगे॥

लोहिताक्षो गुडाकेशो नारायणसहायवान् ॥ १६ ॥
उभयोः सेनयोर्वीरो रथो नास्तीति तादृशः।

लाल नेत्रोंवाले निद्राविजयी अर्जुनके सखा और सहायक नारायणस्वरूप भगवान् श्रीकृष्ण हैं । कौरव-पाण्डव दोनों सेनाओंमें अर्जुनके समान वीर रथी दूसरा कोई नहीं है ॥

न हि देवेषु सर्वेषु नासुरेषूरगेषु च ॥ १७ ॥

राक्षसेष्वथ यक्षेषु नरेषु कुत एव तु।
भूतोऽथवा भविष्यो वा रथः कश्चिन्मया श्रुतः॥ १८॥

समस्त देवताओं, असुरों, नागों, राक्षसों तथा यक्षोंमें भी अर्जुनके समान कोई नहीं है; फिर मनुष्योंमें तो हो ही कैसे सकता है? भूत या भविष्यमें भी कोई ऐसा रथी मेरे सुननेमें नहीं आया है॥ १७-१८॥

समायुक्तो महाराज रथः पार्थस्य धीमतः।
वासुदेवश्च संयन्ता योद्धा चैव धनंजयः॥ १९॥

महाराज! बुद्धिमान् अर्जुनका रथ जुता हुआ है। भगवान् श्रीकृष्ण उसके सारथि और युद्धकुशल धनंजय रथी हैं॥

गाण्डीवं च धनुर्दिव्यं ते चाश्वा वातरंहसः।
अभेद्यं कवचं दिव्यमक्षय्यौ च महेषुधी॥ २०॥

दिव्य गाण्डीव धनुष है, वायुके समान वेगशाली अश्व हैं, अभेद्य दिव्य कवच है तथा अक्षय बाणोंसे भरे हुए दो महान् तरकस हैं॥ २०॥

अस्त्रग्रामश्च माहेन्द्रो रौद्रः कौबेर एव च।
याम्यश्च वारुणश्चैव गदाश्चोग्रप्रदर्शनाः॥ २१॥

उस रथमें अस्त्रोंके समुदाय—महेन्द्र, रुद्र, कुबेर, यम एवं वरुणसम्बन्धी अस्त्र हैं, भयंकर दिखायी देनेवाली गदाएँ हैं॥

वज्रादीनि च मुख्यानि नानाप्रहरणानि च।
दानवानां सहस्राणि हिरण्यपुरवासिनाम्॥ २२॥
हतान्येकरथेनाजौ कस्तस्य सदृशो रथः।

वज्र आदि भाँति-भाँतिके श्रेष्ठ आयुध भी उस रथमें विद्यमान हैं। अर्जुनने युद्धमें एकमात्र उस रथकी सहायतासे हिरण्यपुरमें निवास करनेवाले सहस्रों दानवोंका संहार किया है। उसके समान दूसरा कौन रथ हो सकता है?॥ २२½॥

एष हन्याद्धि संरम्भी बलवान् सत्यविक्रमः॥ २३॥
तव सेनां महाबाहुः स्वां चैव परिपालयन्।

वह बलवान्, सत्यपराक्रमी, महाबाहु अर्जुन क्रोधमें आकर तुम्हारी सेनाका संहार करेंगे और अपनी सेनाकी रक्षामें संलग्न रहेंगे॥ २३½॥

अहं चैनं प्रत्युदियामाचार्यो वा धनंजयम्॥ २४॥
न तृतीयोऽस्ति राजेन्द्र सेनयोरुभयोरपि।
य एनं शरवर्षाणि वर्षन्तमुदियाद् रथी॥ २५॥

मैं अथवा द्रोणाचार्य ही धनंजयका सामना कर सकते हैं। राजेन्द्र! दोनों सेनाओंमें तीसरा कोई ऐसा रथी नहीं है, जो बाणोंकी वर्षा करते हुए अर्जुनके सामने जा सके॥

जीमूत इव घर्मान्ते महावातसमीरितः।
समायुक्तस्तु कौन्तेयो वासुदेवसहायवान्।
तरुणश्च कृती चैव जीर्णावावामुभावपि॥ २६॥

ग्रीष्म ऋतुके अन्तमें प्रचण्ड वायुसे प्रेरित महामेघकी भाँति श्रीकृष्णसहित अर्जुन युद्धके लिये तैयार है। वह अस्त्रोंका विद्वान् और तरुण भी है। इधर हम दोनों वृद्ध हो चले हैं॥

वैशम्पायन उवाच

एतच्छ्रुत्वा तु भीष्मस्य राज्ञां दध्वंसिरे तदा।
काञ्चनाङ्गदिनः पीना भुजाश्चन्दनरूषिताः॥ २७॥
मनोभिः सह संवेगैः संस्मृत्य च पुरातनम्।
सामर्थ्यं पाण्डवेयानां यथा प्रत्यक्षदर्शनात्॥ २८॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! भीष्मकी यह बात सुनकर पाण्डवोंके पुरातन बल-पराक्रमको प्रत्यक्ष देखने-की भाँति स्मरण करके राजाओंकी सुवर्णमय भुजबंदोंसे विभूषित चन्दनचर्चित स्थूल भुजाएँ एवं मन भी आवेगयुक्त होकर शिथिल हो गये॥ २७-२८॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि रथातिरथसंख्यानपर्वणि पाण्डवरथातिरथसंख्यायां एकोनसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः॥ १६९॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत रथातिरथसंख्यानपर्वमें पाण्डवपक्षके रथियों और अतिरथियोंकी संख्याविषयक एक सौ उनहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ १६९॥

सप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः

पाण्डवपक्षके रथियों और महारथियोंका वर्णन तथा विराट और द्रुपदकी प्रशंसा

भीष्म उवाच

द्रौपदेया महाराज सर्वे पञ्च महारथाः।
वैराटिरुत्तरश्चैव रथोदारो मतो मम॥ १॥

भीष्मजी कहते हैं—महाराज! द्रौपदीके जो पाँच पुत्र हैं, वे सबके सब महारथी हैं। विराटपुत्र उत्तरको मैं उदार रथी मानता हूँ॥ १॥

अभिमन्युर्महाबाहू रथयूथपयूथपः।
समः पार्थेन समरे वासुदेवेन चारिहा॥ २॥
लब्धास्त्रश्चित्रयोधी च मनस्वी च दृढव्रतः।
संस्मरन् वै परिक्लेशं स्वपितुर्विक्रमिष्यति॥ ३॥

महाबाहु अभिमन्यु रथ-यूथपतियोंका भी यूथपति है। वह शत्रुनाशक वीर समरभूमिमें अर्जुन और श्रीकृष्णके समान पराक्रमी है। उसने अस्त्रविद्याकी विधिवत् शिक्षा प्राप्त की है। वह युद्धकी विचित्र कलाएँ जानता है तथा दृढतापूर्वक व्रतका पालन करनेवाला और मनस्वी है। वह अपने पिताके क्लेशको याद करके अवश्य पराक्रम दिखायेगा॥ २-३॥

सात्यकिर्माधवः शूरो रथयूथपयूथपः।
एष वृष्णिप्रवीराणाममर्षी जितसाध्वसः॥ ४॥

मधुवंशी शूरवीर सात्यकि भी रथ-यूथपतियोंके भी यूथ-पति हैं। वृष्णिवंशके प्रमुख वीरोंमें ये सात्यकि बड़े ही अमर्षशील हैं। इन्होंने भयको जीत लिया है॥ ४॥

उत्तमौजास्तथा राजन् रथोदारो मतो मम।

युधामन्युश्च विक्रान्तो रथोदारो मतो मम ॥ ५ ॥

राजन् ! उत्तमौजाको भी मैं उदार रथी मानता हूँ। पराक्रमी युधामन्यु भी मेरे मतमें एक श्रेष्ठ रथी हैं ॥ ५ ॥

एतेषां बहुसाहस्रा रथा नागा हयास्तथा।
योत्स्यन्ते ते तनूंस्त्यक्त्वा कुन्तीपुत्रप्रियेप्सया॥ ६ ॥

इनके कई हजार रथ, हाथी और घोड़े हैं, जो कुन्तीपुत्र युधिष्ठिरका प्रिय करनेकी इच्छासे अपने शरीरको निछावर करके युद्ध करेंगे ॥ ६ ॥

पाण्डवैः सह राजेन्द्र तव सेनासु भारत।
अग्निमारुतवद् राजन्नाह्वयन्तः परस्परम् ॥ ७ ॥

भारत ! राजेन्द्र ! वे पाण्डवोंके साथ तुम्हारी सेनामें प्रवेश करके एक-दूसरेका आह्वान करते हुए अग्नि और वायुकी भाँति विचरेंगे ॥ ७ ॥

अजेयौ समरे वृद्धौ विराटद्रुपदौ तथा।
महारथौ महावीर्यौ मतौ मे पुरुषर्षभौ ॥ ८ ॥

वृद्ध राजा विराट और द्रुपद भी युद्धमें अजेय हैं। इन दोनों महापराक्रमी नरश्रेष्ठ वीरोंको मैं महारथी मानता हूँ ॥

वयोवृद्धावपि हि तौ क्षत्रधर्मपरायणौ।
यतिष्येते परं शक्त्या स्थितौ वीरगते पथि ॥ ९ ॥

यद्यपि वे दोनों अवस्थाकी दृष्टिसे बहुत बूढ़े हैं, तथापि क्षत्रिय-धर्मका आश्रय ले वीरोंके मार्गमें स्थित हो अपनी शक्ति-भर युद्ध करनेका प्रयत्न करेंगे ॥ ९ ॥

सम्बन्धकेन राजेन्द्र तौ तु वीर्यबलान्वयात्।
आर्यवृत्तौ महेष्वासौ स्नेहपाशसितावुभौ ॥ १० ॥

राजेन्द्र ! वे दोनों नरेश वीर्य और बलसे संयुक्त श्रेष्ठ पुरुषोंके समान सदाचारी और महान् धनुर्धर हैं। पाण्डवोंके साथ सम्बन्ध होनेके कारण वे दोनों उनके स्नेह-बन्धनमें बँधे हुए हैं ॥ १० ॥

कारणं प्राप्य तु नराः सर्व एव महाभुजाः।
शूरा वा कातरा वापि भवन्ति कुरुपुङ्गव ॥ ११ ॥

कुरुश्रेष्ठ ! कोई कारण पाकर प्रायः सभी महाबाहु मानव शूर अथवा कायर हो जाते हैं ॥ ११ ॥

एकायनगतावेतौ पार्थिवौ दृढधन्विनौ।
प्राणांस्त्यक्त्वा परं शक्त्या घट्टितारौ परंतप ॥ १२ ॥

परंतप ! दृढ़तापूर्वक धनुष धारण करनेवाले राजा विराट और द्रुपद एकमात्र वीरपथका आश्रय ले चुके हैं। वे अपने प्राणोंका त्याग करके भी पूरी शक्तिसे तुम्हारी सेनाके साथ टक्कर लेंगे ॥ १२ ॥

पृथगक्षौहिणीभ्यां तावुभौ संयति दारुणौ।
सम्बन्धिभावं रक्षन्तौ महत् कर्म करिष्यतः ॥ १३ ॥

वे दोनों युद्धमें बड़े भयंकर हैं, अतः अपने सम्बन्धकी रक्षा करते हुए पृथक्-पृथक् अक्षौहिणी सेना साथ लिये महान् पराक्रम करेंगे ॥ १३ ॥

लोकवीरौ महेष्वासौ त्यक्तात्मानौ च भारत।
प्रत्ययं परिरक्षन्तौ महत् कर्म करिष्यतः ॥ १४ ॥

भारत ! महान् धनुर्धर तथा जगत्के सुप्रसिद्ध वीर वे दोनों नरेश अपने विश्वास और सम्मानकी रक्षा करते हुए शरीरकी परवा न करके युद्धभूमिमें महान् पुरुषार्थ प्रकट करेंगे ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि रथातिरथसंख्यानपर्वणि सप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १७० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत रथातिरथसंख्यानपर्वमें एक सौ सत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १७० ॥

एकसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः

पाण्डवपक्षके रथी, महारथी एवं अतिरथी आदिका वर्णन

भीष्म उवाच

पञ्चालराजस्य सुतो राजन् परपुरंजयः।
शिखण्डी रथमुख्यो मे मतः पार्थस्य भारत ॥ १ ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन् ! भरतनन्दन ! पाञ्चाल-राज द्रुपदका पुत्र शिखण्डी शत्रुओंकी नगरीपर विजय पाने-वाला है, मैं उसे युधिष्ठिरकी सेनाका एक प्रमुख रथी मानता हूँ॥

एष योत्स्यति संग्रामे नाशयन् पूर्वसंस्थितम्।
परं यशो विप्रथयंस्तव सेनासु भारत ॥ २ ॥

भारत ! वह तुम्हारी सेनामें प्रवेश करके अपने पूर्व अपयशका नाश तथा उत्तम सुयशका विस्तार करता हुआ बड़े उत्साहसे युद्ध करेगा ॥ २ ॥

एतस्य बहुलाः सेनाः पञ्चालाश्च प्रभद्रकाः।
तेनासौ रथवंशेन महत् कर्म करिष्यति ॥ ३ ॥

उसके साथ पाञ्चालों और प्रभद्रकोंकी बहुत बड़ी सेना है। वह उन रथियोंके समूहद्वारा युद्धमें महान् कर्म कर दिखायेगा॥

धृष्टद्युम्नश्च सेनानीः सर्वसेनासु भारत।
मतो मेऽतिरथो राजन् द्रोणशिष्यो महारथः ॥ ४ ॥

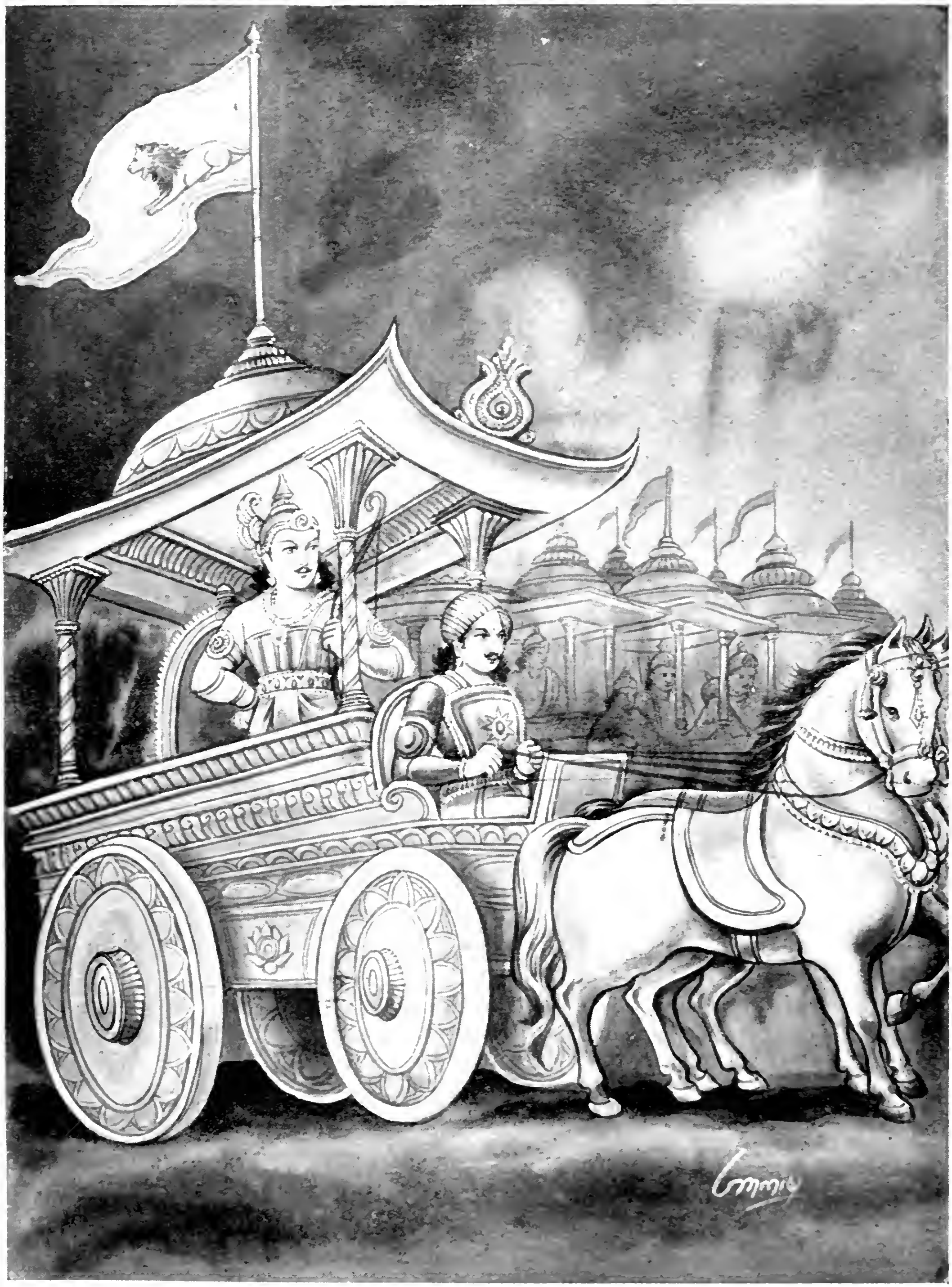
भारत ! जो पाण्डवोंकी सम्पूर्ण सेनाका सेनापति है, वह द्रोणाचार्यका महारथी शिष्य धृष्टद्युम्न मेरे विचारसे अतिरथी है ॥ ४ ॥

एष योत्स्यति संग्रामे सूदयन् वै परान् रणे।
भगवानिव संक्रुद्धः पिनाकी युगसंक्षये ॥ ५ ॥

जैसे प्रलयकालमें पिनाकधारी भगवान् रुद्र कुपित होकर प्रजाका संहार करते हैं, उसी प्रकार यह संग्राममें शत्रुओंका संहार करता हुआ युद्ध करेगा ॥ ५ ॥

एतस्य तद् रथानीकं कथयन्ति रणप्रियाः।
बहुत्वात् सागरप्रख्यं देवानामिव संयुगे ॥ ६ ॥

इसके पास रथियोंकी जो देवसेनाके समान विशाल सेना



पाण्डव-सेनापति धृष्टद्युम्न

है, उसकी संख्या बहुत होनेके कारण युद्धप्रेमी सैनिक रणक्षेत्रमें उसे समुद्रके समान बताते हैं ॥ ६ ॥

क्षत्रधर्मा तु राजेन्द्र मतो मेऽर्धरथो नृप।
धृष्टद्युम्नस्य तनयो बाल्यान्नातिकृतश्रमः ॥ ७ ॥

राजेन्द्र ! धृष्टद्युम्नका पुत्र क्षत्रधर्मा मेरी समझमें अभी अर्धरथी है। बाल्यावस्था होनेके कारण उसने अस्त्र-विद्यामें अधिक परिश्रम नहीं किया है ॥ ७ ॥

शिशुपालसुतो वीरश्चेदिराजो महारथः।
धृष्टकेतुर्महेष्वासः सम्बन्धी पाण्डवस्य ह ॥ ८ ॥

शिशुपालका वीर पुत्र महाधनुर्धर चेदिराज धृष्टकेतु पाण्डुनन्दन युधिष्ठिरका सम्बन्धी एवं महारथी है ॥ ८ ॥

एष चेदिपतिः शूरः सह पुत्रेण भारत।
महारथानां सुकरं महत् कर्म करिष्यति ॥ ९ ॥

भारत ! यह शौर्यसम्पन्न चेदिराज अपने पुत्रके साथ आकर महारथियोंके लिये सहजसाध्य महान् पराक्रम कर दिखायेगा ॥

क्षत्रधर्मरतो मह्यं मतः परपुरंजयः।
क्षत्रदेवस्तु राजेन्द्र पाण्डवेषु रथोत्तमः ॥ १० ॥

राजेन्द्र ! शत्रुओंकी नगरीपर विजय पानेवाला क्षत्रिय-धर्मपरायण क्षत्रदेव मेरे मतमें पाण्डव-सेनाका एक श्रेष्ठ रथी है ॥

जयन्तश्चामितौजाश्च सत्यजिच्च महारथः।
महारथा महात्मानः सर्वे पाञ्चालसत्तमाः ॥ ११ ॥
योत्स्यन्ते समरे तात संरब्धा इव कुञ्जराः।

जयन्त, अमितौजा और महारथी सत्यजित्—ये सभी पाञ्चालशिरोमणि महामनस्वी वीर महारथी ही हैं। तात ! ये सबके सब क्रोधमें भरे हुए गजराजोंकी भाँति समरभूमिमें युद्ध करेंगे ॥ ११½ ॥

अजो भोजश्च विक्रान्तौ पाण्डवार्थे महारथौ ॥ १२ ॥
योत्स्येते बलिनौ शूरौ परं शक्त्या क्षयिष्यतः।

पाण्डवोंके लिये महान् पराक्रम करनेवाले बलवान् शूरवीर अज और भोज दोनों महारथी हैं। वे सम्पूर्ण शक्ति लगाकर युद्ध करेंगे और अपने पुरुषार्थका परिचय देंगे ॥

शीघ्रास्त्राश्चित्रयोद्धारः कृतिनो दृढविक्रमाः ॥ १३ ॥
केकयाः पञ्च राजेन्द्र भ्रातरो दृढविक्रमाः।
सर्वे चैव रथोदाराः सर्वे लोहितकध्वजाः ॥ १४ ॥

राजेन्द्र ! शीघ्रतापूर्वक अस्त्र चलानेवाले, विचित्र योद्धा, युद्धकलामें निपुण और दृढ़ पराक्रमी जो पाँच भाई केकय-राजकुमार हैं, वे सभी उदार रथी माने गये हैं। उन सबकी ध्वजा लाल रंगकी है ॥ १३-१४ ॥

काशिकः सुकुमारश्च नीलो यश्चापरो नृप।
सूर्यदत्तश्च शङ्खश्च मदिराश्वश्च नामतः ॥ १५ ॥
सर्व एव रथोदाराः सर्वे चाहवलक्षणाः।
सर्वास्त्रविदुषः सर्वे महात्मानो मता मम ॥ १६ ॥

सुकुमार, काशिक, नील, सूर्यदत्त, शङ्ख और मदिराश्व नामक ये सभी योद्धा उदार रथी हैं। युद्ध ही इन सबका शौर्यसूचक चिह्न है। मैं इन सभीको सम्पूर्ण अस्त्रोंके ज्ञाता और महामनस्वी मानता हूँ ॥ १५-१६ ॥

वार्धक्षेमिर्महाराज मतो मम महारथः।
चित्रायुधश्च नृपतिर्मतो मे रथसत्तमः ॥ १७ ॥

महाराज ! वार्धक्षेमिको मैं महारथी मानता हूँ तथा राजा चित्रायुध मेरे विचारसे श्रेष्ठ रथी हैं ॥ १७ ॥

स हि संग्रामशोभी च भक्तश्चापि किरीटिनः।
चेकितानः सत्यधृतिः पाण्डवानां महारथौ।
द्वाविमौ पुरुषव्याघ्रौ रथोदारौ मतौ मम ॥ १८ ॥

चित्रायुध संग्राममें शोभा पानेवाले तथा अर्जुनके भक्त हैं। चेकितान और सत्यधृति—ये दो पुरुषसिंह पाण्डव-सेनाके महारथी हैं। मैं इन्हें रथियोंमें श्रेष्ठ मानता हूँ ॥ १८ ॥

व्याघ्रदत्तश्च राजेन्द्र चन्द्रसेनश्च भारत।
मतौ मम रथोदारौ पाण्डवानां न संशयः ॥ १९ ॥

भरतनन्दन ! महाराज ! व्याघ्रदत्त और चन्द्रसेन—ये दो नरेश भी मेरे मतमें पाण्डवसेनाके श्रेष्ठ रथी हैं, इसमें संशय नहीं है ॥ १९ ॥

सेनाबिन्दुश्च राजेन्द्र क्रोधहन्ता च नामतः।
यः समो वासुदेवेन भीमसेनेन वा विभो ॥ २० ॥
स योत्स्यति हि विक्रम्य समरे तव सैनिकैः।

राजेन्द्र ! राजा सेनाबिन्दुका दूसरा नाम क्रोधहन्ता भी है। प्रभो ! वे भगवान् कृष्ण तथा भीमसेनके समान पराक्रमी माने जाते हैं। वे समराङ्गणमें तुम्हारे सैनिकोंके साथ पराक्रम प्रकट करते हुए युद्ध करेंगे ॥ २०½ ॥

मां च द्रोणं कृपं चैव यथा सम्मन्यते भवान् ॥ २१ ॥
तथा स समरश्लाघी मन्तव्यो रथसत्तमः।
काश्यः परमशीघ्रास्त्रः श्लाघनीयो नरोत्तमः ॥ २२ ॥

तुम मुझको, आचार्य द्रोणको तथा कृपाचार्यको जैसा समझते हो, युद्धमें दूसरे वीरोंसे स्पर्धा रखनेवाले तथा बहुत ही फुर्तीके साथ अस्त्र-शस्त्रोंका प्रयोग करनेवाले प्रशंसनीय एवं उत्तम रथी नरश्रेष्ठ काशिराजको भी तुम्हें वैसा ही मानना चाहिये ॥ २१-२२ ॥

रथ एकगुणो मह्यं ज्ञेयः परपुरंजयः।
अयं च युधि विक्रान्तो मन्तव्योऽष्टगुणो रथः ॥ २३ ॥

मेरी दृष्टिमें शत्रुनगरीपर विजय पानेवाले काशिराजको साधारण अवस्थामें एक रथी समझना चाहिये; परंतु जिस समय ये युद्धमें पराक्रम प्रकट करने लगते हैं उस समय इन्हें आठ रथियोंके बराबर मानना चाहिये ॥ २३ ॥

सत्यजित् समरश्लाघी द्रुपदस्यात्मजो युवा।
गतः सोऽतिरथत्वं हि धृष्टद्युम्नेन सम्मितः ॥ २४ ॥
पाण्डवानां यशस्कामः परं कर्म करिष्यति।

द्रुपदका तरुण पुत्र सत्यजित् सदा युद्धकी स्पृहा रखनेवाला है। वह धृष्टद्युम्नके समान ही अतिरथीका पद प्राप्त

कर चुका है। वह पाण्डवोंके यशोविस्तारकी इच्छा रखकर युद्धमें महान् कर्म करेगा ॥ २४½ ॥

अनुरक्तश्च शूरश्च रथोऽयमपरो महान् ॥ २५ ॥
पाण्ड्यराजो महावीर्यः पाण्डवानां धुरंधरः ।
दृढधन्वा महेष्वासः पाण्डवानां महारथः ॥ २६ ॥

पाण्डवपक्षके धुरंधर वीर महापराक्रमी पाण्ड्यराज भी एक अन्य महारथी हैं। ये पाण्डवोंके प्रति अनुराग रखनेवाले और शूरवीर हैं। इनका धनुष महान् और सुदृढ़ है। ये पाण्डवसेनाके सम्माननीय महारथी हैं ॥ २५-२६ ॥

श्रेणिमान् कौरवश्रेष्ठ वसुदानश्च पार्थिवः ।
उभावेतावतिरथौ मतौ परपुरंजयौ ॥ २७ ॥

कौरवश्रेष्ठ! राजा श्रेणिमान् और वसुदान—ये दोनों वीर अतिरथी माने गये हैं। ये शत्रुओंकी नगरीपर विजय पानेमें समर्थ हैं ॥ २७ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि रथातिरथसंख्यानपर्वणि एकसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १७१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत रथातिरथसंख्यानपर्वमें एक सौ इकहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १७१ ॥

द्विसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः

भीष्मका पाण्डवपक्षके अतिरथी वीरोंका वर्णन करते हुए शिखण्डी और पाण्डवोंका वध न करनेका कथन

भीष्म उवाच

रोचमानो महाराज पाण्डवानां महारथः ।
योत्स्यतेऽमरवत् संख्ये परसैन्येषु भारत ॥ १ ॥

भीष्मजी कहते हैं—महाराज! भारत! पाण्डवपक्षमें राजा रोचमान महारथी हैं। वे युद्धमें शत्रुसेनाके साथ देवताओंके समान पराक्रम दिखाते हुए युद्ध करेंगे ॥ १ ॥

पुरुजित् कुन्तिभोजश्च महेष्वासो महाबलः ।
मातुलो भीमसेनस्य स च मेऽतिरथो मतः ॥ २ ॥

कुन्तिभोजकुमार राजा पुरुजित् जो भीमसेनके मामा हैं, वे भी महाधनुर्धर और अत्यन्त बलवान् हैं। मैं इन्हें भी अतिरथी मानता हूँ ॥ २ ॥

एष वीरो महेष्वासः कृती च निपुणश्च ह ।
चित्रयोधी च शक्तश्च मतो मे रथपुङ्गवः ॥ ३ ॥

इनका धनुष महान् है। ये अस्त्रविद्याके विद्वान् और युद्धकुशल हैं। रथियोंमें श्रेष्ठ वीर पुरुजित् विचित्र युद्ध करनेवाले और शक्तिशाली हैं ॥ ३ ॥

स योत्स्यति हि विक्रम्य मघवानिव दानवैः ।
योधा ये चास्य विख्याताः सर्वे युद्धविशारदाः ॥ ४ ॥

जैसे इन्द्र दानवोंके साथ पराक्रमपूर्वक युद्ध करते हैं, उसी प्रकार ये भी शत्रुओंके साथ युद्ध करेंगे। उनके साथ जो सैनिक आये हैं, वे सभी युद्धकी कलामें निपुण और विख्यात वीर हैं ॥ ४ ॥

भागिनेयकृते वीरः स करिष्यति संगरे ।
सुमहत् कर्म पाण्डूनां स्थितः प्रियहिते रतः ॥ ५ ॥

वीर पुरुजित् पाण्डवोंके प्रिय एवं हितमें तत्पर हो अपने भानजोंके लिये युद्धमें महान् कर्म करेंगे ॥ ५ ॥

भैमसेनिर्महाराज हैडिम्बो राक्षसेश्वरः ।
मतो मे बहुमायावी रथयूथपयूथपः ॥ ६ ॥

महाराज! भीमसेन और हिडिम्बाका पुत्र राक्षसराज घटोत्कच बड़ा मायावी है। वह मेरे मतमें रथयूथपतियोंका भी यूथपति है ॥ ६ ॥

योत्स्यते समरे तात मायावी समरप्रियः ।
ये चास्य राक्षसा वीराः सचिवा वशवर्तिनः ॥ ७ ॥

उसको युद्ध करना बहुत प्रिय है। तात! वह मायावी राक्षस समरभूमिमें उत्साहपूर्वक युद्ध करेगा। उसके साथ जो वीर राक्षस एवं सचिव हैं, वे सब उसीके वशमें रहनेवाले हैं ॥

एते चान्ये च बहवो नानाजनपदेश्वराः ।
समेताः पाण्डवस्यार्थे वासुदेवपुरोगमाः ॥ ८ ॥

ये तथा और भी बहुत-से वीर क्षत्रिय जो विभिन्न जनपदोंके स्वामी हैं और जिनमें श्रीकृष्णका सबसे प्रधान स्थान है, पाण्डुनन्दन युधिष्ठिरके लिये यहाँ एकत्र हुए हैं ॥ ८ ॥

एते प्राधान्यतो राजन् पाण्डवस्य महात्मनः ।
रथाश्चातिरथाश्चैव ये चान्येऽर्धरथा नृप ॥ ९ ॥

राजन्! ये महात्मा पाण्डुनन्दन युधिष्ठिरके मुख्य-मुख्य रथी, अतिरथी और अर्धरथी यहाँ बताये गये हैं ॥ ९ ॥

नेष्यन्ति समरे सेनां भीमां यौधिष्ठिरीं नृप ।
महेन्द्रेणेव वीरेण पाल्यमानां किरीटिना ॥ १० ॥

नरेश्वर! देवराज इन्द्रके समान तेजस्वी किरीटधारी वीरवर अर्जुनके द्वारा सुरक्षित हुई युधिष्ठिरकी भयंकर सेनाका ये उपर्युक्त वीर समराङ्गणमें संचालन करेंगे ॥ १० ॥

तैरहं समरे वीर मायाविद्भिर्जयैषिभिः ।
योत्स्यामि जयमाकाङ्क्षन्नथवा निधनं रणे ॥ ११ ॥

वीर! मैं तुम्हारी ओरसे रणभूमिमें उन मायावेत्ता और विजयाभिलाषी पाण्डव-वीरोंके साथ अपनी विजय अथवा मृत्युकी आकाङ्क्षा लेकर युद्ध करूँगा ॥ ११ ॥

वासुदेवं च पार्थं च चक्रगाण्डीवधारिणौ ।
संध्यागताविवार्केन्दू समेष्येते रथोत्तमौ ॥ १२ ॥

वसुदेवनन्दन श्रीकृष्ण और अर्जुन रथियोंमें श्रेष्ठ हैं। वे क्रमशः सुदर्शन चक्र और गाण्डीव धनुष धारण करते हैं। वे संध्याकालीन सूर्य और चन्द्रमाकी भाँति परस्पर मिलकर जब युद्धमें पधारेंगे, उस समय मैं उनका सामना करूँगा ॥

ये चैव ते रथोदाराः पाण्डुपुत्रस्य सैनिकाः ।
सहसैन्यानहं तांश्च प्रतीयां रणमूर्धनि ॥ १३ ॥

पाण्डुपुत्र युधिष्ठिरके और भी जो-जो श्रेष्ठ रथी सैनिक हैं, उनका और उनकी सेनाओंका मैं युद्धके मुहानेपर सामना करूँगा ॥

एते रथाश्चातिरथाश्च तुभ्यं
यथाप्रधानं नृप कीर्तिता मया।
तथापरे येऽर्धरथाश्च केचित्
तथैव तेषामपि कौरवेन्द्र ॥ १४ ॥

राजन्! इस प्रकार मैंने तुम्हारे इन मुख्य-मुख्य रथियों और अतिरथियोंका वर्णन किया है। इनके सिवा, जो कोई अर्धरथी हैं, उनका भी परिचय दिया है। कौरवेन्द्र! इसी प्रकार पाण्डवपक्षके भी रथी आदिका दिग्दर्शन कराया गया है॥

अर्जुनं वासुदेवं च ये चान्ये तत्र पार्थिवाः।
सर्वांस्तान् वारयिष्यामि यावद् द्रक्ष्यामि भारत॥१५॥

भारत! अर्जुन, श्रीकृष्ण तथा अन्य जो-जो भूपाल हैं, मैं उनमेंसे जितनोंको देखूँगा, उन सबको आगे बढ़नेसे रोक दूँगा॥

पाञ्चाल्यं तु महाबाहो नाहं हन्यां शिखण्डिनम्।
उद्यतेषुमथो दृष्ट्वा प्रतियुध्यन्तमाहवे ॥ १६ ॥

परंतु महाबाहो! पाञ्चालराजकुमार शिखण्डीको धनुषपर बाण चढ़ाये युद्धमें अपना सामना करते देखकर भी मैं नहीं मारूँगा॥ १६ ॥

लोकस्तं वेद यदहं पितुः प्रियचिकीर्षया।
प्राप्तं राज्यं परित्यज्य ब्रह्मचर्यव्रते स्थितः ॥ १७ ॥

सारा जगत् यह जानता है कि मैं मिले हुए राज्यको पिताका प्रिय करनेकी इच्छासे ठुकराकर ब्रह्मचर्यके पालनमें दृढ़तापूर्वक लग गया॥ १७ ॥

चित्राङ्गदं कौरवाणामाधिपत्येऽभ्यषेचयम्।
विचित्रवीर्यं च शिशुं यौवराज्येऽभ्यषेचयम् ॥ १८ ॥

माता सत्यवतीके ज्येष्ठ पुत्र चित्राङ्गदको कौरवोंके राज्यपर और बालक विचित्रवीर्यको युवराजके पदपर अभिषिक्त कर दिया था॥ १८ ॥

देवव्रतत्वं विज्ञाप्य पृथिवीं सर्वराजसु।
नैव हन्यां स्त्रियं जातु न स्त्रीपूर्वं कदाचन ॥ १९ ॥

सम्पूर्ण भूमण्डलमें समस्त राजाओंके यहाँ अपने देवव्रतस्वरूपकी ख्याति कराकर मैं कभी भी किसी स्त्रीको अथवा जो पहले स्त्री रहा हो, उस पुरुषको भी नहीं मार सकता॥१९॥

स हि स्त्रीपूर्वको राजन् शिखण्डी यदि ते श्रुतः।
कन्या भूत्वा पुमान् जातो न योत्स्ये तेन भारत ॥ २० ॥

राजन्! शायद तुम्हारे सुननेमें आया होगा, शिखण्डी पहले 'स्त्रीरूप' में ही उत्पन्न हुआ था; भारत! पहले कन्या होकर वह फिर पुरुष हो गया था; इसीलिये मैं उससे युद्ध नहीं करूँगा॥ २० ॥

सर्वांस्त्वन्यान् हनिष्यामि पार्थिवान् भरतर्षभ।
यान् समेष्यामि समरे न तु कुन्तीसुतान् नृप ॥ २१ ॥

भरतश्रेष्ठ! मैं अन्य सब राजाओंको, जिन्हें युद्धमें पाऊँगा, मारूँगा; परंतु कुन्तीके पुत्रोंका वध कदापि नहीं करूँगा॥२१॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि रथातिरथसंख्यानपर्वणि द्विसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १७२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत रथातिरथसंख्यानपर्वमें एक सौ बहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ १७२ ॥

(अम्बोपाख्यानपर्व)

त्रिसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः

अम्बोपाख्यानका आरम्भ—भीष्मजीके द्वारा काशिराजकी कन्याओंका अपहरण

दुर्योधन उवाच

किमर्थं भरतश्रेष्ठ नैव हन्याः शिखण्डिनम्।
उद्यतेषुमथो दृष्ट्वा समरेष्वाततायिनम् ॥ १ ॥

दुर्योधनने पूछा—भरतश्रेष्ठ! जब शिखण्डी धनुषबाण उठाये समरमें आततायीकी भाँति आपको मारने आयेगा, उस समय उसे इस रूपमें देखकर भी आप क्यों नहीं मारेंगे?

पूर्वमुक्त्वा महाबाहो पञ्चालान् सह सोमकैः।
हनिष्यामीति गाङ्गेय तन्मे ब्रूहि पितामह ॥ २ ॥

महाबाहु गङ्गानन्दन! पितामह! आप पहले तो यह कह चुके हैं कि 'मैं सोमकोंसहित पञ्चालोंका वध करूँगा' (फिर आप शिखण्डीको छोड़ क्यों रहे हैं?) यह मुझे बताइये॥

भीष्म उवाच

शृणु दुर्योधन कथां सहैभिर्वसुधाधिपैः।
यदर्थं युधि सम्प्रेक्ष्य नाहं हन्यां शिखण्डिनम् ॥ ३ ॥

भीष्मजीने कहा—दुर्योधन! मैं जिस कारणसे समराङ्गणमें प्रहार करते देखकर भी शिखण्डीको नहीं मारूँगा, उसकी कथा कहता हूँ, इन भूमिपालोंके साथ सुनो॥ ३ ॥

महाराजो मम पिता शान्तनुर्लोकविश्रुतः।
दिष्टान्तमाप धर्मात्मा समये भरतर्षभ ॥ ४ ॥
ततोऽहं भरतश्रेष्ठ प्रतिज्ञां परिपालयन्।
चित्राङ्गदं भ्रातरं वै महाराज्येऽभ्यषेचयम् ॥ ५ ॥

भरतश्रेष्ठ! मेरे धर्मात्मा पिता लोकविख्यात महाराज शान्तनुका जब निधन हो गया, उस समय अपनी प्रतिज्ञाका पालन करते हुए मैंने भाई चित्राङ्गदको इस महान् राज्यपर अभिषिक्त कर दिया॥ ४-५ ॥

तस्मिंश्च निधनं प्राप्ते सत्यवत्या मते स्थितः।
विचित्रवीर्यं राजानमभ्यषिञ्चं यथाविधि ॥ ६ ॥

तदनन्तर जब चित्राङ्गदकी भी मृत्यु हो गयी, तब माता सत्यवतीकी सम्मतिसे मैंने विधिपूर्वक विचित्रवीर्यका राजाके पदपर अभिषेक किया॥ ६ ॥

मयाभिषिक्तो राजेन्द्र यवीयानपि धर्मतः।
विचित्रवीर्यो धर्मात्मा मामेव समुदैक्षत ॥ ७ ॥

राजेन्द्र ! छोटे होनेपर भी मेरे द्वारा अभिषिक्त होकर धर्मात्मा विचित्रवीर्य धर्मतः मेरी ही ओर देखा करते थे अर्थात् मेरी सम्मतिसे ही सारा राजकार्य करते थे ॥ ७ ॥

तस्य दारक्रियां तात चिकीर्षुरहमप्युत।
अनुरूपादिव कुलादित्येव च मनो दधे ॥ ८ ॥

तात ! तब मैंने अपने योग्य कुलसे कन्या लाकर उनका विवाह करनेका निश्चय किया ॥ ८ ॥

तथाश्रौषं महाबाहो तिस्रः कन्याः स्वयंवराः।
रूपेणाप्रतिमाः सर्वाः काशिराजसुतास्तदा।
अम्बां चैवाम्बिकां चैव तथैवाम्बालिकामपि ॥ ९ ॥

महाबाहो ! उन्हीं दिनों मैंने सुना कि काशिराजकी तीन कन्याएँ हैं, जो सब-की-सब अप्रतिम रूप-सौन्दर्यसे सुशोभित हैं और वे स्वयंवर-सभामें स्वयं ही पतिका चुनाव करनेवाली हैं। उनके नाम हैं अम्बा, अम्बिका और अम्बालिका ॥९॥

राजानश्च समाहूताः पृथिव्यां भरतर्षभ।
अम्बा ज्येष्ठाभवत् तासामम्बिका त्वथ मध्यमा ॥ १० ॥
अम्बालिका च राजेन्द्र राजकन्या यवीयसी।
सोऽहमेकरथेनैव गतः काशिपतेः पुरीम् ॥ ११ ॥

भरतश्रेष्ठ ! राजेन्द्र ! उन तीनोंके स्वयंवरके लिये भूमण्डलके सम्पूर्ण नरेश आमन्त्रित किये गये थे। उनमें अम्बा सबसे बड़ी थी, अम्बिका मझली थी और राजकन्या अम्बालिका सबसे छोटी थी। स्वयंवरका समाचार पाकर मैं एक ही रथके द्वारा काशिराजके नगरमें गया ॥ १०-११ ॥

अपश्यं ता महाबाहो तिस्रः कन्याः स्वलंकृताः।
राज्ञश्चैव समाहूतान् पार्थिवान् पृथिवीपते ॥ १२ ॥

महाबाहो ! वहाँ पहुँचकर मैंने वस्त्राभूषणोंसे अलंकृत हुई उन तीनों कन्याओंको देखा। पृथ्वीपते ! वहाँ उसी समय आमन्त्रित होकर आये हुए सम्पूर्ण राजाओंपर भी मेरी दृष्टि पड़ी॥

ततोऽहं तान् नृपान् सर्वानाहूय समरे स्थितान्।
रथमारोपयांचक्रे कन्यास्ता भरतर्षभ ॥ १३ ॥

भरतश्रेष्ठ ! तदनन्तर मैंने युद्धके लिये खड़े हुए उन समस्त राजाओंको ललकारकर उन तीनों कन्याओंको अपने रथपर बैठा लिया ॥ १३ ॥

वीर्यशुल्काश्च ता ज्ञात्वा समारोप्य रथं तदा।
अवोचं पार्थिवान् सर्वानहं तत्र समागतान्।
भीष्मः शान्तनवः कन्या हरतीति पुनः पुनः ॥ १४ ॥
ते यतध्वं परं शक्त्या सर्वे मोक्षाय पार्थिवाः।
प्रसह्य हि हराम्येष मिषतां वो नरर्षभाः ॥ १५ ॥

पराक्रम ही इन कन्याओंका शुल्क है, यह जानकर उन्हें रथपर चढ़ा लेनेके पश्चात् मैंने वहाँ आये हुए समस्त भूपालोंसे कहा—'नरश्रेष्ठ राजाओ ! शान्तनुपुत्र भीष्म इन राजकन्याओंका अपहरण कर रहा है, तुम सब लोग पूरी शक्ति लगाकर इन्हें छुड़ानेका प्रयत्न करो; क्योंकि मैं तुम्हारे देखते-देखते बलपूर्वक इन्हें लिये जाता हूँ'; इस बातको मैंने बारंबार दुहराया ॥ १४-१५ ॥

ततस्ते पृथिवीपालाः समुत्पेतुरुदायुधाः।
योगो योग इति क्रुद्धाः सारथीनभ्यचोदयन् ॥ १६ ॥

फिर तो वे महीपाल कुपित हो हाथमें हथियार लिये टूट पड़े और अपने सारथियोंको 'रथ तैयार करो, रथ तैयार करो' इस प्रकार आदेश देने लगे ॥ १६ ॥

ते रथैर्गजसंकाशैर्गजैश्च गजयोधिनः।
पुष्टैश्चाश्वैर्महीपालाः समुत्पेतुरुदायुधाः ॥ १७ ॥

वे राजा हाथियोंके समान विशाल रथों, हाथियों और हृष्ट-पुष्ट अश्वोंपर सवार हो अस्त्र-शस्त्र लिये मुझपर आक्रमण करने लगे। उनमेंसे कितने ही हाथियोंपर सवार होकर युद्ध करनेवाले थे ॥ १७ ॥

ततस्ते मां महीपालाः सर्व एव विशाम्पते।
रथव्रातेन महता सर्वतः पर्यवारयन् ॥ १८ ॥

प्रजानाथ ! तदनन्तर उन सब नरेशोंने विशाल रथ-समूहद्वारा मुझे सब ओरसे घेर लिया ॥ १८ ॥

तानहं शरवर्षेण समन्तात् पर्यवारयम्।
सर्वान् नृपांश्चाप्यजयं देवराडिव दानवान् ॥ १९ ॥

तब मैंने भी बाणोंकी वर्षा करके चारों ओरसे उनकी प्रगति रोक दी और जैसे देवराज इन्द्र दानवोंपर विजय पाते हैं, उसी प्रकार मैंने भी उन सब नरेशोंको जीत लिया॥१९॥

अपातयं शरैर्दीप्तैः प्रहसन् भरतर्षभ।
तेषामापततां चित्रान् ध्वजान् हेमपरिष्कृतान् ॥ २० ॥

भरतश्रेष्ठ ! जिस समय उन्होंने आक्रमण किया उसी समय मैंने प्रज्वलित बाणोंद्वारा हँसते-हँसते उनके स्वर्ण-भूषित विचित्र ध्वजोंको काट गिराया ॥ २० ॥

एकैकेन हि बाणेन भूमौ पातितवानहम्।
हयांस्तेषां गजांश्चैव सारथींश्चाप्यहं रणे ॥ २१ ॥

फिर एक-एक बाण मारकर मैंने समरभूमिमें उनके घोड़ों, हाथियों और सारथियोंको भी धराशायी कर दिया॥२१॥

ते निवृत्ताश्च भग्नाश्च दृष्ट्वा तल्लाघवं मम।
(प्रणिपेतुश्च सर्वे वै प्रशशंसुश्च पार्थिवाः।
तत आदाय ताः कन्या नृपतींश्च विसृज्य तान् ॥)
अथाहं हास्तिनपुरमायां जित्वा महीक्षितः ॥ २२ ॥

मेरे हाथोंकी वह फुर्ती देखकर वे पीछे हटने और भागने लगे। वे सब भूपाल नतमस्तक हो गये और मेरी प्रशंसा करने लगे। तत्पश्चात् मैं राजाओंको परास्त करके उन सबको वहीं छोड़ तीनों कन्याओंको साथ ले हस्तिनापुरमें आया ॥ २२ ॥

ततोऽहं ताश्च कन्या वै भ्रातुरर्थाय भारत।

तच्च कर्म महाबाहो सत्यवत्यै न्यवेदयम् ॥ २३ ॥

महाबाहु भरतनन्दन ! फिर मैंने उन कन्याओंको अपने भाईसे ब्याहनेके लिये माता सत्यवतीको सौंप दिया और अपना वह पराक्रम भी उन्हें बताया ॥ २३ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि अम्बोपाख्यानपर्वणि कन्याहरणे त्रिसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १७३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत अम्बोपाख्यानपर्वमें कन्याहरणविषयक एक सौ तिहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १७३ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका १ श्लोक मिलाकर कुल २४ श्लोक हैं)

चतुःसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः

अम्बाका शाल्वराजके प्रति अपना अनुराग प्रकट करके उनके पास जानेके लिये भीष्मसे आज्ञा माँगना

भीष्म उवाच

ततोऽहं भरतश्रेष्ठ मातरं वीरमातरम् ।
अभिगम्योपसंगृह्य दाशेयीमिदमब्रुवम् ॥ १ ॥

भीष्मजी कहते हैं—भरतश्रेष्ठ ! तदनन्तर मैंने वीर-जननी दाशराजकी कन्या माता सत्यवतीके पास जाकर उनके चरणोंमें प्रणाम करके इस प्रकार कहा—॥ १ ॥

इमाः काशिपतेः कन्या मया निर्जित्य पार्थिवान् ।
विचित्रवीर्यस्य कृते वीर्यशुल्का हृता इति ॥ २ ॥

'माँ ! ये काशिराजकी कन्याएँ हैं । पराक्रम ही इनका शुल्क था । इसलिये मैं समस्त राजाओंको जीतकर भाई विचित्रवीर्यके लिये इन्हें हर लाया हूँ' ॥ २ ॥

ततो मूर्धन्युपाघ्राय पर्यश्रुनयना नृप ।
आह सत्यवती हृष्टा दिष्ट्या पुत्र जितं त्वया ॥ ३ ॥

नरेश्वर ! यह सुनकर माता सत्यवतीके नेत्रोंमें हर्षके आँसू छलक आये । उन्होंने मेरा मस्तक सूँघकर प्रसन्नता-पूर्वक कहा—'बेटा ! बड़े सौभाग्यकी बात है कि तुम विजयी हुए' ॥

सत्यवत्यास्त्वनुमते विवाहे समुपस्थिते ।
उवाच वाक्यं सव्रीडा ज्येष्ठा काशिपतेः सुता ॥ ४ ॥

सत्यवतीकी अनुमतिसे जब विवाहका कार्य उपस्थित हुआ, तब काशिराजकी ज्येष्ठ पुत्री अम्बाने कुछ लज्जित होकर मुझसे कहा— ॥ ४ ॥

भीष्म त्वमसि धर्मज्ञः सर्वशास्त्रविशारदः ।
श्रुत्वा च वचनं धर्म्यं मह्यं कर्तुमिहार्हसि ॥ ५ ॥

'भीष्म ! तुम धर्मके ज्ञाता और सम्पूर्ण शास्त्रोंके ज्ञानमें निपुण हो । मेरी बात सुनकर मेरे साथ धर्मपूर्ण बर्ताव करना चाहिये ॥ ५ ॥

मया शाल्वपतिः पूर्वं मनसाभिवृतो वरः ।
तेन चास्मि वृता पूर्वं रहस्यविदिते पितुः ॥ ६ ॥

'मैंने अपने मनसे पहले शाल्वराजको अपना पति चुन लिया है और उन्होंने भी एकान्तमें मेरा वरण कर लिया है । यह पहलेकी बात है, जो मेरे पिताको भी ज्ञात नहीं है ॥ ६ ॥

कथं मामन्यकामां त्वं राजधर्ममतीत्य वै ।
वासयेथा गृहे भीष्म कौरवः सन् विशेषतः ॥ ७ ॥

'भीष्म ! मैं दूसरेकी कामना करनेवाली राजकन्या हूँ । तुम विशेषतः कुरुवंशी होकर राजधर्मका उल्लङ्घन करके मुझे अपने घरमें कैसे रक्खोगे ? ॥ ७ ॥

एतद् बुद्ध्या विनिश्चित्य मनसा भरतर्षभ ।
यत् क्षमं ते महाबाहो तदिहारब्धुमर्हसि ॥ ८ ॥

'महाबाहु भरतश्रेष्ठ ! अपनी बुद्धि और मनसे इस विषयमें निश्चित विचार करके तुम्हें जो उचित प्रतीत हो, वही करना चाहिये ॥ ८ ॥

स मां प्रतीक्षते व्यक्तं शाल्वराजो विशाम्पते ।
तस्मान्मां त्वं कुरुश्रेष्ठ समनुज्ञातुमर्हसि ॥ ९ ॥

'प्रजानाथ ! शाल्वराज निश्चय ही मेरी प्रतीक्षा करते होंगे; अतः कुरुश्रेष्ठ ! तुम्हें मुझे उनकी सेवामें जानेकी आज्ञा देनी चाहिये ॥ ९ ॥

कृपां कुरु महाबाहो मयि धर्मभृतां वर ।
त्वं हि सत्यव्रतो वीर पृथिव्यामिति नः श्रुतम् ॥ १० ॥

'धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ ! महाबाहु वीर ! मुझपर कृपा करो । मैंने सुना है कि इस पृथ्वीपर तुम सत्यव्रती महात्मा हो' ॥ १० ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि अम्बोपाख्यानपर्वणि अम्बावाक्ये चतुःसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १७४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत अम्बोपाख्यानपर्वमें अम्बावाक्यविषयक एक सौ चौहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १७४ ॥

पञ्चसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः

अम्बाका शाल्वके यहाँ जाना और उससे परित्यक्त होकर तापसोंके आश्रममें आना, वहाँ शैखावत्य और अम्बाका संवाद

भीष्म उवाच

ततोऽहं समनुज्ञाप्य कालीं गन्धवतीं तदा ।
मन्त्रिणश्चर्त्विजश्चैव तथैव च पुरोहितान् ॥ १ ॥
समनुज्ञासिषं कन्यामम्बां ज्येष्ठां नराधिप ।

भीष्मजी कहते हैं—नरेश्वर ! तब मैंने माता गन्धवती कालीसे आज्ञा ले मन्त्रियों, ऋत्विजों तथा पुरोहितोंसे पूछकर बड़ी राजकुमारी अम्बाको जानेकी आज्ञा दे दी ॥ १½ ॥

अनुज्ञाता ययौ सा तु कन्या शाल्वपतेः पुरम् ॥ २ ॥

वृद्धैर्द्विजातिभिर्गुप्ता धात्र्या चानुगता तदा।
अतीत्य च तमध्वानमासाद्य नृपतिं तथा ॥ ३ ॥
सा तमासाद्य राजानं शाल्वं वचनमब्रवीत्।
आगताहं महाबाहो त्वामुद्दिश्य महामते ॥ ४ ॥

आज्ञा पाकर राजकन्या अम्बा वृद्ध ब्राह्मणोंके संरक्षणमें रहकर शाल्वराजके नगरकी ओर गयी। उसके साथ उसकी धाय भी थी। उस मार्गको लाँघकर वह राजाके यहाँ पहुँच गयी और शाल्वराजसे मिलकर इस प्रकार बोली—'महाबाहो! महामते! मैं तुम्हारे पास ही आयी हूँ ॥ २–४ ॥

(अभिनन्दस्व मां राजन् सदा प्रियहिते रताम्।
प्रतिपादय मां राजन् धर्मार्थे चैव धर्मतः ॥
त्वं हि मनसा ध्यातस्त्वया चाप्युपमन्त्रिता ॥)

'राजन्! मैं सदा तुम्हारे प्रिय और हितमें तत्पर रहनेवाली हूँ। मुझे अपनाकर आनन्दित करो। नरेश्वर! मुझे धर्मानुसार ग्रहण करके धर्मके लिये ही अपने चरणोंमें स्थान दो। मैंने मन-ही-मन सदा तुम्हारा ही चिन्तन किया है और तुमने भी एकान्तमें मेरे साथ विवाहका प्रस्ताव किया था' ॥

तामब्रवीच्छाल्वपतिः स्मयन्निव विशाम्पते।
त्वयान्यपूर्वया नाहं भार्यार्थी वरवर्णिनि ॥ ५ ॥

प्रजानाथ! अम्बाकी बात सुनकर शाल्वराजने मुसकराते हुए-से कहा—'सुन्दरी! तुम पहले दूसरेकी हो चुकी हो; अतः तुम्हारी-जैसी स्त्रीके साथ विवाह करनेकी मेरी इच्छा नहीं है।५।

गच्छ भद्रे पुनस्तत्र सकाशं भीष्मकस्य वै।
नाहमिच्छामि भीष्मेण गृहीतां त्वां प्रसह्य वै ॥ ६ ॥

'भद्रे! तुम पुनः वहाँ भीष्मके ही पास जाओ। भीष्मने तुम्हें बलपूर्वक पकड़ लिया था, अतः अब तुम्हें मैं अपनी पत्नी बनाना नहीं चाहता ॥ ६ ॥

त्वं हि भीष्मेण निर्जित्य नीता प्रीतिमती तदा।
परामृश्य महायुद्धे निर्जित्य पृथिवीपतीन् ॥ ७ ॥

'भीष्मने उस महायुद्धमें समस्त भूपालोंको हराकर तुम्हें जीता और तुम्हें उठाकर वे अपने साथ ले गये। तुम उस समय उनके साथ प्रसन्न थीं ॥ ७ ॥

नाहं त्वय्यन्यपूर्वायां भार्यार्थी वरवर्णिनि।
कथमस्मद्विधो राजा परपूर्वां प्रवेशयेत् ॥ ८ ॥
नारीं विदितविज्ञानः परेषां धर्ममादिशन्।
यथेष्टं गम्यतां भद्रे मा त्वां कालोऽत्यगादयम् ॥९॥

'वरवर्णिनि! जो पहले औरकी हो चुकी हो, ऐसी स्त्रीको मैं अपनी पत्नी बनाऊँ, यह मेरी इच्छा नहीं है। जिस नारीपर पहले किसी दूसरे पुरुषका अधिकार हो गया हो, उसे सारी बातोंको ठीक-ठीक जाननेवाला मेरे-जैसा राजा जो दूसरोंको धर्मका उपदेश करता है, कैसे अपने घरमें प्रविष्ट करायेगा। भद्रे! तुम्हारी जहाँ इच्छा हो, चली जाओ। तुम्हारा यह समय यहाँ व्यर्थ न बीते' ॥ ८-९ ॥

अम्बा तमब्रवीद् राजन्ननङ्गशरपीडिता।
नैवं वद महीपाल नैतदेवं कथंचन ॥ १० ॥
नास्मि प्रीतिमती नीता भीष्मेणामित्रकर्शन।
बलान्नीतास्मि रुदती विद्राव्य पृथिवीपतीन् ॥ ११ ॥

राजन्! यह सुनकर कामदेवके बाणोंसे पीड़ित हुई अम्बा शाल्वराजसे बोली—'भूपाल! तुम किसी तरह भी ऐसी बात मुँहसे न निकालो। शत्रुसूदन! मैं भीष्मके साथ प्रसन्नतापूर्वक नहीं गयी थी। उन्होंने समस्त राजाओंको खदेड़कर बलपूर्वक मेरा अपहरण किया था और मैं रोती हुई ही उनके साथ गयी थी ॥ १०-११ ॥

भजस्व मां शाल्वपते भक्तां बालामनागसम्।
भक्तानां हि परित्यागो न धर्मेषु प्रशस्यते ॥ १२ ॥

'शाल्वराज! मैं निरपराध अबला हूँ। तुम्हारे प्रति अनुरक्त हूँ। मुझे स्वीकार करो; क्योंकि भक्तोंका परित्याग किसी भी धर्ममें अच्छा नहीं बताया गया है ॥ १२ ॥

साहमामन्त्र्य गाङ्गेयं समरेष्वनिवर्तिनम्।
अनुज्ञाता च तेनैव ततोऽहं भृशमागता ॥ १३ ॥

'युद्धमें कभी पीठ न दिखानेवाले गङ्गानन्दन भीष्मसे पूछकर, उनकी आज्ञा लेकर अत्यन्त उत्कण्ठाके साथ मैं यहाँ आयी हूँ ॥ १३ ॥

न स भीष्मो महाबाहुर्मामिच्छति विशाम्पते।
भ्रातृहेतोः समारम्भो भीष्मस्येति श्रुतं मया ॥ १४ ॥

'राजन्! महाबाहु भीष्म मुझे नहीं चाहते। उनका यह आयोजन अपने भाईके विवाहके लिये था, ऐसा मैंने सुना है १४

भगिन्यौ मम ये नीते अम्बिकाम्बालिके नृप।
प्रादाद् विचित्रवीर्याय गाङ्गेयो हि यवीयसे ॥ १५ ॥

'नरेश्वर! भीष्म जिन मेरी दो बहिनों—अम्बिका और अम्बालिकाको हरकर ले गये थे, उन्हें उन्होंने अपने छोटे भाई विचित्रवीर्यको ब्याह दिया है ॥ १५ ॥

यथा शाल्वपते नान्यं वरं ध्यामि कथंचन।
त्वामृते पुरुषव्याघ्र तथा मूर्धानमालभे ॥ १६ ॥

'पुरुषसिंह शाल्वराज! मैं अपना मस्तक छूकर कहती हूँ; तुम्हारे सिवा दूसरे किसी वरका मैं किसी प्रकार भी चिन्तन नहीं करती हूँ ॥ १६ ॥

न चान्यपूर्वा राजेन्द्र त्वामहं समुपस्थिता।
सत्यं ब्रवीमि शाल्वैतत् सत्येनात्मानमालभे ॥ १७ ॥

'राजेन्द्र शाल्व! मुझपर किसी भी दूसरे पुरुषका पहले कभी अधिकार नहीं रहा है। मैं स्वेच्छापूर्वक पहले-पहल तुम्हारी ही सेवामें उपस्थित हुई हूँ। यह मैं सत्य कहती हूँ और इस सत्यके द्वारा ही इस शरीरकी शपथ खाती हूँ ॥१७॥

भजस्व मां विशालाक्ष स्वयं कन्यामुपस्थिताम्।
अनन्यपूर्वां राजेन्द्र त्वत्प्रसादाभिकाङ्क्षिणीम् ॥ १८ ॥

'विशाल नेत्रोंवाले महाराज! मैंने आजसे पहले किसी दूसरे पुरुषको अपना पति नहीं समझा है। मैं तुम्हारी कृपाकी अभिलाषा रखती हूँ। स्वयं ही अपनी सेवामें उपस्थित हुई मुझ कुमारी कन्याको धर्मपत्नीके रूपमें स्वीकार कीजिये' १८

तामेवं भाषमाणां तु शाल्वः काशिपतेः सुताम्।
अत्यजद् भरतश्रेष्ठ जीर्णां त्वचमिवोरगः ॥ १९ ॥

भरतश्रेष्ठ! इस प्रकार अनुनय-विनय करती हुई काशिराजकी उस कन्याको शाल्वने उसी प्रकार त्याग दिया, जैसे सर्प पुरानी केंचुलको छोड़ देता है ॥ १९ ॥

एवं बहुविधैर्वाक्यैर्याच्यमानस्तया नृपः।
नाश्रद्दधच्छाल्वपतिः कन्यायां भरतर्षभ ॥ २० ॥

भरतभूषण ! इस तरह नाना प्रकारके वचनोंद्वारा बार-बार याचना करनेपर भी शाल्वराजने उस कन्याकी बातोंपर विश्वास नहीं किया ॥ २० ॥

ततः सा मन्युनाऽऽविष्टा ज्येष्ठा काशिपतेः सुता।
अब्रवीत् साश्रुनयना बाष्पविप्लुतया गिरा ॥ २१ ॥

तब काशिराजकी ज्येष्ठ पुत्री अम्बा क्रोध एवं दुःखसे व्याप्त हो नेत्रोंसे आँसू बहाती हुई अश्रुगद्गद वाणीमें बोली—॥

त्वया त्यक्ता गमिष्यामि यत्र तत्र विशाम्पते।
तत्र मे गतयः सन्तु सन्तः सत्यं यथा ध्रुवम् ॥ २२ ॥

'राजन् ! यदि मेरी कही बात निश्चितरूपसे सत्य हो तो तुमसे परित्यक्त होनेपर मैं जहाँ-जहाँ जाऊँ, वहाँ-वहाँ साधु पुरुष मुझे सहारा देनेवाले हों' ॥ २२ ॥

एवं तां भाषमाणां तु कन्यां शाल्वपतिस्तदा।
परितत्याज कौरव्य करुणं परिदेवतीम् ॥ २३ ॥

कुरुनन्दन ! राजकन्या अम्बा करुणस्वरसे विलाप करती हुई इसी प्रकार कितनी ही बातें कहती रही; परंतु शाल्वराजने उसे सर्वथा त्याग दिया ॥ २३ ॥

गच्छ गच्छेति तां शाल्वः पुनः पुनरभाषत।
बिभेमि भीष्मात् सुश्रोणि त्वं च भीष्मपरिग्रहः ॥ २४ ॥

शाल्वने बारंबार उससे कहा—'सुश्रोणि ! तुम जाओ, चली जाओ, मैं भीष्मसे डरता हूँ । तुम भीष्मके द्वारा ग्रहण की हुई हो' ॥ २४ ॥

एवमुक्ता तु सा तेन शाल्वेनादीर्घदर्शिना।
निश्चक्राम पुराद् दीना रुदती कुररी यथा ॥ २५ ॥

अदूरदर्शी शाल्वके ऐसा कहनेपर अम्बा कुररीकी भाँति दीनभावसे रुदन करती हुई उस नगरसे निकल गयी ॥२५॥

भीष्म उवाच

निष्क्रामन्ती तु नगराच्चिन्तयामास दुःखिता।
पृथिव्यां नास्ति युवतिर्विषमस्थतरा मया ॥ २६ ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन् ! नगरसे निकलते समय वह दुःखिनी नारी इस प्रकार चिन्ता करने लगी—'इस पृथ्वीपर कोई भी ऐसी युवती नहीं होगी, जो मेरे समान भारी संकटमें पड़ गयी हो ॥ २६ ॥

बन्धुभिर्विप्रहीणास्मि शाल्वेन च निराकृता।
न च शक्यं पुनर्गन्तुं मया वारणसाह्वयम् ॥ २७ ॥

'भाई-बन्धुओंसे तो दूर हो ही गयी हूँ । राजा शाल्वने भी मुझे त्याग दिया है । अब मैं हस्तिनापुरमें भी नहीं जा सकती ॥ २७ ॥

अनुज्ञाता तु भीष्मेण शाल्वमुद्दिश्य कारणम्।
किं नु गर्हाम्यथात्मानमथ भीष्मं दुरासदम् ॥ २८ ॥

'क्योंकि शाल्वके अनुरागको कारण बताकर मैंने भीष्मसे यहाँ आनेकी आज्ञा ली थी । अब मैं अपनी ही निन्दा करूँ या उस दुर्जय वीर भीष्मको कोसूँ ? ॥ २८ ॥

अथवा पितरं मूढं यो मेऽकार्षीत् स्वयंवरम्।
मयायं स्वकृतो दोषो याहं भीष्मरथात् तदा ॥ २९ ॥
प्रवृत्ते दारुणे युद्धे शाल्वार्थं नापतं पुरा।

'अथवा अपने मूढ़ पिताको दोष दूँ, जिन्होंने मेरा स्वयंवर किया । मेरे द्वारा सबसे बड़ा दोष यह हुआ है कि पूर्वकालमें जिस समय वह भयंकर युद्ध चल रहा था, उसी समय मैं शाल्वके लिये भीष्मके रथसे कूद नहीं पड़ी ॥ २९½ ॥

तस्येयं फलनिर्वृत्तिर्यदापन्नास्मि मूढवत् ॥ ३० ॥
धिग् भीष्मं धिक् च मे मन्दं पितरं मूढचेतसम्।
येनाहं वीर्यशुल्केन पण्यस्त्रीव प्रचोदिता ॥ ३१ ॥

'उसीका यह फल प्राप्त हुआ है कि मैं एक मूर्ख स्त्रीकी भाँति भारी आपत्तिमें पड़ गयी हूँ । भीष्मको धिक्कार है, विवेकशून्य हृदयवाले मेरे मन्दबुद्धि पिताको भी धिक्कार है, जिन्होंने पराक्रमका शुल्क नियत करके मुझे बाजारू स्त्रीकी भाँति जनसमूहमें निकलनेकी आज्ञा दी ॥ ३०-३१ ॥

धिङ्मां धिक् शाल्वराजानं धिग् धातारमथापि वा।
येषां दुर्नीतभावेन प्राप्तास्म्यापदमुत्तमाम् ॥ ३२ ॥

'मुझे धिक्कार है, शाल्वराजको धिक्कार है और विधाताको भी धिक्कार है, जिनकी दुर्नीतियोंसे मैं इस भारी विपत्तिमें फँस गयी हूँ ॥ ३२ ॥

सर्वथा भागधेयानि स्वानि प्राप्नोति मानवः।
अनयस्यास्य तु मुखं भीष्मः शान्तनवो मम ॥ ३३ ॥

'मनुष्य सर्वथा वही पाता है जो उसके भाग्यमें होता है । मुझपर जो यह अन्याय हुआ है, उसका मुख्य कारण शान्तनुनन्दन भीष्म हैं ॥ ३३ ॥

सा भीष्मे प्रतिकर्तव्यमहं पश्यामि साम्प्रतम्।
तपसा वा युधा वापि दुःखहेतुः स मे मतः ॥ ३४ ॥

'अतः इस समय तपस्या अथवा युद्धके द्वारा भीष्मसे ही बदला लेना मुझे उचित दिखायी देता है; क्योंकि मेरे दुःखके प्रधान कारण वे ही हैं ॥ ३४ ॥

को नु भीष्मं युधा जेतुमुत्सहेत महीपतिः।
एवं सा परिनिश्चित्य जगाम नगराद् बहिः ॥ ३५ ॥

'परंतु कौन ऐसा राजा है जो युद्धके द्वारा भीष्मको परास्त कर सके।' ऐसा निश्चय करके वह नगरसे बाहर चली गयी॥

आश्रमं पुण्यशीलानां तापसानां महात्मनाम्।
ततस्तामवसद् रात्रिं तापसैः परिवारिता ॥ ३६ ॥

उसने पुण्यशील तपस्वी महात्माओंके आश्रमपर जाकर वहीं वह रात बितायी । उस आश्रममें तपस्वीलोगोंने सब

ओरसे घेरकर उसकी रक्षा की थी ॥ ३६ ॥

आचख्यौ च यथावृत्तं सर्वमात्मनि भारत ।
विस्तरेण महाबाहो निखिलेन शुचिस्मिता ।
हरणं च विसर्गं च शाल्वेन च विसर्जनम् ॥ ३७ ॥

महाबाहु भरतनन्दन ! पवित्र मुसकानवाली अम्बाने अपने ऊपर बीता हुआ सारा वृत्तान्त विस्तारपूर्वक उन महात्माओंसे बताया । किस प्रकार उसका अपहरण हुआ ? कैसे भीष्मसे छुटकारा मिला ? और फिर किस प्रकार शाल्वने उसे त्याग दिया, ये सारी बातें उसने कह सुनायीं ॥ ३७ ॥

ततस्तत्र महानासीद् ब्राह्मणः संशितव्रतः ।
शैखावत्यस्तपोवृद्धः शास्त्रे चारण्यके गुरुः ॥ ३८ ॥

उस आश्रममें कठोर व्रतका पालन करनेवाले शैखावत्य नामसे प्रसिद्ध एक तपोवृद्ध श्रेष्ठ ब्राह्मण रहते थे, जो शास्त्र और आरण्यक आदिकी शिक्षा देनेवाले सद्गुरु थे ॥ ३८ ॥

आर्तां तामाह स मुनिः शैखावत्यो महातपाः ।
निःश्वसन्तीं सतीं बालां दुःखशोकपरायणाम् ॥ ३९ ॥

महातपस्वी शैखावत्य मुनिने वहाँ सिसकती हुई उस दुःखशोकपरायणा सती साध्वी आर्त अबलासे कहा—॥ ३९ ॥

एवं गते तु किं भद्रे शक्यं कर्तुं तपस्विभिः ।
आश्रमस्थैर्महाभागे तपोयुक्तैर्महात्मभिः ॥ ४० ॥

'भद्रे ! महाभागे ! ऐसी दशामें इस आश्रममें निवास करनेवाले तपःपरायण तपोधन महात्मा तुम्हारा क्या सहयोग कर सकते हैं ?' ॥ ४० ॥

सा त्वेनमब्रवीद् राजन् क्रियतां मदनुग्रहः ।
प्राव्राज्यमहमिच्छामि तपस्तप्स्यामि दुश्चरम् ॥ ४१ ॥

राजन् ! तब अम्बाने उनसे कहा—'भगवन् ! मुझपर अनुग्रह कीजिये । मैं संन्यासियोंका-सा धर्म पालन करना चाहती हूँ । यहाँ रहकर दुष्कर तपस्या करूँगी ॥ ४१ ॥

मयैव यानि कर्माणि पूर्वदेहे तु मूढया ।
कृतानि नूनं पापानि तेषामेतत् फलं ध्रुवम् ॥ ४२ ॥

'मुझ मूढ़ नारीने अपने पूर्वजन्मके शरीरसे जो पापकर्म किये थे, अवश्य ही उन्हींका यह दुःखदायक फल प्राप्त हुआ है ॥

नोत्सहे तु पुनर्गन्तुं स्वजनं प्रति तापसाः ।
प्रत्याख्याता निरानन्दा शाल्वेन च निराकृता ॥ ४३ ॥

'तपस्वी महात्माओ ! अब मैं अपने स्वजनोंके यहाँ फिर नहीं लौट सकती; क्योंकि राजा शाल्वने मुझे कोरा उत्तर देकर त्याग दिया है, उससे मेरा सारा जीवन आनन्दशून्य (दुःखमय) हो गया है ॥ ४३ ॥

उपदिष्टमिहेच्छामि तापस्यं वीतकल्मषाः ।
युष्माभिर्देवसंकाशैः कृपा भवतु वो मयि ॥ ४४ ॥

'निष्पाप तापसगण ! मैं चाहती हूँ कि आप देवोपम साधुपुरुष मुझे तपस्याका उपदेश दें; मुझपर आपलोगोंकी कृपा हो' ॥

स तामाश्वासयत् कन्यां दृष्टान्तागमहेतुभिः ।
सान्त्वयामास कार्यं च प्रतिजज्ञे द्विजैः सह ॥ ४५ ॥

तब शैखावत्य मुनिने लौकिक दृष्टान्तों, शास्त्रीय वचनों तथा युक्तियोंद्वारा उस कन्याको आश्वासन देकर धैर्य बँधाया और ब्राह्मणोंके साथ मिलकर उसके कार्य-साधनके लिये प्रयत्न करनेकी प्रतिज्ञा की ॥ ४५ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि अम्बोपाख्यानपर्वणि शैखावत्याम्बासंवादे पञ्चसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १७५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत अम्बोपाख्यानपर्वमें शैखावत्य तथा अम्बाका संवादविषयक एक सौ पचहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १७५ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके १½ श्लोक मिलाकर कुल ४६½ श्लोक हैं)

षट्सप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः

तापसोंके आश्रममें राजर्षि होत्रवाहन और अकृतव्रणका आगमन तथा उनसे अम्बाकी बातचीत

भीष्म उवाच

ततस्ते तापसाः सर्वे कार्यवन्तोऽभवंस्तदा ।
तां कन्यां चिन्तयन्तस्ते किं कार्यमिति धर्मिणः ॥ १ ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन् ! तदनन्तर वे सब धर्मात्मा तपस्वी उस कन्याके विषयमें चिन्ता करते हुए यह सोचने लगे कि अब क्या करना चाहिये ? उस समय वे उसके लिये कुछ करनेको उद्यत थे ॥ १ ॥

केचिदाहुः पितुर्वेश्म नीयतामिति तापसाः ।
केचिदस्मदुपालम्भे मतिं चक्रुर्हि तापसाः ॥ २ ॥

कुछ तपस्वी यह कहने लगे कि इस राजकन्याको इसके पिताके घर पहुँचा दिया जाय । कुछ तापसोंने मुझे उलाहना देनेका निश्चय किया ॥ २ ॥

केचिच्छाल्वपतिं गत्वा नियोज्यमिति मेनिरे ।
नेति केचिद् व्यवस्यन्ति प्रत्याख्याता हि तेन सा ॥ ३ ॥

कुछ लोग यह सम्मति प्रकट करने लगे कि चलकर शाल्वराजको बाध्य करना चाहिये कि वह इसे स्वीकार कर ले और कुछ लोगोंने यह निश्चय प्रकट किया था कि ऐसा होना सम्भव नहीं है; क्योंकि उसने इस कन्याको कोरा उत्तर देकर ग्रहण करनेसे इन्कार कर दिया है ॥ ३ ॥

एवं गते तु किं शक्यं भद्रे कर्तुं मनीषिभिः ।
पुनरूचुश्च तां सर्वे तापसाः संशितव्रताः ॥ ४ ॥

'भद्रे ! ऐसी स्थितिमें मनीषी तापस क्या कर सकते हैं ?' ऐसा कहकर वे कठोर व्रतका पालन करनेवाले सभी तापस उस राजकन्यासे फिर बोले—॥ ४ ॥

अलं प्रव्रजितेनेह भद्रे शृणु हितं वचः ।
इतो गच्छस्व भद्रं ते पितुरेव निवेशनम् ॥ ५ ॥

प्रतिपत्स्यति राजा स पिता ते यदनन्तरम्।
तत्र वत्स्यसि कल्याणि सुखं सर्वगुणान्विता ॥ ६ ॥

'भद्रे! घर त्यागकर संन्यासियोंके-से धर्माचरणमें संलग्न होनेकी आवश्यकता नहीं है। तुम हमारा हितकर वचन सुनो, तुम्हारा कल्याण हो। यहाँसे पिताके घरको ही चली जाओ। इसके बाद जो आवश्यक कार्य होगा, उसे तुम्हारे पिता काशिराज सोचे-समझेंगे। कल्याणि! तुम वहाँ सर्वगुणसम्पन्न होकर सुखसे रह सकोगी ॥ ५-६ ॥

न च तेऽन्या गतिर्न्याय्या भवेद् भद्रे यथा पिता।
पतिर्वापि गतिर्नार्याः पिता वा वरवर्णिनि ॥ ७ ॥

'भद्रे! तुम्हारे लिये पिताका आश्रय लेना जैसा न्यायसंगत है, वैसा दूसरा कोई सहारा नहीं है। वरवर्णिनि! नारीके लिये पति अथवा पिता ही गति (आश्रय) है ॥ ७ ॥

गतिः पतिः समस्थाया विषमे च पिता गतिः।
प्रव्रज्या हि सुदुःखेयं सुकुमार्या विशेषतः ॥ ८ ॥

'सुखकी परिस्थितिमें नारीके लिये पति आश्रय होता है और संकटकालमें उसके लिये पिताका आश्रय लेना उत्तम है। विशेषतः तुम सुकुमारी हो, अतः तुम्हारे लिये यह प्रव्रज्या (गृहत्याग) अत्यन्त दुःखसाध्य है ॥ ८ ॥

राजपुत्र्याः प्रकृत्या च कुमार्यास्तव भामिनि।
भद्रे दोषा हि विद्यन्ते बहवो वरवर्णिनि ॥ ९ ॥
आश्रमे वै वसन्त्यास्ते न भवेयुः पितुर्गृहे।

'भामिनि! एक तो तुम राजकुमारी और दूसरे स्वभावतः सुकुमारी हो, अतः सुन्दरी! यहाँ आश्रममें तुम्हारे रहनेसे अनेक दोष प्रकट हो सकते हैं। पिताके घरमें वे दोष नहीं प्राप्त होंगे' ॥ ९½ ॥

ततस्त्वन्येऽब्रुवन् वाक्यं तापसास्तां तपस्विनीम् ॥ १० ॥
त्वामिहैकाकिनीं दृष्ट्वा निर्जने गहने वने।
प्रार्थयिष्यन्ति राजानस्तस्मान्मैवं मनः कृथाः ॥ ११ ॥

तदनन्तर दूसरे तापसोंने उस तपस्विनीसे कहा—'इस निर्जन गहन वनमें तुम्हें अकेली देख कितने ही राजा तुमसे प्रणय-प्रार्थना करेंगे, अतः तुम इस प्रकार तपस्या करनेका विचार न करो' ॥ १०-११ ॥

अम्बोवाच

न शक्यं काशिनगरं पुनर्गन्तुं पितुर्गृहान्।
अवज्ञाता भविष्यामि बान्धवानां न संशयः ॥ १२ ॥

अम्बा बोली—तापसो! अब मेरे लिये पुनः काशिनगरमें पिताके घर लौट जाना असम्भव है; क्योंकि वहाँ मुझे बन्धु-बान्धवोंमें अपमानित होकर रहना पड़ेगा ॥ १२ ॥

उषितास्मि तथा बाल्ये पितुर्वेश्मनि तापसाः।
नाहं गमिष्ये भद्रं वस्तत्र यत्र पिता मम।
तपस्तप्तुमभीप्सामि तापसैः परिरक्षिता ॥ १३ ॥

तापसो! मैं बाल्यावस्थामें पिताके घर रह चुकी हूँ। आपका कल्याण हो। अब मैं वहाँ नहीं जाऊँगी, जहाँ मेरे पिता होंगे। मैं आप तपस्वी जनोंद्वारा सुरक्षित होकर यहाँ तपस्या करनेकी ही इच्छा रखती हूँ ॥ १३ ॥

यथा परेऽपि मे लोके न स्यादेवं महात्ययः।
दौर्भाग्यं तापसश्रेष्ठास्तस्मात् तप्स्याम्यहं तपः ॥ १४ ॥

तापसश्रेष्ठ महर्षियो! मैं तपस्या इसलिये करना चाहती हूँ, जिससे परलोकमें भी मुझे इस प्रकार महान् संकट एवं दुर्भाग्यका सामना न करना पड़े। अतः मैं तपस्या ही करूँगी ॥ १४ ॥

भीष्म उवाच

इत्येवं तेषु विप्रेषु चिन्तयत्सु यथातथम्।
राजर्षिस्तद् वनं प्राप्तस्तपस्वी होत्रवाहनः ॥ १५ ॥

भीष्मजी कहते हैं—इस प्रकार वे ब्राह्मण जब यथावत् चिन्तामें मग्न हो रहे थे, उसी समय तपस्वी राजर्षि होत्रवाहन उस वनमें आ पहुँचे ॥ १५ ॥

ततस्ते तापसाः सर्वे पूजयन्ति स्म तं नृपम्।
पूजाभिः स्वागताद्याभिरासनेनोदकेन च ॥ १६ ॥

तब उन सब तापसोंने स्वागत, कुशल-प्रश्न, आसन-समर्पण और जल-दान आदि अतिथि-सत्कारके उपचारोंद्वारा राजा होत्रवाहनका समादर किया ॥ १६ ॥

तस्योपविष्टस्य सतो विश्रान्तस्योपशृण्वतः।
पुनरेव कथां चक्रुः कन्यां प्रति वनौकसः ॥ १७ ॥

जब वे आसनपर बैठकर विश्राम कर चुके, उस समय उनके सुनते हुए ही वे वनवासी तपस्वी पुनः उस कन्याके विषयमें बातचीत करने लगे ॥ १७ ॥

अम्बायास्तां कथां श्रुत्वा काशिराज्ञश्च भारत।
राजर्षिः स महातेजा बभूवोद्विग्नमानसः ॥ १८ ॥

भारत! अम्बा और काशिराजकी वह चर्चा सुनकर महातेजस्वी राजर्षि होत्रवाहनका चित्त उद्विग्न हो उठा ॥ १८ ॥

तां तथावादिनीं श्रुत्वा दृष्ट्वा च स महातपाः।
राजर्षिः कृपयाऽऽविष्टो महात्मा होत्रवाहनः ॥ १९ ॥

पूर्वोक्त रूपसे दीनतापूर्वक अपना दुःख निवेदन करनेवाली राजकन्या अम्बाकी बातें सुनकर महातपस्वी, महात्मा राजर्षि होत्रवाहन दयासे द्रवित हो गये ॥ १९ ॥

स वेपमान उत्थाय मातुस्तस्याः पिता तदा।
तां कन्यामङ्कमारोप्य पर्यश्वासयत प्रभो ॥ २० ॥

वे अम्बाके नाना थे। राजन्! वे काँपते हुए उठे और उस राजकन्याको गोदमें बिठाकर उसे सान्त्वना देने लगे ॥ २० ॥

स तामपृच्छत् कार्त्स्न्येन व्यसनोत्पत्तिमादितः।
सा च तस्मै यथावृत्तं विस्तरेण न्यवेदयत् ॥ २१ ॥

उन्होंने उसपर संकट आनेकी सारी बातें आरम्भसे ही पूछी और अम्बाने भी जो कुछ जैसे-जैसे हुआ था, वह सारा वृत्तान्त उनसे विस्तारपूर्वक बताया ॥ २१ ॥

ततः स राजर्षिरभूद् दुःखशोकसमन्वितः।
कार्यं च प्रतिपेदे तन्मनसा सुमहातपाः ॥ २२ ॥

तब उन महातपस्वी राजर्षिने दुःख और शोकसे संतप्त हो मन-ही-मन आवश्यक कर्तव्यका निश्चय किया ॥

अब्रवीद् वेपमानश्च कन्यामार्तां सुदुःखितः ।
मा गाः पितुर्गृहं भद्रे मातुस्ते जनको ह्यहम् ॥ २३ ॥

और अत्यन्त दुखी हो काँपते हुए ही उन्होंने उस दुःखिनी कन्यासे इस प्रकार कहा—'भद्रे ! (यदि) तू पिताके घर (नहीं जाना चाहती हो तो) न जा । मैं तेरी माँका पिता हूँ ॥ २३ ॥

दुःखं छिन्द्यामहं ते वै मयि वर्तस्व पुत्रिके ।
पर्याप्तं ते मनो वत्से यदेवं परिशुष्यसि ॥ २४ ॥

'बेटी ! मैं तेरा दुःख दूर करूँगा, तू मेरे पास रह । वत्से ! तेरे मनमें बड़ा संताप है, तभी तो इस प्रकार सूखी जा रही है ॥ २४ ॥

गच्छ मद्वचनाद् रामं जामदग्न्यं तपस्विनम् ।
रामस्ते सुमहद् दुःखं शोकं चैवापनेष्यति ॥ २५ ॥

'तू मेरे कहनेसे तपस्यापरायण जमदग्निनन्दन परशुरामजीके पास जा । वे तेरे महान् दुःख और शोकको अवश्य दूर करेंगे ॥ २५ ॥

हनिष्यति रणे भीष्मं न करिष्यति चेद् वचः ।
तं गच्छ भार्गवश्रेष्ठं कालाग्निसमतेजसम् ॥ २६ ॥

'यदि भीष्म उनकी बात नहीं मानेंगे तो वे युद्धमें उन्हें मार डालेंगे । भार्गवश्रेष्ठ परशुराम प्रलयकालकी अग्निके समान तेजस्वी हैं । तू उन्हींकी शरणमें जा ॥ २६ ॥

प्रतिष्ठापयिता स त्वां समे पथि महातपाः ।
ततस्तु सुस्वरं बाष्पमुत्सृजन्ती पुनः पुनः ॥ २७ ॥
अब्रवीत् पितरं मातुः सा तदा होत्रवाहनम् ।
अभिवादयित्वा शिरसा गमिष्ये तव शासनात् ॥ २८ ॥

'वे महातपस्वी राम तुझे न्यायोचित मार्गपर प्रतिष्ठित करेंगे ।' यह सुनकर अम्बा बारंबार आँसू बहाती हुई अपने नाना होत्रवाहनको मस्तक नवाकर प्रणाम करके मधुर स्वरमें इस प्रकार बोली—'नानाजी ! मैं आपकी आज्ञासे वहाँ अवश्य जाऊँगी ॥ २७-२८ ॥

अपि नामाद्य पश्येयमार्यं तं लोकविश्रुतम् ।
कथं च तीव्रं दुःखं मे नाशयिष्यति भार्गवः ।
एतदिच्छाम्यहं ज्ञातुं यथा यास्यामि तत्र वै ॥ २९ ॥

'परंतु मैं आज उन विश्वविख्यात श्रेष्ठ महात्माका दर्शन कैसे कर सकूँगी और वे भृगुनन्दन परशुरामजी मेरे इस दुःसह दुःखका नाश किस प्रकार करेंगे ? मैं यह सब जानना चाहती हूँ, जिससे वहाँ जा सकूँ' ॥ २९ ॥

होत्रवाहन उवाच

रामं द्रक्ष्यसि भद्रे त्वं जामदग्न्यं महावने ।
उग्रे तपसि वर्तन्तं सत्यसंधं महाबलम् ॥ ३० ॥

होत्रवाहन बोले—भद्रे ! जमदग्निनन्दन परशुराम एक महान् वनमें उग्र तपस्या कर रहे हैं । वे महान् शक्तिशाली और सत्यप्रतिज्ञ हैं । तुझे अवश्य ही उनका दर्शन प्राप्त होगा ॥ ३० ॥

महेन्द्रं वै गिरिश्रेष्ठं रामो नित्यमुपास्ति ह ।
ऋषयो वेदविद्वांसो गन्धर्वाप्सरसस्तथा ॥ ३१ ॥

परशुरामजी सदा पर्वतश्रेष्ठ महेन्द्रपर रहा करते हैं । वहाँ वेदवेत्ता महर्षि, गन्धर्व तथा अप्सराओंका भी निवास है ॥

तत्र गच्छस्व भद्रं ते ब्रूयाश्चैनं वचो मम ।
अभिवाद्य च तं मूर्ध्ना तपोवृद्धं दृढव्रतम् ॥ ३२ ॥

बेटी ! तेरा कल्याण हो । तू वहीं जा और उन दृढ़व्रती तपोवृद्ध महात्माको अभिवादन करके पहले उनसे मेरी बात कहना ॥ ३२ ॥

ब्रूयाश्चैनं पुनर्भद्रे यत् ते कार्यं मनीषितम् ।
मयि संकीर्तिते रामः सर्वं तत् ते करिष्यति ॥ ३३ ॥

भद्रे ! तत्पश्चात् तेरे मनमें जो अभीष्ट कार्य है वह सब उनसे निवेदन करना । मेरा नाम लेनेपर परशुरामजी तेरा सब कार्य करेंगे ॥ ३३ ॥

मम रामः सखा वत्से प्रीतियुक्तः सुहृच्च मे ।
जमदग्निसुतो वीरः सर्वशस्त्रभृतां वरः ॥ ३४ ॥

वत्से ! सम्पूर्ण शस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ जमदग्निनन्दन वीरवर परशुराम मेरे सखा और प्रेमी सुहृद् हैं ॥ ३४ ॥

एवं ब्रुवति कन्यां तु पार्थिवे होत्रवाहने ।
अकृतव्रणः प्रादुरासीद् रामस्यानुचरः प्रियः ॥ ३५ ॥

राजा होत्रवाहन जब राजकन्या अम्बासे इस प्रकार कह रहे थे, उसी समय परशुरामजीके प्रिय सेवक अकृतव्रण वहाँ प्रकट हुए ॥ ३५ ॥

ततस्ते मुनयः सर्वे समुत्तस्थुः सहस्रशः ।
स च राजा वयोवृद्धः सृञ्जयो होत्रवाहनः ॥ ३६ ॥

उन्हें देखते ही वे सहस्रों मुनि तथा सृंजयवंशी वयोवृद्ध राजा होत्रवाहन सभी उठकर खड़े हो गये ॥ ३६ ॥

ततो दृष्ट्वा कृतातिथ्यमन्योन्यं ते वनौकसः ।
सहिता भरतश्रेष्ठ निषेदुः परिवार्य तम् ॥ ३७ ॥

भरतश्रेष्ठ ! तदनन्तर उनका आदर-सत्कार किया गया; फिर वे वनवासी महर्षि एक दूसरेकी ओर देखते हुए एक साथ उन्हें घेरकर बैठे ॥ ३७ ॥

ततस्ते कथयामासुः कथास्तास्ता मनोरमाः ।
धन्या दिव्याश्च राजेन्द्र प्रीतिहर्षमुदा युताः ॥ ३८ ॥

राजेन्द्र ! तत्पश्चात् वे सब लोग प्रेम और हर्षके साथ दिव्य, धन्य एवं मनोरम वार्तालाप करने लगे ॥ ३८ ॥

ततः कथान्ते राजर्षिर्महात्मा होत्रवाहनः ।
रामं श्रेष्ठं महर्षीणामपृच्छदकृतव्रणम् ॥ ३९॥

बातचीत समाप्त होनेपर राजर्षि महात्मा होत्रवाहनने महर्षियोंमें श्रेष्ठ परशुरामजीके विषयमें अकृतव्रणसे पूछा—॥

क सम्प्रति महाबाहो जामदग्न्यः प्रतापवान् ।
अकृतव्रण शक्यो वै द्रष्टुं वेदविदां वरः ॥ ४० ॥

'महाबाहु अकृतव्रण ! इस समय वेदवेत्ताओंमें श्रेष्ठ और प्रतापी जमदग्निनन्दन परशुरामजीका दर्शन कहाँ हो सकता है ?'॥

अकृतव्रण उवाच

भवन्तमेव सततं रामः कीर्तयति प्रभो।
सृञ्जयो मे प्रियसखो राजर्षिरिति पार्थिव॥ ४१॥

अकृतव्रणने कहा—राजन् ! परशुरामजी तो सदा आपकी ही चर्चा किया करते हैं। उनका कहना है कि सृंजयवंशी राजर्षि होत्रवाहन मेरे प्रिय सखा हैं॥ ४१॥

इह रामः प्रभाते श्वो भवितेति मतिर्मम।
द्रष्टास्येनमिहायान्तं तत्र दर्शनकाङ्क्षया॥ ४२॥

मेरा विश्वास है कि कल सबेरेतक परशुरामजी यहाँ उपस्थित हो जायँगे। वे आपसे ही मिलनेके लिये आ रहे हैं। अतः आप यहीं उनका दर्शन कीजियेगा॥ ४२॥

इयं च कन्या राजर्षे किमर्थं वनमागता।
कस्य चेयं तव च का भवतीच्छामि वेदितुम्॥ ४३॥

राजर्षे ! मैं यह जानना चाहता हूँ कि यह कन्या किस लिये वनमें आयी है ? यह किसकी पुत्री है और आपकी क्या लगती है ?॥ ४३॥

होत्रवाहन उवाच

दौहित्रीयं मम विभो काशिराजसुता प्रिया।
ज्येष्ठा स्वयंवरे तस्थौ भगिनीभ्यां सहानघ॥ ४४॥
इयमम्बेति विख्याता ज्येष्ठा काशिपतेः सुता।
अम्बिकाम्बालिके कन्ये कनीयस्यौ तपोधन॥ ४५॥

होत्रवाहन बोले—प्रभो ! यह मेरी दौहित्री (पुत्रीकी पुत्री) है। अनघ ! काशिराजकी परमप्रिय ज्येष्ठ पुत्री अपनी दो छोटी बहिनोंके साथ स्वयंवरमें उपस्थित हुई थी। उनमेंसे यही अम्बा नामसे विख्यात काशिराजकी ज्येष्ठ पुत्री है। तपोधन ! इसकी दोनों छोटी बहिनें अम्बिका और अम्बालिका कहलाती हैं॥ ४४-४५॥

समेतं पार्थिवं क्षत्रं काशिपुर्यां ततोऽभवत्।
कन्यानिमित्तं विप्रर्षे तत्रासीदुत्सवो महान्॥ ४६॥

ब्रह्मर्षे ! काशीपुरीमें इन्हीं कन्याओंके लिये भूमण्डलका समस्त क्षत्रियसमुदाय एकत्र हुआ था। उस अवसरपर वहाँ महान् स्वयंवरोत्सवका आयोजन किया गया था॥ ४६॥

ततः किल महावीर्यो भीष्मः शान्तनवो नृपान्।
अधिक्षिप्य महातेजास्तिस्रः कन्या जहार ताः॥ ४७॥

कहते हैं उस अवसरपर महातेजस्वी और महापराक्रमी शान्तनुनन्दन भीष्म सब राजाओंको जीतकर इन तीनों कन्याओंको हर लाये॥ ४७॥

निर्जित्य पृथिवीपालानथ भीष्मो गजाह्वयम्।
आजगाम विशुद्धात्मा कन्याभिः सह भारतः॥ ४८॥

भरतनन्दन भीष्मका हृदय इन कन्याओंके प्रति सर्वथा शुद्ध था। वे समस्त भूपालोंको परास्त करके कन्याओंको साथ लिये हस्तिनापुरमें आये॥ ४८॥

सत्यवत्यै निवेद्याथ विवाहं समनन्तरम्।
भ्रातुर्विचित्रवीर्यस्य समाज्ञापयत प्रभुः॥ ४९॥

वहाँ आकर शक्तिशाली भीष्मने सत्यवतीको ये कन्याएँ सौंप दीं और इनके साथ अपने छोटे भाई विचित्रवीर्यका विवाह करनेकी आज्ञा दे दी॥ ४९॥

तं तु वैवाहिकं दृष्ट्वा कन्येयं समुपार्जितम्।
अब्रवीत् तत्र गाङ्गेयं मन्त्रिमध्ये द्विजर्षभ॥ ५०॥

द्विजश्रेष्ठ ! वहाँ वैवाहिक आयोजन आरम्भ हुआ देख यह कन्या मन्त्रियोंके बीचमें गङ्गानन्दन भीष्मसे बोली—॥

मया शाल्वपतिर्वीरो मनसाभिवृतः पतिः।
न मामर्हसि धर्मज्ञ दातुं भ्रात्रेऽन्यमानसाम्॥ ५१॥

'धर्मज्ञ ! मैंने मन-ही-मन वीरवर शाल्वराजको अपना पति चुन लिया है; अतः मेरा मन अन्यत्र अनुरक्त होनेके कारण आपको अपने भाईके साथ मेरा विवाह नहीं करना चाहिये'॥ ५१॥

तच्छ्रुत्वा वचनं भीष्मः सम्मन्त्र्य सह मन्त्रिभिः।
निश्चित्य विससर्जेमां सत्यवत्या मते स्थितः॥ ५२॥

अम्बाका यह वचन सुनकर भीष्मने मन्त्रियोंके साथ सलाह करके माता सत्यवतीकी सम्मति प्राप्त करके एक निश्चयपर पहुँचकर इस कन्याको छोड़ दिया॥ ५२॥

अनुज्ञाता तु भीष्मेण शाल्वं सौभपतिं ततः।
कन्येयं मुदिता तत्र काले वचनमब्रवीत्॥ ५३॥

भीष्मकी आज्ञा पाकर यह कन्या मन-ही-मन अत्यन्त प्रसन्न हो सौभ विमानके स्वामी शाल्वके यहाँ गयी और वहाँ उस समय इस प्रकार बोली—॥ ५३॥

विसर्जितास्मि भीष्मेण धर्मं मां प्रतिपादय।
मनसाभिवृतः पूर्वं मया त्वं पार्थिवर्षभ॥ ५४॥

'नृपश्रेष्ठ ! भीष्मने मुझे छोड़ दिया है; क्योंकि पूर्वकालमें मैंने अपने मनसे आपको ही पति चुन लिया था, अतः आप मुझे धर्मपालनका अवसर दें'॥ ५४॥

प्रत्याचख्यौ च शाल्वोऽस्याश्चारित्रस्याभिशङ्कितः।
सेयं तपोवनं प्राप्ता तापस्येऽभिरता भृशम्॥ ५५॥

शाल्वराजको इसके चरित्रपर संदेह हुआ; अतः उसने इसके प्रस्तावको ठुकरा दिया है। इस कारण तपस्यामें अत्यन्त अनुरक्त होकर यह इस तपोवनमें आयी है॥ ५५॥

मया च प्रत्यभिज्ञाता वंशस्य परिकीर्तनात्।
अस्य दुःखस्य चोत्पत्तिं भीष्ममेवेह मन्यते॥ ५६॥

इसके कुलका परिचय प्राप्त होनेसे मैंने इसे पहचाना है। यह अपने इस दुःखकी प्राप्तिमें भीष्मको ही कारण मानती है॥

अम्बोवाच

भगवन्नेवमेवेह यथाऽऽह पृथिवीपतिः।
शरीरकर्ता मातुर्मे सृञ्जयो होत्रवाहनः॥ ५७॥

अम्बा बोली—भगवन् ! जैसा कि मेरी माताके पिता संजयवंशी महाराज होत्रवाहनने कहा है, ठीक ऐसी

ही मेरी परिस्थिति है ॥ ५७ ॥

न ह्युत्सहे स्वनगरं प्रतियातुं तपोधन ।
अपमानभयाच्चैव व्रीडया च महामुने ॥ ५८ ॥

तपोधन ! महामुने ! लज्जा और अपमानके भयसे अपने नगरको जानेके लिये मेरे मनमें उत्साह नहीं है ॥ ५८ ॥

यत् तु मां भगवान् रामो वक्ष्यति द्विजसत्तम ।
तन्मे कार्यतमं कार्यमिति मे भगवन् मतिः ॥ ५९ ॥

भगवन् ! द्विजश्रेष्ठ ! अब भगवान् परशुराम मुझसे जो कुछ कहेंगे, वही मेरे लिये सर्वोत्तम कर्तव्य होगा; यही मैंने निश्चय किया है ॥ ५९ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि अम्बोपाख्यानपर्वणि होत्रवाहनाम्बासंवादे षट्सप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १७६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत अम्बोपाख्यानपर्वमें अम्बाहोत्रवाहनसंवादविषयक एक सौ छिहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १७६ ॥

सप्तसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः

अकृतव्रण और परशुरामजीकी अम्बासे बातचीत

अकृतव्रण उवाच

दुःखद्वयमिदं भद्रे कतरस्य चिकीर्षसि ।
प्रतिकर्तव्यमबले तत् त्वं वत्से वदस्व मे ॥ १ ॥

अकृतव्रणने कहा—भद्रे ! तुम्हें दुःख देनेवाले दो कारण (भीष्म और शाल्व) उपस्थित हैं । वत्से ! तुम इन दोनोंमेंसे किससे बदला लेनेकी इच्छा रखती हो ? यह मुझे बताओ ॥ १ ॥

यदि सौभपतिर्भद्रे नियोक्तव्यो मतस्तव ।
नियोक्ष्यति महात्मा स रामस्त्वद्धितकाम्यया ॥ २ ॥

भद्रे ! यदि तुम्हारा यह विचार हो कि सौभपति शाल्वराजको ही विवाहके लिये विवश करना चाहिये तो महात्मा परशुराम तुम्हारे हितकी इच्छासे शाल्वराजको अवश्य इस कार्यमें नियुक्त करेंगे ॥ २ ॥

अथापगेयं भीष्मं त्वं रामेणेच्छसि धीमता ।
रणे विनिर्जितं द्रष्टुं कुर्यात् तदपि भार्गवः ॥ ३ ॥

अथवा यदि तुम गङ्गानन्दन भीष्मको बुद्धिमान् परशुरामजीके द्वारा युद्धमें पराजित देखना चाहती हो तो वे महात्मा भार्गव यह भी कर सकते हैं ॥ ३ ॥

सृञ्जयस्य वचः श्रुत्वा तव चैव शुचिस्मिते ।
यदत्र ते भृशं कार्यं तदद्यैव विचिन्त्यताम् ॥ ४ ॥

शुचिस्मिते ! सृंजयवंशी राजा होत्रवाहनकी बात सुनकर और अपना विचार प्रकट करके जो कार्य तुम्हें अत्यन्त आवश्यक प्रतीत हो उसका आज ही विचार कर लो ॥ ४ ॥

अम्बोवाच

अपनीतास्मि भीष्मेण भगवन्नविजानता ।
नाभिजानाति मे भीष्मो ब्रह्मन् शाल्वगतं मनः ॥ ५ ॥

अम्बा बोली—भगवन् ! भीष्म बिना जाने-बूझे मुझे हर लाये थे । ब्रह्मन् ! उन्हें इस बातका पता नहीं था कि मेरा मन शाल्वमें अनुरक्त है ॥ ५ ॥

एतद् विचार्य मनसा भवानेतद् विनिश्चयम् ।
विचिनोतु यथान्यायं विधानं क्रियतां तथा ॥ ६ ॥

इस बातपर मन-ही-मन विचार करके आप ही कुछ निश्चय करें और जो न्यायसंगत प्रतीत हो, वही कार्य करें ॥

भीष्मे वा कुरुशार्दूले शाल्वराजेऽथवा पुनः ।
उभयोरेव वा ब्रह्मन् युक्तं यत् तत् समाचर ॥ ७ ॥

ब्रह्मन् ! कुरुश्रेष्ठ भीष्मके साथ अथवा शाल्वराजके साथ अथवा दोनोंके ही साथ जो उचित बर्ताव हो, वह करें ॥ ७ ॥

निवेदितं मया ह्येतद् दुःखमूलं यथातथम् ।
विधानं तत्र भगवन् कर्तुमर्हसि युक्तितः ॥ ८ ॥

मैंने अपने दुःखके इस मूल कारणको यथार्थरूपसे निवेदन कर दिया । भगवन् ! अब आप अपनी युक्तिसे ही इस विषयमें न्यायोचित कार्य करें ॥ ८ ॥

अकृतव्रण उवाच

उपपन्नमिदं भद्रे यदेवं वरवर्णिनि ।
धर्मं प्रति वचो ब्रूयाः शृणु चेदं वचो मम ॥ ९ ॥

अकृतव्रण बोले—भद्रे ! तुम जो इस प्रकार धर्मानुकूल बात कहती हो, यही तुम्हारे लिये उचित है । वरवर्णिनि ! अब मेरी यह बात सुनो ॥ ९ ॥

यदि त्वामापगेयो वै न नयेद् गजसाह्वयम् ।
शाल्वस्त्वां शिरसा भीरु गृह्णीयाद् रामचोदितः ॥ १० ॥

भीरु ! यदि गङ्गानन्दन भीष्म तुम्हें हस्तिनापुर न ले जाते तो राजा शाल्व परशुरामजीके कहनेपर तुम्हें आदरपूर्वक स्वीकार कर लेता ॥ १० ॥

तेन त्वं निर्जिता भद्रे यस्मान्नीतासि भाविनि ।
संशयः शाल्वराजस्य तेन त्वयि सुमध्यमे ॥ ११ ॥

परंतु भद्रे ! भीष्म तुम्हें जीतकर अपने साथ ले गये । भाविनि ! सुमध्यमे ! यही कारण है कि शाल्वराजके मनमें तुम्हारे प्रति संशय उत्पन्न हो गया है ॥ ११ ॥

भीष्मः पुरुषमानी च जितकाशी तथैव च ।
तस्मात् प्रतिक्रिया युक्ता भीष्मे कारयितुं तव ॥ १२ ॥

भीष्मको अपने पुरुषार्थका अभिमान है और वे इस समय अपनी विजयसे उल्लसित हो रहे हैं । अतः भीष्मसे ही बदला लेना तुम्हारे लिये उचित होगा ॥ १२ ॥

अम्बोवाच

ममाप्येष सदा ब्रह्मन् हृदि कामोऽभिवर्तते ।
घातयेयं यदि रणे भीष्ममित्येव नित्यदा ॥ १३ ॥

भीष्मं वा शाल्वराजं वा यं वा दोषेण गच्छसि ।
प्रशाधि तं महाबाहो यत्कृतेऽहं सुदुःखिता ॥ १४ ॥

अम्बा बोली—ब्रह्मन् ! मेरे मनमें भी सदा यह इच्छा बनी रहती है कि मैं युद्धमें भीष्मका वध करा दूँ। महाबाहो ! आप भीष्मको या शाल्वराजको जिसे भी दोषी समझते हों, उसीको दण्ड दीजिये, जिसके कारण मैं अत्यन्त दुःखमें पड़ गयी हूँ ॥ १३-१४ ॥

भीष्म उवाच

एवं कथयतामेव तेषां स दिवसो गतः ।
रात्रिश्च भरतश्रेष्ठ सुखशीतोष्णमारुता ॥ १५ ॥

भीष्मजी कहते हैं—भरतश्रेष्ट! इस प्रकार बातचीत करते हुए उन सब लोगोंका वह दिन बीत गया। सुखदायिनी सरदी, गर्मी और हवासे युक्त रात भी समाप्त हो गयी ॥१५॥

ततो रामः प्रादुरासीत् प्रज्वलन्निव तेजसा ।
शिष्यैः परिवृतो राजन् जटाचीरधरो मुनिः ॥ १६ ॥

राजन् ! तदनन्तर अपने शिष्योंसे घिरे हुए जटावल्कलधारी मुनिवर परशुरामजी वहाँ प्रकट हुए। वे अपने तेजके कारण प्रज्वलित-से हो रहे थे ॥ १६ ॥

धनुष्पाणिरदीनात्मा खड्गं बिभ्रत् परश्वधी ।
विरजा राजशार्दूल सृञ्जयं सोऽभ्ययान्नृपम् ॥ १७ ॥

नृपश्रेष्ठ ! उनके हृदयमें दीनताका नाम नहीं था। उन्होंने अपने हाथोंमें धनुष, खड्ग और फरसा ले रक्खे थे। उनके हृदयसे रजोगुण दूर हो गया था, वे राजा सृंजयके निकट आये ॥ १७ ॥

ततस्तं तापसा दृष्ट्वा स च राजा महातपाः ।
तस्थुः प्राञ्जलयो राजन् सा च कन्या तपस्विनी ॥१८॥

राजन् ! उन्हें देखकर वे तपस्वी मुनि, महातपस्वी नरेश तथा वह तपस्विनी राजकन्या—ये सब-के-सब हाथ जोड़कर खड़े हो गये ॥ १८ ॥

पूजयामासुरव्यग्रा मधुपर्केण भार्गवम् ।
अर्चितश्च यथान्यायं निषसाद सहैव तैः ॥ १९ ॥

फिर उन्होंने स्वस्थचित्त होकर मधुपर्कद्वारा भार्गव परशुरामजीका पूजन किया। विधिपूर्वक पूजित होनेपर वे उन्हींके साथ वहाँ बैठे ॥ १९ ॥

ततः पूर्वव्यतीतानि कथयन्तौ स्म तावुभौ ।
आसातां जामदग्न्यश्च सृञ्जयश्चैव भारत ॥ २० ॥

भारत ! तत्पश्चात् परशुरामजी और सृंजय (होत्रवाहन) दोनों मित्र पहलेकी बीती बातें कहते हुए एक जगह बैठ गये॥

तथा कथान्ते राजर्षिर्भृगुश्रेष्ठं महाबलम् ।
उवाच मधुरं काले रामं वचनमर्थवत् ॥ २१ ॥

बातचीतके अन्तमें राजर्षि होत्रवाहनने महाबली भृगुश्रेष्ठ परशुरामजीसे मधुर वाणीमें उस समय यह अर्थयुक्त वचन कहा—॥ २१ ॥

रामेयं मम दौहित्री काशिराजसुता प्रभो ।
अस्याः शृणु यथातत्त्वं कार्यं कार्यविशारद ॥ २२ ॥

'कार्यसाधनकुशल प्रभो ! परशुराम ! यह मेरी पुत्रीकी पुत्री काशिराजकी कन्या है। इसका कुछ कार्य है, उसे आप इसीके मुँहसे ठीक-ठीक सुन लें' ॥ २२ ॥

परमं कथ्यतां चेति तां रामः प्रत्यभाषत ।
ततः साभ्यगमद् रामं ज्वलन्तमिव पावकम् ॥ २३ ॥
ततोऽभिवाद्य चरणौ रामस्य शिरसा शुभौ ।
स्पृष्ट्वा पद्मदलाभाभ्यां पाणिभ्यामग्रतः स्थिता ॥ २४ ॥

'बहुत अच्छा, कहो बेटी' इस प्रकार उस कन्याको जब परशुरामजीने प्रेरित किया; तब वह प्रज्वलित अग्निके समान तेजस्वी परशुरामजीके पास आयी और उनके कल्याणकारी चरणोंको सिरसे प्रणाम करके कमलदलके समान सुशोभित होनेवाले दोनों हाथोंसे उनका स्पर्श करती हुई सामने खड़ी हो गयी ॥ २३-२४ ॥

रुरोद सा शोकवती बाष्पव्याकुललोचना ।
प्रपेदे शरणं चैव शरण्यं भृगुनन्दनम् ॥ २५ ॥

उसके नेत्रोंमें आँसू भर आये। वह शोकसे आतुर होकर रोने लगी और सबको शरण देनेवाले भृगुनन्दन परशुरामजीकी शरणमें गयी ॥ २५ ॥

राम उवाच

यथा त्वं सृञ्जयस्यास्य तथा मे त्वं नृपात्मजे ।
ब्रूहि यत् ते मनोदुःखं करिष्ये वचनं तव ॥ २६ ॥

परशुरामजी बोले—राजकुमारी ! जैसे तू इन संजयकी दौहित्री है, उसी प्रकार मेरी भी है। तेरे मनमें जो दुःख है, उसे बता। मैं तेरे कथनानुसार सब कार्य करूँगा ॥ २६ ॥

अम्बोवाच

भगवञ्शरणं त्वाद्य प्रपन्नास्मि महाव्रतम् ।
शोकपङ्कार्णवान्मग्नां घोरादुद्धर मां विभो ॥ २७ ॥

अम्बा बोली—भगवन् ! आप महान् व्रतधारी हैं। आज मैं आपकी शरणमें आयी हूँ। प्रभो ! इस भयंकर शोकसागरमें डूबनेसे मुझे बचाइये ॥ २७ ॥

भीष्म उवाच

तस्याश्च दृष्ट्वा रूपं च वपुश्चाभिनवं पुनः ।
सौकुमार्यं परं चैव रामश्चिन्तापरोऽभवत् ॥ २८ ॥
किमियं वक्ष्यतीत्येवं विममर्श भृगूद्वहः ।
इति दध्यौ चिरं रामः कृपयाभिपरिप्लुतः ॥ २९ ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन् ! उसके सुन्दर रूप, नूतन (तरुण) शरीर तथा अत्यन्त सुकुमारताको देखकर परशुरामजी चिन्तामें पड़ गये कि न जाने यह क्या कहेगी ? उसके प्रति दयाभावसे परिपूर्ण हो भृगुकुलभूषण परशुराम बहुत देरतक उसीके विषयमें चिन्ता करते रहे ॥ २८-२९ ॥

कथ्यतामिति सा भूयो रामेणोक्ता शुचिस्मिता ।
सर्वमेव यथातत्त्वं कथयामास भार्गवे ॥ ३० ॥

तदनन्तर परशुरामजीके पुनः यह कहनेपर कि तुम अपनी

बात कही, पवित्र मुसकानवाली अम्बाने उनसे अपना सब वृत्तान्त ठीक-ठीक बता दिया ॥ ३० ॥

तच्छ्रुत्वा जामदग्न्यस्तु राजपुत्र्या वचस्तदा।
उवाच तां वरारोहां निश्चित्यार्थविनिश्चयम् ॥ ३१ ॥

राजकुमारी अम्बाका यह कथन सुनकर जमदग्निनन्दन परशुरामने क्या करना है, इसका निश्चय करके उस सुन्दर अङ्गोंवाली राजकुमारीसे कहा ॥ ३१ ॥

राम उवाच

प्रेषयिष्यामि भीष्माय कुरुश्रेष्ठाय भाविनि।
करिष्यति वचो मह्यं श्रुत्वा च स नराधिपः ॥ ३२ ॥

परशुरामजी बोले—भाविनि ! मैं तुझे कुरुश्रेष्ठ भीष्मके पास भेजूँगा । नरपति भीष्म सुनते ही मेरी आज्ञाका पालन करेगा ॥ ३२ ॥

न चेत् करिष्यति वचो मयोक्तं जाह्नवीसुतः।
धक्ष्याम्यहं रणे भद्रे सामात्यं शस्त्रतेजसा ॥ ३३ ॥

भद्रे ! यदि गङ्गानन्दन भीष्म मेरी बात नहीं मानेगा तो मैं युद्धमें अस्त्र-शस्त्रोंके तेजसे मन्त्रियोंसहित उसे भस्म कर डालूँगा ॥ ३३ ॥

अथवा ते मतिस्तत्र राजपुत्रि न वर्तते।
यावच्छाल्वपतिं वीरं योजयाम्यत्र कर्मणि ॥ ३४ ॥

अथवा राजकुमारी ! यदि वहाँ जानेका तेरा विचार न हो तो मैं वीर शाल्वराजको ही पहले इस कार्यमें नियुक्त करूँ (उसके साथ तेरा ब्याह करा दूँ) ॥ ३४ ॥

अम्बोवाच

विसर्जिताहं भीष्मेण श्रुत्वैव भृगुनन्दन।
शाल्वराजगतं भावं मम पूर्वं मनीषितम् ॥ ३५ ॥

अम्बा बोली—भृगुनन्दन ! शाल्वराजमें मेरा अनुराग है और मैं पहलेसे ही उन्हें पाना चाहती हूँ । यह सुनते ही भीष्मने मुझे विदा कर दिया था ॥ ३५ ॥

सौभराजमुपेत्याहमवोचं दुर्वचं वचः।
न च मां प्रत्यगृह्णात् स चारित्र्यपरिशङ्कितः ॥ ३६ ॥

तब सौभराजके पास जाकर मैंने उनसे ऐसी बातें कहीं जिन्हें अपने मुँहसे कहना स्त्रीजातिके लिये अत्यन्त दुष्कर होता है; परंतु मेरे चरित्रपर संदेह हो जानेके कारण उसने मुझे स्वीकार नहीं किया ॥ ३६ ॥

एतत् सर्वं विनिश्चित्य स्वबुद्ध्या भृगुनन्दन।
यदत्रौपयिकं कार्यं तच्चिन्तयितुमर्हसि ॥ ३७ ॥

भृगुनन्दन ! इन सब बातोंपर बुद्धिपूर्वक विचार करके जो उचित प्रतीत हो, उसी कार्यकी ओर आप ध्यान दें ॥

मम तु व्यसनस्यास्य भीष्मो मूलं महाव्रतः।
येनाहं वशमानीता समुत्क्षिप्य बलात् तदा ॥ ३८ ॥

मेरी इस विपत्तिका मूल कारण महान् व्रतधारी भीष्म है, जिसने उस समय बलपूर्वक मुझे उठाकर रथपर रख लिया और इस प्रकार मुझे वशमें करके वह हस्तिनापुर ले आया॥

भीष्मं जहि महाबाहो यत्कृते दुःखमीदृशम्।
प्राप्ताहं भृगुशार्दूल चराम्यप्रियमुत्तमम् ॥ ३९ ॥

महाबाहु भृगुसिंह ! आप भीष्मको ही मार डालिये, जिसके कारण मुझे ऐसा दुःख प्राप्त हुआ है और मैं इस प्रकार विवश होकर अत्यन्त अप्रिय आचरणमें प्रवृत्त हुई हूँ॥

स हि लुब्धश्च नीचश्च जितकाशी च भार्गव।
तस्मात् प्रतिक्रिया कर्तुं युक्ता तस्मै त्वयानघ ॥ ४० ॥

निष्पाप भार्गव ! भीष्म लोभी, नीच और विजयोल्लाससे परिपूर्ण है; अतः आपको उसीसे बदला लेना उचित है ॥

एष मे क्रियमाणाया भारतेन तदा विभो।
अभवद्धृदि संकल्पो घातयेयं महाव्रतम् ॥ ४१ ॥

प्रभो ! भरतवंशी भीष्मने जबसे मुझे इस दशामें डाल दिया है, तबसे मेरे हृदयमें यही संकल्प उठता है कि मैं उस महान् व्रतधारीका वध करा दूँ ॥ ४१ ॥

तस्मात् कामं ममाद्येमं राम सम्पादयानघ।
जहि भीष्मं महाबाहो यथा वृत्रं पुरंदरः ॥ ४२ ॥

निष्पाप महाबाहु राम ! आज आप मेरी इसी कामनाको पूर्ण कीजिये । जैसे इन्द्रने वृत्रासुरका वध किया था, उसी प्रकार आप भी भीष्मको मार डालिये ॥ ४२ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि अम्बोपाख्यानपर्वणि रामाम्बासंवादे सप्तसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १७७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत अम्बोपाख्यानपर्वमें अम्बा-परशुराम-संवादविषयक एक सौ सतहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १७७ ॥

अष्टसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः

अम्बा और परशुरामजीका संवाद, अकृतव्रणकी सलाह, परशुराम और भीष्मकी रोषपूर्ण बातचीत तथा उन दोनोंका युद्धके लिये कुरुक्षेत्रमें उतरना

भीष्म उवाच

एवमुक्तस्तदा रामो जहि भीष्ममिति प्रभो।
उवाच रुदतीं कन्यां चोदयन्तीं पुनः पुनः ॥ १ ॥
काश्ये न कामं गृह्णामि शस्त्रं वै वरवर्णिनि।
ऋते ब्रह्मविदां हेतोः किमन्यत् करवाणि ते ॥ २ ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन् ! अम्बाके ऐसा कहनेपर कि प्रभो ! भीष्मको मार डालिये । परशुरामजीने रो-रोकर बार-बार प्रेरणा देनेवाली उस कन्यासे इस प्रकार कहा—'सुन्दरी ! काशिराजकुमारी ! मैं अपनी प्रतिज्ञाके अनुसार किसी वेदवेत्ता ब्राह्मणकी आवश्यकता हो तो उसीके लिये शस्त्र उठाता हूँ । वैसा कारण हुए बिना इच्छानुसार हथियार नहीं उठाता । अतः इस प्रतिज्ञाकी रक्षा करते हुए मैं तेरा दूसरा कौन-सा कार्य करूँ ।१-२।

वाचा भीष्मश्च शाल्वश्च मम राज्ञि वशानुगौ।
भविष्यतोऽनवद्याङ्गि तत् करिष्यामि मा शुचः॥ ३॥

'राजकन्ये ! भीष्म और शाल्व दोनों मेरी आज्ञाके अधीन होंगे। अतः निर्दोष अङ्गोंवाली सुन्दरी ! मैं तेरा कार्य करूँगा। तू शोक न कर॥ ३॥

न तु शस्त्रं ग्रहीष्यामि कथंचिदपि भाविनि।
ऋते नियोगाद् विप्राणामेष मे समयः कृतः॥ ४॥

'भाविनि ! मैं किसी तरह ब्राह्मणोंकी आज्ञाके बिना हथियार नहीं उठाऊँगा, ऐसी मैंने प्रतिज्ञा कर रक्खी है'॥

अम्बोवाच

मम दुःखं भगवता व्यपनेयं यतस्ततः।
तच्च भीष्मप्रसूतं मे तं जहीश्वर मा चिरम्॥ ५॥

अम्बा बोली—भगवन् ! आप जैसे हो सके वैसे ही मेरा दुःख दूर करें। वह दुःख भीष्मने पैदा किया है; अतः प्रभो ! उसीका शीघ्र वध कीजिये॥ ५॥

राम उवाच

काशिकन्ये पुनर्ब्रूहि भीष्मस्ते चरणावुभौ।
शिरसा वन्दनार्होऽपि ग्रहीष्यति गिरा मम॥ ६॥

परशुरामजी बोले—काशिराजकी पुत्री ! तू पुनः सोचकर बता। यद्यपि भीष्म तेरे लिये वन्दनीय है, तथापि मेरे कहनेसे वह तेरे चरणोंको अपने सिरपर उठा लेगा॥ ६॥

अम्बोवाच

जहि भीष्मं रणे राम गर्जन्तमसुरं यथा।
समाहूतो रणे राम मम चेदिच्छसि प्रियम्।
प्रतिश्रुतं च यदपि तत् सत्यं कर्तुमर्हसि॥ ७॥

अम्बा बोली—राम ! यदि आप मेरा प्रिय करना चाहते हैं तो युद्धमें आमन्त्रित हो, असुरके समान गर्जना करनेवाले भीष्मको मार डालिये और आपने जो प्रतिज्ञा कर रक्खी है, उसे भी सत्य कीजिये॥ ७॥

भीष्म उवाच

तयोः संवदतोरेवं राजन् रामाम्बयोस्तदा।
ऋषिः परमधर्मात्मा इदं वचनमब्रवीत्॥ ८॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन् ! परशुराम और अम्बामें जब इस प्रकार बातचीत हो रही थी, उसी समय परम धर्मात्मा ऋषि अकृतव्रणने यह बात कही—॥ ८॥

शरणागतां महाबाहो कन्यां न त्यक्तुमर्हसि।
यदि भीष्मो रणे राम समाहूतस्त्वया मृधे॥ ९॥
निर्जितोऽस्मीति वा ब्रूयात् कुर्याद् वा वचनं तव।
कृतमस्या भवेत् कार्यं कन्याया भृगुनन्दन॥ १०॥

'महाबाहो ! यह कन्या शरणमें आयी है; अतः आपको इसका त्याग नहीं करना चाहिये। भृगुनन्दन राम ! यदि युद्धमें आपके बुलानेपर भीष्म सामने आकर अपनी पराजय स्वीकार करे अथवा आपकी बात ही मान ले तो इस कन्याका कार्य सिद्ध हो जायगा॥ ९-१०॥

वाक्यं सत्यं च ते वीर भविष्यति कृतं विभो।
इयं चापि प्रतिज्ञा ते तदा राम महामुने॥ ११॥
जित्वा वै क्षत्रियान् सर्वान् ब्राह्मणेषु प्रतिश्रुता।
ब्राह्मणः क्षत्रियो वैश्यः शूद्रश्चैव रणे यदि॥ १२॥
ब्रह्मद्विड् भविता तं वै हनिष्यामीति भार्गव।
शरणार्थं प्रपन्नानां भीतानां शरणार्थिनाम्॥ १३॥
न शक्ष्यामि परित्यागं कर्तुं जीवन् कथंचन।
यश्च कृत्स्नं रणे क्षत्रं विजेष्यति समागतम्॥ १४॥
दीप्तात्मानमहं तं च हनिष्यामीति भार्गव।

'महामुने राम ! प्रभो ! ऐसा होनेसे आपकी कही हुई बात सत्य सिद्ध होगी। वीरवर भार्गव ! आपने समस्त क्षत्रियोंको जीतकर ब्राह्मणोंके बीचमें यह प्रतिज्ञा की थी कि यदि कोई ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य अथवा शूद्र ब्राह्मणोंसे द्वेष करेगा तो मैं उसे निश्चय ही मार डालूँगा। साथ ही भयभीत होकर शरणमें आये हुए शरणार्थियोंका परित्याग मैं जीते-जी किसी प्रकार नहीं कर सकूँगा और जो युद्धमें एकत्र हुए सम्पूर्ण क्षत्रियोंको जीत लेगा, उस तेजस्वी पुरुषका भी मैं वध कर डालूँगा॥ ११—१४½॥

स एवं विजयी राम भीष्मः कुरुकुलोद्वहः।
तेन युध्यस्व संग्रामे समेत्य भृगुनन्दन॥ १५॥

'भृगुनन्दन राम ! इस प्रकार कुरुकुलका भार वहन करनेवाला भीष्म समस्त क्षत्रियोंपर विजय पा चुका है; अतः आप संग्राममें उसके सामने जाकर युद्ध कीजिये'॥ १५॥

राम उवाच

स्मराम्यहं पूर्वकृतां प्रतिज्ञामृषिसत्तम।
तथैव च चरिष्यामि यथा साम्नैव लप्स्यते॥ १६॥

परशुरामजी बोले—मुनिश्रेष्ठ ! मुझे अपनी पहलेकी की हुई प्रतिज्ञाका स्मरण है, तथापि मैं ऐसा प्रयत्न करूँगा कि सामनीतिसे ही काम बन जाय॥ १६॥

कार्यमेतन्महद् ब्रह्मन् काशिकन्यामनोगतम्।
गमिष्यामि स्वयं तत्र कन्यामादाय यत्र सः॥ १७॥

ब्रह्मन् ! काशिराजकी कन्याके मनमें जो यह कार्य है, वह महान् है। मैं उसकी सिद्धिके लिये इस कन्याको साथ लेकर स्वयं ही वहाँ जाऊँगा, जहाँ भीष्म है॥ १७॥

यदि भीष्मो रणश्लाघी न करिष्यति मे वचः।
हनिष्याम्येनमुद्रिक्तमिति मे निश्चिता मतिः॥ १८॥

यदि युद्धकी स्पृहा रखनेवाला भीष्म मेरी बात नहीं मानेगा तो मैं उस अभिमानीको मार डालूँगा; यह मेरा निश्चित विचार है॥ १८॥

न हि बाणा मयोत्सृष्टाः सज्जन्तीह शरीरिणाम्।
कायेषु विदितं तुभ्यं पुरा क्षत्रियसंगरे॥ १९॥

मेरे चलाये हुए बाण देहधारियोंके शरीरमें अटकते नहीं हैं। (उन्हें विदीर्ण करके बाहर निकल जाते हैं।) यह बात तुम्हें पूर्वकालमें क्षत्रियोंके साथ होनेवाले युद्धके समय ज्ञात हो चुकी है॥ १९॥

एवमुक्त्वा ततो रामः सह तैर्ब्रह्मवादिभिः।
प्रयाणाय मतिं कृत्वा समुत्तस्थौ महातपाः॥ २०॥

ऐसा कहकर महातपस्वी परशुरामजी उन ब्रह्मवादी महर्षियोंके साथ प्रस्थान करनेका निश्चय करके उसके लिये उद्यत हो गये॥ २०॥

ततस्ते तामुषित्वा तु रजनीं तत्र तापसाः।
हुताग्नयो जप्तजप्याः प्रतस्थुर्मज्जिघांसया॥ २१॥

तत्पश्चात् रातभर वहीं रहकर प्रातःकाल संध्योपासन, गायत्री-जप और अग्निहोत्र करके वे तपस्वी मुनि मेरा वध करनेकी इच्छासे उस आश्रमसे चले॥ २१॥

अभ्यगच्छत् ततो रामः सह तैर्ब्रह्मवादिभिः।
कुरुक्षेत्रं महाराज कन्यया सह भारत॥ २२॥

महाराज भरतनन्दन! फिर उन वेदवादी मुनियोंको साथ ले परशुरामजी राजकन्या अम्बाके साथ कुरुक्षेत्रमें आये॥

न्यविशन्त ततः सर्वे परिगृह्य सरस्वतीम्।
तापसास्ते महात्मानो भृगुश्रेष्ठपुरस्कृताः॥ २३॥

वहाँ भृगुश्रेष्ठ परशुरामजीको आगे करके उन सभी तपस्वी महात्माओंने सरस्वती नदीके तटका आश्रय ले रात्रिमें निवास किया॥ २३॥

भीष्म उवाच

ततस्तृतीये दिवसे संदिदेश व्यवस्थितः।
कुरु प्रियं स मे राजन् प्राप्तोऽस्मीति महाव्रतः॥ २४॥

भीष्मजी कहते हैं—तदनन्तर तीसरे दिन (हस्तिनापुरके बाहर) एक स्थानपर ठहरकर महान् व्रतधारी परशुरामजीने मुझे संदेश दिया—'राजन्! मैं यहाँ आया हूँ। तुम मेरा प्रिय कार्य करो'॥ २४॥

तमागतमहं श्रुत्वा विषयान्तं महाबलम्।
अभ्यगच्छं जवेनाशु प्रीत्या तेजोनिधिं प्रभुम्॥ २५॥

तेजके भण्डार और महाबली भगवान् परशुरामको अपने राज्यकी सीमापर आया हुआ सुनकर मैं बड़ी प्रसन्नताके साथ वेगपूर्वक उनके पास गया॥ २५॥

गां पुरस्कृत्य राजेन्द्र ब्राह्मणैः परिवारितः।
ऋत्विग्भिर्देवकल्पैश्च तथैव च पुरोहितैः॥ २६॥

राजेन्द्र! उस समय एक गौको आगे करके ब्राह्मणोंसे घिरा हुआ मैं देवताओंके समान तेजस्वी ऋत्विजों तथा पुरोहितोंके साथ उनकी सेवामें उपस्थित हुआ॥ २६॥

स मामभिगतं दृष्ट्वा जामदग्न्यः प्रतापवान्।
प्रतिजग्राह तां पूजां वचनं चेदमब्रवीत्॥ २७॥

मुझे अपने समीप आया हुआ देख प्रतापी परशुरामजीने मेरी दी हुई पूजा स्वीकार की और इस प्रकार कहा॥

राम उवाच

भीष्म कां बुद्धिमास्थाय काशिराजसुता तदा।
अकामेन त्वयाऽऽनीता पुनश्चैव विसर्जिता॥ २८॥

परशुरामजी बोले—भीष्म! तुमने किस विचारसे उन दिनों स्वयं पत्नीकी कामनासे रहित होते हुए भी काशिराजकी इस कन्याका अपहरण किया, अपने घर ले आये और पुनः इसे निकाल बाहर किया॥ २८॥

विभ्रंशिता त्वया हीयं धर्मादास्ते यशस्विनी।
परामृष्टां त्वया हीमां को हि गन्तुमिहार्हति॥ २९॥

तुमने इस यशस्विनी राजकुमारीको धर्मसे भ्रष्ट कर दिया है। तुम्हारे द्वारा इसका स्पर्श कर लिया गया है, ऐसी दशामें इसे दूसरा कौन ग्रहण कर सकता है?॥ २९॥

प्रत्याख्याता हि शाल्वेन त्वयाऽऽनीतेति भारत।
तस्मादिमां मन्नियोगात् प्रतिगृह्णीष्व भारत॥ ३०॥

भारत! तुम इसे हरकर लाये थे। इसी कारणसे शाल्वराजने इसके साथ विवाह करनेसे इन्कार कर दिया है; अतः अब तुम मेरी आज्ञासे इसे ग्रहण कर लो॥ ३०॥

स्वधर्मं पुरुषव्याघ्र राजपुत्री लभत्वियम्।
न युक्तस्त्ववमानोऽयं राज्ञां कर्तुं त्वयानघ॥ ३१॥

पुरुषसिंह! तुम्हें ऐसा करना चाहिये, जिससे इस राजकुमारीको स्वधर्मपालनका अवसर प्राप्त हो। अनघ! तुम्हें राजाओंका इस प्रकार अपमान करना उचित नहीं है॥ ३१॥

ततस्तं वै विमनसमुदीक्ष्याहमथाब्रुवम्।
नाहमेनां पुनर्दद्यां ब्रह्मन् भ्रात्रे कथंचन॥ ३२॥

तब मैंने परशुरामजीको उदास देखकर इस प्रकार कहा—'ब्रह्मन्! अब मैं इसका विवाह अपने भाईके साथ किसी प्रकार नहीं कर सकता॥ ३२॥

शाल्वस्याहमिति प्राह पुरा मामेव भार्गव।
मया चैवाभ्यनुज्ञाता गतेयं नगरं प्रति॥ ३३॥

'भृगुनन्दन! इसने पहले मुझसे ही आकर कहा कि मैं शाल्वकी हूँ; तब मैंने इसे जानेकी आज्ञा दे दी और यह शाल्वराजके नगरको चली गयी॥ ३३॥

न भयान्नाप्यनुक्रोशान्नार्थलोभान्न काम्यया।
क्षात्रं धर्ममहं जह्यामिति मे व्रतमाहितम्॥ ३४॥

'मैं भयसे, दयासे, धनके लोभसे तथा और किसी कामनासे भी क्षत्रियधर्मका त्याग नहीं कर सकता, यह मेरा स्वीकार किया हुआ व्रत है'॥ ३४॥

अथ मामब्रवीद् रामः क्रोधपर्याकुलेक्षणः।
न करिष्यसि चेदेतद् वाक्यं मे नरपुङ्गव॥ ३५॥
हनिष्यामि सहामात्यं त्वामद्येति पुनः पुनः।

तब यह सुनकर परशुरामजीके नेत्रोंमें क्रोधका भाव व्याप्त हो गया और वे मुझसे इस प्रकार बोले—'नरश्रेष्ठ! यदि तुम मेरी यह बात नहीं मानोगे तो आज मैं मन्त्रियोंसहित तुम्हें मार डालूँगा।' इस बातको उन्होंने बार-बार दुहराया॥ ३५½॥

संरम्भादब्रवीद् रामः क्रोधपर्याकुलेक्षणः॥ ३६॥
तमहं गीर्भिरिष्टाभिः पुनः पुनररिंदम।
अयाचं भृगुशार्दूलं न चैव प्रशशाम सः॥ ३७॥

शत्रुदमन दुर्योधन! परशुरामजीने क्रोधभरे नेत्रोंसे

देखते हुए बड़े रोषावेशमें आकर यह बात कही थी, तथापि मैं प्रिय वचनोंद्वारा उन भृगुश्रेष्ठ महात्मासे बार-बार शान्त रहनेके लिये प्रार्थना करता रहा; पर वे किसी प्रकार शान्त न हो सके ॥ ३६-३७ ॥

प्रणम्य तमहं मूर्ध्ना भूयो ब्राह्मणसत्तमम् ।
अब्रुवं कारणं किं तद् यत् त्वं युद्धं मयेच्छसि ॥ ३८ ॥
इष्वस्त्रं मम बालस्य भवतैव चतुर्विधम् ।
उपदिष्टं महाबाहो शिष्योऽस्मि तव भार्गव ॥ ३९ ॥

तब मैंने उन ब्राह्मणशिरोमणिके चरणोंमें मस्तक झुकाकर पुनः प्रणाम किया और इस प्रकार पूछा—'भगवन् ! क्या कारण है कि आप मेरे साथ युद्ध करना चाहते हैं ? बाल्यावस्थामें आपने ही मुझे चार प्रकारके धनुर्वेदकी शिक्षा दी है । महाबाहु भार्गव ! मैं तो आपका शिष्य हूँ' ॥ ३८-३९॥

ततो मामब्रवीद् रामः क्रोधसंरक्तलोचनः ।
जानीषे मां गुरुं भीष्म गृह्णासीमां न चैव ह ॥ ४० ॥
सुतां काश्यस्य कौरव्य मत्प्रियार्थं महामते ।
न हि ते विद्यते शान्तिरन्यथा कुरुनन्दन ॥ ४१ ॥

तब परशुरामजीने क्रोधसे लाल आँखें करके मुझसे कहा—'महामते भीष्म ! तुम मुझे अपना गुरु तो समझते हो; परंतु मेरा प्रिय करनेके लिये काशिराजकी इस कन्याको ग्रहण नहीं करते हो; किंतु कुरुनन्दन ! ऐसा किये बिना तुम्हें शान्ति नहीं मिल सकती ॥ ४०-४१ ॥

गृहाणेमां महाबाहो रक्षस्व कुलमात्मनः ।
त्वया विभ्रंशिता हीयं भर्तारं नाधिगच्छति ॥ ४२ ॥

'महाबाहो ! इसे ग्रहण कर लो और इस प्रकार अपने कुलकी रक्षा करो । तुम्हारे द्वारा अपनी मर्यादासे गिर जानेके कारण इसे पतिकी प्राप्ति नहीं हो रही है' ॥ ४२ ॥

तथा ब्रुवन्तं तमहं रामं परपुरंजयम् ।
नैतदेवं पुनर्भावि ब्रह्मर्षे किं श्रमेण ते ॥ ४३ ॥

ऐसी बातें करते हुए शत्रुनगरविजयी परशुरामजीसे मैंने स्पष्ट कह दिया—'ब्रह्मर्षे ! अब फिर ऐसी बात नहीं हो सकती । इस विषयमें आपके परिश्रमसे क्या होगा ? ॥४३॥

गुरुत्वं त्वयि सम्प्रेक्ष्य जामदग्न्य पुरातनम् ।
प्रसादये त्वां भगवंस्त्यक्तैषा तु पुरा मया ॥ ४४ ॥

'जमदग्निनन्दन ! भगवन् ! आप मेरे प्राचीन गुरु हैं, यह सोचकर ही मैं आपको प्रसन्न करनेकी चेष्टा कर रहा हूँ। इस अम्बाको तो मैंने पहले ही त्याग दिया था ॥ ४४ ॥

को जातु परभावां हि नारीं व्यालीमिव स्थिताम् ।
वासयेत गृहे जानन् स्त्रीणां दोषो महात्ययः ॥ ४५ ॥

'दूसरेके प्रति अनुराग रखनेवाली नारी सर्पिणीके समान भयंकर होती है । कौन ऐसा पुरुष होगा, जो जान-बूझकर उसे कभी भी अपने घरमें स्थान देगा; क्योंकि स्त्रियोंका (परपुरुषमें अनुरागरूप) दोष महान् अनर्थका कारण होता है ॥

न भयाद् वासवस्यापि धर्मं जह्यां महाव्रत ।
प्रसीद मा वा यद् वा ते कार्यं तत् कुरु मा चिरम् ॥ ४६ ॥

'महान् व्रतधारी राम ! मैं इन्द्रके भी भयसे धर्मका त्याग नहीं कर सकता । आप प्रसन्न हों या न हों । आपको जो कुछ करना हो, शीघ्र कर डालिये ॥ ४६ ॥

अयं चापि विशुद्धात्मन् पुराणे श्रूयते विभो ।
मरुत्तेन महाबुद्धे गीतः श्लोको महात्मना ॥ ४७ ॥
"गुरोरप्यवलिप्तस्य कार्याकार्यमजानतः ।
उत्पथप्रतिपन्नस्य परित्यागो विधीयते" ॥ ४८ ॥

'विशुद्ध हृदयवाले परम बुद्धिमान् राम ! पुराणमें महात्मा मरुत्तके द्वारा कहा हुआ यह श्लोक सुननेमें आता है कि यदि गुरु भी गर्वमें आकर कर्तव्य और अकर्तव्यको न समझते हुए कुपथका आश्रय ले तो उसका परित्याग कर दिया जाता है॥

स त्वं गुरुरिति प्रेम्णा मया सम्मानितो भृशम् ।
गुरुवृत्तिं न जानीषे तस्माद् योत्स्यामि वै त्वया ॥४९॥

'आप मेरे गुरु हैं, यह समझकर मैंने प्रेमपूर्वक आपका अधिक-से-अधिक सम्मान किया है; परंतु आप गुरुका-सा बर्ताव नहीं जानते; अतः मैं आपके साथ युद्ध करूँगा ॥४९॥

गुरुं न हन्यां समरे ब्राह्मणं च विशेषतः ।
विशेषतस्तपोवृद्धमेवं क्षान्तं मया तव ॥ ५० ॥

'एक तो आप गुरु हैं । उसमें भी विशेषतः ब्राह्मण हैं । उसपर भी विशेष बात यह है कि आप तपस्यामें बढ़े-चढ़े हैं । अतः आप-जैसे पुरुषको मैं कैसे मार सकता हूँ ! यही सोचकर मैंने अबतक आपके तीक्ष्ण बर्तावको चुपचाप सह लिया॥

उद्यतेषुमथो दृष्ट्वा ब्राह्मणं क्षत्रबन्धुवत् ।
यो हन्यात् समरे क्रुद्धं युध्यन्तमपलायिनम् ॥ ५१ ॥
ब्रह्महत्या न तस्य स्यादिति धर्मेषु निश्चयः ।
क्षत्रियाणां स्थितो धर्मे क्षत्रियोऽस्मि तपोधन ॥ ५२ ॥

'यदि ब्राह्मण भी क्षत्रियकी भाँति धनुष-बाण उठाकर युद्धमें क्रोधपूर्वक सामने आकर युद्ध करने लगे और पीठ दिखाकर भागे नहीं तो उसे इस दशामें देखकर जो योद्धा मार डालता है, उसे ब्रह्महत्याका दोष नहीं लगता, यह धर्मशास्त्रोंका निर्णय है । तपोधन ! मैं क्षत्रिय हूँ और क्षत्रियोंके ही धर्ममें स्थित हूँ ॥ ५१-५२ ॥

यो यथा वर्तते यस्मिंस्तस्मिन्नेव प्रवर्तयन् ।
नाधर्मं समवाप्नोति न चाश्रेयश्च विन्दति ॥ ५३ ॥

'जो जैसा बर्ताव करता है, उसके साथ वैसा ही बर्ताव करनेवाला पुरुष न तो अधर्मको प्राप्त होता है और न अमङ्गलका ही भागी होता है ॥ ५३ ॥

अर्थे वा यदि वा धर्मे समर्थो देशकालवित् ।
अर्थसंशयमापन्नः श्रेयान्निःसंशयो नरः ॥ ५४ ॥

'अर्थ (लौकिक कृत्य) और धर्मके विवेचनमें कुशल तथा देश-कालके तत्त्वको जाननेवाला पुरुष यदि अर्थके विषयमें संशय उत्पन्न होनेपर उसे छोड़कर संशयशून्य हृदयसे केवल धर्मका ही अनुष्ठान करे तो वह श्रेष्ठ माना गया है ॥ ५४ ॥

यस्मात् संशयितेऽप्यर्थेऽयथान्यायं प्रवर्तसे।
तस्माद् योत्स्यामि सहितस्त्वया राम महाहवे ॥ ५५ ॥

'राम! 'अम्बा ग्रहण करने योग्य है या नहीं' यह संशयग्रस्त विषय है तो भी आप इसे ग्रहण करनेके लिये मुझसे न्यायोचित बर्ताव नहीं कर रहे हैं; इसलिये महान् समराङ्गणमें आपके साथ युद्ध करूँगा ॥ ५५ ॥

पश्य मे बाहुवीर्यं च विक्रमं चातिमानुषम्।
एवं गतेऽपि तु मया यच्छक्यं भृगुनन्दन ॥ ५६ ॥
तत् करिष्ये कुरुक्षेत्रे योत्स्ये विप्र त्वया सह।
द्वन्द्वे राम यथेष्टं मे सज्जीभव महाद्युते ॥ ५७ ॥

'आप उस समय मेरे बाहुबल और अलौकिक पराक्रमको देखियेगा। भृगुनन्दन! ऐसी स्थितिमें भी मैं जो कुछ कर सकता हूँ, उसे अवश्य करूँगा। विप्रवर! मैं कुरुक्षेत्रमें चलकर आपके साथ युद्ध करूँगा। महातेजस्वी राम! आप द्वन्द्वयुद्धके लिये इच्छानुसार तैयारी कर लीजिये ॥ ५६-५७ ॥

तत्र त्वं निहतो राम मया शरशतार्दितः।
प्राप्स्यसे निर्जिताँल्लोकान् शस्त्रपूतो महारणे ॥ ५८ ॥

'राम! उस महान् युद्धमें मेरे सैकड़ों बाणोंसे पीड़ित एवं शस्त्रपूत हो मारे जानेपर आप पुण्य कर्मोंद्वारा जीते हुए दिव्य लोकोंको प्राप्त करेंगे ॥ ५८ ॥

स गच्छ विनिवर्तस्व कुरुक्षेत्रं रणप्रिय।
तत्रैष्यामि महाबाहो युद्धाय त्वां तपोधन ॥ ५९ ॥

'युद्धप्रिय महाबाहु तपोधन! अब आप लौटिये और कुरुक्षेत्रमें ही चलिये। मैं युद्धके लिये वहीं आपके पास आऊँगा॥

अपि यत्र त्वया राम कृतं शौचं पुरा पितुः।
तत्राहमपि हत्वा त्वां शौचं कर्तास्मि भार्गव ॥ ६० ॥

'भृगुनन्दन परशुराम! जहाँ पूर्वकालमें अपने पिताको अञ्जलि-दान देकर आपने आत्मशुद्धिका अनुभव किया था, वहीं मैं भी आपको मारकर आत्मशुद्धि करूँगा ॥ ६० ॥

तत्र राम समागच्छ त्वरितं युद्धदुर्मद।
व्यपनेष्यामि ते दर्पं पौराणं ब्राह्मणब्रुव ॥ ६१ ॥

'ब्राह्मण कहलानेवाले रणदुर्मद राम! आप तुरंत कुरुक्षेत्रमें पधारिये। मैं वहीं आकर आपके पुरातन दर्पका दलन करूँगा ॥ ६१ ॥

यच्चापि कत्थसे राम बहुशः परिषत्सु वै।
निर्जिताः क्षत्रिया लोके मयैकेनेति तच्छृणु ॥ ६२ ॥

'राम! आप जो बहुत बार भरी सभाओंमें अपनी प्रशंसाके लिये यह कहा करते हैं कि मैंने अकेले ही संसारके समस्त क्षत्रियोंको जीत लिया था तो उसका उत्तर सुन लीजिये ॥

न तदा जातवान् भीष्मः क्षत्रियो वापि मद्विधः।
पश्चाज्जातानि तेजांसि तृणेषु ज्वलितं त्वया ॥ ६३ ॥

'उन दिनों भीष्म अथवा मेरे-जैसा दूसरा कोई क्षत्रिय नहीं उत्पन्न हुआ था। तेजस्वी क्षत्रिय तो पीछे उत्पन्न हुए हैं। आप तो घास-फूसमें ही प्रज्वलित हुए हैं (तिनकोंके समान दुर्बल क्षत्रियोंपर ही अपना तेज प्रकट किया है)॥

यस्ते युद्धमयं दर्पं कामं च व्यपनाशयेत्।
सोऽहं जातो महाबाहो भीष्मः परपुरंजयः।
व्यपनेष्यामि ते दर्पं युद्धे राम न संशयः ॥ ६४ ॥

'महाबाहो! जो आपकी युद्धविषयक कामना तथा अभिमानको नष्ट कर सके, वह शत्रुनगरीपर विजय पानेवाला यह भीष्म तो अब उत्पन्न हुआ है। राम! मैं युद्धमें आपका सारा घमंड चूर-चूर कर दूँगा, इसमें संशय नहीं है'॥

भीष्म उवाच

ततो मामब्रवीद् रामः प्रहसन्निव भारत।
दिष्ट्या भीष्म मया सार्धं योद्धुमिच्छसि संगरे ॥ ६५ ॥

भीष्मजी कहते हैं—भरतनन्दन! तब परशुरामजीने मुझसे हँसते हुए-से कहा—'भीष्म! बड़े सौभाग्यकी बात है कि तुम रणक्षेत्रमें मेरे साथ युद्ध करना चाहते हो ॥ ६५ ॥

अयं गच्छामि कौरव्य कुरुक्षेत्रं त्वया सह।
भाषितं ते करिष्यामि तत्रागच्छ परंतप ॥ ६६ ॥
तत्र त्वां निहतं माता मया शरशताचितम्।
जाह्नवी पश्यतां भीष्म गृध्रकङ्कबलाशनम् ॥ ६७ ॥

'कुरुनन्दन! यह देखो, मैं तुम्हारे साथ युद्धके लिये कुरुक्षेत्रमें चलता हूँ। परंतप! वहीं आओ। मैं तुम्हारा कथन पूरा करूँगा। वहाँ तुम्हारी माता गङ्गा तुम्हें मेरे हाथसे मरकर सैकड़ों बाणोंसे व्याप्त और कौओं, कङ्कों तथा गीधोंका भोजन बना हुआ देखेगी ॥ ६६-६७ ॥

कृपणं त्वामभिप्रेक्ष्य सिद्धचारणसेविता।
मया विनिहतं देवी रोदतामद्य पार्थिव ॥ ६८ ॥

'राजन्! तुम दीन हो। आज तुम्हें मेरे हाथसे मारा गया देख सिद्ध-चारणसेविता गङ्गादेवी रुदन करें ॥ ६८ ॥

अतदर्हा महाभागा भगीरथसुतानघा।
या त्वामजीजनन्मन्दं युद्धकामुकमातुरम् ॥ ६९ ॥

'यद्यपि वे महाभागा भगीरथपुत्री पापहीना गङ्गा यह दुःख देखनेके योग्य नहीं हैं, तथापि जिन्होंने तुम-जैसे युद्धकामी, आतुर एवं मूर्ख पुत्रको जन्म दिया है, उन्हें यह कष्ट भोगना ही पड़ेगा ॥ ६९ ॥

एहि गच्छ मया भीष्म युद्धकामुक दुर्मद।
गृहाण सर्वं कौरव्य रथादि भरतर्षभ ॥ ७० ॥

'युद्धकी इच्छा रखनेवाले मदोन्मत्त भीष्म! आओ, मेरे साथ चलो। भरतश्रेष्ठ कुरुनन्दन! रथ आदि सारी सामग्री साथ ले लो' ॥ ७० ॥

इति ब्रुवाणं तमहं रामं परपुरंजयम्।
प्रणम्य शिरसा राममेवमस्त्वित्यथाब्रुवम् ॥ ७१ ॥

शत्रुओंकी नगरीपर विजय पानेवाले परशुरामजीको इस प्रकार कहते देख मैंने मस्तक झुकाकर उन्हें प्रणाम किया और 'एवमस्तु' कहकर उनकी आज्ञा स्वीकार की ॥ ७१ ॥

एवमुक्त्वा ययौ रामः कुरुक्षेत्रं युयुत्सया।
प्रविश्य नगरं चाहं सत्यवत्यै न्यवेदयम् ॥ ७२ ॥

ऐसा कहकर परशुरामजी युद्धकी इच्छासे कुरुक्षेत्रमें गये और मैंने नगरमें प्रवेश करके सत्यवतीसे यह सारा समाचार निवेदन किया ॥ ७२ ॥

ततः कृतस्वस्त्ययनो मात्रा च प्रतिनन्दितः।
द्विजातीन् वाच्य पुण्याहं स्वस्ति चैव महाद्युते ॥ ७३ ॥
रथमास्थाय रुचिरं राजतं पाण्डुरैर्हयैः।
सूपस्करं स्वधिष्ठानं वैयाघ्रपरिवारणम् ॥ ७४ ॥
उपपन्नं महाशस्त्रैः सर्वोपकरणान्वितम्।
तत्कुलीनेन वीरेण हयशास्त्रविदा रणे ॥ ७५ ॥
युक्तं सूतेन शिष्टेन बहुशो दृष्टकर्मणा।

महातेजस्वी नरेश ! उस समय स्वस्तिवाचन कराकर माता सत्यवतीने मेरा अभिनन्दन किया और मैं ब्राह्मणोंसे पुण्याहवाचन करा उनसे कल्याणकारी आशीर्वाद ले सुन्दर रजतमय रथपर आरूढ़ हुआ। उस रथमें श्वेत रंगके घोड़े जुते हुए थे। उसमें सब प्रकारकी आवश्यक सामग्री सुन्दर ढंगसे रक्खी गयी थी। उसकी बैठक बहुत सुन्दर थी। रथके ऊपर व्याघ्रचर्मका आवरण लगाया गया था। वह रथ बड़े-बड़े शस्त्रों तथा समस्त उपकरणोंसे सम्पन्न था। युद्धमें जिसका कार्य अनेक बार देख लिया गया था, ऐसे सुशिक्षित, कुलीन, वीर तथा अश्वशास्त्रके पण्डित सारथिद्वारा उस रथका संचालन और नियन्त्रण होता था ॥ ७३—७५½ ॥

दंशितः पाण्डुरेणाहं कवचेन वपुष्मता ॥ ७६ ॥
पाण्डुरं कार्मुकं गृह्य प्रायां भरतसत्तम।

भरतश्रेष्ठ ! मैंने अपने शरीरपर श्वेतवर्णका कवच धारण करके श्वेत धनुष हाथमें लेकर यात्रा की ॥ ७६½ ॥

पाण्डुरेणातपत्रेण ध्रियमाणेन मूर्धनि ॥ ७७ ॥
पाण्डुरैश्चापि व्यजनैर्वीज्यमानो नराधिप।
शुक्लवासाः सितोष्णीषः सर्वशुक्लविभूषणः ॥ ७८ ॥

नरेश्वर ! उस समय मेरे मस्तकपर श्वेत छत्र तना हुआ था और मेरे दोनों ओर सफेद रंगके चँवर डुलाये जाते थे। मेरे वस्त्र, मेरी पगड़ी और मेरे समस्त आभूषण श्वेत वर्णके ही थे ॥ ७७-७८ ॥

स्तूयमानो जयाशीर्भिर्निष्क्रम्य गजसाह्वयात्।
कुरुक्षेत्रं रणक्षेत्रमुपायां भरतर्षभ ॥ ७९ ॥

विजयसूचक आशीर्वादोंके साथ मेरी स्तुति की जा रही थी। भरतभूषण ! उस अवस्थामें मैं हस्तिनापुरसे निकलकर कुरुक्षेत्रके समराङ्गणमें गया ॥ ७९ ॥

ते हयाश्चोदितास्तेन सूतेन परमाहवे।
अवहन् मां भृशं राजन् मनोमारुतरंहसः ॥ ८० ॥

राजन् ! मेरे घोड़े मन और वायुके समान वेगशाली थे। सारथिके हाँकनेपर उन्होंने बात-की-बातमें मुझे उस महान् युद्धके स्थानपर पहुँचा दिया ॥ ८० ॥

गत्वाहं तत् कुरुक्षेत्रं स च रामः प्रतापवान्।
युद्धाय सहसा राजन् पराक्रान्तौ परस्परम् ॥ ८१ ॥

राजन् ! मैं तथा प्रतापी परशुरामजी दोनों कुरुक्षेत्रमें पहुँचकर युद्धके लिये सहसा एक-दूसरेको पराक्रम दिखानेके लिये उद्यत हो गये ॥ ८१ ॥

ततः संदर्शनेऽतिष्ठं रामस्यातितपस्विनः।
प्रगृह्य शङ्खप्रवरं ततः प्राधममुत्तमम् ॥ ८२ ॥

तदनन्तर मैं अत्यन्त तपस्वी परशुरामजीकी दृष्टिके सामने खड़ा हुआ और अपने श्रेष्ठ शङ्खको हाथमें लेकर उसे जोर-जोरसे बजाने लगा ॥ ८२ ॥

ततस्तत्र द्विजा राजंस्तापसाश्च वनौकसः।
अपश्यन्त रणं दिव्यं देवाः सेन्द्रगणास्तदा ॥ ८३ ॥

राजन् ! उस समय वहाँ बहुत-से ब्राह्मण, वनवासी तपस्वी तथा इन्द्रसहित देवगण उस दिव्य युद्धको देखने लगे ॥

ततो दिव्यानि माल्यानि प्रादुरासंस्ततस्ततः।
वादित्राणि च दिव्यानि मेघवृन्दानि चैव ह ॥ ८४ ॥

तदनन्तर वहाँ इधर-उधरसे दिव्य मालाएँ प्रकट होने लगीं और दिव्य वाद्य बज उठे। साथ ही सब ओर मेघोंकी घटाएँ छा गयीं ॥ ८४ ॥

ततस्ते तापसाः सर्वे भार्गवस्यानुयायिनः।
प्रेक्षकाः समपद्यन्त परिवार्य रणाजिरम् ॥ ८५ ॥

तदनन्तर परशुरामजीके साथ आये हुए वे सब तपस्वी उस संग्रामभूमिको सब ओरसे घेरकर दर्शक बन गये ॥ ८५ ॥

ततो मामब्रवीद् देवी सर्वभूतहितैषिणी।
माता स्वरूपिणी राजन् किमिदं ते चिकीर्षितम् ॥ ८६ ॥

राजन् ! उस समय समस्त प्राणियोंका हित चाहनेवाली मेरी माता गङ्गादेवी स्वरूपतः प्रकट होकर बोलीं—'बेटा ! यह तू क्या करना चाहता है ?॥ ८६ ॥

गत्वाहं जामदग्न्यं तु प्रयाचिष्ये कुरूद्वह।
भीष्मेण सह मा योत्सीः शिष्येणेति पुनः पुनः ॥ ८७ ॥

'कुरुश्रेष्ठ ! मैं स्वयं जाकर जमदग्निनन्दन परशुरामजीसे बारंबार याचना करूँगी कि आप अपने शिष्य भीष्मके साथ युद्ध न कीजिये ॥ ८७ ॥

मा मैवं पुत्र निर्बन्धं कुरु विप्रेण पार्थिव।
जामदग्न्येन समरे योद्धुमित्येव भर्त्सयत् ॥ ८८ ॥

'बेटा ! तू ऐसा आग्रह न कर। राजन् ! विप्रवर जमदग्निनन्दन परशुरामके साथ समरभूमिमें युद्ध करनेका हठ अच्छा नहीं है।' ऐसा कहकर वे डाँट बताने लगीं ॥

किन्न वै क्षत्रियहणो हरतुल्यपराक्रमः।
विदितः पुत्र रामस्ते यतस्त्वं योद्धुमिच्छसि ॥ ८९ ॥

अन्तमें वे फिर बोलीं—'बेटा ! क्षत्रियहन्ता परशुराम महादेवजीके समान पराक्रमी हैं। क्या तू उन्हें नहीं जानता, जो उनके साथ युद्ध करना चाहता है ?' ॥ ८९ ॥

ततोऽहमब्रुवं देवीमभिवाद्य कृताञ्जलिः।
सर्वं तद् भरतश्रेष्ठ यथावृत्तं स्वयंवरे ॥ ९० ॥

तब मैंने हाथ जोड़कर गङ्गादेवीको प्रणाम किया और

स्वयंवरमें जैसी घटना घटित हुई थी, वह सब वृत्तान्त उनसे आद्योपान्त कह सुनाया ॥ ९० ॥

यथा च रामो राजेन्द्र मया पूर्वं प्रचोदितः ।
काशिराजसुतायाश्च यथा कर्म पुरातनम् ॥ ९१ ॥

राजेन्द्र ! मैंने परशुरामजीसे पहले जो-जो बातें कही थीं तथा काशिराजकी कन्याकी जो पुरानी करतूतें थीं, उन सबको बता दिया ॥ ९१ ॥

ततः सा राममभ्येत्य जननी मे महानदी ।
मदर्थे तमृषिं वीक्ष्य क्षमयामास भार्गवम् ॥ ९२ ॥

तत्पश्चात् मेरी जन्मदायिनी माता गङ्गाने भृगुनन्दन परशुरामजीके पास जाकर मेरे लिये उनसे क्षमा माँगी ॥ ९२ ॥

भीष्मेण सह मा योत्सीः शिष्येणेति वचोऽब्रवीत् ।
स च तामाह याचन्तीं भीष्ममेव निवर्तय ।
न च मे कुरुते काममित्यहं तमुपागमम् ॥ ९३ ॥

साथ ही यह भी कहा कि भीष्म आपका शिष्य है; अतः उसके साथ आप युद्ध न कीजिये । तब याचना करनेवाली मेरी मातासे परशुरामजीने कहा—'तुम पहले भीष्मको ही युद्धसे निवृत्त करो । वह मेरे इच्छानुसार कार्य नहीं कर रहा है; इसीलिये मैंने उसपर चढ़ाई की है' ॥ ९३ ॥

वैशम्पायन उवाच

ततो गङ्गा सुतस्नेहाद् भीष्मं पुनरुपागमत् ।
न चास्याश्चाकरोद् वाक्यं क्रोधपर्याकुलेक्षणः ॥ ९४ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तब गङ्गादेवी पुत्रस्नेहवश पुनः भीष्मके पास आयीं । उस समय भीष्मके नेत्रोंमें क्रोध व्याप्त हो रहा था; अतः उन्होंने भी माताका कहना नहीं माना ॥ ९४ ॥

अथादृश्यत धर्मात्मा भृगुश्रेष्ठो महातपाः ।
आह्वयामास च तदा युद्धाय द्विजसत्तमः ॥ ९५ ॥

इतनेमें ही भृगुकुलतिलक ब्राह्मणशिरोमणि महातपस्वी धर्मात्मा परशुरामजी दिखायी दिये । उन्होंने सामने आकर युद्धके लिये भीष्मको ललकारा ॥ ९५ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि अम्बोपाख्यानपर्वणि परशुरामभीष्मयोः कुरुक्षेत्रावतरणे अष्टसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १७८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत अम्बोपाख्यानपर्वमें परशुराम और भीष्मका कुरुक्षेत्रमें युद्धके लिये अवतरणविषयक एक सौ अठहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १७८ ॥

एकोनाशीत्यधिकशततमोऽध्यायः

संकल्पनिर्मित रथपर आरूढ़ परशुरामजीके साथ भीष्मका युद्ध प्रारम्भ करना

भीष्म उवाच

तमहं स्मयन्निव रणे प्रत्यभाषं व्यवस्थितम् ।
भूमिष्ठं नोत्सहे योद्धुं भवन्तं रथमास्थितः ॥ १ ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन् ! तब मैं युद्धके लिये खड़े हुए परशुरामजीसे मुसकराता हुआ-सा बोला—'ब्रह्मन् ! मैं रथपर बैठा हूँ और आप भूमिपर खड़े हैं । ऐसी दशामें मैं आपके साथ युद्ध नहीं कर सकता ॥ १ ॥

आरोह स्यन्दनं वीर कवचं च महाभुज ।
बधान समरे राम यदि योद्धुं मयेच्छसि ॥ २ ॥

'महाबाहो ! वीरवर राम ! यदि आप समरभूमिमें मेरे साथ युद्ध करना चाहते हैं तो रथपर आरूढ़ होइये और कवच भी बाँध लीजिये' ॥ २ ॥

ततो मामब्रवीद् रामः स्मयमानो रणाजिरे ।
रथो मे मेदिनी भीष्म वाहा वेदाः सदश्ववत् ॥ ३ ॥
सूतश्च मातरिश्वा वै कवचं वेदमातरः ।
सुसंवीतो रणे ताभिर्योत्स्येऽहं कुरुनन्दन ॥ ४ ॥

तब परशुरामजी समराङ्गणमें किंचित् मुसकराते हुए मुझसे बोले—'कुरुनन्दन भीष्म ! मेरे लिये तो पृथ्वी ही रथ है, चारों वेद ही उत्तम अश्वोंके समान मेरे वाहन हैं, वायुदेव ही सारथि हैं और वेदमाताएँ (गायत्री, सावित्री और सरस्वती) ही कवच हैं । इन सबसे आवृत एवं सुरक्षित होकर मैं रणक्षेत्रमें युद्ध करूँगा' ॥ ३-४ ॥

एवं ब्रुवाणो गान्धारे रामो मां सत्यविक्रमः ।
शरव्रातेन महता सर्वतः प्रत्यवारयत् ॥ ५ ॥

गान्धारीनन्दन ! ऐसा कहते हुए सत्यपराक्रमी परशुरामजीने मुझे सब ओरसे अपने बाणोंके महान् समुदाय-द्वारा आवृत कर लिया ॥ ५ ॥

ततोऽपश्यं जामदग्न्यं रथमध्ये व्यवस्थितम् ।
सर्वायुधवरे श्रीमत्यद्भुतोपमदर्शने ॥ ६ ॥

उस समय मैंने देखा, जमदग्निनन्दन परशुराम सम्पूर्ण श्रेष्ठ आयुधोंसे सुशोभित, तेजस्वी एवं अद्भुत दिखायी देनेवाले रथमें बैठे हैं ॥ ६ ॥

मनसा विहिते पुण्ये विस्तीर्णे नगरोपमे ।
दिव्याश्वयुजि संनद्धे काञ्चनेन विभूषिते ॥ ७ ॥

उसका विस्तार एक नगरके समान था । उस पुण्यरथका निर्माण उन्होंने अपने मानसिक संकल्पसे किया था । उसमें दिव्य अश्व जुते हुए थे । वह स्वर्णभूषित रथ सब प्रकारसे सुसज्जित था ॥ ७ ॥

कवचेन महाबाहो सोमार्ककृतलक्ष्मणा ।
धनुर्धरो बद्धतूणो बद्धगोधाङ्गुलित्रवान् ॥ ८ ॥

महाबाहो ! परशुरामजीने एक सुन्दर कवच धारण कर रक्खा था, जिसमें चन्द्रमा और सूर्यके चिह्न बने हुए थे । उन्होंने हाथमें धनुष लेकर पीठपर तरकस बाँध रक्खा था और अंगुलियोंकी रक्षाके लिये गोहके चर्मके बने हुए दस्ताने पहन रक्खे थे ॥ ८ ॥

सारथ्यं कृतवांस्तत्र युयुत्सोरकृतव्रणः ।

सखा वेदविदत्यन्तं दयितो भार्गवस्य ह ॥ ९ ॥

उस समय युद्धके इच्छुक परशुरामजीके प्रिय सखा वेदवेत्ता अकृतव्रणने उनके सारथिका कार्य सम्पन्न किया ॥

आह्वयानः स मां युद्धे मनो हर्षयतीव मे।
पुनः पुनरभिक्रोशन्नभियाहीति भार्गवः ॥ १० ॥

भृगुनन्दन राम 'आओ, आओ' कहकर बार-बार मुझे पुकारते और युद्धके लिये मेरा आह्वान करते हुए मेरे मनको हर्ष और उत्साह-सा प्रदान कर रहे थे ॥ १० ॥

तमादित्यमिवोद्यन्तमनाधृष्यं महाबलम्।
क्षत्रियान्तकरं राममेकमेकः समासदम् ॥ ११ ॥

उदयकालीन सूर्यके समान तेजस्वी, अजेय, महाबली और क्षत्रियविनाशक परशुराम अकेले ही युद्धके लिये खड़े थे। अतः मैं भी अकेला ही उनका सामना करनेके लिये गया॥

ततोऽहं बाणपातेषु त्रिषु वाहान् निगृह्य वै।
अवतीर्य धनुर्न्यस्य पदातिर्ऋषिसत्तमम् ॥ १२ ॥
अभ्यागच्छं तदा राममर्चिष्यन् द्विजसत्तमम्।
अभिवाद्य चैनं विधिवदब्रुवं वाक्यमुत्तमम् ॥ १३ ॥

जब वे तीन बार मेरे ऊपर बाणोंका प्रहार कर चुके, तब मैं घोड़ोंको रोककर और धनुष रखकर रथसे उतर गया और उन ब्राह्मणशिरोमणि मुनिप्रवर परशुरामजीका समादर करनेके लिये पैदल ही उनके पास गया। जाकर विधिपूर्वक उन्हें प्रणाम करनेके पश्चात् यह उत्तम वचन बोला—॥ १२-१३ ॥

योत्स्ये त्वया रणे राम सदृशेनाधिकेन वा।
गुरुणा धर्मशीलेन जयमाशास्व मे विभो ॥ १४ ॥

'भगवन् परशुराम ! आप मेरे समान अथवा मुझसे भी अधिक शक्तिशाली हैं। मेरे धर्मात्मा गुरु हैं। मैं इस रण-क्षेत्रमें आपके साथ युद्ध करूँगा; अतः आप मुझे विजयके लिये आशीर्वाद दें' ॥ १४ ॥

राम उवाच

एवमेतत् कुरुश्रेष्ठ कर्तव्यं भूतिमिच्छता।
धर्मो ह्येष महाबाहो विशिष्टैः सह युध्यताम् ॥ १५ ॥

परशुरामजीने कहा—कुरुश्रेष्ठ ! अपनी उन्नतिके चाहनेवाले प्रत्येक योद्धाको ऐसा ही करना चाहिये। महाबाहो ! अपनेसे विशिष्ट गुरुजनोंके साथ युद्ध करनेवाले राजाओंका यही धर्म है ॥ १५ ॥

शपेयं त्वां न चेदेवमागच्छेथा विशाम्पते।
युध्यस्व त्वं रणे यत्तो धैर्यमालम्ब्य कौरव ॥ १६ ॥

प्रजानाथ ! यदि तुम इस प्रकार मेरे समीप नहीं आते तो मैं तुम्हें शाप दे देता। कुरुनन्दन ! तुम धैर्य धारण करके इस रणक्षेत्रमें प्रयत्नपूर्वक युद्ध करो ॥ १६ ॥

न तु ते जयमाशासे त्वां विजेतुमहं स्थितः।
गच्छ युध्यस्व धर्मेण प्रीतोऽस्मि चरितेन ते ॥ १७ ॥

मैं तो तुम्हें विजयसूचक आशीर्वाद नहीं दे सकता; क्योंकि इस समय मैं तुम्हें पराजित करनेके लिये खड़ा हूँ। जाओ, धर्म-पूर्वक युद्ध करो। तुम्हारे इस शिष्टाचारसे मैं बहुत प्रसन्न हूँ ॥

ततोऽहं तं नमस्कृत्य रथमारुह्य सत्वरः।
प्राध्मापयं रणे शङ्खं पुनर्हेमपरिष्कृतम् ॥ १८ ॥

तब मैं उन्हें नमस्कार करके शीघ्र ही रथपर जा बैठा और उस युद्धभूमिमें मैंने पुनः अपने सुवर्णजटित शङ्खको बजाया॥

ततो युद्धं समभवन्मम तस्य च भारत।
दिवसान् सुबहून् राजन् परस्परजिगीषया ॥ १९ ॥

राजन् ! भरतनन्दन ! तदनन्तर एक-दूसरेको जीतनेकी इच्छासे मेरा तथा परशुरामजीका युद्ध बहुत दिनोंतक चलता रहा॥

स मे तस्मिन् रणे पूर्वं प्राहरत् कङ्कपत्रिभिः।
षष्ट्या शतैश्च नवभिः शराणां नतपर्वणाम् ॥ २० ॥

उस रणभूमिमें उन्होंने ही पहले मेरे ऊपर गीधकी पाँखोंसे सुशोभित तथा मुड़े हुए पर्ववाले नौ सौ साठ बाणोंद्वारा प्रहार किया ॥ २० ॥

चत्वारस्तेन मे वाहाः सूतश्चैव विशाम्पते।
प्रतिरुद्धास्तथैवाहं समरे दंशितः स्थितः ॥ २१ ॥

राजन् ! उन्होंने मेरे चारों घोड़ों तथा सारथिको भी अवरुद्ध कर दिया तो भी मैं पूर्ववत् कवच धारण किये उस समरभूमिमें डटा रहा ॥ २१ ॥

नमस्कृत्य च देवेभ्यो ब्राह्मणेभ्यो विशेषतः।
तमहं स्मयन्निव रणे प्रत्यभाषं व्यवस्थितम् ॥ २२ ॥

तत्पश्चात् देवताओं और विशेषतः ब्राह्मणोंको नमस्कार कर मैं रणभूमिमें खड़े हुए परशुरामजीसे मुसकराता हुआ-सा बोला—॥

आचार्यता मानिता मे निर्मर्यादे ह्यपि त्वयि।
भूयश्च शृणु मे ब्रह्मन् सम्पदं धर्मसंग्रहे ॥ २३ ॥

'ब्रह्मन् ! यद्यपि आप अपनी मर्यादा छोड़ बैठे हैं तो भी मैंने सदा आपके आचार्यत्वका सम्मान किया है। धर्मसंग्रह-के विषयमें मेरा जो दृढ़ विचार है, उसे आप पुनः सुन लीजिये॥

ये ते वेदाः शरीरस्था ब्राह्मण्यं यच्च ते महत्।
तपश्च ते महत् तप्तं न तेभ्यः प्रहराम्यहम् ॥ २४ ॥

'विप्रवर ! आपके शरीरमें जो वेद हैं, जो आपका महान् ब्राह्मणत्व है तथा आपने जो बड़ी भारी तपस्या की है, उन सबके ऊपर मैं बाणोंका प्रहार नहीं करता हूँ ॥२४॥

प्रहरे क्षत्रधर्मस्य यं राम त्वं समाश्रितः।
ब्राह्मणः क्षत्रियत्वं हि याति शस्त्रसमुद्यमात् ॥ २५ ॥

'राम ! आपने जिस क्षत्रियधर्मका आश्रय लिया है, मैं उसीपर प्रहार करूँगा; क्योंकि ब्राह्मण हथियार उठाते ही क्षत्रियभावको प्राप्त कर लेता है ॥ २५ ॥

पश्य मे धनुषो वीर्यं पश्य बाह्वोर्बलं मम।
एष ते कार्मुकं वीर छिनद्मि निशितेषुणा ॥ २६ ॥

'अब आप मेरे धनुषकी शक्ति और मेरी भुजाओंका बल देखिये। वीर ! मैं अपने बाणसे आपके धनुषको अभी काट देता हूँ' ॥ २६ ॥

तस्याहं निशितं भल्लं चिक्षेप भरतर्षभ।
तेनास्य धनुषः कोटिं छित्त्वा भूमावपातयम् ॥ २७ ॥

भरतश्रेष्ठ ! ऐसा कहकर मैंने उनके ऊपर तेज धारवाले एक भल्ल नामक बाणका प्रहार किया और उसके द्वारा उनके धनुषकी कोटि (अग्रभाग) को काटकर पृथ्वीपर गिरा दिया ॥ २७ ॥

तथैव च पृषत्कानां शतानि नतपर्वणाम्।
चिक्षेप कङ्कपत्राणां जामदग्न्यरथं प्रति ॥ २८ ॥

इसी प्रकार परशुरामजीके रथकी ओर मैंने गीधकी पाँख और झुकी हुई गाँठवाले सौ बाण चलाये ॥ २८ ॥

काये विषक्तास्तु तदा वायुना समुदीरिताः।
चेलुः क्षरन्तो रुधिरं नागा इव च ते शराः ॥ २९ ॥

वे बाण वायुद्वारा उड़ाये हुए सर्पोंकी भाँति परशुरामजीके शरीरमें धँसकर खून बहाते हुए चल दिये ॥ २९ ॥

क्षतजोक्षितसर्वाङ्गः क्षरन् स रुधिरं रणे।
बभौ रामस्तदा राजन् मेरुर्धातुमिवोत्सृजन् ॥ ३० ॥

राजन् ! उस समय उनके सारे अङ्ग लहू-लुहान हो गये। जैसे मेरु पर्वत वर्षाकालमें गेरु आदि धातुओंसे मिश्रित जलकी धार बहाता है, उसी प्रकार उस रणभूमिमें अपने अङ्गोंसे रक्तकी धारा बहाते हुए परशुरामजी शोभा पाने लगे ॥ ३० ॥

हेमन्तान्तेऽशोक इव रक्तस्तवकमण्डितः।
बभौ रामस्तथा राजन् प्रफुल्ल इव किंशुकः ॥ ३१ ॥

राजन् ! जैसे वसन्त ऋतुमें लाल फूलोंके गुच्छोंसे अलंकृत अशोक और खिला हुआ पलाश सुशोभित होता है, परशुरामजीकी भी वैसी ही शोभा हुई ॥ ३१ ॥

ततोऽन्यद् धनुरादाय रामः क्रोधसमन्वितः।
हेमपुङ्खान् सुनिशिताञ्शरांस्तान् हि ववर्ष सः॥ ३२ ॥

तब क्रोधमें भरे हुए परशुरामजीने दूसरा धनुष लेकर सोनेकी पाँखोंसे सुशोभित अत्यन्त तीखे बाणोंकी वर्षा आरम्भ की ॥ ३२ ॥

ते समासाद्य मां रौद्रा बहुधा मर्मभेदिनः।
अकम्पयन् महावेगाः सर्पानलविषोपमाः ॥ ३३ ॥

वे नाना प्रकारके भयंकर बाण मुझपर चोट करके मेरे मर्मस्थानोंका भेदन करने लगे। उनका वेग महान् था। वे सर्प, अग्नि और विषके समान जान पड़ते थे। उन्होंने मुझे कम्पित कर दिया ॥ ३३ ॥

तमहं समवष्टभ्य पुनरात्मानमाहवे।
शतसंख्यैः शरैः क्रुद्धस्तदा राममवाकिरम् ॥ ३४ ॥

तब मैंने पुनः अपने आपको स्थिर करके कुपित हो उस युद्धमें परशुरामजीपर सैकड़ों बाण बरसाये ॥ ३४ ॥

स तैरग्न्यर्कसंकाशैः शरैराशीविषोपमैः।
शितैरभ्यर्दितो रामो मन्दचेता इवाभवत् ॥ ३५ ॥

वे बाण अग्नि, सूर्य तथा विषधर सर्पोंके समान भयंकर एवं तीक्ष्ण थे। उनसे पीड़ित होकर परशुरामजी अचेत-से हो गये ॥ ३५ ॥

ततोऽहं कृपयाऽऽविष्टो विष्टभ्यात्मानमात्मना।
धिग्धिगित्यब्रुवं युद्धं क्षत्रधर्मं च भारत ॥ ३६ ॥

भारत ! तब मैं दयासे द्रवित हो स्वयं ही अपने आपमें धैर्य लाकर युद्ध और क्षत्रियधर्मको धिक्कार देने लगा ॥

असकृच्चाब्रुवं राजन् शोकवेगपरिप्लुतः।
अहो बत कृतं पापं मयेदं क्षत्रधर्मणा ॥ ३७ ॥
गुरुर्द्विजातिर्धर्मात्मा यदेवं पीडितः शरैः।

राजन् ! उस समय शोकके वेगसे व्याकुल हो मैं बार बार इस प्रकार कहने लगा—'अहो ! मुझ क्षत्रियने यह बड़ा भारी पाप कर डाला, जो कि धर्मात्मा एवं ब्राह्मण गुरुको इस प्रकार बाणोंसे पीड़ित किया' ॥ ३७½ ॥

ततो न प्राहरं भूयो जामदग्न्याय भारत ॥ ३८ ॥
अथावताप्य पृथिवीं पूषा दिवससंक्षये।
जगामास्तं सहस्रांशुस्ततो युद्धमुपारमत् ॥ ३९ ॥

भारत ! उसके बादसे मैंने परशुरामजीपर फिर प्रहार नहीं किया। इधर सहस्र किरणोंवाले भगवान् सूर्य इस पृथ्वीको तपाकर दिनका अन्त होनेपर अस्त हो गये; इसलिये वह युद्ध बंद हो गया ॥ ३८-३९ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि अम्बोपाख्यानपर्वणि रामभीष्मयुद्धे एकोनाशीत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १७९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत अम्बोपाख्यानपर्वमें परशुराम और भीष्मका युद्धविषयक एक सौ उन्यासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १७९ ॥

अशीत्यधिकशततमोऽध्यायः

भीष्म और परशुरामका घोर युद्ध

भीष्म उवाच

आत्मनस्तु ततः सूतो हयानां च विशाम्पते।
मम चापनयामास शल्यान् कुशलसम्मतः ॥ १ ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन् ! तदनन्तर अपने कार्यमें कुशल एवं सम्मानित सारथिने अपने, घोड़ोंके तथा मेरे भी शरीरमें चुभे हुए बाणोंको निकाला ॥ १ ॥

स्नातापवृत्तैस्तुरगैर्लब्धतोयैरविह्वलैः।
प्रभाते चोदिते सूर्ये ततो युद्धमवर्तत ॥ २ ॥

घोड़े टहलाये गये और लोट-पोट कर लेनेपर नहलाये गये; फिर उन्हें पानी पिलाया गया, इस प्रकार जब वे स्वस्थ और शान्त हुए, तब प्रातःकाल सूर्योदय होनेपर पुनः युद्ध आरम्भ हुआ ॥ २ ॥

दृष्ट्वा मां तूर्णमायान्तं दंशितं स्यन्दने स्थितम् ।
अकरोद् रथमत्यर्थं रामः सज्जं प्रतापवान् ॥ ३ ॥

मुझे रथपर बैठकर कवच धारण किये शीघ्रतापूर्वक आते देख प्रतापी परशुरामजीने अपने रथको अत्यन्त सुसज्जित किया ॥ ३ ॥

ततोऽहं राममायान्तं दृष्ट्वा समरकाङ्क्षिणम् ।
धनुः श्रेष्ठं समुत्सृज्य सहसावतरं रथात् ॥ ४ ॥

तदनन्तर युद्धकी इच्छावाले परशुरामजीको आते देख मैं अपना श्रेष्ठ धनुष छोड़कर सहसा रथसे उतर पड़ा ॥ ४ ॥

अभिवाद्य तथैवाहं रथमारुह्य भारत ।
युयुत्सुर्जामदग्न्यस्य प्रमुखे वीतभीः स्थितः ॥ ५ ॥

भारत ! पूर्ववत् गुरुको प्रणाम करके अपने रथपर आरूढ़ हो युद्धकी इच्छासे परशुरामजीके सामने मैं निर्भय होकर डट गया ॥

ततोऽहं शरवर्षेण महता समवाकिरम् ।
स च मां शरवर्षेण वर्षन्तं समवाकिरत् ॥ ६ ॥

तदनन्तर मैंने उनपर बाणोंकी भारी वर्षा की । फिर उन्होंने भी बाणोंकी वर्षा करनेवाले मुझ भीष्मपर बहुत-से बाण बरसाये ॥ ६ ॥

संक्रुद्धो जामदग्न्यस्तु पुनरेव सुतेजितान् ।
सम्प्रैषीन्मे शरान् घोरान् दीप्तास्यानुरगानिव ॥ ७ ॥

तत्पश्चात् जमदग्निकुमारने पुनः अत्यन्त क्रुद्ध होकर मुझपर प्रज्वलित मुखवाले सर्पोंकी भाँति तेज किये हुए भयानक बाण चलाये ॥ ७ ॥

ततोऽहं निशितैर्भल्लैः शतशोऽथ सहस्रशः ।
अच्छिदं सहसा राजन्नन्तरिक्षे पुनः पुनः ॥ ८ ॥

राजन् ! तब मैंने सहसा तीखी धारवाले भल्लनामक बाणोंसे आकाशमें ही उन सबके सैकड़ों और हजारों टुकड़े कर दिये । यह क्रिया बारंबार चलती रही ॥ ८ ॥

ततस्त्वस्त्राणि दिव्यानि जामदग्न्यः प्रतापवान् ।
मयि प्रयोजयामास तान्यहं प्रत्यषेधयम् ॥ ९ ॥
अस्त्रैरेव महाबाहो चिकीर्षन्नधिकां क्रियाम् ।

इसके पश्चात् प्रतापी परशुरामजीने मेरे ऊपर दिव्यास्त्रोंका प्रयोग आरम्भ किया; परंतु महाबाहो ! मैंने उनसे भी अधिक पराक्रम प्रकट करनेकी इच्छा रखकर उन सब अस्त्रोंका दिव्यास्त्रोंद्वारा ही निवारण कर दिया ॥ ९½ ॥

ततो दिवि महान् नादः प्रादुरासीत् समन्ततः ॥ १० ॥
ततोऽहमस्त्रं वायव्यं जामदग्न्ये प्रयुक्तवान् ।
प्रत्याजघ्ने च तद् रामो गुह्यकास्त्रेण भारत ॥ ११ ॥

उस समय आकाशमें चारों ओर बड़ा कोलाहल होने लगा । इसी समय मैंने जमदग्निकुमारपर वायव्यास्त्रका प्रयोग किया । भारत ! परशुरामजीने गुह्यकास्त्रद्वारा मेरे उस अस्त्रको शान्त कर दिया ॥ १०-११ ॥

ततोऽहमस्त्रमाग्नेयमनुमन्त्र्य प्रयुक्तवान् ।
वारुणेनैव तद् रामो वारयामास मे विभुः ॥ १२ ॥

तत्पश्चात् मैंने मन्त्रसे अभिमन्त्रित करके आग्नेयास्त्रका प्रयोग किया; किंतु भगवान् परशुरामने वारुणास्त्र चलाकर उसका निवारण कर दिया ॥ १२ ॥

एवमस्त्राणि दिव्यानि रामस्याहमवारयम् ।
रामश्च मम तेजस्वी दिव्यास्त्रविदरिंदमः ॥ १३ ॥

इस प्रकार मैं परशुरामजीके दिव्यास्त्रोंका निवारण करता और शत्रुओंका दमन करनेवाले दिव्यास्त्रवेत्ता तेजस्वी परशुराम भी मेरे अस्त्रोंका निवारण कर देते थे ॥ १३ ॥

ततो मां सव्यतो राजन् रामः कुर्वन् द्विजोत्तमः ।
उरस्यविध्यत् संक्रुद्धो जामदग्न्यः प्रतापवान् ॥ १४ ॥

राजन् ! तत्पश्चात् क्रोधमें भरे हुए प्रतापी विप्रवर परशुरामने मुझे बायें लेकर मेरे वक्षःस्थलको बाणद्वारा बींध दिया ॥

ततोऽहं भरतश्रेष्ठ संन्यषीदं रथोत्तमे ।
ततो मां कश्मलाविष्टं सूतस्तूर्णमुदावहत् ॥ १५ ॥

भरतश्रेष्ठ ! उससे घायल होकर मैं उस श्रेष्ठ रथपर बैठ गया, उस समय मुझे मूर्च्छित अवस्थामें देखकर सारथि शीघ्र ही अन्यत्र हटा ले गया ॥ १५ ॥

ग्लायन्तं भरतश्रेष्ठ रामबाणप्रपीडितम् ।
ततो मामपयातं वै भृशं विद्धमचेतसम् ॥ १६ ॥
रामस्यानुचरा हृष्टाः सर्वे दृष्ट्वा विचुक्रुशुः ।
अकृतव्रणप्रभृतयः काशिकन्या च भारत ॥ १७ ॥

भरतश्रेष्ठ ! परशुरामजीके बाणसे अत्यन्त पीड़ित होनेके कारण मुझे बड़ी व्याकुलता हो रही थी । मैं अत्यन्त घायल और अचेत होकर रणभूमिसे दूर हट गया था । भारत ! इस अवस्थामें मुझे देखकर परशुरामजीके अकृतव्रण आदि सेवक तथा काशिराजकी कन्या अम्बा ये सब-के-सब अत्यन्त प्रसन्न हो कोलाहल करने लगे ॥ १६-१७ ॥

ततस्तु लब्धसंज्ञोऽहं ज्ञात्वा सूतमथाब्रुवम् ।
याहि सूत यतो रामः सज्जोऽहं गतवेदनः ॥ १८ ॥

इतनेहीमें मुझे चेत हो गया और सब कुछ जानकर मैंने सारथिसे कहा—'सूत ! जहाँ परशुरामजी हैं, वहीं चलो। मेरी पीड़ा दूर हो गयी है और अब मैं युद्धके लिये सुसज्जित हूँ' ॥

ततो मामवहत् सूतो हयैः परमशोभितैः ।
नृत्यद्भिरिव कौरव्य मारुतप्रतिमैर्गतौ ॥ १९ ॥

कुरुनन्दन ! तब सारथिने अत्यन्त शोभाशाली अश्वोंद्वारा, जो वायुके समान वेगसे चलनेके कारण नृत्य करते-से जान पड़ते थे, मुझे युद्धभूमिमें पहुँचाया ॥ १९ ॥

ततोऽहं राममासाद्य बाणवर्षैश्च कौरव ।
अवाकिरं सुसंरब्धः संरब्धं च जिगीषया ॥ २० ॥

कौरव ! तब मैंने क्रोधमें भरे हुए परशुरामजीके पास पहुँचकर उन्हें जीतनेकी इच्छासे स्वयं भी कुपित होकर उनके ऊपर बाणोंकी वर्षा प्रारम्भ कर दी ॥ २० ॥

तानापतत एवासौ रामो बाणानजिह्मगान् ।
बाणैरेवाच्छिनत् तूर्णमेकैकं त्रिभिराहवे ॥ २१ ॥

किंतु परशुरामजीने सीधे लक्ष्यकी ओर जानेवाले उन बाणोंके आते ही एक-एकको तीन-तीन बाणोंसे तुरंत काट दिया॥

ततस्ते सूदिताः सर्वे मम बाणाः सुसंशिताः।
रामबाणैर्द्विधा छिन्नाः शतशोऽथ सहस्रशः॥ २२॥

इस प्रकार मेरे चलाये हुए वे सब सैकड़ों और हजारों तीखे बाण परशुरामजीके सायकोंसे कटकर दो-दो टूक हो नष्ट हो गये॥ २२॥

ततः पुनः शरं दीप्तं सुप्रभं कालसम्मितम्।
असृजं जामदग्न्याय रामायाहं जिघांसया॥ २३॥

तब मैंने पुनः जमदग्निनन्दन परशुरामकी ओर उन्हें मार डालनेकी इच्छासे एक कालाग्निके समान प्रज्वलित तथा तेजस्वी बाण छोड़ा॥ २३॥

तेन त्वभिहतो गाढं बाणवेगवशं गतः।
मुमोह समरे रामो भूमौ च निपपात ह॥ २४॥

उसकी गहरी चोट खाकर परशुरामजी उस बाणके वेगके अधीन हो समरभूमिमें मूर्च्छित हो गये और धरतीपर गिर पड़े॥ २४॥

ततो हाहाकृतं सर्वं रामे भूतलमाश्रिते।
जगद् भारत संविग्नं यथार्कपतने भवेत्॥ २५॥

परशुरामके पृथ्वीपर गिरते ही मानो आकाशसे सूर्य टूटकर गिरे हों, ऐसा समझकर सारा जगत् भयभीत हो हाहाकार करने लगा॥ २५॥

तत एनं समुद्विग्नाः सर्व एवाभिदुद्रुवुः।
तपोधनास्ते सहसा काश्या च कुरुनन्दन॥ २६॥
तत एनं परिष्वज्य शनैराश्वासयंस्तदा।
पाणिभिर्जलशीतैश्च जयाशीर्भिश्च कौरव॥ २७॥

कुरुनन्दन! उस समय वे तपोधन और काशिराजकी कन्या सब-के-सब अत्यन्त उद्विग्न हो सहसा उनके पास दौड़े गये और उन्हें हृदयसे लगा हाथ फेरकर तथा शीतल जल छिड़ककर विजयसूचक आशीर्वाद देते हुए सान्त्वना देने लगे॥ २६-२७॥

ततः स विह्वलं वाक्यं राम उत्थाय चाब्रवीत्।
तिष्ठ भीष्म हतोऽसीति बाणं संधाय कार्मुके॥ २८॥

तदनन्तर कुछ स्वस्थ होनेपर परशुरामजी उठ गये और धनुषपर बाण चढ़ाकर विह्वल स्वरमें बोले—'भीष्म! खड़े रहो, अब तुम मारे गये'॥ २८॥

स मुक्तो न्यपतत् तूर्णं सव्ये पार्श्वे महाहवे।
येनाहं भृशमुद्विग्नो व्याघूर्णित इव द्रुमः॥ २९॥

उस महान् युद्धमें उनके धनुषसे छूटा हुआ वह बाण तुरंत मेरी बायीं पसलीपर पड़ा, जिससे मैं अत्यन्त उद्विग्न होकर वृक्षकी भाँति झूमने लगा॥ २९॥

हत्वा हयांस्ततो रामः शीघ्रास्त्रेण महाहवे।
अवाकिरन्मां विस्रब्धो बाणैस्तैर्लोमवाहिभिः॥ ३०॥

फिर तो परशुरामजी उस महासमरमें शीघ्र छोड़े हुए अस्त्रद्वारा मेरे घोड़ोंको मारकर निर्भय हो मेरे ऊपर पाँखसे उड़नेवाले बाणोंसे वर्षा करने लगे॥ ३०॥

ततोऽहमपि शीघ्रास्त्रं समरप्रतिवारणम्।
अवासृजं महाबाहो तेऽन्तराधिष्ठिताः शराः॥ ३१॥
रामस्य मम चैवाशु व्योमावृत्य समन्ततः।

महाबाहो! तत्पश्चात् मैंने भी शीघ्रतापूर्वक ऐसे अस्त्रोंका प्रयोग आरम्भ किया, जो युद्धभूमिमें विपक्षीकी गतिको रोक देनेवाले थे। मेरे तथा परशुरामजीके बाण आकाशमें सब ओर फैलकर मध्यभागमें ही ठहर गये॥ ३१½॥

न स्म सूर्यः प्रतपति शरजालसमावृतः॥ ३२॥
मातरिश्वा ततस्तस्मिन् मेघरुद्ध इवाभवत्।

उस समय बाणोंके समूहसे आच्छादित होनेके कारण सूर्य नहीं तपता था और वायुकी गति इस प्रकार कुण्ठित हो गयी थी, मानो मेघोंसे अवरुद्ध हो गयी हो॥ ३२½॥

ततो वायोः प्रकम्पाच्च सूर्यस्य च गभस्तिभिः॥ ३३॥
अभिघातप्रभावाच्च पावकः समजायत।

उस समय वायुके कम्पन और सूर्यकी किरणोंसे समस्त बाण परस्पर टकराने लगे। उनकी रगड़से वहाँ आग प्रकट हो गयी॥ ३३½॥

ते शराः स्वसमुत्थेन प्रदीप्ताश्चित्रभानुना॥ ३४॥
भूमौ सर्वे तदा राजन् भस्मभूताः प्रपेदिरे।

राजन्! वे सभी बाण अपने ही संघर्षसे उत्पन्न हुई अग्निसे जलकर भस्म हो गये और भूमिपर गिर पड़े॥

तदा शतसहस्राणि प्रयुतान्यर्बुदानि च॥ ३५॥
अयुतान्यथ खर्वाणि निखर्वाणि च कौरव।
रामः शराणां संक्रुद्धो मयि तूर्णं न्यपातयत्॥ ३६॥

कौरवनरेश! उस समय परशुरामजीने अत्यन्त क्रुद्ध होकर मेरे ऊपर तुरंत ही दस हजार, लाख, दस लाख, अर्बुद, खर्व और निखर्व बाणोंका प्रहार किया॥ ३५-३६॥

ततोऽहं तानपि रणे शरैराशीविषोपमैः।
संछिद्य भूमौ नृपते पातयेयं नगानिव॥ ३७॥

नरेश्वर! तब मैंने रणभूमिमें विषधर सर्पके समान भयंकर सायकोंद्वारा उन सब बाणोंको वृक्षोंकी भाँति भूमिपर काट गिराया॥ ३७॥

एवं तदभवद् युद्धं तदा भरतसत्तम।
संध्याकाले व्यतीते तु व्यपायात् स च मे गुरुः॥ ३८॥

भरतभूषण! इस प्रकार वह युद्ध चलता रहा। संध्याकाल बीतनेपर मेरे गुरु रणभूमिसे हट गये॥ ३८॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि अम्बोपाख्यानपर्वणि रामभीष्मयुद्धे अशीत्यधिकशततमोऽध्यायः॥ १८०॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत अम्बोपाख्यानपर्वमें परशुरामभीष्मयुद्धविषयक एक सौ असीवाँ अध्याय पूरा हुआ॥१८०॥

एकाशीत्यधिकशततमोऽध्यायः

भीष्म और परशुरामका युद्ध

भीष्म उवाच

समागतस्य रामेण पुनरेवातिदारुणम् ।
अन्येद्युस्तुमुलं युद्धं तदा भरतसत्तम ॥ १ ॥

भीष्मजी कहते हैं—भरतश्रेष्ठ! दूसरे दिन परशुरामजीके साथ भेंट होनेपर पुनः अत्यन्त भयंकर युद्ध प्रारम्भ हुआ ॥

ततो दिव्यास्त्रविच्छूरो दिव्यान्यस्त्राण्यनेकशः ।
अयोजयत स धर्मात्मा दिवसे दिवसे विभुः ॥ २ ॥

फिर तो दिव्यास्त्रोंके ज्ञाता, शूरवीर एवं धर्मात्मा भगवान् परशुरामजी प्रतिदिन अनेक प्रकारके अलौकिक अस्त्रोंका प्रयोग करने लगे ॥ २ ॥

तान्यहं तत्प्रतीघातैरस्त्रैरस्त्राणि भारत ।
व्यधमं तुमुले युद्धे प्राणांस्त्यक्त्वा सुदुस्त्यजान् ॥ ३ ॥

भारत ! उस तुमुल युद्धमें अपने दुस्त्यज प्राणोंकी परवा न करके मैंने उनके सभी अस्त्रोंका विघातक अस्त्रोंद्वारा संहार कर डाला ॥ ३ ॥

अस्त्रैरस्त्रेषु बहुधा हतेष्वेव च भारत ।
अक्रुध्यत महातेजास्त्यक्तप्राणः स संयुगे ॥ ४ ॥

भरतनन्दन ! इस प्रकार बार-बार मेरे अस्त्रोंद्वारा अपने अस्त्रोंके विनष्ट होनेपर महातेजस्वी परशुरामजी उस युद्धमें प्राणोंका मोह छोड़कर अत्यन्त कुपित हो उठे ॥ ४ ॥

ततः शक्तिं प्राहिणोद् घोररूपा-
मस्त्रे रुद्धे जामदग्न्यो महात्मा ।
कालोत्सृष्टां प्रज्वलितामिवोल्कां
संदीप्ताग्रां तेजसा व्याप्य लोकम् ॥ ५ ॥

इस प्रकार अपने अस्त्रोंका अवरोध होनेपर जमदग्निनन्दन महात्मा परशुरामने कालकी छोड़ी हुई प्रज्वलित उल्काके समान एक भयंकर शक्ति छोड़ी, जिसका अग्रभाग उद्दीप्त हो रहा था । वह शक्ति अपने तेजसे सम्पूर्ण लोकको व्याप्त किये हुए थी ॥ ५ ॥

ततोऽहं तामिषुभिर्दीप्यमानां
समायान्तीमन्तकालार्कदीप्ताम् ।
छित्त्वा त्रिधा पातयामास भूमौ
ततो ववौ पवनः पुण्यगन्धिः ॥ ६ ॥

तब मैंने प्रलयकालके सूर्यकी भाँति प्रज्वलित होनेवाली उस देदीप्यमान शक्तिको अपनी ओर आती देख अनेक बाणोंद्वारा उसके तीन टुकड़े करके उसे भूमिपर गिरा दिया । फिर तो पवित्र सुगन्धसे युक्त मन्द-मन्द वायु चलने लगी ॥ ६ ॥

तस्यां छिन्नायां क्रोधदीप्तोऽथ रामः
शक्तीर्घोराः प्राहिणोद् द्वादशान्याः ।
तासां रूपं भारत नोत शक्यं
तेजस्वित्वाल्लाघवाच्चैव वक्तुम् ॥ ७ ॥

उस शक्तिके कट जानेपर परशुरामजी क्रोधसे जल उठे तथा उन्होंने दूसरी-दूसरी भयंकर बारह शक्तियाँ और छोड़ीं । भारत ! वे इतनी तेजस्विनी तथा शीघ्रगामिनी थीं कि उनके स्वरूपका वर्णन करना असम्भव है ॥ ७ ॥

किं त्वेवाहं विह्वलः सम्प्रदृश्य
दिग्भ्यः सर्वास्ता महोल्का इवाग्नेः ।
नानारूपास्तेजसोग्रेण दीप्ता
यथाऽऽदित्या द्वादश लोकसंक्षये ॥ ८ ॥

प्रलयकालके बारह सूर्योंके समान भयंकर तेजसे प्रज्वलित अनेक रूपवाली तथा अग्निकी प्रचण्ड ज्वालाओंके समान धधकती हुई उन शक्तियोंको सब ओरसे आती देख मैं अत्यन्त विह्वल हो गया ॥ ८ ॥

ततो जालं बाणमयं विवृत्तं
संदृश्य भित्त्वा शरजालेन राजन् ।
द्वादशेषून् प्राहिणवं रणेऽहं
ततः शक्तीरप्यधमं घोररूपाः ॥ ९ ॥

राजन् ! तत्पश्चात् वहाँ फैले हुए बाणमय जालको देखकर मैंने अपने बाणसमूहोंसे उसे छिन्न-भिन्न कर डाला और उस रणभूमिमें बारह सायकोंका प्रयोग किया, जिनसे उन भयंकर शक्तियोंको भी व्यर्थ कर दिया ॥ ९ ॥

ततो राजञ्जामदग्न्यो महात्मा
शक्तीर्घोरा व्याक्षिपद्धेमदण्डाः ।
विचित्रिताः काञ्चनपट्टनद्धा
यथा महोल्का ज्वलितास्तथा ताः ॥ १० ॥

राजन् ! तत्पश्चात् महात्मा जमदग्निनन्दन परशुरामने स्वर्णमय दण्डसे विभूषित और भी बहुत-सी भयानक शक्तियाँ चलायीं, जो विचित्र दिखायी देती थीं । उनके ऊपर सोनेके पत्र जड़े हुए थे और वे जलती हुई बड़ी-बड़ी उल्काओंके समान प्रतीत होती थीं ॥ १० ॥

ताश्चाप्युग्राश्चर्मणा वारयित्वा
खड्गेनाजौ पातयित्वा नरेन्द्र ।
बाणैर्दिव्यैर्जामदग्न्यस्य संख्ये
दिव्यानश्वानभ्यवर्षं ससूतान् ॥ ११ ॥

नरेन्द्र ! उन भयंकर शक्तियोंको भी मैंने ढालसे रोककर तलवारसे रणभूमिमें काट गिराया । तत्पश्चात् परशुरामजीके दिव्य घोड़ों तथा सारथिपर मैंने दिव्य बाणोंकी वर्षा आरम्भ कर दी ॥ ११ ॥

निर्मुक्तानां पन्नगानां सरूपा
दृष्ट्वा शक्तीर्हेमचित्रा निकृत्ताः ।
प्रादुश्चक्रे दिव्यमस्त्रं महात्मा
क्रोधाविष्टो हैहयेशप्रमाथी ॥ १२ ॥

केंचुलिसे छूटकर निकले हुए सर्पोंके समान आकृतिवाली

उन सुवर्णजटित विचित्र शक्तियोंको कटी हुई देख हैहय-राजका विनाश करनेवाले महात्मा परशुरामजीने कुपित होकर पुनः अपना दिव्य अस्त्र प्रकट किया ॥ १२ ॥

ततः श्रेण्यः शलभानामिवोग्राः
समापेतुर्विशिखानां प्रदीप्ताः ।
समाचिनोच्चापि भृशं शरीरं
हयान् सूतं सरथं चैव मह्यम् ॥ १३ ॥

फिर तो टिड्डियोंकी पंक्तियोंके समान प्रज्वलित एवं भयंकर बाणोंके समूह प्रकट होने लगे । इस प्रकार उन्होंने मेरे शरीर, रथ, सारथि और घोड़ोंको सर्वथा आच्छादित कर दिया ॥ १३ ॥

रथः शरैर्मे निचितः सर्वतोऽभूत्
तथा वाहाः सारथिश्चैव राजन् ।
युगं रथेषां च तथैव चक्रे
तथैवाक्षः शरकृत्तोऽथ भग्नः ॥ १४ ॥

राजन् ! मेरा रथ चारों ओरसे उनके बाणोंद्वारा व्याप्त हो रहा था । घोड़ों और सारथिकी भी यही दशा थी । युग तथा ईषादण्डको भी उन्होंने उसी प्रकार बाणविद्ध कर रक्खा था और रथका धुरा उनके बाणोंसे कटकर टूक-टूक हो गया था ॥

ततस्तस्मिन् बाणवर्षे व्यतीते
शरौघेण प्रत्यवर्षं गुरुं तम् ।
स विक्षतो मार्गणैर्ब्रह्मराशि-
र्देहादसृक्तं मुमुचे भूरि रक्तम् ॥ १५ ॥

जब उनकी बाण-वर्षा समाप्त हुई, तब मैंने भी बदलेमें गुरुदेवपर बाणसमूहोंकी बौछार आरम्भ कर दी । वे ब्रह्म-राशि महात्मा मेरे बाणोंसे क्षत-विक्षत होकर अपने शरीरसे अधिकाधिक रक्तकी धारा बहाने लगे ॥ १५ ॥

यथा रामो बाणजालाभितप्त-
स्तथैवाहं सुभृशं गाढविद्धः ।
ततो युद्धं व्यरमच्चापराह्णे
भानावस्तं प्रति याते महीध्रम् ॥ १६ ॥

जिस प्रकार परशुरामजी मेरे सायकसमूहोंसे संतप्त थे, उसी प्रकार मैं भी उनके बाणोंसे अत्यन्त घायल हो रहा था । तदनन्तर सायंकालमें जब सूर्यदेव अस्ताचलको चले गये, वह युद्ध बंद हो गया ॥ १६ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि अम्बोपाख्यानपर्वणि एकाशीत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १८१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत अम्बोपाख्यानपर्वमें एक सौ इक्यासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १८१ ॥

द्व्यशीत्यधिकशततमोऽध्यायः

भीष्म और परशुरामका युद्ध

भीष्म उवाच

ततः प्रभाते राजेन्द्र सूर्ये विमलतां गते ।
भार्गवस्य मया सार्धं पुनर्युद्धमवर्तत ॥ १ ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजेन्द्र ! तदनन्तर प्रातःकाल जब सूर्यदेव उदित होकर प्रकाशमें आ गये, उस समय मेरे साथ परशुरामजीका युद्ध पुनः प्रारम्भ हुआ ॥ १ ॥

ततोऽभ्रान्ते रथे तिष्ठन् रामः प्रहरतां वरः ।
ववर्ष शरजालानि मयि मेघ इवाचले ॥ २ ॥

तत्पश्चात् योद्धाओंमें श्रेष्ठ परशुरामजी स्थिर रथपर खड़े हो जैसे मेघ पर्वतपर जलकी बौछार करता है, उसी प्रकार मेरे ऊपर बाणसमूहोंकी वर्षा करने लगे ॥ २ ॥

ततः सूतो मम सुहृच्छरवर्षेण ताडितः ।
अपयातो रथोपस्थान्मनो मम विषादयन् ॥ ३ ॥

उस समय मेरा प्रिय सुहृद् सारथि बाणवर्षासे पीड़ित हो मेरे मनको विषादमें डालता हुआ रथकी बैठकसे नीचे गिर गया ॥

ततः सूतो ममात्यर्थं कश्मलं प्राविशन्महत् ।
पृथिव्यां च शराघातान्निपपात मुमोह च ॥ ४ ॥

मेरे सारथिको अत्यन्त मोह छा गया था । वह बाणोंके आघातसे पृथ्वीपर गिरा और अचेत हो गया ॥ ४ ॥

ततः सूतोऽजहात् प्राणान् रामबाणप्रपीडितः ।
मुहूर्तादिव राजेन्द्र मां च भीराविशत् तदा ॥ ५ ॥

राजेन्द्र ! परशुरामजीके बाणोंसे अत्यन्त पीड़ित होनेके कारण दो ही घड़ीमें सूतने प्राण त्याग दिये । उस समय मेरे मनमें बड़ा भय समा गया ॥ ५ ॥

ततः सूते हते तस्मिन् क्षिपतस्तस्य मे शरान् ।
प्रमत्तमनसो रामः प्राहिणोन्मृत्युसम्मितम् ॥ ६ ॥

उस सारथिके मारे जानेपर मैं असावधान मनसे परशु-रामजीके बाणोंको काट रहा था ! इतनेहीमें परशुरामजीने मुझपर मृत्युके समान भयंकर बाण छोड़ा ॥ ६ ॥

ततः सूतव्यसनिनं विप्लुतं मां स भार्गवः ।
शरेणाभ्यहनद् गाढं विकृष्य बलवद्धनुः ॥ ७ ॥

उस समय मैं सारथिकी मृत्युके कारण व्याकुल था तो भी भृगुनन्दन परशुरामने अपने सुदृढ़ धनुषको जोर-जोरसे खींचकर मुझपर बाणसे गहरा आघात किया ॥ ७ ॥

स मे भुजान्तरे राजन् निपत्य रुधिराशनः ।
मयैव सह राजेन्द्र जगाम वसुधातलम् ॥ ८ ॥

राजेन्द्र ! वह रक्त पीनेवाला बाण मेरी दोनों भुजाओंके बीच (वक्षःस्थलमें) चोट पहुँचाकर मुझे साथ लिये-दिये पृथ्वीपर जा गिरा ॥ ८ ॥

मत्वा तु निहतं रामस्ततो मां भरतर्षभ ।
मेघवद् विननादोच्चैर्जहृषे च पुनः पुनः ॥ ९ ॥

भरतश्रेष्ठ ! उस समय मुझे मारा गया जानकर परशु-

रामजी मेघके समान गम्भीर स्वरसे गर्जना करने लगे। उनके शरीरमें बार-बार हर्षजनित रोमाञ्च होने लगा ॥ ९ ॥

तथा तु पतिते राजन् मयि रामो मुदा युतः।
उदक्रोशन्महानादं सह तैरनुयायिभिः ॥ १० ॥

राजन्! इस प्रकार मेरे धराशायी होनेपर परशुरामजीको बड़ी प्रसन्नता हुई। उन्होंने अपने अनुयायियोंके साथ महान् कोलाहल मचाया ॥ १० ॥

मम तत्राभवन् ये तु कुरवः पार्श्वतः स्थिताः।
आगता अपि युद्धं तज्जनास्तत्र दिदृक्षवः।
आर्तिं परमिकां जग्मुस्ते तदा पतिते मयि ॥ ११ ॥

वहाँ मेरे पार्श्वभागमें जो कुरुवंशी क्षत्रियगण खड़े थे तथा जो लोग वहाँ युद्ध देखनेकी इच्छासे आये थे, उन सबको मेरे गिर जानेपर बड़ा दुःख हुआ ॥ ११ ॥

ततोऽपश्यं पतितो राजसिंह
द्विजानष्टौ सूर्यहुताशनाभान्।
ते मां समन्तात् परिवार्य तस्थुः
स्वबाहुभिः परिधार्याजिमध्ये ॥ १२ ॥

राजसिंह! वहाँ गिरते समय मैंने देखा कि सूर्य और अग्निके समान तेजस्वी आठ ब्राह्मण आये और संग्रामभूमिमें मुझे सब ओरसे घेरकर अपनी भुजाओंपर ही मेरे शरीरको धारण करके खड़े हो गये ॥ १२ ॥

रक्ष्यमाणश्च तैर्विप्रैर्नाहं भूमिमुपास्पृशम्।
अन्तरिक्षे धृतो ह्यस्मि तैर्विप्रैर्बान्धवैरिव ॥ १३ ॥

उन ब्राह्मणोंसे सुरक्षित होनेके कारण मुझे धरतीका स्पर्श नहीं करना पड़ा। मेरे सगे भाई-बन्धुओंकी भाँति उन ब्राह्मणोंने मुझे आकाशमें ही रोक लिया था ॥ १३ ॥

श्वसन्निवान्तरिक्षे च जलबिन्दुभिरुक्षितः।
ततस्ते ब्राह्मणा राजन्नब्रुवन् परिगृह्य माम् ॥ १४ ॥

राजन्! आकाशमें मैं साँस लेता-सा ठहर गया था। उस समय ब्राह्मणोंने मुझपर जलकी बूँदें छिड़क दीं। फिर वे मुझे पकड़कर बोले ॥ १४ ॥

मा भैरिति समं सर्वे स्वस्ति तेऽस्त्विति चासकृत्।
ततस्तेषामहं वाग्भिस्तर्पितः सहसोत्थितः।
मातरं सरितां श्रेष्ठामपश्यं रथमास्थिताम् ॥ १५ ॥

उन सबने एक साथ ही बार-बार कहा—'तुम्हारा कल्याण हो। तुम भयभीत न हो।' उनके वचनामृतोंसे तृप्त होकर मैं सहसा उठकर खड़ा हो गया और देखा, मेरे रथपर सारथिके स्थानमें सरिताओंमें श्रेष्ठ माता गङ्गा बैठी हुई हैं ॥ १५ ॥

हयाश्च मे संगृहीतास्तयासन्
महानद्या संयति कौरवेन्द्र।
पादौ जनन्याः प्रतिगृह्य चाहं
तथा पितॄणां रथमभ्यरोहम् ॥ १६ ॥

कौरवराज! उस युद्धमें महानदी माता गङ्गाने मेरे घोड़ोंकी बागडोर पकड़ रक्खी थी। तब मैं माताके चरणोंका स्पर्श करके और पितरोंके उद्देश्यसे भी मस्तक नवाकर उस रथपर जा बैठा ॥ १६ ॥

ररक्ष सा मां सरथं हयांश्चोपस्कराणि च।
तामहं प्राञ्जलिर्भूत्वा पुनरेव व्यसर्जयम् ॥ १७ ॥

माताने मेरे रथ, घोड़ों तथा अन्यान्य उपकरणोंकी रक्षा की। तब मैंने हाथ जोड़कर पुनः माताको विदा कर दिया ॥

ततोऽहं स्वयमुद्यम्य हयांस्तान् वातरंहसः।
अयुध्यं जामदग्न्येन निवृत्तेऽहनि भारत ॥ १८ ॥

भारत! तदनन्तर स्वयं ही उन वायुके समान वेगशाली घोड़ोंको काबूमें करके मैं जमदग्निनन्दन परशुरामजीके साथ युद्ध करने लगा। उस समय दिन प्रायः समाप्त हो चला था ॥

ततोऽहं भरतश्रेष्ठ वेगवन्तं महाबलम्।
अमुञ्चं समरे बाणं रामाय हृदयच्छिदम् ॥ १९ ॥

भरतश्रेष्ठ! उस समरभूमिमें मैंने परशुरामजीकी ओर एक प्रबल एवं वेगवान् बाण चलाया, जो हृदयको विदीर्ण कर देनेवाला था ॥ १९ ॥

ततो जगाम वसुधां मम बाणप्रपीडितः।
जानुभ्यां धनुरुत्सृज्य रामो मोहवशं गतः ॥ २० ॥

मेरे उस बाणसे अत्यन्त पीड़ित हो परशुरामजीने मूर्छाके वशीभूत होकर धनुष छोड़ धरतीपर घुटने टेक दिये। २०।

ततस्तस्मिन् निपतिते रामे भूरिसहस्रदे।
आवव्रुर्जलदा व्योम क्षरन्तो रुधिरं बहु ॥ २१ ॥

अनेक सहस्र ब्राह्मणोंको बहुत दान करनेवाले परशुरामजीके धराशायी होनेपर अधिकाधिक रक्तकी वर्षा करते हुए बादलोंने आकाशको ढक लिया ॥ २१ ॥

उल्काश्च शतशः पेतुः सनिर्घाताः सकम्पनाः।
अर्कं च सहसा दीप्तं स्वर्भानुरभिसंवृणोत् ॥ २२ ॥

बिजलीकी गड़गड़ाहटके समान सैकड़ों उल्कापात होने लगे। भूकम्प आ गया। अपनी किरणोंसे उद्भासित होनेवाले सूर्यदेवको राहुने सब ओरसे सहसा घेर लिया ॥ २२ ॥

ववुश्च वाताः परुषाश्चलिता च वसुन्धरा।
गृध्रा बलाश्च कङ्काश्च परिपेतुर्मुदा युताः ॥ २३ ॥

वायु तीव्र वेगसे बहने लगी, धरती डोलने लगी, गीध, कौवे और कङ्क प्रसन्नतापूर्वक सब ओर उड़ने लगे ॥ २३ ॥

दीप्तायां दिशि गोमायुर्दारुणं मुहुरुन्नदत्।
अनाहता दुन्दुभयो विनेदुर्भृशनिःस्वनाः ॥ २४ ॥

दिशाओंमें दाह-सा होने लगा, गीदड़ बार-बार भयंकर बोली बोलने लगा, दुन्दुभियाँ बिना बजाये ही जोर-जोरसे बजने लगीं ॥ २४ ॥

एतदौत्पातिकं सर्वं घोरमासीद् भयंकरम्।
विसंज्ञकल्पे धरणीं गते रामे महात्मनि ॥ २५ ॥

इस प्रकार महात्मा परशुरामके मूर्छित होकर पृथ्वीपर गिरते ही ये समस्त उत्पातसूचक अत्यन्त भयंकर अपशकुन होने लगे ॥ २५ ॥

ततो वै सहसोत्थाय रामो मामभ्यवर्तत।
पुनर्युद्धाय कौरव्य विह्वलः क्रोधमूर्छितः ॥ २६ ॥

कुरुनन्दन ! इसी समय परशुरामजी सहसा उठकर क्रोधसे मूर्छित एवं विह्वल हो पुनः युद्धके लिये मेरे समीप आये॥

आददानो महाबाहुः कार्मुकं तालसंनिभम्।
ततो मय्याददानं तं राममेव न्यवारयन् ॥ २७ ॥
महर्षयः कृपायुक्ताः क्रोधाविष्टोऽथ भार्गवः।
स मेऽहरदमेयात्मा शरं कालानलोपमम् ॥ २८ ॥

परशुराम ताड़के समान विशाल धनुष लिये हुए थे। जब वे मेरे लिये बाण उठाने लगे; तब दयालु महर्षियोंने उन्हें रोक दिया। वह बाण कालाग्निके समान भयकर था। अमेयस्वरूप भार्गवने कुपित होनेपर भी मुनियोंके कहनेसे उस बाणका उपसंहार कर लिया ॥ २७-२८ ॥

ततो रविर्मन्दमरीचिमण्डलो
जगामास्तं पांसुपुञ्जावगूढः।
निशा व्यगाहत् सुखशीतमारुता
ततो युद्धं प्रत्यवहारयावः ॥ २९ ॥

तदनन्तर मन्द किरणोंके पुञ्जसे प्रकाशित सूर्यदेव युद्धभूमिकी उड़ती हुई धूलोंसे आच्छादित हो अस्ताचलको चले गये। रात्रि आ गयी और सुखद शीतल वायु चलने लगी। उस समय हम दोनोंने युद्ध समाप्त कर दिया ॥ २९ ॥

एवं राजन्नवहारो बभूव
ततः पुनर्विमलेऽभूत् सुघोरम्।
कल्यं कल्यं विंशतिं वै दिनानि
तथैव चान्यानि दिनानि त्रीणि ॥ ३० ॥

राजन् ! इस प्रकार प्रतिदिन संध्याके समय युद्ध बंद हो जाता और प्रातःकाल सूर्योदय होनेपर पुनः अत्यन्त भयंकर संग्राम छिड़ जाता था। इस प्रकार हम दोनोंके युद्ध करते-करते तेईस दिन बीत गये ॥ ३० ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि अम्बोपाख्यानपर्वणि रामभीष्मयुद्धे द्व्यशीत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १८२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत अम्बोपाख्यानपर्वमें परशुराम-भीष्मयुद्धविषयक एक सौ बयासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥१८२॥

त्र्यशीत्यधिकशततमोऽध्यायः

भीष्मको अष्टवसुओंसे प्रस्वापनास्त्रकी प्राप्ति

भीष्म उवाच

ततोऽहं निशि राजेन्द्र प्रणम्य शिरसा तदा।
ब्राह्मणानां पितॄणां च देवतानां च सर्वशः ॥ १ ॥
नक्तंचराणां भूतानां राजन्यानां विशाम्पते।
शयनं प्राप्य रहिते मनसा समचिन्तयम् ॥ २ ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजेन्द्र ! तदनन्तर मैं रातके समय एकान्तमें शय्यापर जाकर ब्राह्मणों, पितरों, देवताओं, निशाचरों, भूतों तथा राजर्षिगणोंको मस्तक झुकाकर प्रणाम करनेके पश्चात् मन-ही-मन इस प्रकार चिन्ता करने लगा १-२

जामदग्न्येन मे युद्धमिदं परमदारुणम्।
अहानि च बहून्यद्य वर्तते सुमहात्ययम् ॥ ३ ॥

आज बहुत दिन हो गये, जमदग्निनन्दन परशुरामजीके साथ यह मेरा अत्यन्त भयंकर और महान् अनिष्टकारक युद्ध चल रहा है ॥ ३ ॥

न च रामं महावीर्यं शक्नोमि रणमूर्धनि।
विजेतुं समरे विप्रं जामदग्न्यं महाबलम् ॥ ४ ॥

परंतु मैं महाबली, महापराक्रमी विप्रवर परशुरामजीको समरभूमिमें युद्धके मुहानेपर किसी तरह जीत नहीं सकता ॥४॥

यदि शक्यो मया जेतुं जामदग्न्यः प्रतापवान्।
दैवतानि प्रसन्नानि दर्शयन्तु निशां मम ॥ ५ ॥

यदि प्रतापी जमदग्निकुमारको जीतना मेरे लिये सम्भव हो तो प्रसन्न हुए देवगण रात्रिमें मुझे दर्शन दें ॥ ५ ॥

ततो निशि च राजेन्द्र प्रसुप्तः शरविक्षतः।
दक्षिणेनेह पार्श्वेन प्रभातसमये तदा ॥ ६ ॥
ततोऽहं विप्रमुख्यैस्तैर्यैरस्मि पतितो रथात्।
उत्थापितो धृतश्चैव मा भैरिति च सान्त्वितः ॥ ७ ॥
त एव मां महाराज स्वप्नदर्शनमेत्य वै।
परिवार्याब्रुवन् वाक्यं तन्निबोध कुरूद्वह ॥ ८ ॥

राजेन्द्र ! ऐसी प्रार्थना करके बाणोंसे क्षत-विक्षत हुआ मैं रात्रिके अन्तमें प्रभातके समय दाहिनी करवटसे सो गया। महाराज ! कुरुश्रेष्ठ ! तत्पश्चात् जिन ब्राह्मणशिरोमणियोंने रथसे गिरनेपर मुझे थाम लिया और उठाया था तथा 'डरो मत' ऐसा कहकर सान्त्वना दी थी, उन्हीं लोगोंने मुझे सपनेमें दर्शन दे मेरे चारों ओर खड़े होकर जो बात कही थी, उसे बताता हूँ, सुनो ॥ ६–८ ॥

उत्तिष्ठ मा भैर्गाङ्गेय न भयं तेऽस्ति किंचन।
रक्षामहे त्वां कौरव्य स्वशरीरं हि नो भवान् ॥ ९ ॥

'गङ्गानन्दन ! उठो। भयभीत न होओ। तुम्हें कोई भय नहीं है। कुरुनन्दन ! हम तुम्हारी रक्षा करते हैं, क्योंकि तुम हमारे ही स्वरूप हो ॥ ९ ॥

न त्वां रामो रणे जेता जामदग्न्यः कथंचन।
त्वमेव समरे रामं विजेता भरतर्षभ ॥ १० ॥

'जमदग्निकुमार परशुराम तुम्हें किसी प्रकार युद्धमें जीत नहीं सकेंगे। भरतभूषण ! तुम्हीं रणक्षेत्रमें परशुरामपर विजय पाओगे ॥ १० ॥

इदमस्त्रं सुदयितं प्रत्यभिज्ञास्यते भवान्।
विदितं हि तवाप्येतत् पूर्वस्मिन् देहधारणे ॥ ११ ॥
प्राजापत्यं विश्वकृतं प्रस्वापं नाम भारत।

न हीदं वेद रामोऽपि पृथिव्यां वा पुमान् क्वचित्॥ १२॥

'भारत! यह प्रस्वाप नामक अस्त्र है, जिसके देवता प्रजापति हैं। विश्वकर्माने इसका आविष्कार किया है। यह तुम्हें भी परम प्रिय है। इसकी प्रयोगविधि तुम्हें स्वतः ज्ञात हो जायगी; क्योंकि पूर्व शरीरमें तुम्हें भी इसका पूर्ण ज्ञान था। परशुरामजी भी इस अस्त्रको नहीं जानते हैं। इस पृथ्वीपर कहीं किसी भी पुरुषको इसका ज्ञान नहीं है ११-१२

तत् स्मरस्व महाबाहो भृशं संयोजयस्व च।
उपस्थास्यति राजेन्द्र स्वयमेव तवानघ॥ १३॥

'महाबाहो! इस अस्त्रका स्मरण करो और विशेषरूपसे इसीका प्रयोग करो। निष्पाप राजेन्द्र! यह अस्त्र स्वयं ही तुम्हारी सेवामें उपस्थित हो जायगा॥ १३॥

येन सर्वान् महावीर्यान् प्रशासिष्यसि कौरव।
न च रामः क्षयं गन्ता तेनास्त्रेण नराधिप॥ १४॥

'कुरुनन्दन! उसके प्रभावसे तुम सम्पूर्ण महापराक्रमी नरेशोंपर शासन करोगे। राजन्! उस अस्त्रसे परशुरामका नाश नहीं होगा॥ १४॥

एनसा न तु संयोगं प्राप्स्यसे जातु मानद।
स्वप्स्यते जामदग्न्योऽसौ त्वद्बाणबलपीडितः॥ १५॥

'इसलिये मानद! तुम्हें कभी इसके द्वारा पापसे संयोग नहीं होगा। तुम्हारे अस्त्रके प्रभावसे पीड़ित होकर जमदग्निकुमार परशुराम चुपचाप सो जायँगे॥ १५॥

ततो जित्वा त्वमेवैनं पुनरुत्थापयिष्यसि।
अस्त्रेण दयितेनाजौ भीष्म सम्बोधनेन वै॥ १६॥

'भीष्म! तदनन्तर अपने उस प्रिय अस्त्रके द्वारा युद्धमें विजयी होकर तुम्हीं उन्हें सम्बोधनास्त्रद्वारा पुनः जगाकर उठाओगे॥ १६॥

एवं कुरुष्व कौरव्य प्रभाते रथमास्थितः।
प्रसुप्तं वा मृतं वेति तुल्यं मन्यामहे वयम्॥ १७॥

'कुरुनन्दन! प्रातःकाल रथपर बैठकर तुम ऐसा ही करो; क्योंकि हमलोग सोये अथवा मरे हुएको समान ही समझते हैं॥

न च रामेण मर्तव्यं कदाचिदपि पार्थिव।
ततः समुत्पन्नमिदं प्रस्वापं युज्यतामिति॥ १८॥

'राजन्! परशुरामकी कभी मृत्यु नहीं हो सकती; अतः इस प्राप्त हुए प्रस्वाप नामक अस्त्रका प्रयोग करो'॥ १८॥

इत्युक्त्वान्तर्हिता राजन् सर्व एव द्विजोत्तमाः।
अष्टौ सदृशरूपास्ते सर्वे भास्वरमूर्तयः॥ १९॥

राजन्! ऐसा कहकर वे वसुस्वरूप सभी श्रेष्ठ ब्राह्मण अदृश्य हो गये। वे आठों समान रूपवाले थे। उन सबके शरीर तेजोमय प्रतीत होते थे॥ १९॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि अम्बोपाख्यानपर्वणि भीष्मप्रस्वापनास्त्रलाभे त्र्यशीत्यधिकशततमोऽध्यायः॥ १८३॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत अम्बोपाख्यानपर्वमें भीष्मको प्रस्वापनास्त्रकी प्राप्तिविषयक एक सौ तिरासीवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ १८३

चतुरशीत्यधिकशततमोऽध्यायः

भीष्म तथा परशुरामजीका एक दूसरेपर शक्ति और ब्रह्मास्त्रका प्रयोग

भीष्म उवाच

ततो रात्रौ व्यतीतायां प्रतिबुद्धोऽस्मि भारत।
ततः संचिन्त्य वै स्वप्नमवापं हर्षमुत्तमम्॥ १॥

भीष्मजी कहते हैं—भारत! तदनन्तर रात बीतनेपर जब मेरी नींद खुली, तब उस स्वप्नकी बातको सोचकर मुझे बड़ा हर्ष प्राप्त हुआ॥ १॥

ततः समभवद् युद्धं मम तस्य च भारत।
तुमुलं सर्वभूतानां लोमहर्षणमद्भुतम्॥ २॥

भारत! तदनन्तर मेरा और परशुरामजीका भयंकर युद्ध छिड़ गया, जो समस्त प्राणियोंके रोंगटे खड़े कर देनेवाला और अद्भुत था॥ २॥

ततो बाणमयं वर्षं ववर्ष मयि भार्गवः।
न्यवारयमहं तच्च शरजालेन भारत॥ ३॥

उस समय भृगुनन्दन परशुरामजीने मुझपर बाणोंकी झड़ी लगा दी। भारत! तब मैंने अपने सायकसमूहोंसे उस बाणवर्षाको रोक दिया॥ ३॥

ततः परमसंक्रुद्धः पुनरेव महातपाः।
ह्यस्तनेन च कोपेन शक्तिं वै प्राहिणोन्मयि॥ ४॥

तब महातपस्वी परशुराम पुनः मुझपर अत्यन्त कुपित हो गये। पहले दिनका भी कोप था ही। उससे प्रेरित होकर उन्होंने मेरे ऊपर शक्ति चलायी॥ ४॥

इन्द्राशनिसमस्पर्शां यमदण्डसमप्रभाम्।
ज्वलन्तीमग्निवत् संख्ये लेलिहानां समन्ततः॥ ५॥

उसका स्पर्श इन्द्रके वज्रके समान भयंकर था। उसकी प्रभा यमदण्डके समान थी और उस संग्राममें अग्निके समान प्रज्वलित हुई वह शक्ति मानो सब ओरसे रक्त चाट रही थी॥

ततो भरतशार्दूल धिष्ण्यमाकाशगं यथा।
स मामभ्यवधीत् तूर्णं जत्रुदेशे कुरूद्वह॥ ६॥

भरतश्रेष्ठ! कुरुकुलरत्न! फिर आकाशवर्ती नक्षत्रके समान प्रकाशित होनेवाली उस शक्तिने तुरंत आकर मेरे गलेकी हँसलीपर आघात किया॥ ६॥

अथास्रमस्रवद् घोरं गिरेर्गैरिकधातुवत्।
रामेण सुमहाबाहो क्षतस्य क्षतजेक्षण॥ ७॥

लाल नेत्रोंवाले महाबाहु दुर्योधन! परशुरामजीके द्वारा किये हुए उस गहरे आघातसे भयंकर रक्तकी धारा बह चली। मानो पर्वतसे गैरिक धातुमिश्रित जलका झरना झर रहा हो॥ ७॥

ततोऽहं जामदग्न्याय भृशं क्रोधसमन्वितः।
चिक्षेप मृत्युसंकाशं बाणं सर्पविषोपमम्॥ ८॥

तब मैंने भी अत्यन्त कुपित हो सर्पविषके समान भयंकर मृत्युतुल्य बाण लेकर परशुरामजीके ऊपर चलाया॥ ८॥

स तेनाभिहतो वीरो ललाटे द्विजसत्तमः।
अशोभत महाराज सशृङ्ग इव पर्वतः॥ ९॥

उस बाणने विप्रवर वीर परशुरामजीके ललाटमें चोट पहुँचायी। महाराज! उसके कारण वे शिखरयुक्त पर्वतके समान शोभा पाने लगे॥ ९॥

स संरब्धः समावृत्य शरं कालान्तकोपमम्।
संदधे बलवत् कृष्य घोरं शत्रुनिबर्हणम्॥ १०॥

तब उन्होंने भी रोषमें आकर काल और यमके समान भयंकर शत्रुनाशक बाणको हाथमें ले धनुषको बलपूर्वक खींचकर उसके ऊपर रक्खा॥ १०॥

स वक्षसि पपातोग्रः शरो व्याल इव श्वसन्।
महीं राजंस्ततश्चाहमगमं रुधिराविलः॥ ११॥

राजन्! उनका चलाया हुआ वह भयंकर बाण फुफकारते हुए सर्पके समान सनसनाता हुआ मेरी छातीपर आकर लगा। उससे लहूलुहान होकर मैं पृथ्वीपर गिर पड़ा॥११॥

सम्प्राप्य तु पुनः संज्ञां जामदग्न्याय धीमते।
प्राहिण्वं विमलां शक्तिं ज्वलन्तीमशनीमिव॥ १२॥

पुनः चेतमें आनेपर मैंने बुद्धिमान् परशुरामजीके ऊपर प्रज्वलित वज्रके समान एक उज्ज्वल शक्ति चलायी॥ १२॥

सा तस्य द्विजमुख्यस्य निपपात भुजान्तरे।
विह्वलश्चाभवद् राजन् वेपथुश्चैनमाविशत्॥ १३॥

वह शक्ति उन ब्राह्मणशिरोमणिकी दोनों भुजाओंके ठीक बीचमें जाकर लगी। राजन्! इससे वे विह्वल हो गये और उनके शरीरमें कँपकँपी आ गयी॥ १३॥

तत एनं परिष्वज्य सखा विप्रो महातपाः।
अकृतव्रणः शुभैर्वाक्यैराश्वासयदनेकधा॥ १४॥

तब उनके महातपस्वी मित्र अकृतव्रणने उन्हें हृदयसे लगाकर सुन्दर वचनोंद्वारा अनेक प्रकारसे आश्वासन दिया॥

समाश्वस्तस्ततो रामः क्रोधामर्षसमन्वितः।
प्रादुश्चक्रे तदा ब्राह्मं परमास्त्रं महाव्रतः॥ १५॥

तदनन्तर महाव्रती परशुरामजी धैर्ययुक्त हो क्रोध और अमर्षमें भर गये और उन्होंने परम उत्तम ब्रह्मास्त्रका प्रयोग किया॥ १५॥

ततस्तत्प्रतिघातार्थं ब्राह्ममेवास्त्रमुत्तमम्।
मया प्रयुक्तं जज्वाल युगान्तमिव दर्शयत्॥ १६॥

तब उस अस्त्रका निवारण करनेके लिये मैंने भी उत्तम ब्रह्मास्त्रका ही प्रयोग किया। मेरा वह अस्त्र प्रलयकालका-सा दृश्य उपस्थित करता हुआ प्रज्वलित हो उठा॥ १६॥

तयोर्ब्रह्मास्त्रयोरासीदन्तरा वै समागमः।
असम्प्राप्यैव रामं च मां च भारतसत्तम॥ १७॥

भरतवंशशिरोमणे! वे दोनों ब्रह्मास्त्र मेरे तथा परशुरामजीके पास न पहुँचकर बीचमें ही एक दूसरेसे भिड़ गये॥

ततो व्योम्नि प्रादुरभूत् तेज एव हि केवलम्।
भूतानि चैव सर्वाणि जग्मुरार्तिं विशाम्पते॥ १८॥

प्रजानाथ! फिर तो आकाशमें केवल आगकी ही ज्वाला प्रकट होने लगी। इससे समस्त प्राणियोंको बड़ी पीड़ा हुई॥

ऋषयश्च सगन्धर्वा देवताश्चैव भारत।
संतापं परमं जग्मुरस्त्रतेजोऽभिपीडिताः॥ १९॥

भारत! उन ब्रह्मास्त्रोंके तेजसे पीड़ित होकर ऋषि, गन्धर्व तथा देवता भी अत्यन्त संतप्त हो उठे॥ १९॥

ततश्चचाल पृथिवी सपर्वतवनद्रुमा।
संतप्तानि च भूतानि विषादं जग्मुरुत्तमम्॥ २०॥

फिर तो पर्वत, वन और वृक्षोंसहित सारी पृथ्वी डोलने लगी। भूतलके समस्त प्राणी संतप्त हो अत्यन्त विषाद करने लगे॥

प्रजज्वाल नभो राजन् धूमायन्ते दिशो दश।
न स्थातुमन्तरिक्षे च शेकुराकाशगास्तदा॥ २१॥

राजन्! उस समय आकाश जल रहा था। सम्पूर्ण दिशाओंमें धूम व्याप्त हो रहा था। आकाशचारी प्राणी भी आकाशमें टहर न सके॥ २१॥

ततो हाहाकृते लोके सदेवासुरराक्षसे।
इदमन्तरमित्येवं मोक्तुकामोऽस्मि भारत॥ २२॥
प्रस्वापमस्त्रं त्वरितो वचनाद् ब्रह्मवादिनाम्।
विचित्रं च तदस्त्रं मे मनसि प्रत्यभात् तदा॥ २३॥

तदनन्तर देवता, असुर तथा राक्षसोंसहित सम्पूर्ण जगत्में हाहाकार मच गया। भारत! 'यही उपयुक्त अवसर है' ऐसा मानकर मैंने तुरंत ही प्रस्वापनास्त्रको छोड़नेका विचार किया। फिर तो उन ब्रह्मवादी वसुओंके कथनानुसार उस विचित्र अस्त्रका मेरे मनमें स्मरण हो आया॥ २२-२३॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि अम्बोपाख्यानपर्वणि परस्परब्रह्मास्त्रप्रयोगे चतुरशीत्यधिकशततमोऽध्यायः॥ १८४॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत अम्बोपाख्यानपर्वमें परस्पर ब्रह्मास्त्रप्रयोगविषयक एक सौ चौरासीवाँ अध्याय पूरा हुआ॥१८४॥

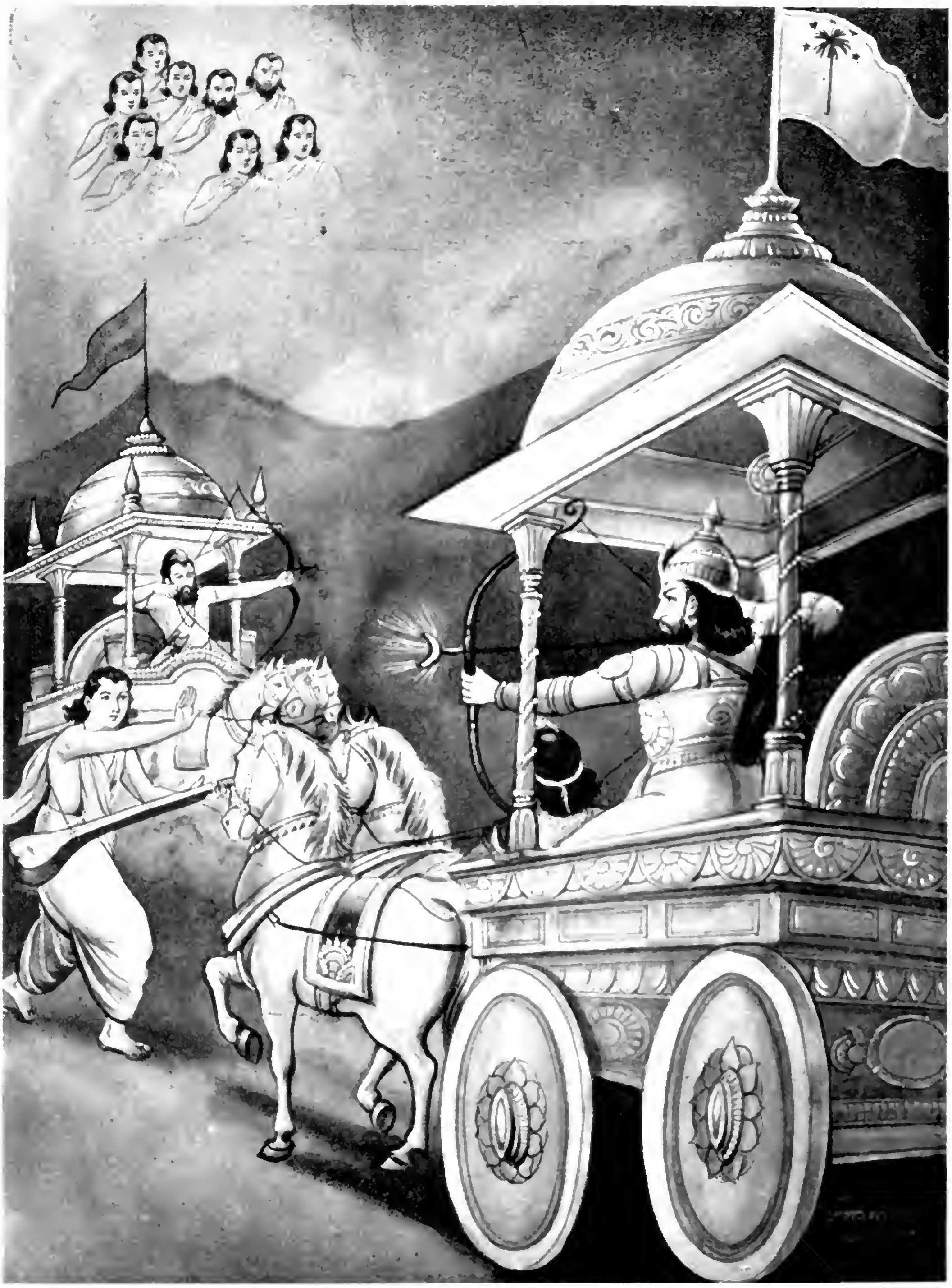
पञ्चाशीत्यधिकशततमोऽध्यायः

देवताओंके मना करनेसे भीष्मका प्रस्वापनास्त्रको प्रयोगमें न लाना तथा पितर, देवता और गङ्गाके आग्रहसे भीष्म और परशुरामके युद्धकी समाप्ति

भीष्म उवाच

ततो हलहलाशब्दो दिवि राजन् महानभूत्।
प्रस्वापं भीष्म मा स्राक्षीरिति कौरवनन्दन॥ १॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन्! कौरवनन्दन! तदनन्तर



भीष्म और परशुरामके युद्धमें नारदजीद्वारा बीच-बचाव

'भीष्म ! प्रस्वापनास्त्रका प्रयोग न करो' इस प्रकार आकाशमें महान् कोलाहल मच गया ॥ १ ॥

अयुञ्जमेव चैवाहं तदस्त्रं भृगुनन्दने ।
प्रस्वापं मां प्रयुञ्जानं नारदो वाक्यमब्रवीत् ॥ २ ॥

तथापि मैंने भृगुनन्दन परशुरामजीको लक्ष्य करके उस अस्त्रको धनुषपर चढ़ा ही लिया । मुझे प्रस्वापनास्त्रका प्रयोग करते देख नारदजीने इस प्रकार कहा—॥ २ ॥

एते वियति कौरव्य दिवि देवगणाः स्थिताः ।
ते त्वां निवारयन्त्यद्य प्रस्वापं मा प्रयोजय ॥ ३ ॥

'कुरुनन्दन ! ये आकाशमें स्वर्गलोकके देवता खड़े हैं। ये सबके सब इस समय तुम्हें मना कर रहे हैं; तुम प्रस्वापनास्त्रका प्रयोग न करो ॥ ३ ॥

रामस्तपस्वी ब्रह्मण्यो ब्राह्मणश्च गुरुश्च ते ।
तस्यावमानं कौरव्य मा स्म कार्षीः कथंचन ॥ ४ ॥

'परशुरामजी तपस्वी, ब्राह्मणभक्त, ब्रह्मवेत्ता ब्राह्मण और तुम्हारे गुरु हैं । कुरुकुलरत्न ! तुम किसी तरह भी उनका अपमान न करो' ॥ ४ ॥

ततोऽपश्यं दिविष्ठान् वै तानष्टौ ब्रह्मवादिनः ।
ते मां स्मयन्तो राजेन्द्र शनकैरिदमब्रुवन् ॥ ५ ॥

राजेन्द्र ! तत्पश्चात् मैंने आकाशमें खड़े हुए उन आठों ब्रह्मवादी वसुओंको देखा । वे मुसकराते हुए मुझसे धीरे-धीरे इस प्रकार बोले—॥ ५ ॥

यथाऽऽह भरतश्रेष्ठ नारदस्तत् तथा कुरु ।
एतद्धि परमं श्रेयो लोकानां भरतर्षभ ॥ ६ ॥

'भरतश्रेष्ठ ! नारदजी जैसा कहते हैं, वैसा करो । भरतकुलतिलक ! यही सम्पूर्ण जगत्‌के लिये परम कल्याणकारी होगा'॥

ततश्च प्रतिसंहृत्य तदस्त्रं स्वापनं महत् ।
ब्रह्मास्त्रं दीपयांचक्रे तस्मिन् युधि यथाविधि ॥ ७ ॥

तब मैंने उस महान् प्रस्वापनास्त्रको धनुपसे उतार लिया और उस युद्धमें विधिपूर्वक ब्रह्मास्त्रको ही प्रकाशित किया ॥

ततो रामो हृषितो राजसिंह
दृष्ट्वा तदस्त्रं विनिवर्तितं वै ।
जितोऽस्मि भीष्मेण सुमन्दबुद्धि-
रित्येव वाक्यं सहसा व्यमुञ्चत् ॥ ८ ॥

राजसिंह ! मैंने प्रस्वापनास्त्रको उतार लिया है—यह देखकर परशुरामजी बड़े प्रसन्न हुए । उनके मुखसे सहसा यह वाक्य निकल पड़ा कि 'मुझ मन्दबुद्धिको भीष्मने जीत लिया' ॥

ततोऽपश्यत् पितरं जामदग्न्यः
पितुस्तथा पितरं चास्य मान्यम् ।
ते तत्र चैनं परिवार्य तस्थु-
रूचुश्चैनं सान्त्वपूर्वं तदानीम् ॥ ९ ॥

इसके बाद जमदग्निकुमार परशुरामने अपने पिता जमदग्निको तथा उनके भी माननीय पिता ऋचीक मुनिको देखा । वे सब पितर उन्हें चारों ओरसे घेरकर खड़े हो गये और उस समय उन्हें सान्त्वना देते हुए बोले ॥ ९ ॥

पितर ऊचुः

मा स्मैवं साहसं तात पुनः कार्षीः कथंचन ।
भीष्मेण संयुगं गन्तुं क्षत्रियेण विशेषतः ॥ १० ॥

पितरोंने कहा—तात ! फिर कभी किसी प्रकार भी ऐसा साहस न करना । भीष्म और विशेषतः क्षत्रियके साथ युद्धभूमिमें उतरना अब तुम्हारे लिये उचित नहीं है ॥ १० ॥

क्षत्रियस्य तु धर्मोऽयं यद् युद्धं भृगुनन्दन ।
स्वाध्यायो व्रतचर्याथ ब्राह्मणानां परं धनम् ॥ ११ ॥

भृगुनन्दन ! क्षत्रियका तो युद्ध करना धर्म ही है; किंतु ब्राह्मणोंके लिये वेदोंका स्वाध्याय तथा उत्तम व्रतोंका पालन ही परम धर्म है ॥ ११ ॥

इदं निमित्ते कस्मिंश्चिदस्माभिः प्रागुदाहृतम् ।
शस्त्रधारणमत्युग्रं तच्चाकार्यं कृतं त्वया ॥ १२ ॥

यह बात पहले भी किसी अवसरपर हमने तुमसे कही थी । शस्त्र उठाना अत्यन्त भयंकर कर्म है; अतः तुमने यह न करने योग्य कार्य ही किया है ॥ १२ ॥

वत्स पर्याप्तमेतावद् भीष्मेण सह संयुगे ।
विमर्दस्ते महाबाहो व्यपयाहि रणादितः ॥ १३ ॥

महाबाहो ! वत्स ! भीष्मके साथ युद्धमें उतरकर जो तुमने इतना विध्वंसात्मक कार्य किया है, यही बहुत हो गया । अब तुम इस संग्रामसे हट जाओ ॥ १३ ॥

पर्याप्तमेतद् भद्रं ते तव कार्मुकधारणम् ।
विसर्जयैतद् दुर्धर्ष तपस्तप्यस्व भार्गव ॥ १४ ॥
एष भीष्मः शान्तनवो देवैः सर्वैर्निवारितः ।
निवर्तस्व रणादस्मादिति चैव प्रसादितः ॥ १५ ॥
रामेण सह मा योत्सीर्गुरुणेति पुनः पुनः ।
न हि रामो रणे जेतुं त्वया न्याय्यः कुरूद्वह ॥ १६ ॥
मानं कुरुष्व गाङ्गेय ब्राह्मणस्य रणाजिरे ।

भृगुनन्दन ! तुम्हारा कल्याण हो । दुर्धर्ष वीर ! तुमने जो धनुष उठा लिया, यही पर्याप्त है । अब इसे त्याग दो और तपस्या करो । देखो, इन सम्पूर्ण देवताओंने शान्तनुनन्दन भीष्मको भी रोक दिया है । वे उन्हें प्रसन्न करके यह बात कह रहे हैं कि 'तुम युद्धसे निवृत्त हो जाओ । परशुराम तुम्हारे गुरु हैं । तुम उनके साथ बार-बार युद्ध न करो । कुरुश्रेष्ठ ! परशुरामको युद्धमें जीतना तुम्हारे लिये कदापि न्यायसंगत नहीं है । गङ्गानन्दन ! तुम इस समराङ्गणमें अपने ब्राह्मणगुरुका सम्मान करो' ॥ १४—१६½ ॥

वयं तु गुरवस्तुभ्यं तस्मात् त्वां वारयामहे ॥ १७ ॥
भीष्मो वसूनामन्यतमो दिष्ट्या जीवसि पुत्रक ।

बेटा परशुराम ! हम तो तुम्हारे गुरुजन—आदरणीय पितर हैं । इसलिये तुम्हें रोक रहे हैं । पुत्र ! भीष्म वसुओंमेंसे एक वसु हैं । तुम अपना सौभाग्य ही समझो कि उनके साथ युद्ध करके अबतक जीवित हो ॥ १७½ ॥

गाङ्गेयः शान्तनोः पुत्रो वसुरेष महायशाः ॥ १८ ॥
कथं शक्यस्त्वया जेतुं निवर्तस्वेह भार्गव ।

भृगुनन्दन ! गङ्गा और शान्तनुके ये महायशस्वी पुत्र भीष्म साक्षात् वसु ही हैं। इन्हें तुम कैसे जीत सकते हो ? अतः यहाँ युद्धसे निवृत्त हो जाओ ॥ १८½ ॥

अर्जुनः पाण्डवश्रेष्ठः पुरंदरसुतो बली ॥ १९ ॥
नरः प्रजापतिर्वीरः पूर्वदेवः सनातनः ।
सव्यसाचीति विख्यातस्त्रिषु लोकेषु वीर्यवान् ।
भीष्ममृत्युर्यथाकालं विहितो वै स्वयम्भुवा ॥ २० ॥

प्राचीन सनातन देवता और प्रजापालक वीरवर भगवान् नर इन्द्रपुत्र महाबली पाण्डवश्रेष्ठ अर्जुनके रूपमें प्रकट होंगे तथा पराक्रमसम्पन्न होकर तीनों लोकोंमें सव्यसाचीके नामसे विख्यात होंगे। स्वयम्भू ब्रह्माजीने उन्हींको यथासमय भीष्मकी मृत्युमें कारण बनाया है ॥ १९-२० ॥

भीष्म उवाच

एवमुक्तः स पितृभिः पितॄन् रामोऽब्रवीदिदम् ।
नाहं युधि निवर्तेयमिति मे व्रतमाहितम् ॥ २१ ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन् ! पितरोंके ऐसा कहनेपर परशुरामजीने उनसे इस प्रकार कहा—'मैं युद्धमें पीठ नहीं दिखाऊँगा। यह मेरा चिरकालसे धारण किया हुआ व्रत है॥

न निवर्तितपूर्वश्च कदाचिद् रणमूर्धनि ।
निवर्त्यतामापगेयः कामं युद्धात् पितामहाः ॥ २२ ॥
न त्वहं विनिवर्तिष्ये युद्धादस्मात् कथंचन ।

'आजसे पहले भी मैं कभी किसी युद्धसे पीछे नहीं हटा हूँ। अतः पितामहो ! आपलोग अपनी इच्छाके अनुसार पहले गङ्गानन्दन भीष्मको ही युद्धसे निवृत्त कीजिये। मैं किसी प्रकार पहले स्वयं ही इस युद्धसे पीछे नहीं हटूँगा' २२½

ततस्ते मुनयो राजन्नृचीकप्रमुखास्तदा ॥ २३ ॥
नारदेनैव सहिताः समागम्येदमब्रुवन् ।
निवर्तस्व रणात् तात मानयस्व द्विजोत्तमम् ॥ २४ ॥

राजन् ! तब वे ऋचीक आदि मुनि नारदजीके साथ मेरे पास आये और इस प्रकार बोले—'तात ! तुम्हीं युद्ध-से निवृत्त हो जाओ और द्विजश्रेष्ठ परशुरामजीका मान रक्खो' ॥ २३-२४ ॥

इत्यवोचमहं तांश्च क्षत्रधर्मव्यपेक्षया ।
मम व्रतमिदं लोके नाहं युद्धात् कदाचन ॥ २५ ॥
विमुखो विनिवर्तेयं पृष्ठतोऽभ्याहतः शरैः ।
नाहं लोभान्न कार्पण्यान्न भयान्नार्थकारणात् ॥ २६ ॥
त्यजेयं शाश्वतं धर्ममिति मे निश्चिता मतिः ।

तब मैंने क्षत्रियधर्मको लक्ष्य करके उनसे कहा—'महर्षियो ! संसारमें मेरा यह व्रत प्रसिद्ध है कि मैं पीठपर बाणोंकी चोट खाता हुआ कदापि युद्धसे निवृत्त नहीं हो सकता। मेरा यह निश्चित विचार है कि मैं लोभसे, कायरता या दीनतासे, भयसे अथवा किसी स्वार्थके कारण भी क्षत्रियों-के सनातन धर्मका त्याग नहीं कर सकता' ॥ २५-२६½ ॥

ततस्ते मुनयः सर्वे नारदप्रमुखा नृप ॥ २७ ॥
भागीरथी च मे माता रणमध्यं प्रपेदिरे ।
तथैवात्तशरो धन्वी तथैव दृढनिश्चयः ।
स्थिरोऽहमाहवे योद्धुं ततस्ते राममब्रुवन् ॥ २८ ॥
समेत्य सहिता भूयः समरे भृगुनन्दनम् ।

इतना कहकर मैं पूर्ववत् धनुष-बाण लिये दृढ़ निश्चयके साथ समरभूमिमें युद्ध करनेके लिये डटा रहा। राजन् ! तब वे नारद आदि सम्पूर्ण ऋषि और मेरी माता गङ्गा सब लोग उस रणक्षेत्रमें एकत्र हुए और पुनः एक साथ मिलकर उस समराङ्गणमें भृगुनन्दन परशुरामजीके पास जाकर इस प्रकार बोले—॥ २७-२८½ ॥

नावनीतं हि हृदयं विप्राणां शाम्य भार्गव ॥ २९ ॥
राम राम निवर्तस्व युद्धादस्माद् द्विजोत्तम ।
अवध्यो वै त्वया भीष्मस्त्वं च भीष्मस्य भार्गव॥ ३० ॥

'भृगुनन्दन ! ब्राह्मणोंका हृदय नवनीतके समान कोमल होता है; अतः शान्त हो जाओ। विप्रवर परशुराम ! इस युद्धसे निवृत्त हो जाओ। भार्गव ! तुम्हारे लिये भीष्म और भीष्मके लिये तुम अवध्य हो' ॥ २९-३० ॥

एवं ब्रुवन्तस्ते सर्वे प्रतिरुध्य रणाजिरम् ।
न्यासयांचक्रिरे शस्त्रं पितरो भृगुनन्दनम् ॥ ३१ ॥

इस प्रकार कहते हुए उन सब लोगोंने रणस्थलीको घेर लिया और पितरोंने भृगुनन्दन परशुरामसे अस्त्र-शस्त्र रखवा दिया ॥ ३१ ॥

ततोऽहं पुनरेवाथ तानष्टौ ब्रह्मवादिनः ।
अद्राक्षं दीप्यमानान् वै ग्रहानष्टाविवोदितान् ॥ ३२ ॥

इसी समय मैंने पुनः उन आठों ब्रह्मवादी वसुओंको आकाशमें उदित हुए आठ ग्रहोंकी भाँति प्रकाशित होते देखा॥

ते मां सप्रणयं वाक्यमब्रुवन् समरे स्थितम् ।
प्रैहि रामं महाबाहो गुरुं लोकहितं कुरु ॥ ३३ ॥

उन्होंने समरभूमिमें डटे हुए मुझसे प्रेमपूर्वक कहा—'महाबाहो ! तुम अपने गुरु परशुरामजीके पास जाओ और जगत्‌का कल्याण करो' ॥ ३३ ॥

दृष्ट्वा निवर्तितं रामं सुहृद्वाक्येन तेन वै ।
लोकानां च हितं कुर्वन्नहमप्याददे वचः ॥ ३४ ॥

अपने सुहृदोंके कहनेसे परशुरामजीको युद्धसे निवृत्त हुआ देख मैंने भी लोककी भलाई करनेके लिये उन महर्षियों-की बात मान ली ॥ ३४ ॥

ततोऽहं राममासाद्य ववन्दे भृशविक्षतः ।
रामश्चाभ्युत्स्मयन् प्रेम्णा मामुवाच महातपाः ॥ ३५ ॥

तदनन्तर मैंने परशुरामजीके पास जाकर उनके चरणोंमें प्रणाम किया। उस समय मेरा शरीर बहुत घायल हो गया था। महातपस्वी परशुराम मुझे देखकर मुसकराये और प्रेम-पूर्वक इस प्रकार बोले—॥ ३५ ॥

त्वत्समो नास्ति लोकेऽस्मिन् क्षत्रियः पृथिवीचरः ।

गम्यतां भीष्म युद्धेऽस्मिंस्तोषितोऽहं भृशं त्वया ॥ ३६ ॥

'भीष्म ! इस जगत्‌में भूतलपर विचरनेवाला कोई भी क्षत्रिय तुम्हारे समान नहीं है । जाओ, इस युद्धमें तुमने मुझे बहुत संतुष्ट किया है' ॥ ३६ ॥

मम चैव समक्षं तां कन्यामाहूय भार्गवः ।
उक्तवान् दीनया वाचा मध्ये तेषां महात्मनाम् ॥ ३७ ॥

फिर मेरे सामने ही उन्होंने उस कन्याको बुलाकर उन सब महात्माओंके बीच दीनतापूर्ण वाणीमें उससे कहा ।३७।

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि अम्बोपाख्यानपर्वणि युद्धनिवृत्तौ पञ्चाशीत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १८५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत अम्बोपाख्यानपर्वमें युद्धनिवृत्तिविषयक एक सौ पचासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १८५॥

षडशीत्यधिकशततमोऽध्यायः

अम्बाकी कठोर तपस्या

राम उवाच

प्रत्यक्षमेतल्लोकानां सर्वेषामेव भाविनि ।
यथाशक्त्या मया युद्धं कृतं वै पौरुषं परम् ॥ १ ॥

परशुराम बोले—भाविनि ! यह सब लोगोंने प्रत्यक्ष देखा है कि मैंने (तेरे लिये) पूरी शक्ति लगाकर युद्ध किया और महान् पुरुषार्थ दिखाया है ॥ १ ॥

न चैवमपि शक्नोमि भीष्मं शस्त्रभृतां वरम् ।
विशेषयितुमत्यर्थमुत्तमास्त्राणि दर्शयन् ॥ २ ॥

परंतु इस प्रकार उत्तमोत्तम अस्त्र प्रकट करके भी मैं शस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ भीष्मसे अपनी अधिक विशिष्टता नहीं दिखा सका ॥ २ ॥

एषा मे परमा शक्तिरेतन्मे परमं बलम् ।
यथेष्टं गम्यतां भद्रे किमन्यद् वा करोमि ते ॥ ३ ॥

मेरी अधिक-से-अधिक शक्ति, अधिक-से-अधिक बल इतना ही है । भद्रे ! अब तेरी जहाँ इच्छा हो, चली जा, अथवा बता, तेरा दूसरा कौन-सा कार्य सिद्ध करूँ ? ॥ ३ ॥

भीष्ममेव प्रपद्यस्व न तेऽन्या विद्यते गतिः ।
निर्जितो ह्यस्मि भीष्मेण महास्त्राणि प्रमुञ्चता ॥ ४ ॥

अब तू भीष्मकी ही शरण ले । तेरे लिये दूसरी कोई गति नहीं है; क्योंकि महान् अस्त्रोंका प्रयोग करके भीष्मने मुझे जीत लिया है ॥ ४ ॥

एवमुक्त्वा ततो रामो विनिःश्वस्य महामनाः ।
तूष्णीमासीत् ततः कन्या प्रोवाच भृगुनन्दनम् ॥ ५ ॥

ऐसा कहकर महामना परशुराम लंबी साँस खींचते हुए मौन हो गये । तब राजकन्या अम्बाने उन भृगुनन्दनसे कहा—॥

भगवन्नेवमेवैतद् यथाऽऽह भगवांस्तथा ।
अजेयो युधि भीष्मोऽयमपि देवैरुदारधीः ॥ ६ ॥

'भगवन् ! आपका कहना ठीक है । वास्तवमें ये उदार-बुद्धि भीष्म युद्धमें देवताओंके लिये भी अजेय हैं ॥ ६ ॥

यथाशक्ति यथोत्साहं मम कार्यं कृतं त्वया ।
अनिवार्यं रणे वीर्यमस्त्राणि विविधानि च ॥ ७ ॥

'आपने अपनी पूरी शक्ति लगाकर पूर्ण उत्साहके साथ मेरा कार्य किया है । युद्धमें ऐसा पराक्रम दिखाया है, जिसे भीष्मके सिवा दूसरा कोई रोक नहीं सकता था । इसी प्रकार आपने नाना प्रकारके दिव्यास्त्र भी प्रकट किये हैं ॥ ७ ॥

न चैव शक्यते युद्धे विशेषयितुमन्ततः ।
न चाहमेनं यास्यामि पुनर्भीष्मं कथंचन ॥ ८ ॥

'परंतु अन्ततोगत्वा आप युद्धमें उनकी अपेक्षा अपनी विशेष्यता स्थापित न कर सके । मैं भी अब किसी प्रकार पुनः भीष्मके पास नहीं जाऊँगी ॥ ८ ॥

गमिष्यामि तु तत्राहं यत्र भीष्मं तपोधन ।
समरे पातयिष्यामि स्वयमेव भृगूद्वह ॥ ९ ॥

'भृगुश्रेष्ठ तपोधन ! अब मैं वहीं जाऊँगी, जहाँ ऐसा बन सकूँ कि समरभूमिमें स्वयं ही भीष्मको मार गिराऊँ' ॥ ९ ॥

एवमुक्त्वा ययौ कन्या रोषव्याकुललोचना ।
तापस्ये धृतसंकल्पा सा मे चिन्तयती वधम् ॥ १० ॥

ऐसा कहकर रोषभरे नेत्रोंवाली वह राजकन्या मेरे वधके उपायका चिन्तन करती हुई तपस्याके लिये दृढ़ संकल्प लेकर वहाँसे चली गयी ॥ १० ॥

ततो महेन्द्रं सह तैर्मुनिभिर्भृगुसत्तमः ।
यथाऽऽगतं तथा सोऽगान्मामुपामन्त्र्य भारत ॥११॥

भारत ! तदनन्तर भृगुश्रेष्ठ परशुरामजी उन महर्षियोंके साथ मुझसे विदा ले जैसे आये थे, वैसे ही महेन्द्र पर्वतपर चले गये ॥ ११ ॥

ततो रथं समारुह्य स्तूयमानो द्विजातिभिः ।
प्रविश्य नगरं मात्रे सत्यवत्यै न्यवेदयम् ॥ १२ ॥
यथावृत्तं महाराज सा च मां प्रत्यनन्दत ।
पुरुषांश्चादिशं प्राज्ञान् कन्यावृत्तान्तकर्मणि ॥ १३ ॥

महाराज ! तत्पश्चात् मैंने भी ब्राह्मणके मुखसे अपनी प्रशंसा सुनते हुए रथपर आरुढ़ हो हस्तिनापुरमें आकर माता सत्यवतीसे सब समाचार यथार्थरूपसे निवेदन किया । माताने भी मेरा अभिनन्दन किया । इसके बाद मैंने कुछ बुद्धिमान् पुरुषोंको उस कन्याके वृत्तान्तका पता लगानेके कार्यमें नियुक्त कर दिया ॥ १२-१३ ॥

दिवसे दिवसे ह्यस्या गतिजल्पितचेष्टितम् ।
प्रत्याहरंश्च मे युक्ताः स्थिताः प्रियहिते सदा ॥ १४ ॥

मेरे लगाये हुए गुप्तचर सदा मेरे प्रिय एवं हितमें संलग्न रहनेवाले थे । वे प्रतिदिन उस कन्याकी गतिविधि, बोलचाल और चेष्टाका समाचार मेरे पास पहुँचाया करते थे ॥ १४ ॥

यदैव हि वनं प्रायात् सा कन्या तपसे धृता ।

तदैव व्यथितो दीनो गतचेता इवाभवम् ॥ १५ ॥

जिस दिन वह कन्या तपस्याका निश्चय करके वनमें गयी, उसी दिन मैं व्यथित, दीन और अचेत-सा हो गया ॥

न हि मां क्षत्रियः कश्चिद् वीर्येण व्यजयद् युधि ।
ऋते ब्रह्मविदस्तात तपसा संशितव्रतात् ॥ १६ ॥

तात ! जो तपस्याके द्वारा कठोर व्रतका पालन करनेवाले हैं, उन ब्रह्मज्ञ ब्राह्मण परशुरामजीको छोड़कर कोई भी क्षत्रिय अबतक युद्धमें मुझे पराजित नहीं कर सका है ॥१६॥

अपि चैतन्मया राजन् नारदेऽपि निवेदितम् ।
व्यासे चैव तथा कार्यं तौ चोभौ मामवोचताम् ॥ १७ ॥
न विषादस्त्वया कार्यो भीष्म काशिसुतां प्रति ।
दैवं पुरुषकारेण को निवर्तितुमुत्सहेत् ॥ १८ ॥

राजन् ! मैंने यह वृत्तान्त देवर्षि नारद और महर्षि व्याससे भी निवेदन किया था । उस समय उन दोनोंने मुझसे कहा— 'भीष्म ! तुम्हें काशिराजकी कन्याके विषयमें तनिक भी विषाद नहीं करना चाहिये । दैवके विधानको पुरुषार्थके द्वारा कौन टाल सकता है ?' ॥ १७-१८ ॥

सा कन्या तु महाराज प्रविश्याश्रममण्डलम् ।
यमुनातीरमाश्रित्य तपस्तेपेऽतिमानुषम् ॥ १९ ॥

महाराज ! फिर उस कन्याने आश्रममण्डलमें पहुँचकर यमुनाके तटका आश्रय ले ऐसी कठोर तपस्या की, जो मानवीय शक्तिसे परे है ॥ १९ ॥

निराहारा कृशा रूक्षा जटिला मलपङ्किनी ।
षण्मासान् वायुभक्षा च स्थाणुभूता तपोधना ॥ २० ॥

उसने भोजन छोड़ दिया, वह दुबली तथा रूक्ष हो गयी । सिरपर केशोंकी जटा बन गयी । शरीरमें मैल और कीचड़ जम गयी । वह तपोधना कन्या छः महीनोंतक केवल वायु पीकर ठूँठे काठकी भाँति निश्चल भावसे खड़ी रही २०

यमुनाजलमाश्रित्य संवत्सरमथापरम् ।
उदवासं निराहारा पारयामास भाविनी ॥ २१ ॥

फिर एक वर्षतक यमुनाजीके जलमें घुसकर बिना कुछ खाये-पीये वह भाविनी राजकन्या जलमें ही रहकर तपस्या करती रही ॥ २१ ॥

शीर्णपर्णेन चैकेन पारयामास सा परम् ।
संवत्सरं तीव्रकोपा पादाङ्गुष्ठाग्रधिष्ठिता ॥ २२ ॥

तत्पश्चात् तीव्र क्रोधसे युक्त हुई अम्बाने पैरके अँगूठेके अग्रभागपर खड़ी हो अपने-आप झड़कर गिरा हुआ केवल एक सूखा पत्ता खाकर एक वर्ष व्यतीत किया ॥ २२ ॥

एवं द्वादश वर्षाणि तापयामास रोदसी ।
निवर्त्यमानापि च सा ज्ञातिभिर्नैव शक्यते ॥ २३ ॥

इस प्रकार बारह वर्षोंतक कठोर तपस्यामें संलग्न हो उसने पृथ्वी और आकाशको संतप्त कर दिया । उसके जातिवालोंने आकर उसे उस कठोर व्रतसे निवृत्त करनेकी चेष्टा की; परंतु उन्हें सफलता न मिल सकी ॥ २३ ॥

ततोऽगमद् वत्सभूमिं सिद्धचारणसेविताम् ।
आश्रमं पुण्यशीलानां तापसानां महात्मनाम् ॥ २४ ॥
तत्र पुण्येषु तीर्थेषु साऽऽप्लुताङ्गी दिवानिशम् ।
व्यचरत् काशिकन्या सा यथाकामविचारिणी ॥ २५ ॥

तदनन्तर वह सिद्धों और चारणोंद्वारा सेवित वत्स देशकी भूमिमें गयी और वहाँ पुण्यशील तपस्वी महात्माओंके आश्रमोंमें विचरने लगी । काशिराजकी वह कन्या दिन-रात वहाँके पुण्य तीर्थोंमें स्नान करती और अपनी इच्छाके अनुसार सर्वत्र विचरती रहती थी ॥ २४-२५ ॥

नन्दाश्रमे महाराज तथोलूकाश्रमे शुभे ।
च्यवनस्याश्रमे चैव ब्रह्मणः स्थान एव च ॥ २६ ॥
प्रयागे देवयजने देवारण्येषु चैव ह ।
भोगवत्यां महाराज कौशिकस्याश्रमे तथा ॥ २७ ॥
माण्डव्यस्याश्रमे राजन् दिलीपस्याश्रमे तथा ।
रामह्रदे च कौरव्य पैलगर्गस्य चाश्रमे ॥ २८ ॥
एतेषु तीर्थेषु तदा काशिकन्या विशाम्पते ।
आप्लावयत गात्राणि व्रतमास्थाय दुष्करम् ॥ २९ ॥

महाराज ! शुभकारक नन्दाश्रम, उलूकाश्रम, च्यवनाश्रम, ब्रह्मस्थान, देवताओंके यज्ञस्थान प्रयाग, देवारण्य, भोगवती, कौशिकाश्रम, माण्डव्याश्रम, दिलीपाश्रम, रामह्रद और पैलगर्गाश्रम—क्रमशः इन सभी तीर्थोंमें उन दिनों काशिराजकी कन्याने कठोर व्रतका आश्रय ले स्नान किया ॥ २६–२९ ॥

तामब्रवीच्च कौरव्य मम माता जले स्थिता ।
किमर्थं क्लिश्यसे भद्रे तथ्यमेव वदस्व मे ॥ ३० ॥

कुरुनन्दन ! उस समय मेरी माता गङ्गाने जलमें प्रकट होकर अम्बासे कहा—'भद्रे ! तू किसलिये शरीरको इतना क्लेश देती है । मुझे ठीक-ठीक बता' ॥ ३० ॥

सैनामथाब्रवीद् राजन् कृताञ्जलिरनिन्दिता ।
भीष्मेण समरे रामो निर्जितश्चारुलोचने ॥ ३१ ॥
कोऽन्यस्तमुत्सहेज्जेतुमुद्यतेषुं महीपतिः ।
साहं भीष्मविनाशाय तपस्तप्स्ये सुदारुणम् ॥ ३२ ॥

राजन् ! तब साध्वी अम्बाने हाथ जोड़कर गङ्गाजीसे कहा—'चारुलोचने ! भीष्मने युद्धमें परशुरामजीको परास्त कर दिया; फिर दूसरा कौन ऐसा राजा है, जो धनुष-बाण लेकर खड़े हुए भीष्मको युद्धमें परास्त कर सके ? अतः मैं भीष्मके विनाशके लिये अत्यन्त कठोर तपस्या कर रही हूँ॥३१-३२॥

विचरामि महीं देवि यथा हन्यामहं नृपम् ।
एतद् व्रतफलं देवि परमस्मिन् यथा हि मे ॥ ३३ ॥

'देवि ! मैं इस भूतलपर विभिन्न तीर्थोंमें इसीलिये विचर रही हूँ कि योग्य बनकर मैं स्वयं ही भीष्मको मार सकूँ । भगवति ! इस जगत्‌में मेरे व्रत और तपस्याका यही सर्वोत्तम फल है, जैसा मैंने आपको बताया है' ॥ ३३ ॥

ततोऽब्रवीत् सागरगा जिह्मं चरसि भाविनि ।
नैष कामोऽनवद्याङ्गि शक्यः प्राप्तुं त्वयाबले ॥ ३४ ॥

तब सागरगामिनी गङ्गानदीने उससे कहा—'भाविनि ! तू कुटिल आचरण कर रही है। सुन्दर अङ्गोंवाली अबले ! तेरा यह मनोरथ कभी पूर्ण नहीं हो सकता ॥ ३४ ॥

यदि भीष्मविनाशाय काश्ये चरसि वै व्रतम्।
व्रतस्था च शरीरं त्वं यदि नाम विमोक्ष्यसि ॥ ३५ ॥
नदी भविष्यसि शुभे कुटिला वार्षिकोदका।
दुस्तीर्था न तु विज्ञेया वार्षिकी नाष्टमासिकी ॥ ३६ ॥

'काशिराजकन्ये ! यदि भीष्मके विनाशके लिये तू प्रयत्न कर रही है और व्रतमें स्थित रहकर ही यदि तू अपना शरीर छोड़ेगी तो शुभे ! तुझे टेढ़ी-मेढ़ी नदी होना पड़ेगा। केवल बरसातमें ही तेरे भीतर जल दिखायी देगा। तेरे भीतर तीर्थ या स्नानकी सुविधा बड़ी कठिनाईसे होगी। तू केवल बरसात-की नदी समझी जायगी। शेष आठ महीनोंमें तेरा पता नहीं लगेगा ॥ ३५-३६ ॥

भीमग्राहवती घोरा सर्वभूतभयङ्करी।
एवमुक्त्वा ततो राजन् काशिकन्यां न्यवर्तत ॥ ३७ ॥
माता मम महाभागा स्मयमानेव भाविनी।
कदाचिदष्टमे मासि कदाचिद् दशमे तथा।
न प्राश्नीतोदकमपि पुनः सा वरवर्णिनी ॥ ३८ ॥

'बरसातमें भी भयंकर ग्राहोंसे भरी रहनेके कारण तू समस्त प्राणियोंके लिये अत्यन्त भयंकर और घोरस्वरूपा बनी रहेगी।' राजन् ! काशिराजकी कन्यासे ऐसा कहकर मेरी परम सौभाग्यशालिनी माता गङ्गा देवी मुसकराती हुई लौट गयीं। तदनन्तर वह सुन्दरी कन्या पुनः कठोर तपस्यामें प्रवृत्त हो कभी आठवें और कभी दसवें महीने तक जल भी नहीं पीती थी ॥ ३७-३८ ॥

सा वत्सभूमिं कौरव्य तीर्थलोभात् ततस्ततः।
पतिता परिधावन्ती पुनः काशिपतेः सुता ॥ ३९ ॥

कुरुनन्दन ! काशिराजकी वह कन्या तीर्थसेवनके लोभसे वत्सदेशकी भूमिपर इधर-उधर दौड़ती फिरती थी ॥ ३९ ॥

सा नदी वत्सभूम्यां तु प्रथिताम्बेति भारत।
वार्षिकी ग्राहबहुला दुस्तीर्था कुटिला तथा ॥ ४० ॥

भारत ! कुछ कालके पश्चात् वह वत्सदेशकी भूमिमें अम्बा नामसे प्रसिद्ध नदी हुई, जो केवल बरसातमें जलसे भरी रहती थी। उसमें बहुत-से ग्राह निवास करते थे। उसके भीतर उतरना और स्नान आदि तीर्थकृत्योंका सम्पादन बहुत ही कठिन था। वह नदी टेढ़ी-मेढ़ी होकर बहती थी॥ ४० ॥

सा कन्या तपसा तेन देहार्धेन व्यजायत।
नदी च राजन् वत्सेषु कन्या चैवाभवत् तदा ॥४१॥

राजन् ! राजकन्या अम्बा उस तपस्याके प्रभावसे आधे शरीरसे तो अम्बा नामकी नदी हो गयी और आधे अङ्गसे वत्सदेशमें ही एक कन्या होकर प्रकट हुई ॥ ४१ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि अम्बोपाख्यानपर्वणि अम्बातपस्यायां षडशीत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १८६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत अम्बोपाख्यानपर्वमें अम्बाकी तपस्याविषयक एक सौ छियासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥१८६॥

सप्ताशीत्यधिकशततमोऽध्यायः

अम्बाका द्वितीय जन्ममें पुनः तप करना और महादेवजीसे अभीष्ट वरकी प्राप्ति तथा उसका चिताकी आगमें प्रवेश

भीष्म उवाच

ततस्ते तापसाः सर्वे तपसे धृतनिश्चयाम्।
दृष्ट्वा न्यवर्तयंस्तात किं कार्यमिति चाब्रुवन् ॥ १ ॥

भीष्मजी कहते हैं—तात ! उस जन्ममें भी उसे तपस्या करनेका ही दृढ़ निश्चय लिये देख सब तपस्वी महात्माओंने उसे रोका और पूछा—'तुझे क्या करना है ?' ॥ १ ॥

तानुवाच ततः कन्या तपोवृद्धानृषींस्तदा।
निराकृतास्मि भीष्मेण भ्रंशिता पतिधर्मतः ॥ २ ॥

तब उस कन्याने उन तपोवृद्ध महर्षियोंसे कहा—'भीष्मने मुझे ठुकराया है और मुझे पतिकी प्राप्ति एवं उसकी सेवारूप धर्मसे वञ्चित कर दिया है ॥ २ ॥

वधार्थं तस्य दीक्षा मे न लोकार्थं तपोधनाः।
निहत्य भीष्मं गच्छेयं शान्तिमित्येव निश्चयः ॥ ३ ॥

'तपोधनो ! मेरी यह तपकी दीक्षा पुण्यलोकोंकी प्राप्तिके लिये नहीं, भीष्मका वध करनेके लिये है। मेरा यह निश्चय है कि भीष्मको मार देनेपर मेरे हृदयको शान्ति मिल जायगी।३।

यत्कृते दुःखवसतिमिमां प्राप्तास्मि शाश्वतीम्।
पतिलोकाद् विहीना च नैव स्त्री न पुमानिह ॥ ४ ॥
नाहत्वा युधि गाङ्गेयं निवर्तिष्ये तपोधनाः।
एष मे हृदि संकल्पो यदिदं कथितं मया ॥ ५ ॥

'जिसके कारण मैं सदाके लिये इस दुःखमयी परिस्थितिमें पड़ गयी हूँ और पतिलोकसे वञ्चित होकर इस जगत्में न तो स्त्री रह गयी हूँ न पुरुष ही। उस गङ्गापुत्र भीष्मको युद्धमें मारे बिना तपस्यासे निवृत्त नहीं होऊँगी। तपोधनो ! यही मेरे हृदयका संकल्प है, जिसे मैंने स्पष्ट बता दिया।४-५।

स्त्रीभावे परिनिर्विण्णा पुंस्त्वार्थे कृतनिश्चया।
भीष्मे प्रतिचिकीर्षामि नास्मि वार्येति वै पुनः ॥ ६ ॥

'मुझे स्त्रीके स्वरूपसे विरक्ति हो गयी है, अतः पुरुष-शरीरकी प्राप्तिके लिये दृढ़ निश्चय लेकर तपस्यामें प्रवृत्त हुई हूँ। भीष्मसे अवश्य बदला लेना चाहती हूँ, अतः आपलोग मुझे रोकें नहीं' ॥ ६ ॥

तां देवो दर्शयामास शूलपाणिरुमापतिः।
मध्ये तेषां महर्षीणां स्वेन रूपेण तापसीम् ॥ ७ ॥

तब शूलपाणि उमावल्लभ भगवान् शिवने उन महर्षियोंके बीचमें अपने साक्षात् स्वरूपसे प्रकट होकर उस तपस्विनीको दर्शन दिया ॥ ७ ॥

छन्द्यमाना वरेणाथ सा वव्रे मत्पराजयम् ।
हनिष्यसीति तां देवः प्रत्युवाच मनस्विनीम् ॥ ८ ॥

फिर इच्छानुसार वर माँगनेका आदेश देनेपर उसने मेरी पराजयका वर माँगा । तब महादेवजीने उस मनस्विनीसे कहा—'तू अवश्य भीष्मका वध करेगी' ॥ ८ ॥

ततः सा पुनरेवाथ कन्या रुद्रमुवाच ह ।
उपपद्येत कथं देव स्त्रिया युधि जयो मम ॥ ९ ॥

यह सुनकर उस कन्याने भगवान् रुद्रसे पुनः पूछा—'देव ! मैं तो स्त्री हूँ । मुझे युद्धमें विजय कैसे प्राप्त हो सकती है ?' ॥ ९ ॥

स्त्रीभावेन च मे गाढं मनः शान्तमुमापते ।
प्रतिश्रुतश्च भूतेश त्वया भीष्मपराजयः ॥ १० ॥

'उमापते ! भूतनाथ ! स्त्रीरूप होनेके कारण मेरा मन बहुत निस्तेज है । इधर आपने मेरे द्वारा भीष्मके पराजित होनेका वरदान दिया है ॥ १० ॥

यथा स सत्यो भवति तथा कुरु वृषध्वज ।
यथा हन्यां समागम्य भीष्मं शान्तनवं युधि ॥ ११ ॥

'वृषध्वज ! आपका वह वरदान जिस प्रकार सत्य हो, वैसा कीजिये; जिससे मैं युद्धमें शान्तनुपुत्र भीष्मका सामना करके उन्हें मार सकूँ' ॥ ११ ॥

तामुवाच महादेवः कन्यां किल वृषध्वजः ।
न मे वागनृतं प्राह सत्यं भद्रे भविष्यति ॥ १२ ॥

तब वृषभध्वज महादेवजीने उस कन्यासे कहा—'भद्रे ! मेरी वाणीने कभी झूठ नहीं कहा है; अतः मेरी बात सत्य होकर रहेगी ॥ १२ ॥

हनिष्यसि रणे भीष्मं पुरुषत्वं च लप्स्यसे ।
स्मरिष्यसि च तत् सर्वं देहमन्यं गता सती ॥ १३ ॥

'तू रणक्षेत्रमें भीष्मको अवश्य मारेगी और इसके लिये आवश्यकतानुसार पुरुषत्व भी प्राप्त कर लेगी । दूसरे शरीरमें जानेपर तुझे इन सब बातोंका स्मरण भी बना रहेगा ॥ १३ ॥

द्रुपदस्य कुले जाता भविष्यसि महारथः ।
शीघ्रास्त्रश्चित्रयोधी च भविष्यसि सुसम्मतः ॥ १४ ॥

'तू द्रुपदके कुलमें उत्पन्न हो महारथी वीर होगी । तुझे शीघ्रतापूर्वक अस्त्र चलानेकी कलामें निपुणता प्राप्त होगी । साथ ही तू विचित्र प्रकारसे युद्ध करनेवाली सम्मानित योद्धा होगी ॥

यथोक्तमेव कल्याणि सर्वमेतद् भविष्यति ।
भविष्यसि पुमान् पश्चात् कस्माच्चित्कालपर्ययात् ॥ १५ ॥

'कल्याणि ! मैंने जो कुछ कहा है, वह सब पूरा होगा । तू पहले तो कन्यारूपमें ही उत्पन्न होगी; फिर कुछ कालके पश्चात् पुरुष हो जायगी' ॥ १५ ॥

एवमुक्त्वा महादेवः कपर्दी वृषभध्वजः ।
पश्यतामेव विप्राणां तत्रैवान्तरधीयत ॥ १६ ॥

ऐसा कहकर जटाजूटधारी वृषभध्वज महादेवजी उन सब ब्राह्मणोंके देखते-देखते वहीं अन्तर्धान हो गये ॥ १६ ॥

ततः सा पश्यतां तेषां महर्षीणामनिन्दिता ।
समाहृत्य वनात् तस्मात् काष्ठानि वरवर्णिनी ॥ १७ ॥
चितां कृत्वा सुमहतीं प्रदाय च हुताशनम् ।
प्रदीप्तेऽग्नौ महाराज रोषदीप्तेन चेतसा ॥ १८ ॥
उक्त्वा भीष्मवधायेति प्रविवेश हुताशनम् ।
ज्येष्ठा काशिसुता राजन् यमुनामभितो नदीम् ॥ १९ ॥

तदनन्तर उन महर्षियोंके देखते-देखते उस साध्वी एवं सुन्दरी कन्याने उस वनसे बहुत-सी लकड़ियोंका संग्रह किया और एक विशाल चिता बनाकर उसमें आग लगा दी । महाराज ! जब आग प्रज्वलित हो गयी, तब वह क्रोधसे जलते हुए हृदयसे भीष्मके वधका संकल्प बोलकर उस आगमें प्रवेश कर गयी । राजन् ! इस प्रकार काशिराजकी वह ज्येष्ठ पुत्री अम्बा दूसरे जन्ममें यमुनानदीके किनारे चिताकी आगमें जलकर भस्म हो गयी ॥ १७—१९ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि अम्बोपाख्यानपर्वणि अम्बाहुताशनप्रवेशे सप्ताशीत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १८७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत अम्बोपाख्यानपर्वमें अम्बाका अग्निमें प्रवेशविषयक एक सौ सत्तासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १८७ ॥

अष्टाशीत्यधिकशततमोऽध्यायः

अम्बाका राजा द्रुपदके यहाँ कन्याके रूपमें जन्म, राजा तथा रानीका उसे पुत्ररूपमें प्रसिद्ध करके उसका नाम शिखण्डी रखना

दुर्योधन उवाच

कथं शिखण्डी गाङ्गेय कन्या भूत्वा पुरा तदा ।
पुरुषोऽभूद् युधिश्रेष्ठ तन्मे ब्रूहि पितामह ॥ १ ॥

दुर्योधनने पूछा—समरश्रेष्ठ गङ्गानन्दन पितामह ! शिखण्डी पहले कन्यारूपमें उत्पन्न होकर फिर पुरुष कैसे हो गया, यह मुझे बताइये ॥ १ ॥

भीष्म उवाच

भार्या तु तस्य राजेन्द्र द्रुपदस्य महीपतेः ।
महिषी दयिता ह्यासीदपुत्रा च विशाम्पते ॥ २ ॥

भीष्मने कहा—प्रजापालक राजेन्द्र ! राजा द्रुपदकी प्यारी पटरानीके कोई पुत्र नहीं था ॥ २ ॥

एतस्मिन्नेव काले तु द्रुपदो वै महीपतिः ।
अपत्यार्थं महाराज तोषयामास शङ्करम् ॥ ३ ॥

महाराज ! इसी समय भूपाल द्रुपदने संतानकी प्राप्तिके लिये भगवान् शंकरको संतुष्ट किया ॥ ३ ॥

अस्मद्वधार्थं निश्चित्य तपो घोरं समास्थितः।
ऋते कन्यां महादेव पुत्रो मे स्यादिति ब्रुवन्॥ ४ ॥
भगवन् पुत्रमिच्छामि भीष्मं प्रतिचिकीर्षया।
इत्युक्तो देवदेवेन स्त्रीपुमांस्ते भविष्यति॥ ५ ॥
निवर्तस्व महीपाल नैतज्जात्वन्यथा भवेत्।

हमलोगोंके वधके लिये पुत्र पानेका निश्चित संकल्प लेकर उन्होंने यह कहते हुए घोर तपस्या की थी कि 'महादेव! मुझे कन्या नहीं, पुत्र प्राप्त हो। भगवन्! मैं भीष्मसे बदला लेनेके लिये पुत्र चाहता हूँ।' यह सुनकर देवाधिदेव महादेवजीने कहा—'भूपाल! तुम्हें पहले कन्या प्राप्त होगी, फिर वही पुरुष हो जायगी। अब तुम लौटो। मैंने जो कहा है वह कभी मिथ्या नहीं हो सकता' ॥ ४-५½ ॥

स तु गत्वा च नगरं भार्यामिदमुवाच ह॥ ६ ॥
कृतो यत्नो महादेवस्तपसाऽऽराधितो मया।
कन्या भूत्वा पुमान् भावी इति चोक्तोऽस्मि शम्भुना॥ ७॥
पुनः पुनर्याच्यमानो दिष्टमित्यब्रवीच्छिवः।
न तदन्यच्च भविता भवितव्यं हि तत् तथा॥ ८ ॥

तब राजा द्रुपद नगरको लौट गये और अपनी पत्नीसे इस प्रकार बोले—'देवि! मैंने बड़ा प्रयत्न किया। तपस्याके द्वारा महादेवजीकी आराधना की। तब भगवान् शंकरने प्रसन्न होकर कहा—पहले तुम्हें पुत्री होगी; फिर वही पुत्रके रूपमें परिणत हो जायगी। मैंने बार-बार केवल पुत्रके लिये याचना की; परंतु भगवान् शिवने इसे दैवका विधान बताया है और कहा—'यह बदल नहीं सकता। जो कहा गया है, वही होगा' ॥ ६-८ ॥

ततः सा नियता भूत्वा ऋतुकाले मनस्विनी।
पत्नी द्रुपदराजस्य द्रुपदं प्रविवेश ह॥ ९ ॥
लेभे गर्भं यथाकालं विधिदृष्टेन कर्मणा।
पार्षतस्य महीपाल यथा मां नारदोऽब्रवीत्॥ १० ॥
ततो दधार सा देवी गर्भं राजीवलोचना।

तदनन्तर द्रुपदराजकी मनस्विनी पत्नीने नियमपूर्वक रहकर द्रुपदके साथ संयोग किया। शास्त्रीय विधिसे गर्भाधान-संस्कार होनेपर यथासमय उसने गर्भ धारण किया। राजन्! जैसा कि मुझसे नारदजीने कहा था। द्रुपदकी कमलनयनी रानीने इसी प्रकार गर्भ धारण किया ॥ ९-१०½ ॥

तां स राजा प्रियां भार्यां द्रुपदः कुरुनन्दन॥ ११ ॥
पुत्रस्नेहान्महाबाहुः सुखं पर्यचरत् तदा।
सर्वानभिप्रायकृतान् भार्यालभत कौरव॥ १२ ॥

कुरुनन्दन! महाबाहु द्रुपदने भावी पुत्रके प्रति स्नेह होनेके कारण अपनी प्यारी पत्नीको बड़े सुखसे रक्खा। उसका आदर-सत्कार किया। कुरुकुलरत्न! रानीको जिन-जिन वस्तुओंकी इच्छा हुई, वे सब उनके सामने प्रस्तुत की गयीं ॥ ११-१२ ॥

अपुत्रस्य सतो राज्ञो द्रुपदस्य महीपतेः।
यथाकालं तु सा देवी महिषी द्रुपदस्य ह॥ १३ ॥
कन्यां प्रवररूपां तु प्राजायत नराधिप।

नरेश्वर! पुत्रहीन राजा द्रुपदकी उस महारानीने समय आनेपर एक परम सुन्दरी कन्याको जन्म दिया ॥ १३½ ॥

अपुत्रस्य तु राज्ञः सा द्रुपदस्य मनस्विनी॥ १४ ॥
ख्यापयामास राजेन्द्र पुत्रो ह्येष ममेति वै।

राजेन्द्र! तब पुत्रहीन राजा द्रुपदकी मनस्विनी रानीने यह घोषणा करा दी कि यह मेरा पुत्र है ॥ १४½ ॥

ततः स राजा द्रुपदः प्रच्छन्नाया नराधिप॥ १५ ॥
पुत्रवत् पुत्रकार्याणि सर्वाणि समकारयत्।
रक्षणं चैव मन्त्रस्य महिषी द्रुपदस्य सा॥ १६ ॥
चकार सर्वयत्नेन ब्रुवाणा पुत्र इत्युत।
न च तां वेद नगरे कश्चिदन्यत्र पार्षतात्॥ १७ ॥

नरेन्द्र! इसके बाद राजा द्रुपदने छिपाकर रक्खी हुई उस कन्याके सभी संस्कार पुत्रके ही समान कराये। द्रुपदकी रानीने सब प्रकारका प्रयत्न करके इस रहस्यको गुप्त रखनेकी व्यवस्था की। वह उस कन्याको पुत्र कहकर ही पुकारती थी। सारे नगरमें केवल द्रुपदको छोड़कर दूसरा कोई नहीं जानता था कि वह कन्या है ॥ १५-१७ ॥

श्रद्दधानो हि तद्वाक्यं देवस्याच्युततेजसः।
छादयामास तां कन्यां पुमानिति च सोऽब्रवीत्॥ १८ ॥

जिनका तेज कभी क्षीण नहीं होता, उन महादेवजीके वचनोंपर श्रद्धा रखनेके कारण राजा द्रुपदने उसके कन्याभावको छिपाया और पुत्र होनेकी घोषणा कर दी ॥ १८ ॥

जातकर्माणि सर्वाणि कारयामास पार्थिवः।
पुंवद्विधानयुक्तानि शिखण्डीति च तां विदुः॥ १९ ॥

राजाने बालकके सम्पूर्ण जातकर्म पुत्रोचित विधानसे ही करवाये, लोग उसे 'शिखण्डी' के नामसे जानते थे ॥ १९ ॥

अहमेकस्तु चारेण वचनान्नारदस्य च।
ज्ञातवान् देववाक्येन अम्बायास्तपसा तथा॥ २० ॥

केवल मैं गुप्तचरके दिये हुए समाचारसे, नारदजीके कथनसे, महादेवजीके वरदान-वाक्यसे तथा अम्बाकी तपस्यासे शिखण्डीके कन्या होनेका वृत्तान्त जान गया था ॥ २० ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि अम्बोपाख्यानपर्वणि शिखण्ड्युत्पत्तौ अष्टाशीत्यधिकशततमोऽध्यायः॥ १८८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत अम्बोपाख्यानपर्वमें शिखण्डीकी उत्पत्तिविषयक एक सौ अट्ठासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १८८ ॥

एकोननवत्यधिकशततमोऽध्यायः

शिखण्डीका विवाह तथा उसके स्त्री होनेका समाचार पाकर उसके श्वशुर दशार्णराजका महान् कोप

भीष्म उवाच

चकार यत्नं द्रुपदः सुतायाः सर्वकर्मसु।
ततो लेख्यादिषु तथा शिल्पेषु च परंतप॥ १॥

भीष्म कहते हैं—तदनन्तर द्रुपदने अपनी पुत्रीको लेखनशिक्षा और शिल्पशिक्षा आदि सभी कार्योंकी योग्यता प्राप्त करानेके लिये विशेष प्रयत्न किया॥१॥

इष्वस्त्रे चैव राजेन्द्र द्रोणशिष्यो बभूव ह।
तस्य माता महाराज राजानं वरवर्णिनी॥ २॥
चोदयामास भार्यार्थं कन्यायाः पुत्रवत् तदा।
ततस्तां पार्षतो दृष्ट्वा कन्यां सम्प्राप्तयौवनाम्।
स्त्रियं मत्वा ततश्चिन्तां प्रपेदे सह भार्यया॥ ३॥

राजेन्द्र! धनुर्विद्याके लिये शिखण्डी द्रोणाचार्यका शिष्य हुआ। महाराज! शिखण्डीकी सुन्दरी माताने राजा द्रुपदको प्रेरित किया कि वे उसके पुत्रके लिये बहू ला दें। वह अपनी कन्याका पुत्रके समान ब्याह करना चाहती थी। द्रुपदने देखा, मेरी बेटी जवान हो गयी तो भी अबतक स्त्री ही बनी हुई है (वरदानके अनुसार पुरुष नहीं हो सकी), इससे पत्नीसहित उनके मनमें बड़ी चिन्ता हुई॥ २-३॥

द्रुपद उवाच

कन्या ममेयं सम्प्राप्ता यौवनं शोकवर्धिनी।
मया प्रच्छादिता चेयं वचनाच्छूलपाणिनः॥ ४॥

द्रुपद बोले—देवि! मेरी यह कन्या युवावस्थाको प्राप्त होकर मेरा शोक बढ़ा रही है। मैंने भगवान् शंकरके कथनपर विश्वास करके अबतक इसके कन्याभावको छिपा रक्खा था॥ ४॥

भार्योवाच

न तन्मिथ्या महाराज भविष्यति कथंचन।
त्रैलोक्यकर्ता कस्माद्धि वृथा वक्तुमिहार्हति॥ ५॥
यदि ते रोचते राजन् वक्ष्यामि शृणु मे वचः।
श्रुत्वेदानीं प्रपद्येथाः स्वां मतिं पृषतात्मज॥ ६॥

रानीने कहा—महाराज! भगवान् शिवका दिया हुआ वर किसी तरह मिथ्या नहीं होगा। भला, तीनों लोकोंकी सृष्टि करनेवाले भगवान् झूठी बात कैसे कह सकते हैं? राजन्! यदि आपको अच्छा लगे तो कहूँ। मेरी बात सुनिये। पृषतनन्दन! इसे सुनकर अपनी बुद्धिके अनुसार ग्रहण करें॥ ५-६॥

क्रियतामस्य यत्नेन विधिवद् दारसंग्रहः।
भविता तद्वचः सत्यमिति मे निश्चिता मतिः॥ ७॥

मेरा तो यह दृढ़ विश्वास है कि भगवान्का वचन सत्य होगा। अतः आप प्रयत्नपूर्वक शास्त्रीय विधिके अनुसार इसका कन्याके साथ विवाह कर दें॥ ७॥

ततस्तौ निश्चयं कृत्वा तस्मिन् कार्येऽथ दम्पती।
वरयांचक्रतुः कन्यां दशार्णाधिपतेः सुताम्॥ ८॥

इस प्रकार विवाहका निश्चय करके दोनों पति-पत्नीने दशार्णराजकी पुत्रीका अपने पुत्रके लिये वरण किया॥८॥

ततो राजा द्रुपदो राजसिंहः
सर्वान् राज्ञः कुलतः संनिशाम्य।
दाशार्णकस्य नृपतेस्तनूजां
शिखण्डिने वरयामास दारान्॥ ९॥

तदनन्तर राजाओंमें श्रेष्ठ द्रुपदने समस्त राजाओंके कुल आदिका परिचय सुनकर दशार्णराजकी ही पुत्रीका शिखण्डीके लिये वरण किया॥ ९॥

हिरण्यवर्मेति नृपो योऽसौ दाशार्णकः स्मृतः।
स च प्रादान्महीपालः कन्यां तस्मै शिखण्डिने॥ १०॥

दशार्णदेशके राजाका नाम हिरण्यवर्मा था। भूपाल हिरण्यवर्माने शिखण्डीको अपनी कन्या दे दी॥ १०॥

स च राजा दशार्णेषु महानासीत् सुदुर्जयः।
हिरण्यवर्मा दुर्धर्षो महासेनो महामनाः॥ ११॥

दशार्णदेशका वह राजा हिरण्यवर्मा महान् दुर्जय और दुर्धर्ष वीर था। उसके पास विशाल सेना थी। साथ ही उसका हृदय भी विशाल था॥ ११॥

कृते विवाहे तु तदा सा कन्या राजसत्तम।
यौवनं समनुप्राप्ता सा च कन्या शिखण्डिनी॥ १२॥
कृतदारः शिखण्डी च काम्पिल्यं पुनरागमत्।
ततः सा वेद तां कन्यां कंचित् कालं स्त्रियं किल॥१३॥

नृपश्रेष्ठ! हिरण्यवर्माकी पुत्री भी युवावस्थाको प्राप्त थी। इधर द्रुपदकी कन्या शिखण्डिनी भी पूर्ण युवती हो गयी थी। विवाहकार्य सम्पन्न हो जानेपर पत्नीसहित शिखण्डी पुनः काम्पिल्य नगरमें आया। दशार्णराजकी कन्याने कुछ ही दिनोंमें यह समझ लिया कि शिखण्डी तो स्त्री है॥ १२-१३॥

हिरण्यवर्मणः कन्या ज्ञात्वा तां तु शिखण्डिनीम्।
धात्रीणां च सखीनां च व्रीडमाना न्यवेदयत्।
कन्यां पञ्चालराजस्य सुतां तां वै शिखण्डिनीम्॥ १४॥

हिरण्यवर्माकी पुत्रीने शिखण्डीके यथार्थ स्वरूपको जानकर अपनी धाय तथा सखियोंसे लजाते-लजाते यह गुप्त बात कह दी कि पाञ्चालराजके पुत्र शिखण्डी वास्तवमें पुरुष नहीं, स्त्री हैं॥ १४॥

ततस्ता राजशार्दूल धात्र्यो दाशार्णिकास्तदा।
जग्मुरार्तिं परां प्रेष्याः प्रेषयामासुरेव च॥ १५॥

नृपश्रेष्ठ! यह सुनकर दशार्णदेशकी धायोंको बड़ा दुःख हुआ। उन्होंने यह समाचार सूचित करनेके लिये बहुत-सी दासियोंको दशार्णराजके यहाँ भेजा॥ १५॥

ततो दशार्णाधिपतेः प्रेष्याः सर्वा न्यवेदयन्।
विप्रलम्भं यथावृत्तं स च चुक्रोध पार्थिवः॥ १६॥

वे सब दासियाँ दशार्णराजसे सब बातें ठीक-ठीक बताती हुई बोलीं कि 'राजा द्रुपदने बहुत बड़ा धोखा दिया है।' यह सुनकर दशार्णराज अत्यन्त कुपित हो उठे ॥ १६ ॥

शिखण्ड्यपि महाराज पुंवद् राजकुले तदा।
विजहार मुदा युक्तः स्त्रीत्वं नैवातिरोचयन् ॥ १७ ॥

महाराज ! शिखण्डी भी उस राजपरिवारमें पुरुषकी ही भाँति आनन्दपूर्वक घूमता-फिरता था। उसे अपना स्त्रीत्व अच्छा नहीं लगता था ॥ १७ ॥

ततः कतिपयाहस्य तच्छ्रुत्वा भरतर्षभ।
हिरण्यवर्मा राजेन्द्र रोषादार्तिं जगाम ह ॥ १८ ॥

भरतश्रेष्ठ ! राजेन्द्र ! तदनन्तर कुछ दिनोंमें उसके स्त्री होनेका समाचार सुनकर हिरण्यवर्मा क्रोधसे पीड़ित हो गया ॥

ततो दाशार्णको राजा तीव्रकोपसमन्वितः।
दूतं प्रस्थापयामास द्रुपदस्य निवेशनम् ॥ १९ ॥

तदनन्तर दशार्णराजने दुःसह क्रोधसे युक्त हो राजा द्रुपदके दरबारमें दूत भेजा ॥ १९ ॥

ततो द्रुपदमासाद्य दूतः काञ्चनवर्मणः।
एक एकान्तमुत्सार्य रहो वचनमब्रवीत् ॥ २० ॥

हिरण्यवर्माका वह दूत द्रुपदके पास पहुँचकर अकेला एकान्तमें सबको हटाकर केवल राजासे इस प्रकार बोला—॥

दाशार्णराजो राजंस्त्वामिदं वचनमब्रवीत्।
अभिषङ्गात् प्रकुपितो विप्रलब्धस्त्वयानघ ॥ २१ ॥

'निष्पाप नरेश ! आपने दशार्णराजको धोखा दिया है। आपके द्वारा किये गये अपमानसे उनका क्रोध बहुत बढ़ गया है। उन्होंने आपसे कहनेके लिये यह संदेश भेजा है ॥

अवमन्यसे मां नृपते नूनं दुर्मन्त्रितं तव।
यन्मे कन्यां स्वकन्यार्थे मोहाद् याचितवानसि ॥ २२ ॥
तस्याद्य विप्रलम्भस्य फलं प्राप्नुहि दुर्मते।
एष त्वां सजनामात्यमुद्धरामि स्थिरो भव ॥ २३ ॥

'नरेश्वर ! तुमने जो मेरा अपमान किया है, वह निश्चय ही तुम्हारे खोटे विचारका परिचय है। तुमने मोहवश अपनी पुत्रीके लिये मेरी पुत्रीका वरण किया था। दुर्मते ! उस ठगी और वञ्चनाका फल अब तुम्हें शीघ्र ही प्राप्त होगा, धीरज रक्खो। मैं अभी सेवकों और मन्त्रियोंसहित तुम्हें जड़मूलसहित उखाड़ फेंकता हूँ' ॥ २२-२३ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि अम्बोपाख्यानपर्वणि हिरण्यवर्मदूतागमने एकोननवत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १८९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत अम्बोपाख्यानपर्वमें हिरण्यवर्माके दूतका आगमनविषयक एक सौ नवासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १८९ ॥

नवत्यधिकशततमोऽध्यायः

हिरण्यवर्माके आक्रमणके भयसे घबराये हुए द्रुपदका अपनी महारानीसे संकटनिवारणका उपाय पूछना

भीष्म उवाच

एवमुक्तस्य दूतेन द्रुपदस्य तदा नृप।
चोरस्येव गृहीतस्य न प्रावर्तत भारती ॥ १ ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन् ! दूतके ऐसा कहनेपर पकड़े गये चोरकी भाँति राजा द्रुपदके मुखसे सहसा कोई बात नहीं निकली ॥ १ ॥

स यत्नमकरोत् तीव्रं सम्बन्धिन्यनुमानने।
दूतैर्मधुरसम्भाषैर्नैतदस्तीति संदिशन् ॥ २ ॥

उन्होंने मधुरभाषी दूतोंके द्वारा यह संदेश देकर कि 'ऐसी बात नहीं है (आपको धोखा नहीं दिया गया है)' अपने सम्बन्धीको मनानेका दुष्कर प्रयत्न किया ॥ २ ॥

स राजा भूय एवाथ ज्ञात्वा तत्त्वमथागमत्।
कन्येति पाञ्चालसुतां त्वरमाणो विनिर्ययौ ॥ ३ ॥

राजा हिरण्यवर्माने जब पुनः पता लगाया तो पाञ्चाल-राजकी पुत्री शिखण्डिनी कन्या ही है, यह बात ठीक जान पड़ी। इससे रुष्ट होकर उन्होंने बड़ी उतावलीके साथ द्रुपद-पर आक्रमण करनेका निश्चय किया ॥ ३ ॥

ततः सम्प्रेषयामास मित्राणाममितौजसाम्।
दुहितुर्विप्रलम्भं तं धात्रीणां वचनात् तदा ॥ ४ ॥

तदनन्तर राजाने धायोंके कथनानुसार अपनी कन्याको द्रुपदके द्वारा धोखा दिये जानेका समाचार अमिततेजस्वी मित्र राजाओंके पास भेजा ॥ ४ ॥

ततः समुदयं कृत्वा बलानां राजसत्तमः।
अभियाने मतिं चक्रे द्रुपदं प्रति भारत ॥ ५ ॥

भारत ! इसके बाद नृपश्रेष्ठ हिरण्यवर्माने सैन्य-संग्रह करके राजा द्रुपदके ऊपर चढ़ाई करनेका निश्चय किया ॥ ५ ॥

ततः सम्मन्त्रयामास मन्त्रिभिः स महीपतिः।
हिरण्यवर्मा राजेन्द्र पाञ्चाल्यं पार्थिवं प्रति ॥ ६ ॥

राजेन्द्र ! फिर राजा हिरण्यवर्माने अपने मन्त्रियोंके साथ बैठकर परामर्श किया कि मुझे पाञ्चालनरेशके साथ कैसा बर्ताव करना चाहिये ॥ ६ ॥

तत्र वै निश्चितं तेषामभूद् राज्ञां महात्मनाम्।
तथ्यं भवति चेदेतत् कन्या राजन् शिखण्डिनी ॥ ७ ॥
बद्ध्वा पञ्चालराजानमानयिष्यामहे गृहम्।
अन्यं राजानमाधाय पञ्चालेषु नरेश्वरम् ॥ ८ ॥
घातयिष्याम नृपतिं पाञ्चालं सशिखण्डिनम् ॥ ९ ॥

वहाँ महामना मित्र राजाओंका यह निश्चय घोषित हुआ कि राजन् ! यदि यह सत्य सिद्ध हुआ कि शिखण्डी वास्तवमें पुत्र नहीं, कन्या है, तब हमलोग पाञ्चालराजको कैद करके अपने घर ले आयेंगे और पाञ्चालदेशके राज्यपर दूसरे किसी राजाको बिठाकर शिखण्डीसहित द्रुपदको मरवा डालेंगे ॥ ७—९ ॥

तत् तथाभूतमाज्ञाय पुनर्दूतान्नराधिपः ।
प्रास्थापयत् पार्षताय निहन्मीति स्थिरो भव ॥ १० ॥

फिर दूतके मुखसे उस समाचारको यथार्थ जानकर राजा हिरण्यवर्माने द्रुपदके पास दूत भेजा । स्थिर रहो (सावधान हो जाओ); मैं कुछ ही दिनोंमें तुम्हारा संहार कर डालूँगा ॥

भीष्म उवाच

स हि प्रकृत्या वै भीतः किल्बिषी च नराधिपः ।
भयं तीव्रमनुप्राप्तो द्रुपदः पृथिवीपतिः ॥ ११ ॥

भीष्म कहते हैं—राजा द्रुपद उन दिनों स्वभावसे ही भीरु थे । फिर उनके द्वारा अपराध भी बन गया था । अतः उन्होंने बड़े भारी भयका अनुभव किया ॥ ११ ॥

विसृज्य दूतान् दाशार्णे द्रुपदः शोकमूर्छितः ।
समेत्य भार्यां रहिते वाक्यमाह नराधिपः ॥ १२ ॥

राजा द्रुपदने दशार्णनरेशके पास दूतोंको भेजकर शोकसे अधीर हो एकान्त स्थानमें अपनी पत्नीसे मिलकर इस विषयमें बातचीत करनेकी इच्छा की ॥ १२ ॥

भयेन महताऽऽविष्टो हृदि शोकेन चाहतः ।
पाञ्चालराजो दयितां मातरं वै शिखण्डिनः ॥ १३ ॥

पाञ्चालराजके हृदयमें बड़ा भारी भय समा गया था । वे शोकसे पीड़ित थे । अतः उन्होंने अपनी प्यारी पत्नी शिखण्डीकी मातासे इस प्रकार कहा—॥ १३ ॥

अभियास्यति मां कोपात् सम्बन्धी सुमहाबलः ।
हिरण्यवर्मा नृपतिः कर्षमाणो वरूथिनीम् ॥ १४ ॥

'देवि ! मेरे महाबली सम्बन्धी हिरण्यवर्मा क्रोधवश अपनी विशाल सेना लाकर मेरे ऊपर आक्रमण करेंगे ॥१४॥

किमिदानीं करिष्यावो मूढौ कन्यामिमां प्रति ।
शिखण्डी किल पुत्रस्ते कन्येति परिशङ्कितः ॥ १५ ॥

'इस समय हम दोनों क्या करें ? इस कन्याके प्रश्नको लेकर हमलोग किंकर्तव्यविमूढ़ हो रहे हैं । सम्बन्धीके मनमें यह शंका दृढ़मूल हो गयी है कि तुम्हारा पुत्र शिखण्डी वास्तवमें कन्या है ॥ १५ ॥

इति संचिन्त्य यत्नेन समित्रः सबलानुगः ।
वञ्चितोऽस्मीति मन्वानो मां किलोद्धर्तुमिच्छति ॥ १६ ॥
किमत्र तथ्यं सुश्रोणि मिथ्या किं ब्रूहि शोभने ।
श्रुत्वा त्वत्तः शुभं वाक्यं संविधास्याम्यहं तथा ॥ १७ ॥

'यह सोचकर वे ऐसा मानने लगे हैं कि मेरे साथ धोखा किया गया है और इसलिये वे अपने मित्रों, सैनिकों तथा सेवकोंसहित आकर मुझे यत्नपूर्वक उखाड़ फेंकना चाहते हैं । सुश्रोणि ! यहाँ क्या सच है और क्या झूठ ? शोभने ! इस बातको तुम्हीं बताओ । तुम्हारे मुखसे निकले हुए शुभ वचनको सुनकर मैं वैसा ही करूँगा ॥ १६-१७ ॥

अहं हि संशयं प्राप्तो बाला चेयं शिखण्डिनी ।
त्वं च राज्ञि महत् कृच्छ्रं सम्प्राप्ता वरवर्णिनि ॥ १८ ॥

'रानी ! मेरा जीवन संशयमें पड़ गया है । यह शिखण्डिनी भी बालिका ही है । सुन्दरि ! तुम भी महान् संकटमें फँस गयी हो ॥ १८ ॥

सा त्वं सर्वविमोक्षाय तत्त्वमाख्याहि पृच्छतः ।
तथा विदध्यां सुश्रोणि कृत्यमाशु शुचिस्मिते ॥ १९ ॥

'सुश्रोणि ! मैं पूछ रहा हूँ । सबको संकटसे छुड़ानेके लिये कोई यथार्थ उपाय बताओ । शुचिस्मिते ! मैं उस उपायको शीघ्र ही काममें लाऊँगा ॥ १९ ॥

शिखण्डिनि च मा भैस्त्वं विधास्ये तत्र तत्त्वतः ।
कृपयाहं वरारोहे वञ्चितः पुत्रधर्मतः ॥ २० ॥

'सुन्दर अङ्गोंवाली महारानी ! तुम शिखण्डीके विषयमें भय मत करो । मैं दया करके वही कार्य करूँगा, जो वस्तुतः हितकारक होगा, मैं स्वयं पुत्रधर्मसे वञ्चित हो गया हूँ ॥

मया दाशार्णको राजा वञ्चितः स महीपतिः ।
तदाचक्ष्व महाभागे विधास्ये तत्र यद्धितम् ॥ २१ ॥

'और मैंने दशार्णनरेश महाराज हिरण्यवर्माको भी वञ्चित किया है । अतः महाभागे ! इस अवसरपर तुम्हारी दृष्टिमें जो हितकारक कार्य हो, उसे बताओ । मैं उसका अनुष्ठान करूँगा' ॥ २१ ॥

जानता हि नरेन्द्रेण ख्यापनार्थं परस्य वै ।
प्रकाशं चोदिता देवी प्रत्युवाच महीपतिम् ॥ २२ ॥

यद्यपि राजा द्रुपद सब कुछ जानते थे तो भी दूसरे लोगोंमें अपनी निर्दोषता सिद्ध करनेके लिये महारानीसे स्पष्ट शब्दोंमें पूछा । उनके प्रश्न करनेपर रानीने राजाको इस प्रकार उत्तर दिया ॥ २२ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि अम्बोपाख्यानपर्वणि द्रुपदप्रश्ने नवत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १९० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत अम्बोपाख्यानपर्वमें द्रुपदप्रश्नविषयक एक सौ नब्बेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥१९०॥

एकनवत्यधिकशततमोऽध्यायः

द्रुपदपत्नीका उत्तर, द्रुपदके द्वारा नगररक्षाकी व्यवस्था और देवाराधन तथा शिखण्डिनीका वनमें जाकर स्थूणाकर्ण नामक यक्षसे अपने दुःखनिवारणके लिये प्रार्थना करना

भीष्म उवाच

ततः शिखण्डिनो माता यथातत्त्वं नराधिप ।
आचचक्षे महाबाहो भर्त्रे कन्यां शिखण्डिनीम् ॥ १ ॥

भीष्मजी कहते हैं—महाबाहु नरेश्वर ! तब शिखण्डीकी माताने अपने पतिसे यथार्थ रहस्य बताते हुए कहा—'यह पुत्र शिखण्डी नहीं, शिखण्डिनी नामवाली कन्या है ॥ १ ॥

अपुत्रया मया राजन् सपत्नीनां भयादिदम्।
कन्या शिखण्डिनी जाता पुरुषो वै निवेदिता ॥ २ ॥

'राजन्! पुत्ररहित होनेके कारण मैंने अपनी सौतोंके भयसे इस कन्या शिखण्डिनीके जन्म लेनेपर भी इसे पुत्र ही बताया ॥ २ ॥

त्वया चैव नरश्रेष्ठ तन्मे प्रीत्यानुमोदितम्।
पुत्रकर्म कृतं चैव कन्यायाः पार्थिवर्षभ ॥ ३ ॥

'नरश्रेष्ठ! आपने भी प्रेमवश मेरे इस कथनका अनुमोदन किया और महाराज! कन्या होनेपर भी आपने इसका पुत्रोचित संस्कार किया ॥ ३ ॥

भार्या चोढा त्वया राजन् दशार्णाधिपतेः सुता।
मया च प्रत्यभिहितं देववाक्यार्थदर्शनात्।
कन्या भूत्वा पुमान् भावीत्येवं चैतदुपेक्षितम् ॥ ४ ॥

'राजन्! मेरे ही कथनपर विश्वास करके आप दशार्णराजकी पुत्रीको इसकी पत्नी बनानेके लिये ब्याह लाये। महादेवजीके वरदानवाक्यपर दृष्टि रखनेके कारण मैंने इसके विषयमें पुत्र होनेकी घोषणा की थी। महादेवजीने कहा था कि पहले कन्या होगी, फिर वही पुत्र हो जायगा। इसीलिये इस वर्तमान संकटकी उपेक्षा की गयी' ॥ ४ ॥

एतच्छ्रुत्वा द्रुपदो यज्ञसेनः
सर्वं तत्त्वं मन्त्रविद्भ्यो निवेद्य।
मन्त्रं राजा मन्त्रयामास राजन्
यथायुक्तं रक्षणे वै प्रजानाम् ॥ ५ ॥

यह सुनकर यज्ञसेन द्रुपदने मन्त्रियोंको सब बातें ठीक-ठीक बता दीं। राजन्! तत्पश्चात् प्रजाकी रक्षाके लिये जैसी व्यवस्था उचित है, उसके लिये उन्होंने पुनः मन्त्रियोंके साथ गुप्त मन्त्रणा की ॥ ५ ॥

सम्बन्धकं चैव समर्थ्य तस्मिन्
दाशार्णके वै नृपतौ नरेन्द्र।
स्वयं कृत्वा विप्रलम्भं यथाव-
न्मन्त्रैकाग्रो निश्चयं वै जगाम ॥ ६ ॥

नरेन्द्र! यद्यपि राजा द्रुपदने स्वयं ही वञ्चना की थी, तथापि दशार्णराजके साथ सम्बन्ध और प्रेम बनाये रखनेकी इच्छा करके एकाग्रचित्तसे मन्त्रणा करते हुए वे एक निश्चयपर पहुँच गये ॥ ६ ॥

स्वभावगुप्तं नगरमापत्काले तु भारत।
गोपयामास राजेन्द्र सर्वतः समलंकृतम् ॥ ७ ॥

भरतनन्दन राजेन्द्र! यद्यपि वह नगर स्वभावसे ही सुरक्षित था, तथापि उस विपत्तिके समय उसको सब प्रकारसे सजा करके उन्होंने उसकी रक्षाके लिये विशेष व्यवस्था की ॥

आर्तिं च परमां राजा जगाम सह भार्यया।
दशार्णपतिना सार्धं विरोधे भरतर्षभ ॥ ८ ॥

भरतश्रेष्ठ! दशार्णराजके साथ विरोधकी भावना होनेपर रानीसहित राजा द्रुपदको बड़ा कष्ट हुआ ॥ ८ ॥

कथं सम्बन्धिना सार्धं न मे स्याद् विग्रहो महान्।
इति संचिन्त्य मनसा देवतामर्चयत् तदा ॥ ९ ॥

अपने सम्बन्धीके साथ मेरा महान् युद्ध कैसे टल जाय—यह मन-ही-मन विचार करके उन्होंने देवताकी अर्चना आरम्भ कर दी ॥ ९ ॥

तं तु दृष्ट्वा तदा राजन् देवी देवपरं तदा।
अर्चां प्रयुञ्जानमथो भार्या वचनमब्रवीत् ॥ १० ॥

राजन्! राजा द्रुपदको देवाराधनमें तत्पर देख महारानीने पूजा चढ़ाते हुए नरेशसे इस प्रकार कहा—॥ १० ॥

देवानां प्रतिपत्तिश्च सत्या साधुमता सदा।
किमु दुःखार्णवं प्राप्य तस्मादर्चयतां गुरून् ॥ ११ ॥
दैवतानि च सर्वाणि पूज्यन्तां भूरिदक्षिणम्।
अग्नयश्चापि हूयन्तां दाशार्णप्रतिषेधने ॥ १२ ॥

'देवताओंकी आराधना साधु पुरुषोंके लिये सदा ही सत्य (उत्तम) है। फिर जो दुःखके समुद्रमें डूबा हुआ हो, उसके लिये तो कहना ही क्या है। अतः आप गुरुजनों और सम्पूर्ण देवताओंका पूजन करें, ब्राह्मणोंको पर्याप्त दक्षिणा दें और दशार्णराजके लौट जानेके लिये अग्नियोंमें होम करें ॥ ११-१२ ॥

अयुद्धेन निवृत्तिं च मनसा चिन्तय प्रभो।
देवतानां प्रसादेन सर्वमेतद् भविष्यति ॥ १३ ॥

'प्रभो! मन-ही-मन यह चिन्तन कीजिये कि दशार्णराज बिना युद्ध किये ही लौट जायँ। देवताओंके कृपाप्रसादसे यह सब कुछ सिद्ध हो जायगा ॥ १३ ॥

मन्त्रिभिर्मन्त्रितं सार्धं त्वया पृथुललोचन।
पुरस्यास्याविनाशाय यच्च राजंस्तथा कुरु ॥ १४ ॥

'विशाललोचन नरेश! आपने इस नगरकी रक्षाके लिये मन्त्रियोंके साथ जैसा विचार किया है वैसा कीजिये ॥ १४ ॥

दैवं हि मानुषोपेतं भृशं सिद्ध्यति पार्थिव।
परस्परविरोधाद्धि सिद्धिरस्ति न चैतयोः ॥ १५ ॥

'भूपाल! पुरुषार्थसे संयुक्त होनेपर ही दैव विशेषरूपसे सिद्धिको प्राप्त होता है। दैव और पुरुषार्थमें परस्पर विरोध होनेपर इन दोनोंकी ही सिद्धि नहीं होती ॥ १५ ॥

तस्माद् विधाय नगरे विधानं सचिवैः सह।
अर्चयस्व यथाकामं दैवतानि विशाम्पते ॥ १६ ॥

'राजन्! अतः आप मन्त्रियोंके साथ नगरकी रक्षाके लिये आवश्यक व्यवस्था करके इच्छानुसार देवताओंकी अर्चना कीजिये' ॥ १६ ॥

एवं संभाषमाणौ तु दृष्ट्वा शोकपरायणौ।
शिखण्डिनी तदा कन्या व्रीडितेव तपस्विनी ॥ १७ ॥
ततः सा चिन्तयामास मत्कृते दुःखिताबुभौ।
इमाविति ततश्चक्रे मतिं प्राणविनाशने ॥ १८ ॥

इन दोनोंको इस प्रकार शोकमग्न होकर बातचीत करते देख उनकी तपस्विनी पुत्री शिखण्डिनी लज्जित-सी होकर इस

प्रकार चिन्ता करने लगी—'ये मेरे माता और पिता दोनों मेरे ही कारण दुखी हो रहे हैं।' ऐसा सोचकर उसने प्राण त्याग देनेका विचार किया ॥ १७-१८ ॥

एवं सा निश्चयं कृत्वा भृशं शोकपरायणा।
निर्जगाम गृहं त्यक्त्वा गहनं निर्जनं वनम् ॥ १९ ॥

इस प्रकार जीवनका अन्त कर देनेका निश्चय करके वह अत्यन्त शोकमग्न हो घर छोड़कर निर्जन एवं गहन वनमें चली गयी ॥ १९ ॥

यक्षेणर्द्धिमता राजन् स्थूणाकर्णेन पालितम्।
तद्भयादेव च जनो विसर्जयति तद् वनम् ॥ २० ॥

राजन्! वह वन समृद्धिशाली यक्ष स्थूणाकर्णके द्वारा सुरक्षित था। इसीके भयसे साधारण लोगोंने उस वनमें आना-जाना छोड़ दिया था ॥ २० ॥

तत्र च स्थूणभवनं सुधामृत्तिकलेपनम्।
लाजोल्लापिकधूमाढ्यमुच्चप्राकारतोरणम् ॥ २१ ॥

उसके भीतर स्थूणाकर्णका विशाल भवन था, जो चूना और मिट्टीसे लीपा गया था। उसके परकोटे और फाटक बहुत ऊँचे थे। उसमें खसकी जड़के धूमकी सुगन्ध फैली हुई थी ॥ २१ ॥

तत् प्रविश्य शिखण्डी सा द्रुपदस्यात्मजा नृप।
अनश्नाना बहुतिथं शरीरमुदशोषयत् ॥ २२ ॥

उस भवनमें प्रवेश करके द्रुपदपुत्री शिखण्डिनी बहुत दिनोंतक उपवास करके शरीरको सुखाती रही ॥ २२ ॥

दर्शयामास तां यक्षः स्थूणो मार्दवसंयुतः।
किमर्थोऽयं तवारम्भः करिष्ये ब्रूहि मा चिरम् ॥ २३ ॥

स्थूणाकर्ण यक्षने उसे इस अवस्थामें देखा। देखकर उसके हृदयमें कोमल भावका उदय हुआ। फिर उसने पूछा—'भद्रे! तुम्हारा यह उपवास-व्रत किसलिये है? अपना प्रयोजन शीघ्र बताओ। मैं उसे पूर्ण करूँगा' ॥ २३ ॥

अशक्यमिति सा यक्षं पुनः पुनरुवाच ह।
करिष्यामीति वै क्षिप्रं प्रत्युवाचाथ गुह्यकः ॥ २४ ॥

यह सुनकर उसने यक्षसे बार-बार कहा—'यह तुम्हारे लिये असम्भव है।' तब यक्षने बार-बार उत्तर दिया—'मैं तुम्हारा मनोरथ अवश्य पूर्ण कर दूँगा ॥ २४ ॥

धनेश्वरस्यानुचरो वरदोऽस्मि नृपात्मजे।
अदेयमपि दास्यामि ब्रूहि यत् ते विवक्षितम् ॥ २५ ॥

'राजकुमारी! मैं कुबेरका सेवक हूँ। मुझमें वर देनेकी शक्ति है, तुम्हारी जो भी इच्छा हो बताओ। मैं तुम्हें अदेय वस्तु भी दे दूँगा' ॥ २५ ॥

ततः शिखण्डी तत् सर्वमखिलेन न्यवेदयत्।
तस्मै यक्षप्रधानाय स्थूणाकर्णाय भारत ॥ २६ ॥

भरतनन्दन! तब शिखण्डिनीने उस यक्षप्रवर स्थूणाकर्णसे अपना सारा वृत्तान्त विस्तारपूर्वक बताया ॥ २६ ॥

शिखण्डिन्युवाच

अपुत्रो मे पिता यक्ष न चिरान्नाशमेष्यति।
अभियास्यति सक्रोधो दशार्णाधिपतिर्हि तम् ॥ २७ ॥

शिखण्डिनी बोली—यक्ष! मेरे पुत्रहीन पिता अब शीघ्र ही नष्ट हो जायँगे; क्योंकि दशार्णराज कुपित होकर उनपर आक्रमण करेंगे ॥ २७ ॥

महाबलो महोत्साहः सहेमकवचो नृपः।
तस्माद् रक्षस्व मां यक्ष मातरं पितरं च मे ॥ २८ ॥

वे सुवर्णमय कवचसे युक्त नरेश महाबली और महान् उत्साही हैं—यक्ष! तुम मेरे माता-पिताकी और मेरी भी उनसे रक्षा करो ॥ २८ ॥

प्रतिज्ञातो हि भवता दुःखप्रतिशमो मम।
भवेयं पुरुषो यक्ष त्वत्प्रसादादनिन्दितः ॥ २९ ॥
यावदेव स राजा वै नोपयाति पुरं मम।
तावदेव महायक्ष प्रसादं कुरु गुह्यक ॥ ३० ॥

गुह्यक! महायक्ष! तुमने मेरे दुःखनिवारणके लिये प्रतिज्ञा की है। मैं चाहती हूँ कि तुम्हारी कृपासे एक श्रेष्ठ पुरुष हो जाऊँ। जबतक राजा हिरण्यवर्मा हमारे नगरपर आक्रमण नहीं कर रहे हैं, तभीतक मुझपर कृपा करो ॥ २९-३० ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि अम्बोपाख्यानपर्वणि स्थूणाकर्णसमागमे एकनवत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १९१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत अम्बोपाख्यानपर्वमें स्थूणाकर्णके साथ शिखण्डिनीकी भेंटविषयक एक सौ इक्यानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १९१ ॥

द्विनवत्यधिकशततमोऽध्यायः

शिखण्डीको पुरुषत्वकी प्राप्ति, द्रुपद और हिरण्यवर्माकी प्रसन्नता, स्थूणाकर्णको कुबेरका शाप तथा भीष्मका शिखण्डीको न मारनेका निश्चय

भीष्म उवाच

शिखण्डिवाक्यं श्रुत्वाथ स यक्षो भरतर्षभ।
प्रोवाच मनसा चिन्त्य दैवेनोपनिपीडितः ॥ १ ॥
भवितव्यं तथा तद्धि मम दुःखाय कौरव।
भद्रे कामं करिष्यामि समयं तु निबोध मे ॥ २ ॥
(स्वं ते पुंस्त्वं प्रदास्यामि स्त्रीत्वं धारयितास्मि ते।)
किंचित् कालान्तरे दास्ये पुंलिङ्गं स्वमिदं तव।
आगन्तव्यं त्वया काले सत्यं चैव वदस्व मे ॥ ३ ॥

भीष्म कहते हैं—भरतश्रेष्ठ कौरव! शिखण्डिनीकी यह बात सुनकर दैवपीड़ित यक्षने मन-ही-मन कुछ सोचकर

कहा—'भद्रे ! तुम जैसा कहती हो वैसा हो तो जायगा; परंतु वह मेरे दुःखका कारण होगा, तथापि मैं तुम्हारी इच्छा पूर्ण करूँगा । इस विषयमें जो मेरी शर्त है, उसे सुनो। मैं तुम्हें अपना पुरुषत्व दूँगा और तुम्हारा स्त्रीत्व स्वयं धारण करूँगा; किंतु कुछ ही कालके लिये अपना यह पुरुषत्व तुम्हें दूँगा । उस निश्चित समयके भीतर ही तुम्हें मेरा पुरुषत्व लौटानेके लिये यहाँ आ जाना चाहिये । इसके लिये मुझे सच्चा वचन दो ॥ १–३ ॥'

प्रभुः संकल्पसिद्धोऽस्मि कामचारी विहङ्गमः ।
मत्प्रसादात् पुरं चैव त्राहि बन्धूंश्च केवलम् ॥ ४ ॥

'मैं सिद्धसंकल्प, सामर्थ्यशाली, इच्छानुसार सर्वत्र विचरनेवाला तथा आकाशमें भी चलनेकी शक्ति रखनेवाला हूँ । तुम मेरी कृपासे केवल अपने नगर और बन्धु बान्धवोंकी रक्षा करो ॥ ४ ॥

स्त्रीलिङ्गं धारयिष्यामि तदेवं पार्थिवात्मजे ।
सत्यं मे प्रतिजानीहि करिष्यामि प्रियं तव ॥ ५ ॥

'राजकुमारी ! इस प्रकार मैं तुम्हारा स्त्रीत्व धारण करूँगा, कार्य पूर्ण हो जानेपर तुम मेरा पुरुषत्व लौटा देनेकी मुझसे सच्ची प्रतिज्ञा करो; तब मैं तुम्हारा प्रिय कार्य करूँगा' ॥ ५ ॥

शिखण्डिन्युवाच

प्रतिदास्यामि भगवन् पुँल्लिङ्गं तव सुव्रत ।
किञ्चित्कालान्तरं स्त्रीत्वं धारयस्व निशाचर ॥ ६ ॥

शिखण्डिनी बोली—भगवन् ! तुम्हारा यह पुरुषत्व मैं समयपर लौटा दूँगा । निशाचर ! तुम कुछ ही समयके लिये मेरा स्त्रीत्व धारण कर लो ॥ ६ ॥

प्रतियाते दशार्णे तु पार्थिवे हेमवर्मणि ।
कन्यैव हि भविष्यामि पुरुषस्त्वं भविष्यसि ॥ ७ ॥

दशार्णदेशके स्वामी राजा हिरण्यवर्माके लौट जानेपर मैं फिर कन्या ही हो जाऊँगी और तुम पूर्ववत् पुरुष हो जाओगे ॥

भीष्म उवाच

इत्युक्त्वा समयं तत्र चक्राते तावुभौ नृप ।
अन्योऽन्यस्याभिसंदेहे तौ संक्रामयतां ततः ॥ ८ ॥
स्त्रीलिङ्गं धारयामास स्थूणायक्षोऽथ भारत ।
यक्षरूपं च तद् दीप्तं शिखण्डी प्रत्यपद्यत ॥ ९ ॥

भीष्मजी कहते हैं—नरेश्वर ! इस प्रकार बात करके उन्होंने परस्पर प्रतिज्ञा कर ली तथा उन दोनोंने एक दूसरेके शरीरमें अपने-अपने पुरुषत्व और स्त्रीत्वका संक्रमण करा दिया। भारत ! स्थूणाकर्ण यक्षने उस शिखण्डिनीके स्त्रीत्वको धारण कर लिया और शिखण्डिनीने यक्षका प्रकाशमान पुरुषत्व प्राप्त कर लिया ॥ ८-९ ॥

ततः शिखण्डी पाञ्चाल्यः पुंस्त्वमासाद्य पार्थिव ।
विवेश नगरं हृष्टः पितरं च समासदत् ॥ १० ॥

राजन् ! इस प्रकार पुरुषत्व पाकर पाञ्चालराजकुमार शिखण्डी बड़े हर्षके साथ नगरमें आया और अपने पितासे मिला॥

यथावृत्तं तु तत् सर्वमाचख्यौ द्रुपदस्य तत् ।
द्रुपदस्तस्य तच्छ्रुत्वा हर्षमाहारयत् परम् ॥ ११ ॥

उसने जैसे जो वृत्तान्त हुआ था, वह सब राजा द्रुपदसे कह सुनाया । उसकी यह बात सुनकर राजा द्रुपदको अपार हर्ष हुआ ॥ ११ ॥

सभार्यस्तच्च सस्मार महेश्वरवचस्तदा ।
ततः सम्प्रेषयामास दशार्णाधिपतेर्नृपः ॥ १२ ॥
पुरुषोऽयं मम सुतः श्रद्धत्तां मे भवानिति ।

पत्नीसहित राजाको भगवान् महेश्वरके दिये हुए वरका स्मरण हो आया । तदनन्तर राजा द्रुपदने दशार्णराजके पास दूत भेजा और यह कहलाया कि मेरा पुत्र पुरुष है । आप मेरी इस बातपर विश्वास करें ॥ १२½ ॥

अथ दाशार्णको राजा सहसाभ्यागमत् तदा ॥ १३ ॥
पञ्चालराजं द्रुपदं दुःखशोकसमन्वितः ।

इधर दुःख और शोकमें डूबे हुए दशार्णराजने सहसा पाञ्चालराज द्रुपदपर आक्रमण किया ॥ १३½ ॥

ततः काम्पिल्यमासाद्य दशार्णाधिपतिस्ततः ॥ १४ ॥
प्रेषयामास सत्कृत्य दूतं ब्रह्मविदां वरम् ।

काम्पिल्य नगरके निकट पहुँचकर दशार्णराजने वेदवेत्ताओंमें श्रेष्ठ एक ब्राह्मणको सत्कारपूर्वक दूत बनाकर भेजा ॥ १४½ ॥

ब्रूहि मद्वचनाद् दूत पाञ्चाल्यं तं नृपाधमम् ॥ १५ ॥
यन्मे कन्यां स्वकन्यार्थे वृतवानसि दुर्मते ।
फलं तस्यावलेपस्य द्रक्ष्यस्यद्य न संशयः ॥ १६ ॥

और कहा—'दूत ! मेरे कथनानुसार राजाओंमें अधम उस पाञ्चालनरेशसे कहिये । दुर्मते ! तुमने जो अपनी कन्याके लिये मेरी कन्याका वरण किया था, उस घमंडका फल तुम्हें आज देखना पड़ेगा, इसमें संशय नहीं है' ॥ १५-१६ ॥

एवमुक्तश्च तेनासौ ब्राह्मणो राजसत्तम ।
दूतः प्रयातो नगरं दाशार्णनृपचोदितः ॥ १७ ॥

नृपश्रेष्ठ ! दशार्णराजका यह संदेश पाकर और उन्हींकी प्रेरणासे दूत बनकर वे ब्राह्मणदेवता काम्पिल्य नगरमें आये॥

तत आसादयामास पुरोधा द्रुपदं पुरे ।
तस्मै पाञ्चालको राजा गामर्घ्यं च सुसत्कृतम् ॥ १८ ॥
प्रापयामास राजेन्द्र सह तेन शिखण्डिना ।
तां पूजां नाभ्यनन्दत् स वाक्यं चेदमुवाच ह ॥ १९ ॥

नगरमें आकर वे पुरोहित ब्राह्मण महाराज द्रुपदसे मिले। पाञ्चालराजने सत्कारपूर्वक उन्हें अर्घ्य तथा गौ अर्पण की । उनके साथ राजकुमार शिखण्डी भी थे । राजेन्द्र ! पुरोहितने वह पूजा ग्रहण नहीं की और इस प्रकार कहा—॥ १८-१९ ॥

यदुक्तं तेन वीरेण राज्ञा काञ्चनवर्मणा ।
यत् तेऽहमधमाचार दुहित्रास्म्यभिवञ्चितः ॥ २० ॥
तस्य पापस्य करणात् फलं प्राप्नुहि दुर्मते ।
देहि युद्धं नरपते ममाद्य रणमूर्धनि ॥ २१ ॥

उद्धरिष्यामि ते सद्यः सामात्यसुतबान्धवम् ।

'राजन् ! वीरवर राजा हिरण्यवर्माने जो संदेश दिया है, उसे सुनिये । पापाचारी दुर्बुद्धि नरेश ! तुम्हारी पुत्रीके द्वारा मैं ठगा गया हूँ । वह पाप तुमने ही किया है; अतः उसका फल भोगो । नरेश्वर ! युद्धके मैदानमें आकर मुझे युद्धका अवसर दो । मैं मन्त्री, पुत्र और बान्धवोंसहित तुम्हारे समस्त कुलको उखाड़ फेंकूँगा' ॥ २०-२१½ ॥

तदुपालम्भसंयुक्तं श्रावितः किल पार्थिवः ॥ २२ ॥
दशार्णपतिना चोक्तो मन्त्रिमध्ये पुरोधसा ।

इस प्रकार पुरोहितने मन्त्रियोंके बीचमें बैठे हुए राजा द्रुपदसे दशार्णराजका कहा हुआ उपालम्भयुक्त संदेश सुनाया ॥ २२½ ॥

अभवद् भरतश्रेष्ठ द्रुपदः प्रणयानतः ॥ २३ ॥
यदाह मां भवान् ब्रह्मन् सम्बन्धिवचनाद् वचः ।
अस्योत्तरं प्रतिवचो दूतो राज्ञे वदिष्यति ॥ २४ ॥

भरतश्रेष्ठ ! तब राजा द्रुपद प्रेमसे विनीत हो गये और इस प्रकार बोले—'ब्रह्मन् ! आपने मेरे सम्बन्धीके कथनानुसार जो बात मुझे सुनायी है, इसका उत्तर मेरा दूत स्वयं जाकर राजाको देगा' ॥ २३-२४ ॥

ततः सम्प्रेषयामास द्रुपदोऽपि महात्मने ।
हिरण्यवर्मणे दूतं ब्राह्मणं वेदपारगम् ॥ २५ ॥

तदनन्तर द्रुपदने भी महामना हिरण्यवर्माके पास वेदोंके पारङ्गत विद्वान् ब्राह्मणको दूत बनाकर भेजा ॥ २५ ॥

तमागम्य तु राजानं दशार्णाधिपतिं तदा ।
तद् वाक्यमाददे राजन् यदुक्तं द्रुपदेन ह ॥ २६ ॥

राजन् ! उन्होंने दशार्णनरेशके पास आकर द्रुपदने जो कुछ कहा था, वह सब दुहरा दिया ॥ २६ ॥

आगमः क्रियतां व्यक्तः कुमारोऽयं सुतो मम ।
मिथ्यैतदुक्तं केनापि तदश्रद्धेयमित्युत ॥ २७ ॥

'राजन् ! आप आकर स्पष्टरूपसे परीक्षा कर लें । मेरा यह कुमार पुत्र है (कन्या नहीं) । आपसे किसीने झूठे ही उसके कन्या होनेकी बात कह दी है; जो विश्वास करनेके योग्य नहीं है' ॥ २७ ॥

ततः स राजा द्रुपदस्य श्रुत्वा
विमर्षयुक्तो युवतीर्वरिष्ठाः ।
सम्प्रेषयामास सुचारुरूपाः
शिखण्डिनं स्त्री पुमान् वेति वेत्तुम् ॥ २८ ॥

राजा द्रुपदका यह उत्तर सुनकर हिरण्यवर्माने कुछ विचार किया और अत्यन्त मनोहर रूपवाली कुछ श्रेष्ठ युवतियोंको यह जाननेके लिये भेजा कि शिखण्डी स्त्री है या पुरुष ॥

ताः प्रेषितास्तत्त्वभावं विदित्वा
प्रीत्या राज्ञे तच्छशंसुर्हि सर्वम् ।
शिखण्डिनं पुरुषं कौरवेन्द्र
दाशार्णराजाय महानुभावम् ॥ २९ ॥

कौरवराज ! उन भेजी हुई युवतियोंने वास्तविक बात जानकर राजा हिरण्यवर्माको बड़ी प्रसन्नताके साथ सब कुछ बता दिया । उन्होंने दशार्णराजको यह विश्वास दिला दिया कि शिखण्डी महान् प्रभावशाली पुरुष है ॥ २९ ॥

ततः कृत्वा तु राजा स आगमं प्रीतिमानथ ।
सम्बन्धिना समागम्य हृष्टो वासमुवास ह ॥ ३० ॥

इस प्रकार परीक्षा करके राजा हिरण्यवर्मा बड़े प्रसन्न हुए । फिर उन्होंने सम्बन्धीसे मिलकर बड़े हर्ष और उल्लास-के साथ वहाँ निवास किया ॥ ३० ॥

शिखण्डिने च मुदितः प्रादाद् वित्तं जनेश्वरः ।
हस्तिनोऽश्वांश्च गाश्चैव दास्योऽथ बहुलास्तथा ॥ ३१ ॥

राजाने अत्यन्त प्रसन्न होकर अपने जामाता शिखण्डीको भी बहुत धन, हाथी, घोड़े, गाय, बैल और दासियाँ दीं ॥

पूजितश्च प्रतिययौ निर्भर्त्स्य तनयां किल ।
विनीतकिल्बिषे प्रीते हेमवर्मणि पार्थिवे ।
प्रतियाते दशार्णे तु हृष्टरूपा शिखण्डिनी ॥ ३२ ॥

इतना ही नहीं, उन्होंने झूठी खबर भेजनेके कारण अपनी पुत्रीको भी झिड़कियाँ दीं । फिर वे राजा द्रुपदसे सम्मानित होकर लौट गये । मनोमालिन्य दूर करके दशार्ण-राज हिरण्यवर्माके प्रसन्नतापूर्वक लौट जानेपर शिखण्डिनीको भी बड़ा हर्ष हुआ ॥ ३२ ॥

कस्यचित् त्वथ कालस्य कुबेरो नरवाहनः ।
लोकयात्रां प्रकुर्वाणः स्थूणस्यागान्निवेशनम् ॥ ३३ ॥

उधर कुछ कालके पश्चात् नरवाहन कुबेर लोकमें भ्रमण करते हुए स्थूणाकर्णके घरपर आये ॥ ३३ ॥

स तद्गृहस्योपरि वर्तमान
आलोकयामास धनाधिगोप्ता ।
स्थूणस्य यक्षस्य विवेश वेश्म
स्वलंकृतं माल्यगुणैर्विचित्रैः ॥ ३४ ॥
लाज्यैश्च गन्धैश्च तथा वितानै-
रभ्यर्चितं धूपनधूपितं च ।
ध्वजैः पताकाभिरलंकृतं च
भक्ष्यान्नपेयामिषदन्तहोमम् ॥ ३५ ॥

उसके घरके ऊपर आकाशमें स्थित हो धनाध्यक्ष कुबेर-ने उसका अच्छी तरह अवलोकन किया । स्थूणाकर्ण यक्षका वह भवन विचित्र हारोंसे सजाया गया था । खशकी और अन्य पदार्थोंकी सुगन्धसे भी अर्चित तथा चँदोवोंसे सुशोभित था । उसमें सब ओर धूपकी सुगन्ध फैली हुई थी। अनेकानेक ध्वज और पताकाएँ उसकी शोभा बढ़ा रही थीं । वहाँ भक्ष्य, भोज्य, पेय आदि सभी वस्तुएँ, जिनका दन्त और जिह्वा-द्वारा उदराग्निमें हवन किया जाता है, प्रस्तुत थीं । तत्पश्चात् कुबेरने उस भवनमें प्रवेश किया ॥ ३४-३५ ॥

तत् स्थानं तस्य दृष्ट्वा तु सर्वतः समलंकृतम् ।
मणिरत्नसुवर्णानां मालाभिः परिपूरितम् ॥ ३६ ॥
नानाकुसुमगन्धाढ्यं सिक्तसम्मृष्टशोभितम् ।

अथाब्रवीद् यक्षपतिस्तान् यक्षाननुगांस्तदा ॥ ३७ ॥
स्वलंकृतमिदं वेश्म स्थूणस्यामितविक्रमाः ।
नोपसर्पति मां चैव कस्मादद्य स मन्दधीः ॥ ३८ ॥

कुबेरने उसके निवासस्थानको सब ओरसे सुसज्जित, मणि, रत्न तथा सुवर्णकी मालाओंसे परिपूर्ण, भाँति-भाँतिके पुष्पोंकी सुगन्धसे व्याप्त तथा झाड़-बुहार और धो-पोंछ देनेके कारण शोभासम्पन्न देखकर यक्षराजने स्थूणाकर्णके सेवकोंसे पूछा—'अमित पराक्रमी यक्षो ! स्थूणाकर्णका यह भवन तो सब प्रकारसे सजाया हुआ दिखायी देता है (इससे सिद्ध है कि वह घरमें ही है), तथापि वह मूर्ख मेरे पास आता क्यों नहीं है ? ॥ ३६–३८ ॥

यस्माज्जानन् स मन्दात्मा मामसौ नोपसर्पति ।
तस्मात् तस्मै महादण्डो धार्यः स्यादिति मे मतिः ॥३९॥

'वह मन्दबुद्धि यक्ष मुझे आया हुआ जानकर भी मेरे निकट नहीं आ रहा है; इसलिये उसे महान् दण्ड देना चाहिये, ऐसा मेरा विचार है' ॥ ३९ ॥

यक्षा ऊचुः

द्रुपदस्य सुता राजन् राज्ञो जाता शिखण्डिनी ।
तस्या निमित्ते कस्मिंश्चित् प्रादात् पुरुषलक्षणम्॥ ४० ॥
अग्रहील्लक्षणं स्त्रीणां स्त्रीभूतो तिष्ठते गृहे ।
नोपसर्पति तेनासौ सव्रीडः स्त्रीसरूपवान् ॥ ४१ ॥

यक्षोंने कहा—राजन्! राजा द्रुपदके यहाँ एक शिखण्डिनी नामकी कन्या उत्पन्न हुई है । उसीको किसी विशेष कारणवश इन्होंने अपना पुरुषत्व दे दिया है और उसका स्त्रीत्व स्वयं ग्रहण कर लिया है । तबसे वे स्त्रीरूप होकर घरमें ही रहते हैं । स्त्रीरूपमें होनेके कारण ही वे लज्जावश आपके पास नहीं आ रहे हैं ॥ ४०-४१ ॥

एतस्मात् कारणाद् राजन् स्थूणो न त्वाद्य सर्पति ।
श्रुत्वा कुरु यथान्याय्यं विमानमिह तिष्ठताम् ॥ ४२ ॥

महाराज ! इसी कारणसे स्थूणाकर्ण आज आपके सामने नहीं उपस्थित हो रहे हैं । यह सुनकर आप जैसा उचित समझें, करें । आज आपका विमान यहीं रहना चाहिये ।४२।

आनीयतां स्थूण इति ततो यक्षाधिपोऽब्रवीत् ।
कर्तास्मि निग्रहं तस्य प्रत्युवाच पुनः पुनः ॥ ४३ ॥

तब यक्षराजने कहा—'स्थूणाकर्णको यहाँ बुला ले आओ । मैं उसे दण्ड दूँगा ।' यह बात उन्होंने बार-बार दुहरायी ॥४३ ॥

सोऽभ्यगच्छत यक्षेन्द्रमाहूतः पृथिवीपते ।
स्त्रीसरूपो महाराज तस्थौ व्रीडासमन्वितः ॥ ४४ ॥

राजन् ! इस प्रकार बुलानेपर वह यक्ष कुबेरकी सेवामें गया । महाराज ! वह स्त्रीस्वरूप धारण करनेके कारण लज्जामें डूबा हुआ उनके सामने खड़ा हो गया ॥ ४४ ॥

तं शशापाथ संक्रुद्धो धनदः कुरुनन्दन ।
एवमेव भवत्वद्य स्त्रीत्वं पापस्य गुह्यकाः ॥ ४५ ॥

कुरुनन्दन ! उसे इस रूपमें देखकर कुबेर अत्यन्त कुपित हो उठे और शाप देते हुए बोले—'गुह्यको ! इस पापी स्थूणाकर्णका यह स्त्रीत्व अब ऐसा ही बना रहे' ॥ ४५ ॥

ततोऽब्रवीद् यक्षपतिर्महात्मा
यस्माददास्त्ववमन्येह यक्षान् ।
शिखण्डिने लक्षणं पापबुद्धे
स्त्रीलक्षणं चाग्रहीः पापकर्मन् ॥ ४६ ॥
अप्रवृत्तं सुदुर्बुद्धे यस्मादेतत् त्वया कृतम् ।
तस्मादद्य प्रभृत्येव स्त्री त्वं सा पुरुषस्तथा ॥ ४७ ॥

तदनन्तर महात्मा यक्षराजने उस यक्षसे कहा—'पापबुद्धि और पापाचारी यक्ष ! तूने यक्षोंका तिरस्कार करके यहाँ शिखण्डीको अपना पुरुषत्व दे दिया और उसका स्त्रीत्व ग्रहण कर लिया है । दुर्बुद्धे ! तूने जो यह अव्यावहारिक कार्य कर डाला है, इसके कारण आजसे तू स्त्री ही बना रहे और शिखण्डी पुरुषरूपमें ही रह जाय' ॥ ४६-४७ ॥

ततः प्रसादयामासुर्यक्षा वैश्रवणं किल ।
स्थूणस्यार्थे कुरुष्वान्तं शापस्येति पुनः पुनः ॥ ४८ ॥

तब यक्षोंने अनुनय-विनय करके स्थूणाकर्णके लिये कुबेरको प्रसन्न किया और बारंबार आग्रहपूर्वक कहा—'भगवन् ! इस शापका अन्त कर दीजिये' ॥ ४८ ॥

ततो महात्मा यक्षेन्द्रः प्रत्युवाचानुगामिनः ।
सर्वान् यक्षगणांस्तात शापस्यान्तचिकीर्षया ॥ ४९ ॥

तात ! तब महात्मा यक्षराजने स्थूणाकर्णका अनुगमन करनेवाले उन समस्त यक्षोंसे उस शापका अन्त कर देनेकी इच्छासे इस प्रकार कहा—॥ ४९ ॥

शिखण्डिनि हते यक्षाः स्वं रूपं प्रतिपत्स्यते ।
स्थूणो यक्षो निरुद्वेगो भवत्विति महामनाः ॥ ५० ॥
इत्युक्त्वा भगवान् देवो यक्षराजः सुपूजितः ।
प्रययौ सहितः सर्वैर्निमेषान्तरचारिभिः ॥ ५१ ॥

'यक्षो ! शिखण्डीके मारे जानेपर यह स्थूणाकर्ण यक्ष अपना पूर्वरूप फिर प्राप्त कर लेगा । अतः अब इसे निर्भय हो जाना चाहिये ।' ऐसा कहकर महामना भगवान् यक्षराज कुबेर उन यक्षोंद्वारा अत्यन्त पूजित हो निमेषमात्रमें ही अभीष्ट स्थानपर पहुँच जानेवाले अपने समस्त सेवकोंके साथ वहाँसे चले गये ॥ ५०-५१ ॥

स्थूणस्तु शापं सम्प्राप्य तत्रैव न्यवसत् तदा ।
समये चागमत् तूर्णं शिखण्डी तं क्षपाचरम् ॥ ५२ ॥

उस समय कुबेरका शाप पाकर स्थूणाकर्ण वहीं रहने लगा । शिखण्डी पूर्वनिश्चित समयपर उस निशाचर स्थूणाकर्णके पास तुरंत आ गया ॥ ५२ ॥

सोऽभिगम्याब्रवीद् वाक्यं प्राप्तोऽस्मि भगवन्निति ।
तमब्रवीत् ततः स्थूणः प्रीतोऽस्मीति पुनः पुनः ॥ ५३ ॥

उसके निकट जाकर शिखण्डीने कहा—'भगवन् ! मैं आपकी सेवामें उपस्थित हूँ ।' तब स्थूणाकर्णने उससे बारंबार कहा—'मैं तुमपर बहुत प्रसन्न हूँ, बहुत प्रसन्न हूँ' ॥ ५३ ॥

आर्जवेनागतं दृष्ट्वा राजपुत्रं शिखण्डिनम् ।

सर्वमेव यथावृत्तमाचचक्षे शिखण्डिने ॥ ५४ ॥

राजकुमार शिखण्डीको सरलतापूर्वक आया हुआ देख उससे यक्षने अपना सारा वृत्तान्त ठीक-ठीक कह सुनाया।५४।

यक्ष उवाच

शप्तो वैश्रवणेनाहं त्वत्कृते पार्थिवात्मज ।
गच्छेदानीं यथाकामं चर लोकान् यथासुखम् ॥ ५५ ॥

यक्षने कहा—राजकुमार ! तुम्हारे लिये ही यक्षराजने मुझे शाप दे दिया है; अतः अब जाओ, इच्छानुसार सारे जगत्में सुखपूर्वक विचरो ॥ ५५ ॥

दिष्टमेतत् पुरा मन्ये न शक्यमतिवर्तितुम् ।
गमनं तव चेतो हि पौलस्त्यस्य च दर्शनम् ॥ ५६ ॥

मैं इसे अपना पुरातन प्रारब्ध ही मानता हूँ, जो कि तुम्हारा यहाँसे जाना और उसी समय यक्षराज कुबेरका यहाँ आकर दर्शन देना हुआ। अब इसे टाला नहीं जा सकता।५६।

भीष्म उवाच

एवमुक्तः शिखण्डी तु स्थूणयक्षेण भारत ।
प्रत्याजगाम नगरं हर्षेण महता वृतः ॥ ५७ ॥

भीष्म कहते हैं—भरतनन्दन ! स्थूणाकर्ण यक्षके ऐसा कहनेपर शिखण्डी बड़े हर्षके साथ अपने नगरको लौट आया॥

पूजयामास विविधैर्गन्धमाल्यैर्महाधनैः ।
द्विजातीन् देवतांश्चैव चैत्यानथ चतुष्पथान् ॥ ५८ ॥
द्रुपदः सह पुत्रेण सिद्धार्थेन शिखण्डिना ।
मुदं च परमां लेभे पाञ्चाल्यः सह बान्धवैः ॥ ५९ ॥

पूर्ण मनोरथ होकर लौटे हुए अपने पुत्र शिखण्डीके साथ पाञ्चालराज द्रुपदने गन्ध-माल्य आदि नाना प्रकारके बहुमूल्य उपचारोंद्वारा देवताओं, ब्राह्मणों, चैत्य (पीपल आदि धार्मिक) वृक्षों तथा चौराहोंका पूजन किया तथा बन्धु-बान्धवों-सहित उन्हें महान् हर्ष प्राप्त हुआ ॥ ५८-५९ ॥

शिष्यार्थं प्रददौ चाथ द्रोणाय कुरुपुङ्गव ।
शिखण्डिनं महाराज पुत्रं स्त्रीपूर्विणं तथा ॥ ६० ॥

महाराज ! कुरुश्रेष्ठ ! द्रुपदने अपने पुत्र शिखण्डीको जो पहले कन्यारूपमें उत्पन्न हुआ था, द्रोणाचार्यकी सेवामें धनुर्वेदकी शिक्षाके लिये सौंप दिया ॥ ६० ॥

प्रतिपेदे चतुष्पादं धनुर्वेदं नृपात्मजः ।
शिखण्डी सह युष्माभिर्धृष्टद्युम्नश्च पार्षतः ॥ ६१ ॥

इस प्रकार द्रुपदपुत्र शिखण्डी तथा धृष्टद्युम्नने तुम सब भाइयोंके साथ ही ग्रहण, धारण, प्रयोग और प्रतीकार—इन चार पादोंसे युक्त धनुर्वेदका अध्ययन किया ॥ ६१ ॥

मम त्वेतच्चरास्तात यथावत् प्रत्यवेदयन् ।
जडान्धबधिराकारा ये मुक्ता द्रुपदे मया ॥ ६२ ॥

मैंने द्रुपदके नगरमें कुछ गुप्तचर नियुक्त कर दिये थे, जो गूँगे, अंधे और बहरे बनकर वहाँ रहते थे। वे ही यह सब समाचार मुझे ठीक-ठीक बताया करते थे ॥ ६२ ॥

एवमेष महाराज स्त्रीपुमान् द्रुपदात्मजः ।
स सम्भूतः कुरुश्रेष्ठ शिखण्डी रथसत्तमः ॥ ६३ ॥

महाराज ! कुरुश्रेष्ठ ! इस प्रकार यह रथियोंमें उत्तम द्रुपदकुमार शिखण्डी पहले स्त्रीरूपमें उत्पन्न होकर पीछे पुरुष हुआ था ॥ ६३ ॥

ज्येष्ठा काशिपतेः कन्या अम्बानामेति विश्रुता ।
द्रुपदस्य कुले जाता शिखण्डी भरतर्षभ ॥ ६४ ॥

भरतश्रेष्ठ ! काशिराजकी ज्येष्ठ कन्या, जो अम्बा नामसे विख्यात थी, वही द्रुपदके कुलमें शिखण्डीके रूपमें उत्पन्न हुई है ॥ ६४ ॥

नाहमेनं धनुष्पाणिं युयुत्सुं समुपस्थितम् ।
मुहूर्तमपि पश्येयं प्रहरेयं न चाप्युत ॥ ६५ ॥

जब यह हाथमें धनुष लेकर युद्ध करनेकी इच्छासे मेरे सामने उपस्थित होगा, उस समय मुहूर्तभर भी न तो इसकी ओर देखूँगा और न इसपर प्रहार ही करूँगा ॥ ६५ ॥

व्रतमेतन्मम सदा पृथिव्यामपि विश्रुतम् ।
स्त्रियां स्त्रीपूर्वके चैव स्त्रीनाम्नि स्त्रीसरूपिणि ॥ ६६ ॥
न मुञ्चेयमहं बाणमिति कौरवनन्दन ।

कौरवनन्दन ! इस भूमण्डलमें भी मेरा यह व्रत प्रसिद्ध है कि जो स्त्री हो, जो पहले स्त्री रहकर पुरुष हुआ हो, जिसका नाम स्त्रीके समान हो तथा जिसका रूप एवं वेष-भूषा स्त्रियोंके समान हो, इन सबपर मैं बाण नहीं छोड़ सकता।६६½।

न हन्यामहमेतेन कारणेन शिखण्डिनम् ॥ ६७ ॥
एतत् तत्त्वमहं वेद जन्म तात शिखण्डिनः ।
ततो नैनं हनिष्यामि समरेष्वाततायिनम् ॥ ६८ ॥

तात ! इसी कारणसे मैं शिखण्डीको नहीं मार सकता। शिखण्डीके जन्मका वास्तविक वृत्तान्त मैं जानता हूँ। अतः समरभूमिमें वह आततायी होकर आवे तो भी मैं इसे नहीं मारूँगा ॥ ६७-६८ ॥

यदि भीष्मः स्त्रियं हन्यात् सन्तः कुर्युर्विगर्हणम् ।
नैनं तस्माद्धनिष्यामि दृष्ट्वापि समरे स्थितम् ॥ ६९ ॥

यदि भीष्म स्त्रीका वध करे तो साधु पुरुष इसकी निन्दा करेंगे, अतः शिखण्डीको समरभूमिमें खड़ा देखकर भी मैं इसे नहीं मारूँगा ॥ ६९ ॥

वैशम्पायन उवाच

एतच्छ्रुत्वा तु कौरव्यो राजा दुर्योधनस्तदा ।
मुहूर्तमिव स ध्यात्वा भीष्मे युक्तममन्यत ॥ ७० ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! यह सब सुनकर कुरुवंशी राजा दुर्योधनने दो घड़ीतक कुछ सोच-विचारकर भीष्मके लिये शिखण्डीका वध न करना उचित ही मान लिया ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि अम्बोपाख्यानपर्वणि शिखण्डिपुंस्त्वप्राप्तौ द्विनवत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १९२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत अम्बोपाख्यानपर्वमें शिखण्डीको पुरुषत्वकी प्राप्तिविषयक एक सौ बानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ १९२

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका ½ श्लोक मिलाकर कुल ७०½ श्लोक हैं)

त्रिनवत्यधिकशततमोऽध्यायः

दुर्योधनके पूछनेपर भीष्म आदिके द्वारा अपनी-अपनी शक्तिका वर्णन

संजय उवाच

प्रभातायां तु शर्वर्यां पुनरेव सुतस्तव ।
मध्ये सर्वस्य सैन्यस्य पितामहमपृच्छत ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—राजन्! जब रात बीती और प्रभात हुआ, उस समय आपके पुत्र दुर्योधनने सारी सेनाके बीचमें पुनः पितामह भीष्मसे पूछा—॥ १ ॥

पाण्डवेयस्य गाङ्गेय यदेतत् सैन्यमुद्यतम् ।
प्रभूतनरनागाश्वं महारथसमाकुलम् ॥ २ ॥
भीमार्जुनप्रभृतिभिर्महेष्वासैर्महाबलैः ।
लोकपालसमैर्गुप्तं धृष्टद्युम्नपुरोगमैः ॥ ३ ॥
अप्रधृष्यमनावार्यमुद्धूतमिव सागरम् ।
सेनासागरमक्षोभ्यमपि देवैर्महाहवे ॥ ४ ॥

'गङ्गानन्दन ! यह जो पाण्डवोंकी सेना युद्धके लिये उद्यत है। इसमें बहुत-से पैदल, हाथीसवार और घुड़सवार भरे हुए हैं। यह सेना बड़े-बड़े महारथियों एवं उनके विशाल रथोंसे व्याप्त है। लोकपालोंके समान महापराक्रमी एवं महाधनुर्धर भीमसेन, अर्जुन और धृष्टद्युम्न आदि वीर इस सेनाकी रक्षा करते हैं। यह उछलती हुई तरङ्गोंसे युक्त समुद्रकी भाँति दुर्धर्ष प्रतीत होती है। इसे आगे बढ़नेसे रोकना असम्भव है तथा बड़े-बड़े देवता भी इस महान् युद्धमें इस सैन्य-समुद्रको क्षुब्ध नहीं कर सकते ॥ २–४ ॥

केन कालेन गाङ्गेय क्षपयेथा महाद्युते ।
आचार्यो वा महेष्वासः कृपो वा सुमहाबलः ॥ ५ ॥
कर्णो वा समरश्लाघी द्रौणिर्वा द्विजसत्तमः ।
दिव्यास्त्रविदुषः सर्वे भवन्तो हि बले मम ॥ ६ ॥

'महातेजस्वी गङ्गानन्दन ! आप कितने समयमें इस सारी सेनाका विध्वंस कर सकते हैं ? महाधनुर्धर द्रोणाचार्य, अत्यन्त बलशाली कृपाचार्य, युद्धकी स्पृहा रखनेवाले कर्ण अथवा द्विजश्रेष्ठ अश्वत्थामा कितने समयमें शत्रुसेनाका संहार कर सकते हैं; क्योंकि मेरी सेनामें आप ही सब लोग दिव्यास्त्रोंके ज्ञाता हैं ॥ ५-६ ॥

एतदिच्छाम्यहं ज्ञातुं परं कौतूहलं हि मे ।
हृदि नित्यं महाबाहो वक्तुमर्हसि तन्मम ॥ ७ ॥

'महाबाहो ! मैं यह जानना चाहता हूँ, इसके लिये मेरे हृदयमें सदा अत्यन्त कौतूहल बना रहता है। आप मुझे यह बतानेकी कृपा करें' ॥ ७ ॥

भीष्म उवाच

अनुरूपं कुरुश्रेष्ठ त्वय्येतत् पृथिवीपते ।
बलाबलममित्राणां तेषां यदिह पृच्छसि ॥ ८ ॥

भीष्मजीने कहा—कुरुश्रेष्ठ ! पृथ्वीपते ! तुम जो यहाँ शत्रुओंके बलाबलके विषयमें पूछ रहे हो, यह तुम्हारे योग्य ही है ॥ ८ ॥

शृणु राजन् मम रणे या शक्तिः परमा भवेत् ।
शस्त्रवीर्यं रणे यच्च भुजयोश्च महाभुज ॥ ९ ॥

राजन् ! महाबाहो ! युद्धमें जो मेरी सबसे अधिक शक्ति है, मेरे अस्त्र-शस्त्रोंका तथा दोनों भुजाओंका जितना बल है, वह सब बताता हूँ, सुनो ॥ ९ ॥

आर्जवेनैव युद्धेन योद्धव्य इतरो जनः ।
मायायुद्धेन मायावी इत्येतद् धर्मनिश्चयः ॥ १० ॥

साधारण लोगोंके साथ सरलभावसे ही युद्ध करना चाहिये। जो लोग मायावी हैं, उनका सामना मायायुद्धसे ही करना चाहिये। यही धर्मशास्त्रोंका निश्चय है ॥ १० ॥

हन्यामहं महाभाग पाण्डवानामनीकिनीम् ।
दिवसे दिवसे कृत्वा भागं प्रागाह्निकं मम ॥ ११ ॥

महाभाग ! मैं प्रतिदिन पाण्डवोंकी सेनाको पहले अपने दैनिक भागमें विभक्त करके उसका वध करूँगा ॥ ११ ॥

योधानां दशसाहस्रं कृत्वा भागं महाद्युते ।
सहस्रं रथिनामेकमेष भागो मतो मम ॥ १२ ॥

महाद्युते ! दस-दस हजार योद्धाओंका तथा एक हजार रथियोंका समूह मेरा एक भाग मानना चाहिये ॥ १२ ॥

अनेनाहं विधानेन संनद्धः सततोत्थितः ।
क्षपयेयं महत् सैन्यं कालेनानेन भारत ॥ १३ ॥

भारत ! इस विधानसे मैं सदा उद्यत और संनद्ध होकर उस विशाल सेनाको इतने ही समयमें नष्ट कर सकता हूँ ॥

मुञ्चेयं यदि वास्त्राणि महान्ति समरे स्थितः ।
शतसाहस्रघातीनि हन्यां मासेन भारत ॥ १४ ॥

भारत ! यदि मैं युद्धमें स्थित होकर लाखों वीरोंका संहार करनेवाले अपने महान् अस्त्रोंका प्रयोग करने लगूँ तो एक मासमें पाण्डवोंकी सारी सेनाको नष्ट कर सकता हूँ।१४।

संजय उवाच

श्रुत्वा भीष्मस्य तद् वाक्यं राजा दुर्योधनस्ततः ।
पर्यपृच्छत राजेन्द्र द्रोणमङ्गिरसां वरम् ॥ १५ ॥
आचार्य केन कालेन पाण्डुपुत्रस्य सैनिकान् ।
निहन्या इति तं द्रोणः प्रत्युवाच हसन्निव ॥ १६ ॥

संजय बोले—राजेन्द्र ! भीष्मका यह वचन सुनकर राजा दुर्योधनने आङ्गिरस ब्राह्मणोंमें सबसे श्रेष्ठ द्रोणाचार्यसे पूछा—'आचार्य ! आप कितने समयमें पाण्डुपुत्र युधिष्ठिरके सैनिकोंका संहार कर सकते हैं ?' यह प्रश्न सुनकर द्रोणाचार्य हँसते हुए-से बोले—॥ १५-१६ ॥

स्थविरोऽस्मि महाबाहो मन्दप्राणविचेष्टितः ।
शस्त्राग्निना निर्दहेयं पाण्डवानामनीकिनीम् ॥ १७ ॥

'महाबाहो ! अब तो मैं बूढ़ा हो गया, मेरी प्राणशक्ति और चेष्टा कम हो गयी, तो भी अपने अस्त्र-शस्त्रोंकी अग्निसे पाण्डवोंकी विशाल वाहिनीको भस्म कर दूँगा ॥ १७ ॥

यथा भीष्मः शान्तनवो मासेनेति मतिर्मम ।
एषा मे परमा शक्तिरेतन्मे परमं बलम् ॥ १८ ॥

'जैसे शान्तनुनन्दन भीष्म एक मासमें पाण्डव-सेनाका विनाश कर सकते हैं, उसी प्रकार और उतने ही समयमें मैं भी कर सकता हूँ, ऐसा मेरा विश्वास है । यही मेरी सबसे बड़ी शक्ति है और यही मेरा अधिक-से-अधिक बल है'॥१८॥

द्वाभ्यामेव तु मासाभ्यां कृपः शारद्वतोऽब्रवीत् ।
द्रौणिस्तु दशरात्रेण प्रतिजज्ञे बलक्षयम् ॥ १९ ॥

कृपाचार्यने दो महीनोंमें पाण्डव-सेनाके संहारकी बात कही; परंतु अश्वत्थामाने दस ही दिनोंमें शत्रुसेनाके संहारकी प्रतिज्ञा कर ली ॥ १९ ॥

कर्णस्तु पञ्चरात्रेण प्रतिजज्ञे महास्त्रवित् ।
तच्छ्रुत्वा सूतपुत्रस्य वाक्यं सागरगासुतः ॥ २० ॥
जहास सस्वनं हासं वाक्यं चेदमुवाच ह ।
न हि यावद् रणे पार्थं बाणशङ्खधनुर्धरम् ॥ २१ ॥
वासुदेवसमायुक्तं रथेनायान्तमाहवे ।
समागच्छसि राधेय तेनैवमभिमन्यसे ।
शक्यमेवं च भूयश्च त्वया वक्तुं यथेष्टतः ॥ २२ ॥

बड़े-बड़े अस्त्रोंके ज्ञाता कर्णने पाँच ही दिनोंमें पाण्डव-सेनाको नष्ट करनेकी प्रतिज्ञा की । सूतपुत्रका यह कथन सुनकर गङ्गानन्दन भीष्मजी ठहाका मारकर हँस पड़े और यह वचन बोले—'राधापुत्र ! जबतक युद्धभूमिमें शंख, बाण और धनुष धारण करनेवाले श्रीकृष्णसहित अर्जुनको तुम एक ही रथसे आते हुए नहीं देखते और जबतक उनके साथ तुम्हारी मुठभेड़ नहीं होती, तभीतक ऐसा अभिमान प्रकट करते हो, तुम इच्छानुसार और भी ऐसी बहुत-सी बहकी-बहकी बातें कह सकते हो' ॥ २०—२२ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि अम्बोपाख्यानपर्वणि भीष्मादिशक्तिकथने त्रिनवत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥१९३॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत अम्बोपाख्यानपर्वमें भीष्म आदिके द्वारा अपनी शक्तिका वर्णनविषयक एक सौ तिरानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १९३ ॥

चतुर्नवत्यधिकशततमोऽध्यायः

अर्जुनके द्वारा अपनी, अपने सहायकोंकी तथा युधिष्ठिरकी भी शक्तिका परिचय देना

वैशम्पायन उवाच

एतच्छ्रुत्वा तु कौन्तेयः सर्वान् भ्रातॄनुपह्वरे ।
आहूय भरतश्रेष्ठ इदं वचनमब्रवीत् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—भरतश्रेष्ठ जनमेजय ! कौरव-सेनामें जो बातचीत हुई थी, उसका समाचार पाकर कुन्तीनन्दन युधिष्ठिरने अपने सब भाइयोंको एकान्तमें बुलाकर इस प्रकार कहा ॥ १ ॥

युधिष्ठिर उवाच

धार्तराष्ट्रस्य सैन्येषु ये चारपुरुषा मम ।
ते प्रवृत्तिं प्रयच्छन्ति ममेमां व्युषितां निशाम् ॥ २ ॥
दुर्योधनः किलापृच्छदापगेयं महाव्रतम् ।
केन कालेन पाण्डूनां हन्याः सैन्यमिति प्रभो ॥ ३ ॥

युधिष्ठिर बोले—धृतराष्ट्रकी सेनामें जो मेरे गुप्तचर नियुक्त हैं, उन्होंने मुझे यह समाचार दिया है कि इसी विगत रात्रिमें दुर्योधनने महान् व्रतधारी गङ्गानन्दन भीष्मसे यह प्रश्न किया था कि प्रभो ! आप पाण्डवोंकी सेनाका कितने समयमें संहार कर सकते हैं ॥ २-३ ॥

मासेनेति च तेनोक्तो धार्तराष्ट्रः सुदुर्मतिः ।
तावता चापि कालेन द्रोणोऽपि प्रतिजज्ञिवान् ॥ ४ ॥
गौतमो द्विगुणं कालमुक्तवानिति नः श्रुतम् ।
द्रौणिस्तु दशरात्रेण प्रतिजज्ञे महास्त्रवित् ॥ ५ ॥

भीष्मजीने धृतराष्ट्रके पुत्र दुर्बुद्धि दुर्योधनको यह उत्तर दिया कि मैं एक महीनेमें पाण्डव-सेनाका विनाश कर सकता हूँ । द्रोणाचार्यने भी उतने ही समयमें वैसा करनेकी प्रतिज्ञा की । कृपाचार्यने दो महीनेका समय बताया । यह बात हमारे सुननेमें आयी है तथा महान् अस्त्रवेत्ता अश्वत्थामाने दस ही दिनोंमें पाण्डव-सेनाके संहारकी प्रतिज्ञा की है ॥ ४-५ ॥

तथा दिव्यास्त्रवित् कर्णः सम्पृष्टः कुरुसंसदि ।
पञ्चभिर्दिवसैर्हन्तुं ससैन्यं प्रतिजज्ञिवान् ॥ ६ ॥

दिव्यास्त्रवेत्ता कर्णसे जब कौरव-सभामें पूछा गया, तब उसने पाँच ही दिनोंमें हमारी सेनाको नष्ट करनेकी प्रतिज्ञा कर ली॥

तस्मादहमपीच्छामि श्रोतुमर्जुन ते वचः ।
कालेन कियता शत्रून् क्षपयेरिति फाल्गुन ॥ ७ ॥

अतः अर्जुन ! मैं भी तुम्हारी बात सुनना चाहता हूँ । फाल्गुन ! तुम कितने समयमें शत्रुओंको नष्ट कर सकते हो ?॥

एवमुक्तो गुडाकेशः पार्थिवेन धनंजयः ।
वासुदेवं समीक्ष्येदं वचनं प्रत्यभाषत ॥ ८ ॥

राजा युधिष्ठिरके इस प्रकार पूछनेपर निद्राविजयी अर्जुनने भगवान् श्रीकृष्णकी ओर देखकर यह बात कही—॥८॥

सर्व एते महात्मानः कृतास्त्राश्चित्रयोधिनः ।
असंशयं महाराज हन्युरेव न संशयः ॥ ९ ॥

'महाराज ! निःसंदेह ये सभी महामना योद्धा अस्त्रविद्याके विद्वान् तथा विचित्र प्रकारसे युद्ध करनेवाले हैं । अतः उतने दिनोंमें शत्रुसेनाको मार सकते हैं, इसमें संशय नहीं है॥

अपैतु ते मनस्तापो यथा सत्यं ब्रवीम्यहम् ।
हन्यामेकरथेनैव वासुदेवसहायवान् ॥ १० ॥

सामरानपि लोकांस्त्रीन् सर्वान् स्थावरजङ्गमान् ।
भूतं भव्यं भविष्यं च निमेषादिति मे मतिः ॥ ११ ॥

'परंतु इससे आपके मनमें संताप नहीं होना चाहिये । आपका मनस्ताप तो दूर ही हो जाना चाहिये । मैं जो सत्य बात कहने जा रहा हूँ, उसपर ध्यान दीजिये । मैं भगवान् श्रीकृष्णकी सहायतासे युक्त हुआ एकमात्र रथको लेकर ही देवताओंसहित तीनों लोकों, सम्पूर्ण चराचर प्राणियों तथा भूत, वर्तमान और भविष्यको भी पलक मारते-मारते नष्ट कर सकता हूँ । ऐसा मेरा विश्वास है ॥ १०-११ ॥

यत् तद् घोरं पशुपतिः प्रादादस्त्रं महन्मम ।
कैराते द्वन्द्वयुद्धे तु तदिदं मयि वर्तते ॥ १२ ॥

'भगवान् पशुपतिने किरातवेषमें द्वन्द्वयुद्ध करते समय मुझे जो अपना भयंकर महास्त्र प्रदान किया था, वह मेरे पास मौजूद है ॥

यद् युगान्ते पशुपतिः सर्वभूतानि संहरन् ।
प्रयुङ्क्ते पुरुषव्याघ्र तदिदं मयि वर्तते ॥ १३ ॥

'पुरुषसिंह ! प्रलयकालमें समस्त प्राणियोंका संहार करते समय भगवान् पशुपति जिस अस्त्रका प्रयोग करते हैं, वही यह मेरे पास विद्यमान है ॥ १३ ॥

तन्न जानाति गाङ्गेयो न द्रोणो न च गौतमः ।
न च द्रोणसुतो राजन् कुत एव तु सूतजः ॥ १४ ॥

'राजन् ! इसे न तो गङ्गानन्दन भीष्म जानते हैं, न द्रोणाचार्य जानते हैं, न कृपाचार्य जानते हैं और न द्रोणपुत्र अश्वत्थामाको ही इसका पता है; फिर सूतपुत्र कर्ण तो इसे जान ही कैसे सकता है ? ॥ १४ ॥

न तु युक्तं रणे हन्तुं दिव्यैरस्त्रैः पृथग्जनम् ।
आर्जवेनैव युद्धेन विजेष्यामो वयं परान् ॥ १५ ॥

'परंतु युद्धमें साधारण जनोंको दिव्यास्त्रोंद्वारा मारना कदापि उचित नहीं है; अतः हमलोग सरलतापूर्ण युद्धके द्वारा ही शत्रुओंको जीतेंगे ॥ १५ ॥

तथेमे पुरुषव्याघ्राः सहायास्तत्र पार्थिव ।
सर्वे दिव्यास्त्रविद्वांसः सर्वे युद्धाभिकाङ्क्षिणः ॥ १६ ॥

'राजन् ! ये सभी पुरुषसिंह जो हमारे सहायक हैं, दिव्यास्त्रोंका ज्ञान रखते हैं और सभी युद्धकी अभिलाषा रखनेवाले हैं ॥ १६ ॥

वेदान्तावभृथस्नाताः सर्वे एतेऽपराजिताः ।
निहन्युः समरे सेनां देवानामपि पाण्डव ॥ १७ ॥

'इन सबने वेदाध्ययन समाप्त करके यज्ञान्त स्नान किया है । ये सभी कभी परास्त न होनेवाले वीर हैं । पाण्डुनन्दन ! ये लोग समरभूमिमें देवताओंकी सेनाको भी नष्ट कर सकते हैं ॥

शिखण्डी युयुधानश्च धृष्टद्युम्नश्च पार्षतः ।
भीमसेनो यमौ चोभौ युधामन्यूत्तमौजसौ ॥ १८ ॥
विराटद्रुपदौ चोभौ भीष्मद्रोणसमौ युधि ।

'शिखण्डी, सात्यकि, द्रुपदकुमार धृष्टद्युम्न, भीमसेन, दोनों भाई नकुल-सहदेव, युधामन्यु, उत्तमौजा तथा राजा विराट और द्रुपद भी युद्धमें भीष्म और द्रोणाचार्यकी समानता करनेवाले हैं ॥ १८½ ॥

शङ्खश्चैव महाबाहुर्हैडिम्बश्च महाबलः ॥ १९ ॥
पुत्रोऽस्याञ्जनपर्वा तु महाबलपराक्रमः ।
शैनेयश्च महाबाहुः सहायो रणकोविदः ॥ २० ॥

'महाबाहु शङ्ख, महाबली घटोत्कच, महान् बल और पराक्रमसे सम्पन्न घटोत्कच-पुत्र अञ्जनपर्वा तथा संग्राम-कुशल महाबाहु सात्यकि—ये सभी आपके सहायक हैं॥१९-२०॥

अभिमन्युश्च बलवान् द्रौपद्याः पञ्च चात्मजाः ।
स्वयं चापि समर्थोऽसि त्रैलोक्योत्सादनेऽपि च ॥२१॥

'बलवान् अभिमन्यु और द्रौपदीके पाँचों पुत्र तो आपके साथ हैं ही । आप स्वयं भी तीनों लोकोंका संहार करनेमें समर्थ हैं ॥ २१ ॥

क्रोधाद् यं पुरुषं पश्येस्त्वथा शक्रसमद्युते ।
स क्षिप्रं न भवेद् व्यक्तमिति त्वां वेद्मि कौरव ॥ २२ ॥

'इन्द्रके समान तेजस्वी कुरुनन्दन ! आप क्रोधपूर्वक जिस पुरुषको देख लें वह शीघ्र ही नष्ट हो जायगा । आपके इस प्रभावको मैं जानता हूँ' ॥ २२ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि अम्बोपाख्यानपर्वणि अर्जुनवाक्ये चतुर्नवत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १९४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत अम्बोपाख्यानपर्वमें अर्जुनवाक्यविषयक एक सौ चौरानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥१९४॥

पञ्चनवत्यधिकशततमोऽध्यायः

कौरवसेनाका रणके लिये प्रस्थान

वैशम्पायन उवाच

ततः प्रभाते विमले धार्तराष्ट्रेण चोदिताः ।
दुर्योधनेन राजानः प्रययुः पाण्डवान् प्रति ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तदनन्तर निर्मल प्रभातकालमें धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधनसे प्रेरित हो सब राजा पाण्डवोंसे युद्ध करनेके लिये चले ॥ १ ॥

आप्लाव्य शुचयः सर्वे स्रग्विणः शुक्लवाससः ।
गृहीतशस्त्रा ध्वजिनः स्वस्ति वाच्य हुताग्नयः ॥ २ ॥

चलनेके पहले उन सबने स्नान करके शुद्ध हो श्वेत वस्त्र धारण किये, पुष्पोंकी मालाएँ पहनीं, ब्राह्मणोंसे स्वस्तिवाचन कराया, अग्निमें आहुतियाँ दीं, फिर ध्वजा फहराते हुए हाथोंमें अस्त्र-शस्त्र लेकर रणभूमिकी ओर प्रस्थित हुए ॥ २॥

सर्वे ब्रह्मविदः शूराः सर्वे सुचरितव्रताः ।
सर्वे वर्मभृतश्चैव सर्वे चाहवलक्षणाः ॥ ३ ॥

वे सभी वेदवेत्ता, शूरवीर तथा उत्तम विधिसे व्रतका पालन करनेवाले थे । सभी कवचधारी तथा युद्धके चिह्नोंसे सुशोभित थे ॥ ३ ॥

आहवेषु परॉंल्लोकान् जिगीषन्तो महाबलाः ।
एकाग्रमनसः सर्वे श्रद्दधानाः परस्परम् ॥ ४ ॥

वे महाबली वीर युद्धमें पराक्रम दिखाकर उत्तम लोकों-पर विजय पाना चाहते थे । उन सबका चित्त एकाग्र था और वे सभी एक दूसरेपर विश्वास करते थे ॥ ४ ॥

विन्दानुविन्दावावन्त्यौ केकया बाह्लिकैः सह ।
प्रययुः सर्व एवैते भारद्वाजपुरोगमाः ॥ ५ ॥

अवन्तीदेशके राजकुमार विन्द और अनुविन्द, बाह्लीक-देशीय सैनिकोंके साथ केकयराजकुमार—ये सब द्रोणाचार्यको आगे करके चले ॥ ५ ॥

अश्वत्थामा शान्तनवः सैन्धवोऽथ जयद्रथः ।
दाक्षिणात्याः प्रतीच्याश्च पर्वतीयाश्च ये नृपाः ॥ ६ ॥
गान्धारराजः शकुनिः प्राच्योदीच्याश्च सर्वशः ।
शकाः किराता यवनाः शिबयोऽथ वसातयः ॥ ७ ॥
स्वैः स्वैरनीकैः सहिताः परिवार्य महारथम् ।
एते महारथाः सर्वे द्वितीये निर्ययुर्बले ॥ ८ ॥

अश्वत्थामा, भीष्म, सिन्धुराज जयद्रथ, दाक्षिणात्य नरेश, पाश्चात्त्य भूपाल और पर्वतीय भूपाल, गान्धारराज शकुनि तथा पूर्व और उत्तर दिशाके नरेश, शक, किरात, यवन, शिबि और वसाति भूपालगण—ये सभी महारथीलोग अपनी-अपनी सेनाओंके साथ महारथी (भीष्म) को सब ओरसे घेरकर दूसरे सैन्य-दलके रूपमें सुसज्जित होकर निकले ॥ ६–८ ॥

कृतवर्मा सहानीकस्त्रिगर्तश्च महारथः ।
दुर्योधनश्च नृपतिर्भ्रातृभिः परिवारितः ॥ ९ ॥
शलो भूरिश्रवाः शल्यः कौसल्योऽथ बृहद्रथः ।
एते पश्चादनुगता धार्तराष्ट्रपुरोगमाः ॥ १० ॥

सेनासहित कृतवर्मा, महारथी त्रिगर्त, भाइयोंसे घिरा हुआ महाराज दुर्योधन, शल, भूरिश्रवा, शल्य तथा कोसल-राज बृहद्रथ—ये दुर्योधनको आगे करके उसके पीछे-पीछे (तृतीय सैन्यदलमें) चले ॥ ९-१० ॥

ते समेत्य यथान्यायं धार्तराष्ट्रा महाबलाः ।
कुरुक्षेत्रस्य पश्चार्धे व्यवातिष्ठन्त दंशिताः ॥ ११ ॥

धृतराष्ट्रके वे महाबली पुत्र रणक्षेत्रमें जाकर कवच आदिसे सुसज्जित हो कुरुक्षेत्रके पश्चिम भागमें यथोचितरूपसे खड़े हुए॥

दुर्योधनस्तु शिबिरं कारयामास भारत ।
यथैव हास्तिनपुरं द्वितीयं समलंकृतम् ॥ १२ ॥
न विशेषं विजानन्ति पुरस्य शिबिरस्य वा ।
कुशला अपि राजेन्द्र नरा नगरवासिनः ॥ १३ ॥

भारत ! दुर्योधनने पहलेसे ही ऐसा निवासस्थान बनवा रक्खा था, जो दूसरे हस्तिनापुरकी भाँति सजा हुआ था । राजेन्द्र ! नगरमें निवास करनेवाले चतुर मनुष्य भी उस शिविर तथा हस्तिनापुर नामक नगरमें क्या अन्तर है, यह नहीं समझ पाते थे ॥ १२-१३ ॥

तादृशान्येव दुर्गाणि राज्ञामपि महीपतिः ।
कारयामास कौरव्यः शतशोऽथ सहस्रशः ॥ १४ ॥

अन्य राजाओंके लिये भी कुरुवंशी भूपालने वैसे ही सैकड़ों तथा सहस्रों दुर्ग बनवाये थे ॥ १४ ॥

पञ्चयोजनमुत्सृज्य मण्डलं तद्रणाजिरम् ।
सेनानिवेशास्ते राजन्नाविशञ्छतसंघशः ॥ १५ ॥

समराङ्गणके लिये पाँच योजनका घेरा छोड़कर सैनिकोंके ठहरनेके लिये सौ-सौकी संख्यामें कितनी ही श्रेणीबद्ध छावनियाँ डाली गयी थीं ॥ १५ ॥

तत्र ते पृथिवीपाला यथोत्साहं यथाबलम् ।
विविशुः शिबिराण्यत्र द्रव्यवन्ति सहस्रशः ॥ १६ ॥

उन्हीं बहुमूल्य आवश्यक सामग्रियोंसे सम्पन्न हजारों छावनियोंमें वे भूपाल अपने बल और उत्साहके अनुरूप युद्ध-के लिये उद्यत होकर रहते थे ॥ १६ ॥

तेषां दुर्योधनो राजा ससैन्यानां महात्मनाम् ।
व्यादिदेश सवाह्यानां भक्ष्यभोज्यमनुत्तमम् ॥ १७ ॥
सनागाश्वमनुष्याणां ये च शिल्पोपजीविनः ।
ये चान्येऽनुगतास्तत्र सूतमागधबन्दिनः ॥ १८ ॥

राजा दुर्योधन सवारियों और सैनिकोंसहित उन महा-मना नरेशोंको परम उत्तम भक्ष्य-भोज्य पदार्थ देता था । हाथियों, अश्वों, पैदल मनुष्यों, शिल्प-जीवियों, अन्य अनु-गामियों तथा सूत, मागध और बंदीजनोंको भी राजाकी ओरसे भोजन प्राप्त होता था ॥ १७-१८ ॥

वणिजो गणिकाश्चारा ये चैव प्रेक्षका जनाः ।
सर्वांस्तान् कौरवो राजा विधिवत् प्रत्यवैक्षत ॥ १९ ॥

वहाँ जो वणिक्, गणिकाएँ, गुप्तचर तथा दर्शक मनुष्य आते थे, उन सबकी कुरुराज दुर्योधन विधिपूर्वक देखभाल करता था ॥ १९ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि अम्बोपाख्यानपर्वणि कौरवसैन्यनिर्याणे पञ्चनवत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १९५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत अम्बोपाख्यानपर्वमें कौरव-सेनाका युद्धके लिये प्रस्थानविषयक एक सौ पंचानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १९५ ॥

षण्णवत्यधिकशततमोऽध्यायः

पाण्डवसेनाका युद्धके लिये प्रस्थान

वैशम्पायन उवाच

तथैव राजा कौन्तेयो धर्मपुत्रो युधिष्ठिरः ।
धृष्टद्युम्नमुखान् वीरांश्चोदयामास भारत ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! इसी प्रकार कुन्तीनन्दन धर्मपुत्र राजा युधिष्ठिरने भी धृष्टद्युम्न आदि वीरोंको युद्धके लिये जानेकी आज्ञा दी ॥ १ ॥

चेदिकाशिकरूषाणां नेतारं दृढविक्रमम् ।
सेनापतिममित्रघ्नं धृष्टकेतुमथादिशत् ॥ २ ॥

चेदि, काशि और करूषदेशोंके अधिनायक दृढ़ पराक्रमी शत्रुनाशक सेनापति धृष्टकेतुको भी प्रस्थान करनेका आदेश दिया।

विराटं द्रुपदं चैव युयुधानं शिखण्डिनम् ।
पाञ्चाल्यौ च महेष्वासौ युधामन्यूत्तमौजसौ ॥ ३ ॥

विराट, द्रुपद, सात्यकि, शिखण्डी, महाधनुर्धर पाञ्चाल-वीर युधामन्यु और उत्तमौजाको भी राजाका आदेश प्राप्त हुआ॥

ते शूराश्चित्रवर्माणस्तप्तकुण्डलधारिणः ।
आज्यावसिक्ता ज्वलिता धिष्ण्येष्विव हुताशनाः॥ ४ ॥
अशोभन्त महेष्वासा ग्रहाः प्रज्वलिता इव ।

वे महाधनुर्धर शूरवीर विचित्र कवच और तपाये हुए सोनेके कुण्डल धारण किये वेदीपर घीकी आहुतिसे प्रज्वलित हुए अग्निदेवके समान तथा आकाशमें प्रकाशित होनेवाले ग्रहोंकी भाँति शोभा पा रहे थे ॥ ४½ ॥

अथ सैन्यं यथायोगं पूजयित्वा नरर्षभः ॥ ५ ॥
दिदेश तान्यनीकानि प्रयाणाय महीपतिः ।
तेषां युधिष्ठिरो राजा ससैन्यानां महात्मनाम् ॥ ६ ॥
व्यादिदेश सवाह्यानां भक्ष्यभोज्यमनुत्तमम् ।
सगजाश्वमनुष्याणां ये च शिल्पोपजीविनः ॥ ७ ॥

तदनन्तर योग्यतानुसार सम्पूर्ण सेनाका समादर करके नरश्रेष्ठ राजा युधिष्ठिरने उन सैनिकोंको प्रस्थान करनेकी आज्ञा दी और सेना तथा सवारियोंसहित उन महामना नरेशोंको उत्तमोत्तम खाने-पीनेकी वस्तुएँ देनेकी आज्ञा दी । उनके साथ जो भी हाथी, घोड़े, मनुष्य और शिल्पजीवी पुरुष थे, उन सबके लिये भोजन प्रस्तुत करनेका आदेश दिया ॥५–७॥

अभिमन्युं बृहन्तं च द्रौपदेयांश्च सर्वशः ।
धृष्टद्युम्नमुखानेतान् प्राहिणोत् पाण्डुनन्दनः ॥ ८ ॥

पाण्डुनन्दन युधिष्ठिरने धृष्टद्युम्नको आगे करके अभिमन्यु, बृहन्त तथा द्रौपदीके पाँचों पुत्र—इन सबको प्रथम सेनादलके साथ भेजा ॥ ८ ॥

भीमं च युयुधानं च पाण्डवं च धनंजयम् ।
द्वितीयं प्रेषयामास बलस्कन्धं युधिष्ठिरः ॥ ९ ॥

भीमसेन, सात्यकि तथा पाण्डुनन्दन अर्जुनको युधिष्ठिरने द्वितीय सैन्यसमूहका नेता बनाकर भेजा ॥ ९ ॥

भाण्डं समारोपयतां चरतां सम्प्रधावताम् ।
हृष्टानां तत्र योधानां शब्दो दिवमिवास्पृशत् ॥ १० ॥

वहाँ हर्षमें भरे हुए कुछ योद्धा सवारियोंपर युद्धकी सामग्री चढ़ाते, कुछ इधर-उधर जाते और कुछ लोग कार्यवश दौड़-धूप करते थे । उन सबका कोलाहल मानो स्वर्गलोकको छूने लगा ॥ १० ॥

स्वयमेव ततः पश्चाद् विराटद्रुपदान्वितः ।
अथापरैर्महीपालैः सह प्रायान्महीपतिः ॥ ११ ॥

तत्पश्चात् राजा विराट और द्रुपदको साथ ले अन्यान्य भूपालोंसहित स्वयं राजा युधिष्ठिर चले ॥ ११ ॥

भीमधन्वायनी सेना धृष्टद्युम्नेन पालिता ।
गङ्गेव पूर्णा स्तिमिता स्यन्दमाना व्यदृश्यत ॥ १२ ॥

भयंकर धनुर्धरोंसे भरी हुई और धृष्टद्युम्नके द्वारा सुरक्षित हो कहीं ठहरती और कहीं आगे बढ़ती हुई वह पाण्डवसेना कहीं निश्चल और कहीं प्रवाहशील जलसे भरी गङ्गाके समान दिखायी देती थी ॥ १२ ॥

ततः पुनरनीकानि न्ययोजयत बुद्धिमान् ।
मोहयन् धृतराष्ट्रस्य पुत्राणां बुद्धिनिश्चयम् ॥ १३ ॥

थोड़ी दूर जाकर बुद्धिमान् राजा युधिष्ठिरने धृतराष्ट्रके पुत्रोंके बौद्धिक निश्चयमें भ्रम उत्पन्न करनेके लिये अपनी सेनाका दुबारा संगठन किया ॥ १३ ॥

द्रौपदेयान् महेष्वासानभिमन्युं च पाण्डवः ।
नकुलं सहदेवं च सर्वांश्चैव प्रभद्रकान् ॥ १४ ॥
दश चाश्वसहस्राणि द्विसहस्राणि दन्तिनाम् ।
अयुतं च पदातीनां रथाः पञ्चशतं तथा ॥ १५ ॥
भीमसेनस्य दुर्धर्षं प्रथमं प्रादिशद् बलम् ।

पाण्डुपुत्र युधिष्ठिरने द्रौपदीके महाधनुर्धर पुत्र, अभिमन्यु, नकुल, सहदेव, समस्त प्रभद्रक वीर, दस हजार घुड़सवार, दो हजार हाथीसवार, दस हजार पैदल तथा पाँच सौ रथी—इनके प्रथम दुर्धर्ष दलको भीमसेनकी अध्यक्षतामें दे दिया ॥

मध्यमे च विराटं च जयत्सेनं च पाण्डवः ॥ १६ ॥
महारथौ च पाञ्चाल्यौ युधामन्यूत्तमौजसौ ।
वीर्यवन्तौ महात्मानौ गदाकार्मुकधारिणौ ॥ १७ ॥
अन्वयातां तदा मध्ये वासुदेवधनंजयौ ।

बीचके दलमें राजाने विराट, जयत्सेन तथा पाञ्चाल-देशीय महारथी युधामन्यु और उत्तमौजाको रक्खा । हाथोंमें गदा और धनुष धारण किये ये दोनों वीर (युधामन्यु-उत्तमौजा) बड़े पराक्रमी और मनस्वी थे । उस समय इन सबके मध्यभागमें भगवान् श्रीकृष्ण और अर्जुन सेनाके पीछे-पीछे जा रहे थे ॥ १६-१७½ ॥

बभूवुरतिसंरब्धाः कृतप्रहरणा नराः ॥ १८ ॥
तेषां विंशतिसाहस्रा हयाः शूरैरधिष्ठिताः ।

पञ्च नागसहस्राणि रथवंशाश्च सर्वशः ॥ १९ ॥

उस समय जो योद्धा पहले कभी युद्ध कर चुके थे, वे आवेशमें भरे हुए थे। उनमें बीस हजार घोड़े ऐसे थे जिनकी पीठपर शौर्यसम्पन्न वीर बैठे हुए थे। इन घुड़सवारोंके साथ पाँच हजार गजारोही तथा बहुत-से रथी भी थे ॥ १८-१९ ॥

पदातयश्च ये शूराः कार्मुकासिगदाधराः।
सहस्रशोऽन्वयुः पश्चादग्रतश्च सहस्रशः ॥ २० ॥

धनुष, बाण, खड्ग और गदा धारण करनेवाले जो पैदल सैनिक थे, वे सहस्रोंकी संख्यामें सेनाके आगे और पीछे चलते थे ॥

युधिष्ठिरो यत्र सैन्ये स्वयमेव बलार्णवे।
तत्र ते पृथिवीपाला भूयिष्ठं पर्यवस्थिताः ॥ २१ ॥

जिस सैन्य-समुद्रमें स्वयं राजा युधिष्ठिर थे, उसमें बहुत-से भूमिपाल उन्हें चारों ओरसे घेरकर चलते थे ॥ २१ ॥

तत्र नागसहस्राणि हयानामयुतानि च।
तथा रथसहस्राणि पदातीनां च भारत ॥ २२ ॥

भारत ! उसमें एक हजार हाथीसवार, दस हजार घुड़सवार, एक हजार रथी और कई सहस्र पैदल सैनिक थे ॥

चेकितानः स्वसैन्येन महता पार्थिवर्षभ।
धृष्टकेतुश्च चेदीनां प्रणेता पार्थिवो ययौ ॥ २३ ॥

नृपश्रेष्ठ ! अपनी विशाल सेनाके साथ चेकितान तथा चेदिराज धृष्टकेतु भी उन्हींके साथ जा रहे थे ॥ २३ ॥

सात्यकिश्च महेष्वासो वृष्णीनां प्रवरो रथः।
वृतः शतसहस्रेण रथानां प्रणुदन् बली ॥ २४ ॥

वृष्णिवंशके प्रमुख महारथी महान् धनुर्धर बलवान् सात्यकि एक लाख रथियोंसे घिरकर गर्जना करते हुए आगे बढ़ रहे थे ॥ २४ ॥

क्षत्रदेवब्रह्मदेवौ रथस्थौ पुरुषर्षभौ।
जघनं पालयन्तौ च पृष्ठतोऽनुप्रजग्मतुः ॥ २५ ॥

क्षत्रदेव और ब्रह्मदेव ये दोनों पुरुषरत्न रथपर बैठकर सेनाके पिछले भागकी रक्षा करते हुए पीछे-पीछे जा रहे थे ॥

शकटापणवेशाश्च यानं युग्यं च सर्वशः।
तत्र नागसहस्राणि हयानामयुतानि च।
फल्गु सर्वं कलत्रं च यत्किञ्चित् कृशदुर्बलम् ॥ २६ ॥
कोशसंचयवाहांश्च कोष्ठागारं तथैव च।
गजानीकेन संगृह्य शनैः प्रायाद् युधिष्ठिरः ॥ २७ ॥

इनके सिवा और भी बहुत-से छकड़े, दूकानें, वेशभूषाके सामान, सवारियाँ, सामान ढोनेकी गाड़ी, एक सहस्र हाथी, अनेक अयुत घोड़े, अन्य छोटी-मोटी वस्तुएँ, स्त्रियाँ, कृश और दुर्बल मनुष्य, कोश-संग्रह और उनके ढोनेवाले लोग तथा कोष्ठागार आदि सब कुछ संग्रह करके राजा युधिष्ठिर धीरे-धीरे गजसेनाके साथ यात्रा कर रहे थे ॥ २६-२७ ॥

तमन्वयात् सत्यधृतिः सौचित्तिर्युद्धदुर्मदः।
श्रेणिमान् वसुदानश्च पुत्रः काश्यस्य वा विभुः ॥ २८ ॥
रथा विंशतिसाहस्रा ये तेषामनुयायिनः।
हयानां दश कोट्यश्च महतां किंकिणीकिनाम् ॥ २९ ॥
गजा विंशतिसाहस्रा ईषादन्ताः प्रहारिणः।
कुलीना भिन्नकरटा मेघा इव विसर्पिणः ॥ ३० ॥

उनके पीछे सुचित्तके पुत्र रणदुर्मद सत्यधृति, श्रेणिमान्, वसुदान तथा काशिराजके सामर्थ्यशाली पुत्र जा रहे थे। इन सबका अनुगमन करनेवाले बीस हजार रथी, घुँघुरुओंसे सुशोभित दस करोड़ घोड़े, ईषादण्डके समान दाँतवाले, प्रहार-कुशल, अच्छी जातिमें उत्पन्न, मदस्रावी और मेघोंकी घटा-के समान चलनेवाले बीस हजार हाथी थे ॥ २८—३० ॥

षष्टिर्नागसहस्राणि दशान्यानि च भारत।
युधिष्ठिरस्य यान्यासन् युधि सेना महात्मनः ॥ ३१ ॥
क्षरन्त इव जीमूताः प्रभिन्नकरटामुखाः।
राजानमन्वयुः पश्चाच्चलन्त इव पर्वताः ॥ ३२ ॥

भारत ! इनके सिवा, युद्धमें महात्मा युधिष्ठिरके पास निजी तौरपर सत्तर हजार हाथी और थे, जो जल बरसानेवाले बादलोंकी भाँति अपने गण्डस्थलसे मदकी धारा बहाते थे। वे सबके सब जङ्गम पर्वतोंकी भाँति राजा युधिष्ठिरका अनुसरण कर रहे थे ॥ ३१-३२ ॥

एवं तस्य बलं भीमं कुन्तीपुत्रस्य धीमतः।
यदाश्रित्याथ युयुधे धार्तराष्ट्रं सुयोधनम् ॥ ३३ ॥

इस प्रकार बुद्धिमान् कुन्तीपुत्रके पास भयंकर एवं विशाल सेना थी, जिसका आश्रय लेकर वे धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधनसे लोहा ले रहे थे ॥ ३३ ॥

ततोऽन्ये शतशः पश्चात् सहस्रायुतशो नराः।
नर्दन्तः प्रययुस्तेषामनीकानि सहस्रशः ॥ ३४ ॥

इन सबके अतिरिक्त पीछे-पीछे लाखों पैदल मनुष्य तथा उनकी सहस्रों सेनाएँ गर्जना करती हुई आगे बढ़ रही थीं ॥

तत्र भेरीसहस्राणि शङ्खानामयुतानि च।
न्यवादयन्त संहृष्टाः सहस्रायुतशो नराः ॥ ३५ ॥

उस समय उस रणक्षेत्रमें लाखों मनुष्य हर्ष और उत्साहमें भरकर हजारों भेरियों तथा शङ्खोंकी ध्वनि कर रहे थे॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि अम्बोपाख्यानपर्वणि पाण्डवसेनानिर्याणे षण्णवत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १९६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्गत अम्बोपाख्यानपर्वमें पाण्डवसेनानिर्याणविषयक एक सौ छानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥१९६॥

उद्योगपर्व सम्पूर्णम्

	अनुष्टुप् छन्द	(अन्य बड़े छन्द) बड़े छन्दोंको ३२ अक्षरोंके अनुष्टुप् मानकर गिननेपर		कुल योग
उत्तर भारतीय पाठसे लिये गये श्लोक—	५९७८॥	(७८४।-)	१०७८।≡	७०५६॥।≡
दक्षिण भारतीय पाठसे लिये गये श्लोक—	६८॥	(५॥)	७॥-	७६-
उद्योगपर्वकी सम्पूर्ण श्लोक-संख्या				७१३३